0.2.2

दोष धातु मल-
विज्ञानीयम्।
लेखक
स्व. वैद्य रणजीत राय देसाई

* ॐ नमः परमर्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः *

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

[शरीर-क्रियाविज्ञान का परिवर्तित रूप]

डॉ० शम्भु शंकर सिंह

प्रस्तावना-लेखक

वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

लेखक

वैद्य रणजितराय देसाई

आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य,

उपाचार्य श्री ओच्छवलाल, नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड,

कलकत्ता : पटना : झाँसी : नागपुर।

तृतीयावृत्ति] संवत् २००९ [मूल्य ११)

प्रकाशक :
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, १, गुप्ता लेन, (जोड़ासाँकू)
पोस्टबक्स नं० ६८३५, कलकत्ता – ६

प्रथम संस्करण—२००० प्रति, ज़नवरी १९४६
द्वितीय संस्करण—३,००० प्रति, सितम्बर १९५०
तृतीय संस्करण—३,००० प्रति, दिसम्बर १९५२

मुद्रक :
हजारीलाल शर्मा, जनवाणी प्रेस एण्ड पब्लिकेशन्स लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता – ७

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ।।

अथर्व १–१



रोपिता धर्मदत्तेन गुरुणा गुणशालिना ।
सिक्ता श्री यादवाचार्य-चरणैः सुविचक्षणैः ।।
यत्नतः पालिता वैद्य रामनारायणेन या ।
लता ज्ञानमयी तस्यास्तृतीयः कुसुमोद्गमः ।।
ग्रथितो बालिशतया नीतो वः कण्ठहारताम् ।
आवहेद् विबुधाः प्रीतिमित्येवाऽभ्यर्थनाऽसकृत् ।।

—विदुषामाश्रवस्य

लेखकस्य



प्रस्तावना

इस समय आयुर्वेद के अध्ययन-अध्यापन के लिये विषय प्रधान शिक्षण-पद्धति को उपयुक्त माना गया है। इस पद्धति से प्रत्येक विषय का साङ्गोपाङ्ग ज्ञान सहज में होकर विषय अच्छी तरह समझा जा सकता है। आयुर्वेद के संहिता ग्रन्थों में प्रायः सब विषय एक ही ग्रन्थ के भिन्न-भिन्न अध्यायों (प्रकरणों) में इतस्ततः बिखरे हुए तथा कुछ विषय एक ग्रन्थ में तो अन्य विषय अन्य ग्रन्थ में पाए जाते हैं। उनके व्याख्याकारों ने अपनी शैली से उन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और सूत्ररूप से संक्षेप में लिखे गए विषयों का स्पष्टीकरण किया है। उन सबको एकत्र तथा प्रकरण-बद्ध करके प्रत्येक विषय पर संग्रहात्मक या स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माण होना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। इसके अतिरिक्त इस समय चिकित्सा विज्ञान में अनेक नये आविष्कार हुए हैं। उनको भी आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से यथावश्यक संगृहीत करके यथासंभव प्राचीन और प्राचीन न मिलें वहाँ आयुर्वेदानुकूल नवीन संज्ञाओं में लिखकर पाठ्य-ग्रन्थों में समाविष्ट कर लेना चाहिये, जिससे वह ग्रन्थ प्राचीन और आधुनिक दोनों प्रकार के विषयों को एक ही ग्रन्थ द्वारा पढ़ाने में उपयुक्त हो सके। यह **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** ग्रन्थ इसी दृष्टि को सामने रख कर इसके विद्वान् लेखक ने लिखा है और लेखक को इस कार्य में यथेष्ट सफलता मिली है।

शारीर चिकित्सा विज्ञान का आधार भूत विषय है। विना शारीर ज्ञान रोगों का सम्यक् निदान और चिकित्सा करना संभव नहीं है। शारीर विज्ञान के इस समय मुख्य दो विभाग किये जाते हैं—**शारीर रचना विज्ञान और शारीर क्रियाविज्ञान**। शारीर रचना विज्ञान में शरीर के अस्थि, धमनी, सिरा, नाड़ी, आशय आदि अवयवों की रचना-गणना आदि विषयों का वर्णन किया जाता है। शारीर क्रिया विज्ञान में शरीर के प्रत्येक सूक्ष्म-स्थूल अवयवों की क्रियाओं का वर्णन किया जाता है। आयुर्वेद में शरीर के अवयवों की क्रियाओं का वर्णन प्रायः स्वतन्त्र रूप से न करके दोषों, धातुओं और मलों की क्रियाओं के रूप में किया है। प्राचीनों ने मनुष्य-शरीर में पाये जाने वाले और उस समय आविष्कृततम भिन्न-भिन्न द्रव्यों (अवयवों) को, जिनके आधुनिक क्रिया शारीर विदों ने भिन्न-भिन्न नाम रखे हैं और उनकी क्रियाओं का स्वतन्त्र वर्णन किया है, उन सबको **दोष, धातु और मल** इन तीन वर्गों में विभक्त करके उनकी क्रियाओं का वर्णन किया है। रचना शारीर पर स्व० महामहोपाध्याय **कविराज श्री गणनाथ सेनजी** ने प्रत्यक्ष शारीर और **स्व० वा० वैद्य पी० एस० वारियर्** ने **अष्टाङ्ग शारीर** तथा **बृहच्छारीर का प्रथम खण्ड** ये दो स्वतन्त्र ग्रन्थ संस्कृत भाषामें लिखे हैं। इन तीनों में म० म० कविराज श्री गणनाथ सेनजी विरचित **प्रत्यक्ष शारीर** ग्रन्थ विशेष अच्छा है। इससे अच्छा ग्रन्थ जब तक इस विषय पर न लिखा जावे तब तक रचना शारीर का विषय इस ग्रन्थ द्वारा वर्तमान आयुर्वेद विद्यालयों में पढ़ाना चाहिये। क्रिया शारीर पर पाठ्य ग्रन्थ तथा उपयुक्त हो ऐसे एक ग्रन्थ की आवश्यकता थी जो इस ग्रन्थ के द्वारा पूरी हो सकेगी ऐसा मेरा विश्वास है।

ता० १–१२–५२
बम्बई

वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

आदिवचन

गुणज्ञ वाचकों के कर-कमलों में आयुर्वेदीय क्रियाशारीर (शरीर क्रिया विज्ञान का संशोधित परिवर्धित रूप) अर्पित करते हुए एक ही भाव मानस को सर्वोपरि उद्वेलित कर रहा है और वह 'कविकुलगुरु' की पदावली में—

सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणम् ।
किंवाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत्सहस्रकिरणो धुरि नाऽकरिष्यत् ॥

(अभिज्ञान शाकुन्तल)

मातलि (इन्द्र-सारथि) से अपने असुर-विजयी पराक्रम की प्रशंसा सुनकर दुष्यन्त कहते हैं—यह सारी महिमा, सच पूछो तो, देवराज की है, जिन्होंने यह महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपकर मुझे बढ़ावा दिया। वस्तुतः, अनुचर जन जो बड़े-बड़े असाध्य किंवा कष्टसाध्य भी कार्यों को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, उसका एकमात्र कारण स्वामियों द्वारा सत्कारपूर्वक उन्हें उन कार्यों का सौंपा जाना ही है। देखो, अरुण—एक पक्षी, और वह भी दोनों पैरों से अपंग—ब्रह्माण्ड के अन्धकार का भेदन कर सकेगा, इस बात की स्वप्न में भी किसे कल्पना हो सकती है। पर वह भी इस अशक्यप्राय कार्य में सिद्धिलाभ करता है। उसका मूल कारण यही है कि भगवान् आदित्यनारायण ने उसे प्रोत्साहित कर अपना सारथि-पद प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ के निर्माण का इतिहास भी कुछ इसी प्रकार का है। ग्रन्थ अच्छा या बुरा जैसा भी हो, मेरे जैसे अल्पमति और अल्प साधन वाले व्यक्ति के लिए इसे समाप्त करना वस्तुतः अति दुष्कर कार्य था। पर आज यह वाचकों के हाथ में जा रहा है, इसका संपूर्ण यश मेरे आदरणीय गुरु वैद्यवाचस्पति आयुर्वेदमार्तण्ड वैद्य यादव जी त्रिकमजी आचार्य का है। आपने ही इस ग्रन्थ के लिखने की मुझे आज्ञा दी, बीच-बीच में प्रोत्साहन देने के अतिरिक्त वस्तु और भाषा के विषय में योग्य परामर्श दिये, पाण्डुलिपि तय्यार होने पर उसका प्रत्यक्षर बाँचकर स्थान-स्थान पर उचित निर्देश देने की कृपा की, एवं बम्बई-प्रान्तीय बोर्ड ऑफ इण्डियन सिस्टम्स ऑफ मेडिसिन के रजिस्ट्रार श्री पु० र० गोडबोलेजी को ग्रन्थ पढ़कर आवश्यक सूचनाएँ देने की प्रेरणा की (जिसके लिए मैं श्री गोडबोले जी का कृतज्ञ हूँ), और अन्त में अपने प्रवृत्तिमय जीवन में से कुछ समय निकाल कर ग्रन्थ के लिए प्रस्तावना लिखने का कष्ट किया। वाचकों को इस ग्रन्थ से कुछ भी लाभ हुआ तो, मैं आशा करता हूँ कि, मेरे समान वे भी आचार्य महोदय के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करने में न चूकेंगे।

आचार्य महोदय के साथ ही कविराज डा० आशानन्दजी पंचरत्न, आयुर्वेदाचार्य, एम० बी० बी० एस०, भू० पू० प्रिंसिपल पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज वरली, बंबई तथा सम्प्रति प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक कालेज, हैदराबाद—ने भी इस ग्रन्थ के लिखनेमें आदि प्रेरणा दी है तथा मध्य में भी अनेक प्रकार से प्रोत्साहन दिया है, जिसके कारण मैं उनका ऋणी हूँ। ग्रन्थ की शुद्ध लिपि मेरी प्रिय बहिन सौ० सुविद्या देसाई विशारदा (पंजाब) ने तैयार करके मेरा काम अत्यन्त सरल कर दिया है। उसका भी अत्यन्त उपकृत हूँ।

अब, एक-दो शब्द ग्रन्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में भी कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। कहा नहीं जा सकता चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों के कर्ता तथा प्रतिसंस्कर्ता आज के युग में कौनसा मार्ग ग्रहण करते। परन्तु हम अल्प बुद्धिवालों के लिए तो वर्तमान ज्ञान-विज्ञान में से भी बहुत कुछ ग्रहण करना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे ज्योतिष, संगीत, चित्रकला, स्थापत्य, अर्थनीति, राजनीति आदि ज्ञान-विज्ञानों और रहन-सहन आदि पर अर्वाचीन युग का निश्चित और गहरा प्रभाव हुआ है। आयुर्वेद को भी उससे अलिप्त नहीं रखा जा सकता। मौलाना अबुलकलाम आजाद (केन्द्रीय शिक्षासचिव) ने अपने कुरान के भाष्य की भूमिका में लिखा है कि "प्राचीन और अर्वाचीन की तुलना करने की पद्धति ही दूषित है। प्राचीन तो हमें अपने पूर्वजों से मिला हुआ उत्तराधिकार-मात्र है। हमें उसी के बन्धन में न रहकर अपनी अन्वेषण-शक्ति का उपयोग करते हुए योग्य मार्ग बनाना चाहिये।" आयुर्वेद के सम्बन्ध में भी मुझे ये वचन बहुत उपयुक्त जँचते हैं। भावी पीढ़ी को किसी भी कारण से आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से वंचित रखना वस्तुतः एक महान् पाप होगा।

परन्तु, इस विषय में एक चेतावनी देना आवश्यक है। हमें प्रायः इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि प्राचीन भारतीय भी अपनी शैली से बुद्धि का प्रयोग करते हुए कई सचाइयों को जान सके थे। अवश्य ही उनके द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान का पर्याप्त अंश काल-ग्रस्त हो गया। तथापि, उपलब्ध भाग में भी कितनी ही बातें ऐसी हो सकती हैं जो वर्तमान विज्ञान की दृष्टि में यथार्थ नहीं प्रतीत होतीं, परन्तु व्यवहार में सत्य सिद्ध होती हैं। कई बातें ऐसी भी हो सकती हैं जिनकी सहायता से हम वर्तमान विज्ञान की कई अधूरी बातों को पूर्ण कर सकते हैं। दोनों प्रकार की वस्तुओं का यथायोग्य उपयोग करके हमें उनसे लाभ उठाना चाहिये। प्रस्तुत ग्रन्थ में यही दृष्टि रखी गयी है। मैं अब भी यही समझता हूँ यह कार्य किन्ही विद्वान् के हाथों से होता तो अधिक अच्छा होता। इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पश्चात् भी कोई महानुभाव इस दिशा में प्रयत्न करेंगे अथवा इस ग्रन्थमें अशुद्धियाँ प्रदर्शित करेंगे तो उनका स्वागत करूँगा।

और आज तो उन सभी विद्वानों, अध्यापकों, वैद्यों और विद्यार्थियों के प्रति भी सर्वान्तःकरण से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरे इस प्रयत्न को इतना सम्मानित किया है कि अल्पकाल में ही इसके दो मुद्रण हो कर संशोधित परिवर्धित तृतीय संस्करण प्रकाशित हो रहा है। प्रकाशकों ने ग्रन्थ के प्रकाशन में अनेक प्रकार से जो धैर्य दिखाया है, उसके लिए उनका अत्यन्त धन्यवाद करता हूँ। ग्रन्थ को व्यवस्थित छपाने, प्रूफ देखने आदि कार्य में मेरे मित्र—सचित्र आयुर्वेद के सहायक सम्पादक श्री पं० सभाकान्तजी झा तथा जनवाणी प्रेस के मैनेजर श्री ज्ञानेन्द्रजी शर्मा ने बहुत मनोयोगपूर्वक परिश्रम किया है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ।

विनीत

लेखक

प्रथमावृत्ति का प्रकाशकीय वक्तव्य

'शरीर-क्रिया-विज्ञान' का प्रकाशन कर हमें बड़ा आनन्द हुआ है। आयुर्वेद की शिक्षा के प्रचार में इस प्रकार के ग्रन्थ का अभाव कितना खटकता था उसका अन्दाज तो आपको इस ग्रन्थ पर दिये गये बड़े-बड़े आयुर्वेदज्ञ अध्यापकों की सम्मतियों से ही हो जायगा, जो ग्रन्थ के आरंभ में दी जा रही हैं। इसलिये हमें इस बात पर परम हर्ष है कि हम आयुर्वेदके एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति में सहायक सिद्ध होने का गौरव पा रहे हैं।

इस ग्रन्थके लेखक श्री रणजितराय आयुर्वेदालंकार शरीर-क्रिया-विज्ञान के धुरन्धर ज्ञाता और वर्षों से रामविलास आनन्दीलाल पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज बम्बई में इस विषय के अध्यापक हैं। इसके अलावा आयुर्वेदीय चिकित्सा के स्तम्भ श्री यादवजी त्रिकमजी की प्रेरणा और सहयोग इस ग्रन्थ के लिखने में है। इसलिये इस ग्रन्थ की उपयोगिता और उपादेयता बहुत बढ़ गयी है।

श्रद्धास्पद श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज द्वारा लिखित सिद्धयोग-संग्रह के प्रकाशन के बाद इस ग्रन्थ की छपाई का काम हमने ऐसे समय में आरम्भ किया, जब कागज के भयानक अभाव की कठिनाई से हम परेशान थे। किन्तु आयुर्वेद पर हमारी भक्ति और गुरुजनों तथा आयुर्वेद की उन्नति में लगे अनेक विद्वानों तथा आयुर्वेद-सेवियों के आशीर्वचन से यह काम सफल हुआ और आज हम यह "ग्रन्थ रत्न" आपकी सेवा में उपस्थित करने में समर्थ हुए हैं। आयुर्वेद की सेवा के विचार से ही इस मूल्यवान् ग्रन्थ का मूल्य लागत मात्र ही रखा गया है।

सभी विद्वानों ने एक मत से यह स्वीकार किया है कि यह ग्रन्थ-रत्न आयुर्वेदीय शिक्षालयों के पाठ्यक्रम में रखने योग्य है।

आयुर्वेद के शिक्षक-शिक्षार्थी समाज की यह ग्रन्थ अपूर्व सेवा करेगा इसकी हमें पूरी आशा है। हम श्री यादवजी त्रिकमजी महाराज के बड़े ही आभारी हैं जिनकी कृपा हम पर सदा बनी रहती है और जिनकी कृपा से ही ऐसे-ऐसे ग्रन्थ-रत्नों के प्रकाशन का सुअवसर मिलता रहता है।

ता० १-१-१९४६

आयुर्वेदका नम्र सेवक
रामनारायण शर्मा, वैद्यशास्त्री

द्वितीयावृत्ति का प्रकाशकीय वक्तव्य

स्वल्प काल में ही "शरीर-क्रिया-विज्ञान" की यह द्वितीय-आवृत्ति प्रकाशित करते हुए हमें स्वभावतः ही बहुत हर्ष है। लेखक और प्रकाशक, दोनों के ही लिए यह गौरव की बात है और इसके लिए हम कृतज्ञ हैं आयुर्वेद-जगत् के उन समस्त वैद्यों, अध्यापकों एवं छात्रों के, जिन्होंने इस ग्रन्थ को बड़े ही उत्साह के साथ अपनाया है—इसे आदर दिया है।

भारतवर्ष की सभी आयुर्वेदीय शिक्षा-संस्थाओं ने अपने पाठ्यक्रमों में इस ग्रन्थ को स्वीकृत करके आधुनिक प्रणाली के अनुरूप नये सिरे से आयुर्वेदीय पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के कार्य को प्रोत्साहित किया है। यह हमारे लिए बहुत ही सन्तोष का विषय है ; कारण, हमारी यह मान्यता है कि आयुर्वेद की अपनी सुदृढ़ वैज्ञानिक भित्ति पर इसके उज्ज्वल भविष्य का निर्माण इसी मार्ग से होना है।

निखिल-भारतवर्षीय आयुर्वेद महासम्मेलन के संस्थापकों में अग्रगण्य, प्रातःस्मरणीय श्री शंकर-दा जी शास्त्री पदे की स्मारक समिति ने इस ग्रन्थ के लिये इसके विद्वान् लेखक वैद्य रणजितराय जी को पुरस्कृत किया है। इससे हमें बहुत अधिक प्रेरणा मिली है कि हम इस दिशा में अपनी सीमित शक्ति का और भी अधिक उपयोग करें।

आज से करीब चार मास पूर्व इस ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण शीघ्र प्रकाशित करने की इच्छा हमने इसके मनीषी लेखक वैद्य रणजितराय जी से प्रकट की थी। उस समय तक वे इसके संशोधित-परिवर्धित संस्करण में हाथ लगा चुके थे और वह छपना भी प्रारम्भ हो चुका था। परन्तु उसे शीघ्र समाप्त करने में वैद्यजी ने असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि 'द्वितीय संस्करण के लिए मुझे न केवल काफी पढ़ना ही होता है, अपितु उसे पचाना भी होता है।'

इधर आयुर्वेदीय शिक्षा-संस्थाओं के अध्यापकों एवं छात्रों तथा वैद्यों की बराबर इतनी माँग आ रही थी कि हमें बहुत शीघ्र द्वितीय-आवृत्ति प्रकाशित करना आवश्यक प्रतीत हुआ। फलस्वरूप किंचित् मात्र ही संशोधन-परिवर्धन से सन्तोष करके हमें प्रथम संस्करण की ही यह द्वितीय-आवृत्ति प्रकाशित करनी पड़ी है। हम आशा करते हैं कि यह द्वितीय-आवृत्ति समाप्त होने तक इस ग्रन्थ का संशोधित-परिवर्धित बृहत् संस्करण "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" तैयार हो जायगा।

२०—९—५० } व्यवस्थापक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०, कलकत्ता

यह तीसरा संस्करण

यह संस्करण नाम और रूप दोनों अर्थों में प्रथम और द्वितीय संस्करणों से परिवर्तित, परिष्कृत एवं परिवर्धित है। इसका नाम "शरीर क्रिया विज्ञान" के स्थान में अब "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" हुआ है और इसका कलेवर पहिले से द्विगुणित बढ़ गया है।

हमारे प्राचीन आयुर्वेद ग्रन्थोंमें सूत्र रूप में सभी बातें हैं। इस ग्रन्थ में उन्ही प्राचीन सूत्रों की विशद व्याख्या की गई है तथा अर्वाचीन ज्ञान भी साथ में गुम्फित हैं। इससे यह ग्रन्थ हिन्दी में अपनी दृष्टि से अनोखा और अद्वितीय हो गया है। साथ ही अन्यों के लिए अनुकरणीय भी है। इसके पढ़ने के बाद शरीर क्रिया के ज्ञान के लिए छात्रों को अन्यत्र पुस्तकें तलास करने की आवश्यकता नहीं रहती। प्रथम और द्वितीय संस्करण विषय वैशद्य की दृष्टि से उतने पूर्ण नहीं थे जितना कि यह तृतीय संस्करण है।

प्रकाशक और लेखक दोनों की ही यह इच्छा रही है कि यह ग्रन्थ अपने विषय का सर्वाङ्ग पूर्ण हो। प्रथम संस्करण के अनन्तर ही इसके लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिये गये थे और इच्छा थी कि द्वितीय संस्करण को विशद रूप में निकाला जाये। पर प्रथम संस्करण बहुत शीघ्र ही समाप्त हो गया तथा माँग इतनी बढ़ी कि शीघ्र ही द्वितीय संस्करण छापना पड़ा। इधर तृतीय संस्करण के इस रूप में तैयार होने में विद्वान् लेखक को करीब तीन-चार वर्ष श्रम करना पड़ा है। एतदर्थ वे परम धन्यवाद के पात्र हैं। यह श्रम छात्रों की ज्ञान वृद्धि में पूर्णतया सहायक होगा यह निश्चित है।

शरीर क्रिया विज्ञान के ग्रन्थों को मूल अंग्रेजी में पढ़ने पर आधुनिक छात्रों की यह धारणा होती थी कि हमारे आयुर्वेद शास्त्र में इस विषय की पाठ्य सामग्री नहीं है। इस के प्रकाशन से इस भ्रान्त धारणा का निरसन भी होगा।

इस एक ही ग्रन्थ के अनुशीलन से विद्यार्थियों को क्रिया शारीर विषय के प्राचीन और नवीन दोनों मार्गों का यथावत् ज्ञान होगा। हमें लिखते हर्ष होता है कि पीछे से चोपड़ा कमेटी ने भी अपनी रिपोर्ट में इसी दृष्टि का प्रस्ताव किया है। उसके मत में एक ही विषय के प्राचीन और नवीन दोनों मतों के लिए पुस्तक तथा अध्यापक एक ही होने चाहिये। इससे विद्यार्थियों की बुद्धि में उलझन का अवकाश ही नहीं रहेगा। यह ग्रन्थ इस विषय में प्रकाशस्तम्भ की तरह सिद्ध होगा—ऐसी आशा है।

इस ग्रन्थ रत्न की उपादेयता का श्रेय लेखक के साथ-साथ हमारे प्रातर्वन्दनीय गुरु वैद्य वाचस्पति वैद्य श्री यादवजी जी त्रिकमजी आचार्य के वरद आशीर्वाद व दिग्दर्शन को भी है। आपकी सत्प्रेरणा का ही यह शुभ परिणाम है कि हम आयुर्वेद के प्रकाशन में सर्वाधिक सफल हो रहे हैं।

अब हमारा प्रयत्न आयुर्वेदीय शारीर शास्त्र विषय को इसी तरह यथावत् रूप में प्रकाशित करने के लिए होगा।

अन्त में हम इस प्रोत्साहन और सत्प्रेरणा के लिए अपने सभी अनुग्राहकों व ग्राहकों का अभिनन्दन करते हुये आयुर्वेद-संस्कृति की रक्षा के हेतु तृतीय संस्करण सत्प्रयत्न पुष्पोपहार समर्पित करते हैं।

प्रकाशक :

रामदयाल जोशी रामनारायण वैद्य

मैनेजिंग डाईरेक्टर—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०,

कलकत्ता।

शरीर-क्रिया-विज्ञान

(जिसका संशोधित-परिवर्द्धित रूप आयुर्वेदीय क्रियाशारीर है)

पर

विद्वानों की अमूल्य सम्मतियाँ

I have read the book **'शरीर-क्रिया-विज्ञान'** with great pleasure. I sincerely congratulate the author upon his successful performance. While rearranging all the original ideas of **आयुर्वेद**, the author has assimilated the essential principles of modern Physiology with great care and acumen.

It is a nice handy volume. This together with **प्रत्यक्ष-शारीर** will be very useful to the students and teachers alike in the Ayurvedic Colleges. I hope this book will be used as a text book in **शरीर-क्रिया-विज्ञान.**

I heartily congratulate the Publishers **श्रीबैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०** for their enthusiasm in publishing the Ayurvedic works and in encouraging the authors to write new books for benefit of the votaries of the system.

B. A. Pathak
Principal,
Ayurvedic College
Banaras Hindu University.

यह ग्रन्थ श्री यादवजी महाराज की प्रेरणा से उनके योग्य शिष्य श्री रणजितराय द्वारा लिखा गया है। आयुर्वेद सम्बन्धी श्री यादवजी महाराज का अनुभव विशाल है, तथा उनके पथ-प्रदर्शन एवं विद्वान् शिष्य रणजितरायजी की योग्यता के संयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ आयुर्वेद के उपयुक्त पाठच-ग्रन्थों के अभाव को दूर करने का एक स्तुत्य प्रयास सिद्ध हुआ है।

शरीर-क्रिया-सम्बन्धी ज्ञान का निचोड़ इस ग्रन्थ में अत्यन्त सुन्दर शैली से दिया गया है और फलतः आयुर्वेद के पाठचक्रम में जिस अङ्ग का अभाव खटक रहा था उसकी पूर्ति इस ग्रन्थ से अवश्य हो सकेगी। मेरी धारणा है कि आयुर्वेद विद्यालयों के अध्यापन में यह ग्रन्थ उचित स्थान प्राप्त करेगा। मैं इस स्तुत्य प्रयास का हृदय से स्वागत करता हूँ।

P. M. Mehta
एम० डी०, एम० एस०, एफ० सी० पी० एस०
जामनगर — चीफ मेडिकल आफिसर, नवानगर स्टेट

श्री कविराज रणजितराय देसाई आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य, श्री रामविलास आनन्दीलाल पोद्दार मेडिकल कॉलेज (आयुर्वेदिक) बम्बई में गत तीन वर्षों से शरीर-क्रिया-विज्ञान तथा पदार्थ-विज्ञान के अध्यापक हैं। पढ़ाते हुए यह त्रुटि विशेष रूप से अनुभव होती रही है कि इन दो विषयों पर कोई भी पुस्तक पाठचक्रम में रखने के योग्य नहीं। विद्यार्थियों को इस त्रुटि के कारण विशेष कठिनाई का अनुभव होता था।

यह विषय आजकल आयुर्वेद का आधारभूत (Basic Science) है, जैसे पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र में एनेटॉमी तथा फिजिओलॉजी हैं। अब यह विषय समस्त आयुर्वेदिक कालेजों के पाठ्यक्रम में समाविष्ट हो चुका है या होनेवाला है। अतः ऐसी पुस्तक का प्रकाशन इस समय की अनिवार्य आवश्यकता थी। मेरी प्रेरणा से देसाई जी ने यह पुस्तक लिखी है।

इस पुस्तक में वह सब बातें, जो इस विषय में ज्ञातव्य हैं, समाविष्ट कर दी गयी हैं। साथ-साथ हिन्दी अनुवाद देकर विद्यार्थियों के लिए सुगम्य बना दी गयी हैं। और, व्याख्या, वक्तव्य और टिप्पणियों में वर्तमान विज्ञान (Modern Science) द्वारा आयुर्वेद के सिद्धान्तों को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया गया है।

मेरे विचार में यह पुस्तक सर्वरूपेण इस योग्य है कि इसे पाठ्यक्रम में रखा जाय।

आशानन्द पञ्चरत्न
Ayurvedacharya, M. B. B. S., B. M. S,
Principal : R. A. Poddar Medical College,
& Superintendent : M. A. Poddar Hospital, Worli, Bomby.

The get-up, the plan and the execution of the work is quite satisfactory. There is a happy blending of the modern information with the ancient one, without marring the entity, beauty and identity of the original. The Arsha atmosphere has been kept up in the diction and the original Samhitas are never left sight of and are profusely quoted. The diagrams in the book are decent and well placed. The work has been brought up up-to-date and could safely be recommended as a text book in Ayurvedic Teaching Institutions and Colleges. This will add much to the knowledge of the professional and the general reader.

S. N. Joshi
Principal,
M. G. Ayurvedic College, Nadiad.

Kindly accept my sincere congratulations for bringing out the book **शरीर-क्रिया-विज्ञान** which has become very appropriate and has appeared at the right time. India is now passing through a stage of regeneration and reconstruction and your book will go a long way in the resuscitation of Ayurved. I have the greatest pleasure to have a close study of your book.

D. N. Banerjee
M. B. (Cal.) M. D. (Berlin).
Professor of Pathology, R. G. kar Medical College, Calcutta.

अभीतक शरीर-क्रिया-विज्ञान की कोई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तक उपलब्ध न थी। प्रस्तुत पुस्तक ने आयुर्वेदिक साहित्य में वृद्धि की है। यह शरीर-क्रिया-विज्ञान पर उत्तम पुस्तक है। लेखक ने पूर्ण प्रयत्न करके शरीर के प्रत्येक संस्थान व उनके अन्तर्गत अङ्गों के कर्म का प्राचीन साहित्य से उपलब्ध वर्णन संग्रह किया है। जहाँ आवश्यकता समझी है आधुनिक विवरण देकर विषय को और भी विशद बना दिया है। वास्तव में पुस्तक विद्यार्थियों के काम की उत्तम

वस्तु है और अध्यापकों के कार्य की भी पूर्ति इसके द्वारा होती है। विद्यालयों में यह 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' के लिये स्वीकार करने योग्य है। प्रत्येक वैद्य और विद्यार्थी को इसका संग्रह करना चाहिए।

विश्वनाथ द्विवेदी
Principal,
Lalit Hari Ayurvedic College,
Pilibhit, (U. P.)

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र की तरह विषय-प्रधान पाठ्यप्रणाली का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है, पर उसमें इस समय तक जो परिमार्जित नहीं हो रहा है वह है उपयुक्त ग्रन्थों का अभाव। मैं स्वयं विषय-प्रधान पाठ्य प्रणाली में इस प्रकार के ग्रन्थों का संकलन आवश्यक मानता हूँ। इस दिशा में आयुर्वेद-जगत् के आलोकस्तम्भ, वैद्यक शास्त्र के धुरीण विद्वान्, श्रद्धेय, आयुर्वेद-मार्त्तण्ड श्री यादवजी त्रिकमजी ने कुछ समय पूर्व ऐसे ग्रन्थों की प्रेरणा के लिये एक सूची तैयार की थी। तदनुसार आचार्यजी का द्रव्यगुण-विज्ञान नामक ग्रन्थ-रत्न इस सम्बन्ध में अनुपद ही भगीरथ प्रयत्न कहा जा सकता है।

मैं उन्हीं के प्रिय शिष्य द्वारा 'शरीर-क्रिया-विज्ञान' जैसे अनुपम ग्रन्थरत्न को संकलित देखकर प्रसन्न होता हूँ। मैं इसके तुलनात्मक तथा विवेचनात्मक क्रम की प्रशंसा करता हूँ। मुझे विश्वास है कि आयुर्वेद-जगत् में इसका महान् आदर होगा एवं शिक्षा-संस्थाएँ इसे अपने विषय में प्रथम स्थान देने में गौरव मानेंगी। यह एक महत्त्वपूर्ण मनन का फल तथा वास्तविक आयुर्वेद के तथ्य को प्रदर्शित करने में अपना स्वतन्त्र मार्ग कहा जा सकता है।

राजवैद्य नन्दकिशोर शर्मा, भिषगाचार्य
आयुर्वेद-प्रधानाध्यापक, संस्कृत कॉलेज, जयपुर

"शरीर-क्रिया-विज्ञान" के छपे फार्म (पुस्तकाकार में) प्राप्त हुए। ग्रन्थ की उपादेयता के सम्बन्ध में कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। आयुर्वेद के अध्यापन करनेवाले सभी उपाध्याय जिन कमियों का पद-पद पर अनुभव करते हैं, उनमें से एक की पूर्ति का श्रेय इस ग्रन्थ के रचयिता को है। जबसे सरकारी तथा गैर-सरकारी आयुर्वेद विद्यालय एवं महा-विद्यालय विभिन्न प्रान्तों में खुलने लगे हैं, उनके संचालकों तथा उनमें कार्य करनेवाले अध्यापकों के सम्मुख एक बड़ी समस्या पाठ्य-पुस्तकों की चलती आ रही है।

हमारा कल्याण इसी में है कि हम संहिताओं में उपदिष्ट आर्ष वाक्यों को समझें और उनमें विश्वास उत्पन्न करें। अर्वाचीन विज्ञान हमें उन आर्ष सूत्रों की व्याख्या में सहायक हो सकता है। काल के कुचक्र ने हमारे साहित्य तथा विज्ञान के बहुत अंशों को दुर्लभ बना दिया है। फिर भी यदि हम प्रयत्नशील हों, तो जो भी उपलब्ध ग्रन्थ हैं, उन्हीं के आधार पर पुनः हमारी पुरानी इमारत आवश्यकतानुसार नये मसालों की सहायता से सुदृढ़ एवं चिरस्थायी बनायी जा सकती है। इस पुस्तक के लेखक का यह प्रयास इस बात का पुष्ट प्रमाण है।

आयुर्वेद जगत् लेखक के इस पुण्यमय कार्य के लिये सदा आभारी रहेगा। साथ ही मुझे विश्वास है कि लेखक की इस कृति का सर्वत्र समुचित आदर होगा। इस पुस्तक के प्रकाशन

के बाद आयुर्वेद विद्यालयों की पाठ्य-पुस्तकों में 'हेलीबर्टन' का स्थान नहीं रह जाता। मैं लेखक तथा प्रकाशक का, उनके इस अन्वेषणपूर्ण कार्य के लिये, अभिनन्दन करता हूँ।

श्री रामरक्ष पाठक
Ayurvedacharya, F. A. I. M. (Madras)
Principal :
Ayodhya Shivakumari Ayurvedic College, Begusarai.

I have read with great interest the book "Sharir-Kriya-Vigyan" and gladly recommend it to the Ayurvedic world. It is a pioneer publication in the field of Ayurvedic physiology and tries to explain many phenomena elucidated by the ancients in the modern medical sense.

It fulfills a long left want of a standard treatise on physiology written on comparative lines worth teaching in the Ayurvedic Institutions, where a comparative knowledgə of both the systems forms part of curriculum.

Shukdeva Sharma
M. O. L. (P. U.), G. A. M. S. (Bihar)
Sahityacharya, Ayurvedacharya, Sankhya-Yogacharya
Principal Rakjumar Singh Ayurvedic College, Indore.

पश्चिमी विद्वानों द्वारा लिखित फिजियोलॉजी के पाठ से पल्लवग्राहि पाण्डित्यम्-वाले वैद्य उद्विग्न हो जाया करते थे। उनकी इस उद्विग्नता का मूलोच्छेदन करने के लिये "शरीर-क्रिया-विज्ञान" अमोघास्त्र सिद्ध होगा।

पुस्तक-पाठ से पाठक महानुभाव निःसन्देह २०वीं सदी की परिष्कृत फिजियोलॉजी के साथ आयुर्वेदोक्त शरीर-क्रिया-विज्ञान का संतुलनात्मक तथा हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करेंगे।

ग्रन्थ का आद्यारम्भ आर्ष शैली पर हुआ है। ऋषिप्रणीत संहिताओं के पश्चात् यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसने आर्ष शैली को उपस्थित किया है।

ग्रन्थ की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह हुई है कि इसमें पाश्चात्यमत, पाश्चात्यसरणी और पाश्चात्य पारिभाषिक शब्दों को, आयुर्वेदीय सरणी और आयुर्वेदीय परिभाषा के रूप में उपस्थित किया गया है। प्रत्येक विषय में आयुर्वेद के मौलिक सूत्रों को उपस्थित करके, तद्गतगूढ़ार्थों को सरल सुबोध भाषा में व्यक्त किया गया है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है।

आयुर्वेदीय शरीर-क्रिया-विज्ञान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य, ऋषियों की दीर्घदर्शिता एवं लेखक के प्रकाण्ड पाण्डित्य का समन्वय ग्रन्थपाठ से ही हो सकता है। आयुर्वेदीय छात्रों के लिये यह शिक्षास्थानीय ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होकर साहित्य की श्रीवृद्धि का कारण बनेगा।

प्रत्येक शिक्षालय में इस ग्रन्थ को पाठ्यक्रम में स्थान मिलना चाहिए। इसका अध्ययन छात्रों के मस्तिष्क में आयुर्वेद-प्रणेता ऋषियों के विज्ञान की छाप लगा देगा।

आयुर्वेदाचार्य हरदयाल वैद्य
V. V., K. R., A. V., M. A. S.
Principal ; Dayanand Ayurvedic College,
Amritsar.

चित्र-सूची

अध्याय सूची

आधारभूत प्रधान ग्रन्थ

१—चरक-संहिता, चक्रपाणि कृत टीका–समेत, निर्णयसागर–मुद्रित, सन् १९३५, (संकेत—च०)

२—सुश्रुत-संहिता, डल्हन तथा गयदास–कृत टीका सहित, निर्णयसागर–मुद्रित, सन् १९३८, (संकेत—सु०)

३—अष्टाङ्ग हृदय, अरुणदत्त तथा हेमाद्रिकी टीका-सहित, निर्णयसागर–मुद्रित, सन् १९३९, (संकेत—अ० हृ०)

४—काश्यप-संहिता (संकेत—का०)

५—शार्ङ्गधर-संहिता (संकेत—शा०)

६—Howell's Textbook of Physiology (1946)

७—Handbook of Physiology & Biochemistry, By Mc-Do-wall, (1950) (२१ अध्याय तक) इसके पश्चात् इसी ग्रन्थ का ३६वाँ संस्करण ।

८—Fundamentals of Physiology By Elbert Tokay (1947)

९—The Miracle of the Human Body, By Harry Roberts.

१०—Human Physiology, By Smart. (1935)

विषय-सूची

दूसरा अध्याय

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर

ॐ नमः परमार्षिभ्यो नमः परमर्षिभ्यः ।

अथातो देहजिज्ञासा ।

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद्यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

अथर्ववेद १०-२।२९-३२

"जो मनुष्य अमृत (अमरत्व) से आवृत, ब्रह्मकी नगरीको जानता है, उसे ब्रह्म तथा ब्राह्म (ब्रह्मके उत्पन्न किये सांसारिक पदार्थ) नेत्र, प्राण तथा प्रजा (संतान) देते हैं।

"जो मनुष्य इस ब्रह्मकी पुरीको, जिसमें वास करनेके कारण उसे 'पुरुष' कहा जाता है, जानता है, उसे चक्षु (तथा अन्य इन्द्रियाँ) और प्राण वृद्धावस्थाके पूर्व नहीं छोड़ते।

"यह आठ चक्रों और नव द्वारोंवाली देवोंकी अयोध्या नगरी है। इसमें ज्योति (ज्योतिः-स्वरूप मन) से व्याप्त, सुवर्णमय—हितकर और रमणीय उपादानसे निर्मित—स्वर्गरूप कोश है।

"यह सुवर्णमय स्वर्गरूप कोश तीन अरोंवाला तथा तीन स्थानोंपर टिका हुआ है। इसमें आत्माके साथ पूजनीय ब्रह्मदेव (अथवा मन) विराजमान हैं। उन्हें ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।"

यह शरीर क्षुद्र और उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। दीर्घ आयु, वृद्धावस्थापर्यन्त इन्द्रियोंकी शक्तिकी स्थिरता तथा उत्तम-सन्तान-लाभके लिये इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गका जानना अत्यावश्यक है। इस शरीरके जाननेवालेको सन्तान-लाभ होता है, इस श्रुति-वचनका आशय यह है कि संतान-लाभके काल अर्थात् गृहस्थाश्रम-प्रवेशके पूर्व विद्यार्थी-दशामें प्रत्येक पुरुष और स्त्रीको शरीरका सर्वाङ्गीण ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। अन्य शब्दोंमें कहें तो राज्यकी ओरसे प्रत्येक विद्यार्थी और विद्यार्थिनी के पाठ्य-विषयोंमें शरीरकी रचना, क्रिया, स्वस्थवृत्त, व्यावहारिक चिकित्सा, कामशास्त्र, सुप्रजनन-शास्त्र, संतान-पालन आदि विषयोंका समावेश अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये। तैत्तिरीय उपनिषद (प्रपाठक ७, अनुवाक ९) में निर्दिष्ट प्राचीन पाठ्यक्रममें 'प्रजा', 'प्रजन' और 'प्रजाति' विषयों द्वारा कामशास्त्रादि तीन विषयोंकी परिगणना की गयी है। शरीरके इस साङ्गोपाङ्ग ज्ञानको ही 'ब्रह्मज्ञान' कहते हैं। इसे जाननेवाले ही 'ब्रह्मविद्' कहलाते हैं।

शरीर तथा उसके हिताहित आहार-विहारका सम्यक् ज्ञान और तदनुरूप आचरण होगा तब ही यह देवपुरी सचमुच अयोध्या (रोगादिसे आक्रमण न की जा सकने योग्य) पुरी बन सकेगी और पुरुष अपने सम्पूर्ण अभीष्ट सिद्ध कर सकेगा।

यह शरीर अमृत (अनश्वर) है। शरीर-विद्याके अनुशीलन-अवगाहनसे विदित होगा कि माता-पिताके शरीरके अंशभूत पुंबीज और स्त्रीबीज ही प्रथम गर्भाशयमें और पश्चात् उनके शरीरसे बाहर वृद्धिको प्राप्त होकर संतानका शरीर बनाते हैं। इन बीजोंके द्वारा माता और पिताके अङ्ग-प्रत्यङ्गका स्वरूप, मानसिक प्रकृति एवं रोगविशेषके प्रति प्रवणता (प्रवृत्ति) भी संतानके शरीरमें उतरती है। प्राचीन आचार्योंने सत्य ही कहा है—

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्[1] ॥

गोभिल गृह्यसूत्र २।८।८१

प्रेम-पुलकित पिता प्रवाससे आकर पुत्रके प्रति कहता है—"वत्स, तू मेरे अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। मेरे हृदयसे तू ने जन्म लिया है। तू मेरा ही पुत्रसंज्ञक स्वरूप है। वह तू सौ बरस जी।"

अस्तु। इस दृष्टिसे विचार करें तो, विदित होगा कि माता-पिताका शरीर विनष्ट होनेपर भी संतान-रूपमें उनका शरीर स्थिर ही रहता है। एवं शरीर प्रवाहसे नित्य या अमृत है। सो यही अमरावती है। यही स्वर्ग है। अप्रमत्त होकर प्रत्येकको इसकी रक्षा और वृद्धि करनी चाहिये[2]।

१—निरुक्तकारने इसे नैघण्टुक काण्ड ३।१।४ में उद्धृत किया है।

२—यजुर्वेद अ० ३४ में मनको 'ज्योतिषां ज्योतिः' तथा 'यत् ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु' कहा है। अतः तृतीय मन्त्रके 'ज्योतिः' का अर्थ मैंने 'मन' किया है। इसी अध्यायमें 'यत् अपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानाम्' इन शब्दोंमें उसे 'यक्ष' भी कहा है। अतः चतुर्थ मन्त्रका अर्थ करते हुए यक्षका प्राचीनानुमोदित अर्थ 'ब्रह्म' देकर स्वामिमत अर्थ 'मन' भी दे दिया है। 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान' (श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा प्रकाशित लेखककी नयी पुस्तक) के अध्येताओंको आयुर्वेदीय दृष्टिसे मनकी महत्ता सुविदित होगी।

'हिरण्य' का अर्थ 'हिरण्यमय' है ? हिरण्य शब्दकी एक निरुक्ति 'हित-रमणम्' यास्कने दी है।

पुरुष शब्द प्राचीनोंने 'पुर्' शब्द और शयनार्थक 'शी' धातुसे व्युत्पन्न माना है। कदाचित् शरीरमें आत्माकी निष्क्रियता प्रतिपादित करनेके लिए 'शी' धातु रखी गयी है। (आत्माकी निष्क्रियता सांख्योंके समान वैद्योंको भी स्वीकृत है—देखिये, 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान')। 'पुरुष' शब्दमें निवासार्थक 'वस्' धातुका संप्रसारित रूप 'उष्' लें तो अल्प क्लेशसे शब्द सिद्ध हो सकता है।

पहला अध्याय

आमुख

अथातो बीजनिर्देशीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

आयुर्वेदका प्रयोजन—

प्रयोजनं चास्य (आयुर्वेदस्य) स्वस्थस्य स्वास्थ्य-रक्षणम्, आतुरस्य विकार-प्रशमनं च॥ च० सू० ३०।२६

इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः, स्वस्थस्य रक्षणं च॥ सु० सू० १।१४

× × × रसायनादायुरुत्कर्षस्तु स्वस्थरक्षयैव गृह्यते। —डल्हन

आयुर्वेद किंवा चिकित्सापद्धति मात्रके प्रयोजन दो हैं। प्रथम, ऐसे आहार-विहार तथा औषधोपचारोंका उपदेश, जिनके अवलम्बनसे स्वस्थ पुरुष अपने स्वास्थ्यको स्थिर रख सके और आयुकी वृद्धि कर सके। द्वितीय, अहिताहार-विहारके कारण पुरुष रोगी हो गया हो तो जिस उपचारसे वह रोगमुक्त हो उसका उपदेश।

शास्त्रका जो अङ्ग प्रथम प्रयोजनकी पूर्ति करता है, उसे स्वस्थवृत्त[1] कहते हैं। आधुनिकोंने स्वस्थवृत्तके दो विभाग किये हैं—वैयक्तिक स्वस्थवृत्त[2] तथा सामाजिक स्वस्थवृत्त[3]। प्राचीनोंने सामाजिक स्वस्थवृत्तके बहुत-से नियमोंका[4] निर्देश प्रत्येक पुरुषके लिए आचरणीय सद्वृत्तोंके प्रसंगमें ही कर दिया है। शेष, नगरके कूड़े-कचरेको दूर करने, वायु-शुद्धिके लिए बड़े-बड़े यज्ञ करने आदिका कार्य मुख्यतः शासकोंके अधीन था, ऐसा प्रतीत होता है[5]।

आयुर्वेदके द्वितीय प्रयोजनका विस्तार आठ अङ्गोंमें विभक्त समग्र आयुर्वेदमें है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, द्वितीय प्रयोजन अर्थात् रोगोंके उपशमनके लिए रुग्णावस्थाके लक्षणों (विकृति-लक्षणों) का ज्ञान प्रथम आवश्यक है। कारण, उन्हें जानकर ही रोगका निदान तथा तदनुरूप चिकित्साका निर्णय किया जा सकता है। स्वस्थवृत्तके नियमोंका अनुष्ठान करनेमें भी विकृत-लक्षणोंका ज्ञान उपयोगी है। क्योंकि, इन लक्षणोंका प्रादुर्भाव होते ही जाना जा सकता है कि स्वस्थवृत्तके आचरणमें शैथिल्य होनेसे ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। यह ज्ञान

१—Hygiene—हाईजीन।

२—Personal hygiene—पर्सनल हाईजीन।

३—Public hygiene—पबलिक हाईजीन।

४—यथा—मूल, मूत्र थूक आदि पानीमें या ऐसे स्थान पर न छोड़ना, जहाँ लोग जाते-आते हों; खाँसी आदिके समय मुखको ढक लेना; रोगी मनुष्योंके संसर्गमें बहुत न आना; नित्य वायुशुद्धिके लिये होम करना, इत्यादि। विशेष देखिये—च० सू० ८।१८-२८; सु० चि० २४।८९-१०१।

५—आजसे पाँच सहस्र वर्ष पूर्वके, खुदाईसे प्राप्त नगर मोहन-जोदड़ोकी बड़ी-बड़ी गटरें इस बातका स्पष्ट प्रमाण हैं। विशेष अनुसंधान कौटिलीय अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत आदिसे किया जाना चाहिये।

पुरुषको पुनः स्वस्थवृत्तके मार्गपर लाकर स्वास्थ्य-संरक्षणके कार्यमें सहायक हो सकता है। परन्तु, इन विकृति-लक्षणोंका यथावत् ज्ञान संपादन करनेके पूर्व शरीरावयवोंके स्वस्थावस्थाके लक्षणों (प्रकृति-लक्षणों)[1] का ज्ञान आधारभूत होनेसे प्रथम अधिगत करना प्रत्येक वैद्य-शुश्रूषुके लिए अपरिहार्य है। देखिये—

प्राकृत शरीरके ज्ञानकी आवश्यकता—

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते। ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते। तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः॥ च० शा० ६।३

शरीरस्य विचयनं विचयः शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः। शरीरोपकारार्थमिति शरीरारोग्यार्थम्। अथ कथं शरीरज्ञानं शरीरोपकारकमित्याह—ज्ञात्वा हीत्यादि। शरीरस्य रक्तादिरूपस्य स्वभावरूपं तत्त्वं ज्ञात्वैव इदम[2]स्य वृद्धस्य धातो[3]रसमानगुणतया ह्रासकत्वेनोपकारकमिति, तथोक्तविपर्ययाच्चापकारकमिति ज्ञानं जायते, नोपकार्य शरीर तत्वज्ञानेऽसतीति वाक्यार्थः॥—चक्रपाणि

ग्रहणीदोषनिर्दिष्टाग्निदोषे वक्तव्ये प्रकृति ज्ञानानन्तरत्वाद् विकृतिज्ञानस्य प्रथमं तावदविकृतस्याग्ने रूपमाह—आयुरित्यादि[4]॥ च० चि० १५।३-४ पर—चक्रपाणि

१—'विकृति-लक्षण' तथा 'प्रकृति-लक्षण' शब्दोंका प्रयोग च० सू० ३०।२५ में आया है।

२—सामान्य-वाचक 'इदम्' शब्दसे यहाँ द्रव्य, गुण और कर्म तीनोंका ग्रहण है।

३—दोष, धातु और मल शब्दोंके गौण—मुख्य अर्थ—× × × धातवोरसरक्तमांसमेदोमज्जशुक्राणि स्वेदविण्मूत्राणि वातपित्तकफाश्चोच्यन्ते तेषामपि शरीरधारकत्वात् × × ×।

सु० चि० ५।२९ पर—डल्हन

'धातु' शब्दका मुख्य प्रयोग रस-रक्तादिके लिए होता है, क्योंकि वे दोषों और मलोंकी अपेक्षया शरीरका धारण अर्थात् उपादान रूपसे निर्माण विशेषतया करते हैं। तथापि, यत्किंचित धारक होनेसे दोषों और मलोंको भी आयुर्वेदमें 'धातु' कहा जाता है। देखिये—धातवो हि देहधारणसामर्थ्यात् सर्वे दोषादय उच्यन्ते—अ० सं० सू० १० में इन्दु। परन्तु इनकी यह संज्ञा गौण ही है। इसी प्रकार शरीरको मुख्यतः दूषित (विकृत, रुग्ण) करने वाले होनेसे वातादिके लिए 'दोष' शब्दका मुख्य व्यवहार होता है। परन्तु धातु और मल भी दोष-दूषित होकर परोक्षरीत्या शरीरको दूषित करते हैं। अतः गौण रूपसे उन्हें भी 'दोष' कहनेका प्रचार है। एवं दोषों और धातुओंकी अपेक्षया अधिक मात्रामें मल-रूप अर्थात् अपने-अपने छिद्रोंसे बाहर फेंके जाने योग्य होनेसे पुरीषादिको ही मुख्यत्वेन 'मल' नाम दिया गया है। इन्हें मल इसलिये भी कहते हैं कि ये शरीरमें वृद्धिको प्राप्त हों तो इसे विशेष रूपसे मलिन करते हैं। इन्हें मल कहनेका यह कारण भी है कि ये आहारके निःसार अंश (मल) हैं। देखिये—मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलाः।—अ० सं० सू० १०। उधर, दोष तथा धातु भी वृद्धिको प्राप्त होकर मल-रूप (बाहर निक्षेप्य) होते तथा शरीरको मलिन करते ही हैं, अतः उन्हें भी कभी-कभी 'मल' कहा जाता है, परन्तु उनका यह नाम गौण है।

'धातु' शब्द उक्त प्रकारसे दोष-धातु-मल तीनोंका वाचक होनेसे यहाँ उसका वैसा ही अर्थ लिया है।

४—यह वाक्य ग्रहणी-चिकित्सा-प्रकरणमें आया है। यहाँ इसका अर्थ करते हुए प्रासङ्गिक सिद्धान्त-मात्र लिया है, सम्पूर्ण वचनका अर्थ नहीं किया है। अन्यत्र भी ऐसे अवसरपर यही स्थिति समझनी चाहिए।

जैसा कि आगे जा कर विस्तारसे कहा जायगा, दोष, धातु-उपधातु तथा मलके समुदायसे यह शरीर बना है। शरीरमें प्रत्येकके अमुक-अमुक प्रकृति-नियत गुण-कर्म हैं। इन गुण-कर्मोंके सम्पादनके लिये प्रत्येकका अमुक निश्चित प्रमाणमें रहना आवश्यक है। प्रत्येक जब इस निश्चित प्रमाणसे न अधिक होता है न न्यून, किन्तु यथायोग्य प्रमाणमें होता है, तभी अपने प्रकृति-नियत, शास्त्र-प्रतिपादित गुण-कर्मोंका निर्वाह समुचित रूपमें कर सकता है। दोषादि जब अपने यथायोग्य प्रमाणमें होते हैं तो उन्हें 'सम' या 'प्राकृत' कहा जाता है, तथा उनकी इस स्थितिको 'समता' या 'साम्य' कहते हैं। इनमें कोई भी अपने शास्त्रोक्त कर्मोंको भले प्रकारसे कर रहा हो तो कह सकते हैं कि वह समावस्थामें है। दोषादिकी समावस्था स्वास्थ्यमें होती है। अथवा यों कहना चाहिये कि, इनकी समावस्था ही स्वास्थ्य है।

दोषादिकी समतासे भिन्न अवस्थाको 'विषमता' या 'वैषम्य' कहते हैं। इसमें दोष या तो वृद्धिको प्राप्त (प्रकुपित) हुए होते हैं या क्षीणता अर्थात् ह्रासको प्राप्त हुए होते हैं। ये जब प्रकुपित होते हैं तो अपने प्रकृति-नियत गुण-कर्मोंको अधिक मात्रामें करने लगते हैं, जिससे शरीर आगे कहे जानेवाले प्रकारसे विकारग्रस्त (रोगी) होता है। ये ही जब क्षीण होते हैं तो उनके स्वाभाविक गुण-कर्म न्यून मात्रामें होते हैं, जिससे शरीरमें तत्-तत् विक्रिया होती है। शरीरमें दोषादिकी विषमता ही रोगोंकी जननी है।

दोषादिके गुण-कर्मोंकी स्वाभाविकता, वृद्धि या क्षीणताको देखकर वैद्यको उनके अनुक्रमसे समता, प्रकोप और क्षयका अनुमान करना चाहिये। इसके अनन्तर, योग्य उपचारसे सम दोषादिके साम्यकी रक्षा, प्रकुपित उनका क्षय तथा ह्रासित हुए उनकी वृद्धि करनी चाहिये। यही संक्षेपमें आयुर्वेदिक चिकित्साका मूल है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दोषादिके सम्बन्धमें इतिकर्तव्यता प्रारम्भ करनेके पूर्व वैद्यको उनकी तीनों अवस्थाओंका विशद ज्ञान होना चाहिये। तीनों अवस्थाओंमें भी वृद्धि और क्षयके लक्षणों अर्थात् विकृति-लक्षणोंके ज्ञान समावस्थाके लक्षणों अर्थात् प्रकृति-लक्षणोंके ज्ञान द्वारा सुगम और सम्यक् हो जाता है। कारण, अपने नित्यके अनुभवसे प्रकृति-लक्षणोंका ठीक-ठीक परिचय वैद्यको हो जाय तो वह इन लक्षणोंमें अल्प-मात्र भी विपरीतता देखते ही जान सकता है कि शरीरमें कोई-न-कोई विकार उत्पन्न हुआ है।

इस बातको दो-एक प्रसिद्ध उदाहरणोंसे समझ लें।

गुरु-मुखसे श्रवण करनेसे, ग्रन्थाभ्याससे किंवा स्वस्थ पुरुषोंमें बार-बार देखनेसे विदित हो चुका हो कि समावस्थामें शरीरोष्मा[१], एवं प्रति मिनट नाड़ी अथवा श्वासका वेग कितना होता है; प्रश्वास[२], उच्छ्वास[३] और नाड़ी-स्पन्दनका स्वरूप कैसा होता है; रक्तका दबाव कितना होता है; त्वचाका वर्ण एवं छाया कैसे होते हैं; प्लीहा, यकृत् आदिका प्रमाण कितना तथा स्थिति कहाँ तक होती है; जिह्वा, मल और मूत्रका प्राकृत स्वरूप कैसा होता है, इनमें यत्किंचित् भी विक्रिया लक्षित होते ही इन अवयवोंमें होनेवाले तत्तत् रोगको गुरुके संकेतमात्रसे अथवा कभी-कभी तो इसके बिना भी सहज ही में जाना जा सकता है। अनुभवसे इस बातकी सत्यता प्रत्यक्ष होगी[४]।

१—Body Temperature—बॉडी-टेम्परेचर। २—Inspiration—इन्स्पिरेशन।

३—Expiration—एक्स्पिरेशन। देखिये—प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः। सु॰ शा॰ ९।५ पर—डल्हन

४—व्याकरणमें भी शुद्ध भाषाका ज्ञान करानेके लिये इसी पद्धतिका आश्रय लिया जाता है। महाभाष्यके आदिमें ही पतञ्जलिने कहा है कि अशुद्ध शब्द तो संख्यातीत हैं; शुद्ध शब्द थोड़े हैं। अतः

इस प्रकार प्रकृति-लक्षणोंका ज्ञान रोगके निदानमें सहायक होता है। अब हम देखेंगे कि शरीरावयवोंकी प्राकृत अवस्थाका ज्ञान चिकित्सामें भी मार्ग-दर्शक होता है।

'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान'के अनुशीलनसे विदित होगा कि शरीरके यावत् द्रव्य (दोष, धातु-उपधातु और मल) पाञ्चभौतिक हैं। तथापि, किसीमें कोई भूत अधिक होता है, किसीमें कोई। महाभूतोंके तारतम्यके अनुसार इन दोषादिमें तत्-तत् गुण और उनके तत्-तत् कर्म होते हैं। उधर, बाह्य द्रव्य भी पञ्चभूतात्मक—पञ्चमहाभूतोंके न्यूनाधिक प्रमाणमें मिलनेसे बने हुए—हैं। अपने-अपने अग्नियों द्वारा नित्य परिपाक होते रहनेसे इन दोषादिकोंका निरन्तर क्षय हुआ करता है। इस क्षयकी पूर्ति मुख्यतः आहार-द्रव्यों द्वारा तथा कभी-कभी औषध-द्रव्यों द्वारा होती है। द्रव्य सभी पञ्चभूतात्मक होनेसे, जिस द्रव्यमें जिस भूतकी अधिकता होगी, वह उस भूतकी अधिकतावाले दोष, धातु, उपधातु या मलकी वृद्धि करेगा। इसके विपरीत, उसमें जिस भूतकी अल्पता होगी उस भूतकी अधिकतावाले दोषादिको क्षीण करेगा।

आयुर्वेदमें शारीर अथवा बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाका विचार उतना नहीं किया जाता। किन्तु, इस पञ्चभूतात्मक रचनाके कारण उनमें जो विभिन्न शीतोष्णादि गुण होते हैं, उन्हींको लक्ष्यमें रखा जाता है। इस बातको दृष्टिमें रखकर ऊपरके पैरेमें कही बातको स्पष्टताके लिये यों भी कह सकते हैं कि—किसी द्रव्यका सेवन करनेपर वह उसी दोष, धातु या मलकी वृद्धि करेगा, जिसमें वही गुण होंगे, जो उस द्रव्यमें हैं। इसके विपरीत, द्रव्यमें जो गुण नहीं हैं या अल्प हैं वे गुण जिस दोष, धातु या मलमें होंगे उनका वह ह्रास करेगा। यथा, शुण्ठी उष्ण है। यह अपने समान गुणवाले रक्त धातु और पित्त-दोषकी वृद्धि करती है। परन्तु, विरुद्ध गुणवाले कफ या शुक्रका क्षय करती है।

द्रव्यों और गुणोंके समान विहार अर्थात् श्रम, निद्रा, जागरण इत्यादि चेष्टाएँ भी दोषादि पर कार्य करके उन्हें क्षीण, वृद्ध या सम करती हैं।

आहारौषध द्रव्यों, उनके गुणों तथा विहारका दोषादि शरीरावयवोंको क्षीण, वृद्ध या सम करनेका जो यह नैसर्गिक स्वभाव है, उसका चिकित्सामें उत्तम विनियोग होता है। प्रायः प्रज्ञापराध[1]वश पुरुष अहितकर आहार-विहारका सेवन किया करते हैं, अतः उनमें दोषादिका वैषम्य बहुधा हुआ करता है। यह वैषम्य क्षयरूप है या वृद्धिरूप इसका निर्णय करके तद्विपरीत द्रव्य, गुण या कर्मका इतनी मात्रामें प्रयोग करना चाहिये कि वे अपनी सम-अवस्थामें आ जायँ। और यदि नित्य हिताहार-विहार-सेवनके कारण दोषादि समावस्थामें हों तो आहार-विहारके समयोग द्वारा इस साम्यको स्थिर रखना चाहिये।

शुद्ध शब्दोंका उपदेश करें तो उनसे भिन्न सब शब्द अशुद्ध हैं, ऐसा समझ लेनेसे उनका भी उपदेश एक प्रकारसे आप ही हो जाता है। इसी प्रकार आयुर्वेदमें अल्प-संख्यक प्रकृति लक्षणोंका निर्देश कर दिया जाय तो संख्यातीत विकृति-लक्षणोंका निर्देश स्वयं हो जाता है। तथापि; संहिताकारोंने स्पष्टताके लिये थोड़े-थोड़े विकृति-लक्षणोंकी गणना उदाहरण-रूपसे की ही है।

१—**प्रज्ञापराधका लक्षण**—अपने हिताहित आहार-विहारका ज्ञान न प्राप्त करना अथवा ज्ञान होनेपर भी समयपर उसकी स्मृति न होना अथवा स्मृति होनेपर भी तदनुसार आचरण करने योग्य संयम (धृति) न होना 'प्रज्ञापराध' कहाता है। यह सब दोषोंके प्रकोप तथा समस्त शारीर-मानस रोगोंकी उत्पत्तिका कारण है। देखिये—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥

च० शा० १।१०२

विस्तार स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।

कहनेका आशय यह है कि रोगोंका निदान और चिकित्सा, जो वैद्यमात्रका परम कर्तव्य है उसके अध्ययनके पूर्व उसके द्वारभूत (सहायक, आधार-तुल्य) होनेसे शरीरके विभिन्न अनुभवोंके प्राकृत कर्मोंका ज्ञान आवश्यक है। 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' आयुर्वेदमतानुसार शरीरावयवभूत दोष, धातु-उपधातु, मल तथा उनसे बने हुए अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी प्राकृत क्रियाओंका निरूपण करता है।

आधुनिकोंने चिकित्साशास्त्रके द्वारभूत विषयोंका विभाजन निम्न प्रकारसे किया है।—

शरीर-विद्याके भेद और उनके विषय—

जिस शास्त्रद्वारा हमें सजीव चेतन द्रव्योंके विषयमें जानकारी प्राप्त होती है, उसे शरीरविद्या या जीवविद्या[1] कहते हैं। इसके दो भेद होते हैं। जो भेद उद्भिज्जों[2]का निरूपण करता है उसे उद्भिज्जशास्त्र[3] कहते हैं। तथा, जो जङ्गम प्राणियोंके सम्बन्धमें ज्ञान कराता है उसे प्राणिशास्त्र[4] कहते हैं। इनमें प्रत्येकके पुनः दो भेद हैं—रचनाशारीर[5] तथा क्रियाशारीर[6]। जो शास्त्र उद्भिज्जों अथवा प्राणियोंके शरीरके अङ्गोंकी रचना, आकृति, संख्या, प्रमाण, शरीरमें उनकी स्थिति इत्यादिका सूक्ष्म और स्थूल विवरण करता है उसे रचना-शारीर कहते हैं। और, जिस शास्त्रमें अङ्गोंकी प्राकृत (प्रकृत-सिद्ध) क्रियाओं तथा उनके कारणोंका निरूपण होता है उसे क्रियाशारीर[7] कहते है। जङ्गम रचनाशारीर और क्रियाशारीरका एक-एक प्रमुख भेद मानव रचनाशारीर[8] तथा मानव क्रियाशारीर[9] है। इनमें मनुष्यशरीरकी रचना और क्रियाका निर्देश होता है। गर्भविज्ञान[10] रचनाशारीरका ही एक भेद है। इसमें फलित स्त्रीबीज[11]की क्रमिक वृद्धिका स्वरूप इत्यादि बताया जाता है[12]।

१—Biology—बायोलाजी।

२—वनस्पति शब्दका शुद्ध अर्थ—जिसे लोक (बोलचाल) में 'वनस्पति' कहते हैं उसका शास्त्र-शुद्ध नाम 'स्थावर', 'औद्भिद', या 'उद्भिज्ज' है। च. सू. १।७१–७२, सु. सू. १।२८–२६ तथा अन्य प्राचीन मनु आदि ग्रन्थ देखनेसे विदित होगा कि वनस्पति तो स्थावरोंके चार भेदोंमें एक भेदका नाम है। इसी कारण 'बॉटेनी' को भी 'वनस्पतिशास्त्र' न कहकर 'उद्भिज्जशास्त्र' कहना चाहिये।

३—Botany—बॉटेनी। ४—Zoology—जुओलॉजी।

५—Morphology—मॉर्फोलॉजी; या Anatomy—एनेटॉमी।

६—Physiology—फिज़ियोलॉजी।

७—क्रियाशारीर शब्दकी व्युत्पत्ति—शरीरम् अधिकृत्य कृतं तन्त्रं शारीरम्; रचनाप्रतिपादकं शारीरं रचनाशारीरम्; क्रियाप्रतिपादकं शारीरं क्रियाशारीम्; मध्यमपदलोपी समासः। अर्थात्—शरीर सम्बन्धी शास्त्रको शारीर कहते हैं। रचनाके प्रतिपादक शास्त्रको रचनाशारीर और क्रियाप्रतिपादक शास्त्रको क्रियाशारीर कहते हैं। यहाँ 'प्रतिपादक' शब्दका मध्यमें से लोप हो गया है।

८—Human Anatomy—ह्यूमैन ऍनेटामी।

९—Human Physiology—ह्यूमैन फिज़ियोलॉजी।

१०—Embryology—एम्ब्रियोलॉजी। ११—Fertilized ovum—फर्टिलाइज़्ड ओवम।

१२—'प्राणाभिसर' वैद्यके लक्षणके प्रसंगसे प्राचीनोंने भी इन विषयोंकी आवश्यकता जताई है। देखिये—तथाविधा हि केवले शरीरज्ञाने शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञाने प्रकृतिविकारज्ञाने च निःसंशया भवन्ति— च. सू. २९।७।

यहां 'शरीरज्ञान' शब्दसे रचनाशारीर और क्रियाशारीर, 'शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञान' से गर्भ-विज्ञान तथा 'प्रकृतिविकारज्ञान' से निदानका ग्रहण है।

शरीरका लक्षण[1]—

जिस शरीरको विषय बनाकर अर्वाचीनों तथा प्राचीनोंने अपने-अपने शास्त्रोंका विस्तार किया है उसका संहिताकारोंने यह लक्षण दिया है—

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकम् ।। च. शा. ६।४

चेतनाशब्देन ज्ञानकारणमात्मोच्यते, भूतशब्द उपमाने; तेन चेतनाया आत्मसंबन्धिन्याः शरीरे एवोपलम्भात् आत्मनः शरीरमधिष्ठानमिति भवति; परमार्थतस्तु चेतना आत्माश्रया, आत्मा च निराश्रय एव; किंवा चेतनस्यात्मनोऽधिष्ठानभूतम् इति चेतनाधिष्ठानभूतम् । पञ्चानां महाभूतानां विकारा रसादयः शरीरारम्भकाः,तेषां समुदायो मेलकः स आत्मा स्वरूपं यस्य तत् तथा । समुदायशब्देन च समुदायारम्भका धातव एवोच्यन्ते । तेन, न संयोगमात्रस्य शरीरत्वप्रसक्तिः । किंवा, समुदायः संयोग एवोच्यतां, तथाऽपि समुदाय आत्मा कारणं यस्य शरीरस्य द्रव्यरूपस्य तत् पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं शरीरमेव ॥ चक्रपाणि

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति, एवं विवर्धितः स यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभिरङ्गैरुपेतस्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते ।। सु० शा० ५।३

× × आत्मा क्षेत्रज्ञः, प्रकृतयः प्रधानादयोऽष्टौ विकाराः पञ्चभूतान्येकादशेन्द्रियाणि चेति षोडश । तैः संमूर्च्छितं मिश्रीभूतं 'गर्भ' इति संज्ञां लभते । एतेन योगिनामुपयोगी पञ्चविंशतिको राशिरुक्तः । तमिदानीं भिषजामुपयोगिनं षड्धातुकं कृत्वा निर्दिशन्नाह–तमित्यादि । चेतनया

१—'शरीर' शब्दकी निरुक्ति—शरीर शब्दकी प्रसिद्ध व्युत्पत्ति यह है—शीर्यते इति शरीरम्—अर्थात् विभिन्न अग्नियों द्वारा पाक होनेके कारण तथा कालवश जिसका निरन्तर नाश (विशरण) हुआ करता है उसे शरीर कहते हैं। यहाँ 'हिंसा' अर्थकी 'शॄ' धातु है। यास्कने इस शब्दमें उपशम (विनाश) अर्थकी 'शम्' धातुभी मानी है। देखिये—"शरीरं श्रृणातेः शम्नातेर्वा" (नैघण्टुक काण्ड)। परन्तु गर्भोपनिषद्में आश्रय अर्थात् स्थिति अर्थकी 'श्रि' धातुसे शरीरकी जो व्युत्पत्ति बतायी है वह आयुर्वेदके और भी निकट है। —"शरीरमिति कस्मात्, अग्नयो ह्यत्र श्रयन्ते–ज्ञानाग्निर्दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पचति। दर्शनाग्नी रूपाणां दर्शनं करोति। ज्ञानाग्निः शुभाशुभं च कर्म करोति।"—"शरीरको शरीर इसलिए कहते हैं कि इसमें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि ये तीन अग्नि रहते हैं (श्रयन्ते)। कोष्ठाग्नि (तथा उसके अंशभूत धात्वग्नि) अन्नको पचाते हैं। दर्शनाग्नि, जिसे आयुर्वेदमें आलोचक पित्त कहा है वह दर्शनका कार्य करता है। तथा ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्म कराता है।" भेलने आलोचक पित्तके दो भेद बताये हैं—चक्षुर्वैशेषिक तथा बुद्धिवैशेषिक। इनमें चक्षुर्वैशेषिक गर्भोपनिषद्का दर्शनाग्नि तथा बुद्धिवैशेषिक ज्ञानाग्नि प्रतीत होता है। अन्य संहिताकारोंने आलोचक पित्तके ऐसे दो भेद नहीं किये हैं। भेलनिर्दिष्ट पञ्च पित्त आगे पित्तके अधिकारमें दिये गये हैं।

शरीरवाचक 'देह' तथा 'काया' शब्द क्रमशः उपचय (पुष्टि) अर्थकी 'दिह्' और 'चि' धातुसे बने हैं। ये सूचित करते हैं कि आहारजनित रससे शरीरका निरन्तर पोषण, वृद्धि तथा क्षति-पूर्ति हुआ करती है।

हेतुभूतया × × अवस्थितम् × ×। वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन; तेज एनं पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति; आपः क्लेदयन्ति विभागपरिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्र तां जनयन्ति; पृथिवी संहन्ति अद्भिः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्तिमत् करोति × × ×; आकाशं विवर्धयति अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग् विवर्धितमवकाशदानेन विवर्धयति ॥ —डल्हन

शुक्र और आर्तव (पुंबीज और स्त्रीबीज) का गर्भाशयमें संयोग होने पर उसमें तत्काल ही सूक्ष्मशरीर-सहित आत्माका प्रवेश होता है। इस सूक्ष्म शरीरमें आठ प्रकारकी प्रकृति[1] पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म कर्मेन्द्रियाँ तथा एक उभयात्मक इन्द्रिय मन—इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। इस समुदायमें माताकी धमनियों द्वारा रस-रक्तादि पोषक द्रव्योंका आयात होता है। ये द्रव्य पञ्चभूतमय होते हैं। शुक्र, आर्तव, अष्टविध प्रकृति, पञ्चभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा आत्माके इस संयोगको गर्भ कहते हैं।

गर्भपर पञ्चभूतोंकी क्रिया होकर उसकी क्रमिक पुष्टि होती है तथा हाथ-पैर आदि विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते हैं। इस अवस्थामें गर्भको 'शरीर' कहा जाता है।

शरीरकी उत्पत्ति और पुष्टिमें प्रत्येक महाभूतका विशिष्ट कर्म होता है। वायु इसमें दोष, धातु, मल और अङ्ग-प्रत्यङ्गका विभाग करता है—उन्हें विभिन्न आकृतियाँ प्रदान करता है। अग्नि पाक अर्थात् एक वस्तुको अन्य वस्तुके रूपमें परिणत करनेका कार्य करता है। जल शरीरमें क्लेद (आर्द्रता) उत्पन्न करता है, एवं इस क्लेद द्वारा वायु और अग्निके प्रभावसे होनेवाले शोषणसे शरीरका त्राण भी करता है। पृथिवी इसमें काठिन्य उत्पन्न करती है—अर्थात् शरीरावयवोंके निर्माणके लिये उपयुक्त सामग्री प्रस्तुत करती है। आकाश अवकाश (खाली स्थान) प्रदान करता है—वायु तथा अग्निकी क्रियासे बननेवाले स्रोतों और आशयोंके विस्तारके लिये उन्हें सर्वत्र अवकाश देकर शरीरकी वृद्धिमें सहायक होता है।

आशय यह है कि, प्रकृति आदि चौवीस तथा आत्मा—इन पचीस तत्त्वोंका शुक्र-शोणितके साथ संयोग होनेपर जो कार्यद्रव्य उत्पन्न होता है, उसे शरीर कहते हैं। अथवा, स्थूल विचार करें तो पञ्चमहाभूत एवं आत्मा इन छः तत्त्वोंके सम्मिश्रणको शरीर कहा जाता है[2]।

जैसा कि आगे जा कर देखेंगे, शरीरमें पृथिवी तथा जल मुख्यतः कफके रूपमें, अग्नि मुख्यतः पित्तके रूपमें और आकाश तथा वायु मुख्यतः वायुके रूपमें रह कर इसे अपने-अपने उल्लिखित तथा अन्य कर्मों द्वारा अनुगृहीत करते हैं।

शरीर तथा आयुर्वेदाभिमत 'पुरुष'की एकार्थता—

'पुरुष' शब्दका अर्थ प्राचीन ग्रन्थोंमें आत्मा माना गया है। स्वयं आयुर्वेदमें भी इसका यह अर्थ माना है। यथा—

चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः[3] ॥ च० शा० १।१६

तथापि आयुर्वेदमें उपयोगिताको दृष्टिमें रखते हुए 'पुरुष' शब्दका विशेष अर्थ स्वीकार किया गया है।

१—प्रकृति, महत्तत्त्व (बुद्धितत्त्व), अहंकार तथा पाँच तन्मात्र ये आठ प्रकृतिके भेद हैं।

२—इस विषयका विशेष विचार 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान'में देखिये।

३—"पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति (सु० शा० १।८)" इत्यादिमें भी पुरुष शब्द इसी अर्थमें है।

अस्मिञ्छास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते। तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्॥ सु. सू. १।२२

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः। च. शा. १।१६

चेतनाषष्ठा इत्यत्र चेतनाशब्देन चेतनाधारः समनस्क आत्मा गृह्यते; खादिग्रहणेन चेन्द्रियाणि खादिमयान्यवरुद्धानि। अयं च वैशेषिकदर्शनपरिगृहीतश्चिकित्साधिकृतः पुरुषः × × ×॥ —चक्रपाणि

पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी॥ च. शा. १।१७

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद् योगधरं परम्।
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः॥ च. शा. १।३५

अत्र च बुद्धिवृत्तीनां ज्ञानानां कथनेनैवाहंकारोऽपि सूचित एव; यतोऽहंकारोपजीवितैवात्माभि-संवलितेयं बुद्धिः 'अहं पश्यामि' इत्यादिरूपा भवति। × ×। परमित्यव्यक्तम्। बुद्ध्यादीनां योगं मेलकं धरतीति योगधरम्। अव्यक्तं हि प्रकृतिरूपं पुरुषार्थप्रवृत्तं बुद्ध्यादिमेलकं भोगसंपादकं सृजति × × ×॥ —चक्रपाणि

आयुर्वेदमें पाँच महाभूत तथा आत्माके समुदाय इन छः धातुओंके समुदायको 'पुरुष' कहते हैं। 'पुरुष' शब्दका यह विशिष्ट अर्थ इसलिए स्वीकार किया गया है कि स्वास्थ्य-संरक्षण तथा रोग-निवर्तन करने वाले विभिन्न उपचारोंका प्रतिपादन इसी समुदायके हितके लिए किया जाता है, तथा ये उपचार भी इसीपर किये जाते हैं।

कुछ विस्तारसे इसी बातको कहना चाहें तो—अष्टविध प्रकृति, दश इन्द्रिय, मन और ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि पाँच विषय इन चौबीस तथा आत्माके समुदायको आयुर्वेदमें पुरुष कहा जाता है।

इस परिभाषाको देखनेसे स्पष्ट होगा कि शरीर और पुरुष दोनों शब्दोंके अर्थमें कोई भेद नहीं है[1]।

आयु अथवा जीवनका लक्षण बताते हुए यही वस्तु प्रकारान्तरसे कही गयी है। देखिये—

आयु या जीवनका लक्षण—

शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्।
नित्यगश्चानुबन्धश्च पर्यायैरायुरुच्यते॥ च॰ सू॰ १।४२

× × शरीरं पञ्चमहाभूतविकारात्मकमात्मनो भोगायतनम्। × × यद्यपि शरीरग्रहणेनैव इन्द्रियाण्यपि लभ्यन्ते तथापि प्राधान्यात् तानि पुनः पृथगुक्तानि। × × धारयति शरीरं पूतितां

१—चेतन शरीर ही औपनिषद् पुरुष है—आयुर्वेदमें इस पञ्चभूत और आत्माके समुदायभूत शरीरके लिए पुरुष शब्दका व्यवहार हुआ है। उदाहरणतया; "हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति" (च॰ सू॰ २५।३१)। उपनिषदोंमें भी इसीको पुरुष कहा है। देखिये—'स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः'-तैत्तिरीय॰, द्वितीय वल्ली, प्रथम अनुवाक। जैसा कि ऊपर च॰ शा॰ १।१६ की टीकामें चक्रपाणिने कहा है, वैशेषिक-दर्शनसम्मत पुरुष भी यही है।

गन्तुं न ददातीति धारि। जीवयति प्राणान् धारयति इति जीवितम्। नित्यं शरीरस्य क्षणिकत्वेन गच्छतीति नित्यगः। ××× ॥

—चक्रपाणि

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्।
लोकस्तिष्ठति संयोगात् तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
स पुमांश्चेतनं तच्च × × ×॥

च० सू० १।४६–४७

××× संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां त्रयमिति पदं मिलितानामेव ग्रहणार्थम्। ×× यथा त्रिदण्डेऽन्यतमापाये नावस्थानं, तथा सत्त्वादीनामन्यतमापायेऽपि न लोकस्थितिरित्युक्तं भवति। लोकत आलोकत इति लोकः, तेनेह जङ्गमो भूतग्राम उच्यते। ×× सर्वं प्रतिष्ठितमिति तस्मिंल्लोके कर्मफलादि व्यवस्थितं, यद् वक्ष्यति—"अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम्। अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।" (च० शा० १।२७) इति। ×××॥ —चक्रपाणि

शरीर, तदन्तर्गत इन्द्रिय, मन और आत्माके संयोगको आयु[1] या जीवन कहते हैं। इस संयोगका नाम जीवन या जीवित इसलिये है कि यह प्राणोंको धारण[2] करता है। अर्थात् इस संयोगके होनेसे ही आगे कहे जानेवाले आयुर्वेदाभिमत प्राणोंकी स्थिति है, अन्यथा नहीं। इसी समुदायको धारि, नित्यग या अनुबन्ध भी कहते हैं, यद्यपि ये नाम बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं। इसे धारि कहनेका कारण यह है कि यह शरीरको धारण करता है—इसे सड़ने नहीं देता। प्रवाहसे नित्य होनेसे इसे 'नित्यग' या 'अनुबन्ध' कहते हैं।

जङ्गम मात्रमें दृष्टिगोचर होनेवाला ज्ञान, कर्म, कर्मफलोपभोग, सुख-दुःख, ममत्व, जीवन-मरण—ये सब उल्लिखित संयोगके ही अधीन हैं। जिस प्रकार कोई घड़ा तिपाईके आश्रयसे रहता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-सहित शरीर, मन और आत्मा, इन तीनके संयोगपर ही प्राणिमात्रके ज्ञान, कर्म प्रभृति आश्रित हैं। इन तीनके समुदायको ही चेतन या पुरुष कहते हैं।

पुरुष शब्दका उक्त आयुर्वेदाभिमत अर्थ स्वीकार करनेका कारण है। यद्यपि आयुर्वेदमें जीवन-मरणका बन्धन इत्यादि मुमुक्षुजनोंके लिए चिन्तनीय दुःखोंको भी दुःख कहा है, कहीं-कहीं

१—'आयु' और 'वय' शब्दोंका शास्त्र-शुद्ध अर्थ—आयु शब्दका यह अर्थ तथा उसका पर्याय जीवन देखनेसे विदित होगा कि बीजवाहिनीमें शुक्र-शोणित तथा सूक्ष्म शरीरका संयोग होनेके कालसे आरम्भ करके मृत्युपर्यन्त जबतक यह संयोग चालू रहता है तबतककी स्थितिको 'आयु' कहते हैं। इसीको अङ्गरेजीमें 'लाइफ' (Life) कहते हैं। उम्र या अवस्था (अङ्गरेजी में Age—एज) के अर्थमें जो इस शब्दका प्रयोग चला आ रहा है, वह शुद्ध नहीं है। उनके लिए 'वय' शब्द संस्कृत तथा आयुर्वेदमें सिद्ध है। वही अब रूढ़ किया जाना चाहिये। भाषाकी शुद्धिकी दृष्टिसे तथा भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाहक शब्दोंसे भाषाको समृद्ध करनेकी दृष्टिसे भी दोनों शब्दोंका अपने-अपने अर्थमें प्रयोग होना उचित है। अन्य भारतीय भाषाओंकी बात मैं नहीं जानता, गुजराती और मराठीमें तो 'वय' शब्द अपने शुद्ध अर्थमें प्रचलित है।

२—इन शब्दोंमें 'प्राणधारण' अर्थकी जीव धातु है।

उनसे मुक्तिके उपायोंका निर्देश भी किया है, तथापि वे दुःख आयुर्वेदके मुख्य लक्ष्य नहीं। आयुर्वेदमें तो शरीर और मनके रोगोंको अपना विषय मानकर उनका ही विचार किया गया है।

अन्य शास्त्रोंमें तथा आयुर्वेदमें भी क्वचित् पुरुष नामसे प्रसिद्ध आत्माका अस्तित्व शरीर और मनके विना अकिंचित्कर है। सांख्योंका अनुसरण करते हुए आयुर्वेदमें आत्माको निर्विकार और निष्क्रिय माना है। उसके सांनिध्य (विद्यमानता) मात्रसे शरीर और मनमें चैतन्यके लक्षण स्फुरित होते हैं। यह वस्तुस्थिति होनेके कारण पुरुष शब्दका उक्त विशाल परन्तु अपने शास्त्रमें ही मर्यादित अर्थ आयुर्वेदके तन्त्रकारोंने माना है। एवं आत्माके निर्विकार होनेके कारण रोगोंका आश्रय शरीर और मन होनेसे उन्हीके प्राकृत-विकृत स्वरूप तथा कर्मोंका विचार किया गया है।

व्यवहारमें सुगमताको लक्ष्यमें रखते हुए, आत्मा तथा प्रकृतिके सूक्ष्म भेदोंका केवल नामनिर्देश करके और प्रचलित सिद्धान्तमें यत्किंचित् परिवर्तन करके पिण्ड और ब्रह्माण्डके द्रव्यमात्रको आयुर्वेदमें पाञ्चभौतिक माना गया है। देखिये—

चिकित्साका विषय पाञ्चभौतिक शरीर तथा मन है—

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत्।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिकित्सिते॥ सु० शा० १।३८

यतोऽभिहितं—"तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः"। भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः॥ सु० शा० १-१२-१४

× × तन्मयानीति अवकाशचलोष्णद्रवखरस्वभावादिधर्मविशेषाक्रान्तप्रकृतिपरिणाममयानि; भूतान्याकाशादीनि; तद्गुणान्येव सत्त्वरजस्तमोगुणान्येवेत्यर्थः, सत्त्वबहुलमाकाशमित्याद्युक्तत्वात्। × × तैराकाशादिभिर्भूतैः, तल्लक्षणो भूतलक्षणः, भूतग्रामः स्थावरजङ्गमात्मकः, व्यजन्यत विविधो जनितः। भूतानां पृथिव्यादीनां पुनर्लक्षणं स्थिरगुरुकठिनत्वमित्यादि, तल्लक्षणश्च स्थावरजङ्गमात्मको भूतग्रामः × ×। तेभ्यः पञ्चभूतारब्धभूतग्रामेभ्यः परं चिकित्सिते चिन्ता नास्ति। तदुक्तमाद्येऽध्याये, "तत्रास्मिन् पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते; तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानं। कस्मात्? लोकद्वैविध्यात्, लोको हि द्विविधः—स्थावरो जङ्गमश्च, तस्मिन् पुरुषः प्रधानं, तस्योपकरणमन्यत्"—(सु० शा० १।२२) इति। तेन पञ्चभूतारब्धस्यैव भूतग्रामस्य चिकित्सितोपकरणत्वम्। अतो भूतेभ्यः परं यदव्यक्तादि तत्र चिन्ताऽपि नास्ति × ×। तस्य पुरुषस्य संभवद्रव्याणि शुक्रशोणितादीनि तेषां समूहः संयोगविशेषः। कथंभूतः? भूतादिः; भूतं पृथिव्यादिकमादिर्मूलकारणं यस्य स तथा। न परं पुरुषसंभवद्रव्यसमूहस्य भूतादित्वाभिधानात् भूतेभ्यः परं चिन्ता नास्ति, किं त्वेतस्मादपीत्याशङ्क्याह—भौतिकानि चेत्यादि। × तथा चोक्तं पञ्चभूतात्मकत्वेऽपि—"खं श्रोत्रे स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिलं रसने भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्"—इति। इन्द्रियाणामर्थाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, ते चायुर्वेदशास्त्रे तथा भौतिका इत्यर्थः। उक्तं च—"शब्दो वैहायसः, स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो, गन्धस्तु पार्थिवः" इति॥ —डल्हन

स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टिकी आदि मूल प्रकृति त्रिगुणमयी है—विभिन्न लक्षणोंवाले सत्त्व, रज

और तम इन तीन गुणोंके समुदायसे बनी है[1]। उत्पत्तिक्रमानुसार आदिप्रकृतिसे आकाशादि पाँच महाभूत उत्पन्न हुए हैं। ये महाभूत भी त्रिगुणमय हैं। साथ ही इनमें अवकाश–चलत्व–उष्णत्व–द्रवत्व–खरत्व आदि विशिष्ट गुण भी हैं। इन पञ्चभूतोंके समुदायसे सृष्टिके स्थावर-जङ्गम समस्त द्रव्य बने हैं। द्रव्य सभी पञ्चभूतात्मक होनेसे सबमें सबके गुण उतरते हैं, परन्तु प्रत्येक द्रव्यमें एक अथवा अधिक भूतका प्राधान्य होता है। इस अधिक भूतके अनुसार ही द्रव्यमें गुणोंकी विशेषता तथा उसके पार्थिव आदि नाम होते हैं।

आयुर्वेदमें सिद्धान्त-रूपसे सृष्टिका मूल कारण प्रकृतिको मानकर भी उपयोग अर्थात् व्यवहारके क्षेत्रमें सब द्रव्योंको पाञ्चभौतिक (पञ्चभूतोत्पन्न) ही माना है। शरीर, इन्द्रिय, मन तथा इनके उपकरण-भूत (विभिन्न प्रकारसे उपयोगमें आनेवाले) सभी बाह्य द्रव्योंका मूल कारण महाभूत ही माने गये हैं। चिकित्सामें महाभूतोंकी अपेक्षया सूक्ष्म द्रव्योंका न उपयोग है, न आयुर्वेदमें उनका विचार किया गया है।

आशय यह है कि—शरीरके सभी अवयव (दोष, धातु आदि) पञ्चभूतोंसे ही बने हैं। आहार-विहारके व्यतिक्रमसे शरीरावयवोंमें भूतोंकी अधिकता हो जानेसे उस भूतकी अधिकतावाले अवयवकी वृद्धि होती है, जिससे शरीर रुग्ण होता है। उधर, किसी महाभूतकी अल्प मात्रा शरीरमें पहुंचनेसे उस महाभूतसे बना अवयव क्षीण होता है, जिससे वह अपना प्रकृति-नियत कार्य कर नहीं सकता और शरीर रोगाक्रान्त होता है। प्रथम प्रकारकी विषमताके निवारणके लिए उस महाभूतकी न्यूनतावाला तथा द्वितीय प्रकारकी विषमता दूर करनेके लिए उस महाभूतकी अधिकतावाला आहार-विहार लेना चाहिये।

द्रव्योंकी पाञ्चभौतिकताका उक्त प्रकारसे चिकित्सामें उपयोग और भी सुबोध और सुगम करनेके लिए शरीरान्तर्गत अवयवों तथा बाह्य आहारौषध-द्रव्योंके गुणोंको ही लक्ष्यमें रखनेकी परिपाटी नियत की गयी है। अर्थात् शरीरके अवयवों तथा बाह्य द्रव्योंका परिचय उनकी रचना करनेवाले महाभूतोंके निर्देशके रूपमें नहीं कराया गया है, किन्तु उन महाभूतोंसे उत्पन्न गुणोंके उल्लेखके रूपमें कराया गया है। साथ ही यह सिद्धान्त स्वीकार किया गया है कि—जिस आहार-विहार तथा औषधमें जो गुण अधिक होते हैं, उसका सेवन करनेसे शरीरमें उसी अवयवकी पुष्टि होती है, जिसमें वही गुण अधिक होते हैं। इसके विपरीत, आहारौषध-द्रव्यों तथा विहारमें जिन गुणोंकी न्यूनता होती है, उनके सेवनसे उस गुणकी अधिकतावाले अवयवोंका ह्रास होता है—

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्[2]। च० सू० । १२ ५ ।

अब तक हमने देखा कि आत्मा, शरीर और मनके संयोगभूत जीवित शरीरको आयुर्वेदमें पुरुष, आयु आदि विभिन्न नाम दिये गये हैं। इसीका प्रसिद्ध नाम 'प्राणी' भी है। प्राण शब्दका प्रचलित अर्थ श्वासक्रियामें प्रविष्ट और निर्गत होनेवाला वायु है। इसीका कुछ व्यापक अर्थ प्राणापानादि पाँच वायु है। दर्शन और आयुर्वेद दोनोंमें यह अर्थ प्रसिद्ध है। परन्तु आयुर्वेदमें प्राण और प्राणीका अर्थ अधिक व्यापक है। देखिये—

प्राण—

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥ सु० शा० ४।३

१—सत्त्व-रज-तमको यद्यपि गुण कहा है, तथापि ये गुरु-लघु आदिके समान गुण नहीं। यत सत्यं ये द्रव्य हैं। देखिये 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान'।

२—इस विषयके अन्य प्रमाण—आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान, सामान्य-विशेष-प्रकरणमें देखिये।

× × अग्निरत्र पाचकभ्राजकालोचकरञ्जकसाधकानां पाञ्चभौतिकानां सर्वधात्वनुगानां चोष्मणां शक्तिरूपतयाऽवस्थितो वाचोऽधिदैवतमापन्नो बोद्धव्यः। श्लेष्मरसशुक्रादीनां तोयात्मकानां भावानां रसनेन्द्रियस्य च शक्तिरूपतयाऽवस्थितो मनसोऽधिदैवत्वामापन्नः सोम इति। वायुः पञ्चात्मकः प्राणादिभेदेन। सत्त्वरजस्तमांसि तु प्रकृतेरष्टरूपाया गुणाः। × × भूतात्मा शुभाशुभकर्मभिः परिगृहीतः कर्मपुरुषः। एते चाग्नीषोमादयः प्राणयन्ति जीवयन्तीति प्राणाः। तत्राग्निस्तावदाहारपाकादिकर्मणा प्राणयति, सोमश्च सौम्यधातोरोजःप्रभृतेः पोषणेन, वायुश्च दोषधातुमलादीनां संचारणेनोच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां च, सत्त्वं रजस्तमश्च मनोरूपतया परिणतं भूतात्मनः शरीरान्तरग्रहणमोक्षणे हेतुरिति तदपि प्राणयति, पञ्चेन्द्रियाणि चक्षुरादीनि रूपादिग्रहणकर्मणा प्राणयन्ति, एवं भूतात्मा कर्मपुरुषोऽप्यशेषस्यैव कर्मराशेश्चेतनाहेतुरिति प्राणयति॥ —डल्हन

अग्नि, सोम, वायु सत्त्व, रज, तम, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा जीवात्मा—इन बारहको प्राण कहा जाता है।

यहाँ अग्निका अर्थ है वह पदार्थ, जो शरीरान्तर्गत सर्व धातुओंमें विद्यमान पाचक, भ्राजक आदि पाञ्चभौतिक पाँच पित्तोंको शक्ति देता है तथा जो वाणीकी अधिष्ठात्री देवता है। सोमका अर्थ है वह पदार्थ, जो शरीरगत जलभूतप्रधान कफ, रस, शुक्र अदि द्रव्योंको शक्ति देता है तथा जो मनका अधिष्ठाता है। वायुका अर्थ है प्राणापान आदि पाँच प्रकारका वायु। सत्त्व, रज, तम प्रकृतिके गुण हैं, जो शरीरमें मनके रूपमें स्थित हैं। आत्माका अर्थ प्रसिद्ध ही है।

इन अग्नि, सोम आदिको प्राण इस लिए कहते हैं कि ये जीवनको (शरीरादिके संयोगको) धारण किये रहते हैं—विच्छिन्न नहीं होने देते। अग्नि आहारके पाक (रूपान्तर-प्राप्ति) आदि कर्मों द्वारा जीवनको टिकाये रखता है; सोम ओज आदि सौम्य धातुओंके पोषण द्वारा, वायु दोष-धातु-मल आदिके संचारण एवं उच्छ्वास-निःश्वास द्वारा, मन सूक्ष्म शरीर तथा उसके अङ्गभूत जीवात्माका पूर्व-शरीरसे विच्छेद तथा वर्तमान शरीरसे संयोग कराकर, ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने रूपादि विषयोंका ग्रहण कराती हुई तथा आत्मा अपने सांनिध्यसे संपूर्ण कर्मोंकी प्रवृत्तिका मूल होनेके कारण इस संयोगका धारण (प्राणन) करता है। इन प्राणोंसे युक्त होनेसे इस शरीरको प्राणी कहते हैं। यद्यपि जङ्गमोंके समान स्थावरों (उद्भिज्जों) के लिए भी पुरुष या प्राणी शब्दका प्रयोग शास्त्रशुद्ध है, तथापि इन शब्दोंका प्रयोग जङ्गमोंके लिए ही रूढ है।

उल्लिखित प्राण यद्यपि शरीरके अणु-अणुमें व्याप्त हैं, तथापि इनके कुछ विशेष स्थान हैं। इन्हें आघात होनेसे किंवा निज रोगों द्वारा इनके आक्रान्त होनेसे शरीरको विशेष क्षति होती है। इन स्थानोंको प्राणायतन कहते हैं। ये प्राणायतन निम्नोक्त हैं।—

प्राणायतन—

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ च० सू० २९।३

मर्मत्रयमिति हृदयवस्तिशिरांसि॥ —चक्रपाणि

इयमप्यर्थपरा संज्ञा, न शब्दानुकारिणी। आयतनानीवायतनानि, तदुपघाते प्राणोपघातात्, तन्नाशे च प्राणनाशादित्यर्थः; न प्राणस्य जीविताख्यस्य शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगरूपस्य शङ्खादय एव परमाशयाः, तस्य कृत्स्नशरीराद्याश्रयत्वात्॥ च० सू० २९।१ पर —चक्रपाणि

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदयं वस्तिनाभ्यौ च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु॥ सु० शा० ६।९

× × चत्वारि श्रृङ्गाटकानि, एकोऽधिपतिः; शङ्खौ द्वौ, कण्ठसिरा अष्टौ मातृकाः, गुदं हृदयं वस्तिर्नाभी चेत्येकैकम् ॥ —डह्लन

दोनो शङ्ख (कनपटियाँ), चार श्रृङ्गाटक मर्मों तथा एक अधिपति मर्मका आश्रयभूत शिर, हृदय, बस्ति, आठ मातृका सिराओंका स्थान होनेसे कण्ठ, रक्त, शुक्र, ओज, गुद और नाभि ये कायचिकित्सा और शल्यतन्त्र की दृष्टिसे प्राणोंके आयतन (विशेष स्थान) हैं। रक्त, ओज और शुक्रके अतिरिक्त अन्य स्थानोंको शल्यतन्त्रमें सद्यःप्राणहर मर्म कहा है[१]।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि शरीर, जीवन, आयु किंवा पुरुष इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध यह जीवित शरीर संक्षेपमें तीन द्रव्योंके संयोगसे बना है—शरीर, आत्मा और मन। "आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान" के अनुशीलनसे विदित होगा कि इन तीनमें आत्मा निर्विकार है। उसकी उपस्थितिमात्रसे शरीर और मनमें विभिन्न क्रियाएँ होती हैं, इतना ही। परिणामतया, आयुर्वेदीय रचनाशारीर, क्रियाशारीर, चिकित्सा, शल्यतन्त्र आदिके विचारणीय विषय दो ही रह जाते हैं—शरीर और मन। रोगोंके अधिष्ठान या आश्रय ये दो ही हैं। देखिये—

रोगके अधिष्ठान-शरीर और मन—

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः।
तथा सुखानाम् × × × ॥ च० सू० १।५५

× × × असमासेन च पृथगपि शरीरमनसोर्व्याध्याश्रयत्वं दर्शयति। यतः कुष्ठादयः शारीरा एव, कामादयस्तु मानसाः, उन्मादादयश्च द्व्याश्रयाः। × × सुखानामित्यारोग्याणाम्। वचनं हि—"सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च।" (च० सू० ९।४) × ×॥ —चक्रपाणि

द्विविधं (चैषां रोगाणाम्) अधिष्ठानम्—मनःशरीरविशेषात् ॥ च० सू० २०।३

द्वे रोगानीके अधिष्ठानभेदेन, मनोऽधिष्ठानं शरीराधिष्ठानं च ॥ च० वि० ६।३

रोगोंके आश्रय दो हैं—शरीर और मन। अर्थात् जितने रोग हैं वे इन्ही दो में होते हैं। कई रोग केवल शरीरमें होते हैं, कई केवल मनमें और कई दोनोंमें। आश्रयभेदका अभिप्राय यहाँ इतना ही है कि कई रोगोंका मूल शरीरमें होता है, कइयोंका मनमें। उत्पन्न होनेके पश्चात् तो शारीर रोगोंके कारण मन और मानस रोगोंके कारण शरीर उत्तप्त होता है। इसका कारण मन और शरीरका परस्पर गाढ़ सम्बद्ध होना है।

रोगोंके समान आरोग्यके अधिष्ठान भी शरीर और मन ये दो हैं।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, शरीरकी रचना या स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार या अस्वाभाविकता उत्पन्न होनेसे किंवा उसकी क्रियामें कोई अन्यथाभाव हो जानेसे जो रोग उत्पन्न होते हैं उनका सुगमतासे ज्ञान हो सकता है, यदि हमें उनकी प्राकृत रचना और क्रियाका यथास्थित ज्ञान हो। क्रियाशारीरमें रोगके अधिष्ठानभूत शरीर और मनकी प्राकृत क्रियाओंका विचार किया जाता है।

यह प्रत्यक्ष है कि शरीर अनेक अवयवों या अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे बना है। प्रत्येककी अपनी-अपनी

१—शङ्ख तथा उसके आसपास स्थित मर्म, श्रृङ्गाटक, अधिपति, मातृका, हृदय, गुद, नाभि, बस्ति तथा शिरके सीमन्त मर्मोंका विशेष विवरण जाननेके लिए देखिये—सु. शा. ६। हृदय, शिर तथा बस्ति मर्मोंका वर्णन च. सि. ९ में देखिये। रक्त, शुक्र और ओजका महत्त्व जाननेके लिए इसी ग्रन्थके प्रकरण देखिये।

प्रकृति-नियत क्रिया है। इन अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी क्रिया समझनेके पूर्व यह देखना आवश्यक है कि आयुर्वेद मतानुसार शरीरका अङ्ग-प्रत्यङ्ग विभाग किस प्रकारका है। अङ्गोंका विभाग आयुर्वेदमें निम्न प्रकारसे किया गया है।

शरीरके छः अङ्ग—

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः; तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवम्, अन्तराधिः इति षडङ्गमङ्गम् ॥ च० शा० ७।५

×× अन्तराधिर्मध्यम् ॥ —चक्रपाणि

तच्च (शरीरं) षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥

मध्यमिदं कण्ठादिगुदपर्यन्तम् ॥ सु० शा० ५।३—डल्हन

कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्च पर्यायशब्दैस्तन्त्रे ॥ च० सू० ११।४८

×× उक्तं च कोष्ठविवरणे-"स्थानान्यामाग्निपक्वानाम् ××" इति ॥ —चक्रपाणि

शरीरके छः अङ्ग हैं—दो बाहु, दो सक्थि (पैर), एक मध्य (धड़) तथा एक ग्रीवासहित शिर। दो बाहु तथा दो सक्थि इन चारका एक नाम शाखा[1] भी है। मध्यको कोष्ठ[2] भी कहते हैं।

१—Extremities—एक्स्ट्रिमिटीज़। हाथोंके लिये अङ्गरेजीमें upper extremity (अपर एक्स्ट्रिमिटी) तथा पैरोंके लिये Lower extremity (लोअर एक्स्ट्रिमिटी) शब्द हैं।

शाखा शब्दका अन्य अर्थ—स्मरण रहे, शाखा शब्दका शास्त्रमें अन्य अर्थ भी है—शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च (च० सू० ११।४८)—रक्तादि छः धातु, त्वचा (और त्वचान्तर्गत रस-धातु) को शाखा कहते हैं। दोषोंके प्रसरके प्रकरणमें त्रिविध रोग-मार्गोंके निर्देशके प्रसंगमें इसकी विशेष व्याख्या की जायगी। रस धातुका जो अंश अन्यत्र रहता है उसकी गणना स्थान भेदसे कोष्ठ या मर्मास्थि-संधिमें होती है।

२—कोष्ठ—"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते" (सु० शा० २।१२)।—अर्थात् आमाशय, अग्न्याशय (अग्निरूप पाचक पित्तकी क्रियाका स्थान होनेसे पच्यमानाशय या क्षुद्रान्त्र), पक्वाशय (स्थूलान्त्र, उत्तर गुद, अधर गुद), मूत्रस्थान (वृक्क, गवीनीद्वय तथा मूत्राशय), रक्ताशय (रक्तकी उत्पत्ति तथा संग्रहका स्थान होनेसे यकृत् और प्लीहा), हृदय, उण्डुक (बृहदन्त्रोंका प्रारम्भिक भाग; चरकका पुरीषाधार) और फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहाते हैं। संक्षेपमें आधुनिकोंकी उरोगुहा (Thorax-थॉरैक्स), उदरगुहा (Abdomen-एब्डॉमिन) तथा श्रोणी गुहा (Pelvis-पेल्विस) ये तीन गुहायें या अवकाश (Cvaities-केविटीज़) मिलकर कोष्ठ कहाते हैं।

पन्द्रह कोष्ठाङ्ग—चरकने पन्द्रह कोष्ठाङ्ग नामसे कोष्ठका यही अर्थ बताया है। देखिये—"पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि; तद्यथा—नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति" (च० शा० ७।१०) ॥—क्लोम पिपासास्थानम्। बस्तिर्मूत्राशयः। उत्तरगुदो यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्। वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् ॥ —चक्रपाणि

नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत्, प्लीहा, दो वृक्क, बस्ति, पुरीषाधार (उण्डुक), आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र और वपावहन ये पन्द्रह कोष्ठाङ्ग हैं।

शरीरके अङ्गोंका उक्त विभाग होते हुए भी आयुर्वेदमें अधिक प्रसिद्ध और उपयोगमें आनेवाला विभाग दोष, धातु, उपधातु तथा मलके रूपमें किया गया शरीरका विभाग है।

दोष, धातु और मल शरीरके मूल हैं—

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम्॥ सु० सू० १५।३

यथा वृक्षादीनां संभवस्थितिप्रलयेषु मूलं प्रधानं तथा शरीरस्य वातादय इत्यर्थः॥ —डल्हन

मूलमिव मूलम् × ×। वृक्षादीनां मूलं यथा विकृताविकृतं तेषां क्षयोपचयहेतुस्तद्वदेव दोषादयोऽपि शरीरस्य॥ —हाराणचन्द्र

दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य॥ अ० हृ० सू० ११।१

दोषा वातादयः, धातवो रसादयः, मला मूत्रादयः, ते देहस्य मूलमिव मूलम्। यथा वृक्षस्य स्कन्धशाखादियुक्तस्य मूलं प्रधानं, तदारब्धत्वात्, तथा देहस्य दोषधातुमलाः॥ —अरुणदत्त

दोषादीन् वर्जयित्वा नान्यच्छरीरसंबद्धं शरीरे दृश्यते। त एव संयुक्ता देह इति यावत्॥ अ० सं० सू० १६ में इन्दु

त्रयो दोषा धातवश्च पुरीषं मूत्रमेव च।
देहं संधारयन्त्येते ह्यव्यापन्ना रसैर्हितैः॥ सु० उ० ६६।६

इन अवयवोंमें क्लोम अबतक संदिग्ध है। उत्तरगुद बृहदन्त्रोंका वह भाग है जिसमें पुरीष जब आकर उतरता है तो मलोत्सर्गका वेग (इच्छा, हाजत) होता है। मलप्रवृत्ति होने तक पुरीष यहीं रहता है। (चक्रपाणिके वचनमें आये 'अवतिष्ठते' का यही अभिप्राय है, जो हमनें दिया है। 'अव' उपसर्गका अर्थ 'नीचे' होता है ; यथा अवतार आदि शब्दोंमें)। पुरीष जिस अवयवसे बाहर निकलता है उसे 'अधरगुद' कहते हैं। अङ्गरेजीमें इन्हें क्रमशः Rectum (रेक्टम) तथा Anus (एनस) कहा जाता है। रेक्टमके लिये 'प्रत्यक्षशारीर' में गुदनलिका यह नवनिर्मित शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन शब्द 'उत्तरगुद' होनेसे वही ग्राह्य है। वपावहन आधुनिकोंकी Peritoneum (पेरीटोनियम) नामक कलामय तथा सब ओरसे बन्द थैली है जिसमें उदरगुहाके अवयव चारों ओरसे अन्तःप्रविष्ट होकर रहते हैं। चक्रपाणिने इसे मेदका स्थान कहा है। वस्तुतः उदरमें मेदका संचय इसी पर होता है। टीकाकारने यह भी कहा है कि इसका लोकमें प्रचलित नाम 'तैलवर्तिका' है। टीकाकारके प्रान्त वङ्ग देशमें अब भी तैलवर्तिका शब्द पेरीटोनियमके लिए व्यवहृत होता है। जलोदरमें उपस्नेहसे द्रवांश रिसकर इसी थैलीमें संचित होता है।

चरकके ऊपर धृत वचन (च० सू० ११।४८) में कोष्ठका पर्याय शरीरमध्य (धड़) तथा महास्रोतस् कहा है। तथापि संभवतः इसका अर्थ धड़के अन्तर्गत अवकाश है। महास्रोतस् शब्दका प्रयोग आधुनिक लेखक मुखसे गुदपर्यन्त अन्नप्रणाली (Alimentary canal-एलीमेण्टरी कैनाल; Digestive tract-डाइजेस्टिव ट्रैक्ट) के लिए करते हैं। कोष्ठ शब्द बहुधा आमाशय-पक्वाशयके अर्थमें सीमित देखा जाता है—यथा क्रूर कोष्ठ, मृदु कोष्ठ इत्यादि शब्दों में।

चरकनिर्दिष्ट कोष्ठाङ्गोंमें तथा कोष्ठकी व्याख्यामें आमाशय शब्दसे मुख तथा अन्नवह स्रोत दोनोंका ग्रहण अभीष्ट है। कारण, उनमें भी आम अर्थात् अपक्व अन्न रहता है। इसी युक्तिसे दोनो अवयवोंका महास्रोतसूमें भी अन्तर्भाव होता है। सुश्रुतनिर्दिष्ट व्याख्यामें आये आमाशय शब्दका अर्थ इसी युक्तिसे मुख, अन्नवह, आमाशय तथा क्षुद्रान्त्र लें तो अग्न्याशयका अर्थ बदलकर आधुनिकों द्वारा व्यवहृत अर्थ (Pancreas-पैनक्रियास) लिया जा सकता है।

× × अव्यापन्ना अविकृतिं गताः। रसैर्हितैरिति मधुरादिरसैः पथ्यैरित्यर्थः।× ×॥—डल्हनं

दोष, धातु और मल शरीरके मूल अर्थात् समवायी कारण (उपादान कारण) हैं। वस्त्र जैसे सूत्रोंसे अथवा घड़ा मृत्तिकासे बनता है उसी प्रकार शरीर दोष, धातु तथा मलके योगसे बना है। मूलका अर्थ यहाँ यह भी है कि उद्भिज्जोंमें जो स्थान मूलका है, वही स्थान शरीरमें दोष, धातु तथा मलका है। जैसे उद्भिज्जोंकी वृद्धि या क्षय, किंवा आरोग्य और अनारोग्य मूलपर ही अवलम्बित है वैसे शरीरकी वृद्धि या क्षय तथा आरोग्य अथवा अनारोग्यके मूल हेतु दोष, धातु और मल ही हैं। पथ्य-सेवनके कारण ये अविकृत हों, तो शरीर अविकृत और स्वस्थ रहता है; ये ही अपथ्य-सेवनके कराण विकृत हों, तो शरीर विभिन्न प्रकारसे रुग्ण होता है।

दोषोंका प्राधान्य—

जैसा कि आगे सविस्तर देखेंगे, दोष, धातु और मल, इन तीनमें भी प्राधान्य दोषोंका है। शरीरकी सम्पूर्ण जीवनोपयोगी क्रियाओंका मूल वस्तुतः दोष ही हैं। ये प्रकृतिस्थ रहें तो इनके द्वारा होनेवाली क्रियाएँ सुस्थित होती हैं, साथ ही धातु और मल भी प्रकृतिस्थ रह कर शरीरके आरोग्यको बनाये रखते हैं। दोष विकृत हुए तो उनकी प्राकृत क्रियाएँ यथावत् नहीं होतीं, प्रत्युत अनेक प्रकारके रोग शरीरमें प्रादुर्भूत होते हैं, अपरंच, धातु और मल भी विकृत होकर रोगमें वृद्धि करते हैं।

दोषोंके दो प्रकार--शारीर और मानस—

जैसे रोगके अधिष्ठान शरीर और मन दो हैं, वैसे इनमें विकृति या रोग उत्पन्न करनेवाले दोषोंके भी दो प्रकार हैं—शारीर दोष और मानस दोष।

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च ॥ च० सू० १।५७

× × अत्र प्रधानत्वादग्रे वायुरुक्तः। × × वातमनु पित्तं प्रधानं, शरीरमूलभूताग्निहेतुत्वात् तथा कफाधिकविकारकर्तृत्वात् तथा कफापेक्षया चाशुकारित्वात्। × × ×। आदौ रज उक्तं प्राधान्यात्, वचनं हि—"नारजस्कं तमः प्रवर्तते" (च० वि० ६) × ×॥ चक्रपाणि

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः॥ अ० हृ० सू० १।६

× × ननु प्रस्तुतत्वादिह धातुसंज्ञया वातादयो निर्देष्टुं न्याय्याः, न दोषसंज्ञया। अस्त्येवैतत्। किन्तु रसादिदूषणपूर्वकमेषां विकारकरणे सामर्थ्यमिति प्रदर्शनार्थं दोषसंज्ञया ते निर्दिष्टाः, न धातुसंज्ञया। न ह्येते धातुरूपा जातु विरुद्धत्वं कुर्वते देहधारकवर्धकत्वात्। एते मुनिनाऽपि चरकेण पूर्वं दोपसंज्ञयैव निर्दिष्टाः। × × ×॥ —अरुणदत्त

× × रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। × × वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः × ×॥ च० वि० ६।५

शारीर दोष तीन हैं—वात (वायु), पित्त और कफ (श्लेष्मा)। मानस दोष दो होते हैं—रज और तम।

वात-पित्त-कफको शरीरके धारक और वर्धक होनेसे धातु कहना न्याय्य है; तथापि स्वयं दूषित होकर तथा धातुओं और मलोंको दूषित करके शरीरमें रोग उत्पन्न करनेका स्वभाव (धर्म) वातादिका ही है, धातुओं और मलोंका नहीं, यह सूचित करनेके लिये इन्हें दोष यह प्रधान संज्ञा दी गयी है।

रोगोंके प्रत्यासन्न और व्यवहित कारण—

निदान-प्रकरणमें दोषोंको प्रत्यासन्न हेतु (साक्षात् कारण) कहा जाता है। असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, काल (परिणाम) तथा प्रज्ञापराध, इन तीनको व्यवहित (विप्रकृष्ट या परोक्ष) कारण कहा जाता है। दोषों की विकृतिसे रोगोंकी साक्षात् उत्पत्ति होनेसे दोष रोगोत्पत्तिमें प्रत्यासन्न कारण हैं। प्रज्ञापराध आदि कारण दोषोंकी विकृति उत्पन्न करके रोगोंको उत्पन्न करते हैं, अतः विप्रकृष्ट कारण कहे जाते हैं। प्रज्ञापराध तीनों विप्रकृष्ट कारणोंमें मुख्य तथा अन्य दो का मूल है।

वात तथा रजका प्राधान्य—

शारीर दोषोंमें वात प्रधान है। कारण, वह प्रकृतिस्थ हो तो शेष दोषों, धातुओं और मलोंको भी प्रकृतिस्थ रखता है। शेष दोषों, धातुओं और मलोंकी यद्यपि अपनी-अपनी प्राकृत क्रियाएँ हैं तथापि उनका प्रवर्तक वायु ही है। वायु ही मनका भी प्रवर्तक है। यह विकृत हो जाय तो जहाँ उसकी विकृतिसे होनेवाले विभिन्न रोग होते हैं, वहाँ इतर दोष, धातु, मल तथा मन भी विकृत होनेसे उनकी विकृतिसे होनेवाले रोग भी उत्पन्न होते हैं। निदान तथा चिकित्सा के व्यवहारमें वायुके इस प्राधान्यको सदा दृष्टिगत रखना चाहिए।

मानस दोषोंमें रजोगुण प्रधान है। कारण, तमोगुण की वृद्धि होते हुए भी रजके विना उसकी प्रवृत्ति (अपना प्राकृत-वैकृत कर्म करानेका सामर्थ्य) नहीं होती। सत्त्वगुणकी दोषोंमें गणना नहीं है।

यद्यपि सृष्टिके चेतन-अचेतन द्रव्यमात्र सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली प्रकृतिसे ही बने हैं, परिणामतया सबमें सभी गुणोंके लक्षण पाये जाते हैं, तथापि इन तीन गुणों द्वारा मनके प्राकृत और विकृत स्वरूपका ही निर्देश विशेषतया होता है।

शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति तथा रोगोत्पत्तिमें दोषोंकी कारणता—

वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभवहेतवः। तैरेवाव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसंनिविष्टैः शरीरमिदं धार्यतेऽगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिः, अतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके। त एव च व्यापन्नाः प्रलयहेतवः। तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति ॥ सु. सू. २१।३

भवति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एभिस्तु धार्यते ॥ सु. सू. २१।४

× × देहसंभवहेतवो देहोत्पत्तिहेतवः। ननु, शुक्रशोणिते देहोत्पत्तिहेतू। तत्कथं वातादयो देहसंभवहेतवः कथ्यन्ते ? उच्यते, अविकृता वातादयः शुक्रार्तवादिसहकारितया देहजनका अभिप्रेता इत्यर्थः। × × अव्यापन्नैः प्रकृतिस्थैरित्यर्थः। × × व्यापन्ना विकृतिस्थाः। × × शल्यशास्त्रे व्रणारम्भाधिष्ठानभूतत्वात् कस्यचिद्दूष्यस्य प्राधान्यं दर्शयन्नाह—तदित्यादि। × × तदुक्तं— "ऊर्ध्वमूलमधःशाखं त्रिस्थूणं पञ्चदैवतम्। क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेदवित्" इति। न केवलं कफादीन् विना देहो न भवति, अपि तु धारणमप्येतैरेव क्रियत इत्याह—देह एतैस्तु धार्यत इति ॥ —डल्हन

× × अविरहितमिति कारणतया अविरहितम्। × × शोणितस्य देहकारकत्वादि चोक्तं शास्त्रे—"देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते" सु॰ सू॰ १४।४४ इति × ×॥ —चक्रपाणि

दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति॥ च॰ वि॰ १।५

सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः सर्वस्मिञ्छरीरे कुपिताकुपिताः शुभाशुभानि कुर्वन्ति—प्रकृतिभूताः शुभान्युपचयबलवर्णप्रसादादीनि, अशुभानि पुनर्विकृतिमापन्ना विकारसंज्ञकानि॥ च॰ सू॰ २०।९

प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्॥ च॰ शा॰ ६।१८

सर्व एव खलु वातपित्तश्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुषमव्यापन्नेन्द्रियं बलवर्णसुखोपपन्न-मायुषा महतोपपादयन्ति सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महता पुरुषमिह चामुष्मिंश्च लोके; विकृतास्त्वेनं महता विपर्ययेणोपपादयन्ति ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोकमशुभेनोपघातकाल इति॥ च॰ सू॰ १२।१३

× × निःश्रेयसेन छलेन। ऋतवस्त्रय इति शीतोष्णवर्षलक्षणाश्चतुर्मासेन ऋतुना। उपघात-काल इति देशोच्छेदकाले॥ —चक्रपाणि

अध्यात्मलोको वाताद्यैर्लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥

वातादीनामेव विकृताविकृतानां देहपीडकधारकत्वं सदृष्टान्तमाह—अध्यात्मेत्यादि। अध्यात्म-लोकश्चेतनलोकः। लोक इति जगत्। अत्र दृष्टान्ते इन्दुस्थानीयः श्लेष्मा, रविस्थानीयं पित्तम्। विकृतैः पीड्यते, अविकृतैः धार्यते इति व्यवस्था॥ —चक्रपाणि

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्, देहं कफपित्तानिलास्तथा॥ सु॰ सू॰ २१।८

× × विसर्गः विसर्जनं, 'बलस्य' इति शेषः; आदानं ग्रहणं बलस्यैव; विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम्॥ —डल्हन

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वाञ्छोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः॥ सु॰ सू॰ ६।८

× × चन्द्रमाश्रित्याप्यायनं जगतः करोति, सूर्यमाश्रित्य शोषणं; ततो यथाकाले रसाभि-निर्वृत्तिः, तेन प्रजा वर्धयतीति पिण्डार्थः॥ —डल्हन

वायोरुभयार्थकर्तृत्वं योगवाहितया ज्ञेयम्॥ —चक्रपाणि

इत्थमधोमध्योर्ध्वसंनिवेशिना दोषत्रयेण शरीरमागारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरीकृतम्। अतश्च दोषा देहं स्थेमानमानयन्तः स्थूणा इत्युच्यन्ते॥ अ॰ सं॰ सू॰ २०

विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च॥ अ॰ हृ॰ सू॰ १।७

विकृताः स्वभावप्रच्युताः × × वर्तयन्ति यापयन्ति। × ×॥ —अरुणदत्त

ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः॥ अ॰ हृ॰ सू॰ १।७

× × व्यापिनोऽपि सर्वशरीरचरा अपि। विशेषेणेति वाक्यशेषः। × × तत्र नाभेरधो वायोः स्थानम्, हृन्नाभ्योर्मध्ये पित्तस्य, हृदयादूर्ध्वं कफस्य × ×॥ —अरुणदत्त

× × सर्वदेहव्यापित्वेऽपि यो यस्मिन्नाधिक्येन वर्तते तत्तस्य स्थानम् × ×॥ —हेमाद्रि

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि ॥ च०वि०५।५

वात-पित्त-कफ ही शरीरकी उपत्ति, स्थिति और नाशके कारण हैं। शरीरकी उत्पत्ति यद्यपि शुक्र और शोणित (स्त्रीरक्त) के संयोगसे होती है तथापि जबतक वात-पित्त-कफका सहकार न हो, शरीरकी उत्पत्ति (पुष्टि) नहीं हो सकती[1]।

वात-पित्त-कफ अविकृत (प्रकृतिभूत) हों तो वे शरीररूप घरको तीन स्तम्भों (स्थूणाओं) के समान धारण किये रहते हैं। वात-पित्त-कफ रूप तीन स्थूणाओंपर स्थित होनेके कारण अध्यात्म-ग्रन्थोंमें इस शरीरको 'त्रिस्थूण' भी कहा है[2]। वात-पित्त-कफ अविकृत अवस्थामें ही शरीरको धारण किये रहते हैं—नष्ट होनेसे बचाते हैं। इतना ही नहीं, इनके अविकृत रहनेसे ही पुष्टि, बल, वर्ण, प्रसाद (मनकी प्रसन्नता तथा इन्द्रियोंका अपना-अपना काम करनेका सामर्थ्य), सुख इत्यादि आरोग्य के लक्षण बने रहते हैं। ये ही विकृत (कुपित) हों तो शरीरमें विभिन्न विकार या रोग उत्पन्न करते हैं।

बाह्य सृष्टिमें जैसे चन्द्र, सूर्य और वायु अविकृत रहते हुए चराचरको धारण करते हैं—अर्थात् चन्द्र अपने प्रभावसे स्थावर-जङ्गम प्राणियोंमें बल और पुष्टि (क्लेदन या विसर्ग) उत्पन्न करता है, सूर्य उनका शोषण (बल तथा पुष्टिका ह्रास) करता है तथा वायु दोनोंके प्रभावको सर्वत्र सृष्टिमें प्रसृत करता हुआ (विक्षेपण करता हुआ) स्थावर-जङ्गमको उनके प्रभावका लाभ पहुँचाता है, उसी प्रकार चन्द्र-स्थानीय कफ शरीरमें बल और पुष्टिकी उत्पत्ति करके, सूर्यस्थानीय पित्त शरीरावयवोंका शोषण करके तथा वायु, जो कि भीतर-बाहर एक ही है, कफ तथा पित्तको शरीरमें सर्वत्र पहुँचाकर शरीरावयवोंको उनका लाभ पहुँचाता हुआ शरीरका धारण करता है।

परन्तु, यही चन्द्र, सूर्य और वायु जब कुपित होते हैं तो जिस प्रकार सृष्टिमें प्रचण्ड उत्पातों का कारण बनते हैं, उसी प्रकार कफ, पित्त तथा वात जब शरीरमें कुपित होते हैं तो अनेक रोगोंको उत्पन्न करते हैं—अथवा कोप अधिक हो तो शरीरका नाश (मृत्यु) करते हैं।

जैसे धर्म, अर्थ और काम आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं परन्तु उनका कौशलपूर्वक आचरण किया जाय[3] तो वे परस्पर बाधक न होते हुए, पुरुषको इहलोकमें

१—देखिये—"द्वितीये (मासि) शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते।" सु० शा० ३। १८ —शीतः श्लेष्मा, ऊष्मा पित्तं, कफानिलयोरप्यूष्मसंभवात् परिणाम-हेतुत्वम्। तदुक्तं चरके—"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।" च० चि० १५। १३ इति। घनः कठिनः—डल्हन।—अर्थात्—शुक्र-शोणितका संयोग तथा उसमें सूक्ष्म शरीरका प्रवेश होनेपर माताकी धमनियों द्वारा रसके रूपमें गर्भके पोषणके लिए पञ्चमहाभूतोंकी प्राप्ति होकर कफ, वायु तथा पित्तकी अपनी-अपनी क्रियाओंसे इन महाभूतोंमें परिणाम (रूपान्तर) होता है और गर्भकी उत्तरोत्तर पुष्टि होती है।

२—**शरीरके तीन उपस्तम्भ**—वात-पित्त-कफ शरीरागारके तीन स्तम्भ हैं तो आहार, निद्रा और युक्तियुक्त ब्रह्मचर्य इनके सहायक तीन उपस्तम्भ। देखिये—त्रय उपस्तम्भा इति, आहारः स्वप्नो ब्रह्मचर्यमिति। च० सू० ११।३५।

३—"योगः कर्मसु कौशलम्" गीताके इस वचनके अनुसार मूलके 'सम्यक्' शब्दका यह अर्थ किया है।

अभ्युदय और परलोकमें निःश्रेयसकी प्राप्ति कराते हैं, वैसे वात, पित्त, कफ जब सम (अविकृत) अवस्थामें हों तो वे अविकल (सम्पूर्ण) इन्द्रियोंवाले पुरुषको बल, वर्ण, सुख तथा दीर्घ आयुसे सम्पन्न करते हैं। इसके विपरीत ग्रीष्म, वर्षा तथा शरद्, ये तीन ऋतुएँ[1] जिस प्रकार उत्पातकालमें चराचरको नाना अनिष्टोंसे पीड़ित करती हैं, वैसे विषम (विकृत) हुए वात-पित्त-कफ शरीरको विभिन्न रोगोंसे आक्रान्त करते हैं।

दोषोंके विशेष स्थान—

ये वात-पित्त-कफ शरीरके प्रत्येक स्थूल तथा सूक्ष्म अवयवमें विद्यमान हैं—शरीरके प्रत्येक स्रोतमें ये संचार करते हैं—इसी कारण प्राकृत अवस्थामें शरीरके प्रत्येक अवयवमें इन तीनोंकी प्राकृत क्रियाएँ होती हैं तथा विकृत दशामें शरीरके किसी भी अवयवमें विकार होनेकी संभावना होती है, तथापि इन तीनोका शरीरमें अपना-अपना विशिष्ट स्थान है। कफ शरीरके ऊर्ध्वभागमें—हृदयसे ऊपर, पित्त शरीरके मध्यमें—हृदय और नाभिके बीचमें, तथा वायु शरीरके अधोभागमें—नाभिसे नीचे विशेषकर रहता है—इन-इन स्थानोंपर उस-उस दोषका प्रमाण तथा क्रिया शरीरके अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होती है।

वात-पित्त-कफके समान ही शरीरकी उत्पत्ति, स्थिति (धारण), रोग और आरोग्यमें रक्त भी कारणभूत है।

वात-पित्त-कफका दुष्टि-जनक स्वभाव—

तेषां (स्रोतसां धातूनां च) सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति॥ च० वि० ५।९

दोषस्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद्दूषकत्वं, न धात्वन्तराणां; तेन धातुना दुष्टिर्धातु-दुष्टिर्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया॥ —चक्रपाणि

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्। × × × प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यमिति॥ च० शा० ६।१८

× × तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनां च। दुष्टा इति स्वहेतूपचिताः, क्षीणास्तु नान्यद्दुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव × × ×॥ —चक्रपाणि

जैसा कि आगे जाकर कहेंगे—दोष, धातु-उपधातु, मल तथा इन्हें एक स्थानसे दूसरे स्थानपर पहुँचानेवाले स्रोत सम अर्थात् अविकृत स्वरूप तथा अविकृत (यथोचित) प्रमाण (मात्रा) में हों तथा इनकी क्रिया भी सम हो, तभी शरीर नीरोग होता है। ये ही विकृत हों तो शरीर तत्-तत् रोगसे आक्रान्त होता है। परन्तु, इसमें यह विशेष जानना चाहिये कि धातु आदि की विकृति तथा अविकृति दोषोंकी विकृति और अविकृतिपर ही आश्रित है। दोष—वात-पित्त-कफ—ही दुष्ट होकर धातु आदिको भी दूषित करते हैं। वे ही अदूषित (सम, अविकृत) हों तो धातु आदि को भी समावस्थामें रखते हैं। इस प्रकार संक्षेपमें दोषों की समावस्थाका ही फल—किंवा दोषों की समावस्था ही आरोग्य है।

दोषोंकी दुष्टिके भेद—

दोषोंकी दुष्टि या विकृति दो प्रकार की है—उनके प्रमाणमें अपने-अपने कारणोंसे अधिकता

१—ऋतु छः होते हुए भी यहाँ वर्षको चार-चार मासकी तीन ऋतुओंमें विभक्त माना है।

होना तथा अपने-अपने क्षयकारी कारणोंसे उनमें न्यूनता होना। इन दोनो विकृतियोंमें दोषोंकी आधिक्यरूप विकृति या दुष्टि ही रोगोंको उत्पन्न करती है। न्यून या क्षीण हुए दोषोंसे कोई विशेष विक्रिया नहीं होती—उनके प्राकृत (स्वभावसिद्ध) कर्मोंमें न्यूनता होती है, इतना ही।

दोषोंके विषयमें अधिक विवेचन करनेके पूर्व धातु-उपधातु, मल तथा स्रोतोंका भी अर्थ तथा उनके भेद देख लें।

रसादि सात धातु—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः।

सप्त दूष्याः— अ० हृ० सू० १।१३

× × वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः × × × ॥ —अरुणदत्त

त एते (रसादयः) शरीरधारणाद्धातव इत्युच्यन्ते ॥ सु० सू० १४।२०

रसादिधातूनां निरुक्तिं कुर्वन्नाह—त एते शरीरधारणादित्यादि। यद्यपि क्वचिद् दुष्टा दोषा अपि देहधारणाद्धातुशब्देनोच्यन्ते, तथाप्यत्र रसादीनामधिकृतत्वात्त एव धातवः कथ्यन्ते ॥ —डल्हन

धारणादिति धारणप्रकर्षात्, तेन दोषाणां साम्यावस्थितानां देहधारकाणामपि धारकत्वप्रकर्षाभावान्न मुख्यं धातुत्वं; यत्तु "किंचिद् दोषप्रशमनं किंचिद्धातुप्रदूषणम्।" (च० सू० १।६७) इत्यत्र धातुशब्देन दोषाणामपि ग्रहणं तद् गौणधातुशब्दप्रयोगाज्ज्ञेयम्; उक्तं हि "दोषा अपि धातुशब्दं लभन्ते" इति। धारणशब्देन धारणं पोषणं चेह विवक्षितं, तेनोपधातूनां किंचिद् धारणत्वेऽपि पोषणाभावान्न धातुत्वम्; उक्तं च भोजे—"सिरास्नायुवसास्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात् त उपधातवः" इति। अत्र गतिविवर्जिता इत्यनेन धात्वन्तरपोषणार्था गतिर्निषिध्यते, शुक्रं त्वोजःपोषकतया धारणपोषणयोगाद् धातुरेव ॥ —चक्रपाणि

रस, रक्त, मांस, मेद अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सातको धातु कहते हैं। इन्हें धातु इसलिये कहते हैं कि अन्य शारीर-द्रव्यों अर्थात् दोषों, उपधातुओं तथा मलोंकी अपेक्षया ये शरीरके धारण तथा पोषणका कार्य—शरीरके स्वरूप-निर्माणका कार्य—मुख्य रूपसे करते हैं।

समावस्थामें दोष तथा मल भी शरीरका यत्किंचित् धारण करते हैं, परंतु उनका वह कार्य मुख्य नहीं है। अतः उनके लिये शास्त्रमें कहीं-कहीं 'धातु' शब्दका जो व्यवहार होता है, वह गौण समझना चाहिए।

आगे कहे जानेवाले उपधातु शरीरका धारण तो करते हैं, परन्तु पोषण नहीं करते, अतः उन्हें धातु नहीं कहते; किंतु धातुओंके साथ धारण-रूप किंचित् साम्य होनेसे उन्हें उपधातु कहते हैं[1]।

रसादि धातु कुपित हुए दोषोंसे दुष्ट होकर आगे अपने-अपने प्रकरणमें कहे जानेवाले विभिन्न रोगोंको उत्पन्न करते हैं, अतः उन्हें 'दूष्य' कहा जाता है।

धातुओंकी अन्नरससे पुष्टि—

तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ सु० सू० १४।११

× × अन्नपानरसः अन्नपानस्य सारः। प्रीणयिता तर्पयितेत्यर्थः ॥ —डल्हन

अन्नपानादेकाहेनोत्पन्नो रसोऽन्नपानरसः। सर्वधातूनामित्यत्र सर्वशब्देन स्थायिरसमपि गृह्णाति ॥ —चक्रपाणि

१—'उप' शब्द उपमान अर्थात् सादृश्यका वाचक प्रसिद्ध है।

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥ सु० सू० ४६।५२८

× × विक्षिप्तः प्रेरितः । प्रतर्पयेत् अतिशयेन वर्धयेत् । व्यानस्य सर्वाङ्गव्यापित्वेन दोषधातुमलव्यापित्वात् × × ॥ —डल्हन

× × अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च × × ॥ च० सू० २८।४ पर —चक्रपाणि

अन्नपानपर जाठराग्निकी क्रियासे उसका पाक अर्थात् रूपान्तर-प्राप्ति होती है । इसके पश्चात् उसका सार-किट्ट-विभजन अर्थात् सार-रूप अन्नरस तथा मल-रूप पुरीष, मूत्र और अधोवायु-के रूपमें पृथक्करण होता है । मल-भाग अपने-अपने स्रोतोंसे क्रमशः वाहित होता हुआ प्रकृति-नियत छिद्रोंसे शरीरके बाहर निकल जाता है । शेष अन्नरस व्यान नामक सर्वशरीरव्यापी वायुकी प्रेरणा (विक्षेपण) से शरीरमें सर्वत्र पहुँच कर स्थायी रस, रक्त आदि धातुओंकी पुष्टि करता है ।

धातुओंकी क्रमिक पुष्टि—

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः ।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत् ॥
रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च ।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः ॥ च० चि० १५।१५-१६

× × देहधातार इति विशेषेण देहधारकाः । द्विविधमिति द्विप्रकारं पाकम् । तदेव प्रकार-द्वयमाह—किट्टप्रसादवत् किट्टप्रसादरूपमित्यर्थः । × × पाकजन्यानां रसादीनामुत्पादं क्रमेणाह—रसादित्यादि । रसाद्रक्तं प्रसादजं, ततो रक्तान्मांसं प्रसादजं, मांसान्मेदः प्रसादजमित्यादि यावच्छुक्राद् गर्भः प्रसादज इति । प्रसादजशब्देन रसादिभ्यः प्रसादांशजन्या रक्तादयः, किट्टांशजन्यास्तु वक्ष्यमाणाः कफादय इति × × × । प्रसादज इत्यत्र जातशब्दः पोषण एव वर्तते नापूर्वोत्पादे ; रक्तादयो हि गर्भात् प्रभृत्येवोत्पन्ना रसादिभिः पोष्यन्ते × × × ॥ —चक्रपाणि

अन्नपानके पाकके लिये जैसे जाठराग्नि है, वैसे अन्नापन-जनित रसका उपयोग करके प्रत्येक धातु अपनी-अपनी पुष्टि कर सके, इस हेतु प्रत्येक धातुका अपना-अपना अग्नि होता है । इन अग्नियों-को धात्वग्नि कहते हैं । एवं जाठराग्निकी अन्नपानपर क्रिया होनेके अनन्तर जैसे उसका सार (या प्रसाद) तथा निःसार या मल (किट्ट) इन दो भागोंमें विभजन हो जाता है, वैसे प्रत्येक धातुमें जब रस पहुंचता है तो उसपर उसके धात्वग्निकी क्रियासे पाक हो कर परिणाममें दो द्रव्य बनते हैं—सार या प्रसाद तथा मल या किट्ट ।

यद्यपि व्यान-वायु द्वारा विक्षिप्त रस सर्वधातुओंमें एक साथ पहुंचता है तथापि उनकी पुष्टि एक साथ नहीं होती, किन्तु जिस क्रमसे उनका ऊपर नामनिर्देश किया है उसी क्रमसे उनकी पुष्टि होता है । अर्थात् अन्नरससे प्रथम रसधातुकी पुष्टि होती है, पश्चात् रक्तकी, तत्पश्चात् मांसकी और इसी क्रमसे अन्तमें पुरुषोंमें शुक्र और स्त्रियोंमें आर्तवकी पुष्टि हो कर उनसे गर्भकी पुष्टि होती है ।

आयुर्वेदका मत कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक धातुमें अपने पूर्व धातुओंको पुष्टिका प्रथम अवसर[1] देनेका नैसर्गिक स्वभाव है, जिसके कारण पहले पूर्वधातुकी पुष्टि होती है, पश्चात् उत्तर धातुकी और इस प्रकार रस-रक्त इत्यादि क्रमसे शुक्र और गर्भपर्यन्त धातु क्रमशः पुष्ट होते हैं ।

अभी कह आये हैं कि रससे धातु-विशेषकी पुष्टि होनेपर उसके दो विभाग हो जाते हैं—

१—**First Preference**—फर्स्ट प्रिफरेन्स ।

प्रसाद और मल। प्रसादांशसे अगले (उत्तर) धातुकी पुष्टि होती है तथा मलसे उस धातुके मलकी। जैसे अन्नपानका मल निश्चित है, वैसे प्रत्येक धातुका भी अपना प्रकृति-नियत मल होता है। मलोंका निर्देश करते हुए इस बातका भी निर्देश किया जायगा कि किस धातुका कौन मल है।

धातुओंकी क्रमोत्पत्तिमें तीन पक्ष—

अन्नरससे धातुओं और मलोंकी क्रमोत्पत्ति प्रायः सभी आचार्योंको अभिमत (स्वीकृत) है। 'प्रायः' इसलिये कि एकमत ऐसा भी है जो मानता है कि एक ही कालमें, एक साथ ही, सब धातुओंका पोषण होता है, जैसा कि आधुनिकोंका मन्तव्य है। परन्तु प्रतीत होता है, इसके अनुयायिओंकी संख्या बहुत न रही होगी। इस प्रकार क्रमोत्पत्तिमें प्रायः ऐकमत्य होते हुए भी विस्तारके सम्बन्धमें आचार्योंमें कुछ मतभेद है। इस विषयका विशेष विचार यथा-प्रकरण किया जायगा। यहाँ केवल इतना लिख दूँ कि आयुर्वेदमें धातुओंकी क्रमोत्पत्ति-विषयक तीन मत हैं। उनके नाम ये हैं— क्रमपरिणामपक्ष या क्षीरदधिन्याय; केदारीकुल्यान्याय तथा खलेकपोतन्याय।

उपधातु तथा उनके पोषक धातु—

जैसे पूर्व-पूर्वधातुके प्रसाद या सारभागसे उत्तर-उत्तर धातुकी पुष्टि होती है, वैसे तत्-तत्धातुके प्रसादांशसे तत्-तत् उपधातुका पोषण होता है। उपधातु तथा उनके पोषक धातु निम्न हैं—

रसात् स्तन्यं ततो रक्तमसृजः कण्डराः सिराः।
मांसाद् वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसम्भवः॥ च० चि० १५।१७

धातूनां पोषणमभिधायोपधातुपोषणमाह—रसात् स्तन्यमित्यादि। रसात् स्तन्यं प्रसादजं, तथा रक्तमपि रजःसंज्ञं रसादेव प्रसादभागजन्यम्; उक्तं च सुश्रुते—"रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते" (सु० सू० १४।६) इति। एतच्च रजो रसजन्यमपि सूक्ष्मतया चिरेणैव जायते; यदुक्तं सुश्रुते—"एवं मासेन रसः शुक्रीभवति स्त्रीणां चार्तवम्" (सु० सू० १४।१४) इति। असृजः कण्डराः स्थूलस्नायवः, मेदसस्तु सूक्ष्मस्नायुपोषणं 'मेदसः स्नायुसंभवः' इत्यनेन वक्तव्यम्। इह हि कण्डराशब्देन स्थूलस्नायुरुच्यते, सुश्रुते तु स्थूलसिरा। ते च स्तन्यादयो धात्वन्तरा पोषणाच्छरीरपोषका अपि उपधातुशब्देनोच्यन्ते, रसादयस्तु शरीरधारकतया धात्वरन्तरपोषकतया च धातुशब्देनोच्यन्ते; उक्तं च भोजे,—"सिरास्नायुरजःस्तन्यत्वचो गतिविवर्जिताः। धातुभ्यश्चोपजायन्ते तस्मात्त उपधातवः" इति। अत्रापि हि 'धातुभ्यश्चोपजायन्ते' इत्यनेन जायन्त एव, परं न जनयन्तीत्युक्तम्। शुक्रं तु ओजोजनकत्वाद् धात्वन्तर्गतमेव। ओजस्तु इह न धातुषु नाप्युपधातुषु पठितं, तस्य सप्तधातुसाररूपतया सप्तधात्वन्तरगतत्वादेव, अत एव तस्याग्निरपि पृथङ्नोक्तः॥ —चक्रपाणि

'स्नायुसंभवः' इत्यत्र 'स्नायुसंधयः' इति पाठान्तरम्॥

रसादेव स्त्रिया रक्तं रजःसंज्ञं प्रवर्तते। सु० सू० १४।६

रक्तार्तवयोरभेदं दर्शयन्नाह—रसादेवेत्यादि। रजःसंज्ञमिति संज्ञान्तरमेतत्, स्त्रीयोनिप्रवृत्तस्य रक्तस्य, ऋतुकालजं रक्तमेव रजःसंज्ञमुच्यत इत्यर्थः॥ —डल्हन

रसके प्रसादांशसे उत्तरधातु रक्तके समान स्तन्य (दूध) तथा आर्तवकी पुष्टि होती है। इतर रक्त और आर्तवमें भेद इतना ही है कि आर्तवका पोषण सूक्ष्मताके कारण एक मासमें पूर्ण होता है। रक्तके प्रसादांशसे उत्तरधातु मांसके समान कण्डराएँ (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ पुष्ट होती हैं। मांसके प्रसादांशसे उत्तरधातु मेदके समान वसा (मांसगत स्नेह[1]) तथा छह त्वचाओंका पोषण

१—शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता। सु० शा० ४।१३
ननु मेदोमज्जानुकारी उपधातुर्वसाख्यः क इत्याह शुद्धेत्यादि। —डल्हन

होता है। मेदके प्रसादांशसे उत्तरधातु अस्थिके समान सूक्ष्म स्नायु तथा सन्धियोंकी पुष्टि होती है[1]।

इस प्रकार स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वचा और स्नायु ये सात उपधातु हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं, रसादिसे शरीरका धारण तथा अन्य धातुओंका पोषण, उभय कार्य होते हैं, अतः उन्हें धातु कहा जाता है। उपधातु शरीरका धारण तो करते हैं, परन्तु अन्य धातुका पोषण नहीं करते। धातुओंके साथ इस आंशिक समताके कारण इन्हें उपधातु कहते हैं।

ओज—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते ॥

सु० सू० १५।१९

रससे शुक्रपर्यन्त सात धातुओंमें, दूधमें घी के समान उनमें व्याप्त तथा उनके परम सारभूत स्नेहोंको ओज कहते हैं। यह बलका परम कारण होनेसे इसे 'बल' भी कहा जाता है। कोई-कोई आचार्य इसकी उपधातुओंमें गणना करते हैं तथा इसे शुक्रका उपधातु मानते हैं। यथा—

.... तथैवौजश्च सप्तमम्।

इति धातुभवा ज्ञेयाः सप्तैत उपधातवः ॥ शा० पू० ५।१६

जठराग्निसे पाक होने पर जैसे अन्नपान सार और किट्ट (मल) इन दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, वैसे प्रत्येक धातुका अपने धात्वग्नि द्वारा पाक होने पर वह सारभूत उत्तर धातु तथा अमुक मलके रूपमें परिणत होता है। ये मल तथा उनके उत्पादक धातु नीचे लिखे हैं।

मल तथा उनके उत्पादक धातु—

... ... मला मूत्रशकृत्स्वेदादयोऽपि च ॥ अ० हृ० सू० १।१३

× × अपिचेति शब्दाद् दूष्याश्चेति। न केवलं रसादय एव दूष्याः यावन्मलास्तेऽपि वातादिभिर्दूष्यन्त इति दूष्याः × × ॥ —अरुणदत्त

मलिनीकरणादाहारमलत्वान्मलाः ॥ अ० सं० सू० २०

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥
स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट्त्वचाम् ॥

च० चि० १५।१८–१९

प्रसादभागोत्पादमभिधाय मलभागोत्पादमाह—किट्टमित्यादि। रसस्य कफ इति रसे पच्यमाने किट्टं कफो भवति, प्रसादश्च रक्तम्, एवं रक्तादिमलेऽपि ज्ञेयम्। मांसस्य खमला इति कर्णाक्षिनासास्यप्रजननमलाः। मलः स्वेदस्तु मेदस इति स्वेदो यद्यपि उदकविशेष एवोक्तस्तथापि तस्य मेदोमलत्वे नैवोत्पत्तिः, किंवा उदकादपि स्वेदो भवति मेदोमलतया च भवति, यथा कफोऽवस्थापाकात् रसमलतया च भवति। अस्थिमलं नखोऽपि सुश्रुतप्रामाण्यादुन्नेयः। तत्र हि 'नखलोम च' (सु० सू० ४६।५२७) इत्यनेनास्थिमलत्वं नखस्योक्तम्। उक्तं च विविधाशितपीतीये "किट्टात्

१—तुलनाके लिये देखिये—मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात्।
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः ॥ सु० शा० ४।३०
सिरास्नायुत्वमाप्नुयादिति सिराः स्नायूंश्च वायुः कुर्यादित्यर्थः। —डल्हन
अर्थात् मेदका स्नेहांश न्यून करके वायु सिराओं तथा स्नायुओंको उत्पन्न करता है।

केशनखादयः पुष्यन्ति" (च० सू० २८।४) इति; किंतु शारीरेऽस्थिगणनायां "विंशतिर्नखा" (च० शा० ७।६) इत्यनेनास्थित्वेन प्रोक्ताः[1] ॥ —चक्रपाणि

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः॥ सु० सू० ४६।५२

×× खेषु कर्णश्रोत्रमुखादिषु स्रोतःसु। ×× नेत्रविट् अक्षिपुरीषम् ×× शुक्रं पुनरम- सहस्रधाध्मातासुवर्णवदिति; आकृष्टाण्डकोषस्य पुंसः श्मश्रुपातात् श्मश्रु एव शुक्रमल इत्येके, तन्नेच्छति गयी॥ —डह्लन

आकृष्टाण्डकोषस्य पुंसः श्मश्रुपाताच्छ्मश्रु शुक्रमल इत्येके। तन्न, श्मश्रुहीनस्यापि शुक्रदर्शनात्॥ सु० सू० १४।१० पर —डह्लन

अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च॥ च० सू० २८।४ पर —चक्रपाणि

पुरीष, मूत्र, (अधो-) वायु, कफ, पित्त, कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख और जननावयव, इनके मल, स्वेद, केश, श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ), रोम तथा नख, नेत्र तथा त्वचाका मल—शरीरसंबद्ध इन पदार्थोंको मल कहते हैं।

इन्हें मल इसलिये कहते हैं कि ये आहारके मलभाग (किट्टांश) से उत्पन्न होते हैं तथा शरीरको मलिन करते हैं। ये मल क्रमशः आहार तथा रसादि धातुओंसे उत्पन्न होते हैं। पुरीष, मूत्र[2] तथा (अधो-) वायु अन्नपानके मल हैं; कफ रसका; पित्त रक्तका; कर्ण; नासिका, नेत्र, मुख और बाह्य जननावयवोंमें रहनेवाले मल मांसके; स्वेद मेदका; केश, श्मश्रु, रोम तथा नख अस्थिके[3] और नेत्र तथा त्वचाका स्नेह मज्जाके मल हैं। शुक्र सहस्रों बार शोधित सुवर्णके समान होनेसे उसका कोई मल नहीं होता। कोई कहते हैं कि श्मश्रु शुक्रका मल है; कारण, जिन पुरुषोंके अण्डकोष निकाल दिये जाते हैं उनकी श्मश्रु झड़ जाती है। परन्तु जिनके श्मश्रु नहीं होती उनमें भी शुक्र तो होता ही है। श्मश्रु शुक्रका मल होती तो इन पुरुषोंमें भी श्मश्रु होनी चहिये थी। इससे सिद्ध है कि श्मश्रु शुक्रका मल नहीं है।

जैसे वात-पित्त-कफ स्वयं दूषित होकर धातुओंको दुष्ट करते हैं, और विभिन्न रोगोंको उत्पन्न करते हैं, इस कारण धातुओंको 'दूष्य' कहा जाता है, उसी प्रकार दुष्ट वात-पित्त-कफ मलोंको भी दूषित करके विभिन्न रोगोत्पत्ति करते हैं। अतः धातुओंके समान मलोंको भी आयुर्वेदमें 'दूष्य' कहा जाता है।

धातुज आदि रोग वस्तुतः दोषज रोग हैं—

रोग-प्रकरणमें स्पष्टताके लिये रोगोंके दोषज (यथा—वातज इत्यादि), धातुज (यथा—रसज इत्यादि) तथा मलजप्रभृति (यथा—पुरीषज इत्यादि) विभाग किये जाते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति देखें, तो ये सब रोग दोषज ही हैं—

१—यद्यपि नखा विविधाशितपीतीये मलभागपोष्यत्वेन मले एव प्रक्षिप्तास्तथापीहाप्यस्थिरूप- योग्यताया अपि विद्यमानत्वादस्थिगणनायां पठिताः। —चक्रपाणि

२—मूत्र आहारका मल है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। इसका विशेष विचार आगे—मूत्र-प्रकरणमें किया जायगा।

३—जैसाकि चक्रपाणिने लिखा है, आचार्योंने अस्थिगणनाके प्रसंगमें नखोंको अस्थि कहा है और यहाँ अस्थिका मल।

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्।

××× दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। दोषदूषितेष्वत्यर्थं धातुषु संज्ञा—रसजोऽयं, शोणितजोऽयं, मांसजोऽयं, मेदोजोऽयम्, अस्थिजोऽयं, मज्जजोऽयं शुक्रजोऽयं व्याधिरिति। सु० सू० २४।८

×× मूलमिति कारणमित्यर्थः ×××। ननु, दोषत्रयात् कथमादिबलप्रवृत्तादयोऽनेके व्याधय इत्याह—दोषेत्यादि। दोषधातुमलसंसर्गादिति संसर्गः संयोगः तद्यथा—वातादिदोषरसधातुसंसर्गाज्ज्वरादयो रसाधिष्ठानाः, वातादिदोषरसधातुपुरीषमलसंसर्गादतीसारादयः, वातादिदोष रसादि दूष्यमूत्रमलसंसर्गाद्विंशतिर्मेहाः, तथा वातादिदोषरक्तधातुसंसर्गाद् वातरक्तपित्तविद्रधिरक्तगुल्मादयः। आयतनविशेषादिति आयतनानि स्थानानि, तेषां विशेषो भेद इत्यर्थः, तद्यथा—सप्तस्वायतनेषु पञ्चषष्टिर्मुखरोगाः, चक्षुरिन्द्रियायतनेषु षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः। निमित्ततश्चेति निमित्तानि वातादयः; तद्यथा—प्रत्येकं वातादिज्वरास्त्रयः, सांनिपातिक एकः, द्वन्द्वजास्त्रयः, आगन्तुश्चाष्टमः; एवमन्यदपि निमित्ततो व्याधीनां नानात्वं ज्ञेयम्। एषामिति व्याधीनां, विकल्पो भेदः, नानात्वमित्यर्थः दूष्यजन्मसंज्ञा लक्षणया भवतीति दर्शयन्नाह—दोषदूषितेष्वत्यर्थं दोषजेषु विकारेषु रसजादिसंज्ञा; यथा—घृतदग्धस्तैलदग्धस्ताम्रदग्धोलोहदग्ध इति। अत्र घृतादिशब्देन घृतादिस्थो वह्निर्लक्ष्यते, एवं रसादिजो व्याधिरित्यत्र रसादिस्थितवातादिदोषा लक्ष्यन्ते॥ —डह्लन

×× त एव वातपित्तश्लेष्माणः स्थानविशेषे प्रकुपिता व्याधिविशेषानभिनिर्वर्तयन्ति। तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः॥ च० सू० २८।७-८

रोग जितने भी हैं, उन सबका मूल वात-पित्त-कफ हैं। तथापि रोगोंके जो नाना भेद देखे और बताये जाते हैं उसका कारण यह है कि दोषोंका संसर्ग जिस धातु, उपधातु या मलके साथ होता है उसके अनुसार; दोषोंसे रोगोत्पत्ति मुख, नेत्र आदि जिन अवयवों या स्थानोंमें होती है उनके अनुसार एवं रोगोंके कारणभूत जो एक या अनेक दोष अथवा आघात आदि आगन्तु कारण होते हैं, उनके भेदानुसार लक्षणों तथा चिकित्सामें यत्किंचित् भिन्नता होती है। धातु इत्यादिके इस भेदको लक्ष्यमें रखकर ही रोगोंको रसज, रक्तज (रक्तके विकारसे हुए) इत्यादि नाम दिये जाते हैं। परन्तु उनके लिए यह नाम गौण ही समझना चाहिये। वस्तुतः ये सभी रोग दोषज ही हैं। उनकी चिकित्सामें दृष्टि मुख्यतः दोषोंपर ही रहनी चाहिये। जैसे—उत्तप्त घी, तैल, ताम्र या लोहेसे पुरुष जल गया हो तो वस्तुस्थित्या दाहका कारण घृतादिगत अग्नि होती है, परन्तु गौण वृत्तिसे घृतदग्ध इत्यादि शब्दोंका व्यवहार होता है, वैसे ही दोषजन्य रोगोंके लिए रसज इत्यादि व्यवहार गौण अर्थात् लाक्षणिक ही होता है।

कारणभेदसे शारीर और मानस रोगोंके दो भेद—निज और आगन्तु—

×× दोषबलप्रवृत्ता ये आतङ्कसमुत्पन्ना मिथ्याहाराचारकृताश्च; तेऽपि द्विविधाः—आमाशयसमुत्थाः, पक्वाशयसमुत्थाश्च; पुनः द्विविधाः-शारीरा मानसाश्च॥ सु० सू० २४।५

तृतीयं व्याधिभेदं निर्दिशन्नाह—दोषेत्यादि। दोषा वातादयोरजस्तमसी च, बलं शक्तिः, प्रवृत्ताः जाताः। आतङ्का रोगाः; यथा—प्रतिश्यायात् कासः, कासात् क्षय इत्यादि॥ —डह्लन

पिछले कतिपय पृष्ठोंमें जो कुछ कहा गया है, उसका आशय संक्षेपमें यह है कि रोग शारीर हों या मानस, उनका मूल शरीर और मनके अपने-अपने दोष होते हैं। परन्तु विचार करनेसे विदित

होगा कि सभी रोगोंका मूल तो शारीर-मानस दोष नहीं हैं। आघातादिजन्य रोगोंका कारण स्पष्ट ही दोष-दुष्टि नहीं, किन्तु आघात इत्यादि तत्-तत् कारण होते हैं। वस्तुतः शारीर और मानस उभयविध रोगोंके कारणोंको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है-अभ्यान्तर और बाह्य। इन कारणोंसे उत्पन्न रोगोंको शास्त्रमें क्रमशः निज और आगन्तु कहा जाता है।

त्रयो रोगा इति—निजागन्तुमानसाः। तत्र निजः शारीरदोषसमुत्थः, आगन्तुर्भूतविषवाय्वग्निसंप्रहारादिसमुत्थः, मानसः पुनरिष्टस्यलाभाल्लाभाच्चानिष्टस्योपजायते॥

च० सू० ११।४५

इष्टलाभाज्जायते कामहर्षादिः, अनिष्टप्रियवियोगादिलाभाच्च शोकादयः, यदि वा 'इष्टस्यालाभाल्लाभाच्चानिष्टस्य' इति पाठः; अत्र तु पाठे चकारादिष्टलाभोऽपि हेतुर्बोद्धव्यः॥ —चक्रपाणि

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः; × × द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषामागन्तुनिजविभागात् द्विविधं चैषामधिष्ठानं मनःशरीरविशेषात् × × मुखानि तु खल्वागन्तोर्नखदशनपतनाभिचाराभिशापाभिषङ्गाभिघातव्यधबन्धनवेष्टनपीडनरज्जुदहन-शस्त्राशनिभूतोपसर्गादीनि; निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यम्॥

च० सू० २०।३-४

× × प्रकृतिरिह स्वभावः। मनःशरीरविषादिति आगन्तोरपि मनः शरीरं चाधिष्ठानम्, एवं निजस्यापि; आगन्तुग्रहणेन च मानसोऽपि कामादिर्गृह्यते × × ×। मुखानि कारणानि, यथा "रजस्वलागमनमलक्ष्मीमुखानाम्" (च० सू० २५।४०) इति[1]॥ —चक्रपाणि

ते (व्याधयः) चतुर्विधाः—आगन्तवःशारीराःमानसाःस्वाभाविकाश्चेति। तेषामागन्तवोऽभिघातनिमित्ताः। शारीरास्त्वन्नपानमूलावातपित्तकफशोणितसंनिपातवैषम्यनिमित्ताः। मानसास्तु क्रोधशोकभयहर्षविषादेर्ष्याभ्यसूयादैन्यमात्सर्यकामलोभप्रभृतयइच्छाद्वेषभेदैर्भवन्ति। स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः। त एते मनःशरीराधिष्ठानाः।

सु० सू० १।२३-२६

× × स्वभावेन भवन्तीति स्वाभाविकाः, स्वभावो ह्यत्र सहजो धर्मः। × × अभिघातोऽभिहननं शरादिप्रहारः × ×। अन्नपानमूला इति सामर्थ्याद्विषमान्नहेतवः, न ह्यन्नसाम्यं व्याधिहेतुः। तच्चान्नवैषम्यंस्वस्थवृत्तवैषम्यमुपलक्षयति, तेन कालवैषम्यं कायवाङ्मनोविहारवैषम्यमिन्द्रियार्थवैषम्यं च लक्षयति। "शारीराणां विकाराणामेष वर्गश्चतुर्विधः। प्रकोपे प्रशमे चैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः" (सु० सू० १।२५)—इत्येषां ग्रहणमकृत्वा, अन्नग्रहणेनैतानुपलक्षयन्नेतल्लक्षयति—

१—ऊपर धृत वचनोंका अर्थ करते हुए चक्रपाणि की इस टीकाको तथा आगे धृत सु० सू० १।३६-वचनको लक्ष्यमें रखकर मूलके अर्थमें किंचित् परिवर्तन किया है।

अभिषङ्ग—"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गाज्ज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः" (च० चि० ३।११४) इस श्लोकमें आगन्तु ज्वरोंके प्रसंगमें अभिषङ्गज ज्वरका निदान देते हुए काम, शोक, भय, क्रोध तथा भूतोंके आवेशको अभिषङ्ग कहा है।

आठ प्रकारके भूत—च० नि० ७।१३-१७ में उन्मादाधिकारमें निम्न आठ प्रकारके भूत बताये हैं—देव, ऋषि, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच।

आगन्तु रोगोंके कारण च० सू० १८।३ में शोथनिदानके अधिकारमें सविस्तर वर्णित हैं।

यथाऽन्नमेवैषां संभवेप्रधान हेतुस्तथा नान्ये। वातपित्तकफशोणितसंनिपातवैषम्यनिमित्ता इति वातादीनां संनिपातान्तानां वैषम्यं विषमता तदेव निमित्तं येषां ते तथोक्ताः। ते पुनर्वातादीनां संचयादिज्ञापका वातपूर्णकोष्ठतादयो व्याधयः। तच्च वैषम्यं क्षयेण वृद्ध्या वा। दोषप्रस्तावे दूष्यशोणित ग्रहणे हेतुर्वक्तव्यः। उच्यते—एतद्धि शल्यतन्त्रं, शल्यतन्त्रे च व्रणः प्रधानभूतः व्रणे च दूष्येषु मध्ये रक्तस्य प्राधान्यमिति शोणितोपादानम्। × × ×। हर्ष उत्सेकः, निर्निमित्तमन्यस्य दोषोत्पादनेनात्मनः प्रीतिजननं वा हर्षः; असिद्धिभयाद्धिविघेषु कर्मसु सादोऽप्रवृत्तिः विषादः; × × छिद्रान्वेषितया परगुणेषु दोषारोपणमसूया, × × मात्सर्यं परगुणेष्वमाध्यस्थ्यं क्रौर्यंवा, काम इन्द्रियार्थेष्वभिकांक्षा, लोभः परस्वग्रहणाभिलाषः; आदिग्रहणान्मानमदम्भादयः। × × इच्छा सातिशयोऽर्थाभिलाषः, × × द्वेषोऽप्रीतिः × × × स्वाभाविकास्त्वित्यादि × × ते च कदाचित् स्वाभाविकाः कदाचिद् दोषजाः। तत्र यदा प्रवृद्धपित्तस्य क्षीणश्लेष्मणो भस्मकानलेन बुभुक्षा भवति सा प्रतिकार्या दोषजत्वात्; पिपासाऽपि यदा दोषैः क्रियते तस्या अपि दोषाः प्रसाधनं कर्तव्यं; जराऽपि यदाऽकाले भवति सा प्रतिकार्या; मृत्युरपि अकालजः प्रतिकार्यः; निद्रापि दोषजा प्रतीकारादुपशमं याति; तत्र यदैते सर्वे दोषेभ्यो जायन्ते तदा शारीराः प्रतिकार्याश्च; यदा तु स्वभावतस्तदा निष्प्रतीकारा रसायनतोऽपि न प्रतिकार्याः। त एते स्वभावसंभूतत्वात् स्वभाविकाः कथ्यन्ते। यद्यपि क्षुत्पिपासाजरासु स्वभावसंभूतास्वपि पित्तजत्वं निद्रायां श्लेष्मतमोभवत्वमस्ति; तथाऽप्यल्पदोषारब्धत्वाददोषजत्वमुच्यते, एकतण्डुलाहारिणामनशनव्यपदेशवत्। मृत्युस्तु महद्भिरपि स्वभावानुवर्तिभिर्दोषैरारब्धोऽपि न दोषजव्यपदेशं लभते; यथा राजानुवर्तिभिर्महद्भिरपि पुरुषैः संपादितं जयादिकं राजव्यपदेशं लभते—राज्ञा जितमिति, तद्वदत्रापि; आगन्तु मृत्योः संभवत्वाच्च नावश्यं दोषजव्यपदेशं लभते × ×। मनोऽधिष्ठानाः क्रोधादयः, शरीराधिष्ठाना ज्वरादयः, उभयाधिष्ठाना अपस्मारादयः। यद्यपि मानसा अपि शरीरं पीडयन्ति, शारीरा अपि मनः पीडयन्ति; तथापि प्राङ्मानसा एव मनः पीडयन्ति पश्चाच्छरीरम्, एवं शारीरा अपि, इति न दोषः। आत्मनि तु व्याध्यधिष्ठानत्वं नास्ति निर्विकारत्वात्[1] ॥ —डल्हन

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेषां तु द्विविधा क्रिया॥
शरीरपतितानां तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसानां तु शब्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः॥

सु० सू० १।३६-३७

इदानीमागन्तूनामाश्रयभेदेन चिकित्सां वक्तुमाह—आगन्तवस्त्वित्यादि। मनस्यन्ये इति एके, शरीरेऽन्ये इत्यपरे। शरीरपतितानामागन्तूनां खड्गाद्यभिघातजानां शारीराणामिव; मानसानां मनःसंभूतानां शब्दादिवर्गः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; × × अन्येतु च शब्दमनुक्तसमुच्चयार्थत्वेनाचक्षते, तेन धैर्यस्मृतिप्रभृतयोऽपि मानसानां चिकित्सितत्वेन निर्दिष्टाः॥

× × रजस्तमश्च मानसौ दोषौ। तयोर्विकाराः कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यामानमदशोकचिन्तोद्वेगभयहर्षादयः। वातपित्तश्लेष्माणस्तु खलु शारीरा दोषाः। तेषामपि च विकारा ज्वरातीसारशोकशोषश्वासमेहकुष्ठादयः × × ॥ च० वि० ६।५

१—रोगोंके अधिष्ठान-प्रकरणमें उद्धृत "शरीरं सत्वसंज्ञंच" इत्यादि वचन तथा उसकी टीकाका भी यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

ते च विकाराः परस्परमनुवर्तमानाः कदाचिदनुबध्नन्ति कामादयोज्वरादयश्च। नियतस्त्वनुबन्धो रजस्तमसोः परस्परम्। न ह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते॥ च० वि० ६।८-९

विकाराणां शारीरमानसानां परस्परं संसर्गमाह—ते च विकारा इत्यादि। अनुवर्तमाना इत्यनेन यदैव ज्वरादयः कामादयो वा बलवत्वेन चिरकालमनुवर्तन्ते, तदैवानुबध्नन्ति प्रायः, यदा तु स्तोककालावस्थायिनो भवन्ति, न तदा प्रायोऽनुबध्नन्तीत्यर्थः। किंवा, परस्परबलमभिवर्धयन्तः। अत्र च परस्परशब्देन शारीराणां शारीरेण, मानसानां मानसेन, शारीराणां मानसेन, मानसानां शारीरेण चानुबन्धो ज्ञेयः × × ॥ —चक्रपाणि

सामान्यतः रोगोंके चार विभाग किये जा सकते हैं—स्वाभाविक, शारीर, मानस तथा आगन्तु।

स्वाभाविक रोग—

सहज स्वभावसे होनेवाले और अनिवार्य (अप्रतिकार्य) क्षुधा, पिपासा, निद्रा, जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु इत्यादिको स्वाभाविक रोग कहते हैं। इनका उपाय नहीं है, अतः प्रायः इनकी रोगोंमें गणना नहीं होती। परन्तु यही विकार जब दोषोंकी विकृति (विषमता) से होते हैं, तो इनका उपचार शक्य और आवश्यक होता है। यथा अग्निस्थानमें पित्तकी अतिवृद्धि तथा श्लेष्माकी क्षीणता होनेसे भस्मक रोग होकर जो तीव्र क्षुधा होती है, वह दोषज तथा प्रतिकार्य होती है। एवं पिपासा और निद्रा दोषजन्य हो, जरा तथा मृत्यु भी अकालज हों तो दोष अथवा अन्य कारणजन्य होनेसे उसका उपाय संभव होता है और किया जाना चाहिये।

इस प्रकार स्वाभाविक रोगोंके भी दो भेद हैं—स्वाभाविक और शारीर या दोषज। इनमें प्रतिकारशून्य होनेसे स्वाभाविक निद्रा आदिको रोग माननेकी रूढ़ि वैद्योंमें नहीं है। शेष शारीर या दोषज स्वाभाविक रोगोंका अन्तर्भाव शारीर दोषज रोगोंमें ही हो जाता है। परिणामतया, रोगोंके मुख्य तीन भेद रह जाते हैं—शारीर, मानस और आगन्तु।

यों शुद्ध स्वाभाविक निद्रा आदि विकारोंमें भी दोषोंकी कारणता होती है, यथा क्षुधा, पिपासा तथा जरामें पित्तकी, तथा निद्रामें कफ और तमकी; परन्तु इन दोनोंकी मात्रा अत्यल्प होनेसे उन्हें दोषज नहीं कहा जाता। स्वाभाविक मृत्यु दोषज होता हुआ भी दोषज नहीं कहा जाता। उसमें कालादि स्वभावका प्राधान्य होनेसे वह स्वाभाविक ही कहाता है।

शेष त्रिविध रोगोंके, अधिष्ठानभेदसे, प्रथम दो भेद होते हैं—शारीर और मानस। पश्चात् दोषभेद तथा आगन्तु कारण-भेदसे प्रत्येकको पुनः दो भागोंमें विभक्त किया जाता है-निज और आगन्तु।

निज शारीर रोग—

वात, पित्त, कफ और रक्तकी विषमतासे होनेवाले शारीर रोगोंको निज शारीर तथा रजोगुण और तमोगुणके कोपसे होनेवाले मानस रोगोंको निज मानस रोग कहते हैं।

वात, पित्त, कफ तथा रक्तके वैषम्यके कारण स्वस्थवृत्तोक्त आहार-विहारका उल्लङ्घन इत्यादि हैं। इनमें भी मुख्य कारण अन्नपानकी विषमता अर्थात् अहिताहार ही है[1]। वातादि दोषोंकी रोगजनक यह विषमता दो प्रकारकी है—क्षय और वृद्धि। इनमें भी वृद्धि या कोपसे विशेषतः रोगोत्पत्ति होती है।

ज्वर, अतिसार, शोथ, शोष, श्वास, प्रमेह, कुष्ठ आदि निज शारीर रोग हैं।

१—अहिताहार रोगोंका प्रमुख कारण है—इस विषयमें ऊपर धृत वचन (सु० सू० १।२३) के अतिरिक्त निम्न वचन भी द्रष्टव्य है—"हिताहारोपयोग एक एवं पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः

आगन्तु रोग—

हिंस्र अथवा अहिंस्र, सविष या निर्विष प्राणियोंके नख, दन्त, मल, मूत्रादि, पतन (गिर पड़ना), अभिचार (मारण आदि तान्त्रिक कर्म), अभिशाप, अभिषङ्ग (काम, शोक, भय, क्रोध तथा देव, ऋषि, गुरु, वृद्ध, सिद्ध, पितृ, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच, इन आठ प्रकारके भूतोंका आवेश), आघात (शस्त्रास्त्र आदिका प्रहार), वेध, बन्धन, वेष्टन, पीड़न (दब या कुचल जाना), दाह, विद्युत्, विष, वायु, हिम प्रभृति कारणोंसे जो रोग होते हैं उन्हें आगन्तु कहा जाता है। इन कारणोंका प्रभाव शरीरपर प्रथम हो तो रोगोंको शारीर-आगन्तु रोग कहते हैं। तथा इनके कारण पीड़ा यदि मनको प्रथम हो तो रोगोंको मानस-आगन्तु कहते हैं।

मानस रोग—

रजस् और तमस्, इन मनोगत दोषोंके उद्रेकके कारण तथा उल्लिखित आगन्तु कारणोंसे हुआ रोग यदि मनको प्रथम पीड़ित करता है तो उसे मानस रोग कहते हैं।

मानस रोगोंमें रजोगुण और तमोगुणके उद्रेकसे जो विकार होते हैं उन्हें संक्षेपमें दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—इच्छा और द्वेष। किसी पदार्थकी अत्यधिक कामनाको इच्छा कहते हैं। पदार्थ-विशेषके प्रति अनभिरुचिको द्वेष कहते हैं। इष्ट (अभिलषित-इच्छित) पदार्थकी प्राप्ति अथवा अप्राप्ति एवं द्विष्ट (अनभिरुचित, अवाञ्छित) पदार्थोंकी प्राप्तिसे ही सर्व प्रकारके मानस

पुनर्व्याधिनिमित्त इति" (च० सू० २५।३१)—हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनास्य प्राधान्यं दर्शयति नान्यप्रतिषेधम्; आचारस्य स्वप्नादेस्तथा शब्दादीनामपि कारणत्वेनोक्तत्वात्। × × × व्याधिनिमित्तशब्देन सामान्येन जनको वर्धकश्च हेतुरुच्यते। —चक्रपाणि

रोगोंके सामान्य कारण—संक्षेपमें रोगोंके समस्त कारण निम्नोक्त हैं। इनका विस्तार स्वस्थवृत्त तथा चिकित्साके ग्रंथोंमें देखना चाहिये।

न च केवलं हिताहारोपयोगादेव सर्वव्याधिभयमतिक्रान्तं भवति, सन्ति ह्यृतेऽप्यहिताहारोपयोगादन्या रोगप्रकृतयः, तद्यथा—कालविपर्ययः, प्रज्ञापराधः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चासात्म्या इति। ××× च० सू० २८।७।

रोगप्रकृतय इति रोगकारणानि। —चक्रपाणि

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रियोपयोगः सम्यक्, सर्वातियोगसंधारणम्, असंधारणमुदीर्णानां च गतिमतां, साहसानां च वर्जनं, स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते॥ च० शा० ६।८

×× स्वस्थवृत्तं समासेनाह—देशेत्यादि। देशादिभिर्गुणशब्दः संबध्यते। आत्मशब्देनेह शरीरमुच्यते। देशविपरीतं कर्म यथा—मरौ स्वप्नः, कालविपरीतं कर्म यथा—वसन्ते व्यायामः, आत्मविपरीतं कर्म यथा—स्थूलशरीरे व्यायामजागरणादि। एवमाहारप्रभेदाश्च देशकालादिविपरीता उन्नेयाः। कर्मणां क्रिया, आहारविकारणं चोपयोग इति यथासंख्यं योजनीयम्। सम्यगिति क्रियया उपयोगेन च समं ज्ञेयम्। अतिक्रान्तोयोगमित्यतियोगो मिथ्यातियोगायोगरूपो ज्ञेयः। तेन सर्वेषां कालबुद्धीन्द्रियार्थमिथ्यायोगादीनां वर्जनं सर्वातियोगसंधारणम्। कालमिथ्यायोगादेस्तु दुष्परिहरस्य प्रतिक्रियैव वर्जनम्। गतिमतामिति पुरीषादीनां बहिर्गमनशीलानाम्। साहसानामयथारम्भादीनाम्॥ —चक्रपाणि

इस सूत्रमें स्वस्थवृत्तके नियम संक्षेपमें कहे हैं। विषयभङ्गके भयसे यहाँ अन्य प्रमाण उद्धृत नहीं किये हैं। संक्षेपमें तो पूर्वोक्त "प्रज्ञापराध" ही सब रोगोंका कारण है, यह सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

रोग उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें प्रथम उक्त दो विभागोंमें विभक्त किया गया है। क्रोध, शोक, भय, हर्ष, विषाद (मनोभङ्ग)[1], ईर्ष्या, असूया (अन्योंके गुणोंको दोष मानना और कहना—छिद्रान्वेषण), दैन्य, मात्सर्य, काम, लोभ, मोह, मान, मद, दम्भ, चिन्ता, उद्वेग इत्यादि मानसिक विकृतियोंको मानस रोग कहते हैं।

रोगोंके अधिष्ठान-भेदसे विभाजनका कारण उनकी चिकित्साभेदके लिए है। मानस रोगोंमें पीछेसे वातादिका वैषम्य हो जाता है, तथापि उनकी चिकित्सामें तो मूल कारणको दृष्टिमें रखते हुए इष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट (द्विष्ट) पदार्थोंका परिहार करनेका ही प्रयास करना चाहिये।

साथ ही धैर्य, स्मृति आदि मनोबलकारी उपचार करने चाहिये। एवं, शारीर रोगोंमें पीछेसे मनको भी पीड़ा होती है, परन्तु उनमें चिकित्साका लक्ष्य वात-पित्त-कफ तथा रक्तकी विषमताको दूर कर उन्हें समावस्थामें लाना ही होना चाहिये।

शारीर और मानस रोगोंका परस्पर अनुबन्ध—

शारीर और मानस रोगोंमें भेद यह है कि यद्यपि शारीर रोगोंमें शरीरके साथ मनको भी व्यथा होती है, एवं मानस रोगोंमें मनके साथ शरीरको भी पीड़ा होती है, तथापि शारीर रोग प्रादुर्भावके समय प्रथम शरीरको क्लेश देते हैं तथा उसीमें प्रथम विकृति उत्पन्न करते हैं, पश्चात् मनको व्यथित करते हैं ; एवं मानस रोग उत्पन्न होते हुए प्रथम मनको पीड़ा पहुंचाते हैं, पश्चात् शरीरको व्यथित करते हैं।

शारीर और मानस रोग दोनों ही चिरस्थायी हो जायँ तो प्रायः परस्पर संयुक्त हो जाते हैं—शारीर रोग अन्य शारीर और मानस रोगोंसे तथा मानस रोग अन्य मानस और शारीर रोगोंसे मिल जाते हैं। उनके इस सम्मिलनको अनुबन्ध कहा जाता है। अनुबन्धसे दोनोंकी शक्तिमें अभिवृद्धि होती है। रोग अल्पकालिक हों तो उनका अनुबन्ध प्रायः नहीं होता।

कई रोग उभयाश्रय होते हैं—यथा, उन्माद, अपस्मार आदि।

निज शारीर रोगोंमें दोषोंकी ही कारणता—

सर्व एव निजा विकारा नान्यत्र वातपित्तकफेभ्यो निर्वर्तन्ते, यथा हि शकुनिः सर्वं दिवसमपि ('सर्वा दिशोऽपि' इति पाठान्तरम्) परिपतन् स्वां छायां नातिवर्तते, तथा स्वधातुवैषम्यनिमित्ताः सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते। वातपित्तश्लेष्मणां पुनः स्थानसंस्थानप्रकृतिविशेषानभिसमीक्ष्य तदात्मकानपि च सर्वविकारांस्तानेवोपदिशन्ति बुद्धिमन्तः। च॰ सू॰ २९।५

संप्रत्यष्टोदरादीनां तथा वक्ष्यमाणानां महारोगे तथाऽनुक्तानामिह तन्त्रे रोगाणां निजानां वातपित्तश्लेष्माण एव व्यस्ताः समस्ता वा कारणं भवन्तीत्येतद्रूपं रोगाणां चिकित्सोपयोगि सूत्रं दर्शयितुमाह—सर्व इत्यादि। सर्व इत्युक्ता अनुक्ताश्च। यद्यप्यागन्तुष्वपि दोषसंबन्धो न व्यभिचरति, तथाप्यागन्तौ रोगे दोषापेक्षया न चिकित्सेत्यागन्तुव्युदासार्थं निजा इत्युक्तम्। स्वशब्देनागन्तुकृतं धातुवैषम्यं निराकरोति। ननु, यदि वातादिजन्या एव सर्वविकारास्तत् किमर्थमन्यथाऽप्युदरादयः प्लीहजत्वादिभिर्निर्दिश्यन्त इत्याह—वातपित्तेत्यादि। स्थानं रसादयो बस्त्यादयश्च, संस्थानमाकृतिर्लक्षणमिति यावत्, प्रकृतिः कारणम्, एषां विशेषानभिसमीक्ष्य तांस्तानुपदिशन्तीति 'अष्टावुदराणि' इत्येवमाद्युपदिशन्ति।

१—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः। —साहित्यदर्पण

तदात्मकानपीति वातादिजनितानपि। तत्र, स्थानविशेषादुपदेशो यथा—ऊरुस्तम्भरक्तयोनिकामला-प्रभृतयः; संस्थानविशेषान् पिडकागुल्मप्रभृतयः; प्रकृतिविशेषाच्छ्लेष्मप्लीहोदरप्रभृतयः। × × ×॥

—चक्रपाणि

सर्वेषां च व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं; तल्लिङ्गत्वाद्, दृष्टफलत्वाद्, आगमाच्च। यथा हि कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितं सत्त्वरजस्तमांसि न व्यतिरिच्यन्ते, एवमेव कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितमव्यतिरिच्य वातपित्तश्लेष्माणो वर्तन्ते। दोषधातुमलसंसर्गादायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां विकल्पः। × × ×॥[१]

सु० सू० २४।८

× × तल्लिङ्गत्वादिति वातादिलिङ्गत्वात्। लिङ्गन्तु वातादीनां रौक्ष्यालपस्नेहादयः, तथा तोददाहकण्ड्वादीनिकार्याणि च। दृष्टफलत्वादि वातादिहरौषधैर्वातादिव्याधेरुपशमदर्शनात्। आगमाच्च सविंशत्येकादशशतानां व्याधीनां कार्यभूतानां वातपित्तश्लेष्माणो हि कारणम्। विकारजातमिति विकारसमूहम्। विकाराः त्रयोविंशतिर्महदाद्याः। विश्वरूपेणावस्थितमिति जगद्रूपेणव्याप्यस्थितमित्यर्थः। × × विकारजातं रोगसमूहम्। अव्यतिरिच्येति अपरित्यज्येत्यर्थः। एतेन तल्लिङ्गत्वादित्यादिना अनुमान-प्रत्यक्षागमोपमानानि चत्वारि प्रमाणान्युक्तानि × × ×॥

—डल्हन

मूलमिति कारणम्। आगन्तुकारणे मानसे च कथं वातादिमूलत्वमित्याह—तल्लिङ्गत्वादिति। आगन्तावपि हि वातादिलिङ्गं शरीरक्षोभादवश्यं भवति, परं तत् कियन्तमपि कालं वातादिचिकित्सा-प्रयोजनकं न भवति; यदुक्तं—'तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्' (च० चि० ३।११३) इत्यादि[२]। तथा—'आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्' (च० सू० १९।७) इति। मानसेऽपि कामादौ दोषकोपो भवत्येव; यदुक्तं—'कामशोकभयाद् वायुः' (च० चि० ३।११५) इत्यादि।[३] दृष्टफल-त्वादिति वातादिक्रियया सर्वविकारेषु साध्येषूपशयरूपफलदर्शनात्। आगन्तावपि कालानुबन्धाद्दोषक्रियया फलं भवति। आगमाच्चेति—'नास्ति रोगो विना दोषैः दोषैः' (सु० सू० ३५।१९) इत्यादि। चरकेऽप्युक्तं—'विकारो धातुवैषम्यम्' (च० सू० ९।४) इत्यादि। अत्र दृष्टान्तमाह—यथेत्यादि। विकारजातमिति महदादीति सप्त, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चार्थाः, तथा तद्विकाराश्च गोघटादयः। विश्व-

---

१—सूत्रका शेषांश तथा उसकी टीका पहले दी जा चुकी है।

२—जिज्ञासुओंके लाभार्थ उक्त वचन सम्पूर्ण दिया जाता है—

अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः।
शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलद्विजैः॥
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः।
तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्॥
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्। च० चि० ३।११२, ११३

× × प्रायो रक्तमिति अत्यर्थं रक्तं दूषयन्, मांसादि चाल्पं दूषयतीत्यर्थः × ×॥ —चक्रपाणि

३—सम्पूर्ण वचन इस प्रकार है—"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयोयश्च भूताभिषङ्गजः॥ कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात् पित्तं, त्रयो मलाः। भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः॥ × × विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसंभवैः। अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् (च० चि० ३।११४, ११७)—अभिषङ्गज्वरेषु दोषानुबन्धानाह—कामेत्यादि। × × —चक्रपाणि

रूपेणेति स्थावरादिविश्वरूपतया, सत्त्वरजस्तमसामेव हि प्रकृतिरूपाणां महदादि सर्वं परिणाम इति सांख्यनयः। विश्वरूपेणेति ज्वरातिसारव्रणरूपेण ॥[1] —चक्रपाणि

जितने भी निज शारीर रोग हैं वे सब वात, पित्त, कफके पृथक् अथवा मिलित वैषम्यसे ही होते हैं—अन्यथा नहीं। जैसे, कोई पक्षी सारे दिन सारी दिशाओंमें उड़ता रहे, तो भी उसकी छाया उससे वियुक्त नहीं हो सकती, इसी प्रकार निज शारीर रोग वात, पित्त, कफके वैषम्यके विना नहीं हो सकते। किंबहुना, सृष्टिके सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गमात्मक द्रव्य, जैसे सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणोंके ही विकार (परिणाम—उनसे उत्पन्न) हैं, उसी प्रकार शास्त्रमें उक्त अथवा अनुक्त सभी निज शारीर रोग वात, पित्त, कफके ही परिणाम-रूप हैं।

निज शारीर रोगोंसें दोषों की कारणता अनुमान, प्रत्यक्ष तथा आगम तीनों प्रमाणोंसे सिद्ध है। रोग मात्रमें दोषोंके रूक्षता, स्निग्धता आदि गुण तथा तोद, दाह, कण्डू आदि कर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इस व्याप्तिसे अनुमान होता है कि वातादि दोष ही रोगोंके कारणभूत हैं। प्रत्यक्ष ही देखते हैं कि उस-उस दोषके चिह्न उपस्थित होने पर उस-उसको शान्त करनेवाला औषधोपचार करनेसे रोग नष्ट होता है। आगम अर्थात् शास्त्र भी इस बातका साक्षी है।

रोगमात्रके कारण ये तीन ही होते हुए भी रोगोंके स्वरूपमें जो भिन्नता देखी जाती है उसका कारण यह है—पृथक्-पृथक् रोगोंमें रोगजनक दोष, उसकी विषमताका तारतम्य (प्रमाण), दूष्य धातु, दूष्य मल, दूष्य अवयव (वस्ति, प्लीहा, ऊरु आदि), स्थान (मुख, नेत्र, योनि, आदि), कारण, लक्षण इत्यादि की भिन्नता होती है। रोगोंके प्रपञ्चसंबन्धी यह भेद होते हुए भी अन्ततः उनका कारण दोषोंकी विकृति ही होती है, और जैसा कि पहले कह आये हैं, रोग कोई भी हो, कहीं भी हो, कैसा भी हो, वैद्यकी दृष्टि इसी बातपर केन्द्रित होनी चाहिये कि किस दोषका प्रकोप है और कितना।

आगन्तु तथा मानस रोगोंमें वात-पित्त-कफका अनुबन्ध—

स्वधातुवैषम्यनिमित्तजा ये विकारसंघा बहवः शरीरे।
न ते पृथक् पित्तकफानिलेभ्य आगन्तवस्त्वेव ततो विशिष्टाः॥

च० सू० १९।६

स्वशब्दोऽग्रेवक्ष्यमाणशरीरापेक्षः; तेन शरीरधातुवैषम्यं गृह्यते, मानसं तु प्रतिक्षिप्यते। धातवश्च न स्वरूपेण रोगकारणमिति वैषम्यपदं कृतम्। आगन्तवो हि रोगा अभिघातज्वरादयो धातुवैषम्यजा भवन्ति, अतस्तद्व्युदासार्थं निमित्तपदम्; आगन्तुषु वैषम्यं विद्यमानमपि कारणत्वेन न व्यपदिश्यते, अप्रधानत्वात्; किंत्वागन्तुरेव लगुडादिप्रहारस्तत्र चिकित्साविशेषप्रयोजकः कारणं, निजे तु वैषम्यमेव चिकित्साप्रयोजकम्। ××× न ते पित्तकफानिलेभ्यः पृथगिति पित्तकफानिला एव ते दूष्यादिविशेषभाज इत्यर्थः। ××× विशिष्टा इति पित्तकफानिलव्यतिरिक्ताः। —चक्रपाणि

आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति; निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पूर्वं वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिवर्तयन्ति॥

च० सू० २०।७

१—संहिताकारका वचन निज रोगोंमें वात, पित्त, कफकी कारणता प्रदर्शित करता है। चक्रपाणिने आगन्तु तथा मानस रोगोंका मूल भी वातादिको ही बताया है। परन्तु जैसा कि उसने स्वयं स्वीकार किया है, इन रोगोंमें शारीर दोषोंका अनुबन्ध पीछेसे होता है। इस टीकाका उपयोग अगले प्रकरणमें किया गया है।

आगन्तुनिजयोर्भेदकं लक्षणमाह—आगन्तुर्हीत्यादि। आगन्तुरुत्पन्नः सन्, व्यथापूर्वमिति पीडां प्रथमं कृत्वा, पश्चाद्दोषाणां वैषम्यमिति दोषवैषम्यलक्षणमुक्तं; स्वलक्षणकारकं तु वैषम्यमागन्तोरा-दितःप्रभृति विद्यमानमप्यकिंचित्करमिति भावः॥ —चक्रपाणि

ऊपर लिखे अनुसार निज शरीर रोगोंका कारण वात-पित्त-कफका वैषम्य है। अतः चिकित्सा में उनके वैषम्यको दूर करके समावस्था उत्पन्न करना ही वैद्यका कर्तव्य होता है। परन्तु, रोगोंके अन्य प्रकारों—अर्थात् मानस रोगों तथा आगन्तु रोगों—में भी दोषोंका अनुबन्ध (पश्चात्कालमें संबन्ध) होता ही है। तत्-तत् आगन्तु कारणसे शरीरका क्षोभ होकर उनमें भी पीछेसे तत्-तत् शारीर दोष कुपित होता है। यथा—अभिघातज ज्वरमें, जो विभिन्न शस्त्र, अस्त्र आदिके प्रहार, अभिचार, अभिशाप, अभिषङ्ग, विष आदिसे होता है, इन विभिन्न अभिघातोंके कारण वायुका कोप होता है, और यह कुपित वायु मुख्यतः रक्तको और अल्पांशमें शेष धातुओंको दूषित करके शोथ, विवर्णता (फीकापन), व्यथा तथा वेदनासहित ज्वरको उत्पन्न करता है। एवं, मानस रोगोंमें भी पीछेसे दोषोंका कोप होकर परिणामतया अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। यथा, काम, शोक और भयसे वायुका कोप होता है[1], क्रोधसे पित्तका और देव, ऋषि आदि आठ प्रकारके भूतोंके आवेशसे तीनों दोषोंका कोप होता है।

संक्षेपमें, निज रोगोंमें दोषोंका वैषम्य प्रथम होता है, पश्चात् विभिन्न अव्यक्त या व्यक्त चिह्न और वेदनायें प्रादुर्भूत होती हैं। इसके विपरीत, आगन्तु रोगोंमें वेदना प्रथम होती है, पश्चात्-तज्जनित क्षोभसे शारीर या मानस दोषोंका प्रकोप होता है। परिणामतया, उनमें भी पीछेसे दोषों की विषमता चिकित्साका विषय बन जाती है। आगन्तु और निज रोगोंमें यह भेद है।

मानस रोगोंकी शारीर-तुल्य चिकित्सा—

मानस रोगोंमें भी पश्चात् कालमें शारीर दोषोंका प्रकोप हो जाता है। अतः

१—अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) में वातप्रकोपकी कारणता—आयुर्वेदमें अपतन्त्रक या हिस्टीरियाको वातरोगोंमें स्थान दिया गया है (देखिये—च० सि० ९।१२-१५; सु० नि० १।५२)। यह वायु रक्तादिधातुक्षय, पुरीष, अधोवायु, या आर्तवके विबन्धसे हुए आवरण इत्यादि कारणोंसे भी कुपित हो सकता है तथा काम, शोक और मदसे भी कुपित हो सकता है। पुरुष या स्त्रीमें स्वभावतः अति हर्ष (कामेच्छा) हो, वह ब्रह्मचर्यसंबन्धी मिथ्या विचारोंके वश हो कामके उत्पन्न वेग या संकल्पका निग्रह करे अथवा, विशेषतः स्त्रीमें, तृप्ति असम्पूर्ण हो तो वृद्धिगत या आवृत काम क्षुभित होकर वात (नाड़ीसंस्थान) को कुपित करता है। पुरुषोंमें तो कामोद्रेक की तृप्ति न होनेपर शुक्रपात हो जाता है, जिससे क्षोभ किंचित् शान्त होता है, परन्तु स्त्रीमें ऐसी व्यवस्था न होनेसे वे ही अपतन्त्रकसे विशेष पीड़ित होती हैं। ऊपर मानस रोगके कारणोंमें इष्टकी अप्राप्तिका भी निर्देश किया है, वह काम (अथवा आभरणादि इष्ट वस्तुओं) की अप्राप्ति पर विशेषतः चरितार्थ होता है। शोक, कलह, आभर-णादिकी इच्छा पूर्ण न होना, चिन्ता आदिसे होता है। भय पति, श्वश्रू (सास), ननद आदिसे होता है। अपतन्त्रककी चिकित्सामें इन सब कारणोंको दृष्टिगत रखना चाहिये। भूतावेशसे भी वातप्रकोप होकर अपतन्त्रक होना सम्भव है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शारीर दोष क्षुभित हो तो अल्प-मात्र भी काम, शोक और भयसे वातका इतना प्रकोप हो सकता है कि अपतन्त्रकका वेग उत्पन्न हो जाय। अतः इस रोगको केवल मानस जानकर अधूरी चिकित्सा न करनी चाहिये। मल, पित्त अधोवायु तथा आर्तवकी शुद्धिसे इस रोगमें बहुत लाभ होता है। स्त्रीरोगके ग्रन्थोंमें इसका विशेष विस्तार देखना चाहिए।

कश्यपने तो स्पष्ट ही कहा है कि मानस रोगोंकी भी चिकित्सा शारीर रोगोंके समान ही करे—

मानसानां च रोगाणां कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम् ॥

का० सू० २७-५

आगन्तु तथा निज रोगोंका परस्पर अनुबन्ध—

पहले कह आये हैं कि शारीर रोगोंका अन्य शारीर तथा मानस रोगोंसे तथा मानस रोगोंका अन्य मानस और शारीर रोगोंसे अनुबन्ध—अर्थात् पश्चात् कालमें संबन्ध—होता है। इस अनुबन्धसे रोग एक-दूसरेके बलमें वृद्धि करते हैं। शारीर तथा मानस रोगोंके समान आगन्तु और निज रोगोंमें भी परस्परानुबन्ध होता है।—

आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः।
तत्रानुबन्धं प्रकृतिं च सम्यग् ज्ञात्वा ततः कर्म समारभेत ॥

च० सू० १९।७

संप्रति भिन्नयोर्निजागन्त्वोः संबन्धमाह—आगन्तुरित्यादि। निजं प्रथमसमुत्पन्नंविकार-मागन्तुर्भूतादिजन्यो विकारोऽन्वेत्यनुगतो भवति, यथा—दोषज एव ज्वरे उन्मादे वा पश्चाद् भूतनिवेशोऽपि भवति। तथाऽऽगन्तुमुत्पन्नमभिघातजं ज्वरं भूतजं चोन्मादं पश्चाद्धेतुमासाद्य निजोऽपि तत्र दोषलक्षणलक्षितो गदो भवति। 'अपि प्रवृद्धः' इति वचनेन आगन्त्ववस्थायामपि निजदोषो वृद्धोऽस्त्येव, परं प्रवृद्धोऽसौ न भवति स्वलक्षणाकर्तृत्वेनेति दर्शयति। अपिशब्देन निजस्य निजेन तथाऽऽगन्तोरप्यागन्तुनाऽनुबन्धः सूच्यते। अत्र निजागन्त्वोरनुकार्यमाह—तत्रेत्यादि। अनुबन्धः पश्चात्कालजातः। प्रकृतिर्मूलभूतः। सम्यग्ज्ञात्वेति बलवत्त्वाबलवत्त्वादिना। किंवा, अनुबन्धोऽप्रधानः, प्रकृतिरनुबन्ध्यः प्रधानमित्यर्थः। यदुक्तं—"स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्योऽतो विपरीतस्त्वनुबन्धः" च० वि० ६।११ इति ॥ —चक्रपाणि

निज रोग पहलेसे विद्यमान हो तो कभी-कभी आगन्तु भी पीछेसे उसका साथ देता है। यथा—दोषज ज्वर या उन्माद हुआ तो पश्चात्कालमें भूतावेश भी हो जाता है। एवं आगन्तु अभिघातज ज्वर किंवा भूतज उन्माद पहलेसे रोगीको हो तो कारण उपस्थित होनेपर शारीर दोष प्रकुपित होकर निज रोग भी हो जाता है। इसी प्रकार निज रोगसे अन्य निज रोगका अनुबन्ध होता है तथा आगन्तु रोगसे अन्य आगन्तु रोगका अनुबन्ध होता है।

निज और आगन्तु रोगोंके इस अनुबन्धके उपदेश (कथन) का हेतु यह है कि एक ही रोगीमें अनेक रोग उपस्थित देखकर प्रथम यह निदान करना चाहिये कि कौन रोग अनुबन्ध्य (पहलेसे विद्यमान) है तथा कौन अनुबन्ध अर्थात् पीछेसे हुआ। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिये कि कौन स्वतन्त्र है तथा कौन परतन्त्र या उपद्रवभूत। इसके अनन्तर उभयविधि रोगोंके बलाबलको जानकर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये।

चारों रोगोंमें परस्परानुबन्ध—

सत्य तो यह है कि निज, शारीर, मानस और आगन्तु सभी रोग जीर्ण और वृद्धिगत होनेपर परस्पर अनुबद्ध होते हैं। इन्हें अपने-अपने लक्षणोंसे पहचाना जा सकता है। देखिये—

सर्वेऽपि खल्वेतेऽभिप्रवृद्धाश्चत्वारो रोगाः परस्परमनुबध्नन्ति, न चान्योन्येन सह संदेहमापद्यन्ते ॥

च० सू० २०।६

अनुबध्नन्त्यनुगच्छन्ति। न संदेहमापद्यन्त इति न संदेहविषयतामापद्यन्ते, मिश्रीभूता अपि प्रतिस्वं भिन्नैर्लक्षणैर्भेदेन जायन्त इत्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

शास्त्रमें दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण—

कहनेका तात्पर्य यह कि रोगोंका दोषोंसे अविनाभाव-संबन्ध है। निज शारीर और निज मानस रोगोंमें तो दोषोंकी कारणता स्पष्ट ही है, आगन्तु रोगोंमें भी, जैसा कि चक्रपाणिने कहा है, दोषोंका वैषम्य पहले भी होता ही है, परन्तु उसका प्रमाण इतना नहीं होता कि वह कोई लक्षण प्रकट कर सके, अतः उसे प्राधान्य नहीं दिया जाता।

रोगोत्पत्तिमें दोषोंके इस महत्त्वके प्रतिपादनका तथा निदानाधिकारमें दोषोंके प्रकोपादिके सविस्तर वर्णनका कारण है; और वह यह कि—

× × × विकाराः पुनरसंख्येयाः, प्रकृत्यधिष्ठानलिङ्गायतनविकल्पविशेषापरिसंख्येयत्वात् ॥ च० सू० २०।३

× × एवं चतुर्विधत्वादि प्रतिपाद्य पुनः प्रकारान्तरेणापरिसंख्येयतां रोगाणामाह—विकारा इत्यादि। पुनरिति वक्ष्यमाणप्रकारान्तरेण। प्रकृतिः प्रत्यासन्नं कारणं वातादि, अधिष्ठानं दूष्यं, लिङ्गानि लक्षणानि, आयतनानि बाह्यहेतवो दुष्टाहाराचाराः; एषां विकल्परूपो विशेषो विकल्पविशेषः, तेषामपरिसंख्येयत्वादिति। अत्र दोषाः संसर्गांशांशविकल्पादिभिरसंख्येयाः, दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः, लिंगानि कृत्स्नविकारगतान्यसंख्येयान्येव, आविष्कृतानि तु तन्त्रे कथितानि, हेतवश्चावान्तरविशेषादसंख्येयाः प्रव्यक्ता एव × × ॥ —चक्रपाणि

त एवापरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थाननामभिः ॥
व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥

च० सू० १८।४२-४३

समुत्थानभेदा हेतुभेदाः; रूक्षभोजनरात्रिजागरणादिभिन्नहेतुजन्यो हि वातो भिन्नोपक्रमसाध्यश्च भवतीति भावः। स्थानभेदा आमाशयादयो रसादयश्च। संस्थानमाकृतिः, यथा गुल्मार्बुदादिः। नामभेदो यथा—एकस्मिन्नेव राजयक्ष्मणि राजयक्ष्मशोषादिसंज्ञा। नन्वेवमपरिसंख्येयत्वेकथं व्यवहार इत्याह—व्यवस्थेत्यादि। व्यवस्थाकरणं चिकित्साव्यवहारार्थं संख्याकथनम्। यथास्थूलेष्विति ये ये स्थूला उदरमूत्रकृच्छ्रादयस्तेषु संग्रहोऽष्टोदरीयरोगसंग्रहे इत्यर्थः। अस्थूलेषु विकारेषु अष्टोदरीये संज्ञयाऽनुक्तेषु कथं व्यवस्थाकरणमित्याह—तथेत्यादि। प्रकृतिसामान्यं समानकारणता, तेनानुक्तेषु साक्षाद् व्याधिषु वातजोऽयं, श्लेष्मजोऽयमिति, तथा रसजोऽयं रक्तजोऽयमित्यादिका चिकित्साव्यवहारार्थं व्यवस्था कर्तव्येति भावः। अत एवाष्टोदरीये वक्ष्यति—"सर्वे विकारा वातपित्तकफान्नातिवर्तन्ते" इति ॥ च० सू० १९।५—चक्रपाणि

नानारूपैरसंख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः।
तापयन्ति तनुं तस्मात्तद्धेत्वाकृतिसाधनम्।
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥

अ० हृ० सू० १२-३०-३१

× × मला वातपित्तश्लेष्माणः × × × ॥ —अरुणदत्त

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येयाभवन्त्यतिबहुत्वात्। दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः। × × × प्रकुपितास्तु खलु ते प्रकोपणविशेषाद्दूष्यविशेषाच्च विकारविशेषानभिनिर्वर्तयन्त्यपरिसंख्येयान्॥

च० वि० ६।५-७

× × × यथाचित्रमिति यथाविन्यासं, तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः ; न तु सर्वान्, अशक्यत्वात्। अनवशेषेण च दोषानित्यनेन दोषा अनतिबहुत्वेनानवशेषेणाप्यभिधातुं शक्यन्त इति प्रकाशयति। ननु परिमिताद्दोषरूपात् कारणात् कथमपरिमिता विकारा भवन्तीत्याह-प्रकुपितास्त्वित्यादि। हेतुविशेषदुष्टो हि स एव दोषो दूष्यान्तरगतश्च विभिन्नशक्तियोगाद् बहून् विकारान् करोतीति युक्तमेव। उक्तं च-"स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः। स्थानान्तरगतश्चैव विकारान् कुरुते बहून्" (च० सू० १८।४५)इति॥ —चक्रपाणि

दोष केवल तीन हैं, परन्तु उन्हीसे उत्पन्न होनेवाले रोग असंख्येय हैं। अतः प्रत्येक रोगका पृथक्-पृथक् वर्णन करना शक्य नहीं है। परन्तु दोष संख्येय होनेसे उनका पूर्ण विवरण किया जा सकता है। इसीसे शास्त्रमें यह पद्धति रखी गयी है कि दोषोंके प्राकृत-वैकृत गुण-कर्मोंका पूर्णतया निर्देश करनेके पश्चात्, उदाहरणत्वेन ज्वर, उदर, प्रमेहादि कतिपय प्रसिद्ध (स्थूल—आविष्कृततम) रोगोंका वर्णन कर दिया गया है। जिन रोगोंका वर्णन इस श्रेणीमें नहीं है उनमें दोषोंका तारतम्य देखकर—अर्थात्, शरीर एवं मनमें कौन-कौनसे अस्वाभाविक गुण तथा कर्म प्रादुर्भूत हुए हैं, वे किस दोषके प्रकोप या क्षयके सूचक हैं, उनका बल कितना है, प्रकोप या क्षयका प्रभाव किस अवयव (धातु, मल या आमाशयादि) पर हुआ है एवं प्रकुपित दोषके किस-किस गुणका कितना-कितना प्रकोप या क्षय है[1], इत्यादि बातोंको दृष्टिगत रखकर—प्रकुपित दोषका शमन तथा क्षीण दोषकी वृद्धि करते हुए उन्हें समावस्थामें लाना चाहिये।

रोगोंकी उपरिलिखित असंख्यताके कारण, जिनका पहले भी निर्देश कर आये हैं, ये हैं कि प्रथम तो, रोगोत्पत्तिके प्रत्यासन्न या साक्षात् कारणभूत वात-पित्त-कफ तथा रजस्-तमस्के भेदसे रोगोंमें भेद होता है। फिर कुपित हुए दोषमें जो गुण या कर्म वृद्धयनुकूल मिथ्याहारविहारके कारण वृद्धिगत हो वह भी रोगोंकी भिन्नताका कारण है। दूष्य शरीरावयव स्थूलदृष्ट्या भिन्न-भिन्न होते हैं; परन्तु उनके भी चरमावयवभूत अणु[2] तो असंख्य हैं। जिस या जिन अणुओंमें विकृति होती हैं उनके भेदसे रोगके स्वरूपमें भी निश्चित भिन्नता होती है। दोषोंके प्रकोपके कारणभूत तथा रोगोत्पत्तिके विप्रकृष्ट (परोक्ष) कारण मिथ्याहारविहारकी भिन्नतासे भी रोगोंके लक्षणोंमें, परिणामतया रोगोंमें तथा उनकी चिकित्सामें भेद होता है। यथा रूक्ष भोजनसे भी वात कुपित होता है और रात्रिजागरणसे भी ; परन्तु दोनोंमें कारण भिन्न होनेसे चिकित्सामें भिन्नता होती है। लक्षणों, वेदनाओं तथा त्वचा-मल-मूत्रादिके वर्णोंका भेद एवं इन लक्षणादिमें साम्य होते हुए

१—**दोषोंकी अंशांश कल्पना**—रुग्णावस्थामें शरीरमें जिस दोषका प्रकोप होता है, सर्वदा उसके सभी गुण या सभी कर्म प्रबल होकर प्रकट होते हों सो बात नहीं; किन्तु प्रकोप आहार-विहारमें जिस या जिन गुणों या कर्मोंके कुपित करनेकी क्षमता होती है वही गुण और कर्म प्रकुपित होते हैं। प्रकुपित दोषके कौन-कौनसे गुण-कर्म वृद्धिको प्राप्त हैं, तथा किसका कितना प्रकोप है इसका विचार **अंशांश कल्पना** या 'अंशांश विकल्प' कहाता है। प्रकुपित गुण-कर्मोंको लक्ष्यमें रखकर उन्हींके शमन में समर्थ औषधोपचारकी व्यवस्था करना योग्य है, अन्योंके नहीं।

२—(Cell) सेल।

भी उनके प्रमाणमें भेद भी रोगोंकी भिन्नताका कारण है। दोषप्रकोपके स्थान आमाशयादि (या पूर्वोक्त रसादि) की भिन्नता तथा आकृतिकी भिन्नता, यथा गुल्म, अर्बुद आदिमें भी रोगभेदमें हेतु है। नामभेदसे भी रोगभेद होता है।

इसी प्रकार व्यक्ति, प्रकृति, सार, सत्त्व, वय, देश आदिके भेदसे भी रोगोंमें प्रत्यक्ष भेद होता है। उनका भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है।

इन भेदक कारणोंके वश रोगोंमें भिन्नता तथा परिणाममें उनकी असंख्यता होते हुए भी एक बात सबमें समान होती है कि ये सब दोषोंकी विषमतासे ही होते हैं। और सब बातें एक किनारे रखकर दोषोंके वैषम्यका ही सूक्ष्मनिरीक्षण करके तदनुरूप चिकित्सा की जाय—उन-उन योगोंको ही पकड़कर वैद्य न बैठ रहे[1]—तो सिद्धि निश्चित होती है। देखिये—

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून्॥
तस्माद्विकारप्रकृतीरधिष्ठानान्तराणि च।
समुत्थानविशेषांश्च बुद्ध्वा कर्म समाचरेत्॥
यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिषक्।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं न स मुह्यति कर्मसु॥

च० सू० १८।४५-४७

× × स्थानान्तरगतश्चेत्यत्र चकार एकस्थानगतोऽपि बहुविकारं करोतीति समुच्चिनोति। यतो वक्ष्यति—"करोतिगलमाश्रितः। कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्" (च०चि०८।१६) इति। अधिष्ठानान्तराण्याशयान्तराणि। ज्ञानपूर्वमिति चिकित्साज्ञानपूर्वकम्। यथान्यायं यथागमम्॥

—चक्रपाणि

एक ही दोष कारण-भेदसे तथा स्थान-भेदसे विविध रोग उत्पन्न करता है, एक स्थानपर भी उसी दोषसे उत्पन्न रोगोंमें वैविध्य होता है। अतः दोष, कारण तथा स्थानको जानकर शास्त्रादिसे अधिगत ज्ञानका उपयोग करते हुए चिकित्सा करनेसे वैद्य कभी संशयमें नहीं पड़ता।

सब रोगोंका नामतः निर्देश संभव नहीं—

रोगोंकी इस असंख्येयताके कारण ही संसारके यावत् रोगोंका नामतः निर्देश शक्य नहीं। अतः, वैद्य नाम लेकर रोगका निर्देश न कर सके तो इसमें कोई लज्जाकी बात नहीं।

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

च० सू० १८।४४

१—केवल योगोंसे चिकित्सा फलवती नहीं होती—स्मरण कीजिये—

"योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति।
वयोबलशरीरादिभेदा हि बहवो मताः॥
तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्॥" च० चि० ३०।३२०, ३२६

अपराध्यति न ईप्सितं साधयति॥ —चक्रपाणि

ज्वर रक्तपित्तादिवन्नामाज्ञानेऽपिवातादिजन्यत्वज्ञानेनैवप्रचरितव्यमित्याह—विकारेत्यादि । × × × एवं मन्यते यद्वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणां चिकित्सायामुपकारि, नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थं न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति ॥ —चक्रपाणि

चिकित्सामें आवश्यकता इस बातके जाननेकी है कि रोगका मूल कारण कौन-सा दोष है। उसका नामतः निर्देश तो केवल व्यवहारार्थ होता है। चिकित्सामें उसकी साक्षात् उपयोगिता नहीं[1]।

अनुक्त रोगोंकी भी दोषानुसार चिकित्सा करनी चाहिये—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात् तस्माद्विचक्षणः।
अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्॥

व्याधीनामानन्त्याद् दोषभेदेनानुक्तस्यव्याधेर्दोषव्यपेक्षाचिकित्सार्थम् × × आह—नास्तीत्यादि × ×॥ —डह्लन

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा बहुत्वान्नामरूपतः।
तेषामप्येतदेव स्याद्दोषादीन् वीक्ष्य भेषजम्॥
दोषदूष्यनिदानानां विपरीतं हितं ध्रुवम्।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति॥

च॰ चि॰ ३०।२९१।२९२

× × × दोषादीनिति दोषदूष्यनिदानान्यग्रे वक्ष्यमाणानि ; किंवा दोषभेषजदेशकालबलशरीराहारसात्म्यसत्त्वप्रकृतिवयांसि सूत्रस्थानोक्तानि। × × दोषा वातादयः, दूष्याणि रक्तादीनि, निदानानि रूक्षादीनि, एषां व्यस्तानां समस्तानां वा यद्विपरीतं, हितमिति भेषजम्। × × × यद्यपि च यन्निदानविपरीतं भेषजं तद्दोषविपरीतेनैव ग्रहीतुं पार्यते, यतो निदानेन दोषप्रकोपः क्रियते, तस्य च दोषस्य विपरीतं यथा रूक्षनिदानवृद्धे वायौ रूक्षे यो विपरीतः स्नेहः स निदानेऽपि विपरीत एव ; तथापि दोषस्यैवांशवैपरीत्येन भेषजप्रयोगोपदर्शनार्थं निदानविपरीतोपादानमिह। यथा—यदि वायुः सर्वात्मना प्रकुपितस्तदा तस्य वायोर्यद् विपरीतं तैलं तत् कर्तव्यं, यदा तु शीतेन वायुर्वृद्धस्तदा सर्वात्मना विरुद्धं तैलमुत्सृज्य यदेव शीतत्वे हितं तस्यैव शीतगुणस्य प्रशमार्थं हेतुविपरीतमुष्णं भेषजं प्रयुज्यते। अत एवोक्तं—"शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः" (च॰ वि॰ ३।४६) इत्यादि। इह तु दोषादीनां ग्रहणाद् दोषदूष्यसमुदायात्मा व्याधिरपि लभ्यते, तेन व्याधिविपरीतमपि भेषजमवरुद्धम्। विपरीतशब्देन चेह प्रतिकूलमुच्यते, न विपरीतगुणमात्रं; तेन विपर्यस्तार्थकारिणामपि भेषजानां ग्रहणं भवति। यत्तु समानमेव क्षीणानां दोषाणां धातूनां वा भेषजं भवति तद् दोषादिक्षयव्याधिवृद्धिजनकतया विपरीतमेव, येन तत्र न दोषादयः प्रतिकर्तव्याः किंतु तत्क्षयाः, तेन क्षये दोषादिविपरीतं सम्यग्युक्तं सद्दोषादीन् नियच्छतीत्युक्तं, ततो दोषादिसमानमेव विपरीतमिति न कश्चिद्दोषः॥ —चक्रपाणि

असंख्येयताके कारण शास्त्रमें सभी रोगोंका नाम-रूपसे निर्देश नहीं हुआ है। यह भी संभव है कि शास्त्रमें निर्देश होते हुए भी चिकित्सकको अस्वाध्याय या विस्मृतिके कारण किसी रोगीके रोगका शास्त्रोक्त नाम आदि ध्यानमें न आये। परन्तु इसके कारण चिकित्साके मार्गमें कोई बाधा उपस्थित

१—पाश्चात्य चिकित्सामें हम प्रायः देखते हैं कि रोगों तथा उनके कारणभूत जीवाणु आदिके लम्बे-लम्बे और विकट नामोंका पद-पदपर उच्चार होता है, परन्तु उनकी चिकित्साका क्षेत्र शून्य ही होता है। नामनिर्देश मात्र चिकित्सा पद्धति तथा चिकित्सककी कीर्तिको उज्ज्वल करनेके लिए पर्याप्त नहीं।

नहीं होती। वातादि दोषोंके ज्ञानमें वैद्य कृतश्रम हो तो रोगजनक दोषोंके अंशांश, दूष्य और निदान (रूक्ष आहार आदि कारण) उनके विपरीत, व्याधि विपरीत तथा दोषादिके विपरीत न होते हुए भी विपरीत कार्य करनेवाले औषधाहार-विहारकी व्यवस्था करके रोगको निर्मूल कर सकता है। उदाहरणतया पाश्चात्य चिकित्सामें सुप्रसिद्ध न्यूमोनिया, टायफॉयड, पैराटायफॉयड, इन्फ्लुएंजा आदिका आयुर्वेदमें इसी प्रकार विशिष्ट नामसे उल्लेख नहीं है। तथापि इनकी चिकित्सा दोषादिको दृष्टिमें रखकर करनेसे लाभ होता ही है।

दोषोंकी दो अवस्थाएँ—

अवस्था-भेदसे दोषोंके अनेक भेद होते हैं। यथा—

गतिश्च द्विविधा दृष्टा प्राकृती वैकृती तथा ॥ च० सू० १७।११५

दोषोंकी सामान्यतः दो अवस्थाएँ हैं—प्राकृत और वैकृत। प्राकृत अवस्थामें ये विभिन्न जीवनोपयोगी क्रिया करते हैं, यही विकृतावस्थामें असंख्य रोगोंसे शरीरको पीड़ित करते हैं। प्राकृत अवस्थाको समावस्था या साम्य भी कहते हैं, तथा दोषोंकी विकृतिको वैषम्य भी कहा जाता है।

दोषोंकी तीन अवस्थाएँ—

वैषम्यके क्षय और वृद्धि ये दो भेद होते हैं। इस प्रकार दोषोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—क्षय (क्षीणता, ह्रास), साम्य (स्थिति) तथा वृद्धि।

× × यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकात्स्न्र्येन प्रकृत्या च ॥ च० शा० ६।४

× × लघुना वैषम्येण रोगमात्रजनकेन क्लेशं, महतात्वसाध्यरोग जनकेन वैषम्येण विनाशं मरणं प्राप्नोति शरीरम्। तद्वैषम्यमित्याह—वैषम्यगमनमित्यादि। वैषम्यगमनं हि वैषम्यावस्था-प्राप्तिः, वैषम्यमेव कादाचित्कमित्यर्थः × × ×। वृद्धिह्रासगमनं चेह व्यस्तं समस्तं च वैषम्यं ज्ञेयम्। वृद्धिह्रासस्यैव विशेषानाह—अकात्स्न्र्येन प्रकृत्या चेति; अकात्स्न्र्येनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन। एतेन च रसादीनां चांशेन वृद्धिह्रासौ उपगृहीतौ भवतः × × × ॥ —चक्रपाणि

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः ॥ च० सू० १७।११२

स्थानं समानावस्थानम् ॥ —चक्रपाणि

शरीरमें रहकर अपना प्रकृति-नियत कार्य करनेके लिये दोषों, धातुओं तथा मलोंका एक निश्चित प्रमाणमें रहना आवश्यक है। ये अपने इस प्रमाणमें हों तो इस अवस्थाको दोषादिकी समता या साम्य कहते हैं। दोषोंके प्रमाणमें अधिकता होना वृद्धि तथा न्यूनता होना क्षय या ह्रास कहाता है।

दोषादिकी वृद्धि तथा क्षय दो प्रकारके हैं। एक, उनमें जितने गुण तथा कर्म (अंश) हैं उनमें एक अथवा अधिककी वृद्धि या क्षय होना तथा दूसरा, उनके सम्पूर्ण गुण-कर्मों (अंशों) की वृद्धि या क्षय होना। दोषादिकी वृद्धि या क्षय कितने अंशमें है इसका विचार अंशांशकल्पना कहलाता है।

दोषोंकी चार अवस्थाएँ—

विशेषतः वातकी आवरण-नामक एक अन्य अवस्था है। यह भी यद्यपि उक्त तीन अवस्थाओंके ही अन्तर्गत है, तथापि इसमें लक्षण-चिकित्सा विशेष होनेसे इसका पृथक् निर्देश होता है।

कुपित आहार, दोष, धातु या मलके संयोगसे वातमात्रकी अथवा वातके किसी भेदकी क्रियामें जब वैपरीत्य आ जाता है तो इस अवस्थाको वातका आवरण कहते हैं। कभी-कभी वायुका कोई भेद ही अन्य वायुको आवृत कर देता है। इस प्रकार दोषोंकी चार अवस्थाएँ होती हैं—क्षय, वृद्धि, साम्य और आवरण।—

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथैवावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीनां न प्रमुह्यति कर्मसु॥

च० चि० २८।२४८

क्षयमित्यादौ आवरणमपि क्षयवृद्धिसंबन्धान्तर्निर्दिष्टमेव, तथाऽप्यावरणस्य विशेषलक्षणचिकित्सार्थं पृथगभिधानम्। कर्मस्विति चिकित्सासु॥ —चक्रपाणि

दोषोंकी तीनों अवस्थाओंके समान्य लक्षण—

दोषाः प्रवृद्धा लिङ्गं स्वं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥

च० सू० १७।६२

दोषाणां वृद्धिसाम्यक्षयलक्षणानि पृथगाह—दोषा इत्यादि। स्वं लिङ्गमिति वैकारिकम्। यथाबलमिति अतिवृद्धैरतिवृद्धं मध्यवृद्धैर्मध्यवृद्धमित्यादि। लिङ्गं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृति-लिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति; यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषा दूष्यं दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति, न क्षीणाः, स्वयमेव दुःस्थितत्वात्। स्वं कर्मेति प्राकृतं कर्म ×××॥
— चक्रपाणि

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्॥
दोषप्रकृति वैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चवं परीक्ष्यते॥

च० सू० १८।५२-५३

क्षयलक्षणमाह-वाते इत्यादि। कर्मणः प्राकृतादिति वातादिप्रकृतिकर्मत्वेनोक्तादुत्साहादेः। हानिरपचयः। वृद्धिर्वापि विरोधिनामिति उक्तप्राकृतलक्षणविरोधिनां कर्मणां वृद्धिः; यथा वातक्षये उत्साहविरोधिनो विषादस्य वृद्धिः, पित्तक्षयेऽदर्शनापक्त्यादीनां, श्लेष्मक्षये रौक्ष्यादीनां वृद्धिः। इह प्राकृत कर्महानौ सत्यां नावश्यं विरोधिकर्मवृद्धि रत उक्तं-वृद्धिर्वेत्यादि; न ह्यवश्यमुत्साह हानावल्प-मात्रायां सत्यां विषादो वर्धते, अलोभन्यूनत्वे वा मानाल्लोभो वर्धते, ×××। वृद्धिलक्षणमाह—दोषेत्यादि। प्रकृतिः स्वभावः, तस्य वैशेष्यमाधिक्यं; श्लेष्मणः स्नेहशैत्यमाधुर्यादिर्या प्रकृतिस्तस्या अतिस्निग्धातिशैत्यातिमाधुर्यादिवैशेष्यं वृद्धिलक्षणम् ××। —चक्रपाणि

दोष प्राकृत अर्थात् समावस्थामें हो तो अपना प्रकृति-नियत कर्म कोई भी विकार उत्पन्न किये विना करते हैं। वे जब क्षीण होते हैं तो दो स्थितियाँ हो सकती हैं। प्रथम उनके प्राकृत कर्मोंका ह्रास; यथा वातका क्षय होने पर उसके प्राकृत कर्म उत्साहका ह्रास। द्वितीय दोषोंके प्राकृत गुण कर्मोंके विरोधी गुण-कर्मोंकी वृद्धि; यथा वातका क्षय होनेपर उत्साह-विरोधी विषाद[1]की

१—Neuraothenia-न्यूरैस्थीनिया। शब्दकोषमें इसका अर्थ Exhaustion of nerve-force एग्ज़ोशन ऑफ़ नर्व-फोर्स—अर्थात् नाड़ी संस्थानकी शक्तिका ह्रास (टूट जाना) कहा है।

वृद्धि; पित्त क्षय होने पर दृष्टिमान्द्य; अजीर्ण इत्यादिकी वृद्धि; श्लेष्माका क्षय होनेपर रूक्षता आदि की वृद्धि।

दोषोंकी वृद्धि होनेपर उनके प्राकृत-गुण-कर्मोंका आधिक्य होता है। यथा—स्निग्धता, शैत्य, मधुरता आदि श्लेष्माके प्राकृत कर्म हैं। श्लेष्माकी वृद्धि होनेपर त्वचा, मुख, जिह्वा, नख, नेत्र, पुरीष, मूत्र आदिमें स्निग्धता, शैत्य, मधुरता आदिकी वृद्धि हो जाती है।

वृद्धिगत दोष ही रोगके कारण हैं—

× × × स्वमानक्षीणा दोषाः किंचिद्विकारं न जनयन्ति, क्षीणलक्षणं वैषम्यमेव परं यान्ति, वचनं हि—'क्षीणा जहति लिङ्गं स्वं समाःस्वं कर्म कुर्वते' (च० सू० १७।६२) इति॥

च० सू० ९५२ पर —चक्रपाणि

× × क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम् × ×॥ च० वि० ५।२३ पर —चक्रपाणि

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावात्॥

च० शा० ६।१८

× × तेषामिति पुरीषादीनां रसादीनां च। दुष्टा इति स्व हेतूपचिताः क्षीणास्तु नान्य दुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति[1]॥ —चक्रपाणि

जैसा कि ऊपर कह आये हैं दोषोंकी विकृत अर्थात् रोगजनक अवस्था दो प्रकार की है—क्षय और वृद्धि। इनमें क्षयके कारण शरीरमें कोई विकार नहीं होता—केवल क्षीण दोषके स्वाभाविक गुण-कर्मोंमें मन्दता आ जाती है। विकार अथवा रोग दोष-विशेष की वृद्धि होने पर ही होते हैं। वृद्धिको प्राप्त दोष ही विपरीत मार्ग (उन्मार्ग) से जाकर दूष्योंको दूषित करके ज्वरादि रोगोंको उत्पन्न करते हैं, न कि क्षीण। क्षीण दोष स्वयं ही अवनति दशाको प्राप्त हुए होते हैं। वे क्या रोग उत्पन्न करेंगे? रोगोत्पत्तिका कारण वृद्धिगत दोष होनेसे निदान-प्रकरणमें सर्वत्र दोषोंके कोपके ही कारणों और लक्षणोंका निर्देश होता है।

स्थानान्तरगत सम दोषोंकी वैकारिकता—

× × × "प्रकृतिस्थं यदा पित्तं" (च० सू० १७।४५) इत्यादौ स्वमानावस्थितस्यापि पित्तादिविकारकर्तृत्वं, तच्छरीरदेशान्तरनीतस्य पित्तादेस्तत्र तत्र प्रदेशे वृद्धस्यैव विकारकर्तृत्वं; स्वमानस्थितोऽपि दोषः प्रदेशान्तरं नीतः सन् तत्प्रदेशस्थदोषापेक्षया वृद्ध एव भवति, तेन तत्रापि वृद्धस्यैव विकारकर्तृत्वम् × ×॥ च० शा० ६।४५२ पर। —चक्रपाणि

× × × यत्र यत्रेति वचनाद् यत्र कुपितेन वायुना पित्तं नीतं तत्र शरीरावयवे प्रकृतिमानस्थितमपि पित्तं वृद्धमेव, यतस्तस्मिन् प्रदेशे तावान् पित्तसंबन्ध उचितो न भवत्येवेत्यधिकेन तत्र पित्तेन दाह उपपन्न एव। एवमन्यत्रापि प्रकृतिस्थस्यापि दोषस्य विकारे व्याख्येयम्॥ च० सू० १७।४५ पर —चक्रपाणि

कई बार दोष प्राकृत या समावस्थामें ही होता है। परन्तु वायुसे चालित होकर वह अन्य स्थानमें पहुंचा दिया जाता है। परिणामतया जिस शरीरावयवमें वह पहुंचता है, वहाँ पहलेसे विद्यमान उस दोषके प्रमाणमें वृद्धि होती है और इस वृद्धिके कारण उतने स्थानमें उस दोषकी वृद्धिके लक्षण प्रकट होते हैं। इस प्रकार शरीरके एक देशमें दोष-प्रकोपजन्य लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं।

१—अन्य प्रमाण ऊपर च० सू० १७।६२ की चक्रपाणिकी टीकामें देखिये।

आशय यह है कि स्थानान्तरगत दोषोंके द्वारा जो विकारोत्पत्ति होती है उसमें भी कारण दोषोंकी वृद्धि ही है।

दोषादिके क्षयसे विकारोत्पत्ति—

यद्यपि ऊपर कहे अनुसार दोषादिके क्षयसे स्वयं कोई विशेष रोग नहीं होता, परन्तु उनके विरोधी गुणोंकी वृद्धि होनेसे उस गुणवाले दोष, धातु आदिकी वृद्धि होकर उसकी वृद्धिसे होनेवाले रोग होते ही हैं।

वृद्धिकी दो अवस्थाएँ—

दोषकी चाहे साक्षात् वृद्धि हुई हो, चाहे स्थानान्तर गमनसे हुई हो अथवा विरोधी दोषके क्षयसे हुई हो, रोगोंका कारण उनकी वृद्धि होती है यह ऊपर कहा है। इस वृद्धिकी संक्षेपमें दो अवस्थाएँ या भेद हैं—चय (संचय) और कोप (प्रकोप)।

वृद्धिर्हि द्वेधा चयकोपभेदेन ॥ अ० सं० सू० २०

वृद्धिके इन्हीं दो प्रकारोंके विस्तारमें छः भेद किये गये हैं।

संचय और प्रकोपका लक्षण—

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव ॥ अ० हृ० सू० १२।२२

कोपस्तून्मार्गगामिता ॥ अ० हृ० सू० १२।२३

× × उन्मार्गगामिता स्वमार्गादन्येन मार्गेण गमनम्। —हेमाद्रि

सर्वशरी चर होते हुए भी दोषोंका कोष्ठमें एक-एक विशिष्ट स्थान होता है। अनुकूल कारण पाकर इन स्थानोंपर दोषोंकी वृद्धि होती है। इस वृद्धिको संचय कहते हैं।

प्रत्येक दोष उत्पन्न होकर अपने-अपने नियत छिद्र या मार्गसे शरीरके बाहर निकलता रहता है। इससे शरीरमें उसकी समता बनी रहती है—वृद्धि और तज्जन्य रोग नहीं होते। परन्तु संचयावस्थाका उपाय न किया जाय तो अनुकूल कारणोंकी विद्यमानतामें दोषोंका प्रकोप होता है। इस अवस्थामें दोष अपने निर्गमन-मार्गसे न निकलकर शरीरमें प्रसृत होने लगते हैं। इस प्रकार शरीरमें प्रसृत होकर विभिन्न अवयवोंमें पहुंचे हुए दोषोंसे रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

प्रकोपके दो भेद-चयप्रकोप और अचयप्रकोप—

परन्तु, दोषोंका प्रकोप केवल उनके संचयसे नहीं होता। संचयके बिना भी प्रकोपानुकूल कारण उपस्थित होने पर उनका प्रकोप और विकारोत्पत्ति होते हैं। इस प्रकार प्रकोपके दो भेद हैं—चयपूर्वक प्रकोप या चयप्रकोप, तथा अचयपूर्वक प्रकोप या अचयप्रकोप। देखिये –

वृद्धिर्हि द्विविधा—चयलक्षणा प्रकोपलक्षणा च ; तत्र संहतिरूपा वृद्धिश्चयः, विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः।

तयोर्विलयनरूपवृद्ध्या वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्याः। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविधः—चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च। तत्र चयपूर्वकं कोपमागताः संशोधनविधानेनैव शमयितव्याः ॥

सु० चि० ३३।३ पर —डल्हन

काठिन्यादूलमावाद्वा दोषोऽन्तः कुपितो महान् ॥

च० चि० ३०।३२९

× × काठिन्यादिति दोषचयरूपसंहतात्, ऊनभावात् अचयप्रकोपात्। अचयेऽपिं च दोषाणां प्रकोपो भवत्येव ; यथा वलवद्विग्रहादिभिर्वायोः, पित्तस्य क्रोधादिभिः, श्लेष्मणश्च दिवास्वप्नादिभिः। अयं चाचयप्रकोपो धनावयवोपचयाकर्तृत्वात् 'ऊनभावात् प्रकोप' इत्युच्यते। दोषोऽन्तः कुपितो महानित्यत्र काठिन्यात् कुपित ऊनभावाच्च कुपितो महान् भवतीति व्यवस्था। × × × —चक्रपाणि

सा च (ऋतुचर्या) द्विविधा—शोधनी शमनी च। तत्र चयपूर्वके प्रकोपे शोधनी, अचयपूर्वके शमनी। तत्र, अकृतायां पूर्वर्तुचर्यायां पूर्वर्तुना चितस्य दोषस्योत्तरेण यः प्रकोपः स चयपूर्वकः। स एवापथ्यजः, पूर्वर्तुसेवितापथ्यजातत्वात्। कृतायां तस्यां पूर्वेणाचितस्योत्तरेण यः प्रकोपः सोऽचयपूर्वकः। स एव पथ्यजः, पूर्वर्तुसेवितपथ्यजातत्वात्। उक्तं च—

"दोषप्रकोपो द्विविधः पथ्यापथ्यनिमित्तजः।
तत्रापथ्यनिमित्तो यः स संशोधनमर्हति।
पथ्यजः शमनीयश्च प्राय आगन्तुजश्च यः॥"

अ० हृ० सू० ३।१८ पर —हेमाद्रि

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात् पुनः।
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा न तु॥

अ० हृ० सू० १२।२८

× × आदिशब्देन विहारो देशश्च। सद्योऽपि स्वकालं विनापि यान्ति, स्वकालेऽपि न यान्ति॥ —हेमाद्रि

× × चयादीन् चयप्रकोपप्रशमान् × ×॥ —अरुणदत्त

भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें ऋतुस्वभाववश भिन्न-भिन्न दोषोंका क्रमशः संचय, प्रकोप और प्रशम (शान्ति, साम्य) होता है। प्रत्येक दोषके संचय, प्रकोप और प्रशमकी ऋतु निश्चित है। संचय अधिक बढ़कर, प्रकोपावस्थाको प्राप्त हो रोग उत्पन्न न करे इस हेतु पूर्वाचार्योंने संचयानुकूल ऋतुके लिए दोष-भेदसे विशिष्ट चर्या (आहार-विहार) नियत की है। इसका पालन करनेसे प्रकोपावस्था नहीं उपस्थित होती। इस चर्याका पालन न करनेसे दोषका प्रकोप होता है। प्रकोपकी भी शान्तिके लिए आचार्योंने विशिष्ट चर्याका विधान किया है। उसका पालन किया जाय तो दोष शान्त हो जाता है तथा रोगोत्पत्तिमें समर्थ नहीं होता।

दोषोंके चयपूर्वक प्रकोपका कारण सामान्यतः उक्त प्रकारसे ऋतुक्रम ही है। परन्तु आहार, विहार और देशके प्रभावसे बहुधा अत्यल्प कालमें भी दोषोंकी चय, प्रकोप और प्रशम अवस्थाएँ उपस्थित होती हैं। आहार, विहार और देश दोषके प्रतिकूल हों तो ऋतुस्वभावको दबाकर तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् दोषके संचय, प्रकोप या प्रशमको नहीं भी होने देते।

संक्षेपमें चयप्रकोपका यह स्वरूप है। परन्तु, चयके विना भी प्रायः दोषोंका प्रकोप होता है ; यथा, बलवानके साथ युद्ध (शक्तिसे अधिक श्रम) इत्यादिसे वायुका, क्रोधादिसे पित्तका तथा दिवास्वप्नादिसे कफका प्रकोप होता है। इसे अचयप्रकोप कहते हैं।

चयप्रकोपको 'काठिन्यज' (काठिन्य अर्थात् दोषोंके संचय या घनत्वसे उत्पन्न हुआ) या 'अपथ्यज' (ऋतुचर्योक्त पथ्यका पालन न करनेसे हुआ) प्रकोप भी कहते हैं। अचयप्रकोपको 'न्यूनभावज प्रकोप' (दोषोंकी न्यूनता अर्थात् संचयाभावसे होनेवाला) या 'पथ्यज' (पथ्य किंवा स्वस्थवृत्तोक्त विधानका आचरण करनेपर भी हुआ) प्रकोप भी कहते हैं।

प्रकोपके इन दो भेदोंके निर्देशका प्रयोजन चिकित्सा-भेद है। चयपूर्वक प्रकोपमें संशोधन

अर्थात् दोषको औषधोपचार द्वारा निज मार्गसे बाहर निकाल देना उत्तम है। अचयप्रकोपमें प्रायः शमन पर्याप्त होता है। प्रत्येक दोषके लिए उपयुक्त संशोधन और संशमन पृथक्-पृथक् होता है।

प्रकोपके कारणोंका निर्देश करते हुए संहिताकारोंने चयप्रकोप और अचयप्रकोप दोनोंके कारण एक साथ ही बताये हैं।

चयप्रकोपकी छः अवस्थाएँ—

सामान्यतः, दोष संचित होकर उत्तरावस्थामें जब रोगोत्पत्तिमें समर्थ होते हैं तो इस स्थितिको उनका प्रकोप कहते हैं। परन्तु, विस्तारमें संचयसहित प्रकोपकी छः अवस्थाएँ होती हैं। दोष-वृद्धि की इन अवस्थाओंका निर्देश दोषोंकी उत्तरोत्तर बलवृद्धि तथा भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न चिकित्साके सूचनार्थ होता है।

संचयं च प्रकोपं च प्रसरं स्थानसंश्रयम्।
व्यक्तिं भेदं च यो वेत्ति दोषाणां स भवेद् भिषक्॥

सु० सू० २१।३६

दोषोंकी चयप्रकोप नामक वृद्धिकी क्रमशः छः अवस्थाएँ निम्न हैं—संचय, प्रकोप, प्रसर, स्थानसंश्रय, व्यक्ति तथा भेद। चिकित्सामें सफलताके लिए इनका समग्र ज्ञान होना आवश्यक है।

संचयावस्थामें प्रतिकारकी आवश्यकता—

संचयेऽपहृता दोषा लभन्ते नोत्तरा गतीः।
ते तूत्तरासु गतिषु भवन्ति बलवत्तराः॥

सु० सू० २१।३७

यथापूर्वं प्रतीकाराल्पत्वं यथोत्तरं प्रतीकारबाहुल्यं दर्शयन्नाह—संचयेऽपहृता दोषा इत्यादि। तेषामपहरणं च बहुदोषे शोधनं, मध्यदोषे लङ्घनपाचनं, अल्पदोषे संशमनमिति॥ —डल्हन

संचयहेतुरुक्तः ××। तत्र प्रथमः क्रियाकालः॥ सु०सू० २१।१८

चय एव जयेद्दोषम्॥ अ० हृ० सू० १३।१५

दोषोंका अपने-अपने स्थानोंमें संचय होते ही अपने-अपने संचयके लक्षणों द्वारा उन्हें जान कर तत्काल उन्हें समावस्थामें लानेका उपाय करना चाहिये। कारण, जैसे-जैसे वे अगली-अगली अवस्थामें पहुंचते जाते हैं, वैसे-वैसे उनका बल बढ़ता जाता है तथा उनका उपाय अधिक करना पड़ता है। इसके विपरीत पूर्व-पूर्व अवस्थाओंमें उनका बल न्यून होता है तथा उपाय भी अल्प ही यथेष्ट होता है।

दोषोंका त्रिविध प्रतिकार—

सञ्चयावस्थामें, अथवा प्रकोपकी किसी भी अवस्थामें किये जानेवाले उपचारोंके संक्षेपमें तीन भेद हैं—दोष अत्यधिक हो तो यथायोग्य संशोधन, दोषोंका बल मध्यम हो तो लङ्घनपाचन तथा दोष अल्प हो तो संशमन उपाय करना चाहिये।

शरीरमें स्रोतोंका महत्त्व—

शरीरकी क्रिया तथा आरोग्यमें जो स्थान वात, पित्त, कफ तथा उनके साम्यका है वही स्रोतों-

का भी है। रचना-शारीरके अध्ययनसे विदित होगा कि स्रोत आहार, रस-रक्तादि धातु, दोषत्रय, विभिन्न मल, प्राण इत्यादिका वहन करते हैं, रसके वहन द्वारा वे शरीरकी यावत् धातुओंकी पुष्टि करते हैं, मलोंका वहन कर उन्हें निज छिद्रोंसे बाहर निकालते हुए शरीरको नीरोग रखते हैं, प्राणके वहन द्वारा शरीरको उसका लाभ पहुंचाते हैं; ये स्रोत ही विषयों अर्थात् संज्ञाओंके वेगोंका तथा मन अर्थात् चेष्टाओंके वेगोंका वहन कर शरीरको अनुगृहीत करते हैं।—

× × सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वापि अभिगच्छन्ति ॥ चं० विं० ५।३

तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम् ॥ चं० विं० ५।७

स्रोतसां च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः ॥ चं० चिं० ८।३९

यथास्वेन यथात्मीयेन; धातुः पुष्यति धातुनेति धातुना रसेन, धातू रक्तादिरूपः ॥—चक्रपाणि

शरीरमें किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति स्रोतोंके विना नहीं हो सकती, न ही उनका क्षय स्रोतोंके विना होता है। (द्रव्योंके समान गुणों और कर्मोंके होने-न-होनेमें भी स्रोत कारणभूत हैं।) ये स्रोत जब तक प्राकृत अवस्थामें रहते हैं, तब तक शरीरमें रोगोत्पत्ति नहीं होती।

रोगोत्पत्तिमें स्रोतोंका स्थान—

× × × अहितसेवनात्।

तानि दुष्टानि रोगाय विशुद्धानि सुखाय च ॥ अ० हृ० शा० ३।४२

× × सुखाय आरोग्याय × ॥ —अरुणदत्त

× × × तेषां (स्रोतसां) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शारीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते; इतरेषां प्रकोपादितराणि च। स्रोतांसि स्रोतांस्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टाः। तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणः प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ॥ चं० विं० ५।९

स्थानस्था इत्याशयस्थाः। मार्गगाश्चैवेति धमनीभिर्गच्छन्तः। इतरेषां चेत्यादिनोक्तमर्थं स्रोतांसि चेत्यादिना विवृणोति। स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः। दोषस्वभावादिति दोषाणामेवायं स्वभावो यद्दूषकत्वं, न धात्वन्तराणां; तेन धातुना दुष्टिर्धातुदुष्टिर्धातुगतदोषकृतैव ज्ञेया ॥ —चक्रपाणि

ते चावकाशाः प्रकुपिताः स्थानस्थान् मार्गस्थांश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेऽपि तान् स्रोतांसि च। स्रोतांसि धातवश्च धातून्। तेषां सर्वेषामेव दूषयितारो दुष्टा दोषाः॥ अ० सं० शा० ६

आहारश्च विहारश्च यः स्याद्दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चापि स्रोतसां स प्रदूषकः ॥ चं० विं० ५।२३

आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह। दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति। क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम्। धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः; दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः ॥ —चक्रपाणि

स्रोत अविकृत (स्वस्थ) रहें तो दोष, धातु और मलकी पुष्टि सम्यक् (यथायोग्य) होती है तथा इनका साम्य बना रहता है ; परिणामतया शरीर भी स्वस्थ रहता है। परन्तु ये स्रोत विकृत हो जायँ तो धातु (दोष, धातु, मलादि वाह्य द्रव्य) प्रकुपित हो जाते हैं तथा शरीरमें विभिन्न रोगोंकी उत्पत्ति करते हैं।

स्रोतोंकी दुष्टिका कारण व दोष—

स्रोत विकृत या दूषित होकर न केवल धातुओंको कुपित करते हैं, अपितु अपने निकटवर्त्ती स्रोतोंको भी दूषितकर तत्स्थानीय रोगोंको उत्पन्न करते हैं[1]। इसी प्रकार धातु दूषित होकर धातुओं और स्रोतोंको दूषित (विकृत) करके रोगोत्पत्ति करते हैं।

धातुओंकी दुष्टि कुपित हुए दोषोंसे होती है, यह ऊपर कह आये हैं। स्रोतोंकी दुष्टिका कारण भी कुपित हुए दोष ही हैं। एवं, जो आहार-विहार दोषों तथा धातुओंको कुपित करते हैं। वही स्रोतोंकी दुष्टिके भी कारण हैं। अर्थात्—अहिताहार-विहारसे प्रथम दोष दुष्ट होते हैं, पीछे दूषित हुए ये स्रोत अपने वाह्यदोषादिको विकृतकर तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं ;

दूषित स्रोतोंसे रोगोत्पत्ति—

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्यधिस्तत्रोपजायते ॥ सु० सू० २४।१०

×× ख वैगुण्यात् स्रोतोवैगुण्यादित्यर्थः ॥ —डल्हन

क्षिप्यमाणः ख वैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्। च० चि० १५।३७-३८

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ अ० हृ० नि० १।२३

×× रसायनीः नाडीः। रोगस्याधिष्ठानानि स्थानानि रसरुधिरादीनि। —अरुणदत्त

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः ॥
स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमंगताः ॥
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः ॥ च० चि० ८।२८-२९

१—एक स्रोतसे अन्य स्रोतकी दुष्टि और रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त—प्रतिश्याय प्रथम हुआ हो तो उसमें दूषित नासा-स्रोतकी दुष्टि गल और कण्ठस्रोतमें जानेसे कास ; प्रथम कास हुआ हो तो गल-कण्ठकी दुष्टि नासा-स्रोतमें जानेसे प्रतिश्याय ; कास और प्रतिश्याय दोनोंमें उक्त स्रोतोंकी दुष्टि कर्णमें जानेसे कर्णपीडा, बाधिर्य आदि, शिरः-कपालके वाताशयों (Air-sinuses—एअर साइनसेज़) में दोष जानेसे शिरःशूल इत्यादि ; प्राणवह स्रोतों (फुफ्फुसों) में दोषके संक्रमणसे यक्ष्मा आदि ; यक्ष्मामें प्राणवह स्रोतोंमें स्थित दोष महास्रोतसूमें जानेसे अतिसार आदि रोग होना प्रत्यक्ष है।

×× विषमसुन्मार्गेण गताः सन्तो रुधिरादीनां स्रोतांसि रुद्ध्वा रोगाय यक्ष्मरूपाय कल्पन्त इति योजना ॥ —चक्रपाणि

अपने-अपने प्रकोपके कारणोंसे दोषों तथा धातुओंका प्रकोप हुआ हो, परन्तु स्रोतोंकी दुष्टि न हुई हो तो दोष सर्वाङ्गमें प्रसृत होकर (फैलकर) सर्वाङ्गमें रोग उत्पन्न करते हैं[1]।

परन्तु, प्रकुपित दोष और धातुके प्रभावसे यदि स्रोत भी दूषित हो गये हों तो स्रोत-विशेषमें दुष्टि (विकृति) जहां हुई हो वहांसे आगे दोष, धातु आदिका संचार पूर्ण प्रमाणमें न होनेसे दोषादि वाह्य द्रव्य न्यूनाधिक अंशमें वहीं अटक जाते हैं। परिणामतया, जहाँ वे अटके हों उस एकांग या एकदेशमें रोग उत्पन्न होता है[2]।

स्रोतोंकी दुष्टिका स्वरूप—

दोषों तथा धातुओंके गुण-कर्म आगे यथा-प्रकरण देखेंगे। प्रकुपित अवस्थामें तत्तत् दोष, धातु या मलके ये गुण-कर्म वृद्धिको प्राप्त होकर स्रोतोंमें अपने किसी भी गुण-कर्मको प्रकट कर सकते हैं। विशेषतः—

वात, अस्थि[3] आदि रूक्ष दोष या धातुकी वृद्धिसे स्रोतोंमें संकोच और स्तम्भ (संकोच-विकाशका नाश)[4] होते हैं। कफ, मेद, शुक्र आदि स्निग्ध दोष या धातुकी वृद्धिसे स्रोतोंमें अवरोध रूप दुष्टि होती है। इसमें स्रोतोंका अवकाश या तो वृद्धिगत दोष या धातुसे पूर्ण हो जाता है, अथवा स्रोतके बनानेवाले कोषोंमें इनका संचय[5] हो जाता है। पित्त, रक्त आदि उष्ण-तीक्ष्ण दोष धातुओंके प्रकोपसे स्रोतोंमें पाक होता है। परिणाम सभी दोषोंसे हुई दुष्टिका एक ही होता है—स्रोतोंके अन्तर्गत अवकाश अल्प होनेसे दोषोंकी आगे गति नहीं हो सकती। वे वहीं अटक जाते हैं तथा स्वानुरूप लक्षण उत्पन्न करते हैं। स्रोतोंकी दुष्टिसे एक देशमें दोषोंके अटक जानेको शास्त्रमें दोषोंका **स्थानसंश्रय** कहते हैं। यह वृद्धिकी छः दशाओंमें एक है।

१—इस विषयमें विस्तारसे जाननेके लिये देखिये सु० शा० ७।८-१७। इनमें कहा गया है कि दोष, प्राकृत स्थितिमें इन सिराओंमें संचार करते हुए तत्तत् गुण (जीवनोपयोगी क्रियाएँ) करते हैं। वही दोष कुपित होकर इन्हीं सिराओं द्वारा सर्व शरीरमें संचार करते हुए तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं।

२—सर्वाङ्ग रोगको अंग्रेजीमें General disease—जनरल डिसीज़, तथा एकाङ्ग या एकदेशज रोगको Local disease लोकल डिसीज़ कहते हैं।

३—अस्थिजनक तत्त्वसे Calcium कैल्शियमका अभिप्राय है।

४—Spasm—स्पैज्म। प्रवाहिका, अश्मरी इत्यादिमें महास्रोतस् आदिका सहसा और तीव्र स्तम्भ होनेसे शूल होता है। हृदयपोषक रस-रक्तवाहिनियों (Coronary arteries—कॉरोनरी आर्टरीज़) का वृद्धावस्थामें वायुजन्य स्तम्भ होनेसे तीव्रशूल होता है, जिसे हृद्ग्रह (Angina pectoris—एञ्जाइना पेक्टोरिस) कहते हैं। वृद्धावस्थामें ही अस्थितत्त्वके संचयसे रस-रक्तवाहिनियोंका संकोच और खरत्व (Arterio sclerosis—आर्टीरियो स्क्लेरोसिस) होता है। इससे पोषक रसकी प्राप्ति यथेष्ट न होनेसे धातु क्रमशः क्षीण होते हैं। सिरापूर्णता (High blood pressure—हाई ब्लड-प्रेशर ; सु० सू० १५।१४) का कारण भी रस-रक्तवाहिनियोंका खरत्व ही है।

५—कोषोंमें पोषक द्रव्यके संचयको Engorgement—एन्गार्जमेण्ट कहते हैं। रक्तके संचयको Hyperoemia—हाइपरीमिया, अथवा Conjestion—कंजेशन कहा जाता है।

स्रोतोंका सामान्य तथा विशेष अर्थ—

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति ×× ॥ चि० वि० ५।९

आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः × ×॥

सु० शा० ९।३ पर-डल्हन-धृत तन्त्रान्तर-वचन

××× स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥
च० वि० ५।३

परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वपूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तर रक्तादिरूपतामापद्यमानानाम्। अयनार्थेनेति × × धातूनां × × देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि। ××× मनस्तु यद्यपि नित्यत्वेन न पोष्यं, तथापि तस्येन्द्रियप्रदेशगमनार्थं स्रोतोऽस्त्येव। ×× दोषाणां तु सर्वशरीरचरत्वेन यथास्थूलस्रोतोऽनभिधानेऽपि सर्वस्रोतांस्येव गमनार्थं वक्ष्यन्ते। सूक्ष्मजिज्ञासायां तु वातादीनामपि प्रधानभूता धमन्यः सन्त्येव; यदुक्तं सुश्रुते—"तासां वातवाहिन्यो दश (सु० शा० ७।६)" इत्यादि। न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः॥ —चक्रपाणि

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ सु० शा० ९।१३

मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात्। प्रसृतम् अभिवहनशीलं, यदन्तरम् अवकाशः, तत् स्रोतो विज्ञेयम्॥ —डल्हन

स्रवणात् स्रोतांसि ॥ च० सू० ३०।१२

××× कर्मवैशेष्यात् ××॥ सु० शा० ९।३

कर्मवैशेष्यं विशिष्टकर्मकरत्वं, तच्च तृतीयभेदकारणं; तद्यथा—"कर्मणामप्रतीघातम्" (सु० शा० ७।८) इत्यादिनोक्तं सिराणां कर्मवैशेष्यं, शब्दरूपरसगन्धवहत्वादिकं धमनीनां, प्राणान्नवारि रसशोणितमांसमेदोवाहित्वं स्रोतसाम्॥ —डल्हन

आकाश भूतकी प्रधानतावाले अर्थात् अन्दरसे अवकाशयुक्त उन दृश्य या अदृश्य शरीरावयवोंको स्रोत कहते हैं, जो उत्तरोत्तर परिवर्तनशील धातुओं, दोषों, मलों, अन्न, जल, शब्दादि विषय, मन इत्यादिका स्रवण अर्थात् अभिवहन करते हैं—उन्हें शरीरमें एक स्थानसे दूसरे स्थान पर पहुंचाते हैं। इस स्रवणके कारण ही इन्हें स्रोत कहते हैं।

स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी, पथ, मार्ग, ख, छिद्र, संवृतासंवृत, स्थान, आशय, निकेत—ये सब इन स्रोतोंके ही सामान्य नाम हैं।

यों सिरा, धमनी आदि शब्दोंका प्रयोग एक-दूसरेके अर्थमें होता है, परन्तु वस्तुतः सिरा, धमनी, स्रोत, रसायनी ये सभी पृथक्-पृथक् द्रव्योंके वाहक हैं। सिराएँ दोषों तथा रक्तका वहन करती हैं, धमनियाँ शब्दादि विषय इत्यादिका तथा रसायनियाँ केवल रसका वहन करती हैं। शेष मार्गोंको स्रोत कहा जाता है। आशय यद्यपि अवकाशयुक्त अवयव ही हैं, तथापि उनका कार्य वहन

करनेका विशेष नहीं। दोषादिको धारण करना ही उनका विशिष्ट कर्म है। यथा, अमाशय अन्नको, यकृत्-प्लीहा रक्तको तथा गर्भाशय गर्भको धारण करता है।

नाडी शब्द सामान्यतः किसी भी प्राकृत या भगन्दरादि विकृत मार्गके लिए संहिताओंमें प्रयुक्त हुआ है, तथापि पश्चात्कालके अध्यात्म ग्रन्थोंमें इसका प्रयोग आधुनिकोंके 'नर्व'[1] शब्दके अर्थमें प्रचुरतासे हुआ है। अतः नवीन लेखक नाडी शब्दका व्यवहार नर्वके लिए तथा 'नाडी-संस्थान'[2] इत्यादि शब्दोंका व्यवहार 'नर्वस सिस्टम' के लिए प्रायः करते हैं[3]।

स्रोतोंकी असंख्यता---

अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति, सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवं, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावहन्ति, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः। अति बहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये॥ च० वि० ५।४

× × × तेन स्रोतोमयः पुरुष इति पूर्वपक्षः। तं निषेधति—नत्वित्यादि। यस्य हि स्रोतांसि यद्घटितानीत्यर्थः, यच्च वहन्तीति यद्रसादि वहन्तीत्यर्थः, यच्चावहन्तीति यच्च पुष्यन्तीत्यर्थः यत्र चावस्थितानीति यत्र मांसादौ संबद्धानीत्यर्थः तत्सर्वं धमनीभ्योऽन्यत् तस्मान्न स्रोतोरूप एव पुरुष इत्यर्थः॥ —चक्रपाणि

बाह्य द्रव्यकी दृष्टिसे स्रोतोंकी गणना करें तो उनकी संख्या अल्प ही है। परन्तु पृथक् पृथक् संख्याका विचार करें तो अदृश्य स्रोतोंकी गणना ही नहीं हो सकती। जैसे प्राणवह, मनोवह, संज्ञावह, स्वेदवह, मूत्रवह इत्यादि अदृश्य स्रोतों[4]की संख्या अशक्य है। अतः कोई-कोई पुरुषको स्रोतोमय—स्रोतोंका ही समुदाय—मानते हैं। परन्तु इसमें तत्त्व इतना ही है कि स्रोत लगभग असंख्य हैं।

प्रधान स्रोत उनकी संख्या तथा महत्त्व—

पृथक् संख्याकी दृष्टिसे श्रोत असंख्य होते हुए भी कायचिकित्सकों तथा शल्यविदोंने अपने अपने शास्त्रोंमें विशेष स्मरणीय अमुक ही श्रोतोंका उदाहरणत्वेन उल्लेख किया है। कायचिकित्सकोंने मुख्य तेरह स्रोत गिनाये हैं, जिनमें दोषजनित दुष्टि (विकृत) विशेषता देखी जाती है। उधर, शल्यशास्त्रियोंने स्रोतोंके ग्यारह युग्मोंका विशेषरूपसे निर्देश किया है। कारण, इनके मूल (प्रभवस्थान-उत्पत्तिस्थान) का वेध होनेसे गम्भीर परिणामोंकी आशङ्का होती है।

१—Nerve. २—Nervous System.

३—धमनी आदि शब्दोंके अर्थकी अनिश्चितता—प्राचीनोंके धमनी और सिरा शब्दोंका अबतक सर्वसंमत अर्थ निश्चित नहीं हुआ है। कोई धमनीका अर्थ 'Artery आर्टरी' समझते हैं और कोई 'Never नर्व'। सिरा शब्दका अर्थ भी कोई रक्तवह तथा रसवह प्रणालियाँ (Blood-vessels ब्लड वेसल्स तथा Lymphatics लिम्फेटिक्स) करते हैं और किसीको दुष्ट रक्तवह प्रणालियाँ (Veins वेन्स)। सु० शा० ८ (सिरावेध प्रकरण) में दुष्टरक्तवह प्रणालियाँ अभिप्रेत हैं, जबकि सु० शा० ७ में स्पष्ट ही इनका प्रथमोक्त अर्थ गृहीत हुआ है। नव्य लेखक प्रायः कविराज गणनाथ सेनजीका अनुसरण करते हुए धमनीका अर्थ 'आर्टरी', सिराका अर्थ 'वेन' तथा 'नाडी' का अर्थ 'नर्व' करते हैं। और नहीं तो आधुनिक शारीरके भाषानुवादके लिए इन शब्दोंको उक्त अर्थोंमें मर्यादित रखना उचित समझते हैं।

४—जैसा कि आगे देखेंगे, इन्हें अदृश्य स्रोत संहिताकारोंने ही कहा है।

'अपि चैके' इत्यादि वचनका यहाँ तात्पर्यमात्र लिया है।

इन उभय स्रोतोंके भी प्रथम दो भेद होते हैं। बहिर्मुख या दृश्य स्रोत तथा अन्तर्मुख या अदृश्य स्रोत। देखिये—

बहिर्मुख स्रोत—

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवहं च॥ सु० शा० ९।१०

नन्वन्यान्यपि धमनीव्याकरणोदितानि स्रोतांसि वक्तव्यानीत्यत आह—बहिर्मुखानीति। धमनीव्याकरणोदितानि त्वन्तर्मुखानि। अधस्ताद्रक्तवहं स्मरातपत्रस्याध आर्तववहं, स्मरातपत्रं[1] भगस्योपरितने भागे। उक्तं च—"विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारणम्" इति —डल्हन

नव स्रोतांसि × × × द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि॥ सु० शा० ५।६

स्रोतांसि पुंसां नव—कर्णौ, नेत्रे, नासापुटौ, मुखं, पायुर्मूत्रपथोऽन्यानि च त्रीणि स्त्रीणां स्तनौ रक्तपथश्च॥ अ० सं० शा० ६

इदानीं स्त्री पुरुषाणां दृश्यानि स्रोतांसि निरूपयतुमाह—स्रोतांसि नासिके इत्यादि॥

अ० हृ० शा० ३।४० पर —अरुणदत्त

दो नासिका स्रोत, दो नेत्र, दो कर्ण, मुख, गुद, मूत्रप्रसेक[2]—इन नौ दृश्य स्रोतोंको तथा स्त्रियोंमें दो स्तन तथा एक योनिमार्ग सहित बारह स्रोतोंको बहिर्मुख स्रोत कहते हैं। अध्यात्म ग्रंथोंमें इन्हीको 'नव द्वार' कहा है।

कायचिकित्सकोक्त तेरह स्रोत—

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित् प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः। ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय ज्ञानवतां, विज्ञानाय चाज्ञानवताम्। तद्यथा-प्राणोदकान्नरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रमूत्रपुरीषस्वेदवहानीति, वातपित्तश्लेष्माणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि। तद्वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च॥ च० वि० ५।५-६

× × अनुक्तार्थज्ञानायेत्यनुक्तस्रोतोज्ञानाय। ज्ञानवतामित्यनुक्तार्थज्ञानसमर्थानाम्। ज्ञानवन्तो ह्यनेन लिङ्गेनानुक्तमपि स्रोतोऽनुभिमते। विज्ञानाय चाज्ञानवतामिति यथोक्तमात्रज्ञानाय च मन्दबुद्धीनामित्यर्थः। तद्वदिति सर्वशरीरचराणाम्। चेतनावच्छरीरमित्यनेनाचेतनकेशनखादिप्रदेशं सत्त्वादिगमने निषेधति, दोषास्तु तत्रापि यान्तीति। अयनभूतमिति मार्गभूतम्। अधिष्ठानभूतमिति स्थानभूतम्॥॥ —चक्रपाणि

तथाऽपराण्यन्तःस्रोतांसि जीवितायतनानि त्रयोदश प्राणोदकान्नधातुमलानामायतनानि॥ अ० सं० शा० ६

एवं स्रोतांसि दृश्यान्यभिधाय शरीरे यान्यदृश्यानि स्रोतांसि तान्याह × × × तानि च स्रोतांसि जीवितायतनानि विशेषेण जीवितस्याधिष्ठानानि॥ अ० हृ० शा० ३।४१पर—अरुणदत्त

१—कामच्छत्रको अंग्रेजीमें Clitoris क्लाइटोरिस कहते हैं।

२—Urethra-यूरिया।

स्रोत असंख्य होते हुए भी उनके प्रकोप अर्थात् दोषजन्य दुष्टिके स्पष्टीकरणार्थ तेरह स्रोतोंके मूलस्थान (उत्पत्ति स्थान) तथा प्रकोपके लक्षण कायचिकित्साके ग्रंथोंमें बताये जाते हैं। अल्पबुद्धि वैद्योंके व्यवहारके लिए इतने ही बहुत हैं। (कारण, लोकमें प्रायः इतने ही स्रोतोंकी दुष्टि विशेष लक्षित होती है)। बुद्धिशाली वैद्य इन तेरहकी दुष्टिसे ही अन्य अनुक्त स्रोतोंकी दुष्टिका भी अनुमान सरलतासे कर सकते हैं।

ये तेरह स्रोत निम्न हैं—प्राणवह, उदकवह, अन्नवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, अस्थिवह, मज्जवह, शुक्रवह, मूत्रवह, पुरीषवह तथा स्वेदवह। जीवन अर्थात् प्राणोंका विशेष आश्रय होनेसे इन स्रोतोंको जीवितायतन कहते हैं। इनको ही अदृश्य या अन्तर्मुख स्रोत तथा योगवह स्रोत भी कहते हैं।

ये सभी उक्त तथा अनुक्त स्रोत वात, पित्त, कफके स्रोत हैं—अर्थात् वात, पित्त, कफ सर्व स्रोतोंमें संचार करते हैं। सत्त्व, रज, तम तथा मन, केश, नख आदि अचेतन भागोंको[1] छोड़कर शेष संपूर्ण शरीरमें विचरते हैं।

शल्यतन्त्रोक्त बाईस स्रोत—

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः। तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांस-मेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः। एकेषां बहूनि ; एतेषां विशेष बहवः ××× ॥

सु० शा० ९।१२

मूलस्य स्थूलत्वेन तद्विद्धलक्षणस्यैव साध्यासाध्यपरिच्छेदकत्वात्तद्विद्धलक्षणव्याख्यानमेव परिज्ञातम्। ××× तान्येव विवृण्वन्नाह—तानित्वित्यादि। प्राणादीनामार्तवान्तानामेकादशानां प्रत्येकं वहने द्वे-द्वे स्रोतसी। अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु सत्स्वप्यनधिकारः। कथं? तत्रास्थि-वहानां सकलानामेव मेदो मूलं, मज्जवाहानां च तेषां सकलान्येवास्थीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरविद्धलक्षणं साध्यादिज्ञान निश्चयकम्। एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदोमूलमिति पूर्वेणैव समानम् ; अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः। असुमेवार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह—येष्वधिकार इति। 'शल्यतन्त्रे' इति शेषः। कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यं; तेन सकलाङ्गगतानामपि स्रोतसां कायचिकित्सायामधिकारः। ××× एकेषां बहूनीति। एकेषामाचार्याणां मते बहूनि स्रोतांसि, 'तान्यत्रानधिकृतानि' इति शेषः। एतेषां विशेषा बहव इति एतेषां पूर्वोक्तानां प्राणादिवहानां स्वतन्त्रे द्वाविंशतिसंख्योपेतानां स्रोतसां विशेषा भेदाः॥ —डल्हन

स्रोतोंकी संख्या अधिक होते हुए भी, उनमें जिनके मूल अर्थात् हृदय, पक्वाशय आदि प्रभव-स्थानोंका वेध होनेसे गम्भीर लक्षण उत्पन्न होनेकी सम्भावना होती है, ऐसे ग्यारह स्रोतोंके युग्म शल्यशास्त्रमें विशेष रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं। ये स्रोत निम्न हैं—प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह, आर्तववह। इनमें प्रत्येक स्रोत दो-दो हैं। अन्य स्रोत होते हुए भी शल्यशास्त्रका अधिकार (क्षेत्र) ये बाईस स्रोत ही हैं।

चरक तथा सुश्रुत प्रतिपादित स्रोतोंका पृथक् निर्देश आगे उनके प्रकरणमें करेंगे। इसी प्रकार रस-रक्ताधिकारमें सिराओं और धमनियोंका आयुर्वेद मतसे परिचय दिया जायगा।

१—"वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्न-मलद्रवगुणैर्विना॥" च० शा० १।१३६

इसमें इन्द्रिय और मनसहित संपूर्ण शरीरको वेदना, या चेतनाका आश्रय कहा है ; तथा केश, लोम, नखाग्र, अन्न, मल, मूत्र एवं शब्दादि गुणोंको चेतनारहित बताया है।

स्रोतोंका स्वरूप—

स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च।
स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च॥

स्वधातुसमवर्णानीति वाह्यधातुतुल्यवर्णानि। प्रतानोलताप्रपञ्चः॥ —चक्रपाणि

स्रोत अन्दरसे अवकाशयुक्त अर्थात् पोले, वृत्ताकार (नलिकाकृति), कोई चौड़े, कोई पतले, कोई लम्बे और कोई लताओंके समान शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त होते हैं। इनका वर्ण जिस द्रव्यका वे वहन करते हैं उसके समान होता है।

स्रोतोंकी दुष्टिका सामान्य लक्षण—

अतिप्रवृत्तिः संगो वा सिराणां ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसां दुष्टिलक्षणम्॥ च० वि० ५।२४

अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्येन स्रोतोदुष्टिलक्षणमाह। अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोवाह्यस्य रसादेर्वोद्धव्या; एवं संगोऽपि रसादेरेव। विमार्गगमनं च यथा मलस्य मूत्रमार्गगमनमित्यादि॥ —चक्रपाणि

पृथक् स्रोतोंकी दुष्टिका लक्षण आगे तत्तत् प्रकरणमें देंगे। सभी स्रोतोंकी दुष्टिका सामान्य लक्षण यह है—वाह्य द्रव्यकी अति प्रवृत्ति अर्थात् अधिक वेगसे या अधिक मात्रामें गति और वाह्यद्रव्य कोई मल हो तो उसकी अधिक मात्रा और संख्यामें प्रवृत्ति (निर्गमन); अथवा वाह्य द्रव्यका संग (अप्रवृत्ति, विबन्ध): सिराओंकी ग्रन्थि; वाह्य द्रव्यका विपरीत मार्गसे गमन अर्थात् वाह्य द्रव्यकी प्रतिलोम गति या तिर्यक् अन्य द्रव्यके मार्गमें गति—यथा मूत्रमार्गमें पुरीषकी गति।

आशय—

आशय भी स्रोतोंके सदृश आकाशभूत प्रधान अवकाशयुक्त अवयव हैं। दोष सर्वशरीरचर होते हुए भी अपने-अपने आशयमें विशेष करके रहते हैं। इनके साम्य-वृद्धि-क्षयके लक्षण इन स्थानोंपर प्रधानतया लक्षित होते हैं।

आशयास्तु—वाताशयःपित्ताशयःश्लेष्माशयोरक्ताशयआमाशयःपक्वाशयोमूत्राशयः-स्त्रीणांगर्भाशयोऽष्टम इति॥ सु. शा० ५।८

आशयोधिष्ठानम्। पित्ताशयादधः पक्वाशयः। तस्यैकदेशे च विभक्तमलाधार उण्डुको विद्यते। अत उण्डुकात् पक्वाशयो भिन्न इत्यर्थ × ×॥ —डल्हन

दोषादिके अधिष्ठान अर्थात् जिनमें दोषादि विशेष रूपसे रहते हैं—उन्हें आशय कहते हैं। पुरुषोंमें आशय निम्न सात होते हैं—वाताशय, पित्ताशय, कफाशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय। स्त्रियोंमें आठवाँ गर्भाशय अधिक होता है।

स्रोत तथा आशय अन्य अवयवोंसे भिन्न प्रायः नहीं हैं—

स्रोतों और आशयोंके विषयमें यह विशेष जानना चाहिए कि ये सभी फुफ्फुस, बृहदन्त्रादि नामतः निर्दिष्ट अवयवोंसे भिन्न अवयव ही हों सो बात नहीं। यथा, फुफ्फुस प्राणवह स्रोतोंका समुदाय अथवा मुख्यत्वेन प्राणवह स्रोत ही हैं। एवं क्षुद्रान्त्र, बृहदन्त्र, उण्डुक, उत्तरगुद, अधरगुद ये अवयव महास्रोतस्के ही भाग हैं। प्राणादिका वहन करनेवाला होनेसे—स्रवणरूप विशिष्ट क्रियाके कारण फुफ्फुसादिको स्रोतोंमें परिगणित किया है।

इसी प्रकार बहुधा आशय भी विभिन्न नामतः निर्दिष्ट अवयवों या स्रोतोंसे पृथक् नहीं हैं। यथा, श्लेष्माशय फुफ्फुस ही हैं, क्योंकि इनमें श्लेष्मा विशेषरूपसे रहता है। आमाशय भी श्लेष्माशय है। बृहदन्त्र ही पक्वाशय है। यकृत्-प्लीहा रक्ताशय हैं। टीकाकारोंने क्षुद्रान्त्रको पच्यमानाशय कहा है।

वात-पित्त-कफकी समता, वृद्धि तथा क्षयका प्रभाव स्रोतों और आशयोंपर होता है, तथा स्रोतों और आशयोंकी अविकृति या विकृति शरीरके आरोग्य और रोगकी कारणभूत है। अतः दोषोंके समान इनकी विकृति और अविकृतिके लक्षण भी सदा दृष्टिगत रखने चाहिये।

दोषोंके तीन अवस्थाओंके सामान्य कारण—

जायन्ते हेतुवैषम्याद् विषमा देहधातवः।
हेतुसाम्यात् समाः × × × ॥ च० सू० १६।२७

सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु॥ च० सू० १।४४

× × भवति सत्तामनुभवन्तीति भावा द्रव्यगुणकर्माणीत्यर्थः। × × ×॥ —चक्रपाणि

त्यागाद् विषमहेतूनां समानां चोपसेवनात्।
विषमा नानुबध्नन्ति जायन्ते धातवः समाः॥ च० सू० १६।३६

समानगुणाभ्यासो हि धातूनां वृद्धिकारणम्॥ च० सू० १२।५

प्रकोपणविपर्ययो हि धातूनां प्रशमकारणम्॥ च० सू० १३।६

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविकारैरभ्यस्यमानै-र्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाप्याहारैरभ्यस्यमानैः॥
च० शा० ६।९

× × समाना एव परं गुणा यस्य तत् समानगुणं, यथा—मांसं मांसस्य; समानगुणभूयिष्ठं यदल्पसमानगुणं; यथा—शुक्रस्य क्षीरम्। क्षीरस्यातिद्रवत्वाच्छुक्रेऽल्पसमानगुणम्। अभ्यस्यमानै-रित्यनेन सकृदुपयोगाद् वृद्धिं ह्रासं च निषेधयति × ×॥ —चक्रपाणि

दोषों, धातुओं और मलोंके साम्यको स्थिर रखनेका नियम संक्षेपमें यह है कि जो देश, काल, आहार, औषध या विहार जिस दोष, धातु या मलके समान गुणवाले हों उनका सेवन उस दोष, किंवा मलकी वृद्धि करता है; अथवा यदि वह दोष, धातु या मल क्षीण हो तो उसकी क्रमशः वृद्धि करके उसे समावस्थामें लाता है। एवं जो देश, कालादि जिस दोष, धातु या मलके विपरीत गुणवाले हों उनका सेवन करनेसे उस दोष, धातु या मलका क्षय (ह्रास) होता है; अथवा यदि वह दोष, धातु या मल वृद्धिको प्राप्त हुआ हो तो उसके सेवनसे उस दोषादि की क्रमशः क्षीणता होकर वह समावस्थाको प्राप्त होता है। इस विषयमें यह स्मरण रखना चाहिये कि जो कारण समानगुणवाला होनेसे एक द्रव्यकी वृद्धि करता है वह विपरीत गुणवाले अन्य द्रव्यको क्षीण करता है। एवं, जो कारण विरोधिगुणयुक्त होनेसे एक द्रव्य (दोषादि) को क्षीण करता है, वह अपने समानगुणवाले अन्य द्रव्यकी वृद्धि करता है। यथा, दूध समानगुणवाला होनेसे कफ, शुक्र इत्यादिकी वृद्धि करता है, परन्तु विपरीत गुणवाले वातादिको क्षीण करता है।

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः। यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्ततोविपरीतगुणस्य धातोः प्रत्यवायकरं संपद्यते ॥ च० शा० ६।५

× × विरोधिनामिति परस्परविरुद्धगुणानाम्। यद्धि भेषजं यथा क्षीरं कफशुक्रादिवृद्धिकरं, तत् कफशुक्रादेर्विपरीतगुणस्य वातादेः प्रत्यवायकरं भवति, ह्रासकरं भवतीत्यर्थः × × × ॥—चक्रपाणि

दोषोंकी तीनों अवस्थाओंमें कर्त्तव्य

शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि। यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति × × ॥

च० शा० ६।४

× × × समेनोचितप्रमाणेन धातूनां मेलकेन सम्यङ्नीरोगतया वहतीति समयोगवाहि। × × लघुना वैषम्येण रोगमात्रजनकेन क्लेशं, महता त्वसाध्यरोगजनकेन वैषम्येण विनाशं मरणं प्राप्नोति शरीरम्। × × × ॥ —चक्रपाणि

× × × प्रकृतिभूतानां तु खलु वातादीनां फलमारोग्यम्। तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिरिति ॥ च० शा० ६।१८

तत्र विधिवत् परिरक्षणं कुर्वीत ॥ सु० सू० १५।६

तत्रेति तेषु वातादिषु प्रकृतिस्थेषु। विधिरत्र स्वास्थ्यवृत्तिकः ॥ —डह्लन

दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः, समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः ॥ सु० चि० ३३।३

× × क्षीणाः क्षयलक्षणैर्ज्ञाताः। कुपिता अल्पतया कोपमापन्नाः संशमनविधानेनैव प्रशमयितव्याः, प्रकर्षेण वृद्धाः स्वस्थानाचलिताः संशोधनविधिना निर्हर्तव्याः। वृद्धिर्हि द्विविधा—चयलक्षणा प्रकोपलक्षणा च; तत्र संहतिरूपा वृद्धिः चयः, विलयनरूपा वृद्धिः प्रकोपः; तयोर्विलयनरूपवृद्ध्या वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्याः। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविधः—चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च; तत्र चयपूर्वकं कोपमागताः संशोधनविधानेनैव शमयितव्याः। स्वस्थानस्था रक्ष्या इति सिद्धान्तः। समाः स्वास्थ्यकराः स्वस्थवृत्तिविधानेनैव परिपाल्या इति ॥ —डह्लन

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोषधातुमलान् भिषक्।
तावद् यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम् ॥ सु० सू० १५।४०

× × क्षपयेदिति वृद्धान् दोषधातुमलान् ह्रासयेदित्यर्थः। बृंहयेदिति तानेव क्षीणान् वर्धयेत् × × ॥ —डह्लन

तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

स्वयोनिवर्धनान्येवेति पीतरूक्षादीनि × × ॥ —डह्लन

तत्रापिस्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।३०

स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण समानगुणेन समानगुणभूयिष्ठेन वा। समानेन द्रव्येण यथा—रक्तं रक्तेन वर्धते, मांसं मांसेन, मेदो मेदसा, अस्थि तरुणसंज्ञकेनास्थ्ना, मज्जा मज्ज्ञा, शुक्रं

शुक्रेण। समानगुणेन यथा, रक्तक्षये तैजसद्रव्योपयोगः, तेजोगुणभूयिष्ठद्रव्योपयोगो वेत्यादि बोद्धव्यम्। द्रव्यग्रहणमुपलक्षणं, तेन कर्मापि यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यम् ××× ॥—डल्हन

तेषां यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत ॥

सु० सू० १५।१७

×× क्षपणमत्र संशमनम्। ×× क्रियाविशेषैरिति क्रियाः संशमनसंशोधनाहाराचाराख्याः ॥

—डल्हन

दोषों, धातुओं और मलोंका साम्य बना रहे तभी शरीर स्वस्थ रहता है। अतः दोषादि यदि समावस्थामें हों तो स्वस्थवृत्तोक्त चर्याका पालन करते हुए इस समताको बनाये रखना चाहिये।

दोष यदि विषम हों और उनका वैषम्य अल्पमात्र हो तो वे शरीरके आरोग्यका कारण होते हैं; परन्तु वैषम्य असाध्य कोटिमें पहुँच गया हो तो ये दोष मृत्युका कारण बनते हैं। अतः इनकी विषमता दूर करके इन्हें समावस्थामें लाना चाहिये। विषमताके क्षय और वृद्धि ये दो भेद होनेसे उसके साम्यका उपाय भी भिन्न होता है। दोष, धातु और मल यदि क्षीण हों तो उन्हें अपने-अपने वृद्धि करनेवाले समानगुणयुक्त द्रव्यों और समान कर्मोंके सेवनसे बढ़ाना चाहिये। पर यह वृद्धि इतनी न होनी चाहिये कि समताका उल्लङ्घन कर जाय।

क्षीण धातुओंकी वृद्धि करनेवाले द्रव्य संक्षेपमें तीन प्रकारके हैं—समान, समानगुण तथा समानगुणभूयिष्ठ। जिस धातुकी वृद्धि करना अभीष्ट हो वही धातु यदि अन्य प्राणियोंके शरीरसे आहारके रूपमें लिया जाय तो उसे समान कहते हैं। यथा, रक्तकी वृद्धिके लिये रक्त, मांसके लिये मांस इत्यादि समान द्रव्य कहे जाते हैं। इनका निर्देश आगे प्रत्येक धातुके प्रकरणमें होगा। समान द्रव्यसे धातुकी वृद्धि सबसे अधिक होती है। समान द्रव्य सुलभ न हो या उसका सेवन घृणावश शक्य न हो तो जिस धातुकी वृद्धि करनी हो उसके समान गुणवाले द्रव्य लें; यथा रक्तका क्षय होनेपर उसके साम्यके लिये तत्समान गुणवाले आग्नेय द्रव्योंका सेवन करें। समानगुण द्रव्योंके भी अभावमें ऐसे द्रव्य लें जिनमें अन्य गुण भले हों पर समान गुण अन्य गुणोंकी अपेक्षया अधिक हों।

वृद्धिको प्राप्त हुए दोषोंका साम्य दो प्रकारसे किया जाता है—संशमन करनेवाले आहार-विहार तथा औषध द्रव्योंद्वारा अथवा संशोधन (वमन-विरेचनादि) करनेवाले आहारादि द्वारा संशमन या संशमन वृद्धिकी अवस्थाके भेदसे प्रयुक्त होता है। अर्थात् प्रथम तो वृद्धि दो प्रकारकी होती है—दोषोंका संचयरूप तथा उनके प्रकोपरूप। संचयावस्थामें दोषोंका संशमन करना चाहिये तथा प्रकोपावस्थामें संशोधन करके उन्हें शरीरसे बाहर निकाल देना चाहिये। प्रकोप, जिसमें दोष शरीरावयवोंमें स्थित होकर विकार उत्पन्न करनेकी स्थितिमें होते हैं, दो प्रकारका है—संचयपूर्वक तथा संचयनिरपेक्ष। इनमें संचयपूर्वक प्रकोपकी चिकित्सा संशोधनद्वारा करनी चाहिये तथा संचय-निरपेक्ष प्रकोपको संशमन उपायोंसे समावस्थामें लाना चाहिये।

चिकित्साका प्रयोजन—

विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते।
सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ च० सू० ९।४

धातवो वाताद्यो रसादयश्च तथा रजःप्रभृतयश्च। तेषां वैषम्यं व्यवह्रियमाणस्वास्थ्यहेतोः स्वमानान्न्यूनत्वमधिकत्वं वा। साम्यं धातुसाम्यं प्रकृतिरारोग्यम् ××× ॥ —चक्रपाणि

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम् ॥ च० सू० १६।३४
रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता ॥ अ० हृ० सू० १।२०
... ... कार्यं धातुसाम्यमिहोच्यते ।
धातुसाम्यक्रिया चोक्ता तन्त्रस्यास्य प्रयोजनम् ॥ च० सू० १।५३

शरीर और मानस दोषों, रसादि धातुओं, उपधातुओं तथा मलोंकी समताका नाम ही प्रकृति, आरोग्य या सुख है। उनके वैषम्यको ही दुःख, विकार या रोग कहा जाता है। वैषम्यको प्राप्त हुए दोषादिको समावस्थामें लाना ही वैद्यका कर्म है। इसीका नाम चिकित्सा है। यही आयुर्वेदशास्त्रका प्रयोजन है।

स्वस्थ पुरुषका लक्षण बताते हुए यही बात संहिताकारने प्रकारान्तरसे कही है। देखिये—

स्वस्थ पुरुषका लक्षण—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥ सु० सू० १५।४१

× × × आत्मा देहः, अन्ये कर्मात्मा बद्धपुरुषः ; तस्य निर्विकारस्यापि शरीरगुणदोषाभ्यां बद्धत्वम् × × मन इन्द्रियानुग्राहकमन्तःकरणम् × × × ॥ —डल्हन

× × × धातुग्रहणेन उपधात्वादीनां धारकाणां ग्रहणम्। अग्न्यादिसमतयैव दोषाः समा लक्ष्यन्ते × × × ॥ —चक्रपाणि

जिस पुरुषके शरीर और मानस दोष, जठराग्नि तथा धात्वग्नि, रसादि धातु, त्वचादि उपधातु, पुरीषादि मल और इनकी क्रिया सम हों, तथा जिसका आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार)[1] प्रसन्न-निर्मल, लघु, अपना कार्य करनेमें पटु हों, उसे स्वस्थ कहते हैं।

दोषादिके साम्य और वैषम्यका अर्थ ही आरोग्य और रोग होनेसे, इनका, विशेषकर इनमें मुख्य दोषोंका अपने-अपने लक्षणोंकी सहायतासे ज्ञान परमावश्यक है।

दोषोंकी दुर्बोधता—

नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः।
विकृताः प्रकृतिस्था वा तान् बुभुत्सेत पण्डितः ॥ च० सू० १८।४८

× × बुभुत्सेत ज्ञातुमिच्छेत् ॥ —चक्रपाणि

लोके वाय्वर्कसोमानां दुर्विज्ञेया यथा गतिः।
तथा शरीरे वातस्य पित्तस्य च कफस्य च ॥ च० चि० २८।२४७

बाह्य सृष्टिमें जैसे वायु, सूर्य और चन्द्रकी गति दुर्ज्ञेय है उसी प्रकार शरीरमें उनके प्रतिनिधि वात, पित्त तथा कफकी भी गति दुर्ज्ञेय है। तथापि विद्यार्थीको अप्रमत्त होकर इनकी प्राकृत तथा वैकृत अवस्थाओंके ज्ञानमें संलग्न रहना चाहिये।

१—मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्। —शंकर स्वामी

दोष आदिका सर्वसामान्य नियत प्रमाण नहीं है--

संहिताकारोंने शरीरान्तर्गत दोषों, धातुओं, मलों तथा इतर अवयवोंका सर्वसामान्य प्रमाण अञ्जलिके रूपमें बताया है[1]। परन्तु सत्य स्थिति यह है कि—

वैलक्षण्याच्छरीराणामस्थायित्वात् तथैव च।
दोषधातुमलानां तु परिमाणं न विद्यते ॥ सु॰ सू॰ १५।३७

× × वैलक्षण्याद् विसदृशत्वात्; विसदृशत्वं चात्र वातादिप्रकृति–रसरक्तादिसार–संहनन–दीर्घह्रस्वादिकायभेदेन। अस्थायित्वात् तथैव चेति अनवस्थितत्वात्; अस्थायित्वं च द्विविधेऽपि काले नित्यग आवस्थिकेऽपि च; तत्र नित्यगे प्रातः श्लेष्मोपचीयते मध्याह्ने पित्तमित्यादि प्रत्यहमाह्निकचर्यादिभेदेन, तथा हेमन्ते श्लेष्मोपचीयते ग्रीष्मे वायुरित्याद्यार्तवचर्यादि भेदेन; तथाऽऽवस्थिकेऽपि बाल्ये श्लेष्माऽभिवर्धते, तथा बाल्ये शुक्राल्पत्वं, कन्यानामार्तवस्तन्याभावः, युवसु पित्तमुपचीयते, वृद्धेषु वायुरित्यादिना। परिमाणमिति स्वं सर्वतो मानं न विद्यते; तेन कस्यचिदेव क्वचिदेव मानं कर्तुं शक्यते न सर्वत इत्यर्थः ॥ —डल्हन

× × दीर्घह्रस्वस्थूलकृशबालवृद्धादीनां शरीरवैलक्षण्यात्, शरीरवैलक्षण्ये च तद्दोषादिमानवैलक्षण्यमित्यर्थः। अस्थायित्वादिति दोषादिभिः संबध्यते। तेन पूर्वाह्ने वसन्ते च कफो वृद्धः, ग्रीष्मे सायं च क्षीणः, इत्यादिना तत्तद्वृद्धिक्षयहेतुप्राप्त्याऽपि दोषधातुमलानामनियतत्वादित्यर्थः × × ॥[2] —चक्रपाणि

प्रतिपुरुष प्रकृति, सार, संहनन (शरीर सुविभक्त होना), शरीरकी लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि भिन्न होते हैं। इस भेदके कारण शरीरान्तर्गत दोष, धातु, मल इत्यादि प्रत्येक पुरुषमें औसतन इतने होने चाहिये ऐसी इयत्ता बाँधना संभव नहीं है। इसी प्रकार ऋतु आदि नित्यग तथा बाल्य आदि आवस्थिक उभय कालोंमें दोषादिका प्रमाण परिवर्तित होता रहता है। यथा—प्रातः श्लेष्माकी वृद्धि होती है, मध्याह्नमें पित्तकी, सायं कफका क्षय होता है इत्यादि रूपसे दिन और रात्रिके भिन्न-भिन्न कालमें दोषोंका प्रमाण न्यूनाधिक होता है। एवं, वसन्तमें श्लेष्माकी अधिकता होती है, ग्रीष्ममें उसकी क्षीणता तथा वायुकी वृद्धि इस प्रकार ऋतुभेदसे दोषोंके प्रमाणमें परिवर्तन होता है। इसी प्रकार बाल्यकालमें कफकी अधिकता, शुक्रकी अल्पता, कन्याओंमें आर्तव और स्तन्यका अभाव, यौवनमें पित्तकी तथा वार्धक्यमें कफकी वृद्धि इत्यादि प्रकारसे विभिन्न अवस्थाओंमें दोषों तथा तदनुसार धातु, मलादिका प्रमाण बदलता रहता है। अतः, दोषादिकी सर्वसामान्य इयत्ताका निर्देश नहीं किया जा सकता।

तापमान, ब्लडप्रेशर आदिकी अनियतता—

इस प्रसंगमें यह भी जानना चाहिये कि आयुर्वेदमतसे तापमान, ब्लडप्रेशर, आहार, (कैलोरीके रूपमें) नाडीकी प्रतिमिनट गति, भार, ऊँचाई इत्यादि का भी सर्वसमान नियत प्रमाण नहीं है। कारण, कफप्रकृति पुरुषोंमें कफकी मन्दताके कारण तापमान इत्यादि मन्द और अल्प तथा

१—देखिये—च॰ शा॰ ७।१५। यह सूत्र आगे रसधातुके अधिकारमें उद्धृत किया है।

२—स्मरण रहे—चरकने भी शारीर पदार्थोंका अञ्जलियोंके रूपमें प्रमाण बताते हुए भी उन्हें तर्क्य (अनुमानगम्य) ही कहा है—

तच्च (अञ्जलिसंख्येयं) वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव ॥ च॰ शा॰ ७।१५

कफकी गुरुताके कारण शरीर गुरु (भारी) होता है। पित्तकी तीक्ष्णता आदिके प्रभावसे पित्त-प्रकृति पुरुषोंमें आहारकी मात्रा अधिक होती है, भले उनमें वैसी पुष्टि तथा गुरुता न हो। एवं तापमानादि भी कफप्रकृति पुरुषोंकी अपेक्षया अधिक होते हैं। वातके चाञ्चल्य (अस्थिरता, अनियतता) के कारण वातप्रकृति पुरुषोंमें तापमान, आहारशक्ति (अग्नि) आदि बदलते रहते हैं। वाताधिक पुरुषोंमें तापमानादिके परिवर्तनका अन्य भी कारण है और वह यह कि वायु योगवाह[1] है—अर्थात् वह कफ या पित्त जिसके साथ संयुक्त होता है उसके गुणको धारणकर लेता है। कफकी अल्पकालिक अधिकता होने पर वायु उसके मन्दता, शैत्य आदि गुणोंको ग्रहणकर लेता है, तथा पित्तकी किंचित्कालिक वृद्धि होने पर उसके तीक्ष्णता, दाह आदि गुणोंको धारण करता है। तापमान आदिकी अनियतताका यह आयुर्वेदीय सिद्धान्त आयुर्वेदके विद्यार्थीको सदा दृष्टिगत रखना चाहिये।

अनुसंधान द्वारा प्रकृतिभेदसे तापमानादिकी भिन्नताविषयक इस सिद्धान्तकी परीक्षा करनी चाहिये। इस बातकी भी गवेषणा होनी चाहिये कि प्रकृतिभेदसे रक्तके रक्तकण, विभिन्न क्षत्रकण (श्वेतकण) इत्यादिका प्रमाण भी प्रतिपुरुष भिन्न होता है या नहीं ?

दोष आदिकी विषमता जाननेका उपाय—

दोष, धातु इत्यादि शरीर पदार्थोंका सर्वसामान्य नियत प्रमाण न होते हुए प्रतिशरीरमें उनका एक नियत प्रमाणमें रहना आवश्यक है। इसी नियत प्रमाणको सम[2] प्रमाण कहा जाता है। इस समप्रमाण तथा इसके वृद्धि-क्षय-रूप वैषम्यका ज्ञान चिकित्साके लिए आवश्यक है। इसके ज्ञानका उपाय संक्षेपमें यह है—

एषां समत्वं यच्चापि भिषग्भिरवधार्यते।
न तत् स्वास्थ्यादृते शक्यं वक्तुमन्येन हेतुना ॥
दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक् ॥ सु० सू० १५।३८-३९

× × एषामिति दोषधातुमलानाम् × × ॥ —डह्लन

दोष, धातु-उपधातु, मल तथा अन्य शरीरावयव सम हैं या विषम इसका निर्णय पुरुषके स्वास्थ्य और अस्वास्थ्यके द्वारा किया जा सकता है। स्वस्थताके लक्षण 'समदोषः समाग्निश्च' इत्यादि ऊपर दिये हैं, तथापि इनमें प्रधान लक्षण है—इन्द्रियोंकी प्रसन्नता। इसीके भावाभावको देखकर दोषादिकी समता और विषमताका अनुमान करना चाहिये।

आत्मादिकी प्रसन्नता—स्वास्थ्यका मुख्य लक्षण—

× × × अथ समाग्नित्वाद्यपि अन्तर्वर्तितया दुर्विज्ञेयं कथं ज्ञेयमित्याह—प्रसन्नात्मेन्द्रियमना इति। आत्मादिप्रसन्नता हि दुःखरूपाग्निवैषम्यात्मकविकारविरहितत्वेन भवति, न हि दुःखयोगे

1—वायुकी योगवाहता—योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥ च० चि० ३।३८
× × योगाद्योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः। परमिति अत्यर्थम् × × ॥ —चक्रपाणि

2—Normal—नॉर्मल।

सत्यात्मादिप्रसन्नता भवति ×× तेन प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणम् व्यभिचारि व्यक्तं च; तत्परिकरतया वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधानमिति युक्तं पञ्चासः ॥ सु० सू० १५।४१ पर
—चक्रपाणि

इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्यका नियत और स्पष्ट लक्षण है। समदोषता इत्यादि इतर लक्षण उसीकी पुष्टि तथा वैद्यकसिद्धान्तके प्रतिपादनके लिए कहे गये हैं। अहोरात्रके विभिन्न कालों तथा भोजनावस्थाविशेषोंमें जो दोषोंकी क्षय-वृद्धि होती है वह अप्रसन्नताकर अर्थात् दुःखजनक न होनेसे उसे विकृति, रोग, असुख या अस्वास्थ्य नहीं कहा जाता।[1]

प्रसाद और मल—

अबतकके विवेचनसे स्पष्ट है कि प्रत्येक दोष, धातु तथा मलकी दो अवस्थाएँ हैं—सम तथा विषम। अवस्थाभेदसे दो प्रकारके इन शारीर पदार्थोंके ही क्रमशः नामान्तर प्रसाद और मल हैं।—

शरीरगुणाः ('शरीरधातवः' इति पाठान्तरम्) पुनर्द्विविधाः संग्रहेण—मलभूताः प्रसादभूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्याबाधकराः स्युः। तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहा पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः, परिपक्वाश्च धातवः, प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः; ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते, सर्वांस्तान् मले संचक्ष्महे; इतरांस्तु प्रसादे, गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ॥ च० शा० ६।१७

संग्रहेण संक्षेपेण। तेन विस्तरेण धातूपधात्वादिविभागेन बहवश्च भवन्ति। भूतशब्दः स्वरूपे। आबाधकरा इति पीडाकरा इत्यर्थः। पृथग्जन्मान इति पिचोलिकासिंघाणकादिभेदेन नानारूपाः। बहिर्मुखा इति य एवच्छिद्रमलाः प्रभूततया बहिर्निःसरणाभिमुखाः, त एव पीडाकर्तृत्वेन मलाख्याः, ये तु स्रोतउपलेपमात्रकारकास्ते गुणकर्तृतया न मलाख्याः। परिपक्वाश्च धातव इति पाकात् पूयतां गताश्च शोणितादयोऽपि मलाख्याः। किंवा अपरिपक्वाश्चेति पाठः; तदा सामा धातवो मलाख्या इति ज्ञेयम्। कुपिताश्चेति पदेन वातादयः सामान्येन क्षीणा वृद्धा वा गृह्यन्ते; विकृतिमात्रं हि वातादीनां कोपः। ये चान्येऽपीत्यादिना विमार्गगतान् पीडाकारकान् शरीरधातून् तथाऽजीर्णादीन् ग्राहयति। मल इति एकवचनं जातौ। इतरानिति न विकारकरान् स्वमानस्थितपुरीषवातादीन्। पुरीषवातादयोऽपि शरीरावष्टम्भकाः प्रसादा एव गुणकर्तृत्वात्। मलप्रसादभेदेन शरीरगतभावानभिधाय पुनर्द्रव्यगुणभेदेनाह—गुर्वादींश्चेत्यादि। गुर्वादयो द्रवान्ताः पश्चादुक्ता एव। अत्र च ये

१—देखिये—ननु रात्रिदिनभोजनानां तासु तास्ववस्थासु श्लेष्मप्रकोपादिना नित्यं धातुवैषम्यमस्ति तत्कृतो धातुसाम्यमित्याह—सुखसंज्ञकमित्यादि। सुखहेतुः सुखम्, एवं दुःहेतुर्दुःखम्; यतो न दुःखं व्याधिः ××। संज्ञकग्रहणात् परमार्थतोऽसुखमपि लोके सुखमिति यद् व्यवह्रियते, तेन यो ह्यल्पः स नास्त्येवेति कृत्वाऽल्पेऽपि धातुवैषम्ये धातुसाम्यव्यवहारः सिद्धो भवति ××× ॥ च. सू. ९।४ पर
—चक्रपाणि

ननु, द्विविधेऽपि काले नित्यं दोषचयाद्यनुबन्धात् कथं समदोषत्वम्? तथाहि नित्यगे—अह्निके तावत्, प्रातः कफः कुप्यति, मध्याह्ने पित्तमित्यादि; तथाऽऽर्तवेऽपि हेमन्ते कफश्चीयते वसन्ते स एव कुप्यतीति; तथाऽऽवस्थिके च काले 'बाले विवर्धते श्लेष्मा' (सु. सू. ३५।२३) इत्याद्युक्तत्वात्। उच्यते—दोषचयादेरल्पत्वात् अतद्व्यपदेश इति, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनव्यपदेशवदिति ××× ॥ सु. सू. १५।४१पर —डल्हन

मला उपधातवश्च नोक्तास्ते गुर्वादिगुणाधारत्वेन ग्राह्याः। किंवा इतरांस्तु निराबाधान् मलादीन् प्रसादे संचक्ष्महे तथा गुर्वादींश्च तथा रसादींश्च निर्विकारान् द्रव्यगुणरूपान् प्रसादे संचक्ष्महे ॥

—चक्रपाणि

आयुर्वेदमें मल नामसे यों पूर्वोक्त पुरीष, मूत्रादिका ग्रहण होता है, परन्तु प्रायः 'मल' और 'प्रसाद' संज्ञाओंका व्यापक प्रयोग होता है। अवस्थाभेदसे शरीरान्तर्गत दोषों, धातुओं तथा मलोंके दो भेद हैं—मल और प्रसाद, जो भी शरीरगत पदार्थ शरीरको किसी प्रकारकी पीड़ा (हानि) पहुँचाए उसे मल कहते हैं। इसके विपरीत, शास्त्रमें मल शब्दसे गृहीत अथवा अगृहीत जो भी पदार्थ अविकृत तथा सम प्रमाणमें रहते हुए शरीरको पीड़ित नहीं करते, प्रत्युत अपने-अपने प्राकृत कर्मोंसे उसे अनुगृहीत करते हैं उन सबका नाम प्रसाद है। उदाहरणतया, नासिका, नेत्र, त्वचा आदिके विवरोंसे निकलनेवाले विभिन्न मलद्रव्य जब आधिक्यवश बाहर निकलनेको उद्यत होते हैं तब उन्हें मल कहते हैं। कारण, तब उनकी शरीरमें स्थिति पीडाकर होती है। यही द्रव्य यदि सम प्रमाणमें रहते हुए अपने अपने स्रोत तथा त्वचाकी स्निग्धता संपादन करते हैं तो इन्हीं की प्रसाद संज्ञा होती है। एवं, रसरक्तादि धातु तथा उपधातु जब दूषित होकर पूयरूपको प्राप्त हों अथवा साम[1] हों तो इन्हें भी मल कहा जाता है। यही रसरक्तादि धातु तथा वात-पित्त-कफ जब समावस्थामें हों तो प्रसाद-संज्ञक होते हैं। परन्तु जब ये विषम अर्थात् क्षय या वृद्धिको प्राप्त हो जायँ, अपने प्राकृत मार्गसे भिन्न मार्ग (दिशा) में गति करें, किंवा इनकी अन्य किसी प्रकारसे विकृति हुई हो तो ये भी मल कहाते हैं। जीर्ण न हुआ अन्नपान एवं रस-रक्तादि धातु भी शरीरके उपतापक (पीडाकर) होनेसे मल समझे जाते हैं। उधर, जैसा कि ऊपर कहा है, पुरीष, मूत्र, वात आदि प्रसिद्ध मल अदूषित रहकर शरीरका धारण करते हैं, अतः उन्हें प्रसाद—रूप कहा जाता है। त्वचा इत्यादि उपधातु भी अविकृत हों तो प्रसाद ही कहलाते हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष आदि गुण भी विकाररहित (क्षय या वृद्धिको न प्राप्त) दशामें प्रसाद कहे जाते हैं[2]।

१—'आम' का अर्थ आगे देखिये।

२—**दोषोंके दो वर्गों—मल और प्रसाद—संबन्धी अनायुर्वेदीय कल्पना**—नवीन पद्धतिसे विद्यालाभ किये वैद्योंमें प्रत्येक दोषके दो वर्ग माननेको कल्पना बद्धमूल-सी हो गयी है। उनके मतमें प्रथम तो प्रत्येक दोषके अनेकानेक प्रकार हैं। इन प्रकारोंमें एक-एक प्रकार मलरूप अथवा स्थूल तथा शेष प्रसादरूप या सूक्ष्म हैं। कास या वमनमें निकलनेवाला श्वेत-पिच्छिल द्रव्य, जिसे भाषामें 'बलगम' कहते हैं, मलरूप स्थूल कफ है; वमन वेगमें निकलनेवाला पीला, तिक्ताम्लरस द्रव्य, जो पित्त नामसे ही जनतामें प्रसिद्ध है, मलभूत स्थूल पित्त है; एवं, गुदद्वारसे प्रायः सशब्द निकलनेवाला वायु स्थूल मलभूत वायु है। दोषोंके शेष भेद सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, कार्यगम्य (केवल अपने कार्यसे जाने जा सकने योग्य—अनुमेय) तथा प्रसादभूत हैं।

जहाँ तक मैं जानता हूं, मूल आयुर्वेदमें दोषोंके ऐसे दो विभाग या व्यूह नहीं हैं। दोषोंके उक्त दो व्यूह माननेका प्रारम्भ कदाचित् म० म० गणनाथ सेनजीके सिद्धान्तनिदानमें की गयी स्थापनासे हुआ है। कोई-कोई विद्वान् तो और आगे बढ़कर वात-पित्त-कफके कुछ भेदोंको मलरूप, कुछको प्रसाद या धातुरूप तथा कुछको दोषरूप मानते हैं। मेरी नम्र मतिमें ये सब अनायुर्वेदीय कल्पनाएँ हैं। ऊपर धृत चरकवाक्य (च० शा ६।१७) का अनुशीलन करनेसे विदित होगा कि, प्रत्येक दोषका प्रत्येक भेद समावस्थामें धातुरूप है; वही विषमावस्था (क्षय या वृद्धि) में रोगजनक होनेसे दोषरूप है; और वही अत्यधिक होनेसे जब निसर्ग द्वारा उचित मार्गसे बाहर निकाला जाता है तो मलरूप होता है। ऊपर धृत 'शरीरदूषणात्' इत्यादि सुप्रसिद्ध वचनमें, उतने ही प्रसिद्ध वचन "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं

दोष स्वयं मलरूप होकर धातुओं, उपधातुओं, मलों, स्रोतों और आशयोंको भी दूषित करके शरीरमें रोगोत्पत्ति करते हैं। प्रसाद अवस्थामें ये ही शरीरका अपने जीवनोपयोगी कर्मोंसे धारण किये रहते हैं। इनके इन कर्मोंको लक्ष्यमें रखकर शास्त्रमें इन्हें विभिन्न नाम दिये गये हैं।

कुपिता मलाः" (अ० हृ० नि० १।१२) में तथा अन्यत्र स्थान-स्थानपर दोषमात्रको मल, धातु या दोष कहा है। कहीं उनकी दो या तीन श्रेणियाँ निर्दिष्ट नहीं हुई हैं। अगले अध्यायमें धृत च० सु० २८।४ में तो दोषमात्रको आहारके मलभागसे उत्पन्न मल कहा है। उसकी प्रसादरूप द्रव्योंमें भी गणना नहीं की है।

याकृत पित्त, कण्ठादिसे निकलनेवाले कफ तथा गुदद्वारसे निकलनेवाले वायुको केवल मलरूप और दोषोंका स्थूल प्रकार माननेका कारण एकमात्र यह है कि हमने आयुर्वेदीय सिद्धांतोंकी परीक्षाके लिये तथा उन्हें समझनेके लिए वर्तमान विज्ञानको मानदण्ड बना रखा है। वर्तमान चिकित्साशास्त्रमें यकृत्के कार्योंका नित्य वृद्धिको प्राप्त होता हुआ ज्ञान, याकृत पित्तके विविध कल्पोंका चिकित्सामें उपयोग तथा याकृत पित्तकी वृद्धिसे होनेवाले लक्षणोंका व्यवहारमें होनेवाला अनुभव—इन सब बातोंको देखकर कौन कह सकता है कि शरीरमें यकृत् और याकृत पित्तका स्थान अल्प है और याकृत पित्त केवल मलभूत द्रव्य है? इस विषयका विचार करनेके लिए यकृत् तथा याकृत पित्तके आगे कहे गये कर्मोंपर दृष्टिपात करना चाहिये। पच्यमानाशयमें अन्नपानका पाक मुख्यतः अग्न्याशय (pancreas पैन्क्रियास) से क्षरित पाचक पित्तसे होता है। याकृत पित्त अग्न्याशयके पाचक पित्त—अग्निरस—के अन्तर्गत सभी क्रियाकारी रसों (Enzymes एन्ज़ाइम्स) की क्रियाको उद्दीप्त करता है। संभव है, भविष्यमें अग्न्याशयके अन्तःस्रावी पाचक पित्त (आयुर्वेदकी धात्वग्नि) इन्सुलीनपर भी याकृत पित्तका प्रभाव विदित हो; परिणामतया, वैद्यों और जनतामें पित्त नामसे याकृत पित्तको ही ग्रहण करनेका जो प्रचार है, उसे वर्तमान विज्ञानका समर्थन प्राप्त हो।

अब कुछ स्थूल कहे जाने वाले कफके संबन्धमें। हमारे मतमें, जो कफ मुखसे निकलता है, वह समावस्थामें बोधक कफ होता है। आमाशयसे जो कफ निकलता है, वह सम हो तो क्लेदक होता है। कण्ठ (स्वरयन्त्र) और प्राणवह स्रोतों (फुफ्फुस) से जो कफ निकलता है, वह समावस्थामें अवलम्बक कफ होता है। अर्थात् स्थूल कहा जानेवाला कफ भी समावस्थामें धातुरूप होता है। उसे केवल मल कहना आयुर्वेदविरुद्ध है।

अब रही स्थूल तथा मलभूत वातकी बात। इस विषयमें मैं अपनी ओरसे कुछ न कहकर **वृद्धवाग्भटका** एक वचन उद्धृत करता हूं।—"वायुः पुनरग्नेराहारस्य च बह्वल्पतया तस्मात्तस्मान्मूर्च्छनाविशेषादमूर्तः शब्दवान् ईषच्छब्दः प्रचुरोऽल्पो वा पञ्चात्मा कोष्ठे प्रादुर्भवति (अ० सं० शा० ६)॥" यहाँ आहार के मलरूप, तृतीय अवस्थापाक में कोष्ठमें उत्पन्न होनेवाले वायुके विषयमें कहा है कि वही 'पञ्चात्मा' अर्थात् प्राणादिभेद से प्राकृत कर्म करनेवाला पाँच प्रकारका वायु है। इस वचनसे कमसे कम यह अर्थ तो निकलता ही है कि प्राकृत कर्म करनेवाले अन्य भी वायु (वायुवर्गीय द्रव्य) भले ही हों, पर उनमें कोष्ठमें उत्पन्न होनेवाले, आहारके मलरूप वायुका भी स्थान है। इस वायुको केवल मलरूप और स्थूल कहना योग्य नहीं प्रतीत होता है।

यह सब होते हुए भी वात-पित्त-कफके साम्य वृद्धि तथा क्षयका निदान करते हुए वैद्यजन इन्हीं स्थूल कहे जानेवाले वात-पित्त-कफको दृष्टिमें रखते हैं। और तदनुसार योग्य उपचार करते हुए यशोलाभ करते हैं। संभव है, वातवर्ग, पित्तवर्ग तथा कफवर्गके सभी द्रव्य कोपावस्थामें अपने-अपने स्थानों से निकलकर इन मलोंके रूपमें परिणत होते हुए कोष्ठमें आते हों। यह भी संभव है कि, इन स्थूल कहे

वात-पित्त-कफकी विभिन्न संज्ञाएँ—

शरीरदूषणाद् दोषा धातवो देहधारणात्।
वातपित्तकफा ज्ञेया मलिनीकरणान्मलाः॥ शा० पू० ख० ५।२४

वात, पित्त तथा कफ प्राकृत अवस्थामें शरीरको धारण करते हैं, अतः इन्हें धातु कहा जाता है। इस शब्दमें धारणार्थक (डु) धा (ञ्) धातु है। ये ही वातादि विकृत होकर शरीरको दूषित करते हैं; अतः इनकी दोष संज्ञा भी है। इस शब्दमें विकृति अर्थकी दुष धातु है। यही वातादि विकृत होकर अङ्ग-प्रत्यङ्गको मलिन करते हैं अतः इन्हें मल भी कहा जाता है।

अपने-अपने वैषम्यकारक कारणोंसे विषम हुए दोष, धातुओं, उपधातुओं, मलों और स्रोतों को दूषित करते हैं। इन दूष्योंमें धातुओंका प्राधान्य है। कारण, जैसे उपधातुओं और मलोंकी पुष्टि धातुओंसे होती है वैसे धातुओंकी विकृतिसे ही उनकी विकृति भी होती है। अतः तीन दोषों और सात धातुओंकी तीनों अवस्थाओंके लक्षण, कारण और चिकित्साके ज्ञानमें ही संपूर्ण चिकित्साशास्त्रका समावेश है। इसीलिए आयुर्वेदकी आधारभूत आथर्वणी श्रुतिके आरम्भमें ही 'भिषग्बुभूषु' उपासक कहता है—

'समस्त शरीरोंको धारण करनेवाले जो तीन और सात सर्वत्र व्याप्त हैं, उनके बल (अर्थात् बलाबलके ज्ञान) को ज्ञानके अधिपति ब्रह्मदेव मुझे प्रदान करें। इनके स्वरूपको समझनेकी बुद्धि ब्रह्मदेवकी कृपासे मुझे प्राप्त हो'[1]।

इस मन्त्रका मेधा (ग्रन्थावधारण-शक्ति) के लिए प्रार्थनामें विनियोग है।

अध्यायके प्रारम्भिक प्रकरणोंमें कह आये हैं कि, शरीरान्तर्गत यावत् द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। विभिन्न कारणोंसे इनका प्रतिक्षण नाश होता रहता है। इनकी पूर्ति आहाररूपमें गृहीत अन्नपानसे होती है। क्षयकारी कारणोंसे जैसे इनका क्षय (नाश) होता है वैसे वृद्धिकारक कारणोंसे इनकी वृद्धि होती है। इस विषयको समझनेके लिए शरीरान्तर्गत तथा तद्बाह्य आहारौषध-द्रव्योंका स्वरूप आयुर्वेदमतानुसार जानना आवश्यक है। अगले अध्यायमें हम इसी विषयका निरूपण करेंगे।

क्रियाशारीरबीजं तु समासेनैतदीरितम्।
अध्यायार्धशती प्रायेणास्य व्याख्या भविष्यति[2]॥

गये वातादिका अपने-अपने स्थानोंमें संचय होनेपर किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य स्थानोंपर स्थित वातादि पर प्रभाव पड़ता हो और उनकी भी वृद्धि होती हो।

प्रत्येक दोष अनेक द्रव्योंका वर्ग है; इस विषयका विचार आगे प्रकरणानुसार किया गया है।

१—मूल मन्त्र अध्यायके आरम्भमें देखिये। मन्त्रके 'विश्वा रूपाणि बिभ्रतः' की तुलना इसी अध्यायमें उद्धृत सुश्रुत-वाक्य (सु० सू० २४।८) के 'कृत्स्नं विकारजातं विश्वरूपेणावस्थितम्' इत्यादि पदोंसे कीजिये। इस वाक्यसे विदित होगा कि वातादि दोषों और रसादि धातुओंसे ही अशेष रोगोंकी उत्पत्ति होती है।

अथर्ववेद आयुर्वेदका मूल होते हुए भी उसीके प्रथम मन्त्रका आयुर्वेद परक अर्थ किसी भाष्यकारने नहीं किया है, यह विस्मयकी बात है।

२—स० सू० १।३९ की अनुकृति।

दूसरा अध्याय

अथातो भूतसर्गविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

यद्यपि पूर्वाचार्योंने शारीर तथा शरीरबाह्य द्रव्योंको पाञ्चभौतिक ही स्वीकार किया है तथापि सृष्ट्युत्पत्ति-क्रमसे भूतोंके पूर्व बननेवाले इतर द्रव्योंका निषेध उन्होंने नहीं किया है। किन्तु, दार्शनिकोंके सृष्ट्युत्पत्ति क्रमका स्पष्ट निर्देश करके ही उन्होंने द्रव्योंकी पाञ्चभौतिकतासम्बन्धी अपना सिद्धान्त स्थापित किया है। साथ ही भूतोत्पत्तिके पूर्व बननेवाले सूक्ष्म द्रव्योंको भी किसी न किसी प्रकारसे ग्रहण किया ही है। यह सब होते हुए भी द्रव्योंके विषयमें केवल द्रव्य ही क्यों पदार्थ, द्रव्य, गुण, कर्म आदि सभीके विषयमें दर्शनोंने जो कुछ कहा है उससे बहुत भिन्न और स्वशास्त्रोपयोगी वस्तु आयुर्वेदीय संहिताकारोंने अपनी-अपनी संहिताओंमें कही हैं। उनका विशद वर्णन 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में किया गया है। यहाँ दिङ्मात्र देते हैं।

सृष्टिका मूल कारण—पुरुष अथवा पुरुषसंयुक्त प्रकृति—

आयुर्वेदका सृष्ट्युत्पत्ति विचार सांख्यानुसारी है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु जैसा कि ऊपर कह आये हैं, सृष्ट्युत्पत्तिका क्रम सांख्योंके सदृश निरूपित करके भी आयुर्वेदके आचार्योंने अपने शास्त्रके लिये यह सिद्धान्त विशेषरूपसे स्वीकार किया है कि दिशा, काल और आत्माको छोड़कर चेतन-अचेतन सभी द्रव्य पाञ्चभौतिक हैं। यह सिद्धान्त आयुर्वेदको सांख्योंसे पृथक् करनेवाला है। इसके अतिरिक्त, तटस्थ होकर देखें तो दोनोंमें पार्थक्य प्रदर्शित करनेवाला एक और विचार हमें दिखाई देगा। सुश्रुतने तो आधुनिक सांख्योंके समान सृष्ट्युत्पत्तिका आदिकारण पुरुषसंयुक्त मूलप्रकृतिको ही माना है और इस प्रकार स्थूल द्रव्योंकी उत्पत्तिके कारणभूत पचीस तत्त्व माने हैं। परन्तु चरक सृष्टिका मूल कारण 'अव्यक्त'[1] बताता है, जिसका अर्थ स्वयं उसने 'आत्मा' बताया है। वह इस अव्यक्तसे बुद्धि, अहंकार आदि क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति उसी प्रकार मानता है, जैसे सुश्रुत पुरुषसंयुक्तप्रकृतिसे। इस प्रकार मूल प्रकृतिकी पृथक गणना न होनेसे चरकके मतमें शरीरादि स्थूल द्रव्योंके कारणभूत तत्त्वोंकी संख्या चौबीस[2] ही ठहरती है, जिसका उसने स्पष्ट उल्लेख किया भी है[3]।

१—देखिये—"अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः (च. शा. १।६१)"। "पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते। अव्यक्ताद् व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः (च. शा. १।६७)"। "अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः (च. शा. १।६५)"। "जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याहमिति मन्यते (च. शा. १।६६)"। अन्तिम प्रमाणमें 'मन्यते' क्रिया आत्मापर ही चरितार्थ हो सकती है, अचेतन प्रकृतिपर नहीं; अतः अव्यक्त का अर्थ यहाँ आत्मा ही लेना उचित है। "यथा-प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति × × × (च. शा. ४।८)"—यहाँ भी आत्मासे ही सृष्ट्युत्पत्ति मानी है।

२—देखिये-"चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः (च. शा. १।३५)"। "पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः (च. शा. १।१७)"। "खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहंकारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः (च. शा. १।६३-६४)" ॥ अन्तिम प्रमाणमें कही आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकार मिलकर चौबीस ही होते हैं।

३—सांख्यका मूल चरक है—अव्यक्तका चरकाभिमत अर्थ आत्मा होते हुए भी तथा प्रकृति

मूल प्रकृति—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणम् अष्टरूपमखिलस्य जगतः संभवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम्॥

सु० शा० १।३

एवंभूतमव्यक्तं मूलप्रकृत्यपरपर्यायं सर्वभूतानां कारणमिति पिण्डार्थः। न विद्यते कारणं यस्य तदकारणम्। सत्त्वरजस्तमोलक्षणं सत्त्वरजस्तमःस्वरूपम्। अष्टरूपमिति प्रकृतिभावेनैवाव्यक्तं महानहंकारः पञ्चतन्मात्राणीत्यष्टौ रूपाणि यस्य तत्। × × × सर्वभूतानां कारणमित्यनेन कार्यकारणयोस्तादात्म्यं दर्शितम्, अखिलस्य जगतः संभवहेतुरित्यनेन चाभिव्यक्तिहेतुत्वमिति न पौनरुक्त्यम्। ××× क्षेत्रज्ञानां कर्मपुरुषाणाम्। अधिष्ठानं शरीरभावाय विषयः। उदकभवा औदका नदीनदसरस्तडागादयः; अन्ये त्वौदका भावाश्चराचरा मत्स्यपद्मादयः। —डल्हन

को पृथक् तत्त्व स्वीकार न करनेके कारण चरक मतसे कुल तत्त्व चौवीस होते हुए भी चक्रपाणिने अपनी टीकामें 'अव्यक्त' से प्रकृति सहित पुरुषका ग्रहण करके अपने कालमें तथा अद्यावधि प्रचलित सांख्य मतसे समन्वय करनेका प्रयास किया है। देखिये—"षड्धातुकमेव पुरुषं पुनः सांख्यदर्शनभेदाच्चतुर्विंशतिकभेदेनाह–पुनश्चेत्यादि। चतुर्विंशतिकमेव विभजते–मन इत्यादि। यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुच्यते, यदाह–"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" (सांख्यकारिका ३) इति; तथापीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तत्वसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति; तेन चतुर्विंशतिकः पुरुष इत्यविरुद्धम्; उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदाप्रतिपादनमिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम् × ×" (च. शा. १।१७ पर चक्रपाणि)। —"अव्यक्तं च मूलप्रकृतिः × × उदासीनपुरुषस्तु नित्य एवाव्यक्तशब्देनैव लक्षित इत्युक्तमेव" (च. शा. १।६० पर–चक्रपाणि)। "अव्यक्तवर्जितमिति प्रकृत्युदासीनवर्जितम्" च. शा. १।६५ पर—चक्रपाणि

ये वचन इस बातके स्पष्ट निदर्शक हैं कि चक्रपाणिने चरकके शब्दोंको सर्वत्र ग्रन्थकाराभिमत अर्थसे भिन्न अर्थमें ही बैठानेकी क्लिष्ट कल्पना की है। इस विषयमें वस्तुस्थिति, जिसका प्रतिपादन डॉ० अविनाशचन्द्र दास गुप्तने अपने History of Indian Philosophy (हिस्ट्री ऑफ़ इंडियन फ़िलॉसॉफ़ी) में किया है, यह है कि सांख्यकी विचारधारा दर्शनोंसे आयुर्वेदमें नहीं आयी है, किन्तु आयुर्वेदसे दर्शनमें गयी है। वर्तमान सांख्य सम्प्रदायसे पूर्व एक और सांख्य सम्प्रदाय था जो आत्मासे ही बुद्धि आदि क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति मानता था। इसीका निरूपण चरकने किया है। चरकसंहिताका कर्ता ही इस मतका आदि प्रवक्ता था। उसीके मतका अनन्तर कालमें किंचित रूपान्तर होकर पुरुषके साथ मूलप्रकृतिको भी सृष्टिका आदि कारण स्वीकृत करके पचीस तत्त्वोंकी कल्पना प्रवृत्त हुई।

चरकाभिमत सिद्धान्त उपनिषद आदिके "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद्वायुः × × (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक १)"; "तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति। सोऽकामयत, बहुः स्यां प्रजायेयेति (तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, अनुवाक ६)"; "आत्मैवेदमग्र आसीत् (बृहदारण्यक अ० १। ब्रा० ४। मं० १)"; "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् (शतपथ ११।१।११।१)"; "पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम् (यजुर्वेद अ० ३१) मं. ३"; "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ×× (तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक १)" (अन्तिम प्रमाणके संबन्धमें स्मरण रहे, पञ्चमी विभक्ति 'जनिकर्तुः प्रकृतिः' इस पाणिनिसूत्रके अनुसार कार्यद्रव्यके उपादान कारणके वाचक शब्दमें होती है)

समस्त उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंकी उत्पत्ति तथा अभिव्यक्तिका कारण मूल प्रकृति है। वह सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंवाली है। जैसे नदी, नद आदि जलाशय अथवा मत्स्य, कमल आदि जलोपजीवी प्राणियोंका आधार समुद्र है वैसे कर्म पुरुषोंके देहधारण तथा तज्जन्य अन्य व्यापारों का हेतु यह मूल प्रकृति है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं।

सत्त्व, रज तथा तम वस्तुतः द्रव्य हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण, आदिके समान गुण नहीं हैं।

पुरुषकी तटस्थता—

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः।
चैतन्ये कारणं, नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥ च० सू० १।५६

× × पर इति सूक्ष्मः श्रेष्ठो वा, तेन सत्त्वशरीरात्ममेलकरूपो य आत्मशब्देनोच्यते तं व्यावर्तयति।

× × × द्रष्टा साक्षी; तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन्न रागाद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुख दुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते; दृश्यमानरागादि विकारस्तु मनसि, प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनपरिग्रहाद्भवतीति भावः। सांख्यमते च मनः शब्देन बुद्धिरन्तःकरणं च गृह्यते॥ —चक्रपाणि

सर्वं कारणवद् दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता॥ च० शा० १।१५२

× × सर्वं कारणवदिति सर्वमुत्पद्यमानं बुद्ध्यहंकारशरीरादि। दुःखमिति दुःखहेतुरेव। × × तत्रेति कारणवति बुद्धिशरीरादौ। स्वतेति ममता 'ममेयं बुद्धिः' इत्यादिरूपा॥ —चक्रपाणि

× × × बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा। अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति॥ सु० शा० १।९

सूक्ष्म (कर्म पुरुष-भिन्न) आत्मा निर्विकार अर्थात् ज्ञान, कर्म, रोग, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि विकारोंसे रहित, निर्गुण तथा तटस्थ अर्थात् शरीरमें और शरीरके बाहर प्रकृतिमें होनेवाली क्रियाओंका साक्षी (द्रष्टा) मात्र है। मन, महाभूतोंके शब्दादि गुणों और इन्द्रियोंकी सहायतासे वह शरीरमें चैतन्यका कारण है।

—इन तथा अन्य वचनोंका स्मरण दिलाते हैं। वेदान्तका ब्रह्मसे सृष्ट्युत्पत्तिका सिद्धान्त (जन्माद्यस्य यतः—शारीरिक सूत्र अ० १। पा० १। सू० २) भी इस मतसे मेल खाता है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें भी आत्मासे ही सृष्टिकी उत्पत्ति मानी है।

सुश्रुतके निर्माणकाल तक पञ्चविंशतितत्त्ववादी द्वितीय सांख्य-संप्रदाय प्रचारमें आ गया था, यह सुश्रुतके देखनेसे विदित होता है।

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि दार्शनिक विचारधाराका उद्गम आयुर्वेद होनेसे उसके सिद्धान्तोंको समझनेके लिये दर्शन-ग्रन्थोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु स्वयं आयुर्वेदके संहिता-ग्रन्थोंका ही अनुशीलन करना योग्य है। यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि नामतः दर्शनों और आयुर्वेदीय संहिताओंके पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि प्रायः समान होते हुए भी विस्तारमें भारी मतभेद है। इस विषयका सविस्तर निरूपण 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में किया गया है। उसके अध्ययनसे यह भी विशद होगा कि संप्रति महाविद्यालयोंमें दर्शनग्रन्थोंसे पदार्थ विज्ञानकी जो शिक्षा दी जाती है वह आयुर्वेदके आधारभूत सिद्धान्तोंसे तो विद्यार्थीको अलिप्त ही रखती है।

प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले सभी द्रव्य दुःखके हेतु तथा अनित्य हैं। आत्मा उनका कारण नहीं, तथापि मोहवश उसे इनके प्रति ममता उत्पन्न होती है।

आत्माके सांनिध्यसे प्रकृतिकी प्रवृत्ति—

× × सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति, क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥ सु० शा० १।८

प्रधानस्य मूलप्रकृतेः × × ॥ —डह्लन

प्रकृति तथा उससे उत्पन्न हुए तेईस तत्त्वोंमें जो भी उत्पत्ति, स्थिति, नाश इत्यादि संबन्धी प्रवृत्ति दिखाई देती है उसका कारण आत्माका सांनिध्य (संयोग) है। प्रकृति तथा तदुत्पन्न पदार्थ अचेतन हैं, अतः उनमें स्वयं प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं। आत्माके योगसे ही, आत्माको संसारके बन्धनकी दुःखमयता दिखाकर उससे मुक्त होनेकी प्रेरणा करनेके प्रयोजनसे ही, प्रकृतिमें आन्दोलन होता है।

आत्मवाद और वैज्ञानिकोंके अनात्मवादमें सामञ्जस्य—

आशय यह है कि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें जो भी क्रिया अथवा हलचल है उसमें आत्माका आयुर्वेदमतानुसार कुछ कर्तृत्व नहीं है। शरीरमें चैतन्यके जो चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं वे सब मन, बुद्धि, अहंकार तथा सूक्ष्म और स्थूल इन्द्रियोंमें होते हैं, जो सांख्योंके अनुसार प्रकृतिसे तथा आयुर्वेद के अनुसार पञ्चमहाभूतोंसे बने हैं। यह अवश्य सत्य है कि ज्ञान, कर्म आदिके रूपमें चैतन्यके इन लक्षणोंके प्रकट होनेका कारण आत्माका सांनिध्य है, परन्तु स्वयं आत्मामें इनके कारण कोई परिवर्तन नहीं होता। शरीरके समान ही ब्रह्माण्डमें होनेवाली-प्रवृत्तिमें भी आत्माका कुछ कर्तृत्व नहीं है। इस बातको लक्ष्यमें रखा जाय तो वर्तमान वैज्ञानिक जो आत्मा और परमात्माकी सत्ताको अस्वीकार करते हुए या उनकी उपेक्षा करते हुए केवल विज्ञानके नियमोंके आधारपर पिण्ड और ब्रह्माण्डके प्रपञ्चकी व्याख्या करनेका प्रयत्न करते हैं, उनमें और हममें तत्त्वतः कोई भेद नहीं। वे मूलमें ही आत्माको नहीं मानते, और हम मानते हुए भी अकर्ता मानते हैं, जिससे उसका मानना व्यवहारमें न माननेके तुल्य है।

त्रिगुणात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता—

सृष्टिकी आदि कारण प्रकृति तथा उससे उत्पन्न होनेवाले द्रव्योंमें प्राचीनोंने सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण स्वीकार किये हैं। किसीमें कोई गुण अधिक होता है किसीमें कोई तथा अन्य गुण न्यून होते हैं। गुणोंकी न्यूनाधिकतामें भी तारतम्य (विभिन्नता) होती है। तत्-तत् गुणके प्रमाणके अनुसार तत्-तत् गुण-कर्म चेतन-अचेतन द्रव्योंमें होते हैं। प्रत्येक गुणके आधिक्यके कारण कौन-कौनसे गुण-कर्म होते हैं यह आगे कहे उनके लक्षणसे विदित होगा।

ये तीनों गुण यद्यपि चेतन-अचेतन द्रव्यमात्रामें रहते हैं तथापि आयुर्वेदमें इनका व्यवहार मनके स्वरूपका निर्देश करनेके लिये ही होता है। आयुर्वेदमें सभी पदार्थोंको पञ्चभूतोत्पन्न माना है, अतः भूतोंके गुण-कर्मोंके निर्देशके द्वारा ही द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देश किया जाता है। द्रव्यों के गुण-कर्म बतानेके लिये उनके सात्त्विक, राजस, तामस, स्वरूपका विशेष विचार नहीं किया गया है। कारण, सत्त्व, रज, तमका विचार सूक्ष्म होनेसे स्थूल महाभूतोंके विचारको ही व्यवहारोपयोगी समझा गया है। सत्त्व, रज, तमका आश्रय केवल मन सदृश सूक्ष्म द्रव्यके गुण-निर्देशके लिये ही लिया गया है। तदनुसार पुरुषोंके (निर्जीव द्रव्योंके नहीं) सात्त्विक, राजस, तामस ये तीन भेद

कहकर उनके असंख्य सूक्ष्म भेद होते हुए भी उदाहरणत्वेन क्रमशः सात (या आठ), छः और तीन भेद लक्षण सहित बताये गये हैं[१]।

आधुनिक विज्ञानकी संज्ञामें ये सत्त्व, रज और तम क्या हैं इस बातकी व्याख्या करना कठिन है तथापि इतना निश्चित है कि इन गुणोंके अनुसार द्रव्योंका जो वर्गीकरण किया गया है वह अत्यन्त पूर्ण है। सत्त्व गुणके अन्तर्गत जो गुण-कर्म बताये गये हैं, तथा सात्त्विक पुरुषोंका स्वभाव बताते हुए जिन लक्षणोंको एक कोटि (वर्ग) में रखा गया है, वे एक ही पुरुषमें एक साथ मिलते हैं। यही बात रजोगुण तथा राजस पुरुषों एवं तमोगुण तथा तामस पुरुषोंके गुण-कर्मों और लक्षणोंके संबन्धमें भी जाननी चाहिये। इन वर्गों या श्रेणियोंमें कहे दो-चार गुणोंका हमें ज्ञान हो तो अन्य गुणोंका सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

पाञ्चभौतिक वर्गीकरणका श्रेष्ठत्व—

सत्त्व, रज और तमके विषयमें जो बात कही है वही पञ्चभूतोंके वर्गीकरणके संबन्धमें भी कही जा सकती है। सत्त्वादि गुणोंके समान ही महाभूतोंको भी वर्तमान विज्ञानके चौखटमें बैठाना दुष्कर है, तथापि उनके जो गुण-कर्म कहे गये हैं वे सृष्टिमें एक साथ पाये जाते हैं। पार्थिव, जलीय आदि द्रव्योंमें तत्-तत् भूतके आधिक्यके कारण जिन-जिन गुण-कर्मोंका अस्तित्व बताया गया है वे भी एक साथ एक द्रव्यमें उपलब्ध होते हैं। उनके अयोग या हीनयोगसे जो लक्षण शरीरादिमें होते हैं वे भी सब एक साथ एक द्रव्यमें समाविष्ट पाये जाते हैं। इन लक्षणोंका प्रादुर्भाव होनेपर उस-उस भूतके गुणोंकी अधिकतावाले द्रव्योंका सेवन करनेसे अनिष्ट लक्षण दूर होकर उस भूतके गुण प्रकट होते हैं, यह प्रत्यक्ष है।

त्रिदोषात्मक वर्गीकरणकी श्रेष्ठता—

यही बात रोगोंके त्रिदोषात्मक वर्गीकरणके विषयमें भी सत्य है। दोष आधुनिक विज्ञानके मतसे क्या हैं, यह विवाद्य प्रश्न है। तथापि, हम देखते हैं कि दोषोंके जो प्राकृत गुण-कर्म कहे हैं, वे सब एक साथ एक ही पुरुषमें देखे जाते हैं। दोषोंका क्षय होनेपर जो लक्षण होते हैं अथवा उनकी वृद्धि और प्रकोप होनेपर जो चिह्न संहिताकारोंने कहे हैं वे सब भी प्रायः एक साथ एक ही पुरुषमें दृष्टिगोचर होते हैं। तत्-तत् दोषके क्षयकारक द्रव्य, गुण या कर्मका सेवन करनेपर वे ही लक्षण एक साथ देखे जाते हैं, प्रकोपके हेतुओंका अतियोग होनेपर भी वही शास्त्रोक्त लक्षणोंकी परम्परा देखी जाती है एवं उभय अवस्थाओंमें विरोधी द्रव्य, गुण, कर्मका सेवन करनेसे दोषका साम्य होता है। यह सब इस बातका द्योतक है कि वर्तमान विज्ञान इन दोषोंकी व्याख्या कर सके या न कर सके, भविष्यमें भी करे या न करे, इतना निश्चित है कि इस त्रिदोष-सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा सहस्रों वर्षोंके सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षणके आधारपर हुई है और इसे केवल वर्तमान विज्ञानके भुलावेमें आकर छोड़ा नहीं जा सकता।

सत्त्व-रज-तमका लक्षण—

सत्त्वं प्रकाशकं विद्धि रजश्चापि प्रवर्तकम्।
तमो नियामकं प्रोक्तमन्योन्य मिथुन प्रियम्॥

काश्यपसंहिता, सू० २८

१—ये भेद च० शा० ४।३६-१६, सु० शा० ४।८१-९९, काश्यपसंहिता सू० २८, पृष्ठ ३५-३८ तथा 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में देखिये।

सत्त्वका विशेष गुण 'प्रकाश' अर्थात् ज्ञान कराना है। रजका विशेष गुण 'प्रवृत्ति' या चेष्टा है। तमका विशेष गुण उक्त दोनों गुणोंका 'नियमन' करना अर्थात् उन्हें अपने-अपने कार्यमें अति प्रवृत्त होनेसे रोकना है। प्रत्येक गुण अन्य गुणके साथ सहचर-भावसे रहता हुआ अपने विशेष गुणके द्वारा उनकी सहायता करता हुआ—ही अपना प्रकृति-नियत कर्म करता है।

सत्त्वका विशेष गुण ज्ञान होनेसे तथा अन्य गुणोंकी न्यूनता होनेसे सात्त्विक पुरुषोंमें विवेक, क्षमा, संतोष, मृदुता, दया, ह्री (पापकर्म करनेमें लज्जा), सरलता, मन तथा इन्द्रियोंकी निर्मलता, अनासक्ति, लघुता इत्यादि तथा इन सबके परिणाम स्वरूप सुख ये विशिष्टाताएँ होती हैं। रजका विशेष गुण प्रवृत्ति होनेसे तथा अन्य गुणोंकी न्यूनता होनेसे रजोगुण प्रधान पुरुषोंमें द्वेष, तृष्णा अहंकार, मद, लोभ, मात्सर्य, शोक, विषयासक्ति इत्यादि तथा इनके परिणामस्वरूप दुःख ये विशिष्टताएँ होती हैं। तमका विशेष गुण ज्ञान तथा प्रवृत्तिका विरोध होनेसे तामस पुरुषोंमें मिथ्याज्ञान, अज्ञान, निष्क्रियता, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद, दीनता, संक्षेपमें मोह और गुरुत्व—ये विशिष्टताएँ होती हैं।

चेतन-अचेतन द्रव्यमात्रमें ये गुण न्यूनाधिकभावसे रहते हैं। तत्तत् गुणकी न्यूनाधिकताके कारण ही द्रव्योंमें भिन्नता होती है। पाषाण आदि निर्जीव द्रव्योंमें सत्त्व तथा रजकी अत्यन्त अल्पता होनेसे उनमें प्राणियोंके समान ज्ञान तथा कर्म नहीं होते। तथापि उनके परमाणुओंके बनानेवाले विद्युत्कणोंमें एक विशिष्ट गति होती है जो रजोगुणके कारण होती है। यह गति निश्चित प्रयोजनवश होती है। इस प्रयोजनका लक्ष्यमें रखा जाना सूचित करता है कि इन कणोंमें एक प्रकारका ज्ञान होना चाहिये, जिसकी प्रेरणासे ये इस गतिको सतत रखते हैं। इसके अतिरिक्त मूल द्रव्योंके अणुओंमें यह विशेषता देखी जाती है कि ये अणु अमुक ही मूल द्रव्योंके अणुओंसे मिल कर समास बनानेकी प्रवृत्ति रखते हैं, अन्योंके साथ नहीं। यह इच्छा-द्वेष उनमें ज्ञान विशेषकी अथवा सत्व गुणकी विद्यमानताका ही सूचक है।

सूर्य-चन्द्रादि, स्थूल निर्जीव द्रव्योंका विशिष्ट गतिमें रहना, उनमें बुद्धि होनेका अनुमान कराता है।

उद्भिज्जोंमें भी उनकी बुद्धि आदिकी हेतुभूत विशिष्ट और निश्चित क्रिया होती है, जो उनमें रजोगुणके अस्तित्वकी द्योतक है। यह क्रिया एक निश्चित रूपसे और निश्चित प्रयोजनकी सिद्धि के लिए होती है, जिससे इनमें ज्ञान (बुद्धि) और उसका कारण भूत सत्त्व गुण होना सिद्ध है।

पशु-पक्षी आदिमें मनुष्योंके समान विचार शक्ति नहीं होती, परन्तु सहज बुद्धि जिसे अंग्रेजी में 'इन्स्टिंक्ट'[1] कहते हैं, होती है, जिसके कारण ये मानव-बुद्धिको भी चमत्कृत करनेवाले कार्य करते हैं। चेष्टाएँ तो इनमें प्रत्यक्ष ही हैं। यह बुद्धि और चेष्टा इनमें सत्त्व और रजोगुणका अस्तित्व सूचित करते हैं। परन्तु विचार या विचारजनित योजनापूर्वक इनके कर्म न होनेसे इनमें तमोगुण भी विशेष होता है।

यही सहज बुद्धि मानवोंमें प्रतिसंक्रमित क्रिया[2] के रूपमें रहती है, यह तद्विदोंका मन्तव्य है। हमारे अधिकांश कार्य, विशेषतः पचन, श्वसन, हृदयकी गति आदि इस प्रतिसंक्रमति क्रियाके ही उदाहण हैं। इच्छाधीन क्रियाएँ भी पीछेसे बहुधा प्रतिसंक्रमित क्रियाका रूप धारण करती हैं। योगी पुरुष सत्त्व गुणका उत्कर्ष सिद्ध करके श्वसन, हृदय-स्पन्दन आदि क्रियाओंको भी अपने अधीन

१—Instinct.

२—Reflex action रिफ्लैक्स ऐक्शन।

कर सकते हैं। सामान्यतः, मानवमात्रमें स्थित विचार शक्ति उनमें पाषाणादि अचेतनों तथा अर्ध चेतन उद्भिज्जोंकी अपेक्षया सत्त्वगुणके आधिक्यको सूचित करती है। ज्ञान प्रवृत्ति और मोह (अज्ञान तथा निष्कर्मता) के न्यूनाधिक भावसे मानवोंके सात्त्विकादि भेद तो हमारे अति परिचित हैं।

प्रकृतिसे प्रथमें बुद्धिकी उत्पत्ति—

जायते बुद्धिरव्यक्ताद् बुद्ध्याऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहंकारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्।
ततः संपूर्ण सर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते॥ च० शा० १।६६

संप्रति महाप्रलयानन्तरं यथाऽऽदिसर्गे बुद्ध्याद्युत्पादो भवति तदाह-जायत इत्यादि। बुद्ध्याऽहमिति मन्यत इति बुद्धेर्जातेनाहंकारेणाहमिति मन्यत इत्यर्थः। खादीनीति खादीनि सूक्ष्माणि तन्मात्ररूपाणि, तथैकादशेन्द्रियाणि ××। यथाक्रममिति यस्मादहंकारादुत्पद्यते तेन क्रमेण; तत्र वैकृतात् सात्त्विकादहंकारात् तैजससहायादेकादशेन्द्रियाणि भवन्ति, भूतादेस्त्वहंकारात् तामस सहायात् तैजस सहायात् पञ्च तन्मात्राणि ×× तत इति आहंकारिककार्यानन्तरं तन्मात्रेभ्य उत्पन्नस्थूलभूत-संबन्धात्। संपूर्णसर्वाङ्गो जात इति आदिसर्गे जातः॥ —चक्रपाणि

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव॥ सु० शा० १।४

ननु कथमेकमव्यक्तमनेकधर्माणां सर्वभूतानां कारणमित्याशङ्क्याव्यक्तात् सर्वभूतानामुत्पत्ति-क्रममाह—तस्मादित्यादि। तस्मादिति क्षेत्रज्ञाधिष्ठितादव्यक्तात्। महानिति बुद्धितत्त्वम्। तत्तु सत्त्वसमुद्रेकान्निर्मलस्फटिकोपलप्रख्यं चिच्छायासंक्रान्तिप्राप्तचैतन्यं पुरुषवन्नानात्मकमध्यवसेयविषयं निश्चितार्थकारणमित्यर्थः। उत्पद्यते व्यक्ती भवति। तल्लिङ्ग एवेति सत्त्वरजस्तमःस्वभाव एव॥ —डल्हन

अव्यक्तसे (पुरुषसंयुक्त प्रकृतिसे, अथवा केवल पुरुषसे) सृष्टिकी उत्पत्तिका प्रारम्भ होते हुए प्रथम बुद्धि या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। प्रकृति त्रिगुणा होनेसे उससे उत्पन्न बुद्धितत्त्वमें भी ये तीनों गुण होते हैं। इसका कर्म निश्चय करना (अध्यवसाय) है। अन्य गुणोंकी विद्यमा-नता होते हुए भी इसमें सत्त्वगुणका उत्कर्ष (आधिक्य) विशेष होता है।

ऊपर कह आये हैं कि सृष्टिके सूक्ष्मसे सूक्ष्म और स्थूलसे स्थूल, निर्जीव या सजीव सभी द्रव्य एक निश्चिति प्रयोजनके अनुसार अपना-अपना कर्म कर रहे हैं। यह निश्चिति उनमें बुद्धितत्त्व होनेका प्रमाण है। प्रयोजनका निश्चय सब कार्योंमें प्रथम होनेसे प्रकृतिमें उसीकी उत्पत्ति प्रथम हुई और उसके अनुसार एक निश्चित योजनानुसार प्रकृतिमें सृष्टिकी उत्पत्तिके अनुकूल आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। पुराणोंमें बुद्धितत्त्वको ही 'ब्रह्मा' कहा है। प्रकृतिका एक-एक भाग बुद्धिमय हो जानेसे उसे जो रूपान्तर प्राप्त हुआ वही शायद बुद्धि कहलाया।

बुद्धितत्त्वसे अहंकारका प्रादुर्भाव—

तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहंकार उत्पद्यते। स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति॥ सु० शा० १।४

अहंकारोऽभिमान व्यापार लक्षणः। —डल्हन

त्रिगुणमय बुद्धितत्त्वसे त्रिगुणमय ही अहंकार उत्पन्न होता है। इसका लक्षण अभिमान है। एक-एक गुणकी अधिकतासे इसके तीन भेद होते हैं।

सृष्टिके प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने विशेष गुणधर्म होते हैं। जबतक वह पदार्थ विद्यमान रहता है, इन गुण-धर्मोंको नहीं छोड़ता। यही उनका अभिमान है। सृष्टिके पृथक्-पृथक् पदार्थ बनने लगें, इसके पूर्व उनमें उनके विशिष्ट गुणधर्मोंको सुरक्षित रखनेवाला अहंकार तत्त्व उत्पन्न होना आवश्यक है। शायद सारी प्रकृति ही अहंकारमय होनेपर स्वयं अहंकार कहलायी।

प्रत्येक क्रियाके लिए एक उतनी ही बलवती प्रतिक्रिया होती है, यह न्यूटनका प्रसिद्ध नियम अन्य प्रकारसे पदार्थोंमें अहंकार की विद्यमानताको सूचित करता है।

अहंकारके तीन भेदोंसे चेतन-अचेतन द्रव्योंकी उत्पत्ति—

अहंकारके तीन भेद हैं—वैकारिक या सात्त्विक, तैजस या राजस तथा भूतादि या तामस। इन तीनों अहंकारोंसे सृष्टिके चेतन-अचेतन समस्त द्रव्य बने। चेतन द्रव्योंकी विशेषता उनमें इन्द्रियों की विद्यमानता है। इसके विपरीत अचेतन द्रव्य इन्द्रियरहित होते हैं—

सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ च० सू० १।४८

× × यद्यपि चात्मैव चेतनो न शरीरं, नापि मनः, यदुक्तं—"चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते" च० शा० १।७६ इति, तथापि सलिलौष्ण्यवत् संयुक्तसमवायेन शरीराद्यपि चेतनम्। इदमेव चात्मनश्चेतनत्वं यदिन्द्रिययोगे सति ज्ञानशालित्वं, न केवलस्यात्मनश्चेतनत्वं, यदुक्तम्—"आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते" (च० शा० १।५४) इति × × × ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रियोंके साहाय्यसे विषयोंका ग्रहण (ज्ञान) यही चैतन्यका अर्थ है। आत्माको ज्ञान इन्द्रियोंके बिना नहीं होता।

तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात् तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा-श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति। तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; भूतादेरपि तैजससहायात् तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रस तन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति; तेषां विशेषाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ सु० शा० १।४

× × तत्र वैकारिकः सात्त्विकः, तैजसो राजसः, भूतादिस्तामसः। तस्य त्रिविधस्यापि कार्यमाह—तत्रेत्यादि। तत्र सात्त्विकादहंकाराद्राजससहायात्तमोमात्रयाऽनुविद्धात् एकादशेन्द्रियाणि; तल्लक्षणानि प्रकाशलक्षणानि सत्त्वस्य प्रकाशकत्वात्। तान्यहंकारादुत्पन्नानि आहंकारिकाणि इति सांख्ये, वैद्यके तु भौतिकानि। × × उभयात्मकं बुद्ध्यात्मकं कर्मात्मकं च मनः, बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनोऽधिष्ठितानामेव प्रवृत्तेः। भूतादेस्तामसादहंकारात् राजससहायात् सत्त्वमात्रयाऽनुविद्धात्। तल्लक्षणान्येव मोहादिलक्षणान्येव। तत्रानुद्भूतस्वभावानि बाह्येन्द्रियाग्राह्याणि शब्दादीन्येव तन्मात्राणि, तानि च योगिभिरेव ग्राह्याणि। तेषां तन्मात्राणां विशेषा इति अनुभवयोग्यैः सुखदुःखमोहरूपैर्धर्मैर्विशिष्यन्त इति विशेषाः शब्दादयः। तन्मात्राणि तु अविशेषाणि, यतस्तान्यनुभवयोग्यैः सुखदुःखादिभिर्विशेष्टुं न शक्यन्ते, सूक्ष्मत्वात् ॥ —डल्हन

अहंकारकी उत्पत्तिके पश्चात् सृष्टिके दो वर्गों—चेतन और अचेतन-की उत्पत्ति प्रारम्भ होती है। चेतनोंका विशेष धर्म ज्ञान या चैतन्य है, जिसका कारण इन्द्रियाँ हैं। यह ज्ञान सत्त्वगुणका विशेष लक्षण होनेसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति मुख्यतः सात्त्विक अहंकारसे होती है। सत्त्वको ज्ञानमें प्रवृत्त करनेके लिए रजोगुण आवश्यक है, अतः इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें राजस अहंकार सहायक होता है।

इन दोनों गुणोंको नियममें रखनेके लिए तमोगुण प्रधान तामस अहंकार भी इन्द्रियोंकी रचनामें अंशतः भाग लेता है।

इन्द्रियोंके तीन प्रकार हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक दोनों भेदोंकी इन्द्रियोंकी क्रियामें सहकारी होनेसे उभयेन्द्रिय मन।

निर्जीव (अचेतन) द्रव्योंमें इन्द्रियाँ नहीं होतीं। उनकी उत्पत्ति मुख्यतः तामस अहंकारसे होती है। तमोगुणको कार्य प्रवृत्त करनेके लिये राजस अहंकार भी अचेतन द्रव्योंकी उत्पत्तिमें सहायक होता है। इन्द्रियाँ न होते हुए भी अचेतन द्रव्योंमें सत्त्वगुणका चिह्न ज्ञान अव्यक्त रूपमें पूर्वोक्त प्रकारसे रहता ही है, परन्तु उसका प्रमाण अत्यल्प होता है। अतः सात्त्विक अहंकार भी अंशतः अचेतन द्रव्यों की उत्पत्तिमें भाग लेता है।

अचेतन द्रव्य अन्तको पञ्चभूतमय होते हैं। इन पञ्चभूतोंकी उत्पत्ति उनके सूक्ष्म इन्द्रियातीत स्वरूपसे होती है। भूतोंके इस सूक्ष्म रूपको तन्मात्र कहते हैं। प्रत्येक महाभूतका एक-एक तन्मात्र होता है। इस प्रकार तन्मात्र पाँच होते हैं, जिनके नाम ये हैं :—शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। वैशेषिकोंने भूतोंके दो रूप माने हैं— परमाणु रूप और स्थूल रूप। परमाणु रूपको सांख्यमें तन्मात्र तथा स्थूल रूपको भूत कहा गया है। पञ्च तन्मात्र तामस अहंकारसे उत्पन्न होते हैं। इन तन्मात्रोंसे पञ्च भूतोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार तामस अहंकारसे अन्तमें भूतोंकी उत्पत्ति होनेसे उसे 'भूतादि' (भूतोंका आदिकारण) नाम दिया गया है।

स्मरण रहे, लोकमें जिन्हें इन्द्रियाँ कहते हैं, वे दर्शनों तथा आयुर्वेदकी इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ तो सूक्ष्म, केवल अनुमानगम्य और आत्माके साथ रहनेवाली हैं। आत्मा तथा इन यथार्थ इन्द्रियोंके संयोगको लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर कहते हैं। इस सूक्ष्मशरीरके निकलनेके पश्चात् जो अचेतन शरीर रह जाता है, वह पाञ्चभौतिक होनेसे तामस अहंकारका ही परिणाम है। लोकमें प्रसिद्ध इन्द्रियाँ सूक्ष्म इन्द्रियोंके अधिष्ठान या कार्य क्षेत्र हैं। सूक्ष्म शरीर जबतक इस स्थूल शरीरमें रहता है, तबतक ज्ञान और कर्मके रूपमें सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें, चैतन्य व्यक्त होता है।

प्रत्येक तन्मात्रका अपना-अपना विशेष धर्म (गुण) है—शब्द तन्मात्रका शब्द, स्पर्श तन्मात्र का स्पर्श, रूपतन्मात्रका रूप, रसतन्मात्रका रस और गन्धतन्मात्रका गन्ध।

तन्मात्रोंसे महाभूतोंकी उत्पत्ति—

तेभ्यो भूतानि-व्योमानिलानलजलोर्व्यः। एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता॥

सु० शा० १।४

तेभ्यः पञ्चभ्यः शब्दतन्मात्रादिभ्य एकोत्तरपरिवृद्धा व्योमादय उत्पद्यन्ते। तद्यथा—शब्दतन्मात्राच्छब्दगुणं व्योम, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राच्छब्दस्पर्शगुणो वायुः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहितात् रूपतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपगुणं तेजः, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहितात् रसतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगुणा आपः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्राच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी × ×॥

—डह्लन

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥

सु० सू० ४२।३

× × परस्पर भूतानुप्रवेशात् इत्थम् एकोत्तरा वृद्धिर्ज्ञेया॥ —डह्लन

× × तत्रोत्तरोत्तरे भूते शब्दादयो गुणाः पूर्वभूतानुप्रवेशकृताः; शब्दादयस्त्वाकाशादीनां यथाक्रमं नैसर्गिकाः ॥ —चक्रपाणि

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ च० शा० १।२७

× × शब्दादयो यथासंख्यं खादीनां नैसर्गिका गुणा ज्ञेयाः। यस्तु गुणोत्कर्षोऽभिधातव्यः स हि अनुप्रविष्टभूतसंबन्धादेव। तेन पृथिव्यां चतुर्भूतप्रवेशात् पञ्चगुणत्वम्, एवं जलादावपि चतुर्गुणत्वादि ज्ञेयम्। —चक्रपाणि

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ च० शा० १।२८

नैसर्गिकं गुणमभिधाय भूतान्तरानुप्रवेशकृत गुणमाह—तेषामित्यादि × ×। —चक्रपाणि

पञ्च तन्मात्रोंसे (अर्थात् महाभूतोंके सूक्ष्म परमाणु रूपोंसे) पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रत्येक महाभूतमें अपने-अपने तन्मात्रका नैसर्गिक गुण होता है, परन्तु पिछले-पिछले तन्मात्र या भूतके अपने गुण सहित अगले-अगले तन्मात्र या भूतमें अनुप्रवेशके कारण अनुपविष्ट तन्मात्रों तथा भूतोंके गुण अगले-अगले भूतोंमें भी आ जाते हैं। इस प्रकार तन्मात्रोंसे भूतोंकी उत्पत्ति होते हुए—

शब्दतन्मात्रसे शब्दगुणवान् आकाश उत्पन्न होता है, शब्दतन्मात्र और स्पर्शतन्मात्रसे शब्दस्पर्शगुणवान् वायु; शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्रसे शब्द-स्पर्शरूपगुणवान् तेज (अग्नि); शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्रसे शब्द-स्पर्श-रूप-रसगुणवान् जल (अप्) और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्रसे शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध गुणवती पृथिवीकी उत्पत्ति होती है।

महाभूतोंके संयोगसे द्रव्योंकी उत्पत्ति—

तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां समुदायाद् द्रव्याभिनिर्वृत्तिः; उत्कर्षस्त्वभिव्यञ्जको भवति—इदं पार्थिवमिदमाप्यमिदं तैजसमिदं वायव्यमिदमाकाशीयमिति ॥

सु० सू० ४१।३

× × समुदायात् समवायात्। द्रव्याभिनिर्वृत्तिर्द्रव्यजन्मा अभिव्यञ्जको ज्ञापकः ॥ —डल्हन

सर्वकार्यद्रव्याणां पञ्चभूतारब्धत्वं दर्शयित्वा चिकित्सोपयुक्तं पार्थिवत्वादिविशेषमाह—तत्र पृथिव्यप्तेज इत्यादि। समुदायादिति मेलकात् × × ॥ —चक्रपाणि

× × सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम् ॥

च० सू० २६।११ पर—चक्रपाणि

परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति। उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम् ॥ सु० सू० ४२।३

× × अनुप्रवेशात् एकात्मीभावात्। सर्वेषु भूतेषु सर्वेषामाकाशादीनां, सर्वेषु द्रव्येषु इत्यन्ये। सर्वेषु भूतेषु सर्वभूतानां सान्निध्यमस्तीति सर्व एव गुणाः सर्वेषां प्राप्नुवन्तीत्याह—उत्कर्षापकर्षादित्यादि। उत्कर्षो वृद्धिः, अपकर्षो ह्रासः; आकाशाधिके द्रव्ये शब्दोऽधिकः, वाताधिके द्रव्ये स्पर्शोऽधिकः, एवं शेषेषु भूतेषु शेषगुणाः ॥ —डल्हन

प्रकृतिसे बुद्धितत्त्वादि-क्रमसे अन्तमें महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। ये महाभूत एक-दूसरेपर अनुग्रह करते हुए, एक-दूसरेके संसर्गमें आते हैं, तथा एक-दूसरेमें अनुप्रविष्ट (ओत-प्रोत) भी हो जाते

हैं। इनके इस परस्परानुप्रवेशसे ही सृष्टिके यावत् द्रव्य बने हैं। कोई भी भूत अकेला द्रव्योत्पत्ति नहीं कर सकता। प्रत्येक भूतको द्रव्योत्पत्ति करनेके लिये अन्य भूतोंका साहाय्य अपेक्षित होता है। अन्य भूतोंको यह अपेक्षित साहाय्य देकर अनुगृहीत करना प्रत्येक महाभूतका स्वाभाविक गुण है। इस प्रकार परस्परानुग्रह और परस्परानुप्रवेशसे सभी भूत सभी द्रव्योंकी उत्पत्ति करते हैं। तथापि प्रत्येक द्रव्यमें एक-एक भूत अधिक होता है। इस अधिक भूतके अनुसार ही द्रव्योंको पार्थिव, आप्य (जलीय) आदि नाम दिये जाते हैं। जिस द्रव्यमें जिस महाभूतकी अधिकता होती है, उसमें उसके गुण अधिक होते हैं और उन्हींसे वह पहिचाना जाता है[1]।

१—लोक-प्रसिद्ध पृथ्वी, जल आदि महाभूत नहीं—प्राचीनोंके पञ्चभूत आधुनिक विज्ञानकी संज्ञामें क्या हैं, यह कहना कठिन है। तथापि इनके विषयमें इतना तो स्पष्ट ही समझ लेना चाहिये कि लोकमें जिन द्रव्योंको पृथिवी (मिट्टी), जल आदि समझा जाता है, वे दर्शनों अथवा आयुर्वेदके महाभूत नहीं। कारण, असुक-असुक भूतोंके संयोगसे मधुरादि रस अथवा वातादि दोषोंका उत्पन्न होना शास्त्रमें लिखा है। जैसे पृथ्वी और जलके संयोगसे मधुर रस होता है, पृथ्वी और अग्निसे अम्ल इत्यादि। एवं पृथ्वी और जलके योगसे कफ बनता है, अग्निसे पित्त इत्यादि। परन्तु सहस्रों वर्ष भी मट्टी और जलको मिलाकर रखें, उनसे मधुर रस या कफ न बनेगा, नहीं प्रसिद्ध अग्निसे पित्त या अम्लत्व उत्पन्न हो सकता है। इससे सिद्ध है कि महाभूत पृथ्वी, जल आदि प्रसिद्ध द्रव्यों से भिन्न ही द्रव्य हैं। प्रसिद्ध पृथ्वी, जल आदि द्रव्योंमें पृथ्वी महाभूत, जल महाभूत आदिका आधिक्य है, यह और बात है।

परमाणुमात्रमें महाभूतोंका अस्तित्व—सत्य यह है कि द्रव्यमात्रकी उत्पत्ति पाँचों महाभूतोंके समवायसे होती है, यह प्राचीनोंका सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तके अनुसार स्थूल द्रव्योंमें ही नहीं, आधुनिकोंके परमाणुओं (Atoms ऐटम्स) में भी पाँचों महाभूतोंका अस्तित्व होता है।

जिस प्रकार वात, पित्त, कफ तीनों दोष, शरीरकी रचना और क्रियाकी दृष्टिसे इकाई-रूप प्रत्येक शरीर-परमाणु (Cell-सेल) में रहते हैं—शरीर परमाणुओंमें क्रिया और गति उनमें वातके अस्तित्वको द्योतक है, उनमें पाक (द्रव्योंकी रूपान्तर-प्राप्ति) पित्तकी विद्यमानताको सूचित करती है तथा उनकी पुष्टि कफ-द्रव्यके अस्तित्वका अनुमान कराती है—उसी प्रकार बाह्य तथा शारीर द्रव्योंके प्रत्येक परमाणु (Atom ऐटम) में पाँचों भूतोंकी क्रिया लक्षित होनेसे पाँचों भूतोंका अनुप्रवेश होना सिद्ध है।

आधुनिकोंने ज्ञात किया है कि, प्रत्येक परमाणु एक निश्चित व्यूहमें रहकर गति करते हुए अनेक विद्युत्कणोंका समुदाय है। इनमें गुरुत्व या भार तमोगुण या पृथ्वीके कारण है। इनकी गति रजोगुण या वायुके कारण है। इनकी गतिका सप्रयोजन होना उनमें विद्यमान इच्छा बुद्धि या सत्त्वगुणके कारण है। इनका विद्युत्से आविष्ट होना इनमें स्थित अग्नि महाभूतके कारण है। इनके कणोंका परस्पर संयुक्त होना जल तत्त्वके कारण तथा इनके मध्यमें अवकाश आकाशके कारण है।

इस प्रसंगमें एक और बात कही जा सकती है कि आधुनिक विज्ञान भी प्रथम कोई ९६ मूल द्रव्य (Elements-एलीमेण्ट्स) मानता था, परन्तु अब विद्युत्कणिका (Electron-एलेक्ट्रन) रूप केवल एक मूल द्रव्य मानता है। इस प्रकार कमसे कम संख्याकी दृष्टिसे तो दोनों मत एक भूमिका पर आ गये हैं।

पार्थिवादि द्रव्योंका शास्त्रमें अन्यत्र यह लक्षण कहा है कि उनका एक-एक ज्ञानेन्द्रियसे ग्रहण होता है; यथा, घ्राणेन्द्रियसे गन्धगुणवती होनेसे पृथ्वीका, रसनेन्द्रियसे रसगुणवान् होनेसे जलका इत्यादि।

भूतोंके असाधारण व्यवहारोपयुक्त लक्षण—

भूतोंके शब्द, स्पर्श आदि गुण प्रसिद्ध होते हुए भी विशेषतया आयुर्वेदमें पार्थिव, जलीय आदि भौतिक द्रव्योंकी परीक्षा उनके अन्य ही गुणोंमें होती है। शरीरमें तथा शरीरसे बाहर स्थित पार्थिवादि द्रव्योंके गुण यों अनेक हैं। संक्षेपमें, प्रत्येक भूतका तथा उस भूतकी प्रधानतावाले पाञ्चभौतिक द्रव्यका एक-एक असाधारण गुण निम्नोक्त है—

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम्।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्॥ च० शा० १।२९

भूतानामसाधारण लक्षणमाह—खरेत्यादि। अप्रतिघातोऽप्रतिहननमस्पर्शवत्त्वमिति यावत्; स्पर्शवद्धि गतिविघातकं भवति, नाकाशः, अस्पर्शवत्त्वात्॥ —चक्रपाणि

पृथिवी तथा पार्थिव (पृथिवीभूतप्रधान) द्रव्योंका विशिष्ट गुण खरत्व है; जल तथा जलीय (जल भूत प्रधान) द्रव्योंका द्रवत्व; वायु तथा वायवीय द्रव्योंका चलत्व; अग्नि तथा आग्नेय द्रव्योंका उष्णत्व तथा आकाश और आकाशीय द्रव्योंका विशिष्ट गुण गतिका बाधक न होना है।

ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठान तथा विषय—

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि; तद्यथा—त्वग्-जिह्वा-नासिका-अक्षिणी-कर्णौ च। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; तद्यथा—स्पर्शनं-रसनं-घ्राणं-दर्शनं-श्रोत्रमिति। पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; तद्यथा—हस्तौ-पादौ-पायुः-उपस्थो जिह्वा चेति॥ च० शा० ७।७

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, दर्शन और श्रोत्र। ये इन्द्रियाँ प्रत्येक सृष्टिके आरम्भमें प्रत्येक पुरुष (कर्म पुरुष) के लिए पृथक् उत्पन्न होती हैं। मन सहित ग्यारह इन्द्रियों और आत्माके समवायको 'सूक्ष्म शरीर' या 'लिङ्ग शरीर' कहते हैं। यह पहले कह आये हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठान अर्थात् स्थूल शरीरमें इनकी अभिव्यक्तिके आश्रयभूत अवयव पाँच हैं, जो क्रमशः निम्न हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका, नेत्र तथा कर्ण।

पुरुषके करण (साधना)—

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते॥ च० शा० १।५४

करणानीह मनो बुद्धीन्द्रियाणि॥ —चक्रपाणि

इस प्रकार 'अमुक-अमुक इन्द्रियसे ग्राह्य होना' प्रत्येक महाभूत तथा तज्जन्य द्रव्यका एक लक्षण कहा जा सकता है, यद्यपि इस प्रकार इनकी परीक्षा कोई सुगम काम नहीं। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि अमुक-अमुक इन्द्रियसे गृहीत होना ही पार्थिवादि द्रव्योंका एकमात्र धर्म नहीं। उनमें अन्य सादृश्य भी हैं ही; यथा, इस शास्त्रमें उनका शरीरपर प्रभावका सादृश्य।

आकाश महाभूतके विषयमें यह विशेष जानने योग्य है कि वायरलेसके इस युगमें वैज्ञानिकोंने अनेक घटनाओंके स्पष्टीकरणके लिए ईथर नामक सर्वत्र अभिव्याप्त एक द्रव्यकी कल्पना की है, जिसकी आकाशसे तुलना की जा सकती है। आकाशको द्रव्य मनानेवाले प्राचीनोंका मत ईथरकी कल्पनासे समर्थित होता है। परन्तु, आइन्स्टीनने वे सब गुण कर्म अवकाश (Space-स्पेस) के माने हैं, जिनकी सिद्धिके लिए अन्य विद्वानोंने ईथरकी कल्पनाकी है। आकाशको अवकाश-मात्र माननेवाले प्राचीनोंका मत इस मतसे अधिक मेल खाता है।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च॥
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद् वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन॥ च० शा० १।५६-५७

आत्मा अकेला अकिंचित्कर है—ज्ञान, कर्म, फलोपभोग कुछ भी करनेमें असमर्थ है। मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय इन साधनों (करणों) के द्वारा वह इन सब प्रयोजनोंका संपादन करता है।

ज्ञानोत्पत्तिमें आत्मा आदिका सन्निकर्ष—

मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति॥ च० सू० ८।७

मनःपुरःसराणि मनोधिष्ठितानि॥ —चक्रपाणि

ताः (इन्द्रिय बुद्धयः) पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसंनिकर्षजाः॥ च० सू० ८।१२

इन्द्रियबुद्ध्युत्पादसामग्रीमाह—ताः पुनरित्यादि × ×॥ —चक्रपाणि

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते।
सुखदुःखम्.................................... ॥ च० शा० १।१३८

ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान तथा मनके विषयभूत सुख-दुःखका अनुभव, आत्मा, मन, इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ (विषय) के सन्निकर्षसे होता है।

दर्शन ग्रन्थोंमें प्रायः कहा जाता है कि विषय ग्रहणमें आत्माका मनसे, मनका इन्द्रियसे और इन्द्रियका अपने विषयसे संबन्ध होता है। परन्तु यह क्रम विषय-ग्रहणकी इच्छा हो तभी होता है। विद्युत्की झपक आदिमें यह क्रम विपरीत हो जाता है। दर्शनोंमें भी इस बातका कहीं-कहीं निर्देश है। दोनों ही क्रमोंको दृष्टिमें रखकर वैद्यकके ऊपर धृत वचनोंमें इतना ही कहा है कि विषय-ग्रहणमें आत्मा आदिका संबन्ध होता है[1]।

१—ज्ञानेन्द्रियाँ—पाँच या सात—डॉ० बालकृष्ण अमर जी पाठक, प्रिंसिपल-आयुर्वेद कॉलेज, हिन्दु विश्वविद्यालयने अपने 'मानसशास्त्र' में लिखा है कि आधुनिक क्रिया-शारीरमें दो अन्य भी ज्ञानेन्द्रियों तथा उनके विषयोंका उल्लेख है; एक पीडन (Pressure-प्रेशर) या दबावकी संज्ञा ग्रहण करनेवाली मांसपेशियाँ; तथा द्वितीय अन्तःकरणमें स्थित तीन शुण्डिकाएँ (Semicircular Canals-सेमीसर्क्युलर कॅनाल्स) हैं, जिनका कार्य शरीरकी स्थिति तथा उसके परिवर्तनोंकी संज्ञा (सूचना) धम्मिल्लक (Cerebellum-सेरीबेलम) में पहुंचाना है।

विषय विद्वानोंके लिए विचारणीय है। इस सम्बन्धमें यह भी निर्णय करना चाहिये कि ये दो अवयव केवल इन्द्रियाधिष्ठानोंके रूपमें आयुर्वेदमें ग्रहण किये जाने चाहिये कि, साथ ही इनके सूक्ष्म शरीरान्तर्गत दो सूक्ष्म इन्द्रिय भी मानने चाहिये।

तीसरा अध्याय

अथातो भूतकार्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

दोष, धातु-उपधातु, तथा मलोंका साम्य स्वास्थ्यका लक्षण है तथा आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त और चिकित्सा-क्रमका मूल सूत्र है। अपने-अपने अग्नियोंसे परिपाक होनेके परिणाम रूप प्रत्येक धातु, अन्नरससे अपनी पुष्टि करता है। धात्वग्निजनित इस परिपाकसे धातुओंकी पुष्टिके साथ तत्-तत् दोष, उपधातु, और मलकी भी पुष्टि होती है। निरन्तर कार्य करनेवाले इन धात्वग्नियोंको परिपाक के लिए अन्नरस न मिले तो वे स्वयं धातुओंको ही पक्व करके क्षीण कर देते हैं। देखिये—

अग्निके विषय—

आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः पचति।
दोषक्षये तु धातून् धातुक्षये पुनः प्राणान्॥

क्षेमकुतूहल, उ० श्लोक ३

अग्निका कार्य अन्नका पचन करना है। अन्नपानके अभावमें वह मलोंका (प्रमाणसे अधिक मेद, कफ आदि दोष, धातु, मल या आमका) पचन करता है। पचन द्वारा मलोंका भी क्षय हो जानेपर अन्नपान न मिले तो वह धातुओंका अर्थात् सम प्रमाणमें स्थित दोष, धातु और मलका पचन करता है। वे भी परिपक्व होकर क्षीण हो जायँ तो वह प्राणोंका पचन करता है—पुरुषको मृत्युवश करता है[1]। अतः दोष, धातु आदिकी समता बनी रहे, इस हेतु प्रथम आवश्यक यह है कि पुरुष अपने शरीरके लिए उचित अन्नपानका विधिवत् सेवन करे।

१—शारीर क्रियाओंमें अवश्यंभावी ओषजन और कार्बनका संयोग—आधुनिक क्रियाशारीरके मतसे इन वाक्योंका अर्थ यह है कि—शरीरमें होनेवाली समस्त क्रियाएँ चाहे वे एक क्षण के सहस्रांश जितने समयमें देखना अथवा इतने ही समयमें कुछ सोचना जैसी सूक्ष्म क्रिया हो या मल युद्ध और भारी मुग्दर घुमाने जैसी श्रमसाध्य क्रिया हो; अथवा चाहे वह श्वास, हृदयका संकोच-विकास आदि जीवनयोनि (Involuntary; इन्वॉलन्टरी; इच्छाके बिना तथा हमारे अज्ञानमें होनेवाली) क्रिया हो— सबमें आहारके रूपमें गये कार्बन (अङ्गार) तथा श्वास द्वारा प्राप्त ओषजन (Oxygen ऑक्सिजन) का संयोग होकर दहन (Oxidization आक्सिडाइजेशन) होता है। यह कार्बन आहारके परिपाकसे उत्पन्न रसधातुमें स्थित शर्करासे अवयवोंको प्राप्त होता है। पुरुष चाहे विश्रान्तिमय जीवन बितावे, चाहे मानसिक श्रमप्रधान व्यवसाय करे, या कोई अति श्रमसाध्य धन्धा करे। प्रत्येक दशामें उसे आवश्यकता मुख्यतः इसी शर्कराजनक कार्बन-बहुल आहारकी होती है।

लङ्घन या अनशनका शरीरपर प्रभाव—आहार न मिले तो शरीर उल्लिखित क्रियाओंके लिए आवश्यक कार्बन संचित मेद, आम (रोगजनक विषद्रव्य) आदिसे ले लेता है। यह स्थिति रोगोंकी निवृत्तिके लिए किये गये लङ्घन या निपत्कालिक अनशनमें होती है। मेद या आमका उपयोग हो चुकनेपर भी भोजन न मिले तो शरीर मांसपेशी आदिको तोड़-फोड़कर उनके नत्रजन (Nitrogen) को उनसे पृथक् करके शेष रहे कार्बनका उक्त कार्यमें उपयोग कर लेता है। परन्तु, इस प्रकार मांस आदि धातुओंका क्षय होनेसे शरीरको निश्चित क्षति होती है। मांस आदिका अत्यन्त क्षय होनेपर भी अन्न न मिले तो अनेक कारणोंसे शरीर मृत्युको प्राप्त होता है।

आहार साम्यका प्रथम लक्षण—आहारकी पाञ्चभौतिकता—

सूक्ष्म दृष्टिसे शरीरावयव अन्तमें प्रकृति, महत्तत्त्वादिसे बने होनेपर भी आयुर्वेदमें इन्हें पाञ्चभौतिक ही माना गया है। अतः शरीरावयवोंकी सम्यक् पुष्टि, जिस आहारसे होती है वह भी पञ्चभूतमय होनी चाहिये, जिससे प्रत्येक अवयवको अपनी-अपनी पुष्टिके लिए उचित सामग्री मिल सके।

पञ्चभूतात्मके देहे ह्याहारः पाञ्चभौतिकः।
विपक्वः पञ्चधा सम्यक् स्वान् गुणानभिवर्धयेत्॥ सु० सू० ४६।५२६

× × विपक्वः पञ्चधा सम्यगिति पञ्चभिर्महाभूताग्निभिः। गुणानिति गुणशब्देनात्र गुणिनः पृथिव्यादय उच्यन्ते। तेन पार्थिवाः पार्थिवानभिवर्धयन्ति, एवं शेषेष्वपि। × ×॥
—डल्हन

यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥ च० चि० १५।१४

यथास्वमिति यद् यस्यात्मीयम्; सजातीया द्रव्यगुणाः सजातीयान् द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति। तेन द्रव्याणि पार्थिवादिद्रव्यरूपाणि देहधातुदोषमलाख्यानि पुष्णन्ति, गुणास्तु पाकस्थितगन्धस्नेहौष्ण्य गौरवादयो देह गन्धस्नेहौष्ण्यगौरवादीन् पुष्णन्ति। यथा स्वमित्यादिशब्दार्थं स्फोटयति-पार्थिवा इत्यादि। पार्थिवा आहारद्रव्यगुणा देहगतान् पार्थिवानेव द्रव्यगुणान् पुष्णन्ति × ×॥ —चक्रपाणि

दोष, धातु आदि शारीर द्रव्य जिन पञ्च भूतोंसे बने हैं, एवं अपनी पाञ्चभौतिक रचनाके कारण उनमें जो स्निग्धता आदि विभिन्न गुण हैं, वही पाँचों भूत तथा वही गुण आहार-द्रव्योंमें होंगे तभी विभिन्न अग्नियों-द्वारा शरीरके अनुरूप पाक होनेके पश्चात्, ये आहार-द्रव्य शरीरान्तर्गत द्रव्यों और गुणोंका पोषण कर सकेंगे।

समाहार अथवा हिताहार[1]—

इस प्रकार आहार-साम्यका प्रथम सूत्र यह है कि आहार पाञ्चभौतिक[2] होना चाहिये। तथापि पुरुष-मात्रके लिए आहार-द्रव्योंकी अमुक योजना समान रूपसे उपयोगी नहीं हो सकती। पुरुषकी प्रकृति,[3] ऋतु, वय, देश, अन्नपान सेवनके नियम इत्यादि भेदसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंके लिए भिन्न-भिन्न आहार-योजना हितकर होती है। जो आहार-योजना जिसकी प्रकृति, वय आदिके अनुकूल हो उसके दोष, धातु आदिके साम्यको बनाये रखे वह उसके लिए समाहार अथवा हिताहार है।

स्मरण रहे, शारीरिक चेष्टाओंमें उल्लिखित दहनके अतिरिक्त अन्यान्य भी परिवर्तन होते हैं। जिनका यथा-प्रकरण उल्लेख किया जायगा।

१—गीतामें इसीको 'युक्ताहार' कहा है। नव्य क्रिया शारीर में इसे Balanced diet बैलेन्स्ड डायट कहते हैं।

२—आधुनिक परिभाषामें इस बातको यों कह सकते हैं कि—आहारमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदि वे सब द्रव्य होने चाहिये जिनसे शरीर बना है, एवं शरीरको जिनकी नित्य आवश्यकता रहती है।

३—देखिये—च० वि० १।२४-४५; च० वि० २।३—९; सु० सू० ४६।४४६-५१३ तथा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थ।

× × यदाहारजातं समांश्चैव शरीरधातून् प्रकृतौ स्थापयति विषमांश्च समीकरोतीत्येतद्धितं विद्धि, विपरीतं त्वहितमिति × ×॥ च० सू० २५।३३

अनेन च ग्रन्थेन हिताहितत्वं न स्वरूपेण भावानां, किन्तु मात्रादिसव्यपेक्षमिति दर्शितं भवति ॥

—चक्रपाणि

दोष, धातु आदिकी विषमावस्थामें समाहार अथवा हिताहार वह है जो उन्हें पुनः सम स्थितिमें लाए। इससे भिन्न आहार अहिताहार है।

हिताहारका महत्त्व—

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति ॥ च० सू० २५।३१

हिताहारोपयोग एक एवेत्यवधारणेनास्य प्राधान्यं दर्शयति नान्यप्रतिषेधम्, आचारस्य स्वप्नादेस्तथा शब्दादीनामपि कारणत्वेनोक्तत्वात्। × × व्याधिनिमित्तशब्देन सामान्येन जनको वर्धकश्च हेतुरुच्यते ॥

—चक्रपाणि

एकमात्र हिताहार ही पुरुष (शरीर) की वृद्धि करने वाला है। इसके विपरीत अहिताहार रोगोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धिका हेतु है। यद्यपि हित-अहित विहार (चेष्टा), शब्द, स्पर्शादि भी आरोग्य और रोगके हेतु हैं तथापि सबमें आहारका ही अत्यन्त प्राधान्य है। देश, काल, वय आदि विरोधी गुणवाले हों तो भी आहारमें तदनुरूप परिवर्तन कर लिया जाय तो देशादि विपरीत होते हुए भी कोई क्षति नहीं पहुंचा सकते[1]।

तात्पर्य यह है, कि पुरुषकी प्रकृति, सार, वय, देश (उत्पत्ति स्थान तथा निवास स्थान) काल, (ऋतु आदि) व्यवसाय, अग्नि आदि किस दोष, धातु आदिकी पुष्टि (वृद्धि) या क्षयके अनुकूल हैं इस बातका विचार करके उनके साम्यकी रक्षा हो इस दृष्टिसे योग्य आहार तथा विहारका सेवन करनेमें सदा जागरूक रहना आरोग्यके लिए आवश्यक है। परन्तु इस प्रयोजनकी

१—कूनूर (दक्षिण भारत) में भारत-सरकार द्वारा संचालित आहार-संशोधक संस्था (Nutritional Research Pasteur Institute के प्रथम अध्यक्ष ले० कर्नल मैककैरीसनने वर्षोंके सूक्ष्म और अध्यवसाय पूर्ण परीक्षणोंसे सिद्ध किया है कि बंगाली, गुजराती, सिक्ख, जाट, मद्रासी, पठान, अङ्गरेज, कज्ज़ाक आदिके शरीरकी गठन तथा स्वभावका कारण उनका परम्परागत आहार ही है। आहारमें योग्य परिवर्तन करके तत्-तत् देश वा प्रान्तके निवासियोंका ढाँचा ही समूचा बदला जा सकता है। इसी सिलसिलेमें परीक्षणों द्वारा आपने यह भी सिद्ध किया कि अहिताहारसे ही विभिन्न रोग उत्पन्न होते हैं तथा केवल हिताहार देकर औषधके बिना भी रोगोंको दूर किया जा सकता है। यथा, वाइटेमिन ए० रहित आहार कुछ काल देनेसे चूहोंमें पथरी तथा आँखोंमें कुकरे और शुक्र (फूला) उत्पन्न किया जा सकता है तथा केवल दूध देकर उन्हें पूर्ण स्वस्थ किया जा सकता है। आपके परीक्षण चूहोंपर किये गये थे। चूहों पर परीक्षाका कारण यह है कि वे उसी आहार पर तथा उसी देश-कालमें रहते हैं, जिसपर तथा जिसमें पुरुष। इस साम्यसे दोनोंके आरोग्य और रोगके कारण भी समान हैं।

चरकने उल्लिखित वचनमें 'हिताहारोपयोगः' शब्दके अतिरिक्त 'एकः' और 'एव' शब्दोंका प्रयोगकर यह जताया है कि शरीरके रोग और आरोग्यका एकमात्र कारण आहार है। अन्य कोई कारण हो भी तो इसे गौण ही समझना चाहिये।

सिद्धिके लिए प्रथम यह जानना चाहिये कि—किस दोष, धातु, उपधातु तथा मलकी रचना किस महाभूतकी अधिकतासे हुई है, तथा परिणामतया उसमें कौन-कौन गुण हैं ? साथ ही यह भी जानना चाहिये कि किस-किस महाभूतकी अधिकता वाले द्रव्योंमें कौन-कौन गुण-कर्म होते हैं। आहारौषध द्रव्यों के सम्बन्धमें यह ज्ञान होगा तभी उनका दोषादिकी त्रिविध अवस्थाओंमें यथायोग्य उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार शरीरान्तर्गत तथा बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचना तथा तज्जन्य गुण-कर्मोंका ज्ञान आवश्यक होनेसे क्रमशः इनका निरूपण किया जाता है।

दोषोंके उत्पादक महाभूत—

तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति ॥ सु० सू० ४२।५

दोषाणामुत्पत्ति प्रकारमाह—तत्रेत्यादि। आत्मैवात्मेति आत्मैव योनिः, वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः; पित्तमाग्नेयमिति अनलः पित्तस्य योनिरित्यर्थः; श्लेष्मा सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः ॥
—डह्लन

वाय्वाकाशधातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भःपृथिवीभ्यां श्लेष्मा ॥
अ० सं० सू० २०

वायुकी उत्पत्ति वायुसे (पक्षान्तरमें—वायु और आकाशसे), पित्तकी अग्निसे तथा कफकी उत्पत्ति जलसे (पक्षान्तरमें जल और पृथ्वीसे) होती है। यद्यपि बाह्य द्रव्योंके समान दोषोंकी उत्पत्तिमें भी पाँचों महाभूत न्यूनाधिक प्रमाणमें भाग लेते हैं, परन्तु जिस दोषकी उत्पत्तिमें जिस महाभूतका प्रमाण विशेष होता है, उसे उस भूतसे उत्पन्न कहा जाता है। अपने उत्पादक महाभूतोंके अनुसार प्रत्येक दोषमें भिन्न-भिन्न प्रकृति-नियत गुण-कर्म होते हैं। इनका सविस्तर निर्देश आगे प्रत्येक दोषके अधिकारमें किया जायगा।

धातुओं, उपधातुओं और मलोंके उत्पादक महाभूत—

× ×. तत्र वायोर्वायुरेव योनिः पित्तस्याग्निः, कफस्यापः, रक्तं तेजोजलात्मकं, मांसं पार्थिवं, मेदो जलपृथिव्यात्मकम्, अस्थि पृथिव्यनिलात्मकं, मज्जा शुक्रं चाप्यं, मूत्रं जलानलात्मकं, पुरीषं पार्थिवम्, आर्तवमाग्नेयं, स्वेदः स्तन्यं चाप्यम् ॥ सु० सू० १५।८ पर —चक्रपाणि

तत्र स्वयोनिद्रव्याणामवबोधार्थं धातुमलोपधातुषु श्लोकाः कथ्यन्ते—"यद्यपि पञ्चभूतानां वाच्यः पाको द्विधा पुनः। तथाऽप्यपां प्रधानत्वाद्रसः सौम्योऽभिधीयते ॥ अतिरिक्ता गुणा रक्ते वह्नेर्मांसे तु पार्थिवाः। मेदस्यम्बु भुवोरस्थ्नि पृथिव्यनिल तेजसाम् ॥ मज्ज्ञि शुक्रे च सोमस्य मूत्रेऽम्बुशिखिनोर्गुणाः। भुवो विश्यार्तवे त्वग्नेः प्रस्वेदस्तन्ययोरपाम्। इति धातुमलेषूक्ता गुणाः प्राधान्यतः स्थिताः ॥ प्रायेण भूगुणा गर्भे स्तोका ह्यन्यगुणा अपि ॥ इति ॥ सु० सू० १५।१० पर —डह्लन

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य। पाञ्चभौतिकं त्वपरे जीवरक्तमाहुराचार्याः।

विस्रता द्रवता रागः स्पन्दनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणा ह्येते दृश्यन्ते चात्र शोणिते ॥ सु० सू० १४।७-९

रक्तार्तवयोः सौम्यरससंभूतयोरपि स्वभाव भेदं दर्शयन्नाह—आर्तवमित्यादि। तुशब्दोऽत्र भेदे, तेन रसाद् सौम्याज्जातमप्यार्तवं शोणितञ्चाग्नेयम्। × × × जीवरक्तमिति जीवतुल्यं रक्तम्। × × विस्रता आमगन्धता, भूमिगुणः; द्रवता द्रवभावः, अम्बुगुणः; रागो रक्तता, तेजोगुणः; स्पन्दनं किंचिच्चलनं, वातगुणः; लघुता अगुरुत्वम्, आकाशगुणः × × ॥ —डह्लन

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम्; इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्ति अणुना विशेषेण × × ॥ सु० शा० ३।३

सौम्यं सोमगुणभूयिष्ठम्। आग्नेयमग्निगुणभूयिष्ठम्। × × अणुना विशेषेण सूक्ष्मप्रकारेण, सान्निध्यमाश्रितत्वमस्ति ॥ —डल्हन

धातु, उपधातु और मल भी पाञ्चभौतिक हैं, तथापि प्रत्येकमें तत्-तत् भूतका आधिक्य होता है। यथा—रसमें जल महाभूतकी प्रधानता होती है, अतः उसे सौम्य भी कहते हैं। रक्त पाञ्चभौतिक होते हुए भी उसमें तथा आर्तवमें अग्नि और जल भूतकी अधिकता होती है। दोनों भूतोंमें भी अग्निभूत विशेष होनेसे रक्त और आर्तवको आग्नेय कहा जाता है। मांस पृथिवीभूत प्रधान (पार्थिव) है; मेद जल और पृथिवीभूतकी प्रधानता वाला, अस्थि पृथिवी और वायुकी अधिकतावाला, मज्जा और शुक्र जलभूत प्रधान (आप्य), मूत्र जल और अग्निभूतकी प्रधानतावाला, पुरीष, पार्थिव, तथा स्वेद और स्तन्य जलभूत प्रधान हैं।

इन्द्रियोंमें एक-एक भूतका आधिक्य—

× × पंचमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते × ×॥ च० सू० ८।१४

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु॥ च० शा० १।२४

ज्ञानेन्द्रियाँ भी सभी पाञ्चभौतिक हैं; तथापि एक-एक इन्द्रियमें एक-एक भूतकी अधिकता होती है; यथा–चक्षुमें तेजकी, श्रोत्रमें आकाशकी, घ्राण (गन्धेन्द्रिय) में पृथिवीकी, रसनामें जलकी तथा स्पर्शेन्द्रियमें वायुकी अधिकता होती है।

शरीरमें भूतोंके कार्य—

तत्-तत् दोष, धातु, उपधातु, मल तथा इन्द्रियमें तत्-तत् भूतका आधिक्य होनेसे, तत्-तत् दोष आदिके गुण-कर्म तत्-तत् भूतके ही विशिष्ट गुण-कर्म हैं। इस प्रकार शरीरमें प्रत्येक महाभूतके गुण-कर्म निम्नलिखित हैं—

× × तत्रास्य (शरीरस्य) आकाशात्मकम्—शब्दः; श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च; वाय्वात्मकम्–स्पर्शः, स्पर्शनं, रौक्ष्यं, प्रेरणं, धातुव्यूहनं, चेष्टाश्च शारीर्यः; अग्न्यात्मकम्—रूपं, दर्शनं, प्रकाशः, पक्तिरौष्ण्यं च; अबात्मकम्–रसो, रसनं, शैत्यं, मार्दवं, स्नेहः क्लेदश्च; पृथिव्यात्मकम्–गन्धो, घ्राणं, गौरवं, स्थैर्यं, मूर्तिश्चेति॥ च० शा० ४।१२

× × विवेको विच्छेदः। धातुव्यूहनं धातुरचना धातुवहनं च। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुरिन्द्रियम्। मूर्तिः काठिन्यम्॥ —चक्रपाणि

आन्तरिक्षाः–शब्दः, शब्देन्द्रियं, सर्वच्छिद्रसमूहो, विविक्तता च; वायव्यास्तु–स्पर्शः, स्पर्शेन्द्रियं, सर्वचेष्टासमूहः, सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु–रूपं, रूपेन्द्रियं, वर्णः, सन्तापो, भ्राजिष्णुता, पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं, शौर्यं च; आप्यास्तु–रसो, रसनेन्द्रियं, सर्वद्रवसमूहो, गुरुता, शैत्यं, स्नेहो, रेतश्च; पार्थिवास्तु–गन्धो, गन्धेन्द्रियं, सर्वमूर्तसमूहो, गुरुता चेति॥ सु० शा० १।१९

× × विविक्तता शारीराणां भावानां शिरास्नाय्वस्थिपेशीप्रभृतीनां जातिव्यक्तिभ्यां मिथः पृथक्त्वम् × ×। सर्वचेष्टासमूहो नमनोन्नमनादिसर्वक्रियासमूहः, कायवाङ्मनःक्रियासमूह इत्यन्ये। × × तैत्प्रयम् आशुक्रिया। × × सर्वद्रवसमूहो दोषधातुमलेषु द्रुतिमद्द्रव्यनिवहः। सर्वमूर्तसमूहो दोषधातुमलेषु यः कश्चित् काठिन्यनिवहः॥ —डल्हन

शब्द, शब्देन्द्रिय (श्रोत्र), सर्व प्रकारके (स्थूल-सूक्ष्म, ह्रस्व-दीर्घ) छिद्र या अवकाश, लघुता, सूक्ष्मता, विविक्तता–शरीरान्तर्गत शिरा, स्नायु आदि समस्त द्रव्योंकी पृथक्ता–ये कार्य आकाशके हैं। स्पर्शकी संज्ञा, स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा), रूक्षता ; सर्वदोषों, धातुओं, मलों, उपधातुओं और अंग-प्रत्यंगोंको अपने-अपने कार्य करनेकी प्रेरणा, धातुओंकी रचना तथा उनका वहन ; सर्वशारीरिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ, शरीरमें सब प्रकारका स्पन्दन और लघुता—ये कार्य शरीरमें वायु महाभूतके हैं। रूप, चक्षु, इन्द्रिय, प्रकाश, वर्ण, उष्णता, दीप्ति, पाक-आहारकी रसके रूपमें और रसकी धातु आदिके रूपमें परिणति, क्रोध, तीक्ष्णता (आशुकारिता) और शूरता—ये कार्य शरीरमें अग्निके हैं। रस, रसनेन्द्रिय, शीतता, मृदुता, स्निग्धता, क्लेद अर्थात् शरीरके दोष, धातु आदिमें द्रव अंश, गुरुत्व और शुक्र—ये कार्य शरीरमें जल महाभूतके हैं। गन्ध, गन्धेन्द्रिय, गौरव (भार), तथा शरीरके अवयवोंमें पाया जानेवाला काठिन्य अर्थात् उनका घन भाग—ये कार्य शरीरमें पृथ्वी महाभूतके हैं।

महाभूतोंके इन कार्योंको देखनेसे स्पष्ट है कि शरीरकी रचनामें मुख्य भाग पृथ्वी और जल ये दो महाभूत लेते हैं। इसका घन भाग पृथ्वीसे और द्रव भाग जलसे बना है। शेष खाली अंश मुख्यतः आकाशके कारण और अंशतः वायुके कारण है। आहारके रूपमें प्राप्त हुए पृथ्वी और जल महाभूतमय द्रव्योंको शारीर द्रव्योंके रूपमें परिणत करना अग्निका कार्य है। एवं विभिन्न शारीर-मानस चेष्टाएँ वायुके कारण होती हैं।

शरीरावयवोंकी भौतिक रचनाके उपदेशका प्रयोजन—

× × भूतजन्यत्वेनाभिधानमङ्गानां क्षये वृद्धौ वा सत्यां तत्कारणभूतभूतोपयोगप्रतिषेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननज्ञानार्थम्। यदङ्गं यद्भूतप्रभवं तदङ्गं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेन × ×॥ च० शा० ४।१२ पर—चक्रपाणि

शरीरावयवों तथा शरीरगत कार्योंके इस पाञ्चभौतिक स्वरूपके निर्देशका अभिप्राय यह है कि जिस अवयव (दोषादि) का क्षय हुआ हो उसकी पुष्टि पूर्वक साम्यके लिए उस भूतकी अधिकता वाले आहारौषध द्रव्य तथा चेष्टाका सेवन किया जाय, तथा जिस अवयवकी वृद्धि हो गयी हो उसके क्षय पूर्वक साम्यके लिये उसभूतकी न्यूनतावाले आहारौषध द्रव्यतथा विहारका सेवन किया जाय तो लाभ होता है।

चौथा अध्याय

अथातो द्रव्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शरीर पाञ्चभौतिक है; इसके अन्तर्गत दोषादि विभिन्न अवयवोंके साम्यके लिए आहार भी पाञ्चभौतिक ही होना चाहिये, यह गत अध्यायमें कह आये हैं। परन्तु, जैसा कि 'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान'में विशेष रूपसे प्रतिपादित किया है, शरीरान्तर्गत तथा शरीरबाह्य आहारौषध द्रव्योंकी भौतिक रचनाका ज्ञान उनके गुण-कर्मोंके ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। शरीरगत तथा बाह्य द्रव्योंके गुण-कर्मोंका ज्ञान हो तभी सरलतासे इस बातका भी ज्ञान हो सकता है, कि दोष, धातु आदि समावस्थामें हैं, वृद्धिको प्राप्त हुए हैं या क्षीण हैं। यह जाननेके पश्चात् ही अनुरूप गुण-कर्मोंवाले आहारौषध द्रव्योंके मात्रावत् सेवनसे समावस्थाको स्थिर रखा जा सकता है तथा क्षय या वृद्धिकी दशाको साम्यमें लाया जा सकता है।

दोष, धातु आदि शारीर द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देश आगे उन-उनके अधिकारमें करेंगे। यहाँ बाह्य द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाके अनुसार उनके गुण-कर्मोंका निर्देश किया जाता है।

आहारगत बीस गुण—

(स आहारः) विंशतिगुणः—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदु-कठिनविशदपिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवानुगमात्॥ च० सू० २५।३६

आहार द्रव्योंमें बीस गुण होते हैं—गुरु-लघु, शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, मन्द-तीक्ष्ण, स्थिर-सर, मृदु-कठिन, विशद-पिच्छिल, श्लक्ष्ण-खर, सूक्ष्म-स्थूल, सान्द्र-द्रव।

ये गुण आहार-द्रव्योंके हैं। औषध-द्रव्योंमें इनके अतिरिक्त व्यवायी, विकाशी आदि गुण होते हैं। उनमें ये गुण भी कभी-कभी विशेष शक्ति-सम्पन्न होते हैं, जब कि इन्हें 'वीर्य' कहा जाता है। औषध-द्रव्योंकी क्रियाके अन्य भी कारण हैं, जिनका संक्षेपमें विचार आगे किया जायगा।

गुणवाचक शब्दोंका आयुर्वेदमें अर्थ—

इन गुणोंके विषयमें एक उल्लेखनीय बात यह है कि ये गुण द्रव्योंके इन्द्रिय-संवेद्य स्वरूप[1]के द्योतक नहीं हैं। अर्थात्—जैसे, पत्थर इत्यादिको विभिन्न इन्द्रियोंकी सहायतासे हम गुरु, शीत, श्वेत, कृष्ण आदि जानते और कहते हैं उस प्रकार चिकित्साशास्त्रमें गुरु, शीत आदि संज्ञाओंका व्यवहार नहीं किया जाता है। किन्तु, चिकित्साशास्त्रमें गुणवाचक शब्दोंका व्यवहार द्रव्योंके सेवनसे होनेवाले परिणामोंके द्योतनार्थ किया जाता है। यथा, घृतके सेवनसे शरीरमें स्निग्धता आती है, अतः उसमें स्निग्ध गुण है, ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार दोषादि समावस्थामें रहते हुए जिन-जिन गुणोंको बनाये रखते हैं वे-वे गुण उनके हैं, ऐसा कहा जाता है। दोषादि क्षीण होनेपर यही गुण क्षीण हो जाते हैं, तथा दोषादिकी वृद्धि होनेपर यही गुण बढ़े हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार कह सकते हैं कि शरीरगत दोषादिके द्योतक ये गुण उनकी प्राकृत[2] तथा वैकृत[3] क्रियाओंको द्योतित करते हैं।

१—Physical properties-फ़िज़िकल प्रॉपर्टीज़।

२—Physiological Functions फ़िज़िओलॉजिकल फंक्शन्स।

३—Pathological Functions. पैथोलॉज़िकल फंक्शन्स।

आहारौषध-द्रव्यान्तर्गत यही गुण बाह्य या आभ्यन्तर प्रयोग द्वारा द्रव्योंके शरीरपर होनेवाले कर्मको[1] द्योतित करते हैं।

आशय यह है कि, इन गुणवाचक शब्दोंका मुख्य अर्थ तो वही है जिस अर्थमें हम इनका सामान्य बोलचालमें व्यवहार करते हैं, अथवा जिस अर्थमें वैशेषिकोंने इनका उपयोग किया है। परन्तु ये गुण शरीरमें जानेपर किंवा शरीरके सम्पर्कमें आनेपर ही, द्रव्योंकी अपनी-अपनी कर्मशक्तिके कारण देखनेमें आते हैं। इस प्रकार लौकिक गुणों और आयुर्वेदिक गुणोंमें भारी अन्तर है। यथा–सामान्य बोलचालमें हम पत्थरको गुरु तथा शीत या उष्ण कहते हैं। परन्तु शरीरमें इसका आभ्यन्तर प्रयोग न होनेसे इसे इन गुणोंवाला नहीं कहा जाता।

इस प्रकार अधिकतः गुणोंका निश्चय उनकीशरीर पर क्रियाको देखकर होता है, केवल इन्द्रियोंके साथ प्रथम संपर्क होनेपर उनके जो गुण विदित होते हैं, उन्हें आयुर्वेदमें गुण नहीं कहते। परन्तु कुछ प्रसंगोंमें इन्द्रियों द्वारा गृहीत गुणोंको भी गुण कहते ही हैं। जैसे—स्वेदन (सेक) के प्रसंगमें गरम पत्थरको उष्ण कहते हैं। परन्तु ऐसे प्रसंग अल्प ही हैं। अथवा इस उदाहरणामें भी पत्थरको उसके उष्ण स्पर्शके कारण उष्ण नहीं कहते, किन्तु धमनी विकास, रस रक्त की स्थानीय वृद्धि, रक्तिमा, संतापाधिक्य आदि उसके कर्मोंको देखकर ही उसे उष्ण कहते हैं; जैसे स्पर्शमें शीतल होनेपर भी राजिका (राई) इन्हीं कर्मोंको करती है अतः उष्ण कहलाती है[2]।

पार्थिव द्रव्योंके गुण-कर्म—

तत्र द्रव्याणि गुरुखरकठिनमन्दस्थिरविशदसान्द्रस्थूलगन्धगुणबहुलानि पार्थिवानि। तान्युपचयसंघातगौरवस्थैर्यकराणि ॥ च० सू० २६।११

× × सर्वकार्यद्रव्याणां पाञ्चभौतिकत्वेऽपि पृथिव्याद्युत्कर्षेण पार्थिवत्वादि ज्ञेयम्। संघातः काठिन्यं, स्थैर्यमविचाल्यम् ॥ —चक्रपाणि

तत्र स्थूलसान्द्रमन्दस्थिरगुरुकठिनं गन्धबहुलमीषत्कषायं प्रायशो मधुरमिति पार्थिवं; तत् स्थैर्यबलगौरवसंघातोपचयकरं विशेषतश्चाधोगतिस्वभावमिति ॥ सु० सू० ४१।४

× × उपचयो बृंहणम् ॥ —डल्हन

पार्थिव अर्थात् पृथिवी भूत प्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य गुरु, खर, कठिन, मन्द, स्थिर, विशद, सान्द्र, स्थूल, कुछ कषाय परन्तु मुख्यत्वेन मधुर रसवाले तथा गन्धगुण प्रधान होते हैं। अर्थात् इनका सेवन करनेसे शरीरमें इन गुणोंकी पुष्टि (वृद्धि) होती है; शरीरान्तर्गत पार्थिव द्रव्य सम प्रमाणमें रहते हुए शरीरमें इन गुणोंको साम्य बनाये रखते हैं। अन्य भूतोंकी प्रधानतावाले आगे कहे जानेवाले द्रव्योंके संबन्धमें भी यही व्यवस्था समझनी चाहिये।

पार्थिव द्रव्योंका उपयोग करनेसे उपचय (बृंहण, पुष्टि), संघात (कठिनता), गौरव, स्थिरता और बलकी उत्पत्ति होती है। इनका स्वभाव नीचेकी ओर गमन करनेका होता है।

१—Pharmacological Properties फार्मेकोलॉजिकल प्रॉपर्टीज़।

२—गुणोंका प्राचीन मतसे पूर्ण विवरण गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत 'द्रव्य गुण विज्ञान' में तथा आधुनिक मतसे व्याख्यासहित प्राचीन विवरण 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में देखिये।

आप्य द्रव्योंके गुण-कर्म—

द्रवस्निग्धशीतमन्दमृदुपिच्छिलरसगुणबहुलान्याप्यानि। तान्युपक्लेदस्नेहबन्धविष्यन्दमार्दवप्रह्लादकराणि ॥ च० सू० २६।११

बन्धनं परस्परयोजनं, प्रह्लादः शरीरेन्द्रियतर्पणम् ॥ —चक्रपाणि

शीतस्तिमितस्निग्धमन्दगुरुसरसान्द्रमृदुपिच्छिलं रसबहुलमीषत्कषायाम्ललवणं मधुररसप्रायमाप्यम्। तत् स्नेहनह्लादनक्लेदनबन्धनविष्यन्दनकरमिति ॥ सु० सू० ४१।४

× × स्तिमितमार्द्रं जडमित्यन्ये। × × ह्लादनं सुखोत्पादनं, क्लेदनमार्द्रभावः, विष्यन्दनं द्रवस्रुतिः ॥ —डल्हन

आप्य अर्थात् जलभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य द्रव (शरीरमें द्रवत्व उत्पन्न करनेवाले), स्निग्ध, शीत, मन्द, मृदु पिच्छिल, गुरु, सर, सान्द्र, स्तिमित (आर्द्र अथवा जड जडत्व या स्तम्भ उत्पन्न करनेवाले), किंचित् कषाय, अम्ल और लवण रसयुक्त परन्तु मुख्यत्वेन मधुर रसवाले तथा रस गुण प्रधान होते हैं।

आप्य द्रव्योंका उपयोग करनेसे शरीरमें क्लेद (धातु आदिमें द्रवाधिक्य), स्निग्धता, बन्ध (अवयवोंका परस्पर संबन्ध), स्यन्द (द्रवोंका स्राव), मृदुता तथा आह्लाद (शरीर, मन और इन्द्रियोंकी तुष्टि) होते हैं।

आग्नेय (तैजस) द्रव्योंके गुण-कर्म—

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मलघुरूक्षविशदरूपगुणबहुलान्याग्नेयानि। तानि दाहपाकप्रभाप्रकाशवर्णकराणि ॥ च० सू० २६।११

सूक्ष्मं सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारि। प्रभा वर्णप्रकाशिनी दीप्तिः, यदुक्तम्—"वर्णमाक्रामतिच्छाया प्रभा वर्णप्रकाशिका" (च० इं० ७।१६) इत्यादि ॥ —चक्रपाणि

उष्णतीक्ष्णसूक्ष्मरूक्षखरलघुविशदं रूपबहुलमीषदम्लंलवणं कटुकरसप्रायं विशेषतश्चोर्ध्वगतिस्वभावमिति तैजसम्। तद्दहनपचनदारणतापनप्रकाशनप्रभावर्णकरमिति ॥ सु० सू० ४१।४

× × दहनं भस्मसात्करणं, पचनमाहारादिपाकः, दारणं व्रणादेः, तापनं शरीरादिसंतापनं, प्रकाशनमभिव्यक्तिः, प्रभा तेजः, वर्णो गौरादिः ॥ —डल्हन

आग्नेय अर्थात् अग्निभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म (सूक्ष्म स्रोतों तथा शरीर-परमाणुओंमें प्रविष्ट होनेवाले), लघु, रूक्ष, विशद, खर, मुख्यत्वेन कटुरसयुक्त, किंचित् अम्ल लवण, रूपगुणके आधिक्यवाले और विशेषतः ऊर्ध्वगमनके स्वभाववाले होते हैं।

आग्नेय द्रव्योंके उपयोगसे दाह, पाक (अन्न तथा अन्नरसका पचन और व्रणोंका स-पूय होना), संताप, दारण (त्वाचा आदिका फटना), प्रभा, वर्ण तथा कान्ति ये कर्म होते हैं।

वायवीय द्रव्योंके गुण-कर्म—

लघुशीतरूक्षखरविशदसूक्ष्मस्पर्शगुणबहुलानि वायव्यानि। तानि रौक्ष्यग्लानिविचारवैशद्यलाघवकराणि ॥ च० सू० २६।११

विचरणं विचारो गतिरित्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

सूक्ष्मरूक्षखरशिशिरलघुविशदंस्पर्शबहुलमीषत्तिक्तंविशेषतः कषायमिति वायवीयम्। तद् वैशद्यलाघवग्लपनविरूक्षणविचारणकरमिति ॥ सु० सू० ४१।४

× × ग्लपनम् अहृष्यत्वं, विचारणं मनसोऽनेकविकल्पकारणम् × × ॥ —डल्हन

ग्लपनं हर्षक्षयकरम्[1] अहृष्यमिति यावत् ॥ —चक्रपाणि

वायवीय अर्थात् वायुभूतप्रधान पाञ्चभौतिक द्रव्य लघु, शीत, रूक्ष, खर, विशद, सूक्ष्म मुख्यत्वेन कषायरसवाले तथा किंचित तिक्त और स्पर्शगुणकी अधिकतावाले होते हैं।

वायवीय द्रव्योंके उपयोगसे रूक्षता, ग्लानि (हर्ष-काम-का नाश; अहृष्यता) लघुता, (कृशता) विचार (मनकी अस्थिरता) और विशदता ये कर्म होते हैं।

आकाशीय द्रव्योंके गुण-कर्म—

मृदुलघुसूक्ष्मश्लक्ष्णशब्दगुणबहुलान्याकाशात्मकानि । तानि मार्दवसौषिर्यलाघवकराणि ॥ च० सू० २६।११

सौषिर्यं रन्ध्रबहुलता। अत्राकाशबाहुल्यं द्रव्यस्य पृथिव्यादिभूतान्तराल्पत्वेन भूरिव्यक्ताकाशत्वेन च ज्ञेयं, यदेव भूरि शुषिरं तन्नाभसं; किंवा आकाशगुणबहुलत्वेन नाभसं द्रव्यमुच्यते ॥ —चक्रपाणि

श्लक्ष्णसूक्ष्ममृदुव्यवायिविशदविविक्तमव्यक्तरसं शब्दबहुलमाकाशीयम्। तन्मार्दवशौषिर्यलाघवकर मिति ॥ सु० सू० ४१।४

श्लक्ष्णं मसृणम्। व्यवायीति समस्तदेहं व्याप्य पश्चात् पाकं गच्छति विषमद्यवत्। विविक्तं पृथग्भूतम्, अवयवद्वारेण शून्यमित्यन्ये। अव्यक्तरसं मधुरादि रस विशेषानुपलब्धेः ॥ —डल्हन

आकाशीय अर्थात् आकाश भूतकी प्रधानतावाले (अन्य भूतोंकी अल्पता होनेसे आकाश महाभूत जिनमें विशेष रूपसे व्यक्त हैं, ऐसे) द्रव्य मृदु, लघु, सूक्ष्म, श्लक्ष्ण (चिकने-शरीरमें चिकनापन उत्पन्न करनेवाले), विशद, विविक्त (अति छिद्रयुक्त पृथक्-पृथक् अवयवोंवाले अल्प घनत्ववाले), व्यवायी (जठराग्नि द्वारा पाक होनेके पूर्व ही आचूषित होकर शरीरमें प्रसृत होनेवाले) और अव्यक्त रसवाले (अन्य रसोंकी प्रतीतिसे शून्य) होते हैं।

आकाशीय द्रव्योंके उपयोगसे मृदुता, सुषिरता (शरीरमें सच्छिद्रता—अवयवोंमें संहति-घनत्व–की अल्पता) और लाघव (कृशता, हलकापन) ये कर्म होते हैं।

द्रव्योंकी शरीरपर क्रियाके कारण—

द्रव्योंमें तत्-तत् महाभूतकी अधिकताके कारण होनेवाले गुणकर्मोंका निर्देश हुआ। परन्तु जैसा कि कह आये हैं समझनेमें सरलताकी दृष्टिसे द्रव्योंके पाञ्चभौतिक स्वरूपकी अपेक्षया उनके गुणोंको ही दृष्टिगत रखनेकी पद्धति आयुर्वेदमें प्रचरित है। पुनः पुनः निरीक्षणसे शरीरमें द्रव्योंके जो कर्म देखनेमें आये, उनके आधारपर उनके गुणोंका निश्चय किया गया है—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नाना द्रव्याश्रया गुणाः ॥ सु० सू० ४६।५१४

संहिताकारोंने जिस द्रव्यके जिन गुणोंका उल्लेख किया है, उस द्रव्यमें उन गुणोंका ज्ञान इसी विधिसे किया गया है। भविष्यमें भी जो नवीन द्रव्य देखनेमें आवें, उन्हें आयुर्वेदमें ग्रहण करनेकी पद्धति यही होनी चाहिये कि उनका बाह्याभ्यन्तर सेवन करनेसे जो कर्म (क्रिया) देखे

१—'ग्लै हर्षक्षये' धातु।

जायँ उनके आधारपर उनके गुणोंका निश्चय करके तदनुसार उनके उपयोगका प्रकार निश्चित किया जाय।

ऊपर निर्दिष्ट गुणोंका तथा इनके अतिरिक्त पदार्थ-विज्ञानमें निर्दिष्ट अन्य गुणोंका कर्मभेदसे विभाग करके पूर्वाचार्योंने आहारौषध द्रव्योंकी क्रियाके नीचे लिखे कारण कहे हैं।

किंचिद् रसेन कुरुते कर्म वीर्येण चापरम्।
द्रव्यं गुणेन पाकेन प्रभावेण च किंचन॥ च० सू० २६।७१
तद् द्रव्यमात्मना किंचित् किंचिद्वीर्येण सेवितम्।
किंचिद्रसविपाकाभ्यां दोषं हन्ति करोति वा॥ सु० सू० ४०।१४

शरीरपर द्रव्योंकी दोष-शमन, दोष-प्रकोपण आदि क्रियाओंके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी द्रव्यकी क्रिया मधुर, अम्ल आदि रससे होती है, किसीकी गुरु-लघु आदि गुणसे, किसीकी शीत-उष्ण आदि वीर्यसे, किसीकी विपाकसे और किसीकी अपने विशेष प्रभावसे होती है।

इनका विशेष विस्तार 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में किया गया है। संक्षेपमें इनका लक्षण देनेके पूर्व इतना कहना आवश्यक है कि, द्रव्योंकी क्रियाके उल्लिखित कारणोंके दो विभाग हैं— चिन्त्य और अचिन्त्य। रस, गुण आदि जिन कारणोंके विषयमें यह विचारा और कहा जा सकता है कि इस द्रव्यकी क्रिया इस रस, इस गुण आदिसे इस प्रकारकी होती है, उन रस गुण आदि कारणोंको चिन्त्य कहते हैं। जिस द्रव्यकी क्रियाके विषयमें, मानवजातिके ज्ञानकी अल्पताके कारण, इस प्रकार व्याख्या करना शक्य न हो, उसकी क्रियाका कारण अचिन्त्य कहा जाता है। इस अचिन्त्य कारणको ही प्रभाव कहते हैं। द्रव्योंकी क्रियाके चिन्त्य और अचिन्त्य उभय कारणोंको द्रव्योंकी शक्ति कहते हैं। रस, गुण, वीर्य और विपाकको चिन्त्य शक्ति तथा प्रभावको अचिन्त्य शक्ति कहा जाता है। इनमें रस, मधुरादि छः प्रसिद्ध ही हैं। आहारगत बीस गुणोंका निर्देश ऊपर किया गया है। शेष गुणोंका निर्देश तथा लक्षण पदार्थविज्ञानका विषय है। रस भी गुणोंके ही अन्तर्गत हैं। वैशिष्ट्य होनेसे 'ब्राह्मणकौण्डिन्य न्याय' से उनका गुणोंसे पृथक् वर्णन किया जाता है। विपाक रसका ही भेद होनेसे गुणोंके ही अन्तर्गत है। वीर्य तो गुण ही हैं। जैसा कि आगे देखेंगे कतिपय गुण जिनकी शक्ति किसी-किसी द्रव्यमें विशेष आधिक्यको प्राप्त हुई देखी जाती है, उन्हें वीर्य यह विशेष नाम दिया जाता है। अब वीर्य, विपाक और प्रभावका लक्षण संक्षेपमें देखिये।

विपाकका लक्षण—

जाठरेणाग्निना योगाद्यदुदेति रसान्तरम्।
रसानां परिणामान्ते स विपाकः प्रकीर्तितः॥ अ० हृ० सू० ९।२०

× × रसानां परिणामान्ते जरणनिष्ठाकाले। रसान्तरं रसविशेषः॥ —अरुणदत्त
× × रसानां रसवतां द्रव्याणाम् × ×॥ —हेमाद्रि

जाठराग्निके संयोगसे पाक हो चुकनेके पश्चात् आहारौषध द्रव्योंमें जो अन्य रस उत्पन्न होता है, उसे विपाक या निष्ठापाक कहते हैं[1]। पाक होनेके परिणामस्वरूप द्रव्यका रस अर्थात्

१—विपाकका अर्थ धात्वग्निजन्य पाक नहीं—कई विद्वान् विपाकका अर्थ धात्वग्निजन्य पाक करते हैं। परन्तु विपाकके लक्षणका दण्डान्वय करके देखें तो विपाकका धात्वग्निसे कोई संबन्ध इस श्लोकमें वर्णित प्रतीत नहीं होता। टीकाकारने 'परिणामान्ते' का अर्थ 'जरणनिष्ठाकाले' करके विपाकके कालको और भी स्पष्ट कर दिया है।

शरीरोपयुक्त सार भाग और किट्ट अर्थात् अनुपयोगी निःसार भाग—इन दो विभागोंमें विभाजन हो जाता है। किट्टरहित होनेसे मूलद्रव्य केवल रस-रूपमें शेष रहनेसे एक तरहसे नया ही द्रव्य होता है। अतः उसका रस भी नया ही उत्पन्न (रसान्तर) होता है। यह रस कभी द्रव्यके मूल रसके अभिन्न (तत्तुल्य) होता है, और कभी उससे भिन्न होता है। इस प्रकार विपाक कुल तीन प्रकारका होता है।

विपाकके भेद (रस-भेदसे)—

परं चातो विपाकानां लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥
कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः।
अम्लोऽम्लं पच्यते स्वादुर्मधुरं लवणस्तथा ॥ च० सू० २६।५७-५८

संप्रति विपाकस्यापि रसरूपत्वाल्लक्षणमाह-परमित्यादि। प्रायोग्रहणात् पिप्पलीकुलत्थादीनां रसाननुगुणपाकितां दर्शयति। कटुकादिशब्देन च तदाधारं द्रव्यमुच्यते, य तो न रसाः पच्यन्ते किन्तु द्रव्यमेव × × ॥ —चक्रपाणि

मधुर तथा लवणरस द्रव्योंका विपाक प्रायः मधुर होता है, अम्लका प्रायः अम्ल, तथा कटु, तिक्त और कषायरस द्रव्योंका विपाक प्रायः कटु होता है। विपाकके इस प्रकार तीन भेद हैं—मधुर, अम्ल और कटु।

विपाकोंका निर्देश करते हुए 'प्रायः' का उपयोग इस लिए किया है कि कई द्रव्योंमें इस नियमका अपवाद देखा जाता है। यथा, शुण्ठी, पिप्पली आदि द्रव्य कटुरस होते हुए भी उनका विपाक मधुर होता है, कटु नहीं; कुलत्थ कषायरस होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है; हरीतकी कषाय और आमला अम्ल होते हुए भी उनका विपाक मधुर होता है; व्रीहि मधुर होनेपर भी उसका विपाक अम्ल होता है; तैल मधुर होते हुए भी उसका विपाक कटु होता है; सौवर्चल (काला नमक) लवण होनेपर भी उसका विपाक कटु होता है; पटोल तिक्तरस होते हुए भी उसका विपाक मधुर होता है।

विपाक तथा आधुनिक मत—

आधुनिकोंने विपाकोंका विचार नहीं किया है। परन्तु, आहारौषध द्रव्योंका जठराग्नि द्वारा पाक तथा रस-मल विभाग होनेके अनन्तर रसमें द्रव्योंका जो सार भाग शेष रहता है उसका प्राचीनोंके विपाक-संबन्धी विचारोंसे सादृश्य देखा जा सकता है। प्रोटीनोंका पाक होनेके पश्चात् वे ऍमिनो-ऍसिड[१] नामके द्रव्योंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। ये द्रव्य अम्ल होते हैं। कार्बोहाइड्रेट[२] (विभिन्न शर्कराएँ[३] तथा पिष्टसार[४]) पाक होनेके अनन्तर द्राक्षाशर्करा[५] तथा अन्य कतिपय शर्कराओंके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन शर्कराओंका रस मधुर होता है। स्नेहों[६] का पाक होनेपर वे स्नेहाम्लों[७] तथा ग्लिसरोल[८] नामक द्रव्योंके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। ये द्रव्य कटुरसप्रधान होते हैं। औषध द्रव्योंमें भी कई द्रव्योंका क्रियाशील अंश[९] कभी मधुर होता है, जैसे ग्ल्युकोसाइड[१०]; कभी तिक्त होता है, जैसे क्वीनाइन, स्ट्रिकनीन (विषमुष्टि-सत्त्व), मॉर्फीन (अहिफेन-सत्त्व) आदि आल्कलॉयड[११]; कभी क्षार या अम्ल होता है। तुलना करके इस विषयका विशेष अनुसंधान किया जा सकता है।

१—Amino-acid. २—Carbohydrate. ३—Sugars-श्युगर्स। ४—Starch-स्टार्च। ५—Glucose-ग्ल्युकोज़। ६—Fat-फॅट। ७—Fatty acids-फॅटी ऍसिड्स। ८—Glycerol. ९—Active Principle-ऍक्टिव प्रिन्सिपल। १०—Glucoside. ११—Alkaloid.

× × × विपाकः कर्मनिष्ठया ॥ च० सू० २६।६६

कर्मनिष्ठयेति कर्मणो निष्ठा निष्पत्तिः कर्मनिष्ठा, क्रिया-परिसमाप्तिः। रसोपयोगे सति योऽन्त्याहारपरिणामकृतः कर्मविशेषः कफशुक्राभिवृद्ध्यादिलक्षणः, तेन विपाको निश्चीयते ॥ —चक्रपाणि

(विद्याद्) विपाकं द्रव्याणां कर्मणः परिनिष्ठया ॥

विपाक विशेषं तु कर्मणः तत्कृतस्य परिनिष्ठया निष्पत्तेः दोषवृद्धिक्षयविशेषेण विद्यात् ॥—इन्दु

प्राचीन विद्वान् विपाकोंका ज्ञान अनुमानसे—द्रव्यके पचकर शरीरमें पहुंचनेपर, तत्-तत् दोष, धातु आदिकी वृद्धि, क्षय इत्यादि कर्मोंके प्रत्यक्ष द्वारा—करते थे परन्तु अब आहारौषध द्रव्योंके उल्लिखित क्रियाशील अंशोंको पृथक् कर लिया गया है। उनकी शरीरपर क्रिया प्रत्यक्ष देखकर दोनों मतोंकी तुलना सरलतासे की जा सकती है। अन्य नवाविष्कृत साधन और प्रकार भी इस कार्यके लिए सुलभ हैं।

विपाकके भेद (गुण-भेदसे)—

विपाकोंके जो भेद ऊपर दिये हैं, वे रस-गत उनके क्रियाशील अंशके रस (मधुर आदि) की दृष्टिमें रखकर किये गये हैं। सुश्रुतने इन्हीं विपाकोंका विभाग उनके गुणोंकी दृष्टिमें रखकर निम्न प्रकारसे किया है—

× × × द्विविध एव पाको मधुरः कटुकश्च। तयोर्मधुराख्यो गुरुः कटुकाख्यो लघुरिति। तत्र पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानां द्वैविध्यं भवति गुणसाधर्म्यात्—गुरुता लघुता च। पृथिव्यापश्च गुर्व्यः, शेषाणि लघूनि × × ॥ भवन्ति चात्र—

द्रव्येषु पच्यमानेषु येष्वम्बुपृथिवीगुणाः।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाको मधुर उच्यते ॥
तेजोऽनिलाकाशगुणाः पच्यमानेषु येषु तु।
निर्वर्तन्तेऽधिकास्तत्र पाकः कटुक उच्यते ॥ सु० सू० ४०।१०-१२

× × गुणसाधर्म्यात् गुण समानतया। निर्वर्तन्तेऽधिका इति जायन्ते उत्कटा इत्यर्थः ॥ —डल्हन

पाक होनेके पश्चात् सार रूपमें शेष रहे हुए द्रव्योंका विपाक गुण-भेदसे दो प्रकारका होता है—मधुर और कटु। (यद्यपि इन विपाकोंके लिए रसवाचक शब्दोंका ही प्रयोग किया है, तथापि ये भेद विपाकके रसको दृष्टिमें रखकर नहीं किये हैं। ये संज्ञाएँ यौगिक न मानकर रूढ़ ही माननी चाहिए)। पाञ्चभौतिक द्रव्योंके अनेक प्रकारसे अनेक भेद होते हुए भी गुण-कर्मोंके भेदसे इन्हें गुरु और लघु इन दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पृथिवी और जल महाभूतकी प्रधानता जिन द्रव्योंमें होती है, वे गुरु होते हैं, तथा शेष महाभूतोंकी प्रधानतावाले द्रव्य लघु होते हैं। द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका अन्तिम निर्णय उनका जठराग्नि द्वारा पाक होनेके पश्चात् अधिक अच्छी तरह हो सकता है। क्योंकि पाक हो चुकनेपर ही वे शरीरमें उपयोग-क्षम होते हैं। पाकान्तर हुए इस गुरुत्व-लघुत्वको ही सुश्रुतने गुरु या मधुर विपाक तथा लघु या कटुविपाक कहा है[1]।

१—विपाकोंमें मत-भेदकी निर्मूलता—चरक तथा सुश्रुतके संप्रदायोंमें आपाततः (प्रथम दृष्टिमें) विपाक-सम्बन्धी मतभेद दिखाई देता है। मेरा नम्रमत है कि, दोनों संप्रदायोंके मूल सिद्धान्तमें

विपाकोंके कर्म (रस-भेदसे)—

शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटुः।
मधुरः सृष्ट विण्मूत्रो विपाकः कफशुक्रलः॥
पित्तकृत् सृष्टविण्मूत्रः पाकोऽम्लः शुक्रनाशनः।
तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा॥ च० सू० २६।६१-६२

× × अतोऽन्यथेति लघुः॥ —चक्रपाणि

रसैरसौ तुल्यफलः॥ अ० सं० सू० १७; अ० हृ० ९।२२

विपाकोंके कर्म सामान्यतया रसोंके अनुसार हैं। अर्थात् मधुर विपाकके कर्म मधुर रसके समान हैं, कटु विपाकके कर्म कटु रसके समान तथा अम्ल विपाकके कर्म अम्ल रसके समान हैं। इन रसोंके शास्त्रोक्त कर्म देखकर विपाकोंके भी कर्म सविस्तर जाने जा सकते हैं। विपाकोंके विशिष्ट कर्म नीचे लिखे हैं।—

कोई भिन्नता न थी। दोनों भिन्न दृष्टिसे विपाकका विचार करते थे, इतना ही। इस दृष्टिभेदके अनुसार ही संहिताओंसे विपाक-विषयक विचार दोहन करके ऊपर दिये हैं। दोनों संप्रदायोंके प्रवर्तक आचार्योंमें मतभेद न होते हुए भी, उपलब्ध सुश्रुतके संकलनकार, अपने संप्रदायके अनुसार विपाकके वाचक शब्द रसोंके भी वाचक देखकर, इस भ्रममें पड़ गये कि उनके संप्रदायमें तथा चरक-संप्रदायमें कुछ तात्त्विक मतभेद है। और इस भ्रममें पड़कर उन्होंने चरक-संप्रदायका खण्डन करनेका प्रयास किया। पीछेसे सुश्रुत संप्रदायके अनुगामी रस-वैशेषिककारने खण्डन की इस प्रक्रियाको और विस्तृत रूप दिया। टीकाकार भी समाधानके निरर्थक झमेलेमें पड़ गये। इसके विपरीत, उपलब्ध चरक-संहिताके संकलनकारने अपने संप्रदायके अनुसार रस-भेदसे तीन विपाकोंका निर्देश करके उनके कर्म-वर्णनके प्रसंगमें स्पष्ट ही उनकी गुरुता-लघुताका भी उल्लेख किया है—"तेषां गुरुः स्यान्मधुरः कटुकाम्लावतोऽन्यथा (च० सू० २६।६२)।" अर्थात् मधुर विपाक गुरु होता है, और अम्ल तथा कटु विपाक लघु होते हैं। आगे जाकर स्वयं सुश्रुतने भी विपाकोंके कर्म ठीक चरकके समान ही बताये हैं। (आगे देखिये)।

विपाक-सम्बन्धी विस्तृत विचार गुरुवर्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यकृत 'द्रव्यगुण विज्ञान' (पूर्वार्ध) में देखिये।

वीर्य-सम्बन्धी मतभेदकी कृत्रिमता—विपाकके समान ही वीर्य सम्बन्धी निरर्थक ऊहापोह भी ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर होता है। अनेकार्थक इस शब्दके दो अर्थ द्रव्यगुणशास्त्रमें व्यवहृत हैं—कर्ममें कारणभूत द्रव्य-शक्ति, जिसके रस, गुण, वीर्य आदि भेद हैं; तथा दूसरा अर्थ शीत, उष्ण आदि। अर्थात् वीर्य शब्द सामान्य कर्म-शक्ति और विशिष्ट कर्मशक्ति दोनोंका वाचक है; जैसे, मधुमेह शब्द प्रमेहमात्र तथा प्रमेह विशेष दोनोंके लिए आता है अथवा तृणशब्द तृणसामान्य तथा तृणविशेष दोनोंके लिए प्रयुक्त होता है। (देखिये—मधुमेहशब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेह विशेषे च वर्तते; यथा तृणशब्दः सर्वतृणे तृण-विशेषे च वर्तते—च० चि० २६।५७ पर चक्रपाणि)। वीर्यशब्दकी इस उभयार्थकताको ध्यानमें न रखते हुए दोनों वाग्भटोंने (देखिये—अ० हृ० सू० ९।१३-१६) तथा टीकाकारोंने ऐसी प्रसिद्धि कर दी कि आचार्योंमें वीर्यसम्बन्धी मत-भिन्नता है। विशेषतः वर्तमान समयमें ऐसे ऊहापोहोंको नये विद्यार्थियोंके सामने रखना उनकी बुद्धिको आकुलित कर देनेवाला सिद्ध हुआ है। इससे आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धतिका कोई कल्याण नहीं होता (उल्टे विद्यार्थीको आयुर्वेदके प्रति अप्रीति उत्पन्न होती है) तथा पूर्वोक्त प्रकारसे विचार करनेसे यह विवाद निर्मूल, कृत्रिम और अनावश्यक भी है।

मधुर विपाक गुरु, मल और मूत्रको साफ लानेवाला तथा कफ और शुक्र की पुष्टि करनेवाला है। अम्ल विपाक लघु, मल-मूत्रको साफ लानेवाला, शुक्रनाशक तथा पित्त की वृद्धि करनेवाला है। कटु विपाक लघु, मल-तथा मूत्रको बाँधनेवाला (विबन्ध—कब्ज-करनेवाला), शुक्रनाशक और वातका प्रकोपक है।

विपाकोंके कर्म (गुण-भेदसे)—

× × गुरुपाको वातपित्तघ्नः, लघुपाकः श्लेष्मघ्नः। × × × गुरुपाकः सृष्ट-विण्मूत्रतया कफोत्क्लेशेन च (ग्राह्यः), लघुर्बद्धविण्मूत्रतया मारुतकोपेन च × × ॥

सु० सू० ४१।११

गुरु विपाक वात तथा पित्तको क्षीण करनेवाला, कफकी वृद्धि करनेवाला और मल-मूत्रको साफ लानेवाला है। लघु विपाक कफको नष्ट करनेवाला, वायुका प्रकोपक तथा मल-मूत्रको बाँधनेवाला है।

वीर्यका लक्षण तथा भेद——

वीर्य शब्द वैद्यकमें द्रव्यकी 'शक्ति' मात्रके लिए—अर्थात् रस, गुण इत्यादिके लिए व्यवहृत होता है। परन्तु इस शब्दसे द्रव्यकी एक विशिष्ट शक्तिका भी ग्रहण होता है। उसीका संक्षेपमें निरूपण करते हैं।—

गुर्वाद्या वीर्यमुच्यन्ते शक्तिमन्तोऽन्यथा गुणाः।
परसामर्थ्यहीनत्वाद् गुणा एवेतरे गुणाः॥ अ० सं० सू० १७

गुर्वाद्या अष्टौ यदोत्कृष्टशक्तयः सन्तो द्रव्यं समधिशेरते तदा वीर्यशब्दवाच्याः। यदा तूत्कृष्टशक्तियुक्ता न भवन्ति तदा सामान्यगुणा एव। ये च गुर्वादिशिष्टा द्वादश गुणाः ते स्वभावेनैव परसामर्थ्यहीना उत्कृष्टशक्तिरहितास्तेऽपि सामान्यगुणशब्दवाच्याः। ते न कदाचिदपि वीर्याख्यां लभन्ते॥ —इन्दु

मृदुतीक्ष्णगुरुलघुस्निग्धरूक्षोष्णशीतलम्।
वीर्यमष्टविधं केचित्, केचिद् द्विविधमाश्रिताः॥
शीतोष्णमिति × × × ॥

च० सू० २६।६४—६५

× × × पिच्छिलविशदादयो गुणा न रसादिविपरीतं कार्यं प्रायः कुर्वन्ति, तेन तेषां रसाद्युपदेशेनैव ग्रहणं; मृद्वादीनां तु रसाद्यभिभावकत्वमस्ति, यथा—पिप्पल्यां कटुरसकार्यं पित्तकोपनमभिभूय तद्गते मृदुशीतवीर्ये पित्तमेव शमयति इति; यथा कषाये तिक्तानुरसे महति पञ्चमूले तत्कार्यं वातकोपनमभिभूयोष्णेन वीर्येण तद्विरुद्धं वातशमनमेव क्रियते; तथा मधुरेऽपीक्षौ शीतवीर्यत्वेन वात वृद्धिरित्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—"एतानि खलु वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद् रसमभिभूयात्मकर्म दर्शयन्ति" (सु० सू० ४०।५) इत्यादि। शीतोष्णवीर्यवादिमतं त्वग्नीषोमीयत्वाज्जगतः शीतोष्णयोरेव प्राधान्याज्ज्ञेयम्। उक्तं च—"नानात्मकमपि द्रव्यमग्नीषोमौ महाबलौ। व्यक्ताव्यक्तं जगदिव नातिक्रामति जातुचित्" (अ० हृ० सू० ९।१७-१८)। एतच्च मतद्वयमप्याचार्यस्य परिभाषासिद्धमनुमतमेव, येनोत्तरत्र "रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते" इत्यादौ पारिभाषिकमेव वीर्यं निर्देक्ष्यति॥ —चक्रपाणि

× × × तच्च वीर्यं द्विविधम्-उष्णं शीतं च, अग्नीषोमीयत्वाज्जगतः। केचिदष्टविधमाहुः-शीतमुष्णं स्निग्धं रूक्षं, विशदं पिच्छिलं मृदु तीक्ष्णं चेति। एतानि वीर्याणि स्वबलगुणोत्कर्षाद् रसमभिभूयात्मकर्म कुर्वन्ति। यथा तावन्महत्पञ्चमूलं कषायं तिक्तानुरसं वातं शमयति, उष्णवीर्यत्वात्; तथा कुलत्थः कषायः, कटुकः पलाण्डुः, स्नेहभावाच्च; मधुरश्चेक्षुरसो वातं वर्धयति, शीतवीर्यत्वात्; कटुका पिप्पली पित्तं शमयति, मृदुशीतवीर्यत्वात्; अम्लमामलकं लवणं सैन्धवं च; तिक्ता काकमाची पित्तं वर्धयति, उष्णवीर्यत्वात्, मधुरा मत्स्याश्च; कटुकं मूलकं श्लेष्माणं वर्धयति, स्निग्धवीर्यत्वात्; अम्लं कपित्थं श्लेष्माणं शमयति, रूक्षवीर्यत्वात्, मधुरं क्षौद्रं च। तदेतन्निदर्शनमात्रमुक्तम्॥ सु० सू० ४०।५

× × × मूलकं बृहन्मूलकं; न पुनर्बालकं, त्रिदोषघ्नत्वात्॥ —डल्हन

शब्द-स्पर्शादि पाँच, गुरु-लघु आदि बीस, बुद्धि-इच्छा आदि छः तथा परत्व-अपरत्व आदि दस मिलकर कुल इकतालीस गुण आयुर्वेदमें माने गये हैं। इनमेंसे कुछ गुण यदि किसी द्रव्यमें विशेष शक्तिशाली होते हैं, अथवा यदि वे अपने विशेष गुणके द्वारा रसको दबाकर—रसके विपरीत क्रिया करते हैं[1] तो इन गुणोंको ही वीर्य यह विशेष नाम दिया जाता है। ये गुण जब विशेष उत्कृष्टशक्तियुक्त नहीं होते तब इन्हें वीर्य न कहकर गुण ही कहा जाता है।

उक्त परिभाषासे स्पष्ट है कि कई द्रव्य ऐसे होते हैं जिनमें वीर्य होता ही नहीं। उनमें स्थित गुण उत्कृष्ट शक्तिवाला न होनेसे वीर्य नहीं कहाता, किन्तु गुण ही कहाता है, यह स्मरण रखना चाहिये।

वीर्यके सामान्यतया दो भेद हैं—शीत और उष्ण। जगत् पाञ्चभौतिक होते हुए भी द्रव्यों के गुण-कर्मोंका भेद तो अग्नि और सोम (जल) इन दो महाभूतोंके कारण ही होता है। शेष भूतोंमें, पृथ्वी द्रव्योंकी रचनामें—उनके कलेवरके निर्माणमें ही भाग लेती है। आकाशसे उनके अन्तर्गत अवकाशका निर्माण होता है। वायुके स्वतन्त्र गुण-कर्म हैं, परन्तु वह योगवाह होनेसे अग्नि और सोमके संयोगमें आकर उनके गुणोंको वहन (धारण) करनेका कर्म ही विशेष रूपसे करता है[2]। परिणामतया, द्रव्योंके गुण-कर्मोंका किंवा उनके वीर्यका भेद अग्नि और सोम इन दो महाभूतों पर ही अवलम्बित होता है। लोकमें (आम जनतामें) वस्तुओंको मुख्यत्वेन 'ठाढी' (बादी करनेवाली) 'गरम' के रूपमें देखनेका जो प्रचार है, उसका मूल यह वीर्यका द्वैविध्य ही है।

कोई आचार्य वीर्यके नीचे लिखे आठ भेद करते हैं—मृदु-तीक्ष्ण, गुरु-लघु, स्निग्ध-रूक्ष तथा उष्ण-शीत। सुश्रुतने आठ प्रकारके वीर्योंमें गुरु-लघुकी गणना नहीं की है। तथा विशद-पिच्छिलका समावेश वीर्योंमें किया है।

१—वीर्य द्वारा रसके पराभवके उदाहरण ऊपर धृत मूल ग्रन्थमें अथवा "द्रव्यगुणविज्ञान" में देखिये।

२—स्मरण कीजिये—योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् (च० चि० ३।३८)।— × × योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः × × ×॥ —चक्रपाणि

स्मरण रहे, बाह्य तथा शारीर दोनों वायु योगवाह हैं। बाह्य वायु अग्नि (सूर्य) तथा सोम (चन्द्र) के गुणोंका वहन करता है तो शारीर वायु भी शारीरमें अग्नि के प्रतिनिधि भूत पित्तके गुणोंका तथा सोमके प्रतिनिधि भूत कफके गुणोंका वहन करता है। शारीर वायुके योगवाहत्वका विशदीकरण आगे वायुके अधिकारमें करेंगे।

उल्लिखित दो या आठ गुणोंसे भिन्न पिच्छिल-विशदादि गुण कभी विशेष बलवान् नहीं होते, न ही वे द्रव्यगत रसकी विरोधिनी क्रिया करते हैं, अतः उनको कभी वीर्य नहीं कहा जाता। अमुक द्रव्योंमें विद्यमान शीत-उष्ण आदि भी जब विशिष्ट-बलवान्-क्रिया नहीं करते तो इन्हें वीर्य न कहकर गुण ही कहते हैं।

लोकमें आठ प्रकारके वीर्योंमें गुरु-लघुको विशेष महत्त्व दिया गया है। आहार-औषध द्रव्योंके विचारमें उनके शीत-उष्ण वीर्योंके समान ही गुरु-लघु (भारी-हलका) वीर्यों या गुणोंके विचारका भी स्थान है।

प्रभावका लक्षण—

रसवीर्यविपाकानां सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावस्तस्य स स्मृतः॥ च० सू० २६।६७

प्रभावलक्षणमाह—रसवीर्येत्यादि। सामान्यमिति तुल्यता। विशेषः कर्मणामिति दन्त्याद्याश्रयाणां विरेचनत्वादीनाम्। सामान्यं लक्ष्यत इत्यनेन रसादिकार्यत्वेन यन्नावधारयितुं शक्यते कार्यं तत् प्रभावकृतमिति सूचयति, अत एवोक्तम्—'प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते' (च० सू० २६।७०) रसवीर्यविपाककार्यतयाऽचिन्त्य इत्यर्थः॥ —चक्रपाणि

कई द्रव्योंकी परस्पर तुलना करनेसे विदित होता है कि उनके रस, वीर्य, विपाक (और गुण) परस्पर समान होते हैं, परन्तु कर्म दोनोंके भिन्न होते हैं। यह कर्मभेद द्रव्यकी जिस शक्तिके कारण होता है उसे उसका प्रभाव कहते है। यथा चित्रक और दन्तीकी तुलना करें तो प्रतीत होगा कि दोनों कटुरस हैं, दोनोंका विपाक कटु है, दोनोंका वीर्य उष्ण है, परन्तु इनमें एक दन्ती तो विरेचन है पर चित्रक नहीं। दन्तीमें यह विरेचन धर्म जिस विशेष शक्तिके कारण है उसे दन्तीका प्रभाव कहा जाता है। द्रव्यों, विहारों (चेष्टाओं), रोगों आदिके जो परिणाम प्रभावजन्य कहे जाते हैं उनके विषयमें यह कहना कठिन होता है कि उनकी यह क्रिया क्यों हुई? उनके विषयमें हम इतना ही जानते और कह सकते हैं कि उनकी शरीरपर यह क्रिया होती है[1]।

शरीरकी तीन अवस्थाओंके मूल—रसादि द्रव्यशक्तियाँ—

गुणा य उक्ता द्रव्येषु शरीरेष्वपि ते तथा।
स्थानवृद्धिक्षयास्तस्माद् देहिनां द्रव्यहेतुकाः॥ सु० सू० ४१।१२

१—'द्रव्यगुणविज्ञान' में प्रभावके अन्य उदाहरण देखने चाहिये। क्रियाशारीरका संबन्ध मुख्यत्वेन आहारद्रव्योंके साथ होनेसे तथा आहारद्रव्योंकी शक्ति विशेषतया रसाश्रित होनेसे प्रभावका अधिक विचार यहाँ नहीं किया है।

प्रभावका अन्य लक्षण—अष्टाङ्ग हृदयके टीकाकार अरुणदत्तने ग्रन्थान्तरसे प्रभावका अन्य ही सीधा-सा लक्षण दिया है—

अन्ये प्रभावलक्षणमन्थाऽऽहुः—प्रतिवस्तु स्वसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तलक्षणो यो धर्मस्त्वतलादिप्रत्ययप्रतीतिसमधिगम्यः स प्रभावः। तन्त्रान्तरे चोक्तम्—"वस्तूनां यः स्वसंज्ञायाः प्रवृत्तौ कारणं स्मृतः। त्वतलादिप्रबोध्यश्च प्रभाव इति स स्मृतः॥" इति। एवं च दन्तीत्वाद् दन्त्या विरेचनकारित्वं प्रभावः, चित्रकस्य चित्रकत्वात् अविरेचनकारित्वं प्रभावः। एवं मृद्वीकात्वान्मृद्वीकाया विरेचनकारित्वं प्रभावः, इत्यादि सकलपदार्थेषु बोध्यम्—अ० हृ० सू० ९।२६ पर अरुणदत्त। अर्थात्—

गुणा विंशतिरधिका वा। स्थानं दोषधातुमलसाम्येनावस्थानं, वृद्धिर्दोषादेराधिक्यं, क्षयो ह्रासो दोषादीनाम्। द्रव्यहेतुकाः पाञ्चभौतिकद्रव्यहेतुकाः ॥ —डह्लन

इदानीं पार्थिवादिद्रव्यगुणानां शरीरगतपार्थिवादिद्रव्यगुणैस्तुल्यातुल्यतया द्रव्यैरेव समानासमानैः शरीरक्षय-वृद्धिस्थानादि दर्शयति—गुणा य इत्यादि। गुणा इह रसवीर्यविपाकतयोक्ताः तथा साक्षादनुक्ताश्च स्थूलसान्द्रादयः सर्वे ग्राह्याः। स्थानं धातुसाम्येनावस्थानम्। देहिनां शरीरेषु स्थान-वृद्धि-क्षया द्रव्यहेतुका इति योजना। तत्र समानासमानेन च साम्यं ज्ञेयम्। तदुक्तं चरके— "सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्। ह्रासहेतुर्विशेषश्च, प्रवृत्तिरुभयस्य तु" च० सू० १।४४ ॥ —चक्रपाणि

ये रस, गुण, वीर्य, विपाक शरीरान्तर्गत दोष, धातु और मलकी वृद्धि, साम्य और क्षयके कारण हैं। दोषादिके तुल्य रस, गुण आदि उनकी वृद्धि करते हैं तथा वे क्षीण हों तो उन्हें पुष्ट करके साम्यमें लाते हैं। रसादि दोषादिके विपरीत हों तो उन्हें क्षीण करते हैं, तथा वे वृद्धिको प्राप्त हों तो उन्हें क्षीण करके समावस्थामें लाते हैं।

पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रमें 'प्रभाव'—

आयुर्वेदमें द्रव्योंकी कर्मशक्ति 'चिन्त्य' और 'अचिन्त्य' दो प्रकारकी मानी गयी है। द्रव्यकी रस, गुण आदि जिन शक्तियोंके विषयमें चिन्ता अर्थात् विचार किया जा सकता है कि यह क्रिया इस कारण हुई उन्हें चिन्त्य कहते हैं। शेष कर्म-शक्ति जिसका कार्य-कारण भाव हमारी चिन्ता अर्थात् बुद्धिका विषय नहीं है उसे प्रभाव कहते हैं। द्रव्योंकी यह शक्ति बुद्धि-गम्य न होते हुए भी, इन द्रव्योंका हितकर परिणाम अनुभव द्वारा सुविदित होनेसे वैद्यसमाज इनका उपयोग करता है। पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्रमें भी द्रव्योंकी शक्तिके ऐसे ही दो भेद किये गये हैं।

जिस चिकित्साके प्रयोगका कार्यकारण-भाव विदित हो उसे कारण-मूलक[1] या बुद्धिगम्य[2] चिकित्सा कहते हैं। यथा, अपक्व भोजन या विषके कारण आमाशयमें वेदाना हो तो तत्काल वमन; पक्वाशयमें क्षोभक द्रव्य विद्यमान होनेसे अतिसार हो तो विरेचन; एक देशज जीवाणु जन्य संक्रमणमें या कृमिज[3] त्वग्रोगमें जीवाणु या कृमिको नष्ट करनेवाला द्रव्य; फिरंग रोगमें

किसी वस्तुका जो विशेष धर्म (विशिष्टता) उस वस्तुकी इतर वस्तुओंसे भिन्नताका कारण है, जिसे 'त्व', 'तल्' (ता) इत्यादि प्रत्ययोंसे सूचित किया जाता है उसे उस वस्तुका प्रभाव कहते हैं। इसी प्रभावके कारण उस वस्तुकी विशिष्ट क्रिया होती है। यथा, दन्तीमें जो 'दन्तीत्व' (दन्तीपन) है वही उसका प्रभाव है; उसीके कारण वह विरेचन करती है। एवं, चित्रकमें जो 'चित्रकता' (चित्रकपन) है वही उसका प्रभाव है; उसके कारण वह विरेचन नहीं करता।

प्रभाव और एक्टिव प्रिंसिपल—इस लक्षणको दृष्टिमें रखते हुए प्रभावकी तुलना आधुनिकों के 'एक्टिव प्रिंसिपल' (कार्मुक—क्रियाशील-अंश) से की जा सकती है। पुनर्नवा, कटुकी, सप्तपर्ण, दारुहरिद्रा, वासा, मधुयष्टी इत्यादि द्रव्योंका विघटन करके उनके जो एक्टिव प्रिंसिपल पृथक् किये गये हैं वे सृष्टिके अन्य सभी द्रव्योंसे भिन्न होते हैं। इसी कारण उनका नामकरण भी अपने मूल द्रव्यमें अमुक प्रत्यय लगाकर ही किया गया है। इन एक्टिव प्रिंसिपलोंके कारण ही उनके मूल द्रव्यकी इतर द्रव्योंसे विशिष्टता विशिष्ट क्रिया होती है। पुनर्नवाका पुनर्नवात्व, कटुकीका कटुकीत्व तथा अन्य द्रव्योंका तत्तद्द्रव्यत्व अपने एक्टिव प्रिंसिपलके ही कारण होता है।

१—Aetiological treatment—ईटियोलॉजिकल ट्रीटमेंट।

२—Rational treatment रेशनल ट्रीटमेंट। ३—Paresitic—पैरेसाइटिक।

उत्पादक कृमिको मारनेके लिए मल्लके सेन्द्रिय समासोंका सिरामें प्रवेश तथा हीनयोगज रोगों[1] में वाइटैमिन।

परन्तु कई रोगोंमें ऐसे विशिष्ट[2] द्रव्योंका उपयोग होता है जो अनुभवके आधारपर उन रोगोंमें अत्यन्त उपयुक्त सिद्ध हुए हैं, परन्तु जिनके विषयमें यह विदित नहीं कि उनकी यह क्रिया क्यों होती है। यथा, आमवात (रूमेटिज्म) में सोडियम सिलिकेट तथा वातरक्त (गठिया) में कोल्चिकम। इनके उपयोगको एम्पिरिकल[3] (अनुभव सिद्ध) कहते हैं।

१—Deficiency diseases—डेफीशेन्सी डिसीजेस।

२—Specific स्पेसिफिक। ३—Empirical.

पांचवां अध्याय

अथातो रस विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

आहार-द्रव्योंमें रसका प्राधान्य—

× × × द्रव्यं तावद् द्विविधं—वीर्यप्रधानमौषध द्रव्यं, तथा रसप्रधानमाहार द्रव्यं च ॥
च० सू० २।१७ पर—चक्रपाणि

द्रव्य दो प्रकारके हैं—आहार द्रव्य तथा औषध द्रव्य । इनमें नित्य ग्रहणका विषय होनेसे शरीर तथा क्रिया शारीरका विशेष संवन्ध आहार-द्रव्योंसे है । आहार द्रव्योंका औषध द्रव्योंसे भेद यह है कि आहार द्रव्योंमें रसकी प्रधानता होती है तथा औषध द्रव्योंमें वीर्यकी । आहार द्रव्योंका रसके साथ विशेष सम्बन्ध होनेसे शरीरपर रसोंकी क्रियाका परिज्ञान आवश्यक है ।

औषध द्रव्योंमें भी रसका महत्त्व—

शीतं वीर्येण यद् द्रव्यं मधुरं रसपाकयोः ।
तयोरम्लं यदुष्णं च यदुष्णं कटुकं तयोः ॥
तेषां रसोपदेशेन निर्देश्यो गुणसंग्रहः ।
वीर्यतोऽविपरीतानां पाकतश्चोपदेक्ष्यते ॥
यथा पयो यथा सर्पिर्यथा वा चव्यचित्रकौ ।
एवमादीनि चान्यानि निर्दिशेद् रसतो भिषक् ॥
च० सू० २६ । ४५-०७

संप्रति रसद्वारेणैव द्रव्याणां वीर्यमाह—शीतमित्यादि । यद् द्रव्यं रसे पाके च मधुरं तच्छीतं वीर्येण ज्ञेयं ; तथा तयोरिति रसापाकयोर्यदम्लं द्रव्यं तदुष्णं वीर्येण; तथा यच्च द्रव्यं तयोरिति रसपाकयोः कटुकमुक्तं तचोष्णं वीर्येण । 'भवति' इति शेषः । ××× । तेषामिति मधुरपकादीनां, रसोपदेशेनेति रसमात्रकथनेनैव, यतो विपाकोऽपि रसत एव प्रायो ज्ञायते; यद् वक्ष्यति—'कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः (च० सू० २६।५८)' इत्यादि । एतच्च न सर्वत्रेत्याह—वीर्यत इत्यादि । वीर्यतोऽविपरीतानां रसद्वारा वीर्यज्ञानं, न तु रसविरुद्ध वीर्याणां महापञ्चमूलादीनाम् । न केवलं रसेन किं तर्हि पाकतश्च य उपदेक्ष्यते गुणसंग्रहः 'शुक्रहा बद्धविण्मूत्रो विपाको वातलः कटु (च० सू० २६।६१)' इत्यादिना, स च वीर्यतोऽविरुद्धानां विज्ञेयः; यदि तत्र वीर्यं विरोधि भवति तदा विपाकोऽपि यथोक्तगुणकारी न स्यात् । × × × तान्येवाविपरीत वीर्यविपाकान्याह—यथा पय इत्यादि । पयः प्रभृतीनि हि द्रव्यगुणकथनेऽविरुद्ध वीर्यविपिकान्युपदेष्टव्यानि । —चक्रपाणि

तत्र यन्मधुरं रस-विपाकयोः शीतवीर्यं च द्रव्यं, यच्चाम्लं तयोरुष्णवीर्यं च, यद्वा कटुकं, तेषां यथास्त्रं रसेभ्यः प्रायो गुणान् दोषकोप शमनत्वं च विद्यात् ॥ अ० सं० सू० १७

विपाकके अधिकारमें कह आये हैं कि विपाक प्रायः रसाधीन होता है । बहुधा वीर्य भी रस और विपाकके अनुरूप ही होता है । यथा, जिस द्रव्यका रस तथा विपाक मधुर हो उसका वीर्य शीत होता है; जिसका रस और विपाक अम्ल अथवा कटु हो वह उष्णवीर्य होता है । आहार द्रव्योंमें दूध तथा घी और औषध द्रव्योंमें चव्य तथा चित्रक ऐसे द्रव्योंके दृष्टान्त हैं । रस तथा

विपाकके तुल्य वीर्यवाले इन तथा अन्य आहारौषध द्रव्योंके गुण-कर्मोंका निर्देश करते हुए केवल रसका ही उपदेश (कथन) कर दिया जाता है। रसके निर्देशसे, उनके तुल्य होनेसे विपाक और वीर्यका निर्देश और ग्रहण स्वतः हो जाता है। परन्तु—

जिन द्रव्योंका वीर्य, रस और विपाकके विपरीत हो, उनके वीर्यका निर्देश पृथक् करना पड़ता है[1]।

इस प्रकार औषध द्रव्योंके गुण-कर्मके ज्ञानमें भी रसका ही प्रायः प्राधान्य होनेसे औषध द्रव्योंके परिज्ञानकी दृष्टिसे भी रसोंकी क्रियाका ज्ञान उपयोगी और आवश्यक है।

समरस आहार ही हिताहार है—

यद्यपि, जैसा कि पहले कहा है, शरीर पाञ्चभौतिक होनेसे इसमें पाँचों महाभूतोंका तारतम्य (अनुपात) है, उसी तारतम्यके अनुसार लिया गया आहार हिताहार, समाहार किंवा युक्ताहार कहाता है; अथवा पाञ्चभौतिक विचार दुर्बोध होनेसे हिताहारकी यह भी परिभाषा की गयी है कि शरीरमें गुरु-लघु आदि गुण जिस प्रमाण (मात्रा) में रहते हैं उसी मात्रामें आहार द्रव्यान्तर्गत गुण हों तो आहार सम अथवा हित-आहार कहाता है; तथापि इसी विषयको संहिताओंमें इन शब्दोंमें भी व्यक्त किया जाता है कि—

समरस आहार ही हिताहार है। देखिये—

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्; एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्॥ च० सू० २५।४०

तत् (ओकसात्म्यं) त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन। × × तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसं मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम् × ×॥ च० वि० १।२०

× × प्रवरावरमध्यस्थमिति द्विरसादिपञ्चरसपर्यन्तम्॥ —चक्रपाणि

न चैकरससेवायां प्रसज्येत कदाचन॥ सु० सू० ४६।४९१

नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ॥ अ० हृ० ३।५७

× × नित्यं सर्वेषु ऋतुषु × ×॥ —हेमाद्रि

विपरीतगुणस्त्वेषां स्वस्थवृत्तेर्विधिर्हितः।
समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते॥ च० सू० ७।४१

तेषामिति सदातुराणां वातलादीनाम्। विपरीतगुणो वातादिगतरौक्ष्यादि विपरीतस्नेहादिगुण इत्यर्थः। समाः सर्वे रसा यत्र तत्तथा। समत्वं चेहानुरूपत्वमभिप्रेतं, न तु तुल्यमानत्वम्, न हि स्वस्थभोजने यावन्मधुर उपयुज्यते तावन्मानाः कट्वादयोऽपीति × ×। एवं च प्रकृत्यपेक्षः समधातुं प्रति सर्वरसोपयोगः ऋतुविहितेन "तस्मात्तुषारसमये स्निग्धाम्ललवणान् रसान्" (च० सू० ६।११) इत्यादिना विशेषविधानेन युक्तः सन् सर्वरसमेवाम्ललवणरसोत्कटं भोजनं हेमन्ते भवति। एवमन्यत्रापि देहप्रकृत्यृतुस्वभावपर्यालोचनयाऽनुगुणं तर्कणीयम्। यदुक्तं वाग्भटेन—"नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ" (अ० हृ० सू० ३।५७) इति॥ —चक्रपाणि

जैसा कि द्रव्य गुण विज्ञानके ग्रन्थोंमें विस्तारसे कहा गया है तथा इस ग्रन्थमें भी आगे संक्षेपमें कहा जायगा, रस सभी पञ्चभूतमय होते हैं। तत्-तत् भूतके आधिक्यसे तत्-तत् रसकी उत्पत्ति तथा अन्य रसोंसे भिन्नता होती है। इसी कारण जैसा कि ऊपर कहा है, आहारकी

[1]—इन द्रव्योंके उदाहरण 'द्रव्य गुण विज्ञान' में देखिये।

पाञ्चभौतिकताका अर्थ सर्वरसमयता ही होता है। अपने-अपने अग्नियोंसे नित्य क्षयको प्राप्त होनेवाले धातुओं, दोषों तथा मलोंकी प्रतिदिन यथायोग्य पूर्ति होती रहे, इस हेतु ग्रहण किये जानेवाले आहारमें छहों रसोंका सम प्रमाण होना आवश्यक है।

रसोंके सम प्रमाणका अर्थ यहाँ यह नहीं है कि सबके सब रस भारकी दृष्टिसे समान होने चाहिये। किन्तु शरीरकी प्रकृति, वय, ऋतु आदि को देखते हुए जिस रसका जिस पुरुषके लिए जितना प्रमाण होना चाहिए, उस रसका उस पुरुषके लिए उतना प्रमाण सम प्रमाण है। पृथक् पृथक् रसोंका सम प्रमाण प्रत्येक पुरुषके लिए भिन्न होता है, तथापि इतना निश्चय है कि आहारमें इन सबका होना स्वास्थ्यकी दृष्टिसे आवश्यक है।

इस सर्वरसमय आहारका अभ्यास अर्थात् नित्य सेवन सर्वोत्तम बलकर है। एक रस आहारका अभ्यास दुर्बलता उत्पन्न करनेवाले कारणोंमें सबसे बढ़ कर है। इन दोनोंके मध्यवर्ती संख्यामें अर्थात्—दो, तीन चार या पाँच रसोंका अभ्यास मध्यम है।

सामान्यतया नित्य (बारहों महीने) सर्व रसोंका सम प्रमाणमें सेवन करना चाहिये। परन्तु ऋतुस्वभाववश तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् दोषका प्रकोप होता है; अतः जिस ऋतुमें जिस दोषका कोप हो उस ऋतुमें उसके शमनके लिए उसके विरोधी गुणवाले रसोंका सेवन करना चाहिये। जैसे हेमन्तमें वातकी शान्तिके लिए अम्ल-लवण रसोंका विशेष सेवन करना योग्य है।

इसी प्रकार, पुरुषकी प्रकृतिका आरम्भक (बनानेवाला) जो दोष होता है, उस दोषके कोपसे होनेवाले रोग उसे अधिक होते हैं। अल्पमात्र कारणसे प्रकृतिजनक दोषका कोप होकर तज्जन्य रोग उसमें प्रादुर्भूत होते हैं। अतः प्रकृत्यारम्भक दोषको सम बनाये रखनेके लिए उस दोषके विरोधी गुणवाले रसोंका (उन रसोंवाले द्रव्योंका) निरन्तर सेवन करना चाहिये। प्रकृत्यारम्भक दोषका प्रकोप जिस ऋतुमें ऋतुस्वभाववश होता है, उस ऋतुमें तो इन दोष विरोधी रसोंका अभ्यास विशेष प्रमाणमें करना चाहिये।

सम दोष धातु पुरुषको दोषादिके साम्यके लिए सर्वरसोंका सम ही सेवन सदा करना चाहिये।

दोषों, धातुओं और मलोंके साम्यका आधार रस इसलिये है कि वृद्धि और क्षयके सामान्य नियमके अनुसार जिस रसकी उत्पत्ति जिस भूतके आधिक्यसे होती है, वह रस उन भूतोंकी अधिकतावाले दोष, धातु तथा मलकी वृद्धि करता है; इसके विपरीत जिस रसकी उत्पत्तिमें जिस भूतकी न्यूनता होती है उस रसका सेवन करनेसे उस भूतकी अधिकतावाले दोषों, धातुओं और मलोंकी क्षीणता होती है।

इस विषयको समझनेके लिए रसोंकी पाञ्चभौतिक रचना समझ लेनी चाहिये।

रसोंकी संख्या—

स (आहारः) षट्सु रसेष्वायत्तः। रसाः पुनर्द्रव्याश्रयाः॥ सु० सू० १।२८

रसास्तावत् षट्—मधुराम्ल लवण कटुतिक्तकषायाः॥ च० वि० १।४

स्वादुरम्लोऽथ लवणः कटुकस्तिक्त एव च।
कषायश्चेति षट्कोऽयं रसानां संग्रहः स्मृतः॥ च० सू० १।६५

रसाः स्वाद्वम्ललवण तिक्तोषणकषायकाः
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलवहाः॥

अ० सं० सू० १; अ० हृ० सू० १।१४

× × × तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिनां बलकरः, कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्यबलावहः ॥ —अरुणदत्त

× × द्रव्यमाश्रिता द्रव्यधर्मा इत्यर्थः × × × ॥ —हेमाद्रि

रस छः हैं—मधुर (स्वादु), अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय। आहार इन रसोंके अधीन है—अर्थात् आहार-द्रव्योंके जो विभिन्न गुण-धर्म हैं, उनका कारण ये रस हैं। औषधद्रव्यों की क्रियाका भी एक कारण रस ही हैं।

ऊपर रसोंका जिस क्रमसे निर्देश हुआ है उस क्रममें जो पहला-पहला रस है वह अपनेसे पिछले-पिछले रससे अधिक बल उत्पन्न करनेवाला है; एवं पिछला-पिछला रस अपनेसे पहले-पहले रससे न्यून बलोत्पादक है। इस प्रकार छहों रसोंमें मधुर सर्वोत्तम बलकर तथा कषाय सबसे न्यून बलकर है।

नव्य क्रियाशारीरके चार रस—

आधुनिक क्रियाशारीरवेत्ता मूल रस चार ही मानते हैं। ये रस निम्न हैं—मधुर[1], तिक्त[2], अम्ल[3] तथा लवण[4]। इनका विशेष विचार आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे।

रसोंकी पाञ्चभौतिकता—

षड् विभक्तीः प्रवक्ष्यामि रसानामत उत्तरम्।
षट् पञ्चभूतप्रभवाः संख्याताश्च यथा रसाः॥

सौम्याः खल्वापोऽन्तरिक्षप्रभवाः प्रकृतिशीता लघ्व्यश्चाव्यक्तरसाश्च। तास्त्वन्तरिक्षाद् भ्रश्यमाना भ्रष्टाश्च पञ्चमहाभूतगुणसमन्विता जङ्गमस्थावराणां भूतानां मूर्तीरभिप्रीणयन्ति। तासु मूर्तिषु षडभिमूर्च्छन्ति रसाः॥ च० सू० २६।३८-३९

षड् विभक्तीरिति मधुरादिषड् विभागानित्यर्थः। × × ×। रसानामादिकारणमेव तावदाह सौम्या इत्यादि। सौम्या इति सोमदेवताकाः। भ्रश्यमाना इति वदता भूमिसंबन्धव्यतिरेकेणान्तरीक्षैरितैः पृथिव्यादिपरमाणवादिभिः संबन्धो रसारम्भको भवतीति दर्श्यते। मूर्तीरिति व्यक्तीः। अभिप्रीणयन्तीति तर्पयन्ति किंवा जनयन्ति। अभिमूर्च्छन्ति रसा इतिव्यक्ति यान्ति। अत्र चान्तरीक्षमुदकं रसकारणत्वे प्रधानत्वादुक्तं, तेन क्षितिस्थमपि स्थावरजङ्गमोत्पत्तौ रसकारणं भवत्येव॥ —चक्रपाणि

आकाशपवनदहनतोयभूमिषु यथासंख्यमेकोत्तरपरिवृद्धाःशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः, तस्मादाप्यो रसः। परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति, उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्। स खल्वाप्यो रसः शेषभूतसंसर्गाद् विदग्धः षोढा विभज्यते। तद्यथा—मधुरोऽम्लो लवणः कटुकस्तिक्तः कषाय इति॥ सु० सू० ४२।३

रससामान्यस्य प्रथमं कारणसंभवं दर्शयन्नाह—आकाशेत्यादि। × × × आप्यो जलसंभवः। × × × सर्वेषामेवभूतानांसर्वात्मकत्वेऽपिउत्कर्षेणाभिधानादाप्य एवरसः।

१—Sweet—स्वीट। २—Bitter—बिटर। ३—Acid—एसिड; या Sour—सावर। ४—Salt—सॉल्ट।

× × × आप्यो रसोऽव्यक्तोऽपि कालसहायभूमिवियदनिलानलसंसर्गेण परिपाकान्तरं गतः, षोढा विभज्यते षट्प्रकारो भवति ॥ —डल्हन

जलमेकविधं सर्वं पतत्यैन्द्रं नभस्तलात् ।
तत् पतत् पतितं चैव देशकालावपेक्षते ॥
खात् पतत् सोमवाय्वर्कैः स्पृष्टं कालानुवर्तिभिः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्यथासन्नं महीगुणैः ॥

च० सू० २७।१९६-१९७

× × देशमाकाशगतभूतरूपं, कालं च शीतोष्णादिरूपम्, तथा पतितं च भूमिविशेषरूपं देशं, कालं च तथैवापेक्षते × × × ॥ —चक्रपाणि

रस जल महाभूतका नैसर्गिक गुण है। जलका प्रभवस्थान[1] अन्तरिक्ष आकाश है। जल जबतक अन्तरिक्षमें रहता है तबतक सौम्य, शीत, लघु तथा अव्यक्त रसवाला अर्थात् मधुरादि भेद शून्य होता है।

जैसे इतर महाभूत अकेले रहकर द्रव्योत्पत्ति नहीं कर सकते, परन्तु अन्यमहाभूतोंके साथ न्यूनाधिक्य प्रमाणमें मिलकर ही द्रव्योत्पत्ति करते हैं, तथापि जिस द्रव्यमें जिस भूतका आधिक्य होता है, उस भूतके अनुसार ही उस द्रव्यका 'पार्थिव' आदि नामाभिधान होता है, उसी प्रकार जल अकेला रहता हुआ तो अव्यक्त रसकी ही उत्पत्ति करता है, परन्तु जब वह अन्यमहाभूतोंके संसर्गमें आता है तो यह अव्यक्त परिपक्व (विदग्ध–रूपान्तरको प्राप्त) होकर अन्य महाभूतोंके भी रूक्षोष्णादि गुण ग्रहण करता है। परिणामतया, रसकी व्यक्ति अर्थात् मधुरादि भेदसे विभिन्नता होती है। तथापि रसमें प्राधान्य तो जलका ही होता है, अतः उसे 'आप्य' (जलीय) कहा जाता है।

जल जब अन्तरिक्षसे नीचे उतरता है तो अन्तरिक्षस्थ अन्य महाभूतोंके परमाणुओंसे उसका संसर्ग होता है। पृथ्वीपर आकर तो यह संसर्ग विशेष रूपसे होता है। इस प्रकार जल अन्य महाभूतोंके साथ मिलकर स्थावर और जङ्गम द्रव्योंकी उत्पत्ति और पुष्टि करता है तथा मधुरादि छः रसोंको भी उत्पन्न करता है।

तत्-तत् रसमें तत्-तत् भूतका आधिक्य—

तेषां षण्णां रसानां सोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः, (पृथिवीसोमगुणातिरेकान्मधुरो रसः इति पाठान्तरम्) पृथिव्यग्निगुणभूयिष्ठत्वादम्लः, सलिलाग्निभूयिष्ठत्वाल्लवणः वाय्वग्निभूयिष्ठत्वात् कटुकः, वाय्वाकाशातिरिक्तत्वात्तिक्तः, पवनपृथिवीव्यतिरेकात् कषाय इति। एवमेषां रसानां षट्त्वमुपपन्नं न्यूनातिरेक विशेषान्महाभूतानां भूतानामिव स्थावरजङ्गमानां नानावर्णाकृतिविशेषाः; षडृतुकत्वाच्च कालस्योपपन्नो महाभूतानां न्यूनातिरेक विशेषः ॥ च० सू० २६।४०

सोमगुणातिरेकादिति अतिरेकशब्देन सर्वेष्वेव रसेषु सर्वभूतसान्निध्यमस्ति, क्वचित्तु कस्यचिद्भूतगुणस्यातिरेकाद् रसविशेषो भवतीति दर्शयति। एतच्च मधुरं प्रति अब्गुणातिरिक्तत्वं विशेषोत्पत्तौ

[1]—उत्पत्तिस्थान।

कारणत्वेन ज्ञेयं; यच्चाधारकारणत्वमपां, तत्सर्वसाधारणम्। एवं लवणेऽप्यपां कारणत्वं ज्ञेयम्। लवणस्तु सुश्रुते पृथिव्यग्न्यतिरेकात् पठितः, अस्मिंश्च विरोधे कार्यविरोधो नास्त्येव। ननु, उष्णशीताभ्यामग्निसलिलाभ्यां कृतस्य लवणस्याप्युष्णशीतत्वेन भवितव्यं, तल्लवणं कथमुष्णं भवति? नैवं, यतो भूतानामयं स्वभावः—यत् केनचित् प्रकारेण संनिविष्टाः कंचिद्गुणमारभन्ते, न सर्वम्। यथा, सकुष्ठकेऽद्भिर्मधुरो रसः क्रियते, न स्नेहः; तथा सैन्धवेऽपि वह्निना नोष्णत्वमारभ्यते। अयं च भूतानां संनिवेशोऽदृष्टप्रभावकृत एव, स च संनिवेशः कार्यदर्शनोन्नेयः। तेन यत्र कार्यं दृश्यते तत्र कल्प्यते; यथा, लवणे उष्णत्वादग्निर्विष्यन्दित्वाच्च जलमनुमीयते। आगमवेदनीयश्चायमर्थो नात्रास्मद्विधानां कल्पनाः प्रसरन्ति। × × ×। रसभेदं दृष्टान्तेनसाधयन्नाह—एवमित्यादि। × × भूतानां यथा नानावर्णाकृतिविशेषा महाभूतानां यथोक्तानामतिरेक विशेषहेतुमाह—षड्तुकत्वादित्यादि। षड्तुकत्वेन कालो नाना हेमन्तादिरूपतया कञ्चिद् भूतविशेषं क्वचिद् वर्धयति, स चात्मकार्यं रसं पुष्टं करोति। यथा, हेमन्तकाले सोमगुणातिरेको भवति, शिशिरे वाय्वाकाशातिरेकः; एवं तस्याशितीयोक्तरसोत्पादक्रमेण वसन्तादावपि भूतोत्कर्षो ज्ञेयः, तथाऽदृष्टकृतश्च; तेन हेमन्तादावपि रसान्तरोत्पादः क्वचिद्वस्तुन्युपपन्नो भवति। × × ×॥ —चक्रपाणि

तत्र, भूम्यम्बुगुण बाहुल्यान्मधुरः, भूम्यग्निगुणबाहुल्यादम्लः, तोयाग्निगुणबाहुल्याल्लवणः (तोयाग्निगुणबाहुल्यादम्लः, भूम्यग्निगुणबाहुल्याल्लवणः—इति पाठान्तरम्), वाय्वग्निगुणबाहुल्यात् कटुकः, वाय्वाकाशगुणबाहुल्यात् तिक्तः, पृथिव्यनिलबाहुल्यात् कषाय इति॥ सु० सू० ४२।३

यद्यपि रसकी उत्पत्तिमें प्रधान भूत जल है, तथापि उसके साथ अन्य भूतोंके संसर्गसे छः प्रकारके रस उत्पन्न होते हैं। जैसे, पाँच महाभूतोंका न्यूनाधिक्य भावसे संसर्ग होकर स्थावर जङ्गम द्रव्योंके नाना वर्ण और आकृतियाँ उत्पन्न होती हैं, वैसे इन्हीं भूतोंके न्यूनाधिक्य प्रमाणमें मेलसे छः रस भी उत्पन्न होते हैं। भूतोंकी न्यूनाधिकताका कारण छः ऋतुएँ हैं। किसी ऋतुमें कोई भूत अधिक होता है, किसीमें कोई। जिस ऋतुमें जिस भूतका आधिक्य होता है, उस ऋतुमें उस भूतकी अधिकतासे होनेवाले रसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार—

सोम (पृथिवी और जल महाभूत) के गुणोंकी अधिकतासे मधुर रस उत्पन्न होता है, पृथिवी और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे लवण, वायु और अग्निके गुणोंकी अधिकतासे कटु रस; वायु तथा आकाशके गुणोंकी अधिकतासे तिक्त रस, और वायु तथा पृथिवीके गुणोंकी अधिकतासे कषाय रस उत्पन्न होता है।

ऋतुभेदसे सृष्टिमें भूतोंका आधिक्य तथा विभिन्न रसोंकी उत्पत्ति—

तत्र रविर्भाभिराददानो जगतः स्नेहं वायवस्तीव्ररूक्षाश्चोपशोषयन्तः शिशिरवसन्तग्रीष्मेषु यथाक्रमं रौक्ष्यमुत्पादयन्तो रूक्षान् रसांस्तिक्तकषायकटुकांश्चाभिवर्धयन्तो नृणां दौर्बल्यमावहन्ति। वर्षाशरद्धेमन्तेषु तु दक्षिणाभिमुखेऽर्के कालमार्गमेघवातवर्षाभिहतप्रतापे, शशिनि चाव्याहतबले, माहेन्द्रसलिलप्रशान्तसन्तापे जगति, अरूक्षा रसाः प्रवर्धन्तेऽम्ललवणमधुरा यथाक्रमं तत्र बलमुपचीयते नृणामिति॥ च० सू० ६।६-७

आददान उच्छोषयन्। जगतः स्थावरजङ्गमस्य। स्नेहं सारं सौम्यभागमित्यर्थः। न केवलं रविः, वायवश्च शोषयन्तः स्नेहमिति संबन्धः × × ×। अत्र च क्रमवद्रौक्ष्योत्पत्तितिक्त-

द्युत्पत्ती अपि दौर्बल्योत्पत्तौ कारणं, यतो रौक्ष्यमुत्पादयन्त इति तिक्तकषायकटुकानभिवर्धयन्त इति च हेतुगर्भविशेषणद्वयंकृत्वा दौर्बल्यमावहन्तीत्युक्तम् × × ×। मेघस्य वातो मेघवातः। वातस्त्विह मेघसंम्बन्धाहितशैत्योऽर्कताप परिपन्थी भवति × × ×॥ —चक्रपाणि

× × अयने द्वे भवतो दक्षिणमुत्तरं च। तयोर्दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः, तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते। उत्तरं च शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः, तिक्त कषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते[1]॥

सु० सू० ६।७

× × × आप्यायते अधिकबलो भवति × × ॥ —डल्लन

× × कथं महाभूतानामूनाधिक्यम्? उच्यते—कालस्य संवत्सराख्यस्य षड्ऋतुकत्वाद् रसस्यापि षड्भेदत्वम्। तथा च शिशिरे वाय्वाकाशयोराधिक्याद् रसस्य तिक्तता, वसन्ते वायुपृथिव्योः कषायता, ग्रीष्मेऽग्निवाय्वोः कटुकता, वर्षास्वग्निपृथिव्योरम्लता, शरद्यग्न्युदकयोर्लवणता, हेमन्ते पृथिव्युदकयोर्मधुरतेति प्राधान्यात् व्यपदेशः; तेनान्यर्तूद्भवानामपि रसानां यथोक्तमहाभूतद्वयाधिक्यमेव कारणं विज्ञेयम्॥ अ० सं० सू० १८ में —इन्दु

सामान्यतः रसोंको दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है—रूक्ष किंवा दौर्बल्यजनक रस अर्थात्—तिक्त कषाय और कटु; तथा—अरूक्ष या स्निग्ध किंवा बलकारक अर्थात्—अम्ल, लवण और मधुर रस।

आदान काल (उत्तरायण) अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुमें सूर्य तथा तीव्र-रूक्ष वायुएँ स्थावर-जङ्गम सृष्टिके स्नेहांशका शोषण करते हैं तथा उद्भिज्ज सृष्टिमें रूक्षता उत्पन्न करके तीनों ऋतुओंमें क्रमशः तिक्त, कषाय और कटु रसको विशेषतः उत्पन्न करते हैं। स्नेहांशके शोषण और रूक्ष रसोंके सेवनके कारण इन ऋतुओंमें प्राणियोंका बल उत्तरोत्तर न्यून होता है।

इसके विपरीत विसर्गकाल (दक्षिणायन) अर्थात् वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुमें चन्द्रका बल विशेष तथा सूर्यका प्रताप क्षीण होनेके कारण उद्भिज्ज-सृष्टिमें क्रमशः स्निग्ध रस अर्थात् अम्ल, लवण और मधुर विशेषतया उत्पन्न होते हैं। चन्द्रके पोषक स्वभाव और स्निग्ध रसोंके कारण इन ऋतुओंमें प्राणियोंका बल उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होता है।

उक्त प्रकारसे प्रत्येक ऋतुमें एक-एक रस प्रधानतया, उत्पन्न होनेका कारण यह है कि, उस-उस ऋतुमें, ऋतु-स्वभाववश उस-उस भूतका आधिक्य होनेके कारण उस भूतसे उत्पन्न रसकी ही उत्पत्ति विशेषरूपसे होती है। यथा, शिशिरमें वायु और आकाशकी अधिकताके कारण तिक्त रसकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि।

अन्य ऋतुओंमें विशिष्टकारणवश असामान्य भूतोंका आधिक्य हो जाय तो अपवाद रूपसे उन भूतोंकी अधिकतासे होनेवाले रस उत्पन्न होते हैं।

गन्ना, गेहूँ, मिर्च आदि खाद्य द्रव्यों तथा धान्योंकी फसलोंकी ऋतुओंका पर्यालोचन करके देखना चाहिये कि, पूर्वाचार्योंका यह सिद्धान्त कहाँ तक सत्य है कि तत्-तत् ऋतुमें तत्-तत् रस अर्थात् तत्-तत् रसवाले द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार औषध द्रव्योंकी भी परीक्षा

१—इन सूत्रोंका यहाँ प्रासंगिक आशयमात्र लिया है। विस्तार स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।

करके देखना चाहिये कि मधुर अर्थात् शर्करा, ग्लुकोसाइड[1] आदिसे युक्त द्रव्य, तथा अम्ल, तिक्त आदि द्रव्योंकी पुष्टि किस ऋतुमें होती है—अर्थात् उनका कार्मुक[2] अंश किस ऋतुमें अधिकतम होता है।

द्रव्य एकरसात्मक नहीं—

भूतसमवायसंभवान्नैकरसं द्रव्यम्॥ अ० सं० सू० १७

तस्मान्नैकरसं द्रव्यं भूतसंघातसंभवात्॥ अ० हृ० सू० ९।३

द्रव्योंकी पाञ्चभौतिक रचनाके प्रकरणमें हम जान चुके हैं कि, सृष्टिका प्रत्येक द्रव्य पाँचों महाभूतोंके समवायसे बनता है; तथापि जिस द्रव्यमें जिस महाभूतका आधिक्य होता है, उस भूतके नामपर उस द्रव्यको पार्थिव आदि नाम दिये जाते हैं। इसी प्रकार रस भी पाँच महाभूतोंके समवायसे बनते हैं; अर्थात् प्रत्येक रस पाञ्चभौतिक है। तथापि, उनकी रचनामें जो दो-दो भूत प्रधानतया भाग लेते हैं, उन्हींका ऊपर लिखे अनुसार आचार्योंने निर्देश किया है[3]। एवं, द्रव्यमें तत्-तत् भूतके आधिक्यके कारण जो रस व्यक्त (स्पष्ट) होता है, उसे रस कहते हैं। शेष अल्प और अव्यक्त रसको 'अनुरस' कहा जाता है[4]।

रसोंका शरीरपर प्रभाव—

शरीरके प्रधान अङ्गभूत दोषोंकी पाञ्चभौतिक रचनाका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। शरीरके धारक आहारौषध द्रव्योंकी क्रिया मुख्यतया रसोंके कारण होती है, किंवा गुण, विपाकादि अन्य धर्मोंके होते हुए भी प्रायशः रसोंके द्वारा ही उनका भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार द्रव्योंके प्रधान धर्मरूप इन रसोंकी भी पाञ्चभौतिक रचनाका उल्लेख ऊपर किया गया है। दोषों और रसोंकी भौतिक रचनाके निर्देशकाप्रयोजन यह है कि, स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्य-संरक्षण और रुग्ण पुरुषके रोगापनयनके कार्यमें यह सूत्र सदा स्मरण रखना चाहिये कि—

१—Glucoside. २—क्रियाशील-Active— एक्टिव।

३—हेमाद्रिने यहाँ 'रस' शब्दका अर्थ 'धर्म' (गुण-कर्म) करके श्लोकका अर्थ किया है कि पाँचों भूतोंसे बने होनेके कारण प्रत्येक द्रव्यमें पाँचों भूतोंके गुण-धर्म आते हैं—"तस्मात् सर्वभूतारब्धत्वात् सर्वमपि द्रव्यं नैकरसं अनेकरम् सर्वधर्ममित्यर्थः। रसशब्दोऽत्र धर्ममात्रलक्षणः।" यह अर्थ भी अग्राह्य नहीं है।

४—देखिये— व्यक्तः शुष्कस्य चादौ च रसो द्रव्यस्य लक्ष्यते।
विपर्ययेणानुरसः × × × ॥ च० सू० २६।२८

शुष्कस्य चेति चकारादार्द्रस्य, आदौ चेति चकारादन्ते च। तेन शुष्कस्य वाऽऽर्द्रस्य वा प्रथम जिह्वा संबन्धे वाऽऽस्वादान्ते वा यो व्यक्तत्वेन मधुरोऽयमम्लोऽयमित्यादिना विकल्पेन गृह्यते स व्यक्तः। यस्तूक्तावस्थाचतुष्टयेऽपि व्यक्तो नोपलभ्यते, किं तर्हि अव्यपदेश्यतया छायामात्रेण कार्यदर्शनेन वा मीयते सोऽनुरस इति वाक्यार्थः॥ —चक्रपाणि

× × × तत्र व्यक्तो रसः स्मृतः।
अव्यक्तोऽनुरसः किंचिदन्ते व्यक्तोऽपि चेष्यते॥ अ० हृ० सू० ९।३

× × × हीनार्थोऽत्रानुशब्दः, अल्पो रस इत्यर्थः × × ×॥ —हेमाद्रि

हेमाद्रिने यहाँ रस शब्दका अर्थ धर्म करके द्रव्योंके व्यक्त और अव्यक्त दो प्रकारके धर्म बताये हैं।

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना अन्ययोनिप्रशमनाश्च ॥ सु० सू० ४२।७

स्वयोनिवर्धना इति येभ्यः कारणेभ्यो मधुरादयो रसा उत्पद्यन्ते तानि वर्धयन्तीत्यर्थः ॥

—डह्लन

जो रस जिन भूतोंसे उत्पन्न होता है, उन्हीं भूतोंसे शरीरान्तर्गत जिस दोष, धातु, उपधातु या मलकी उत्पत्ति होती है, उस रससे उसी दोष, धातु आदिकी वृद्धि होती है। इसके विपरीत अन्य भूतोंसे उत्पन्न दोष आदिका उस रसके सेवनसे ह्रास होता है।

शरीरावयवोंमें दोषोंके प्रधान होनेसे उनके कोपक-शामक रसोंको जान रखना चाहिये। प्रत्येक दोषके कोपक-शामक रस निम्नोक्त हैं।

दोषोंके कोपक-शामक रस—

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति। तद्यथा-कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति। कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति, मधुरतिक्तकषायास्त्वेनंशमयन्ति। मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति। कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥ च० वि० १।६

अनेन च रसकर्मोपदेशेन दोषाणामपि तत्तद्रसोत्पाद्यत्वं तथा तत्तद्रसोपशमनीयत्वमुक्तं भवति। कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्तीति असति परिपन्थिनीति ज्ञेयं, तेनार्कागुरुगुडूच्यादीनां तिक्तानामपि वाताजनकत्वे न दोषः। तत्र ह्युष्णवीर्यता परिपन्थिनी विद्यते, तेन न ते वातं जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम् एवमिति पदेन यश्च कट्वादिजो वायुस्तमेव मधुरादयः सर्वात्मवैपरीत्याद् विशेषेण शमयन्तीति दर्शयति; जागरणादिजे हि वायौ जागरणादि विपरीताः स्वप्नादय एव विशेषेण पथ्याः। एवं पित्तश्लेष्मणोरपि एनदेनंशब्दयोस्तात्पर्यं दर्शयति ॥ —चक्रपाणि

स्वाद्वम्ललवणा वायुं कषायस्वादुतिक्तकाः।
जयन्ति पित्तं, श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः ॥
कट्वम्ललवणाः पित्तं स्वाद्वम्ललवणाः कफम्।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ॥ च० सू० १।६६

रसानामुपयुक्ततरं कार्यमाह– स्वाद्वम्लेत्यादि। अत्र च वायोर्नीरसस्यापि रससहचरितस्निग्धत्वादि-गुणैर्विपरीतैः प्रशमो ज्ञेयः। एवं मधुररसस्यापि श्लेष्मणोऽम्ललवणाभ्यां स्निग्धत्वाभिष्यन्दित्वादि-सहचरित गुणयोगादेव वृद्धिः। ××× । रसकर्मातिदेशेनैव गुणवीर्यविपाकानामपि कर्मनिर्देशः कृत एव। यतो मधुरादिरसेनैव सर्वगुणान् वीर्यविपाकांश्च निर्देक्ष्यति भद्रकाप्यीये (च० सू० २६ अध्याये) ××× ॥ —चक्रपाणि

तत्र मधुराम्ललवणा वातघ्नाः, मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः, कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥ सु० सू० ४२।४

तीन-तीन रस एक-एक दोषको शान्त करते हैं, तथा तीन-तीन रस एक-एक दोषको प्रकुपित करते हैं। यथा, कटु, तिक्त और कषाय रस समान योनि (समान मूल कारण) वाले होनेसे वायुको प्रकुपित करते हैं; तथा, मधुर, अम्ल और लवण विपरीत योनिवाले होनेसे उसे शान्त करते हैं। इसी प्रकार, मधुर, अम्ल और लवण रस कफको कुपित करते हैं तथा कटु, तिक्त और कषाय उसे शान्त

करते हैं। एवं, कटु, अम्ल और लवण रस पित्तको प्रकुपित करते हैं तथा मधुर, तिक्त और कषाय रस उसे शान्त करते हैं।

इस विषयमें यह विशेष जानना चाहिये कि, तत्-तत् रसके द्वारा तत्-तत् दोषका प्रकोप या प्रशमन तभी होता है, जब वीर्य आदि विरोधी न हों। वीर्य आदि विपरीत हों, तो रस उल्लिखित कार्य नहीं करते। यथा, अर्क (आक), अगुरु और गुडूची तिक्त होते हुए भी वातको कुपित नहीं करते ; प्रत्युत अपने उष्ण वीर्यके कारण उसे शान्त ही करते हैं।

अपरं च, दोषोंका प्रकोप यदि प्रकोपक रसोंके सेवनसे हुआ हो, तभी विरोधी रस उसे शान्त करते हैं। दोषका कोप अन्य कारणसे हुआ हो तो शामक रसों द्वारा उस दोषका प्रशमन वैसा नहीं होता। उस अवस्थामें तो प्रकोप-विपरीत उपचारसे ही उस दोषका शमन होता है। यथा, वातका प्रकोप यदि जागरण आदि कारणोंसे हुआ हो तो मधुर, अम्ल, लवण रसोंके सेवनसे वैसा लाभ नहीं होता, जितना लाभ जागरणादि विपरीत निद्रा-सेवन इत्यादि उपचारोंसे होता है।

अमुक-अमुक रससे अमुक-अमुक दोषकी वृद्धि या प्रकोपका कारण रस और दोषके जनक महाभूत समान होना या विपरीत होना है। इसी बातको सरलताके लिए यों भी कह सकते हैं कि दोषमें जो गुण होते हैं, शामक रसके गुण उनके विपरीत होते हैं। शामक रसका निरन्तर सेवन करनेसे विरोधी गुणोंकी अधिकता हो जाती है, जिससे दोषके गुणोंका क्षय होकर वह शान्त होता है। इसके विपरीत, प्रकोपक रसके गुण दोषके गुणोंके सदृश होते हैं। उसका निरन्तर सेवन करनेसे समान गुणोंकी अधिकता होकर स्वभावतः उस दोषकी वृद्धि (प्रकोप) होती है[1]।

१—**रसोंसे दोषोंके कोप और प्रशमनकी व्याख्या**—केचिदाहुः—अग्नीषोमीयत्वाज्जगतो रसा द्विविधाः–सौम्या आग्नेयाश्च। मधुरतिक्तकषायाः सौम्याः ; कट्वम्ललवणा आग्नेयाः। तत्र मधुराम्ल-लवणाः स्निग्धा गुरवश्च, कटुतिक्तकषाया रूक्षा लघवश्च ; सौम्याः शीताः, आग्नेया उष्णाः। तत्र शैत्यरौक्ष्यलाघववैशद्यवैष्टम्भ्यगुणलक्षणो वायुः, तस्य समानयोनिः कषायो रसः। सोऽस्य शैत्याच्छैत्यं वर्धयति रौक्ष्याद्रौक्ष्यं, लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यं, वैष्टम्भ्याद् वैष्टम्भ्यमिति। औष्ण्यतैक्ष्ण्यरौक्ष्यलाघववैशद्यगुण-लक्षणं पित्तं, तस्य समानयोनिः कटुको रसः। सोऽस्य औष्ण्यादौष्ण्यं वर्धयति, तैक्ष्ण्यात् तैक्ष्ण्यं, रौक्ष्याद् रौक्ष्यं लाघवाल्लाघवं, वैशद्याद् वैशद्यमिति। माधुर्यस्नेह गौरवशैत्यपैच्छिल्यगुणलक्षणः श्लेष्मा ; तस्य समानयोनिर्मधुरो रसः। सोऽस्य माधुर्यान्माधुर्यं वर्धयति, स्नेहात् स्नेहं, गौरवाद् गौरवं, शैत्याच्छैत्यं, पैच्छिल्यात् पैच्छिल्यमिति। तस्य पुनरन्ययोनिः कटुको रसः ; सश्लेष्मणः प्रत्यनीकत्वात् कटुकत्वान्माधुर्यम-भिभवति, रौक्ष्यात् स्नेहं, लाघवाद् गौरवम्, औष्ण्याच्छैत्यं, वैशद्यात् पैच्छिल्यमिति। तदेतन्निदर्शनमात्र-मुक्तं भवति ॥ सु० सू० ४२।५-८

अग्नीषोमीयत्वादिति–अग्निश्च सोमश्च योनिर्जगत इत्यर्थः। सौम्याश्चाग्नेयाश्चेति चकारद्वयात् स्नेहरूक्षगुरुत्वलघुत्वैरपि द्वैविध्यं सूचयति ॥ —डल्हन

—पाञ्चभौतिक होते हुए भी जगत् अर्थात् स्थावर-जङ्गम द्रव्योंमें अग्नि और सोम (जल) के गुण ही मुख्यतया देखे जाते हैं—किसीमें अग्निके और किसीमें सोमके। अतः द्रव्योंको अग्नीषोमात्मक कहा जा सकता है। द्रव्योंके समान रस भी पाञ्चभौतिक होते हुए भी इसी न्यायसे 'आग्नेय' और 'सौम्य' दो विभागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। मधुर, तिक्त और कषाय रस सौम्य हैं, तथा कटु, अम्ल और लवण आग्नेय। इतर गुणोंकी दृष्टिसे भी उन्हें दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा, मधुर, अम्ल, लवण रस स्निग्ध तथा गुरु हैं और कटु, तिक्त, कषाय रस रूक्ष और लघु। एवं सौम्य अर्थात् मधुर, तिक्त और कषाय रस शीत हैं तथा आग्नेय अथवा कटु, अम्ल और लवण रस उष्ण हैं।

रोगमात्रकी त्रिदोषजता—

नैकदोषास्ततो रोगाः ××× ॥ अ० हृ० सू० ९।३

यतः सर्वं द्रव्यमनेकरसं, ततः तस्मात् कारणात् एक दोषा रोगा ज्वरादयो न भवन्ति, अपि त्वनेकदोषाः, त्रिदोषा इत्यर्थः । अत्रापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इत्यध्याहार्यम् । तेन त्रिदोषात्मकेऽपि ज्वरे वाताधिके वातज्वरः, एवं पित्तज्वरः श्लेष्मज्वर इत्येवंरूपो व्यपदेश उपपन्नः । ××× ॥

—अरुणदत्त

तुल्यन्यायत्वप्रसंगात् सर्वेषां रोगाणां सर्वदोषजत्वमाह—नैकदोषा इत्यादि । रोगा नैकदोषाः सर्वेऽपि रोगाः सर्वदोषोद्भवाः । कुतः ? तत एव हेतोः रोगाणामपि भूतसंघातसंभवात् । भूतसंघातस्य

समान योनि (मूलकारण-महाभूत) वाले रससे समान दोषकी वृद्धि होती है । यथा, शैत्य, रौक्ष्य, लाघव, विशदता तथा विष्टम्भ ये वायुके गुण हैं । तुल्य योनि होनेसे कषाय रसमें भी यही गुण होते हैं । उसका सेवन करनेसे उसके शैत्यसे वायुका शैत्य बढ़ता है, रौक्ष्यसे रौक्ष्य, लाघवसे लाघव, विशदतासे विशदता और विष्टम्भसे विष्टम्भ । इस प्रकार गुणवृद्धि होनेसे कषाय रससे वायुकी वृद्धि होती है ।

उष्णता, तीक्ष्णता, रौक्ष्य, लाघव और वैशद्य ये पित्तके गुण हैं । कटु रस उसका तुल्य योनि होनेसे इन्हीं गुणोंवाला होता है । वह अपनी उष्णतासे पित्तकी उष्णताको बढ़ाता है, तीक्ष्णतासे तीक्ष्णताको, रूक्षतासे रूक्षताको, लघुतासे लघुताको तथा विशदतासे विशदताको बढ़ाता है । इस प्रकार कटु रसके सेवनसे पित्तके गुणोंकी वृद्धि होनेसे उसका प्रकोप होता है ।

माधुर्य, स्नेह (स्निग्धता), गौरव, शैत्य और पिच्छिलता ये कफके गुण हैं । मधुर रस उसका समान योनि है । उसका सेवन करनेसे उसके माधुर्यसे कफके माधुर्यकी वृद्धि होती है, स्नेहसे स्नेहकी, गौरवसे गौरवकी, शैत्यसे शैत्यकी और पैच्छिल्यसे पैच्छिल्यकी । इस प्रकार मधुर रसके सेवनसे कफके गुणोंकी वृद्धि होनेसे परिणामतया उसका प्रकोप होता है ।

इसके विपरीत जो रस जिस दोषसे भिन्न योनिवाला होता है, उसके सेवनसे उस दोषके गुणोंका क्रमशः क्षय (न्यूनता) होकर परिणाममें उसका शमन होता है । यथा, कटु रस कफसे भिन्न योनिवाला है, अतः उसका विरोधी है—विरुद्ध गुणवाला होनेसे कफके गुणोंको क्षीण करता है । अपनी कटुतासे कटु रस कफके माधुर्यको क्षीण करता है, रूक्षतासे स्नेहको, लघुतासे गुरुताको, उष्णतासे शैत्यको तथा विशदतासे पिच्छिलताको क्षीण करता है । इस प्रकार कटु रसके सेवनसे क्रमशः कफके गुणोंका क्षय होकर परिणाममें उसका शमन होता है ।

अन्य रसोंसे अन्य दोषोंकी वृद्धि और शान्तिका स्वरूप भी इसी प्रकार समझना चाहिये ।

च० वि० १।१४ में वातके सर्वोत्तम शामक तैल, कफके सर्वोत्तम शामक मधु तथा पित्तके सर्वोत्तम शामक घृतकी क्रियाकी भी इसी प्रकार उत्पत्ति बताई है । उसे भी इस प्रकरणमें स्मरण किया जा सकता है । आगे तत्तत् दोषके अधिकारमें इस संदर्भका उल्लेख करेंगे ।

रसोंके दो विभाग—विदाही और अविदाही—रस वैशेषिक सूत्र (अ० ४।) के भाष्यमें रसोंके विदाही और अविदाही दो विभाग करके, कटु, अम्ल और लवणको विदाही तथा, मूर्च्छाजनक और मधुर, तिक्त और कषायको अविदाही और मूर्च्छा शामक कहा है । देखिये—

कट्वम्ललवणा वैद्यैर्विदाहिन इति स्मृताः ।
स्वादुतिक्तकषायाः स्युर्विदाह-रहिता रसाः ॥
विदाहिनो रसा मूर्च्छां जनयन्तीति निश्चिताः ।
अविदाहिनस्तच्छमनाः कीर्तिता भिषगुत्तमैः ॥

तु त्रिषु दोषेषु विभक्तत्वात्। यथोक्तं संग्रहे—"वाय्वाकाश-धातुभ्यां वायुः, आग्नेयं पित्तम्, अम्भः पृथिवीभ्यां श्लेष्मा" (अ० सं० सू० २०) इति। भूतसंघातं विना न दोषसंघातः, तं विना न रोगोत्पत्तिः, अतः सर्वे रोगास्त्रिदोषजाः × × ×॥ —हेमाद्रि

सर्वेषामेव सर्वजत्वम्; उत्कर्षतस्त्वेक दोषजत्वम्। उक्तमेव तदसकृत्—

द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः।
योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः॥

सु० नि० ३।१० पर—गयदास

प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक रस पञ्चभूतात्मक होता है, परन्तु जिस द्रव्य या जिस रसमें जिस भूतका आधिक्य होता है, उसीके नामपर उसे पार्थिव आदि नाम दिये जाते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक रोग भी त्रिदोषात्मक (त्रिदोषज) होता है। तथापि, जिस रोगमें जिस दोषके लक्षण प्राधान्यसे लक्षित हों उसके नामपर उसे वातिक आदि विशेषण दिये जाते हैं।

आशय यह है कि—प्रत्येक द्रव्य और प्रत्येक रसमें पांचों महाभूतोंकी विद्यमानता होती है। अतः उसके सेवनसे यद्यपि प्रधानतया विद्यमान महाभूत तथा तज्जनित दोषकी वृद्धि होती है; तथापि अल्पमात्रामें विद्यमान अन्य दोषोंकी भी यत्किञ्चित् वृद्धि होती ही है। इस प्रकार रोगोत्पत्तिमें कारणभूत प्रधान दोष एक होते हुए भी अन्य दोष भी अनुबद्ध होते ही हैं। तथापि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, रोगका नाम निर्देश प्रधान दोषके नामपर ही होता है।

संयुक्त दोषोंकी विशेष संज्ञा—

बहुधा प्रकुपित, क्षीण अथवा आगे कही जानेवाली प्रकृतियोंके आरम्भक (जनक) प्रधान दोष दो या तीनों होते हैं। जब दो दोष मिलकर रोगोत्पत्ति या प्रकृतिका निर्माण करते हैं तो उन्हें 'संसृष्ट' कहते हैं तथा उनके संयोग को 'संसर्ग' कहा जाता है। जब तीनों दोष मिलकर रोग अथवा प्रकृतिके उत्पादनमें कारण होते हैं तो उन्हें 'संनिपतित' कहते हैं तथा उनके संयोगको 'संनिपात' कहा जाता है।

रसोंके विषयमें अन्य ज्ञातव्य 'द्रव्य गुण विज्ञान' के ग्रन्थोंमें देखना चाहिये। पहले कहे अनुसार आहार-द्रव्य रसप्रधान होनेसे रस क्रिया शारीरके विशेष विषय हैं। आगे प्रत्येक रसके सम्यक् उपयोगसे होनेवाले गुण-कर्म तथा अतियोगसे होनेवाली विक्रियाओंका निर्देश किया जाता है।

विदाहीका लक्षण—

द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात्।
पित्तप्रकोपं विदहत् करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि॥

सु० सू० ४५।१५८ पर डल्हन धृत तन्त्रान्तरीय वचन

विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात् तथा तृषाम्।
हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात्॥

अर्थात्—जो अन्नपान अपने स्वभावसे अथवा गुरुताके कारण देरसे पचे, पचता हुआ विदाह (अम्ल पाक) को प्राप्त हो, अम्लोद्गार, तृषा तथा हृदयमें दाह (Heart burn—हार्ट बर्न) आदि पित्त प्रकोप के लक्षणोंको उत्पन्न करे उसे विदाही कहते हैं।

छठा अध्याय

अथातो रसकार्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

मधुर रसके गुण-कर्म—

मधुरो रसः शरीरसात्म्याद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जौजःशुक्राभिवर्धन आयुष्यः षडिन्द्रियप्रसादनो बलवर्णकरः पित्त विषमारुतघ्नस्तृष्णा दाहप्रशमनस्त्वच्यः केश्यः कण्ठ्यो बल्यः प्रीणनो जीवनस्तर्पणो बृंहणः स्थैर्यकरः क्षीणक्षतसंधानकरो घ्राणमुखकण्ठौष्ठजिह्वा-प्रह्लादनो दाहमूर्च्छाप्रशमनः षट्पद पिपीलिकानामिष्टतमः स्निग्धः शीतो गुरुश्च॥

च० सू० २६।४३

×× जीवन अभिघातादिमूर्च्छितस्य जीवनः। आयुष्यआयुःप्रकर्षकारित्वेन। क्षीणस्य संधानकरो धातुपोषकत्वेन; किंवा क्षीणश्चासौ क्षतश्चेति, तेन क्षीणक्षतस्य उरःक्षतं संधत्ते। षट्पदाद्यभीष्टत्वगुणकथनं प्रमेहपूर्वरूपादिज्ञानोपयुक्तम्। यदुक्तं—"मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च (च० चि० ६।१४)" इति तथा रिष्टे वक्ष्यति—"यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः" (च० इ० ५।१६) इति। अनेन च मधुरत्वं ज्ञायते॥ —चक्रपाणि

मधुरो रसो रसरक्तमांसमेदोऽस्थिमज्जौजः शुक्रस्तन्यवर्धनश्चक्षुष्यः केश्यो वर्ण्यो बलकृत् संधानः शोणितरसप्रसादनो बालवृद्धक्षतक्षीणहितः षट्पदपिपीलिकानामिष्टतम-स्तृष्णामूर्च्छादाहप्रशमनः षडिन्द्रियप्रसादनः कृमिकफकरश्चेति॥ सु० सू० ४२।१०

मधुर रस जन्मसे ही शरीरके लिये सात्म्य[1] (अनुकूल, आरोग्यकर) होनेसे मधुर रस

१—**'सात्म्य' पदार्थका लक्षण**—आयुर्वेदमतानुसार दशविध रोग-परीक्षामें सात्म्य भी एक है। संक्षेपमें इसका लक्षण तथा सात्म्यके ज्ञानसे चिकित्सामें सहायता कैसे होती है, इसका निर्देश करते हैं।—

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि भवन्ति॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत्॥

सु० सू० ३५।३९-४०

× × सात्म्यं नाम सुखं यत्करोति तदुच्यते। तत्र देशसात्म्यं यथा—देशो हि द्विविधः—भूमिः आतुरशरीरं च। तत्रातुरशरीरसात्म्यं द्विविधं—समुदायस्यैकम्, अन्यदवयवस्य। तत्र समुदायस्य यथा—मधुरो रसः सर्वधातुवर्धनः; अवयव सात्म्यं यथा—चक्षुष्यकेश्यकण्ठ्यादि द्रव्यम्। भूमिसात्म्य-मपि समुदायैकदेशभेदेन द्विविधम्; तत्र समुदायस्य यथा—जाङ्गलदेशे यौ आहाराचारौ तौ आनूपे विपरीतौ। देशावयवानामपि यथा—बाह्लीकपल्लवचीनादीनां माषगोधूममाध्वीकादिभिः सात्म्यम्। जातिसात्म्यं यथा—मनुष्यजातेः सात्म्यं शाल्यादयः, मृगपक्षिजातीनां च तृणपतङ्गादीनि। ऋतुसात्म्यं यथा—ऋत्वभिहितमन्नपानादि। रोगसात्म्यं यथा—गुल्मिनां क्षीरम्, उदावर्तिनां घृतम्, प्रमेहिणां क्षौद्रमित्यादि। व्यायामस्त्रिविधः—कायवाङ्मनोव्यापारभेदात्। उदकग्रहणमाहारोपलक्षणम्; तेन चतुर्विधोऽप्याहारः

अर्थात् मधुररसयुक्त द्रव्य रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, ओज, शुक्र और स्तन्यकी वृद्धि करने आयुष्य (आयुको स्थिर और दीर्घ बनानेवाला), अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियोंको निर्मल (अतएव विषयग्रहणरूप अपने कर्ममें विशेष पटु बनानेवाला), बल्य, वर्ण्य (शरीरके वर्ण और कान्तिको सुधारनेवाला), चक्षुष्य (दर्शनशक्तिको बढ़ानेवाला), केश्य (केशोंके लिए हितकर),

---

संगृहीतः । दिवास्वप्नप्रभृतीनीति प्रभृतिग्रहणाज्जागरणादीनां ग्रहणम् । रसोदक ग्रहणात् रसनेन्द्रियग्राह्यं दुग्धदधिघृतसलिलाद्यन्नपानं गृह्यते । प्रकृतिविरुद्धान्यपीति स्वभावेन विरुद्धानीत्यर्थः ; अन्ये तु प्रकृतिः स्वभावतो वातादिभेदेन भिन्नेत्याचक्षते । तदेव सात्म्यं विस्तरोक्तमाहाराचारभेदेन द्विभेदं संक्षिप्य श्लोकेन दर्शयन्नाह–यो रस इत्यादि । कल्पते भवति । सुखायैव निषेवितः सुखकारणमेव सेवितः सन्नित्यर्थः । व्यायामजातमिति व्यायामसमूहः । अन्यद्वेति देशजात्यादि । —डल्हन

तत्र सात्म्यं नाम यदुपशेते सुखं करोतीत्यर्थः । उक्तं हि चरके–"सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः" (च वि० १।२०) इति । तथा "यो रसः कल्पते यस्य सुखित्वाय निषेवितः" इत्यनन्तरमेवोक्तम् । सुखं चेहारोग्यम् । यदुक्तं–"सुखसंज्ञकमारोग्यम्" (च० सू० ९।४) इति । तच्चारोग्यरूपं सुखं स्वस्थेऽनागताबाधप्रतिषेधेन तथा व्याधिते व्याध्यपनयनेन सात्म्येन क्रियते । यदपि च "यत्प्रयाति सहात्मताम्" इति सात्म्य लक्षणं तदप्येवंभूतार्थमेव, येनात्मरूपताऽप्यविकारतयैव वक्तव्या । तच्च सात्म्यं संक्षेपतः पञ्चप्रकारम्—देशसात्म्यं, जातिसात्म्यं, ऋतुसात्म्यं, रोगसात्म्यं, ओकसात्म्यं चेति । तत्र देशसात्म्यादीनि चत्वारि चरकोक्तान्येव, ओकसात्म्यानि "प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यबाधकराणि" इत्यनेनोक्तानि । अत्र अभ्यासादबाधकराणीत्यर्थाल्लभ्यते ; विरुद्धान्यपि अभ्यासादेव परमबाधकराणि भवन्ति । × × । रसशब्देन भुज्यमानं सर्वद्रव्यं गृह्णाति ॥ —चक्रपाणि

सात्म्यतश्च (परीक्षेत) इति सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते ॥ च० वि० ८।११८

सात्म्यतश्चेति सात्म्यशब्देन ओकसात्म्यमुच्यते ॥ —चक्रपाणि

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते ; सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः ॥ च० वि० १।२०

सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यं नामेत्यर्थः । ओकादिति अभ्यासात् । उपशयार्थ इति उपशयशब्दाभिधेय इत्यर्थः । —चक्रपाणि

असात्म्यमिति तद् विद्याद्यन्न याति सहात्मताम् ॥ च० शा० १।१२७

× × सहेति मिलितं शरीरेण । आत्मताम् अविकृतरूपतां न याति । एतेन यदुपयुक्तं प्राकृतरूपोपघातकं भवति, तदसात्म्यमिति ॥ —चक्रपाणि

उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः ॥ च० नि० १।१०

संक्षेपमें, इन शब्दोंका अर्थ यह है कि, जो अन्न-पान, औषध, विहार (शारीरिक-मानसिक-वाचिक चेष्टा), देश, काल (ऋतु आदि) अथवा अन्य कोई पदार्थ जन्मसे किंवा अभ्याससे, सम्पूर्ण शरीर अथवा उसके किसी भी अवयवको, स्वस्थावस्थामें किंवा रोग होनेपर, परिणाममें सुख देनेवाला हो उसे 'सात्म्य' या 'उपशय' कहते हैं । स्वस्थावस्थामें सात्म्य पदार्थोंके सेवनसे स्वास्थ्य स्थिर रहता है तथा अस्वस्थावस्थामें रोगापनयन होता है । इससे विपरीत पदार्थोंको, जिनका सेवन परिणाममें अनारोग्यकर हो, असात्म्य किंवा अनुपशय कहते हैं । सात्म्यासात्म्यके लक्षणमें 'परिणाम' में शब्दके प्रयोगका अभिप्राय यह है कि कई पदार्थ, जैसे ज्वरमें शीत जल, तत्काल तो सुखद होते हैं, परन्तु उनका परिणाम आरोग्यनाश होता है ।

सात्म्यासात्म्यसे रोग-परीक्षा—निदानके ग्रन्थोंमें अस्वस्थावस्थामें सुखकर (आरोग्यकर)

त्वच्य (त्वचाके लिए हितकर), कण्ठ्य (कण्ठको सुधारनेवाला), प्रीणन[1] (शरीर और मनमें तुष्टि -सन्तोष-उत्पन्न करनेवाला), जीवन (आघातादिसे मूर्च्छित पुरुषको जीवन देनेवाला—मूर्च्छाहर), तर्पण (तृप्ति करनेवाला, तथा शरीरमें तरावट-स्नेहन-करनेवाला)[2], बृंहण (सर्वाङ्ग तथा एकाङ्गको

पदार्थोंके दृष्टान्त विस्तारसे दिये हैं। जिज्ञासुओंको उन्हें वहीं देखना चाहिये। रोग-परीक्षाके पाँच उपायों (पञ्चनिदान) में उपशयानुपशय एक है। —गूढ लिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत (च० वि० ४।८)—लक्षण देखकर रोगका यथार्थ निर्णय न हो तो परीक्षाके रूपमें जिस अन्नपान आदिके देनेसे रोगके लक्षणोंमें वृद्धि हो वह असात्म्य (अनुपशय) तथा जिसके सेवनसे लक्षण शान्त हों वह सात्म्य (उपशय) होता है। यह देखकर रोगके निदान (कारण) तथा प्रकुपित दोषका सम्यक् निश्चय करना चाहिये। निदान यथार्थ होनेसे आगे चिकित्साका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। अंग्रेजीमें इस निदानको Tentative Diagnos s -टेण्टेटिव डायग्नोसिस कहते हैं। 'टेण्टेटिव' शब्दका अर्थ 'ऑक्सफर्ड डिक्शनरी' में यह दिया है—Done as an experiment or to feel the way अर्थात् परीक्षाके लिए या रास्ता ढूँढ़ निकालनेके लिए किया गया (निदान आदि)।

सात्म्यासात्म्यसे रोगक्षमता (बल) तथा साध्यासाध्यताकी परीक्षा—रोगचिकित्सामें सात्म्यासात्म्यके ज्ञानसे यह भी विदित होता है रोगीकी क्षमता (बल—रोगप्रतीकार शक्ति) कितनी है तथा रोग साध्य या असाध्य कैसा है। देखिये—

तत्र ये घृतक्षीरतैलमांसरससात्म्याः सर्वरससात्म्याश्च ते बलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबलाः। अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यबलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति॥ च० वि० ८।११८

अल्पसाधना इति अल्पभेषजाः × ×॥ —चक्रपाणि

जिन पुरुषोंको घी, दूध, तैल तथा मांसरस तथा छहों रस सात्म्य हों—अर्थात् जो पुरुष इन द्रव्योंका तथा षड्रसका (प्रचलित भाषाका प्रयोग करें तो पौष्टिक पदार्थोंका) सदा सेवन करते हों वे बलवान् (रोगप्रतीकारशक्तिसम्पन्न), क्लेश अर्थात् शारीरिक मानसिक श्रमको सहन कर सकनेवाले तथा चिरायु होते हैं। इसके विपरीत जो सदा रूक्ष द्रव्योंका सेवन करते हों अथवा एक ही रसका भोजन करें वे प्रायः अल्पबलवाले, अल्प क्लेश सहनशक्तिवाले, अल्पायु तथा अल्प साधनों (औषधों) वाले होते हैं। दोनों प्रकारके मध्यवर्ती सात्म्यवाले पुरुषोंका बल मध्य होता है।

इस प्रसंगमें—सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम्, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम्—अर्थात् सदा सर्व रसोंका सेवन सर्वोत्तम बलकारी तथा एक रसका सेवन सर्वाधिक दौर्बल्यजनक है (च० सू० २५।४०) अथ च क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् (च० सू० २५।४०)—सदा घृत-दुग्धका सेवन सर्वोत्तम रसायन है—ये सूत्र स्मरणीय हैं। च० चि० १। पा० ४।३०-३५ में कहे आचार-रसायनमें "नित्यं क्षीरघृताशिनम्"—सदा घृत-दुग्धका सेवन भी रसायनके एक अङ्गके रूपमें वर्णित है। नव्य मतसे इन द्रव्योंका महत्त्व आगे विदित होगा। तात्पर्य यह है कि, पुरुष नित्य घृतादिका तथा सर्वरसोंका सेवन करे तो अपने स्वास्थ्य और आयुको स्थिर रख सकता है। कारणवश वह बीमार भी पड़े तो उसके रोग बलवान् और दीर्घकालानुबन्धी नहीं होते। क्षमता (रोगप्रतिबन्धक शक्ति ; Immunity-इम्युनिटी) के आधुनिकोक्त कारणोंके साथ तुलना करनेसे विदित होगा कि क्षमताके ऊपर कहे कारण कितने वैज्ञानिक हैं। नव्यमतानुसार क्षमताका निरूपण इसी ग्रन्थमें आगे किया है।

१—प्रीणनः तुष्टिकरः अ० सं० सू० १८ में —इन्दु

२—प्रसिद्ध अर्थ तृप्तिके अतिरिक्त 'तर्पण' शब्दका अर्थ तरावट (स्नेहन) भी होता है। 'तर्पक कफ' शब्दमें यह आशय विशेषतः व्यक्त है।

पुष्ट करनेवाला), शरीरको दृढ़ करनेवाला, रक्त तथा रसको शुद्ध करनेवाला ; उरःक्षत आदि क्षतों तथा भग्न अस्थिका संधानकर्ता ; पित्त, विष, तृष्णा और दाहका शामक ; वायुका नाश करनेवाला ; बालकों, वृद्धों, कृशों और रोगादिसे क्षीण पुरुषोंके लिए (विशेष) हितावह ; स्निग्ध, शीत और गुरु गुणवाला ; नासिका, मुख, कण्ठ, ओष्ठ तथा जिह्वाको आनन्द देनेवाला ; एवं भ्रमरों तथा चींटियोंका अत्यन्त प्रिय[1] होता है। अष्टाङ्ग संग्रहमें मृदु और अष्टाङ्ग हृदयमें रस आदि सब धातुओंको उत्तम बल देनेवाला ये मधुररसके विशेष गुण-कर्म लिखे हैं।

आधुनिक मतसे, आहार द्रव्योंमें मधुर रसवाले द्रव्योंमें प्रथम स्मरणीय कार्बोहाइड्रेट[2] हैं, इनमें भी विभिन्न शर्कराओं[3] में मधुर रस विशेष व्यक्त होता है। शेष पिष्टसारों[4] में माधुर्य जठराग्नि तथा धात्वग्नियोंद्वारा पाक होनेके अनन्तर व्यक्त होता है।

प्रोटीनों[5] का भी नाइट्रोजन-रहित अंश कार्बोहाइड्रेट-सदृश ही होता है। अतः उनकी भी गणना मधुर द्रव्योंमें करना अदूषित ही है।

घृत तथा कई स्नेह मधुर होते हैं। स्नेहोंका अपना विशिष्ट कर्म होनेके अतिरिक्त जीवनीय[6] ए, डी और ई के योनि (आश्रय द्रव्य) होनेके कारण भी महत्त्व है।

औषध द्रव्योंमें जिनका वीर्य अथवा क्रियाशील अंश[7] ग्लुकोसाइड, मधुर रस स्नेह[8], निर्यास आदि हों उनकी गणना मधुर द्रव्योंमें करनी चाहिये।

आगे आधुनिक मतसे आहार-निरूपणके अधिकारमें कार्बोहाइड्रेट आदिके कार्योंको देखनेसे

१—मधुर रसके गुण-कर्मोंमें पिपीलिका-मक्षिकादिको प्रिय होनेका कथन चिकित्सोपयोगी होनेसे दिया है। यथा-इक्षुमेह, मधुमेह आदि मधुरमूत्र मेहोंमें मूत्रपर पिपीलिकाएँ आना एक पूर्वरूप है। एवम्, प्रमेहोंमें स्नानानुलेपन करनेके पश्चात् भी पुरुषके शरीरपर मक्खियाँ बैठें तो यह एक अरिष्ट (निश्चित मरण-सूचक चिह्न) माना गया है। संपूर्ण पद्य यह है—स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन गृध्नन्ति मक्षिकाः। स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते-च० इ० ५।१६। प्रमेहके बिना भी, शरीर-पर मक्खियाँ बैठें तो–मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् (च० वि० ४।७)—शरीर माधुर्य (Glycaemia ग्लाइकीमिआ—मधुमेह शब्दका अनुकरण करते हुए तथा अंग्रेजी संज्ञाका शब्दार्थ दृष्टिमें रखते हुए शरीर-माधुर्यको 'मधुरक्त' नाम दिया जा सकता है) का अनुमान करना चाहिये।

२—Carbohydrate. ३—Sugars—शुगर्स ।

४—Starch—स्टार्च। ५—Protein

६—vitamin (e)—वाइटेमिन या वाइटेमाइन। आयुर्वेदमें जीवनीय एक गणका नाम है। इसमें जीवक ऋषभक आदि दुर्लभ ओषधियाँ हैं (देखिये च० सू० ४।९) जीवद्रव्य, खाद्योज, प्रजीवनक आदि नवीन संज्ञाओंकी अपेक्षा प्राचीन जीवनीय शब्दको ही वाइटेमिनके अर्थमें रूढ़ किया जा सकता है।

७—Active principle—ऐक्टिव प्रिंसिपल।

८—Fat—फैट। अंग्रेजी फैट शब्द सब प्रकारके स्नेहोंके लिए तथा स्नेहोंके एक भेद (मेद, वसा या चर्बी) के लिए भी प्रयुक्त होता है। कई लेखक भ्रमवश स्नेह-सामान्यके वाचक (जातिवाचक) फैट शब्दके अर्थमें वसा, चर्बी आदि शब्दोंका व्यवहार करते हैं। जातिवाचक फैटके अर्थमें स्नेह शब्दका आयुर्वेदमें प्रयोग होता है। देखिये—"सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः" (च० सू० १।८६) ; तथा, "सर्पिस्तैलं वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमा मताः" (च० सू० १३।१३) इत्यादि।"

मधुर रस आहार द्रव्योंका महत्त्व विशद होगा। शेष, मधुर औषधद्रव्योंके विषयमें विशेष ज्ञातव्य निघण्टु (द्रव्यगुणशास्त्र[1]) के ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है[2]।

मधुर रसके अतियोग[3] से हानि—

इतना गौरव होते हुए भी मधुर रसका अतियोग किंवा अन्य रसोंकी उपेक्षा करते हुए उसका अधिक सेवन हितावह नहीं है। यही बात इतर रसोंके विषयमें भी जाननी चाहिये।

स (मधुरो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः स्थौल्यं मार्दवमालस्यमतिस्वप्नं गौरवमनन्नाभिलाषमग्नेर्दौर्बल्यमास्यकण्ठयोर्मांसाभिवृद्धिं श्वासकासप्रतिश्यायालसकशीतज्वरानाहास्यमाधुर्यं वमथुसंज्ञास्वरप्रणाशगलगण्डगण्डमालाश्लीपदगलशोफबस्तिधमनीगलोपलेपाक्ष्यामयाभिष्यन्दान् इत्येवंप्रभृतीन् कफजान् विकारानुपजनयति ॥

च० सू० २६।४३

अक्ष्यामयेनैवाभिष्यन्दे लब्धे विशेषोपादानार्थं पुनर्वचनं; किंवा अभिष्यन्दो नासादिष्वपि ज्ञेयः ॥

—चक्रपाणि

स (मधुरो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमासेव्यमानः कास श्वासालसकवमथु वदनमाधुर्यस्वरोपघात कृमिगलगण्डानापादयति, तथाऽर्बुदश्लीपद बस्ति गुदोपलेपाभिष्यन्द प्रभृतीञ्जनयति ॥

सु० सू० ४२।१०

मधुर रसके अतियोगसे समानयोनि (समान कारण द्रव्यों वाले) कफकी वृद्धि (तथा इतर दोषोंका क्षय) होकर तज्जन्य रोग होते हैं। यथा—स्थूलता, मृदुता, आलस्य, अतिनिद्रा, गौरव (शरीर तथा मन भारी-सा प्रतीत होना), अरुचि, मन्दाग्नि, मुख और कण्ठमें मांस की वृद्धि (टॉंसिल, एडिनॉयड आदिके रूपमें), श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुख-माधुर्य (मुखका स्वाद मधुर होना), मुखलिप्तता, गलशोफ[4] (गलेमें सूजन), स्वरभङ्ग, धमनियों (विभिन्न स्रोतों ?) तथा गलेमें उपलेप (क्लेद, मलसंचय, चिकनापन), अभिष्यन्द (नासिका, गल आदि में सूजन, जैसी

१—Materia Medica मैटीरिआ मेडीका; नवीन नाम—pharmacology फार्मेकोलॉजी।

२—मधुर रस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८-१३८-१३९ में (आस्थापनोपयोगी मधुरस्कन्धके रूपमें) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

३—बाह्य या आभ्यन्तर सेवनके पश्चात् द्रव्यों अथवा विहार (चेष्टा) का शरीरसे सम्बन्ध योग कहाता है। यह यथायोग्य हो तो 'समयोग' या 'सम्यक् योग' कहा जाता है; उचितसे अधिक हो तो 'अतियोग' (Excess–एक्सेस), सर्वथा न हो तो 'अयोग' एवं न्यून हो तो 'हीनयोग' कहाता है। अतियोग आदिका एक नाम 'मिथ्यायोग' है।

४—गल=Pharynx—फेरिंक्स। गल शब्द प्राचीन है। यद्यपि वर्तमानोंके फेरिंक्सके समान गलकी सीमाका स्पष्ट निर्देश प्राचीन वाङ्मयमें नहीं, तथापि फेरिंक्सके लिए इस शब्दको चलाया जा सकता है। गलका मुख्य कार्य निगलना है। वैयाकरणोंने भक्षणका अर्थ 'गलबिलाधः संयोगानुकूल व्यापार' बताते हुए गलका यही कार्य कहा है। गल शब्दकी धातु 'गॄ निगरणे' का भी यही अर्थ है। अमरकोषमें 'गल' और 'कण्ठ' को पर्याय बताया है। परन्तु, कण्ठका कार्य प्राचीनोंने वर्तमान लैरिंक्स (Larynx) के समान कहा है। अतः कण्ठ शब्द लैरिंक्सके लिए और गल फैरिंक्स के लिए उपयुक्त होगा। प्रत्यक्ष शारीरमें फैरिंक्सके लिए 'ग्रसनिका' शब्द दिया है, यद्यपि आगे गलबिल भी इसी अर्थमें

प्रतिश्याय आदि रोगोंमें होती है), वमन, नेत्ररोग (आँख आना आदि), गलगण्ड, गण्डमाला, अलसक (विसूचिकाका प्रकार, जिसमें वमन या मलप्रवृत्ति नहीं होते[1]), मूत्राशयमें शोथ, आना (कब्ज[2]) गुदमें उपलेप (क्लेद), श्लीपद, अर्बुद, शीतज्वर, कृमि, संज्ञानाश आदि। अष्टाङ्ग—संग्रहमें प्रमेह, नेत्रार्बुद, गलार्बुद, उदर्द, शिरःशूल, उदर रोग, ष्ठीवन (बार-बार थूक आना) ये रोग तथा अष्टाङ्ग हृदयमें मेदोरोग और संन्यास[3] ये रोग अधिक गिनाये हैं[4]।

उल्लिखित रोग कफकी वृद्धिसे होते हैं, यह ऊपर कहा है। कफकी वृद्धि और प्रकोपका नव्यमतानुसार क्या स्वरूप है इसकी यथासंभव व्याख्या आगे कफाधिकारमें करेंगे। वहीं इन रोगोंका मधुर रसके साथ संबन्ध कुछ विशद होगा। चिकित्सोपयोगी एक तत्त्वका यहाँ भी उल्लेख कर देना उचित है कि निदानकी दृष्टिसे कफ आमके समान होनेसे उसकी चिकित्सा लङ्घन, दीपन, पाचन आदि उपायोंसे की जाती है।

आया है। प्राचीन गल शब्द आत्मसात् कर लिया जाय तो नया शब्द गढ़ना निष्प्रयोजन है; विशेषतः जब कि ग्रसनिकाका यौगिक अर्थ भी गलके सदृश अर्थात् 'भक्षणका साधन' ही है। मराठी लेखकोंने फेरिंक्सको 'सप्तपथ' नाम दिया है; कारण, इसका संबन्ध मुख, कण्ठ, अन्नवह, दो नासास्रोत तथा मध्यकर्णोंको जानेवाले इस प्रकार कुल सात मार्गों (पथों) से होता है।

१—(Cholera Sicca)—कॉलेरा सिक्का। सिक्काका अर्थ शुष्क है।

२—कब्जका प्राचीन नाम-आनाह—कब्जके लिए प्राचीन शब्द आनाह है; निम्न पद्यमें कहे इसके लक्षणसे यह बात विदित होगी—

"आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥' —सु० उ० ५६।२०

× × विबद्धम् अवरुद्धम्, विगुणानिलेन उन्मार्गवायुना, न प्रवर्तमानमिति नाधः प्रवर्तमानमित्यर्थः यथास्वं यथामार्गमित्यर्थः। —डल्लन

अर्थात् अपक्व अन्नरस या पुरीष क्रमशः संचित हो जाय, तथा प्रतिलोम वायुकी क्रियासे अवरुद्ध होकर अपने मार्गसे न प्रवृत्त हो (गुदामार्गसे न निकले) तो इस रोगको 'आनाह' कहते हैं। इस प्रकार प्राचीन आनाह शब्दके रहते मलबन्ध, मलावरोध, बद्धकोष्ठता आदि नवीन संज्ञाओंकी रचना निरवकाश है। उक्त लक्षणके अतिरिक्त व्याकरणसे भी जान सकते हैं कि, आनाह शब्द मलबन्धादिका समानार्थक है; आनाहमें आ उपसर्ग और बन्ध अर्थकी नह धातु है। ऊपर लक्षणमें विबद्ध शब्द दिया है, जिसका अर्थ टीकाकारने 'अवरुद्ध' दिया है, जिससे यह शब्द मलावरोधके भावको द्योतित करता है। बद्धकोष्ठता शब्दका साम्य 'विबद्ध' शब्दसे गृहीत है।

प्राचीनोंके पुरीषक्षयको (देखिये आगे पुरीषाधिकार) आधुनिकोंने आनाह (Constipation-कौन्स्टिपेशन) के ही अन्तर्गत माना है। कारण, पुरीषका क्षय अर्थात् उचितसे अल्प प्रमाण होनेपर उसकी प्रवृत्ति न होनेसे संचय और विबन्ध होता है। प्राचीनोंका विबन्ध शब्द अधोवायु और मल दोनोंके मिलित बन्धके लिए प्रयुक्त है।

३—Apoplexy—एपोप्लेक्सी। इस रोगका कारण आधुनिकोंने ब्लड-प्रेशरकी अधिकताके कारण मस्तिष्ककी केशिकाओंका फट जाना तथा उससे शरीरके नियामक केन्द्रोंपर पीड़न होना बताया है। इसका परिणाम पक्षाघात paralysis—परेलिसिस) होता है।

४—देखिये—द्रव्यगुण विज्ञान। कदाचित् चरकका गिनाया 'संज्ञानाश' अष्टाङ्ग हृदयका 'संन्यास' ही हो।

मधुर रससे कृमिकी साक्षात् उत्पत्ति वैद्यों तथा जनतामें प्रसिद्ध है। परन्तु आधुनिकोंका मन्तव्य है कि, कृमिकोष्ठ (जिसके पेटमें कृमि हैं ऐसे) पुरुषके पुरीषमें कृमियोंके अण्डे निकलते हैं। इस पुरीषपर मक्षिकाएँ बैठती हैं तो उनके पैरोंमें ये अण्डे लग जाते हैं। ये मक्षिकाएँ अब मधुर रस द्रव्यों (मिठाई आदि) पर बैठें तो कुछ अण्डे उनके पैरोंसे इन द्रव्योंपर भी जाते हैं। इनके खाने वाले बालक आदिके पेटमें जानेपर इन अण्डोंसे कृमियोंकी उत्पत्ति होती है।

अम्ल रसके गुण-कर्म—

अम्लो रसो भक्तं रोचयति, अग्निं दीपयति, देहं बृंहयति ऊर्जयति, मनो बोधयति, इन्द्रियाणि दृढीकरोति बलं वर्धयति, वातमनुलोमयति, हृदयं तर्पयति, आस्यमास्रावयति, भुक्तमपकर्षयति क्लेदयति जरयति, प्रीणयति, लघुरुष्णः स्निग्धश्च ॥ च० सू० २६।४३

हृदयं तर्पयतीति हृद्यो भवति। भुक्तमपकर्षयतीति सारयति; क्लेदयति तथा जरयति भुक्तमेव ॥ —चक्रपाणि

अम्लो जरणः पाचनो दीपनः पवननिग्रहणोऽनुलोमनः कोष्ठविदाही बहिःशीतः क्लेदनः प्रायशो हृद्यश्चेति ॥ सु० सू० ४२।१०

जरण आहारस्य। पाचनो दोषामयोः शोथस्य वा। अनुलोमनो दोषमूत्रपुरीषाणाम् ॥ —डल्हन

अम्ल रस अर्थात् अम्ल रस वाला द्रव्य रोचक (अन्नपर रुचि उत्पन्न करने वाला), अग्निदीपक, जरण (अन्नपानको जीर्ण—हजम—करने वाला), मुखमें लालस्राव उत्पन्न करनेवाला, खाये आहारको क्लिन्न (द्रवित) करनेवाला तथा उसका अपकर्षण करनेवाला—महास्रोतसके विभिन्न स्रावों तथा अनुलोम गतिको बढ़ाकर अन्नको नीचेकी ओर ले जानेवाला, शरीरका बृंहण (पुष्टि) करने वाला, बल तथा उत्साहका वर्धक, मनको उद्दीपित और इन्द्रियोंको दृढ़ करनेवाला, वातशामक, मूढ़वात, मूत्र तथा पुरीषका अनुलोमन, हृदयको तृप्त करनेवाला, प्रीणन, पाचन (दोष, आम और व्रणशोथको पकानेवाला), कोष्ठमें विदाह (अम्लपाक तथा उसके सहचारी लक्षण) उत्पन्न करनेवाला, स्पर्शमें शीत (परन्तु वीर्यमें उष्ण), लघु, उष्ण और स्निग्ध है।

अष्टाङ्ग संग्रहमें—रक्त और पित्तकी वृद्धि करनेवाला, इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाला, तर्पण (तृप्ति तथा तरावट उत्पन्न करनेवाला) और व्यवायी ये गुण-कर्म तथा अष्टांग हृदयमें कफकर यह कर्म अम्लरसका विशेष दिया है[1]।

अम्ल रस द्रव्योंमें प्रायः फलोंका समावेश है[2]। इनकी क्रिया विविध सेन्द्रिय अम्लों[3], विशेषतः जीवनीय-सी तथा अपने-अपने प्रभावी अंशोंके कारण होती है। नव्य चिकित्साशास्त्रमें लवणाम्ल[4] आदि निरिन्द्रिय अम्लों[5]का भी स्वतन्त्र उपयोग होता है।

१—देखिये—द्रव्यगुणविज्ञान।

२—अम्ल रस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४० (आस्थापनोपयोगी अम्ल स्कन्धके रूपमें) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

३—Organic acids -आर्गेनिक एसिड्स।

४—Hydrochloric acid -हायड्रोक्लोरिक एसिड।

५—Inorganic acids -इनआर्गेनिक एसिड्स।

अम्ल रसके अतियोगसे हानि—

स (अम्लो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवाऽत्यर्थमुपयुज्यमानो दन्तान् हर्षयति, तर्षयति, संमीलयत्यक्षिणी, संवेजयति लोमानि, कफं विलापयति, पित्तमभिवर्धयति, रक्तं दूषयति, मांसं विदहति, कायं शिथिलीकरोति, क्षीणक्षतकृशदुर्बलानां श्वयथुमापादयति, अपि च क्षताभिहत दष्टदग्धभग्नशूनप्रच्युतावमूत्रितपरिसर्पितमर्दितच्छिन्नभिन्नविश्लिष्टोद्विद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेय स्वभावात्, परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च ॥ च० सू० २६।४३

अवमूत्रितं मूत्रविषैर्जन्तुभिः, परिसर्पितं च स्पर्शविशेषैः कारण्डादिभिः ॥ —चक्रपाणि

स (अम्लो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो दन्तहर्षनयनसंमीलनरोमसंवेजनकफविलयनशरीरशैथिल्यान्यापादयति, तथा क्षताभिहतदग्धदष्टभग्नरुग्णशूनप्रच्युतावमूत्रितविसर्पितच्छिन्नभिन्नविद्धोत्पिष्टादीनि पाचयत्याग्नेयस्वभावात् परिदहति कण्ठमुरो हृदयं च ॥ सु० सू० ४२।४०

रोमसंवेजनं रोमाञ्चः । अभिहतमभिघातः, दष्टं व्याडादिभिः, भग्नं काण्डभग्नाद्यनेकधा, रुग्णं वक्रीभूतं, प्रच्युतं भ्रष्टं स्वस्थानात्, अवमूत्रितं मूत्रविषाणां जन्तूनां मूत्रसंगः, विसर्पितं स्पर्शविषाणां जन्तूनां विसर्पितसंगः, छिन्नं निःशेषतः, भिन्नं कोष्ठादि, विद्धं सिरादि, उत्पिष्टं प्रहारचूर्णितादि ॥ —डल्हन

अम्ल रसके उल्लिखित गुण होते हुए भी यदि उसका अति मात्रामें सेवन किया जाय; अथवा अन्य रसोंकी उपेक्षा करके उसका ही केवल उपयोग किया जाय तो (समानयोनि अर्थात् समान कारण द्रव्योंसे उत्पन्न पित्त और रक्तका प्रकोप होकर) नीचे लिखे रोग उत्पन्न होते हैं।—दन्तहर्ष (दाँत खट्टे हो जाना), तृषा, नेत्र संमीलन[1] (आँख मिची-सी रहना), रोमाञ्च, कफका विलयन (पिघलकर छूटना), शरीरकी शिथिलता, पित्त प्रकोप, रक्त दोष, मांसपाक ; क्षीण, क्षत, कृश और दुर्बल पुरुषोंमें शोथ (सूजन) ; आग्नेय स्वभावके कारण क्षत (आगन्तु व्रण), अभिघात (चोट), दग्ध (जला हुआ स्थान), दष्ट (सविष प्राणीसे डसा गया स्थान), शून (सूजा अवयव), भग्न (टूटी अस्थि); अस्थि स्नायु आदिका स्थान भ्रंश, रुग्ण (वेदना युक्त स्थान), अवमूत्रित (मूत्र विष जन्तुओंके मूत्रका संग), परिसर्पित (स्पर्श विष जन्तुओंका स्पर्श), मर्दित (अङ्ग मसला जाना), छिन्न (कट जाना), भिन्न (कोष्ठ आदिका फटना), विद्ध (सिरा आदि स्रोतोंका छिद्रित होना), विश्लिष्ट[2] (किंचित् संधिभ्रंश), उत्पिष्ट (अवयव कुचल जाना—पिस जाना)—इत्यादिमें पूयकी उत्पत्ति ; कण्ठ, छाती तथा हृदयमें दाह । अष्टाङ्ग संग्रहमें कण्डू, पाण्डुरोग; दृष्टिमान्द्य, क्षत-विसर्प रक्तपित्त, भ्रम (चक्कर) ये रोग तथा अष्टाङ्ग हृदयमें तिमिर[3] (आँखोंके आगे अन्धकार छाना), फोड़े-फुंसी और ज्वर ये रोग अधिक दिये हैं ।

अम्ल रसका स्वभाव शोथजनक होनेके कारण विशेषतः कृश और दुर्बल पुरुषोंमें इसका अति सेवन वर्ज्य है । यथा, वित्तकी अल्पता आदिके कारण स्निग्ध (पौष्टिक) अन्नपान जिन्हें सुलभ न

१—कदाचित् इसका अर्थ नेत्राभिष्यन्द होकर प्रकाशासहिष्णुता (Paotophobia—फोटोफोबिआ) होनेसे आँख मिंची रहना है ।

२—Subluxation—सबलक्सेशन ।

३—गुजरातीमें इसे 'तम्मर' ही कहते हैं ।

हो ऐसे दरिद्र पुरुषोंमें ताड़ी इत्यादिसे शोथ (जलोदर आदि) होते हैं। गर्भिणी अथवा प्रसूतामें कफज शोथ (मुख या पैरपर सूजन) होती है। आघात आदिमें पूय-जनक तथा विष वर्द्धक होनेसे अम्लरस वर्जित किया जाता है।

लवण रसके गुण-कर्म—

लवणो रसः पाचनः क्लेदनो दीपनश्च्यावनश्छेदनो भेदनस्तीक्ष्णः सरो विकास्यधः स्रंस्य[1] वकाशकरो वातहरः स्तम्भ बन्ध संघात विधमनः सर्व रस प्रत्यनीक भूतः।

आस्यमास्रावयति, कफं विष्यन्दयति, मार्गान् विशोधयति, सर्वशरीरावयवान् मृदूकरोति, रोचयत्याहारम् आहारयोगी, नात्यर्थं गुरुः स्निग्ध उष्णश्च ॥

च० सू० २६।४३

विकासी क्लेदच्छेदनः। अधः स्रंसी विष्यन्दनशीलः। सर्वरसप्रत्यनीक इति यत्र मात्राति-रिक्तो लवणो भवति तत्र नान्यो रस उपलभ्यते। आहारयोगीति आहारे सदा युज्यते ॥

—चक्रपाणि

लवणः संशोधनः पाचनो विश्लेषणः क्लेदनः शैथिल्यकृदुष्णः सर्वरसप्रत्यनीको मार्ग विशोधनः सव शरीरावयवमादवकरश्चेति ॥ सु० सू० ४२।१०

संशोधनो वमन विरेचनाभ्यां, व्रणस्य च दुष्टस्य। विश्लेषण इति पृथक्करणः प्रत्यवयवानां छेदित्वात्। क्लेदनो व्रणस्य। सर्वरसानां प्रत्यनोको विपक्ष उच्छेदक इत्यर्थः। मार्गविशोधनो मूत्रनाड़ी व्रणादि मार्गविशोधनः ॥

—डह्लन

लवण रस अर्थात् लवणरस प्रधान द्रव्य पाचन, दीपन, लालास्राव करनेवाला, क्लेदन (व्रण तथा महास्रोतस् आदि मार्गों तथा शरीरावयवोंमें द्रवका आधिक्य करनेवाला), संशोधन (वमन विरेचन द्वारा मलोंको बाहर निकालनेवाला), मूत्र प्रवर्तक, नाड़ी-व्रण आदि मार्गोंको विशुद्ध करने वाला, सर (अनुलोमक), मलोंका छेदन, भेदन, तीक्ष्ण, विकासी (क्लेद-आर्द्रताको दूर करनेवाला) धातुओंके बन्धको शिथिल करनेवाला, वातहर, कफको विलीन (द्रवीभूत) करनेवाला; शरीरा-वयवोंके स्तम्भ (जकड़ जाना), बन्ध (सन्धि स्थिर हो जाना), काठिन्य, स्रोतोंके अवरोध और दोष-संचयको दूर करनेवाला; अवयवोंको मृदु करनेवाला, अवकाश कर (स्रोत आदिके मल, क्लेद, दोप आदिको दूर कर उनमें अवकाश-खाली स्थान उत्पन्न करनेवाला), विश्लेषण (अवयवोंको पृथक् करनेवाला), शरीरमें शैथिल्य उत्पन्न करनेवाला आहारमें सदा प्रयुक्त होनेवाला तथा अपने आधिक्यसे इतर रसोंको दवा देनेवाला; कुछ गुरु, स्निग्ध और उष्ण होता है। अष्टाङ्ग संग्रहमें लवण रसके—शोषण स्नेह, स्वेदन, लटकते हुए मांस आदिका छेदन करनेवाला तथा व्यवायी ये गुण-कर्म अधिक दिये हैं।

लवण वर्गमें सैन्धव आदि विभिन्न लवणों तथा क्षारोंकी गणना है[२]। आमाशयका पाचक रस लवणाम्ल विशेषतः लवणमय होता है। भोजनमें लवणका प्रमाण सम होनेसे लवणाम्लका निर्माण ठीक होता है। परिणामतया, आमाशयमें पाचन सम्यक् होकर आगे ग्रहणीमें भी परिपाक उत्तम होता है। इस विषयका विस्तार आगे महास्रोतस्में आहारके परिपाकके अधिकारमें होगा।

१—'अवस्रंसी' इति पाठान्तरम्।

२—देखिये लवण द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४१ (आस्थापनोपयोगी लवण-स्कन्धके रूपमें) तथा सु० सू० ४२।११।

लवणोंका शोषण (स्रोतों द्वारा ग्रहण) शीघ्र न होनेसे, वे शरीरके जिस भागमें पहुंचें वहाँ तथा आसपासकी कोशिकाओंमें स्थित रक्तका घनत्व तुल्य रखनेके उद्देश्यसे चारों ओरसे जल आकृष्ट होकर लवण जहाँ हों उस स्रोत आदिमें तब तक आता है, जब तक अन्दर और बाहर द्रवोंका घनत्व समान न हो जाय। इस प्रकार द्रवके आकर्षणका स्वभाव[1] होनेसे ही लवण तथा क्षार द्रव्योंकी तत्तत् अवयवमें तत्तत् क्रिया होती है। यथा—मुख तथा महा स्रोतस्‌में पाचक पित्तोंका स्राव, इस मार्गमें द्रवके आधिक्यसे वमन तथा विरेचन, प्राणवह स्रोतों (फुफ्फुसके वात कोष तथा श्वास प्रणाली) में द्रवाधिक्य होनेसे कफका विलीन और शिथिल होकर कासके वेगके साथ बाहर निकल आना, मूत्र-यन्त्रमें द्रवाधिक्य होनेसे मूत्रप्रवृत्ति, व्रणोंमें द्रवत्व, अवयवोंमें मृदुत्व, शुक्रमें तारल्य तथा चपलता आदि परिणाम होते हैं।

लवण रसके अतियोगसे हानि—

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानः पित्तं कोपयति, रक्तं वर्धयति, तर्षयति, मूर्च्छयति ('मोहयति' इति पाठान्तरम्), तापयति, दारयति, कुष्णाति मांसानि, प्रगालयति कुष्ठानि, विषं वर्धयति, शोफान् स्फोटयति, दन्तांश्चावयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, इन्द्रियाण्युपरुणद्धि, वलिपलितखालित्यमापादयति, अपि च लोहितपित्ताम्लपित्तवीसर्पवातरक्तविचर्चिकेन्द्रलुप्तप्रभृतीनि विकारानुपजनयति ॥ च० सू० २६।४३

स (लवणो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवाऽत्यर्थमासेव्यमानो गात्रकण्डूकोठशोफवैवर्ण्यपुंस्त्वोपघातेन्द्रियोपतापमुखाक्षिपाकरक्तपित्तवातशोणिताम्लीकाप्रभृतीनापादयति ॥

कोठः पीडकाः, पुंस्त्वोपघातः शुक्रक्षयः इन्द्रियोपतापः चक्षुरादीनां स्वकर्मगुणहानिः, अम्लीकेति अम्लोद्गारः ॥ —डल्हन

लवण रसके उपर्युक्त गुण कर्म होते हुए भी उसका अतियोग किया जाय, किंवा अन्य रसोंकी उपेक्षा करके उसका ही अधिक सेवन किया जाय तो (समानयोनि होनेसे) पित्त तथा रक्तका प्रकोप, तृषा, मोह (आँखोंके आगे अन्धेरा छाना-तिमिर), मूर्च्छा, दाह, दारण (अङ्गोंमें चीरे पड़ना); मांस, कुष्ठ (विभिन्न त्वग्विकारों) तथा शोथोंका फटना ; विषमें वृद्धि, दाँत ढीले होना और गिर जाना ; पुंस्त्वनाश (शुक्रक्षण), ज्ञानेन्द्रियोंकी अपने-अपने कार्यमें अशक्ति, कण्डू (खाज), कोठ (फोड़े अथवा शीत पित्तके समान मण्डल होना), शोथ, विवर्णता (शरीरके वर्णमें विकृति), वली (झुर्री), पलित (बाल पकना), खालित्य (चाँद-टाँट निकल आना)' इन्द्रलुप्त (गञ्ज), मुखपाक, अक्षिपाक, रक्तपित्त (विभिन्न मार्गोंसे रक्तस्राव), वातरक्त (गठिया), विसर्प अम्लोद्गार (अम्ल पाक), विचर्चिका[2] आदि रोगोंको उत्पन्न करता है। अष्टाङ्ग संग्रहमें

१—इस स्वभावको अंग्रेजीमें Osmotic Pressure ऑज्मोटिक प्रेशर तथा उल्लिखित प्रक्रियाको Osmosis-ऑज्मोसिस कहते हैं। विशेषके लिये देखिये—'आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान'।

२–तलुएमें चीरे पड़नेसे जैसे बिवाई (विपादिका, पाददारी) होती है, वैसे हथेली में चीरे पड़नेका नाम विचर्चिका है। देखिये—

"राज्योऽतिकण्डूर्तिरुजः सरूक्षा भवन्ति गात्रेषु विचर्चिकायाम्।
कण्डूमती दाहरुजोपपन्ना विपादिका पादगतेयमेव ॥
सु० नि० ५।१३

लवणरसके अतियोगसे होनेवाले रोगोंमें किटिभ (कुष्ठ-भेद), आक्षेप, क्षत (घाव) में वृद्धि, मद-वृद्धि, बलक्षय, ओजःक्षय ये परिणाम तथा अष्टाङ्ग हृदयमें कुछ विशेष गिनाये हैं[1] ।

राज्यो रेखाः, ताश्च सरूक्षा भवन्ति । कण्डूवर्तिः खर्जूपीडा, रुजोवेदनाः, अतिशब्दः कण्डूवर्तिरुग्भ्यां संबध्यते । गात्रेषु पाणिपादेषु । इयमेव विचर्चिका पादगता यदा स्यात्तदा विचर्चिकासंज्ञां विहाय विपादिकासंज्ञां प्राप्नोतीत्यर्थः । —डह्लन

येव पाण्योर्विचर्ची सैव पादयोर्विपादिका । अवदारयतीत्यवदार्या, 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पाणिनि ३।३।११३) इति कर्तरि कृत्यः, पाददारिकेत्यर्थः । अत्रैव भोजः—"दोषाः प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपादतलाश्रिताः । पिडका जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताः ॥ दाल्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका । पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका ॥" इति विचर्चीविपादिके पिटिकते —गयदास

१—च० वि० १।१८ में पिप्पली, क्षार लवणके अतियोग—निषेधके प्रसंगमें लवणके अतियोगसे पुरुषों और भूमिको होनेवाली हानियोंका उल्लेख करते हुए कहा है—

लवणं पुनरौष्ण्यतैक्ष्ण्योपपन्नम्, अनतिगुरु, अनतिस्निग्धम्, उपक्लेदि, विस्रंसन समर्थम्, अन्नद्रव्यरुचिकरम्, आपातभद्रं प्रयोगसमसाद्गुण्यात्, दोषसंचयानुबन्धं, तद्रोचनपाचनोपक्लेदनविस्रंसनार्थमुपयुज्यते । तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्यदौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति । ये ह्येनद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति । तद्यथा—बाह्लीकसौराष्ट्रिकसैन्धवसौवीरकाः ; ते हि पयसाऽपि सह लवणमश्नन्ति । येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात् । तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत । ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्यपालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति ॥ च० वि० १।१८

ग्लानिः मांसापचयो हर्षक्षयो वा । न केवलं लवणातियोगः शरीरोपघातकरः किन्तु भूमेरप्युपघातकर इत्याह—येऽपीहेत्यादि । ऊषरा इति लवणप्रधानाः । लवणं नात्युपयुञ्जीतेति नातिमात्रं लवणं सततमुपयुञ्जीत, अन्नद्रव्यसंस्कारकं तु स्तोकमात्रमभ्यासेनाप्युपयोजनीयमेव । बाह्लीकादिव्यतिरिक्तेऽपि देशे येऽतिलवणमश्नन्ति तेषामपि दोषानाह—ये हीत्यादि । एतेन चान्यत्रापि देशेऽतिमात्रलवणसात्म्यानां लवणात्युपयोगकृत एवशैथिल्यादिदोष उन्नीयते, न देशस्वभावकृतः ॥ —चक्रपाणि

अर्थात्—लवण उष्ण, तीक्ष्ण, किंचित् गुरु, किंचित् स्निग्ध, स्रोतों और धातुओं आदिमें क्लेद (द्रवत्व) उत्पन्न करनेवाला, इसी कारण स्रोतोगत पदार्थोंको आगे ले जानेवाला विस्रंसन, अन्नपानपर रुचि उत्पन्न करने वाला एवं प्रयोगके प्रारम्भिक कालमें उक्त गुण करने वाला होनेसे प्रारम्भ (आपात) में हितकर, परन्तु अनन्तरकाल (अनुबन्ध) में दोषोंका संचय करनेवाला होता है । इसका सेवन, रोचन, पाचन, क्लेदन तथा विस्रंसन (अनुलोमन) के लिए होता है । इसका अतिसेवन किया जाय तो यह शरीरमें ग्लानि (मांसक्षय अथवा हर्ष—आनन्द या कामेच्छा—का क्षय), शैथिल्य (साद ; Lassitude—लेसीट्यूड) और दौर्बल्य उत्पन्न करनेवाला होता है । जो लोक इसका अति सेवन करते हैं वे इसी कारण बहुत ग्लानियुक्त, शिथिल, (द्रवाधिक) रक्त-मांसवाले और क्लेश (शारीरिक, वाचिक, मानसिक श्रम अथवा रोगादिका प्रहार) के सहनमें अक्षम होते हैं ; जैसे बाह्लीक, सौराष्ट्र, सिन्धु या सुवीर देशके निवासी । ये लोग दूधमें भी नमक छोड़ते हैं । पृथ्वीपर भी लवणकी ऐसी ही हानिकर क्रिया होती है । अति खारी भूमिमें उद्भिद् या तो होते नहीं, और होते हैं तो लवणसे बाधित होनेके कारण अल्पवीर्य होते हैं । अत्यधिक लवणसेवी पुरुष खालित्य, पलित (केशोंकी धवलता) तथा वलियोंसे अकालमें ही ग्रस्त होते हैं । अतः लवणका अतिसेवन न करना चाहिये ।

लवणके अतियोगसे पुंस्त्वनाश पूर्वलिखित प्रकारसे वृषण ग्रन्थियों तथा शुक्रमें द्रवाधिक्य और शुक्रमें तरलता तथा चपलता होनेसे होता है।

कटुरसके गुण-कर्म—

कटुको रसो वक्त्रं शोधयति, अग्निं दीपयति, भुक्तं शोषयति, घ्राणमास्रावयति, चक्षुर्विरेचयति, स्फुटीकरोतीन्द्रियाणि, अलसकश्वयथूपचयोदर्दाभिष्यन्दस्नेहस्वेदक्लेद-मलानुपहन्ति, रोचयत्यशनं, कण्डूर्विनाशयति, व्रणानवसादयति, क्रिमीन् हिनस्ति, मांसं विलिखति, शोणितसंघातं भिनत्ति, बन्धांश्छिनत्ति, मार्गान् विवृणोति, श्लेष्माणं शमयति, लघुरुष्णो रूक्षश्च ॥ च० सू० २६।४३

कटुको दीपनः पाचनो रोचनः शोधनः स्थौल्यालस्यकफक्रिमिविषकुष्ठकण्डूप्रशमनः सन्धिबन्धविच्छेदनोऽवसादनः स्तन्यशुक्रमेदसामुपहन्ता चेति ॥ सु० सू० ४२।१०

अवसादनोऽनुत्साहकृत् ॥ —डल्हन

कटु रस अर्थात् कटुरस वाला द्रव्य मुखशोधक, रोचक, दीपक, पाचक, दोषोंका शोधक, भुक्त (खाये गये) अन्नद्रव्यका शोषक, नासिका और चक्षुका स्रावक (पानी निकालनेवाला), इन्द्रियोंको विशद (निर्मल और स्वकार्यक्षम) करनेवाला ; स्थूलता, स्वेद, क्लेद, विभिन्न मल, स्निग्धता, कृमि, विष, कुष्ठ, कण्डू, अलसक, श्वयथु (सूजन), उदर्द (छपाकी), और अभिष्यन्दका नाशक ; कफघ्न, व्रणोंको बैठानेवाला, मांसका लेखन, संचित रुधिरको विकीर्ण करनेवाला (बिखेरनेवाला), संधिबन्धों को (संधियोंमें हुई स्तब्धता—जकड़ाहट) को दूर करनेवाला ; अन्न, रस, रुधिर आदिके मार्गोंको खोलनेवाला ; अनुत्साहकर ; स्तन्य, शुक्र और मेदका नाश करनेवाला ; लघु, उष्ण और रूक्ष है। अष्टाङ्ग संग्रहमें इसके मुखरोगहर, लेखन और तीक्ष्ण ये गुण-कर्म तथा अष्टाङ्ग-हृदयमें गलरोगहर यह कर्म विशेष दिया है[1]।

कटुरसके अतियोगसे हानि—

स (कटुको रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो विपाकप्रभावात् पुंस्त्व-मुपहन्ति, रसवीर्यप्रभावान्मोहयति, ग्लपयति, सादयति, कर्शयति, मूर्च्छयति, नमयति, तमयति, भ्रमयति, कण्ठं परिदहति, शरीरतापमुपजनयति, बलं क्षिणोति, तृष्णां जनयति, अपि च वाय्वग्निगुण बाहुल्याद्भ्रमदवथुकम्पतोदभेदैश्चरणभुजपार्श्वपृष्ठ प्रभृतिषु मारुत-जान् विकारानुपजनयति ॥ च० सू० २६।४३

स (कटुको रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोष-दाहसंतापबलविघातकम्पतोदभेदकृत्करचरणपार्श्वपृष्ठप्रभृतिषु च वातशूलानापादयति ॥ सु० सू० ४२।१०

—डल्हन

भ्रमश्चक्रारूढस्येव ; मद उन्मादपूर्वरूपं, हर्षक्षयो वा ॥

कटु रस उपर्युक्त गुणोंवाला होते हुए भी यदि उसका अतियोग किया जाय अथवा अन्य

१—कटुरस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४२ में (आस्थापनोपयोगी कटुकस्कन्धके रूपमें) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

रसोंकी उपेक्षा करके उसीका एकमात्र सेवन किया जाय तो, वह अपने कटुविपाकवश पुंस्त्वका नाश ; रस और वीर्यके प्रभावसे मोह (घबराहट), ग्लानि (हर्षक्षय), अवसाद (शैथिल्य), कृशता, भ्रम, तम, मूर्च्छा, सर्वाङ्गदाह, विनाम (शरीर झुक जाना), कण्ठ, तालु और ओष्ठमें शोष तथा दाह, तृषा, बलक्षय , वायु और अग्निके गुणोंकी प्रबलताके कारण हाथ, पैर, पार्श्व, पृष्ठ इत्यादिमें दाह, ताप, कम्प, तोद (सुई चुभने-सी वेदना), भेद (फाट-फटने-सी वेदना) आदि वातिक विकारोंको उत्पन्न करता है। अष्टाङ्ग संग्रहमें कटुरसके अतियोगके वमन, शुक्रक्षय ; हाथ-पाँव-पृष्ठ-पार्श्व आदिमें संकोच ये कर्म अधिक दिये हैं।

कटुरस समानयोनि होनेसे पित्तको प्रकुपित करता है ; जिससे शरीरमें अग्निकर्म (धात्वग्नियों द्वारा पाक इत्यादि) की वृद्धि होनेसे उल्लिखित कर्म होते हैं। धातुओंका पाक सबसे अधिक होनेसे धातुओंका क्षय होकर उनमें शौषिर्य (सच्छिद्रता, अल्पघनत्व), रूक्षता आदि गुणोंकी वृद्धि होनेके कारण वात प्रकोप होता है और तज्जन्य तोद, भेद आदि विकार उत्पन्न होते हैं।

तिक्तरसके गुण-कर्म—

तिक्तो रसः स्वयमरोचिष्णुरप्यरोचकघ्नो विपाचनः क्रिमिघ्नो मूर्च्छादाहकण्डूकुष्ठतृष्णाप्रशमनस्त्वङ्मांसयोः स्थिरीकरणो ज्वरघ्नो दीपनः पाचनः स्तन्य शोधनो लेखनः क्लेदमेदोवसामज्जलसीकापूयस्वेदमूत्रपुरीषपित्तश्लेष्मोपशोषणो रूक्षः शीतो लघुश्च ॥ च० सू० २६।४३

तिक्तश्छेदनो रोचनो दीपनः शोधनः कण्डूकोठतृष्णामूर्च्छाज्वरप्रशमनः स्तन्यशोधनो विण्मूत्रक्लेदमेदोवसापूयोपशोषणश्चेति ॥ सु० सू० ४२।१०

रोचन इति इतरभक्ष्यवस्तूनां, न पुनः स्वयमेव ॥ —डल्हन

तिक्त रस अर्थात् तिक्तरसप्रधान द्रव्य स्वयं अस्वादु होता हुआ भी अरुचिको नष्ट करनेवाला (रोचक), दीपक, पाचक, दोषोंका शोधक ; विष, कृमि, कण्डू , कोठ, कुष्ठ, तृषा, दाह और मूर्च्छाका नाश करनेवाला ; ज्वरघ्न ; स्तन्य (दूध) की विकृतियोंको दूर करनेवाला ; त्वचा और मांसको दृढ करनेवाला ; लेखन ; पुरीष, मूत्र, मेद, स्वेद, क्लेद, लसीका, पूय, मज्जा, पित्त, कफ और वसाको सुखानेवाला ; छेदन ; रूक्ष, शीत और लघु होता है[1]।

तिक्त द्रव्य यकृत्को शुद्ध और स्वरूपक्षम बनाकर अग्नियोंको प्रदीप्त करते हैं। यकृत्की शुद्धिसे ज्वर, आम आदिसे उत्पन्न विषोंके शोधनकी क्रिया बलवती होती है। संक्षेपमें इस प्रकार तिक्त रसोंके उल्लिखित व्यापार होते हैं। हमारे आहारमें स्वयं अरुचिकर होनेसे तिक्त रसप्रधान द्रव्योंका अयोग किंवा हीनयोग होता है। प्रायः रोगोंका कारण यही है। तिक्त रसके सम प्रमाणमें सेवनसे आरोग्यको स्थिर रखा जा सकता है, तथा उत्पन्न रोगोंको सरलतासे दूर किया जा सकता है[2]।

१—आधुनिकोंने तिक्त रसकी रसोंमें गणना नहीं की है। तिक्तरस द्रव्योंकी निघण्टुओंमें **Bitters**—बिटर्स या **Bitter tonics**—बिटर टॉनिक्स नामसे गणना अवश्य की है।

स्मरण रहे, आयुर्वेद और संस्कृतमें 'कटु' का अर्थ तीखा (सोंठ आदि) और 'तिक्त' का अर्थ कड़ुआ (नीम आदि) है। प्रायः अक्षर-साम्यसे कटुका अर्थ कड़ुआ और तिक्तका तीखा समझा जाता है।

२—तिक्तरस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४३ में (आस्थापनोपयोगी तिक्तस्कन्धके रूपमें) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

तिक्तरसके अतियोगसे हानि—

स (तिक्तो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमानो रौक्ष्यात् खरविशदस्वभावाच्च रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राण्युच्छोषयति, स्रोतसां खरत्वमुपपादयति, बलमादत्ते, कर्शयति, ग्लपयति, मोहयति, भ्रमयति, वदनमुपशोषयति, अपरांश्च वातविकारानुपजनयति ॥ च० सू० २६।४३

ग्लपयति-हर्षक्षयं करोति ॥ —चक्रपाणि

स (तिक्तो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवाऽत्यर्थमुपसेव्यमानो गात्रमन्यास्तम्भाक्षेपकार्दितशिरःशूलभ्रमतोदभेदच्छेदास्यवैरस्यान्यापादयति ॥ सु० सू० ४२।१०

तिक्तरस द्रव्य उल्लिखित गुणवाले होते हुए भी यदि उनका अतियोग किया जाय किंवा इतर रसोंकी उपेक्षा कर उन्हींका अधिक सेवन किया जाय तो, तिक्तरसकी रूक्षता, खरता और विशदता (धातु शोषकता) के कारण रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्रका शोषण (धातुक्षय) होता है ; स्रोतों (रक्तादिके बहनके मार्गों) में खरत्व (कठिनता स्थिति स्थापक गुणका ह्रास) उत्पन्न होता है ; बलकी हानि (क्षय), कृशता, ग्लानि (हर्ष और उत्साहका नाश), मोह (मूर्च्छा), भ्रम, मुखशोष, शरीरका स्तम्भ, मन्यास्तम्भ, आक्षेप, अर्दित, शिरःशूल, तोद, भेद, छेद, आदि वात विकार तथा मुखकी विरसता (स्वादकी विकृति) ये रोग होते हैं

कषाय रसके गुण-कर्म—

कषायो रसः संशमनः संग्राही संधानकरः पीडनो रोपणः शोषणः स्तम्भनः श्लेष्मरक्तपित्तप्रशमनः शरीरक्लेदस्योपयोक्ता रूक्षः शीतोऽलघुश्च ॥ च० सू० २६।४३

पीडनो व्रणपीडनः । शरीरक्लेदस्योपयोक्तेति आचूषकः ॥ —चक्रपाणि

कषायः संग्राहको रोपणः स्तम्भनः शोधनो लेखनः शोषणः पीडनः क्लेदोपशोषणश्चेति ॥ सु० सू० ४२।१०

रोपणो व्रणस्य । स्तम्भनो गात्राणां, मृदूनां वा दृढीकरणः । शोधनो व्रणस्य । लेखनो व्रणाद्युत्सन्नमांसस्य । शोषणो द्रवधातोः, व्रणमेहादीनां वा । पीडनो व्रणस्य हृदयस्य वा, वातकारित्वात् ॥ —डल्हन

कषायरस अर्थात् कषायरस प्रधान द्रव्य दोषोंका शमन करनेवाला, ग्राही (रूक्ष होनेसे द्रवोंको बाँध कर रोकनेवाला), संधानकर्ता (व्रणादिको जोड़नेवाला), व्रणोंका पीडन (दबाने वाला), रोपण (व्रणोंको भरनेवाला), शोधन (व्रण शुद्धिकारक), शोषण (द्रव धातुओं, व्रणों किंवा प्रमेहादि रोगोंमें मूत्रादिको शुष्क करनेवाला), स्तम्भन (अतिसार आदिमें पुरीषादिको अटकानेवाला), लेखन (व्रणादि में उभरे हुए मांसको काटने वाला), शरीरके क्लेदको शुष्क करनेवाला ; कफ, रक्त और पित्तका शामक ; रूक्ष, शीत और अलघु गुणवाला है। अष्टाङ्ग हृदयमें कषायरसके रक्तशोधक, मेदका शोषक, आमस्तम्भक (आम दोषोंके पाकको रोकनेवाला)[1] तथा

१—तरुण ज्वरमें इसी कारण काषयरसका निषेध किया गया है। देखिये—

नवज्वरे दिवा स्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् । क्रोध प्रवातव्यायामान् कषायांश्च विवर्जयेत् । च० चि० ३।१३८ । कषायांश्चेति जातौ बहुवचनम् ; तेन कषायं वर्जयेदित्यर्थः । उक्तं ह्यत्र जतूकर्णेन—"कषायस्य गुरूष्णस्निग्धान्नस्नानाभ्यङ्गान् नवज्वरे वर्जयेत् ॥" इति —चक्रपाणि

अष्टाङ्ग संग्रहमें विकृति त्वचाको स्वाभाविक वर्णमें लानेवाला और प्रीणन ये कर्म विशेष दिये हैं[१]।

कषायरस द्रव्य अपनी स्वाभाविक संकोचन शक्तिके कारण केशिका आदिको संकुचित करदेते हैं, जिससे द्रवोंकी प्रवृत्ति न्यूनाधिक रुक जानेसे अतिसार, प्रमेह, आस्रावयुक्त व्रण आदिमें लाभ होता है।

कषायरसके अतियोगसे हानि—

स (कषायो रसः) एवं गुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपयुज्यमान आस्यं शोषयति, हृदयं पीडयति, उदरमाध्मापयति, वाचं निगृह्णाति, स्रोतांस्यवबध्नाति, श्यावत्वमापादयति, पुंस्त्वमुपहन्ति, विष्टभ्य जरां गच्छति, वातमूत्रपुरीषरेतांस्यवगृह्णाति, कर्शयति, ग्लपयति, तर्षयति, स्तम्भयति, खरविशदरूक्षत्वात् पक्षवधग्रहापतानकार्दित प्रभृतींश्च वातविकारानुपजनयति ॥ च० सू० २६।४३

अवगृह्णातीति बद्धानि करोति ॥ —चक्रपाणि

स (कषायो रसः) एवंगुणोऽप्येक एवात्यर्थमुपसेव्यमानो हृत्पीडास्याशोषोदराध्मनावाक्यग्रहमन्यास्तम्भगात्रस्फुरणचुमचुमायनाकुञ्चनाक्षेपणप्रभृतीञ्जनयति ॥ सु० सू० ४२।१०

चुमचुमायनं राजिकालिप्तस्येव त्वक्पीडा, आक्षेपणमतिशयेन कम्पनम् । प्रभृतिग्रहणादन्यानपि वातविकारानर्दितादीन् करोति ॥ —डल्हन

कषायरस उपर्युक्त गुणोंवाला होते हुए भी यदि उसका अतियोग किया जाय, किंवा अन्य रसोंकी उपेक्षा करके उसीका केवल सेवन किया जाय तो मुखशोष, हृदयपीडा (हृदयपर भार-जैसा लगना घबराहट), आध्मान, वाकसङ्ग (बोल न सकना), स्रोतोंका अवरोध, वर्णकी श्यावता (सलेटी-जैसा रंग), नपुंसकता ; अधोवात, पुरीष, मूत्र और शुक्रका बन्ध (अप्रवृत्ति तथा गाढता होना) ; कृशता, ग्लानि (अनुत्साह); तृषा तथा कषायरसके खरत्व, विशदत्व और रूक्षत्वके कारण स्फुरण (अङ्ग फड़कना) ; चुमचुमायन (चींटी काटने-जैसी या राईका लेप किया हो ऐसी वेदना), मन्या आदि किसी अवयवका स्तम्भ (जकड़ जाना), आकुञ्चन, आक्षेप (अङ्ग पटकना), पक्षाघात, ग्रह (कोई अङ्ग पकड़ा-सा जाना), अपतानक (सर्वाङ्ग स्तब्ध हो जाना, अथवा हिस्टीरिया), अर्दित आदि वात-विकार होते हैं ; द्रव्यका पाक गुड़गुड़ाहटके साथ होता है।

कषायरसके अतियोगसे हानि उसके खरत्व, रूक्षत्व और विशदत्वके कारण होती है। इन गुणोंके प्रभावसे महास्रोतसमें पाचक पित्तोंका क्षरण न्यून हो जानेसे तत्तत् विकृति होती है। केशिकाओंका सङ्कोच होनेसे किंवा उनकी स्थिति स्थापकता न्यून होनेसे उनके द्वारा पोष्य अवयवोंमें रस-रक्त यथेष्ट प्रमाणमें न जानेसे कृशता आदि लक्षण होते हैं। मस्तिष्ककी केशवाहिनियोंका सङ्कोच होनेसे विभिन्न अवयवोंके केन्द्रोंका पूर्ण पोषण न मिलनेसे उनके द्वारा नियन्त्रित अवयवोंमें स्तम्भ, आक्षेप आदि रोग होते हैं। मानसिक उत्तेजनावश इन अल्प स्थिति स्थापकता वाली केशवाहिनियों के फटनेसे पक्षाघात होता है। धमनियोंमें खरत्व खट[२] धातुके उनकी दीवरोंमें निक्षेपसे होता है। सम्भव है, कषायरसके अतिसेवनसे इस क्रियाको उत्तेजन मिलता हो।

१—आधुनिक चिकित्साशास्त्रमें कषायरस पृथक् नहीं माना है। कषायरस द्रव्योंको Astringents—ऐस्ट्रिञ्जेण्ट्स कहते हैं।

कषायरस द्रव्योंके उदाहरण च० वि० ८।१४४ में (आस्थापनोपयोगी कषाय स्कन्धके प्रसङ्गमें) तथा सु० सू० ४२।११ में देखिये।

२—Calcium—केल्शियम

इस प्रकार यह छह रसोंके प्राकृत गुण कर्मों तथा उनके अतियोगसे होनेवाली हानियोंका निरूपण हुआ। आयुर्वेदोक्त जीवन-चर्यामें रसोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। कारण, आहार-द्रव्य, जिनका हम नित्य सेवन करते हैं, रस-प्रधान हैं। इनमें गुण, वीर्य, विपाक रसानुसारी होनेसे रसोंके ज्ञानसे ही सबका ज्ञान हो जाता है। प्रभाव आहार-द्रव्योंमें प्रायः नहीं होता। औषध-द्रव्योंमें प्रायः गुण आदि रसके विपरीत, किंवा रसकी शक्तिको बढ़ानेवाले होते हैं। परन्तु उनका नैत्यिक जीवनसे विशेष सम्बन्ध नहीं है। विशेष सम्बन्ध जिन आहार-द्रव्योंका है उनके गुण-अवगुणका ज्ञान स्वास्थ्यके रक्षण और रोगके निवर्तनके लिए परमोपयोगी है।

रसोंका महत्त्व—

इत्येवमेते षड्रसाः पृथक्त्वेनैकत्वेन वा मात्रशः सम्यगुपयुज्यमाना उपकाराय भवन्त्यध्यात्मलोकस्य।

अपकारपराः पुनरतोऽन्यथा भवन्त्युपयुज्यमानाः; तान् विद्वानुपकारार्थमेव मात्रशः सम्यगुपयोजयेदिति ॥ च० सू० २६।४४

पृथक्त्वेनेति एकैकशो मात्रशः। एकत्वेनेति एकीकृत्य समुदायमात्रश इत्यर्थः। अध्यात्मलोकस्येति सर्वप्राणिजनस्य। अन्यथेति अमात्रया ॥ —चक्रपाणि

ते (षड्रसाः) सम्यगुपयुज्यमानाः शरीरं यापयन्ति, मिथ्योपयुज्यमानास्तु खलु दोषप्रकोपायोपकल्पन्ते ॥ च० वि० १।४

यापयन्तीति साम्येनावस्थापयन्ति। मिथ्याशब्द इहायोगातियोगमिथ्यायोगेषु वर्तते ॥ —चक्रपाणि

रसोंके उल्लिखित गुण-कर्मों तथा अतियोगकी हानियोंको देखनेसे सिद्ध है कि इनका पृथक्-पृथक् एवं मिलित सम मात्रामें उपयोग किया जाय तो पुरुषोंके दोष, धातु आदि समावस्थामें रहते हैं; परिणामतया उनका आरोग्य स्थिर रहता है। इसके विपरीत इनके मिथ्यायोग, अयोग तथा अतियोगसे दोषादिका प्रकोप होकर शरीर विभिन्न प्रकारसे अस्वस्थ होता है।

मधुरादि रसों द्वारा रोग-निवारण—

आरोग्य-स्थिर रखनेके लिए ही नहीं, रोग होनेपर उसके प्रतिकारके लिए भी रसोंका ज्ञान उपयोगी है। रोग-निवारण में रसोंका उपयोग आज तो पथ्यापथ्य किंवा अनुपानके रूपमें ही किया जाता है, वह भी विज्ञ वैद्यों द्वारा; परन्तु प्रतीत होता है किसी कालमें रसों द्वारा उपचारकी एक पद्धति ही प्रचलित थी। इस रस-चिकित्साका स्वरूप संक्षेपमें निम्नोक्त है।

रसोंके संयोग—

भेदश्चैषां त्रिषष्टिविधविकल्पो द्रव्यदेशकालप्रभावाद् भवति ॥ च० सू० २६।१४

× × प्रभावशब्दो द्रव्यदेशकालैः प्रत्येकं युज्यते; तत्र द्रव्यप्रभावाद्यथा—'सोमगुणातिरेकान्मधुरः' इत्यादि; देशप्रभावाद्यथा—हिमवति द्राक्षादाडिमादीनि मधुराणि भवन्त्यन्यत्राम्लानीति; कालप्रभावाद्यथा—बालाम्रं सकषायं तरुणमम्लं पक्वं मधुरं, तथा हेमन्ते ओषध्यो मधुरा वर्षास्वम्ला इत्यादि। अग्निसंयोगादयो येऽन्ये रसहेतवस्तेऽपि काले द्रव्ये वाऽन्तर्विनीयाः ॥ —चक्रपाणि

इति त्रिषष्टिर्द्रव्याणां निर्दिष्टा रससंख्यया।
त्रिषष्टिः स्यात् त्वसंख्येया रसानुरसकल्पनात्॥
रसास्तरतमाभ्यां तां संख्यामतिपतन्ति हि।
संयोगाः सप्तपञ्चाशत् कल्पना तु त्रिषष्टिधा॥
रसानां तत्र योग्यत्वात् कल्पिता रसचिन्तकैः॥

च० सू० २६।२२-२४

रससंसर्गस्य प्रकारान्तरेणासंख्येयतामाह—त्रिषष्टिः स्यादित्यादि। ××× प्रकारान्तरेणाप्यसंख्येयतामाह—रसास्तरतमाभ्यामित्यादि। मधुरमधुरतर मधुरतमादिभेदादसंख्येयता रसानां भवतीति भावः। ×× एवमसंख्येयत्वेऽपि त्रिषष्टि विधैव कल्पना चिकित्साव्यवहारार्थमिहाचार्यैः कल्पितेत्याह—संयोगा इत्यादि। तत्र योग्यत्वादिति तत्र स्वस्थातुरहितचिकित्साप्रयोगेऽनतिसंक्षेपविस्तररूपतया हितत्वादित्यर्थः॥ —चक्रपाणि

पृथक् छः रस, एवं दो-दो, तीन-तीन, चार-चार, पाँच-पाँच तथा छः रसोंके संयोग मिलकर रसोंके तिरसठ भेद होते हैं। अनुरसोंकी विद्यमानतासे इस संख्यामें और भी वृद्धि होती है। मधुरादि रसोंके तर-तम भेदसे यह संख्या असंख्य हो जाती है। तथापि चिकित्सामें उपयोगार्थ तिरसठ रसोंका ही मुख्यतः व्यवहार होता है[1]।

रस-भेदोंका चिकित्सामें उपयोग—

क्वचिदेको रसः कल्प्यः संयुक्ताश्च रसाः क्वचित्।
दोषौषधादीन् संचित्य भिषजा सिद्धिमिच्छता॥
द्रव्याणि द्विरसादीनि संयुक्तांश्च रसान् बुधाः।
रसानेकैकशो वापि कल्पयन्ति गदान् प्रति॥
यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु॥

च० सू० २६।२५-२७

तमेव चिकित्साप्रयोगमाह—क्वचिदित्यादि। अत्रादिग्रहणाद् देशकालबलादीनामनुक्तानां ग्रहणम्। एतदेव संयुक्तासंयुक्तरसकल्पनं भिन्नरसद्रव्यमेलकाद्वाऽनेकरसैकद्रव्यप्रयोगादेकरसद्रव्यप्रयोगाद्वा भवतीति दर्शयन्नाह—द्रव्याणित्यादि। द्विरसादीनि उत्पत्तिसिद्धद्विरसत्रिरसादीनि। द्विरसं यथा—कषायमधुरो मुद्गः; त्रिरसं यथा—"मधुराम्लकषायं च विष्टम्भि गुरु शीतलम्। पित्तश्लेष्महरं भव्यम्" (च० सू० २७।१३१) इत्यादि। चतूरसस्तिलः, यदुक्तं—"स्निग्धोष्णमधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः" (च० सू० २७); पञ्चरसं त्वामलकं हरीतकी च, "शिवा पञ्चरसा" इत्यादिवचनात्। व्यक्तषड्रसं तु द्रव्यमिहानुक्तं, विषं त्वव्यक्तषड्रससंयुक्तं; हारीते त्वेणमांसं व्यक्तषड्रससंयुक्तमुक्तम्। एवं द्विरादिद्रव्ययोगाद् द्विरसाद्युपयोगः। तथा संयुक्तांश्च रसानिति एकैकरसादिद्रव्यमेलकात् संयुक्तान् रसानेकैकशः कल्पयन्ति प्रयोजयन्तिगदान् प्रतीति प्राधान्येन, तेन स्वस्थवृत्तेऽपि बोद्धव्यं; किंवा द्विरसा-

---

१—रसोंके संयोगजन्य भेद तथा उनके उदाहरण च० सू० २६।१५-२१, सु० उ० ६३।४-१६ और 'द्रव्यगुण विज्ञान' (पूर्वार्ध) पृ० १९५-२०६ में देखिये।

द्विभेदो गद एव, स्वस्थे तु सर्वरसप्रयोग एव ; यदुक्तं-"समसर्वरसं सात्म्यं समधातोः प्रशस्यते" (च० सू० ७।४१) इति × × × । रसज्ञानफलमाह-यः स्यादित्यादि । अत्र रसविकल्पज्ञानादेव व्याधिहेतुद्रव्यज्ञानं कृत्स्नमवरुद्धं, रसज्ञानेनैव प्रायः सकलद्रव्यगुणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । दोषविकल्पज्ञानाच्चलिङ्गज्ञानं, यावद्धि लिङ्गं तत् सर्वं दोषविकल्पसंबद्धम् । रसदोषविकल्पज्ञानात्तु भेषजज्ञानं, यतो रसतः स्वरूपज्ञानं भेषजद्रव्यस्य, दोषतश्च भेषजप्रयोगविषयविज्ञानम् । किंवा, रसविकल्पाच्च तथादोषविकल्पाच्च हेत्वादिज्ञानं पृथगेव वक्तव्यं ; रसभेदाद्धि तत्कार्यं लिङ्गमपि ज्ञायते, हेतुभेषजविज्ञानं तु रसभेदविज्ञानादेव वक्तव्यं, यतो रसभेदवद् द्रव्यमेव विकाराणां हेतुर्भेजं च भवतीति ; एवं दोषभेदं ज्ञात्वा च तस्य समानं हेतुं प्रत्येति, दोषविरोधि च द्रव्यं भेषजमिति । तदुक्तमुक्तं-न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु इति ॥ —चक्रपाणि

दोषाणां पञ्चदशधा प्रसरोऽभिहितस्तु यः ।
त्रिषष्ट्या रसभेदानां तत्प्रयोजनमुच्यते ॥
अविदग्धा विदग्धाश्च भिद्यन्ते ते त्रिषष्टिधा ।
रसभेदत्रिषष्टिं तु वीक्ष्य वीक्ष्यावचारयेत् ॥
एकैकेनानुगमनं भागशो यदुदीरितम् ।
दोषाणां; तत्र मतिमान् त्रिषष्टिं तु प्रयोजयेत् ॥ सु० उ० ६३।३-५

× × अत्र पञ्चदशधेति उपलक्षणं, तेन दोषभेदानां त्रिषष्टिरपि गृह्यते । अयमभिप्रायः-त्रिषष्टिप्रकाराणामपि दोषभेदानामुपयोगार्थं रसभेदा उक्ताः । × अविदग्धा असंयुक्ता एकाकिनः समवायतो भिद्यन्त इत्यर्थः । विदग्धाः संयोगतः समवायतश्च संयुक्ता रसान्तरसंयोगाद् भिद्यन्ते । विदग्धशब्दः संयुक्ते वर्तते, धातूनामनेकार्थत्वात् । × × तत्र यथासंभवं केचित् संयोगतः केचित् समवायतश्च भिद्यन्ते × × भागशः अंशांशतया । × × तां रसभेदत्रिषष्टिं मतिमान् ऊहापोहविद् वैद्यः । मतिमानिति पदात् यादृशा एव दोषाणां हीनाधिकभावेन भेदास्तादृशा एव रसभेदा योज्या इति सूचयति × × × ॥ —डल्हन

एषा त्रिषष्टिर्व्याख्याता रसानां रसचिन्तकैः ।
दोषभेदत्रिषष्ट्यां तु प्रयोक्तव्या विचक्षणैः ॥ सु० उ० ६३।१७

उपस्थित रोगीमें किस दोषकी वृद्धि है, किसकी क्षीणता और किसकी समता, प्रथम इसका निर्णय करे, पश्चात् उनके तारतम्य (अनुपात) का विचार करे—अर्थात् दोषोंके जो पृथक् गुण-कर्म कहे हैं, उनमें कौन-कौन गुण अथवा कौन-कौन कर्म प्रकुपित हुए दोषमें वृद्धिको प्राप्त हुआ है तथा कौन-कौन गुण या कर्म सम है ; इसी प्रकार दोष यदि क्षीण है, तो उसका कौन गुण क्षीण है और कौन सम इस बातका निश्चय करे । पश्चात् यह देखे कि वृद्ध या क्षीण हुए गुण-कर्मकी वृद्धि या क्षीणता कितनी है ? इस प्रकार अंशांश कल्पना करके इस बातका विचार करे कि क्षीण दोषके क्षीण हुए गुण या कर्मको बढ़ाकर कौन रस समान योनि होनेसे समावस्थामें ला सकता है तथा वृद्धिको प्राप्त दोषके वृद्ध गुण या कर्मको, विरोधी होनेके कारण, कौन रस क्षीण करके समावस्थामें ला सकता है । ये उपयोगी रस कभी एक ही द्रव्यमें मिल सकते हैं, और कभी भिन्न-भिन्न रसोंवाले अनेक द्रव्योंका संयोग किया जाय तो ही उपयुक्त रस उपलब्ध हो सकते हैं । संयुक्त रसोंके उदाहरण द्रव्यगुणके ग्रन्थोंमें देखने चाहिये ।

जो वैद्य दोषोंकी अंशांशकल्पना (विकल्प) को तथा रसोंके उल्लिखित भेदोंको जानता है

वह रोगोंके कारण, लक्षण और चिकित्साके ज्ञानमें कभी भ्रमित नहीं हो सकता। अर्थात्—रोग दोषोंसे होते हैं और दोषोंकी वृद्धि या क्षीणता समान या विरोधी रसोंके सेवनसे होती है; अतः दोषोंकी वृद्धि या क्षीणताको देखकर जाना जा सकता है कि किस रस या रसोंके सेवनसे किस दोषकी कितनी वृद्धि या क्षीणता हुई है। इस प्रकार रसों और दोषोंके विकल्पके ज्ञानसे रोगके कारण (हेतु, निदान) का ज्ञान होता है। दोषका ज्ञान होनेसे उसके प्रकोप अथवा क्षीणतासे होनेवाले लक्षणोंका ज्ञान सरलतासे हो सकता है। शेष चिकित्साका मार्ग पूर्वोक्त प्रकारसे रसों और दोषोंके ज्ञानसे सुगम हो जाता है।

रसोंके प्राधान्यका कारण—

रसोंके पूर्वलिखित गुण-कर्म तथा आरोग्य और चिकित्साके साथ उनके इस सम्बन्धको देखनेसे आपाततः (प्रथम क्षणमें) यह शंका होना संभव है कि, द्रव्योंमें विद्यमान अनेक गुणोंमें एक गुण है। क्या केवल उसके इतने कर्म हैं और उसीकी चिकित्सामें इतनी उपयोगिता है? निश्चित ही द्रव्योंमें रस ही एकमात्र धर्म नहीं। तथापि पूर्वाचार्योंने चिर-निरीक्षण द्वारा यह ज्ञात किया है कि प्रायः प्रत्येक रसके सहचारी अमुक गुण-कर्म होते हैं। अतः केवल रसका उल्लेख कर दिया जाय तो उनके सहचारी अन्य गुण-कर्मोंका उल्लेख स्वतः हो जाता है। सो रसोंका यह महत्त्व वास्तवमें तो स्वसहचरित गुण-कर्मोंसहित रसोंका है, केवल रसोंका नहीं। देखिये—

गुणा गुणाश्रया नोक्तास्तस्माद् रसगुणान् भिषक्।
विद्याद् द्रव्यगुणान्॥ च० सू० २६।३६

× × × रसगुणानिति रसेस्निग्धादीन् गुणान् निर्दिष्टान् तद्रसाधारद्रव्यगुणानेव विद्यात् × × × इह द्रव्यगुणानां रसेषु यदुपचरणं तस्यायमभिप्रायो यत्-मधुरादिनिर्देशेनैव स्निग्धशीतादिगुणा अपि प्रायो मधुराद्यव्यभिचारिणो द्रव्ये निर्दिष्टा भवन्तीति न मधुरत्वं निर्दिश्य स्निग्धत्वादिप्रतिपादनं पुनः पृथक् क्रियत इति॥ —चक्रपाणि

गुर्वादयो गुणा द्रव्ये पृथिव्यादौ रसाश्रये।
रसेषु व्यपदिश्यन्ते साहचर्योपचारतः॥ अ० हृ० सू० ९।४

पृथिव्यादौ पृथिव्यादिमहाभूतारब्धे द्रव्ये रसाश्रये गुर्वादयो गुणाः परमार्थत आश्रिताः, न तु रसेषु मधुरादिषु। यत्तु रसेषु व्यपदिश्यन्ते तत् साहचर्योपचारतः। × × ×॥ —अरुणदत्त

रसोंके गुण-कर्मोंके रूपमें जो बात संहिताकारोंने कही है, वही प्रकारान्तरसे आहारकी महिमाके प्रसंगमें कही गयी है।

प्राणियोंका मूल-आहार—

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः; प्रत्यक्षफलदर्शनात्। तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः। तत् सत्त्वमूर्जयति, तच्छरीरधातुव्यूहबलवर्णेन्द्रियप्रसादकरं यथोक्तमुपसेव्यमानं, विपरीतमहिताय संपद्यते॥ च० सू० २७।३

× × सत्त्वमूर्जयतीति मनोबलं करोति × ×॥ —चक्रपाणि

प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च। स षट्सु रसेष्वायत्तः × × । ब्रह्मादेरपि

लोकस्याहारः स्थित्युत्पत्तिविनाशहेतुः। आहारादेवाभिवृद्धिर्बलमारोग्यं वर्णेन्द्रियप्रसादश्च। तथा ह्याहारवैषम्यादस्वास्थ्यम् ॥ सु० सू० ४६।३

× × बलमुत्साहोपचयलक्षणम्। × × इन्द्रियाणां प्रसादः स्वस्वविषयग्रहणसामर्थ्यम्। वैषम्यमन्यथोपयोगः ॥ —डल्हन

प्राणाः प्राणभृतामन्नमन्नं लोकोऽभिधावति।
वर्णः प्रसादः सौस्वर्यं जीवितं प्रतिभा सुखम् ॥
तुष्टिः पुष्टिर्बलं मेधा सर्वमन्ने प्रतिष्ठितम्।
लौकिकं कर्म यद्वृत्तौ स्वर्गतौ यच्च वैदिकम् ॥
कर्मापवर्गे यच्चोक्तं तच्चाप्यन्ने प्रतिष्ठितम् ॥
च० सू० २७।३४९-३५१

× × अभिधावतीति प्रार्थयति × × ॥ —चक्रपाणि

स सम्यगुपयुज्यमानो जीवयति, सर्वेन्द्रियाणि ह्लादयति, स्मृतिमतिसर्वबलौजांस्यूर्जयति, वर्णप्रसादश्चोपजनयति। काश्यपसंहिता खि० ५।३

आरोग्यं भोजनाधीनम् ॥ काश्यपसंहिता खि० ५।९

देहो ह्याहारसंभवः ॥ च० सू० २८।४१

बलायुषी ह्याहारायत्ते ॥ च० वि० ८।१२०

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च ॥ च० चि० १५।१२

× × इष्टशब्देनेह प्रियं हितं चोच्यते न प्रियमात्रम्, अहितस्य प्रियमात्रस्य न देहव्यवस्थितिः गन्धादितर्पकत्वं च भवति ; उपहितमिति उपयुक्तम्। इष्टैरिति प्रियहितैः गन्धरसरूपस्पर्शशब्दैः। अत्र यद्यपि हितत्वमेव गन्धादीनामाहारगतानां देहगतगन्धादिपोषणे प्रधानं, तथापि प्रियत्वमप्याहारगतगन्धादीनां तदात्वोपकारकतया ग्रहीतुं प्रियत्वहितत्वयोर्द्वयोरप्युपादानं कृतम्। देहे प्रीणाति गन्धादीनिति देहश्रितान् गन्धादीन् पोषयति। तथा घ्राणादीनि च घ्राणदर्शनरसनस्पर्शनश्रोत्राणि इष्टैर्गन्धादिभिः प्रीणाति तर्पयति, पोषयतीति यावत्। इन्द्रियाण्यपि हि पाञ्चभौतिकान्यस्मद्दर्शने ; तानि च प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि ॥ —चक्रपाणि

हितकर और प्रिय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शवाला तथा यथाविधि सेवन किया गया अन्नपान शरीरके धातुओं (दोष-धातु-उपधातु और मल) की पुष्टि करता है ; एवं, बल (उत्साह और श्रम करनेकी शक्ति), वर्ण, इन्द्रियोंको पुष्टि तथा प्रसाद (निर्मलता-अपने-अपने विषयके ग्रहणका सामर्थ्य), मनोबल, जठराग्नि, आरोग्य, आयु, स्मृति, बुद्धि और ओज तथा गन्धादि विषयोंका पोषक है। संक्षेपमें अन्नपान ही प्राणियोंका प्राण है। इसके विपरीत प्रकारका (विषम) अन्नपान अनारोग्यका हेतु होता है।

आहारके हीनयोगसे हानि—

शरीरावयव जिन महाभूतोंसे बने हैं, अथवा इन महाभूतोंसे बने होनेके कारण इनमें जो गुण होते हैं उन महाभूतों तथा उन गुणोंका धात्वग्नियोंसे पाक होनेके कारण निरन्तर क्षय होता रहता है।

इस क्षयकी पूर्तिके लिए इन महाभूतोंवाला अथवा इन्हीं गुणोंवाला अन्नपान सदा शरीरको उपलब्ध होना चाहिये। आधुनिक क्रिया शारीरके शब्दोंमें कहें तो शरीर जिन कारणद्रव्यों[1] से बना है उनका, अथवा अधिक प्रचलित परिभाषामें कहें तो इन कारणद्रव्योंसे बने हुए जिन समासों[2] से–प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदिसे–यह शरीर बना है, धातुपाककी प्रक्रियासे तथा अन्य कारणोंसे जिनका नित्य क्षय होता रहता है, उन कारणद्रव्यों किंवा समासोंकी शरीरको नित्य आवश्यकता बनी रहती है। परिपूर्ण आहारद्वारा इस आवश्यकताकी पूर्ति होती है। नव्य मतानुसार इस विषयका विवेचन आगेके अध्यायोंमें करेंगे। आयुर्वेदके शब्दोंमें कहें तो—आहारका यथोचित प्रमाण तथा स्वरूपमें सेवन न किया जाय तो शरीरके धातु तथा पित्त और कफ क्षीण होकर विशेषतः वायुका प्रकोप होता है। आहारके इस हीनयोगके लक्षण संक्षेपमें निम्नोक्त हैं—

तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमतृप्तिकरमुदावर्तकरमनायुष्यमवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वातविकाराणामायतनमाचक्षते ; अतिमात्रं पुनः सर्वदोषप्रकोपणमिच्छन्ति कुशलाः ॥ च० वि० २।६

सारविधमनमिति रोगभिषग्जितीये (च० वि० ८) वक्ष्यमाणत्वक्सारादिविधमनम् ॥

—चक्रपाणि

हीन (अल्प मात्रा तथा अल्प गुणोंवाला) आहार, बल, वर्ण और पुष्टिका क्षय करनेवाला अतृप्तिकर, उदावर्त (मलों और वायुकी विपरीत गति) करनेवाला ; आयु, शुक्र और ओजको क्षीण करनेवाला ; शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको उपहत (अपने कार्य में असमर्थ—कुण्ठित) करनेवाला ; रस (त्वक्), रक्त आदि सारोंको मन्द करनेवाला, अलक्ष्मीका उत्पादक और अस्सी प्रकारके वातविकारोंका मूल है। इसके विपरीत अत्याहार सब दोषोंको प्रकुपित करता है।

जैसा कि आगे वातके अधिकारमें देखेंगे, धातुओं तथा कफके क्षीण होनेसे शरीरावयवोंमें शौषिर्य (सच्छिद्रता, अवकाशयुक्तता—अल्प घनत्व) होता है। ऐसे अवयवोंमें वायुका प्रकोप होकर तज्जन्य रोग होते हैं तथा शरीर, इन्द्रिय और मनकी शक्तिका ह्रास आदि उपरिलिखित परिणाम होते हैं।

अग्नि, वायु और स्रोतोंकी अविकृति—शरीरकी पुष्टिमें सहकारी कारण—

आहार सम—सर्वगुणसंपन्न-होते हुए भी शरीरमें उसका यथोचित उपयोग हो सके इस हेतु जठराग्नि तथा अन्य अग्नियों, वायु और स्रोतोंकी अविकृति आवश्यक है। इनके बिना अन्नपान अकिंचित्कर है।—

विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा

१—Elements–एलीमेण्ट्स।

२—Compounds–कम्पाउन्ड्स। व्याकरणमें 'कम्पाउण्ड्स' के लिए 'समास' शब्द सुप्रसिद्ध है। विज्ञानमें भी दोनों शब्दोंका तुल्य अर्थमें प्रयोग चलाया जा सकता है। 'यौगिक' आदि नवीन शब्दोंकी रचना आवश्यक नहीं। आयुर्वेदमें भी मधुरादि रसोंके परस्पर मेलक (समुदाय) के लिए 'समास' शब्द प्रसिद्ध है। देखिये—"रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः—च० सू० १३।२७। —समासो रसानामन्योन्यमेलकः, व्यासोऽमेलकः—चक्रपाणि।" यह प्राचीन समास शब्द नव्य रसायनोक्त तत्त्वोंके मेलकके लिए रूढ़कर लेना चाहिये।

सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति, शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते ॥ च० सू० २८।३

× × × यथास्वेनोष्मणेति पृथिव्यादिरूपाशितादेर्यस्य य ऊष्मा पार्थिवाग्न्यादिरूपस्तेन; वचनं हि—"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः। पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि" (च० चि० १५।१३) इति। किंवा, यथास्वेनोष्मणेति यस्य रुधिरादेर्य ऊष्मा धात्वग्निरूपस्तेन सम्यग्विपच्यमानमशितादि रसतामापन्नं यदा रक्तादिधातून् प्रतिपद्यते तदा रक्ताद्यूष्मणैव पच्यते। एवं विपच्यमानमशितादि शरीरमुपचयादिना योजयत्यूर्जयति वर्धयतीति योजना। किं विशिष्टं शरीरमित्याह कालवदित्यादि।—यथा कालो नित्यगत्वेनावस्थितः, तथाऽनवस्थितोऽविश्रान्तः सर्वधातूनां पाको यस्मिन् शरीरे तत्तथा। एतेन सर्वदा स्वाग्निपाकक्षीयमाणधातोः शरीरस्याशितादिनोपचयादियोजनमुपपन्नमिति दर्शयति। यदि हि पाकक्षीयमाणं शरीरं न स्यात् तदा स्वतः सिद्धे उपचयादौ किमशितादि कुर्यादिति भावः। × × × अनुपहतेत्यादि—अनुपहतानि सर्वधातूनामूष्ममारुतस्रोतांसि यस्य तत्तथा। यदा हि एकोऽपि धातुपाचकोऽग्निरुपहतः, मारुतो वा धातुपोषकरसवाही व्यानरूपः क्वचिदुपहतो भवति, तथा स्रोतो वा धातुपोषकरसवहमुपहतं स्यात्, तदा अशितादिकं धातूनामवर्द्धकत्वान्नोपचयादिकारकमिति भावः। केवलमिति कृत्स्नं शरीरम्। × × धातवो हीत्यादि। धातुराहारो येषां ते धात्वाहाराः; धातवो रसादयो नित्यं क्षीयमाणा अशितादिजनितधात्वाहारा एव सन्तः परं स्वास्थ्यमनुवर्तन्ते, नान्यथेति ॥ —चक्रपाणि

अशित, पीत, लीढ और खादित[1] चार प्रकारका अन्नपान पुरुषके लिए हितकर हो, जठराग्नि (अन्तरग्नि) के द्वारा जो प्रदीप्त रहते हैं ऐसे भूताग्नियों तथा धात्वग्नियोंसे उसका (अन्नपानका) निरन्तर यथोचित पाक होता रहे; परिणामतया धातुओंकी अविरत पुष्टि होती रहे; साथ ही समस्त धात्वग्नि, अन्नपानके परिपाकसे उत्पन्न हुए अन्नरसको शरीरके प्रत्येक भागमें पहुंचानेवाला व्यान वायु एवं इस रसको वहन करनेवाले स्रोत अविकृत हों तभी यह अन्नपान सम्पूर्ण शरीरके उपचय (पुष्टि), बल, वर्ण, सुख (आरोग्य), आयु और वृद्धिका हेतु होता है। धातुओंको आहारके रूप में अनवरत रस धातुकी उपलब्धि होती रहे तभी वे अपनी प्रकृति (स्वरूप और कर्मका साम्य) को स्थिर रख सकते हैं।

अग्निकी महिमा—

भुक्त अन्नपानका पाक, शरीरमें उसका प्रसार तथा उसके द्वारा धातुओंकी पुष्टि आदिका कर्म अग्नियों, व्यानवायु तथा स्रोतोंकी अविकृत इन तीनके अधीन है। इनमें भी अग्निका महत्त्व विशेष है।

बलमारोग्यमायुश्च प्राणाश्चाग्नौ प्रतिष्ठिताः ॥ च० सू० २७।३४२

अग्नौ प्रतिष्ठिता इति अग्न्यधीनाः। प्राणा इति वायवः ॥ —चक्रपाणि

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥

१—जिसे थोड़ा चबाना पड़े वह आहार अशित, पीनेयोग्य पीत, चाटने योग्य लीढ, तथा जिसके चबानेमें विशेष श्रम करना पड़े वह खादित कहाता है।

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते॥
यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम्।
तत्राग्निर्हेतुराहाराद्‌ न ह्यपक्वाद्रसादयः॥ च० चि० १५।३-५

× × आयुः चेतनानुवृत्तिः। बलं शक्तिः व्यायामाद्यनुमेया। × × उत्साहो दुष्करेष्वपि कार्येष्वध्यवसायः; उपचयो देहपुष्टिः। ओजो हृदयस्थं सर्वधातुसाररूपम्। तेजो देहोष्मा शुक्रं वा। यदुक्तं शालाक्ये—"दृष्टिस्तेजोमयी प्रोक्ता शुक्रं तेजश्च केवलम्। तस्माद्दृष्टिबलापेक्षी तेजोवृद्धिं समाचरेत्" इति। अग्नय इति भूताग्नयः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त इति द्वादशाग्नयः। प्राणा इति प्राणापानोपलक्षिताः पञ्चापि वायवः। किंवा प्राणवायुरेव 'प्राणाः' इति शब्देन नित्यं बहुवचनान्तेनोच्यते; यथा अप्सरस् शब्देन एकाऽपि विद्याधरी कीर्त्यते। देहाग्निहेतुका इति देहपोषकप्रधानजाठराग्निकारणकाः। शान्ते इत्युत्सन्ने। युक्ते इति समे। विकृते इति मन्दे विषमे तीक्ष्णे वा। मूलमग्निस्तस्मादिति तस्मात् प्राशस्त्यादन्वयव्यतिरेकविधानादायुर्वर्णादीनामग्निर्मूलं प्रधानं कारणमित्यर्थः। निरुच्यते इति निश्चयेनोच्यते × ×॥ —चक्रपाणि

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत्॥ च० चि० ५।१३६
रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ[1]॥ अ० हृ० नि० १२।१

यद्यपि आहारको शरीर धातुओंकी पुष्टि (उपचय), ओज, बल, वर्ण, प्रभा, उत्साह, शरीरोष्मा, प्राणादि वायु, आरोग्य इत्यादिका पोषक कहा गया है, तथापि वस्तुस्थिति यह है कि, इन सबका मूल अग्नि (जाठराग्नि) ही है। कारण, आहारका अग्नि द्वारा पाक न हो तो उससे रसादिकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है। जाठराग्नि ही इतर अग्नियोंका भी आधार है। अग्नि नष्ट हो जाय तो पुरुषकी मृत्यु हो जाती है; अग्नि सम हो तो पुरुष नीरोग रह कर चिरकाल जीवित रहता है; अग्नि ही विकृत हो तो पुरुष रोगी होता है; अतः अग्नि ही वर्ण, बल इत्यादिका मूल है।

अग्निके मन्द होनेपर ही समस्त रोग होते हैं। सर्व दोषोंके प्रकोप और प्रशमनका कारण

१—यह श्लोक उदराधिकारका है। पूर्ण पंक्ति यह है—"रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ सुतरामुदराणितु॥" इसका अर्थ यह है कि यों तो रोगमात्रकी उत्पत्तिका कारण अग्निकी मन्दता है। उसमें उदर रोगोंकी उत्पत्ति तो अग्निमान्द्यसे विशेष करके होती है। इस सूत्रके प्रति वैद्योंका ध्यान आकृष्ट करना उचित है। एलोपैथीमें सजल उदरोंकी चिकित्सामें यह पद्धति प्रवृत्ति हुई है कि रोगीको अधिक प्रोटीनवाला आहार (मांस, अण्डा आदि) दिया जाय तो उसकी जलाकर्षण शक्ति (Osmotic Pressure—ऑजमोटिक प्रेशर) अधिक होनेसे वह महास्रोतस्‌में आसपाससे—जलके संचय स्थानसे—जलको खींचकर लाता है। परिणामतया, विरेचन दिये बिना ही कोष्ठान्तर्गत जल न्यून होकर विरेचन होकर उदर रोग शान्त होता है। अनुभवसे यह मत दूषित, अग्राह्य और रोग वृद्धिकारक विदित हुआ है। प्रोटीन-बहुल आहार गुरु (दुष्पच) होनेसे रोगमें और वृद्धि ही होती है। इसके विपरीत दुग्धाहार लघु (सुपच) भी होता है, और प्रोटीन-बहुल आहारकी आधुनिकोंने जो प्रशंसा की है उसका भी पालन इससे (दुग्धभोजन) से होता है। आयुर्वेदमें दूधको उदर रोगमें अमृत कहा है। (देखिये—च० चि० १३।१९१-१९४)। वैद्य भी उदरके निदान और चिकित्सा-सम्बन्धी सरल तथा यशःप्रद इन मन्तव्योंका अनुसरण नहीं करते, यह शोचनीय है।

अग्नि ही है। अतः उसके साम्यकी सदा रक्षा करनी चाहिये और उसके विकृत होनेके कारणोंसे बचना चाहिए।

त्रिविध और त्रयोदशविध अग्नियाँ—

इति भौतिकधात्वान्नपक्तृणां कर्म भाषितम्॥ च० चि० १५।३८

भौतिकाः पञ्च, धात्वग्नयः सप्त, अन्नपक्ता एकः। अत्र च यान्यग्न्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यप्यवरुद्धानि भूताग्निष्वेव ; किंवा, अप्राधान्यादन्यान्यकिंचित्कराणि नोक्तानि॥—चक्रपाणि

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥ च० चि० ९।३९

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥ च० चि० १५।१३

भौतिकवह्निव्यापारमाह—भौमेत्यादि। भौमादयः पञ्चोष्माणः पार्थिवादि द्रव्य व्यवस्थिता जाठराग्निसंधुक्षितवला अन्तरीयं द्रव्यं पचन्तः स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पूर्वपार्थिवगन्धत्वाद्यविलक्षणान् गुणान् निर्वर्तयन्ति। एतदेव "विविधमशितपीतलीढखादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसंधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग् विपच्यमानम्" (च० सू० २८।३) इत्यादिना सूत्रस्थानेऽप्युक्तम्। यद्यपि भूताग्निना पार्थिवादिद्रव्यं पच्यते, तथापि पार्थिवादिद्रव्याणां पाकेनैतदेव जननं यद्विविशिष्टगुणयुक्तत्वं, तेन पाकेन जन्यमानेऽपि द्रव्ये गुणा एव जन्यन्त इत्यभिप्रायेण पार्थिवादीनाहारगुणाञ्जनयन्तीत्युच्यते। अनेन गुणजननमेवाग्निनोच्यते, न द्रव्यजननम्। ×× जाठराग्निः सर्वानेवाहाररसमल विपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान् स्वान् गुणाञ्जनयन्ति। उक्तं च—"जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद् भूताग्नयः स्वं स्वं द्रव्यं पचन्ति', इति। अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति, तत्रापि धात्वग्निव्यापारो भूताग्निव्यापारश्च जाठराग्निकर्मणैवोक्तो ज्ञेयः॥
—चक्रपाणि

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादवत्॥ च० चि० १५।१५

भूताग्निव्यापारं दर्शयित्वा धात्वग्निव्यापारं दर्शयन्नाह—सप्तभिरित्यादि। देहधातार इति विशेषेण देहधारकाः। द्विविधमिति द्विप्रकारं पाकम्। तदेव प्रकारद्वयमाह—किट्टप्रसादवदिति ; किट्टप्रसादरूपमित्यर्थः। शुक्रस्य यद्यपि किट्टवान् पाको न भवति, तथापि बहूनां किट्टवत्वात् द्विविधमिति निर्देशश्छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायाज्ज्ञेयः। पुनरिति जाठराग्नि पाकानन्तरम्॥ —चक्रपाणि

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥ अ० हृ० सू० ११।३४

स्वस्थानं कायाग्नेः पक्वामाशययोर्मध्यम्। ×× कायाग्नेर्जाठरानलस्य, अंशा भागाः। सादेन मांद्येन॥
—अरुणदत्त

स्वस्थानस्थस्य ग्रहणीस्थस्य। कायाग्नेः अन्नपक्तुः। अंशाः क्षुद्राणि रूपान्तराणि। धातुषु धात्वाशयेषु, सर्वधात्वग्नय इत्यर्थः। तेषां सादेन मान्द्येन धातुवृद्ध्युद्भवः, अतिदीप्त्या धातुक्षयश्च। धातुवृद्धौ मान्द्योपक्रमः, धातुक्षये तैक्ष्ण्योपक्रमः कार्य इत्यर्थः॥ हेमाद्रि

त एव पञ्चोष्माणः पार्थिवादयः स्थानान्तरप्राप्ता धातूष्माण इति व्यपदेशमासादयन्ति ; यथा उदकं स्थानान्तरगतं लसीकादि व्यपदेशं लभते ॥ अ० हृ० शा० ३।६० पर —अरुणदत्त

× × अन्तरग्नि संधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा × ×[1] ॥ च० सू० २८।३

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि ; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा ॥ सु०सू० २१।१०

विशेषेण भेदेन । अदृष्टहेतुकेन प्राक्तनकर्महेतुकेन । पक्वामाशयमध्यस्थमिति नाभिस्थम् । चतुर्विधमन्नपानं पचतीति अशितं खादितं लीढं पीतं च पचतीत्यर्थः । विवेचयति पृथक्करोति ॥

—डल्हन

ऊपर जिस अग्निकी स्तुति की है वह जठराग्नि (अन्तरग्नि, कायाग्नि, देहाग्नि या पाचक पित्त) है । यह पक्वाशय और आमाशयके मध्यमें (नाभिप्रदेशमें) रहता है तथा अशित आदि चतुर्विध अन्नपानको पचाता है—शरीर धातुओं द्वारा ग्रहणके योग्य स्वरूपमें परिणत करता है, और इसके पश्चात् पाकवश उत्पन्न हुए दोष, रस, मूत्र, और पुरीषका विभजन (पृथक्करण) करता है ।

इस जठराग्निके ही अंश (क्षुद्र रूपान्तर) धातुओंके आशयोंमें रहते हैं । जिस प्रकार जठराग्निकी क्रियासे अन्नपानका पाक तथा रस और मलके रूपमें विभजन होता है उसी प्रकार जठराग्निकी क्रियासे पक्व हुआ रस जब इन धात्वाशयोंमें पहुंचता है तो उनमें विद्यमान इन अग्नियों द्वारा इस रसका पाक अर्थात् अपनी पुष्टिके योग्य परिवर्तन होता है—पश्चात् रसके पक्व अंशका प्रसादभूत स्वयं उस धातु तथा अपने विशिष्ट मलके रूपमें विभजन होता है । शेष रस पुनः हृदयको लौट जाता है, तथा अगले धातुका पोषण करता है ।

धातु सात हैं । प्रत्येकका अपना-अपना अग्नि होता है । इस प्रकार धातुगत अग्नि कुल सात हैं—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्यग्नि, मज्जाग्नि और पुरुषोंमें शुक्राग्नि तथा स्त्रियोंमें आर्तवाग्नि । इन सबका मिलित नाम धात्वग्नि है । इनकी मन्दतासे धातुओंकी वृद्धि और अति तीक्ष्णतासे धातुओंका क्षय होता है । परिणामतया, क्षीण हुए किसी धातुकी वृद्धि करना अभीष्ट हो तो तीक्ष्ण हुए उस धातुके अग्निको मन्द करना चाहिए और वृद्धिको प्राप्त किसी धातुको क्षीण करना हो तो उसके अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए ।

जठराग्नि अपने स्थानमें रहता हुआ इन धात्वग्नियोंको बल प्रदान करता है तथा अपने अग्निकर्म (पाचन आदि) द्वारा शरीरको भी उपकृत करता है ।

प्रत्येक धात्वग्निमें अन्नपानगत प्रत्येक भूतके पाचन और विवेचन (पृथक्करण) के लिए पृथक् अग्नि होता है । इस प्रकार प्रत्येक धातुमें पाँच भूतोंके पाचक पाँच अग्नि होते हैं । इन्हें भूताग्नि कहते हैं । अरुणदत्त कहता है कि, पाँच-पाँच भूताग्नि ही जिस धातुमें रहते हुए अपने-अपने भूतका पाचन करते हैं उस धातुके अनुसार उन्हें रसाग्नि, रक्ताग्नि आदि नाम दिये जाते हैं । एवं, धातुओंके अतिरिक्त द्रव्योंमें भी अपने अन्दर स्थित भूतोंके पाचक अग्नि होते हैं ।

एक जठराग्नि, सात धात्वग्नि और पाँच भूताग्नि मिलकर कुल तेरह अग्नि होते हैं[2] ।

१—सम्पूर्ण सूत्र टीकासमेत ऊपर देखिये ।

२—अन्य अग्नियाँ—मुख्य अग्नियाँ उल्लिखित तीन या तेरह ही हैं । परन्तु, संहिताओंमें इनके अतिरिक्त भी अग्नियोंका उल्लेख है । यथा, "स्वेनेति दोषोष्मणा × × × वातश्लेष्मणोस्तु यद्यपि पित्त-

नव्य क्रियाशारीरकी दृष्टिसे विचार करें तो मुखसे पक्वाशय-पर्यन्त अन्नपानपर क्रिया करनेवाले पाचक रस ही मिलकर जठराग्नि कहे जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त शरीरमें कई ग्रन्थियोंसे क्षरित होनेवाले रस (अन्तःस्रावी रस) सीधे रस-रक्तमें मिलकर विभिन्न धातुओं तथा अवयवोंमें पहुंचकर धातुपाक तथा धातुपुष्टिकी क्रियाको उद्दीपित करते हैं। जठराग्नि और इन रसोंका आगे यथास्थान वर्णन होगा। तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि ये अन्तःस्रावी रस ही आयुर्वेदके धात्वग्नि हैं। परन्तु इन रसोंको जठराग्निद्वारा बल मिलता है, इस आयुर्वेदीय मतकी व्याख्या आधुनिक दृष्ट्या अभी तो दुष्कर है।

जठराग्निका प्राधान्य—

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ च० चि० १५।३९

सर्वाग्निषु जाठराग्नेः प्राधान्यमाह—अन्नस्येत्यादि। प्राधान्ये हेतुमाह—तन्मूला इत्यादि। तन्मूलत्वे हेतुगर्भविशेषणमाह—तद्वृद्धीत्यादि। तस्य जाठराग्नेः वृद्ध्या वृद्ध्यात्मकाः क्षयेण च क्षयात्मका यस्मादिहाग्नयस्तस्मादन्वयव्यतिरेकार्थविधायित्वात्तन्मूला इत्यर्थः॥ —चक्रपाणि

जैसा कि ऊपर कहा है इतर अग्नि जाठराग्निसे ही प्रदीप्त होते हैं। उनका बल जाठराग्निके अधीन है। जाठराग्निकी दीप्तिसे उनकी दीप्ति और जाठराग्निकी क्षीणतासे उनकी क्षीणता होती है। अतः सब अग्नियोंमें जाठराग्नि प्रधान है।

जठराग्निकी चिकित्सा ही कायचिकित्सा है—

जाठराग्निकी इस प्रतिष्ठाके कारण ही आयुर्वेदके आठ अङ्गोंमें प्रधान जो कायचिकित्सा है, उसके नामके पूर्वपद 'काय' का अर्थ अग्नि और 'कायचिकित्सा' का अर्थ दुर्बल अग्निकी चिकित्सा किया जाता है।

दूष्मा नास्ति, तथापि तयोर्भूतत्वेन ऊष्मायोऽस्ति, स इह ग्राह्यः; वक्तव्यं हि ग्रहण्यध्याये—"भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।" (च० चि० १५।१३) इति। किंवा, तेनेत्यनेन दिव्यरूपज्वराधिष्ठानप्रभावकृतं दोषाणामूष्माणं ग्राह्यति × × (च० चि० ३।१२९ पर)" —चक्रपाणि

यहाँ दोषोंको भी अग्नि कहा है। यद्यपि उसे दोषोंके भी भूतमय होनेसे भूताग्निमें ही अन्तर्भूत किया है। तथा—"अत्र च यान्यग्न्यन्तराणि उपधातुमलादिगतानि तान्यप्यवरुद्धानि भूताग्निष्वेव; किंवा, अप्राधान्यादकिंचित्कराणि नोक्तानि—च० चि० १५।३८ पर—चक्रपाणि"—यहाँ उपधातु, मल आदिके भी पृथक् अग्नि कहकर उन्हें भूताग्नियोंमें ही समाविष्ट कर दिया है; किंवा उनके गौण एवं अकिंचित्कर (विशेष कर्म न करनेवाले) होनेसे उनका संहिताकारने निर्देश नहीं किया है, ऐसा कहा है। एवम्—"अन्ये त्वेवमाहुः—'एते त्रयोदशाग्नयः, तथा सप्तसु सिराशतेषु सप्ताग्निशतानि, पञ्चसु मांसपेशीशतेषु पञ्चाग्निशतानि' अ० हृ० शा० ३।६० पर अरुणदत्त"—यहाँ अरुणने यह मतान्तर दिया है कि—सात सौ सिराओंमें सात सौ तथा पाँच सौ मांसपेशियोंमें पाँच सौ पृथक्-पृथक् अग्नि होते हैं। आधुनिक मतसे विचार करें तो आगे कहे जानेवाले अन्तःस्रावी रस अवयवमात्र अथवा उनके बनानेवाले कोषमात्रके लिए सामान्य अग्नि हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कोषमें अपने भी पृथक् परन्तु स्वरूपतः समान अन्तःस्राव होते हैं। जैसे पाँच भूताग्नि ही पृथक् धातुओंमें विद्यमान होते हुए तत्-तत् धात्वग्निका नाम धारण करते हैं, ऐसे पेशी, स्नायु आदि एवं पृथक् कोषोंका स्थानभेदसे भिन्न नामा अग्नि होता है, ऐसा कह सकते हैं।

देखिये—

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा च० सू० ३०।२८ पर —चक्रपाणि

कायोऽत्राग्निरुच्यते, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा ; अथवा कायो देहः, तस्य चिकित्सा कायचिकित्सा[1] ॥ सु० सू० १।० पर —डल्हन

अग्निके संरक्षणका महत्त्व—

तस्मात् तं विधिवद्युक्तैरन्तपानेन्धनैर्हितैः।
पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः॥ च० चि० १५।४०

यतश्चायमग्निर्मूलं सर्वत्र तस्मात् तं पालयेदिति योज्यम्। विधिवद्युक्तैरित्यत्र आहारविधियोगादुपयुक्तैः। आयुर्बलस्थितिरिति अन्नपाचकाग्निस्थितौ आयुर्बलस्थित्या अन्येऽप्यतिप्रेया वर्णादयो लक्षणीयाः॥ —चक्रपाणि

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहितः।
अन्नपानसमिद्भिर्ना मात्राकालौ विचारयन्॥
आहिताग्निः सदा पथ्यान्यन्तरग्नौ जुहोति यः।
दिवसे दिवसे ब्रह्म जपत्यथ ददाति च॥
नरं निःश्रेयसे युक्तं सात्म्यज्ञं पानभोजने।
भजन्ते नामयाः केचिद्भाविनोऽप्यन्तरादृते॥ च०सू० २७।३४५-३४७

× × × अन्तरादिति कारणात्, ऋते विना। अपथ्यस्य तथा रोगकारणस्याभावाद्गदा न भवन्तीति भावः। —चक्रपाणि

तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः॥ च० सू० २७।३

अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा॥ च० सू० २७।३४२

शरीरका आरोग्य, पुष्टि, आयु आदिका मूल हितकर अन्नपान है और उसका उपयोग जाठराग्निके बलके बिना अकिंचित्कर (सर्वथा निरर्थक) है। अतः अपनी आयु, बल आदिकी स्थिरताके लिए पथ्य (हितकर) अन्नपान रूप इन्धन द्वारा जाठराग्निको सदा ज्वलित और प्रदीप्त रखे। जो पुरुष मात्रा और कालका विचार करके अन्नपानका सेवन करता है उसे कोई रोग नहीं होता[2]।

अग्नियोंद्वारा अन्नपानके परिपाकका फल—

परिणमतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथास्वमविरुद्धाः ; विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम्॥ च० शा० ६।१६

१—देखिये-"कायः सकलं शरीरं, तस्य चिकित्सा ; प्रायेण रसादेः सर्वाङ्गव्यापकस्य दोषादेव ज्वरातीसाररक्तपित्तादयः संभवन्ति। किंवा, कायो जाठराग्निः, उक्तं च भोजे,—"जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते। यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै काय चिकित्सकः"—इति। युक्तं चैतत्, यतो ज्वरातिसारादयः कायचिकित्साविषया रोगा अग्निदोषादेव भवन्ति॥"—च० सू० ३०।२८ पर —शिवदास सेन

२—अग्निकी इस स्तुतिका अभिप्राय यह है कि, क्रियाकालमें रोगीके बलाबल और दिये गये औषधके फलाफलकी परीक्षाके लिए विद्यार्थी यह सूत्र सदा दृष्टिगत रखे—"अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा।"

अथ कया परिपाट्या परिणाममापद्यमान आहारो धातुसाम्यकरो भवतीत्याह-परिणमत इत्यादि। परिणमत इति वर्तमाननिर्देशेन यो यथा यथा आहारांशः परिणमते स तथा तथा शरीरगुणरूपतां याति, न कृत्स्नाहारपरिणाममपेक्षत इति दर्शयति। यथास्वमविरुद्धा इति ये आहारगुणा यस्मिन् शरीरगुणेऽविरुद्धास्त एव तद्रूपतां यान्ति। यथा-आहारस्य कठिनो भागो मांसास्थ्यादिकठिनभागपोषको भवति, द्रवांशस्तु शोणितादिरूपो भवतीत्यादि। विरुद्धाश्च विहन्युरिति शरीरगुणविरुद्धास्तु आहारगुणा विहन्युः ह्रासयेयुरित्यर्थः। अथ ते शरीरगुणा आहारगुणविहताः सन्तः किं कुर्वन्तीत्याह-विहता इत्यादि। विहतास्तु विरोधिभिः शरीरं विहन्युरिति योजना; विरोधिभिरिति विपरीतैराहारगुणैः, विहता इति क्षयं नीताः। × ×॥ —चक्रपाणि

जठराग्निः और धात्वग्नियोंके द्वारा अन्नपानके उत्तरोत्तर पाकका फल यह होता है कि, जो-जो गुण जिस-जिस दोष-धातु आदिके सदृश (उसकी वृद्धिके लिए अनुरूप) होता है वह-वह गुण उस-उस दोषादिका अङ्ग—उसीका अंश-बन जाता है। (गुणोंकी इस प्रकार पुष्टि होनेसे उन गुणोंवाले दोष, धातु आदि अवयवोंकी ही पुष्टि होती है)। परन्तु, अन्नपानगत गुण यदि किसी शरीरावयवके विपरीत हों तो वह शरीरावयव क्षीण होता है।

आहारसे शरीरके प्रसादभूत और मलभूत पदार्थोंकी पुष्टि

तत्राहार प्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयःशरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः॥ च० सू० २८।४

योऽसौ धातूनामाहारस्तमाह-तत्रेत्यादि। तत्रेति अशितादौ। रसः किट्टं चाभिनिर्वर्तत इत्यन्वयः। प्रसादः सारः, किट्टम् असारभागः। किट्टादिति किट्टांशात्; तेन अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च; रसात्पच्यमानान्मलः कफः, एवमादि ग्रहण्यध्याये वक्ष्यमाणमनुसर्तव्यम्; वक्ष्यति हि-"किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम् × ×"। आदिग्रहणादक्षिस्नेहादि ग्राह्यम्। यद्यपि च वातोऽनशनादप्युपलभ्यते, तथापि रूक्षकिट्टादिभोजनमलांशादप्युत्पद्यत एवेति किट्टाद्वातोत्पत्तिर्युक्तैव; न चायं नियमो यन्मलादेवोत्पद्यत इति, व्यायामादवगाहादेरपि च वातादि सद्भावात्। प्रजननं लिङ्गम्। रसपोष्यमाह-पुष्यन्ति त्वित्यादि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणीति पृथिव्यादीनि घ्राणादीन्द्रियकारणानि। धातुप्रसादसंज्ञकानीति अत्यर्थशुद्धेनैव धातुप्रसादेनेन्द्रियाण्यारभ्यन्त इति दर्शयति। शरीरं बध्नातीति शरीरबन्धः स्नायुसिरादिः। आदिग्रहणादार्तवस्तन्यादि ग्रहणम्। × × × ×। नन्वाहार रसाद्रसादयः पुष्यन्तीति वदता धातुरसादाहाररसोत्पादः पृथक् स्वीक्रियते, ततश्च तस्य किं स्थानं किं वा प्रमाणमिति किमिति नोक्तम्? उच्यते। न तस्याहारोत्कर्षापकर्षविवेंविधौ, उत्कर्षापकर्षस्य निश्चितप्रमाणत्वाभावात्; स्थानं तु धमन्य एव। पोषकाहाररसस्य तस्य च पृथग्प्रसादिधातुभ्यः प्रदेशान्तरग्रहणं न क्रियते, रसादिकारणरूपतया रसादिग्रहणेनैव ग्रहणात्। अत्र यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपं, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठितं; ये तु शुक्रजन्यमोज इच्छन्ति, तेषामष्टमो धातुरोगः स्यादिति पक्षे चातिदेशं कृत्वा वक्ष्यति-"रसादीनां शुक्रान्तानां यत् परं तेजः, तत् खल्वोजः" (सु० सू० १५।१९) इति। उपपादितपोषणानां धातुमलानां

प्रकृत्यनुविधानमुपसंहरति—ते सर्व इत्यादि। मलाख्या अपि स्वेदमूत्रादयः स्वमानावस्थिता देहधारणाद्धातवो भवन्तीत्युक्तं–धातवो मलाख्या इति। यथावयःशरीरमिति यस्मिन् वयसि बाल्यादौ यादृशं मानं धातूनां तादृशं पुष्यन्तः, तथा यस्मिन् शरीरे प्रकृत्या दीर्घे ह्रस्वे कृशे वा स्थूले वा यादृशं मानं धातूनां तादृशं पुष्यन्त इति योजना। एवमित्यादौ स्वप्रमाणावस्थिताविति अनतिरिक्तावन्यूनौ च। आश्रयस्येति शरीरस्य; यथावत् पक्वौ सर्वाश्रयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्येते, सर्वशरीरमित्यर्थः। समधातोरिति समरसादेः समस्वेदमूत्रादेश्च॥ —चक्रपाणि

अशित आदि चार प्रकारके अन्नपानपर जठराग्निकी क्रिया पूर्ण होनेके पश्चात् वह प्रसाद या सारभूत रस तथा निःसार या किट्टभूत मल इन दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। प्रसादभूत रससे शरीरके रस[1], रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ये सात धातु, ओज; धातुओंके प्रसाद अर्थात् अत्यन्त शुद्ध (निर्मल) अंश रूप पाँचों इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) की पुष्टि करनेवाले द्रव्य; शरीरको बांधनेवाले स्नायु, सिरा आदि अवयवों एवं पिच्छा (?), आर्तव, स्तन्य इत्यादिकी पुष्टि होती है[2]।

आहारके किट्टांशसे पुरीष, मूत्र, वात, स्वेद, पित्त, श्लेष्मा, कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख, लोमकूप, और लिङ्ग (पुरुष और स्त्रीके बाह्य जननावयव) के मल तथा केश, श्मश्रु, लोम, नख आदि अवयवोंकी पुष्टि होती है। इन अवयवोंकी पुष्टि जैसा कि पहले कह आये हैं इस प्रकार होती है कि, अन्नरस परिपक्व हो रसधातुके रूपमें परिणत होता है तथा शरीरमें संचरण करता हुआ जब विभिन्न धातुओंके आशयोंको प्राप्त होता है तो तत्-तत् धात्वग्नि उसे परिपक्व करके उससे अपने धातुका पोषक अंश ग्रहण करता है, साथ ही इस पाककी क्रियामें उस धातुका अपना मल भी बनता है। प्रत्येक धातुके मलका उल्लेख ऊपर कर आये हैं[3]।

आहारसे प्रसादभूत धातुओं तथा मलभूत अवयवोंकी पुष्टिका अर्थ यह नहीं कि इनकी पुष्टि (वृद्धि या कोप) के अन्य कारण नहीं हैं। अन्य कारणोंसे भी इनकी पुष्टि होती है—यथा, वायुकी पुष्टि रूक्ष, निःसार आदि आहार द्रव्योंसे होती है, साथ ही अनशन, श्रम, स्नान आदि कारणोंसे भी वह वृद्धिको प्राप्त होता है। तथापि, आहार इनकी पुष्टि तथा क्षयका विशेष कारण है।

विभिन्न वयमें तथा प्रकृतिसे ही ह्रस्व-दीर्घ (छोटे-बड़े), कृश-स्थूल आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरोंमें जिस धातु या मलका जितना आवश्यक प्रमाण होता है उस प्रमाणमें उस धातु या मलकी पुष्टि इस प्रकार आहारसे होती है। परिणामतया, धातुओं या मलोंका साम्य बना रहता है। अवयवों (दोषादि) के साम्यसे शरीर भी सम और नीरोग रहता है।

क्षीण या कुपित धातुओं और मलोंके साम्यका उपाय—

निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः

१—स्मरण रहे, इसके दो भेद हैं—प्रथम—जठराग्निकी क्रियासे उत्पन्न हुआ रस, जिसे अन्नरस या पोषक रस भी कहते हैं; तथा द्वितीय—सात धातुओंमें प्रथम, जिसे स्थायी रस या रसधातु भी कहा जाता है।

२—इन्द्रियोंके आरम्भक द्रव्योंकी पुष्टि आहारसे इसलिए कही है कि आयुर्वेदमें इन्द्रियोंको पाञ्चभौतिक माना है; और निरन्तर क्षीण हो तो इनकी पुष्टि पञ्चभूतमय आहारसे ही होती है।

३—देखिये—पृ० २६। रसधातुसे ही कफ आदि मलोंकी पुष्टिका अर्थ यह है कि, अन्नरसमें धातुपोषक सारभाग तथा मलोंका पोषक किट्टभाग दोनों विद्यमान रहते हैं।

साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव। स्वमानातिरिक्ताः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्ययगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते॥ च० सू० २८।४

निमित्तत इत्यनेनानिमित्ते अरिष्टरूपे क्षयवृद्धी निराकरोति। वृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यामिति यथासंख्यं वृद्धक्षीणाहारकृताभ्याम्; एतेनाहारविशेषकृतवृद्धिक्षयो रसः साम्यं करोतीत्यर्थः। धातुसाम्यस्यारोग्यत्वे सिद्धेऽपि यदारोग्यायेति ब्रूते तेन प्राकृतधातूनां क्षयेण वाऽतिवृद्ध्या वा साम्यं निराकरोति, अस्य साम्यस्य रोगकर्तृत्वादेव। किट्टं च मलानामेवमेवेति यथा रसस्तथा किट्टमप्यारोग्याय मलानां साम्यं प्रतिपादितरसक्रमेण करोति। वृद्धमलानां चिकित्सान्तरमाह-स्वमानेत्यादि। उत्सर्गो बहिर्निःसरणं संशोधनरूपमेषां शास्त्रोक्तमस्ति, उत्सर्गं वा वहन्तीत्युत्सर्गिणः। वृद्धानां मलानां चिकित्सान्तरमाहशीतोष्णेत्यादि। पर्ययो विपर्ययः, तेन शीतोष्णविपरीतगुणैरित्यर्थः; तेन, शीतसमुत्थे मले उष्णं तथोष्णसमुत्थे शीतमुपचार्यं भवति। आदिशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टः, तेन स्निग्धरूक्षादीनामपि विपरीतगुणानां ग्रहणम्। किंवा पर्ययगुणा द्वन्द्वगुणाः स्निग्धरूक्षमृदुतीक्ष्णादयः, तैश्च यथायोग्यतयोपचर्यमाणा इति ज्ञेयम्। एतेन वृद्धमलानां त्रिविधोऽप्युपक्रमो निदानवर्जनशोधनशमनरूप उक्तो भवति; तत्र निदानवर्जनं वृद्धमले मलवृद्धिहेत्वाहारपरित्यागादल्पमलाहारोपयोगाद्वा बोद्धव्यं, संशोधनं च उत्सर्गिण इत्यनेनोक्तं, शमनं च शीतोष्णेत्यादिग्रन्थेनोक्तम्॥

—चक्रपाणि

जिस प्रकार प्रसादभूत धातुओं तथा किट्टभूत मलोंका साम्य आहारके अधीन है, उसी प्रकार किसी कारण उनकी विषमता—अर्थात् वृद्धि या क्षय—हो गया हो तो उसका उपचार भी आहार द्वारा होता है। किसी धातु या मलकी क्षीणता हो गयी हो तो उसकी वृद्धि करनेवाले शास्त्रोपदिष्ट आहार-द्रव्योंका सेवन करनेसे रस या मलमें उस धातु या मलका पोषक अंश अधिक हो जानेसे परिणाममें उस धातु या मलकी वृद्धि होकर साम्य होता है। इसी प्रकार किसी धातु या मलकी वृद्धि होने पर उसे क्षीण करनेवाले अन्नपानके सेवनसे उसकी क्षीणता होकर साम्य होता है।

मलोंकी वृद्धिका अन्य उपाय यह है कि, शास्त्रमें कथित विरेचनादि संशोधन द्वारा उनका निर्हरण करे—उन्हें शरीरसे बाहर निकाल दे। अथवा, वृद्धिको प्राप्त हुए मलके जो प्राकृत गुण हैं—उनके विरोधी गुणोंवाले द्रव्यादिका सेवन करनेसे वह मल क्रमशः क्षीण होकर समावस्थाको प्राप्त होता है।

शरीरकी पुष्टिमें स्रोतों तथा उनके मुखोंका स्थान—

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि। तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति॥ च० सू० २८।५

अयनानि च तानि मुखानि चेत्ययनमुखानि, अत्रायान्त्यनेनेत्ययनानि मार्गाणि, मुखानि तु यैः प्रविशन्ति; एतेन मलानां धातूनां च यदेवायनं तदेव प्रवेशमुखमिति नान्येन प्रवेशो नान्येन च गमनमित्युक्तं भवति। रसादीनां यथास्वनाम स्रोतोमुखं चायनं च। किंवा, अयनस्य गमनस्य मुखानि मार्गाणि; तेन, अयनमुखानि गतिमार्गाणि इत्यर्थः। तानि च स्रोतांसि मलप्रसादपूरितानि। धातून् यथास्वमिति यद्यस्य पोष्यं तच्च तत् पूरयति। यथाविभागेनेति यस्य धातोर्यो विभागः प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन पूरयति, तादृक्प्रमाणान्येव पुष्यन्ति, नाधिकन्यूनानीत्यर्थः। एतच्च प्रकृतिस्थानां कर्म; विकृतानां तु न्यूनातिरिक्तधातुकरणमस्त्येवेति बोद्धव्यम्। उक्तं चान्यत्र—"स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना" (च० वि० ८।३९)॥

—चक्रपाणि

सिरा धमन्यो नाभिस्थाः[१] सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात् सर्वधातुभिः॥ शा० पू० ५।४३
धमन्यो रसवाहिन्यो[२] धमन्ति पवनं तनौ॥ शा० पू० ५।४३

प्रसाद और मलसंज्ञक पूर्वोक्त शरीरावयवोंका पोषण उनके अपने स्रोतों और उनके मुखों (छिद्रों) द्वारा आहारके रस और मल अंशके प्राप्त होनेसे होता है। दोषोंके कारण इनकी विकृति हुई हो तो अवयवोंकी पुष्टि भी यथावत् नहीं होती।

नाभि (हृदय) से निकल कर समस्त शरीरमें धमनियाँ और सिराएँ व्याप्त होती हैं। ये यावत् धातुओं, शरीरावयवोंमें पोषक रस तथा वायुका वहन करती हैं।

'स्रोत' शब्दका साधारण अर्थ—केशिकाएँ—

तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि, अन्नवह आदि स्रोतोंको छोड़कर, धमनियों की अन्तिम शाखाभूत एवं सिराओंकी मूलभूत प्रणालिकाओंका ही नाम सामान्यतः 'स्रोत' है। इन्हें कोई नवीन लेखक केशिका[३] या केशवाहिनी भी कहते हैं। इनमेंसे रिसनेवाले रसके द्वारा शरीरके सूक्ष्म परमाणुओं (कोषों) का पोषणादि कर्म होता है।

उपसंहार—

एवमिदं शरीरमशितपीतखादितलीढ प्रभवम्। अशितपीतलीढखादितप्रभवाश्चास्मिन् शरीरे व्याधयो भवन्ति। हिताहितोपयोगविशेषास्त्वत्र शुभाशुभविशेषकरा भवन्तीति॥
च० सू० २८।५

उपसंहरति—एवमित्यादि। कथमशितादेर्विरुद्धयोः शरीरतदुपघातकरोगयोरुत्पाद इत्याह—हिताहितेत्यादि। हितरूपोऽशितादिविशेषः शुभरूपविशेषकारकः, अहितरूपस्त्वशितादिविशेषोऽशुभरूपविशेषकरो भवति; तेन नैकरूपात् कारणाद् विरुद्धकार्योदय इति भावः॥ —चक्रपाणि

इस प्रकार यह शरीर अशित आदि चार प्रकारके अन्नपानसे उत्पन्न और पुष्ट होता है। अन्नपान द्रव्य हितकर हों तो उन्हींसे शरीरका आरोग्य होता है, तथा वे ही अहितकर हों तो शरीरमें विभिन्न रोग होते हैं।

अस्तु। अबतक हमने आयुर्वेद मतसे शरीरका अङ्ग-विभाग, शरीरके अवयवभूत दोष-धातु-मल, उनके कारणभूत मूल द्रव्य, पञ्चमहाभूतों द्वारा आहारसे उनकी पुष्टि तथा आहारसे ही रोग और आरोग्यकी प्राप्ति आदि सिद्धान्तोंका अवलोकन किया। अगले अध्यायोंमें हम देखेंगे कि, आधुनिकोंने इन्हीं विषयोंका विचार किस प्रकार किया है।

१—नाभिका अर्थ यहाँ हृदय है। देखिये— आगे रसरक्तसंवहनाधिकार।

२—रस शब्दसे यहाँ उसमें स्थित रक्त धातुका भी ग्रहण है।

३.—Capillaries—केपीलरीज़। अंग्रेजी केपीलरी शब्दका मूल Capillus—केपीलस—शब्द है, जिसका अर्थ केश है। प्राचीनोंने भी, प्रतीत होता है, इन स्रोतोंकी केश तुल्य आकृतिका निरीक्षण किया था। देखिये—"सूक्ष्माः केश प्रतीकाशा बीजरक्तवहाः सिराः। गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद् बीजाय जायते" (द्रव्यगुण संग्रह व्याख्या १३-१४ पर शिवदास सेन धृत विश्वामित्र वचन)। इस पद्यमें आर्तवका कारण बताते हुए गर्भाशयकी रक्तवाहिनियोंको केशोंके सदृश सूक्ष्म कहा है। एवं, इसके अनुसार अन्यत्र स्थित 'केपीलरीज' के लिए भी केशिका शब्दका व्यवहार करना योग्य ही है।

सातवां अध्याय

अथातः शरीरपरमाणुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शरीर-परमाणु—शरीरके चरम अवयव—

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च॥ च० शा० ७।१७

सर्व एव त्ववयवाः परमाणुभेदेनातिसौक्ष्म्यादसंख्येयतां यान्ति॥ अ० सं० शा० ५

दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असंख्येयाः॥ च० सू० २०।३ पर —चक्रपाणि

प्रथमाध्यायमें कह आये हैं कि शरीरका स्थूल विभाग चार शाखा, एक मध्य तथा ग्रीवासहित शिर इन छः अङ्गोंके रूपमें किया गया है। इन अङ्गोंका ही यकृत्, प्लीहा, मस्तिष्क आदि प्रत्यङ्गोंके रूपमें पुनः विभाग किया गया है। ये अङ्ग रस-रक्तादि सात धातुओं तथा उनके वहन (धारण तथा स्थानान्तर-नयन) करनेवाले स्रोतोंके मेलसे बने हैं। तथापि—

ये अङ्ग-प्रत्यङ्ग अत्यन्त अतीन्द्रिय (इन्द्रियागोचर) तथा अगणित परमाणुओंसे[1] बने हैं। आधुनिकोंने इन शरीर-परमाणुओंका बड़ा विशद अनुशीलन तथा वर्णन किया है। अणुवीक्षण[2] के बिना इनका दर्शन शक्य नहीं है। रचना और क्रिया दोनोंकी दृष्टिसे ये शरीर-परमाणु अपने अवयवकी इकाई होते हैं। अर्थात् अवयवमात्रकी रचना इन परमाणुओंके मिलनेसे होती है, तथा, अवयवोंकी जो अपनी प्राकृत क्रिया है वह भी वस्तुतः परमाणुओंकी पृथक् क्रियाके मेलसे ही होती है। इसी अध्यायमें आगे नव्यमतानुसार इन शरीर-परमाणुओंका निरूपण करेंगे।

परमाणुओंके संयोगसे अवयवोंका निर्माण और विभागसे मृत्यु—

तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्मस्वभावश्च॥ च० शा० ७।१७

अथैते विशकलिताः परमाणवः कथं शरीरारम्भे संयुज्यन्ते, शरीरविनाशे च वियुज्यन्त इत्याह—तेषामित्यादि। ननु यदि वायुः कारणं परमाणूनां संयोगविभागे, तत् किमिति सर्वदा तौ न करोतीत्याह-कर्मस्वभावश्चेति; न केवलो वायुः किंतु कर्मस्वभावपरिगृहीत एव। तेन यदा संयोजकस्वभावेन कर्मणा परिगृहीतो वायुर्भवति तदा परमाणूनां संयोगं कुर्वञ्छरीरमारभते; यदा तु वियोजनस्वभावेन कर्मणा वायुः परिगृहीतो भवति तदा विभागं परमाणूनां विनाशरूपं जनयतीत्यर्थः॥ —चक्रपाणि

तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कर्मप्रेरितो वायुः कारणम्॥ अ० सं० शा० ५

प्राक्तन (पूर्व जन्मके) कर्मोंकी प्रेरणासे वायु इन शरीर-परमाणुओंका संयोग करता है तो

१—Cells–सेल्स। विचारकोंका कहना है कि ऊपर धृत वचनोंमें परमाणुका अर्थ महाभूतोंका सूक्ष्म रूप, जिसे सांख्योंने तन्मात्र कहा है, नहीं है। कारण, संहिताकारोंने स्पष्ट ही घोषणा की है कि स्थूल भूतोंसे परेकी वस्तुका विचार हमारा विषय ही नहीं है।

२—Microscope–माइक्रोस्कोप।

अवयवों और शरीरकी रचना होती है[१]। उधर, मृत्युके कारणभूत कर्मोंसे प्रेरित वायु जब इन परमाणुओंका विभाग करता है तो शरीरकी मृत्यु होती है।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार, शुक्रगत पुंबीज[२] तथा स्त्रीकी बीजवाहिनीगत[३] स्त्रीबीज[४]के एकीभाव[५] से प्रथम एक गर्भबीज[६] तय्यार होता है। पुंबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज तीनों एक प्रकारके शरीर-परमाणु (कोष) हैं। गर्भबीजकी वृद्धि और दो खण्डोंमें विभाग होकर दो कोष बनते हैं। इन दो की भी वृद्धि होकर चार, चारसे आठ इत्यादि क्रमसे नये-नये कोषोंकी उत्पत्ति होकर गर्भकी पुष्टि और वृद्धि होती है।

मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं, स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम् ॥

च० शा० ३।२३ पर —चक्रपाणि

पुंबीज, स्त्रीबीज तथा गर्भबीज प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गकी उत्पत्तिमें समर्थ बीज-भागों[७]के संयोगसे बने होते हैं। गर्भकी पुष्टिके क्रमसे इन बीजभागोंसे ही विकसित होकर शिशुके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते हैं।

एक ही गर्भबीजके उत्तरोत्तर विभाजनसे अन्तको आकृति, रचना और क्रियाकी दृष्टिसे नाना प्रकारके कोष—मांससूत्र, नाडी-कोष, रक्त-कण, क्षत्र कण आदि बनते हैं[८]।

एक ही प्रकारके कोष तथा सूत्र एक ही प्रयोजनकी सिद्धिके लिए पुञ्जीभूत (एकत्र) हुए हों तो उनके इस पुञ्जको 'धातु'[९] कहा जाता है। नव्य शारीरके अनुसार इन धातुओंके भेद तथा

१—च० सू० १२।८ के निम्न विशेषणों द्वारा वायुके यही कर्म विस्तारसे कहे गये हैं—" × × × सर्वशरीरधातुव्यूहकरः × × × स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्—" व्यूहकरः संघातकरो रचनाकर इति यावत् × × × भेत्ता कर्ता एतच्च शरीरोत्पत्तिकाले—चक्रपाणि। यह सूत्र आगे वाताधिकारमें संपूर्ण दिया है।

२—Spermatozoon—स्पर्मेटोज़ोऑन ; बहुवचन—Spermatozoa—स्पर्मेटोज़ोआ।

३—Fallopian tube—फैलोपिअन ट्यूब ; या Oviduct—ओवीडक्ट ; या—Uterine tube यूटेराइन ट्यूब , या—Salpinx—सैल्पिंक्स।

४—Ovum—ओवम् ; बहुवचन—Ova—ओवा।

५—Fertilization—फर्टिलाइज़ेशन। अंग्रेजी शब्दकी अनुकृतिमें कोई इसे 'फलन' भी कहते हैं।

६—Fertilized ovum—फर्टिलाइज्ड ओवम। इसे भी अंग्रेजी शब्दकी अनुकृतिमें प्रायः फलित बीज कहते हैं। गर्भबीज शब्द सुन्दर और अर्थवाहक है।

७—ये बीज-भाग आधुनिकोंके Nucleus—न्यूक्लिअस हैं, तथा आगे कहे बीजभागावयव उनके अन्तर्गत Chromosome—क्रोमोसोम हैं।

८—गर्भ-शरीरकी आधुनिकों द्वारा प्रत्यक्षीकृत इस वृद्धिको देखकर उपनिषदोंका यह वचन स्मरण हो आता है—तदैक्षत बहुः स्यां प्रजायेयेति। सोऽकामयत बहुः स्यां प्रजायेयेति। तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक ६—अर्थात् सृष्टिके आरम्भमें एक ब्रह्म था। उसने इच्छा की कि मैं अनेक अनेक-रूप हो जाऊँ ; परिणामतया नाना नाम-रूपवाली यह सृष्टि हो गयी। "पुरुषोऽयं लोकसंमितः—च० शा० ५।३—संमितः-तुल्यः चक्रपाणि"—इस आयुर्वेदवचनानुसार अथवा "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" इस लोकवचनानुसार गर्भोत्पत्तिका क्रम भी सृष्टिक्रमके समान ही एकसे अनेककी उत्पत्तिरूप है। दोनोंकी उत्पत्तिका साम्य च० शा० ४।८ में विस्तारसे देखिये।

९—Tissue—टिश्यु।

लक्षणोंका निर्देश आगे करेंगे। जब अनेक धातु मिलकर एक ही कार्य करनेवाला एक विशिष्ट शरीरावयव—यथा; आमाशय, नेत्र, वृक्क आदि—बनाते हैं तो इस अवयवको प्रत्यङ्ग अथवा अधिक प्रचलित भाषामें अङ्ग[1] कहते हैं।

शरीरके विभिन्न संस्थान—

जिस प्रकार पूर्वाचार्योंने कुछ-कुछ शरीरावयवोंके समान-समान कर्म देखकर उनके तीन विभाग किये हैं—अर्थात् जीवनोपयोगी ज्ञान-क्रिया, पचन, पुष्टि आदि कर्म करनेवाले शक्तितुल्य द्रव्योंको 'दोष' इस वर्गके अन्तर्गत उन्होंने संनिविष्ट किया है; शरीरकी रचनामें मुख्यतः भाग लेनेवाले द्रव्योंको 'धातु'में समाविष्ट किया है तथा प्रायः निःसार होनेसे निज-निज छिद्रों द्वारा बाहर निकलनेवाले (यद्यपि सम प्रमाण शरीरके अनुग्राहक) अवयवोंको 'मल' श्रेणीमें रखा है, उसी प्रकार आधुनिकोंने भी एक-एक समान कार्यकी सिद्धि करनेवाले अनेक-अनेक अवयवोंको एक-एक वर्गमें रखा है। इन वर्गोंको 'संस्थान'[2] कहते हैं। जिस प्रकार एक सुव्यस्थित राज्यमें अनेक-अनेक अङ्ग अपना पृथक् कार्य करते हुए परस्पर सहकारसे एक-एक कार्यको सम्पादित करते हैं, वैसे ही शरीरके अनेक-अनेक अङ्ग भी अपना-अपना कार्य करते हुए एक-एक कार्यको मिलकर करते हैं। उनकी इस एककार्यताको देखकर ही उन्हें तत्-तत् संस्थानमें रखा गया है। ये संस्थान नव हैं। इनके नाम निम्न हैं।—

१—अस्थिसंस्थान, २—मांससंस्थान, ३—पचनसंस्थान, ४—रक्तानुधावनसंस्थान, ५—श्वसनसंस्थान, ६—विसर्गसंस्थान, ७—अन्तर्ग्रन्थिसंस्थान, ८—प्रजननसंस्थान, ९—नाड़ीसंस्थान या वातसंस्थान[3]।

१—Organ—ऑर्गन। शरीरकी किसी भी गुहा (Cavity केविटी; अर्थात्—Cranium क्रेनिअम-करोटि-खोपड़ी; Thorax—थॉरेक्स—उरोगुहा, Abdominal Cavity—एब्डोमिनल केविटी—उदरगुहा, तथा— Pelvis—पेल्विस,—श्रोणिगुहा) के अन्तर्गत अङ्गको अंग्रेजीमें Viscus विस्कस; बहुवचन— Viscera—विसरा कहते हैं।

२—System—सिस्टम। यद्यपि आयुर्वेदमें संस्थानका अर्थ आकार है (देखिये—"संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया" च० इ० ७।८—आकृतिराकारः—चक्रपाणि) तथापि—'एककार्यापेक्षया समेत्य तिष्ठन्ति अस्मिन् इति संस्थानम् शरीरावयव समुदाय विशेषः'—अर्थात् एक ही प्रयोजन (कार्य) को लक्ष्यमें रखकर, सम्—मिलकर जिस वर्गमें अनेक अवयव रहें (स्था) उस वर्गको 'संस्थान' कहते हैं—ऐसा विग्रह करके संस्थान शब्दका व्यवहार 'सिस्टम' के लिए रूढ़ कर सकते हैं। कोई लेखक इस अर्थमें 'तन्त्र' शब्दका भी व्यवहार करते हैं।

३—अंग्रेजीमें इन संस्थानों के नाम क्रमशः ये हैं—Skeletal system, स्केलेटल सिस्टम, Muscular system मस्क्युलर सिस्टम, Digestive system डाइजेस्टिव सिस्टम; Circulatory system सर्क्युलेटरी सिस्टम; Respiratory system रेस्पिरेटरी सिस्टम; Excretory system एक्स्क्रीटरी सिस्टम; Endocrine system एण्डोक्राइन सिस्टम; Genital system जेनीटल सिस्टम; Nervons system नर्वस सिस्टम।

'सर्क्युलेशन'के लिए 'अनुधावन' शब्द—रस और रक्तके शरीरमें विचरणके लिए परिभ्रमण; अभिसरण, संवहन आदि शब्द विद्वान् लेखकों द्वारा सुव्यवहृत हैं। परन्तु "स (रसः) शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम् (सु० सू० १४।१६)—अनुधावति सञ्चरति—डह्लन"

संस्थानोंके कार्य—

अस्थि-संस्थानमें समस्त अस्थियों तथा अल्पांशमें उनका कार्य करनेवाली यत्र-तत्र स्थित तरुणास्थियोंका समावेश है। इसके कारण शरीरकी एक विशिष्ट आकृति (ढांचा) होती है। विभिन्न स्थितियोंमें इनके ही कारण शरीर स्थिर रहता है। मांसपेशियोंके अस्थियोंपर संबद्ध होनेके कारण विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। कई अस्थियां अपने नीचे या अन्दर विद्यमान मर्मोंका संगोपन करती हैं। यथा, करोटि (शिरकी अस्थियों) में मस्तिष्क तथा पोषणिकाग्रंथि[1], पृष्ठवंशमें सुषुम्णा तथा उरःपञ्जरमें हृदय और फुफ्फुस सुरक्षित रहते हैं। रक्त और पीत मज्जा अस्थियोंके विवरोंमें रहकर अपना प्रकृतिनियत कार्य करती हैं।

इस वचनमें 'अनुधावति' क्रियापदके अनुसार 'अनुधावन' शब्द व्यवहार योग्य समझा है। 'अनु' से नैरन्तर्यका भाव सूचित है, एवं दौड़ना अर्थकी 'धाव' धातु अधिक अर्थवाहक प्रतीत होती है। फिर, 'धाव' धातुका अर्थ शुद्धि भी है, जो प्रकृतोपयोगी है—'धावु गति शुद्धयोः।' यों संवहन शब्द भी संहिताओंमें आया है ; यथा, व्यानवायुके कर्मोंमें—'रससंवहनोद्यतः' (सु० नि० १।१७)।

विसर्गका अर्थ यद्यपि दक्षिणायन-कालमें उद्भिदोंमें स्नेहांश तथा प्राणियोंमें बलका उत्पादन कहा है (देखिये - विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः—च० सू० ६।४ पर—चक्रपाणि) तथापि कर्मेन्द्रियोंके कर्ममें मलमूत्रेन्द्रियोंका कर्म 'विसर्ग' कहा है—कर्मेन्द्रियाणां यथासंख्यं वचनादानानन्द विसर्गविहरणानि—सु० शा० १।५

'अन्तः स्रावी ग्रन्थि' यह विग्रह करके मध्यमपद लोपी 'अन्तर्ग्रन्थि' शब्द बनाया है।

यद्यपि नाड़ी शब्द प्राचीनोंने स्रोतमात्रके अर्थमें प्रयुक्त किया है, एवं वर्तमान 'नर्वस सिस्टम'का आयुर्वेदीय तन्त्रोंमें विशद वर्णन भी नहीं है—सो 'नाड़ी' शब्दका 'नर्व' अर्थमें प्रयोग आयुर्वेदीय संहिताओं में प्राप्त भी नहीं होता, तथापि स्व० म० म० गणनाथ सेनजीका मन्तव्य है कि अध्यात्म ग्रन्थोंमें जिन नाड़ियोंका वर्णन है वे नवीनोंकी 'नर्व' ही हैं। अतः उसी अर्थमें प्राचीन नाड़ी शब्दको रूढ़ कर लेना चाहिये।

वातके कर्म 'नर्व्स'के प्रायः समान होनेसे 'नर्वस सिस्टम'को कई वातसंस्थान कहना भी पसन्द करते हैं।

'नर्व'के लिए 'ज्ञानतन्तु' शब्द प्रचलित है, परन्तु वह अपूर्ण है, कारण 'नर्व' केवल ज्ञानतन्तु नहीं, कर्मतन्तु और पोषणतन्तु भी है।

'मज्जा' तथा 'स्नायु' शब्दोंका शास्त्र शुद्ध अर्थ—वङ्ग भाषासे हिन्दीमें 'नर्व'के लिए 'मज्जा-तन्तु' तथा 'स्पाइनल कॉर्ड'के लिए 'मज्जारज्जु' शब्द आ गया है। वह दुष्ट तथा अग्राह्य है। एक समय, पश्चिममें तथा भारतमें भी समझा जाता था कि अस्थियोंके अन्दर जो कुछ है वह 'मज्जा' है। इस प्रकार नलकास्थियोंके विवरमें स्थित यथार्थ मज्जाके समान करोटि (खोपड़ी) में स्थित मस्तिष्क तथा पृष्ठवंशकी अस्थियोंमें स्थित सुषुम्णाको भी मज्जा समझा जाता था। अंग्रेजीके इन शब्दोंकी अनुकृतिमें कई भारतीय भाषाओंमें भी सुषुम्णा, नाड़ी आदिके लिए 'मज्जा' शब्दका व्यवहार हो गया।

स्नायु शब्दका कई भारतीय भाषाओंमें मांसपेशी अर्थ प्रसिद्ध हो गया है। परन्तु सु० शा० ५।३०-३६ इत्यादि प्रकरण देखनेसे विदित होगा कि आधुनिकोंके टेण्डन, लिगमेण्ट आदि बन्धनकारक अवयव प्राचीनोंके स्नायु हैं। 'मसल' के लिए 'मांस' या 'मांसपेशी' शब्द शास्त्रशुद्ध है।

१—**Pituitory gland**—पिट्यूइटरी ग्लैण्ड ; या—**Hypophysis**—हायपोफिसिस।

मांस-संस्थान—द्वारा शरीरकी यावत् चेष्टाएँ[1] होती हैं। इसमें समस्त मांसपेशियोंकी गणना होती है, जिनके आकुञ्चन[2] (संकोच) और प्रसारणसे हाथ, पैर, धड़, जबड़े आदिके विभिन्न कर्म होते हैं तथा परिणामतया चलना, दौड़ना, झुकना, चबाना आदि नाना चेष्टाएँ होती हैं। मांस-पेशियोंके कारण देहयष्टिको सुघटित गोल आकृति भी प्राप्त होती है।

पेशियाँ जिन मांससूत्र-नामक कोषोंसे बनी हैं उनके सदृश सूत्र हृदय, महास्रोत, रक्त-वाहिनियों, ग्रन्थियोंके स्रोतों, अपस्तम्भों[3], गवीनियों, आदिकी रचनामें भी भाग लेते हैं। इनके संकोच-विकाससे इन स्रोतों तथा आशयोंका संकोच-विकास होता है, जिससे इनकी बाह्य वस्तु आगे-आगे धकेली जाती है।

उभयविध मांससूत्रोंकी चेष्टाके परिणामस्वरूप ताप उत्पन्न होता है, जो शरीरकी ऊष्माको स्थिर रखनेमें प्रयुक्त होता है।

पचन-संस्थान—का कार्यभुक्त अन्नपानको पचाकर ग्रहण करना तथा रस और रक्तमें पहुंचा देना है। इस प्रकार यह संस्थान शरीरके पोषण और पूरणका कार्य करता है। इसमें मुख, गल, अन्नवह, आमाशय, क्षुद्रान्त्र (पच्यमानाशय), पक्वाशय, उत्तरगुद तथा अधरगुदका समावेश है। मुखमें अधरगुद पर्यन्त समूचे स्रोतको 'महास्रोत'[4] कहा जाता है। लालाग्रंथियाँ, यकृत् तथा अग्न्याशय इस स्रोतके बाहर रहते हुए अपने पाचक पित्तों (रसों) को इस स्रोतमें भेजकर उसे सहायता देते हैं।

रक्तानुधावन-संस्थान—में हृदय, उससे निकलनेवाली धमनियों, उनकी केवल अणुवीक्षणसे देखी जा सकनेयोग्य शाखाभूत केशिकाओं, इन केशिकाओंसे रिसनेवाले रसको उत्तरोत्तर हृदयकी ओर ले जानेवाली रसवाहिनियों तथा अशुद्ध रक्तको हृदयमें पहुंचानेवाली सिराओंका समावेश है। रस-रक्तको शरीरके सूक्ष्म कोषोंतक पहुंचाकर यह संस्थान उनकी पुष्टि तथा प्रकृतिनियत कार्य करनेके लिए योग्य सामग्री देता है, विभिन्न अन्तःस्रावोंको उनके कार्यस्थल तक पहुंचाता है तथा कोषोंमें उत्पन्न हुए मलोंको उनके शोधन या निर्हरणके लिए उपयुक्त अङ्ग—फुफ्फुस, यकृत् आदि तक पहुंचाता है।

१—पेशियोंकी चेष्टा या कर्मके लिए अंग्रेजीमें Movement–मूवमेण्ट या Motion मोशन शब्द है, जिसका बोलचालमें अर्थ गति होता है। कई लेखक शरीरविद्यामें भी 'मूवमेण्ट' के लिए 'गति' शब्दका प्रयोग करते हैं। वह योग्य प्रतीत नहीं होता। वर्तमान क्रियाशारीरमें मांसपेशियोंके जो कार्य कहे गये हैं वे भारतीय वाङ्मय (दर्शन तथा आयुर्वेद) में 'कर्म' तथा 'चेष्टा' शब्दसे अभिहित हैं। देखिये—'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति पञ्च कर्माणि' (वैशेषिक) तथा 'पञ्चधा चेष्टयत्यपि —सु० नि० १।१८ ;—प्रसारणाकुञ्चनविनमनोन्नमनतिर्यग्गमनानीति पञ्च चेष्टाः—डल्हन तथा गयदास"। एवं गति या गमन तो कर्मका ही एक भेद है। सुप्रयुक्त 'कर्मेन्द्रिय' शब्दमें भी कर्मका उक्त ही अर्थ है।

२—Contraction–कण्ट्रैक्शन।

३—Bronchi–ब्रॉङ्काइ (बहुवचन ; एकवचन–Bronchus–ब्रॉङ्कस)–क्लोम (श्वासपथ) की प्रथम दो शाखायें। "उभयोत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्—सु० शा० ६।२५ ;— उभयत्रोरस इति उरसो द्वयोः पार्श्वयोः—डल्हन"।—अर्थात् छातीमें दोनों ओर वातका वहन करनेवाली अपस्तम्भ नामकी दो नलिकाएँ हैं। इनमें कास-श्वास तथा कोष्ठके वातपूर्ण होनेसे मृत्यु होती है। मर्म-प्रकरणमें आये इस परिचयसे अपस्तम्भ आधुनिकोंके 'ब्रॉङ्काइ' प्रतीत होते हैं।

४—Alimentary canal–एलीमेण्ट्री कैनाल ; या Digestive tract डाइजेस्टिव ट्रैक्ट।

श्वसन-संस्थान—का कार्य प्रश्वास और उच्छ्वास[1] द्वारा रुधिरमें शुद्ध वायु पहुंचाना तथा दूषित वायु बाहर निकालना है। इसमें नासिका, गल, कण्ठ, क्लोम तथा फुफ्फुसोंका अन्तर्भाव है।

विसर्ग-संस्थान—का कार्य धातुपाककी क्रियामें उत्पन्न किंवा शरीरमें बाहरसे आये (कार्बन-डाइऑक्साइडसे भिन्न) मलोंका निर्हरण है। इसमें यकृत्, वृक्क तथा त्वचाकी गणना है।

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान—के अन्तर्गत चुल्लिका[2], अधिवृक्क आदि अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ[3] हैं। इन ग्रन्थियोंमें लालाग्रन्थि, यकृत् आदिके समान उत्पादित रसके वहन करनेके लिए स्रोत (प्रणाली) नहीं होते। अतः इन्हें 'निःस्रोत ग्रन्थि[4] भी कहते हैं। अपने स्रावोंको ये सीधे रस या रक्तमें छोड़ती हैं। परिणामतया, रस-रक्तके साथ सञ्चार करते हुए इनके स्राव[5] दूरवर्ती अवयवों और क्रियाओंका भी नियन्त्रित कर सकते हैं। कई ग्रन्थियोंके एकसे अधिक अन्तःस्राव होते हैं। अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके कार्य शरीर, मन, बुद्धि, पुरुषत्व तथा स्त्रीत्वके लक्षण इत्यादिका विकास और पोषण ; अनेक प्रकारकी जीवनोपयोगी स्थिर किंवा तत्कालोचित क्रियाओंका उद्दीपन या अवसादन आदि हैं। इनके स्रावोंके हीन अथवा अतियोगके परिणाम गम्भीर होते हैं। इनका समयोग स्वास्थ्यके लिए अनिवार्य है।

दोषों, विशेषतः पित्त और कफकी क्रियाको नव्यमतानुसार समझनेमें इन अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के कार्योंको समझना बहुत उपयोगी है। अतः आगे यथा-प्रकरण इनका कार्य कुछ विस्तारसे बताया जायगा।

प्रजनन-संस्थान—का कार्य प्रजोत्पादनअर्थात् स्व-समान अन्य शरीर (सन्तान) की उत्पत्ति द्वारा प्राणि-जातिको अविच्छिन्न रखना है। इस संस्थानमें पुंबीजोंकी उत्पादक वृषण-ग्रन्थि, स्त्रीबीजके उत्पादक अन्तःफल[6] तथा गर्भका धारण-पोषण करनेवाला गर्भाशय मुख्य हैं। शेष अवयव इनके सहकारी हैं। कुछ अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके रसोंका भी इनकी क्रियापर बलवान् प्रभाव होता है।

नाडी-संस्थान—एक तरहसे अन्य सम्पूर्ण संस्थानों या दूसरे शब्दोंमें समस्त शरीर-यन्त्रका अधिष्ठाता है। इसके दो विभाग हैं—केन्द्रीय नाडी-संस्थान[7] तथा परिसरीय या प्रान्तीय नाडी-

---

१—प्रश्वास=वायुका फुफ्फुसोंमें प्रवेश ; Inspiration–इन्स्पिरेशन। उच्छ्वास=वायुका निर्गमन : Expiration–एक्स्पिरेशन। देखिये—प्रश्वासोऽन्तःप्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः —सु० शा० ९।५ पर —डल्हन।

२—Thyroid–थायरॉयड। इस ग्रन्थिकी आकृति छोटे-से चूल्हे या सिगड़ीके सदृश होनेसे किसीने इसे 'चुल्लिका' नाम दिया है। म० म० गणनाथ सेनजीने इसका 'ग्रैवेयक' नाम दिया है। किन्तु चुल्लिका सुन्दर नाम है।

३—Endocrine organs–एण्डोक्राइन ऑर्गन्स।

४—Ductless glands–डक्टलेस ग्लैण्ड्स।

५—इन स्रावोंको अंग्रेजी में Hormones—हॉर्मोन्स कहते हैं।

६—Ovary–ओवरी। "पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः। स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः (सु० शा० ५।४१)—फलम् अण्डम् इति अनर्थान्तरम्—हाराणचन्द्र।"—यहाँ कहा है कि, 'पुरुषोंमें बीजोत्पादक अण्ड वा फल बाहर रहते हैं, तथा स्त्रियों में उदरगुहाके अन्तर्गत। अतः, पुरुषों में जो पेशियाँ अण्ड तथा शिश्न को वेष्टित किये रहती हैं वे ही स्त्रियोंमें 'अन्तर्गत फल' को वेष्टित करती हैं।' इस प्रकरण में आया 'अन्तर्गत फल' अथवा संक्षेप में 'अन्तःफल' शब्द ओवरीका वाचक है।

७—Central nervous system–सेण्ट्रल नर्वस सिस्टम।

संस्थान[1]। प्रथम विभागमें मस्तिष्क तथा सुषुम्ना काण्ड हैं और द्वितीय विभागमें, प्रथम विभागसे निकलनेवाली नाडियाँ हैं। नाडियों द्वारा त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तर्गत अङ्गोंकी अवस्था अर्थात् शीत-उष्ण, प्रकाश, भार, गन्ध, वेदना, समतुला आदिके सूचक संदेश केन्द्रीय नाडी-संस्थानके प्रति जाते हैं और वहाँसे परिस्थितिके अनुसार प्रतिक्रिया करनेके आदेश मांस-पेशियों, अन्तर्गत अङ्गोंके मांससूत्रों तथा विभिन्न ग्रन्थियोंमें जाते हैं। इन यथायोग्य आदेशों द्वारा पेशियों, मांससूत्रों तथा ग्रन्थियोंकी क्रिया प्रारम्भ या समाप्त, उद्दीपित या अवसन्न की जाती है; साथ ही इन क्रियाओंमें परस्पर सहकार रखा जाता है। केन्द्रीय नाडी-संस्थानके इस प्रकार स्पष्ट ही दो भेद हैं—प्रथम वह जो सन्देशों या संज्ञाओंको ग्रहण करता है तथा द्वितीय वह जो इन संज्ञाओंके अनुसार योग्य प्रतिक्रिया करनेका आदेश भेजता है। नाडियोंमें भी दोनों प्रकारके सूत्र होते हैं।

कुछका कार्य केवल संज्ञाओंका वहन करना है। इन्हें संज्ञावह सूत्र[2] कहते हैं। अन्योंका कार्य चेष्टाके आदेशोंका वहन करना है। इन्हें चेष्टावह सूत्र[3] कहते हैं। इन सूत्रों द्वारा संज्ञाओंके सन्देशों और चेष्टाओंके आदेशोंका वहन 'वेग[4]' कहलाता है।

पूर्वाचार्योंने इन्द्रियोंके दो विभाग—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—करके नाडी-संस्थानके इन दो कार्यों और विभागोंका ही निरीक्षण और विभाजन किया है।

त्रिदोष-सिद्धान्त बनाम अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान तथा नाडी-संस्थान—

अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान और नाडी-संस्थानके कार्योंकी तुलनासे विदित होगा कि दोनोंमें बहुत साम्य है। दोनों ही शरीरावयवोंको देश-काल (परिस्थिति) के अनुसार तत्-तत् कार्य प्रारम्भ करने या छोड़ने, अधिक जोरसे करने (उद्दीपन—उत्तेजन) अथवा मन्द करने (अवसादन) के आदेश देते हैं। इनमें भिन्नता स्वरूपमात्र की है। अन्तर्ग्रन्थियाँ अपने रसों द्वारा उल्लिखित कार्य करती हैं; अतः उन्हें रासायनिक सन्देशवाहक कहते हैं और नाडी-संस्थान अपने टेलीफोनके सूत्रों सदृश सूत्रों द्वारा यह कार्य करता है, अतः उसे टेलीफोनिक सन्देशवाहक कहा जाता है।

आयुर्वेदीय त्रिदोष-सिद्धान्तको समझनेके लिए अन्तर्ग्रन्थियोंके समान नाडी-संस्थानका समझना भी उपयोगी है। वातके जो कर्म प्राचीनोंने कहे हैं, वे आधुनिकोंने नाडी-संस्थानके कहे हैं, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि नाडी-संस्थान और वात एक और अभिन्न हैं। दोनोंका पार्थक्य आगे यथाप्रकरण प्रदर्शित किया जायगा।

संस्थानोंका क्रम-विकास—

उल्लिखित सभी संस्थान मानव-कुलमें पूर्ण विकसित हुए होते हैं। एककोषीय[5] प्राणियों और उद्भिदोंका शरीर केवल एक कोषमय होता है, अतः उनमें पृथक् संस्थान नहीं होते। अपनी आगे वर्णित विभिन्न चेष्टाओं द्वारा यह एक ही कोष संस्थानोंकी समस्त क्रियाओंका संपादन करता है। दो या अधिक कोषोंवाले चेतनोंमें ये संस्थान किसी न किसी रूपमें विद्यमान होते हैं। विकासवादके अनुसार जैसे-जैसे आवश्यकता होती गयी वैसे-वैसे विभिन्न संस्थानोंका प्रादुर्भाव और विकास

१—Peripheral nervous system—पेरीफरल नर्वस सिस्टम। पेरीफरलका अर्थ सीमान्त रेखा—मुख्यतः किसी वर्तुल धरातलकी है।

२—Sensory nerve fibers—सेन्सरी नर्व फाइबर्स।

३—Moter nerve fibers—मोटर नर्व फाइबर्स। ४—Impulse—इम्पल्स।

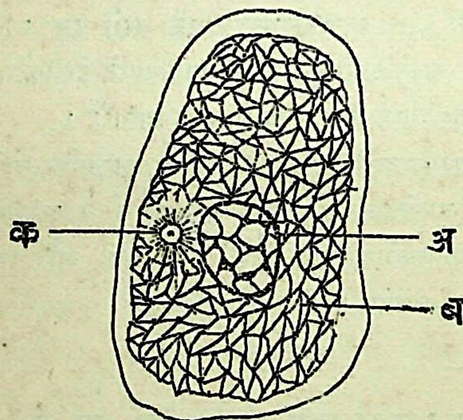
५—Unicellulor—यूनीसेलुलर।

होता गया। अन्तमें मानवकी उत्पत्ति हुई, जिसमें अन्य चेतनोंकी अपेक्षया बुद्धिका अधिष्ठानभूत नाडी-संस्थान विशेष विकसित है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं संस्थान मस्तिष्क, यकृत् आदि प्रत्यङ्गोंसे और अङ्ग-प्रत्यङ्ग अनेक-अनेक धातुओं[1]के संयोगसे बने हैं। ये धातु भी अन्तको समान आकार और समान कार्यकारी कोषोंके समवायसे बने हैं। धातुओंका स्वरूप समझनेके लिए प्रथम कोषोंकी सामान्य रचना तथा कार्य समझना उचित है।

प्राणि-कोष——

रचना और क्रियाकी दृष्टिसे भिन्न होते हुए भी सभी कोषोंमें कुछ साम्य है। सभी एक पिच्छिल, अर्धद्रव द्रव्यसे बने होते हैं। इस द्रव्यको 'प्रोटोप्लाज्म'[2] कहते हैं। इसे हिन्दीमें 'जीवभूमि' कह सकते हैं। अणुवीक्षणसे देखनेपर प्रोटोप्लाज्ममें दो अवयव प्रधानतः दिखाई देते हैं। मध्यमें छोटा, गोल पदार्थ होता है, जिसे 'न्यूक्लिअस'[3] कहते हैं। कोषका एक तरहसे यह सर्वस्व है। इसके चारों ओर अर्धद्रव पदार्थ होता है, जिसे 'सायटोप्लाज्म'[4] कहते हैं। किनारेका प्रोटोप्लाज्म ही कुछ घन होकर कोषके चारों ओर पतली दीवार बनाता है। उद्भिदोंके कोषोंकी दीवार प्रोटोप्लाज्मका ही परिणत (परिवर्तित) रूप न होकर सेल्युलोज[5] की मोटी दीवारके रूपमें होती है। इसी कारण उद्भिदोंके कोष अपनी बाह्य आकृति बदल नहीं सकते। पतली दीवार होनेसे प्राणिकोषोंका आकार सतत बदलता रहता है, जो उनके जीवनके लिए आवश्यक और उपयोगी है। रोगजनक जीवाणु एक प्रकारके एककोषीय उद्भिद ही हैं। कई जीवाणु प्राणिवर्गीय भी होते हैं। कोषोंका विस्तार औसतन $\frac{१}{३००}$ से $\frac{१}{३०००}$ इञ्च होता है। प्रोटोप्लाज्ममें जल, जो सारे प्रोटोप्लाज्म



प्राणिकोष चित्र—१

अ—न्यूक्लिअस (क्रोमेटीनकी जालीसे युक्त); ब—सायटोप्लाज्म, इसकी रचना जालीमय तथा जालियोंके खानोंमें अर्धद्रव्य भरा रहता है; क—सेण्ट्रोसोम (अन्दर एक सेण्ट्रिओल)

१—Tissues—टिश्यूज़।

२—Protoplasm इस शब्दका अर्थ है—प्रथम रूप। विकासवादके अनुसार कोई ६ करोड़ वर्ष पूर्व जो प्रथम चेतन द्रव्य भूतलपर आविर्भूत हुआ; वह इसी 'प्रोटोप्लाज्म' के बुद्बुदका बना एककोषीय पदार्थ रहा होगा। इस प्रथमाविर्भावके कारण ही प्रोटोप्लाज्मको यह नाम दिया गया है।

३—Nucleus. ४—Cytoplasm.

५—Cellulose. यह वह द्रव्य है, जिससे शाक-भाजी आदिके तन्तु (रेशे) बनते हैं।

का ¾ अथवा अधिक होता है, प्रोटीन, स्नेहद्रव्य, कार्बोहाइड्रेट (पिष्टसार तथा शर्कराएँ) तथा सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय लवण होता है। विशेष द्रव्योंसे तय्यार करके देखनेपर सायटोप्लाज्म जाली-सदृश तथा जालियों में द्रव-विशेष भरा हुआ दृष्टिगोचर होता है।

न्यूक्लिअस—भी जालमय होता है, जिसके खानोंमें अर्धद्रव द्रव्य भरा रहता है। जाली लिनिन[1] और क्रोमेटिन[2] नामक दो द्रव्योंसे बनी होती है। इनमें कोषोंकी विभजन द्वारा वृद्धि तथा शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक प्रकृति, आदि को माता-पितासे संततिमें वहन करने वाले होनेसे क्रोमेटिनका बड़ा महत्व है। कोषके समान न्यूक्लिअसके चारों ओर भी पतली दीवार होती है, जो उसके द्रवके घनी भावसे बनती है।

प्रायः कोषोंमें न्यूक्लिअसके बाहर, उसके निकट 'सेण्ट्रोसोम'[3] नामक अवयव होता है। यह प्रोटोप्लाज्माका छोटा-सा गोल समुदाय होता है। इसमें 'सेण्ट्रिओल'[4] नामक एक या दो सूक्ष्म कण होते हैं, जो कोषोंके विभजनमें महत्त्वका भाग लेते हैं। सेण्ट्रोसोमके आसपासके प्रोटोप्लाज्मके जालके सूत्र प्रायः उसके चतुर्दिक् आकृष्ट होकर किरणाकारमें रहते हैं। सम्पूर्ण रचनाको 'एट्रेक्शन स्फीअर'[5] कहते हैं[6]।

१—Linin. २—Chromatin. ३—Centrosome.
४—Centriole. ५—Attraction sphere.

६—**प्राचीन संहिताओंमें कोषके अवयवोंका उल्लेख**—ऊपर च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणिका जो वचन दिया है, उसमें स्पष्ट कहा है कि मनुष्य-बीज प्रत्येक अङ्गके बीजरूप भागोंका समुदाय होता है। नीचे दिये वचनोंमें कहा है कि, माता-पिताके बीजोंमें जिस अङ्गावयवका बनानेवाला (निर्वर्तक) भाग बीजभाग विकृत होता है, सन्तानका वह अङ्गावयव विकृत होता है।

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्—च० शा० ३।२३—बीजे इति शुक्रशोणिते। बीजस्याङ्ग प्रत्यङ्ग निर्वर्तको भागो बीजभागः × × ×। एवं मन्यते मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्ग बीजभाग समुदायात्मकं स्वसदृश प्रत्यङ्ग समुदायरूप पुरुषजनकम् × × × —चक्रपाणि ॥

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति। यदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा बन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति। यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्तां जनयति तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते। एवमेव पुरुषस्य यदा बीजे बीजभागः प्रदोषमापद्यते तदा वन्ध्यां जनयति। यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते तदा पूतिप्रजां जनयति। यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति। तां पुरुषव्यापदमाचक्षते—च० शा० ४।३०-३१। —बीजे इति कृत्स्न एवारम्भके बीजे। बीजभागे वेत्यवयवबीजस्यैकदेशे। गर्भाशयजनको बीजभागो गर्भाशयबीजभागः × × × बीज इति शुक्रे। शुक्ररूप बीजजनको भागो बीजभागः × ×। —चक्रपाणि

च० चि० १४।५ सहज (जन्मजात) अर्शका कारण बताते हुए कहा है—तत्र बीजं गुदवलि-बीजोपतप्तम् आयतनमर्शसां सहजानाम्।

इन वचनोंमें बीज शब्दसे पुंबीज-स्त्रीबीज, बीजभागसे न्यूक्लिअस तथा बीजभागावयवसे क्रोमोसोमका कदाचित् ग्रहण है।

कोषोंका परस्पर संधान उनके अन्तरालमें स्थित अणुश्लेष्मा[1] से होता है।

कोष अपनी वृद्धि और पुष्टिके लिये आवश्यक द्रव्य एवं दहनके लिए ओषजन रस[2] से प्राप्त करते हैं। धातुपाककी क्रियासे उत्पन्न मलद्रव्यों या बाह्यविषोंको भी वे रसमें ही छोड़ देते हैं। यह रस धमनियोंकी अन्तिम शाखाओं (केशिकाओं) से झरता है, तथा अपनी विशिष्ट वाहिनियों द्वारा हृदयकी ओर ले जाया जाता है।

प्राणि-कोषोंकी सामान्य क्रिया—

विभिन्न प्राणि-कोषकी रचनामें थोड़ी-बहुत भिन्नता होते हुए भी उनकी सामान्य रचना उल्लिखित प्रकारकी होती है। उनकी क्रिया भी पर्याप्त भिन्न होती है, तथापि सबमें अमुक साम्य होता है। आधुनिकोंने अचेतन द्रव्य[3] का चेतन द्रव्य[4] से भेद बताते हुए अन्य शब्दोंमें, चैतन्यके लक्षणोंका प्रतिपादन करते हुए, प्राणि-कोषोंकी सामान्य क्रियाका निर्देश किया है। चैतन्यके इन आधुनिकोक्त लक्षणोंका उल्लेख करनेके पूर्व पूर्वाचार्य-निर्दिष्ट चैतन्यके लक्षण देख लें। प्राचीनोंने इनका निर्देशन आत्माकी सिद्धिके प्रसंगसे किया है। तुलनासे विदित होगा कि, दोनों पद्धतियों द्वारा प्रतिपादित चैतन्यके लक्षणोंमें बहुत भेद नहीं है।

चैतन्यके लक्षण (प्राचीनोक्त)—

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्गा सव्येनावगमस्तथा॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ च० शा० १।७०-७२

प्राणापानौ उच्छ्वासनिःश्वासौ। निमेषाद्या इति शब्दग्रहणेन उन्मेषाद्याः प्रेक्षणविशेषा गृह्यन्ते। मनसो गतिरिति मनसा पाटलिपुत्रगमनादिरूपा। इन्द्रियान्तरसंचारोऽपि मनस एव ; यथा चक्षुः परित्यज्य मनः स्पर्शनमधितिष्ठतीत्यादि। प्रेरणं च तथा धारणं मनस एवेति ज्ञेयम्। देशान्तरगतिः स्वप्ने इति छेदः। × × चेतना ज्ञानमात्रम्। बुद्धिस्तूहापोहज्ञानम्॥ —चक्रपाणि

तस्य सुख दुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्रणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनःसंकल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः॥ सु० शा० १।१७

१—Intercellular material—इण्टर सेलुलर मेटीरिअल, श्लेष्मा शब्द आलिङ्गन अर्थके 'श्लिष' धातुसे बना है। जो भी द्रव्य शरीरके अणुरूप सूक्ष्म अवयवों (कोषों) या अन्य स्थूल अवयवों के आलिङ्गन अर्थात् परस्पर संयोगका हेतु हो, वह श्लेष्मा है। इस प्रकार, कोषों (अणुओं) के अन्तरालमें स्थित उन अणुओंका संयोजक द्रव्य श्लेष्म-वर्गका ही एक द्रव्य है। अतः इसे 'अणु-श्लेष्मा' नाम दिया है। दोषोंके वर्गीकरणका विचार आगे देखिये।

२—Lymph—लिम्फ। ३—Non-living matter—नान-लिविङ्ग मैटर।

४—Living matter—लिविङ्ग मैटर।

इदानीं तस्यैव कर्मपुरुषस्य शरीरात्मनोः संयोगकारकेण मनसा संयोगे ये गुणा उत्पद्यन्ते तानाह- तस्येत्यादि। × × एते कर्मपुरुषस्य षोडश गुणाः × ×॥ —डल्हन[1]

अभिमत (अनुकूल–प्रिय) वस्तुओं के प्राप्त होनेपर सुख, प्रतिकूल (दुःखजनक–अप्रिय) वस्तुओं का सम्पर्क होनेपर दुःख, सुखकर वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छा, दुःखकर वस्तुओंके प्रति द्वेष, इष्ट वस्तुओंकी प्राप्तिके लिए तथा अनिष्ट (द्वेषपात्र) वस्तुके परिहारके लिए (उससे बचनेके लिए) प्रयत्न, ज्ञान (चेतना, बुद्धि—ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा अपने विषयोंका ग्रहण), कर्मेन्द्रियों द्वारा विषयों की प्राप्ति, प्राण-अपान (उच्छ्वास–निःश्वास–श्वसन), अध्यवसाय (निश्चय), निमेष-उन्मेष, अहंकार, धृति, स्मृति, संकल्प, ऊहापोह (विचारणा–तर्क), विज्ञान (शिल्पज्ञान), जीवन (शरीरकी वृद्धि, व्रण या भग्नका रोहण[2]), मनका निकट या दूर देशमें गमन, विभिन्न इन्द्रियोंमें मनका विचरण, मनके द्वारा इन्द्रियोंका धारण और प्रेरण, स्वप्नमें देशान्तर-संचार, मृत्युका ज्ञान, दाँयी आँखसे देखेका बाँयी आँखको स्मरण (अथवा किसी भी इन्द्रिय द्वारा जाने विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा स्मरण), ये आत्माके लक्षण हैं, जो कर्मपुरुषमें प्रकट होते हैं[3]।

चैतन्यके लक्षण (आधुनिकोक्त)-

चैतन्यके जो चिह्न मानव आदि अनेक कोषात्मक प्राणियोंमें पाये जाते हैं वही एक कोषमय प्राणियोंमें भी देखे जाते हैं। अनेक कोषात्मक प्राणियोंके भी प्रत्येक कोषमें चैतन्यके लक्षण स्वतन्त्र विद्यमान होते हैं, अर्थात्—प्रत्येक कोष अपने आपमें पूर्ण एक चेतक द्रव्य है। कोषोंके चैतन्यके लक्षणोंका अनुशीलन करनेके लिए अमीबा[4] नामक एक कोषीय जलजन्तुका निरीक्षण सुलभ होनेके कारण किया जाता है।

१—आयुर्वेदके वचनोंसे तुलना के लिए देखिये—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ न्यायसूत्र १।१०

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ वैशेषिक सूत्र ३।२।४

जीवनपदेन जीवनकार्यं वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि लक्षयति—उपस्कार।

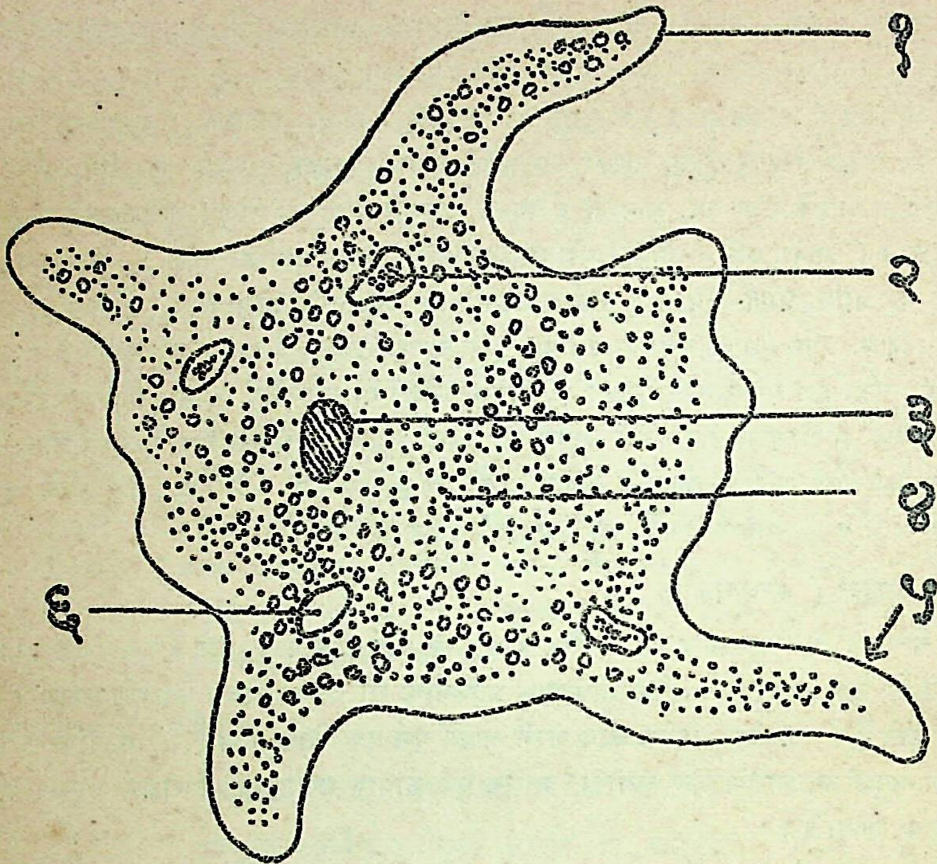
२—जीवन शब्दका यह अर्थ उपस्कार टीकाके अनुसार किया है।

३—**ऊष्मा—चैतन्यका एक लक्षण**—"इन लक्षणोंमें रोग-परीक्षामें नित्य व्यवहारमें आने-वाला लक्षण ऊष्मा छोड़ दिया है। उपनिषदोंका अनुसरण करते हुए ब्रह्मसूत्रकारने उसका ग्रहण किया है।—

अस्यैव चोपपत्तेरेव ऊष्मा ॥ ब्रह्मसूत्र ४।२।११

तथा हि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे, विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते, जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यते इत्यत उपपद्यते प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति। तथा च श्रुतिः—उष्ण एव जीविष्यन् शीतो मरिष्यन्' इति।" (डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक कृत "मानसरोग विज्ञान" प्रथम खण्ड, पृ० ३१) आधुनिकोंने चैतन्य किंवा चेतन द्रव्योंके लक्षणके रूपमें ऊष्माकी पृथक् गणना नहीं की है। वह शक्ति (Energy—इनर्जी) का ही एक रूप होनेसे धातुपाकका एक परिणाम होनेसे उसीके अन्तर्गत है।

४—Amoeba स्मरण रहे, आधुनिकोंने प्रवाहिकाके दो भेदोंमें एक (Amoebic dysentry अमीबिक डिसेण्ट्री) के कारणभूत जिस अमीबाका पता लगाया है, वह प्रस्तुत अमीबाकी जातिका होता हुआ भी उससे भिन्न है।



अमीबा चित्र—२

१ तथा ५—शुण्डा ; ३—न्यूक्लिअस ; २—पाचक अवकाश ; ६—आकुञ्चनशील-अवकाश ; ४—सायटोप्लाज्मके कण।

पोखरके पानीकी एक बूंद काचकी पट्टीपर लेकर अणुवीक्षणके नीचे देखें तो एक एक कोषीय प्राणी दिखाई देगा, जो प्रोटोप्लाज्मका एक अनियता कृति पुञ्ज है, जिसमें एक या अधिक न्यूक्लिअस तथा खाली स्थान होते हैं और जो स्वयं यत्किंचित् कण-मय होता है। एक-दो मिनट इसपर दृष्टि रखें तो इसकी दीवार शुण्डाके रूपमें एक ओर उभरी दिखाई देगी। कोषका प्रोटोप्लाज्म भी इसके पीछे-पीछे सरककर आ जायगा। इस प्रकारके उभारको 'शुण्डा'[1] कहते हैं। अमीबामें चारों ओर ऐसी शुण्डाएं निरन्तर निकलती रहती हैं। ये शुण्डाएँ एक ही दिशामें निकलें तो अमीबा धीमे-धीमे उसी दिशामें गति करता है। इस गतिको, जो अन्य कोषोंमें—यथा रक्तगत श्वेत कणोंमें—भी दिखाई देती है, सर्पण[2] नाम दिया गया है। शुण्डाएँ निकलनेसे कोषोंके आकारमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। शुण्डाएँ आगेकी ओर निकलकर अमीबाको आगे ले जाती हैं, पीछे या पार्श्वोंकी ओर निकलकर उसे पीछे या पार्श्वकी ओर खेंचती हैं।

परीक्षासे विदित होगा कि अमीबाकी ये गतियाँ अकारण नहीं हैं, परन्तु अनुकूल विषयों[3]के

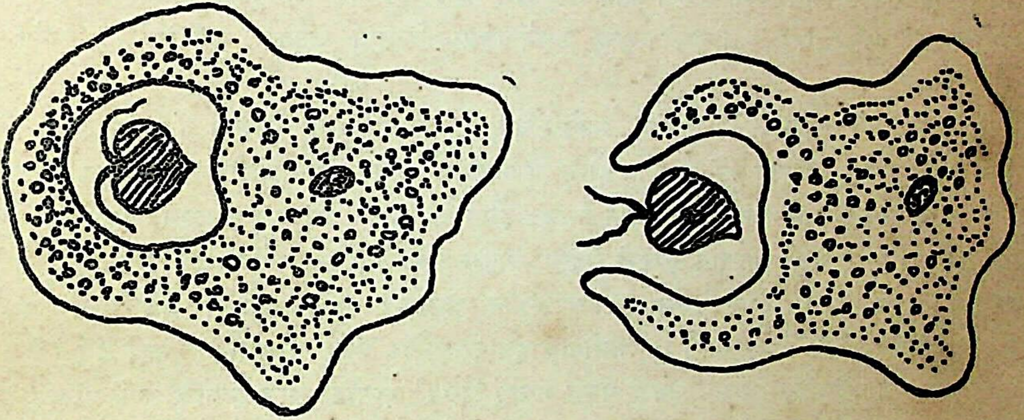
१—Pseudopod—सूडोपॉड ; (शब्दार्थ—मिथ्यापाद)।

२—Amoebic movement—अमीबिक मूवमेण्ट।

३—Stimulus—स्टिम्युलस (शब्दार्थ-उद्दीपक, उत्तेजक)। चेतन प्राणीको प्रभावित करनेवाले शब्द, स्पर्श आदिके लिए शास्त्र और लोक (बोल-चाल) में विषय शब्द प्रचलित है। स्टिम्युलसके लिए

ग्रहण और प्रतिकूल (दुःखकर) वस्तुओंके परिहारके प्रयत्न हैं। पानीमें यदि कोई हानिकर रासायनिक द्रव्य छोड़ दें तो अमीबा उससे परे भागता है। परन्तु, कोई औद्भिद कोष या उनके सार जैसे भोज्य पदार्थकी एक बूंद डालें तो अमीबा इसकी ओर बढ़ता है। उसे कांचकी पतली शलाकासे छेड़ें तो भी वह उससे छटकता है। विषयोंके प्रति प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप इन प्रतिक्रियाओं—अर्थात् अपने-आपको निरन्तर परिवर्तनशील परिस्थितिके अनुकूल बनानेके इन प्रयत्नोंको एक शब्द द्वारा द्योतित किया जाता है कि अमीबा तथा अन्य चेतन द्रव्योंमें क्षोभ्यता—यह अचेतन द्रव्योंसे विशेष गुण होता है।

अमीबाकी उक्त चेष्टाको अन्त तक देखें तो विदित होगा कि अपनी शुण्डाओं द्वारा अमीबा उद्भिदोंके कोषों किंवा अन्य एक कोषीय प्राणियोंको प्रथम घेर लेता है। सायटोप्लाज्मका कुछ अंश आगे सरककर इन शुण्डाओंके मध्यमें इस भोज्य द्रव्यको इस प्रकार वेष्टित कर लेता है कि, भोज्य द्रव्यके चारों ओर थोड़ा अवकाश रहता है। इस अवकाशको पाचक अवकाश[1] कहते हैं। भोज्य पदार्थोंका जैसे-जैसे पचन (रूपान्तर) होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आचूषण होता जाता है, पाचक



अमीबा एककोषीय चित्र—३

अमीबा एककोषीय अन्य प्राणीको शुण्डाओंसे घेरकर उसका भक्षण और पचन कर रहा है।

अवकाश भी धीमे-धीमे लुप्त होता जाता है। अमीबा किंवा कोषोंकी इस शक्तिको जिसके द्वारा वह भोज्य द्रव्यको परिणत (रूपान्तरित-पक्व) करके अपने अनुरूप बना लेता है, पचन[2] कहते हैं।

शरीरमें रोगोत्पत्ति करनेवाले जीवाणुओं तथा उनके विषोंके भक्षण और विनाशका कार्य रक्तान्तर्गत क्षत्र[3] या श्वेत कणोंके अधीन है। उनमें उल्लिखित सर्पण और पचनकी क्रिया विशेष

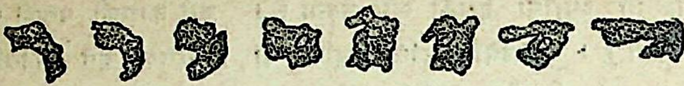
उसीका व्यवहार करना चाहिये अथवा शब्दशः अनुकृति लेना अभीष्ट हो तो अलङ्कार-शास्त्रका 'उद्दीपक' शब्द अच्छा है। स्टिम्युलसका बहुवचन—Stimuli—स्टिम्युलाई है।

१—Food vacuole—फूड वैक्युओल ; या Digestive vacuole—डायजेस्टिव वैक्युओल।

२—Digestion—डाइजेशन।

३—इस क्रियाको अंग्रेजीमें Phago-Cytosis—फैगोसायटोसिस कहते हैं। इन कणोंकी इस क्रियाके कारण ही मैंने इन्हें क्षत्र (क्षत्+त्र) नाम दिया है। "क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः" (रघुवंश), यह क्षत्र शब्दकी निरुक्ति है। सामान्यतः इन कणों को अंग्रेजी संज्ञाकी अनुकृतिमें श्वेत कण कहा जाता है।

रूपसे देखी जाती है। जीवाणुओं और विषोंके भक्षण की यह क्रिया क्षमता अर्थात् शरीरकी रोग-प्रतिबन्धक शक्तिका प्रधान अङ्ग है। शेष क्रियाएँ इसीकी सहायक हैं।



एक क्षत्रकण ; चित्र—४
इस चित्रमें दस मिनटकी अवधिमें उसके आकारमें हुए
क्रमिक परिवर्तन दिखाये गये हैं।

भोज्य पदार्थोंके ग्रहणके परिणाम स्वरूप अमीबाके शरीरकी वृद्धि होती है। उसकी इस विशेषताको पुष्टि[१] कहते हैं।

अपनी विभिन्न चेष्टाओंके लिए अमीबाको ओषजनकी आवश्यकता होती है—अर्थात् श्वसन[२] उसका आवश्यक धर्म है—अपनी चेष्टाओंके लिए वह ओषजन लेता तथा अङ्गाराम्ल[३] छोड़ता है। यद्यपि अमीबाकी श्वसन क्रिया प्रत्यक्ष नहीं की जा सकती तथापि ओषजनके हीनयोगसे किंवा अङ्गाराम्लके अतियोगसे अमीबाकी मृत्यु उसमें श्वसन-क्रियाका अनुमान करानेके लिए पर्याप्त कारण है।

अमीबामें आकुञ्चनशील अर्थात् संकोच-विकासके स्वभाववाला अवकाश (खाली स्थान) होता है। इसपर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होगा कि झटकेके साथ इसमें प्रोटोप्लाज्मसे कुछ द्रव्य प्रविष्ट होता है—परिणामतया यह अवकाश विस्तृत होता है—इसके बाद यह अवकाश बाह्य पृष्ठकी ओर बढ़ता है और अपने अन्तर्गत द्रव्यको सहसा पानीमें छोड़ देता है—परिणामतया पुनः लघु हो जाता है। इस प्रकार संकोच-विकास द्वारा यह स्थान अमीबाके अन्तर्गत मलों और अनावश्यक जलको ग्रहणकर बाहर निकालता है। अमीबाके इस स्वाभाविक धर्मको मलोत्सर्ग[४] कहते हैं।

भोज्य पदार्थोंका ग्रहण[५], उनका पचन अर्थात् क्लिष्ट[६] द्रव्योंका सरल द्रव्योंके रूपमें परिणमन (परिवर्तन), उनका आत्मसात्करण[७] अर्थात् सरल द्रव्योंके रूपमें परिणत हुए द्रव्योंको अपने शरीरके अनुरूप आकार-प्रकारवाले द्रव्योंके रूपमें पुनः परिवर्तन करके उन्हें अपना अङ्ग बना लेना; श्वसन द्वारा प्राप्त ओषजनके साथ इनका संयोग कराके उनके दहन[८] द्वारा उष्णता, कर्म आदि शक्तियों[९]के रूपमें उनका उपयोग करना; इस उपयोगके परिणामरूप उत्पन्न मलोंको पृथक् करना—इन सब क्रियाओंका मिलित नाम धातुपाक[१०] है।

१—Nutrition न्यूट्रिशन ; या Growth ग्रोथ।
२—Respiration–रेस्पिरेशन।
३—Carbon di oxide–कार्बन डाय ऑक्साइड।
४—Excretion—एक्सक्रीशन।
५—Ingestion–इंजेशन।
६—Complex–कॉम्प्लेक्स।
७—Assimilation–एसिमिलेशन।
८—Oxidigestion–ऑक्सिडाइजेशन।
९—Energy–इनर्जी।
१०—Metabolism–मेटाबोलिज्म

अमीबाके शरीरमें होनेवाली उल्लिखित सभी क्रियाएँ उसके जीवनकी स्थिरताके लिए हैं। परन्तु उसकी जातिका अविच्छेद (अविनाश) भी आवश्यक है। एतदर्थ; उसके न्यूक्लिअसमें अमुक परिवर्तन होकर उसके दो खण्ड होते हैं। ये खण्ड अमीबाके दोनों ध्रुवोंपर चले जाते हैं। पश्चात् प्रोटोप्लाज्म भी दो खण्डोंमें विभक्त होकर सारा अमीबा ही दो पुत्र-अमीबाओंके रूपमें विच्छिन्न हो जाता है। ये पुत्र-अमीबा सर्व प्रकारसे अपने पिताके सदृश होते हैं—चैतन्यके लक्षणोंके द्योतक उल्लिखित सभी कर्म करते हैं। मूलभूत अमीवासे पुत्र-अमीबाओंकी इस उत्पत्तिका नाम प्रजनन[1] है। इस क्रियाका विस्तृत वर्णन अगले अध्यायमें करेंगे।

आत्मा—प्रति शरीरमें एक अथवा अनेक—

इस प्रकार क्षोभ्यता, पचन और आत्मसात्करण (धातुपाक), पुष्टि, श्वसन, मलोत्सर्ग और प्रजनन-अमीबाके तथा प्राणिमात्रके धर्म हैं, जो उसकी अचेतन द्रव्यसे भिन्नताके द्योतक हैं। एककोषीय प्राणियोंमें ये कर्म एक कोषमें ही होते हैं। उन्नत प्राणियोंमें इन कार्योंके लिए उत्तरोत्तर पृथक् अवयव तथा संस्थान आविर्भूत होते जाते हैं। अनेक कोषीय प्राणियोंमें, ये प्रत्येक कोषमें ये कर्म होते हैं। इसीसे विद्वानोंमें इस विषयपर मत-भिन्नता है कि मानव आदि अनेककोषीय प्राणियोंमें संपूर्ण शरीरमें एक आत्मा होता है कि प्रत्येक कोषमें पृथक् आत्मा होता है। प्रत्येक चेतन शरीरमें आत्माओंका अस्तित्व पृथक् माननेवालोंके लिए यह प्रश्न विकट है, पर जो हिन्दू सारी सृष्टिमें एक ही आत्मतत्त्व मानते हैं उनके लिए तो यह प्रश्न ही खड़ा नहीं होता।

चैतन्यके प्राचीनोक्त लक्षणोंमें तथा आधुनिकोंके इन लक्षणोंमें विशेष भेद नहीं। सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न—ये सब क्षोभ्यताके अन्तर्गत हैं। प्राचीनोंका जीवन आधुनिकोंकी पुष्टि तथा प्रजनन है; श्वसन दोनोंमें समान है।

१—Reproduction—रीप्रोडक्शन।

आठवां अध्याय

अथातो धातुभेदविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

चैतन्यधारियोंमें प्रजननका सामान्य क्रम—

चेतन-मात्र, चाहे वह उद्भिद् हो या प्राणी, प्रारम्भमें एक कोषमय होता है। अमीबा आदि एक कोषात्मक चैतन्यधारी तथा मानव-सदृश विकासकी पराकाष्ठाको प्राप्त बहुकोषमय प्राणीमें अन्तर यह है कि, अमीबा आदिमें स्व-सदृश अन्य चेतनकी उत्पत्ति (प्रजनन) का कार्य मिथुनके अधीन नहीं होता—अर्थात् उनमें मानवोंके समान स्त्री और पुरुष भेदसे भिन्न दो प्राणियोंके समागमकी आवश्यकता नहीं होती। वही एक कोष दो खण्डोंमें विभक्त हो जाता है। अन्य सर्वप्रकारसे समान होते हुए भी पुत्र-कोषोंमें पितृ-कोषसे इतना ही भेद होता है कि इनका आकार प्रारम्भमें कुछ छोटा होता है। अत्यल्प कालमें पुष्ट होकर पुत्र-कोष आकारमें भी पितृ-सदृश हो जाते हैं। इस प्रजननको अमैथुन प्रजनन[१] कहते हैं।

मानव-सदृश बहुकोषमय प्राणीमें प्रजननका कार्य अमुक विशिष्ट कोषोंके अधीन होता है। इन कोषोंको जनन-कोष[२] कहते हैं। दो भिन्न प्राणियोंसे दो कोष—आकर प्रथम एक होते हैं, पश्चात् इस एकीभूत कोषका उत्तरोत्तर विभाजन होकर आकार, स्वरूप और कर्मकी दृष्टिसे अनेक प्रकारके कोष बनते हैं, जिनके समवायसे विभिन्न अङ्ग और उनके संयोगसे सम्पूर्ण प्राणी बनता है।

इन दो प्राणियोंमें एक नर तथा दूसरा नारी होता है। समागम-कालमें नरके शरीरसे विशिष्ट मार्ग द्वारा जनन-कोष च्युत होकर नारी-शरीरमें पहुंचता है तथा वहाँ नारीके जनन-कोषके साथ संयुक्त होता है। दोनोंके संयोगको एकीभाव या फलन[३] कहते हैं। प्रजननके इस भेदको मैथुनपूर्वक प्रजनन[४] कहते हैं।

एक कोषात्मक अमीबा आदि प्राणियों किंवा उद्भिदों तथा मानवादि बहुकोषमय प्राणियों और उद्भिदोंके मध्यवर्ती चैतन्यधारियोंमें प्रजननकी क्रियामें यत्किंचित् भिन्नता होती है, परन्तु वह पूर्व लिखित दो भेदों—अमैथुन और मैथुनपूर्वक—में ही समावेशित की जा सकती है। इसके सिवाय जैसा कि ऊपर कहा गया है, चैतन्यधारी-मात्रका प्रारम्भ आदिमें एक कोषसे ही होता है।

मानव गर्भ-बीज—

जनन-कोषोंके उत्पादन, प्रादुर्भाव और स्खलनके लिए तथा नारीमें इन कार्योंके अतिरिक्त नर कोषके ग्रहण, धारण और पोषणके लिए प्रकृतिने पृथक् ही अवयवोंकी योजना की है। इन अवयवोंके समुदायका नाम प्रजनन-संस्थान[५] है। स्त्री-पुरुषके प्रजनन-संस्थानान्तर्गत अवयवोंका अपेक्षित वर्णन आगे यथाप्रकरण किया जायगा।

नर-जननकोष किंवा पुंबीज वृषण-ग्रन्थियोंमें उत्पन्न होकर अन्तको शिश्न-मार्गसे स्त्रीकी योनिमें, वहांसे गर्भाशयमें और वहांसे भी बीजवाहिनीमें जाता तथा नारी जनन-कोष अर्थात् स्त्री-बीजसे संयुक्त होता है।

१—Asexual reproduction—एसेक्शुअल रीप्रोडक्शन।

२—Germinal cells जर्मिनल सेल्स या Germ-cells जर्म सेल्स।

३—Fertilization फर्टिलाइजेशन। ४—Sexual reproduction सेक्शुअल रीप्रोडक्शन।

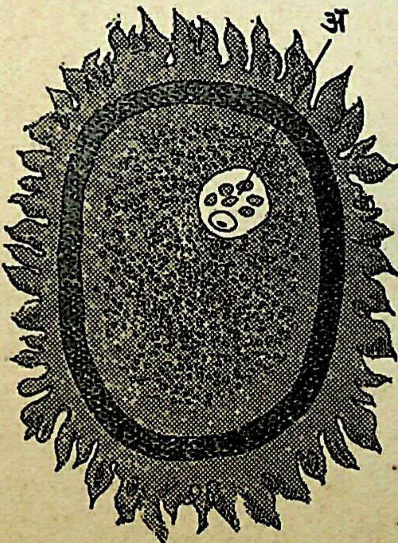
५—Genital system जेनीटल सिस्टम।

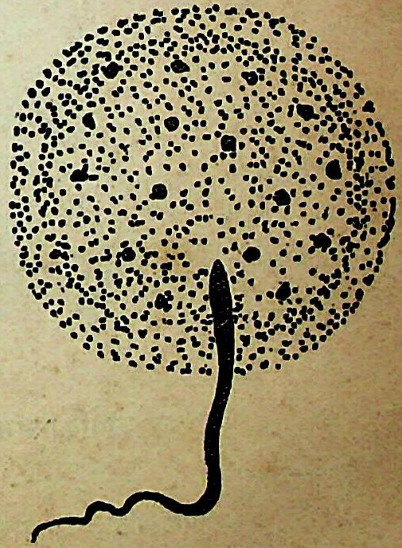




मानव पुंबीज चित्र—५

अ—पुबीज एक पार्श्वसे ; ब—पुंबीज सामनेसे । १-एक्रोसोम ; २-ग्रीवा ; ३-मध्य ; ४-पुच्छ ।





स्त्रीबीज चित्र—६

फलन चित्र—७

मध्यमें—अ—न्यूक्लियस । प्रोटोप्लाज्ममें स्नेह तथा ऐल्ब्यूमिनके स्थूल कण हैं ।

[चित्र ७] पुंबीज और स्त्रीबीजका एकीभाव या फलन । पुंबीजका पुच्छके अतिरिक्त भाग स्त्रीबीजमें प्रविष्ट हो जाता है ; पुच्छ विशीर्ण हो जाती है ।

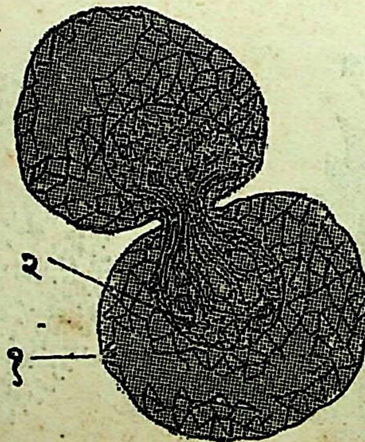
पुंबीजको अणुवीक्षणके नीचे देखें तो उसके तीन भाग दिखाई देंगे—मुण्ड (शिर), मध्य तथा पुच्छ। मध्य तथा मुण्डके बीचका भाग ग्रीवा कहलाता है। मुण्डमें पुंबीजका न्यूक्लिअस होता है। इसके ऊपर एक अणीदार टोपी-सी होती है, जिसे एक्रोसोम[1] कहते हैं। इस एक्रोसोमसे कुछ रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं, जो अपनी भक्षक शक्तिसे स्त्री-बीजकी बाह्य भित्तिको खाकर पुंबीजके लिए प्रवेश-द्वार बना देते हैं। इस द्वारसे पुंबीजका मुण्ड, ग्रीवा तथा कदाचित् शेष शरीरका कुछ अंश अन्दर प्रविष्ट होता है। पुंबीजका न्यूक्लिअस स्त्रीबीजके न्यूक्लिअससे मिलकर एक जीव हो जाता है। पुच्छ जो बाहर रहती है, तथा केवल प्रोटोप्लाज्ममय होती है, झड़ जाती है। इस प्रकार एक नया बीज उत्पन्न होता है। यही गर्भ बीज है।

कोषोंके विभाजनके दो प्रकार—

पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावसे उत्पन्न यह गर्भबीज व्यासमें १ इञ्चका १७५ वाँ भाग होता है। इसे साधारण बृहद्दर्शक[2] काचसे देखा जा सकता है। मानव-शरीरमें यह सबसे बड़ा कोष है। इस छोटे से कोषमें माता, पिता और उनके भी पूर्वजोंके शरीरावयवोंका आकार-प्रकार, शील-स्वभाव, गुण-दोष, आरोग्य और रोग, उनकी लम्बाई-चौड़ाई, उनकी त्वचा, कनीनिका (पुतली) केश आदिका वर्ण इत्यादि साधारण प्रतीत होनेवाली तथा असाधारण सर्वप्रकारकी सामान्यताएँ और विशिष्टताएँ भरी होती हैं और सन्ततिमें संक्रान्त होती हैं।

माता-पिताके गुण-धर्म संततिमें संक्रान्त होनेका स्वरूप समझनेके लिए कोषोंके विभजनका स्वरूप समझना आवश्यक है।

कोषोंका विभजन दो प्रकारका है—सम विभजन और विषम विभजन। सम विभजन[3] में प्रथम न्यूक्लिअस बीचमें संकुचित होकर डमरूकी आकृतिका हो जाता है। संकोच क्रमशः बढ़ता है



कोषोंका सम-विभजन चित्र—८

२—न्यूक्लिअस; १—प्रोटोप्लाजम। न्यूक्लिअस लगभग विभक्त हो चुका है; उसके पीछे-पीछे प्रोटोप्लाज्म भी विभक्त होनेकी स्थिति में है।

१—Acrosome

२—Magnifying glass—मैग्नीफाइङ्ग ग्लास।

३—Amitosis—एमाइटोसिस या Direct division—डायरेक्ट डिविज़न।

और अन्तको न्यूक्लिअस द्विधा विभक्त हो जाता है। पीछे प्रोटोप्लाज्म दो भागोंमें बँट जाता है। इस प्रकार दो नये कोष बनते हैं, जिनमें प्रत्येकमें एक न्यूक्लिअस होता है। पुत्र-कोष आकारमें प्रथम छोटे होते हैं, परन्तु शीघ्र ही बढ़कर पितृ-कोषके समान हो जाते हैं। काल-क्रमसे ये भी विभक्त हो नये कोषोंको जन्म देते हैं। मानव आदि उच्च कक्षाके प्राणियोंमें यह विभजन प्रायः नहीं होता। क्षत्र कणों, अस्थि कोषों तथा मूत्राशयके आस्तरण धातु (एपीथीलियम) के कोषोंमें यह विभजन होता है, ऐसा कहा जाता है।

विषम विभजन[1]—

मानव आदि उच्च प्राणियोंमें कोषोंके विभजनका यही सामान्य प्रकार है। इसमें न्यूक्लिअस का आवरण नष्ट होकर प्रथम न्यूक्लिअसमें कुछ परिवर्तन होते हैं और वह दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। पश्चात्, प्रोटोप्लाज्म भी विभक्त होता है और उसका एक-एक खण्ड न्यूक्लिअसके एक-एक खण्डके साथ चला जाता है। संपूर्ण प्रक्रियाको कोई आध घण्टेसे दो या तीन घण्टे लगते हैं।

विभजनके पूर्व सामान्य स्थितिमें न्यूक्लिअसमें क्रोमेटीन एक अनियताकृति जालके रूपमें व्याप्त होता है। (देखिये चित्र ६ ; १)। प्राणि-कोषका सामान्य वर्णन करते हुए इस दशाका उल्लेख कर आये हैं ; प्रारम्भमें यह क्रोमेटीन व्यवस्थित होकर प्रथम एक लम्बे डोरेके रूपमें परिणत होता है, (चित्र ६ ; २)। पश्चात् इसके छोटे-छोटे अनेक खण्ड हो जाते हैं, (चित्र ६ ; ३)। इन खण्डोंको क्रोमोसोम[3] कहते हैं।

भिन्न-भिन्न प्राणियों और उद्भिदोंमें इन क्रोमोसोमोंकी संख्या भिन्न-भिन्न होती है ; तथापि प्रत्येक जाति[4]में इनकी संख्या निश्चित होती है। मनुष्योंमें, प्रजनन-कोषोंको छोड़कर शरीरके प्रत्येक कोषमें क्रोमोसोम अड़तालीस होते हैं। प्रजनन-कोषों (पुंबीज और स्त्री बीज) में क्रोमोसोमोंकी संख्या आधी अर्थात् चौबीस-चौबीस होती है। दोनोंका संयोग होकर फलित गर्भबीजमें इनकी संख्या मिलकर अड़तालीस हो जाती है। उसके विभजनसे उत्पन्न हुए शरीरके प्रत्येक कोषमें इनकी संख्या अड़तालीस ही हो होती है। आगे प्रजनन-कोषोंके विभजनके विवरणमें यह बात विशेष विशद होगी।

क्रोमोसोमोंका प्रादुर्भाव होनेके साथ अथवा पहले सेण्ट्रोसोमका भी दो खण्डोंमें विभजन हो जाता है। प्रत्येक खण्ड न्यूक्लिअसके एक-एक ध्रुवपर चला जाता है। सेण्ट्रोसोमके दोनों खण्डोंके मध्य क्रोमेटीनसे भिन्न सूक्ष्म सूत्रोंकी तकली[5] बन जाती है। (चित्र ६; २-३)। विभजनकी अगली दशाओंमें सेण्ट्रोसोम जैसे-जैसे दूर होते जाते हैं, वैसे-वैसे यह तकली भी लम्बी होती जाती है[6]।

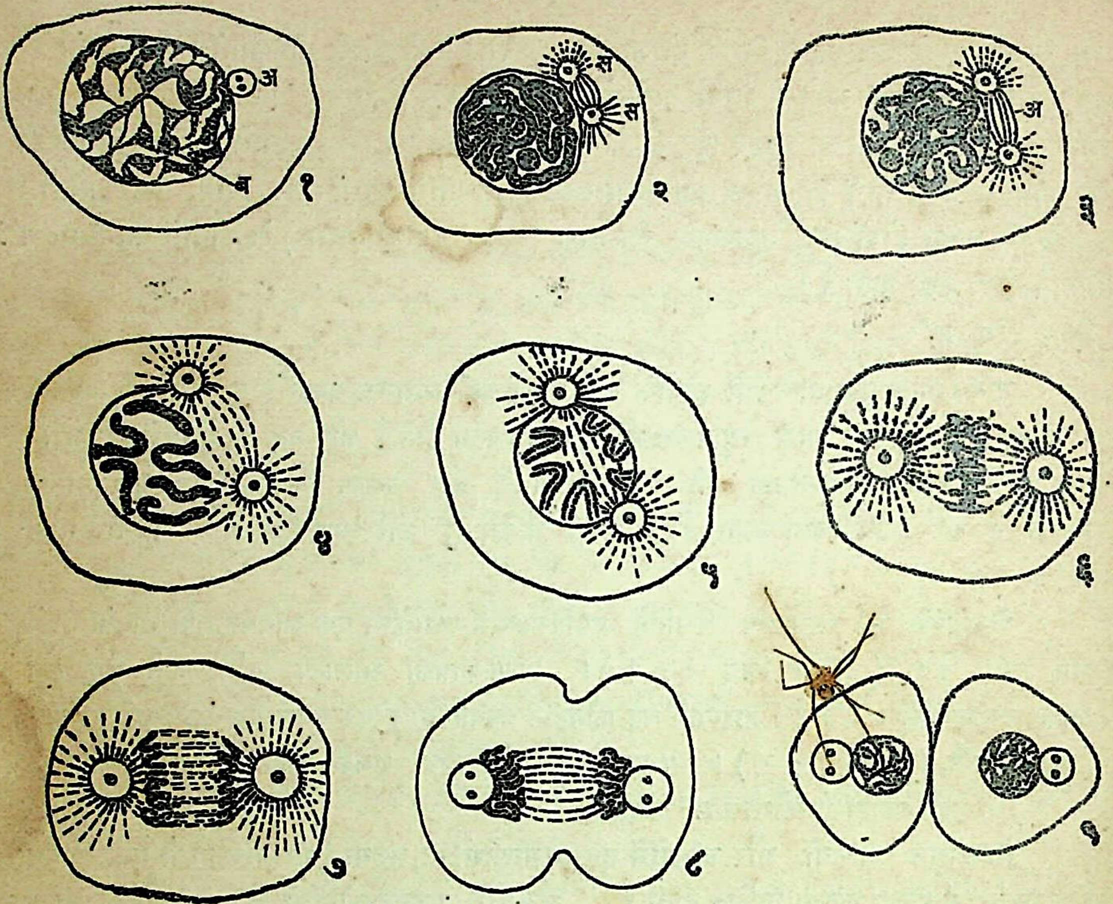
१—Mitosis—मायटोसिस ; या Karyokinesis—केरीओकायनेसिस। [Karyon—केरीऑन=न्यूक्लिअस + Kineo—कायनीओ = गति, हलचल। इस विभजनमें न्यूक्लिअसमें प्रधानतया हलचल होती है, इसीसे यह नाम दिया गया है।

२—Species—स्पिशीज़।

३—Chromosome. ४—Species—स्पिशीज़।

५—Acromatic Spindle—एक्रोमेटिक स्पिंडल।

६—अबतक वर्णित दशाको अंग्रेजीमें Prophase—प्रोफेज़ (पूर्वदशा) कहते हैं। [Pro=अग्रिम+ Phase=चन्द्रकी कला, किंवा किसी भी वस्तुके विकासकी दशा (Stage—स्टेज)]



कोषोंका विषम विभजन चित्र—९

१, ब—विभजन होनेके पूर्वकी दशा ; क्रोमेटीन (कृष्णवर्ण) न्यूक्लिअसमें अनियत आकारमें व्याप्त है ; अ—सेण्ट्रोसोम। २—क्रोमेटीन एक अखण्ड डोरेके रूपमें परिणत हो गया है ; स-स—सेण्ट्रोसोमके दो खण्ड हो गये हैं, जो सूत्रमय तकलीसे परस्पर जुड़े हैं। ३—क्रोमेटीनके अनेक खण्ड हो गये हैं ; प्रत्येक जातियोंमें खण्डोंकी संख्या निश्चित होती है। खण्डोंको क्रोमोसोम कहा जाता है। ४—क्रोमोसोमोंने मुड़कर अंग्रेजी अक्षर वी (V) की आकृति ग्रहण की है। ५—प्रत्येक क्रोमोसोम लम्बाईके रुख दो खण्डोंमें विभक्त हो गया है। ६—तकलीके एक-एक सूत्रकी राह चलकर क्रोमोसोमका एक-एक खण्ड सेण्ट्रोसोमकी दिशामें गति कर रहा है। ७—क्रोमोसोमोंकी सम संख्यामें सेण्ट्रोसोमोंकी ओर गति। ८—क्रोमोसोम सेण्ट्रोसोमपर पहुँच गये—इस प्रकार न्यूक्लिअसमें होनेवाले परिवर्तन समाप्त होने और उसका विभजन पूर्ण होनेके अनन्तर प्रोटोप्लाज्म भी मध्यमें चारों ओरसे संकुचित हो रहा है। ९—प्रोटोप्लाज्मका भी संकोच पूर्णतया होकर क्रोमोसोम पुनः अनियताकृति जालके रूपमें परिणत हो गये। दोनों पुत्रकोष अभी आकारमें छोटे हैं। ये शीघ्र ही पितृकोषके तुल्य आकार ग्रहण कर लेते हैं।

इसके पश्चात् प्रत्येक क्रोमोसोम मुड़कर अंग्रेजी अक्षर 'वी' (v) से मिलती-जुलती आकृति धारण करता है। ये क्रोमोसोम उल्लिखित तकलीकी मध्यरेखाके चतुर्दिक व्यवस्थित हो जाते हैं। इस स्थितिमें प्रत्येकका कोण तकलीके एक-एक सूत्रसे संबद्ध रहता है (चित्र ९ ; ४)। प्रत्येक क्रोमोसोम अब लम्बाईके रुख दो भागोंमें विभक्त हो जाता है[1] (चित्र ९ ; ५)।

1—इस दशाको अंग्रेजीमें Metaphase-मेटाफेज (मध्यदशा) कहते हैं। [Meta-मेटा=परिवर्तन]

खण्डित हुए प्रत्येक क्रोमोसोमका प्रत्येक खण्ड अब तकलीके एक-एक सूत्रकी राह चलकर एक-एक सेण्ट्रोसोमकी ओर गति करने लगता है। (चित्र ९ ; ६)। अन्तको आधे-आधे क्रोमोसोम प्रत्येक सेण्ट्रोसोमपर जाकर पुञ्जित हो जाते हैं। मूल न्यूक्लिअसका प्रत्येक खण्ड दो भागोंमें विभक्त होकर प्रत्येक भाग एक-एक सेण्ट्रोसोमपर जाता है। परिणामतया, दोनों पुञ्जोंमें उतने ही क्रोमोसोम होते हैं, जितने मूल न्यूक्लिअसमें थे[1]। (चित्र ९, ७, ८)।

दोनों पुञ्जों (समूहों) के क्रोमोसोम अब अपना-अपना पृथक् व्यक्तित्व छोड़कर पुनः मूल न्यूक्लिअसके सदृश क्रोमेटीनके जालका स्वरूप ग्रहण करते हैं। न्यूक्लिअसका आवरण और न्यूक्लिओलस पुनः आविर्भूत हो जाते हैं। अब प्रोटोप्लाज्म तकलीकी मध्यरेखाके चारों ओर संकुचित होने लगता है। यह संकोच धीरे-धीरे गहरा होता जाता है ; अन्तको समूचा कोष दो खण्डोंमें परिणत हो जाता है। परिणामतया, एक मूल-कोषसे दो कोष बनते हैं, (चित्र ९ ; ९), जो कालक्रमसे आकारमें भी मूल-कोषके तुल्य हो जाते हैं[2]।

प्रजनन-कोषोंमें विभजन—

प्रजनन-कोषोंके अतिरिक्त शरीरके सभी कोषोंमें विभजन ठीक उपर्युक्त प्रकारसे होता है। (रक्त-कण अवश्य ही इसके अपवाद हैं ; कारण, उनमें न न्यूक्लिअस होता है, न क्रोमेटिन और न विभजन)। प्रजनन-कोष एक ओर तो आम (अपक्व, अविकसित) अवस्थासे पक्व (विकसित) होते जाते हैं, साथ-साथ उनका विभजन होता जाता है। अन्य कोषोंके विभजनमें तथा प्रजनन-कोषोंके विभजनमें कुछ भिन्नता होती है, जिसका प्रयोजन और परिणाम यह होता है कि, पक्वावस्थामें पुंबीजों और स्त्रीबीजोंमें क्रोमोसोमोंकी संख्या पूर्ण नहीं रहती, किंतु आधी रह जाती है। यथा, मानव बीजकोषोंमें इनकी संख्या, अन्य कोषोंके समान, अड़तालीस न रहकर चौवीस-चौवीस रह जाती है। क्रोमोसोमोंकी आधी-आधी संख्यावाले बीजकोष जब संयुक्त होते हैं तो पूर्ण संख्या-वाला गर्भबीज बनता है, जिसका उल्लिखित प्रकारसे विभजन होकर पूर्ण संख्यावाले ही विभिन्न शारीर कोष बनते हैं। मानवोंमें इस प्रकार गर्भबीजके क्रोमोसोमोंकी अड़तालीस संख्याकी पूर्ति होती है।

क्रोमोसोमोंकी संख्याके आधी हो जानेसे इस विभजनको अपचयात्मक विभजन[3] कहते हैं।

होता यह है कि, आम (अविकसित) पुंबीज प्रथम कुछ बार विषम विभजनकी पद्धतिसे विभक्त होते हैं। इसके पश्चात् उनके विभजनमें कुछ वैचित्र्य आता है। तकलीकी मध्यरेखापर व्यवस्थित हुए क्रोमोसोमोंका दो-दो खण्डोंमें विच्छेद नहीं होता ; परन्तु उनमें आधे एक सेण्ट्रो-सोमपर चले जाते हैं और आधे दूसरेपर। आगे पूर्वोक्त प्रकारसे विभजन पूर्ण होनेपर जो दो नये कोष बनेंगे उनमें, क्रोमोसोमोंका विच्छेद होकर मूल कोषमें द्विगुण संख्या न होनेके कारण, मूल कोषकी अपेक्षया आधे ही क्रोमोसोम रहेंगे। इन दो नये कोषोंसे विषम विभजन पद्धतिसे चार नये

१—अंग्रेजीमें इस दशाको Anaphase–एनाफेज़ (नवदशा) कहते हैं। [Ana–एना= पुनः, नया]।

२—अंग्रेजीमें इस दशाको Telophase–टेलोफेज़ (अन्त्य दशा) कहते हैं। [Telos–टेलोज़=अन्त]।

"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"—वह पूर्ण है, यह भी पूर्ण है ; पूर्णसे पूर्णका उद्भव होता है। पूर्णसे पूर्णके ग्रहणके पश्चात् पूर्ण ही शेष रहता है—यह श्रुतिमन्त्र कोषोंके इस विभजनपर अधिकसे अधिक घटित होता है।

३—Reduction Division–रिडक्शन डिविज़न।

कोष उत्पन्न होते हैं। इन चारोंकी आकृतिमें किंचित् परिवर्तन होकर न्यूक्लिअससे शिर और मुण्ड तथा सायटोप्लाज्मसे पुच्छ बनकर प्राकृत पुंबीज बनता है।

आम स्त्रीबीजमें भी कुछ हेर-फेरसे यही प्रक्रिया होती है। प्रारम्भिक विषम विभजन तथा कुछ अंशमें अपचयात्मक विभजन पुंबीजके सदृश ही होता है। अपचयात्मक विभजनमें भिन्नता यह होती है कि, क्रोमोसोम तो दोनों नये कोषोंमें आधे-आधे ही बँट जाते हैं, परन्तु, सायटोप्लाज्म का विभाग एक कोषमें अत्यधिक मात्रामें होता है, और दूसरेमें अति अल्प। अल्प सायटोप्लाज्म-वाला पुत्र-कोष नष्ट हो जाता है। अधिक सायटोप्लाज्मवाला कोष अब विषम विभजन पद्धतिसे विभक्त होता है। इस बार भी दो कोषोंमेंसे एक कोषमें सायटोप्लाज्मका प्रमाण अत्यधिक तथा दूसरेमें अत्यल्प होता है। यह अल्प सायटोप्लाज्मवाला कोष भी विनष्ट हो जाता है और एक ही कोष, जिसे परिपक्व स्त्रीबीज कहते है, रह जाता है।

स्त्रीबीजमें परिपक्व होते समय अन्य भी अति महत्त्वके परिवर्तन होते हैं। उनका आर्तव-प्रवृत्ति और गर्भ-धारणसे गाढ सम्बन्ध है। आगे यथाप्रकरण इन परिवर्तनोंका निर्देश करेंगे।

प्रजनन-कोषोंमें क्रोमोसोमोंके अपचयात्मक विभजनका कारण स्पष्ट है। विभजनकी यह भिन्नता न होती तो गर्भबीज तथा तदुत्पन्न शारीर कोषोंमें क्रोमोसोमोंकी द्विगुण संख्या होती।

प्रजनन-कोषोंके क्रोमोसोमोंके विभजनमें अन्य कोषोंकी अपेक्षया एक अन्य भी भिन्नता होती है। पुंबीज और स्त्रीबीजका संयोग होनेपर फलित हुआ गर्भबीज पुंलिङ्ग होगा अथवा स्त्रीलिङ्ग, इसका आधार प्रजनन-कोषोंके विभजनकी यह भिन्नता ही है। इसे समझनेके लिए क्रोमो-सोमोंका कार्य समझना आवश्यक है।

क्रोमोसोमोंका कार्य—

कोषोंके विभजनमें क्रोमोसोमोंका सम संख्यामें विभक्त होना सहेतुक है। चिरकालसे यह तो सुविदित है कि माता-पिताकी आकृति, प्रकृति, विकृति—यहाँतक कि उनके केश या कनीनिकाका वर्ण भी संततिमें संक्रान्त होते हैं। शरीरके चरम अवयव भूतकोषोंका ज्ञान होनेपर यह भी विदित हुआ कि प्रत्येक कोष आकार, प्रकार और कर्मकी दृष्टिसे अपने समान ही अन्य कोषको जन्म देता है। परन्तु कोषोंके विभजन और क्रोमोसोमोंके सम्बन्धमें सूक्ष्म निरीक्षणके पश्चात् ही यह ज्ञात हो सका कि पितृकोषोंके आकार-प्रकार आदि पुत्रकोषोंमें तथा माता-पिताके गुण-कर्मादि संततिमें संक्रान्ति होनेका कारण ये क्रोमोसोम ही हैं।

प्रत्येक जातिके उद्भिद् या प्राणीके शारीर या प्रजनन-कोषोंमें क्रोमोसोमोंकी संख्या नियत होती है। इन क्रोमोसोमोंको दो-दो के जोड़ोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रत्येक जोड़ेका एक-एक क्रोमोसोम अपने दूसरे साथीके समान होता है। कोषके विभजनके समय प्रत्येक जोड़ेका एक क्रोमोसोम एक पुत्र-कोषमें तथा दूसरा दूसरेमें चला जाता है। मानव-जातिमें ऐसे अड़तालीस क्रोमोसोम किंवा उनके चौवीस युग्म (जोड़े) होते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा है, प्रत्येक युग्मके दोनों क्रोमोसोम परस्पर समान होते हैं अर्थात्—पितृकोषके किंवा प्रजनन-कोषके जिन गुण-कर्मादिका वहन और संक्रमण एक क्रोमोसोम करता है उन्हीं गुण-कर्मादिका वहन और संक्रमण उसका साथी भी करता है। परिणाम यह होता है कि पृथक् पुत्र-कोषोंमें पितृ-कोषके गुण-कर्मादि सम भावसे विभक्त हो जाते हैं।

क्रोमोसोमोंके और भी सूक्ष्म अनुशीलनसे विदित हुआ है कि, प्रत्येक क्रोमोसोम अनेक गुण-कर्मोंका वहन करता है। प्रत्येक गुण, कर्म आदिका वहन करनेके लिए क्रोमोसोमों पर सूक्ष्म, अनु-

वीक्षण यन्त्रसे भी न देखे जा सकने योग्य कण होते हैं। इन्हें 'जेन'[1] कहते हैं। इनका स्वरूप अबतक जाना नहीं जा सका है। इतना विदित हुआ है कि, प्रत्येक क्रोमोसोम पर जेनोंकी संख्या नियत होती है, तथा उसपर प्रत्येक जेनका स्थान एवं वह किस वस्तुका वहन करता है यह भी निश्चित होता है। परिणाम यह होता है कि, जो क्रोमोसोम पुत्र-कोषमें आता है, उसके साथ उसके जेन श्रृङ्खला-रूपमें आते हैं, जिससे अमुक गुण, कर्म, आकृति, प्रवृति आदि एक साथ ही पुत्र-कोष या संततिमें उतरते हैं।

क्रोमोसोमोंके द्वारा ही गर्भके लिङ्गका भी निर्माण होता है। ज्ञात हुआ है कि, प्राणिमात्रमें स्त्रीके कोषोंके क्रोमोसोमोंके सभी युग्म परस्पर सदृश होते हैं। परन्तु, पुरुषके कोषोंमें एक युग्मके क्रोमोसोमोंमें परस्पर कुछ भेद होता है। इनमें एक क्रोमोसोम तो स्त्रीके कोषके क्रोमोसोमोंके किंवा पुरुष कोषके अन्य क्रोमोसोमोंके सदृश ही होता है, पर दूसरा कुछ छोटा और पतला होता है। पुरुषके कोषमें विद्यमान इस विसदृश क्रोमोसोमको 'वाई क्रोमोसोम'[2] कहते हैं। तथा दूसरे अन्य क्रोमोसोमोंके सदृश क्रोमोसोमको 'एक्स क्रोमोसोम'[3] कहते हैं। लिङ्गका निर्णय इस वाई क्रोमोसोमसे ही होता है। पुरुष-कोषगत एक्स क्रोमोसोमके सदृश स्त्री-कोषमें जो युग्म होता है, उसमें प्रत्येकको एक्स क्रोमोसोम ही कहते हैं। पुरुष और स्त्री-कोषमें विद्यमान क्रोमोसोमोंकी भिन्नताका प्रभाव पुंबीजों और स्त्रीबीजोंसे गर्भ बीजकी उत्पत्ति होकर उसके लिङ्गकी निश्चिति पर होता है।

होता यह है कि, प्रजनन-कोषोंका स्वभाव-सिद्ध पूर्वोक्त अपचयात्मक विभजन होते हुए, क्रोमोसोमोंका प्रत्येक युग्म जब विभक्त होता है तब अपरिपक्व स्त्री-बीजसे उत्पन्न सभी स्त्रीबीजोंमें 'एक्स' क्रोमोसोम हो जाता है; परन्तु पुंबीजोंमें एक पुत्र-बीजमें 'एक्स' तथा दूसरेमें 'वाई' क्रोमोसोम जाता है। अब, दैवात् यदि 'एक्स' क्रोमोसोम वाले पुंबीजका संयोग स्त्रीबीजसे हुआ तो दो 'एक्स' क्रोमोसोमवाला गर्भ-बीज बनता है, जो स्त्रीलिङ्गी होता है।, परन्तु यदि 'वाई' क्रोमोसोम वाले पुंबीजका स्त्रीबीजसे संयोग होकर गर्भबीज बना तो वाई क्रोमोसोमके कारण गर्भ पुंल्लिङ्गी होगा।

करोड़ों पुंबीजोंमें 'वाई' क्रोमोसोमवाला पुंबीज स्त्रीबीजसे संयुक्त होगा या 'एक्स' क्रोमोसोम वाला, इस बातका निर्णय पुंसवन (पुंल्लिङ्ग संतानकी उत्पत्तिके लिए विधान) संबन्धी प्राचीन तथा आधुनिक विधियोंसे होता है। सामान्यतया तो 'यथेच्छा पारमेश्वरी' ही प्रकृतिका नियम और सिद्धान्त है।

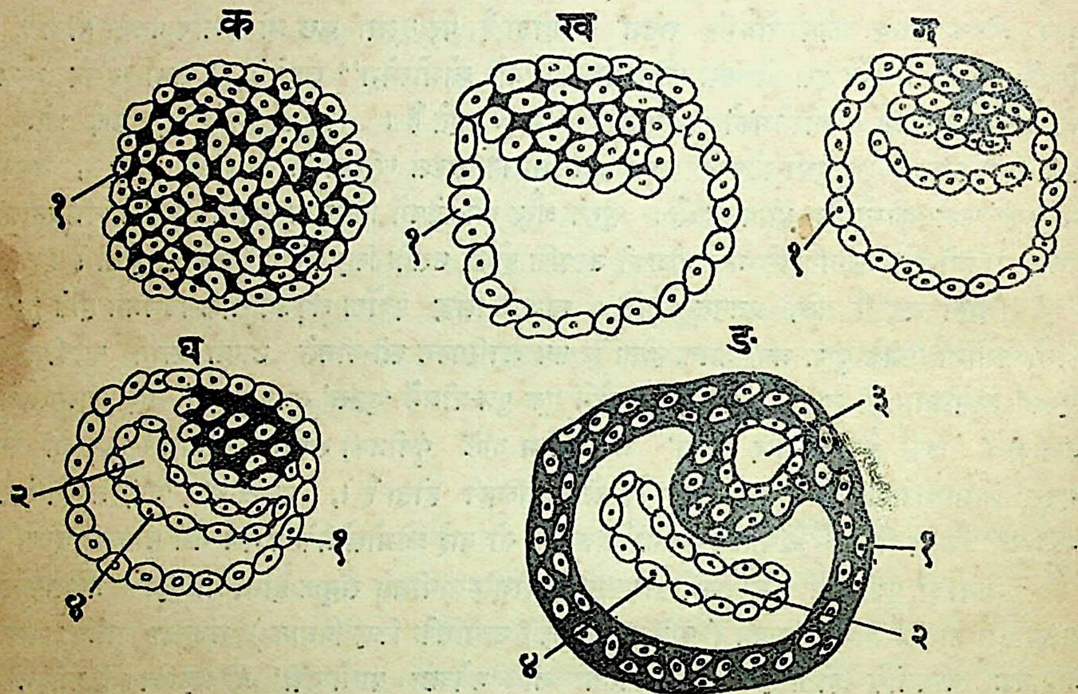
पुंबीज और स्त्रीबीजका संयोग होने पर मातृपक्ष या पितृपक्षके कौनसे गुण-कर्म पुत्रमें संक्रान्त होंगे तथा उनके संक्रमणमें कौनसे आधारभूत नियम हैं, इस बातका ज्ञान 'मेण्डल-वाद'[4] नामक वैज्ञानिक सिद्धान्तसे होता है। इस सिद्धान्तका प्रथम ज्ञान मेण्डल नामक धर्मगुरुने ऊँचे और ठिगने मटरके पौधोंपर प्रयोग करके प्राप्त किया। मेण्डलके प्रयोगोंके विवरणपर उसके मरनेके तीस-पैंतीस वर्षों पीछे तज्ज्ञोंका ध्यान गया, पर शीघ्र ही उसके प्रयोग और परिणाम लोकमान्य हो गये। इस वादके ज्ञान के लिए प्राणि-विद्याके ग्रन्थ देखने चाहिये। यहाँ संक्षेपमें इतना जानना पर्याप्त है कि, संक्रान्त हो सकनेवाले गुण-कर्मोंमें कुछ 'प्रभावी'[5] होते हैं, जो इतर-गुणोंको दबा देते हैं। परिणामतया, संतानोंमें अधिक संख्या ऐसोंकी होगी, जिनमें प्रभावी गुण होता है। दबनेवाले गुणको 'दम्य'[6] कह सकते हैं। यथा काली पुतली और नीली पुतली इन दोमें काली पुतली प्रभावी

१—Gene.
२—Y-Chromosome.
३—X-Chromosome.
४—Mendelism—मेण्डलिज्म।
५—Dominant—डोमीनेण्ट।
६—Recessive—रिसेसिव।

तथा नीली दम्य होती है। माता-पितामें एक काली पुतलीका तथा दूसरा नीली पुतलीका होगा तो संतानोंमें अधिक संख्या काली पुतलीवालोंकी होगी।

गर्भबीजका विभजन तथा उसके द्वारा गर्भकी वृद्धि—

पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावसे गर्भबीज उत्पन्न होता है। इस एक ही बीजके उत्तरोत्तर विभजन तथा पृथग्भाव[1] (भिन्न स्वरूप तथा कर्मवाले कोषोंके रूपमें परिणति) का परिणाम यह होता है कि जो गर्भबीज प्रारम्भमें, भारमें केवल एक आउंसके[2] पन्द्रह हजारवें अंश जितना प्रोटो-प्लाज्मका एक सूक्ष्म कणमात्र था, वही अब पहलेसे वीस लाख गुणा भार एवं पेशी, नाडी, अस्थि तथा रक्तवाहिनियोंसे युक्त पूर्ण शरीर बन जाता है।



गभ वृद्धिका प्रारम्भिक क्रम चित्र—१०

क—कललावस्था; गर्भबीजका उत्तरोत्तर विभजन होकर कोषोंका कन्दुकाकार पुञ्ज। ख—बुद्बुदावस्था; १—गर्भ बाह्यावरण, इसे बनानेवाले कोषोंसे गर्भका कोई अवयव नहीं बनता; गर्भ ऊपर पुञ्जित कोषोंसे ही उत्पन्न होता है। ग—बुद्बुदावस्थामें एक किनारे पुञ्जित हुए कोषोंके अन्दरका एक स्तर शेष कोषोंसे पृथक् हो गया है। घ—पृथक् हुए स्तरके कोष एक थैली (२ अङ्कित) रूपमें परिणत हो गये हैं। इस अवकाशको बनानेवाले कोषोंको आन्तर चर्म कहते हैं। इसी चर्मसे पचन, श्वसन आदि संस्थानोंके अवयव बनते हैं। ङ—बुद्बुदावस्थामें किनारे पुञ्जित हुए कोषोंके मध्यमें एक और अवकाश (३ अङ्कित) बन गया है। इस अवकाशके अन्दरके स्तरको बाह्य चर्म कहते हैं। इस चर्मसे त्वचा, नाड़ीसंस्थान आदि बनते हैं। '२' और '३' अवकाशोंके मध्यमें कोषोंका एक अन्य स्तर होता है, जिसे मध्यचर्म कहते हैं। इससे पेशी, अस्थि आदि बनते हैं। '३' अङ्कित अवकाशमें गर्भकी वृद्धि होती है। इसमें एक द्रव रहता है, जिसे 'गर्भोदक' कहते हैं।

१—Differentiation—डिफरेन्शिएशन।

२—एक आउंस=२॥ तोला।

पुंबीज और स्त्रीबीजका एकीभाव बीजवाहिनीमें होता है। उत्पन्न हुआ गर्भबीज एक ओर तो गर्भाशयकी ओर गति करता है, दूसरी ओर सम विभजन द्वारा अनेक कोष उत्पन्न होकर उनका कन्दुकाकार (गेंद-सरीखा) समूह बन जाता है। (देखिये—चित्र १०, क)। यह स्थिति उत्पन्न होनेमें तीन-चार दिन लगते हैं। गर्भबीज इतने कालमें गति करता-करता गर्भाशयमें पहुंच जाता है। गर्भकी इस अवस्थामें कलल[१] तथा इस अवस्थाको कललावस्था कहते हैं। इस अवस्था पर्यन्त विभिन्न कोषोंमें मूल गर्भबीजसे कोई भिन्नता नहीं होती। इन कोषोंमें कुछ ऐसी भक्षक-शक्ति होती है, जिसके कारण गर्भाशयकी कलाको कुरेदकर ये अपने लिए आश्रय बना लेते हैं। ऊपर से ये पुनः स्वस्थ (रुकी हुई) कलासे आच्छादित हो जाते हैं। इस कलल-पिण्डसे कुछ अङ्कुर[२] निकल कर आसपास प्रविष्ट हो जाते हैं; उधर गर्भाशयकी दीवालसे भी रक्तवाहिनियोंकी शाखायें निकलकर कललमें प्रविष्ट होती हैं। ये अङ्कुर तथा रक्तवाहिनियां ही अन्तमें अपरा[३] के रूपमें परिणत होती हैं। यह अपरा गर्भके पोषण और मलद्रव्योंके बाहर करनेका साधन है। प्रसवके पश्चात् यह भी योनि-द्वारसे निकल आती है। अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके अधिकारमें हम देखेंगे कि अपराका एक अन्य भी कार्य—अन्तःस्राव उत्पन्न करना है।

कललके बनानेवाले कोषोंमेंसे कुछ कोष, अब केन्द्रसे सरककर एक किनारे पुञ्जित—एकत्र हो जाते हैं। परिणामतया बीचमें खाली स्थान बन जाता है, जिसमें द्रव रहता है। उपर्युक्त कोष जहाँ एकत्र होते हैं, उस स्थानको छोड़कर कललके शेष भागकी दीवार केवल एक-एक कोषके संयोगसे बनी होती है (चित्र १०, ख)। इस दीवारके बनानेवाले कोषोंसे गर्भका कोई अवयव नहीं बनता। गर्भके अवयवोंके निर्माणमें भाग लेनेवाले कोष क्रमशः अगली अवस्थाओंमें बनते तथा व्यूहबद्ध होते हैं।

ऊपर वर्णित अवस्थाको बुद्बुदावस्था[४] कहते हैं। इसकी उल्लिखित बाह्य दीवारको गर्भ बाह्यावरण[५] कहते हैं। इस बाह्यावरणका कार्य गर्भका पोषण करना है। जैसा कि ऊपर कहा है, इससे चारों ओर कुछ अङ्कुर फूटकर गर्भाशयकी अन्तःकलामें प्रविष्ट हो जाते हैं। ये अङ्कुर माताके

१—Morula—मॉर्यूला। कलल नाम प्राचीन है। देखिये—अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कलली भवेत्—अ० हृ० शा० १।३७—प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः—याज्ञवल्क्यस्मृति।—ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललम्, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति—गर्भोपनिषत्।

पुंसवन-काल—प्राचीनोंने पुंसवन (सन्तान-पुत्र होनेके लिए किया गया उपचार तथा अनुष्ठान) का विधान इसी कालमें बताया है। देखिये—× × पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्—अ० हृ० शा० १।३७। आधुनिकोंका मन्तव्य है कि गर्भके लिङ्गका निर्णय तो पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावके समय ही हो जाता है अर्थात् गर्भबीजके अङ्गभूत पुंबीजमें वाई-क्रोमोसोम रहा हो तो गर्भ पुत्र होगा और एक्स-क्रोमोसोम रहा हो तो कन्या। परन्तु, अब इस मतमें कुछ अपूर्णता भासित होने लगी है। विशेषकर कई बार देखा गया है कि, यौवनके पश्चात् भी नरसे नारी और नारीसे नर हो जाता है; इन दृष्टान्तोंसे मूल सिद्धान्तोंमें कुछ परिवर्तन करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई है।

२—Villus—विलस; बहुवचन—Villi—विलाई। ३—Placenta—प्लेसेण्टा।

४—Blastula—ब्लेस्च्युला। बुद्बुद नाम प्राचीन और अन्वर्थक है—देखिये ऊपर धृत गर्भोपनिषत्का वचन। प्राचीनोंके सूक्ष्म निरीक्षणका यह एक उत्तम उदाहरण है।

५—Chorion—कोरिऑन।

रक्तसे पोषक द्रव्योंके ग्रहण तथा गर्भके मलोंके विसर्जनका कार्य करते हैं। प्रारम्भमें ये अङ्कुर बाह्यावरणके चारों ओर होते हैं, पश्चात् केवल उस स्थानपर रह जाते हैं, जहाँ अपरा होती है। शेष अङ्कुर लुप्त हो जाते हैं।

गर्भके अवयवोंकी उत्पत्ति बुद्बुद्के एक किनारे पुञ्जित हुए कोषोंसे ही होती है। इस समूहमें सबसे अन्दरकी ओर स्थित कोषोंकी पंक्ति अब शेष समूहसे पृथक् हो जाती है (चित्र १०, ग); जो बादमें एक बन्द थैली (गुहा) के रूपमें परिणत हो जाती है (चित्र १०, घ २) इसके शीघ्र पश्चात्, उक्त समूहके मध्यमें भी एक गुहा बन जाती है। कुछ काल पीछे इन दोनों गुहाओंके मध्यमें कोषोंका एक विशिष्ट स्तर (तह) बन जाता है, जो आगे जाकर दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। एक भाग फैलकर गर्भ बाह्यावरणको बनानेवाले कोषोंके साथ मिलकर बाह्यावरणके अन्दरकी तह बनाता है। दूसरा भाग ऊपर कथित प्रथम गुहा या थैलीको चारों ओरसे वेष्टित कर लेता है।

गर्भमें अब तीन गुहा या अवकाश बन जाते हैं। प्रथम—बुद्बुदावस्थामें बाह्य कोषोंसे बना हुआ अवकाश; द्वितीय—किनारे पुञ्जित हुए कोषोंसे पृथक् हो गये कोषों द्वारा बनाया गया अवकाश (चित्र १०, घ, २); तृतीय—किनारे पुञ्जित हुए कोषोंके चारों ओर सरक जानेसे उनके मध्यमें उत्पन्न अवकाश (चित्र १०—ङ, ३)।

गर्भावयवोंके आरम्भक (उत्पादक) तीन चर्म—

पहले कह आये हैं कि, तीनों अवकाशोंमें प्रथम अवकाशके कोषों (चित्र १०—ख, १) का गर्भकी वृद्धिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका कार्य गर्भका पोषण है। शेष दो अवकाश जिन कोषोंसे बने हैं, वे कोष एवं इन अवकाशोंके मध्यमें उत्पन्न हुआ उल्लिखित स्तर—कोषोंके इन तीन स्तरोंसे ही शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग बनते हैं। प्रत्येक स्तरसे अमुक ही निश्चित अवयव बनते हैं। द्वितीय अवकाशके अन्तर्वर्ती स्तरको आन्तर चर्म[१] कहते हैं; तृतीय अवकाशके अन्दरके स्तरको बाह्य चर्म[२] तथा दोनों अवकाशोंके मध्यवर्ती स्तरको मध्य चर्म[३] कहा जाता है। तीनों चर्मोंका मिलित नाम प्रजनन स्तर[४] है।

द्वितीय तथा तृतीय अवकाश या गुहाके मध्यवर्ती भागको गर्भपत्र[५] कहते हैं। इस भागमें तीनों स्तरोंका कुछ-कुछ अंश होता है। गर्भपत्रमें तीनों चर्मोंका जितना भाग होता है, उसीसे गर्भके विभिन्न अवयव बनते हैं। शेष भाग गर्भके आवरणका ही कार्य करते हैं।

गर्भपत्रसे गर्भकी उत्पत्ति और वृद्धि तृतीय अवकाशमें होती है। यह अवकाश शनैः-शनैः बढ़कर प्रथम अवकाशको लगभग पूर्णतया व्याप्त कर लेता है। इस प्रकार बाह्य आवरणके अन्दर इस तृतीय अवकाशके कोषोंसे एक और आवरण बन जाता है, जिसे गर्भ अन्तरावरण[६] कहते हैं। इस अवकाशमें जो द्रव होता है, वह भी बढ़ता है। इस द्रवको गर्भोदक[७] तथा अवकाशमें गर्भगुहा[८] कहा जाता है। गर्भकी वृद्धि गर्भगुहामें होती है। गर्भ एक तरहसे गर्भोदकके अन्दर लटकता होता है। माताकी विभिन्न चेष्टाओंके कारण किंवा अकस्मात् होने वाले आघात-प्रतिघातोंको गर्भोदक अपने ऊपर ले लेता है और गर्भको सुरक्षित रखता है।

१—Entoderm एण्टोडर्म। २—Ectoderm एक्टोडर्म।
३—Mesoderm मेज़ोडर्म। ४—Germinal layers जर्मिनल लेयर्स।
५—Embryonic disc एम्ब्रिओनिक डिस्क। ६—Amnion—एम्नीऑन
७—Amniotic Fluid-एम्नीऑटिक फ्लूइड। ८—Amniotic Cavity-एम्नीऑटिक केविटी।

गर्भपत्रसे जब शरीर तय्यार होने लगता है, तब वह अन्दरकी ओर मुड़ जाता है। उसके इस मुड़े हुए भागमें आन्तर चर्म, उससे बना हुआ अवकाश एवं चर्म और इस अवकाशको आवृत करनेवाला मध्य चर्म भी खिंच आता है। गर्भपत्रका बाहरका भाग, जैसा कि ऊपरके वर्णन तथा चित्रसे स्पष्ट है, बाह्य चर्मका होता है। इस प्रकार गर्भपत्रमें तीनों चर्मोंकी स्थिति निम्न प्रकारसे होती है—बाहर बाह्य चर्म, अन्दर मध्य चर्म और उसके भी अन्दर आन्तर चर्म। बाह्य चर्मसे त्वचा आदि अवयव बनते हैं, मध्य चर्मसे मांसपेशी, अस्थि आदि अवयवोंकी उत्पत्ति होती है।

तीनों चर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अवयव विस्तारसे निम्नलिखित हैं—

प्रजनन चर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले अवयव—

बाह्य चर्मका कार्य शरीर का रक्षण, नियमन और नियन्त्रण है। इससे नीचे लिखे अवयवोंकी उत्पत्ति होती है—

(१) त्वचा, केश, नख, स्वेदग्रन्थियाँ, मुखद्वार, दन्त, गुदद्वार;
(२) मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्ड;
(३) नेत्र, कर्ण तथा नासिका का संज्ञावह भाग;
(४) अधिवृक्क[1] ग्रन्थियोंका कुछ अंश।

मध्य चर्मका कार्य शरीरगत धातुओंका परस्पर संबन्ध करना तथा संतानोत्पादन है। इससे नीचे लिखे अवयव उत्पन्न होते हैं—

(१) मांसपेशियाँ, अस्थि, संधि, प्रतानवती स्नायु[2] और पृथु स्नायु[3];
(२) रक्त, रस[4], हृदय, धमनी, सिरा, केशिका, रसवाहिनी तथा रसग्रन्थि;
(३) वृक्क, गवीनी[5], मूत्राशय, मूत्रप्रसेक[6];
(४) वृषणग्रन्थि, वृषणकोष, शुक्रवह, शुक्राशय, शिश्न, गर्भाशय, बीजवाहिनी, योनि, कामच्छत्र[7];

१—Suprarenal–सुप्रारीनल; या Adrenal–एड्रीनल।

२—Ligament–लिगमेण्ट्।

३—Aponeuroses–एपोन्यूरोसिस। स्नायु शब्दका प्रचलित अर्थ मांसपेशी है; परन्तु इसका शुद्धार्थ विभिन्न बन्धन है, यह अन्यत्र कहा है। स्नायुभेदोंका आधुनिक दृष्टिसे निर्णय घाणेकरी सुश्रुत टीका (शा० अ० ५। २९–३६) में देखिये।

४—Lymph–लिम्फ।

५—Ureter–यूरेटर। यूरेटरके लिए गवीनी शब्द वैदिक है।

६—Urethraयूरेथ्रा। मूत्रप्रसेका शब्द प्राचीन है।

७—Clitoris–क्लाइटोरिस।

प्राचीनोंका कामच्छत्र—आधुनिकोंका क्लाइटोरिस—कामच्छत्र नाम प्राचीन है। सु० शा० ५। १० की टीकामें डह्लनने निम्न तन्त्रान्तरीय पद्य उद्धृत किया है—"अधस्ताद् रक्तवहं स्मरातपत्रस्याध आर्तववहं, स्मरातपत्रं भगस्योपरितने भागे। उक्तं च—'विपुलपिप्पलपत्रसमाकृतेरवयवस्य शिरस्तलमाश्रितम्। सकलकामसिरामुखचुम्बितं निगदितं मदनातपवारम्' इति।" अनङ्गरङ्गके चतुर्थ स्थलमें इसी आशयका निम्न पद्य है—"वराङ्गरन्ध्रादूर्ध्वं तु नासिकाभं यदस्ति तत्। मन्मथच्छत्रमित्याहुराढ्यं मदसिराचयैः"। इनमें वर्णित कामच्छत्रका स्थान, उसका नासिकातुल्य स्वरूप (अर्थात् उसका

(५) उपाङ्ग-द्रव्य[1] (ऊँग-सदृश स्नेह द्रव्य), श्लेष्मधरा कलाएँ[2] ।

आन्तर चर्मका कर्म अन्नका पंचन तथा यथावत् उपयोग कराना है। इससे निम्न अवयवोंकी उत्पत्ति होती है—

(१) मुख तथा गुदद्वारको छोड़कर शेष महास्रोत ;

(२) यकृत्, अग्न्याशय ;

(३) मध्यकर्ण, चुल्लिका, उपचुल्लिका तथा थामस ग्रन्थि ;

(४) कण्ठ (स्वरयन्त्र), श्वासपथ, अपस्तम्भ (श्वासपथकी शाखायें) तथा फुफ्फुस ।

मध्य चर्मसे ही नाल निकलती है। कालक्रमसे गर्भपत्र ऊपरकी ओर मुड़ जाता है और नाल ऊपर अपराके साथ संयुक्त हो जाती है।

एक समय कुछ विद्वान् इन चर्मों तथा उनके कर्मोंको देखकर इन्हें क्रमशः वात, कफ तथा पित्त समझते थे। अब इस मतका आग्रह नहीं रहा है।

लिखित प्रकारसे तीनों चर्मोंद्वारा गर्भके अङ्गोंपाङ्गोंकी वृद्धि और पुष्टि होती है। इस पुष्टिका विशेष विवरण प्रसूतितन्त्र या गर्भविज्ञानके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

शरीरके चार धातु—

अन्ततोगत्वा शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्ग कोषोंसे बने होते हैं, यह अबतकके लेखसे स्पष्ट है। यद्यपि ये कोष एक ही आरम्भिक गर्भ-बीजसे बनते हैं, तथापि गर्भकी वृद्धिके क्रममें कोष भिन्न-भिन्न स्वरूप और भिन्न-भिन्न कर्मवाले विभिन्न-भिन्न कोषोंका रूप धारण करते जाते हैं। देखा गया है कि, एक ही स्वरूपवाले तथा एक ही कर्म करनेवाले कोष एक-एक पुञ्जके रूपमें एकत्र होकर रहते हैं। यथा, अपने संकोच-विकास द्वारा अस्थि आदिको और उनके साथ विभिन्न अवयवोंको आकुञ्चित-प्रसारित करके उनके द्वारा भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ करानेवाले मांस-सूत्र[3] साथ-साथ रहते हैं ; अन्य कोषोंकी अपेक्षया क्षोभ्यता विशेष होनेके कारण संज्ञाओंका आदान (ग्रहण) करने और तदनुरूप चेष्टाओंके आदेश भेजनेवाले नाडी-कोष[4] एक-साथ रहते हैं, इत्यादि। इस प्रकार स्वरूप और कर्मकी दृष्टिसे समान कोषोंके समूहको धातु[5] कहते हैं। आधुनिकोंने धातुओंके चार भेद तथा प्रत्येकके

लम्बा और आगे उभरा होना) एवं कामसुखका अनुभव करनेवाली सभी नाडियोंके समूहकी इसके अन्दर स्थिति (जिसका आधुनिकोंने भी रतिसुखका सबसे अधिक अनुभव क्लाइटोरिसमें होता है, यह कहकर समर्थन किया है) इत्यादि बातोंको देखकर क्लाइटोरिस ही कामच्छत्र या मदनातपत्र है, यह निश्चित होता है।

प्राचीन अन्वर्थक नामके रहते उसीका प्रचार अभीष्ट है।

१—Lubricative material—लुब्रिकेटिव मैटीरिअल। अभ्यङ्गकी प्रशंसा करते हुए च० सू० ५। ८५ "भवत्युपाङ्गादक्षश्च" इस वचनमें यन्त्रोंमें डाले जानेवाले स्नेह (अंग) को 'उपाङ्ग' कहा है। प्रान्तीय भाषाओंमें प्रचलित शब्द अंग, अंगण, वंगण आदि इसीसे बने हैं।

२—Serous membranes—सीरस मेम्ब्रेन्स। देखिये—घाणेकरी सुश्रुत टीकामें कला-प्रकरण।

३—Muscle-fibres—मसल फाइबर्स। ४—Nerve-cell—नर्व-सेल।

५—Tissue—टिश्यु। यद्यपि धातु शब्द आयुर्वेदमें रस-रक्तादि सातके लिए परिभाषित है, अतः उसका आधुनिक शरीरविद्याकी किसी संज्ञाके लिए उपयोग भ्रान्तिजनक हो सकता है तथापि अन्य उत्तम शब्द न मिलनेके कारण और कई धातु-उपधातु आधुनिकोंके टिश्यु ही होनेसे टिश्युके लिए धातु शब्दका व्यवहार योग्य समझा है।

अनेकानेक उपभेद किये हैं। विभिन्न धातुओंके मिलनेसे विभिन्न अवयव बनते हैं। यथा, प्रधान-तथा मांससूत्रोंके योगसे मांसपेशी बनती है, परन्तु इन सूत्रोंको जोड़नेवाले योजकसूत्र भी इनमें ओतप्रोत होते हैं, संज्ञाओंके ग्रहण करने और चेष्टाओंके आदेश पहुंचानेवाले नाडी-सूत्र भी इनमें व्याप्त होते हैं; एवं, नाडी-धातुमें नाडी-कोष और उनके सूत्रोंके अतिरिक्त उन्हें संयोजित करनेवाले योजक-सूत्र भी होते हैं; ये धातु मिलकर मस्तिष्क आदि नाडी-संस्थानके अवयव बनाते हैं।

मूल चार धातुओंके नाम निम्नलिखित हैं—आस्तरण धातु[1], योजक धातु[2], मांस धातु[3], तथा नाड़ी धातु[4]।

मानवादि उन्नत प्राणियोंके शरीरका स्वरूप अब सुगमतासे समझा जा सकता है। यों, शरीर अङ्गार (कार्बन), ओषजन आदि मूल द्रव्यों[5]के योगसे बना है, और वे भी विभिन्न विद्युत्कणों[6]के मिलनेसे बने हैं; परन्तु अपने शास्त्रमें उपयोगिता और वर्णनकी सुकरताकी दृष्टिसे शरीरविद्याके पण्डितोंने शरीरको चरम ईकाई[7] कोषोंको माना है। स्वरूप और कर्म प्रत्येक दृष्टिसे कोष अपने-अपने अवयवको ईकाई हैं। इनके मिलनेसे विभिन्न धातु बनते हैं; धातुओंके योगसे विभिन्न अवयव, उनके योगसे विभिन्न संस्थान तथा विभिन्न संस्थानोंके मिलनेसे शरीर अथवा प्राणी[8] बनता है।

आस्तरण धातु—

शरीरके समस्त पृष्ठ,—चाहे वे त्वचाके रूपमें बाह्य पृष्ठ हों, अथवा मूत्राशय, आमाशय, महास्रोत आदि आशयों[9] किंवा रक्तवाहिनी, रसवाहिनी, प्राणवह स्रोत (फुफ्फसोंके वात-कोष) आदि स्रोतोंके अन्दरके अस्तरके रूपमें हों—आस्तरण धातुसे बने हैं। यह धातु कोषोंके एक अथवा अनेक स्तरोंके रूपमें होता है तथा आवरण (आच्छादन) का कार्य करता है। इसके बनानेवाले कोष न्यूनतम अणु-श्लेष्मासे जुड़े होते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि, ये कोष परस्पर अत्यधिक संश्लिष्ट होनेसे कोई स्थूल कण इन्हें भेद कर नहीं जा सकते। इस प्रकार यह धातु अपने पार स्थित अवयवोंके आवरण और उसके द्वारा रक्षाका कार्य करता है। इस धातुके अन्य कार्य स्रावोंका उत्पादन तथा अन्तर्गत द्रव्य (कफ आदि) का वहन हैं।

आस्तरण धातुके प्रथम दो भेद किये जाते हैं—एक, जिसमें कोषोंका एक ही स्तर होता है, तथा द्वितीय, जिसमें कोषोंके अनेक स्तर होते हैं। प्रथम भेदको साधारण आस्तरण[10] तथा द्वितीयको मिश्र आस्तरण[11] कहते हैं। एक स्तरमय आस्तरण धातु किंवा मिश्र आस्तरण धातुके पृथक् स्तरोंके बनानेवाले कोषोंकी आकृतिको लक्ष्यमें रखकर आस्तरण धातुके पुनः भेद किये जाते हैं। कोषोंके आकृति-भेदका प्रयोजन कर्मभेद होता है, यह ऊपर कह आये हैं।

१—Epithelium—एपीथीलिअम; (बहुवचन—Epithelia—एपीथीलिआ); Epithelial tissue—एपीथीलिअल टिश्यु। आस्तरण शब्दमें आच्छादन अर्थकी स्तृ (स्तॄ) धातु है।

२—Connective tissue—कनेक्टिव टिश्यु। ३—Muscular tissue—मस्क्युलर टिश्यु।

४—Nervous tissue—नर्वस टिश्यु। ५—Elements—एलीमेण्ट्स।

६—Electrons—इलेक्ट्रन्स। ७—Unit—यूनिट।

८—Organism—ऑर्गेनिजम। ९—Cavity—केविटी।

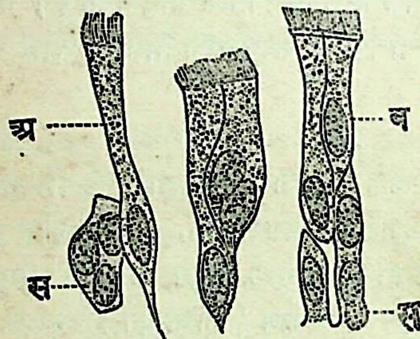
१०—Simple epithelium—सिम्पल एपीलिअम।

११—Compound epithelium—कम्पाउण्ड एपीथीलिअम।

कुट्टिम-आस्तरण[1] तथा अन्तरास्तरण[2]—साधारण आस्तरणके ही ये दो भेद हैं। फुफ्फुसोंके वायु-कोषोंका अन्दरका अस्तर कुट्टिम आस्तरणसे तथा रक्तवह और रसवह स्रोतों तथा लसीका स्रावी[3] आशयोंके अन्दरके अस्तर अन्तरास्तरणसे बने होते हैं। दोनोंके कोष पतले और आस्तरण फर्शबन्दी (कुट्टिम) के समान भासित होते हैं। भेद दोनोंमें यह है कि, कुट्टिम आस्तरण गर्भके बाह्य चर्मसे बनते हैं और अन्तरास्तरण मध्यचर्मसे।

स्तम्भ-आस्तरण[4] तथा घन-आस्तरण[5]—स्तम्भ-आस्तरणके कोष स्तम्भ-सदृश अर्थात् लम्बाईमें अधिक और चौड़ाईमें कम होते हैं। महास्रोतस्में आमाशयसे गुदपर्यन्त यह आस्तरण होता है। घन-आस्तरणमें, जैसा कि नामसे सूचित है, कोषोंकी लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई समान होती हैं। यह आस्तरण चुल्लिका ग्रन्थिके अवकाशों, वृषण-ग्रन्थिके स्रोतों और अनेक ग्रन्थियोंकी वाहिनियों में होता है।

पक्ष्मल आस्तरण[6]—यह स्तम्भ-आस्तरणका ही एक प्रभेद है। (देखिये चित्र—११)



श्वासपथके पक्ष्मल अणु चित्र—११

इनमें विशेषता यह होती है कि, इनके ऊर्ध्वभागपर प्रोटोप्लाज्मके अत्यन्त सूक्ष्म सूत्र होते हैं। ये सूत्र पलकोंके बालों (पक्ष्म) के तुल्य होनेसे कोषों तथा आस्तरणको पक्ष्मल कहा जाता है। जीवित दशामें ये सूत्र निरन्तर, नियमित (तालबद्ध), अति वेगसे और एक ही दिशामें—बाह्य छिद्रकी ओर गति करते रहते हैं। इस गतिका स्वरूप यह होता है कि—सूत्र लम्बाईके रुख मुड़ते हैं और सीधे होते हैं—मुड़ते और सीधे होते हैं। इनकी इस अविरत गतिको अणुवीक्षणके नीचे देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई धान्यका खेत वायुके प्रवाहसे लहरा रहा हो। तालबद्ध तथा बाह्य छिद्रकी ओर होनेवाली इन गतियोंका परिणाम यह होता है कि इनके अन्दर स्थित द्रव्य निरन्तर बाहरकी ओर वाहित होता जाता है।

मानव-शरीरमें पक्ष्मल कोष मुख्यतः निम्न स्थलोंपर होता है—वायुकोषोंको छोड़कर अन्यत्र श्वासपथमें ; यहाँ इनका उद्देश्य कफ तथा धूलि धूम आदिके कणोंको बाहरकी ओर धकेलना और

१—Pavement epithelium—पेवमेण्ट एपीथीलिअम। 'पेवमेण्ट' का अर्थ पत्थर, ईंट आदिका फर्श है। 'कुट्टिम' का अर्थ भी यही है—'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूः'—अमरकोश।

२—Endothelium—एण्डोथीलिअम। ३—Serous—सीरस।

४—Columnar epithelium—कॉलमनर एपीथीलिअम।

५—Cubical epithelium—क्यूबिकल एपीथीलिअम।

६—Cilliated epithelium—सिलिएटेड एपीथीलिअम। Cilium—सिलिअम=नेत्रलोम।

एकत्र करना है, जिससे अनेक कण मिलकर उनका बड़ा समुदाय बने जो कासके वेगसे सुगमतासे बाहर निकाला अथवा निगल लिया जा सकता है। बीजवाहिनीमें तथा गर्भाशयके ऊर्ध्वभागमें ; यहाँ इनका उद्देश्य स्त्रीबीजको गर्भाशयकी ओर प्रवृत्त करना है। वृषणग्रन्थियोंकी उत्सर्जक वाहिनियोंमें[1] ; यहाँ इनका उद्देश्य पुंबीजोंको बाहर निकालना है। मस्तिष्कके कोष्ठों[2] तथा सुषुम्णाके विवरमें। पुंबीजोंकी पुच्छको पक्ष्म ही कहा जा सकता है।

ग्रन्थिभूत आस्तरण[3]—लाला-ग्रन्थि आदि स्रावी ग्रन्थियोंकी रसस्रावी दीवारें आस्तरणकोषों से ही बनी होती हैं। इनका कर्म (स्रावी) भिन्न होनेसे इनके बने आस्तरणको ग्रन्थिभूत आस्तरण कहा जाता है।

मिश्र-आस्तरण—

इसमें आस्तरण धातुके स्तर एकसे अधिक होते हैं। इसके दो प्रभेद हैं--

संक्रामी आस्तरण[4]—यह आस्तरण गवीनियों तथा मूत्राशयमें होता है। इसमें कोषोंके तीन या चार स्तर होते हैं। इनकी विशेषता यह होती है कि मूत्राशयके भरने पर ये फैल सकते हैं तथा उसके रिक्त होने पर संकुचित हो सकते हैं।

प्रचित शुक्ति-सम आस्तरण[5]—निरन्तर घर्षणके कारण जिन पृष्ठोंके ऊपरके स्तर तथा उनके बनानेवाले कोष नष्ट होते रहते हैं और उनका स्थान नीचेके कोषोंको लेना आवश्यक होता है, वहां यह अनेक स्तरमय आस्तरण होता है। बहिस्त्वक्[6] मुखसे आमाशयके प्रथम छिद्र पर्यन्त अन्नवह स्रोत, गुद आदि शरीरगत अन्य छिद्रोंके अन्दरके अस्तर एवं नेत्र-बुद्बुद[7]के स्वच्छ मण्डलका[8] संमुख भाग इस आस्तरणसे बने हैं। त्वचा, छिद्रों और अन्न वह स्रोतके आस्तरणमें सबसे नीचेके कोष स्तम्भ या घन होते हैं और ऊपरके चपटे। ऊपरके कोषोंमें प्रोटोप्लाज्मके स्थान पर 'केरेटिन'[9] नामक श्रृङ्ग-सम द्रव्य होता है। स्वच्छमण्डलके संमुख भागके आस्तरणमें स्तरोंकी संख्या इतनी नहीं होती। इसके भी नीचेके कोष स्तम्भ या घन होते हैं।

नाड़ी-आस्तरण[10]—श्रवण, दर्शन आदि ज्ञानेन्द्रियोंके अन्त्यावयव[11] अपनी-अपनी नाड़ियों

१—Efferent duct—एफरेण्ट डक्ट।

२—Ventricle—वेण्ट्रिकल।

३—Glandular epithelium—ग्लैण्ड्युलर एपीथीलिअम।

४—Transitional epithelium—ट्रॅन्ज़िशनल एपीथीलिअम।

५—Stratified squamous epithelium—स्ट्रेटीफाइड स्क्वेमस एपीथीलिअम। 'स्ट्रेटीफाइड' अर्थ है अनेक स्तरमय। प्रचय प्रचित और संयम संचित शब्द दोषोंके शरीरमें जमा होनेके लिए आयुर्वेदमें प्रसिद्ध हैं।

६—Epidermis—एपीडर्मिस ; या Cuticle—क्यूटिकल।

७—Eye-ball—आईबॉल। नेत्रबुद्बुद शब्द प्राचीन है ; देखिये—सु० उ० १।१०।

८—Cornea—कॉर्नीया

९—Keratin.

१०—Neuro-epithelium—न्यूरो एपीथीलिअम।

११—End-organs—एण्ड ऑर्गन्स।

के विशिष्टरूपधारी तथा विशिष्ट कर्म करने वाले कोषों एवं आस्तरण कोषोंके मेलसे बनते हैं। इन समुदायोंको नाड़ी-आस्तरण यह विशेष नाम दिया गया है। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियके अन्त्यावयवोंका वर्णन तत्तत् इन्द्रियके अधिकारमें किया जायगा।

योजक तथा धारक धातु[१]—

इसके कोई दस उपभेद हैं। स्वरूपकी दृष्टिसे यह आस्तरण धातुसे विपरीत है। आस्तरण धातुमें कोषसमभाग अधिकतम होता है तथा अणुश्लेष्मा या कोषोंके अन्तरालवर्ती भाग[२] न्यूनतम, योजक और धारक धातुओंमें, इसके विपरीत, कोषमय भाग स्वल्प और दूर-दूरस्थित तथा अन्तरालवर्ती निर्जीव भाग अधिकतम होता है। यह इनका परस्पर साम्य है। इन धातुओंका कर्म शेष मृदु तथा अधिक जीवनोपयोगी धातुओंको परस्पर जोड़ना और आश्रय देना (धारण) है। यह इन धातुओंका कर्मकी दृष्टिसे साम्य है। सभी उपभेद गर्भके मध्यचर्मसे बनते हैं। यह इनका उत्पत्तिगत साम्य है।

योजक तथा धारक धातुओंके उपभेद निम्न हैं—पिच्छासम धातु[३], स-शुषिरधातु[४], तन्तुमय धातु[५], स्थितिस्थापक धातु[६], मेदधातु[७], जालमय तथा लसीका धातु[८], तरुणास्थि[९], अस्थि[१०], दन्त[११], रक्त[१२], रस[१३]।

कोष जिस कोषभिन्न निर्जीव, परन्तु स्वयं कोषों-द्वारा उत्पादित, कोषोंके अन्तरालवर्ती द्रव्य में स्थित होते हैं उसे शय्या[१४] कहते हैं। यह शय्याही इतर धातुओंका योजन और धारण करती है शय्याके स्वरूप-भेदसे योजक धातुको निम्न प्रकारसे भी विभक्त किया जाता है—द्रव शय्यायुक्त योजक धातु, यथा—रस और रक्त; घन शय्यायुक्त, यथा—अस्थि, तरुणास्थि और दन्त; अर्धद्रव शय्या युक्त, यथा—शेष योजक धातु।

ऊपर-ऊपरसे देखनेसे रस-रक्तका इस वर्गमें समावेश असंगत-सा प्रतीत होता है। कारण, ये धातु घन (ठोस) होने चाहिये ऐसी ही धारणा प्रथम क्षणमें होती है। परन्तु यों तो मांसका भी $\frac{3}{4}$ भाग जल होता है। उधर, रस-रक्त भी गर्भके मध्य चर्मसे ही बनते हैं। हाँ, रस-रक्त अन्य धातुओंके समान शरीरका धारण नहीं करते, तथापि उन्हें पोषण पहुंचाकर प्रकारान्तरसे उनका धारण भी करते ही हैं।

१—Connective and supporting tisue—कनेक्टिव एण्ड सपोर्टिङ्ग टिश्यु।

२—Intercellular meterial—इण्टरसेल्लुलर मेटीरियल।

३—Mucoid or jelly-like tissue—म्यूकॉयड, या जेली लाइक टिश्यु।

४—Areoler tissue—एरीओलर टिश्यु।

५—Fibrous tissue—फाइब्रस टिश्यु।

६—Elastic tissue—इलेस्टिक टिश्यु।

७—Adipose tissue—एडीपोज़ टिश्यु; या Fatty tissue—फैटी टिश्यु।

८—Reticular (or-retiform) and lymphoid (or-adenoid) tissue— रेटीक्युलर (अथवा-रेटीफॉर्म) एण्ड लिम्फॉयड (अथवा एडीनॉयड) टिश्युज़।

९—Cartilage—कार्टीलेज़; या Gristle—ग्रिसल।

१०—Bone बोन। ११—Dentine डेण्टीन। १२—Blood ब्लड।

१३—Lymph लिम्फ। १४—Matrix मैट्रिक्स; या Ground substance ग्राउण्ड सब्स्टेन्स। मैट्रिक्सका मूल अर्थ गर्भाशय है।

पिच्छासम धातु—यह गर्भावस्थामें सभी योजक-धारक धातुओंका पूर्व-रूप[1] होता है। जन्मके पश्चात् शरीरमें यह केवल मेदोजल[2] (नेत्रमें काचके पीछे स्थित अर्धद्रव पदार्थ) के रूपमें रह जाता है। स्वरूपमें यह सरेस-जैसा होता है।

स-शुषिर धातु—योजक धातुका यह अन्वर्थक और अत्यधिक व्याप्त-प्रकार है। त्वचा, आशयोंका अन्दर का अस्तर तथा श्लेष्म-कलाके नीचे यह धातु रहता है। यह पेशियों, नाड़ियों, रक्तवाहिनियों, ग्रन्थियों एवं अन्तरवयवोंके आवरण[3] बनाता है, उन्हें अपने-अपने स्थानोंपर सुस्थित रखता है, आश्रय देता है तथा उनके पृथक्-पृथक् भागोंको परस्पर जोड़ता है। अणुवीक्षणसे देखने पर इनमें चार वस्तुएँ दिखाई देती हैं—विभिन्न आकृति वाले तथा विभिन्न कर्म करने वाले कोष, शय्या, श्वेत तन्तु तथा स्थितिस्थापक पीत तन्तु। श्वेत तन्तु अत्यन्त सूक्ष्म और जत्थेके रूपमें एक साथ अनेक मिल कर रहते हैं। इनके पृथक्-पृथक् जत्थोंके मध्य बहुत अवकाश या छिद्र (शुषिर)[4] रहते हैं, जिसके कारण इन्हें स-शुषिर धातु नाम दिया गया है। स्थितिस्थापक या पीत तन्तु अधिक स्थूल तथा अकेले-अकेले होते हैं।

श्वेत तन्तुमय धातु—योजक धातुके इस प्रकारमें उपर्युक्त श्वेत तन्तुओंकी संख्या विशेष होती है, कण्डराएँ (वृत्त स्नायु)[5] प्रतानवती स्नायु[6], अस्थिधरा[7], वराशिका[8], यथार्थ त्वचा[9], नेत्रगोलक का शुक्ल मण्डल[10], मांसपेशियोंके स्थूलतर आवरण[11], एवं पृथुल-स्नायु[12] श्वेत तन्तुमय धातुसे बने होते हैं। इस धातुमें खेंचतानको सहन करनेकी शक्ति और नमनीयता पुष्कल होती है, जिससे विभिन्न शारीरिक चेष्टाओंमें होने वाले आकुञ्चन-प्रसारण आदि कार्य सरलतासे हो सकते हैं। इस धातुमें तन्तु तथा कोष समानान्तर स्थित होते हैं। चेष्टाओंके समय होने वाले आकुञ्चन-प्रसारण सदा उसी दिशामें होते हैं, जिस दिशामें तन्तुओंकी लम्बाई होती है। कण्डराएँ पेशिओंको अस्थियों से संयुक्त करती हैं तथा प्रतानवती स्नायु अस्थिको अस्थिसे।

स्थितिस्थापक धातु...इस प्रकारमें पीत अर्थात् स्थितिस्थापक तन्तुओंका प्रमाण अधिक होता है। पीत तन्तु स-शुषिर धातुके तन्तुओंकी अपेक्षया बड़े तथा उक्त धातु द्वारा जत्थोंके रूपमें आबद्ध

---

१ Precursor प्रीकर्सर।

२ Vitreous humour विट्रिअस ह्यूमर। मेदोजल संज्ञा प्राचीन है। इसका विचार आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे।

३—Sheath-शीथ; या—Fascia—फेशिया।

४—Areolœ-एरीओली। धातुका अंग्रेजी नाम इस शब्दसे बना है।

५—Tendons-टेण्डन्स।

६—Ligaments-लिगमेण्ट्स।

७—Periosteum-पेरीऑस्टिअम।

८—Dura-ड्यूरा; या Dura mater-ड्यूरा मेटर।

९—True Skin-ट्रू स्किन, या-Derm, Derma, Dermis—डर्म, डर्मा, डर्मिस, या—Corium-कोरिअम।

१०—Sclera—स्क्लेरा; या Scleratic Coat—स्क्लेरॉटिक कोट।

११—Fascia—फेशिया।

१२—Aponeuroses—एँपोन्यूरॉसिस।

होते हैं। बैल, घोड़ा, आदि पशुओंकी ग्रीवाधर स्नायु[1]; मानवोंमें कशेरुकाओंके पत्रकों[2] को जोड़ने वाले स्नायु[3]; धमनियों तथा सिराओंकी भित्तियाँ (अन्य धातुओंके साथ); फुप्फुस, श्वासपथ, (अन्य धातुओंके साथ); यथार्थ स्वरतन्त्रियाँ[4]; एवं स्टायलो-हायॉइड[5], हायो-थायरॉयड[6] तथा क्रीको-थायरॉयड[7] नामक प्रतानवती स्नायु स्थितिस्थापक धातुसे बने होते हैं।

इस धातुकी स्थिति स्थापकता के कारण उल्लिखित अवयवोंकी अपनी-अपनी चेष्टाएँ तथा कर्म सुगमतासे होते हैं।

मेद धातु—यह भी योजक धातुका एक प्रभेद है। प्रचलित भाषामें इसे 'चर्बी' कहते हैं। आगे सप्तधातुओंके वर्णनके प्रसंगमें मेदोधातुके अधिकारमें इसका निरूपण करेंगे।

जालमय तथा लसीका-धातु—जालमय धातुमें शय्या द्रवप्राय होती है। स्थितिस्थापकतन्तु लगभग नहीं होते। श्वेत तन्तु भी बहुत पास-पास होते हैं। लसीका-धातु जलमय धातु ही है, जिस के जालोंमें लसीकाणु[8] नामक कोष प्रचुर होते हैं। कई स्थलोंमें इन कोषोंकी वृद्धि विशेष होती है, जहां से ये रसवाहिनियोंमें तथा उनके द्वारा रक्त-प्रवाहमें मिल जाते हैं और रक्त-गत श्वेत कणोंका एक प्रकार बनते हैं। इन कणोंको अंग्रेजीमें 'लिम्फोसाइट'[9] कहते हैं। रसग्रन्थियाँ[10], थायमस ग्रन्थि[11], टॉन्सिल[12], जिह्वा की लसीका-स्रावी ग्रन्थियों[13], वलितान्त्र[14]के अन्तिम भागमें स्थित 'पेयर्स-पैचेज़'[15] नामक लसीका-ग्रन्थियोंके समुदाय, अन्त्रोंकी एकाकी लसीका-ग्रन्थियाँ[16], प्लीहाके मेलपीघियन कण[17] तथा अनेक श्लेष्म-कलाओंके आस्तरण धातुके नीचे इन स्थानोंमें लसीका-धातु होता है। बच्चोंमें यह धातु विशेष प्रमाणमें होता है, पीछे घटता जाता है।

तरुणास्थि, अस्थि, दन्त तथा रक्त धातु—सप्तधातुओंके प्रकरणमें अस्थि-धातुके अधिकारमें तरुणास्थि, अस्थि और दन्तका तथा रक्तके प्रकरणमें रक्त-धातुका आधुनिक मतानुसार वर्णन किया जायगा।

१—Ligamentum nuchae—लिगमेण्टम न्यूकी; दोनों ओरकी पृष्ठच्छदा पेशियों (Trapezius-ट्रैपोज्भिअस) के मध्य स्थित स्नायु, जो ग्रीवापर स्पष्ट दिखाई देता है।

२—Laminœ—लेमिनी। ३—Ligamenta flava-लिगमेण्टा फ्लेवा।

४—True Vocal Cords-ट्रू वोकल कॉर्ड्स। ५—Stylohyoid,

६—Hyo-thyroid, ७—Crico-thyroid.

८—Lymph-Corpuscle लिम्फ-कॉर्प्सल। ९—Lymphocytes

१०—Lymph-glands-लिम्फ-ग्लैण्ड्स। ११—Thymus,

१२—Tonsil, इसका कोई भाषान्तर रुचा नहीं, अतः अंग्रेजी शब्द ही रहने दिया है। इसकी वृद्धि को 'तुण्डिकेरी' कहते हैं (देखिये-घाणेकरी सुश्रुत व्याख्या।

१३—Follicular glands-फॉलीक्युलर ग्लैण्ड्स।

१४—Ileum-इलियम। यह नाम महाराष्ट्रीय लेखकोंका है। प्रत्यक्ष शारीरमें 'शेषान्त्र'का नाम दिया है।

१५—Peyer's Patches. (आविष्कर्त्ताके नाम पर)।

१६—Solitory glands-सॉलीटरी ग्लैण्ड्स।

१७—Malpighion Corpuscles-मैलपीघियन कॉर्प्सल्स (आविष्कर्त्ताके नाम पर)।

मांस धातु[1]*—*

आकुञ्चन[2] (संकुचित होना) मांस धातुका विशेष गुण है। यद्यपि यह गुण प्रोटोप्लाज्म-मात्रका—अन्य शब्दोंमें कोष-मात्रका—है, तथापि मांस धातुमें यह धर्म विशेषतया पुष्ट हुआ है। मांसपेशीमें मुख्यतया मांस धातु होता है। इसके आकुञ्चनसे विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। महास्रोतस्, रक्तवाहिनी, हृदय आदि अन्तरावयवोंकी भित्तियोंमें स्थित मांस धातुके आकुञ्चनसे उनमें विभिन्न गतियाँ होती हैं, जिससे उनके अन्तर्गत द्रव्यका वहन होता है। मांस धातुका विशेष वर्णन आगे सप्त धातुओंके वर्णनके प्रसंगसे करेंगे।

नाड़ी-धातु[3]*—*

नाड़ी-संस्थान नाड़ी-धातुसे बना है। विषयों (उद्दीपनों)[4] से क्षुभित होने अर्थात् उचित प्रतिक्रिया करनेका धर्म भी यद्यपि प्रोटोप्लाज्म मात्रका है तथापि नाड़ी-कोषोंमें यह धर्म विशेषतः पुष्ट हुआ है। नाड़ी-धातुके कुछ कोषोंका स्वभाव तत्-तत् विषयको ग्रहण करके नाड़ी-संस्थानके अमुक-अमुक प्रदेशमें पहुंचा देनेका है; जब कि कुछ कोष इन संज्ञाओंके अनुरूप आदेश योग्य अवयवोंमें पहुंचाते हैं।

नाड़ी-धातुका सविस्तर वर्णन आगे वात धातुके अधिकारमें किया जायगा।

जालमय-अन्तरास्तरण[5]*—*

शरीरमें कई स्थलोंमें जालमय तथा अन्तरास्तरण धातुमें विशेष प्रकारके कोष पाये जाते हैं। इनका स्वभाव रोगजनक जीवाणु आदि विजातीय द्रव्योंके भक्षणका है। इसी कारण इन कोषोंको 'भक्षकाणु'[6] कहते हैं। ये कोष निम्न स्थानोंमें पाये जाते हैं—(१) स-छुषिर धातुके अनेक प्रकारके कोषों में एक ये कोष होते हैं; (२) रक्तगत 'लार्ज मॉनोन्यूक्लीअर[7]' क्षत्रकण इसी प्रकारके कोष हैं; (३) मज्जा, प्लीहा, यकृत्, रस-ग्रन्थियों, अधिवृक्क ग्रन्थियोंका मध्य[8] तथा पोषणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्डमें स्थित रक्ताशयों[9]का अन्तरास्तरण; (४) प्लीहा तथा रस-ग्रन्थियोंका जालमय धातु; (५) मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकी वृत्तियाँ (आवरण)।

ये कोष रक्तके रञ्जक पित्त[10]को पित्तके रञ्जकमें[11] परिणत करते हैं; तथा इनमें

१—इसे Contractile tissue कॉण्ट्रैक्टाइल टिश्यु भी कहते हैं।
२—Contractility कॉण्ट्रैक्टाइलिटी।
३—इसे Conductile tissue कण्डक्टाइल टिश्यु भी कहा जाता है।
४—Stimulus स्टिम्युलस; बहुवचन—Stimuli स्टिम्युलाई।
५—Reticulo-endothelial System रेटीक्युलो-एण्डोथीलिअल सिस्टम।
६—Phagocyte फैगोसाइट।
७—Large mononeuclear Leucocytes; अथवा Monocytes मॉनोसाइट्स।
८—Medulla मेड्यूला।
९—Blood-sinuses ब्लड साइनसेज़।
१०—Haemoglobin हीमोग्लोबीन।
११—Bilirubin बिलिरुबीन।

'कॉलेस्टिरोल,[१] नामक द्रव्यका संग्रह होता है। जालमय-अन्तरास्तरण यों कोई पृथक् धातु नहीं है। इन कोषोंके कारण ही इसका पृथक् निर्देश किया जाता है [२]।

नाड़ी-भूमि—

नाड़ी-संस्थान जिन कोषों और उनसे निकले सूत्रोंसे बनता है, उनको आश्रय देने तथा परस्पर संयुक्त करनेवाला एक योजक धातु होता है, जिसे नाड़ी-भूमि[३] कहते हैं। यों यह भी पृथक् धातु नहीं है। स्थान-विशेषके कारण ही इसे भिन्न नाम दिया गया है। इसका भी विशेष वर्णन नाड़ी-संस्थानके अधिकारमें करेंगे।

शरीरके कारणभूत मूलद्रव्य—

इस प्रकार यह धातुओंका वर्णन समाप्त हुआ। धातु आदिके द्वारा शरीरकी रचनाको समझनेके लिए कभी-कभी यह उपमा दी जाती है कि, जैसे कपास आदिके तन्तुओंसे सूत्र, सूत्रोंसे विभिन्न वस्त्र और विभिन्न वस्त्रों आदिके योगसे पोशाक बनती है, वैसे कोषोंसे धातु, धातुओंसे अङ्ग-प्रत्यङ्ग और अङ्ग-प्रत्यङ्गके योगसे शरीर बनता है। अन्तको कोष भी उन मूलद्रव्यों[४]से बने हैं, जिनसे सृष्टिके अन्य द्रव्य बने। मूलद्रव्य सभी इस शरीरके निर्माणमें भाग लेते हों, सो बात नहीं। बहुत थोड़े मूलद्रव्योंके समवायसे यह शरीर बना है। नित्य आवश्यकता भी इन्हीं मूलद्रव्योंकी होती है, जो मुख्यतः आहार द्वारा पूर्ण होती है। परन्तु, ये मूलद्रव्य स्व-रूपमें शरीरमें विद्यमान नहीं होते, नहीं अपने पृथक् शुद्ध रूपमें आहार द्रव्योंमें स्थित होते हैं। शरीर और आहार दोनोंमें ये विभिन्न योगोंके रूपमें विद्यमान होते हैं। कोषों तथा धातुओंकी रासायनिक रचना हमें विदित हो—अर्थात् किन-किन मूलद्रव्योंसे वे बने हैं, तथा किन-किनकी उन्हें नित्य आवश्यकता रहती है, यह हमें ज्ञात हो—तो हम यह भी जान सकते हैं कि आहारका शरीरमें प्रयोजन क्या है तथा पूर्ण शास्त्र-शुद्ध आहार कैसा होना चाहिये। यह प्रश्न हमें एक नये क्षेत्रमें ले जाता है। अगले अध्यायमें हम शरीरावयवोंके घटक मूलद्रव्यों तथा उनके बने योगों (समासों) का विचार करेंगे। साथ ही देखेंगे कि किस मूलद्रव्यका शरीरमें क्या कर्म है।

१—Cholesterol.

२—आयुर्वेदीय कफ धातुके नव्यमतसे समझनेमें कुछ सहायक हो सके, इस दृष्टिसे इस धातुका वर्णन यहाँ विशेषतः किया है। बल (रोग प्रतिबन्धक शक्ति) कफका कार्य है, तथा आधुनिक मतसे बलका प्रमुख रूप जीवाणु आदिका भक्षण है।

३—Neuroglia न्यूरोग्लिआ।

४—Elements एलीमेण्ट्स।

नौवां अध्याय

अथातो भोजन प्रयोजनविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शरीरके कारण-द्रव्य—

यद्यपि यह विदित हो चुका है कि पिण्ड तथा ब्रह्माण्डके सूक्ष्मतम घटक-द्रव्य विभिन्न विद्युत्कणिकाएँ[1] हैं, गत महायुद्धमें इनका विघटन करके इनमें विलीन प्रचण्ड शक्तिका अनुभव भी किया जा चुका है, तथापि इनका आविष्कार हुए पर्याप्त समय बीतने पर भी समस्त विज्ञानको अबतक इनके ढाँचेमें बैठाया नहीं जा सका है। अतः व्यवहारमें अबतक पुराना सिद्धान्त ही प्रचलित है; कि समस्त सृष्टि कोई नब्बे मूल द्रव्यों[2] से बनी है। इनमें बहुत थोड़े—मुख्यतया कोई बारह—मूल द्रव्य कोषोंके किंवा उनसे बने शरीरके निर्माणमें भाग लेते हैं। इनमें भी प्रधान द्रव्य निम्नोक्त तीन हैं—कार्बन[3] (अङ्गार), उदजन[4] और ओषजन[5]। शेष नौ मूल द्रव्यों आर्थात् नाइट्रोजन[6], प्रस्फुरक[7], सोडियम[8], पोटेशियम[9], क्लोरीन[10], कैल्शियम[11], अयस्[12], मैग्नेशियम[13], तथा गन्धक[14] का प्रमाण पूर्वोक्त तीन की अपेक्षया अत्यल्प होता है।

कोषोंके घटक समास—

ये द्रव्य विभिन्न समासों[15] के रूपमें ही शरीरमें रहते हैं, स्वतन्त्र रूपसे नहीं। इन समासों को दो प्रकारोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) सेन्द्रिय समास[16] या वे समास जिनमें कार्बन होता है; तथा (२) निरिन्द्रिय अर्थात् शेष सभी रसायन-शास्त्रकी दृष्टिसे इन समासों एवं उनके योगोंके अगणित प्रकार हैं, तथापि इन सबको निम्नोक्त सात द्रव्यों में समाविष्ट किया जा सकता है—कार्बोहाइड्रेट[17], स्नेह[18], प्रोटीन[19], निरिन्द्रिय लवण[20], जीवनीय[21], एन्जाइम[22], तथा जल। अन्नपान द्वारा ये द्रव्य हमें उपलब्ध होते हैं। इनका कर्म सरलतासे समझा जा सकता है, यदि हम पहले शरीरकी मूलभूत आवश्यकताएँ, जिनकी पूर्ति अन्नपान (आहार) से होती है उन्हें जान लें।

१—Electrons—इलेक्ट्रन्स।
२—Elements—एलीमेण्ट्स।
३—Carbon.
४—Hydrogen—हाइड्रोजन।
५—Oxygen—ऑक्सिजन।
६—Nitrogen.
७—Phosphorus—फौस्फोरस।
८—Sodium
९—Potassium.
१०—Chlorine.
११—Calcium.
१२—Iron—आयरन।
१३—Magnesium.
१४—Sulphur—सल्फर।
१५—Compounds—कम्पोउण्ड्स।
१६— Organic compounds—ऑर्गेनिक कम्पाउण्ड्स।
१७—Carbohydrate.
१८—Fat—फैट।
१९—Protein.
२०—Inorganic salts—इनौर्गेनिक सॉल्ट्स।
२१—Vitamins—वाइटेमिन।
२२—Enzyme.

शक्ति[1]—

आहारका एक प्रमुख प्रयोजन शक्तिका उत्पादन है। 'शक्ति' एक पारिभाषिक शब्द है। इसका विज्ञान-सम्मत अर्थ समझ लिया जाय तो आहारका प्रयोजन तथा क्रिया शरीरकी अन्य अनेक बातें समझना सुगम हो सकता है।

'शक्ति' का अर्थ है द्रव्यका 'कार्य' करनेका सामर्थ्य। यह 'कार्य्य'[2] भी वैज्ञानिक संज्ञा है। कोई पदार्थ अपने बल-प्रयोग द्वारा किसी अन्य पदार्थको गतिमान् (स्थानान्तरित) कर दे तो कहा जाता है वह पदार्थ 'कार्य' कर रहा है। अपने सामने पड़ी पुस्तकको मैं हाथसे धकेल दूं या इसे पलंगपरसे उठाकर टेबलपर रख दूँ तो विज्ञानकी संज्ञामें कहा जायगा कि मैंने 'कार्य' किया। द्रव्यमें विद्यमान कार्य करनेके इस सामर्थ्यको, जो वर्तमानमें प्रत्यक्ष हो अथवा संचित[3] हो, 'शक्ति' कहते हैं।

शक्तिके भेद-बाहर तथा शरीरमें—

शक्तिके अनेक प्रकार हैं, अपने अन्दर विद्यमान उष्णताके कारण वाष्प[4] वेलनों[5] में रहे 'पिस्टन'[6] को धकेल कर एञ्जिनको गतिमान् कर सकता है, अतः यह उष्णता[7] या ताप एक प्रकारकी शक्ति है। हाथ अथवा अन्य कृत्रिम यन्त्रों के द्वारा विभिन्न पदार्थोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर रखा जाता है, यथा क्रेन की सहायतासे जहाजोंपरसे माल उतारा या उनपर रखा जाता है। सो, उनमें विद्यमान सामर्थ्य भी एक शक्ति है। इसे 'यान्त्रिक शक्ति'[8] कहते हैं। विद्युत[9] की सहायतासे अनेक प्रकारके 'कार्य' होना सुविदित है। यह भी शक्तिका एक भेद है। रासायनिक विवर्तोंके कारण प्रगट हुई द्रव्यगत शक्ति[10] यद्यपि प्रत्यक्ष 'कार्य' नहीं करती, तथापि कार्य करनेवाली अन्य शक्तियों (ताप-विद्युत आदि) के रूपमें उसका रूपान्तर होकर कार्य होता है।

प्राणि-शरीरमें भी ये सब शक्तियाँ विभिन्न 'कार्य' करती हैं। हाथ-पैर आदिसे होनेवाली विविध चेष्टाएँ (मांस धातु का संकोच-विकास) यान्त्रिक शक्तिसे होते हैं। नाड़ी सूत्रोंमें संज्ञा और चेष्टाके वेगोंका वहन उस काल नाड़ी संस्थानमें स्वभावतः होनेवाले विद्युत्-संचारसे होता है—अन्य शब्दोंमें यह वहन विद्युत् शक्ति जन्य है। रासायनिक क्रिया होकर आहारका रसके रूपमें तथा रसके धातुओंमें पहुंचनेपर रसगत द्रव्योंका विभिन्न रूपोंमें परिणमन होता है। विभिन्न रासायनिक क्रियाओंके परिणाम-स्वरूप जो ताप उत्पन्न होता है, वह शरीरके ऊष्माको स्थिर रख कर उल्लिखित विभिन्न शक्तियों द्वारा होनेवाले कार्योंके लिए अनुकूल स्थिति उत्पन्न करता है।

प्रकाश (किरणें)[11] शब्द[12] और विद्युत्-चुम्बक[13] भी शक्तिके प्रकार हैं।

१—Energy—एनर्जी। २—Work—वर्क।
३—Potential—पौटेन्शल।
४—Steam—स्टीम। ५—Cylinders—सिलिण्डर्स।
६—Piston. ७—Heat अथवा Thermal energy थर्मल एनर्जी।
८—Mechanical energy—मेकेनिकल एनर्जी; या kinetic energy कायनेटिक एनर्जी
९—Electrical energy —इलेक्ट्रिकल एनर्जी, या Electricity—इलेक्ट्रिसिटी।
१०—Chemical energy—केमिकल एनर्जी।
११—Light—लाइट। १२—Sound—साउण्ड।
१३—Electro-magnetic energy—इलेक्ट्रो मैग्नेटिक एनर्जी।

शक्तिका अनादिनिधनत्व—

जैसे सृष्टिके द्रव्य अविनाशी हैं; वैसे उपर्युक्त शक्तियां भी। जिसे हम द्रव्योंका विनाश (या मृत्यु) कहते हैं, वह वास्तवमें उनका अन्य द्रव्योंमें रूपान्तर (परिणमन) होता है, वैसे शक्तियां भी अविनश्वर हैं, उनका एक से दूसरी में परिणमन मात्र होता है। इसी प्रकार, द्रव्य नये उत्पन्न नहीं होते, पहले से विद्यमान द्रव्योंका रूपान्तर होता है। इसे सामान्य बोल-चालमें किसी द्रव्यकी उत्पत्ति कहा जाता है। शक्तियोंके विषयमें भी यही बात सत्य है। उनकी अपूर्वोत्पत्ति नहीं होती वे पहलेसे किसी न किसी रूपमें—प्रत्यक्ष या संचित अवस्थामें—रहती ही हैं। शक्ति सम्बन्धी इस सृष्टि-नियमको कि, शक्तियोंको न उत्पत्ति (आदि) है न निधन (विनाश), उनका केवल रूपान्तर होता है, शक्तिका अनादिनिधनत्व'[1] कहते हैं।

रासायनिक शक्ति-शरीर का इतर शक्तियों का मूल कारण—

शक्ति विषयक उल्लिखित नियम शरीरमें भी देखा जाता है। शरीरमें विद्यमान उल्लिखित शक्तियोंका मूल कारण आहार-द्रव्य हैं। महास्रोतस्‌में विभिन्न पित्तों (पाचक रसों) के प्रभावसे आहार-द्रव्योंमें रासायनिक परिवर्तन होकर वे अपेक्षया सरल द्रव्योंमें परिणत हो जाते हैं। ये द्रव्य अन्त्रोंकी कला द्वारा गृहीत होकर शरीरके धातुओंमें पहुंचते हैं। विभिन्न धातुओंके कोष इन्हें स्वीकार कर अपने-अपने स्वरूप और कार्यके अनुरूप कुछ जटिल द्रव्योंके रूपमें परिणत कर देते हैं। यह रूपान्तर कोषोंके अपने पित्तों तथा अनेक अन्तः-स्रावी ग्रन्थियोंसे प्राप्त पित्तों (अन्तःस्रावों) की क्रिया से द्रव्योंमें रासायनिक परिवर्तन होने से होते हैं। इन रासायनिक परिवर्तनोंके कारण जो रासायनिक शक्ति प्रादुर्भूत होती है, वह शरीरमें उपलब्ध होने वाली इतर शक्तियों तथा अन्य रासायनिक शक्तियोंका मूल है। जैसे, हलके गन्धकाम्लमें यशद तथा ताम्रकी पट्टिकायें छोड़ देनेसे जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं उनके कारण रासायनिक शक्ति प्रकट होती है। यह स्वयं कुछ 'कार्य' नहीं करती, परन्तु वैद्युत शक्तिमें रूपान्तरित हो जाती है। यह वैद्युत शक्ति विभिन्न कार्य करती है, यह सुप्रत्यक्ष है। यही स्थिति शरीरमें भी है।

समस्त शक्तियोंका उद्गम स्थान—सूर्य—

भुक्त अन्न रसरूप होकर जब धातुओंमें पहुंचता है तो श्वास क्रिया द्वारा धातुकोषोंको प्राप्त ओषजनके समागममें आता है। जैसे विभिन्न यन्त्रोंमें वातावरणके ओषजनके साथ कोयला, पेट्रोल आदि ज्वलनशील द्रव्योंका समागम होनेसे उनका दहन[2] होता है, वैसे रसगत ज्वलनशील द्रव्य भी जब धातुकोषोंमें पहुंच ओषजनके सम्पर्कमें आते हैं तो उनका दहन होता है। दहन एक प्रकारकी रासायनिक प्रक्रिया है। इसके परिणाम स्वरूप रासायनिक शक्ति उत्पन्न होती है, जिसका रूपान्तर होकर उष्णता, विद्युत्, कार्य (या यान्त्रिक कार्य) आदि तथा अन्य प्रकारके रासायनिक कर्म होते हैं।

आहार गत अथवा रसगत ज्वलनशील द्रव्योंमें मूल द्रव्य वही होते हैं जो यन्त्रोंमें जलने वाले द्रव्योंमें होते हैं। ये सभी द्रव्य अङ्गार (कार्बन), ओषजन तथा उदजनके समास हैं। इनकी मूल उत्पत्ति

१—Conservation of energy—कन्जर्वेशन ऑफ एनर्जी। 'अनादिनिधन' शब्द दर्शन आदि में प्रसिद्ध है।

२—Oxidation—ऑक्सिडेशन।

उद्भिदोंमें होती है। उद्भिदोंके पत्तोंके हरित वर्णका कारण उनमें विद्यमान एक रञ्जक द्रव्य[१] है, जिसे 'क्लोरोफील'[२] कहते हैं। सूर्यके प्रकाशकी विद्यमानतामें, यह रञ्जक द्रव्य इन तथा अन्य समासोंको बनाता है। वायुमण्डलमें विद्यमान कार्बन-डाई-ऑक्साइडको पत्ते श्वास द्वारा ग्रहण करते तथा मूल द्वारा चूसे गये जल और, उसमें विलीन नाइट्रोजन आदि अन्य मूल द्रव्योंको रसवाहिनियों द्वारा प्राप्त करते हैं। जल उद्जन तथा ओषजन का समास है। तद्गत उद्जन-ओषजन एवं कार्बन-डाईऑक्साइडके कार्बन (अङ्गार) को संयुक्त करके पत्ते कार्बनके विभिन्न समासोंका निर्माण करते हैं। जलके साथ आये नाइट्रोजन आदि द्रव्योंका संयोग करके पत्ते इतरजातीय समासोंको भी उत्पन्न करते हैं। ये द्रव्य पत्र, मूल, कन्द, फल आदिमें संचित हो जाते हैं। समासोंके निर्माणकी यह क्रिया, जैसा कि ऊपर कहा है, सूर्यके प्रकाशके सान्निध्यमें होती है। अतः इस क्रियासे उत्पन्न द्रव्योंमें अन्तर्हित 'शक्ति' का उद्गमस्थान सूर्य है। सूर्य प्रकाश द्वारा द्रव्योंकी उत्पत्तिके इस कार्यको 'रश्मिकर्म'[३] कहते हैं। रश्मिकर्मसे उत्पन्न हुए समास शरीरमें दग्ध (ओषजनके समागममें आ दाहको प्राप्त) होकर पुनः अपने मूल स्वरूप अर्थात् कार्बन-डाई-ऑक्साइड और जलके रूपमें परिणत हो प्रकृतिनियत मलमार्गसे बाहर निकल जाते हैं। नाइट्रोजनयुक्त पदार्थोंकी भी यही गति होती है। बाहर निकलने पर ये पुनः उद्भिदोंमें पहुंचते और उन्हीं समासोंके रूपमें परिणत होते हैं। इस प्रकार यह सतत चलता रहता है।

मांसभक्षी प्राणियोंको मांसकी अन्ततः देखें तो वनस्पति जीवी प्राणियोंसे ही उपलब्ध होता है। वन्य प्राणियोंमें तो यह प्रत्यक्ष ही है। जलचर जन्तुओंका भी निरीक्षण करें तो बड़े-बड़े जलचर अपनेसे छोटे-छोटे जलचरों पर निर्वाह करते हैं और सबसे छोटे जलचर अन्ततः एक कोषीय उद्भिदों पर निर्वाह करते हैं, जिनमें पूर्व लिखित प्रकारसे सूर्यकी सहायतासे क्लोरोफील उक्त समासों का निर्माण करता है। आशय यह है कि मांसभक्षी प्राणियोंकी शक्तिका भी अन्तिम आधार सूर्य ही है।

आहारका प्रथम प्रयोजन—शक्त्युत्पादन—

ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि मांस-संस्थान, नाडी-संस्थान, श्वास-संस्थान आदि विभिन्न संस्थानोंके अवयवोंकी क्रियाओंमें यान्त्रिक कार्य, विद्युत्, ताप आदिके रूपमें जो शक्तिका प्रादुर्भाव होता है, उसका कारण आहार द्रव्योंका ओषजनमें संयोग होकर दहन है। दूसरे शब्दोंमें, आहारका प्रथम प्रयोजन है—शक्तिका उत्पादन।

आहारके इस तथा अन्य प्रयोजनोंको समझानेके लिए शरीरकी स्टीम-एञ्जिनसे उपमा प्रायः दी जाती है। एञ्जिनसे कोयलेका वायुमण्डलगत ओषजनसे संसर्ग होता है। परिणामतया उसका दहन (ज्वलन) होता है। दहन एक रासायनिक क्रिया है। इसके परिणामस्वरूप रासायनिक शक्ति

१—Pigment—पिगमेण्ट।

२—Chlorophyl. प्राचीनोंने इसे 'अवि देवता' कहा है। देखिये—

अविर्वै नाम देवता ऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः॥

अथर्व० का० १०, सू० ८, मं० ३१।

३—Photosynthesis—फोटोसिन्थेसिस (Photo-प्रकाश)। आयुर्वेदमें पित्त और कफसे होनेवाली विभिन्न रासायनिक क्रियाओंके लिए क्रमशः 'अग्निकर्म' और 'उदककर्म' शब्द आये हैं। उन्हीं की अनुकृतिमें 'रश्मिकर्म' शब्द रचा है।

प्रकट होती है। वह भी तापके रूपमें परिणत हो जाती है। ताप स्वयं एक शक्ति है। इसके प्रभावसे जल वाष्प रूप होता है। इस वाष्पको बेलनों (सिलिण्डरों) में सञ्चित किया जाता है। इन पात्रोंमें रहकर यह वाष्प उन दण्डोंपर दबाव डालता है जिन्हें हम चलते एञ्जिनके दोनों ओर वेगसे घूमते हुए सदा देखते हैं। इन दण्डोंकी क्रमशः आगे, नीचे, पीछे और ऊपरकी ओर गतिके कारण इनसे सम्बद्ध पहिये भी घूमते हैं। इस प्रकार एञ्जिनमें गति आती है और वह अपने साथ संपूर्ण गाड़ीका भार वहन करता है। गाड़ीका इस प्रकार चलना विज्ञानकी संज्ञामें 'यान्त्रिक कार्य' या केवल 'कार्य' कहाता है। इस प्रकार ताप ही 'कार्य' के रूपमें परिवर्तित होता है।

प्राणि-शरीरमें भी विभिन्न संस्थानोंके कर्म विज्ञानके शब्दोंमें विभिन्न शक्तियोंके आविर्भाव ही हैं। इनका मूल आहार-द्रव्योंका दहन है।

शक्त्युत्पादक द्रव्य—

सो, आहारका प्रथम और प्रमुख प्रयोजन है—शक्त्युत्पादन। यह प्रयोजन मुख्यतः जिन द्रव्योंसे पूर्ण होता है, वे हैं—कार्बोहाइड्रेट। इनका प्रायः एकमात्र कार्य शक्त्युत्पादन है। यही प्रयोजन अन्य जिन द्रव्यों द्वारा किया जाता है, वे हैं—स्नेह। स्नेहोंके आगे लिखे अन्य भी कर्म होते हैं। इन दो द्रव्योंके अतिरिक्त, आहारका आगे कहा जाने वाला द्वितीय प्रयोजन, क्षतिपूर्ति और पोषण, जिन प्रोटीनों द्वारा सम्पन्न होता है वे भी अपना मुख्य प्रयोजन पूर्ण करनेके पश्चात् दहन और शक्त्युत्पादनके कार्यमें ही खपाई जाती हैं।

आहारका द्वितीय प्रयोजन—पोषण—

एञ्जिनके जीवनका अनुसरण करें तो विदित होगा कि जबतक वह अयोग्य सिद्ध होकर फेंक नहीं दिया जाता तबतक अपने नैत्यिक कार्यके लिए उसे आवश्यकता इन्धन द्रव्योंकी ही होती है। तथापि यह उसकी एकमात्र आवश्यकता नहीं है। निश्चित ही प्रतिदिनके घर्षणसे उसके कलपुर्जे घिसते और टूटते-फूटते रहते हैं। समय-समयपर पुराने और घिसे हुए पुर्जोंके स्थानपर नये पुर्जे लगाने पड़ते हैं। अविरत घर्षणके कारण शरीरमें भी असंख्य कोष सदा नष्ट होते रहते हैं। वैसे भी प्रत्येक प्रकारके कोषोंकी अमुक-अमुक निश्चित आयु होती है। उसके समाप्त होनेपर उनकी मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार नष्ट हुए कोषोंकी स्थानपूर्तिके लिए आहारमें ऐसे द्रव्य होना आवश्यक है जो नित्य नये कोषोंकी रचना कर सकें। जीवनके प्रारम्भमें शैशवसे कोई पचीस वर्ष तक जब उद्दाम वेगसे नयेपर नये कोषोंकी उत्पत्ति होकर शरीरकी वृद्धि हो रही होती है, इस जातिके आहार-द्रव्योंकी आवश्यकता सविशेष होती है। इन द्रव्योंका एक और भी कार्य होता है—विभिन्न स्राव उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियोंको अपने-अपने स्रावके निर्माणके लिए मूल द्रव्य प्रदान करना।

क्षतिपूर्ति और पोषणका कार्य जिन द्रव्योंसे होता है वे ये हैं—प्रोटीन, निरिन्द्रिय लवण या खनिज, और जल।

यह प्रत्यक्षसिद्ध है कि एञ्जिनमें मुख्य आवश्यकता इन्धनकी होती है। शरीरमें भी प्रधानतः इन्धनात्मक द्रव्योंकी ही आवश्यकता होती है।

सेल्युलोज[1]—

यह कार्बोहाइड्रेटका ही एक भेद है। इसमें सरगुण—अन्त्रोंकी अनुलोमनी गतिको उद्दीपित

१—Cellulose.

करनेकी प्रवृत्ति—विशेष है। अतः इसका निर्देश शेष कार्बोहाइड्रेटोंसे पृथक् ही किया जाता है।

जीवनीय—

दहन (और उसके द्वारा विभिन्न शक्तियोंका आविर्भाव) तथा पोषण करनेवाले उक्त द्रव्य यद्यपि शरीरकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं, तथापि उन्हें ही शुद्ध रूपमें लिया जाय—अर्थात् प्रकृतिने हमारे उपयोगके लिए जो भोज्य द्रव्य उत्पन्न किये हैं, उन्हें विविध संस्कारों (राँधने तथा उसके पूर्वकी नाना प्रक्रियाओं) से संस्कृत करके सेवन किया जाय तो शरीर विभिन्न रोगोंका ग्रास होता है। परीक्षणसे विदित हुआ है कि संस्कारोंके कारण भोज्य-द्रव्योंमें अत्यल्प प्रमाणमें स्थित कुछ द्रव्य निकल जाते हैं, जो भोज्य द्रव्योंकी प्राकृत स्थितिमें उनमें विद्यमान होते हैं। रोगप्रतिबन्धक इन द्रव्योंको 'जीवनीय'[1] कहते हैं।

ताप या उष्मा—

आहारके मूल द्रव्यों तथा उनके प्रयोजनका संक्षेपमें निर्देश करके प्रत्येकके विषयमें कुछ विशेष ज्ञातव्यका उल्लेख अवसर प्राप्त है। ऊपर कह आये हैं कि प्राणि-शरीरको नित्य जीवनमें प्रथम और प्रधान आवश्यकता इन्धनात्मक द्रव्योंकी है। यह भी कहा जा चुका है कि इन द्रव्योंके दहनके परिणामस्वरूप जो रासायनिक शक्ति प्रादुर्भूत होती है, वह ताप[2], यान्त्रिक कार्य विद्युत् आदिके रूपमें परिणत हो जाती है। शक्तियोंका प्रादुर्भाव मांसधातुकी क्रियाओंके रूपमें विशेषतया लक्षित होता है। मांसधातुमें (जिसमें ऐच्छिक, अनैच्छिक दोनों प्रकारके मांससूत्रोंकी गणना है) रासानिक शक्ति मुख्यत्वेन 'कार्य' तथा ताप इन दो शक्तियोंके रूपमें तथा अंशतः विद्युत्के रूपमें परिवर्तित होती है। इस शक्तिका अधिकांश—कोई ७५ प्रतिशत भाग—ताप होता है। शेष २५ प्रतिशत ही 'कार्य' (चेष्टा) का रूप ग्रहण करता है। एञ्जिनमें भी रासायनिक शक्ति 'कार्य' और 'ताप' इन दो शक्तियोंमें परिणत होती है। एञ्जिन और शरीरमें इस विषयमें भिन्नता यह है कि, एञ्जिनमें कोई ९६ प्रतिशत शक्ति तापके रूपमें परिणत है, केवल ४ प्रतिशत शक्ति कार्यरूपमें परिणत होती है। इस प्रकार उसमें शक्तिका बड़ा अपव्यय होता है। परन्तु मनुष्यमें मांसधातुजनित 'कार्य' के समय २० से २८ प्रतिशत शक्ति कार्यके रूपमें प्रादुर्भूत होती है। इसके सिवाय, एञ्जिनमें यह ताप चिमनी या रेडिएटर[3] द्वारा बाहर कर दिया जाता है, जबकि शरीरमें इसका उपयोग शरीरके प्राकृत ताप—उष्मा—को स्थित रखनेमें होता है।

प्रसंगवश यह भी जान लेना चाहिए कि एञ्जिनमें इन्धनात्मक द्रव्यके जलनेसे जो अङ्गाराम्ल (कार्बन डाइ ऑक्साइड) निकलता है, वह चिमनी की राह बाहर कर दिया जाता है। शरीर धातुओंमें भी दहनके परिणाम स्वरूप उक्त वायु उत्पन्न होता है। इसका अनपेक्षित भाग श्वास-क्रिया द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है, तथापि इसका पर्याप्त अंश शरीरमें ही रहता है। यह अंश रस-रक्तमें रहता हुआ मस्तिष्कमें पहुँचकर श्वसन-संस्थानके केन्द्रको निरन्तर उद्दीपित करता हुआ उसे अपने कार्यमें संलग्न रखता है। रक्तानुधावन-संस्थानके केन्द्रको भी यह वायु कुछ

१—Vitamin (e) – वाइटेमिन या वाइटेमाइन।

२—Heat—हीट।

३—Radiator—मोटर-कारोंमें अनपेक्षित तापको वायुमण्डलमें बिखेर देकर, यन्त्रका ताप नियमित रखनेके लिए यह साधन होता है।

उद्दीपित करता है। अपने इस अनुग्रह के कारण ही शरीर में अङ्गाराम्ल ओषजन की अपेक्षया अधिक प्रमाण में रहता है। प्रसंगवश, शरीर द्वारा अङ्गाराम्ल के इस उपयोग का उल्लेख करके पुनः अपने प्रकृत विषयपर आते हैं।

देहोष्मा[1]

जैसा कि ऊपर कहा है, शरीरका कोई भी अवयव कोई भी कर्म करे, उसके कर्ममें तापकी उत्पत्ति अवश्यंभावी है। यह सत्य है कि, शरीरका अधिकांश ताप मांसधातुकी क्रियासे उत्पन्न होता है। मांसधातुसे उतर कर तापोत्पादक अवयव ग्रन्थियाँ हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि, ११ स्टोन[2] भारका कोई पुरुष, सारे दिन शय्यावश रहे और भोजन न ले तो वह श्वसन, महास्रोतस्‌की प्राकृत गति आदि जीवनकी अनिवार्य चेष्टाओंमें १७०० इकाई[3] ताप उत्पन्न करता है। इन १७०० इकाइयोंमें १२०० मांसधातु द्वारा तथा ५०० ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है। पुरुष पर्याप्त श्रमपरायण रहे तथा अपना अभ्यस्त दैनिक भोजन ले तो तापोत्पादनका उक्त अनुपात बदल जाता है। इनमें, ९० प्रतिशत ताप पेशियों द्वारा तथा शेष १० प्रतिशत ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किया जाता है[4]।

जो हो, कर्मजन्य यह ताप शरीरके प्राकृत ऊष्माको स्थिर और सम रखनेमें प्रयुक्त होता है। कहा जाता है कि स्वस्थ मनुष्य का ऊष्मा सदा ९८° से ९९° फा० (३६,५° श० से ३७·५ श०) के बीच रहता है[5]। मांसपेशियों तथा ग्रन्थियोंकी क्रिया द्वारा उत्पन्न इस तापका कुछ भाग देहोष्माको सम अवस्थासे नीचे न जाने देनेमें खपता है, शेषांश विभिन्न मार्गोंसे बाहर कर दिया जाता है। इन मार्गों में प्रधान त्वचा है। नष्ट होने वाले तापका ८० या अधिक प्रतिशत भाग त्वचा द्वारा—स्वेदको उड़ानेमें किंवा आसपासके वातावरणमें विकीर्ण कर दिये जानेके रूप में—बाहर किया जाता है। फुफ्फुसोंसे उच्छ्वस्त वायु बाहरके वायुकी अपेक्षया कुछ उष्ण होता है। १७ प्रतिशत ताप इस वायु को उष्ण करने में प्रयुक्त होता है। शेष ३ प्रतिशत ताप मल और मूत्र की उष्णता के रूप में बाहर निकलता है।

कुत्तों में श्वास क्रिया द्वारा उष्णता को विकीर्ण करने की विशेष व्यवस्था प्रकृति ने की है। गरमीके दिनोंमें या श्रमसे शरीरमें उष्णत्व बढ़ जाने पर वे जिह्वा बाहर निकाल कर हाँफते हैं।

१—Temperature—टेम्परेचर ; या Body Temperature—बॉडी-टेम्परेचर। 'अत्यर्थमूष्मणस्तीव्र भाव :—च० नि० १।२४, पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता—सु० सू० १५।६' इत्यादि स्थलों में ऊष्मा शब्द टेम्परेचर के लिए प्रयुक्त है। अतः ताप, तापमान, तापांश आदि नवीन संज्ञाएँ नहीं रखी हैं।

२—Stone—यह १४ पाउण्ड के बराबर होता है।

३—Calory—केलोरी, यह विषय आगे देखिये।

४—आयुर्वेद में अग्नि तथा ऊष्मा का स्थान ग्रहणी या पच्य-मानाशय को कहा है। ज्वरर निदान के प्रकरणों में यह सिद्धान्त विशेष तया लक्षित है।

५—इस वाक्य में 'कहा जाता है' इस लिए कहा है कि पाश्चात्य द्रष्टाओं द्वारा प्रत्यक्षीकृत यह सम ऊष्मा प्रायिक है—विशेषतः भारत में। यहाँ ९६ फा० ऊष्मा वाले पुरुष प्रायः देखे जाते हैं। प्रकृति भेद से अन्य वस्तुओं के समान प्रति-पुरुषका ऊष्मा भी भिन्न होता है (देखिये-आयुर्वेदीय क्रिया-शरीर पृ. ९०)। देश और काल के भेद से प्रत्येक पुरुष में भी ऊष्मा में यत्किंचित् न्यूनाधिकता होती है।

श्वासकी दरमें वृद्धिका ही नाम हांफ है; इस वृद्धिसे अनपेक्षित उष्णता अधिक मात्रामें बाहर निकलती है, साथ ही जिह्वा पर स्थित जलबाष्पको उड़ानेके रूपमें भी उष्णताका उपयोग होता है। पुरुषों में यह कार्य त्वचाके अधीन है।

शीतकालमें शरीरका कम्प, दाँतोंका किटकिटाना, हाथ-पैर पछाड़ना या हाथ रगड़ना-इत्यादि क्रियाएँ हमारी सुप्रत्यक्ष हैं। बाह्य वातावरणके संपर्कसे शरीरकी ऊष्मा मन्द न हो जाय इस हेतु मांसपेशियोंको विशेष कार्यपरायण करके अधिक प्रमाणमें ताप उत्पन्न करना ही—इन क्रियाओंमें प्रकृतिको अभिप्रेत होता है। मस्तिष्कमें देहोष्माको नियन्त्रित रखनेवाला एक केन्द्र है, जो उक्त प्रकारसे तथा शरीरमें—विशेषतः त्वचागत रक्तवाहिनियों और स्वेदग्रन्थियोंमें—यथोचित परिवर्तन करके तापको अधिक उत्पन्न करता या उसका विकिरण करता है। इस विषयका विस्तार आगे यथाप्रकरण करेंगे।

उष्णरक्त और शीतरक्त प्राणी—

शरीरोष्माका उल्लिखित नियमन सभी प्राणियोंमें होता हो सो बात नहीं। वस्तुस्थिति यह है कि प्राणियोंके दो वर्ग हैं—उष्णरक्त तथा शीतरक्त। मानव, पक्षी आदि सस्तन[1] प्राणियोंमें ही यह विशेषता होती है कि बाहरके वातावरणका तापांश कितना भी हो, उनके शरीरान्तर्गत ऊष्मा नियतप्राय होता है। ऐसे प्राणियोंको 'उष्णरक्त'[2] कहते हैं। इसके विपरीत, मछली, सरीसृप[3] वर्गके प्राणी आदिमें देहोष्माके नियमनकी व्यवस्था न होनेसे यह दशा होती है कि उनका शरीरोष्मा उतना ही होता है, जितना बाह्य वायुमण्डलका ऊष्मा—वह स्थिर नहीं रहता। ऐसे प्राणियोंको 'शीतरक्त'[4] कहते हैं। कोषमात्रका यह स्वभाव है कि अमुक ऊष्मा ही उसके लिए अनुकूलतम[5] होता है। उससे न्यून या अधिक ऊष्मामें उनकी क्रिया मन्द पड़ जाती है। अमुक मर्यादा बीतने पर तो वे मर ही जाते हैं। इसी कारण देखा जाता है कि शीत ऋतुमें कई सरीसृप या मछलियाँ निर्जीव सी हो जाती हैं—तात्कालिक वातावरणके कारण न्यून हुए शरीरोष्मामें उनके कोष कार्यक्षम नहीं रहते।

उष्ण ऋतु या उष्ण देशमें उष्णरक्त प्राणियोंमें भी कुछ ग्लानि (सुस्ती) पायी जाती है। उसका कारण यह है कि बाह्य वातावरण उष्ण होनेसे उष्णता-नियामक केन्द्र शरीरगत उष्माको पूर्णतया वीकर्ण करनेमें सफल नहीं होता है। अतः दोहोष्मा उस काल अनुकूलतम न होनेसे कोष तथा तदुत्पन्न शरीर उतनी स्फूर्तिसे कार्य नहीं कर सकते। आयुर्वेदोक्त शीत द्रव्य कदाचित् अपने स्वभावसे शरीरमें तापोत्पत्तिकी क्रियाको कुछ शिथिल कर देते हों।

दैनिक परिश्रममे उत्पन्न ऊष्माके कारण मानवोंमें देहोष्मा सायं ४ से ५ के आसपास ३७.५ श० तथा प्रभातमें ३ बजेके आसपास रात्रिकालिक निष्क्रियतावश ३६.८ श० होता है। रातको कार्य करने और दिनमें सोनेवालोंमें यह क्रम विपरीत होता है। व्यायामसे एकाध अंशकी वृद्धि होती है।

१—Mammals—मैमल्स।

२—Warm blooded—वार्म-ब्लडेड।

३—Reptile—रेप्टाइल।

४—Cold-blooded—कोल्ड-ब्लडेड।

५—Optimum—ऑप्टिमम।

विभिन्न अवयवोंमें ऊष्मा भिन्न होता है। इसका कारण अवयवोंकी चेष्टामें न्यूनाधिकता अथवा बाह्य वायुमण्डलका न्यूनाधिक सम्पर्क है। ऊपर लिखित सम देहोष्मा त्वचा (बगल) का है। मुखमें इससे एकाध अंश अधिक, और उससे गुदामें एकाध अंश अधिक ऊष्मा होता है। आमाशयका ऊष्मा १००° फा० होता है। यकृत्का ऊष्मा सबसे अधिक होता है।

कई द्रव्य त्वचाकी रक्तवाहिनियोंको विस्फारित करके तथा स्वेद ग्रन्थियोंके उद्दीपन द्वारा अति स्वेदन करके शरीरके तापको न्यून कर देते हैं। बहुत बार ज्वरमें स्वेदल द्रव्योंके सात्म्य न होनेसे यह स्थिति होती है। शिरःशूल, तीव्र ज्वर आदिमें एस्पिरीन, उससे बने द्रव्य या तत्सम ऐलौपैथिक या आयुर्वेदिक योग देते हुए यह स्थिति दृष्टिगत रखनी चाहिये। मद्यमें त्वचा तथा स्वेद ग्रन्थियों में उक्त परिवर्तन लानेका गुण विशेष है। इसी कारण कभी-कभी मद्यपायी पुरुष अनावृत दशामें मर जाते हैं। मद्यजनित मूर्च्छाके एक रोगीका देहोष्मा ७५° फा० तक पहुंच गया था, तथापि वह जीवित रहा। परन्तु यह एक अपवाद ही था।

शिशुओंमें ऊष्माका नियामक केन्द्र यथेष्ट पुष्ट नहीं हुआ होता। इसीसे उन्हें अच्छी तरह लपेट कर रखना पड़ता है। अवधिसे पूर्व प्रसूत [1] शिशुको तो इसी कारण 'इन्क्युबेटर' [2] में रखा जाता है।

शक्ति की आवश्यक मात्रा—

अब तक जो कुछ कहा उससे स्पष्ट है कि प्राणिशरीरको आहारकी आवश्यकता दो कारणोंसे होती है—

१. रासायनिक शक्तिका आविर्भाव और उसका ताप, विद्युत्, कार्य आदि शक्तियोंमें रूपान्तर करनेके लिए। इन शक्तियोंमें प्रथम रासायनिक शक्ति है, जो कार्बन, उदजन तथा ओषजनके संसर्गसे होने वाली रासायनिक क्रिया द्वारा आविर्भूत होती है। इन तीनों द्रव्योंके संसर्ग किंवा दहनके परिणाम स्वरूप दो द्रव्य उत्पन्न होते हैं—अङ्गाराम्ल वायु तथा जल। अङ्गाराम्ल वायु अङ्गार (कार्बन) और ओषजन दो द्रव्योंके समवायसे बना समास है, तथा जल उदजन और ओषजनके मेलसे बना है। अङ्गाराम्ल (कार्बन डाइ ऑक्साइड) तो श्वास क्रियामें बाहर निकल जाती है तथा जल, मूत्र, स्वेद और उच्छ्वास द्वारा बाहर निकलता है। नाना अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके कोष निज-निज कार्य करते हुए इस प्रकार अपने प्रोटोप्लाज्ममें स्थित कार्बन आदि तीनों द्रव्योंका सतत उपयोग किया करते हैं। परिणामतया, उन्हें इन द्रव्योंकी निरन्तर आवश्यकता बनी रहती है। निरन्तर इसलिए कि प्रोटोप्लाज्ममें इन द्रव्योंका संग्रह नहिवत् होता है। ये द्रव्य, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, प्राणिशरीरको आहार-द्रव्योंसे उपलब्ध होते हैं। आहार-द्रव्योंमें ये कार्बन आदि द्रव्य तीन समासोंके रूपोंमें रहते हैं—कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा (नाइट्रोजन-रहित हुई) प्रोटीन।

२. शरीरका पोषण तथा क्षतिपूर्ति।

३. उल्लिखित दो प्रयोजनोंके अतिरिक्त आहारका तृतीय प्रयोजन भी है और वह है—संग्रह। यह संग्रह प्रधानतया स्नेह (मेद) के रूपमें होता है। स्नेहोंका तो मेदके रूपमें संग्रह होता ही है, कार्बोहाइड्रेटों और नाइट्रोजन रहित प्रोटीनोंका भी परिणमन स्नेहोंके रूपमें होकर उनका संग्रह होता है।

आहारके त्रिविध प्रयोजनोंमें प्रथम दो शरीरको नित्य आवश्यकताको सूचित करते हैं। तृतीय

१—Prematurely born—प्रीमेच्योर्ली बॉर्न।

२—Incubator.

प्रयोजन केवल अधिक मात्रामें लिये गये आहारका शरीर किस रूपमें उपयोग करता है, यही सूचित करता है। यह संग्रह, रोगादिके कारण अनशन करना पड़े तो, शरीरमें नित्य आवश्यक शक्तियोंके आविर्भावके काम आता है।

कैलोरी—

प्रथम दो प्रयोजनोंको लक्ष्यमें रखते हुए शरीरको आहारकी प्रतिदिन आवश्यकता कितने प्रमाणमें है इस बातका विचार करनेके लिए तापकी इकाईको, जिसे 'कैलोरी' [1] कहते हैं, पसन्द किया है। विभिन्न अवस्थाओंमें शरीरको कितनी केलोरी तापकी आवश्यकता है इसका निर्णय विभिन्न परीक्षणों द्वारा तज्ज्ञोंने किया है। केलोरियोंकी संख्यासे दोनों बातोंका ज्ञान होता है कि, विभिन्न शक्तियोंके आविर्भावके लिए तथा क्षतिपूर्ति और पोषणके लिए कौन आहार-द्रव्य किस मात्रामें लिया जाना उचित है।

शरीरमें शक्तिका आविर्भाव यद्यपि भिन्न-भिन्न रूपोंमें होता है तथापि अन्तको तो उनका मूल एक ही है। शक्तियोंके अनादिनिधनत्वके प्रकरणमें हम देख आये हैं कि, वही शक्ति नये-नये रूप धारण किया करती है। कोई शक्ति न नयी उत्पन्न होती है न उसका नाश होता है। प्राणि-शरीरमें प्रकट होनेवाली समस्त शक्तियाँ रासायनिक शक्तिके परिणाम हैं। यह रासायनिक शक्ति भी ज्वलन-शील द्रव्योंके ओषजनके साथ संसर्गसे अभिव्यक्त होती हैं। ऐसी स्थितिमें, जब कि सभी शक्तियाँ स्वरूपतः पृथक् होती हुई भी सूक्ष्म दृष्टिसे आलोचना करनेसे एक ही हैं, गणनाकी सुविधाके लिए किसी भी एक शक्तिको इकाईके रूपमें चुन लिया जाय तो कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। ताप या ऊष्माका माप लेना सुगम होनेसे इसीकी इकाईको तज्ज्ञोंने शक्तिकी आवश्यक मात्राके ज्ञान और निर्देशके लिए स्वीकार किया है।

केवल शक्तियोंका आविर्भाव ही शरीरके लिए आवश्यक होता तो कहा जा सकता था कि कार्बो-हाइड्रेट, स्नेह या प्रोटीन किसी भी द्रव्यका सेवन करके तत्-तत् प्रमाणमें कैलोरी प्राप्त की जा सकती है। परन्तु अकेले कार्बोहाइड्रेटोंका सेवन किया जाय तो शरीर स्नेहों और प्रोटीनोंके लाभसे वञ्चित होकर रोगपीड़ित हो जायगा। यही बात स्नेहोंके विषयमें है। प्रोटीनोंके विषयमें इसके अतिरिक्त और भी विप्रतिपत्ति है कि, क्षतिपूर्ति और पोषणके लिए उनके नाइट्रोजनका उपयोग कर चुकनेके पश्चात् अनपेक्षित नाइट्रोजनको शरीरसे बाहर करनेका काम यकृत् और वृक्कको करना पड़े, जिससे उनके क्षण होनेकी आशङ्का रहे। इसके सिवाय, प्रोटीनें महँगी भी हैं। इस स्थितिका विचार करके तज्ज्ञोंने निर्णय किया है कि शक्तियोंके आविर्भावके लिए कुल इतनी कैलोरी ताप इस-इस धंधेके करनेवालेके लिए आवश्यक है। परन्तु यह ताप प्राप्त करनेके लिए इतने कार्बोहाइड्रेट, इतने स्नेह और इतनी प्रोटीन प्रति दिन लेनी चाहिए। तीनों द्रव्योंका पृथक् प्रमाण निर्दिष्ट करते हुए यह दृष्टि रखी गयी है कि शरीरमें प्रोटीन और स्नेह अपना विशिष्ट कर्म कर सकें इस हेतु उनका जितना प्रमाण अपेक्षित है वह जता दिया गया है। शेष रहे अंशका उपयोग दहन और शक्तियोंके आविर्भावमें हो जाता है।

जितने तापसे एक किलोग्राम[2] जलका तापमान एक अंश-शतांश बढ़े उतने तापको एक

१—Calorie या Calory. [Calor—कैलोर=ताप]

२—Kilogram.

कैलोरी कहते हैं[1]। द्रव्योंकी कैलोरीका माप एक विशेष यन्त्रसे होता है, जिसे 'बॉम्ब कैलोरीमीटर'[2] कहते हैं। जिस द्रव्यकी कैलोरी जाँचनी होती है, उसे तोलकर प्लेटीनमके तारपर रखकर ओषजन-युक्त एक धातुमय पेटीमें रख दिया जाता है। इस पेटीको बम-जैसी होनेसे 'बॉम्ब' कहते हैं, जिससे यन्त्रका उक्त नाम रखा गया है। यह पेटी दृढ़ बन्द करके जलमें दोलावत् लटका दी जाती है। तारमें विद्युत्-संचार करके द्रव्यको पूर्णतया जलाया जाता है। जलनेपर ताप, जल और अङ्गाराम्ल वायु प्रादुर्भूत होते हैं। प्रोटीनकी परीक्षा की गयी हो तो इन द्रव्योंके सिवाय नत्रजन, गन्धक तथा प्रस्फुरकके ओषजिद्[3] भी बनते हैं। तापके संसर्गसे जल तथा यन्त्र गर्म होते हैं। यन्त्रके तापमानकी वृद्धिको लक्ष्यमें रखते हुए गणना की जाती है कि कितने जलके तापांशमें कितनी वृद्धि, किस द्रव्यसे, कितनी हुई? पश्चात् कैलोरीके रूपमें गणना कर ली जाती है। इस गणनासे ज्ञात हुआ है कि—

१ ग्राम कार्बोहाइड्रेटसे ४.१ कैलोरी ताप उत्पन्न होता है; १ ग्राम स्नेहसे ९.३ कैलोरी; १ ग्राम प्रोटीनसे कैलोरी मापक यन्त्रमें ५.६ कैलोरी, परन्तु शरीरमें केवल ४.३ कैलोरी ताप उत्पन्न होता है। प्रोटीनोंके दहनसे उत्पन्न तापांशमें बाहर और शरीरमें भिन्नताका कारण यह है कि यन्त्रमें तो प्रोटीनके नत्रजन, गन्धक और प्रस्फुरकका भी दहन हो जाता है, परन्तु शरीर इन मूल-द्रव्योंका आवश्यकतानुसार क्षतिपूर्तिके लिए उपयोग करनेके अनन्तर इनके शेषांशको यूरिआ[4] तथा एमोनिया[5]के रूपमें परिणत कर बाहर निकाल देता है। अतः इनका दहन होकर केवल तदन्तर्गत कार्बन, उदजन और ओषजनका दहन होता है। परिणामतया, बाहरकी अपेक्षया न्यून कैलोरी ताप उत्पन्न होता है।

मानवों तथा अन्य प्राणियोंमें विश्राम, तत्-तत् प्रमाणमें श्रम आदि अवस्थाओंमें कितनी कैलोरी ताप आवश्यक है तथा किस द्रव्यके सेवनसे कितनी कैलोरी ताप उत्पन्न होता है, इसकी गणनाके लिए भिन्न प्रकारके कैलोरी-मापक होते हैं। इनमें एक धातुमय कोठरी-सी होती है, जिसमें जलवाही नलिकाएँ होती हैं, परीक्षापात्र व्यक्तिको इस कोठीमें रखकर तथा अमुक आहार-द्रव्य देकर देखते हैं कि विश्राम, विभिन्न प्रकारके श्रम आदि स्थितियोंमें उत्पन्न हुए तापसे कितना जल, कितने अंश गर्म हुआ। इससे गणना कर ली जाती है कि किस अवस्थामें विभिन्न शक्तियोंके प्रादुर्भावके लिए कितनी कैलोरी ताप अपेक्षित है—अथवा किन आहार-द्रव्योंकी अपेक्षा है।

धातुपाक[6]—

ताप, कार्य आदिके रूपमें आहार-द्रव्योंका रूपान्तर होना तो प्रत्यक्ष ही शक्तियोंका प्रादुर्भाव है,

---

१—यह बड़ी कैलोरी (Large Calory—लार्ज कैलोरी) है। इससे भिन्न एक छोटी कैलोरी भी है। एक ग्राम जलका तापांश एक अंश शतांश (Centigrade सेण्टीग्रेड) बढ़ानेमें जितने तापका व्यय हो उसे छोटी कैलोरी (Small calory स्मॉल कैलोरी) कहते हैं, एक बड़ी कैलोरी लगभग १ हजार छोटी कैलोरी जितनी होती है।

एक किलोग्राम=२ पाउण्ड, ३ आउंस, २ ड्राम। (लगभग २.२ पाउण्ड); अथवा=१००० ग्राम। १ ग्राम=लगभग १५ ग्रेन। १ ग्रेन=½ गुञ्जा (रत्ती)।

२—Bomb Calorimeter. ३—Oxide ऑक्साइड।

४—Urea. ५—Ammonia

६—Metabolism—मेटाबॉलिज्म [Metabole (ग्रीक)—मेटाबेल=Change—चेञ्ज,—परिवर्तन]

परन्तु इन द्रव्योंका मेदके रूपमें संचित होना, उनसे क्षतिपूर्तिके लिए नवीन द्रव्य उत्पन्न होना किंवा लवणाम्ल[1] आदि बहिःस्रावों[2] या अन्तःस्रावों[3] की उत्पत्ति भी शक्तियोंका आविर्भाव ही है। दोनोंमें भेद यह है कि, प्रथम प्रकारके प्रादुर्भावमें शक्तियाँ वर्तमानमें प्रत्यक्ष होती हैं, जबकि द्वितीय प्रकारमें शक्तियाँ वर्तमानमें प्रत्यक्ष नहीं हैं, किन्तु भविष्यमें उनका उपयोग संभावित होनेसे उन्हें संचित शक्ति[4] कहते हैं। यथा, आमाशयकी अमुक ग्रन्थियों द्वारा रसधातुमेंसे उत्पन्न किये गये लवणाम्लको पुनः रसधातुमें प्रविष्ट किया जाय तो ऊष्माके रूपमें शक्तिका प्रादुर्भाव होना संभव है। अथवा संचित मेद या प्रोटीन यदि ओषजनके समागममें आवें तो उनका दहन होकर ताप-कार्य आदि शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो सकता है।

उल्लिखित प्रकारसे शरीरमें ताप, कार्य आदिके रूपमें किंवा नये द्रव्योंकी उत्पत्तिके रूपमें शक्तियोंका आविर्भाव निरन्तर होता रहता है। इस क्रियामें अङ्गाराम्ल, जल, यूरिआ आदि मलोंकी उत्पत्ति भी अवश्यंभावी है। आहार द्रव्योंके जठराग्नि द्वारा पचन, इस पचनके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होकर धातुओंमें पहुंचे हुए द्रव्योंका कोषों द्वारा उपयोग करके अपने-अपने प्रकृति-नियत कर्मोंका संपादन एवं इस क्रियामें विभिन्न मलोंकी उत्पत्ति—इन सब क्रियाओंका मिलित नाम 'धातुपाक[5]' है। अन्य शब्दोंमें कहना हो तो, चैतन्यधारियोंके अचेतनोंसे विशिष्ट जिन धर्मों—क्षोभ्यता, पुष्टि, प्रजनन, आकुञ्चन आदि-का उल्लेख सप्तम अध्यायमें किया गया है, वे सब मिलकर धातुपाक कहाते हैं[6]। ये क्रियाएं पक्व आहार-द्रव्योंका उपयोग करनेके परिणाम-स्वरूप ही विभिन्न कोषों द्वारा की जाती हैं[7]।

१—Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड; सूत्र—Hcl. (एच सी-एल)।

२—External secretion—एक्सटर्नल सिक्रीशन।

३—Int rnal secretion—इण्टर्नल सिक्रीशन; या Hormone—हॉर्मोन।

४—Potential energy—पोटेन्शल एनर्जी।

५—देखिए—Metabolism is the name given to the energy transformation which occur in biological systems. The ability to effect such transformations distinguishes living cells from inanimate substances, gives to the former their piculiar properties of irritability, growth and reproduction, and makes possible the processes of conduction, contraction and secretion which characterize various specialized types of cells.

Howell's Text Book of Physiology (1946) P. 1084.

६—देखिये—आयुर्वेदीय क्रिया शरीर, पृ० १५४:

७—साशन और अनशन द्रव्य—इस वर्णनसे स्पष्ट है कि चेतन तथा अचेतन द्रव्योंमें मुख्य भेद आहार-द्रव्योंका उपयोग और अनुपयोग है। प्राचीनोंने इसी भेदके प्रदर्शनार्थ द्रव्योंके इन दो भेदोंका नाम 'साशन' और 'अनशन' रखा है। (अशन=भोजन)। देखिये, प्रसिद्ध पुरुष सूक्तका चौथा मन्त्र—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत् पुरुषःपादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनाऽनशने अभि॥

प्राकृत और वैकृत धातुपाक—स्मरण रहे, यहाँ धातुपाक शब्दसे जिस धातुपाकका निर्देश है वह 'धातुओंमें होनेवाला रसधातुका—रसधात्वन्तर्गत विभिन्न द्रव्योंका—पाक अर्थात् तत्-तत् द्रव्यके

धातुपाकके भेद—

आहार-द्रव्योंका धातुओं द्वारा उपयोग दो प्रकारसे होता है—जठराग्नि द्वारा पाक होकर नवीन द्रव्योंके निर्माणके रूपमें तथा इन द्रव्योंका उपयोग करके मलोंकी उत्पत्तिके रूपमें। नवीन द्रव्यों-की उत्पत्तिको प्रसादपाक[1] तथा इन द्रव्योंका विघटन (तोड़-फोड़) करके उनके उपयोग और मलोंकी उत्पत्तिको मलपाक[2] कहते हैं। प्रसादपाक और मलपाक दोनोंका मिलित नाम धातुपाक है।

न्यूनतम धातुपाक—

पुरुषका जीवन जितना-जितना श्रमप्रधान हो उतना-उतना उसमें शक्तियोंका प्रादुर्भाव अधिक होता है—अन्य शब्दोंमें उनमें धातुपाकका प्रमाण उतना ही अधिक होता है—आहार द्रव्योंकी अपेक्षित मात्रा भी उनमें उतनी ही अधिक होती है। इसके विपरीत पुरुष जितना ही न्यून श्रम करेगा, उसमें शक्तियोंका प्रादुर्भाव, धातुपाकका प्रमाण तथा आहार-द्रव्योंकी अपेक्षित मात्रा उसी हिसाबसे कम होगी। परन्तु, एक स्थिति ऐसी आयेगी कि जिसमें धातुपाकका प्रमाण जितना होगा-उससे न्यून न किया जा सकेगा। अपना आशय कुछ स्पष्ट कर दूँ। पुरुष पूर्ण शारीरिक और मानसिक विश्रान्ति ले रहा हो, यथासम्भव सुप्तावस्थामें हो ऐसी स्थितिमें भी जीवन धारणके लिए हृदय और रक्तवह संस्थान, श्वसन-संस्थान तथा पचन-संस्थान अपना-अपना कार्य करते ही रहते हैं, देहोष्माके संरक्षणके लिए तापोत्पत्ति भी चालू होती है—इन क्रियाओंमें होनेवाला धातुपाक किसी प्रकार घटाया नहीं जा सकता। इन कार्योंमें जो रासायनिक परिवर्तन होते हैं उन्हें न्यूनतम धातुपाक[3] कहते हैं। न्यूनतम धातुपाक कुछ कारणोंसे न्यूनाधिक हो सकता है।

धातुपाक के शामक-कोपक कारण—

श्रम—शारीरिक या मानसिक-धातुपाकका उद्दीपक कारण है, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। सामान्य शारीरिक व्यायामसे न्यूनतम धातुपाकके प्रमाणमें २५ से ६० प्रतिशत वृद्धि हो जाती है। तीव्र व्यायाममें तो १५०० प्रतिशत वृद्धि होना भी संभव है।

न्यूनतम धातुपाकमें मानसिक-श्रमके कारण उत्पन्न ताप कोई १० प्रतिशत होता है। अधिक मानसिक श्रमसे इसमें कोई कहने योग्य वृद्धि नहीं होती। कहा जाता है कि एक घण्टा उत्कट मानसिक श्रम करनेके लिए केवल आधी नमकीन मूँगफली खा लेना पर्याप्त है।

रूपमें रासायनिक रूपान्तर है। यद्यपि धातुपाक तथा मलपाक शब्द निदान-चिकित्साके प्रकरणमें अन्य अर्थमें व्यवहृत हैं, तथापि प्रस्तुत अर्थमें भी धातुपाक शब्दका व्यवहार शास्त्रशुद्ध है। पृ० १३१ पर धृत च० सू० २८।३ में आये 'अनवस्थित सर्वधातुपाकम्' विशेषणमें धातुपाक शब्द प्रस्तुत अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

सन्निपात ज्वरोंकी साध्यासाध्यताके अधिकारमें कहा है कि—इन ज्वरोंमें धातुपाक हो जाय तो मृत्यु तथा मलपाक हो तो रोगशान्ति होती है। इस अर्थमें व्यवहृत धातुपाक तथा मलपाकके लक्षणोंके लिए देखिये—माधव निदानकी मधुकोश व्याख्या; ज्वर निदान, ६६-७३ श्लोक।

धातुपाकके समान ही आगे कहा प्राकृत मलपाक भी निदान प्रकरणोक्त मलपाकसे भिन्न समझना चाहिए।

१—Anabolism एनाबोलिज्म। २—Katabolism कैटाबोलिज्म।

३—Basal metabolism—बेज़ल मेटाबोलिज्म। (बेज़ल=आधारभूत, जीवनाधारभूत)।

वातावरणको उष्णताका भी प्रभाव न्यूनतम धातुपाक पर पड़ता है। बाहर ठण्ढ होनेपर अधिक तापोत्पत्ति द्वारा उसका सामना करनेके लिए कम्प, दाँत किटकिटाना आदि क्रियाएँ स्वतः होने लगती हैं। बाहर गर्मी हो तो शरीरमें तापोत्पत्ति न्यून भी हो सकती है, अथवा उतनी ही रह सकती है।

बचपनमें प्रोटिनके संचय और शरीरकी पुष्टिके साथ तापोत्पत्तिकी अधिकता होना अनिवार्य है। वयकी वृद्धिके साथ तापके प्रादुर्भावकी दर भी न्यून होती जाती है। वयोवृद्धिके सा प्रोटीन की आवश्यक मात्रा भी पहले बढ़ती और शरीर पूर्ण पुष्ट हो चुकनेके अनन्तर न्यून होती जाती है। न्यूनतम धातुपाकका प्रमाण स्त्रियोंमें पुरुषोंकी अपेक्षया कम होता है।

जातिभेदसे धातुपाककी प्रक्रिया न्यूनाधिक होती है। यथा, एस्कीमो लोगोंमें श्वेत जनोंकी अपेक्षया धातुपाकका प्रमाण अधिक होता है।

कई प्राच्य पुरुषोंमें पाश्चात्योंकी अपेक्षया धातुपाककी दर न्यून होती है। सगर्भा तथा दूध पिलाने वाली स्त्रीमें स्वभावतः धातुपाकका प्रमाण विशेष होता है।

आहारका सेवन तापोत्पत्तिमें वृद्धि करनेवाला है। भोजनमें जो द्रव्य लिए गये हों उनसे जितना ताप उत्पन्न होना चाहिए उसको अपेक्षया अधिक ताप उत्पन्न होता है। यह इस बातका द्योतक है कि आहार मात्र तापोत्पत्तिकी क्रियाको उद्दीप्त करता है। प्रोटीनोंमें तापोत्पत्तिकी उद्दीपकताका यह गुण[1] विशेष होता है। आहार ग्रहण करनेके १२ से १८ घण्टे तक यह प्रभाव रहता है। यह समझा जाता है कि, धातुपाककी प्रक्रियामें उत्पन्न हुए कतिपय द्रव्योंमें भी कोषोंमें धातुपाकको और परिणामतया तापोत्पत्तिको उद्दीप्त करनेका विशेष गुण है।

आयुर्वेदमें कई द्रव्योंको उष्ण और कइयोंको शीत कहा जाता है। उनकी क्रियाके अनेक कारण—यथा रक्तानुधावन संस्थान, रक्त-निर्माणकी प्रक्रिया आदिकी स्वभाविक उद्दीपकता या शामकता आदि, हो सकते हैं। इन कारणोंमें एक यह भी हो सकता है कि, संभव है उष्ण कहे जानेवाले द्रव्य तापोत्पत्तिको उद्दीप्त करते हों तथा शीत द्रव्य इस क्रियाको मन्द करते हों। एवं, आयुर्वेदमें भोजनकी पच्यमानावस्थामें पित्तका प्रकोप होना बताया गया है। उसका अर्थ पाचक रसोंके अधिक क्षरणके अतिरिक्त जठर तथा धातुओंमें उष्णत्वकी वृद्धि भी हो सकती है[2]।

चुल्लिका ग्रन्थिको क्षीणता[3] में तथा अनशनसे धातुपाकके दरमें न्यूनता आती है। आगे अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके अधिकारमें हम देखेंगे कि, चुल्लिका ग्रन्थिका एक कार्य धातुपाककी दर (गति) को नियमित रखना है। परिणामतया, इसको क्षीणता होनेपर इसका कर्म भी न्यून हो जाता है, जिसका प्रभाव

१—Specific dynamic action—स्पेसिफिक डायनेमिक एक्सन; प्रोटीनोंके इस धर्मका कुछ विचार अगले अध्यायमें प्रोटीनोंके प्रकरणमें भी किया गया है।

२ विशेष विचार करनेके लिए उक्त विषयका एक उद्धरण नीचे देता हूँ—The specific dynamic action of foods raises the total heat production, when foods are eaten, it is found that the heat production rises more than can be accounted for on the basis of their food values. This is especially true of protein, less so for carbohydrate and fat. The effect lasts for 12 to 18 hours after the food is injested. It is believed that some products formed in the metabolic breakdown of foodstuffs directly stimulate the metabolism of cells and extra heat is evolved.

Fundamentals of physiology, by Elbert Tokay, 1947 P. 271.

३—Hypothyroidism हाइपोथॉयरायडिज्म।

शरीर और मनपर पड़ता है। इसके विपरीत इस ग्रन्थिकी अतिवृद्धि[1] से धातुपाकका वेग बढ़ जाता है।

चुल्लिका ग्रन्थिकी इस क्रियासे आयुर्वेदके एक नियमको समझनेमें सहायता मिल सकती है। आयुर्वेदका मन्तव्य है कि, प्रकृति-भेदसे शरीरके ऊष्मा, क्षुधा-पिपासा आदि न्यूनाधिक होते हैं[2]। सम्भव है पित्ताधिक्य और चुल्लिका-ग्रन्थिकी वृद्धि अथवा स्वाभाविक अति क्रियामें कुछ साम्य हो। तापोत्पत्ति जितनी अधिक होगी उतनी ही कार्बन और जलका क्षय होगा, उनकी पूर्तिके लिए आहार-द्रव्यकी अपेक्षाके रूपमें क्षुधा-पिपासाकी तीव्रता भी उतनी ही होगी। अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंकी क्रिया की प्रकृति-सिद्ध न्यूनाधिकताका प्रभाव भी धातुपाक, तापोत्पत्ति, क्षुधा और पिपासापर पड़ना संभव है। विद्विज्जन इस विषयका विचार कर निर्णय करें।

आधुनिक अन्वेषणोंसे विदित हुआ है कि चिन्ता तथा भय भी तापोत्पत्तिमें अभिवृद्धि करते हैं। आयुर्वेदके प्रकृति-भेदको नव्यमतानुसार समझनेमें यह एक और उपयोगी जानकारी है[3]।

धातुपाकके विभिन्न प्रमाण—

यद्यपि उल्लिखित कारणोंसे धातुपाकके न्यूनतम प्रमाणमें न्यूनाधिकता होना संभव है तथापि सामान्यतया प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्तिको एक अहोरात्रमें न्यूनतम १७०० कैलोरी तापकी आवश्यकता होती है। अर्थात्, वह किसी प्रकारका शारीरिक-मानसिक श्रम न करे, केवल पौढ़ा या सोया रहे तो हृदयगति, श्वसन आदि जीवनाधार क्रियाओंके लिए कमसे कम इतनी कैलोरी ताप आवश्यक होता है। अन्य शब्दोंमें कहना हो तो विभिन्न शिक्तियोंके प्रादुर्भावके लिए १७०० कैलोरी उत्पन्न कर सके इतने आहार-द्रव्य उसे ग्रहण करने चाहिएं। न्यूनतम कितनी कैलोरीकी अपेक्षा शरीरको रहती है, इस बातका निर्देश कभी-कभी शरीरके क्षेत्रफलको दृष्टिमें रखकर भी किया जाता है। कहा जाता है कि, सामान्य तरुण पुरुष प्रति घण्टे अपने शरीरके प्रति वर्ग मीटरके लिए कोई ४० कैलोरी ताप उत्पन्न करता है। शरीरका क्षेत्रफल भार और ऊँचाईके गुणनफलसे जाना जा सकता है।

परिक्षकोंने प्रयोग करके निश्चित किया है कि, भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाले स्त्री या परुषों-को कितनी कैलोरियोंकी आवश्यकता होती है। तदनुसार उन्होंने यह भी निश्चित किया है कि, किस व्यक्तिको किस-किस भोज्य द्रव्यका कितने प्रमाणमें सेवन करके कितनी कैलोरियाँ उपलब्ध करनी चाहिए। विभिन्न रोगोंसे पीड़ित पुरुषोंके लिए भी पृथक् कोष्ठक बनाये गये हैं। परन्तु इस विषयमें जितनी शास्त्रीयता (वेदियापन) है उतनी व्यावहारिकता नहीं। कारण, एक ही पदार्थमें कार्बोहाइड्रेट आदि सभी द्रव्य होते हैं, अतः सामान्य व्यक्तिके लिए यह जानना दुष्कर है कि कार्बोहाइड्रेट, स्नेह या प्रोटीनके अमुक प्रमाणके लिए कौन द्रव्य कितनी मात्रामें लेना चाहिए। फिर यह निश्चित नहीं कि कोष्ठकोंमें निर्दिष्ट पदार्थ भोक्ताकी रुचिके अनुकूल ही हों। भोक्ताकी आर्थिक

१—Hyperthyroidism—हाईपरथायरॉयडिज्म।

२—देखिये—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० ६०-६१।

३—इसी कारण इस विषयका उद्धरण जिज्ञासु वाचकोंके विचारार्थ यहाँ देता हूं—And finally, in the light of studies which have shown that anxiety or apprehension will elevate the total heat production, the food requirement will be increased in proportion to the degree that the subject, at although neither working nor assimilating food, habitually fails to achieve the relaxed, comfortable state which is, by definition, "basal".

Hawll's Text book of physiology (1946), p. 1131.

स्थितिका विचार भी बाधक हो सकता है। फिर आयुर्वेदकी दृष्टिसे तो प्रकृति आदिका भेद भी कैलोरी की न्यूनाधिकतामें हेतु हो सकता है। तथापि, जिन्हें इस विषयकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी हो वे अन्य ग्रन्थ देख सकते हैं।

इस प्रकार इस अध्यायमें हमने आहारके प्रयोजनोंका सामान्य विचार किया। अगले अध्यायमें हम इन प्रयोजनोंको पूर्ण करनेवाले द्रव्योंका पृथक् कुछ विस्तारसे विचार करेंगे।

दशवां अध्याय

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयमध्यायंव्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

पूर्व प्रतिज्ञानुसार इन दो अध्यायोंमें हम क्रमशः आहारान्तर्गत नीचे लिखे समासोंकी रासायनिक रचना, कर्म आदिका निर्देश करेंगे।

शक्त्युत्पादक या इन्धनात्मक[1] द्रव्य अर्थात् कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और नाइट्रोजन-रहित की गयी प्रोटीन; पोषणादि कार्य करनेवाले समास अर्थात् प्रोटीन, निरिन्द्रिय खनिज और जल; रोगप्रतिबन्धक जीवनीय तथा विबन्ध-निवारक सेल्युलोज़।

कार्बोहाइड्रेट—

जैसा कि नामसे सूचित है ये कार्बन, उदजन और ओषजनके समास हैं[2]। इनका लगभग एकमात्र प्रयोजन दहन और शक्त्युत्पादन है। प्रोटोप्लाज्मकी रचनामें ये नहिंवत् भाग लेते हैं। शरीरमें ये केवल १ प्रतिशत होते हैं। इनका यह संचय प्रधानतः यकृत्में तथा अल्पांशमें मांसपेशियोंमें 'ग्लाइकोजन'[3] नामक शर्करा-भेदके रूपमें होता है।

कार्बोहाइड्रेट ही नहीं, अन्य सभी सेन्द्रिय समासों[4]की रचनामें उक्त तीन तथा चौथा नाइट्रोजन ये चार मूल द्रव्य प्रधानतः भाग लेते हैं। पहले कह आये हैं कि, सृष्टिके समस्त समासों[5]को दो

१—Energy-producing—एनर्जी प्रोड्यूसिंग; या—Heat-producing हीट प्रोड्यूसिंग प्रस्तुत अर्थमें 'इन्धन' शब्दका प्रयोग प्राचीन है। देखिये—'तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः च० चि० १५।५०': 'तस्मात् तं (अग्निं) विधिवद् युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः। पालयेत् प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः—च० चि० १५।४०'; 'तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः— च० सू० २७।३'; 'अन्नपानेन्धनैश्चाग्निर्ज्वलति व्येति चान्यथा—च० सू० २७।३४२'।

२—अंग्रेजीमें रासायनिक संज्ञाओंके पीछे 'एट' (ate) प्रत्यय उनमें ओषजनकी विद्यमानताके सूचनार्थ होता है।

३—Glycogen. इसे 'Animal starch—एनीमल स्टार्च' भी कहते हैं। कारण आगे देखिये।

४—Organic Compound—ऑर्गेनिक कम्पाउण्ड।

५—तत्त्व, समास और मिश्रण—इस ग्रन्थमें आगे स्थान-स्थानपर 'समास' शब्दका प्रयोग किया है, भविष्यमें भी करेंगे। यह एक वैज्ञानिक संज्ञा है। थोड़ेमें इस तथा अन्य संज्ञाओंको समझ लेना उपयुक्त होगा। चिर निरीक्षणसे विदित हुआ है कि संसारके समस्त पदार्थोंको तीन वर्गोंमें समाविष्ट किया जा सकता है—कारण द्रव्य या मूल तत्त्व (Eelements—एलीमेण्ट्स), समास (Chemical combination—केमीकल कॉम्बिनेशन; या Compound—कम्पाउण्ड) तथा मिश्रण Mechanical mixture—मेकेनिकल मिक्श्चर)।

तत्त्व—ऐसे द्रव्योंको कहते हैं, जिनका विघटन (विश्लेषण) करनेके पश्चात् भी उनमें विजातीय परमाणु न मिल सकें। पारद, ताम्र, गन्धक, उदजन, ओषजन आदि तत्त्व कहे जाते हैं। ऐसे कोई ९२ तत्त्व विद्वानोंने मालूम किये हैं। यद्यपि, यह विदित होनेके पश्चात् कि ये तत्त्व भी अन्तको विभिन्न विद्युत्कणिकाओंसे बने हैं, इन तत्त्वोंको इन कणिकाओंके रूपमें विघटित किया जा सकता है और किया जा भी चुका है, तथापि अभी तक ९२ तत्त्वोंको ही तत्त्व मानकर विज्ञानमें व्यवहार किया जाता है।

वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—सेन्द्रिय समास तथा निरिन्द्रिय समास[1]। सेन्द्रिय समासोंका प्रमुख लक्षण यह है कि इनका प्रधान द्रव्य कार्बन (अङ्गार, कोयला) होता है—ये कार्बनके समास[2] हैं। कार्बनके अणुओंकी यह विशेषता है कि वे परस्पर तथा अन्य तत्त्वोंके अणुओंके साथ असंख्यों प्रकारके व्यूह बनाकर रह सकते हैं। इसी कारण प्रधानतः उक्त चार तत्त्वोंके संसर्गसे औद्भिद और प्राणि-सृष्टिके संख्यातीत द्रव्य बने हैं। कहा जाता है कि शेष ९१ मूल तत्त्वोंके कुल जितने समास हैं, उनसे चार गुणे समास कार्बनके हैं। पहले समझा जाता था कि सेन्द्रिय अर्थात् चेतन पदार्थ—

१—Inorganic Compound—इनौर्गेनिक कम्पाउण्ड।
२—Carbon-Compounds—कार्बन कम्पाउण्ड्स।

समास—उन द्रव्योंको कहते हैं, जो दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे बने होते हैं, जिनमें संयुक्त द्रव्योंका एक निश्चित अनुपात (प्रमाण) होता है, जिनके गुण-धर्म संयुक्त द्रव्योंके गुण-धर्मोंसे सर्वथा भिन्न होते हैं, तथा जिन्हें अपने मूल द्रव्योंमें पुनः विघटित करना सुकर नहीं होता। जल, ओषजन और उद्जनके संयोगसे बना एक समास है। इसके गुण-धर्म ओषजन और उद्जनसे सर्वथा भिन्न हैं। इसे पुनः इन दो वायुओंके रूपमें विघटित करना भी दुष्कर है तथा, संसारमें कहींका भी जल लें ये वायु क्रमशः १ और २ के अनुपातमें मिलेंगे।

मिश्रण—भी समासोंके सदृश दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे बनता है, परन्तु उसमें संयुक्त द्रव्योंका कोई निश्चित अनुपात नहीं होता तथा उसमें संयुक्त द्रव्योंके गुण-धर्म पृथक् विद्यमान रहते हैं। उसे इन द्रव्योंके रूपमें सुगमतासे पृथक् (विघटित) भी किया जा सकता है। यथा बालुका और शर्करा अथवा बालुका और लोहेका संयोग मिश्रण कहाता है। पहले मिश्रणको पानीमें घोलकर छान लें तो बालुका पृथक् हो जायगी, जलको उड़ाकर शर्कराको भी पृथक् प्राप्त किया जा सकता है। दूसरे मिश्रण-में भी चुम्बकके सहारे लोहको बालुकासे पृथक् किया जा सकता है। दोनों मिश्रणोंमें मूल द्रव्योंके रस आदि धर्म भी यथास्थित होते हैं। संयुक्त द्रव्योंका प्रमाण भी निश्चित नहीं होता।

रासायनिक क्रिया (chemical action —केमिकल एक्शन)—दो या अधिक द्रव्योंके संयोगसे समासोंका बनना (Synthesis–सिन्थेसिस); किसी समासके मूलद्रव्योंका विघटित करना Analysis–एनेलिसिस, (या Decomposition—डीकम्पोज़ीशन); दो या अधिक द्रव्योंसे बने किसी समास का किसी अन्य द्रव्यसे इस प्रकारका संयोग होना कि जिसमें पहले समाससे एक द्रव्य पृथक् हो जाय और उसका स्थान वह अन्य द्रव्य ले ले (Replacement-रीप्लेस मेण्ट); एवं, दो समासोंका परस्पर इस प्रकार संयोग होना कि जिसमें प्रत्येक समासका कुछ अंश पृथक् हो कर इतर समासके साथ संयुक्त हो जाय (Double decomposition)—इन सब क्रियाओंमें संयुक्त विघटित द्रव्योंके गुण-धर्म मूलद्रव्योंसे सर्वथा भिन्न होते हैं। इन क्रियाओंको **रासायनिक क्रिया** कहते हैं। इनके उदाहरण रसायन शास्त्रके ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं।

रासायनिक प्रीति (Chemical केमीकल, attraction एट्रेक्शन ; या Affinity एफिनिटी) रासायनिक क्रियाएँ सम्पन्न होनेके लिये ताप, मर्दन, विद्युत्, विलयन (जल आदिमें घोलना), सूर्य-प्रकाश आदि निमित्त होते हैं। परन्तु इन सबमें प्रधान और सब रासायनिक क्रियाओंमें अनिवार्य शर्त यह है कि संयुक्त होनेवाले द्रव्योंमें परस्पर विशेष आकर्षण किंवा प्रीति होनी चाहिये। ओषजन और नाइट्रोजनमें यह प्रीति न होनेसे वायुमण्डलमें वे मिश्रणके रूपमें ही रहते हैं; परन्तु ओषजन और उद्जन में यह प्रीति होनेके कारण ही वे विद्युत्के योगसे जलरूप समासमें परिणत हो जाते हैं।

उद्भिद और प्राणी—ही अपने कोषोंमें इनकी रचना कर सकते हैं, अतः इन्हें सेन्द्रिय नाम दिया गया था, परन्तु अब इन्हें कृत्रिम भी बनाया जा सकता है, और सृष्टिमें जिनका अस्तित्व नहीं ऐसे अनेक कार्बन-समास (सेन्द्रिय द्रव्य) बनाये भी जा चुके हैं।

जो हो ; कार्बोहाइड्रेट भी एक प्रकारके कार्बन-प्रधान सेन्द्रिय समास हैं। इनके दो भेद हैं—शर्कराएँ[1] तथा पिष्टसार (निशास्ता[2])। अथवा रासायनिक दृष्टिसे इन्हें तीन वर्गोंमें विभक्त किया जाता है। (१) प्रथमभेद अर्थात् सामान्य शर्कराएँ[3] वे हैं, जिनकी रचनाएँ अन्य शर्कराओंकी अपेक्षया सरल होती हैं। इनमें कार्बन और ओषजनके छह-छह और उदजनके बारह अणु होते हैं। अर्थात् ओपजन और उदजन इनमें उसी प्रमाणमें रहते हैं, जितने जलमें, अंग्रेजीमें इस रचनाको निम्न सूत्र[4] के द्वारा व्यक्त किया जाता है— $C_6 H_{12} O_6$। इस वर्गकी तीन प्रधान शर्कराएँ ये हैं—द्राक्षा शर्करा, फल शर्करा, उपदुग्ध शर्करा।

द्राक्षा शर्करा[5]—

मेद तथा नाइट्रोजन-रहित प्रोटीनोंकी अपेक्षया कार्बोहाइड्रेटोंकी रचना सरल होनेसे उनका दहन और विघटन सुगम होता है, अतः दहन और तद्द्वारा शक्त्युत्पादनमें इनका ही व्यय शरीरमें होता है, कार्बोहाइड्रेटोंमें भी इस दृष्टिसे द्राक्षाशर्कराका महत्त्व विशेष है। यह शरीरमें सदा प्रस्तुत रहती है, उक्त कार्यके लिये इसीका उपयोग अधिकतम होता है। यों यह अति स्वल्प प्रमाणमें रक्तमें रहती है, परन्तु पेशियों और यकृत्में ग्लायकोजन नामक शर्कराका संचय होता है ; जैसे-जैसे आवश्यकता होती है, वैसे-वैसे यह ग्लायकोजन द्राक्षा शर्कराके रूपमें परिणत होती जाती है।

इक्षुमेह—

द्राक्षाशर्कराका शक्त्युत्पादनमें विनियोग अग्न्याशय[6] के अन्तःस्रावके अधीन है, इस अन्तःस्रावको अंग्रेजीमें इन्सुलीन[7] कहते हैं। इस अन्तःस्रावका प्रमाण हीन (न्यून) होनेपर धातु द्राक्षाशर्कराका उपयोग कर नहीं पाते हैं—जिससे रस-रक्तमें इसका प्रमाण साधारणसे अधिक हो जाता है। इतने प्रमाणमें द्राक्षा-शर्करा शरीरके लिये अनावश्यक होनेसे वृक्क उसे मूत्र द्वारसे बाहर निकाल देते हैं। द्राक्षाशर्करा

१—Sugars—स्युगर्स।

२—Starch—स्टार्च ; या Amylum-एमायलम या Amylose एमायलोज़। पिष्टका अर्थ चावलोंका चूर्ण है। चावलोंमें प्रायः स्टार्च होता है। अतः कई लेखकोंने इसका नाम पिष्टसार रखा है। एक कपड़ेमें आटा लेकर जल भरे पात्रमें उसे लटकाकर मसलें तो जो श्वेत. भाग छनकर पात्रमें बैठ जायगा वह पिष्टसार है। कपड़ेमें अवशिष्ट पिच्छिल द्रव्य आटेका प्रोटीन हैं। जर्मनीमें आलूको तथा संयुक्त राष्ट्रोंमें मकईको पानीके साथ पीसकर इस विधिसे बड़े पैमाने पर पिष्टसार बनाया जाता है।

३—Simple Sugars सिम्पल शुगर्स या Monosaccharides मॉनोसेकेराइड्स (शब्दार्थ-एकाणुक शर्करा)।

४—Formula फॉर्मूला।

५—Glucose ग्लूकोज ; या Dextrose डेक्स्ट्रोज ; या Grape sugar ग्रेप शुगर।

६—Pancreas पैनक्रियास।

७—Insulin.

स्वयं घन वस्तु होनेसे स्व-रूपमें मूत्र मार्गसे बाहर नहीं निकल सकती। वृक्क उसे जलमें विलीन करके ही शरीरसे बाहर निकाल सकते हैं; इस प्रकार शर्कराके साथ प्रभूत मात्रामें जल भी मूत्र मार्गसे बाहर निकलता है। मूत्रमें द्राक्षाशर्कराकी विद्यमानता जिन रोगोंमें हो ऐसे तीन रोग आयुर्वेदमें गिनाये गये हैं—कफ प्रकोपसे इक्षुमेह (इक्षुवालिका मेह) तथा शीतमेह और वात प्रकोपसे क्षौद्रमेह (या मधुमेह[1])। मूत्र मार्गसे जलकी अति प्रवृत्तिको उदकमेह[2] कहते हैं। यह उदकमेह स्वतन्त्र रोग भी है और पूर्ववर्णित संप्राप्तिके अनुसार इक्षुमेह आदिका नियत अङ्ग भी।

द्राक्षाशर्कराको घोलकर बाहर निकालनेके लिए अति मात्रामें जल बाहर निकलता है, जिससे धातुओंको अपेक्षित प्रमाणमें जल नहीं मिल पाता। धातु जलकी माँग अति 'तृषा' के रूपमें प्रकट करते हैं, जो इक्षुमेह आदि रोगोंका एक प्रमुख अङ्ग है।

धातु द्राक्षाशर्कराका उपयोग भले न कर सकें, परन्तु अपने-अपने कर्मोंके लिए उन्हें इसकी आवश्यकता तो बनी ही रहती है। यह आवश्यकता तीव्र 'क्षुधा' के रूपमें व्यक्त होती है। इस प्रकार क्षुधा इक्षुमेहका एक प्रमुख लक्षण है।

स्नेहोंका दहन संपूर्णतया हो इसके लिए आवश्यक है कि कार्बोहाइड्रेटोंका भी दहन पूर्णतया हो।

१—Diabetes mellitus डायाबिटीज मेलीटस।

इक्षुमेह और क्षौद्रमेह—आयुर्वेदमें मूत्रका माधुर्य जिनमें होता है ऐसे तीन रोग गिनाये हैं। कफ प्रकोपसे इक्षुमेह (सुश्रुत इसे 'इक्षु वालिका मेह' कहता है, यद्यपि पाठान्तर 'इक्षुमेह' नाम भी है) तथा शीतमेह और वात-प्रकोपसे मधुमेह (देखिये च. सू. ४।१४, १९, ४४,।) सुश्रुतने शीतमेह या तत्तुल्य कोई रोग नहीं गिनाया है। मधुमेहके स्थान पर 'क्षौद्रमेह' गिनाता है। 'मधु' और 'क्षौद्र' पर्याय हैं। गयदासने भी कहा है कि चरकका मधुमेह सुश्रुतका क्षौद्रमेह, दोनोंमें नाममात्र का अन्तर है। सुश्रुतने मधुमेहनाम सर्व प्रमेहोंकी उस अवस्थाका रखा है, जिसमें चिकित्सा न करने से या मिथ्या चिकित्सा होनेसे वे पिडकाओं और उपद्रवोंसे युक्त हो असाध्य हो जाते हैं। (देखिये सु. नि. ६।२४, २७ तथा इनकी टीका।)

जो हो, कफज मधुर प्रमेह चरकके अनुसार दो मानें या सुश्रुतके अनुसार एक, मूत्रमाधुर्य तथा अनुबन्ध लक्षणोंसे पीड़ित रोगी उपस्थित होनेपर आधुनिक मतसे दोनोंका एक ही निदान अग्न्याशय विकृत हो सकता है; परन्तु आयुर्वेद मतसे उनका दोष दृष्ट्या विचार करना चाहिये। इस विचारकी आवश्यकता दो कारणोंसे है—एक तो इसलिए कि कफज प्रमेह साध्य होते हैं और वातज असाध्य; दूसरे दोनोंकी चिकित्सा मूलमें ही भिन्न होती है। देखिये—

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद् द्विविधो विचारः।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकः स्यात् संतर्पणाद्वा कफ संभवः स्यात्॥ च० चि० ६।५५

इस प्रकार दोनोंके निदानमें भी भेद होता है। अन्यच्च—

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य॥ च० चि० ६।१५

अर्थात् वातजमें बृंहण और कफजमें संशोधन चिकित्सा करनी चाहिए।

२—Diabetes insipidus—डायाबिटीज इनसिपिडस।

उक्त रोगोंमें द्राक्षाशर्करा तथा अन्य शर्कराओंका दहन अपूर्ण रह जानेसे स्नेहोंका भी दहन अपूर्ण रह जाता है। स्नेह द्रव्योंका पाक अपूर्ण रह जानेसे जो आम या अर्धपक्व द्रव्य रह जाते हैं उन्हें अंग्रेजीमें 'कीटोन' या 'कीटोन बॉडीज़'[1] कहते हैं। स्वस्थावस्थामें रस-रक्तमें ये द्रव्य नहीं रहते। इक्षुमेहादि रोगोंमें रसरक्तमें इनकी विद्यमानताको 'कीटोसिस'[2] कहते हैं। इन द्रव्योंके अम्ल होनेसे इस विकारको 'एसीडोसीस'[3] भी कहते हैं। इन द्रव्योंकी अम्लताके कारण त्वचामें, विशेषतया हस्त-पादतलकी त्वचामें दाह[4] होता है, जो इक्षुमेहका पूर्वरूप है। द्राक्षाशर्कराकी निरन्तर आवश्यकता बनी रहनेसे शरीरमें विलक्षण श्रम और साद उत्पन्न होते हैं। अपक्व स्नेह द्रव्योंकी रस-रक्तमें अधिकतासे रोगी मूर्च्छित भी हो जाते हैं। इस मूर्च्छाको मधुमेहिक मूर्च्छा,[5] कहते हैं।

तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि 'इन्सुलीन' प्राचीनोंके धात्वग्नियोंमें एक है, तथा द्राक्षाशर्करा आयुर्वेदका 'अपर ओज' है। इस विषयका विशेष विचार आगे यथा-प्रकरण करेंगे। द्राक्षाशर्करा अनेक फलों और मधुमें पायी जाती है। शरीरके सभी धातुओंमें यह होती है, यह तो ऊपर कह ही आये हैं। द्राक्षाशर्कराकी मधुरता इक्षुशर्करा जितनी नहीं होती। सभी कार्बोहाइड्रेटोंका जठराग्नि और धात्वग्नियों द्वारा पाक होनेके पश्चात् द्राक्षाशर्करा बनती है। इसीका ओषजनके साथ संसर्ग और दहन होकर ताप, कार्य आदि शक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। सामान्य जीवनमें प्रधान आवश्यकता शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी होनेसे, शक्त्युत्पादक द्रव्योंमें भी प्रोटीनों और स्नेहोंकी अपेक्षया कार्बोहाइड्रेट लघु (सुपच) होनेसे, एवं ऊपर कहे अनुसार कार्बोहाइड्रेट-मात्रका अन्तिम परिणाम द्राक्षाशर्करा होनेके कारण जठराग्नि और धात्वग्नियों पर भार न आ पड़े इस दृष्टिसे संतत ज्वर आदि विभिन्न रोगोंमें रोगियोंको द्राक्षाशर्करा (ग्लूकोज़) ही मुख, सिरा, गुद आदि विभिन्न मार्गोंसे देते हैं।

फल शर्करा—

सामान्य शर्करा-वर्गकी दूसरी प्रमुख शर्करा फलशर्करा[6] है। इक्षुशर्करा[7] पर हलके खनिज अम्लोंकी क्रियासे वह द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करामें परिणत हो जाती है। पच्यमानाशय (ग्रहणी) के एक पाचक रसकी भी इसपर इसी प्रकारकी क्रिया होती है।

उपदुग्धशर्करा[8]—

सामान्य शर्करा-वर्गकी यह तीसरी प्रमुख शर्करा है। दुग्ध-शर्करा[9] पर हलके खनिज अम्लों एवं पच्यमानाशयके एक पाचक रसकी क्रिया होकर वह द्राक्षा-शर्करा तथा उपदुग्धशर्करामें परिवर्तित हो जाती है।

१—Ketone ; या Ketone bodeis.

२—Ketosis.

३—Acidosis—(शब्दार्थ-अम्लाधिक्य)। हिन्दीमें इसे अम्लरक्तता कह सकते हैं।

४—Causalgia—कॉजेल्जा।

५—Diabetic coma—डायाबिटिक कॉमा।

६—Fructose—फ्रूक्टोज़ ; या—Lævulose—लेव्युलोज़ ; या Fruit sugar फ्रूटस्युगर।

७—Sucrose—सूक्रोज ; या Cane-sugar—केन-स्युगर।

८—Galactose—गैलेक्टोज।

९—Lactose—लैक्टोज ; या Milk-sugar—मिल्क-श्युगर। [Lac—लैक=दूध]

(२) शर्कराओंका द्वितीय भेद द्विगुण शर्कराएँ[1] हैं। दो सामान्य शर्कराओंका संयोग और उनमेंसे जलका एक अणु निकल जानेसे शर्कराएँ बनती हैं। इसी कारण इनका द्योतक सूत्र अंग्रेजीमें C_{12} H_{22} O_{11} है। इसी वर्गकी तीन प्रमुख शर्कराएँ ये हैं—इक्षुशर्करा, दुग्धशर्करा तथा धान्य शर्करा[2]।

इक्षु-शर्करा—

उद्भिद् सृष्टिमें यह बहुत व्याप्त है; इक्षु (गन्ना), चुकन्दर[3] आदिमें विशेष होती है। पच्यमानाशयके एक पाचक रसकी क्रियासे यह विश्लिष्ट होकर द्राक्षाशर्करा और फलशर्करा इन दो सामान्य शर्कराओंमें परिणत हो जाती है। किण्व[4] (खमीर) की भी इस पर ऐसी ही क्रिया होती है। पश्चात् उक्त सामान्य शर्कराओंका संधान[5] होकर मद्य (आसव आदि) तय्यार होते हैं। यह शर्करा हमारे आहारका महत्त्वपूर्ण अंश है।

दुग्ध-शर्करा—

यह दुग्धमें होती है। स्तन्यपान करानेवाली स्त्रियोंके मूत्रमें स्तन्यपानके प्रारम्भमें अथवा स्तन्य छुड़ानेके पश्चात् कुछ दिनों तक कभी-कभी रहती है। मधुरता इसमें स्वल्प होती है। इनके खनिज अम्लों किंवा पच्यमानाशयके पाचक रस विशेषकी कृपासे यह द्राक्षाशर्करा तथा उपदुग्ध शर्करा इन दो सामान्य शर्कराओंमें परिणत हो जाती है।

दूधका दहीके रूपमें परिवर्तन भी एक प्रकारका संधान ही है। इस संधानके कारण किण्व-कोषोंके सदृश जीवाणु-विशेष हैं, जो दुग्ध-शर्कराको तक्राम्ल[6] के रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। इस संधान को तक्राम्ल-संधान[7] तथा इसके हेतुभूत जीवाणुओंको तक्राम्ल-जीवाणु[8] कहते हैं। अन्त्रगत जीवाणु भी दुग्ध-शर्करापर यह क्रिया करते हैं।

होमियोपैथीमें औषधोंको प्रमाणकी दृष्टिसे हलका, परन्तु कर्मशक्ति[9] की दृष्टिसे प्रबल बनानेके लिए दुग्ध शर्कराका उपयोग होता है।

धान्य-शर्करा—

यव, चावल या मकई इन धान्यों किंवा आलूको भिगोकर अङ्कुरित होने दें, अथवा इनके

१—Disaccharides—डायसैकेराइड्स।

२—Maltose—माल्टोज़; अथवा Malt-sugar-मॉल्ट श्युगर।

३—Beetroot—बीटरूट।

४—Yeast—यीस्ट।

यीस्ट—ये एक-कोषीय उद्भिद् (फफूँद-Mould-मोल्ड) हैं, जो ओषजनके अभावमें शर्कराओं को मद्य (Alcohol-एलकोहल) तथा अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय-ऑक्साइड) के रूपमें परिणत कर देती है। आसव-अरिष्ट आदि मद्योंके निर्माणका कारण यह उद्भिद् ही है। इसमें क्लोरोफिल नहीं होता।

५—Fermentation—फर्मेण्टेशन। यीस्टकी क्रियासे शर्कराओंका मद्योंमें परिणत होना संधान कहा जाता है।

६—Lactic acid—लैक्टिक एसिड।

७—Lactic acid fermentation—लैक्टिक एसिड फर्मेण्टेशन।

८—Lactic acid bacteria—लैक्टिक एसिड बैक्टिरिआ।

९—Potency—पोटेन्सी।

आटेको भिगोकर खट्टा होने दें तो उनमें विद्यमान 'डायस्टेस'[१] नामक पाचक रसके प्रभावसे इन द्रव्योंका पिष्टसार (निशास्ता) धान्य शर्करामें पविर्तित हो जाता है। लालारस और अन्याशय रसमें भी उक्त पाचक रस होता है, जिसकी आहार द्रव्यान्तर्गत पिष्टसारपर क्रियासे यह शर्करा बनती है। दोनों ग्रन्थियोंके पाचक रस (पित्त) में अन्तर यह होता है कि लालास्रावका पित्त केवल पकाये हुए पिष्टसारपर ही क्रिया कर सकता है, जबकि अन्याशय रसका डायस्टेस पकाये या न पकाये दोनों पिष्टसारोंको धान्यशर्करामें परिणत कर सकता है। पश्चात् अन्त्ररसगत एक अन्य पाचक रस[२] की क्रियासे धान्य शर्करा द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिवर्तित हो जाती है। कार्बोहाइड्रेटोंके पचनका यह विषय आगे महास्रोतसमें पाककी क्रियाको समझनेमें उपयोगी होगा।

ऊपर कहा है कि अङ्कुरित धान्योंमें पिष्टसार पाचक 'डायस्टेस' नामक द्रव्य उत्पन्न हो जाता है। इन अङ्कुरित धान्योंको अंग्रेजीमें 'मॉल्ट'[३] कहते हैं। इसीसे तद्गत शर्कराको 'माल्टोज' कहते हैं इन धान्योंमें स्थित उक्त पाचक रस पिष्टसारोंका पाचक है, यह भी ऊपर कहा है। इस गुणके कारण 'मॉल्ट' के अनेक पाचक कल्प[४] अंग्रेजी औषध विक्रेता तय्यार करते हैं, जो अग्निमान्द्य तथा अजीर्णमें उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

आसव-अरिष्ट तथा अन्य संधानोंके अन्तर्गत किण्व (यीस्ट) इक्षु-शर्करापर अपने पूर्व कथित पाचक धर्मके कारण तथा इससे भी बढ़कर जीवनीय "बी"का योनि (आश्रय) होनेके कारण मन्दाग्निमें उपयोगी है। इस प्रकार आसव-अरिष्टोंकी क्रिया अन्य दीपन, पाचन आदि गुण-विशिष्ट द्रव्योंके अतिरिक्त किण्वके कारण भी होती है।

शर्कराओंका तृतीय भेद प्रगुण शर्कराएँ हैं। यदि दो से अधिक सामान्य शर्कराएँ इस प्रकार मिलकर एक हो जाएँ, कि उनके जलका एक अणु पृथक् हो जाय तो जो शर्करा बनती हैं उन्हें प्रगुण शर्करा[५] कहते हैं। इनका द्योतक सूत्र अंग्रेजीमें यह है —$(C_6 H_{10} O_5)$ n. इसमें 'n' का अर्थ है अनिश्चित संख्या। इस वर्गमें ज्ञातव्य भेद निम्न हैं—पिष्टसार, ग्लायकोजन, डेक्स्ट्रिन[६] और सेल्युलोज़[७]।

पिष्टसार—

हमारे आहारका यह प्रधान द्रव्य है। उद्भिद् जगत्में यह अत्यधिक व्याप्त है। आलू, गोधूम, (गेहूं), मकई, चावल, साबूदाना इत्यादिमें विशेषतः होता है। अणुवीक्षणके नीचे देखें तो यह योनि-भेदसे प्रमाण और आकृतिमें भिन्न कणोंके रूपमें व्यवस्थित दिखाई देता है। ये कण वर्तुलाकारमें होते हैं। पिष्टसारके कणोंके दो-दो मण्डलोंके मध्य एक-एक मण्डल सेल्युलोज़का होता है। आयोडीनके संसर्गमें पिष्टसारका वर्ण नीला हो जाता है। दूध बेचनेवाले मक्खन निकालकर उसके स्थानपर प्राकृत घनत्व लानेके लिए पिष्टसार मिला देते हैं, जिसकी परीक्षा आयोडीनकी सहायतासे की जाती है। आयोडीन डालनेपर यदि दूधका वर्ण नीला हो जाय तो समझा जाता है कि उसमें उक्त गड़बड़ है।

लालारस और अन्याशयरस द्वारा पिष्टसार प्रथम धान्यशर्कराके रूपमें परिणत किये जाते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है; दोनों पाचक रसोंमें भिन्नता यह है कि, लालारसका प्रभाव

१—Diastase.
२—इसे अंग्रेजीमें Maltase—मॉल्टेज़ कहते हैं।
३—Malt.
४—Preparations—प्रेपरेशन्स।
५—Polysaccharides—पौलीसैकेराइड्स। ६—Dextrin.
७—Cellulose.

अग्निपक्व पिष्टसारपर ही होता है, अपक्वपर नहीं, जबकि अन्न्याशयरस अपक्व पिष्टसारके कणोंको भी धान्यशर्करामें परिवर्तित कर सकता है। इसके अनन्तर, अन्त्ररसके पाचकरसविशेषकी क्रियासे धान्यशर्करा द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत होती है।

लालारस द्वारा पिष्टसारके धान्यशर्कराके रूपमें परिणमनके कारण ही रोटीको, विशेषकर अकेले या थोड़ा घी चुपड़कर, कुछ काल चबाया जाय तो मुखमें मधुर रसका अनुभव होता है। ग्रासोंके साथ आमाशयमें पहुंचे लालारसकी यह क्रिया कुछ काल आमाशयमें भी चालू रहती है। आयुर्वेदमें पाककी इस अवस्थाको इसी कारण मधुर अवस्थापाक कहते हैं।

ग्लायकोजन—

पिष्टसार उद्भिदोंमें संचित कार्बोहाइड्रेट है। उसी प्रकार ग्लायकोजन प्राणियोंमें संगृहीत कार्बोहाइड्रेट है। इसी कारण इसे 'जङ्गम पिष्टसार'[1] भी कहते हैं। यह यकृत्, मांसपेशियों और रक्तकणोंमें रहती है। यह तत्क्षण द्राक्षाशर्करामें परिवर्तित हो सकती है। इस द्राक्षाशर्करा और ओषजनके उपयोगसे ही दहन और शक्तियोंका आविर्भाव होता है।

डेक्स्ट्रिन—

ये पिष्टसार तथा ग्लायकोजनका पचन—शर्करामें परिणमन होते हुए मध्य कालमें बननेवाले द्रव्य हैं।

सेल्युलोज्—

प्रोटीन आदि द्रव्य क्षुधाके अनुसार खाये और जठराग्नि द्वारा पचाये जाकर धातुओंमें पहुंचते और अपना प्रकृति-नियत कर्म करते हैं। परन्तु आहारमें यदि केवल यही ये हों तो इनका अधिकांश धातुओं द्वारा आचूषित (शोषित) हो, परिणामतया मल अत्यल्प मात्रामें बने। इससे मल-क्षय होकर आनाह (कब्ज) तथा अन्य विक्रियाएँ होती हैं। होता यह है कि महास्रोतस्में मल अल्प होनेसे वह उसकी पकड़में नहीं आता। मल अन्त्रोंकी पकड़में आवे और उसे आगे धकेलनेके लिए अन्त्र उसे पीड़ित करें—दबाएं-तो इस पीड़नका परिणाम यह होता है कि अन्त्रोंकी भित्तियोंके बनानेवाले असंख्य मांससूत्र स्वयं भी मल द्वारा पीड़ित होते हैं। इस पीड़नसे वे उद्दीपित (उत्तेजित) होते हैं, जिससे उनकी अन्न और मलको आगे-आगे धकेलने वाली विशिष्ट गति—अपकर्षणी गति[2]

१—Animal Starch—ऍनीमल स्टार्च।

२—Peristalsis—पेरीस्टैल्सिस। "वायुरपकर्षति—च० शा० ६।१५;—वायुरपकर्षतीति ऊष्म-स्थानाद् विदूरस्थितमन्नमूष्मसमीपं नयति। यदुक्तम्—'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति—च० चि० १५।६' इति। वायुरपकर्षतीत्युपलक्षणं, तेन अग्न्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोर्बोद्धव्यम्। उक्तं हि—'समानेनावधूतोऽग्नि······पचति—च० चि० १५।७—चक्रपाणि।" "आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति"—उक्त च० चि० १५।६ पर चक्रपाणि। "भुक्तमपकर्षयतीति सारयति—च० सू० २६।४३ (२) पर चक्रपाणि।—इन वचनोंमें आये 'अपकर्षति शब्द और उसके टीकाकारों द्वारा दिये गये अर्थोंके आधारपर 'पेरिस्टाल्सिस'के लिए 'अपकर्षणी' शब्दकी रचनाकी है। यहां अप उपसर्गका अर्थ अपान, अपक्षेपण (कर्म-विशेष) आदि शब्दोंके समान 'नीचे' है।

महास्रोतस्में होनेवाली अपकर्षणी तथा अन्य गतियोंका स्वरूप और उनके उद्दीपक कारणोंका निरूपण आगे पाक और पुरीषके अधिकारमें करेंगे।

अधिक बल और वेगके साथ होती है। मलका प्रमाण अल्प हो तो यह स्थिति संभव नहीं होती, जिससे अनाह होता है। यह स्थिति उपस्थित न हो इस हेतु आहारमें प्रोटीन आदिके अतिरिक्त ऐसे द्रव्यकी भी आवश्यकता है जो अपाच्य होनेके कारण मलवृद्धिका ही काम करे। ऐसा द्रव्य सेल्युलोज़ है।

सेल्युलोज़ कार्बोहाइड्रेटका ही एक भेद है। पिष्टसारके कणोंके दो-दो मण्डलोंके मध्यमें एक-एक मण्डल सेल्युलोज़का होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। यह बात सेल्युलोज़की व्याप्ति दिखानेकी दृष्टिसे तो स्मरणीय है ही, परन्तु इसकी विशेष स्मरणीयता इस कारण है कि, सेल्युलोज़पर पाचक पित्तोंकी नहिवत् क्रिया होती है, अतः अन्नको अग्निपर पकाया न जाय तो पिष्टसार और सेल्युलोज़के मण्डल यथास्थित रहते हैं; परिणामतया सेल्युलोज़के मण्डलोंके भीतर स्थित पिष्टसार के कणोंको भेदन कर उन्हें पचाना पाचक पित्तोंके लिए अशक्य होनेसे पिष्टसार आम (अपक्व) ही मल मार्गसे बाहर निकल जाते हैं—शरीर उनके उपयोगसे वञ्चित रह जाता है। परन्तु पिष्टसारमय द्रव्योंको पकाया जाय तो पिष्टसारके कणोंको आवृत करनेवाले सेल्युलोज़के मण्डल फट जाते हैं और पाचक पित्तोंको पिष्टसारके कणोंतक पहुंचकर उन्हें पचाना शक्य होता है। भोजनको अग्निपर पका कर खानेका एक कारण यह है। अन्य कारणोंका विचार आगे यथा-प्रकरण करेंगे।

सेल्युलोज़का विशेष विस्तार तो पिष्टसारके मण्डलोंके अतिरिक्त अन्यत्र होता है। उद्भिदोंके कोषोंकी भित्ति सेल्युलोज़की बनी होती है। इसी कारण प्राणियों और उद्भिदोंके कोषोंमें यह भिन्नता होती है कि प्राणिकोषोंकी भित्ति प्रोटोप्लाज्मका ही घनीभूत रूप होनेसे वह कभी स्थिर नहीं होती—उसकी आकृति बदलती रहती है; जब कि उद्भिद्-कोषोंकी भित्ति दृढ़ सेल्युलोज़की होनेसे वह सदा अपरिवर्तित रहती है।

सेल्युलोज़की इन दो स्थलोंसे भी अधिक व्याप्ति उद्भिदोंके सूत्रमय धातुओंमें होती है। फल, शाकभाजी आदिके सूत्र (रेशे), गोधूम (गेहूँ) आदि धान्योंका बाह्य-आवरण (चोकर), कपास, जूट आदिके सूत्र, और लकड़ी—लगभग एकमात्र सेल्युलोज़के बने होते हैं। प्रयोगशालाओंमें व्यवहृत होनेवाला फिल्टर-पेपर[१] शुद्ध सेल्युलोज़का बना होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है, सेल्युलोज़पर पाचक पित्तोंका प्रभाव नहिवत् होता है। अतः यह स्वरूपमें ही पक्वाशय तक पहुंचता है और उल्लिखित प्रकारसे अपकर्षणी गतिको उद्दीपित कर शरीरकी आनाह तथा तज्जन्य विकारोंसे रक्षा करता है।

हां, पक्वाशयमें प्रकृत्या विद्यमान जीवाणुओंकी इसपर कुछ क्रिया होती है। पक्वाशयमें विभिन्न प्रकारके जीवाणु स्वभावतः रहते हैं। महास्रोतस्के मुख आदि ऊर्ध्व भागोंमें क्षरित होनेवाले पाचक पित्त जिस प्रकार अपने पाचक रसों द्वारा प्रोटीन आदिको विच्छिन्न करने—पचानेकी—शक्ति रखते हैं वैसी ही शक्ति विभिन्न जीवाणुओंके देहसे क्षरित होनेवाले पाचक रसोंमें होती हैं। सत्य कहें तो मलके घनांशका $\frac{१}{३}$ से $\frac{१}{२}$ अंश ये जीवाणु ही होते हैं। इनके पाचक रसोंकी अन्न द्रव्योंपर अग्न्याशय रस आदिके समान ही क्रिया होकर उनका पचन होता है तथा इन पचे हुए द्रव्योंका आचूषण होकर शरीरमें उपयोग होता है। जीवाणुओं द्वारा पाककी यह क्रिया पाचक रसोंके तुल्य होनेपर भी इसमें समय बहुत लगता है। इसी कारण प्रकृतिने घासभोजी प्राणियों[२]का महास्रोतस् बहुत लम्बा बनाया है, जिससे इसकी सम्पूर्ण लम्बाईको पार करनेमें अन्नको इतना समय मिल सके

१—Filter paper.

२—Herbivorous animals—हर्बिवोरस एनीमल्स।

कि उसपर जीवाणुओंकी क्रिया होकर उसका पचन पूर्ण हो। इसके विपरीत मांसभोजी प्राणियों[1] का आहार प्रोटीन-बहुल होनेसे उसका पाक क्षुद्रान्त्रमें क्षरित होनेवाले पाचक रसों द्वारा ही होता है, अतः उनका महास्रोतस् अपेक्षया छोटा होता है। उदाहरणतया, कुत्तेके महास्रोतस्‌की लम्बाई उसके शरीर (शिर और मध्यकाय) की लम्बाईसे साढ़े चार गुणा अधिक होती है, जब कि भेड़में इसकी लम्बाई चौबीस गुणा और मानवमें नौ गुणा होती है।

मानवमें अन्त्रोंकी इस लम्बाईको दृष्टिमें रखते हुए कई विद्वान् उसे प्रकृत्या शाकाहारी सिद्ध करनेका प्रयास करते हैं।

मल द्वारा अग्निधारणका अर्थ—

आयुर्वेद मतसे पुरीषके प्राकृत कर्मोंमें एक 'अग्निधारण' अर्थात् अग्निकी सहायता है। आधुनिक मतानुसार इसकी उपपत्ति उक्त प्रकारसे है।

सेल्युलोज़का पक्वाशय (स्थूलान्त्र) में पचन होकर कार्बनडाइ ऑक्साइड वायु और मिथेन नामक द्रव्यके रूपमें परिणमन होता है। आयुर्वेदमें, अन्नके पक्वाशयमें पहुंचनेपर जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें भी 'पाक' कहा है, तथा उसे 'कटु अवस्थापाक' यह विशेष नाम दिया है। इसे पाक कहनेकी व्याख्या ऊपर की है। इस अवस्थापाकमें वायुकी वृद्धि होती है। उसका नव्यमतानुसार अर्थ उल्लिखित है। आहारमें सेल्युलोज़का प्रमाण अधिक हो तो वायुकी वृद्धि (आवश्यकतासे अधिक उत्पत्ति) होती है तथा वात प्रकोपजन्य विकार होते हैं, यह आयुर्वेदका मत है। इसी कारण आयुर्वेद तथा तदितर प्राचीन वाङ्मयमें शाकभोजनको गर्हित बताया है।

ऐसे प्रकरणोंमें शाकभोजनकी अतिमात्रा वर्जनीय है यही अर्थ समझना चाहिये। कारण, शाकोंके प्राकृत गुण-कर्म संहिताओंमें कहे हैं, जिन्हें दृष्टिमें रखकर उनका मात्रावत् सेवन करना ही चाहिये।

चौलाइ (तण्डुलीयक) आदि पत्रशाक, अनछना आटा, फलमूल तथा ऐसी ही वस्तुएँ आहारमें हों तो तद्गत सेल्युलोज़के कारण मलकी राशि बढ़ जाती है, जिससे उल्लिखित प्रकारसे अपकर्षणी गतिकी वृद्धि होती है। इसका साक्षात् परिणाम यह होता है कि मलके वेगमें वृद्धि होनेसे अन्त्रोंको उनका जलांश चूसनेका पर्याप्त अवसर नहीं मिल पाता। इस प्रकार मलमें द्रवांश यथेष्ट होनेके कारण भी आनाहसे रक्षा होती है।

आटा छानकर व्यवहारमें लाया जाय तो उसमें सेल्युलोज़ नहीं रहने पाता। खनिज द्रव्य, जीवनीय तथा अधिकांश प्रोटीन भी चोकर तथा उसके नीचेके आवरणमें ही रहते हैं। छना हुआ आटा सेवन करनेवाले इन वस्तुओंसे भी वञ्चित और तदुत्थ रोगोंके ग्रास होते हैं।

आयुर्वेदमें सल्युलोज़-बहुल आहारका विधान—

सेल्युलोज़ जैसे द्रव्यका नामतः निर्देश आयुर्वेदमें नहीं है ; तथापि जिन आहार-द्रव्योंमें इसका प्रमाण विशेष पाया गया है उन्हें पुरीषक्षय (और तज्जन्य विबन्ध) में सेवन करनेका विधान है। इसके अतिरिक्त शाकोंको सामान्यतः विशिष्ट शाकोंको मलभेदन कहा है। इनकी यवागू भी मलभेदनार्थ विहित है। देखिये—

पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम्[2] ॥ च० शा० ६।११

१—Carnivorous animals—कार्नीवोरस एनीमल्स।

२—अर्धस्विन्नाश्च गोधूमा अन्ये च चणकादयः। कुल्माष इति कथ्यन्ते ॥ कुष्कुण्डं पलालाविच्छत्रिका ॥ —चक्रपाणि

मलका क्षय (और उससे विबन्ध) होनेपर अधपके गेहूँ, चना आदि शूकधान्य और शिम्बीधान्य; उड़द, कुष्कुग्ड (पुआल, मकई आदिके ऊपरका छत्राकार भाग जिसमें दाने रहते हैं) बकरीके शरीरका मध्यभाग, यव, शाक-भाजी तथा काँजी—इन द्रव्योंका सेवन करना चाहिये।

आजकल कई सुधीजन यह तो कहते ही हैं कि आटा छानना न चाहिये, प्रत्युत ऊपरसे चोकर मिलानेका विधान भी करते हैं। प्राचीनों द्वारा विहित कुष्कुग्ड-सेवन इसी प्रकारका है।

××× पुरीषस्य च भेदनम् ॥ च० सू० २७।१०३

शाक सामान्यतः मलके भेदक हैं। चौलाई, पोई (उपोदिका), बथुआ, पालक आदिको सुश्रुतने मलशोधक कहा है (देखिये सु० सू० ४६।२५६-२५७)।

शाकैर्मांसैस्तिलैर्माषैः सिद्धा वर्चो निरस्यति ॥ च० सू० २।२८

यहाँ शाक, मांस, तिल और माष (उर्द) से सिद्ध यवागूको मलभेदनी कहा है।

अति शाकाहारकी गर्हणा—

आधुनिकों द्वारा शाक-भाजीकी इतनी प्रशंसा होते हुए भी आयुर्वेदमें तो इसे अधिक मात्रामें गर्हित ही कहा है। देखिये—

शाकावरान्नभूयिष्ठमम्लं च न समाचरेत् ॥ सु० सू० ४६।४९१

अधिक शाक, अवर अन्न और अम्लका अति सेवन न करना चाहिये[1]।

अतिशाक भोजनसे एक तो उक्त प्रकारसे वातवृद्धि होनेसे वातविकार होनेकी संभावना है। ऊपरंच, यह भी संभव है कि, शाकोंके कारण महास्रोतस्में अन्नकी गति तीव्र हो जानेसे कलाको आहारगत द्रव्योंके पाचन तथा आचूषण (ग्रहण) का पर्याप्त समय न मिल पाता हो और शरीर पोषण और इन्धनके लिए यथेष्ट रस न उपलब्ध होनेके कारण वातविकारोंसे पीड़ित होता हो। यह भी संभव है कि, भोजनमें हम जो तृप्ति अनुभव करते हैं उसका कारण अमुक निश्चित तथा आमाशय द्वारा सह्य प्रमाणमें भोजनका अन्दर जाना है। इससे अधिक मात्रामें अन्न लेना चाहें तो भी तृप्ति हो जानेसे वह लिया ही नहीं जाता। परीक्षापात्र कुत्तेको भूख लगनेपर आहार खिलानेके साथ एक नलिका द्वारा उसके पेटमें पत्थरके टुकड़े छोड़ दिये जावें तो वह शीघ्र तृप्ति अनुभव करता है। इस वस्तुको लक्ष्यमें रखें तो यह समझा जा सकता है कि सेल्युलोज़मय आहार आमाशयमें प्रभूत मात्रामें जाय तो उसमें पोषक तथा इन्धनात्मक द्रव्य यथेष्ट न होने पर भी आहारकी अमुक मात्रा अमाशयमें जाने पर तृप्ति लाभ होता है। परिणामतया, धातुओंको उपयुक्त पुष्टि और इन्धन न मिलनेसे वे वातविकारोंके ग्रास होते हैं। आयुर्वेद और नवीन विज्ञान दोनोंके मतोंको सामने रखकर विद्वज्जनोंको विचार करना चाहिये।

१—पक्षिरूप धन्वन्तरिके 'कोऽरुक्, कोऽरुक्, कोऽरुक्' इन तीन प्रश्नोंका वाग्भट द्वारा–'हितभुक्, मितभुक्, अशाकभुक्' यह उत्तर किंवदन्तीरूपमें प्रसिद्ध है। वह भी इस प्रसंगमें द्रष्टव्य है। कई विद्वज्जन 'अशाकभुक्'के 'अ' (नञ्) का अर्थ 'अल्प' करते हैं, जो व्याकरण संमत भी है और आयुर्वेद विरुद्ध भी नहीं। महाभारतमें वकदेहधारी यक्षके 'को मोदते?' इस प्रश्नका युधिष्ठिरने जो उत्तर दिया है, वह भी स्मरणीय है—

"पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते ॥"

ग्यारहवां अध्याय

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

कार्बोहाइड्रेट और स्नेह—प्रोटीन-रक्षकके रूपमें—

कार्बोहाइड्रेटोंका एकमात्र प्रयोजन शक्त्युत्पादन है। स्नेहोंका प्रयोजन भी प्रधानतया यही है, पर उनमें एक विशेषता है कि मेदके रूपमें उनका शरीरमें संग्रह हो सकता है। इसके अतिरिक्त कतिपय जीवनियों[1] के योनि (आश्रय—अधिष्ठान) के रूपमें भी स्नेहोंका विशेष महत्त्व है। परन्तु शरीर किंवा कोषोंके निर्माणका कार्य इन दोनोंमेंसे किसीका नहीं। यह कार्य प्रोटिनों (तथा खनिजों और जल) का ही है। यदि शक्त्युत्पादनके लिए कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंका यथेष्ट प्रमाण शरीरको प्राप्त न हो और आहारमें प्रोटीन पुष्कल हो तो न्यूनतम धातुपाकके लिए कोष इस प्रोटोनका ही उपयोग करते हैं। परिणामतया, कोषोंको दैनिक क्षतिपूर्तिके लिए यथेष्ट प्रोटीन उपलब्ध न होनेसे वे—परिणाममें शरीर क्षीण होता है। दैवात्, आहारमें प्रोटीनोंका प्रमाण भी यथेष्ट न हो तो शारीर कोष न्यूनतम धातुपाकके लिए प्रथम संचित मेदका और पश्चात् अपने अन्तर्गत प्रोटीनका ही उपयोग करने लगते हैं। इस प्रकार स्वयं कोषोंके शरीरका विच्छेद होनेसे उनके अपने-अपने कार्य मन्द होने लगते हैं—शरीर कृश और बलहीन होता जाता है। अन्तमें मृत्यु होती है।

यह स्थिति उत्पन्न न हो इस हेतु आहारका नित्य नियमित सेवन आवश्यक है। आहारद्रव्योंमें भी प्रोटीनोंके इतर द्रव्यासाध्य (अन्य द्रव्योंसे न हो सकनेवाले) कर्मोंके संपादनके लिए न केवल यह आवश्यक है कि प्रोटीन यथोचित मात्रामें हो, यह भी उतना ही आवश्यक है कि शरीरको शक्तियोंके प्रादुर्भावके लिए जितना इन्धन चाहिये उसकी पूर्ति कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहों द्वारा ही की जाय। यद्यपि प्रोटीनका क्षतिपूर्ति तथा पुष्टिके लिए उपयोग होनेके पश्चात् उसका नत्रजन युक्त शेष अंश यूरिया[2] के रूपमें यकृत् और वृक्क द्वारा विच्छिन्न तथा मूत्रमार्गसे बाहर कर दिया जाता है एवं इस शेषांशका भी इन्धनवत् शक्त्युत्पादनके कार्यमें उपयोग हो जाता है तथापि अति प्रोटीनसे शरीरको अनेक प्रकारसे हानि होती है। यथा, प्रोटीनयुक्त आहार प्रायः गुरु (दुष्पच) होते हैं अतः जाठराग्नि पर अनावश्यक कार्यभार आ पड़नेसे उसके मन्द होनेकी आशङ्का रहती है। फिर, अनुपयुक्त नत्रजनके विच्छेदका कार्य यकृत् और वृक्क पर आ जानेसे उनकी अन्य क्रियाओंमें शिथिलता आनेकी संभावना होती है। यह भार निरन्तर रहे तो यकृत् तथा वृक्कके रोग हो जाते हैं। अतिमांसभोजियोंमें यह स्थिति देखी जाती है। इसके अतिरिक्त, प्रयोगों द्वारा विदित हुआ है कि प्रोटिनोंमें धातुपाकके दरको बढ़ानेका प्राकृत गुण है। इस प्रकार इन्धनोपयोगी द्रव्योंकी माँग बढ़ जानेसे और प्रकृत पक्षमें आहारमें प्रोटीन ही अधिक होनेसे यकृत् और वृक्कका कार्य और भी बढ़ जाता है। पुष्टि और क्षतिपूर्तिके कर्ममें हानि भी न हो और अतियोगसे यकृत् आदि अवयवों पर अतिभार भी न आ पड़े इस हेतु अनेक विद्वानोंने प्रोटीनकी न्यूनतम अपेक्षितमात्रा जाननेके लिए अनेक प्रकारसे प्रयास किये हैं। इनका कुछ उल्लेख आगे प्रोटीनके अधिकारमें करेंगे।

१—Vitamin [०]—वाइटेमिन, वाइटेमाइन।

२—urea

प्रोटीनके उल्लिखित तथा आगे कहे जानेवाले कर्मोंको दृष्टिगत रखकर प्रकृति स्वयं शक्त्युत्पानके लिए प्रथम कार्बोहाइड्रेटोंका, पश्चात् स्नेहोंका और उनके भी अयोग या हीनयोगमें आहारगत प्रोटीनका उपयोग करती है। इस प्रकार कार्बोहाइड्रेट और स्नेह प्रोटीनको अपने विशिष्ट कर्मोंके लिए सुरक्षित रखते तथा शक्त्युत्पादनार्थ स्वयं धात्वग्निमें आहुत होते हैं। अतः इन्हें 'प्रोटीन-रक्षक'[1] कहा जाता है।

प्रोटीन-रक्षक द्रव्योंके यथेष्ट प्रमाणमें ग्रहण करनेकी यों तो नित्य आवश्यकता है, तथापि बाल्यकाल, तारुण्य, रोगमुक्ति[2] आदि अवस्थाओंमें इनके उचित प्रमाणमें ग्रहणपर लक्ष्य देना विशेषतया आवश्यक है। अनशनके अनिष्ट परिणाम मुख्यतः प्रोटीनके अयोगके कारण होते हैं।

अनशनका शरीरपर प्रभाव—

अनशनकी स्थितिमें शरीरका भार क्रमशः न्यून होता जाता है; तापमान प्रारम्भमें कुछ उच्च होकर मन्द हो जाता है; अवयवोंके क्रम क्रमशः क्षीण होकर शरीरके कुल भारका आधा रह जानेपर मृत्यु होती है। न्यूनतम धातुपाक और उष्णताके लिए कोषों और अन्तरवयवों पर भार न आ पड़े इस हेतु कृत्रिम तापका उपयोग करें तो मृत्यु कुछ विलम्बित भी हो सकती है। जल दिया जाय तो पुरुष एक माससे कुछ अधिक जीवित रह सकता है। अनशनसे मृत्यु कब होगी इस बातपर वयका भी प्रभाव होता है। युवा व्यक्तियोंका भार अपेक्षया शीघ्र क्षीण होता है, वे वृद्धोंकी तुलनामें भारके अल्प क्षयसे ही मृत्युवश होते हैं।

आहार द्वारा तथा कोषोंके विनाशके कारण प्राप्त कितनी प्रोटीनका उपयोग शरीरने किया है इसकी गणना मूत्रमें यूरिया (प्रोटीनका मल) का प्रमाण देखकर की जा सकती है। अनशनके पहले ही दिन यूरियाका प्राकृत प्रमाण घटकर आधा हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि प्रकृति प्रोटीनकी रक्षापर कितना ध्यान देती है। कोई चार सप्ताह पर्यन्त मूत्रमें यूरियाका प्रमाण उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। इस अवधिमें शरीरावयव न्यूनतम धातुपाकके लिए पूर्वसंचित मेदका उपयोग करते हैं। चार सप्ताहमें यह मेद निःशेष (समाप्त) हो जाता है और न्यूनतम धातुपाकके लिए कोषान्तर्गत प्रोटीन ही यकृत् द्वारा नत्रजन-विरहितकी जाकर शरीरावयवोंको दी जाती है। इस नत्रजनके विच्छिन्न होनेके कारण ही चार सप्ताह पीछे पुनः यूरियाका प्रमाण मूत्रमें बढ़ने लगता है। अरिष्ट-लक्षणों (निश्चितमरणद्योतक चिह्नों) के प्रादुर्भावके साथ यूरियाकी मात्रा पुनः न्यून होने लगती है। ओषजनके आयात और कार्बन डाई आक्साइडके निर्यातकी मात्रा भी अनशनसे मृत्युपर्यन्त न्यून होती जाती है।

इस विषयमें यह बात ध्यान देने योग्य है कि, अनशन-कालमें सभी धातुओं और अवयवोंका क्षय समभावसे नहीं होता। जीवनके लिए अधिक उपयोगी अङ्गोंको जीवित रखनेके लिये अन्य अवयवोंको आहुति होती है। यथा, हृदयका क्षय लगभग नहीं होता; केन्द्रीय नाड़ी-संस्थानके कुल भारमें तीन प्रतिशत कमी आती है। मेद प्रायः सम्पूर्ण समाप्त हो जाता है। पेशियोंके कुल भारमें तीस प्रतिशत न्यूनता आती है। अन्य अवयव भी न्यूनाधिक क्षीण होते हैं। वॉयट[3] की

१—protein-sparers—प्रोटीन-स्पेअरर्स।

२—convalescence—कॉन्वेलेसेन्स

३—Voit.

गणनानुसार सारे शरीरका क्षय (भारमें न्यूनता) सौ हो तो विभिन्न अवयवोंकी क्षीणता नीचे लिखी होती है।

अस्थि	... ५·४	वृषणग्रन्थि	... ०·१
पेशी	... ४२·२	अन्त्र	... २·०
यकृत्	... ४·८	मस्तिष्क तथा सुषुम्णा	... ०·१
वृक्क	... ०·६	त्वचा तथा केश	... ८·८
प्लीहा	... ०·६	मेद	... २६·२
अग्न्याशय	... ०·१	रक्त	... ३·७
फुप्फुस	... ०·३	अन्य अवयव	... ५·०
हृदय	... ०·०		

जीर्ण रोगोंमें जब अरुचि, मन्दाग्नि आदिके कारण आहार योग्य मात्रामें शरीरमें नहीं जाता तो जितना पोषक द्रव्य उपलब्ध होता है, उसका उपभोग करते हुए भी प्रकृति इसी प्रकार अधिक जीवनोपयोगी अवयवोंका पक्षपात करती है तथा अन्य अवयवोंकी उपेक्षा करती है। जैसे, अल्प-कालिक भी रोगमें इसी न्यायके अनुसार केशोंका पोषण न्यून हो जानेसे उनकी कान्ति मन्द तथा मुटाई अल्प हो जाती है। जीर्ण रोगोंमें तो यह स्थिति एवं केशपात और केशाल्पता विशेषतः दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हें देखकर दर्शनमात्रसे जीर्ण रोगकी कल्पना कर लेनी चाहिए[1]। अस्तु।

१—चेतनवाद तथा यन्त्रवाद— नत्रजन (नाइट्रोजन) के विषयमें शरीरकी उक्त चिन्ता और व्यवस्था तथा अनशन-कालमें विभिन्न अवयवोंके प्रति इस पक्षपात एवं इसी प्रकारकी अन्य कई घटनाओंको देखकर पश्चिममें एकवाद प्रवृत्त हुआ जिसे चेतन-वाद (Vitalism—वाइटलिज्म) कहते हैं। इसके अनुयायी मानते हैं कि शरीर-यन्त्रमें एक ऐसी चेतन-शक्ति (Vital-force—वाइटल फोर्स) है जो इन सब पक्षपातों और उपेक्षाओंमें कारणभूत है। इसकी उपमा एञ्जिनीअरसे दी जाती है, जो सारे निर्जीव यन्त्रका प्रेरक और प्राण होता है।

मूत्रनिर्माणकी प्रक्रियामें अमुक ही द्रव्योंका वृक्कों द्वारा निर्हरण और शेषका पुनः रक्तमें उत्सर्जन; केशिकाओं द्वारा अमुक ही द्रव्योंका क्षरण होकर रसधातुकी उत्पत्ति; विभिन्न अन्तःस्रावी और बहिः-स्रावी ग्रन्थियों द्वारा रस-रक्तसे अमुक ही द्रव्योंका ग्रहण कर अपने-अपने स्रावोंको उत्पन्न करना; अन्त्रों द्वारा अमुक ही द्रव्योंका शोषण तथा शेषका मल रूपमें परित्यजन; इनमें भी केशिकाओं द्वारा प्रोटीनोंके ही पक्वांशका तथा रसवाहिनियों द्वारा स्नेहोंके ही पक्वांशका ग्रहण; एवं विभिन्न सामान्य शर्कराओं (एकाणुक शर्कराओंके) शोषणमें न्यूनाधिक सुगमता; तथा फुफ्फुसों द्वारा ओषजनका आदान और कार्बनडाई-ऑक्साइडका विसर्जन—यह घटनाएँ भी चेतन-शक्तिके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये प्रस्तुत की जाती हैं।

इस वादके विरोधी कहते हैं कि शरीरकी यावत् क्रियाओंकी व्याख्या रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र तथा यन्त्र-विद्याके नियमोंके आधारपर की जानी चाहिए। इसवादको यन्त्रवाद(Mechanism—मिकेनिज्म) कहते हैं। इस वादके अनुयायियोंका मन्तव्य है कि आज हम कई घटनाओंकी व्याख्या उक्त तीन शास्त्रोंके ज्ञात नियमोंके आधारपर नहीं कर सकते यह सत्य है। यह भी सत्य है कि, कभी-कभी ऊपर कही घटनाओंको इन शास्त्रोंकी भाषामें समझा न सकनेके कारण 'चेतन-शक्ति' आदि शब्दोंका आश्रय लेते हैं। परन्तु, ऐसे प्रसंगोंमें हम ऐसे शब्दोंका व्यवहार केवल यह द्योतित करनेके-

निम्न वचनमें वाग्भटने अनशनके अनिष्ट परिणामोंका उत्तम उल्लेख किया है।—

आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये॥

अ० हृ० चि० १०।९१

अग्निः पूर्वमाहारं पचति। आहाररहितस्त्वग्निर्दोषान् पचति। तदभावाद्धातून पचति। धातुसंक्षये सति जीवितं पचति नाशयतीत्यर्थः॥ —अरुणदत्त

अग्निका कार्य आहारका पचन है। आहार हो तो वह प्रथम उसका पाक करता है। आहारके अभावमें वह दोषों (आम अधिक मेद आदि) का पचन करता है। ऐसी स्थितिमें भी आहार न मिले तो वह धातुओं (कोषों) का पचन करता है। धातुओंके भी क्षीण हो जानेपर वह प्राणोंका ही पचन (विनाश) कर देता है।

उपवास तथा आहारका हीन योग—

उपवास तथा अन्य लङ्घन[1] अतियोगकी सीमातक पहुँच न जाय इस हेतु इस स्थितिको लक्ष्यमें रखना चाहिए। आहारके हीनयोग (आवश्यकसे न्यून प्रमाणमें सेवन) से उल्लिखित विपरिणाम तो होते ही हैं, साथ ही आयुर्वेदमतसे हीन आहार धातुओंको क्षीण करके वातको प्रकुपित करता है। देखिये—

×× तत्र हीनमात्रमाहारराशिं बलवर्णोपचयक्षयकरमुदावर्तकरमनायुष्यवृष्यमनौजस्यं शरीरमनोबुद्धीन्द्रियोपघातकरं सारविधमनमलक्ष्म्यावहमशीतेश्च वात विकाराणामायतनमाचक्षते च० वि० २।७

सारविधमनमिति रोगभिषग्जितीये वक्ष्यमाणत्वक्सारादिविधानम्॥

—चक्रपाणि

हीनमात्रामें सेवन किया गया आहार बल, वर्ण और उपचय (पुष्टि) को क्षीण करनेवाला

लिए करते हैं कि प्रकृत घटनाकी व्याख्या करनेमें अपने वर्तमान ज्ञानको देखते हम अशक्त हैं। ये लोग जैसे एञ्जिनीयरके ही अस्तित्वका निषेध करते हैं।

आयुर्वेदका मार्ग दोनोंका मध्यवर्ती है। वह आत्माकी उपस्थितिको मानता हुआ चेतन-वादियों (Vitalists—वाइट लिस्ट्स) का पोषक प्रतीत होता है। दूसरी ओर आत्माकी कोई स्वतन्त्र क्रिया न स्वीकार करता हुआ यन्त्रवादियों (Mechanists—मिकेनिस्ट्स) का समर्थक लगता है।

१—लङ्घन—स्मरण रहे, उपवासके लिये लङ्घन शब्द प्रचलित है परन्तु आयुर्वेदमें यह एक परिभाषित शब्द है। शरीरमें लाघव (भारमें न्यूनता) करनेवाला कोई भी कर्म या द्रव्य लङ्घन कहाता है। देखिये—

यत्किंचिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्॥
चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥

च० सु० २२।९, १८

—वमन, विरेचन, निरूह बस्ति, रक्तमोक्षण ये चार प्रकारके संशोधन, पिपासा (तृषाके वेगका अवरोध), वायु सेवन, आतप सेवन, पाचन द्रव्य, उपवास और व्यायाम—इन्हें लङ्घन कहा जाता है।

उदावर्तकर ; आयु, शुक्र और हर्ष (काम) का ह्रास करनेवाला ; ओजः-क्षयकारी ; शरीर, मन बुद्धि और इन्द्रियोंको उपहत (स्वरूप और क्रियाकी दृष्टिसे हीन) करनेवाला ; आगे कहे जानेवाले रक्तसार, शुक्रसार आदि सारोंको क्षीण करनेवाला ; अलक्ष्मीका जनक तथा अस्सी प्रकारके वातविकारोंका मूल है[1] ।

ज्वरादि रोगोंमें लङ्घन—

ज्वर, (तरुण) अतिसार आदि रोग आमजन्य होनेसे उनमें उपवासका आदेश है, परन्तु वह उपवास भी इतना न होना चाहिये कि उससे शरीर आहारके हीनयोग या आयोगसे होनेवाले उल्लिखित परिणामोंका ग्रास बने ।

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत् ।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ।। च० चि० ३।१४१

प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना । आरोग्यं बलवत एव भवतीति बलाधिष्ठानमारोग्यमुक्तम् ॥
—चक्रपाणि

जिस ज्वरितको लङ्घन (उपवास) कराना हो[2] उसे इतना लङ्घन न कराएँ कि उसका बल ही क्षण होने लगे । कारण, बल बिना आरोग्य कैसे हो सकता है ! और आरोग्यके लिए तो इस शास्त्रकी प्रवृत्ति है । यह चिकित्सासूत्र अन्य रोगोंमें लङ्घन कराते हुए भी दृष्टिगत रखना चाहिए ।

ज्वरोंमें निरामताके जो लक्षण दिए हैं उनके प्रादुर्भावके पश्चात् लङ्घन करानेसे उल्टा धातु और बलका क्षय तथा रोगमें वृद्धि होती है । संनिपात ज्वरोंमें आम दोषका प्रकोप विशेष होता है ; उनमें निरामताके सामान्य लक्षण प्रकट होनेतक उपवास कराया जाय तो धातु और बलका अतिक्षय होकर प्राणसंशय होता है । अतः उनमें व्यवहारार्थ 'अष्टाह' (लङ्घन चालू किये हुए आठ दिन पूर्ण होना) को ही निरामता माना जाता है, तथा इसके पश्चात् औषध योजनाकी जाती है । सामान्य ज्वरोंमें लङ्घनके पश्चात् अनेक दृष्टियोंसे उपयोगी मण्ड, पेया, यवागू आदि दी जाती हैं । इनका एक प्रयोजन यह है कि ये आहाररूप होनेसे प्राणधारक (जीवन, बल और आरोग्यकी संरक्षक) होती हैं ।

आहारभावात् प्राणाय ॥ च० चि० ३।१५१

इसके पश्चात् (मांस भोजियोंके लिए) जाङ्गल मांसके रसोंके साथ तथा (निरामिष-भोजियोंके लिए) यूषोंके साथ दस दिनतक लघु (सुपच) अन्न लेनेका विधान है[3] । पश्चात् कफ मन्द हो गया हो और ज्वर वात-पित्त प्रधान हो तो घृतके सेवनका उपदेश है[4] । घृतको इस स्थितमें

१—हीन तथा अतिमात्राका विशेष विचार आगे जठरानल-द्वारा पाकके अधिकारमें करेंगे । धातुक्षयसे वायुका प्रकोप कैसे होता है इसका आयुर्वेदमतानुसार विशदीकरण आगे वातधातुके प्रकरणमें किया जायगा ।

२—ज्वरमें लङ्घन किसे कराना और किसे नहीं करना—इसके लिए देखिये—च० चि० ३।१३९ ; च० चि० ३।२७२ ; सु० उ० ३९।१०२ तथा सु० चि० १।१३ । सम्यक्लङ्घित एवं निरामके लक्षणोंके लिए देखिये—सु० उ० ३९।१०४ ; च० सू० २२।३४-३५ ; तथा च० चि० ३।१३७ । अतिलङ्घितके लक्षणोंके लिए देखिये-च० सू० २२।३६-३७ : तथा सु० उ० ३९।१०५ ।

३—देखिये—च० चि० ३।१६३ । ४—देखिये—च० चि० ३।१६४ ।

अमृततुल्य कहा है। परन्तु कफ मन्द न हो तो घृतका निषेध किया है। सुश्रुतने ज्वरके पूर्वरूपोंमें भी घृतपानका विधान किया है[१]। ज्वर अन्य उपायोंसे शान्त न होता हो तो उसका कारण धातुओंकी रूक्षता (क्षीणता) है ऐसा कहकर चरकने ऐसी स्थितिमें घृतपानका आदेश किया है[२]। कषायोंमें भी घृत डालकर पीनेको कहा है[३]। टायफॉयडमें कॉडलिवर ऑयल या शार्कलिवर ऑयल दिया जाय तो ये स्नेह अपने जीवनीयोंके कारण तथा शक्त्युत्पादक स्नेहांशके कारण शक्तिका प्रादुर्भाव और प्रोटीनकी रक्षा करते हैं, इससे रोगमुक्तिके पश्चात् रोगी शीघ्र बलवान् हो जाता है, ऐसा आधुनिकोंका मत अब हुआ है। ज्वरोंमें विशेषतः जीर्णज्वरोंमें वैद्यकमें जो घृतपानका विधान है उसका भी प्रयोजन यही है।

अन्नग्रहणके योग्य स्थिति उपस्थित होनेपर रुचि न हो तो भी हित अन्नका सेवन करना ही चाहिए, अन्यथा धातु और बलका क्षय, धातुबलक्षयसे कष्टसाध्यता या असाध्यता किंवा मृत्यु होती है[४]।

इस प्रसंगमें यह भी स्मरणीय है कि ज्वरकी जीर्णता आदि लक्षणोंमें दूध अनेक दृष्टियोंसे अत्यन्त प्रशस्त है[५], परन्तु तरुण ज्वरमें वही विषवत् मारक कहा गया है। देखिये—

तदेव तरुणे पीतं विषवद्धन्ति मानवम् ॥

सु० उ० ३९।१४५

आहारकी मात्राके प्रसंगमें इस विवेचनका अभिप्राय यह है कि, ज्वरमें भोजनके सम्बन्धमें आयुर्वेदने जो विधान किया है उसपर ध्यान न देकर प्रायः सद्वैद्य भी आधुनिकोंके नित्यपरिवर्तनशील सिद्धान्तोंके प्रवाहमें पतित हो भ्रष्ट हो जाते हैं[६]। विशेषतः टायफायडमें इस स्थितिपर ध्यान देनेकी अधिक आवश्यकता है। इस रोगमें नवीनोंका एक पक्ष लङ्घनपर जोर देता है और दूसरा पोषण और आहारपर। द्वितीय पक्षवाले प्रारम्भसे ही रोगीको डबल रोटी, मक्खन, अण्डा आदि खिलाते हैं। पहले समझा जाता था कि, भोजनसे अन्त्रोंमें गति होती है, जिससे व्रणित अन्त्रमें छिद्र होकर रोगीकी मृत्युकी आशङ्का होती है। कई चिकित्सक दोनोंके मध्यवर्ती मार्गको पसन्द करते हैं। इस विषयमें आयुर्वेदका स्पष्ट मत ऊपर दिया है। विशेष अनुसंधान मूल ग्रन्थोंसे करना चाहिये। यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि ज्वरके प्रारम्भमें दूधको विषतुल्य कहा है।

प्रसंगवश यह कहना उचित प्रतीत होता है कि, ज्वरकी मर्यादा, तन्द्रा आदि लक्षणोंको देखते हुए टायफॉयड सामान्यतः कफप्रधान सन्निपात प्रतीत होता है। कई वैद्य, यह समझकर कि इसमें अन्त्रोंके अमुक प्रदेशमें व्रण हो जाते हैं, इस रोगको पित्तप्रधान मानते हैं।

स्नेहोंके पाककी पूर्णताके लिए कार्बोहाइड्रेटोंकी आवश्यकता—

आशय यह है कि स्वस्थ अथवा अस्वस्थ उभय अवस्थाओंमें प्राणधारणके लिए अन्नपान

१—देखिये—सु० उ० ३९।९७-९८।

२—देखिये—च० चि० ३।२१६-२१७।

३—देखिये—च० चि० ३।२१८।

४—देखिये—'ज्वरितो हितमश्नीयाद् यद्यप्यस्यारुचिर्भवेत्'—इत्यादि सु० उ० ३९।१४६—१५०; तथा—च० चि० ३०।३३१—३३३।

५—देखिये सु० उ० ३९।१४३-१४४; च० चि० ३।१६९-१७१।

६—अन्य अनेक सिद्धान्तोंके विषयमें भी यह बात इतनी ही सत्य है।

अनिवार्य है। साथ ही हम अन्नपानसे अनपाय लाभ उठा सकें, इस हेतु प्रत्येक द्रव्यका असुक प्रमाणमें ग्रहण आवश्यक है। शरीरको प्रथम आवश्यकता प्रधानतया शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी होती है। ये द्रव्य तीन हैं—कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और नत्रजनरहित प्रोटीन।

क्षतिपूर्तिके लिए वयस्थ पुरुषमें प्रोटीनकी आवश्यकता विशेष नहीं रह जाती। इस कारण, आवश्यकसे अधिक प्रोटीन-सेवन करनेसे यकृत् और वृक्कपर अतिभार आ पड़ता है, इस कारण तथा प्रोटीनयुक्त द्रव्य (दूध, मांस आदि) अपेक्षया मूल्यवान् होनेसे प्रोटीनका अल्पमात्र सेवन ही यथेष्ट होता है और किया जाता है।

शेष द्रव्योंमें स्नेहको प्रकृति संग्रहके रूपमें रखना अधिक पसन्द करती है। कारण, जैसा कि गत अध्यायमें देख आये हैं, समभार कार्बोहाइड्रेट, स्नेह और प्रोटीन तीनोंमें स्नेहोंके दहनसे अन्य द्रव्योंकी अपेक्षया ढाईगुनी शक्ति प्रादुर्भूत होती है। एक ग्राम द्राक्षा शर्कराके दहनसे ४.१ कैलोरी ताप प्रकट होता है, स्नेहके एक ग्रामसे ९.३ और प्रोटीनके एक ग्रामसे ४.१। आपत्काल, रोग आदि अवस्थाओंमें जब अन्नसेवन नहीं किया जाता उस काल न्यूनतम धातुपाकके लिए संगृहीत स्नेह (मेद) का उपयोग शरीर करता है। अल्प मात्रामें अधिक शक्ति उत्पन्न करनेवाले होनेसे स्नेहोंका ही संचय प्रकृति करती है। शेष द्रव्योंका संचय अपेक्षया अधिक मात्रामें करना आवश्यक होता है। १०० कैलोरियोंकी प्राप्तिके लिए जितना मेद चाहिये वह १२ घन सेण्टीमीटर[1] होता है तथा उसका भार ११ ग्राम[2] होता है। इतनी ही कैलोरियोंके लिए ग्लायकोजनके संचयस्थानभूत यकृत्का १३० ग्राम अपेक्षित है, जिसका आयतन मेदके उक्त प्रमाणसे कमसे कम दुगुना होता है। त्वचाके नीचे संचित मेद शरीरको सु-रूप और मृदु बनानेमें भी सहायक है। अतः अन्नपानमें कार्बोहाइड्रेट पर्याप्त हों तो स्नेहोंका संचय ही शरीरमें होता है।

कार्बोहाइड्रेटोंका दहन और शक्त्युत्पादनके लिए प्रथम उपयोग इस कारण भी होता है कि, इनका दहन सुगमतासे होता है। कारण, स्नेह जिन स्नेहाम्लोंसे[3] बने हैं उनमें केवल ११ प्रतिशत ओषजन होता है, परन्तु द्राक्षाशर्कराके प्रत्येक कणमें ५३ प्रतिशत ओषजन होता है। बाहरसे अधिक प्रमाणमें ओषजन अपेक्षित न होनेसे इनका दहन धात्वग्नियोंकी उपस्थितिमें सुगमतासे हो जाता है। इन सब कारणोंसे हमारे परम्परागत आहारमें कार्बोहाइड्रेट कोई पौना भाग होते हैं। इन्हो कारणोंसे महास्रोतस्में कार्बोहाइड्रेटोंके पाकके लिए अधिक स्थान प्रकृतिने नियत किया है। इस विषयका विस्तार आगे यथाप्रकरण करेंगे।

परन्तु, कार्बोहाइड्रेटोंका अमुक प्रमाणमें सेवन एक अन्य दृष्टिसे भी उपयोगी है। विदित हुआ है कि, कार्बोहाइड्रेट यथेष्ट मात्रामें शरीरमें जायँ और उनका दहन (पाक) भी सम्पूर्ण हो तब ही स्नेहोंका पाक भी पूर्णतया होता है। अन्यथा नहीं। तात्पर्य, स्नेहोंका दहन होकर जो अन्तिम द्रव्य (कार्बन डाइआक्साइड और जल) बनने चाहिये वे नहीं बनते यदि कार्बोहाइड्रेटोंका पाक अपूर्ण हो—इन चरम द्रव्योंके स्थानपर मध्यवर्ती द्रव्य[4] बनते हैं, जो शरीरमें विक्रिया उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेदकी संज्ञामें इन द्रव्योंको एक प्रकारके 'आम' कहा जा सकता है।

१—Cubic centimetre क्यूबिक सेन्टीमीटर ; संक्षेप-C C, सी. सी.।

२—Gramme, ; एकग्राम=७॥ रत्ती।

३—Fally acids—फैटी एसिड्स।

४—Intermediary Compounds—इंटरमीडिअरी कम्पाउंड्स ; या—Half burned products—हाफ-बर्न्डप्रोडक्ट्स।

स्नेहोंके अपूर्ण पाकसे उत्पन्न इन आम द्रव्योंको अंग्रेजीमें 'कीटोन्स'[१] या 'कीटोन बॉडीज'[२] कहते हैं। रक्तमें इनके आधिक्यको 'कीटोनीमिया'[३] या 'कीटोसिस'[४] कहा जाता है। कीटोन अम्ल होनेसे इस विक्रियाको 'अम्लरक्तता'[५] भी कहते हैं।

रस रक्तकी प्रतिक्रिया[६]—

रक्तकी प्रतिक्रिया क्षारीय[७] होती है[८]। परन्तु इसका यह आशय नहीं कि उसमें अम्लता

१—Ketones।

२—Ketone bodies।

३—Ketonemia [कीटोन+Haima—हेमा=रक्त]

४—Ketosis. कीटोन-संज्ञक द्रव्य तीन हैं—(१) Beta-hydroxy-butyric acid बीटा-हाइड्रॉक्सी-ब्यूटिरिक एसिड; (२) Aceto acetic acid—एसिटो-एसिटिक एसिड; तथा (३) acetone—एसिटोन।

५—Acidosis—एसिडोसिस; या Acidoemia—एसिडीमिआ।

६—Reaction—रीएक्शन।

७—Alkaline—आल्कलाइन।

८—**अम्लता और क्षारीयताका अर्थ**—अम्ल और क्षार वैज्ञानिक संज्ञाएँ हैं, जिनका परिभाषित (विशिष्ट) अर्थ है। द्रव्योंकी अम्लता और क्षारताका सामान्य अर्थ और परीक्षा यह है कि जिस द्रव्यके घोल (Solution—साल्यूशन) में नीला (लिटमस-पत्र Litmus Paper—लिटमस पेपर) डालनेसे पत्र लाल हो जाय वह अम्ल (acid—एसिड) है। इसके विपरीत जिस द्रव्यके घोलमें लाल लिटमस-पत्र डालनेसे वह नीला हो जाय उसे क्षार (Alkali—आलकली) कहते हैं। [लिटमस Lichen—लाइकेन नामक उद्भिद्से प्राप्त होनेवाला एक रङ्ग है। मूल रङ्ग लाल होता है, उसे क्षारयुक्त करके नीला बनाते हैं। लाल और नीले लिटमससे रँगी कागजकी छोटी-छोटी पत्तियोंको लिटमस-पत्र कहते हैं।] जिन द्रव्योंके द्रवमें कोई भी लिमटस-पत्र डालनेसे उसपर कोई क्रिया न हो उन्हें उदासीन (Neutral—न्यूट्रल) कहा जाता है। अम्ल, क्षार और उदासीन द्रव्योंकी सामान्य परिभाषा यह होते हुए भी उनमें कुछ रासायनिक भिन्नता भी होती है।

कई द्रव्योंका यह स्वभाव होता है कि उन्हें पानी में घोला जाय तो वे आयन (Ions) नामक विशिष्ट कणोंके रूपमें विच्छिन्न हो जाते हैं। आयन नाम ऐसे कणोंका है जो विद्युत्से आविष्ट होते हैं। ये कण एक अणु (Atom—एटम) के रूपमें होते हैं, अथवा अनेक अणुओंके वर्गके रूपमें होते हैं। इन कणोंमें कई ऋण विद्युत् (Negatvie electrecity—नेगेटिव इलेक्ट्रिसिटि) से आविष्ट होते हैं और कई धन विद्युत (Positive electricity—पॉज़िटिव इलेक्ट्रिसिटि) से। यथा लवणको जलमें घोलें तो वह अपने सोडियम और क्लोरीन इन दो घटक-अणुओंमें विच्छिन्न हो जाता है। इनमें सोडियम धनविद्युदाविष्ट होता है, और क्लोरीन ऋणविद्युदाविष्ट।

जिन पदार्थोंको अम्ल कहा जाता है उनमें यह विशिष्टता होती है कि उन्हें जलमें डालनेपर उनके अन्तर्गत उदजन (Hydrogen—हायड्रोजन) के आयन पृथक् हो जाते हैं, जिससे द्रवका रस (स्वाद) अम्ल होता है। उदजनके आयन जितनी संख्यामें पृथक् होंगे उसीके अनुसार वह द्रव्य न्यून या अधिक अम्ल होगा। यथा, लवणाम्ल (Hydrochloric acid —हायड्रोक्लोरिक एसिड; सूत्र-HCL-एच-सी एल) को जलमें छोड़ें तो उसके घटक अणु उदजन और क्लोरीनके आयन विच्छिन्न हो जाते हैं। लवणाम्लको तीक्ष्ण अम्ल (Strong acid—स्ट्रॉङ्ग एसिड) कहा जाता है, इसलिए कि उसके उदजन

नहीं होती। रक्त में अम्लता होती है, पर नगण्य। वैज्ञानिकोंने अम्लताकी एक इकाई नियतकी

के आयनोंका विच्छेद प्रायः पूर्णतया हो जाता है। तक्राम्ल (Lactic acid—लेक्टिक एसिड) मृदु (Weak—वीक) कहाता है, कारण इसके उदजनके अणुओंका विच्छेद अल्प संख्यामें होता है।

[स्ट्रॉङ्ग और वीकके लिए 'तीक्ष्ण' और 'मृदु' शब्दोंका प्रयोग इन गुणोंकी सुश्रुतोक्त परिभाषाको देखकर किया है। वहाँ कहा है—दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा—सु० सू० ४६।५१८।]

आयनोंका विच्छेद कई द्रव्योंमें अणुओंके वर्गके रूपमें भी होता है। तथा, शुक्ताम्ल (Acetic acid—एसिटिक एसिड) जैसे जटिल अम्लको पानीमें घोलें तो उदजनके अणुओंका एक आयन बनता है और शेष अंशका दूसरा आयन बनता है।

जैसे द्रव्यकी अम्लता (Acidity—एसिडिटी) उसके घोलमें विच्छिन्न हुए उदजनके आयनोंके अधीन है, वैसे उनकी क्षारता (Alkalinity—आल्कलाइनिटी) उनके उदजन और ओषजनके वर्ग (Hydroxyl—हायड्रॉक्सिल ; सूत्र OH—ओ एच) के आयनके रूपमें विच्छिन्न होने तथा उनकी इयत्ता (प्रमाण) पर अवलम्बित है। अर्थात् द्रव्य उतना ही क्षारीय होगा—जितना उसके घोलमें उक्त द्रव्योंका विच्छेद होगा।

इस विषयमें स्मरण रखना चाहिये कि जो द्रव्य अम्ल कहाते हैं उनमें भी 'हायड्रोक्सिल' वर्गका आयन विद्यमान होता ही है। विशेषता इतनी है कि, उनके घोलमें उदजनके आयनोंकी संख्या अपेक्षया अधिक होती है, जिससे वे नीले लिटमसको लाल कर देते हैं। इसी प्रकार, जिन द्रव्योंको क्षार कहा जाता है उनके घोलमें भी उदजनके आयन होते ही हैं, परन्तु 'हायड्रॉक्सिल' के आयनोंकी संख्या अधिक होनेसे उनकी पूर्वोक्त प्रतिक्रिया होती है।

शुद्ध जलका उदजन और हायड्रॉक्सिल के रूपमें विच्छेद नहीं-जसा होता है, दोनोंकी संख्या समान होती है; इसी कारण किसी लिटमस-पत्रपर उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और उसे उदासीन कहते हैं।

क्योंकि क्षार, अम्ल और उदासीन तीनोंमें उदजनके अणु अवश्य होते हैं अतः किसी द्रव्यके द्रवमें इन अणुओंकी संख्या कितनी है इससे उनकी क्षारता आदिका निर्देश किया जाता है। उदजनके अणुओंकी संख्याको अंग्रेजीमें 'पावर ऑफ हायड्रोजन' (Power of Hydrogen—उदजनको इयत्ता ; संक्षेपमें p H-पी एच) कहा जाता है। इसीका अन्य नाम 'हायड्रोजन-आयन-कंसेण्ट्रेशन या एच-आयन-कन्सेंट्रेशन (Hydrogen-ion concentration ; H-ion concentration) भी है, जिसका अर्थ 'उदजनके आयनोंका प्रतिचय' है।

लवणाम्लके सामान्य घोलमें (Normal solution—नॉर्मल सॉल्यूशन ; एक लिटर जलमें ३६·५ ग्राम लवणाम्लको सामान्य घोल कहते हैं ; १ ग्राम=कोई ७॥ रत्ती, १ लिटर=१ हजार घन सेण्टीमीटर) उदजनके आयनोंकी जो संख्या होती है, उसे अम्लताकी इकाई कहते हैं।

इस विवेचनसे स्पष्ट होगा कि रक्तकी प्रतिक्रिया क्षारीय होते हुए भी उसमें उक्त प्रमाणमें अम्लता भी होनेका क्या अर्थ है।

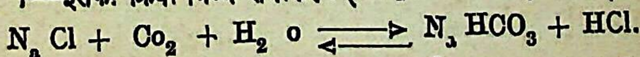
उदजनके लिए अम्लजन नामकी अन्वर्थकता—वर्तमान रसायनशास्त्रके विकासके प्रारम्भिक दिनोंमें समझा जाता था कि ओषजन अम्लोंकी उत्पत्तिके लिए अनिवार्य घटक है। इसी कारण अंग्रेजीमें उसे ऑक्सिजन (Oxus—ऑक्सस=तीक्ष्ण) नाम दिया गया। हिन्दीमें संज्ञाओंकी रचना करते हुए ओषजनको भी इसी विश्वासके आधारपर प्रारम्भमें अम्लजन नाम दिया गया, जो अब छूट-सा गया है। परन्तु उक्त विवेचन देखते हुए इस नामका उपयोग यदि उदजनके लिए प्रचलित किया जाय तो वह बहुत अन्वर्थक और गुण-धर्मबोधक होगा।

है। रक्तकी अम्लता केवल ०·०००,०००,०३२ इकाई होती है। अम्लताकी इस सूक्ष्म मात्राको प्रकृति रासायनिक परिवर्तनों द्वारा नियमित रखती है। यावज्जीवन दहन और शक्तिके प्रादुर्भावके परिणामस्वरूप अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई ऑक्साइड) रस-रक्तमें निरन्तर मिश्रित होता रहता है। यह एक अम्ल है। पेशियोंकी चेष्टावश तक्राम्ल भी प्रायः सर्वदा निर्मित होकर रस-रक्तमें छोड़ा जाता है। यह भी अम्ल है। रस-रक्तकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्थिर रखनेके लिए प्रकृतिको सामान्यतया इन दो अम्लोंको ही क्षार-रूपमें परिणत करना पड़ता है। अङ्गाराम्लको प्रकृति सर्ज-क्षार (सोडा बाई कार्ब) के रूपमें परिणत कर देती है। इसमें क्रिया यह होती है कि रसरक्तगत सैन्धव और अङ्गाराम्लके संयोगसे सर्जक्षार बनता है[1]। तक्राम्ल दो प्रकारसे अनम्ल किया जाता है। या तो सर्जक्षार और तक्राम्लके संयोगसे केल्शियम लैक्टेट[2] और अङ्गाराम्ल बनते हैं, या क्षारीय सोडियम फॉस्फेट[3] और तक्राम्लका संयोग होकर सोडियम लैक्टेट और अम्ल सोडियम फॉस्फेट[4] बनते हैं[5]। प्रथम रासायनिक क्रियामें उत्पन्न अङ्गाराम्ल श्वासक्रियाद्वारा और द्वितीय रासायनिक क्रियामें उत्पन्न अम्लसोडियम फॉस्फेट मूत्रमार्गसे बाहर निकल जाता है। अन्य अम्लोंका प्रत्युपाय भी शरीर तक्राम्लके समान ही करता है। मांसभोजनसे किंचित् अम्लता उत्पन्न होती है। कारण, प्रोटीनोंके विश्लेषणसे अम्ल द्रव्य बनते हैं। परन्तु—

अम्लरक्तताका विशेष स्मरणीय कारण स्नेहोंका पूर्वलिखित अपूर्ण पाक है। यह अपूर्णता दो विकृतियोंमें देखी जाती है—अनशनकी स्थितिमें किंवा इक्षुमेहमें। अनशनकालमें बाहरसे तो कार्बोहाइड्रेट शरीरमें जाते ही नहीं और शरीरमें, जैसा कि पहले कह आये हैं, इनका संग्रह नहिवत् होता है। परिणाम यह होता है कि, धातुपाकके लिए पूर्वसंचित स्नेहोंका ही दहन होता है। परन्तु, कार्बोहाइड्रेटोंके पाकसे उत्पन्न द्रव्य उपलब्ध न होनेसे स्नेहोंका पाक असंपूर्ण रह जाता है और पूर्वकथित 'कीटोन' नामक द्रव्य उत्पन्न होते और रस-रक्तमें मिश्रित हो अपनी अम्लतासे उनकी अम्लतामें वृद्धि करते हैं।

इक्षुमेहमें स्थिति यह होती है कि इन्सुलीन (धात्वग्नि-विशेष) के हीनयोग (क्षीणता) के कारण कार्बोहाइड्रेटोंका—ग्लायकोजनका—पाक असंपूर्ण रह जाता है। इस अवस्थामें भी धातुपाकके लिए शरीर स्नेहोंका उपयोग करनेको प्रवृत्त होते हैं, परन्तु कार्बोहाइड्रेटोंके पाकको अपूर्णताके कारण स्नेहोंका भी पाक पूर्णताको नहीं पहुँच पाता। अम्लरक्तताके कारण शिरःशूल और पुनः-पुनः वमन होता है; श्वास गम्भीर हो जाता है, अम्लता ०·०००,०००,०५ इकाई तक भी पहुँचे तो श्वास

१—इसकी क्रिया निम्न समीकरण (Equation—इक्वेशन) से स्पष्ट होगी—



$N_a Cl + Co_2 + H_2 o \rightleftharpoons N_a HCO_3 + HCl.$

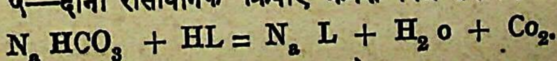
[सैन्धव + अङ्गाराम्ल + जल ⇌ सर्जक्षार + लवणाम्ल]

२—Calcium Lact.te.

३—Alkaline Sodium Phosphate—आल्कलाइन सोडियम फॉस्फेट।

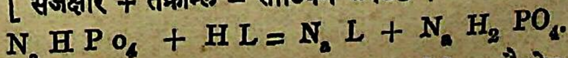
४—Acid Sodium Phosphate—एसिड सोडियम फॉस्फेट।

५—दोनों रासायनिक क्रियाएँ क्रमशः निम्न समीकरणोंसे स्पष्ट होंगी—



$N_a HCO_3 + HL = N_a L + H_2 o + Co_2.$

[सर्जक्षार + तक्राम्ल = सोडियम लैक्टेट + जल + अङ्गाराम्ल];



$N_a H P o_4 + H L = N_a L + N_a H_2 PO_4.$

[क्षारीय सोडियम फॉस्फेट + तक्राम्ल = सोडियम लैक्टेट + अम्ल सोडियम फॉस्फेट]

अत्यन्त सकष्ट हो जाता है। अम्लत्व और भी बढ़ जाय तो पुरुष मूर्च्छित भी हो जाता है। ऐसी मूर्च्छा इक्षुमेहमें प्रायः देखी जाती है। इसे 'इक्षुमेहिक मूर्च्छा'[१] कहते हैं। ये लक्षण उक्त विकृतियोंके अतिरिक्त अल्पांशमें ऐसे शिशुओंमें भी पाये जाते हैं जो कार्बोहाइड्रेटोंकी अपेक्षया स्नेहोंका सेवन अत्यधिक प्रमाणमें करते हों। अम्लरक्तताका प्रत्युपाय न हो और स्थितिमें परिवर्तन न हो तो पुरुषकी मृत्यु भी हो जाती है। मृत्युके पूर्व कभी-कभी आक्षेप[२] होते हैं।

गर्भिणीके घातक वमनमें भी कार्बोहाइड्रेटोंके अयोगके कारण ही अम्लरक्तता और तज्जन्य वमन होता है।

आमाशय और अन्त्रोंके पाक (सूजन)[३] में अम्लरक्तता तथा तज्जन्य चिह्न होते हैं[४]।

श्रम, उपवास तथा तीक्ष्ण द्रव्योंसे पित्तप्रकोपका अर्थ—

आयुर्वेदमें पित्त-प्रकोपके कारणोंमें श्रम (आयास), उपवास (अनशन) एवं कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण और विदाही[५] आहारौषध द्रव्योंकी गणनाकी गयी है[६]। ऊपरके विवेचनसे इस प्रकोपकी कुछ व्याख्या हो सकती है। श्रमसे अङ्गाराम्ल और तक्राम्लकी रस-रक्तमें वृद्धि होती है। शरीरकी किसी विकृतिके कारण इन्हें शान्त करनेकी क्रिया सत्वर न हो तो अम्लरक्तताके लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं। उपवाससे 'कीटोन' की वृद्धि होकर अम्लरक्तता होती है, जिससे वमन आदि आयुर्वेदमतेन पित्तप्रकोपजन्य लक्षण होते हैं। कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और विदाही द्रव्योंके अतिसेवनसे आमाशय तथा अन्त्रकी कलामें सूजन होती है, तथा जैसा कि ऊपर कहा है, अम्लरक्तता और तज्जन्य चिह्न प्रकट होते हैं। इन द्रव्योंसे कफकी क्षीणता होती है, यह आयुर्वेदका विशेष मत है।

रक्तकी अम्लतासे अन्य पित्त (विभिन्न पाचक रस तथा अन्तःस्रावी रस) भी अधिक मात्रामें निःसृत—प्रकुपित—होते हैं या नहीं तथा इनके प्रकोपसे होनेवाले विकृति-लक्षण प्रकट होते हैं या नहीं इस विषयमें नवीन क्रियाशारीर कोई सहायता नहीं देता। बहिःस्रावी या अन्तःस्रावी पाचक रसोंके क्रियाशील अंश, जिन्हें 'एन्ज़ाइम'[७] कहा जाता है, उनका कार्य परिपूर्णतया होनेके लिए अमुक प्रमाणमें अम्लता आवश्यक है[८]। परन्तु अम्लताकी यत्किंचित् अधिकतासे इन स्रावोंका कोप होता है या नहीं, यह प्रश्न है। तथापि, आयुर्वेदका तो मत यही है कि—अम्ल रस पित्तका प्रकोपक है। इसका अर्थ यह है कि अम्ल रससे पित्तवर्गीय सभी द्रव्योंकी[९] उत्पत्ति सविशेष मात्रामें होती है।

१—Diabetic Coma—डायबिटिक कॉमा।

२—Convulsions—कन्वल्शन्स।

३—Gastro-Enteritis—गैस्ट्रो-एण्टराइटिस।

४—देखिये—Acidœmia of this type is also met with in gastro-enteritis. Practice of Medicine by Price (1947), P. 434.

५—विदाही द्रव्यके लक्षणके लिए देखिये आ० क्रि० शा० पृ० १०९ का टिप्पण।

६—देखिये आगे पित्त-प्रकरणमें उद्धृत सु० सू० २१।२१ सूत्र।

७—Enzymes.

८—देखिये—Each enzyme also works best at a certain acidity. Fundamentals of Physiology, by Tokay (1947), P. 110.

९—आगे दोषोंका सामान्य विचार करते हुए देखेंगे कि, वात, पित्त तथा कफ एक-एक द्रव्यके नाम नहीं हैं, किन्तु अनेक दृष्टियोंसे परस्पर समान अनेकानेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं।

कीटोसिसका उपचार—

जैसा कि ऊपर कहा है, रस-रक्तमें कीटोनका आधिक्य अनशन किंवा इक्षुमेहमें कार्बोहाइड्रेटके अयोगके कारण स्नेहोंका उपयोग होनेसे और उनका पाक अपूर्ण रह जानेसे होता है। अतः अनशन-जन्य विकृति उपस्थित होनेपर स्नेहोंका उपयोग ही न हो, परिणामतया उनका पाक न हो, इस हेतु कार्बोहाइड्रेटोंका सेवन कराना चाहिये। इक्षुमेहमें विकृति इन्छलीनके हीनयोगसे होती है, अतः उसकी सूचीवस्ति देनेसे कोष स्नेहोंको छोड़कर कार्बोहाइड्रेट (ग्लायकोजन) का उपयोग करने लगते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंमें शर्कराएँ लघु (शीघ्र पचनेवाली) होनेसे अनशन किंवा रोगादिके कारण किये लङ्घनके पश्चात् इनका ही उपयोग अधिक श्रेयस्कर है[1]। नव्य चिकित्सामें ग्लूकोजका पुष्कल उपयोग इन तथा अन्य अवसरोंपर होता है। मालूम होता है, आयुर्वेदमें शर्कराओंको जो शीत और पित्त-शामक कहा है उसका एक अर्थ यह भी है कि वे स्नेहोंके अपूर्ण पाकके कारण उत्पन्न अम्लरक्तताका निवारण करती हैं। उनकी पित्त-शामकताका यह भी अर्थ हो सकता है कि गुड़में कोई द्रव्य ऐसे हैं जो शरीरपर किंचित् उष्ण क्रिया करते हैं[2]। गुड़को शर्करारूपमें परिणत करते हुए ये द्रव्य दूर हो जाते हैं।

शर्कराओंके गुण-धर्म (आयुर्वेद-मतसे)—

यावत्यः शर्कराः प्रोक्ताः सर्वा दाहप्रणाशनाः।
रक्तपित्तप्रशमनाश्छर्दिमूर्च्छातृषापहाः॥ सु० सू० ४५।१६८
यथा यथैषां वैमल्यं मधुरत्वं तथा-तथा।
स्नेहगौरवशैत्यानि सरत्वं च तथा-तथा॥ सु० सू० ४५।१६३

एषामिक्षुविकाराणाम्। गौरवं वातपित्तहारित्वम्, मधुरविपाकमित्यन्ये॥ —डह्लन

तृष्णासृक्पित्तदाहेषु प्रशस्ताः सर्वशर्कराः॥ च० सू० २७।२४२
यथा यथैषां वैमल्यं भवेच्छैत्यं तथा तथा॥ च० सू० २७।२४०

ईख आदि द्रव्योंसे जितनी शर्कराएँ बनती हैं वे सब दाह-शामक, रक्त और पित्तके विकारोंको नष्ट करनेवाली, तथा वमन, मूर्च्छा और तृष्णाको दूर करनेवाली हैं। ईखके रसके गुड़ आदि विकार (गुड़से बने द्रव्य) जैसे-जैसे विमल होते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें शीतगुण, स्नेह (शरीरको स्निग्ध और पुष्ट करनेका धर्म), माधुर्य, गौरव (वातपित्तहरत्व अथवा विपाककी मधुरता) और सरगुण (अपकर्षणी गतिकी उद्दीपकताका स्वभाव) की वृद्धि होती जाती है।

रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी हीनताका परिणाम—

अवयवमात्र अपना प्रकृतिनियत कर्म यथावत् कर सकें इस हेतु रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराका अमुक

१—**सेकरीन**—शर्कराओंके प्रसङ्गमें स्मरण रखना चाहिए कि, सेकरीन (Saccharin) शर्करा नहीं है, न ही वह शक्त्युत्पादक या पोषक है। वह तारकोलसे प्राप्त होनेवाला एक मधुर द्रव्य है, जिसका माधुर्य इक्षुशर्करासे ५५० गुणा अधिक होता है। अर्थात् ६॥ पक्के सेर इक्षुशर्कराके संयोगसे जितनी मिठास आती है, उतनी ही मिठास एक तोला सेकरीनसे आती है।

२—उष्ण, शीत आदि गुणवाचक शब्दोंकी नव्यमतानुसार व्याख्याके लिए देखिये—इन पंक्तियों के लेखकका 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' (बैद्यनाथ प्रकाशन)।

न्यूनतम प्रमाणमें रहना आवश्यक है। यह प्रमाण प्रति १०० मिलीलिटर[१]में लगभग ४० मिलीग्राम[२] निर्धारित किया गया है। इससे न्यून मात्रा होनेपर जो लक्षण उत्पन्न होते हैं उनका कारण केन्द्रीय नाडीसंस्थानके नाडीसूत्रों[३]को द्राक्षाशर्कराका योग्य प्रमाण न मिलना बताया जाता है। इस स्थितिमें प्रथम दौर्बल्य तथा क्षुधाकी प्रतीति होती है, पश्चात् स्वेद, त्वचाकी रक्तवाहिनियोंका सङ्कोच[४] अथवा विस्तार[५], प्रसेक (लालास्राव[६]), अश्रु, कम्प, अज्ञानतः मल-मूत्रप्रवृत्ति ; उपचार न करनेपर आक्षेप, मूर्च्छा और मृत्यु ये लक्षण होते हैं। रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी अल्पताको न्यूनमधुरक्तता[७] कहते हैं। इस स्थितिमें द्राक्षाशर्कराका सेवन कराया जाता है।

आहारद्रव्योंके विषयमें अब तक हमने जो लिखा उससे कई प्राचीन धार्मिक आदेशों और प्रथाओंकी व्याख्या की जा सकती है। अतिथिका मधुपर्क[८]से स्वागत करना, विभिन्न औषधोंमें मधुका व्यवहार, क्षीणता-प्रधान रोगोंमें सितोपला (मिसरी) तथा मक्खनके पुष्कल उपयोगका विधान इत्यादिमें कार्बोहाइड्रेटोंके लघु (सुपच) भेद शर्कराओंकी उपयोगिता सुविशद है। ये अपनी लघुताके कारण शीघ्र ही शक्त्युत्पादनका कार्य करती हैं, साथ ही स्नेहों और प्रोटीनको सुरक्षित रखती हैं, जिससे वे अपने शक्त्युत्पादनभिन्न कर्मोंको यथावत् कर सकें। हमारे भोज्य द्रव्योंमें घी और खाँडका एक साथ प्रयोग होता है, यथा लड्डू आदिके निर्माणमें। ये कल्पनाएँ शास्त्रशुद्ध हैं। कारण, जैसा कि अभी ही देख आये हैं स्नेहोंके पाचनके लिए कार्बोहाइड्रेटोंका भी साथ ही सेवन आवश्यक है। घी स्नेहका ही एक भेद है।

मधुर रसको आयुर्वेदमें दार्ढ्यकर कहा है। प्रोटीन और स्नेहकी रक्षा करता हुआ, उनके यथावत् उपयोग द्वारा यह शरीरको दृढ़ बनाता है। मनोविज्ञानके मतानुसार मधुररस अन्नपानसे तृप्त हुए पुरुषमें आशावादिता बढ़ जाती है। इस प्रकार यह मनको भी दृढ़ करता है। 'मधुरेण समापयेत्'—अन्नपानके अन्तमें मधुर रसका सेवन करे—इस न्यायका आशय यह है कि मधुर रसके सेवनसे भोक्ताको जो मानसिक परितोष होता है वह पाचन-यन्त्रकी सुस्थिति और सम्यक्क्रियामें सहायक होता है।

स्नेहोंका कर्म—

स्नेह जङ्गम तथा स्थावर[९] कोषोंका एक घटक है; परन्तु इसका विशेष प्रमाण मेदो-

---

१—Millilitre—संक्षेप ml एक मिलीलिटर= १ घन सेण्टीमीटर।

२—Milligramme; संक्षेप—mg एक मिलीग्राम= $\frac{3}{200}$ ग्रेन। १ ग्रेन=$\frac{1}{2}$ गुञ्जा।

३—Neuron—न्यूरॉन।

४—Vasoconstriction—वासोकन्स्ट्रिक्शन।

५—Vasodialatation—वासोडायलेटेशन।

६—Salivation—सेलिवेशन।

७—Hyphoglycemia—हायपोग्लायकीमिआ (Hypo=अल्प)। पृ० ११३ के टिप्पणीमें ग्लायकीमिआके लिए मधुमेह शब्दकी अनुकृतिमें 'मधुरक्त' संज्ञा सूचित की है। उसके अनुसार हायपोग्लायकीमिआको न्यूनमधुरक्तता नाम दिया है।

८—यह मधु, घृत और दहीका मिश्रण होता है।

९—'जङ्गम' और 'स्थावर' संज्ञाएँ—प्राणियोंसे प्राप्त होनेवाले द्रव्योंके लिए अंग्रेजीमें Animal—एनीमल विशेषण है, तथा उद्भिदोंसे प्राप्त द्रव्योंके लिए vegetable—वेजिटेबल। इनकी अनुकृतिमें

धातु[1], मज्जा तथा स्तन्यस्रावके दिनोंमें स्तनग्रन्थियोंमें होता है। आहारगत स्नेहके शरीरमें निम्नोक्त कर्म हम देख आये हैं—(१) ए, डी तथा ई जीवनीयोंकी योनि होना, (२) ताप तथा शक्तिका प्रादुर्भाव, (३) शरीरमें विभिन्न स्थानोंपर सञ्चय।

शरीरमें स्नेहोंका सञ्चय रोग या आकस्मिक कारणोंसे होनेवाले अनशनके समय शक्त्युत्पादनार्थ, शरीरावयवोंकी आघात-प्रतिघातसे रक्षार्थ एवं उनमें सौकुमार्य और मार्दवकी उत्पत्त्यर्थ होता है। मेद तापका दुर्वाहक[2] होनेसे त्वचाके मार्गसे उष्णताको अनावश्यकतया नष्ट होनेसे बचाता है एवं बाह्य शीतसे शरीरकी रक्षा करता है। यह सञ्चय मेदोधातुके रूपमें होता है और विशेष प्रमाणमें—त्वचाके नीचे मेदोधरा कला[3], आमाशयच्छदा कला[4], हृदयधरा[5], अन्त्रधरा[6], वपावहनके पीछेके अवयव और मांसपेशियोंके सूत्रोंके अन्तर—इन प्रदेशोंमें होता है। त्वचाके नीचे मेदका सञ्चय कहीं-कहीं अन्य स्थलोंकी अपेक्षया अधिक होता है, यथा जघन-प्रदेशमें। मेदोधातुके सञ्चयके इन विशिष्ट स्थलोंको मेदःस्थान[7] कहते हैं। दोनों वृक्कोंके चारों ओर पर्याप्त मात्रामें मेदका जमाव होता है। नेत्र-बुद्बुद (नेत्र गोलक) के चारों ओर मेदकी गद्दी-सी होती है। बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियाँ जहाँ ऊपरकी ओर आयी होती हैं, वहाँ आघातोंसे उनके त्राणके लिए उनके चारों ओर मेदका आच्छादन होता है। नितम्ब-प्रदेशपर मेदका उत्तम संग्रह होनेके कारण हमारे लिए बैठना सुखदायी होता है। वर्त्म (पलक), शिश्न, वृषणकोष, लघु भगोष्ठ[8] और शिरःकपाल—विशेषतः इन स्थलोंकी त्वचाके नीचे मेदका सञ्चय नहीं होता।

भविष्यमें उपयोगार्थ स्नेहोंका सञ्चय शीतशायी[9] प्राणियोंमें सुस्पष्ट देखा जाता है।

नवीन लेखकोंने इन शब्दोंके लिए जान्तव, प्राणिज, वानस्पतिक आदि संज्ञाएँ रखी हैं। परन्तु इनके लिए क्रमशः जङ्गम और स्थावर शब्द प्रचीन वाङ्मयमें व्यवहृत हैं; यथा-स्नेहोंके भेदोंके लिए च० सू० १३।९, सु० चि० ३।१४ इत्यादि वचनोंमें।

१—Adipose tissue—एडीपोज टिश्यु। २—Bad Conductor—बैड कॉण्डक्टर।

३—Superficial fascia—सुपरफिशल फेशिआ।

४—Omentum—ओमेण्टम। यद्यपि आयुर्वेदमें प्रसिद्ध सात ही कलाए वर्णित हैं, तथापि उनकी परिभाषा अन्य भी कई अवयवोंपर घटित होनेसे उन्हें भी कला कहना योग्य समझा है। यथा—आमाशयका आवरण, हृदयका आवरण, अन्त्रोंका बन्धनकारक पतला पर्दा, फुफ्फुसोंका आवरण—इत्यादि सभी कलालक्षणान्तःपाती होनेसे कला ही हैं। कलाओंके प्रचीन नामोंकी अनुकृतिमें इन्हें हृदयधरा (हृदयावरण), फुफ्फुसधरा (फुफ्फुसावरण) आदि नाम दिये जा सकते हैं। अथवा दन्तच्छद (ओष्ठ) आदि शब्दोंकी अनुकृतिमें इनके फुफ्फुसच्छदा, आमाशयच्छदा, हृदयच्छदा आदि नाम रखे जा सकते हैं। पेरीटोनियम्‌के लिए प्रचीन नाम वपावहन उपलब्ध होनेसे (देखिये—पृ० १७, टिप्पण) वही रखना योग्य है।

५—Pericardium—पेरीकार्डीअम्।

६—Mesentery—मेसेण्टरी।

७—Fat-depots—फैट-डेपोज। 'मेदःस्थान' शब्दका प्रयोग चक्रपाणिने किया है। देखिये—आयुर्वेदीय क्रिया शारीर पृ० १६ टिप्पणी—२।

८—Labia minora—लेबिया मायनोरा; या Nymphae—निम्फाज; या Nymphoe—निम्फी।

९—Hibernating animals—हायबर्नेटिङ्ग एनीमल्स।

इन्हीं प्राणियोंमें शरीरकी यह शक्ति भी सुलक्षित होती है कि वह कार्बोहाइड्रेटोंको स्नेहोंके रूपमें परिणत कर सकता है। ये प्राणी उष्णकालमें खूब खा-पीकर मेदका अच्छा-भला सञ्चय कर लेते हैं। शीतकालमें, जिसे ये अपने जीवनक्रमानुसार निद्रावस्थित होकर ही बिताते हैं, मेदका यह सञ्चय न्यूनतम धातुपाकके काम आता है।

मेदकी गुरुता—मेदोधातुके आवरणके अतिरिक्त मांसपेशियोंको बनानेवाले सूत्रोंके अन्तरोंमें मेद होता है, यह ऊपर कहा है। मांसगत मेदको आयुर्वेदमें 'वसा' यह विशेष नाम दिया है—

शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता॥

सु० शा० ४।१३

ननु मेदोमज्जानुकारी उपधातुर्वसाख्यः क इत्यःह—शुद्धेत्यादि[1]॥ —डल्हन

विभिन्न प्राणियोंमें मांससूत्रान्तरगत मेदः-कोषोंका प्रमाण भिन्न-भिन्न होता है। जिस प्राणीके मांसमें मेद जितना अधिक होगा, उतना ही वह गुरु होगा। शूकरके मांस[2]में मेद अधिक होने से वह गुरु (दुष्पच) होता है। कारण, मेद आमाशय के पाचक पित्तको मांससूत्रोंतक पहुंचनेसे रोकता है।

स्नेहद्रव्य स्वतन्त्ररूपसे लिये जायँ तो भी स्वयं गुरु होते हैं—धीमे और कठिनाई से पचते हैं; एवं, अधिक प्रमाणमें लिये जायँ तो अन्य द्रव्यों को भी गुरु बनाते हैं[3]। इन द्रव्योंपर स्नेहोंका आवरण हो जानेसे पाचक पित्तों को इनतक पहुंचना और उन्हें पचाना दुष्कर होता है। अपरं च, स्नेह अपने प्रभावसे आमाशयकी पाचनोपयोगी गतियों और स्रावोंको मन्द कर देते हैं।

उपर्युक्त स्थलोंमें संचयके अतिरिक्त मज्जाकी रचनामें स्नेहोंका उपयोग होता है, यह आरम्भमें कह आये हैं। मज्जामें, विशेषतः प्रौढावस्थामें, नलकास्थियोंमें कोई ९६ प्रतिशत मेद होता है। शेष अवयवोंमें भी स्नेह (मेदके कोष) होता है, परन्तु वह लक्षित नहीं होता। 'फैटी डिजेनेरेशन[4]' नामक रोग, जिसमें अवयवके शुद्ध धातुओंके स्थानपर मेदका ही निचय हो जाता है तथा अवयवकी प्राकृत क्रियामें विघ्न करता है, उसमें मेद दृष्टिगोचर होता है।

त्वचाके नीचे मेदोधरा कलापर स्थित मेद जीवित अवस्थामें शरीरके प्राकृत ऊष्माके कारण द्रवावस्थामें रहता है। मृत्यु होनेपर ऊष्माकी हानिके कारण वह घन हो जाता है। शवच्छेदके समय, वातावरणमें उष्णता विशेष हो तो यह द्रवित हो जाता है, रचनाशारीरके विद्यार्थियोंके अनुभवमें यह बात आयी होगी।

स्नेहोंका पचन—महास्रोतस्‌में स्नेहोंका पचन याकृत पित्त[5]के अधीन है। इसी कारण-

---

१—वसाका शुद्धार्थ मांसगत मेद होनेसे स्नेहसामान्यके अर्थमें इसका प्रयोग न होना चाहिए। अधिक मेदयुक्त मांसको संहिताओं में 'मेदुर' या 'स्निग्ध' मांस कहा है।

२—Pork—पोर्क। वराहपिशितं बल्यं रोचनं स्वेदनं गुरु—च० सू० २७।७९ तथा, स्वेदनं बृंहणं वृष्यं शीतलं तर्पणं गुरु। श्रमानिलहरं स्निग्धं वाराहं बलवर्धनम्—सु० सू० ४६।१०२ में वराह-मांसको गुरु कहा है। मांसोंकी गुरुता, लघुताका कारण उनकी मेदुरताकी न्यूनाधिकता है।

३—स्नेहोंकी गुरुताका यह विषय नव्यमतसे लिखा है। वैसे प्राचीनोंने घृतको अग्निदीपन लिखा है। देखिये—"स्मृतिबुद्ध्यग्निशुक्रौजःकफमेदोविवर्धनम् × × घृतम्"—च० सू० २७।२३१-२३२; तथा, "घृतं तु × × × अग्निदीपनम् × × —सु० सू० ४५।९६। अन्य भी कई स्नेह अग्निदीपन कहे गये हैं।

४—Fatty degeneration. ५—Bile—बाइल।

शाखाश्रित कामला आदि रोगोंमें इस पित्तका अवरोध हो जानेके कारण स्नेहोंका पाक नहीं होता। परिणामतया, पुरीषका प्राकृत वर्ण, जो इसी पित्तके एक विकार (उससे उत्पन्न द्रव्य) के कारण होता है वह न होकर आम (अपक्व) स्नेहोंका ही तिलपिष्ट (तिलकल्क) के सदृश श्वेत वर्ण पुरीषमें दिखाई देता है[1]।

महास्रोतस्में पक्व स्नेह द्रव्य शोषित (आचूषित) होकर जब धातुओं में पहुंचते हैं तो वहां उनपर विभिन्न पाचक स्रावोंकी क्रिया होती है। आयुर्वेदमें मेदके पाकके सम्बन्धमें दो अग्नियोंका निर्देश है—मांसाग्नि और मेदोऽग्नि। मांसाग्निसे मांसका पाक होकर सारभूत मेदोधातु की उत्पत्ति होती है। मेदोऽग्निसे मेदका पाक होकर साररूप अस्थिधातु उत्पन्न होता है, तथा स्थूल भाग मेद रूपमें अवशिष्ट रहता है। इन अग्नियोंका साम्य आधुनिकों द्वारा आविष्कृत कुछ अन्तःस्रावोंसे देखा जा सकता है। अग्न्याशयका[2] अन्तःस्राव 'इन्सुलीन' कार्बोहाइड्रेटोंका परिपचन करके स्नेहोंका भी समग्र पचन करता है। चुल्लिका ग्रन्थि[3] धातुपाकके दरकी नियामक है। इसका स्राव मात्रा या गुणकी दृष्टिसे हीन होनेपर कार्बोहाइड्रेट आदिका पाक न्यून होकर शरीर में मेदका संचय होता है। पोषणिका ग्रन्थिके[4] भी कई स्राव धातुपाक आदिको प्रवर्तित और नियमित करते हुए मेदकी

१—**कामला तथा उसके भेद**—चरकने शाखाश्रित कामलाका यथार्थ ही वर्णन (निदान-चिकित्सा) किया है—

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली।
श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तत् पित्तं कफहरैर्जयेत्॥
रूक्षशीतगुरुस्वाद्वव्यायामैर्वेगनिग्रहैः।
कफसंमूर्च्छितो वायुः स्थानात् पित्तं क्षिपेद्बली॥
हारिद्रनेत्रमूत्रत्वक् श्वेतवर्चास्तदा नरः।
भवेत् साटोपविष्टम्भो गुरुणा हृदयेन च॥
दौर्बल्याल्पाग्निपार्श्वार्तिहिक्काश्वासारुचिज्वरैः।
क्रमेणाल्पेऽनुषज्येत पित्ते शाखासमाश्रिते॥

च० चि० १६।१२४-१२८

तिलपिष्टनिभमित्यादिना शाखाश्रयकामलाचिकित्सितं लक्षणपूर्वकमाह। श्लेष्मणा रुद्धमार्गमिति कोष्ठस्थेन श्लेष्मणा शाखाश्रयिपित्तं कामलाजनकं रुद्धमार्गं कोष्ठगमनार्थं निषिद्धमार्गमिति यावत्। × × श्वेतवर्चा इति कोष्ठस्थपित्तस्य मलरञ्जकस्य बहिर्निर्गमाद्रुद्धेन श्लेष्मणा श्वेतवर्चा भवति × ×॥

—चक्रपाणि

शाखाश्रित कामलामें कुपित श्लेष्मा (याकृत) पित्तके मार्ग को अवरुद्ध कर देता है—कोष्ठमें नहीं आने देता। परिणामतया, यह पित्त शाखा—रक्तादि धातु तथा त्वचा (देखिये—आ० क्रि० शा० पृ. १६, टिप्पण १) में ही लौटकर उन्हें पीला बना देता है। यह पीतिमा नेत्र, मूत्र और त्वचामें लक्षित होती है। कफका प्राधान्य होनेसे इस कामलामें चिकित्सा विशेषतया कफहर होती है। दूसरे भेदमें पाण्डुरोगी ही पित्तप्रकोपक आहार-विहारका सेवन करे तो सारे शरीरमें पित्तकी अत्यन्त वृद्धि होकर मूत्र, त्वचा आदिके साथ पुरीष भी पीत हो जाता है। इसे 'कोष्ठशाखाश्रित कामला' कहते हैं। देखिये—च० चि० १६।३४-३९। इस भेदमें पाण्डुकी ही चिकित्सा की जाती है।

२—**Pancreas**—पैन्क्रियास। ३—**Thyroid**—थायरौयड।

४—**Pituitary**—पिट्यूइटरी ; या—**Hyhophysis**—हायपोफिसिस।

मात्राको प्रभावित करते हैं। इस विषयका अधिक विस्तार आगे अन्तर्ग्रन्थियोंके अधिकार में किया जायगा। इन अन्तर्ग्रन्थियोंकी मेदोवृद्धिजनक विकृति होनेपर शरीरमें मेदका विशेष संचय हो जाते हैं। यह संचय आमाशयच्छदा कलापर अधिक प्रमाणमें होनेसे तुन्द आगे निकल आती है। जघन-प्रदेशपर होनेसे वे पीछेकी ओर उभर आते हैं। स्थान-स्थानपर मेदकी ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, इन्हें 'मेदोऽर्बुद'[1] कहते हैं। मेदकी अतिवृद्धि के लक्षणोंमें कई हृदयधरा कलापर मेदके प्रचयके कारण होते हैं।

हृदयपर मेदोवृद्धिका प्रभाव—हृदयधरा कलापर सामान्यतः मेदका आवरण होता है, जो आघात-प्रतिघातसे हृदयकी रक्षा करता है। मेदकी अतिवृद्धि करनेवाले कारणोंसे अन्य मेद-स्थानोंके समान हृदयधरापर भी मेदकी वृद्धि होती है। परिणाम यह होता है कि, शारीरिक श्रम करते हुए श्रमपरायण अङ्गको अधिक प्रमाणमें रस-रक्त तथा ओषजन पहुंचानेके लिए सामान्य स्थितिमें हृदयका जितना विकास होता है उतना नहीं हो सकता—मेदके आवरणके कारण हृदयधराकी स्थिति-स्थापकता न्यून हो जाती है, अतः वह स्वयं यथोचित विकसित नहीं हो सकती, परिणासतया उससे पीड़ित होनेके कारण हृदय भी यथायोग्य विकसित हो पाता है। हृदयका उचित विकास न होनेसे श्रमपरायण अङ्गको पर्याप्त रस-रक्त और ओषजन नहीं पहुंच पाता, नहीं चेष्टाजन्य अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई आक्साइड) तथा तक्राम्ल पूर्ण मात्रामें उदासीन (निर्दोष) किये जाते हैं। तक्राम्लके संचयसे पुरुष शीघ्र श्रान्त हो जाता है। उधर, अङ्गाराम्ल रस-रक्त द्वारा मस्तिष्कमें पहुंचता है तो अपने उद्दीपक स्वभावसे श्वसनक्रियाके केन्द्रको उद्दीप्त करता है, जिससे पुरुषकी श्वासक्रिया द्रुत और उत्तान (शीघ्र और छिछरी) हो जाती है—वह हांफने लगता है। उपचार करनेमें कठिनाई यह है कि श्रम (व्यायाम) द्वारा स्नेहको क्षीण करने का प्रयास किया जाय तो उक्तरीत्या उसका हृदय पर ही साक्षात् प्रभाव होनेसे उसके अतिश्रमजन्य दौर्बल्यकी आशङ्कासे उचित भी व्यायाम नहीं कराया जा सकता।

मेदकी योनि (उत्पादक कारण)—जिन मूल द्रव्योंसे शरीरगत स्नेह (मेद) बना है, उन्हींसे अर्थात् अङ्गार (कार्बन), उद्जन और ओषजनसे भोज्य द्रव्यगत स्नेह भी बने हैं। इससे यह तो समझा ही जा सकता है कि स्नेहोंके सेवनसे शरीरगत स्नेहकी भी पुष्टि होती है। परन्तु, कार्बोहाइड्रेट भी इन्ही मूल द्रव्योंसे बने हैं और शरीरमें यह शक्ति है कि वह आवश्यकसे अधिक कार्बोहाइड्रेटोंको मेदके रूपमें परिणत कर संचितावस्थामें रख सकता है। विभिन्न प्राणी घास खाकर ही रहते हैं, जिनमें कार्बोहाइड्रेट ही होते हैं। तथापि उनके दूध और मांसमें पुष्कल स्नेह होता है। प्राणी भेदसे स्नेहोंके रासायनिक प्रकारमें भी भिन्नता होती है। वह भी यह द्योतित करती है कि प्राणिशरीर कार्बोहाइड्रेटको स्नेहमें परिणत कर सकते हैं।

प्रोटीनोंके नाइट्रोजन-विनाकृत अंशमें भी वही मूल तत्त्व शेष रह जाते हैं, जिनसे सृष्टिगत किंवा शरीरगत कार्बोहाइड्रेट और स्नेह बने हैं। विदित हुआ है कि, नाइट्रोजन-रहित किये गये प्रोटीनको भी शरीर स्नेहरूपमें परिणत कर संगृहीत कर लेता है। यह भी जाना गया है कि जैसे-जैसे नयी सामग्री प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे शरीर पुराने मेदका शक्त्युत्पादनमें उपयोग करके नये मेदको संचित करता जाता है।

अतिसंतर्पण (आवश्यकसे अधिक भोजन—विशेषतः स्निग्ध भोजन), शारीरिक-मानसिक सुख-शीतलता (आराम और निश्चिन्तता) इत्यादि कारणोंसे शरीरमें शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी आय

१—Lipoma—लायपोमा। मेदोऽर्बुद संज्ञा प्राचीन है।

अधिक और व्यय न्यून होनेसे स्वभावतः उनका मेदके रूपमें संचय होता है। परन्तु प्रतीत होता है कई पुरुषोंमें मेदके संचयका जन्मजात स्वभाव होता है। स्थौल्य (मेदस्विता) के कारणोंकी गणना करते हुए इस बातका 'बीजस्वभावात्' शब्दसे प्राचीनोंने निर्देश किया है। देखिये—

तदतिस्थौल्यम् × × बीजस्वभावाच्चोपजायते[1] ॥ च० सू० २१।४

बीजस्वभावात् इति स्थूलमातापितृजन्यत्वात् ॥ —चक्रपाणि

इसका आशय यह है कि, पुरुषोंकी प्रकृति प्रधान तया माता-पिताके स्त्री-शुक्रकी प्रकृतिके अनुरूप होती है। इन प्रकृतियोंका कारण दोषोंका न्यूनाधिक प्रमाण है। दोषोंमें एक पित्त किंवा अग्नि है। इन अग्नियोंमें भी एक मेदोऽग्नि है। यह मेदोऽग्नि माता-पिताकी प्रकृतिके अनुसार जन्मसे ही किसीमें मन्द होती है, किसीमें तीक्ष्ण और किसीमें सम। जिन पुरुषोंमे मेदोऽग्नि मन्द होती है उनमें मेदका उपयोग पूर्णतया हो नहीं पाता, जिससे उसका संचय विशेष होता है। इसके विपरीत, जिनमें मेदोग्नि तीक्ष्ण होता है, उनमें मेदका प्रचुर उपयोग होनेसे संचय अधिक नहीं हो पाता—वे खूब और स्निग्ध खायँ तो भी कृश ही रहते हैं। पित्तप्रकृति पुरुषोंमें यह स्थिति देखी जाती है। आधुनिक दृष्टिसे कहना हो तो ऐसे पुरुषोंमें स्वभावतः (प्रकृत्या) चुल्लिका-ग्रन्थिका स्राव अधिक होता है, जिससे धातुपाककी दरमें वृद्धि हो जाती है[2]। अन्य ग्रन्थियों के सम्बन्धित स्रावोंकी अतिवृद्धि होना भी संभव है।

शीत और उष्ण स्नेह—स्नेहोंके उपचयके विषयमें आयुर्वेद-मतसे एक अन्य वस्तु जान लेने योग्य है। आधुनिकोंका मन्तव्य है कि स्नेह सभी सामान्य रूपसे मेदकी वृद्धि करते हैं। परन्तु आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि तैल उष्ण होनेसे शीत गुणयुक्त मेद और कफको क्षीण करते हैं। देखिये तैलके विधान प्रकरणमें—

प्रवृद्धश्लेष्ममेदस्काश्चलस्थूलगलोदराः।
वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये ॥
बलं तनुत्वं लघुतां दृढतां स्थिरगात्रताम्।
स्निग्धश्लक्ष्णतनुत्वक्तां ये च कांक्षन्ति देहिनः ॥
कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठास्तथा नाडीभिरर्दिताः।
पिबेयुः शीतले काले तैलं तैलोचिताश्च ये ॥
च० सू० १३।४४-४६

कृमिकोष्ठानिलाविष्टाः प्रवृद्धकफमेदसः।
पिबेयुस्तैलसात्म्याश्च तैलं दार्ढ्यार्थिनश्च ये ॥
सु० चि० ३१।१६

—जिनका मेद और कफ अयन्त बढ़ा हुआ हो, इसी कारण जिनका उदर और गला स्थूल और लम्बमान मेदके कारण हिलता हो, जो वातरोगोंसे पीड़ित एवं वातप्रकृति हों, जिनका कोष्ठी क्रूर हो, किंवा जो कृमिकोष्ठ (जिनके पेटमें कृमि हों ऐसे) हों, जिन्हें नाड़ीव्रण हों, जो बल, लाघव, दृढता, स्थिरता, पतलापन, तथा त्वचामें स्निग्धता, मृदुता और तनुता (पतलापन) की आकांक्षा रखते

१—आगे मेदो धातुके प्रकरणमें यह सूत्र समग्र उद्धृत किया है।

२—इस रोगको अंग्रेजीमें Hyperthyroidism—हायपरथायरॉयडिज्म कहते हैं।

हों एवं जिन्हें तैल सात्म्य हो उन्हें शीतकालमें तैलका सेवन करना चाहिए। इसके विपरीत जिन्हें कफ और मेदकी वृद्धि करना अभीष्ट हो उन्हें घृत आदिका सेवन करना चाहिए[1]।

स्नेहोंकी रासायनिक रचना—

इनकी रचनामें भी वही तत्त्व भाग लेते हैं जो कार्बोहाइड्रेटोंकी रचनामें, अर्थात्—अङ्गार (कार्बन), उदजन और ओषजन। परन्तु इनसे जो स्थूल समास बनते हैं उनके कारण स्नेहोंकी कार्बोहाइड्रेटोंसे विशिष्टता है। ओषजन स्नेहोंमें कार्बोहाइड्रेटोंकी अपेक्षया न्यून होता है। शरीरमें तीन स्नेह प्रधानतया पाये जाते हैं—पामीटिन[2], स्टीअरिन[3] और ओलेइन[4]। इनमें प्रत्येक एक-एक सेन्द्रिय मेदोऽम्ल[5] तथा ग्लिसरोल (ग्लिसरीन)[6] इन समासोंके योगसे बना होता है। पामीटिनमें पामीटिक एसिड[7] नामक मेदोऽम्ल, स्टीअरिनमें स्टीयरिक एसिड[8] तथा ओलेइनमें ओलेइक एसिड[9] होता है। क्षुद्रान्त्रमें (पित्तधरा कलामें) पचनके पश्चात् स्नेह अपने घटक मेदोऽम्ल और ग्लिसरोलमें विच्छिन्न हो जाते हैं। पित्तधरा कलामें स्नेहोंके विच्छेदका कारण अग्निरसका[10] मेदोभञ्जक[11] पित्तविशेष[12] होता है। अन्य पित्तोंके समान इसका अपना विशिष्ट उद्दीपक[13]होता है। याकृत पित्त भी मेदोभञ्जक पित्तको उद्दीप्त करता है। इसी कारण, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, याकृत पित्तका अवरोध होनेपर कामला तथा तत्सहचारी लक्षण उत्पन्न होते हैं।

स्नेहोंके पचनमें दो क्रियाएँ विशेष होती हैं, जो बाहर भी देखी जाती हैं—साबुनीकरण[14] और धौतीकरण[15]। साबुनीकरण किंवा साबुन बनने या बनानेकी क्रियामें स्नेह जलके साथ संयुक्त होकर अतितप्त बाष्प, निरिन्द्रिय अम्ल तथा शरीरमें मेदोभञ्जक पित्तके योगसे मेदोऽम्ल और ग्लिसरीनमें विघटित होते हैं। पश्चात् बाहर साबुन बनानेमें दाहक पोटाश[16] (जो एक क्षार[17] है) का तथा पित्तधरा कलामें अन्नगत किसी क्षार द्रव्यका मेदोऽम्लोंसे योग होकर साबुन[18] बनता है। क्षुद्रान्त्रकी दीवारमें स्थित पयस्विनी नामक रसायनियों (रसवाहिनियों) द्वारा साबुन और ग्लिसरीन गृहीत होकर हृदयमें और उसके द्वारा सर्वधातुओंमें पहुंचाये जाते हैं। धातुकोष इन्हें पुनः स्नेहोंके रूपमें संघटित कर इनका यथावश्यक उपयोग करते हैं।

१—प्रमाणतया उक्त प्रकरणोंमें तथा अन्यत्र अन्य स्नेहोंके गुणकर्म देखिये।

२—Palmitin. ३—Stearin. ४—Olein. ५—Fatty acids—फैटी एसिड्स।

६—Glycerol; या Glycerine—ग्लिसरीन। पिछले नामसे यह द्रव्य सुविदित है।

७—Palmitic acid. ८—Stearic acid. ९—Oleic acid.

१०—Pancreatic juice—पनक्रियाटिक जूस। ११—Lipase—लायपेज़।

१२—Enzyme—एन्ज़ाइम। १३—Co-enzyme—को-एन्ज़ाइम।

१४—Saponification—सैपोनीफिकेशन।

१५—Emulsification—इमल्सिफिकेशन। घृत या तैलको जलसंयुक्तकर मर्दनसे जो द्रव्य तय्यार होते हैं उन्हें धौत घृत या धौत तैल कहते हैं। अंग्रेजीमें इन्हें Emulsion—इमल्शन (या Emulsum—इमल्सम) कहते हैं। इस शब्दसे बने शब्द 'इमल्सिफिकेशन' के लिए इसी कारण 'धौतीकरण' संज्ञा रखी है।

१६—Caustic Potash—कॉस्टिक पोटाश; रासायनिक नाम Potassium hydrate—पोटाशियम हायड्रेट, या Potassium hydroxide—पोटाशियम हायड्रॉक्साइड; सूत्र—OKOH.

१७—Alkali—आल्कली। १८—Soap—सोप।

साबुनीकरण एक रासायनिक परिवर्तन[1] है। इसके पूर्व धौतीकरण होता है। इसमें स्नेह जलके साथ मिश्रित हो याकृत पित्तके लवणोंकी क्रियासे छोटे-छोटे परस्पर असंयुक्त कणोंमें विभक्त हो जाता है। यह एक भौतिक परिवर्तन[2] है छोटे होनेके कारण इन कणोंमें भीतर तक प्रविष्ट होना और उन्हें पचाना मेदोभञ्जक पित्तके लिए सुकर हो जाता है।

विभिन्न स्थावर-जङ्गम तैल, घृत, मेद, वसा ये सब रासायनिक-दृष्ट्या स्नेह ही हैं। ओलेईन—५° श. पर पिघलता है, पामीटिन ४५° श. पर तथा स्टीअरिन ५२—६५° श. पर। शरीरका सम ऊष्मा ३७° श. या ९९° फा० है। यह पिछले दो स्नेहोंके द्रावणाङ्क[3] (पिघलावका अंश) से बहुत ऊँचा है, और ओलेईनके द्रावणाङ्कसे बहुत नीचा। अतः ओलेईन ही पर्याप्त प्रमाणमें हो तो स्वयं द्रव रहता हुआ शेष स्नेहोंको अपने अन्दर घोले रखता है। परीक्षणके रूपमें कुत्तेको उच्च द्रावणाङ्क वाले स्नेह खिलाये जायँ तो शरीरका प्राकृत ऊष्मा उन स्नेहोंको पिघलानेमें समर्थ न होनेसे कुत्तेमें जो मेद बनता है वह कठिन होता है। इसके विपरीत, ऐसे स्नेह खिलाये जायँ, जो प्राकृत ऊष्मामें द्रव रहते हैं तो, कुत्तेका मेद मृदु बनता है। मेदस्वी पुरुषोंमें कइयोंका शरीर दृढ़ और कइयोंका शिथिल होनेका हेतु इससे जाना जा सकता है।

स्नेह जलमें अविलेय (न घुलनेवाले) हैं।

मेद-सदृश द्रव्य—

मेद-सदृश द्रव्योंकी रचनामें मेदोऽम्ल तथा ग्लिसरीन भाग लेते हैं। तथापि उनमें कुछ द्रव्योंमें यही दो घटक होते हुए भी कई रासायनिक भिन्नताएं होती हैं; एवं कइयोंकी रचनामें अन्य भी मूलतत्त्व—प्रस्फुरक[4] और नाइट्रोजन—भाग लेते हैं।

मेद-सदृश द्रव्य प्रत्येक कोषमें अवश्य होते हैं। कोषोंमें ये विशेषतया उनकी बाह्य दीवारमें रहते हैं। इनका एक भेद स्टेरोल[5] है। इसके दो उपभेद हैं—रोचना अर्थात् कॉलेस्टेरोल[6] या कॉलेस्टेरिन[7] तथा अर्गोस्टेरोल[8]।

कॉलेस्टेरोला (रोचना)—यह सभी कोषोंमें अल्प प्रमाण में रहता है। नाड़ी धातुमें यह विशेषतया अधिक प्रमाण में होता है। याकृत पित्तमें यह अल्प प्रमाणमें होता है। कभी-कभी इसका संचय होकर पथरियां बन जाती हैं, जिन्हें पित्ताश्मरी[9] कहते हैं। अण्डेके पीत भाग, यकृत्, वृक्क, अधिवृक्क तथा मेदमें भी यह होता है[10]। यों यह धातुपाकसे उत्पन्न एक मलद्रव्य है; तथापि कई विषोंका कोषोंमें प्रविष्ट होनेसे रोकनेका महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। यथा, दर्वीकर सर्पों[11] के विषान्तर्गत एक विषमें रक्त कणोंको अपने अन्दर घोलकर नष्ट करनेका सामर्थ्य है। परन्तु इन कोषोंकी दीवारमें स्थित कॉलेस्टेरोल इस क्रियाको अंशतः रोकता है। मेष-वसा[12] कॉलेस्टेरोलसे बनायी जाती है।

१—Chemical Change—केमिकल चैंज। २—Physical Change—फ़िज़िकल चैंज।
३—Melting Point—मेल्टिंग पॉइण्ट। ४—Phosphorus—फॉस्फोरस।
५—Sterol. ६—Cholesterol ७—Cholesterin ८—Ergosterol
९—Gallstones-गालस्टोन्स।
१०—अन्य विरवणके लिये देखिये आ० क्रि० शा० पृ० १७६। गोरोचना गौके पित्ताशयसे प्राप्त पित्ताश्मरी ही है। पित्ताश्मरी कॉलेस्टेरोलका ही ग्रथित रूप है। इस दृष्टिसे कॉलेस्टेरोलको रोचना नाम दिया है।
११—Cobra-कोब्रा। १२—Lanoline-लनोलीन।

अर्गोस्टेरोल—शरीरमें त्वचाके नीचे यह विपुल होता है। सूर्यकी (अथवा कृत्रिम) अल्ट्रा-वायोलेट[1] किरणें त्वचापर पड़नेसे इस अर्गोस्टेरॉलका जीवनीय डी में परिणमन होता है। शरीरमें सुधा[2]का शोषण और उपयोग होकर अस्थियोंका पोषण हो इस हेतु यह जीवनीय आवश्यक है। राई[3] नामक विदेशी धान्यपर लगनेवाली एक फुई[4] जिसे अर्गट[5] कहते हैं, उसमें भी यह होता है। यीस्ट से भी तय्यार किया जाता है।

प्रस्फुरकयुक्त मेद-सदृश द्रव्य[6]—इनमें लेसिथिन[7] मुख्य है। कॉलेस्टेरोलके समान यह भी प्रत्येककोषमें अल्प प्रमाणमें रहता है। ये दोनों नाड़ियोंकी आवरणी कलामें[8] भी विद्यमान होते हैं।

आयुर्वेदमें स्नेहोंकी महिमा—

जीवनीयोंकी योनि (आश्रय) होना, विष द्रव्योंका नाश, प्रत्येक कोष विशेषतः नाड़ी-कोषोंका अंश होना, शरीरको सुबद्ध और मृदु स्वरूप प्रदान करना, अपने आवरणसे हृदय, उदर आदि मर्मावयवोंका संरक्षण, शक्तियोंका आविर्भाव, प्रोटीनोंकी रक्षा करके उनको आत्मोचित कार्यमें लगाना, शरीरके ऊष्माको नष्ट होनेसे बचाना—इन तथा अन्य कार्योंको दृष्टिमें रखते हुए आयुर्वेदमें स्नेहोंकी जो निम्नोक्त महिमा कही है, उसका अर्थ विशद हो सकता है।

१—**Ultra violet—अल्ट्रावायोलेट तथा इन्फ्रा-रेड किरणें**—सूर्यकी सात दृश्य किरण एक निश्चित क्रमसे रहती हैं। सबके संयोगसे एक श्वेत किरण बनती है, जिसे प्रकाशके रूपमें हम देखते हैं। इन किरणोंके एक सिरेपर जामुनी (Vielot—वायोलेट) तथा दूसरे सिरेपर रक्त (Red-रेड) किरण होती है। प्रत्येकके बाहरकी ओर एक-एक अन्य अदृश्य किरण होती है। जामुनीके बाहरकी ओर स्थित किरणको अपनी इस स्थितिके कारण अंग्रेजीमें 'अल्ट्रा-वायोलेट' (अल्ट्रा=परे) कहते हैं। रक्त किरणके बाहर स्थिति किरणको अपनी स्थितिके कारण 'इन्फ्रा-रेड' (Infra red ; इन्फ्रा=नीचे अथवा आगे) कहते हैं। अल्ट्रा-वायोलेट किरणोंके प्रभावसे स्थावर-जङ्गमोंमें कार्बन आदिके संयोगसे कार्बोहाइड्रेट बनना इत्यादि रासायनिक परिवर्तन होते हैं। अतः इन्हें 'रासायनिक किरणें' (Chemical rays-केमीकल रेज ; या-Actinic rays-एक्टिनिक रेज़) कहते हैं। इनका चिकित्सामें बहुत व्यवहार होता है। मध्यवर्ती सात किरणें केवल वस्तुओंका दर्शन कराती हैं, अतः 'प्रकाश-किरण' (Light rays.—लाइट-रेज़) कहाती हैं। 'इन्फ्रा-रेड' किरणें उष्णता उत्पन्न करती हैं, अतः 'ताप-किरण' (Heat rays—हीट-रेज़) कहलाती हैं। पुराणोक्त सूर्यके सात अश्वोंका साम्य सात दृश्य किरणोंसे बताया जाता है। परन्तु, इन सातके अतिरिक्त उल्लिखित दो अन्य किरणें भी हैं, यह स्मरण रखना चाहिए।

२—**Calcium**—कैल्शीयम।

३—**Rye**-यह भाषामें प्रसिद्ध स्नेह-योनि राईसे भिन्न यूरोपीय धान्य है।

४—**Fungus**—फंगस।

५—**Ergot**—गर्भाशयके संकोच द्वारा विभिन्न परिणाम लानेके लिये प्रयुक्त होनेवाला प्रसिद्ध द्रव्य।

६—**Phospholipids**—फॉस्फोलिपिड्स। ७—**Lecithin**।

८—**Medullary sheath**—मेड्यूलरी शीथ ; या-White substance of Schwann व्हाइट सब्स्टैन्स ऑफ श्वान ; या Myelin—मायेलिन।

स्नेहसारोऽयं पुरुषः। प्राणाश्च स्नेहभूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवन्ति ॥
सु॰ चि॰ ३१।३

स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचयवर्धनाः।
स्नेहा ह्येते × × × ॥ च॰ सू॰ १।८७

स्नेह शरीरका सार है। प्राणों[1] में स्नेहोंका ही प्राधान्य है। उनकी विक्रिया (वैषम्य) की निवृत्ति स्नेहोंसे ही होती है। स्नेह शरीरके स्नेहन[2] (अवयवोंमें स्निग्धता, मृदुता आदि उत्पन्न करनेवाले), जीवन (आयुष्य–आयुको स्थिर करनेवाले)[3], वर्ण्य (कान्तिप्रद), बल्य[4] और उपचयकारक (बृंहण, पुष्टिकर) होते हैं[5]।

जो पुरुष नित्य स्नेहोंका सेवन करते हैं उनका जठराग्नि बलवान होता है, कोष्ठ शुद्ध रहता है, धातु नवीन और इन्द्रियाँ दृढ (स्वकार्यक्षम) रहती हैं; बल और वर्ण स्थिर होते हैं, जरा (वार्धक्य) देरसे आती तथा उसका प्रभाव मन्द होता है, पूर्ण आयुका लाभ होता है—

दीप्तान्तरग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यग्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मन्दजरः शतायुः स्नेहोपसेवी पुरुषः प्रदिष्टः॥ सु॰ चि॰ ३१।५६

इदानीं स्वस्थविषये स्नेहकर्मफलं दर्शयन्नाह-दीप्तेत्यादि। अन्तरग्निः जठराग्निः। परिशुद्धकोष्ठो निर्दोषोदरः। प्रत्यग्राः नवाः। दृढानि स्वकार्यकरणक्षमानीन्द्रियाणि यस्य सः। स्नेहोपसेवी यो नर आभीक्ष्ण्येन स्नेहं सेवते सः × ×॥ —डल्हन[6]

१—वात-पित्त-कफ-सत्त्व-रज-तम-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-जीवात्मा—इन्हें 'प्राण' कहते हैं। (देखिये—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ॰ १३-१४)। "सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च। मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥ मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः—सु॰ शा॰ ६।३५" इस वचनमें भी मर्मोंमें इन प्राणोंकी ही विशेषरूपेण अवस्थिति दिखायी है।

२—स्नेहन—'स्नेहनं स्नेह-विष्यन्द-मार्दव-क्लेदकारकम्—च॰ सू॰ २२।११'; 'प्रायो मन्दं मृदु च यद्द्रव्यं तत्स्नेहनं स्मृतम्—च॰ सू॰ २२।१५'।

३—देखिये—द्रव्यगुण विज्ञान, पूर्वार्ध, प्रथम अध्याय, पृ॰ २३।

४—General tonic—जनरल टॉनिक।

५—सुश्रुतकी कुछ प्रतियोंमें आये निम्न वचनमें शरीरस्थ स्नेहको वसा कहकर उसे तेज तथा आग्नेय कहा है। नव्योंने इसका जो तापोत्पादक धर्म बताया है, उससे इन विशेषणोंका साम्य देखा जा सकता है। इस वचनमें स्नेह (वसा) की उत्पत्ति, कर्म, स्त्रियोंमें विशेषतः स्थिति, क्षय का निदान (कारण), विस्रंसन (स्थानच्युति), व्यापत्ति (अन्यथाभाव–स्वरूपहानि) तथा क्षयके लक्षण और इनके उपचार भी कहे हैं।—"मूढसंज्ञं वर्जयेदित्यस्याग्रे केचित् सुश्रुताध्यायिनः—"तेजोऽप्याग्नेयं क्रमशः पच्यमानानां धातूनामभिनिर्वृत्तमन्तरस्थं स्नेहजातं वसाख्यं स्त्रीणां विशेषतो भवति, तेन मार्दव-सौकुमार्य-मृद्वल्परोमतोत्साह-दृष्टि-स्थितिपक्ति-कान्तिदीप्तयो भवन्ति। तत्कषाय-तिक्त-गुरु-शीत-रूक्ष-विष्टम्भि-वेगविघात-व्यवाय-व्यायाम-व्याधि-कर्षणैश्च विक्रियते। तस्यापि पारुष्य-वर्णभेद-तोद-निष्प्रभत्वानि विस्रंसने भवन्ति; कार्श्यं मन्दाग्निताऽधस्तिर्यक् च प्रच्युतिर्व्यापत्तौ, दृष्ट्यग्निबलहान्यनिलप्रकोपमरणानि क्षये। तत्र स्नेहपानाभ्यङ्गप्रदेहपरिषेकस्निग्धलघ्वन्नानि क्षयादृते विदधीत, अमुं पठन्ति। अयं तु पाठो न पठनीयः। कुतः? निबन्धकारैरनार्षीकृतत्वात्।" सु॰ सू॰ १५।२८ पर —डल्हन

६—स्नेहोंके गुण-वर्णनके प्रसंगमें पृ॰ ११२ की टिप्पणी 'सात्म्य सात्म्यतासे रोगक्षमता तथा साध्यासाध्यताकी परीक्षा' भी देखें।

स्नेहोंके भेद—

तत्र द्वियोनिश्चतुर्विकल्पोऽभिहितः स्नेहः ॥ सु० चि० ३१।४

द्वियोनिः द्विकारणिकः स्थावरो जङ्गमश्च। तत्र तैलं स्थावरयोनि, घृतवसामज्जानस्तु जङ्गमयोनयः। तैलं तिलादिफलोद्भवत्वात् फलस्थं, देवदारुशिंशपागुर्वादिसारोत्थं च × × ×। चत्वारो-विकल्पाः सर्पिस्तैलवसामज्जानो यस्य स्नेहस्येति चतुर्विकल्पः। × × ॥ —डल्हन

स्नेहानां द्विविधा सौम्य योनिः स्थावरजङ्गमा ॥
तिलप्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरण्डमधूक सर्षपाः।
कुसुम्भबिल्वारुकमूलकातसी निकोठकाक्षोडकरञ्जशिग्रुकाः॥
स्नेहाशयाः स्थावरसंज्ञितास्तथा स्युर्जङ्गमा मत्स्यमृगाः सपक्षिणः।
तेषां दधिक्षीरघृतामिषं वसा स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते॥

च० सु० १३।९-११

अभिषुक औत्तरापथिकः। चित्रा गोरक्षकर्कटी, तद्बीजमिह; यदि वा चित्रा लोहितैरण्डः। अतसी उमा इति ख्याता। अरुकनिकोचाक्षोडा औत्तरापथिकाः। स्नेहाशयाः स्नेहस्थानानि। एते चाविष्कृततमत्वेनोक्ताः, तेन निम्बतैलादयो बोद्धव्याः॥ —चक्रपाणि

आश्रय (योनि)-भेदसे स्नेह दो प्रकारके हैं—**स्थावर और जङ्गम**। तिल, एरण्ड, करञ्ज, निम्ब, बादाम, तिलगोजा, पिस्ता, अखरोट, मूँगफली, खोपा (नारियल), राई, सरसों, कपास, अलसी, जैतून, देवदारु, चन्दन आदि स्थावरों (उद्भिदों) के फल या सार (काष्ठ) से प्राप्त होनेवाला—स्थावर, जिसे 'तैल' भी कहते हैं; और पशु, पक्षी, मत्स्य आदि जङ्गमों (प्राणियों) के मांससे प्राप्त होनेवाले स्नेह—वसा, घृत, मज्जा[1]—इन्हें जङ्गम स्नेह कहते हैं। स्नेहोंके[2] इस प्रकार चार भेद हैं—तैल, घृत, वसा और मज्जा। इनके गुण-कर्म भिन्न होनेसे भिन्न-भिन्न रोगोंमें इनका उपयोग होता है।

स्नेहोंके उपयोगके प्रकार—

स्नेहो हि पानानुवासनमस्तिष्कशिरोबस्त्युत्तरबस्तिनस्यकर्णपूरणगात्राभ्यङ्गभोजनेषूप-योज्यः॥ सु० चि० ३१।३

तत्र पानादि प्रधानमिह वक्तव्यम्, अप्रधानं पुनरनागतबाधे इन्द्रियानुपालनप्रसंगेनोक्तम्॥ —डल्हन

१—कह नहीं सकते, प्राचीन वैद्य मत्स्यका तैल कैसे निकालते होंगे। संप्रति, कौड (Cod), शार्क (Shark), हैलीबट (Halibut)—मत्स्योंके यकृतसे तैल निकाला जाता है।

२—स्नेहोंके विभिन्न आश्रय; स्नेहोंके पृथक् गुण-कर्म, मात्रा, कल्पनाएँ, कल्प-निर्माणविधि आदि (संक्षेपमें स्नेहन कर्म) के लिए देखिये—च० सू० अ० १३; सु० चि० अ० ३१ तथा सु० सू० ४५।९६-१३१; काश्यपसंहिता सू० अ० २२ (पृ० ११-१५)।

स्नेहोंका उपयोग पान[1], अनुवासन वस्ति, मस्तिष्क[2] (स्नेहमें भिगोयी रुई, कपड़ा आदि शिरपर धारण करना), शिरोवस्ति, उत्तरवस्ति, नस्य, कर्णपूरण, शरीराभ्यङ्ग, भोजन आदिके रूपमें होता है।

अनिवार्य कार्बोहाइड्रेट—

यद्यपि, जैसा कि ऊपर कहा है, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह तथा नाइट्रोजन-विनाकृत प्रोटीन—ये सभी शक्तिके स्रोत हैं तथापि शरीरमें कई कोष ऐसे हैं, जो शक्तिके प्रादुर्भाव के लिए—अन्य शब्दोंमें अपना प्राकृत कर्म करनेके लिए—कार्बोहाइड्रेटके सिवाय अन्य किसी द्रव्यका उपयोग नहीं कर सकते। इन कोषों में केन्द्रीय नाडी-संस्थानके कोष उल्लेखनीय हैं। अनशन या भुखमरीमें, जब कि कार्बोहाइड्रेटकी प्राप्ति ही नहीं होती, अथवा प्राणी मांसपर ही रह रहा हो ऐसी स्थितियोंमें यदि कहीं धातुगत प्रोटीनों को नाइट्रोजन-विरहित करके द्राक्षाशर्करामें परिणत करनेकी यकृतकी शक्ति नष्ट हो गयी हो तो ये कोष जीवित नहीं रह सकते।

१—स्नेहोंके केवल पानको 'अच्छपेय' तथा अन्नपानके साथ किंवा वस्ति, गण्डूष आदिके रूपमें उपयोगको 'विचारणा' कहते हैं। देखिये—च० सू० १३।२३-२६

२—देखिये—मस्तिष्कः शिरोवस्ति विशेषः, स च स्नेहाक्त पिचुप्लोतादि धारणेन योजनीयः। सु० चि० ५।१९ पर —डल्हन

पक्षाघातका कारण आधुनिकोंने मस्तिष्कमें अमुकामुक विक्रिया होना बताया है। आयुर्वेदीय संहिताओंमें मस्तिष्क या उसके कार्योंका विशद वर्णन नहीं। तथापि पक्षाघातमें मस्तिष्कके लिए हितकारी (मस्तिष्क्य) शिरोबस्तिका निर्देश इस बातका संकेत करता है कि प्राचीनोंने मस्तिष्कगत विकृति तथा पक्षाघातमें कार्य-कारणभावका अनुभव किया था।

मस्तिष्ककी केशिकाओंमें वायुका बुद्बुद अटक जाना (Embolism—एम्बोलिज्म), मस्तिष्ककी केशिकाका फट जाना और रक्तका संचय (Apoplexy—एपोप्लेक्सी ; संन्यास), मस्तिष्ककी केशिकामें ग्रथित (जमे हुए) रक्त का फँस जाना (Thrombosis—थ्रॉम्बोसिस), मस्तिष्कमें कहीं पाक (Inflammation—इन्फ्लेमेशन ; सूजन) या मस्तिष्कमें कहीं अर्बुद बन जाना (Tumour)—आधुनिकोंने ये पाँच कारण पक्षाघातके कहे हैं। जिस स्थानपर इनमेंसे कोई विकृति होती है वहाँ जिन अवयवोंका नियामक केन्द्र होता है उनका पक्षाघात हो जाता है। इनमें द्वितीय तथा पञ्चम कारणोंसे हुआ पक्षाघात असाध्य तथा इतर साध्य माने जाते हैं।

कारणोंके वाचक शब्दोंके आद्यक्षर लेकर कारणोंके सुखस्मरणके लिए E A T I T यह पद-द्वयात्मक संकेत-वाक्य बनाया गया है। इस विषयका विशेष विवरण आगे नाडी-संस्थानके प्रकरणमें करेंगे।

बारहवाँ अध्याय

अथात आहारद्रव्यविज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शक्त्युत्पादक द्रव्योंके वर्णनके पश्चाद् पोषक द्रव्योंका वर्णन प्रसङ्गप्राप्त है। इनमें शक्त्युत्पादन-रूप साधर्म्यके कारण प्रथम प्रोटीनोंका वर्णन करते हैं। इसके पश्चात् पोषण तथा जीर्णोद्धार इन कर्मोंके साम्यसे क्रमशः खनिज द्रव्यों और जलका वर्णन करेंगे। सेल्युलोज़का विवरण कार्बोहाइड्रेटोंके प्रसंगमें आ चुका है।

प्रोटीनोंका रासायनिक स्वरूप—

प्रोटीनोंकी घटना (रचना) की प्रमुख विशेषता उनमें नाइट्रोजन (नत्रजन) की विद्यमानता है। कोषोंके घटक घन द्रव्योंमें प्रोटीनोंका प्रमाण सबसे अधिक होता है। इस कारण कोषों और उनके द्वारा शरीरकी पुष्टि और जीर्णोद्धारके लिए प्रोटीनोंका आहरण (आहार के रूपमें ग्रहण) आवश्यक है। परन्तु, शरीरका पोषण तो प्रोटीनोंके अनेक कार्योंमें एक कार्य है। इनके अन्य भी महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, जिनका निर्देश आगे करेंगे।

प्रोटीनोंके घटक मूल द्रव्य नाइट्रोजनको छोड़कर वही हैं जो कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंकी घटनामें भाग लेते हैं। अङ्गार (कार्बन), उदजन, नाइट्रोजन, ओषजन और अल्पमात्र गन्धक और प्रस्फुरक—इन मूलद्रव्योंके योगसे प्रोटीन बनते हैं। प्रोटीनके एक अणु[1] में नाइट्रोजन १६ प्रतिशत होता है। यह नाइट्रोजन श्वासद्वारा गृहीत वायुमें पुष्कल होता है। जैसा कि सुविदित है वायुमण्डलमें $\frac{4}{5}$ नाइट्रोजन और $\frac{1}{5}$ ओषजन होता है। परन्तु, इसपर वायुमण्डलका दबाव इतना अल्प होता है कि यह कोषोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकता। परिणामतया, जङ्गम वर्ग (मनुष्यादि प्राणी) इतने प्रमाणमें सुलभ भी नाइट्रोजनका उपयोग करके अपने लिए प्रोटीनोंका निर्माण नहीं कर सकता। स्थावरों (उद्भिद्-वर्ग) में ही यह विशेषता है कि वे वायुमण्डलसे गृहीत नाइट्रोजनका संघटन करके कार्बोहाइड्रेट और स्नेहके सदृश प्रोटीनोंको भी रच सकते हैं। जङ्गम वर्ग प्रोटीनों की प्राप्तिके लिए साक्षात् या असाक्षात्—प्रोटीनयुक्त उद्भिदोंको खाकर किंवा प्रोटीनभोजी प्राणियोंका मांसादि ग्रहण करके—उद्भिदोंपर अवलम्बित है।

कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंके निरूपणमें कहा है कि उनके घटक मूल द्रव्य अङ्गार आदि हैं। इन मूल द्रव्योंके कारण इनमें शक्त्युत्पादकता प्रभृति धर्म रहते हैं। परन्तु, इनकी वास्तविक विशेषता तो इन मूलद्रव्योंके अमुक विशिष्ट व्यूहके रूपमें गुम्फित होनेसे उत्पन्न विलक्षण रासायनिक स्वरूपके कारण हैं। इसीसे इनकी रासायनिक रचना और कर्मका विचार करते हुए मूलद्रव्योंका निर्देश करनेके अनन्तर उनके योगसे बने, रचना और क्रियाकी दृष्टिसे इकाईरूप द्रव्योंका—यथा, स्नेहोंके पक्षमें मेदोऽम्ल आदिका ही विचार किया जाता है। यही स्थिति प्रोटीनोंकी भी है। प्रोटीन यों उल्लिखित मूलद्रव्योंसे बने हैं, तथापि इन द्रव्योंके योगसे कुछ जटिल पदार्थ बनते हैं, जो रचना और क्रियाकी दृष्टिसे प्रोटीनोंकी इकाई कहे जाते हैं। इन द्रव्योंको 'एमाइनो एसिड'[2] कहते हैं। मेदोऽम्लोंके नाइट्रोजन-युक्त परमाणु-समूहके संयोगसे एमाइनो-एसिड बनते हैं। अबतक कुछ

१—Molecule—मॉलीक्यूल। २—Amino-acid.

छब्बीस एमाइनो-एसिड जाने जा सके हैं। इन एमाइनो-एसिडोंके मालाके रूपमें संयोगसे कोई सौके लगभग समस्त प्रोटीन बनती हैं। जैसे परिमित वर्णोंके नाना संयोगोंसे अपरिमित शब्द बनते हैं, वैसे अल्पसंख्यक एमाइनो-एसिडोंके नानाविध संयोगोंके कारण बहुसंख्यक प्रोटीनें बनती हैं। भिन्न-भिन्न प्रोटीनोंमें एमाइनो-एसिडोंका व्यूहन भिन्न होनेके अतिरिक्त उनकी भिन्नताका यह कारण भी है कि किसी प्रोटीनमें कोई एमाइनो-एसिड होते हैं, किसीमें कोई। समान एमाइनो-एसिडोंका प्रमाण भी भिन्न-भिन्न प्रोटीनोंमें भिन्न-भिन्न होता है। विभिन्न प्रोटीनोंमें एमाइनों-एसिडोंके कुल प्रमाणमें भी भेद होता है[1]। अण्डेका श्वेत भाग प्रोटीनमय होता है।

जठराग्नि द्वारा आमाशय और ग्रहणीमें प्रोटीनोंका पाक होनेका परिणाम यह होता है कि, ये उत्तरोत्तर सरल द्रव्योंमें विघटित होकर अन्तको एमाइनो-एसिडोंमें परिणत हो जाती हैं। इस प्रक्रियामें क्रमशः निम्न द्रव्य बनते हैं—मेटा-प्रोटीन,[2] प्रोटिओस,[3] पेप्टोन,[4] पॉलीपेप्टाइड,[5] एमाइनो-एसिड। प्रोटीनोंके एमाइनो-एसिडोंके रूपमें परिणमनका प्रयोजन यह होता है कि, प्रोटीन तथा इतर द्रव्योंके अणु-स्थूल और अधिक अणुभार[6] वाले होनेसे अन्त्रोंकी केशिकाओं द्वारा गृहीत नहीं हो सकते। एमाइनो-एसिड सूक्ष्म एवं केशिकाओं और कोषोंमें प्रवेशक्षम[7] होते हैं। प्रोटीनों-का अणु-भार १३, ००० से कुछ मिलिअन[8] पर्यन्त होता है; जब कि, एमाइनो-एसिडोंका अणु-भार केवल ७५ से २४० के मध्य होता है। यह भार साधारण कार्बोहाइड्रेटोंके अणु-भारके आस पास है। उदाहरणतया, द्राक्षाशर्कराका अणुभार १८० होता है।

एमाइनो-एसिडोंके रूपमें प्रोटीनोंके विघटनका प्रयोजन यह भी होता है कि प्रत्येक जङ्गम प्राणीकी प्रोटीनें भिन्न-भिन्न होती हैं। इसके सिवाय शरीरके विभिन्न धातुओंकी प्रोटीनें भी परस्पर भिन्न होती हैं। परन्तु, इन सबके घटक एमाइनो-एसिड समान होते हैं। आमाशय और ग्रहणीमें

१—प्रोटीनोंकी रचना-सम्बन्धी ज्ञानके लिए विज्ञान एमिल फिशर (Emil Fischer) का ऋणी है।

२—Mete-Protein। ३—Proteose।

४—Peptone। ५—Polypeptide।

६—**अणु तथा परमाणु**—किसी पदार्थ (समास) को विघटित (विश्लेषित) करते-करते अन्तमें उसके ऐसे सूक्ष्म अंश प्राप्त होते हैं, जो उसी पदार्थके अंश होते हैं, तथा जिनमें उस पदार्थके गुण—धर्म सब विद्यमान होते हैं। इन सूक्ष्म खण्डोंकी कल्पना द्वारा और विभक्त करें तो उस पदार्थके घटक मूल द्रव्य प्राप्त होते हैं। पदार्थके पूर्व-प्राप्त सूक्ष्मतम अंश या इकाईको अणु (Molecule—मॉलीक्यूल) कहते हैं। मूल द्रव्य या तत्त्वके सूक्ष्मतम अंशको परमाणु (Atom—एटम) कहा जाता है।

परमाणु भार और अणुभार—प्रत्येक परमाणुमें स्वभावतः कुछ न कुछ भार अवश्य होता है, सब मूल द्रव्योंके परमाणुओंमें उद्जनका परमाणु सबसे हलका होता है। उसके भारको एक (इकाई) मानकर अन्य मूल द्रव्यों (तत्त्वों) के परमाणुओंका भार कितने गुणा है, इसका अनुसंधान वैज्ञानिकोंने किया है। जिस मूल द्रव्यके परमाणुका भार उद्जनके परमाणुके भारसे जितने गुणा अधिक होता है उसे उस मूल द्रव्यका परमाणु-भार (Atomic weight—एटॉमिक वेट) कहते हैं। परमाणुओंसे बने अणुओंका भार उसके घटक परमाणुओंके अणुभारका कुल योग होता है। इसे अणुभार (Molecular weight—मॉलीक्यूलर वेट) कहते हैं।

७—Permeable—पर्मीएबल। ८—Million—दसलाख।

प्रोटीनोंका अपनी इकाई-रूप इन एमाइनो-एसिडोंमें विच्छेद होनेपर केशिकाओं द्वारा गृहीत होकर ये शरीरके कोषोंमें पहुंचती हैं। ये कोष प्राणि-भेद तथा धातु-भेदसे भिन्न विशिष्ट प्रोटीनकी रचना अपने देहमें करते हैं। यों धातुपाक-मात्र चैतन्यका एक चिह्न है, परन्तु प्रोटीनोंका पाक तो चैतन्यका सबसे विशिष्ट लक्षण है। उपयोग हो चुकनेके पश्चात् प्रोटीन प्रधानतया निम्न मलोंके रूपमें परिणत हो मूत्रादिके मार्गोंसे निकल जाते हैं—अङ्गाराम्ल, जल, गन्धित[1], यूरिया[2] तथा क्रिएटिनीन[3]।

आहार द्वारा गृहीत प्रोटीनोंका महास्रोतस्के पाचक रसों द्वारा विघटित होकर एमाइनो-एसिडोंके रूपमें परिणत होना और उनका पित्तधरा कला द्वारा गृहीत हो रस-रक्तके मार्गोंसे धातुओंको प्राप्त होना और धातुओंके कोषों द्वारा इन एमाइनो-एसिडोंसे अपने-अपने प्रोटोप्लाज्मकी घटक-भूत विशिष्ट प्रोटीन बनाना—यह प्रक्रिया ऐसी है जैसे किसी पुराने घरको तोड़कर उसकी ईंट, पत्थर आदि सामग्रीको नये प्रकारसे संनिवेशित कर नये भवनका निर्माण करना। महास्रोतस्में प्रोटीनोंके विघटनका एक कारण तो, जैसा कि ऊपर कहा है, उनकी स्थूलता तथा अणुभार न्यून होकर पित्तधरा कला में प्रवेशक्षम होना है। परन्तु, इसका एक अन्य भी कारण है। एक ही प्राणीके भिन्न-भिन्न धातुओंकी प्रोटीन भिन्न-भिन्न होती है। भिन्न-भिन्न प्राणियोंके-विशेषतः असमान प्राणि-वर्ग[4] के एक ही धातुकी घटक प्रोटीनमें भी भेद होता है। (यह सत्य है कि निकट वर्गके प्राणियोंकी प्रोटीनोंमें कुछ साम्य होता है; यथा, कुत्ते और भेड़ियेकी प्रोटीनें कुत्ते और मनुष्यकी प्रोटीनोंकी अपेक्षया बहुत समान होती हैं)। प्रत्येक धातुकी प्रोटीन उसकी विशिष्ट प्रोटीन[5] कहाती है। धातुकोष अपने अन्तर्गत पाचक पित्तोंकी क्रियासे एमाइनो-एसिडोंको अपनी विशिष्ट प्रोटीनमें परिवर्तित करते हैं। धातुओंको यदि बाहरसे साक्षात्, यथा सिरा द्वारा, ये प्रोटीन प्रदानकी जायँ तो विभिन्न अनिष्ट परिणाम यहाँ तक कि मृत्यु भी—होते हैं। इन बाह्य प्रोटीनोंको इसी कारण विजातीय प्रोटीन[6] कहते हैं। जठराग्निकी मन्दता आदि कारणोंकी विद्यमानतामें, शरीर कार्बोहाइड्रेटोंके अयोगसे होनेवाली हानियोंको प्राप्त न हो इस हेतु, जैसे—द्राक्षाशर्करा सिराद्वारा शरीरमें प्रविष्टकी जाती है, वैसे ही समुचित एमाइनो-एसिड सिराबस्ति द्वारा देकर, ऐसी परिस्थितिओं में, शरीरको प्रोटीनोंके अयोग किंवा हीनयोगसे रक्षित रखा जाता है।

स्मरण रहे, जब हम विजातीय प्रोटीनकी बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि सभी विजातीय प्रोटीनें साक्षात् रस-रक्तमें पहुंचायी जानेपर प्राणि-मात्रके लिए अपायकारक होती हैं। परन्तु कुछ प्रोटीनें ऐसी भी होती हैं जो अन्य जनताके लिए अनपायी (कुछ भी हानि न करनेवाली) होती हुई भी किसी व्यक्तिमें तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करती हैं। इन व्यक्तियोंमें, ये प्रोटीनें किसी कारण अपक्व दशामें ही रस-रक्तमें पहुंच जाती हैं, और अपनी विद्यमानताके कारण उस व्यक्ति-विशेषमें अमुक विशिष्ट लक्षण उत्पन्न करती हैं। विजातीय प्रोटीन ही नहीं अन्य अनेक कारण भी ऐसे हैं, जो किसी विशिष्ट व्यक्तिमें ही रोगोत्पत्ति करते हैं। इन कारणोंमें विजातीय असात्म्य (प्रतिकूल) प्रोटीन प्रधान मानी गयी है। इस प्रकार व्यक्ति-विशेषमें तत्-तत् आहार-द्रव्य इत्यादिकी प्रतिकूलताको अंग्रेजीमें 'एलर्जी[7]' नाम दिया गया है। एलर्जीसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंमें श्वास, विचर्चिका (अकौता, छाजन; गुजरातीमें खरजुवा[8]), शीतपित्त-सदृश कोठ (ददोड़े) आदि मुख्य हैं।

१—Sulphate—सल्फेट। २—Urea। ३—Creatinine।
४—Species—स्पिशीज। ५—Specific protein—स्पेसिफिक प्रोटीन।
६—Foreign protein—फॉरेन प्रोटीन।
७—Allergy. ८—Eczema—एग्ज़ीमा।

इन लक्षणोंको 'एलर्जिक सिम्प्टम्स'[1] तथा व्यक्तियोंको तत्-तत् कारणके प्रति 'एलर्जिक'[2] कहते हैं।

एमाइनो एसिडोंके मेलसे जैसे धातुकोष नयी प्रोटीनें बनाते हैं वैसे आवश्यक होनेपर एक एमाइनों-एसिडको अन्यमें परिवर्तित भी करते हैं।

प्रोटीनके कर्म—

प्रोटीनके दो कर्मों—**पोषण और जीर्णोद्धार** का निर्देश अनेक बार किया जा चुका है। पोषणकी दृष्टिसे इनका विशेष आहरण बाल्य तथा तरुणाईमें करना चाहिये, यह कहना निरवकाश है। परन्तु, यह स्मरण रखना चाहिये कि आहार रूपमें सेवित प्रोटीन तथा एमाइनो-एसिड ऐसे होने चाहिये, जिनमें विशिष्ट प्रोटीनोंके निर्माणकी अधिकतम क्षमता हो। इस विषयको आगे अधिक स्पष्ट करेंगे। शरीरकी वृद्धि पूर्ण हो चुकनेके अनन्तर-कर्कश व्यायाम करनेवालोंमें भी—प्रोटीनकी आवश्यकता बहुत नहीं रह जाती। प्रारम्भिक वयमें पोषणके लिए आहार द्रव्यकी आवश्यकता विशेष होनेसे, तथा पोषक द्रव्योंका धातुकोषोंमें विशिष्ट स्वरूपमें संचय होते हुए शक्तिका उपयोग होता है और यह शक्ति आहारसे ही प्राप्य होनेसे—इस कालमें बच्चोंकी क्षुधा बहुत प्रबल होती है। प्रायः देखा जाता है कि बालक अपने पिता मातासे द्विगुण या उससे भी अधिक आहार लेते हैं। वस्तुतः बच्चोंपर अल्पभोजन संबन्धी नियमोंका लादना उनके पोषण आदिमें बाधक होनेसे अधर्मवत् है।

पोषण तथा क्षतिपूर्तिसे बची प्रोटीनका उपयोग **दहन और शक्तिके प्रादुर्भाव** में होता है, यह भी कहा जा चुका है।

पाचक पित्तोंका उत्पादन—प्रोटीनोंका इतना ही महत्त्वपूर्ण अन्य कर्म यह है कि ये महास्रोतस्‌में क्षरित होनेवाले विभिन्न पाचक पित्तों (बहिःस्रावों), रस-रक्तमें सीधे मिल जानेवाले अन्तःस्रावों तथा कोपोंके अपने-अपने पाचक पित्तोंके निर्माणमें भाग लेते हैं। इस प्रकार प्रोटीनोंका यथावत् सेवन अग्निको स्थिर रखता है। पोषण, क्षतिपूर्ति तथा पाचक रसोंका निर्माण—ये तीन कार्य प्रोटोनोंके समान खनिज द्रव्यों तथा जलके भी हैं।

रक्त तथा रसके अन्तर्गत अनेक प्रोटीन होती हैं। इनके अपने-अपने पृथक् कर्म तो होते ही हैं, साथ ही एक समान कर्म भी होता है कि, रस-रक्तमें इनकी यथोचित मात्रा रहे तो धातुओंमें जल-संचय (शोथ) नहीं होता। निदान तथा चिकित्सामें उपयोगी होनेके कारण जरा ठहरकर इस बातको समझ लें।

शरीरमें तथा शरीरसे बाहर प्रयोगशालाओंमें प्रकृतिका यह नियम देखा जाता है कि, दो भिन्न घनत्ववाले द्रव या अर्ध द्रव द्रव्योंके मध्यमें यदि ऐसा पर्दा रखा जाय जिसमें होकर द्रव-द्रव्य या उसके अन्तर्गत कोई घन-द्रव्य इस पारसे उस पार आ जा सके तो होता यह है कि, घन द्रव्य यदि उस पार जा सकता हो तो जिस द्रवमें घन भाग अधिक है उसमें से वह घन द्रव्य दूसरी ओर चला जाता है—यहाँ तक कि दोनों द्रव्यों का घनत्व समान-समान हो जाता है। अथवा घन द्रव्य उस पार न जा सके तो जल आदि द्रव-द्रव्य अल्प घनत्व वाले (अधिक द्रव) द्रव्यसे रिसकर अधिक घनत्ववाले द्रवमें जाता है, यहाँ तक कि द्रवांश न्यून हो जानेसे पहले द्रवका घनत्व बढ़ जाता है तथा पिछले द्रवका द्रवत्व बढ़कर दोनों समान भूमिका पर आ जाते हैं। जो द्रव्य इस प्रकार स्वयं पार न जाकर द्रव-द्रव्यके आकर्षणका सामर्थ्य रखते हैं, कहा जाता है कि उनमें एक प्रकारका दबाव होता है। इस दबावको अंग्रेजीमें 'ऑज्मोटिक प्रेशर'[3] कहते हैं।

१—Allergic symptoms २—Allergic. ३—Osmotic pressure.

जानबूझकर किये गये उपवास, रोगादिमें क्षुधानाश तथा मन्दाग्निके कारण हुए अनशन या अल्पाशन, एवं भुखमरीमें स्थिति यह होती है कि, भोजन द्वारा प्रोटीन किंवा एमाइनो एसिड उपलब्ध न होनेसे रक्तवाहिनियोंमें उनका प्रमाण न्यून हो जाता है, जब कि, धातुओंमें पूर्वसंचित प्रोटीन विद्यमान होनेसे वहाँ उसकी मात्रा स्वभावतः रक्तगत प्रोटीनकी अपेक्षया अधिक होती है। परिणामतया, धातुओंमें घनत्व अधिक और रक्तवाहिनियोंमें न्यून हो जाता है। दोनोंके मध्य केशिकाएँ होती हैं। धातुगत प्रोटीनोंका 'ऑस्मोटिक प्रेशर' अधिक होनेसे-अथवा सीधी परन्तु अवैज्ञानिक भाषाका उपयोग करें तो उनमें पानीको खेंचनेकी शक्ति अधिक होनेसे—केशिकाओंके रक्तका जलीयांश आकृष्ट होकर धातुओंमें तबतक पहुंचता रहता है जबतक कि धातुओं और रक्तमें द्रवत्व-घनत्व समान न हो जाएं। धातुओंमें हुए इस जल-संचय और तज्जन्य उत्सेध (उभार) को ही शोथ[1] कहते हैं। यह शोथ अपतर्पणके कारण हुआ होनेसे इसे अपतर्पणजन्य शोथ[2] कहा जाता है। गुरुताकर्षणके नियमोंके अनुसार यह शोथ अधःशरीरमें विशेषतया देखा जाता है। भुखमरी या भिखारियोंमें यह शोथ बहुधा दिखाई देता है।

आयुर्वेदमें शोथके कारणोंमें रोगजन्य दौर्बल्य, उपवास, अपतर्पण तथा आम (अजीर्ण, तथा उसके कारण रक्तवह स्रोतोंमें प्रोटीनोंकी अल्पता) की भी गणनाकी गयी है[3]। नव्यमतानुसार उसकी उपरि लिखित व्याख्या है। आयुर्वेदमें इतना विशेष कहा है कि इन स्थितियोंमें पुरुष अम्ल, लवण, क्षारादिका सेवन करे, अतिश्रम आदि करे तो शोथ होता है।

इस प्रकार रस-रक्तगत प्रोटीनोंका एक समान कर्म रस-रक्त एवं शरीरके धातुओंमें जलका प्रमाण स्थिर रखना, परिणामतया शोथ न उत्पन्न होने देना है। इस समान कर्मके अतिरिक्त पृथक् प्रोटीनोंके पृथक् कर्म होते हैं। यथा, हेमोग्लोबीन[4] फुफ्फुसोंमें आकर श्वसन-क्रियासे प्राप्त ओषजनको ग्रहण करता तथा अङ्गाराम्लको छोड देता है। इस प्रकार उपचित (ओषजनसे पुष्ट) हुआ हेमोग्लोबीन रस-संवहनकी क्रियावश जब धातुओंमें पहुंचता है तो उनके मलभूत अङ्गाराम्लको ग्रहण करता तथा ओषजन उन्हें प्रत्यर्पित करता है। इस प्रकार रक्तका शोधन हीमोग्लोबीनके कारण होता है। फाइब्रिनोजन[5] तथा अन्य कुछ प्रोटीनोंके कारण, जो रक्तमें अल्पांशमें होती हैं, रक्तका स्कन्दन (जमना)[6] होता है। क्षतोंसे होनेवाले रक्तस्रावको रोकनेके लिए रक्तका यह गुण अति उपयोगी है। क्षमता (शरीरकी रोगप्रतिबन्धक शक्ति)[7] के हेतुभूत

१—Oedema—इडीमा। २—Nutritional œdema—न्यूट्रीशनल इडीमा।
३—देखिये—च० सू० १८।६; च० चि० १२।५; सु० चि० २३।४ इत्यादि।
४—Haemoglobin—रक्तकणों (आयुर्वेद के रक्तधातु) का रञ्जक द्रव्य। स्मरण रहे, आयुर्वेदका रञ्जक पित्त इससे भिन्न है। प्रायः इसे रञ्जक पित्त कहा जाता है। ५—Fibrinogen.
६—Coagulation—काएग्युलेशन। 'स्कन्दन' शब्द प्राचीन है। देखिये—'चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्। संधानं स्कन्दनं चैव पाचनं दहनं तथा—सु० सू० १४।३९'—इत्यादि। इस प्रसंगमें स्मरण रहे, रक्तके स्कन्दनकी न्यूनाधिकताका कारण आयुर्वेदमें वातादि दोषोंका तारतम्य कहा है। इस विषयका विचार आगे रक्त-धातुके प्रकरणमें करेंगे। ७—Immunity—इम्युनिटी।

क्षमता—प्राचीन-संज्ञा—रोगोंका प्रतिकार करनेकी शक्तिको प्राचीनोंने 'क्षमता' कहा है। 'न च सर्वाणि शरीराणि व्याधिक्षमत्वे समर्थानि भवन्ति—च० सू० २८।७'—तथा इसपर चक्रपाणिकी व्याख्या—'व्याधिक्षमत्वं व्याधिबलविरोधित्वं व्याध्युत्पादप्रतिबन्धकत्वमिति यावत्'—इन स्थलोंमें शरीरकी रोगोत्पत्तिकी प्रतिबन्धक शक्तिको व्याधि-क्षमता कहा है। इसे 'इम्युनिटी' का पर्याय कह सकते हैं। संक्षिप्त नाम क्षमताका व्यवहार अधिक संगत है।

प्रतिद्रव्य[1] भी संभवतः प्रोटीन हैं। पुंबीज और स्त्रीबीजके अङ्गभूत जेन[2], जो वंशपरम्परागत शारीरिक-मानसिक प्रकृति-विकृतिका वहन करते हैं[3], न्यूक्लिओ-प्रोटीन[4] नामक प्रोटीनके बने होते हैं। योजक धातु, अस्थि, त्वचा आदिकी अङ्गभूत प्रोटीनें शरीरका धारण और रक्षण करती हैं। भिन्न-भिन्न कोषों तथा धातुओंकी रचना और क्रियाकी विशिष्टताका कारण उनकी घटक विशिष्ट प्रोटीनें ही हैं। अन्य द्रव्योंकी अपेक्षया प्रोटीनोंका एक विशेष धर्म है कि—ये शरीरमें तापोत्पत्तिकी क्रियाको अत्यधिक बढ़ा देती हैं। जो पुरुष प्रोटीन न्यून लेते हैं उन्हें ठण्ढ बहुत लगती है। कुत्तेको प्रचुर मांस देकर उसके शरीरमें तापोत्पत्ति द्विगुण की जा सकती है। प्रोटीनोंके इस विशेष गुणको अंग्रेजीमें 'स्पेसिफिक डायनेमिक एक्शन'[5] कहते हैं।

प्रोटीनोंके हीनयोगसे हानि— ५

प्रोटीनोंके उल्लिखित कर्मोंको देखनेसे स्पष्ट है कि, विशेषतया बाल्यकालमें प्रोटीनमय आहार उचित प्रमाणमें न मिले तो शरीरकी पुष्टि (विकास) सम्यक् नहीं होती। रोगमुक्तिके पश्चात् इनका यथावत् सेवन न किया जाय तो शरीर पूरा रंग नहीं पकड़ता। प्रोटीनोंके हीनयोगमें अन्तःस्रावी तथा बहिःस्रावी ग्रन्थियोंका रस उत्कृष्ट प्रकारका न होनेसे शरीर और मन उनके लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। कृशता, अपूर्ण वृद्धि, दौर्बल्य, कठिन शारीर या मानस श्रम बहुत समयतक न कर सकना, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता अल्प होना, क्षुद्रश्वास (अल्पमात्र श्रमसे श्वास फूल जाना), वार्धक्यके चिह्न शीघ्र प्रकट होना, अल्पायु आदि प्रोटीनके अयोग किंवा हीनयोगके ही अनिष्ट परिणाम हैं। राजयक्ष्मा, विषूचिका, अतिसार, विषमज्वर, कुष्ठ आदिके प्रतिरोधकी क्षमता भी इसी कारण अल्प हो जाती है।

आयुर्वेदमें आहारके हीनयोगके जो लक्षण कहे हैं[6] वे प्रधानतया प्रोटीनोंके हीनयोगके ही द्योतक हैं।

प्रोटीनोंका अपेक्षित प्रमाण— ५

शरीर प्रोटीनोंका शक्त्युत्पादनमें उपयोग कर सकता है, परन्तु कार्बोहाइड्रेटों या स्नेहोंमें नाइट्रोजन न होनेसे प्रोटीनका कार्य उनसे नहीं ले सकता। अतः बाल्यकालमें शरीरकी पुष्टिके लिए तथा सम्पूर्ण वयमें इतर विभिन्न कार्य करनेके लिए प्रोटीनोंका यथोचित प्रमाणमें आहरण आवश्यक है। गर्भिणी तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको भी स्वभावतः प्रोटीनकी अधिक मात्रामें आवश्यकता होती है। नित्यके घर्षणके कारण मूत्रमार्गसे नाइट्रोजनकी जो राशि विसर्जित होती है, उसकी पूर्तिद्वारा नये कोषोंकी उत्पत्तिके लिए, विद्वानोंने निर्णय किया है कि, प्रतिदिन शरीरके भारके प्रति एक किलोग्रामपर[7] ०.३ ग्राम प्रोटीन खानी चाहिये। परन्तु यत्किञ्चित् अधिक भले ही जाय, न्यून मात्रामें तो प्रोटीन नहीं जाय इस दृष्टिसे यह योग्य समझा गया है कि शरीरके प्रति किलोग्रामपर ५

१—Antibodies—एण्टीबॉडीज़; रोगजन्तुओं, उनके विषों आदिके विरुद्ध कार्य करनेवाले विभिन्न द्रव्य।

२—Gene.

३—देखिये—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १६३

४—Nucleoprotein.

५—Specific dynamic action. शब्दार्थ—विशिष्ट शक्त्युत्पादक क्रिया।

६—देखिये—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १३०।

७—Kilogram. एक किलोग्राम=२ पाउण्ड, ३। औंस।

१ ग्राम प्रोटीन लेनी चाहिये। एकसे तीन वर्षके बच्चोंको उनके प्रति किलोग्राम भारपर ४ ग्राम तथा १७ से १८ वर्षके तरुणोंको २ ग्राम प्रोटीन प्रतिदिन मिलनी चाहिये।

रुचि ही द्रव्य तथा मात्राकी निर्णायक—

अनेक विद्वानोंने अनेक प्रकारसे आहार द्रव्योंकी आवश्यक मात्राका निर्णय और निरूपण किया है। यथा—डुबॉय और चेम्बर्सका[1] मन्तव्य है कि, कुल कैलोरियोंमें १५ प्रतिशत कैलोरियाँ प्रोटीनोंका सेवन करके लेनी चाहिए, ४५ प्रतिशत स्नेहोंसे तथा ४० प्रतिशत कार्बोहाइड्रेटोंसे। परन्तु, जैसा कि पहले (पृ० १६१) कह आये हैं, इन गणनाओं में शास्त्रीयता ही अधिक है, व्यावहारिकता कम। सत्य तो यह है कि, "कौन-सा द्रव्य कितना लेना इस विषयमें पुरुषकी रुचि ही उत्तम निर्णायक है। यदि व्यक्तिको अपना आहार आप पसन्द करने दिया जाय तो बुद्धिपूर्वक वह प्रोटीनोंको भी योग्य प्रमाणमें ही लेगा[2]।" "वास्तवमें हमारे सामान्य जीवनमें आहार ऐसा नियन्त्रित है कि प्रोटीन अनजाने योग्य प्रमाणमें ही ली जाती है[3]।"

आयुर्वेदका निर्णय अक्षरशः यही है। देखिये—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्द्धनं यत् तदन्नपानं प्रकांक्षति ॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति ॥ सु. सू० १५।२९-३०

स्वयोनिवर्द्धनम् आत्मकारणवर्धनम्। आहारजातमाहारसमूहम् ॥ —डल्हन

पुरुषका जो दोष, धातु या मल किंवा बल क्षीण हो उसकी वृद्धि जिन द्रव्योंसे होती है, उनके सेवनकी इच्छा स्वभावतः उसके चित्तमें होती है। वह जिस द्रव्यके सेवनकी इच्छा करे उसके सेवनसे उसका क्षीण दोष, धातु, मल या बल पुष्ट होकर समावस्थाको प्राप्त होता है[4]।

अवश्य ग्राह्य प्रोटीनें

प्रोटीनोंकी आवश्यक मात्रासे भी अधिक विचारणीय विषय उनके स्वरूप और उसकी पसन्दगीका है।

१—Dubois & chambers.

२—In normal individuals, appetite is a reasonably good guide in making this distribution, and even the proper amount of protein will be voluntarily ingested if a free choice of food is made possible. Howell's Text book of Physiology (1946), P. 1136.

३—But throughout adult life under normal conditions the diet is so regulated unconsciously that a nitrogen equilibrium is maintaind through long period. उक्त पुस्तक P. 1120.

४—इस प्रकरणमें डल्हनने सुश्रुतकी कई प्रतियोंमें पठित श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनमें कहा है कि, किस दोषादिकी क्षीणतामें किस द्रव्यकी आकांक्षा होती है। विज्ञ वाचकोंके विचारार्थ यह श्लोक यहाँ देता हूं—"केचित् सुश्रुताध्यायिनोऽत्र दोषधात्वादिक्षयविनाशार्थं देयमन्नादिकं पठन्ति—

'यवान् मुद्गान् हरेणूंश्च रूक्षं च लघु भोजनम्। कषायकटुतिक्तं च वातक्षीणोऽभिकांक्षति ॥

परीक्षणों से विदित हुआ है कि कई एमाइनो-एसिड ऐसे हैं, जिन्हें शरीर आहार द्वारा प्राप्त मूलद्रव्यों का संघटन (संमेलन)[1] करके बना सकता है। परन्तु अन्य एमाइनो-एसिड ऐसे हैं जिन्हें शरीर धातु बना ही नहीं सकते किंवा उनके बनानेकी गति इतनी मन्द होती है कि शरीरकी पुष्टि उस गतिसे हो नहीं सकती। प्रोटीनों की अथवा उनके योनिभूत (आश्रयभूत) द्रव्योंकी पसंदगी करते हुए जान लेना चाहिये कि उनमें किस प्रकारके एमाइनो-एसिड हैं। प्रथम प्रकारके एमाइनो-एसिड या उनसे युक्त प्रोटीन चाहे जितने प्रमाणमें लें तो भी शरीरकी पुष्टि (विकास) नहीं होती। दूसरे प्रकारके एमाइनो-एसिडोंमें ही यह सामर्थ्य है कि उनके सेवनसे शरीरकी पुष्टि हो सकती है। इन एमाइनो-एसिडोंको 'अवश्यग्राह्य'[2] एमाइनो-एसिड कहते हैं। कुल २६ एमाइनो-एसिडोंमें अवश्य ग्राह्य ९ या १० हैं।

अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिडोंकी विद्यमानता तथा अविद्यमानताको दृष्टिगत रखके प्रोटीनोंके प्रकार-भेद किये गये हैं। जिनमें अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिड विद्यमान हों उन प्रोटीनोंको परिपूर्ण[3] तथा जिनमें न हों उन्हें अपरिपूर्ण[4] कहते हैं। इस पद्धति से श्रेणीकरण करते हुए विदित हुआ है कि दूध और अण्डा प्रोटीनोंके सर्वोत्कृष्ट उपादान हैं। यह स्वाभाविक भी है। कारण दूध क्षीराद (दूध पीनेवाले) शिशुकी पुष्टिके लिए तथा अण्डा भ्रूणके पोषण के लिए एकमात्र उपादान हैं।

परिपूर्ण प्रोटीनके उपादान होनेकी दृष्टिसे अण्डे और दूधके बाद अन्य जङ्गम प्रोटीनोंका— यथा, यकृत्, मांस और मत्स्यसे प्राप्त होनेवाले प्रोटीनोंका महत्त्व है। इसके पश्चात् स्थावर (उद्भिदोंको) प्रोटीनोंकी उपयोगिता है। इस श्रेणीमें सबसे पीछे गणना होनेपर भी स्थावर द्रव्योंको प्रोटीनोंका हेय उपादान न समझ लेना चाहिए। उनमें भी अवश्यग्राह्य एमाइनो-एसिड होते हैं, पर उनका प्रमाण इतना अल्प होता है कि शरीरके लिए आवश्यक मात्रामें एमाइनो-एसिड

तिलमाषकुलत्थादि पिष्टान्नविकृतिं तथा। मस्तुशुक्ताम्लतक्राणि पित्तक्षीणस्तथादधि ॥
मांसंमाहिषवाराहमाजं गुड गुरूणि च। श्लेष्मक्षीणोऽभिलषति क्षीरस्वप्नदधीनि च ॥
इक्षुमांसरसं मन्थं मधु सर्पिर्गुडोदकम्।असृङ्मांसं यवागूं च रसक्षीणोऽभिवाञ्छति ॥
द्राक्षादाडिमयुक्तानि सस्नेहलवणानि च। रक्तसिद्धानि मांसानि रक्तक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
अम्लानि दधिसिद्धानि तथा षाड्वकानि च। स्थूलक्रव्यादमांसानि मांसक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
मेदः सिद्धानि मांसानि ग्राम्यानूपौदकानि च। सक्षाराणि विशेषेण मेदःक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
रसान् सुसिद्धान् सास्थीनि मांसानीहाभिकांक्षति ॥
अस्थिक्षीणस्तथा मांसं मज्जास्थिस्नेहसंयुतम्। स्वाद्वम्लसंयुतं द्रव्यं मज्जक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
मयूरकुक्कुटाण्डानि हंससारसयोस्तथा। ग्राम्यानूपौदकानां च शुक्रक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
यवानि यवकाशानि शाकानि विविधानि च। मायूरं माषयूषं च वर्चःक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
पेयामिक्षुरसं क्षीरं सगुडं बदरोदकम्। मूत्रक्षीणोऽभिलषति त्रपुसैर्वारुकाणि च।
अभ्यङ्गं मर्दनं मद्यं निवातशयनासनम्। गुरु प्रावरणं चैव स्वेदक्षीणोऽभिकांक्षति ॥
कट्वम्ललवणम्लानि विदाहीनि गुरूणि च। फलशाकानुपानानि स्त्री वाञ्छत्यार्तवक्षये ॥
मृगाजाविवराहाणां गर्भान् वाञ्छति संस्कृतान्। वसाशल्यप्रकारादीन् मोक्तुं गर्भपरिक्षये ॥
सुराशाल्यन्नमांसानि गोक्षीरं शर्करां तथा। आसवं दधि हृद्यानि क्षये स्तन्यस्य वाञ्छति ॥" इति

१—Synthesis—सिन्थेसिस।
२—Essential—एसेन्शल, अथवा Indispansable—इण्डिस्पेन्सेबल।
३—Complete—कम्प्लीट। ४—Incomplete—इन्कम्प्लीट।

यदि स्थावर द्रव्योंसे ही प्राप्त करना चाहें तो उनका बहुत प्रमाणमें तथा विविध धान्योंके रूपमें सेवन करना पड़े, जो अन्य प्रकारसे हानिकर है।

आयुर्वेद और प्रोटीन—

प्राचीन संहिताओंमें प्रोटीन-जैसे द्रव्यका नामतः निर्देश नहीं। तथापि जो दूधको बालक, वृद्ध, कृश आदि पुरुषोंके लिए सर्वोत्तम पथ्य कहा गया है, मांसको सर्वोत्तम मांसपोषक कहा है, एवं विभिन्न रोगोंमें मांससात्म्य पुरुषोंके लिए अमुक-अमुक पशु-पक्षियोंके माँस-रसका विधान किया है तथा उन्हीं रोगोंमें (निरामिषाहारियोंके लिए) मूँग, मसूर, मोठ, चने आदि शिम्बीधान्योंके यूषों (रसों) का उपदेश किया है—वह हमें उसी परिणामपर पहुंचाता है, जिस प्रकार आधुनिकोंका प्रोटीन-संबन्धी ज्ञान। ये तथा अन्य वचन इस बातके द्योतक हैं कि प्राचीनोंको दूध, मांस आदिमें विद्यमान अवश्यग्राह्य पोषक अंशका अनुभव हुआ था, तथा उन्हें यह भी विदित था कि मांस तथा शिम्बीधान्य दोनोंमें समान धातुकी वृद्धि करनेवाला कोई समान द्रव्य है। यही द्रव्य आधुनिकोंका प्रोटीन है।

दुग्धमात्रके गुण-वर्णनमें कहा है—

तत्र सर्वमेव क्षीरं प्राणिनामप्रतिषिद्धं जातिसात्म्यात्, वातपित्तशोणितमानसेष्वपि विकारेष्वविरुद्धं, जीर्णज्वरकासश्वासशोषक्षयगुल्मोन्मादोदरमूर्च्छाभ्रममददाहपिपासाहृद्बस्तिदोषपाण्डुरोगग्रहणीदोषार्शःशूलोदावर्तातिसारप्रवाहिकायोनिरोगगर्भस्रावरक्तपित्तश्रमक्लमहरं, पाप्मापहं बल्यं वृष्यं वाजीकरणं रसायनं मेध्यं वयःस्थापनमायुष्यं जीवनं बृंहणं संधानं वमनविरेचनास्थापनं तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनं बालवृद्धक्षतक्षीणानां क्षुद्व्यवायव्यायामकर्शितानां च पथ्यतमम्॥ सु० सू० ४५।४९

× × × कासोऽत्र कफकासं त्यक्त्वा, शोषोऽत्र मुखकण्ठतालूनाम्, क्षयो राजयक्ष्मा, गुल्मोदरयोर्वातपैत्तिकयोः, मूर्च्छाभ्रममदपिपासासु कफामरहितासु, हृदयदोषाणां वातपित्तप्रायाणाम्, पाण्डुरोगे वातपित्तप्राये, ग्रहणीदोषे जीर्णावस्थायाम्, अर्शस्सु रक्तपित्तप्रबलेषु, अतिसारे वातपित्तशोणितप्राये पक्वावस्थायां, प्रवाहिकायां वातपित्तप्रबलायां, गर्भस्रावे आमान्वयादिना, रक्तपित्ते कफप्रधाने, अग्निमान्द्ये च न देयम्। बल्यं मांसोपचय करम्। वृष्यं शुक्रजनकं, वाजीकरणं शुक्रप्रवर्तनम्, एतेन जनकप्रवर्तकमित्युक्तम्। × × वमनविरेचनास्थापनमिति वमनं वमनद्रव्यसंयोगि; विरेचनं सरत्वान्मृदुकोष्ठस्य; आस्थापनम् आस्थापन द्रव्यसंयोगि। तुल्यगुणत्वाच्चौजसो वर्धनमिति यावन्त एवौजसो गुणास्तावन्त एव क्षीरस्यापि, तेन तैस्तैरेवात्मगुणैस्तेषां समानानामोजसो गुणानामभिवर्धनम्॥ —डल्हन

गौ आदि सभी प्राणियोंका दूध जन्मते ही सात्म्य, बृंहण, मांस, शुक्र और बलकी अभिवृद्धि करनेवाला, ओजका पूर्णतया वर्धक; बालक, वृद्ध, क्षय तथा उरःक्षतसे क्षीण एवं क्षुधा, अतिमैथुन और व्यायामसे कृश हुए पुरुषोंके लिए सर्वोत्तम हितकर, गर्भपोषक तथा जीर्णज्वर, क्षय आदि रोगोंका[1] नाशक है।

१—क्षीरसाध्य रोग तथा उनकी किस अवस्थामें क्षीर (दूध) का उपयोग करना चाहिए—यह ऊपर ही मूल तथा टीकामें देखें।

मांससे मांसका और उसके द्वारा संपूर्ण शरीर का सर्वोत्तम पोषण होता है, इस विषयमें निम्न प्रमाण देखिये—

मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरम् ॥ च० शा० ६।१०

शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद्विशिष्यते ॥ च० सू० २७।८७

मांसं बृंहणीयानाम् (श्रेष्ठम्) ; रसस्तर्पणीयानाम् (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

अण्डोंका उपयोग शरीरवृद्धिके लिए उतना नहीं होता था, जितना शुक्रकी क्षीणतामें। इसके लिए एक उदाहरण देखिये—

धार्तराष्ट्रचकोराणां दक्षाणां शिखिनामपि ।
चटकानां च यानि स्युरण्डानि च हितानि च ॥
क्षीणरेतःसु कासेषु हृद्रोगेषु क्षतेषु च ।
मधुराण्यविदाहीनि सद्योबल कराणि च ॥ च० सू० २७।८६-८७

अण्डे मधुर, अविदाही, तत्काल बल (मांसोपचय[1] तथा शक्ति) उत्पन्न करनेवाले और शुक्र की क्षीणता,[2] कास, हृद्रोग तथा क्षत (उरःक्षत और व्रणमात्र) में हितकर है।

ज्वरितोंके आहारका विधान करते हुए सात्म्य-भेद (अभ्यास-भेद) से शिम्बीधान्योंके यूष किंवा मांसरस देनेका विधान निम्न पद्योंमें है।—

मुद्गान् मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ।
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रदापयेत् ॥ —च० चि० ३।१८८

जिन्हें यूष सात्म्य हों उन रोगियोंको मूँग, मसूर, चना, कुलत्थ तथा मोठ के यूष दें।

लावान् कपिंजलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान् ।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान् पृषतान्छशान् ॥
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ।
ईषदम्लाननम्लान् वा रसान् काले विचक्षणः ॥ च० चि० ३।१९०-१९२

जिन्हें मांस सात्म्य हो उन्हें विभिन्न उक्त प्राणियोंके मांसरसका सेवन कराये।

इसी प्रकार विसर्पमें सात्म्य-भेदसे यूष किंवा रसोंका विधान है।—

मुद्गान् मसूरांश्चणकान यूषार्थमुपकल्पयेत् ।
अनम्लान् दाडिमाम्लान् वा पटोलामलकैः सह ॥
जाङ्गलानां च मांसानां रसांस्तस्योपकल्पयेत् ।
रूक्षान् परूषकद्राक्षा दाड़िमामलकान्वितान् ॥
च० चि० २१।१११-११२

अस्तु। प्रोटीनोंका विवेचन समाप्त हुआ। अब अगले अध्याय में पोषण, क्षतिपूरण तथा अन्तर्बहिःस्रावोंकी रचना इन समान कर्मोंवाले खनिजों तथा जलका विचार करेंगे।

१—बलके अनेक अर्थोंमें मांसकी पुष्टि भी एक है। देखिए—ऊपरधृत सुश्रुतवचनकी टीका।

२—शुक्रदोषमें अण्डेके उपयोग सम्बन्धी अधिक विचार आगे शुक्रधातुके प्रकरणमें देखें।

तेरहवां अध्याय

अथात आहार द्रव्यविज्ञानीयं चतुर्थमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

निरिन्द्रिय या खनिज द्रव्य—

शरीरान्तर्गत (तथा बाह्य) समासोंको दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय। सेन्द्रिय समास वे हैं जिन्हें, पहले समझा जाता था कि, केवल स्थावर-जङ्गम प्राणी ही अपने कोषों में बना सकते हैं। अब इन्हें कृत्रिम भी बनाया जाता है। इनमें कार्बन (अङ्गार) प्रमुख तत्त्व होनेसे इनको कार्बन के समास भी कहते हैं। इतर द्रव्योंको निरिन्द्रिय[1] अथवा खनिज द्रव्य[2] कहते हैं। हमारे शरीरका $\frac{1}{25}$ भाग खनिज द्रव्योंसे बना है।

निरिन्द्रिय द्रव्योंके सामान्य कर्म—

इनके तीन सामान्य कर्म प्रोटीनोंके प्रकरणमें देख आये हैं—पुष्टि, जीर्णोद्धार (क्षतिपूर्ति) तथा अन्तर्बहिःस्रावों और उनके सहचारी स्रावोंका[3] निर्माण। कई खनिज द्रव्य रस-रक्त तथा धतुओंके मध्य जल-धातुके संतुलनका कार्य करते हैं। रस-रक्तमें जलका प्रमाण सम (यथोचित) रहनेसे क्या लाभ होता है, इसका विचार आगे जल-धातुके प्रकरणमें करेंगे। जल-धातुके संतुलनका स्वरूप ऊपर प्रोटीनोंके निरूपणमें देख ही आये हैं। कई खनिज शरीरमें क्षारताका प्रमाण स्थिर रखते हैं। क्षारता और अम्लताका विशेष विचार ऊपर स्नेहोंके प्रकरणमें किया है।

निरिन्द्रिय द्रव्योंके पृथक् गुण-कर्म—

सामान्य और विशेष रूपसे स्वास्थ्य और आरोग्यमें अनेक प्रकारसे उपयोगी होते हुए भी निरिन्द्रिय द्रव्योंकी आवश्यक मात्रा अत्यल्प होती है। हमारे दैनिक भोजनमें इनका यथेष्ट प्रमाण होता भी है। केवल सुधा[4] और अयस्[5]—इन दो द्रव्योंकी योग्य मात्रा शरीरमें जा रही है या नहीं,

---

१—Inorganic compounds—इनर्गेनिक कम्पाउण्ड्स।

२—Minerals—मिनरल्स। ३—Co-enzymes—को-एन्जाइम्स।

४—Calcium—कैल्शियम

५—Iorr—आयर्न। प्राचीन वाङ्मयमें धातु शब्द किसी भी जातिकी कच्ची धातु (ore-ओर) के लिए तथा 'लोह' शब्द सर्व प्रकारकी शुद्ध धातुओं (Metals मेटल्स) के लिये प्रयुक्त हुआ है, केवल लोहे (Iorn)के लिए नहीं। लोहेके लिए 'अयस्' शब्द है। तीनों पदोंका प्रयोग करते हुए यह बात स्मरण रखनी चाहिए विशेषके लिए देखिये—द्रव्यगुण विज्ञान, उत्तरार्ध—प्रथम खण्ड पृ० ९३-९४।

आयुर्वेदीय तथा इतर वाङ्मयमें लोहेके लिए 'कृष्णायस् (स)' शब्द भी व्यवहृत है यथा, देखिये—च० चि० अ० १, पा० ३।४९ में। उसका ऐतिहासिक कारण है। मानवको धातुओंमें प्रथम परिचय ताम्रका हुआ। उसीको पहले अयस् और लोह (रक्तवर्ण—लोहित होनेसे) नाम दिये गये। पश्चात् लोहेका आविष्कार होनेपर ताम्रको ताम्रायस् और लोहको कृष्णायस् (स) कहने लगे। अनन्तर कालमें अकेलाअयस् शब्द लोहेके लिए रह गया। प्राकृतिक भाषाओंमें भी लोहेके लिए 'लोह' रूढ़ हो गया। विस्तारके लिए देखिये—राहुल सांकृत्यायन कृत-मानव समाज, पृ० ६३।

इस बातका ध्यान सामान्यतः रखना चाहिये। अयस् यों तो सम प्रमाणमें शरीरमें जाता है, शरीर इस तत्त्वके संग्रहको तत्परतासे रक्षित भी रखता है, तथापि तात्कालिक या जीर्ण रक्त स्रावोंमें नये रक्तके निर्माणके लिए इसका विशेष प्रमाणमें आहरण (आहार या औषध रूपमें ग्रहण) आवश्यक होता है। बालक, गर्भिणी तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको सुधाकी विशेष मात्रा अपेक्षित होनेसे उन्हें सुधा योग्य मात्रामें देना आवश्यक है। पेटेण्ट बल्य औषधोंमें प्रायः इन्हीं दो तत्त्वोंकी पूर्तिपर ध्यान दिया जाता है। इन दो द्रव्योंके अतिरिक्त जिन देशों (स्थलों) में आहारमें आयोडीन[1] की न्यूनता होती है (जिसके कारण गलगण्ड होता है) वहां ऊपरसे यह तत्त्व देनेकी आवश्यकता होती है। शेष द्रव्य प्रायः हमारे आहारमें यथावश्यक प्रमाण में होते हैं।

खनिज द्रव्योंके सामान्य गुण-कर्म जान लेनेके पश्चात् अब उनके पृथक् विशेष कार्य देखें।

सुधा—शरीरमें प्रधानतया अस्थियों और दन्तोंके घटकके रूपमें सुधाके प्रस्फुरित[2] तथा कार्बोनेट[3] के आकारमें—रहता है। अस्थियोंकी आकृति तथा दृढ़ता इन समासोंके कारण ही होती है। अस्थि और दन्तके घटक तत्त्वों—सुधा और प्रस्फुरककी गर्भिणीको अधिक मात्रामें अपेक्षा होती हैं। कारण, उसके शरीरगत इन तत्त्वोंका बड़ा अंश गर्भकी अस्थि-रचनामें खप जाता है। उन्हें सगर्भावस्थामें सुधा योग्य प्रमाणमें सुलभ न हो तो मृद्वस्थि[4] रोग हो जाता है। हृदयकी संकोचनी शक्ति[5] सुधाके कारण होती है। आयुर्वेद या यूनानी वैद्यककी प्रवाल, मुक्ता, शृंग, अकीक माणिक्य आदि ओषधियां सुधाके ही रूपमें हैं। इनमें शृङ्ग सुधाका प्रस्फुरित (फॉस्फेट) तथा अन्य द्रव्य ओपजिद[6] हैं। अर्जुनवक्का प्रभाव उसमें स्थित सुधाकी प्रभूत मात्राके ही कारण है। आयुर्वेदीय औषध द्रव्योंके सुधांशका विचार करते हुए यह स्मरण रखना चाहिये कि इनमें कुछ आयुर्वेद-मतसे शीत हैं, तथा प्रवाल और मुक्ता; यथा कुछ उष्ण, यथा शंख और कपर्द। रक्तके स्कन्दनके अनेक सहकारी कारणोंमें एक सुधा है[7]। इसी कारण आयुर्वेदमें श्वासपथ, योनि-मार्ग आदिसे क्षरित होनेवाले रक्तके स्तम्भनके लिए मुक्ता, प्रवाल, गोदन्ती आदि द्रव्य देनेका प्रचार है। गोदन्ती सुधा, गन्धक और ओषजनका समास है[8]। आमाशयके पाचक पित्तोंमें एक रेनीन[9] द्वारा दूधके जमनेमें भी सुधा निमित्त है। दूधके पचनेमें जमना प्रथम क्रिया है। नाड़ी संस्थानके कई भागोंमें, नाड़ी-सूत्रोंसे संयोग-स्थलों[10] से वेगों[11] के आगे प्रसृत होनेमें भी सुधा कारण भूत होती है। सुधाकी विद्यमानतामें शरीर आहारौषध द्रव्योंके रूपमें प्राप्त स्नेहों और अयस्का उपयोग करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार इन द्रव्योंके सदुपयोग द्वारा सुधा परम्परया (परोक्ष रीतिसे) भी शरीर का हित करती है।

१—Iodine, २—Phosphate—फॉस्फेट

३—Carbonate. ४—Osteo malacia—ऑस्टिओ मेलेशिया।

५—Neuro-muscular activity—न्यूरो-मस्क्युलर एक्टिविटी।

६—Oxide—ऑक्साइड। ७—रक्तके स्कन्दनका विचार आगे रक्त-प्रकरणमें देखिए।

८—गोदन्ती का रसायनिक नाम Calcium sulphate—कैल्शियम सल्फेट; सूत्र—Ca SO_4, तथा लौकिकनाम Gypsum—जिप्सम है। इसको गरम करनेसे जो द्रव्य बनता है, उसे Plaster of Paris—प्लास्टर ऑफ पेरिस कहते हैं, जो अस्थिभग्न आदिमें अङ्गोंको स्थिर करनेके लिए तथा कृत्रिम दांतोंके चौखट बनानेमें प्रयुक्त होता है। गोदन्ती-भस्मके स्थान पर इस द्रव्यका व्यवहार किया जा सकता है।

९—Rennin। १०—Synapses—साइनेप्सिज़। ११—Impulse—इम्पल्स।

आहार द्रव्योंमें सुधाका सर्वोत्तम उपादान दूध है। कई स्थावरोंमें भी यह होता है। परन्तु आहारौषध द्रव्योंके रूपमें यथोचित प्रमाणमें सुधाका आहरण (सेवन) होनेपर भी जीवनीय डी[1] का अयोग या हीनयोग हो तो पित्तधरा कला द्वारा इसका शोषण यथेष्ट नहीं होता। तथा शरीर धातु सुधाका उपयोग (आत्मसात्करण[2]—धातुपाक) सर्वथा नहीं कर सकते या अल्प मात्रामें कर सकते हैं। प्रस्फुरकके शोषण और आत्मसात्करणके लिए भी जीवनीय डी की इसी प्रकार आवश्यकता है।

प्रस्फुरक अस्थियों तथा दन्तोंकी रचनामें सुधाका सहकारी है। जैसा कि ऊपर कहा है, इन धातुओंमें ये द्रव्य प्रस्फुरित[3]के रूपमें रहते हैं। सुधा और प्रस्फुरकका अनुपात अस्थियोंमें २ : १५ होता है। यही अनुपात भोजनमें भी इन द्रव्योंका होना चाहिए। शरीरके सभी कोषों, रक्तकणों, विशेषतः नाड़ीकोषकी रचनामें प्रस्फुरक भाग लेता है। कार्बोहाइड्रेटों तथा स्नेहोंके धातुपाकके लिए एवं मांसधातुके संकोचन तथा अन्य कोषोंके कार्यमें होनेवाले विद्युत्कणिकाओं और उद्जनके आयनों के विनिमयके लिए भी यह आवश्यक है। क्षीण बच्चों और पुरुषोंको इसी लिए डॉक्टर बन्धु फॉस्फेट देते हैं। गेहूं, दूध, मांस, शिम्बीधान्यों और मेवोंमें प्रस्फुरक पुष्कल होता है। इसका भी अन्त्रोंमें शोषण और आत्मसात्करण जीवनीय डी के अधीन है।

अयस् की उपयोगिता हीमोग्लोबीनका घटक होनेके कारण है। हीमोग्लोबीन रक्तकणोंमें रहती हुई धातुओंको ओषजन पहुंचाने तथा अङ्गाराम्लको उनसे लेकर श्वासपथसे बाहर करनेका कार्य करती है। इसकी रचनामें भाग लेनेवाले होनेके कारण अयस् (लोहा) की महत्ता स्वयंसिद्ध है। कई अन्तः स्रावोंकी रचनामें भी यह भाग लेता है।

शिशुओं और तरुणोंको नये-नये रक्तकणोंकी सृष्टिके लिए आर्तव एवं आघातादिजन्य रक्त-स्रावोंमें नष्ट हुई हीमोग्लोबीनकी पूर्तिके लिए तथा पाण्डुरोगमें अयस्का सेवन विशेष प्रमाणमें करना आवश्यक है। शिशुओंको अपने भारके प्रति एक किलोग्राम पर ०. ६ से ०. ७६ मिलीग्राम अयस्-की आवश्यकता होती है। स्त्रियोंको पुरुषोंकी अपेक्षया लगभग चार गुणा अयस् सेवन करना आवश्यक है।

प्रकृति शरीरगत अयस्का बड़ा यत्नपूर्वक बचाव करती है—उसे मलमार्गसे निकलनेसे अटकाती है। प्रौढोंको एक अहोरात्रमें कोई ५ से १५ मिली ग्राम अयस् पर्याप्त है। आहारमें प्रायः इतना प्रमाण होता है। इस आवश्यक मात्रासे अधिक अयस् अन्त्रों द्वारा गृहीत न होकर मल-मार्गसे निकल जाता है। शोषित हो भी जाय तो मूत्रमार्गसे बाहर कर दिया जाता है।

रासायनिक दृष्टिसे अयस् के दो प्रकार हैं—इन्हें अंगरेजी में 'फेरस' तथा 'फेरिक'[4] कहते हैं। इनमें फेरस प्रकार के समास ही पित्तधरा कला द्वारा शोषित (गृहीत) होते हैं, अतः उन्हींका

१—Vitamin D—वाइटेमिन डी। २—Assimilation—एसीमिलेशन।

३—Phostate—फॉस्फेट।

४—जिस समासमें अयस् अपनी चार परमाणुबन्धन क्षमतासे (As a quadrivalent) संयुक्त हो; उसे (Ferric) कहते हैं, तथा जिसमें इसका संयोग दो परमाणुबन्धनक्षमता (As a bivalent) से हो, उसे फेरस (Ferrous) कहते हैं। परमाणुबन्धन क्षमता का लक्षण संक्षेपमें यह है कि किसी तत्त्व अथवा मूलक (तत्त्वसमूह विशेष ; Redical—रेडीकल) का एक परमाणु उद्जनके जितने परमाणुओंसे संयुक्त हो सकता है उतनी उस तत्त्व या मूलककी परमाणुबन्धन क्षमता (Valency वेलेन्सी) होती है। प्रायः तत्त्वों या मूलकोंकी परमाणुबन्धन क्षमता नियत होती है, परन्तु कइयोंकी

सेवन इष्ट है। अन्य द्रव्योंके समान अयस्के शोषणके लिए भी जठराग्निकी उत्तमता आवश्यक है। इसीलिए अग्निस्थान कफावृत[1] हो तो पुरुष विवर्ण (फीके) होते हैं। स्त्रियोंमें आर्तवके साथ अयस् प्रतिमास निर्गत होते रहनेसे, एवं गर्भ-धारणमें भी उनके अयस्का उपयोग हो जानेसे, उनमें अल्पमात्र कारणसे रक्तक्षय और पाण्डुरोग हो जाते हैं। उन्हें भरपूर अयस् मिले यह विशेषतया लक्ष्यमें रखना चाहिए।

चूहोंपर परीक्षा करनेसे यह स्पष्ट विदित हुआ है कि, औषधरूपमें दिये गये अयस्का पूरा-पूरा लाभ शरीर तब उठा सकता है, जब साथ-साथ अल्प मात्रामें ताम्र भी दिया जाय। अन्य धातुओंमें यह विशेषता नहीं है[2]। इस दृष्टिसे देखा जाय तो आयुर्वेदके आरोग्यवर्द्धिनी आदि कल्प जिनमें अयस्के साथ ताम्र भी है, आजके विज्ञानके प्रकाशमें शास्त्रशुद्ध हैं।

यकृत् तथा अण्डेका पीतांश[3] अयस्के अति उत्तम योनि (आश्रय हैं)। आयुर्वेदमें अति रक्तस्राव होनेपर मधुसहित रक्तपान अथवा पित्तसहित अपक्व (आम) यकृत्के भक्षणका आदेश है। देखिए—

अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिवेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्॥ सु० उ० ४५।२८

यकृत् अयस्का उत्तम उपादान तो है ही, रक्ताग्नि (रक्तधात्वग्नि[4]) का संचयस्थान (आशय) होनेके कारण रक्तोत्पत्तिका उद्दीपक भी है। यकृत् और अण्डेके पीतांशके अतिरिक्त गोमांस[5], शम्बुक (घोंघा[6]), वृक्क, आलू और हरी शाक-भाजी तथा फल भी अयस्के उत्तम उपादान हैं। दूधमें इसकी मात्रा अत्यल्प होती है। इसी कारण केवल क्षीराद (दूधपर रहनेवाले) बालक पाण्डुर होते हैं।

आयोडीन चुल्लिकाग्रन्थिके स्राव थायरॉक्सिन[7]का प्रधान घटक है। आगे इस ग्रन्थिके कार्योंका वर्णन करेंगे। उनसे आयोडीनका महत्त्व स्वयं विशद होगा। जिन देशोंकी भूमि वा जलमें यथेष्ट आयोडीन नहीं होता, वहाँके निवासियोंकी चुल्लिकाग्रन्थिकी विलक्षण वृद्धि हो जाती है—

भिन्न-भिन्न भी होती है। अयस् दूसरे प्रकारका उदाहरण है। इसीसे इसके दो प्रकारके समास बनते हैं। परमाणुबन्धन-क्षमताका अधिक विचार रसायन-शास्त्रके ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

१—Gastro-intestinal Catarrh—गैस्ट्रो-इण्टेस्टाइनल कैटार (शब्दार्थ—आमाशय और अन्त्रोंमें कफ); या Mucus disease—म्यूकस डिसीज़। अपने "Management and Madical Treatment of Children in India" में डॉ० ग्रीन आर्मिटेज तथा वेयर हॉजने प्रथम शब्दका उपयोग किया है। दूसरा शब्द डॉ० यूस्टेस स्मिथने रचा है। इनके लक्षण कफावृत अग्निसे पूर्णतया मिलते हैं। रोगी भी कफप्रकृतिका होता है।

२—देखिये—Experiments with anoemia induced in young rats fed a basal milk ration, deficient in iron, show that traces of copper, under certain circumstances, are of distinct aid in the utilization of therapeutic iron.—× × Of other matals investigated, none has proved, significant in haemoglobin formation. Howell's Text-book of Physiology. (1946), P. 556-

३—Yolk—यॉक।

४—रक्ताग्निका नव्यमतानुसार स्वरूप आगे रक्तधातुके प्रकरणमें देखिए

५—Beef—बीफ। ६—Oysters—ऑयस्टर्स। ७—Thyroxin.

कार्योंकी मन्दता भी हो सकती है। चुल्लिकाग्रंथिकी वृद्धिको गलगण्ड[1] कहते हैं। ऐसी स्थितिमें पाश्चात्य चिकित्सामें खानेके नमककी शीशीमें ०·०१ : १ अन्नपानमें पोटाशियम आयोडाइड[2] मिलानेका विधान है[3]। स्मरण रहे, जल कठोर[4] हो—अर्थात् उसमें कैल्शियम विशेष हो तो आयोडीनका अन्त्रों द्वारा शोषण नहीं होता ; परिणामतयां गलगण्ड होता है। चिकित्सामें इस वस्तुपर भी ध्यान देना चाहिए।

ताम्र रक्तोत्पत्तिमें उपयोगी है, यह ऊपर कह आये हैं। रक्तवर्धक आयुर्वेदीय कल्पोंमें ताम्र-युक्त कल्पों के चुनावपर लक्ष्य देना चाहिए। तुत्थ ताम्र और गन्धकका[5] ही एक समास है। गण्डू-पद (गिंडोया) ताम्रका उत्तम उपादान है। रसग्रंथोंमें इससे ताम्रके आकर्षण (पातन, निकालने) का विधान भी है। राजयक्ष्म-चिकित्सामें अन्य नामोंसे रोगीको उपयोगी प्राणियोंके मांस खिलानेका जहाँ विधान है वहाँ गण्डूपद भूँजकर मछलीके अन्त्र कहकर रोगीको खिलानेका उपदेश किया है। देखिये—

भृष्टान् मत्स्यान्त्रशब्देन दद्यात् गण्डूपदानपि ॥ च० चि०९।३५१

यक्ष्मामें रक्तक्षय और आयुर्वेदमतसे रक्तकी क्षीणता होनेके कारण मांस प्रभृति उत्तर धातुओंका क्षय एक प्रमुख लक्षण है। गण्डूपद अपने ताम्रके कारण यक्ष्मामें गुणकारी होते हैं, यह कल्पना की जा सकती है।

गन्धक विभिन्न अवश्यग्राह्य एमाइनो एसिडोंका एक अङ्ग होनेसे उपयोगी है। कई अन्तः-स्रावोंकी रचनामें भी भाग लेता है।

क्लोरीन[6] सोडियम, पोटाशियम और कैल्शियमके क्लोराइड[7] नामक समासोंके रूपमें रक्त तथा द्रव मलों (मूत्र-स्वेद-पुरीष) के अनिवार्य लवण बनाता है। ये लवण सुगमतासे केशिकाओं या कोषोंकी दीवारके आरपार जा नहीं सकते, अतः 'आँस्मोटिक प्रेशर'[8] (जलाकर्षण शक्ति) विशेष होनेसे रक्त, धातु, मल, मूत्र आदि जिन भी स्थानोंमें रहते हैं वहाँ जलका प्रमाण बनाये रखते हैं। आगे हम देखेंगे कि शरीरमें जलकी क्या और कैसी उपयोगिता है। जलका प्रमाण स्थिर रखनेवाले होनेसे सोडियम आदि की उपयोगिता तब अधिक अनुभवमें आ सकेगी।

सोडियम आदि मूलद्रव्य, बाई-कार्बोनेट[9], फॉस्फेट और प्रोटीनके आयन[10] शरीरमें उदजनके आयनोंका सम प्रमाण रखनेमें—अन्य शब्दोंमें शरीरकी क्षारता और अम्लताकी मात्रा समुचित रखनेमें भी उपयोगी हैं। मांस धातु तथा नाड़ियोंकी क्षोभ्यता[11], संकोच[12], तथा वाहकता[13] भी इन द्रव्योंके आश्रित हैं।

१—Goiter—गॉयटर। २—Potassium iodide

३—पश्चिममें खानेका नमक भोजनगृह की टेबलपर पृथक् परोसा जाता है। अतः उसीमें पोटाशियम आयोडाइड मिलानेका विधान है। भारतमें इसे औषध-रूपमें पृथक् देना चाहिए।

४—Hard water—हार्ड वॉटर।

५—तुत्थका रासायनिक नाम Copper Sulphate—कॉपर सल्फेट है।

६—Chlorine. ७—Chloride.

८—Osmotic pressure. ९—Bicarbonate. १०—Ion.

११—Irritability—इरिटेबिलिटी, देखिये—पृ० १५३ तथा १७५।

१२—Contractility—कॉण्ट्रेक्टाइलिटी।

१३—Coductivity—कॉण्डक्टिविटी।

आमाशयके पाचक पित्तोंमें एक लवणाम्ल[1] की रचनामें क्लोरीन भाग लेता है।

खानेका नमक (सैन्धव, सामुद्र आदि) सोडियम और क्लोरिनका बना एक समास (क्लोराइड) है। हमारे भोजनमें रह कर यह जहाँ उल्लिखित कार्य करता है, वहाँ यह महास्रोतस में जलका प्रमाण सम रखता हुआ आनाह, उदावर्त आदि रोग नहीं होने देता। इसी लिए इन तथा वात प्रधान अन्य रोगोंमें लवणों और क्षारोंका सेवन विहित है। यथा—

प्राशाश्च लवणोत्तराः॥ सु० चि० ४।५

प्राश्यन्त इति प्राशा आहाराः। लवणोत्तरा लवण प्रधानाः। पक्वाशयः पुनरिह द्विविधः-पित्ताशयभेदेन॥ —डह्लन

लवणकी यह उपयोगिता होते हुए भी उसके अतियोगसे बचना चाहिए। कुष्ठ, शोथ, उदर आदि जिन रोगोंमें लवण वर्जित है, उनमें इसका सेवन न करना चाहिए।

क्लोरीन स्वयं एक वायु[2] है।

मैग्नेशियम[3] भी कोषोंका, विशेषतः अस्थिका, आवश्यक घटक है। उक्त खनिजोंके अतिरिक्त कोबाल्ट[4], निकल[5] तथा यशद[6] भी अल्प प्रमाणमें शरीरमें होते हैं।

जल

प्रोटीन और खनिज द्रव्योंके समान जल भी कोषोंका घटक है, अतएव शरीरका पोषक और क्षति पूरक है। शरीरका ७०% भाग (लगभग $\frac{3}{4}$) जल ही से बना है। अस्थि-सदृश कठिन धातुका भी अर्धांश जल होता है। अतः शरीरकी वृद्धिके लिए यह आवश्यक द्रव्य है। बच्चोंको यथेष्ट, परन्तु अल्पाल्पशः (थोड़ा-थोड़ा करके), जल पीने देना उनकी वृद्धि तथा जलके आगे वर्णित कर्मोंके निर्वाहके लिए उपयोगी है।

जलका अन्य कर्म क्षतिपूर्ति है। शरीरगत जल धातुका क्षय अनेक रूपोंमें होता है। इनमें प्रधान मूत्र है: इसका ९६% जल होता है। प्रोटीनोंके विघटनसे उत्पन्न मलद्रव्य यूरीआ[7] तथा इतर मलोंको घोलकर निकालनेके लिए मूत्रमार्गसे यथेष्ट प्रमाणमें जल निकलना अनिवार्य है। जलके क्षयका अन्य रूप स्वेद[8] है। स्वेदके रूपमें सर्वदा जलका क्षय होता रहता है। यह स्वेद कभी अप्रत्यक्ष[9] होता है, जब कि इसका उत्पन्न होकर वाष्पीभवन[10] हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत उष्ण देश-कालमें यह प्रत्यक्ष[11] होता है। स्वेदका प्रयोजन शरीरोष्माके साम्यका नियन्त्रण है। स्थिति इसमें यह होती है कि, उत्पन्न स्वेदके वाष्पीभवनके लिए (जैसे पतीलीमें रखे जलके उड़ानेके लिए) उष्णता आवश्यक होती है। उड़ते समय स्वेद यह उष्णता त्वचासे लेता है, त्वचाको यह उष्णता रक्तसे प्राप्त होती है और रक्तको धातुपाक वश उष्ण हुए धातुओंसे। क्रम

१—Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड। २—Gas—गैस।
३—Magnesium. ४—Cobelt.
५—Nickel. ६—Zinc—ज़िङ्क।
७—Urea. ८—Perspiration—पर्स्पिरेशन; या Sweating—स्वेटिङ्ग।
९—Insensible perspiration—इन्सेन्सिबल पर्स्पिरेशन।
१०—Vaporization—वेपराइज़ेशन।
११—Sensible perspiration—सेन्सिबल पर्स्पिरेशन।

यह होता है कि, अनपेक्षित उष्णता धातुओंसे रस-रक्तमें और वहाँसे त्वचामें आती है। त्वचागत उष्णताका प्रयोग स्वेदके वाष्पीभवनमें होता है। परिणामतया, त्वचा, रस-रक्त तथा धातु, अन्य शब्दोंमें कहें तो शरीरका ऊष्मा बढ़ने नहीं पाता। कुछ अन्य प्रक्रियाओं द्वारा, जिनका आगे यथास्थान वर्णन करेंगे, वाष्पीभवन द्वारा शरीरोष्माके नियमनकी इस प्रक्रियाका भी नियन्त्रण होता है। स्वेद मार्गसे वही मल भी निकलते हैं, जो मूत्रमार्ग से, परन्तु स्वल्प प्रमाणमें। जो हो, शरीरोष्माके नियन्त्रणमें उक्त रीतिसे उपयोगी होनेसे स्वेदरूपमें जलका क्षय होता है। इसकी पूर्ति जलके आहरण (भोजन रूपमें सेवनसे) होती है। अप्रत्यक्ष वाष्पीभवनमें, सामान्य वयःस्क[1] पुरुषमें एक अहोरात्रमें ८०० से १२०० घन सेण्टीमीटर[2] जल उड़ता है। प्रत्यक्ष वाष्पीभवनमें बाह्य देश कालकी उष्णताके भेदसे निर्गत जलका प्रमाण भिन्न-भिन्न होता है।

जलका सेवन अल्प मात्रामें किया जाय, किंवा देश-कालकी उष्णताके कारण स्वेदकी अधिकता होनेसे मूत्रमें जलका प्रमाण अल्प रह जाय तो मूत्रका घनत्व बढ़ जाता है। यह स्थिति चिरकाल रहे तो मलभूत लवण निक्षिप्त[3] होकर अश्मरी[4] या शर्करा[5] के रूपमें मूत्र-यन्त्रमें कहीं अटक जाते हैं। पित्तकोषमें इसी प्रकार पित्तका घनत्व अधिक होनेपर पित्ताश्मरी[6] बन जाती है।

जलके वाष्पीभवनके अन्य द्वार प्राणवह स्रोत (फुप्फुस) हैं। त्वचा और फुप्फुससे समान मात्रामें जलका वाष्पीभाव होता है। फुफ्फुसमें अधिक प्रमाणमें जल इस हेतु आता है कि उसके साथ यथेष्ट प्रमाण में कार्बन-डाईऑक्साइड या अङ्गाराम्ल भी आय उच्छ्वासवश बाहर निकल जाय, जिससे शरीर धातुओं तथा रस-रक्तमें अम्लताके प्रमाणकी समता (स्थिरता) रहे।

त्वचा और फुफ्फुस द्वारा वाष्पीभवनसे शरीरमें उत्पन्न हुई सम्पूर्ण उष्णताका २५% नष्ट होता है।

जलके क्षय (क्षति) का अन्य द्वार मल है। इसका द्रवत्व न्यूनाधिक रहता है। आहार में यथेष्ट प्रमाणमें जल न रहे तो भी अपने आवश्यक कार्योंके लिए शरीरके कोष तो उसका अपने लिए अपेक्षित प्रमाणमें ग्रहण करनेसे चूकते नहीं। परिणाम यह होता है कि, महास्रोतस्‌में जलका यथायोग्य प्रमाण न रहनेसे मलका द्रवत्व अल्प हो जाता है—वह न्यूनाधिक शुष्क हो जाता है, जिससे आनाह तथा विबन्ध (मल और वातकी अप्रवृत्ति या अल्प प्रवृत्ति) होकर तज्जन्य नाना रोग होते हैं। यह स्थिति उस समय भी होती है, जब पुरुष जानबूझकर मल प्रवृत्तिके वेगको रोके— किंवा अति बैठे रहनेके कार्यों के कारण उसके महास्रोतस्‌की अपकर्षणी गति ही मन्द हो। पक्वाशयमें मलान्तर्गत जलका जो स्वभावतः शोषण होता है, वह इन दोनों अवस्थाओंमें बढ़ जाता है, जिससे मल ग्रथित और शुष्क हो जाता है।

आहारमें जलका प्रमाण अल्प होनेसे उक्त हानिके अतिरिक्त उसका यथावत् पाक तथा शोषण नहीं हो पाता।

आहार द्रव्योंके अङ्ग रूपसे किंवा स्व-रूपसे भोजनके साथ जल योग्य प्रमाणमें न लिया जाय

१—Adult--एडल्ट।

२—Cubic centimeter—क्यूबिक सेण्टीमीटर ; संक्षेप C. C.--सी० सी०।

३—Precipitated—प्रेसिपिटेटेड।

४—Calculus--केल्क्यूलस ; या Stone—स्टोन। ५—Gravel--ग्रावल।

६—Gall-stone--गॉल-स्टोन। स्मरण रहे, यह पित्ताश्मरी आयुर्वेदोक्त पित्ताश्मरीसे भिन्न है, जो पित्ताधिक्यसे मूत्र-यन्त्रमें बनती है।

उसके कण यत्किंचित् घन होनेसे पाचक पित्तोंके लिए उन्हें भेदकर उनमें प्रसृत (ओतप्रोत) होना और उन्हें पचाना दुष्कर होता है। जल अल्प हो तो पक्व हुए अन्नका द्रवत्व अल्प होनेके कारण अन्त्रकला द्वारा शोषण यथावत् नहीं हो पाता—जिससे शारीर धातुओंकी पुष्टि और क्षतिपूर्ति सम्यक् नहीं होती।

आहारके पाक और पक्व हुए अन्नपानके यथावत् शोषणके लिए जलकी आवश्यकता होते हुए भी भोजनमें उसकी अत्यधिकता हानिकर ही होती है। कारण, परीक्षणोंमें देखा गया है कि, भोजनमें जितना ही द्रवत्व होता है, उतना ही शीघ्र वह आमाशयको छोड़ देता है। इसका परिणाम यह होता है कि आमाशयमें अन्नपानका पाक उतना ही न्यून होता है, जैसा कि आगे भी कहेंगे। आमाशयके पाकपर ही ग्रहणीका पाक भी आश्रित होनेसे अन्नपानका पाक आमाशयमें समीचीन न होनेसे ग्रहणीमें पाक भी अपूर्ण रह जाता है[1]।

१—भोजनके अति चर्वण अनौचित्य—हॉवेलने यह विषय अति चर्वणका अनौचित्य प्रदर्शित करनेके प्रसंगमें दिया है। उपयुक्त होनेसे सारा ही प्रकरण अर्थ सहित विज्ञोंके विचारार्थ देता हूं।

Some faddists have assumed that prolonged chewing of food has great value because of the larger amount of salvia secreted and therefore more complete digestion of the food mass. Two considerations may be cited against this view. Salivary digestion continues in the stomach for about a half hour after the first bolus enters the stomach. This is because each succeeding bolus as it enters the stomach tends to lie in the center of the preceding one, and requires about half an hour to become the outside layer in contact with the gastric mucosa, at which time it is mixed with the acid gastric juice, and the salivary enzyme which it contains is inactivated. The second fact of interest is that fluids leave the stomach sooner than semifluid and relatively solid material. Two prolonged chewing means that only highly fluid material reaches the stomach ; since it leaves the viscus sooner, it is possible that there would be some failure of desired gastric digestion- This is well illustrated by the observations of Childrey, Alverez and Mann on dogs and those of Gianturco on cats. Dogs have been observed to digest meat more completely when swallowed in large pieces than when ingested in a finely ground form. In cats fed lumps of meet mixed with barium Gianturco noticed by an x-ray technique that such lumps were held in the stomach for a considerable period and slowly dissolvod away. When ground meat was given, however, it passed quickly from the stomach into the intestine with presumably only slight digestion by the gastric juice.

—Howell's Text-book of Physiology (1946), P. 983.

—अर्थात् "कई सनकी लोगोंका खयाल है कि भोजनको देर तक चबानेका बड़ा महत्त्व है। कारण, देर तक चबानेसे वह अधिक लालारसके सम्पर्कमें आता है, जिससे उसका पाक अपेक्षया अधिक पूर्ण होता है। इस मतके विरुद्ध दो युक्तियां हैं। आमाशयमें प्रथम ग्रास पहुंचने के आध घण्टे बाद तक भोजनका लालारससे पाक चालू रहता है। क्योंकि आमाशयमें प्रत्येक पिछला ग्रास स्वभावतः अपने पूर्ववर्ती ग्रासके मध्यमें गिरता है। परिणामतया, उसके आमाशयकी अन्तःकलाके सम्पर्कमें आने और आमाशय-रस द्वारा पाक प्रारम्भ होनेमें कोई आध घण्टा निकल जाता है। आमाशय-रसका संग होनेपर लाला निष्क्रिय हो जाती है। (अर्थात्—लालारस को प्रकृत्या ही पाकका पर्याप्त समय उपलब्ध है।

जलके यथावत् प्रमाणमें सेवनके विषयमें आयुर्वेदमें नीचे लिखा श्लोक उक्त व्याख्या-सहित सदा स्मरणमें रखना चाहिये—

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नं
निरम्बुपानाच्च स पाकमेति।
तस्मान्नरो वह्नि विवर्धनाय
मुहुर्मुहुर्वारि पिबेद्भूरि ॥

अर्थात् जल बार-बार परन्तु थोड़ा-थोड़ा करके पीना चाहिए। कारण, अति जल ग्रहण किया जाय तो अन्नका परिपाक नहीं होता, जल थोड़ा पियें तो भी पाक नहीं होता। अतः अग्निकी दीप्तिके लिए उल्लिखित प्रकारसे जलका सेवन करना योग्य है।

आधुनिकोंने प्रत्यक्ष किया है कि, थोड़े-थोड़े काल पीछे, योग्य प्रमाणमें जल लिया जाय तो लाला, याकृत पित्त, आमाशयरस, अन्त्ररस तथा अग्न्याशयरसकी वृद्धि होती है। (श्लोकोक्त 'वह्नि विवर्धन' का यह अभिप्राय है)। परन्तु जल अधिक प्रमाणमें लिया जाय तो पाचन विकृत होता है तथा अतिसार होता है[1]।

उषःपान—निरन्न[2] (खाली पेट) जलपानसे जलके उल्लिखित तथा वक्ष्यमाण (आगे कहे जानेवाले) लाभ तो होते ही हैं, साथ ही एक विशेष लाभ यह होता है कि इससे अपकर्षणी[3] गतिका उद्दीपन होता है। अपकर्षणी गतिका स्वरूप तथा उसके उद्दीपक-अवसादक कारणोंका निर्देश आगे यथा-प्रकरण करेंगे। यहाँ इतना ही कह दें कि जल किंवा किसी भी अन्नपानका निरन्न

अतः उसकी क्रिया बढ़ाना मानवोंके लिए निष्प्रयोजन है)। दूसरी युक्ति यह है कि, अर्धद्रव किंवा किंचित् घन द्रव्योंकी अपेक्षया द्रव आहारद्रव्य आमाशयको जल्दी छोड़ जाते हैं। अति चिरकाल-पर्यन्त भोजनको चबानेका अर्थ यह होता है कि आमाशयमें अतिद्रवीभूत अन्न पहुंचता है। यह अन्न क्योंकि आमाशयको शीघ्रतर छोड़ता है, अतः आमाशयमें उसका अपेक्षित पचन नहीं होता यह कल्पना की जा सकती है। चिल्ड्, आल्वरेज़ और मान ने कुत्तोंपर तथा जायण्ट्कोंने बिल्लियोंपर जो परीक्षण किये उनसे यह बात सिद्ध भी हुई है। देखा गया है कि, कुत्तोंको मांस बड़े खण्डोंके रूपमें दिया जाय तो उन्हें वे सूक्ष्म चूर्णके रूपमें दिये मांसकी अपेक्षया अधिक पूर्ण पचा सकते हैं। बिल्लियोंको बेरियमके साथ मांसके टुकड़े खिलाकर जायण्ट्कोंने एक्स-रेकी सहायतासे देखा कि—ये टुकड़े यथेष्ट समय आमाशयमें अटके रहे और धीमे-धीमे घुल गए (कणरूप हो गये)। परन्तु, जब मांसका चूर्ण दिया गया तो वह शीघ्र आमाशयसे ग्रहणीमें जा पहुँचा, जो इस बातको द्योतित करता है कि आमाशय-रस द्वारा (इतने कालमें) उसका पाक अधूरा ही रहा होगा।"

मुझे लगता है, 'तन्मना' और प्रत्येक वस्तुके हिताहित को ध्यानमें रखते हुए' खानेका विधान करनेपर भी, पश्चिममें पिछले दिनों चबानेपर जितना भार दिया गया है, उतना भार आयुर्वेदीय संहिताओंमें नहीं दिया गया, वह विशेष शोचनीय नहीं है।

१—देखिये—When drunk in moderation and at different hours, it increases the secretion of saliva, bile and gastro-intestinal and pancreatic juices. Large quantities of water derange digestion and cause diarrhoea. Materia Medica, by Rakhaldas Ghosh.

२—गुजरातीमें खाली पेटके लिये 'नरने कोठे' शब्द है। यह 'निरन्न कोष्ठ'का अपभ्रंश है।

३—देखिये—पृ० २०० तथा आगे मलका प्रकरण।

सेवन इस गतिका उद्दीपक, अतएव विबन्धहर होनेसे आरोग्यकी स्थिरताके लिए उपयोगी है। निरन्न जलसेवनके लिए उषःपान शब्द लोक (जनता) में प्रचलित है। उषःपानसे एक अन्य लाभ यह होता है कि, जैसे स्नानादिमें शीतजलके स्पर्शसे हाथ-पैर तथा शरीरके अन्य बाह्य अवयवोंकी ग्लानि (सुस्ती) दूर होकर स्फूर्ति आती है, वैसे महास्रोतस् तथा तत्संबद्ध अवयव भी सचेष्ट हो जाते हैं। अपरं च, आमाशय और अन्त्रमें रातका रहा अन्न, पाचक-पित्त तथा कफ जलके स्पर्शसे धुल जाते हैं; परिणामतया पाचकपित्तोत्पादक स्रोतोंके मुख खुलते और क्षुधा दीप्त होती है।

निरन्न लिया गया जल बहुत शीत न होना चाहिये। भोजनके पूर्व अतिशीत जल विशेषतया अवगुण करता है। महास्रोतस्में पाकके लिए अनुकूल एक हेतु ऊष्मा भी है। विदित हुआ है कि, आमाशयका ऊष्मा सामान्यतः १००° फा० है। इससे न्यून ऊष्मा हो तो आमाशय अपना कार्य सम्यक्तया नहीं कर सकता। एक परीक्षापात्र पुरुषको कोई १२॥ तोला शीत जल निरन्न दिया गया, जिससे उसका आमाशयगत ऊष्मा उतरकर ७०° फा० पर आ गया। अपना प्राकृत ऊष्मा पुनः प्राप्त करनेमें आमाशयको आधेसे अधिक घण्टा लगा।

आयुर्वेदमें निरन्न जलपानको वयःस्थापन कहा है। जो द्रव्य वार्धक्यको रोके—विलम्बित करे; यौवनको स्थिर रखे, तथा शरीरको नीरोग रखता हुआ आयुको अकाल नष्ट होनेसे बचावे उसे वयःस्थापन कहते हैं[1]। वयःस्थापन तथा रसायन द्रव्योंकी क्रिया कैसे होती है, इसका आधुनिक मतसे कुछ विचार आगे रक्त धातु तथा पुरीषके प्रकरणमें किया है[2]।

अब तक हमने जो-कुछ लिखा है उसका सार यह है कि पोषण, स्वेदरूप एवं प्राणवहस्रोतोगत जलके वाष्पीभवन द्वारा शरीरके सम ऊष्मा और अम्लत्वके नियन्त्रण तथा मलमूत्रके रूपमें मलोंके शोधनके कार्यमें जलका व्यय होता है, जिससे शरीरको उसकी पूर्तिकी अविराम आवश्यकता होती है। अब हम देखेंगे कि पोषण और क्षतिपूर्ति-रूप इन दो कर्मोंके अतिरिक्त शरीरकी अन्य आभ्यन्तर क्रियाओंके लिए भी जलका असुक प्रमाणमें शरीरमें रहना आवश्यक है।

जलकी इन क्रियाओंको समझनेके लिये थोड़ेमें शरीरकी रचनाके विषयमें एक-दो बातें जान लें।

१—देखिये—वयस्तरुणं स्थापयतीति वयःस्थापनम्—च० सू० ४।८ पर —चक्रपाणि

वयसे हितं वयस्यम्, जरामभिहत्य यौवनं रक्षति—रसवैशेषिक सूत्र, अ० ४।२७; वयःस्थापनमिति यावदेवायुः प्रमितं तावदेवायुः स्थापयत्यनाबाधम्—सु० सू० ४५।९६ पर —डल्हन

२—वयःस्थापन उषःपानके दो भेद—आयुर्वेदमें लोकप्रसिद्ध इस उषःपानके अतिरिक्त प्रकृतिभेदसे अन्य उषःपान भी विहित है। देखिये—

शीतोदकं पयः क्षौद्रं सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा प्राक् पीतं स्थापयेद् वयः॥ सु० चि० २७।६

शरीरस्य प्रकृतिभेदेन चतुर्विधं वयःस्थापनमुपदिशन्नाह—शीतोदकमित्यादि। × × माना-विरुद्धानामेषां विषमाणामुपयोगः कार्य इति ज्ञेयम्। शीतोदकं समपित्तवातकफप्रकृतौ, पयः पुनरधिकवात-पित्तप्रकृतावेव, क्षौद्रं कफप्रकृतौ, सर्पिः पुनरधिकवातप्रकृतौ; अत्रैवैकद्वित्रिचतुर्द्रव्यसंयोगो हिताहितवातादि-दोषभेदप्रकृतिषु स्वबुद्ध्या विभजनीयः॥

अर्थात्—समप्रकृतिमें शीत जल, पित्तप्रकृतिमें दूध, कफप्रकृतिमें मधु, वातप्रकृतिमें घृत तथा मिश्रप्रकृतियोंमें इन द्रव्योंमें दो, तीन या चारका यथायोग्य संयोग करके प्रभातमें सेवन किया जाय तो आयु स्थिर रहती है।

विकासवाद[1] के अनुसार जीवनका प्रारम्भ जलमें हुआ। उत्क्रान्ति होते-होते मानव-स्वरूपमें आनेपर भी हम जानो अपने मूल जलोपजीवी स्वरूपको छोड़ नहीं पाये हैं। कोषोंका सामान्य वर्णन करते हुए हमने कहा है कि—अपने-अपने प्रकृतिनियत कर्मके लिये आवश्यक द्रव्योंकी प्राप्ति कोषोंको रससे होती है। अपने कर्म (धातुपाक) के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए मलोंका उत्सर्ग भी कोष इसी रसमें करते हैं। यह रस धमनियोंकी अन्तिम-शाखाओं-केशिकाओं-से रिसता है तथा रसायनियों द्वारा परावर्तित करके हृदयकी ओर ले जाया जाता है[2]। कोष इस रसमें निमग्न रहते तथा इसीपर निर्वाह करते हैं। सामुद्र जलके प्रधान आयन सोडियम[3] तथा क्लोराइड हैं। कोषोंके बाहर स्थित रसके भी यही प्रमुख आयन हैं। इससे अनुमान होता है कि, इस रसका—किंवा स्वयं उसके भी जनक रक्तका उत्पादक द्रव्य समुद्र-जल है[4]। जल इस रसधातुके रूपमें शरीरमें संचार करता है तथा क्वचित् विभिन्न रूपोंमें स्थिर-सा भी रहता है—यथा नेत्रगोलक, अस्थि-सन्धि आदिमें विभिन्न कफोंके रूपमें रसमय जलका यह निरवधि समुद्र चारों ओरसे त्वचासे आवृत और रक्षित है[5]। चरकने छः त्वचाओं (त्वचाके विभिन्न स्तरों) में सबसे बाह्य त्वचाको जो उदकधरा (जलका धारण—रक्षण—करनेवाली) नाम दिया है, वह अन्वर्थक है[6]।

१—Evolution—इवॉल्यूशन।

२—देखिये—पृ० १५०। ३—Ion—इसका अर्थ पहिले दिया जा चुका है।

४—देखिये—The ionic composition of extra-cellular fluid suggests that sea water was its phylogenetic precurson, the principal ionic constituents of sea water being sodium and Chloride. Howell's Text-book of Physiology (1946), P. 936.

प्रख्यात प्राणिशास्त्री सर रे लेंकेस्टर (Sir Ray Lankester) ने रक्तको क्षार-समुद्रकी पुत्री—परन्तु अपनी कल्लोलिनी मातासे अधिक रम्य और महनीय' (The daughter of salt ocean, finer and more worshipful even than the waves of the great mother, the sea) कहा हैं। देखिये—The Rationlist Annual (1944) में सर्जन रीअर-एडमिरल सी० एम० बीडनेल (Surgeon Rear-Admiral C. M. Beadnell) के 'Our Blood and its story of Evolution' लेखमें उद्धृत वाक्य। ईसाई समुद्रको स्त्री मानते हैं, अतः उसे रक्तकी माता कहा है, पिता नहीं।

विकासवादके इस सिद्धान्तको लक्ष्यमें रखें तो—तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं, समुद्र इवौदकानां भावानाम्—सु० शा० १।१३—अर्थात् जलजन्तुओंका आश्रय—निर्वाहस्थान—जैसे समुद्र होता है वैसे प्रकृति (शरीरके रूपमें) अगणित जीवोंका आश्रय है—सुश्रुतने प्रकृतिके लिए जो यह उपमा दी है वह कितनी सहज (स्वभाविक) प्रतीत होती है।

५—देखिये—Modern views of water metabolism conceive the mammelian organism as one continuous aqueous phase. This is enclosed by a specialized envelope, the integument, through which are cestain paths of exchange with the environment. Within this envelope all water is Fieely diffusible and available as a solvent for the main constituent solutes, the electrolytes.—Howell's Text book of Physiology (1946), P. 935.

६—देखिये—च० शा० ७।४। त्वचाओंका विशेष विचार आगे स्वेदके प्रकरणमें किया है।

शरीरगत द्रवके दो विभाग किये जाते हैं—कोषान्तर्गत द्रव[1] तथा कोषबहिर्गत द्रव[2]। कोषबहिर्गत द्रवके पुनः दो विभाग किये गये हैं—रक्तरस[3] अर्थात् रस-रक्तवह स्रोतों (धमनी आदि) के अन्तर्गत द्रव तथा केशिका और कोषोंके मध्यमें स्थित कोषमध्यगत-द्रव[4]। कोषान्तर्गत द्रवका द्रवत्व इनमें स्थित पोटाशियम धातु, फॉस्फेट तथा प्रोटीनके कारण होता है तथा कोषबहिर्गत द्रवके द्रवत्वके प्रमुख कारण सोडियम, क्लोराइड तथा बाई-कार्बोनेट हैं। स्रोतोगत द्रवके द्रवत्वकी कोष-मध्यगत द्रवके द्रवत्वसे भिन्नताका कारण यह है कि, केशिकाओंकी दीवार रक्तके प्रोटीनके कणोंको उतनी सुगमतासे पार नहीं जाने देती। परिणामतया, रक्त-रसमें प्रोटीनांश अधिक और कोषमध्यगत द्रवमें प्रोटीनांश न्यून और द्रवत्व अधिक होता है। इस प्रकार, तीनों द्रवाशयोंमें द्रवताका प्रमाण भिन्न होनेके कारण रस-रक्तका संवहन योग्य स्वरूपमें बना रहता है—अन्य शब्दोंमें कहें तो कोषोंको अपने प्रकृति नियत कर्म करनेके लिए आवश्यक द्रव्य तथा अन्तःस्राव उचित प्रमाणमें और योग्य समयपर प्राप्त होते हैं, तथा उनकी क्रियासे उत्पन्न मलद्रव्य—यूरीआ, कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि सत्वर अपने-अपने त्वचा (स्वेद-ग्रन्थि), प्राणवह स्रोत आदि मलायनों (मलद्वारों) को पहुंचाये जाते हैं। जिन नियमोंके आधारपर यह संवहन होता है, उनका उल्लेख रक्त और रसधातुके प्रकरणमें करेंगे। वैसे इनमें एक—ऑज़्मोटिक प्रेशर—का उल्लेख ऊपर किया भी गया है।

रक्तरस (रक्तका द्रवांश) और कोषमध्यगत द्रवमें द्रवत्व यथायोग्य रहे तो उनमें इतना दवाव रहता है कि उसके कारण उनके अन्दर विद्यमान पोषक तथा दहनोपयोगी द्रव्य और अन्तःस्राव कोषोंमें प्रविष्ट हो सकते हैं। कोषोंमें इन द्रव्योंके प्रवेशके अनेक कारण हैं; उक्त दो द्रवोंमें योग्य दबाव होना—इन कारणोंमें एक है। यह दवाव पर्याप्त रहे तब ही मूत्र, स्वेद आदिका निर्माण करनेवाले कोषोंमें रसका प्रवेश यथोचित प्रमाणमें होता है, और वे अपने-अपने मलोंको योग्य प्रमाणमें शरीरसे बाहर निकालते हुए शरीरको विशुद्ध रख सकते हैं।

शरीरमें द्रवत्व न्यून होनेसे उक्त प्रकारसे मल-निर्गमन न होनेका अच्छा उदाहरण विषूचिकामें मूत्रप्रवृत्ति न होना (मूत्राघात) है। इसमें रोगजन्य विषके कारण हृदय दुर्बल होनेसे उसका पीड़न मन्द होता है, जिससे रक्त और रसमें दवाव न्यून होनेसे उनका प्रवेश मूत्र क्षरण करनेवाली नलिकाओंमें नहीं हो सकता। साथ ही, गुदमार्गसे अति द्रवप्रवृत्तिके कारण हुआ उदकक्षय[5] भी रक्त और रसका दवाव न्यून होनेमें हेतु होता है। मूत्र क्षरण करनेवाली नलिकाओंमें रसका प्रवेश न होनेमें अन्य कारण यह भी होता है कि, रोगजन्य विषके कारण उनके घटक कोष शोथयुक्त हो गये होते हैं, जिससे उनकी प्रवेश्यता[6] अल्प हो जाती है।

रक्त और रसमें द्रवत्व समुचित हो तथा हृदयद्वारा इनका पीड़न (दवाव) बलवान् हो तो धमनियों, धमनिकाओं तथा केशिकाओंमें पीड़न यथायोग्य होता है। परिणामतया, पोषक तथा धातुपाकोपयोगी इतर द्रव्य कोषोंमें योग्य प्रमाण और समयमें प्रविष्ट हो सकते हैं। इस दबावको

१—Intracellular fluid—इण्ट्रासेल्युलर फ्लुइड।

२—Extracellular fluid—एक्स्ट्रासेल्युलर फ्लुइड।

३—Plasma—प्लाज़्मा; रक्तका द्रवभाग।

४—Interstitial fluid—इण्टरस्टिशल फ्लुइड।

५—Dehydration—डिहाइड्रेशन। च० वि० ५।८ में आयी उदकवह-स्रोतोंकी दुष्टिको चक्रपाणिने च० सू० १७।७३-७५ की टीकामें उदकक्षय नाम दिया है।

६—Permeability—परमिएबिलिटी।

'रक्तदाब'[1] नाम दिया गया है। किसी भी कारणसे रक्तका क्षय हो जानेपर यह दबाव न्यून हो जाता है। इसी प्रकार मांसधातुका क्षय हो तो मांसपेशियोंके समान हृदयके मांससूत्र[2] भी दुर्बल हो जाते हैं, जिससे हृदयका पीड़न उतना प्रबल न होनेसे रक्त और रसका दबाव न्यून हो जाता है। संहिताओंमें इस स्थितिको 'धमनीशैथिल्य'[3] नाम दिया है। अंग्रेजीमें इसे 'लो ब्लड-प्रेशर'[4] (ब्लड-प्रेशर कम होना) कहते हैं।

तीनों द्रवाशयोंमें द्रवोंका प्रमाण यथायोग्य रहे, परिणाममें उनके अन्तर्गत दबाव सम बना रहे और कोषोंको धातुपाकके लिए समुचित द्रव्योंकी प्राप्ति तथा मलोंका योग्य मात्रामें उत्सर्जन हो, इस हेतु भी जलकी शरीरको अविराम आवश्यकता होती है। पूर्वलिखित प्रकारसे क्षतिपूर्ति तथा ऊपर कहे प्रकारसे धातुपाक और मलोत्सर्गमें उपयोगिताके अतिरिक्त जलमें यह विशेष गुण देखा गया है कि वह शरीरमें धातुपाक और मलपाककी सहज क्रियाओंको उद्दीपित करता है। जल-चिकित्साद्वारा रोगियोंको लाभ होनेका एक कारण जलका यह गुण है।

उक्त प्रकारसे परमोपयोगी जल हमें स्वरूपमें, विभिन्न पेय पदार्थोंके रूपमें तथा मांस, शाक-भाजी, फल प्रभृतिके अङ्गरूपमें उपलब्ध होता है। शरीरमें कार्बोहाइड्रेट आदि दहनशील पदार्थोंके दहनसे भी उनके कुल भारका आधा जल उत्पन्न होता है। चावल आदि द्रव्य इसीलिए मूत्रल होते हैं। सब मिलकर एक अहोरात्रमें चारसे पाँच पाइण्ट[5] जल शरीरमें पहुंचना चाहिए। किसी कारण अन्य भोज्य द्रव्योंका सेवन न किया जा सके तो भी जलके उक्त गुणों तथा उसके हीनयोग किंवा अयोगके अवगुणोंको दृष्टिमें रखते हुए जलका तो सेवन करना ही चाहिए। कई उपवासोंमें शरीरका भार घटनेके स्थानपर बढ़ा हुआ पाया गया है। उसका कारण यह है कि जल शरीरके कोषोंका अङ्ग बनकर उनके, परम्परया शरीरके, भारमें वृद्धि करता है।

शरीरमें जल-धातुका नियन्त्रण—

ऊपर कह आये हैं कि जलका अधिकतम व्यय सूत्ररूपमें मूत्रमार्गसे होता है। इसका प्रयोजन यूरीआ तथा अन्य मलोंका निर्हरण करना है। विषूचिकामें पूर्वकथित-कारणवश मूत्र-संग (मूत्रकी अप्रवृत्ति) हो जानेसे रक्तमें यूरीआका सञ्चय हो जाता है। इस विकृतिको अंग्रेजीमें 'यूरीमिआ'[6] कहते हैं। विषूचिकामें मृत्यु होनेके अनेक कारणोंमें एक यह है। वृक्कमें व्यवस्था प्रकृतिने यह की है कि, वृक्क यूरीआ तथा अन्य मलोंका तो क्षरण करते हैं, परन्तु जलको अति प्रमाणमें निकलनेसे रोकते हैं। इस प्रक्रियाका स्वरूप निम्नोक्त है—

वृक्कोंकी सूक्ष्म रचना देखें तो विदित होगा कि वे, रचना और क्रिया (मूत्र-क्षरण) की दृष्टिसे इकाई-भूत एवं विशिष्टाकृतियुक्त अनेक मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके समवायसे बने होते हैं। इनका प्रारम्भिक भाग संपुटाकार होता है। इस संपुट या कोष[7]में केशिकाओंका निबिड़ गुच्छ होता है।

१—Blood pressure–ब्लड प्रेशर ; संकेतनाम B. P.–बी० पी०।

२—प्राचीनोंने भी हृदयको 'मांसपेशीमय' कहा है। देखिये—आगे रक्त-धातुका प्रकरण।

३—देखिये—आगे रक्त और मांसके अधिकारमें धृत सु० सू० १५।९ वचन।

४—Low blood pressure ; अन्य नाम Hypotension–हायपोटेन्शन ; (हायपो=न्यून ; टेन्शन=दबाव, पीड़न)।

५—Pint एक पाइण्ट=गैलनका ⅛ भाग।

६—Urema.

७—इस संपुट या कोष (Capsule—कैप्स्यूल) को इसके प्रथम द्रष्टाके नामपर (Bowman's Capsule—बाउमेन्स कैप्स्यूल कहते हैं।

सभी मूत्र-स्राविणी नलिकाएँ इन संपुटोंके रूपमें प्रारम्भ होकर कुछ दूरी तक एक नियत प्रकारसे बल खाकर सीधी हो जाती हैं। इनका सीधा और पतला अन्तिम भाग अन्य मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके ऐसे ही अन्त (सिरे) से मिल जाता है। अनेक सिरे मिलकर बड़ी मूत्रवाही नलिकाएँ बनती हैं। ये अन्तमें गवीनियोंमें खुलती हैं। मूत्र-स्राविणी नलिकाओंके अन्त्रोंके सदृश कुण्डल-रूपमें बल खानेके कारण इन्हें अथर्ववेदमें 'आन्त्र' संज्ञा दी गयी है[1]।

इस प्रकार प्रत्येक मूत्र-स्राविणी नलिकाके रचनाकी दृष्टिसे दो विभाग हैं—संपुट तथा नलिकाका शेष भाग। कर्म भी इन दोनों विभागोंके भिन्न हैं। संपुटका कार्य जलसहित समस्त मलोंको क्षरित (स्रुत) करना है। परन्तु, इनके द्वारा क्षरित जलका प्रमाण, मलोंको घोलनेके लिये उसकी जितने प्रमाणमें आवश्यकता है, उससे बहुत अधिक होता है। अतः, शेष नलिकामें जलका पर्याप्त अंश पुनः शोषित (गृहीत, आचूषित) करके रस-रक्तमें छोड़ दिया जाता है। मूत्र-स्राविणी नलिकाओंमें जलके पुनर्ग्रहणका यह सामर्थ्य एक विशेष अन्तःस्रावके कारण होता है, जिसकी उत्पत्ति पोषणिका ग्रन्थि[2]में होती है।

यह एक कलाय (मटर) जितनी ग्रन्थि होती है और मस्तिष्कके अधोभागमें रहती है। इसके दो खण्ड होते हैं—अग्रिम[3] और पश्चिम[4]। दोनों खण्डोंमें अनेक अन्तःस्राव उत्पन्न होते हैं। इनमें कुछ अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके उद्दीपक भी होते हैं। पश्चिम खण्डके अन्तःस्रावोंमें एक मूत्र-स्तम्भक[5] होता है। इसकी क्रियासे मूत्र-स्राविणी नलिकाएँ जलका पुनर्ग्रहण करके शरीरमें जल-धातुका समुचित (सम) प्रमाण स्थिर रखती हैं। इस खण्डकी विकृति होनेपर मूत्र-स्तम्भक अन्तःस्राव बनना रुक जाता है ; परिणामतया मूत्रस्राविणी नलिकाएँ जलका पुनर्ग्रहण यथावत् नहीं कर सकतीं और मूत्रमार्गसे प्रभूत मात्रामें अल्प घनत्ववाला मूत्र बार-बार प्रवृत्त होता है। इस रोगको उदकमेह[6] कहते हैं। जलधातुका क्षय (उदकक्षय) होनेपर भी धातुओंको उसकी आवश्यकता तो बनी ही रहती है। यह आवश्यकता अतितृषा[7]के रूपमें प्रकट होती है, जो उदकमेहका ही एक अङ्ग है। नव्यमताभिभूत कई व्यक्ति अपनी प्रकृतिके विरुद्ध, शरीरकी शुद्धिके प्रयोजनसे प्रचुर जल-सेवन करते हैं। परन्तु यह जल अनावश्यक होनेसे मूत्रमार्गसे निकल जाता है। उनमें क्रम विपरीत होता है, अर्थात् उनमें उदकक्षयके कारण अतितृषा नहीं होती, प्रत्युत उदकवृद्धिके कारण मूत्रकी अतिप्रवृत्ति होती है।

पोषणिकाग्रन्थिके मूत्र-स्तम्भक अन्तःस्रावकी उत्पत्तिका नियमन आज्ञाकन्द[8] नामक मस्तिष्कके

१—इन नलिकाओंका सचित्र विवरण एवं मूल श्रुति (वेदमन्त्र) आगे मूत्राधिकारमें देखिये।

२—Pituitary body—पिट्युइटरी बॉडी ; या Pituitary gland—पिट्युइटरी ग्लैण्ड ; या Hypophysis—हायपोफिसिस।

३—Anterior lobe—एण्टीरियर लोब। ४—Posterior lobe—पोस्टीरिअर लोब।

५—Anti-diuretic—एण्टी-डाइयुरेटिक ; डाइ-युरेटिक=मूत्रल।

६—Diabetes insipidus—डायाबिटीज़ इनसिपिडस ; या Polyuria—पॉलीयूरिआ। उदकमेह प्राचीन नाम है—देखिये—च० नि० ४।१३, च० चि० ६।९ तथा सु० नि० ६।१०।

७—Polydipsia—पॉलीडिप्सिआ ; Excessive thirst—एक्सेसिव थर्स्ट।

८—Thalamus—थैलेमस ; या Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस ; ये कोष-पोषणिका के ऊपर ही होते हैं। आज्ञाकन्द नाम म० म० गणनाथ सेनजीका दिया है। इसका विशेष परिचय आगे नाड़ी संस्थानमें देखिये।

अतिमहत्त्वपूर्ण कोष-पुञ्जों द्वारा किया जाता है। अतः इनकी विकृति होनेपर भी उदकमेह तथा अतितृषा होते हैं। उदकमेहके कारण प्रारम्भमें क्लोराइड भी मूत्रके साथ विशेष प्रमाणमें निकलते हैं। उदकमेहके अधिकांश रोगियोंमें इसका कारण क्या है, यह अब तक विदित नहीं हुआ है। बहुधा यह विकृति वंशक्रमागत होती है। इस रोगमें दौर्बल्यादि इतर लक्षण भी होते हैं।

अपतन्त्रक-रोगियोंमें तथा जिनको कैफिन[1] वंशपरम्परासे सात्म्य नहीं होता, उनमें चाय या, कॉफीका अतिसेवन करनेपर भी अति मूत्रप्रवृत्ति होती है। इसका विशेष विचार चिकित्सा-ग्रन्थोंमें देखना चाहिए।

अधिवृक्क-वल्कका अन्तःस्राव मूत्रस्राविणी नलिकाओंको सोडियम तथा पोटेशियमके पुनर्ग्रहण-के लिए प्रेरित करता है। इस ग्रन्थिकी विकृति हो तो सोडियमका पुनर्ग्रहण न होकर उसको घोलकर निकालने के लिये जल भी साथ विशेष प्रमाणमें निकलता है—उसका उचित पुनर्ग्रहण नहीं होता—अर्थात् उदकमेह होता है।

अनुमान किया जाता है कि, चुल्लिका-ग्रन्थिका अन्तःस्राव भी जलधातुका यत्किञ्चित् नियन्त्रण करता है। कारण, इस ग्रन्थि की विकृति होनेपर, धातुपाककी दर न्यून होनेसे मेदका निम्नोन्नत सञ्चय होकर जो 'मिक्सीडीमा'[2] नामक रोग होता है, उसमें साथ-साथ त्वचाके नीचे जलका भी सञ्चय होता है। इस ग्रन्थिकी क्षीणता होनेपर, औषध रूपमें इसका स्राव देनेपर रोगियोंमें मूत्रका प्रभूत स्राव होता है[3]।

जल-सेवनका प्रकार—

जलकी शरीरमें क्रियाके विवरणके प्रसंगमें इसके सेवनके प्रकारका विचार भी उपयोगी है। आधुनिकोंने पता लगाया है कि जल एक साथ बहुत-सा पीनेकी अपेक्षया थोड़ा-थोड़ा करके चूसकर पीना चाहिये। इस प्रकार पीनेसे हृदय और धमनियोंको इतना बल और वेग प्राप्त होता है, जितना मादक द्रव्योंके सेवन से। यही नहीं, इन द्रव्योंके सेवनकी इच्छा भी इस प्रकार जल पीनेसे शान्त होती है[4]।

प्राचीनों द्वारा विहित आचमनकी पद्धतिमें जल इसी प्रकार सेवन करनेका विधान है। इसमें समय-समय पर हथेलीपर जल लेकर अंगुष्ठ-मूलको ओष्ठोंसे लगाकर सूत्कार-पूर्वक जल ग्रहण किया जाता है। नव्यमतानुसार यह कितना शास्त्र शुद्ध है, यह ऊपर दी फलश्रुतिसे ज्ञात होगा।

१—Adrenal-cortex—एड्रीनल कोर्टेक्स। २—Myxedema.

३—देखिये—Fundamentals of Physiology by Elbert Tokay (1947), P. 313-314.

४—देखिये—A small glass of cold water slowly sipped controls the craving for drinks by stimulating the circulation. Meteria Medica, by Rakhaldas Ghosh एवं—

Sipping the water is much more stimulating in its effect on the circulation × × ×. It has been stated on good authority that a glass of cold water, slowly sipped, will produce a greater acceleration of the pulse, for a time than will a glass of wine or spirits, taken at a draught. In fact, sipping cold water will often allay the craving of alcoholic drinks. Physical Education, by Prof. E.B. warman.

जलकी उपयोगिताके प्रसंगमें यह भी कह देना शेष है कि, जल ऐसा ही ग्रहण करना चाहिये, जिसके रोगजन्तु-शून्य होनेका हमें विश्वास हो। अन्यथा, विभिन्न कृमिरोग, स्नायुक, प्रवाहिका, श्लीपद, वसामेह,[1] विषूचिका आदि होनेकी सम्भावना रहती है। कठोर जलके सेवनसे विबन्ध आदि रोग होते हैं।

जल उद्जन तथा ओषजनका बना एक समास है। इसके एक अणुमें उद्जनके दो परमाणु तथा ओषजनका एक प्रमाणु होता है। अतएव अंग्रेजीमें इसका संकेत यह है— 1+2 0.

१—Chyluria—काइल्यूरिआ। सिद्धान्त-निदानमें म० म० गणनाथ सेनजीने काइल्यूरिआको पिष्टमेह कहा है। परन्तु रासायनिक दृष्ट्या इस रोगमें स्नेह (वसा) ही निकलता है, पिष्ट (निशास्ता) नहीं। अपरंच, एलोपैथीमें इसे असाध्य कहा है। आयुर्वेदमें भी इसे वातिकमेह होनेसे असाध्य माना है। यह दोनों रोगोंमें दूसरा साम्य है। अतः काइल्यूरिआको वसामेह ही कहना चाहिए।

चौदहवां अध्याय

अथात् आहारद्रव्यविज्ञानीयं पञ्चममध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

जीवनीय—

जैसा कि पहले कह आये हैं। दहन-पोषणादिके लिए आवश्यक प्रोटीन आदि द्रव्य विशुद्ध स्वरूपमें लिए जाएँ, तो उनके कर्मोंकी दृष्टिसे तो आहार सम (पूर्ण) होता है, परन्तु केवल इनका सेवन करते हुए हम उन द्रव्योंसे वञ्चित रह जाते हैं, जो प्रकृति अपनी रसायन-शालामें हमारे लिए तय्यार करती है। परिणामतया, हम विभिन्न रोगोंके ग्रास होते हैं। परीक्षणोंसे यह भी विदित हुआ है कि, कई बार अन्नपान पर किये जानेवाले संस्कारों (मिलमें चावलोंको खुरचकर साफ-पॉलिश—करना, बहुत गरम करना इत्यादि प्रक्रियाओं) के कारण भी प्राकृतिक अन्नपानसे ये द्रव्य निकल जाते हैं। इन द्रव्योंको जीवनीय[1] तथा इनके अयोग या हीनयोगसे होनेवाले रोगोंको हीनयोगज रोग[2] कहते हैं। बाल्य तथा यौवनकालमें इन द्रव्योंकी आवश्यकता सविशेष होती है।

अधिकांश जीवनीय उद्भिदोंमें बनते हैं और वहाँसे उनको खानेवाले प्राणियोंके शरीरमें आते हैं। प्रारम्भमें इनका रासायनिक स्वरूप विशद न होनेसे इन्हें रोमन वर्णमालाके ए. बी. सी. आदि वर्णवाचक नाम ही दिये गये। वर्णन भी इनका वर्णक्रमसे ही होता रहा। अब बहुतसे जीवनीयोंका रासायनिक स्वरूप ज्ञात हो गया है, कइयोंको स्फटिक रूपमें नैसर्गिक पदार्थोंसे पृथक् प्राप्त किया जा चुका है, कइयोंको कृत्रिम[3] बनाया भी गया है, उनकी रासायनिक रचनाको लक्ष्यमें रखते हुए उसके द्योतक नाम भी दिये गये हैं, तथापि उनके वर्णमय नामोंका ही प्रचार विशेष है। भेद केवल इतना हुआ है कि इनके विलायक (घोलनेवाले) द्रव्योंके आधार पर इन्हें स्नेह-विलेय[4] तथा जल विलेय[5] इन दो वर्गोंमें विभक्त किया गया है, जिससे इनके वर्णनमें वर्णोंका क्रम छूट गया है। कौन जीवनीय किस रोगका प्रतिबन्धक है, इसके द्योतक विशेषण भी जीवनीयोंके नामके साथ प्रयुक्त होते हैं।

जीवनीयोंके अयोग या हीनयोगसे तत्-तत् रोग होते ही हैं, यह नियम नहीं, तथापि अनारोग्यके अव्यक्त लक्षण, ग्लानि (सुस्ती), रोगोंकी प्रवृत्ति, असम्यक् पुष्टि आदि परिणाम अवश्य होते हैं। जीवनके प्रारम्भमें इनका समयोग न हो तो जो परिणाम होते हैं, उन्हें आगे अधिकतम मात्रामें जीवनीय देकर भी दूर नहीं किया जा सकता।

१—Vitamin (e)—वाइटेमिन या वाइटेमाइन। प्रारम्भमें इनकी रासायनिक रचना विदित न होनेसे इन्हें 'एमाइन' (amine) वर्गके द्रव्य समझा गया। सो इस शब्दके साथ जीवन-वाचक 'वाइटा' (Vita) पूर्वपद लगाकर वाइटेमिन शब्द बनाया गया, जो सुरूढ होनेसे अब भी चालू है, यद्यपि वाइटेमिन एमाइन नहीं है, यह विदित हो चुका है; एवं उनकी रासायनिक रचना तथा उनके हीनयोगसे होनेवाले रोग विदित हो चुके हैं, जिससे पूर्वपद 'वाइटा' भी उतना अर्थवाहक नहीं रह गया है।

२—Deficiency diseases—डेफिशेन्सी डिसीज़ेस।

३—Synthetic—सिन्थेटिक। ४—Fat-soluble—फैट-सॉल्यूबल।

५—Water-soluble—वॉटर-सॉल्यूबल।

इनकी आवश्यक मात्रा अति अल्प होती है। यथा, जीवनीय डी की दैनिक मात्रा बालकोंमें ६०० से ७०० इकाई तथा वयस्कोंमें लगभग २०० इकाई होती है। इसकी एक इकाई ०·०२५ माइक्रोग्राम[1] है। इससे स्पष्ट है कि जीवनीयोंके आश्रयभूत अन्नपानको यथेष्ट तथा यथासम्भव नैसर्गिक रूपमें लेनेकी जरा-सी सावधानीसे उनका समयोग हो सकता है। विज्ञापनोंमें इनके हीनयोग या अयोगके जो भीषण विपरिणाम बताये जाते हैं, उनका विचार करके चिन्तित होना निरर्थक है[2]। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि जीवनीय स्वरूपतः आहार-द्रव्य हैं, न कि औषध-द्रव्य। अतः हीनयोगकी स्थिति में उनकी प्राप्ति के लिए उनके आश्रय द्रव्योंके सेवनमें प्रवृत्त होना चाहिए, न कि विभिन्न औषध-विक्रेताओं द्वारा प्रस्तुत किये कल्पोंके प्रति। यह अवश्य सत्य है कि, कभी-कभी इन कल्पोंकी अल्पमात्रामें जीवनीयोंका प्रचुर अंश[3] होनेसे उनका सेवन आशु गुणकारी होता है।

जीवनीयोंके वर्णन के प्रसंगमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ये उच्च प्राणियोंके समान जीवाणुओं[4] की भी पुष्टि, वृद्धि और आरोग्य करते हैं। अतः इनके मात्राधिक्यका तथा अमुक-अमुक जीवाणुओंसे होनेवाले रोगोंमें उनकी पुष्टिके लिये अनुकूल जीवनीय औषध रूपमें न दिया जाय, इस बातका ध्यान रखना चाहिए। जीवनीयोंका मात्राधिक्य अन्य प्रकार से भी अवगुणकारी हो सकता है। इस प्रसङ्गमें यह भी जानने योग्य है कि तृतीय अवस्थापाक (बृहदन्त्रमें जीवाणुओंकी क्रियासे होनेवाले पाक) में अन्य द्रव्योंके समान जीवाणुओं द्वारा कुछ जीवनीय भी बनाये जाते हैं, जो अन्य पक्व द्रव्योंके सदृश शोषित होकर धातुओंमें पहुंचते और अपना प्रकृति-नियत कार्य करते हैं।

स्नेह-विलेय जीवनीय ए—

इस जीवनीयके समयोगके परिणाम संक्षेपमें निम्न हैं—कोषोंकी, परिणामतया, सम्पूर्ण शरीर की पुष्टि, क्षमता (संक्रामक रोगों का प्रतिबन्ध) और रात्र्यन्धकी[5] अनुत्पत्ति।

कोषों की पुष्टि और अनारोग्यपर जीवनीय 'ए' का विशेष प्रभाव है। आस्तरण धातुपर यह प्रभाव विशेषतया देखा जाता है। धातुओंके प्रकरणमें[6] कह आये हैं कि—शरीरके समस्त पृष्ठ, चाहे वे त्वचाके रूपमें बाह्य पृष्ठ हों, अथवा मूत्राशय, आमाशय, महास्रोतस् आदि आशयों, किंवा रक्तवह, रसवह, प्राणवह (फुफ्फुसोंके वातकोप) स्रोत आदि स्रोतों के अन्दर के अस्तर के रूप में हों

१—Microgram=१ ग्रामका दश लाखवाँ (one-millionth वन-मिलिअन्थ) अंश ; १ ग्राम=१५॥ ग्रेन या ७॥ रत्ती।

२—देखिये—The fact that vitamins are needed in only very small amounts is, perhaps, presumptive evidence that they act as catalysts in the body. It also points to the fact that a great many of the dire threats used in advertising campaigns are nothing to worry about. Most vitamins are fairly widely distributed in foods and a balanced diet will insure an ample supply of vitamins. Fundamentals of Physiology, by E. Tokay (1947), P. 262.

३—Concentration—कॉन्सेण्ट्रेशन ४—Micro-organisms—माइक्रो-ऑर्गेनिज्म्स।

५—Night-blindness—नाइट-ब्लाइण्डनेस, या Nyctalopia निक्टेलोपिया। इसके लिए अंग्रेजीमें Hemerelopia—हेमेरेलोपिया—यह अशुद्ध शब्द भी प्रचलित है ; पर उसका अर्थ दिवसान्ध्य Day-blindness (—डे-ब्लाइण्डनेस) है। ६—देखिये। पृ० १६९।

आस्तरण धातुसे बने हैं। जीवनीय 'ए' का हीनयोग होनेपर ये पृष्ठ शुष्क तथा खर[1] हो जाते हैं। त्वचा रूक्ष हो जाती है, उसपरसे छिलके उतरते हैं, स्वेद तथा मेदोग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं; केश भी शुष्क और प्रभाहीन हो जाते हैं; रोमकूपोंमें[2] केरेटिनके सञ्चय[3] की अधिकतावश त्वचापर छोटी-छोटी पिटिकाएँ निकल आती हैं। नेत्रकी श्लेष्म-कलापर[4] भी ये प्रभाव सविशेष लक्षित होते हैं। अश्रुका स्राव क्षीण हो जानेसे ये लक्षण और बढ़ जाते हैं। नेत्रोंमें पाक (सूजन) और वेदना होती है, अश्रु न आनेसे वे शुष्क तथा म्लान-से रहते हैं। स्वच्छ मण्डल[5] पर व्रण हो जाता है। रोग बढ़ता जाय तो दृष्टिशक्ति सदाके लिये लुप्त हो जाती है। इस रोगको शुष्काक्षिपाक[6] कहते हैं। स्मरण रहे, जीवनीय ए के हीनयोगवश नेत्रकी अन्य विकृति—रात्र्यन्ध—भी होती है, जिसका विवरण आगे दिया है। अन्धत्व और रात्र्यन्ध (रतौंधी) के रोगियोंमें हजारोंका कारण जीवनीय 'ए' का अयोग ही है।

श्वसन-संस्थान, वृक्क, गवीनी, मूत्राशय, गर्भाशय और अपत्यपथ (योनि) पर भी जीवनीय 'ए'के हीनयोगके ऐसे ही परिणाम देखनेमें आते हैं। नेत्र, श्वसन संस्थान आदि अवयवोंमें उक्त विकृति उत्पन्न होनेसे—स्रावोंकी हीनतासे—रोगजनक जीवाणुओंके लिए उत्तम भूमि तय्यार हो जाती है। इन अवयवोंके स्राव (कफ) में यों भी जीवाणु-नाशक शक्ति होती है, जिसका कारण जीवनीय 'ए'का समयोग है। अतः जीवनीय 'ए'का हीनयोग होनेपर स्वभावतः इन अवयवोंको रोगाक्रान्त करना जीवाणुओंके लिये सुकर हो जाता है। परिणामतया, गल, कर्ण, नासिका, श्वासपथ आदिके प्रतिश्याय, कास, कर्णपाक, श्वासज्वर[7], यक्ष्मा इत्यादि रोग होते हैं।

वृक्क और मूत्राशयकी कलाके आक्रान्त होनेसे उसमें विविध रासायनिक परिवर्तन होने लगते हैं, जिनके कारण स्वस्थावस्थामें जो द्रव्य मूत्रमें विलीन (घुले) रहने चाहिये, वे अब वैसे नहीं रह सकते—नीचे बैठ जाते हैं। धीमे-धीमे इनके सञ्चयसे अश्मरी (पथरी) बन जाती हैं। मैककैरीसन[8] ने अनेक परीक्षणोंमें जीवनीय ए-रहित अन्नपान देकर चूहोंके वृक्कों तथा मूत्राशयोंमें अश्मरियाँ उत्पन्न की हैं, तथा शुद्ध दूध, जो जीवनीय ए का उत्तम योनि (आश्रय) है, देकर बड़ी सुगमतासे उन्हें दूर भी किया है। आँखके उल्लिखित रोगों (शुष्काक्षिपाक तथा रात्र्यन्ध) के लक्षण चरमावस्थामें पहुंचनेपर भी केवल जीवनीय ए का योग्य प्रमाण देनेसे चूहोंको पूर्ण स्वस्थ हुआ पाया गया है।

महास्रोतसकी कलाके जीवनीय 'ए'के हीनयोग वश विकृत (पाकयुक्त) होनेपर विशेषतः

१—केरेटिन—(Keratin) नामक एक प्रोटीन स्वभावतः त्वचाके बाह्य स्तर, केश-रोम, नख, शृङ्ग और खुरोंमें पायी जाती है, तथा इनकी कठिनताका हेतु है। जीवनीय 'ए' के हीनयोगमें इसकी वृद्धि (Keratinization केरेटिनाइजेशन) होनेसे त्वचा आदिमें खरता आ जाती है। म० म० गणनाथसेनजीने केरेटिनको 'शार्ङ्ग वस्तु' नाम दिया है।

२—Hair Follicles—हेअर-फॉलीकल्स। ३—Hyper Keratosis—हायपर-केरेटोसिस।

४—Mucous Membrane—म्युकस-मेम्ब्रेन। ५—Cornea—कॉर्नीआ।

६—Xerophthalmia—जेरोपथेल्मिया। शुष्काक्षिपाक शब्द प्राचीन है। देखिये इसका सुश्रुतोक्त लक्षण—"यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म विलोकने चाविलदर्शनं यत्। सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि—सु० उ० ६।२६।" जेरोपथेल्मियाका शब्दार्थ भी शुष्काक्षिपाक ही है।

७—Pneumonia—न्यूमोनिआ।

८—Mc Carrison—भारत सरकार द्वारा कुनूरमें स्थापित आहार-संशोधनकारी संस्थाके आद्य अध्यक्ष।

...तिसार और आमातिसार होते हैं। विसूचिका और अन्त्रज्वर[1] का होना भी असम्भव नहीं। शिशुओंमें यकृत्-काठिन्य[2] और हरेदस्त आना भी जीवनीय 'ए'के हीनयोगका परिणाम है[3]। प्रसूताके ज्वरमें जीवनीय ए देनेसे उसकी क्षमता बढ़ जाती है। गर्भवती तथा दूध पिलानेवाली स्त्रियोंको शिशुके पोषण के लिए जीवनीय ए का सेवन सविशेष करना चाहिये। मैक कैरीसन के मतानुसार भारतमें शिशुओंकी मरण-संख्याका अन्यतम कारण माताओंको जीवनीय ए यथेष्ट न मिलना है। बालकोंकी नीरोगता तथा पूर्ण पुष्टिके लिए भी उनको पुष्कल मात्रामें जीवनीय ए सुलभ करना आवश्यक है[4]।

१—Typhoid—टायफॉयड।

२—Cirrhosis of the liver—सिरोसिस ऑफ ध लिवर।

३—देखिये—Management and Medical Treatment of children in India by Armytage & Hodge.

४—जीवाणु—हम एक तरह से जीवाणुओंके महासागरमें जी रहे हैं। हमारे चारों ओर वातावरणमें, हमारे वस्त्रादिकपर, हमारे मुख, महास्रोतस् आदि अवयवोंमें असंख्य जीवाणु सदा विद्यमान रहते हैं। सभी जीवाणु विकारी (रोगोत्पादक या हानिकर—Pathogenic पॅथोजेनिक, Harmful हार्मफुल) नहीं होते। इसके विपरीत कई जीवाणु तो हमारे प्रत्यक्ष उपकारक हैं। आसवोंका संधान, दूधसे दही बनना एवं वायुमण्डलके नाइट्रोजनको खादके रूपमें परिणत करना उपकारी जीवाणुओं द्वारा होता है। पक्वाशयमें कई जीवाणु भोजनको पचानेका कार्य करते हैं। परन्तु, कई जीवाणु विभिन्न रोगजनक होते हैं।

जीवाणुओंके दो प्रकार हैं—उद्भिद्-वर्गीय तथा जङ्गम-वर्गीय। विषूचिका, राजयक्ष्मा आदिके उत्पादक जीवाणु प्रथम वर्ग के तथा विषमज्वर (मैलेरिया) का कारणभूत जीवाणु द्वितीय वर्गका है। इन्हें अणुवीक्षणसे देखा जा सकता है। परन्तु इनके सिवाय वायरस (virus) नामके अनुमानगम्य जीवाणु हैं, जो अतिसूक्ष्म (प्रोटीनके एक अणु जितने) होनेके कारण देखे नहीं जा सके हैं। उनका केवल अनुमान से प्रत्यक्ष हुआ है। यथा, इनसे उत्पन्न किसी रोग के रोगीको लसीका (Serum—सीरम) को मिट्टी के पात्र या फिल्टरपेपर (Filter paper) से छानें और किसी स्वस्थ प्राणीके शरीरमें क्रमशः ऊपर और नीचेके द्रव्योंको सूची-बस्तिसे प्रविष्ट करें तो ऊपरके द्रव्योंके प्रवेशका कुछ अनिष्ट परिणाम नहीं होता, परन्तु नीचेके द्रव्यके निक्षेपके कारण प्राणीको वही रोग हो जाता है, जिससे वह रोगी पीड़ित है, जिसकी लसीकाको इस प्राणीमें प्रविष्ट किया गया है। इस परीक्षणसे अनुमान होता है कि कोई अणुवीक्षणसे भी न दीखनेवाला रोगोत्पादन समर्थ द्रव्य है जो पात्र या फिल्टर-पेपरसे छनकर नीचे आ गया है। यही चेतन द्रव्य वायरस कहाता है। अनुमान है कि सृष्टिमें उत्पन्न प्रथम प्राणी ये वायरस ही हैं। पश्चात् एक कोषीय जीवाणु उत्पन्न हुए। इन्फ्लुएञ्जा और पॉलिओ-मायलाइटिस वायरस-जन्यरोग हैं।

जो हो, रोगजनक जीवाणु सर्वत्र अवस्थित होनेपर भी उनके द्वारा रोगोत्पत्ति केवल तब होती है जब आहार-विहारके वैषम्यसे सर्वाङ्ग या एकाङ्ग (किंवा दोष-दूष्य) दुर्बल हो जायँ। इसका सीधा अर्थ यह है कि, तत्काल विकृत हुआ होने से दूष्य ही रोगोत्पत्तिका प्रधान हेतु तथा चिकित्साका लक्ष्य है। आयुर्वेदमें इसी कारण दोष-दूष्य और उनके हिताहित आहार-विहारका ही विचार विशेष किया गया है। जीवाणुओंका स्वरूप तथा रोगोत्पत्तिमें उनकी हेतुता भारतीय पण्डितोंको एकदम अविदित तो नहीं थी। प्रमाणतया देखिये—सिद्धान्त निदान प्रथम खण्ड, पुरुषार्थ (मराठी मासिक) का वेदाङ्क, वेदमें रोगजन्तु शास्त्र, डा० घाणेकरजीका जीवाणु विज्ञान, राजगुरु हेमराज शर्मा लिखित काश्यप संहिताकी भूमिका, तथा डा० धीरेन्द्रनाथ बनर्जीकी इसी विषयकी पुस्तिका।

जीवनीय ए के समयोगका तृतीय परिणाम—रात्र्यन्धकी अनुत्पत्ति—समझनेके लिए संक्षेपमें नेत्रकी प्रसंगोपात्त रचना तथा क्रिया जान लेना उपयोगी है।

दृष्टिमण्डलमें[१] रूप (प्रकाश—किरण—और उसके द्वारा पदार्थ) के प्रत्यक्ष के लिए विशिष्ट आकृतिवाले दो प्रकारके कोष होते हैं। इन कोषों को अपनी आकृतिकी विशेषताके कारण शलाका[२] और शंकु[३] नाम दिये गये हैं। दोनों कोषोंमें एक-एक रञ्जक द्रव्य होता है। शलाकाओंके रञ्जक द्रव्यको अंग्रेजीमें रॉडोप्सिन[४] या विभुअल पर्पल[५] कहते हैं। शंकुओंके वर्णद्रव्यको आयोडॉप्सिन[६] या विभुअल वायोलेट[७] कहा जाता है। आकृति और वर्णद्रव्यकी भिन्नताके अतिरिक्त शलाका और शूलोंके कर्ममें भी भेद होता है। शलाकाओंका कर्म क्षीण प्रकाश किंवा अन्धकारमें पदार्थोंका प्रत्यक्षीकरण है, जब कि शंकुओंका कार्य दिवस आदिके प्रकाशमें पदार्थ दिखाना है।

शलाकाओंके द्वारा रूपके प्रत्यक्षीकरणमें स्थिति यह होती है कि, प्रकाश की किरणें प्रकाशमान पिण्डोंसे साक्षात् तथा उनके द्वारा प्रकाशित पदार्थोंसे प्रतिक्षिप्त होकर नेत्रके पटलोंको पार करके जब शलाकाओंके सम्पर्कमें आती हैं तो कुछ रासायनिक परिवर्तन होकर उनका रॉडोप्सिन पीतवर्णके द्रव्यमें परिणत हो जाता है। इस द्रव्यको अंग्रेजीमें 'जेन्थोप्सिन'[८] या 'विभुअलयेलो'[९] कहते हैं। वर्ण-परिवर्तनकी इस क्रियाको दृष्टिमण्डलमें स्थित नाड़ी-सूत्र रूप या द्रव्य के प्रत्यक्षकी संज्ञा (ज्ञान) के वेगके रूपमें ग्रहण कर लेते तथा दृष्टिनाड़ी द्वारा मस्तिष्कमें स्थित दृष्टि केन्द्रमें पहुंचाते हैं, जहां उनका वस्तुके प्रत्यक्षके रूपमें अनुवाद होता है। जीवनीय ए रॉडोप्सिनका एक अङ्ग है। तथा रूप ग्रहणकी उल्लिखित प्रक्रियाका कारण है। यद्यपि 'विभुअलयेलो' (रूपग्रहणसे उत्पन्न पीतवर्ण) पुनः मूल रञ्जक द्रव्य रॉडोप्सिनके रूपमें परिणत हो जाता है, परन्तु यह परिवर्तन पूर्णतया नहीं होता। अन्य शब्दोंमें कहें तो इस प्रक्रियामें जीवनीय ए का पीत रञ्जक द्रव्यके नित्य परिवर्तन होनेसे तथा उसका पुनः स्वरूपमें (जीवनीय ए के रूपमें) पूर्ण परिणमन न होनेसे सदा यत्किंचित् क्षय होता रहता है। इसका अर्थ यह है कि, शलाकाओंको अपने रञ्जक द्रव्यकी क्षतिपूर्तिके लिए प्रतिदिन जीवनीय ए की प्राप्ति होनी ही चाहिए—भले ही उसकी मात्रा अत्यन्त अल्प हो। अन्यथा, उक्त रासायनिक क्रिया पूर्ण न होनेसे मन्द प्रकाश या अन्धकारमें रूप-दर्शन यथावत् नहीं होता—पुरुष रात्र्यन्ध रोगसे पीड़ित होता है।

इस बातके भी प्रमाण हैं कि, जीवनीय ए शङ्कुओंके रञ्जक द्रव्य की रचनामें भी भाग लेता है, और इस प्रकार प्रकाशमें पदार्थोंके प्रत्यक्षीकरणका भी हेतु है[१०]।

आयुर्वेदमें नेत्र द्वारा रूप प्रत्यक्षका कारण एक पित्त कहा गया है, जिसका नाम आलोचकपित्त है। मालूम होता है, उल्लिखित दोनों वर्ण द्रव्य आयुर्वेदके आलोचक पित्त हैं।

१—Retina—रेटीना। २—Rods—रॉड्स। ३—Cones—कोन्स।

म० म० गणनाथ सेनजीने इन्हें क्रमशः 'शूल' और 'वेमा' (शब्दार्थ—तकुआ) नाम दिये हैं। शलाका और शंकु नाम डा० म्हस्करके मराठी ग्रन्थमें आये हैं तथा सुगम और ग्राह्य हैं।

४—Rhodopsin। ५—Visual purple।

६—Iodopsin। ७—Visual Violet।

८—Xanthopsin ९—Visual yellow

१०—There is evidence, however; that vitamin A may participate also in the formation of visual violet (iodopsin), the light sensitive pigment of the conse. Howell's Text book of physiology, (1946), p. 1146.

जीवनीय ए के हीनयोगवश परीक्षापात्र प्राणियोंमें परिसरीय[1] तथा केन्द्रीय[2] नाडी संस्थानकी विकृतियाँ भी उत्पन्न हुई पायी गयी हैं। कदाचित् मानवोंमें भी ये विकृतियाँ होती हों। प्रजनन शक्तिकी मन्दता होना भी सम्भव है।

जीवनीय ए के आश्रय—सूर्यप्रकाशकी क्रियासे यह हरे उद्भिदोंमें तय्यार होता है। गाजर के रञ्जक द्रव्य केरोटिन[3] तथा उसके सजातीय रञ्जक द्रव्य[4] जीवनीय ए के पूर्वरूप[5] हैं—अर्थात् ये द्रव्य ही परिवर्तित होकर जीवनीय ए बनते हैं। उद्भिदोंमें जीवनीय ए स्व-रूपमें किंवा इन पूर्वरूपोंके रूपमें रहता है, और अपना सेवन करनेवाले प्राणियोंको प्राप्त होता है। उद्भिदोंमें हरा, पीला या नारङ्गी रङ्ग जिस प्रमाणमें होता है उसी प्रमाणमें उनमें जीवनीय ए के पूर्वरूप रहते हैं। परन्तु इनका सेवन करनेवाले प्राणियोंके यकृत्, दूध तथा अण्डकी परीक्षा उनके वर्णके आधारपर नहीं की जा सकती। कारण उनमें वर्णरहित प्रकारके जीवनीय ए किंवा उसके पूर्वरूप हो सकते हैं।

हरे उद्भिदोंमें ही जीवनीय ए अथवा उसके पूर्वरूपोंको अवस्थिति होनेसे गाय आदि को शुष्क घास खिलायी जाय तो उनके दूधमें जीवनीय ए बहुत नहीं होता। गाय आदिको हरी घास देने तथा जीवनीय ए (और डी) की उत्पादक सूर्यरश्मियोंमें खुला फिरने देनेकी उपयोगिता इससे स्पष्ट है।

हरे उद्भिदोंके अतिरिक्त जीवनीय ए के उत्तम उपादान दूध, मक्खन तथा अण्ड हैं। शरीरकी सामान्य पुष्टिके लिए जीवनीय ए आवश्यक होनेसे शिशुओंके प्रधान आहार दूध अण्डमें प्रकृतिने स्वयं इसे योग्य प्रमाणमें प्रस्तुत किया है। अण्डोंमें उनके पीतांशमें यह होता है। उद्भिदोंका सेवन करनेवाले प्राणियोंमें किंवा इन प्राणियोंको खानेवाले प्राणियोंमें जीवनीय ए उनके यकृतोंमें सञ्चित होता है। अन्नपानमें जीवनीय ए के पूर्वरूप हों तो यकृत् उन्हें जीवनीय ए के रूपमें परिणत भी करता है। कई मत्स्योंके—यथाशार्क, कॉड, हैलीबट, पर्कोमार्फ[6] आदि—यकृत्में इसका संग्रह विशेष प्रमाण में होता है। अतः इनसे निकाले तैलोंका उपयोग जीवन ए के आश्रय द्रव्यके रूपमें प्रचुर होता है। मत्स्योंके यकृत्से दो प्रकारके जीवनीय ए प्राप्त हुए हैं—खारे पानीके मत्स्योंमें एक प्रकारका तथा मीठे पानीके मत्स्योंमें दूसरे प्रकारका।

यकृत्के अतिरिक्त वृषण-ग्रन्थि, अन्तःफल तथा अधिवृक्क-वल्क[7] में भी जीवनीय ए होता है। जिससे इसका प्रजननसे सम्बन्ध होनेका अनुमान है।

संक्षेपमें—मच्छीका तेल[8], अण्डोंका पीला भाग, मक्खन या घी, शुद्ध दूध, पालक, गोभी, शलगम, मूली आदि पत्र-शाक जीवनीय ए के सर्वोत्कृष्ट आश्रय हैं। इनसे उतरकर गाजर, शकरकन्द, टमाटर, भिगोकर अंकुरित किये गये धान्य, पीली मकई और बाजरेमें यह होता है। मलाई उतारे दूध, शिम्बीधान्य, गेहूं आदि शूकधान्यों, मिर्चों, खोपेका तेल तथा मार्गरीन[9] में यह अल्प होता है। वसारहित मांस, मधु, चावल, प्याज, आलू, चुकन्दर, शलगम, मूली (इनके कन्द), केला, मेवा;

१—Peripheral nervous system—पेरीफेरल नर्वस सिस्टम।

२—Central nervous system—सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम।

३—Carotene; गाजरको अंग्रेजीमें कैरट (Carot) कहते हैं।

४—Carotenoids—केरेटिनायड्स। ५—Precursors—प्रीकर्सर्स।

६—Percomorph. ७—Adrenal-cortex—एड्रीनल कॉर्टेक्स।

८—Cod Liver Oil—कार्ड लिवर आयल; Shark-Liver Oil—शार्क लिवर आयल तथा Halibut Liver Oil—हैलिबट लिवर आयल—इनका व्यवहार विशेष होता है।

९—Margarine—मक्खनका प्रतिनिधि, जो स्थावर तेलोंसे बनाया जाता है।

मूंगफली, जैतून, तिल तथा कपासके तेलों और शूकर-वसामें नाममात्र होता है। मैदे, मैशीनसे साफ किये[1] या भाफ द्वारा सेके गये चावलों, बादामके तेल तथा वानस्पतिक घृतोंमें यह सर्वथा नहीं होता। पूरी, खोआ, रबड़ी आदि मिठाइयाँ बनाते समय पूर्णतया नष्ट हो जाता है।

जीवनीय ए स्नेहोंका ही एक अंश होनेसे इसके पचनमें उनके समान याकृत पित्त भाग लेता है। अतः अन्नपानमें जीवनीय ए प्रभूत होनेपर भी उसके पचनके लिए यकृत्का आरोग्य आवश्यक है। इसके अतिरिक्त यकृत् जीवनीय ए का सञ्चय-स्थान तथा उसके पूर्व रूपोंको जीवनीय ए के रूपमें परिणत करनेवाला होनेके कारण भी उसका स्वास्थ्य आवश्यक है। जीवनीय ए की आवश्यक मात्रा अत्यल्प है, इस के हीन योगसे उत्पन्न व्याधियोंमें उल्लिखित मत्स्य-तैलोंके कुछ बिन्दु देना यथेष्ट होता है।

स्नेह-विलेय जीवनीय डी[2]—

इस जीवनीयके समयोगके कर्म संक्षेपमें दो हैं—अस्थियों और दन्तोंकी पूर्ण पुष्टि। इसका हीनयोग होनेपर अस्थियोंमें रिकेट्स[3], तथा मृद्वस्थि[4] और दाँतोंमें कृमिदन्त[5] और दन्तक्षय नामक रोग होते हैं।

रिकेट्स बालकोंका रोग है, जिसमें अस्थियोंकी पुष्टि सम्यक् नहीं होती। शलाकास्थियों तथा पर्शुकाओंके प्रान्त (सिरे) फूलकर मोटे हो जाते हैं। पर्शुकाओंके उभरे हुए प्रान्त छोटे-छोटे मणकोंके समान प्रतीत होते हैं। पुष्टिकी अपूर्णताके कारण अस्थियाँ मृदु रहती हैं। इनका परिणाम अधःशाखाकी अस्थियों पर विशेषतया लक्षित होता है। वय प्राप्त होनेपर भी बच्चे रेंग या चल नहीं सकते—न खड़े हो सकते हैं। शरीरके भारके कारण वे अस्थियाँ वक्र हो जाती हैं,

१—Polished—पालिश्ड।

२—Fat-soluble vitamin D—फैट-साल्यूबल वाइटेमिन डी ; अन्य नाम—Antirachitic vitamin D—एण्टिरेकेटिक (शब्दार्थ—रिकेट्स—निवारक) वाइटेमिन डी। यों इस जीवनीयके कोई दस भेद विदित हुए हैं। मानव-स्वास्थ्यकी दृष्टिसे दो ही महत्त्वके हैं।

३—Rickets-फक्करोग—काश्यप-संहितामें चरकादि संहिताओंमें अनिर्दिष्ट फक्क रोगका उल्लेख है। इसका लक्षण दिया है—'बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति। स फक्क इति विज्ञेयः—का० चि०'—अर्थात् बालक एक वर्षका होनेपर भी पैरोंके बल चल न सके तो उसे फक्क कहते हैं। मुझे लगता है फक्क एक रोगका नाम न होकर अनेक ऐसे रोगोंके वर्गका नाम है, जिनमें चलनेकी अक्षमता यह एक समान लक्षण होता है। आधुनिकोंके रिकेट्स, बालपक्षाघात (Infantile Paralysis—इन्फेण्टाइल पैरेलिसिस ; या—Polio-myelitis—पालिओमायलाइटिस), शोष (Marasmus—मैरेस्मस) इन रोगोंकी गणना फक्क वर्गमें की जा सकती है। गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मन्तव्य है कि आयुर्वेदोक्त रोगवाचक संज्ञाएँ ज्वर, प्रमेह, कास, श्वास, कुष्ठ, शोथ आदि एक-एक रोगकी वाचक नहीं, किन्तु एक-दो मुख्य समान चिह्नोंवाले अनेक रोगोंके वर्गके वाचक हैं (देखिये—सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर १९४९ I)

स्मरण रहे, जनतामें बच्चोंकी कृशतामात्रको रिकेट्स कहनेका प्रचार हो गया है। वस्तुतः इस रोगके पृथक् लक्षण हैं, जो मूलमें (ऊपर) दिये हैं।

४—Osteomalacia—आस्टिओमैलेसिया।

५—Dental Caries—डेण्टल केरीज़।

जानु-सन्धि अन्दरकी ओर मुड़ जाती है[1]। पृष्ठवंश तथा श्रोणिकी अस्थियोंके आकारमें भी विकृति होना सम्भव है। शिरोऽस्थियोंकी आकृति तथा घनत्वमें भी परिवर्तन देखा जाता है। अस्थियोंकी विकृतिका कारण यह है कि ज़ीवनीय डी के बिना शरीर आहारगत छुधा (केल्शियम) तथा प्रस्फुरकका उपयोग नहीं कर पाता। छुधाके हीनयोगके कारण ही अन्य लक्षण भी रिकेट्समें देखे जाते हैं, यथा—पेशियोंकी मृदुता, विशेषतः रातको स्वेद अधिक आना, पेट फूल जाना, शरीरकी क्षीणता, टान्सिल और एडीनायडकी वृद्धि। हाथ-पैर तथा शरीरके अन्य अवयव कृश होनेके कारण तथा तरुणास्थियोंकी वृद्धिसे शिर विशाल दीखता है। उक्त लक्षण बढ़ते जायँ तो बच्चे विशेषतया श्वसन-संस्थानके रोगोंके गम्य हो जाते हैं।

वयःस्थोंमें जीवनीय डी के हीनयोगसे मृद्वस्थि रोग हो जाता है। यह रोग सगर्भाओंमें विशेषतः देखा जाता है। कारण, उनके शरीरगत पूर्व-संचित छुधा, प्रस्फुरक तथा जीवनीय डी का व्यय गर्भकी आवश्यकताओंकी पूर्तिमें हो जाता है, जिससे उनकी अस्थिओंका घनत्व न्यून हो जाता है।

अस्थियोंके समान दन्तोंके पोषण और आरोग्य के लिये भी जीवनीय डी की आवश्यकता है। आहार में जीवनीय डी, छुधा और प्रस्फुरकका अपेक्षित प्रमाण न होने का परिणाम यह होता है कि हन्वस्थियाँ मृदु और विषम आकारवाली हो जाती हैं तथा दन्तोंकी पुष्टि उत्तम नहीं होती। पुष्टि उत्तम न होनेसे कृमिदन्त होनेकी सम्भावना रहती है। अति प्रमाणमें धान्योंका सेवन कराया जाय तो यह स्थिति होना अधिक सम्भव होता है। कारण, कई धान्योंमें, विशेषतः मकई और जई[2] में, एक द्रव्य होता है जो जीवनीय डी का प्रतिरोधी है। हाँ, धान्यको मन्दाग्नि पर पकाया जाय तो यह द्रव्य तो नष्ट हो जाता है, पर जीवनीय डी शेष रहता है।

सूर्यके प्रकाशकी क्रिया भी जीवनीय डी के सदृश ही होती है। इसका कारण यह है कि सूर्यके प्रकाशके सम्पर्कसे त्वचामें इस जीवनीयकी उत्पत्ति होती है।

जीवनीय डी के कारण छुधा (केल्शियम) तथा प्रस्फुरकका अन्त्रों द्वारा ग्रहण और शरीरमें स्थिरता होती है। अपरञ्च इन दोनों तत्त्वोंका सेवन उचित अनुपातमें न हुआ हो तो जीवनीय डी इनको सम कर देता है।

यह जीवनीय स्नेहोंमें विलेय है। अतः बच्चोंमें (या वयःस्थोंमें) स्नेहोंके पचन और शोषणकी क्रिया मन्द हो तो, किंवा सामान्यतः जठराग्निकी कोई भी विकृति हो तो, प्रकृत्याजीवनीय डी का पाक और शोषण भी न्यून होता है, भले ही आहारमें उसका प्रमाण यथोचित हो। स्नेहोंके समान जीवनीय डी के शोषणके लिए भी याकृत पित्तके लवणोंकी उपस्थिति आवश्यक है।

यह जीवनीय भी उन्हीं द्रव्योंमें होता है जिनमें जीवनीय ए, पर न्यूनाधिक प्रमाणमें। शरीरमें इसका संचय यथेष्ट प्रमाणमें, विशेषतया यकृत्में, होता है अतः मत्स्योंके तैलोंमें ए के समान जीवनीय डी भी प्रचुर मात्रामें होता है। इसकी प्राप्तिके लिए इन तैलोंका ए की अपेक्षया अल्प प्रमाण पर्याप्त होता है। स्थावर तैलोंमें यह अति स्वल्प अथवा नहीं होता है। उद्भिद आर्द्र हों और काटे न जायँ तब तक उनमें इसकी थोड़ी मात्रा होती है। इसी कारण दुधारू पशुओंको घास-चारा हरा न मिले तो इसकी मात्रा तदनुसार न्यून होती है जीवनीय ए भी हरी घास खानेवाले

१—इस रोगको अंग्रेजीमें Knock-knee—नाक-नी या Genu Valgum—जेनु वल्गम कहते हैं।

२—Oat—ओट।

प्राणियोंमें ही पर्याप्त होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है। गायका दूध सुधा और जीवनीय डी दोनोंका उत्तम आश्रय है। अण्डों तथा यीस्टमें भी पर्याप्त मात्रामें होता है।

जीवनीय डी का स्मरणीय उपादान सूर्यप्रकाश है। त्वचामें अर्गोस्टेरोल[1] नामक मेदसम द्रव्य होता है। सूर्यका प्रकाश त्वचापर पड़ता है तो उसकी अल्ट्रा-वायोलेट किरणोंके प्रभावसे यह द्रव्य जीवनीय डी के एक भेदके रूपमें परिणत हो जाता है। इस भेदको रासायनिक रचनाके अधारपर केल्सिफेरोल[2] नाम दिया गया है। यह द्रव्य कृत्रिम बनाया भी जा चुका है। एक अन्य मेदसम द्रव्य भी सूर्यप्रकाशकी क्रियासे इसी प्रकार जीवनीय डी के एक अन्य भेदके रूपमें परिणत होता है। जीवनीय डी के दस भेदोंमें ये दो ही भेद मानवोपयुक्त ज्ञात हुए हैं। सूर्यके प्रकाशके प्रभावसे गायोंके दूधमें इसकी मात्रा बढ़ जाती है[3]। धूपमें खड़े होकर अभ्यङ्गकी पद्धति भारतमें सुप्रचलित है। जीवनीय डी की उत्पत्तिकी दृष्टिसे यह बहुत ही उपयोगी है। नगरोंमें धूप दुर्लभ होनेसे ग्रामोंकी अपेक्षया अस्थि तथा दन्तकी विकृतियाँ और सुधा तथा प्रस्फुरकके हीनयोगके चिह्न नगरोंमें विशेषतः देखे जाते हैं।

जीवनीय ए की अपेक्षया जीवनीय डी तापको अधिक सहन कर सकता है। पाककी प्रक्रियामें इसका नाश विशेष नहीं होता। इसकी आवश्यक मात्रा भिन्न-भिन्न बच्चोंमें भिन्न-भिन्न होती है।

जीवनीय डी की अतिमात्रासे समस्त शरीरमें, विशेषया धमनियों और वृक्कोंमें, सुधाका निक्षेप बढ़ जाता है[4]। धमनियोंमें सुधाके निक्षेपके परिणामोंका निर्देश आगे रक्तधातुके प्रकरणमें किया जायगा।

दूध देनेवाले प्राणियों के दूधमें जीवनीय ए और डी की मात्रा सूर्यके प्रकाशके प्रभावसे बढ़ जाती है; प्राचीन आचार्योंने इस प्रक्रियाका अवलोकन किया था, यह निम्न पद्योंसे स्पष्ट है। इनमें प्रभातकालिक तथा अपराह्णकालिक दूधके गुणोंमें भिन्नता दिखाते हुए कहा गया है कि—

प्रायः प्राभातिकं क्षीरं गुरु विष्टम्भि शीतलम्।
रात्र्याः सोमगुणत्वाच्च व्यायामाभावतस्तथा॥
दिवाकराभितप्तानां व्यायामानिलसेवनात्।
वातानुलोमि श्रान्तिघ्नं चक्षुष्यं चापराह्णिकम्॥

सु० सू० ४५।५९-६०

रात्रि सोम (चन्द्र) गुणविशिष्ट होती है, साथ ही उसकाल, गौ आदियोंका चलने-फिरनेका व्यायाम नहीं होता, अतः प्रभातकालका दूध प्रायः गुरु; मल और वातका स्तम्भक और शीतल होता है। इसके विपरीत दिवसमें इन प्राणियोंको सूर्यके तापका लाभ होता है, उनका व्यायाम

१—Ergosterol. इसका परिचय स्नेहके प्रकरणमें देखिये।

२—Calciferol.

३—देखिये—Vitamin D has a particular relation to sunlight. From this point of view, the milk of a cow is much improved by sunlight. Hand book of Physiology, by Halliburton & Mc. Dowall (1928) P. 439.

४—Excess of the vitamin leads to excessive precipitation of calcium throughout the body especially in the arteries and kidneys. Hand book of Physiology and Biochemistry, by McDowall (1948) P. 382.

होता है तथा शरीर पर शुद्ध वायुका भी प्रभाव होता है अतः अपराह्न (सायंकाल) का दूध वातका अनुलोमक, श्रमको हरनेवाला तथा चक्षुष्य (नेत्रोंको हितकर) होता है।

अपराह्नके दूधको चक्षुष्य कहा है, जो जीवनीय ए के चक्षुपर होनेवाले पूर्वकथित कर्मोंको देखते हुए सुविशद है। दिवसके दूधमें आयुर्वेद मतसे सूर्यकी रश्मियोंके अतिरिक्त पशुओंके व्यायाम तथा शुद्ध वायुका भी प्रभाव होता है, यह विशेष है।

जीवनीय 'के'—

जीवनीयोंकी परम्परामें यह सबसे अर्वाचीन है। रक्तका स्कन्दन इसका कर्म है। अतः इसे 'रक्तस्तंभक जीवनीय'[1] भी कहते हैं। इसके दो भेद विदित हुए हैं।

रक्त और रसकी उपयोगिताको देखते हुए शरीर अति यत्नसे उनकी रक्षा करता है। रक्षाके अनेक उपायोंमें एक रक्तका स्कन्दन (जमना) है। किसी भी कारणसे रक्तवाहिनियोंमें क्षत होकर रक्त और रसका स्राव हो तो स्कन्दनकी स्वाभाविक प्रक्रियासे रक्त और रस जम जाते हैं। इस प्रकार बने छिछड़ेका क्षतपर आवरण हो जानेसे रक्तस्राव अटक जाता है। स्कन्दनमें अनेक द्रव्य भाग लेते हैं। उनका तथा सम्पूर्ण क्रमका निर्देश आगे रक्त और रसके प्रकरणमें करेंगे। यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है कि—स्कन्दनोपयोगी सामग्रीका एक अङ्ग जीवनीय 'के' भी है। यह प्रोथ्रोम्बिन[2] नामक एक स्कन्दनोपयोगी द्रव्यको उत्पन्न करता है।

यों आहारमें यह पर्याप्त होता है। परन्तु इसके शोषण (अन्त्रों द्वारा ग्रहण) के लिए याकृत पित्तकी विद्यमानता आवश्यक है। आमाशय तथा अन्त्रोंकी विकृति, यकृतके रोग पित्त प्रसेक (पित्तवाही स्रोत) का अवरोध होनेसे ग्रहणीमें पित्त न पहुंचना या अल्प पहुंचना—इन स्थितियोंमें जीवनीय के का शोषण यथेष्ट न होनेसे रक्तमें भी उसका प्रमाण न्यून हो जाता है। ऐसी स्थितिमें अल्पमात्र आघात या क्षत होनेपर भी स्कन्दन यथावत् न होनेसे रक्तस्राव चालू रहता है। स्मरण रहे, रक्तस्रावसे सम्बन्ध रखनेवाला एक अन्य जीवनीय 'सी' भी है। पर उसके अयोग या हीनयोगमें केशिकाएँ भंगुर होनेसे वे व्रणित हो जाती हैं और रक्तस्राव होता है। 'के' के हीनयोगसे आघातवश रक्तस्राव हो तो वह जमता नहीं—यह दोनोंमें भेद है।

शोषणके समान जीवनीय 'के' के यथावत् उपयोगके लिए भी यकृतकी अविकृति आवश्यक है। यह स्नेह-विलेय है।

यह जीवनीय हरे उद्भिदोंमें होता है। उनमें क्लोरोफील[3] जितना होगा उतना ही इस जीवनीयका प्रमाण होगा। बथुआ, बन्द गोभी, अण्डका पीतांश, यकृत तथा कुछ जीवाणु—इनमें यह पर्याप्त होता है। पक्वाशयमें कई जीवाणुओं द्वारा यह जीवनीय उत्पन्न किया जाता है, यह ऊपर कह आये हैं।

आयुर्वेद-मतसे वात तथा पित्तसे दुष्ट रक्त शीघ्र न जमनेवाला और कफ दूषित शीघ्र जमनेवाला होता है।

१—Koagulation vitamin—कोएगुलेशन वाइटेमिन ; या—Antihatmorrhegic vitamin—एण्टीहेमोरेजिक वाइटेमिन। [कोएगुलेशन=स्कन्दन ; एण्टी=विरुद्ध, हेमोरेज=रक्तस्राव] यद्यपि अंग्रेजी कोएगुलेशन शब्दका प्रारम्भ C (सी) से होता है, तथापि इस जीवनीयका कर्म द्योतित करनेके लिए इसके नाममें K (के) से उसका आरम्भ करते हैं। 'सी' एक अन्य जीवनीयका नाम है।

२—Prothrombin.

३—Chlorophyl. विशेष देखिये आयुर्वेदीय क्रियाशारीर पृ० १८०।

जीवनीय ई[1] —

यह जीवनीय भी स्नेह-विलेय है। इसके गर्भस्थितिकारक कर्मको देखते हुए इसे 'प्रजास्थापन जीवनीय[2]' भी कहते हैं। इसके हीनयोगसे स्त्री बन्ध्या हो जाती है। इसका कारण यह विदित हुआ है कि भ्रूण (गर्भ) की पुष्टि इस जीवनीयके अयोगके कारण यथावत् नहीं होती। नरोंमें इसका हीनयोग होनेपर वृषण ग्रन्थियां क्षीण हो जाती हैं। यह भी ज्ञात हुआ है कि इस जीवनीयका साक्षात् प्रभाव पोषणिका ग्रन्थिकी क्रियापर होता है, जो परम्परया गर्भयन्त्र तथा वृषण ग्रन्थियोंकी क्रियाको सुस्थित करती है। आगे इन अवयवोंके वर्णनके प्रसङ्गमें इनका परस्पर सम्बन्ध बताया जायगा, जिससे यह विषय विशद होगा। पुत्रघ्नी योनिमें[3] इस जीवनीयका प्रयोग गुणकारी सिद्ध हुआ है। मानवोंमें इसका कर्म अभी पूर्णतया देखा नहीं जा सका है।

यह जीवनीय उद्भिदों द्वारा निर्मित होता है। इसका सबसे उत्कृष्ट ज्ञात आश्रय अङ्कुरित गेहुंओंसे निकाला गया तैल[4] है। गेहुंओंको लगभग एक अहोरात्र भिगोकर उन्हें मसलने से जो श्वेत द्रव्य निकलता है उसका 'गेहूंका दूध' नामसे आभ्यन्तर सेवन अनेक स्त्रीरोगों (कटिशूल, दौर्बल्य आदि) में प्रचलित है और अच्छा गुण करता है। जीवनीय ई के अन्य आश्रय अण्डका पीतांश, पूर्ण (चोकर-युक्त) गेहूं, यकृत्, तथा सलाद[5] आदि हरे औद्भिद हैं। जैतूनका तैल आदि अनेक स्थावर (औद्भिद) तैलोंमें भी होता है। जाङ्गम स्नेहोंमें यह नहीं होता।

चरकोक्त प्रजास्थापन दशेमानि अनुसंधान-रसिकोंके लिए इस प्रसंगमें चरकोक्त प्रजास्थापन दशेमानि[6] का उल्लेख उपयोगी हो सकता है।

ऐन्द्री ब्राह्मीशतवीर्यासहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा-शिवाऽरिष्टावाट्यपुष्पीविष्वक्सेन कान्ता इति दशेमानि प्रजास्थापनानि भवन्ति॥ च० सू० ४।१७

१—Vitamin E—वायटामिन ई।

२—Anti-sterility Vitamin—एण्टी-स्टरिलिटी वायटेमिन। (स्टरिलिटी=वन्ध्यात्व)। प्रजास्थापन शब्दका अर्थ ऊपर मूलमें देखिये।

३—पुत्रघ्नी योनिका लक्षण—

रौक्ष्याद् वायुर्यदा गर्भं जातं जातं विनाशयेत्।
दुष्टशोणितजं नार्याः पुत्रघ्नी नाम सा मता॥ च० चि० ३०।२८
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंस्रवात्॥ सु० उ० ३८।१३

(यह व्यापत्ति सुश्रुतने पैत्तिक मानी है)।

प्रकुपित वायुकी रूक्षताके कारण जब गर्भस्थित होनेपर भी बार-बार शुष्क होकर नष्ट हो जाय किंवा कुपित पित्त और रक्तके कारण उसका पुनः-पुनः स्राव या पात हो, तो इस रोगको पुत्रघ्नी योनि कहते हैं। अंग्रेजीमें इस स्थितिको Habitual abortion—हेबीच्युअल एबॉर्शन कहा जाता है।

४—Wheat germ Oil—ह्वीट जर्म ऑयल। इसके कई कल्प औषध-विक्रेताओंके यहाँ मिलते हैं।

५—Lettuce—लेटिस।

६—विभिन्न कर्म करनेवाले दस-दस द्रव्योंका उल्लेख चरकने जिन वर्गोंमें किया है, उन्हें संहिताकारके शब्दों 'दशेमानि' (इमानिदश-ये दस) का स्मरण करते हुए 'दशेमानि' ही कहते हैं।

शतवीर्या सहस्रवीर्ये दूर्वे, अमोघा पाटला आमलकी वा लक्ष्मणा वा, अव्यथा कदली गुडूची वा हरीतकी वा, अरिष्टा कटुरोहिणी, विष्वक्सेन-कान्ता प्रियङ्गुः ॥ —चक्रपाणि

प्रजोपघातकं दोषं हत्वा प्रजां स्थापयतीति प्रजास्थापनम् ॥ च० सू० ४।८ पर—चक्रपाणि

ऐन्द्री गोरक्षकर्कटी ॥ च० सू० ४।१० पर—चक्रपाणि

जो द्रव्य प्रजा (गर्भ) की स्थिति और पुष्टिमें बाधक दोषको नष्टकर प्रजाकी स्थापना (स्थिति और स्थिरता) उत्पन्न करे उसे प्रजा-स्थापन कहते हैं। ऐन्द्री (गोरक्ष कर्कटी), ब्राह्मी, शतवीर्या-सहस्रवीर्या (दो प्रकारकी दूर्वाएँ), अमोघा (पाटला, आमलकी या लक्ष्मणा), अव्यथा (केला, गिलोय या हरीतकी), शिवा, अरिष्टा (कटुरोहिणी), वाट्यपुष्पी (बला) और विष्वक्सेन-कान्ता (प्रियंगु—गहुंला)—ये दस द्रव्य प्रजास्थापन हैं।

इस प्रकार स्नेह-विलेय जीवनीय ए, डी, के और ई का वर्णन समाप्त कर अब जलमें विलेय जीवनीयों—बी, सी आदिका वर्णन करते हैं।

जल-विलेय जीवनीय बी[१]—

अधिक अनुसंधान होनेके पूर्व अमुक समान आश्रय-द्रव्योंमें विद्यमान कुछ जीवनीयोंको एक ही जीवनीय माना जाता था। इसे जीवनीय बी नाम दिया गया था। पीछे विदित हुआ कि इन द्रव्योंमें एक नहीं, छः जीवनीय विद्यमान हैं। मूल नामके साथ अङ्कोंकी योजना करके इन्हें जीवनीय बी$_१$, बी$_२$, बी$_३$, बी$_४$, बी$_५$, और बी[२]$_६$ नाम दिये गये। इनमें कइयोंकी रासायनिक रचना विदित होनेपर तद्-द्योतक एवं कर्म-द्योतक नाम भी पीछेसे दिये गये हैं। तथापि वर्ण-सूचित उक्त नाम भी प्रचलित हैं। जीवनीय बी के भेदोंके भिन्न होते हुए भी उनसे उत्पन्न लक्षणोंमें इतना साम्य होता है और कभी-कभी इस वर्गके एकसे अधिक जीवनियोंका हीनयोग होता है कि इस वर्गके हीनयोगसे उत्पन्न रोगोंसे पीड़ित रोगी उपस्थित होनेपर यह निर्णय करना अशक्य होता है कि वस्तुतः किस भेद या भेदोंके हीनयोगसे रोगोत्पत्ति हुई है। अतः व्यवहारमें सभी जीवनीयोंके मिश्र कल्पका सेवन कराया जाता है। शास्त्रमें समस्त वर्गके लिए जीवनीय बी मिश्र[३] नाम है। वर्गके जीवनीयोंका पृथक् कर्मादि निम्नोक्त है।

जीवनीय बी$_१$—

यह सर्वप्रथम आविष्कृत जीवनीय है। इसका रचना-सूचक नाम थायेमीन[४] है। नाड़ियोंपर इसके हीनयोगका विशेष प्रभाव होनेसे इसे 'एन्यूरीन'[५] या 'एण्टीन्यूरीटिक वाइटेमिन बी'[६] भी कहते हैं।

जीवनीय बी$_१$ का हीनयोग होनेपर परिसरीय नाडियोंका पाक (सूजन)[७] होकर बेरीबेरी[८] नामक रोग होता है। कभी-कभी इस रोगमें नाडी-संस्थानके अतिरिक्त हृदय और रक्तानुधावन

१—Water-soluble Vitamin B—वाटर-साल्यूबल वाइटेमिन बी।

२—Vitamin B_1, B_2, B_3, B_4, B_5, B_6—वाइटेमिन बी-वन, बी-टू, बी-थ्री, बी-फोर, बी-फाइव, बी-सिक्स।

३—Vitamin B complex—वायटेमिन बी कॉम्प्लेक्स।

४—Thiamine.

५—Aneurin.

६—Anti-neuritic Vitamin B.

७—Peripheral neuritis—पेरीफरल न्यूराइटिस।

८—Beriberi.

संस्थान[1] भी आक्रान्त होता है। परिणामतया शोथ होता है। केवल नाडी-संस्थानकी विकृतिमें शोथ न होनेके कारण उसे शुष्क बेरीबेरी[2] और अपर भेदको 'सजल बेरीबेरी'[3] कहा जाता है। उपाय किया जाय—जीवनीय बी, का सेवन कराया जाय, तो प्रारम्भमें यह रोग साध्य होता है, पश्चात् असाध्य हो जाता है—नाडीतन्तु सदाके लिए विकृत हो जाते हैं। अन्तमें रोगीकी मृत्यु हो जाती है।

बेरीबेरी पीडित रोगीमें दौर्बल्य, कर्म करनेकी अनिच्छा, गौरव, पेशियोंमें[4] असहकार तथा जिन अवयवोंमें आक्रान्त नाडी व्याप्त होती है, वहाँ स्पर्शाक्षमता और पश्चात् उस स्थान का संज्ञा-नाश—ये लक्षण देखे जाते हैं। महास्रोतसकी क्रिया भी विषम हो जाती है। कहा नहीं जा सकता कि यह विकृति उसकी नाडियों के आक्रान्त होनेसे होती है, या अन्य कारण से। परिणामतया, क्षुधानाश[5] होता है। अन्नपानका हीनयोग होनेसे धातुओंकी क्षीणता उत्पन्न होती है, जो इस रोगका विशिष्ट लक्षण है। जीवनीय बी[1] के अयोगसे आक्रान्त कपोतोंमें नाडी संस्थानकी विकृतिसे बाह्यायाम[6] भी होता है।

बेरीबेरीमें हृदय भी आक्रान्त हो तो अवयवोंमें जल भर आनेसे शोथ होता है। पैर तथा गुल्फोंकी शोथ बेरीबेरीका सूचक लक्षण है[7]। हृदयमें भी द्रव-संचय होनेसे उसका विस्तार बढ़ जाता है। लक्षण प्रायः सहसा बढ़ जाते हैं, श्वास तथा हृदयावरोधके अन्य चिह्न प्रादुर्भूत होकर रोगीकी अकस्मात् मृत्यु होती है।

मैककैरीसनके मतसे जीवनीय बी, के हीनयोगसे अधिवृक्क ग्रन्थियोंका प्रमाण बढ़ जाता है, जिससे रोगीमें सामान्यतः ग्लानि (अरति, बेचैनी) तथा उत्साहका अभाव होता है।

परम्परया जननशक्तिपर भी प्रभाव पड़ता है। स्मरण रहे, नाडी-संस्थानकी विकृतिमें साथ ही जीवनीय-ए का हीनयोग भी निदान होता है। अतः चिकित्सामें उसके सम्यग्योगपर भी लक्ष्य देना चाहिए।

१—Cardio-vascular system—कार्डीओ-वैस्कुलर सिस्टम।

२—Dry beriberi—ड्राय बेरीबेरी।

३—Wet beriberi—वेट बेरीबेरी। इस रोगकी आयुर्वेदीय रोगोंसे तुलना नहीं कर पाया हूँ। अतः नव्य नाम तथा लक्षण ही लिखे हैं।

४—Muscular incoordination—मस्क्युलर इनकोऑर्डिनेशन।

५—Anorexia—एनोरेक्सिआ ; या loss of appetite—लॉस ऑफ एपिटाइट।

६—Opisthotonos—ऑपिस्थोटोनोस,—अपतानक या धनुर्वातका एक भेद। इसमें शिर तथा ग्रीवा पीछेकी ओर मुड़ जाती है। (Opistho, opisth = Backward, पृष्ठकी ओर)। पाश्चात्य चिकित्साशास्त्रमें यह लक्षण मेनिन्जाइटिस (Meningitis) तथा विशेषतः अपतानक (Tetanus—टिटेनस) का बताया जाता है। ये दोनों रोग जीवाणुजन्य माने गये हैं। अपतानक व्रणमार्ग से विशिष्ट जीवाणुओंके प्रवेशसे उत्पन्न होता है। पर ऊपर कहे अनुसार यह रोग जीवनीय बी, के अयोगसे भी हो सकता है। चरकने तो नहीं, पर शार्ङ्गधरने अन्य सर्व आयामोंकी गणनाके पश्चात् व्रणायाम पृथक् गिनाया है। इस दृष्टिसे आयामोंका विशेष विचार किया जा सकता है। संपूर्ण विवेचनाकी अन्तिम कसौटी तो रोगीपर ही होगी, यह सत्य है।

७—हृदयकी विकृतिके निदान आमवात आदि प्रसिद्ध हैं। व्यवहारमें जीवनीय बी, के हीनयोग को भूलना न चाहिए।

जीवनीय बी, का हीनयोग अल्पमात्र हो तो अत्यधिक क्षोभ्यता और चिड़चिड़ापन पाये जाते हैं। उन्माद तथा अन्य मानसिक विकारोंकी चिकित्सा करते हुए जीवनीय ए तथा बी, के समयोगपर ध्यान देना आवश्यक है—विशेषतया इन रोगोंकी संप्रति नित्य बढ़ती हुई संख्या को देखकर।

इस जीवनीयकी विद्यमानतामें कार्बोहाइड्रेटोंका दहन पूर्णतया होता है। अयोग होनेपर अन्तिम द्रव्य कार्बनडाइ ऑक्साइड न बनकर पायरुविक एसिड[1] नामक आम (मध्यवर्ती द्रव्य) बनता है। नाडी-संस्थान अपनी क्रियाके लिए कार्बोहाइड्रेटोंके दहनपर ही अवलम्बित होनेसे, उनके अपूर्ण दहनके कारण कदाचित् नाडीसंस्थानकी उक्त—बी, के अयोगमें होनेवाली—विकृतियाँ होती हैं।

जीवनीय बी, प्रायः सभी शूकधान्यों और शिम्बीधान्योंकी बाहरी तहमें, जहां उनका अंकुर रहता है, होता है। इसी कारण मिलोंमें चावलोंको पालिश करने—उनकी बाहरी तहको खुरचकर निकाल देनेपर या मैदेमें यह जीवनीय नहीं रह जाता। मटर, सेम और मेवोंमें इसका प्रमाण सविशेष होता है। अण्डोंके पीतांश तथा यकृतमें पर्याप्त होता है—दूध और मांसमें थोड़ा बहुत होता है। यीस्ट इसका उत्तम आश्रय है। औषध-निर्माता यीस्ट तथा चावलोंकी खुरचन और चोकरसे इस जीवनीयको तय्यार करते हैं। अण्डे और दूधमें इसकी उपस्थिति गर्भ और शिशुके आरोग्य और पुष्टिके लिए होती है। शूकधान्योंमें गेहूँ, जौ, मकई और बाजरा; मेवोंमें अखरोट; शाकोंमें टमाटर, गाजर, मूली, शलगम, पालक आदि तथा शरीरावयवोंमें यकृत, मस्तिष्क, हृदय, वृक्क और पाचक अवयवोंमें इसकी मात्रा अधिक होती है। जैसा कि पहले कह आये हैं, बृहदन्त्रमें यह जीवनीय कई जीवाणुओं द्वारा बनाया भी जाता है, तथापि अन्नपानके रूपमें इसका ग्रहण करके यथोचित मात्रा शरीरमें जाने देना श्रेयस्कर है[2]।

सामान्य भोजन बनाते हुए जितना ताप दिया जाता है, उसमें यह जीवनीय नष्ट नहीं होता। मिष्टान्नोंके निर्माणमें अपेक्षित उच्च तापसे यह लुप्त हो जाता है। ऊपर कह आये हैं कि इस जीवनीय का महास्रोतसपर विशेष प्रभाव है। मिष्टान्नोंमें जीवनीय बी, न होनेसे वे गुरु हो जाते हैं। तथापि इन्हें अल्प मात्रामें लिया जाय, तो शरीरमें उनका इतना तो पूर्व-संचय होता ही है कि उनकी अल्प मात्राको पचा सके।

तापके अतिरिक्त अम्ल द्रव्योंकी विद्यमानताको भी यह सहन कर सकता है—उनकी उपस्थितिके कारण नष्ट नहीं होता। परन्तु क्षार या उदासीन द्रव्योंकी उपस्थितिमें ताप देनेसे नष्ट हो जाता है। इसीलिये भोजन पकानेमें पापड़-खार डालना या खानेके आगे-पीछे सोडा लेना हितकर नहीं है।

१—Pyruvic acid.

२—चावल खानेवाले लोकोंमें बेरीबेरी बहुत पाया जाता था। १८८० में जापानके नौ-सैन्यका एक-तिहाईसे अधिक भाग इससे आक्रान्त हुआ था। १८९० में आइकमान (Eijkmann—एक हालेण्ड वासी डाक्टर) ने जावामें प्रयोग करके पता लगाया था कि, खुरचे हुए चावलोंसे यह उत्पन्न होता है तथा उसकी खुरचनका सेवन करानेसे शान्त होता है। परन्तु इसका रहस्य तब विदित हुआ जब पीछेसे १९१२ में हॉपकिन्स (Hopkins—अंग्रेज विद्वान) ने जीवनीय द्रव्योंका आविष्कार किया। इसके पश्चात् क्रियाशरीरकी इस शाखाका द्वार खुल गया। अपनी शोधोंके कारण दोनों विद्वानोंको सम्मिलित रूपसे नोबल-पारितोषिक प्राप्त हुआ।

स्थावर या जङ्गम किसी स्नेह तथा स्फटिकरूप (दानेदार) खाँड में यह सर्वथा नहीं होता। भारतीय भोज्योंमें चावल इसकी सबसे निकृष्ट योनि है। चावलोंमें इसकी जो मात्रा होती है, वह इन्हें यन्त्रों (मिलों) में साफ करानेसे नष्ट हो जाती है। कारण, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, धान्योंमें जीवनीय बी, उनकी ऊपरी तहमें ही होता है और इस तहके साथ निकल जाता है। घर पर कुड़ाये चावलोंकी महिमा इस बातमें है कि उनमें बी, नष्ट नहीं होने पाता। चावलोंके बी का बड़ा अंश पानीमें घुल जाता है। अतः धोवन या माँडको फेंक देनेसे यह भी साथ ही चला जाता है। अतः चावल राँधते हुए धोवन या माँड फेंकना योग्य नहीं।

चावलोंके सदृश गेहूँमें भी बी उनकी ऊपरी तहमें होता है और मिलोंमें गेहूं पिसवानेसे न्यून या नष्ट हो जाता है। प्रोटीन, सेल्युलोज़ तथा अयस आदि खनिज भी गेहूंकी ऊपरी तहमें होते हैं और मिलोंमें आटा पिसवानेसे अत्यल्प हो जाते हैं। शेष भाग प्रायः पिष्टसार होता है। घर पर चक्की रखकर उसका प्रयोग करनेमें[1] मनीषियोंका जो आग्रह है, उसका एक कारण यह भी है।

प्रदरोंमें अनुपान रूपसे वैद्य तण्डुलोदक (चावलका धोवन या माँड) देते हैं। उससे जीवनीय बी, की उपलब्धि होनेसे गुण होता है, यह कल्पना की जा सकती है। चावलोंके साथ शिम्बीधान्य (दाल) खानेकी पद्धति है, जो शास्त्र-शुद्ध है। दालें जीवनीय बी का उत्तम आश्रय हैं। चावलोंकी कमी इस प्रकार दालों द्वारा पूरी कर दी जाती है। एतदर्थ पाँच या छ भाग चावलके साथ एक भाग दाल होनी चाहिए।

मैक कैरीसनका कथन है कि यह कहना कठिन है कि कौन जीवनीय किस जीवनीयकी अपेक्षया अधिक हितकर है, तथापि एक जीवनीय बी के विषयमें निःसंशय कहा जा सकता है कि स्वास्थ्यके सम्पादन और संरक्षणके लिए यह अन्य सब जीवनीयोंसे अधिक आवश्यक और सेवनीय है। जीवनीय बी का अयोग होनेपर मैक केरीसनके मतमें सदा क्रमसे निम्न लक्षण होते हैं—

१—भोजनमें अरुचि तथा क्षुधानाश या अहित अन्नपानके सेवनकी इच्छा;

२—आमाशय तथा अन्त्रोंके विकार—अजीर्ण, अतिसार या आनाह (विबन्ध), उदरशूल, बच्चोंमें कृमि इत्यादि;

३—भारमें ह्रास, स्फूर्ति तथा बलकी अल्पता.;

४—शिरःशूल, पाण्डुता, शोथ तथा अङ्गोंमें उदक-संचयकी प्रवृत्ति;

५—शरीरोष्माकी निम्नता; हृदय और रक्तवाहिनियोंकी क्रियामें मन्दता;

६—केन्द्रीय नाडीसंस्थान (मस्तिष्क और सुषुम्णा) तथा उनसे सम्बद्ध नाड़ियोंके विकार.; भ्रम आदि।

अन्तिम अवस्थामें क्षमता (रोग-प्रतिबन्धक शक्ति) न्यून होनेसे नाना संक्रामक रोगों और बेरी-बेरीका प्रादुर्भाव होता है। जीवनीय बी हृदय, यकृत्, पाचक पित्तोत्पादक ग्रन्थियों, वृक्कों, चुल्लिका, थायमस, वृषणग्रन्थि, अन्तःफल, अधिवृक्क आदि ग्रन्थियोंको भी स्वस्थ और सबल बनाता है। इसके हीनयोगसे इनके भार और आकारमें न्यूनता तथा कार्य-शक्तिमें शिथिलता आ जाती है।

१—इस प्रसङ्गमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, चक्की चलाना या चावल साफ करना स्त्रियोंके लिए उत्तम व्यायाम भी हैं। इससे वक्षस्, कोष्ठ तथा गर्भयन्त्रके अङ्ग पुष्ट, दृढ़ तथा बलवान् होते हैं। जो स्त्रियाँ गर्भावस्थामें नियमसे—यत्किञ्चित् भी चक्की चलाती हैं, उन्हें प्रसव कष्टकर नहीं होता।

जीवनीय बी$_2$—

इसका रासायनिक नाम रिबोफ्लेवीन[१] है। कोई इसे जीवनीय जी[२] भी कहते हैं। यह प्रत्येक जङ्गम और उद्भिद् कोषमें अवश्य होता है। कोषोंमें दहन (ओषजनके साथ संयुक्त होकर धातुपाकोचित विभिन्न कर्म करना) इसीके कारण होता है, ऐसा अनुमान है। इसका हीनयोग तथा कोषोंमें दहन-व्यापार यथावत् न होनेसे ओष्ठोंके प्रान्तोंके समीपवर्ती त्वचा तथा ओष्ठों और जिह्वाके आस्तरण धातुकी विकृति; नेत्र-गोलकके रोग—यथा, स्वच्छमण्डलका शोथ[३], नेत्रकी कलाके रोग; त्वचाका शुष्क पाक[४] एवं त्वचासे छिलके उतरना; परीक्षापात्र प्राणियोंमें पुष्टिका रुक जाना—ये लक्षण होते हैं।

ऊपर लिखे अनुसार प्राणी तथा उद्भिद्मात्रके कोषोंका आवश्यक अङ्ग होनेसे यह जीवनीय सृष्टिमें पुष्कल उपलब्ध होता है। नवांकुरित हरे पत्ते, यकृत्, अण्डका श्वेतांश, यीस्ट, दुग्ध और फलोंमें सविशेष होता है। मानव-पक्वाशयमें जीवाणुओं द्वारा इसकी उत्पत्ति भी होती है। यह बी$_1$ की अपेक्षया तापको अधिक सहन करता है। उसीके समान, आहारमें स्नेहोंकी अधिकता होनेपर इसकी आवश्यक मात्रा भी अधिक हो जाती है। इसे आहार-द्रव्योंसे पृथक् किया जा चुका है।

जीवनीय बी$_3$—

इस जीवनीयके दो रासायनिक नाम भी हैं—निएसिन[५] तथा निकोटिनिक एसिड[६]। यह द्रव्य प्रथम तमाखूके उपक्षार[७] निकोटीन[८] से निकाला गया था। इसीसे इसे उक्त नाम दिये गये। पश्चात् विदित हुआ कि यह द्रव्य जीवनीय भी है। पैलेग्रा[९] नामक रोगका प्रतिबन्धक होनेसे इसे 'पैलेग्रा-प्रिवेण्टिव'[१०] या संक्षेपमें 'पी-पी फेक्टर'[११] भी कहते हैं।

पैलेग्राके लक्षण ये हैं—शरीरके दोनों पक्षोंकी, विशेषतया शाखाओंकी—त्वचामें समभावसे[१२] पाक[१३] होकर कण्डूयुक्त (कभी-कभी स-पूय) अग्निदग्ध-सदृश मण्डल (चकत्ते) उत्पन्न होना, मण्डलोंकी त्वचा झड़ जाना; आमाशय तथा अन्त्रोंके विकार—यथा, मुखपाक, विवमिषा (वमनकी आशङ्का), वमन, अतिसार, आमाशयके पाचक रस लवणाम्लका हीन (न्यून) स्राव, अन्त्रोंकी दीवारकी स्वरूप-हानि (स्वरूप-नाश[१४]); केन्द्रीय नाडी-संस्थानकी विकृतियाँ—यथा, चिन्तातुरता, स्मृति-नाश, बुद्धि (निश्चय-शक्ति) की अस्थिरता, प्रलाप, उन्माद और मनःक्षय[१५]। ये लक्षण तीन शब्दोंमें प्रकट किये जाते हैं—डर्मेटाइटिस (त्वचा-पाक), डायरिया[१६] (अतिसार) तथा डिमे-

---

१—Ribotlavin.
२—Vitamin G.
३—Keratitis—केरेटाइटिस।
४—Dry dermatitis—ड्राई डर्मेटाइटिस
५—Niacin.
६—Nicotinic acid.
७—Alkaloid—आल्कलॉयड। उद्भिदोंमें स्थित क्रियाशील अंश, जो क्षार (Alkali—आल्कली) के सदृश रासायनिक क्रिया करता है। इस क्रिया-साम्यके कारण ही इसकी उक्त संज्ञा है।
८—Nicotine.
९—Pellagre.
१०—Pellagre-Preventive.
११—P. P. Factor.
१२—Symmetrically—सिमेट्रिकली; समान स्थलों पर।
१३—Dermetitis—डर्मेटाइटिस।
१४—Degeneation—डिजेनरेशन।
१५—Dementia—डिमेन्शिया।
१६—Diarrhea.

न्शिया (मनःक्षय)। तीनों लक्षण प्रत्येक रोगीमें हों, यह नियत नहीं। एक या दो भी हो सकते हैं[१]। मकई खानेवाली प्रजामें यह विशेष देखा जाता है।

जीवनीय बी$_3$ एक प्रकारका सहकारो एन्ज़ाइम[२] है और कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाकमें महत्त्व-का भाग लेता है। इसके अयोगसे होनेवाले विकारोंमें अन्य जीवनीयोंका भी हीनयोग होता ही है। इसी कारण पाश्चात्य चिकित्सामें, सभी जीवनीय बी[३] मिश्र रूपसे इन विकारोंमें दिये जाते हैं। अनछना आटा और यीस्ट इसके उत्तम आश्रय हैं। यीस्टमें बी के अन्य भेद भी पुष्कल होते हैं। यकृत, रूक्ष (वसारहित) मांस, हृदय और उद्भिदोंमें भी यह जीवनीय पर्याप्त होता है। तापको यह अपेक्षया अधिक सहन कर सकता है और राँधते हुए नष्ट नहीं होता। तथापि जल-विलेय अन्य जीवनीयोंकी भाँति पकाते समय उद्भिदोंका पानी फेंक दिया जाय तो पानीके साथ यह भी निकल जाता है।

जीवनीय बी$_6$—

इसे पायरीडॉक्सिन[४] भी कहते हैं। इसका हीनयोग होनेपर कुछ पैलेग्रा-जैसे ही चिह्न उदित होते हैं—यथा, शाखाओंमें शोथ तथा व्रण सहित वेदना ; पञ्जों, नासिका, कर्णपाली तथा ओष्ठोंके आसपासकी त्वचाकी शीर्णता (मृत्यु)। वृद्धिका ह्रास होनेके लक्षण भी देखे गये हैं। कुत्तोंमें एक प्रकारका पाण्डुरोग भी पाया गया है।

जल-विलेय स्कर्वी-प्रतिबन्धक जीवनीय सी[५]—

इस जीवनीयका हीनयोग होनेपर स्कर्वी[६] (पर्याय-स्कॉर्ब्युटस)[७] नामक रोग होता है। अतः इसे ऍस्कॉर्बिक एसिड[८] या एएटीस्कॉर्ब्युटिक वाइटेमिन सी भी कहते हैं।

स्कर्वी[९] होनेपर केशिकाएँ भंगुर हो जाती हैं, जिससे ये विदीर्ण होती हैं तथा त्वचा, श्लेष्मकला, अस्थिधरा कलाके नीचेका स्थान, सन्धियों तथा अन्य लसीकास्रावी आशयों एवं शरीरके अन्य भागोंसे रक्तस्राव होता है। इन स्थलोंमें रक्तका संचय हो जानेसे अस्थि, संधि आदिमें तीव्र शूल होता है। रक्तस्राव विशेषतया दन्तवेष्टों (मसूढ़ों) से होता है और दाँत शिथिल हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, गर्भावस्थामें मध्यचर्मसे उत्पन्न होनेवाले अवयवों यथा, श्वेत तन्तुमय योजकधातु, अस्थि, दन्त, कण्डरा तथा मांसपेशियोंकी पुष्टि रुक जाती है। परिणामतया ये अवयव अपना सहज आकार प्राप्त नहीं कर पाते, न ही उनमें स्वजाति-सिद्ध दृढ़त्व, घनत्व तथा स्थिति स्थापकत्व पुष्ट हो पाता है।

१—अबतक विचार नहीं कर पाया हूँ कि, आयुर्वेदके किस रोगसे पैलेग्राका साम्य है ; अतः नाम तथा लक्षण नव्यमतानुसार ही दिये हैं। २—Co-enjyme—को-एन्ज़ाइम।

३—Vitamine B complex—वाइटेमिन बी कॉम्प्लेक्स। ४—Pyridoxine.

५—Water-soluble anti scorbutic vitamin C—वॉटर-सॉल्युबल एण्टी कॉर्ब्युटिक वाइटेमिन सी।

६—Scurvy। ७—Scorbutus। ८—Acorbic acid।

९—स्कर्वीका भी आयुर्वेदरीत्या विचार अबतक नहीं किया है। अतः नाम-लक्षण नव्यमतानुसार ही दिये हैं। कई विद्वान् इसे आयुर्वेदका 'रक्त-पित्त' मानते हैं। स्मरण रहे, प्रचलित गुजरातीमें 'रक्तपित्त' शब्द महाकुष्ठके लिए रूढ़ है। वैद्यकका रक्तपित्त इससे भिन्न है।

अस्थियोंकी इस विकृतिके कारण उनके टूटने (अस्थिभग्न[1]) की शक्यता रहती है। उक्त अवयवोंकी अपरिपुष्टिके लक्षण बच्चोंमें विशेष देखे जाते हैं। उनमें जीवनीय डी का हीनयोग होनेपर भी अस्थियोंकी पुष्टि-सम्बन्धी विकृति होती है, यह इस प्रसंगमें स्मरण रखना चाहिए। व्रणोंके रोहण और भग्न अस्थियोंके पुनः संयोजनमें जीवनीय सी की विशेषतया आवश्यकता होती है। इसका हीनयोग होनेपर धातुओं द्वारा ओषजनके ग्रहणकी मात्रा न्यून हो जाती है। देखा गया है कि, जो पुरुष शस्त्रकर्म-साध्य राजयक्ष्मा (जिसमें उरःक्षत होकर कोटर बन गये हों) तथा जीर्ण आमवातसे पीड़ित होते हैं उनमें जीवनीय सी की अल्पता होती है। इसी कारण वे इन रोगोंसे शीघ्र मुक्त नहीं होते। इन रोगियोंको फल देनेका विधान इसी लिए है कि फलोंमें जीवनीय सी पुष्कल होता है, जो अपने उल्लिखित गुणोंके कारण व्रणरोपणादिमें उपयोगी होता है।

नवीन अन्वेषणसे जीवनीय सी का यह राजयक्ष्माकी चिकित्सामें उपयोगी कर्म भी ज्ञात हुआ है कि, अन्नपानमें इसकी विद्यमानता होनेपर अन्त्रकला द्वारा सुधा (कैल्शियम) का अधिकतम ग्रहण होता है। राजयक्ष्माके व्रणोंके एक प्रकारके रोहणके लिए सुधा भी आवश्यक है। अन्नपान द्वारा यथेष्ट मात्रामें शरीरमें सुधा जाय तो व्रणोंका रोहण उत्तम हो सकता है। इसीलिए, आयुर्वेदमें राजयक्ष्मामें मुक्ता, प्रवाल आदि सुधाके योगोंके साथ आमलाका योग च्यवनप्राश दिया जाता है। जैसा कि आगे कहेंगे, आमला जीवनीय सी का सर्वोत्तम आश्रय है। एवं, प्रवालकी पिष्टि बनाते हुए जम्बीर-स्वरसकी भावना देना भी विज्ञान-संमत है।

राजयक्ष्माके कोटरोंके द्वितीय प्रकारके रोहणमें योजक धातुकी वृद्धि अपेक्षित होती है।

जीवनीय सी का समयोग होनेपर योजक धातुकी भी वृद्धि होती है, यह ऊपर कह आये हैं। जीवनीय सी का हीनयोग होनेपर पुष्टि सम्यक् न होनेसे पुरुष क्षीण और अति दुर्बल होता जाता है। क्षुधानाश, पाण्डुरोग, श्रमश्वास, (शीघ्र हाँफ चढ़ना), चिड़चिड़ापन, हृद्द्रव (हृदयके स्पन्दकी अधिकता) आदि भी जीवनीय सी के हीनयोगसे हो सकते हैं। उक्त विकारोंके कारण क्षमताका ह्रास होनेसे अन्तमें संक्रामक रोग भी हो सकते हैं।

स्कर्वी समुद्रयात्रियों तथा नाविकोंमें किंवा उनके समान ही ऐसी परिस्थितिवाले पुरुषोंमें, जो फलों तथा शाकोंसे चिरकालतक वञ्चित रहते थे, बहुत पाया जाता था। प्रसिद्ध यात्री वास्कोडिगामाने उत्तमाशा अन्तरीपकी प्रसिद्ध यात्रामें १६० में से १०० पुरुष इसी रोगके कारण खो दिये थे। इस रोगमें फल तथा शाकभाजी देनेसे गुण होता है, यह भी बहुत पूर्व ज्ञात हो चुका था, परन्तु इसका यथार्थ रहस्य तो जीवनीयोंके आविष्कारोंके अनन्तर ही ज्ञात हुआ।

पेटेण्ट भोजनोंपर रहनेवाले बालकों या अमुक ही नियत अन्नपानपर रखे गये रोगियोंमें भी स्कर्वीका होना सम्भव है।

जीवनीय सी ताजे विशेषतः हरे उद्भिदों साइट्रस[2]—कुलके फलों (संतरा, द्राक्षा, नीबू,) टमाटर, हरे पत्रशाकों, अंकुरित धान्यों तथा उद्भिदोंके इसी प्रकार वृद्धिशील अन्य भागोंमें सविशेष होता है। यह जीवनीय बहुत ही अस्थिर है। अल्पमात्र तापसे, किंवा काटनेसे यह नष्ट हो जाता है। क्षारोंकी अपेक्षया अम्ल द्रव्योंकी उपस्थितिमें यह कुछ स्थिर होता है। इसी कारण फलों और पत्रशाकोंको पकाये विना खानेका आरोग्यशास्त्री विशेष आग्रह करते हैं। क्षार द्रव्यकी

१—Fracture—फ्रैक्चर।

२—Citrus।

विद्यमानता जीवनीय सी की नाशक होनेसे जीवनीय बी के समान इसकी भी स्थिरताके लिए अन्नपानमें पापड़खार डालना उचित नहीं है।

जीवनीय सी अन्नपानको पकानेसे नष्ट हो जाता है, इस दृष्टिसे भोजनको कच्चा ही खानेकी सलाह नहीं दी जा सकती। कारण, अनेक दृष्टियोंसे अन्नपानको अग्निपक्व करके ग्रहण करना अभीष्ट है। जीवनीय सी की पूर्ति तो उसके आश्रयभूत फलोंको कच्चा ग्रहण करनेसे हो सकती है। फल तथा पत्रशाक भी, विशेषतया टायफॉयड आदि मरकोंका प्रादुर्भाव होने पर, पोटाशियम परमेगनेटके पानीसे धोकर खाने चाहिये, ऐसा मनीषियोंका मन्तव्य है।

"नवीन अन्वेषणोंसे विदित हुआ है कि जीवनीय सी आमलेमें सबसे अधिक होता है। आमलेके ताजे रसमें संतरेके रसकी अपेक्षया जीवनीय सी बीस गुणा अधिक होता है। आमलेके एक फलमें यह तत्त्व एक या दो संतरेके बराबर होता है। अधिकांश ताजे फलों और शाकोंको गरम करने और सुखानेसे उनका जीवनीय सी का अधिकांश भाग नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्ध में आमला अपवाद है। इसमें तीन कारण हैं। प्रथम सी की मात्रा अत्यधिक होना दूसरा उसमें कुछ ऐसे तत्त्व होना जो 'सी' को नष्ट होनेसे बचाते हैं, तीसरा आमलेका खट्टा रस जो सी का रक्षक है। इसीलिए आमलेको अधिक समय तक सुरक्षित रखने पर भी उसमें जीवनीय सी पर्याप्त मात्रामें रह सकता है। १९४० में हिसारमें हुए दुर्भिक्षमें स्कर्वीके लिए आमलेके उपचारकी अत्यधिक उपयोगिता प्रकट हुई थी। आमलेके चूर्णसे बनी गोलियोंमें जीवनीय सी सार रूपमें वर्तमान रहता है। जीवनीय सी प्राप्त करनेके लिए यह बड़ा सुविधापूर्ण उपाय है।"

—भारतीय समाचार, १५ मार्च, १९४२ के अङ्कसे

'आमलेके इन गुणोंका तथा जीवनीय सी के हीनयोगसे होनेवाले उल्लिखित लक्षणोंका एक साथ विचार करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदमें आमलेका जो इतना विधान है, नव्य विज्ञान उसका प्रबल समर्थक है।

हॉवेल लिखता है कि जीवनीय सी के आश्रयभूत ज्ञात प्राकृतिक द्रव्योंमें कृष्ण मरिच[1] सबसे अधिक सम्पन्न है।

जीवनीय सी का रासायनिक नाम 'एस्कॉर्बिक एसिड' है, यह ऊपर कहा है। इसे कृत्रिम स्फटिकोंके रूपमें तय्यार भी किया जाता है।

जीवनीय पी[2]—

यह नीबूके स्वरसमें होता है। केशिकाओंसे होनेवाले रक्तस्रावके कई रोगियोंमें 'एस्कॉर्बिक एसिड' की अपेक्षया यह अधिक गुणकारी देखा गया है। इसे सिट्रिन[3] भी कहते हैं।

जीवनीय एच[4]—

यह जीवनीय उद्भिद्-जगत्में अति व्याप्त है। बीजोंमें इसका प्रमाण विशेष होता है।

१—देखिये—Peppers constitute the richeth known naturel souree of this factor (Vitemin C)—Textbuk of puysiology (1946), P. 10/18

२—Vitemin P.

३—Citrin.

४—Vitemin H.

हीनयोग होनेपर चूहोंमें उत्तरोत्तर कृशता, त्वचाका पाक[1] और मृत्यु—ये लक्षण देखे जाते हैं। मनुष्योंमें नीचे लिखे लक्षण होते हैं—अङ्गसाद (ग्लानि, सुस्ती)[2], तन्द्रा, त्वचाका वर्ण श्याम (राख-जैसा) होना, त्वचा पोछेसे शुष्क और आ-रक्त होना, यौवनपिडका तथा फोड़े-फुन्सियोंकी प्रवृत्ति। इस जीवनीयका रासायनिक नाम बायोटिन[3] है।

आयुर्वेदकी पथ्यापथ्य-मीमांसा और जीवनीय—

आधुनिक विज्ञानके मतसे जीवनीयोंका विचार पूर्ण हुआ। हमने आधुनिक आहार-शास्त्रका विवरण कुछ विस्तारसे किया है। इसलिए कि इस विषयके आधुनिक अन्वेषणोंने आयुर्वेदके पथ्यापथ्य-विचारको बलवान् वैज्ञानिक भित्तिपर खड़ा कर दिया है। पथ्य-विषयक लोलिम्बराजकी यह सदुक्ति वैद्यमात्रके मुखपर चढ़ी हुई है—

पथ्ये सति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥ वैद्यजीवन

"पथ्य हो तो औषधियाँ निष्प्रयोजन हैं (उनकी आवश्यकता ही नहीं)। पथ्य न हो तो भी औषधियाँ निष्प्रयोजन हैं (उनका कोई फल ही नहीं)।" चिकित्साकालमें पथ्यापथ्य-विचार करते हुए आधुनिक आहार-शास्त्रके सिद्धान्तोंको भी स्मरण रखें, तो नवीन प्रकाश उपलब्ध हो सकता है। दृष्टान्तके रूपमें, अश्मरी (पथरी) या रात्र्यन्धके रोगियोंको विशुद्ध दूध तथा आनाह (विबन्ध) और तज्जन्य रोगोंसे ग्रस्त पुरुषोंके लिए सेल्युलोजमय आहारका सेवन ही औषध रूप है।

परन्तु स्मरण रहे, आयुर्वेदकी पथ्य-मीमांसा कहीं विशाल है। उसका बड़ा भाग शत-शत विद्वानोंके अविराम उद्योगोंके होते हुए भी अस्पष्ट पड़ा है। इसलिए विद्यार्थीको आयुर्वेदके शब्दोंमें ही आयुर्वेदीय पथ्य-तत्त्वका अनुशीलन करना चाहिए और जहाँ सम्भव हो, वहाँ उसकी नव्य-मतानुसारी व्याख्या उपलब्ध करनी चाहिए।

आयुर्वेदकी भूताग्नियाँ और आधुनिकोंके जीवनीय—

आयुर्वेदीय दृष्टिसे जीवनीयोंका विचार करने पर आयुर्वेदमें जिन्हें 'भूताग्नि' कहा जाता है, उनका कुछ साम्य जीवनीयोंके साथ देखा जा सकता है। अधिकांश जीवनीयोंकी क्रियाका प्रकार देखनेसे विदित हुआ है कि, अंग्रेजीमें जिन्हें 'एञ्जाइम[4]' और 'को-एञ्जाइम[5]' कहा जाता है, उस श्रेणीके ये द्रव्य हैं। द्रव्योंकी इस श्रेणीका स्वरूप तथा भूताग्नियोंका आयुर्वेद-मतसे सप्रमाण निरूपण आगे आहारके जठरानल द्वारा पाकके अधिकारमें करेंगे। यहाँ तुलनाके सौकर्यके लिए संक्षेपमें विचार करते हैं।

आधुनिक रसायन-शास्त्रमें 'कैटेलिस्ट'[6] या 'कैटेलाइज़र'[7] नामक द्रव्योंका एक प्रकार वर्णित है। 'कैटेलिस्ट' उन द्रव्योंको कहते हैं, जो रासायनिक क्रियामें स्वयं भाग नहीं लेते—रासायनिक क्रियासे उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता, परन्तु उनके सान्निध्य (विद्यमानता) मात्रसे रासायनिक क्रियाका वेग अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, प्रकृतिमें कितने ही

१—Dermatitis—डर्मेटाइटिस। २—Lassitude—लैसीट्यूड।
३—Biotin. ४—Enzyme; पर्याय—Zymase—ज़ाईमेज़।
५—Co-enzyme. ६—Catalyst. ७—Catalyzer.

रासायनिक परिवर्तनोंका कारण 'कैटेलिस्ट'-सदृश क्रिया करनेवाले द्रव्य हैं, जिन्हें 'एन्ज़ाइम' और प्राचीन संज्ञाका प्रयोग करें, तो 'फर्मेण्ट'[1] कहते हैं। आसव-अरिष्ट आदिका संधान, शुक्त (सिरका) बनना, दूधका दहीमें परिणमन, कोथ (सड़ांद)[2] तथा शरीरमें विभिन्न जीवाणुओं द्वारा पूयोत्पादन एञ्जाइमोंके कारण ही होते हैं। ये एञ्जाइम तत्-तत् जीवाणु द्वारा बनाये जाते हैं।

प्राणि-शरीरमें महास्रोतस्के लालारस आदि अधिकांश पाचक पित्तोंकी क्रिया तदन्तर्गत अपने-अपने एन्जाइम द्वारा होती है। इनके प्रभावसे अन्नपान जब रस-रूपमें परिणत होकर शरीर-कोषोंमें पहुंचता है, तो कोष भी अपने-अपने इसी प्रकारके एञ्जाइमों द्वारा रसगत विभिन्न द्रव्योंपर विभिन्न क्रियाएँ करते हैं। इस प्रकार कोषोंमें, परम्परया शरीरमें, तत्-तत् रासायनिक क्रिया होती है।

प्रत्येक एञ्जाइमका एक-एक सहकारी द्रव्य होता है, जिसके बिना एञ्जाइम अकिंचित्कर होता है। इस द्रव्यको 'को-एञ्जाइम' कहते हैं। स्वयं को-एञ्जाइम भी एञ्जाइमके बिना कोई क्रिया नहीं कर सकता।

प्रायः जीवनीय 'एन्ज़ाइम' या को-एन्ज़ाइम' वर्ग के हैं, तथा शरीर की विभिन्न रासायनिक क्रियाओंके प्रवर्तक हैं। बी$_1$ या थायमिन, बी$_2$ या रिबोफ्लेवीन, बी$_3$ या निएसिन तथा सी स्पष्ट ही ऐसे द्रव्य हैं। जीवनीय डी इस श्रेणीका द्रव्य तो नहीं, परन्तु सुधाके आत्मसात्करणका हेतु होनेसे इन द्रव्योंके सदृश धातुपाकमें भाग लेता है। जीवनीय ई का उद्दीपक प्रभाव पोषणिका ग्रन्थिपर और परम्परया जनन-ग्रन्थियोंपर होता है। ये जीवनीय तत्-तत् आश्रय द्रव्यमें रहते तथा उनके साथ कोषोंमें जाकर उनके 'एन्ज़ाइम' या 'को-एन्जाइम'-रूप होकर तत्-तत् रासायनिक क्रिया करते हैं।

आयुर्वेदोक्त भूताग्नियोंका विचार करें, तो विदित होगा कि आहार-द्रव्योंमें उनके पार्थिव आदि तत्त्वोंके पाचनार्थ पृथक्-पृथक् अग्नि होता है। प्रत्येक भूत का पाचक एक, इस प्रकार कुल पाँच भूताग्नि होते हैं। ये प्रकृत्या आहार-द्रव्योंमें रहते हैं। इनकी क्रियासे इनके आश्रय-द्रव्यान्तर्गत पार्थिव आदि अंश पचकर शरीरमें पहुंचते हैं, तो उनके साथ प्रत्येक अग्नि भी धातुओं (कोषों) में पहुंचता है। इस प्रकार जो भूताग्नि बाह्य प्रकृतिके अङ्ग थे, वे शरीरकी धात्वग्नियों के भी अङ्ग बनते हैं। धात्वग्नियाँ इनसे भिन्न होती हैं। जैसा कि यथावसर देखेंगे; इन धात्वग्नियोंकी तुलना आधुनिकों के विभिन्न अन्तःस्रावोंके साथ तुलना की जा सकती है। जीवनीयों और भूताग्नियोंमें यह साम्य है कि दोनों बाह्य प्रकृतिसे शरीरावयवों को प्राप्त होते हैं तथा पाक अर्थात् रासायनिक परिवर्तनोंके हेतु होते हैं। कोषोंमें जीवनियोंके अतिरिक्त अन्य भी एन्ज़ाइम होते हैं। प्रत्येक एन्ज़ाइम एक-एक नियत द्रव्यपर क्रिया करता है। पार्थिवादि भूताग्नि भी पार्थिवादि एक-एक द्रव्यपर क्रिया करते हैं।

जीवनियोंका आयुर्वेद-मतसे विचार करते हुए और एक बात ध्यानमें आती है। जिन औद्भिद् तथा जङ्गम-द्रव्योंको आयुर्वेदमें ओज और श्लेष्माका वर्धक कहा है, वे नव्यमतानुसार जीवनीय ए, डी के तथा ई के योनि-(आश्रय) भूत द्रव्य प्रतीत होते हैं। जो द्रव्य पित्तके शामक कहे हैं, वे जीवनीय सी के; तथा जो वायुकी वृद्धि करके उसे सम प्रमाणमें लानेवाले हैं, वे जीवनीय बी वर्गके द्रव्य प्रतीत होते हैं।

जीवनीयोंके इतने विवरणके साथ क्रियाशारीरका एक अङ्ग समाप्त होता है। अन्नपानका

१—Ferment.

२—Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन।

आयुर्वेद-मतसे विचार करें या नव्य-मतसे, दोनों का आशय यह है कि, आरोग्य और आयुकी अनुवृत्ति-के लिए उक्त आहार-द्रव्यों का सम (यथावश्यक) प्रमाणमें सेवन करना चाहिये। परन्तु, कहा जा चुका है कि, आहार-द्रव्योंकी समता ही यथेष्ट नहीं। अग्निकी समता और उसकी क्रियासे अन्नपानका सम्यक् परिपाक न हो, तो अन्नपानका साम्य निष्प्रयोजन है[1]। अग्नि (प्रधानतः जठराग्नि) द्वारा अन्न-पानके परिपाकका फल यह होता है कि, अन्नपानगत गुण तथा उसके पार्थिवादि अंश धातुओंके गुणों और पार्थिवादि अंशोंका अङ्ग बनते जाते हैं—उन्हें पुष्ट करते जाते हैं। विधिविहित अन्नपानका शरीरधातुओं द्वारा ग्रहण और अपने-अपने कार्यमें विनियोग जानो किसी भवनकी सामग्रीसे नया भवन खड़ा करना है। नया भवन तय्यार करनेके लिए प्रथम भवनको तोड़ना और पश्चात् उसके ईंट, पत्थर, कपाट आदिको नये सिरेसे, नयी पद्धतिसे, नये स्थानोंपर निवेशित करना होता है। आहारगत प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदिको भी इसी क्रममेंसे गुजरना पड़ता है। भाषामें इस क्रमको 'भोजनका पचना' कहते हैं। इस भूमिका द्वारा हम क्रियाशारीर के अन्य अङ्गमें प्रवेश करते हैं। अगले अध्यायोंमें हम अन्नपानके परिपाकका प्राच्य-पाश्चात्य—उभय मतानुसार विचार करेंगे।

१—देखिए, पृष्ठ १३०—१३७।

पन्द्रहवाँ अध्याय

अथात आहारपरिणामविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

आहारसे अन्नरसकी उत्पत्ति—

पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसोपेतस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः 'स रस' इत्युच्यते । तस्य हृदयं स्थानम् । स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगादश दशाधोगामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्द्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा × × × ॥ सु० सू० १४ । ३

× × चतुर्विधस्येति पेयलेह्यभोज्यभक्ष्यभेदेन × × । उपयुक्तस्येति सम्यक्परिणतस्येत्यनेनैवोपयुक्तपदार्थस्य लब्धत्वाद्यदुपयुक्त ग्रहणं करोति तत् सम्यग्योगं स्वास्थ्यवृत्तीय द्वादशविधाशन प्रविचारमपेक्ष्योपयोगं प्रापयति । तेजोभूत इति तेजसा भूतो वह्निसंभूत इत्यर्थः । अन्ये तु तेजःशब्देन घृतमाहुः, तत्र तेजोभूतो घृतवदुत्पन्न इत्यर्थः । अन्ये तु वदन्ति भूतशब्दोऽत्रोपमानार्थः, तत्र तेजोभूतो घृताकार इत्यर्थः । सार इति विडादिमल रहितः । परमसूक्ष्म इति अतिशयेनास्थूलावयवः, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारीत्यर्थः । रसस्य स्थानमाहतस्येत्यादि । तस्य रसस्य सर्वदेहानुसारित्वेऽपि हृदयं स्थानम् । × × तर्पयतीति बालमध्यःस्थविरान् सर्वानेव प्रीणयति । वर्धयतीति बालं, धारयतीति मध्यं, यापयतीति वृद्धं क्षीयमाणदेहत्वात् । × × अदृष्टहेतुकेन कर्मणा प्राक्तनकर्मणा ॥ —डह्लन

गत अध्यायमें कहा है कि जैसे-जैसे आहारका परिणाम (परिपाक) होता जाता है, वैसे-वैसे उसके गुण शरीरके गुण होते जाते हैं—अन्य शब्दोंमें कहना हो तो आहारके पक्वांश शरीर धातुओंके अंश होते जाते हैं । परिणामके क्रम में प्रथम जो द्रव्य बनता है, उसे 'अन्नरस' अथवा केवल 'रस' कहते हैं ।

स्वरूपकी दृष्टिसे पार्थिवादि पाँच, पेय-आदि-भेद से चार, रस-भेदसे छः एवं वीर्य-भेदसे दो अथवा आठ प्रकारका आहार स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंके अनुसार सेवन किया जाकर जब महास्रोतस्में प्रथम पाचकाग्नि (पाचकपित्त) के संयोगमें आता है, तब उसके प्रभावसे सम्यक् पक्व होकर घृततुल्य स्वरूप (द्रवत्व, वर्ण और स्निग्धत्व) प्राप्त करता है । पाचकाग्निकी क्रियासे वह अति सूक्ष्म अर्थात् सूक्ष्म स्रोतोंमें प्रवेशके योग्य हो जाता है । पुरीष आदि मल इससे पृथक् कर दिये जानेपर इसका जो सार-भाग रहता है, उसे अन्नरस या रस कहते हैं । यह रस हृदयमें और वहाँसे चौबीस धमनियोंद्वारा[1] सर्वशरीरमें पहुँचकर शरीरका नित्य तर्पण, धारण और यापन (शरीरको चालू रखना) करता है । रस क्यों, कितना और कबतक शरीरमें अनुसरण करके तर्पणादि कर्म करता है, उसका कारण पुरुषके प्राक्तन कर्म हैं ।

१—प्रत्यक्षानुसार हृदयसे प्रथम एक महाधमनी निकलती है । उसकी कौन-सी मूल शाखाओंकी परिगणना करके चौबीस धमनियाँ लिखी गयी हैं, यह विषय विचारणीय है । चरक और वाग्भटमें हृदयसे दस धमनियाँ निकलती हैं, ऐसा कहा है ।

रसके सूक्ष्म स्रोतोंमें अनुप्रवेशकी योग्यताका अर्थ यह है कि, तद्गत प्रोटीनें एमाइनो एसिडोंके रूपमें, स्नेह स्नेहाम्लों और ग्लिसरोल (ग्लिसरीन) के रूपमें तथा कार्बोहाइड्रेट प्रधानतया द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इन रूपोंमें प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट जलमें विलेय हो जाते हैं। विलीन—द्रवीभूत-अवस्थामें ग्रहणीकी कलाकी केशिकाएँ इन्हें ग्रहण कर सकती हैं और ग्रहण करके प्रथम प्रतिहारिणी-सिरा द्वारा यकृत्में, यकृत्से तीन याकृती-सिराओं[1] में, वहाँसे अधरा महासिरा[2] में, उसके द्वारा हृदयमें और हृदयसे रक्त द्वारा सर्वाङ्गमें पहुंचाये जाते हैं। स्नेहाम्ल तथा ग्लिसरोल रासायनियों[3] द्वारा ग्रहण क्रिये जाकर पुनः स्नेहोंके रूपमें संश्लिष्ट किये जाते हैं। इस प्रकार बने सूक्ष्म स्नेह-बिन्दु इन रसायनियों से रस-प्रपा[4] नामक एक बड़ी रसवाहिनीमें पहुंचते हैं। पश्चात् रस और नील[5] रक्तकी अगली-अगली वाहिनियोंमें पहुंचनेके क्रममें क्रमशः वाम रस-कुल्या[6], वाम गलमूलिका सिरा[7], उत्तरा महासिरा[8] और अन्तमें हृदयके दक्षिण-अलिन्द (ग्राहक कोष्ठ)[9] में पहुंचते हैं। हृदय इन्हें सर्वाङ्गमें प्रसृत कर देता है।

स्नेहोंके आदानके समय उनके नैसर्गिक वर्णके कारण उन्हें ग्रहण करनेवाली मूल रसायनियोंका वर्ण दुग्ध-सदृश होता है। अतः इन्हें पयस्विनी[10] कहा जाता है। अन्य समयमें इनमें इतर रसायनियोंके सदृश तनु और अच्छ (पतला और पारदर्शक) रस रहता है।

प्रोटीन आदिको ग्रहण करनेवाली केशिकाएँ तथा रसायनियाँ क्षुद्रान्त्रोंके अन्दरकी कलामें उभरी हुई अति सूक्ष्म-अंकुरिकाओंमें विद्यमान होती हैं। इन अंकुरिकाओंको रसांकुरिका[11] कहा जाता है। उक्त प्रोटीनादिका पक्व (परिणत) रूपमें ग्रहण इन अंकुरिकाओं द्वारा होता है। शेष खनिज द्रव्य, जीवनीय तथा जल स्व-रूपमें ही अन्त्रोंके कोषों द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं।

इस प्रकार महास्रोतस्में आहार द्रव्योंके पाकका एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्म रूपान्तर देना है। पाकका अन्य भी प्रयोजन इन द्रव्योंको अनपायी (अहानिकर) बना देना है। कारण प्रोटीन अथवा स्नेहोंको स्व-रूपमें ही रक्तमें प्रविष्ट किया जाय, तो उनकी विजातीयताके कारण अनेक अनिष्ट परिणाम यहाँ तक कि मृत्यु भी होना सम्भव है।

आहारके परिपाकके उपकरण—

अन्नपानका परिणाम (परिपाक) अग्नि किंवा पाचक पित्तके प्रभावसे होता है, यह ऊपर

१—Hepatic veins—हिपैटिक वेन्स।

२—Inferior vena cava—इन्फीरिअर वीना कावा।

३—Lymph-vessels—लिम्फ-वेसल्स; या Lymphatic vessels—लिम्फैटिक वेसल्स, या केवल Lymphatics—लिम्फैटिक्स। इन्हें रसवहा या रसवाहिनी भी कहते हैं। रसायनी, रसवहा, रसवाहिनी तीनों नाम प्राचीन हैं; देखिये—च० वि० ५।८ (४)—९।

४—Cisterna Chyli—सिस्टर्ना काइली।

५—Venous—वीनस (अशुद्ध)।

६—Thoracic duct—थौरेसिक डक्ट।

७—Left innominate vein—लेफ्ट इनॉमिनेट वेन।

८—Superior vena cava—सुपीरिअर वीना कावा।

९—Right auricle—राइट ऑरिकल; अथवा Right atrium—राइट एट्रियम।

१०—Lacteal—लैक्टीअल; Lac—लैक=दूध।

११—Villus—विलस; बहुवचन Villi—विलाई।

कहा है। परन्तु केवल अग्नि ही अन्नपानके परिपाकमें निमित्तभूत नहीं है। इस क्रियामें निम्नोक्त अन्य भी कारण होते हैं। इनमें अग्नि मुख्य है, शेष सामग्री उसकी सहकारी है, यह सत्य है।

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा—ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति। तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति। तद्यथा ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति, समयोगस्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते॥ च० शा० ६।१४-१५

×× काल इति पाककालो निशावसानादि रूपः। समयोग इत्याहारस्य प्रकृत्याद्यष्टाहारविधिविशेषायतनसम्यग्योगः। अत्र चाहारपरिणामकरेषु ऊष्मैव साक्षात् पाके व्याप्रियते, वाय्वादयस्तु तस्य पचतो व्यापारविशेषेण सहायतां यान्तीति दर्शयन्नाह—तत्रेत्यादि। वायुरपकर्षतीति ऊष्मस्थानाद् विदूरस्थितमन्नमूष्मसमीपं नयति। यदुक्तम्—'अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति' (च० चि० १५।२) इति। वायुरपकर्षतीत्युपलक्षणं, तेन अग्न्युत्तेजनमपि समानाख्यस्य वायोर्बोद्धव्यम्। उक्तं हि-'समानेनावधूतोऽग्निः ··· पचति' (च० चि० १५।७) इति। पर्याप्तिमिति पाकनिष्पत्तिः; सत्यप्यूष्मादि व्यापारे कालवशादेव पाको भवति, नोष्मादिव्यापारमात्रादिति भावः। समयोगस्त्वेषामिति एषामाहारद्रव्याणां प्रकृत्यादीनां यः समयोगः स परिणामकरो धातुसाम्यकरश्च भवति। यदा हि प्रकृत्यादिविरुद्ध आहारो भवति, तदा प्रकृत्यादिदोषादेव न सम्यक्परिणामो भवति। एतदूष्मादिव्यापारप्रतिपादकं ग्रन्थान्तरं यथा—'अन्नमादानकर्मा तु ×××॥ —चक्रपाणि

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥
समानेनाऽवधूतोऽग्निरुदर्यः पवनोद्वहः।
काले भुक्तं समं सम्यक्पचत्यायुर्विवृद्धये॥
एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधः स्थितः।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम्॥

संप्रति संप्राप्तस्यान्नस्याग्निना यथा पाको भवति, यथा च पच्यमानमन्नं देहधात्वादिरूपतामापद्यते तदाह-अन्नमित्यादि। मुखप्रवेशादारभ्यान्नस्य व्यापार इहोच्यते। आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य स तथा, प्रकर्षतीति नयति। द्रवैरिति पानीयादिभिः। भिन्नसंघातमित्यवयवशैथिल्यमापन्नम्। काले इति बुभुक्षाकाले। भुक्तं सममिति मात्राप्रकृत्यादिसमम्। समानेनावधूत इति अग्निपार्श्वस्थितेन समानेन संधुक्षितः। अयं च समानः प्राकृतत्वाद् बाह्यो वायुरिव अग्नेः संधुक्षणो भवति न वैषम्यकरः, विकृतस्तु वैषम्यं करोति; तेन वातेन विषमोऽग्निर्भवतीति चोपपन्नं भवति। एते च द्रवादयः पाचकस्याग्नेः सहाया भवन्तीत्यनेन ग्रन्थेनोच्यते। 'आहारपरिणामकराः ×××। उदर्यः पाचक इत्यर्थः।××। सम्यग्ग्रहणेन तु प्रकृत्यादिसंपदुच्यते। आयुर्विवृद्धये इति शरीरेन्द्रिय सत्त्वात्मसंयोगानुवर्तनाय तद्विवृद्धये च। रसमलाय इति तादर्थ्ये चतुर्थी। आशयस्थमिति आमाशयस्थम्। अधःस्थित इत्यनेन अग्नेरूर्ध्वज्वलनस्वभावतया ऊर्ध्वस्थान्नपाके सामर्थ्यं सूचयति। अत्रार्थे यथेत्यादिना दृष्टान्तमाह॥ —चक्रपाणि

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः ।
सौक्ष्म्याद् रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥
प्राणापानसमानैस्तु सर्वतः पवनैस्त्रिभिः ।
ध्मायते पाल्यते चैव स्वां स्वां गतिमवस्थितैः ॥

सु० सू० ३५।२७-२८

× × भगवानिति माहात्म्यवान् । सूक्ष्मत्वान्न दृश्यते; कार्यैरनुमीयते । सौक्ष्म्यात् अणिमादि गुणयुक्तत्वात् । रसान् मधुरादीन् । आददान इति पक्तुं गृह्णन् । विवेक्तुं नैव शक्यत इति साक्षान्नोपलभ्यते । अपितु अन्नपाकलक्षणेन कार्येणानुमीयतेऽस्त्यग्निरिति । यथा बाह्यस्याग्नेर्वायुः सहायो भवति तद्वज्जाठरस्यापि वायुसहायत्वं दर्शयन्नाह–प्राणेत्यादि । × × ध्मायते प्राणापानभ्यां, पाल्यते समानेन । स्वां स्वां गतिमवस्थितैः स्वस्याः स्वस्याः क्रियायाः कारकैरविकृतैरित्यर्थः ॥ —डल्हन

तत्र खल्विमानि अष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति ; तद्यथा—प्रकृतिकरण संयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि ॥ च० वि० १।२४

आहारस्य विधिः प्रकारो विधानं चेत्याहारविधिः, तस्यविशेषो हितत्वमहितत्वं च, तस्यायतनानि हेतून् इत्याहारविधिविशेषायतनानि । आहार प्रकारस्य हितत्वमहितत्वं च प्रकृत्यादिहेतुकमित्यर्थः । उपयोक्ता अष्टमो येषां तान्युपयोक्त्रष्टमानि ॥ —चक्रपाणि

आहारके परिणाममें भाग लेनेवाले पदार्थ संक्षेपमें निम्न हैं--ऊष्मा (पाचकाग्नि और उष्णत्व) वायु, क्लेद (द्रवत्व), स्नेह, काल और समयोग अर्थात् स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंका पालन करते हुए अन्नपानका सेवन । इनका उभयमतानुसार क्रमशः विवेचन करते हैं ।

अन्नपानकी पाचक इस सामग्रीमें पाचकाग्निका ऊष्मा प्रमुख है । शेष वायु आदि उसके सहकारी हैं । बाह्य अग्निके प्रभावसे जैसे स्थाली (बटलोई) में चावलका पाक होता है, वैसे मुखसे गुदपर्यन्त महास्रोतस्में, विशेषतः मुखसे ग्रहणी पर्यन्त आशयमें स्थित अन्नपानका पाचकाग्निकी क्रियासे पाक अर्थात् सूक्ष्म और अनपायी रूपान्तरमें परिणमन होता है । प्राण, अपान और समान वायु अपने-अपने प्राकृत कर्मोंसे अग्निको स्थिर तथा प्रदीप्त रखते हैं ।

नव्य क्रियाशरीरमें अन्नपानके पाचक जो विभिन्न रस कहे हैं, वे आयुर्वेदके पाचक-अग्नि प्रतीत होते हैं । एवं, नाड़ीसंस्थानोंके जो अंश पाचक-अवयवोंको अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त करते हैं उनकी तुलना प्राण, अपान और समानसे की जा सकती है । ऊष्मा शब्दसे इस प्रकरणमें उष्णता भी अभिप्रेत है । आमाशयका ताप साधारणतः, १००° फा. रहता है । इसमें न्यूनता आनेपर आमाशय अपना कार्य यथावत् नहीं कर सकता । शीत जल इत्यादिसे इसका यह ऊष्मा न्यून हो जाता है । एक परीक्षापात्र व्यक्तिको एक जिल (कोई १२½ तोला) शीतल जल दिया गया । इससे तुरन्त आमाशयका ऊष्मा १००° से उतर कर ७०° पर पहुंचा पाया गया । अपना पहला ऊष्मा प्राप्त करनेमें आमाशयको आध घण्टेसे अधिक समय लगा । इस प्रकार मन्दाग्निका और फलरूप कृशताका जनक होनेसे ही कदाचित् भोजनके पूर्व जलपान आयुर्वेदमें निषिद्ध है । देखिये—

तदादौ कर्षयेत् पीतं स्थापयेन्मध्य सेवितम ।
पश्चात्पीतं बृंहयति तस्माद्वीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥

सु० सू० ४६।४३८

अर्थात् जल अथवा अन्य अनुपान भोजनके पूर्व सेवित करनेसे शरीरको कृश करता है, मध्यमें

पीनेसे उसे सम रखता है, तथा अन्तमें पीनेसे पुष्ट करता है। अतः जिसे जैसे शरीरकी आवश्यकता हो, उसे उसी प्रकार इसका सेवन करना चाहिये।

वायु के कर्म दो हैं—अन्नपानको अग्निके समीप पहुंचाना तथा अग्निको प्रदीप्त रखना। चबाने की क्रियामें जैसे अन्नपान सूक्ष्म होकर मुखगत पाचक रसके सम्पर्कमें आता है, वैसे आमाशय तथा अन्त्रों में होनेवाली विभिन्न चेष्टाओं (गतियों) के कारण अन्नपान पाचक रसोंके संसर्ग में आता है। इनका विचार आगे किया जायगा। अग्निके उत्तेजनका कार्य समान वायु का है।

आहारपरिणामकर तीसरी वस्तु क्लेद अर्थात् द्रवत्व है। क्लेदन-कार्य आहारके साथ सेवन किये गये जलादि द्रव-द्रव्य तथा लाला आदि पाचक रसों का है। आयुर्वेदमें आमाशयगत कफका विशेष कार्य अन्नका क्लेदन (द्रवीकरण) कहा है। इसीसे उसे नाम भी क्लेदक कफ दिया है। इन क्लेदक-द्रव्योंके कारण आहार-द्रव्योंका संघात (घनत्व) नष्ट होकर वे शिथिल हो जाते हैं, जिससे पाचक-पित्तों द्वारा उनका पाक सुगम हो जाता है।

अन्नपानगत घृतादि स्नेहोंसे आहारमें मृदुता[1] आती है। अन्नपानकी स्निग्धता तथा मृदुताके अन्य भी कर्म हैं, जिनका आगे उल्लेख करेंगे।

काल भुक्त अन्नपानके परिपाकमें अनेक प्रकारसे भाग लेता है। प्रथम तो भोजन उसी कालमें करना चाहिये, जब कि पूर्व भुक्त-अन्न जीर्ण होकर बुभुक्षा (भूख) का उदय हुआ हो। इसी प्रकार जलका सेवन भी तभी करना चाहिये, जब नैसर्गिक तृष्णाके रूपमें शरीर उसकी माँग करे। सामान्यतया अन्नपानका सेवन प्रत्येक पुरुषको नित्य नियत कालमें करना चाहिये। नव्यमतानुसार इसकी व्याख्या आगे की जायगी। कालके नियममें आयुर्वेददृष्ट्या एक अन्य वस्तु भी विचारणीय है। आयुर्वेदके मतसे शरीरमें अमुकामुक कालमें अमुकामुक दोषकी वृद्धि होती है। इस प्रकार पित्तकी वृद्धिका एक काल मध्याह्न है। इस कालमें यदि भोजन किया जाय, तो काल स्वभाववश वृद्धिको प्राप्त हुआ पित्त अधिकाधिक प्रमाणमें अन्नपानको पचाकर शरीरको विशेष अनुगृहीत कर सकेगा। आजके व्यावसायिक युगमें इस नियमका पालन कितना दुष्कर हो गया है? कालके विचारमें अन्नको भली भाँति चबानेके लिए दिये जानेवाले कालका भी विचार किया जा सकता है। आज कितने पुरुष इस क्रियामें पर्याप्त मनोयोग और पर्याप्त काल-प्रदान करते हैं? कालके ही प्रसंगमें उस प्रकृति-नियत कालका भी स्मरण करना चाहिये, जो अन्नपानको आमाशय, क्षुद्रान्त्र तथा स्थूलान्त्रमें रहनेमें व्यतीत होता है।

परिपाकका अन्तिम सहकारी कारण समयोग है। संक्षेपमें इसके अन्तर्गत निम्न आठ वस्तुओं की परिगणना है—द्रव्योंकी प्रकृति अर्थात् स्वाभाविक गुरु-लघु आदि गुण; करण या संस्कार अर्थात् रांधनेकी विभिन्न क्रियाएँ, जिनके कारण द्रव्योंमें अन्य गुणोंका उदय हो जाता है; संयोग, जिसके कारण गुणान्तरका होना प्रसिद्ध ही है; राशि या मात्रा अर्थात् प्रत्येक द्रव्यका पृथक् प्रमाण तथा संपूर्ण अन्नपानका मिलित प्रमाण; देश अर्थात् भक्ष्य पदार्थ तथा भोक्ता दोनोंकी उत्पत्ति और स्थितिका स्थान; काल किंवा ऋतु, वय, अन्नकी जीर्णता-अजीर्णता आदि; अन्नपानके सेवनके विभिन्न नियम (उपयोग संस्था), जिनका आगे उल्लेख किया जा रहा है; उपयोक्ता किंवा भोक्ता, जिसके हित-अहित द्रव्योंका विचार करके अहितका वर्जन तथा हितका सेवन आवश्यक है[2]।

१—Lubrication—ल्युब्रिकेशन।

२—प्रकृति आदिके लिए प्रमाण तथा अधिक विचार च० वि० १।२५-३४ में देखिये। यहाँ संक्षिप्त आशयमात्र दिया है।

पाचकाग्निसे उपयोक्ता-पर्यन्त समस्त सामग्रीका विचार करके सेवन किया गया अन्नपान शरीरमें दोषों, धातुओं और मलोंका साम्य रखता है तथा आयुकी स्थिरता और वृद्धि करता है।

ऊपर प्रकृति आदि आठ के अन्तर्गत उपयोग-संस्था अर्थात् अन्नपानके सेवनके नियमोंकी गणना की है। विशेष वक्तव्य होनेसे इनका पृथक् विचार किया जाता है।

बुभुक्षा और पिपासा—भोजन-पानके उचित काल—

भोज्यस्य कालं मुनयो बुभुक्षां।
वदन्ति तृष्णामपि पानकालम्॥

काश्यपसंहिता, कल्पस्थान, भोजन कल्प, श्लोक २२

बुभुक्षितोऽन्नमश्नीयात्॥ सु० सू० ४६।४६६

बुभुक्षितग्रहणमकालबुभुक्षानिषेधाय। वक्ष्यति च—'भवत्यकालेऽपि तदा बुभुक्षा, सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति सु० सू० ४६।५१३ इति॥ —डल्हन

उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः। स जीर्णलक्षणापेक्षः॥ च० वि० १।३१

जीर्णलक्षणापेक्ष इति प्राधान्येनोक्तः। तेनेह अजल्पन्नहसन्नातिद्रुतं नातिविलम्बितम् (च० वि० १।३५) इत्याद्युपयोगनियममप्यपेक्षत एव। अजीर्ण भोजने तु महांस्त्रिदोषकोपलक्षणो दोषो भवतीत्ययमेवोदाहृतः॥ —चक्रपाणि

जीर्णेऽश्नीयात्। अजीर्णे हि भुञ्जानस्याभ्यवहृतमाहारजातं पूर्वस्याहारस्य रसमपरिणतमुत्तरेणाहाररसेनोपसृजत् सर्वान् दोषान् प्रकोपयत्याशु। जीर्णे तु भुञ्जानस्य स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वग्नौ चोदीर्णे जातायां च बुभुक्षायां विवृतेषु च स्रोतसां मुखेषु, विशुद्धे चोद्गारे हृदये विशुद्धे वातानुलोम्ये विसृष्टेषु च वातमूत्रपुरीषवेगेष्वभ्यवहृतमाहारजातं सर्वशरीरधातूनप्रदूषयदायुरेवाभिवर्धयति केवलम्। तस्मा ज्जीर्णेऽश्नीयात्॥ च० वि० १।३९

× × अपरिणतमसम्यग्जातम्। स्वस्थानस्थेषु दोषेष्वित्यादि जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥

—चक्रपाणि

अजीर्णाध्यशनं ग्रहणीदूषणानाम् (श्रेष्ठम्)॥ च० सू० २५।४०

अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते[1]॥ सु० सू० ४६।५०९

अकाले चान्नपानानां सेवनमामप्रदोषकरमिच्छन्ति॥ च० वि० २।८

भोजनके लिए सर्वोत्तम काल बुभुक्षा (क्षुधाके वेगका उदय) तथा पानके लिए सर्वोत्तम काल तृषा है। अतः बुभुक्षा उत्पन्न होनेपर ही अन्न तथा तृषाका वेग होनेपर ही पानका ग्रहण करे।

बुभुक्षाका उदय पूर्वकृत भोजन-जीर्ण (हजम) होनेपर होता है। पूर्वकृत भोजन जीर्ण न होनेपर भोजन किया जाय तो पूर्वकृत भोजनका रस, जो सम्यक् पक्व नहीं हो पाया है, वह तथा उत्तर भोजनका रस—दोनों मिश्रित होनेसे सर्व दोषोंका प्रकोप होता है। परिणामतया, अनेक रोगोंकी

१—ऊपर धृत सु० सू० ४६।५०९ के प्रकरणमें क्रमशः समशन, विषमाशन और अध्यशनका लक्षण देकर अन्तमें कहा है—'त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून्व्याधीन् करोति वा।' यह इस प्रसङ्गमें स्मरणीय है।

उत्पत्ति किंवा (विसूचिकादि रोग होकर) मृत्यु होती है। पूर्वभोजन पचनेके पूर्व जो भोजन किया जाता है, उसे 'अध्यशन' कहते हैं। यह अध्यशन ग्रहणी (पाचक संस्थान) की विकृतिमें सबसे अधिक उत्तरदायी है। (भोजनके दो प्रधान कालों के मध्यमें बाजार आदिसे मंगाकर अल्पाहार करनेकी पद्धति कितनी गर्हित है, यह इसीसे समझा जा सकता है)।

पूर्वभोजन जीर्ण हो जाय, भोजनके अवस्थाविशेषों (आगे वर्णित अवस्थापाकों) के कारण स्वभावतः कुछ कुपित हुए दोष अपने-अपने स्थानपर स्थित अर्थात् सम हो जायँ, अग्नि उद्बुद्ध होकर क्षुधाके वेगका उदय हो जाय, (पाचक पित्तोंके) स्रोतोंके मुख खुल जायँ, उद्गारकी शुद्धि हो जाय, हृदयपर भार न रहे, वातका अनुलोमन हो जाय ; पुरीष, मूत्र और वातके वेगोंका उत्सर्ग हो जाय, ऐसी स्थिति में जो आहार ग्रहण किया जायगा, वह सर्व दोषों, धातुओं और मलोंको अविकृत (समावस्थ) रखता हुआ आयुकी वृद्धि ही करता है।

क्षुधाका वेग उत्पन्न होनेपर भोजन न करनेसे जो हानि होती है, उसका उल्लेख पहले कर ही आये हैं। प्रकरणान्तरसे यह विषय संक्षेपमें पुनः देते हैं।

क्षुधा तथा तृषाका वेग रोकनेसे हानि—

कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यसङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः।
क्षुद्वेगनिग्रहात् × × × × × ॥ च० सू० ७।२०
कण्ठास्यशोषो बाधिर्यं श्रमः सादो हृदि व्यथा।
पिपासानिग्रहात् × × × × × ॥ च० सू० ७।२१

सादोऽङ्गावसादः। —चक्रपाणि

तन्द्राऽङ्गमर्दाऽरुचिविभ्रमाः स्युः-
क्षुधोऽभिघातात् कृशता च दृष्टेः।
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोध-
स्तृष्णाभिघाताद्धृदये व्यथा च ॥ सु० उ० ५५।१६

तन्द्रा वैकारिकी निद्रा। अङ्गमर्दः अङ्गोद्वेष्टनमिव वेदना, स्फुटनिकेत्यन्ये। विभ्रमः अत्यर्थं चक्रारूढस्येव भ्रमणम्। कृशता च दृष्टेः दृङ्मान्द्यम्। चकरात् दौर्बल्यादयस्तन्त्रान्तरोक्ता ग्राह्याः। श्रवणावरोधो बाधिर्यम्। चकारात् श्रमस्वेदादयः समानतन्त्रोक्ताः॥ —डल्हन

क्षुधाका वेग रोकनेपर—अर्थात् क्षुधा होनेपर भी भोजन न करनेसे—कृशता, दुर्बलता, अङ्गमर्द, तन्द्रा, अरुचि (थोड़ा समय होनेपर क्षुधा लुप्त हो जाना), भ्रम, विवर्णता (त्वचा प्रभाहीन होना) तथा दृष्टिशक्तिकी क्षीणता—ये लक्षण होते हैं।

तृषाके वेगका धारण करनेसे कण्ठ तथा मुखका शोष, बधिरता, श्रम, अङ्गसाद और हृदयमें पीड़ा—ये लक्षण होते हैं।

आहारके समयोगमें रुचिका महत्त्व—

प्रोटीनोंका विचार करते हुए हम कह आये हैं कि आयुर्वेदका सिद्धान्त है कि, शरीरमें जिस दोष, धातु या मलका क्षय होता है, उसकी पूर्ति (साम्य) के लिये जिस रस या द्रव्यकी अपेक्षा होती है, उसका ज्ञान रुचि (रस-ग्रहणकी संज्ञा) से स्वयं हो जाता है। इसी प्रकार जिस दोषादिकी वृद्धि (कोप) हुई होती है, उसका यथोचित क्षय हो कर साम्य हो, इस हेतु उसके विपरीत रस या

गुणकी ही रुचि होती है। नव्य क्रियाशारीरने इस मन्तव्यका समर्थन किया है। यह सत्य है कि मानवेतर प्राणियोंमें रुचि यथोचित आहारकी विशेषतया निर्णायक होती है। मानवोंमें जिह्वा लौल्यादि-वश रुचिमें कुछ विकृति हुई देखी जाती है।

गुणोंके समान मात्राका निर्णय भी रुचि ही करती है, यह अनुभवसिद्ध है। खानेको बैठें तो कौन द्रव्य या सम्पूर्ण आहार कितने परिमाणमें (कितनी मात्रामें) ग्रहण करना चाहिये, इसका संकेत रुचिसे स्वयं हो जाता है। यह योग्यता भी प्रौढ़-मानवोंमें उक्त कारणोंसे विरूप हो जाती है, यह किसे विदित नहीं ?

आहारगत अथवा अन्तःस्रावी-रसों-सम्बन्धी त्रुटि (हीनयोग[1]) से पीड़ित मूषकोंको विविध आहार-द्रव्य एक साथ परोसकर रिचर[2] ने देखा कि वे उन्हीं द्रव्योंको ग्रहण करते हैं, जो उनके शरीरमें विद्यमान त्रुटियोंको सम (पूर्ण) करनेवाले हों। उदाहरणतया, जिन मूषकोंकी अधिवृक्क ग्रन्थियाँ काटकर निकाल दी गयी हों, वे लवण रसके प्रति विशेष रुचि प्रदर्शित करते हैं। उन्हें अवसर दिया जाय तो वे अपनी आयुकी अनुवृत्ति (जीवनकी स्थिरता) तथा भारकी वृद्धिके लिये रुचिसे प्रेरित हो यथेष्ट नमक-सेवन करते हैं। जिन प्राणियोंकी अधिवृक्क ग्रन्थियाँ निकाल दी गयी हों, उन्हें लवण न दिया जाय, तो वे कुछ ही दिनोंमें मर जाते हैं, एवं जिन प्राणियोंमें परिचुल्लिका ग्रन्थियाँ[3] निकाल दी जायँ, वे सुधा[4]-युक्त द्रवोंके प्रति विशेष आकृष्ट होते हैं। उनकी यह बढ़ी हुई रुचि तभी शान्त होती है, जब उनमें अन्य प्राणियोंसे लेकर इन ग्रन्थियोंकी कलम लगायी जाय। जीवनीयोंके हीनयोगसे आक्रान्त मूषक वही द्रव्य पसन्द करते हैं, जिनमें हीन जीवनीय प्रदान करनेका सामर्थ्य हो। रिचरने परीक्षण करके यह भी देखा है कि, रस-ग्राहिका नाड़ीके परिसरीय भागको काट कर रस-ग्रहणकी संज्ञा ही लुप्त कर दी जाय, तो उनमें इस बातका विवेक नहीं रह जाता, कि हीनयोगको लक्ष्यमें रखकर कौन द्रव्य ग्रहण करना चाहिये और कौन नहीं ? अधिवृक्क जिनकी निकाल दी गयी हो, ऐसे जन्तुओंकी रस-ग्रहणकी शक्ति भी नष्ट कर दी जाय, तो अपनी तरफसे पुष्कल लवण-जल देनेपर भी वे मर ही जाते हैं।

बालकोंमें जिह्वालौल्य, मिथ्या संस्कार, आदि कारणोंसे रस या रुचिके आधारपर योग्य आहार-द्रव्य किंवा उसकी मात्राके विचारकी शक्ति वैसी विकृति नहीं हुई होती। अतः उसकी रुचि-अरुचिका ध्यान न करके अपनी इच्छासे तत्-तत् आहार-द्रव्य देना या उसकी आहारमें रुचि न हो तोभी खानेको प्रवृत्त करना अथवा इच्छासे अधिक खिलाना योग्य नहीं है[5]।

रुचिके समान क्षुधा और पिपासाके वेग भी पुरुषको इस बातमें प्रवृत्त करते हैं कि कब, कौन अन्नपान कितने परिमाणमें ग्रहण करना चाहिये। संक्षेपमें क्षुधा-पिपासाके वेगोंका अर्थ आधुनिक प्रत्यक्षानुसार समझ लें।

क्षुधाका स्वरूप-नव्यमतानुसार—— 5

क्षुधा और तृषाके वेगोंका स्वरूप, उनकी निवृत्तिके लिये तत्-तत् अन्नपान और जलके ग्रहणकी इच्छा तथा इनका ग्रहण करनेपर हुई तृप्तिसे इन वेगोंकी शान्ति सबको स्वानुभवसिद्ध है। पर इन

१—Deficiency—डेफिशेन्सी। २—Richter.
३—Parathyroid. ४—Calcium—केल्शियम।
५—देखिये—Howell's Text Book of Physiology, 1946, p p. 383, 389, 1120, 1136.

वेगोंकी उक्त अवस्थाओंमें जो शरीरगत परिवर्तन होते हैं, उनका ज्ञान विशेषतया कार्ल्सन[१], केनन[२] आदिके परीक्षणोंपर आश्रित है। इन विद्वानोंने अपने ऊपर तथा इतिहासमें श्री 'वी'[३] नामसे प्रसिद्ध पुरुषपर परीक्षण किये थे। श्री वी को प्रथम महायुद्धमें गोली लगनेसे आमाशयमें स्थायी नाड़ीव्रण हो गया था। इस मार्गसे विभिन्न द्रव्य डालकर अन्दरकी परिवर्तित स्थितियोंका अनुशीलन करना सुगम हुआ था।

जिसे क्षुधा या भूख कहते हैं, उसके तीन कल्पित विभाग किये गये हैं—क्षुधा[४], बुभुक्षा[५] तथा अन्नपानके ग्रहणका प्रयत्न। तीसरी अवस्थाका कोई विशेष नाम नहीं।

क्षुधा या बुभुक्षा शरीरकी आहार-विषयक आवश्यकताओंकी, विशेषतया शक्त्युत्पादक आहारकी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये स्वाभाविक अन्तःप्रेरणा है। इसी प्रकार तृषा शरीरकी जल-विषयक आवश्यकताकी द्योतक नैसर्गिक इच्छा है। बुभुक्षाका कारण शक्त्युत्पादक-आहारकी आवश्यकताका सूचन होनेसे स्वभावतः ऐसी स्थितिमें बुभुक्षा भी बढ़ जाती है, जिनमें शरीरको शक्त्युत्पादक द्रव्योंकी अधिक अपेक्षा होती है; यथा—चेष्टा (मांस-पेशियोंका श्रम) या शीत देश-काल। क्षुधाके वेगका उदय, भोजनके कुछ घण्टे पीछे आमाशय रिक्त (खाली) होनेपर होता है।

यह सबको स्वानुभवसिद्ध है कि, क्षुधाके वेगका प्रारम्भिक अनुभव आमाशय-प्रदेशमें—अर्थात् उस गढ़ेमें जहाँ दोनों पार्श्वों की नीचेकी पर्शुकाएँ मिलती हैं वहाँ—होता है; ये वेग थोड़ी-थोड़ी देर रहकर उठते हैं और कुछ कालके लिये उत्तरोत्तर बढ़ते जाते हैं; वेगोदयके समय आमाशय-प्रदेशमें विचित्र वेदनाएँ होती हैं; भोजन न ग्रहण किया जाय, तो काल-क्रमसे ये वेदनाएँ और क्षुधा लुप्त हो जाते हैं; अगला भोजन-काल उपस्थित होनेपर ये वेग पुनः उदित होते हैं। परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि ये वेदनाएँ आमाशयके संकोचोंके कारण होती हैं। जब-जब आमाशयमें संकोच होता है, तब-तब वेदना और क्षुधाका अनुभव होता है। वेदनाओंके अन्तर-कालमें न संकोच होता है, न वेदना, न क्षुधाकी प्रतीति।

परीक्षणोंमें एक पतला रबरका गुब्बारा (बेलून) आमाशयमें डाला जाता है। बाहर इसका सम्बन्ध आमाशयमें होनेवाले संकोचोंको अङ्कित करनेवाले एक यन्त्रके साथ होता है। गुब्बारेको वायुसे कुछ फुलाया जाता है। परिणामतया, आमाशयकी दीवारोंके साथ इसका सम्बन्ध होनेसे जब-जब आमाशयमें संकोच और क्षुधाके वेगका अनुभव होता है, तब-तब यह संकोच गुब्बारेको भी पीड़ित करता है। यह पीड़न यन्त्रके साथ लगे कज्जल-पत्रपर शिखराकार रेखाओंके रूपमें अङ्कित है। इन संकोचोंके कारण ही क्षुधाके वेगोंकी प्रतीति होनेसे इन्हें 'क्षुधा-संकोच'[६] कहते हैं।

विदित हुआ है कि, मानवोंमें इन संकोचोंके—पर्याय रूपमें कहें तो क्षुधाके—प्रकोपक कारण सामान्यतया निम्न हैं—संकोच क्षुधाके वेगकी सम्पूर्ण अवधिमें होता है। यह अवधि औसतन ३० से ५० मिनट, अधिकसे अधिक १॥ घण्टे होती है। आमाशय थोड़ा भी रिक्त हो कि संकोच चालू हो जाते हैं। खूब पेट भरकर भोजन खाया जाय, तो ये कुछ काल शान्त रहते हैं। सामान्यतया भोजन खानेके ३० मिनट पीछे चालू होते हैं। पेट ज्यों-ज्यों रिक्त होता जाता है, त्यों-त्यों इनकी तीव्रता बढ़ती जाती है। प्रायः क्रियाशारीरविदोंकी धारणा है कि, शक्त्युत्पादक द्रव्य द्राक्षाशर्कराकी

१—Carlson. २—Cannon. ३—Mr. V.—मिस्टर वी।
४—Appetite—एपीटाइट। ५—शब्दार्थ—खानेकी इच्छा। Hunger—हंगर।
६—Hunger Contractions—हंगर-कंट्रैक्सन्स।

मात्रा रस-रक्तमें न्यून हो जानेपर किसी अगोचर कारणसे प्रतिक्रियाके रूपमें आमाशय इस संकोचों किंवा क्षुधाके वेगोंको उत्पन्न करता है।

किसी वस्तुका आस्वादन (रस-ग्रहण), यों ही अथवा वस्तुतः चबानेकी क्रिया करना, निगलना—इन क्रियाओंके समय आमाशय भोजन-प्राप्तिकी आशामें लीन होनेसे उसमें संकोच नहीं होते। इसीलिए पर्याप्त भोजन खानेके पूर्व ही क्षुधाकी प्रतीति शान्त हो जाती है। इसी दृष्टिसे, आमाशयमें दुष्पच अथवा पत्थर आदि अनाहार द्रव्य डालनेपर भी कुछ कालके लिए संकोच मन्द (अवसन्न) होते हैं, परिणामतया क्षुधाका वेग दूर होता है। हिम-शीतल (बरफके तुल्य-ऊष्मावाला) जल शरीरके समान ऊष्मावाले जलकी तुलनामें संकोचोंको विशेष मन्द और न्यून करता है। मृदु अम्ल कुछ कालके लिए संकोचोंको न्यून करते हैं। यह विस्मयकी बात है कि, बीअर, वाइन, ब्रापडी तथा मृदु (हलका) किया शुद्ध अलकोहल इन संकोचोंको मन्द करते हैं। तथापि इन द्रव्योंको क्षुधाके बोधक समझा जाता है, उसका कारण मानसिक है। धूम्रपान, कमर कसकर बाँधना, कठिन श्रम, शीत जलसे स्नान आदिके रूपमें त्वचापर शीतल-पदार्थोंका सम्पर्क—इन कारणोंसे भी ये संकोच मन्द हो जाते हैं। तीव्र मानसिक आवेगोंसे भी संकोचोंमें मन्दता आती है।

नवजात शिशुओंमें परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि, स्तन्यपानका अनुभव होनेके पूर्व ही उनमें ये संकोच प्रारम्भ हो जाते हैं। शिशुओंमें वयस्थोंकी अपेक्षया संकोच-कालोंकी संख्या अधिक होती है। नवजात तथा अति बालमें संकोच-निवृत्तिकाल १० से ६० मिनट तथा वयःस्थोंमें १ से ३ घण्टे होता है। निद्राके समय बच्चोंमें ये सङ्कोच कभी-कभी इतने तीव्र होते हैं कि उन्हें बेचैन बना देते हैं। परिणामतया वे चीख मारकर जाग उठते हैं। परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि, सामान्य शिशुका आमाशय स्तन्यपानके दो से तीन घण्टे पीछे पुनः स्तन्यपानकी इच्छा द्योतित करता है। बच्चोंको कितने-कितने काल पीछे स्तन्य-पान कराना इस बातका निर्णय इससे हो सकता है। परन्तु दूध कभी पतला (आयुर्वेद-मतसे वात-पित्त-प्रधान) और कभी गाढ़ (कफ प्रधान) हो, तो उसके पचन-कालमें भिन्नता होनेसे यह अवधि न्यूनाधिक हो सकती है। इस प्रसङ्गमें यह सचाई ध्यानमें रखनी चाहिए।

यह आश्चर्यकी बात है कि, भोजन जब पच रहा होता है, उस समय भी आमाशयमें सङ्कोच होते हैं—यद्यपि उनका प्रकार भिन्न होता है—परन्तु उनकी प्रतीति पुरुषको नहीं होती। केवल क्षुधा-सूचक सङ्कोच ही प्रतीतिके विषय होते हैं।

अनशन-कालमें प्रथम तीव्र क्षुधा-प्रतीति होती है, जो पीछेसे लुप्त हो जाती है। परीक्षाके रूपमें चार दिन अनशन करके इसका भी सङ्कोचोंसे सम्बन्ध देखा गया है। ज्ञात हुआ कि, इन चार दिनोंके अनशनमें आमाशयकी दृढ़ता तथा सङ्कोचोंकी संख्या और तीव्रता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। चौथे दिन क्षुधा और संकोच मन्द हो गये। पारणासे क्षुधा तो तत्काल निवृत्त हो गयी, परन्तु अनशनजन्य दौर्बल्य दो-तीन दिन बाद ही पूर्णतया दूर हुआ।

द्राक्षाशर्कराकी न्यूनता आमाशय-संकोचोंका कारण है, इसमें प्रमाण यह दिया जाता है कि, इन्सुलीनकी सूचीबस्ति देकर रस-रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी मात्रा २५ प्रतिशत न्यून कर दी जाय, तो प्रबल और अधिक संख्यामें ये संकोच होते हैं। द्राक्षाशर्कराकी सूचीबस्ति दें तो ये तत्काल लुप्त हो जाते हैं। यह भी अनुभव किया गया है कि जिन पुरुषोंको अत्यधिक इन्सुलीन दिया गया, उनमें परिणाम-स्वरूप धातुगत द्राक्षाशर्कराका दहन अधिक होकर उसकी मात्रा न्यून हो जानेके कारण ये सङ्कोच तीव्र हो गये। क्षौद्रमेह (मधुमेह) - पीड़ित पुरुषोंमें द्राक्षाशर्कराका मूत्रमार्गसे निरन्तर क्षय होते रहनेसे धातुओंको उसकी आवश्यकता बनी रहती है। अतः इनमें क्षुधा-संकोच तीव्र होते हैं।

परिणाममें उन्हें क्षुधाकी प्रतीति भी तीव्र होती है। उन्हें यथाकाल भोजन सुलभ न हो तो उन्मत्तता-सी आ जाती है। शिशुओंमें इन संकोचोंके कारण अरति तथा मूषकादि प्राणियोंमें अन्नकी शोधके लिए इतस्ततः भ्रमण देखा जाता है। वयस्थ मानवादि प्राणी भी इस स्थितिमें अन्न-ग्रहणके लिए आयास करते हैं। क्षुधाके वेगोंकी यह उपरिलिखित तृतीयावस्था है।

प्रयोगोंसे यह भी विदित हुआ है कि, प्राणी भूखा हो, तो लाला-रस तथा आमाशय-रसका क्षरण भी अधिक और उत्तम होता है; अन्यथा नहीं। ऐसे प्रयोगोंमें प्राणीका भूखा होना आवश्यक समझा जाता है[1]।

तृषाका स्वरूप—नव्य परिभाषामें—

नव्यमतानुसार क्षुधाके वेगोंका स्वरूप जानकर प्रसंगवश तृषाका भी प्रत्यक्षोपलब्ध स्वरूप देख लें।

तृषाकी प्रतीति मुख तथा गल[2]की कलाकी शुष्कताके कारण होती है। यह कला लाला-ग्रन्थियों—विशेषतया कर्णमूलिक ग्रन्थियों[3] से क्षरित लालाके संपर्कवश सामान्यतया आर्द्र रहती है। धातुपाकादिके कारण शरीरमें जलका परिमाण न्यून हो जाय, तो अनुधावन-क्रियाके सौकर्यके लिए रस-रक्तमें धातुकोषोंसे जलका आकर्षण होता है। इस प्रकार अन्य अवयवोंके साथ लालाग्रन्थियाँ भी जलके क्षय (अल्पता) से आक्रान्त होती हैं। परिणामतया उनका स्राव यथेष्ट नहीं होता, जिससे मुख तथा गलकी कला शुष्क हो जाती है। इस शुष्कताका अनुवाद स्थानीय नाड़ियाँ पिपासाकी प्रतीतिके रूपमें करती हैं। जलकी प्रथम घूँट मुखमें जाते ही आर्द्रता उत्पन्न होकर तृषाका वेग शान्त होता है। गोंद चूसनेसे भी क्षणिक आर्द्रता होकर तृषा नष्ट होती है। पिपासाका वेग रोका जाय, तो केवल मुख और गलमें ही नहीं, किन्तु सारे ही शरीरमें उदकक्षयके कारण विलक्षण अरति होती है।

गलमें कोकेन या नोवोकेन लगाकर वहाँकी संज्ञावह नाड़ियों और उनके अन्तोंको सुप्त[4] कर दिया जाय तो इस स्थानपर शुष्कताकी संज्ञाका अनुभव न होनेसे तृषा भी लुप्त हो जाती है। बेलाडोना, धतूरा आदि भी श्लेष्म-कला-मात्रको शुष्क कर देते हैं। अन्य श्लेष्म-कलाओंके साथ मुख तथा गलकी कलाके भी शोषके कारण तीव्र तृषा लगती है, जो इन विषोंका एक लक्षण है। भोजनमें अति लवण या मधुर भोजन खानेसे इन स्थानोंकी शुष्कता होकर तृषा उत्पन्न होती है।

आयुर्वेदमें 'क्लोम' नामक संप्रति विवादास्पद अवयवको पिपासाका स्थान कहा है। देखिये—

क्लोम हृदयस्थपिपासास्थानम् ॥ च० वि० ५। ८ पर ——चक्रपाणि

उक्त नव्य प्रत्यक्षानुसार कई 'क्लोम' का अर्थ गल करते हैं, कई श्वास-पथ[5] (गणनाथ सेन)

---

१. देखिए—In such experiments the dog must be hungry, for the psychical element involved is important.

—Hand Book of Physiology, by Mc Dowall, (1948), P. 410.

२—Pharynx—फेरिंक्स।

३—Parotid glands—पैरोटिड ग्लैण्ड्स।

४—Paralysed—पैरेलाइज्ड।

५—Trachea—ट्रेकिया।

और कई पित्ताशय[1] (हरिप्रपन्नजी)। अन्याशय और दक्षिण फुप्फुस भी इस संज्ञाके उम्मेदवारोंमें हैं।

मालूम होता है मुख तथा गलकी शुष्कताके अतिरिक्त भी कोई कारण पिपासाकी प्रतीतिके जनक हैं। इतना निश्चित है कि उल्लिखित द्रव्योंके कारण हुई कृत्रिम पिपासाको छोड़कर नैसर्गिक पिपासा सदा शरीरमें जलधातुकी क्षीणतासे उद्बोधित होती है। आमाशय-प्रणाली[2] द्वारा जल सीधा आमाशयमें छोड़ दिया जाय, तोभी तृषा शान्त हो जाती है।

अस्तु, बुभुक्षा और तृषाका यह आधुनिक प्रत्यक्षानुसार विवरण हमने आयुर्वेदके इस मन्तव्यकी व्याख्याके प्रसंगमें किया है कि, बुभुक्षाका उदय ही भोजनका तथा पिपासा ही जल-ग्रहणका समुचित काल है। आहार परिणामकर भावों (वस्तुओं) में क्षुधा और पिपासाका पद प्रथम है। इनकी विचार समाप्तकर अब हम क्रमशः अन्य आहारपरिणामकर भावोंका विचार करते हैं।

भोजनका नियत काल—

कालभोजनमारोग्यकराणाम् (श्रेष्ठम्)॥ च० सू० २५। ४०

काले प्रीणयते भुक्तम्॥ सु० सू० ४६। ४६६

प्रीणयते तृप्तिं जनयति॥ —डल्हन

नाप्राप्तातीतकालं वा हीनाधिकमथापि वा[3]।
अप्राप्तकालं भुञ्जानः शरीरे ह्यलघौ नरः।
तांस्तान् व्याधीनवाप्नोति मरणं वा नियच्छति॥
अतीतकालं भुञ्जानो वायुनोपहतेऽनले।
कृच्छ्राद् विपच्यते भुक्तं द्वितीयं च न काङ्क्षति॥

सु० सू० ४६। ४७१-४७३

नियत कालपर भोजन आरोग्यजनक वस्तुओंमें सर्वोपरि है। नियत कालके पूर्व भोजन किया जाय तो उस काल शरीर लघु नहीं होता—आहार जीर्ण होनेके जो लक्षण ऊपर लिखे हैं उनका प्रादुर्भाव शरीर और मनमें हुआ नहीं होता, अतः पुरुष विभिन्न रोगोंका ग्रास होता है अथवा मरण ही को प्राप्त होता है। नियत काल व्यतीत होनेपर भोजन किया जाय तो उस समय अग्नि कुपित वायुके प्रभावसे मन्द हो गया होता है, अतः अन्नका परिपाक सम्यक् नहीं होता तथा अगले भोजनकी रुचि नहीं होती।

पहले भोजनका विचार न रहा हो, तोभी भोजनका नियत काल उपस्थित होनेपर कुछ खा लेनेकी इच्छाका अनुभव प्रत्येकको होगा। पैवलॉव[4] के सांकेतिक व्यापार[5]-सम्बन्धी प्रसिद्ध

१—Gall-bladder—गॉल-ब्लैडर।

२—Stomach-tube—स्टमक-ट्यूब।

३—यहाँ 'भुञ्जीत' (खाये) की अनुवृत्ति है।

४—Pavlov. पूर्ण नाम Ivan Petrovich Pavlov (१८४६ — १९३६). रशियन क्रिया-शारीरवित्।

५—Conditioned reflex—कण्डिशण्ड रिफ्लेक्स। स्मरण रहे, इन व्यापारोंको 'रिफ्लेक्स' कहा है, पर पीछेसे विदित हुआ कि ये व्यापार यथार्थ में 'रिफ्लेक्स' नहीं हैं। अतः अब इस शब्द का

परीक्षणोंसे प्रसंगतः सिद्ध है कि भोजनकालकी परिस्थितियोंका मस्तिष्कपर और परम्परया पाचक अवयवोंपर कितना प्रभाव है। स्वादु वस्तुके दर्शनादिसे लालास्राव होना नैसर्गिक (इस विषयके वैज्ञानिक सिद्धान्तको सूचित करना हो तो—वंशानुगत) और अनुभवसिद्ध ही है। परन्तु जिन वस्तुओंका लालास्रावसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वे भी अभ्यासवश अथवा संकेत-ग्रहणवश कालान्तरमें लालास्रावकी उद्दीपक हो जाती हैं। यथा, एक कुत्तेको बार-बार घण्टी बजाकर भोजन दिखाया जाय तो प्रारम्भमें भोजनके दर्शनसे उसके मुखमें निसर्गतः लालास्राव होता है। कुछ समय पीछे स्थिति यह होती है कि केवल घण्टी बजायी जाय, भोजन न दिखाया जाय तोभी उसके मुखमें लालास्राव होने लगता है। आमाशय-रस तथा आमाशयकी पूर्ववर्णित और अन्य गतियोंपर भी मानसिक स्थितियोंका अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है[1]।

नियत काल-सम्बन्धी नित्यकी परिस्थितियोंके कारण निःसृत पित्तों (पाचक रसों) को प्रकृत्यानुकूल अन्नपानसे तृप्त न किया जाय, तो वे एक तरहसे विजातीय द्रव्य-सा व्यवहार करते हैं। अनशनसे पित्तका प्रकोप होता है, यह आयुर्वेदका मत है। उसका एक अर्थ यह है[2]।

अस्तु। इस प्रकार 'उपयोग-संस्था' अर्थात् अन्नपानके सेवनके नियमोंके विवरणके प्रसङ्गमें भोजन-कालका विचार करते हुए आहार-परिणामकर भावोंमें एक 'काल'का भी कुछ विशेष विचार हो गया। अब अन्नपान-विषयक अन्य नियमोंका विचार करें।

मनो-निवेश—

तन्मना भुञ्जीत ॥ च० वि० १।४४

ईर्ष्याभयक्रोधपरिक्षतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीड़ितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥
सु० सू० ४६।५०१

××× कामक्रोधलोभमोहेर्ष्याह्रीशोकमानोद्वेग भयोपतप्तमनसा वा यदन्नपानमुपयुज्यते तदप्यामसेव प्रदूषयति। भवति चात्र—

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोध दुःखशय्याप्रजागरैः ॥ च० वि० २।८-९

×× आममेव प्रदूषयतीति अत्र कर्मकर्तृत्वे अच्। दुष्टं भवतीत्यर्थः। किंवा, आममपक्वं सहुष्टदोषसंपर्काच्छरीरं दूषयतीति ज्ञेयम् ॥ —चक्रपाणि

अर्थ यहाँ केवल व्यापार (Behaviour—बिहेवियर) समझा जाता है। देखिए—It is now recognized that conditioned responses are not reflexes. ×× Pavlov has so modified the word reflex that it is synonymous with behaviour, e. g., "a reflex of slavery." Howell's Text Book of Physiology, 1946, P. 530. इसी कारण हिन्दी आदि भाषाओं में अनुवाद करते हुए इन्हें रिफ्लेक्स के पर्याय 'प्रतिसंक्रमित क्रिया', 'प्रत्यावर्तित क्रिया' आदि नाम देना संगत नहीं है।

१—देखिए—The product of salivary digestion, dextrin, causes gastric secretion; both secretions are affected by mental states which also affects gastric movements. Hand Book of Physiology, by Mc Dowall (1948), P. 434,

२—इस विषयका कुछ विचार पृ० २१४ पर भी कर आये हैं।

काम, क्रोध, लोभ मोह, ईर्ष्या, लज्जा, शोक, गर्व, उद्वेग (घबराहट), भय, चिन्ता, दैन्य, द्वेष, जागरण या कष्टप्रद निद्रासे उत्पन्न मनोव्यथा—इनके आवेशोंकी विद्यमानतामें भोजन किया जाय, तो उससे रसका परिपाक न होकर आम (अपक्व रस) ही उत्पन्न होता और दोषोंको दुष्कर शरीरको क्षण करता है। अतः सर्वदा तच्चित्त होकर ही भोजनका सेवन करना चाहिये।—

आत्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यक्; इदं ममोपशेते, इदं नोपशेत इत्येवं विदितं ह्यस्यात्मन आत्मसात्म्यं भवति; तस्मादात्मानमभिसमीक्ष्य भुञ्जीत सम्यगिति ॥

च० वि० १।४५

× × आत्मन इति पदेनात्मनैवात्मसात्म्यं प्रतिपुरुषं ज्ञायते, न शास्त्रोपदेशेनेति दर्शयति ॥

—चक्रपाणि

भोजन करते हुए सदा इस बातको दृष्टमें रखे कि कौन वस्तु अपने लिए प्रकृतिसे या अभ्याससे और कितनी मात्रामें सात्म्य है और कौन असात्म्य। इस प्रसङ्गमें यह स्मरण रखना चाहिये कि सात्म्यासात्म्यका ज्ञान शास्त्रसे वैसा नहीं होता, जैसा अनुभवसे। अतः प्रत्येक पुरुषको स्वयं इस बातका निर्णय कर लेना चाहिये कि मेरे लिए कौन वस्तु सात्म्य है और कौन असात्म्य ?

नातिद्रुतमश्नीयात् × × नातिविलम्बितमश्नीयात् × × अजल्पन्नहसन् तन्मना भुञ्जीत × × ॥ च० वि० १।४२-४०[1]

न बहुत शीघ्र, न बहुत धीमे, बिना बातचीत किये, बिना हास-परिहास किये, तन्मय होकर भोजन करना चाहिये।

उल्लिखित मानसिक आवेशों—विशेषकर क्रोध और भय—का सर्वाङ्गपर प्रभाव सुविदित है। अन्य अङ्गोंके समान पचन-संस्थानपर भी इनका प्रभाव होता है। परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि यह प्रभाव दो प्रकारसे होता है—नाड़ीसंस्थान द्वारा तथा अन्तर्ग्रन्थि-संस्थान द्वारा। आगे इस विषयका विस्तारसे विवेचन होगा। यहाँ प्रसंगोपात्त विचार करते हैं।

नाड़ी-संस्थानके कर्मानुसार तथा स्थिति-भेदसे भी दो विभाग किये गये हैं—जीवनयोनि या स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान[2] तथा इच्छा द्वेषपूर्वक या इच्छाधीन[3]। पचन, श्वसन, रक्तानुधावन, आदि संस्थानोंके अवयव, जिनपर इच्छाका शासन नहीं है, वे सब जीवनयोनि नाड़ीसंस्थानसे चालित होते हैं। कर्म तथा नाड़ी-सूत्रोंके भेदसे इस संस्थानके दो भेद हैं—मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान[4] तथा परिस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान[5]। जीवनयोनि नाड़ीसंस्थान द्वारा चालित प्रत्येक अवयवमें दोनों प्रकारके नाड़ी-सूत्र जाते हैं और अपनी-अपनी उद्दीपक परिस्थितिसे उद्दीप्त होकर तत्-तत् अवयवमें अपने उद्दीपनके अनुरूप क्रिया उत्पन्न करते हैं। हम यहाँ केवल पचन-संस्थानपर इनकी क्रिया देखेंगे। मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थान जब उद्दीप्त होता है, तब मुख, आमाशय तथा अन्त्रमें क्षरित होनेवाले पाचक

१—विस्तारभयसे ये सूत्र अपूर्ण ही लिए हैं। मूल ग्रन्थ अथवा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थमें पूर्ण सूत्र देखें।

२—Autonomic Nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम। जीवनयोनि नाम प्राचीन है। देखिए आगे नाड़ी-संस्थान का प्रकरण।

३—Cerebro-spinal nervous system—सेरिब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम। 'इच्छाद्वेषपूर्वक' शब्द भी प्राचीन है।

४—Sympathetic nervous system—सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।

५—Parasympathetic nervous system—पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।

पित्तोंका क्षरण (स्राव) मन्द हो जाता है या अटक जाता है। इसी प्रकार इन अवयवोंकी विभिन्न चेष्टाएँ--अपकर्षणी आदि भी मन्द या लुप्त हो जाती हैं। भय, क्रोध, आदि आवेशोंकी विद्यमानतामें तथा इनके कारण होनेवाले पलायन या पराक्रममें यह स्थिति होती है। शारीरिक श्रमका भी यही प्रभाव होता है।

परस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी क्रिया इसके विपरीत होती है। वह मानसिक भावावेशमुक्त स्थितिमें अपनी क्रिया करता है। इसके कारण पाचक पित्तोंका क्षरण तथा महास्रोतस्‌की पाचन-शोषणादिमें उपयोगी चेष्टाएँ सुस्थित होती हैं।

शरीरमें अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय ऑक्साइड) की वृद्धिका भी वही प्रभाव होता है, जो मध्य स्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानके उद्दीपनका। जो उक्त स्थितियाँ मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी उद्दीपक हैं वे अधिवृक्क[1] के मध्य[2] के स्रावको भी उद्दीप्त करती हैं। इसकी वृद्धि का प्रभाव भी पचनादिपर वही होता है, जो मध्यस्वतन्त्रके उद्दीपनका। अधिवृक्कके मध्यके स्रावको 'एड्रीनलीन'[3] कहते हैं। प्राचीनोंका 'साधक पित्त' कदाचित् यही है। उसके कार्य संहिताकारोंने 'भय और शौर्य' कहे हैं। आधुनिकोंने 'फाइट, फ्राइट और फ्लाइट'[4] (शौर्य, भय, पलायन) की प्रतिक्रिया इन शब्दोंमें 'एड्रीनलीन' और मध्यस्वतन्त्र नाड़ीसंस्थानकी क्रियाओंका निर्देश किया है। स्थान साधक पित्तका संहिताओंमें हृदय बताया है। उसका अर्थ विशेष क्रियाका स्थान तथा सर्व शरीरपर क्रिया करनेके लिए प्रसरणका आदिस्थान समझना चाहिये।

चिन्ता, दैन्य, शोक, आदि भाव सम्पूर्ण नाड़ीसंस्थानको ही अवसन्न करते हैं। उसका अंशभूत होनेसे पचन-संस्थानके नियामक नाड़ीसूत्रोंपर भी उनका अवसादक प्रभाव होता है, जो परिणामतया पचनमें बाधा पहुंचाता है।

पैवलॉवके देखनेमें आया था कि बिल्लीको देखते ही कुत्तेके आमाशय-रसका प्रमाण अत्यन्त न्यून हो गया। अन्य आप्त भी प्रयोग करके ऐसे ही परिणामों पर पहुंचे हैं। एक वैमानिकको सम्मोहित[5] करके विमान-यात्राकी कठिनाइयोंकी चर्चा की गयी, तो उसके आमाशय-रसका स्राव तत्काल क्षीण हुआ पाया गया। आमाशयकी चेष्टाओं पर भी इन तथा अन्य मानसिक व्यापारोंका प्रभाव पड़ता है, यह पहले कहा ही जा चुका है।

भावावेशवश पाचक पित्तोंका क्षरण मन्द हो जाता है, इस बातका अनुभव वक्ताओंमें प्रायः देखा जाता है। भाषणके समय उनके बार-बार जल पीनेका कारण यह है कि, भावावेशके कारण अन्य पित्तोंके समान लालास्राव भी मन्द हो जाता है, जिससे मुख तथा गलमें शोष हो जानेसे उन्हें पिपासा लगती है। प्राचीन कालमें अभियुक्तोंकी अपराध-परीक्षाके लिए उन्हें थोड़ा सूखा आटा खानेको दिया जाता था। उसमें भी यही रहस्य है। अभियुक्त सचमुच अपराधी होता तो भय, लज्जा, शङ्का आदि मनोभावोंके कारण लालास्राव अपर्याप्त होनेसे आटा क्लिन्न न होनेसे वह निगला न जा सकता था।

क्रोधादि मनोभावोंका शरीर और मन पर कैसा दारुण प्रभाव होता है, इसका वह उदाहरण सुप्रसिद्ध है, जिसमें किसी माताने क्रोधावेशमें अपने शिशुको दूध पिलाया और शिशुक्रोधजन्य विषसे तत्काल मर गया।

१—Suprenel glands-सुप्रारीनल ग्लैन्ड्स ; या Adrenals—एड्रीनल्स।

२—Medulla—मेड्यूला। ३—Adrenaline.

४—Fight, Fright, Flight--reaction. ५—Hypnotised—हिप्नोटाइज्ड।

भावावेशसे महास्रोतस्की गति मन्द या लुप्त होनेका अनुभव भी हममें सबको है। प्रायः सँडास खराब होनेसे मलोत्सर्गका वेग ही लुप्त हो जाता है। इसीलिए विबन्ध रोगके उपायोंके निर्देशमें सँडासकी शुद्धिकी भी गणना की जाती है।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि, भावावेशमें खाये भोजनका स्वाद नहीं लिया जाता, न वह ठीकसे चबाया जाता है, जिससे प्रकारान्तरसे हानि होती है।

आहार-आदि की रम्यता—

भावावेशोंकी पचन संस्थानपर इस विपरीत क्रियाको देखनेसे विशद है, कि अन्नपानका पूर्ण फल प्राप्त करनेके लिए भोजन कितनी शान्तिसे करना चाहिए। तत्काल मानसिक क्षोभ न उत्पन्न होने देनेके लिए भोजन, उपकरण, स्थान और समयकी रम्यता आवश्यक है। देखिये—

इष्टवर्णगन्धरसस्पर्शं विधिविहितमन्नपानं प्राणिनां प्राणिसंज्ञकानां प्राणमाचक्षते कुशलाः। प्रत्यक्षफलदर्शनात्॥ च० सू० २७।३

इष्टमिति अभिमतं हितं च × × ×। प्राणमिति प्राणहेतुत्वात्, यथा आयुर्घृतम्॥ —चक्रपाणि

सौमनस्यं बलं पुष्टिमुत्साहं हर्षणं सुखम्।
स्वादु संजनयत्यन्नमस्वादु च विपर्ययम्॥
भुक्त्वाऽपि यत्प्रार्थयते भूयस्तत् स्वादु भोजनम्॥ सु० सू० ४६।४८२

बलं सर्वधातुस्नेहः। सुखं नीरोगता। —डह्लन

भोक्तारं विजने रम्ये निःसंपाते शुभेशुचौ।
सुगन्धपुष्परचिते समे देशे च भोजयेत्॥ सु० सू० ४६।४५८

विजने एकान्ते। विजने हि भुञ्जानस्य दुष्ट दृष्टिनिपातादिदोषो न भवति। निःसंपाते उल्लोचसहिते। निःसंपाते हि भुञ्जानस्य पांशुप्रक्षेपादिदोषो न भवति। शुभे वास्तुदोषरहिते। शुचौ पवित्रे, तत्र न भूताद्यावेशः। समे निम्नोन्नतत्वरहिते॥ —डह्लन

इष्टे, देशे इष्टसर्वोपकरणे चाश्नीयात्। इष्टे हि देशे भुञ्जानो नानिष्टदेशजैर्मनोविघातकरैर्भावैर्मनोविघातं प्राप्नोति। तथैवेष्टैः सर्वोपकरणैः। तस्मादिष्टे देशे तथेष्टसर्वोपकरणं चाश्नीयात्॥ च० वि० १।४१

मनोविघातकरैर्भावैरिति त्रिविधकुक्षीये वक्ष्यमाणैः[1] कामादिभिश्चित्तोपतापकरैश्चित्तविकारैरित्यर्थः। तथेष्टैश्च सर्वोपकरणैर्भुञ्जानो मनोविघातं न प्राप्नोतीति योजना। अनिष्ट भोजनादेर्मनोविघातो भवति॥ च० वि० १-४१

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक्।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनीन्द्रियाणि च॥ च० चि० १५।१२

कर्मान्तरेणाप्यन्नस्य पाकः संपद्यते, तमाह-अन्नमित्यादि। इष्टशब्देनेह प्रियं हितं चोच्यते न प्रियमात्रम्। अहितस्य प्रियमात्रस्य न देहव्यवस्थितिः गन्धादि तर्पकत्वं च भवति। उपहित-

१—देखिये ऊपर धृत च० वि० २।८-९

मित्युपयुक्तम्। इष्टैरिति प्रियहितैः। × × प्रीणाति पोषयति। × × इन्द्रियाण्यपिह पाञ्चभौतिकान्यस्मद्दर्शने; तानि च प्रतिक्षणं क्षीयमाणानि॥ —चक्रपाणि

अन्नपानका वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श इष्ट (हित और प्रिय—स्वादु[1]) होना चाहिये। जिस स्थानमें भोजन करने बैठे हों, वह भी इष्ट (रम्य), पुष्पादिके गन्धसे युक्त, ऊपरसे आवृत, एकान्त, जिससे दृष्टिदोष न हो, और पवित्र, जिससे भूतादि योनियोंका प्रवेश न हो, होना चाहिये। पात्र आदि उपकरण भी मनोहर होने चाहिये। अन्नपान, स्थान तथा उपकरण प्रिय होंगे, परिणाम-तथा मन, काम, क्रोध, शोक, भय, उद्वेग आदि विकारोंसे अनुपतप्त होगा, तभी हितकर और विधिवत् सेवन किया गया अन्नपान पुष्टि, बल, सौमनस्य (उल्लास), आरोग्य, उत्साह और आनन्दको उत्पन्न करेगा, एवं शरीरमें घ्राण आदि इन्द्रियों और उनके गन्धादि विषयोंको पुष्ट करेगा[2]। ऐसा अन्नपान ही प्राणोंका[3] यथार्थ पोषक होनेसे 'प्राण' कहाता है। विपरीत प्रकारका तथा विपरीत परिस्थितिमें सेवित अन्नपान विपरीत ही परिणाम लाता है।

लाला-स्रावका उद्‌बोधन (उद्दीपन) मुख्यतया रसवह नाडियोंद्वारा रस-ग्रहणके परिणाम-स्वरूप होता है। परन्तु अन्नपानके गन्ध और दर्शनसे भी 'मुखमें पानी' आता है। हॉक[4] ने पता लगाया है कि अप्रिय गन्ध, जैसे इण्डोल[5] नामक वायुकी, आमाशय-रसके स्राव को मन्द कर देते हैं। आमाशय-रस सम्बन्धी जानकारी के लिए क्रियाशारीरवेत्ता जिसके सबसे अधिक कृतज्ञ हैं, उस कार्लसन[6] ने सिद्ध किया है कि जो द्रव्य रसना को प्रिय (स्वादु) होते हैं; वे आमाशय-रसको बहुत अधिक परिमाणमें प्रवृत्त करते हैं। इसीसे स्पष्ट है कि अन्नपानके पचनके साथ रसोईका कितना सम्बन्ध है[7]।

दो कुत्ते लेकर दोनोंके आमाशयमें, उन्हें विदित न हो, इस प्रकार, समभाग प्रोटीन छोड़ दी गयी। पश्चात् उनमें एकको मांस केवल दिखाया गया। १॥ घण्टे पीछे देखा गया कि दूसरे कुत्तेकी अपेक्षया इस कुत्ते ने पाँच गुणा अधिक प्रोटीन पचायी थी। पचनक्रियाका मनके साथ सम्बन्ध इससे विशद है।

परिस्थितिकी रम्यता रोगीके लिए विशेषतः आवश्यक है—

सात्‍त्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्।
कल्पनाविधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः॥

१—स्वादु भोजन वह है, जिसे खानेपर भी उसकी इच्छा बनी रहे। देखिये, ऊपर धृत सु० सू० ४६। ४८२ वचन।

२—आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञानमें इन्द्रियोंको भी भौतिक कहा गया है। धातुओंके समान ये भी नित्य क्षीण होती रहती हैं; तथा यथावत् अन्नपानसे उनकी और गन्धादिकी पुष्टि होती है।

३—'प्राण' शब्दका आयुर्वेद-सम्मत विस्तृत अर्थ पृ० १४ पर देखिये।

४—Hawk.

५—Indole. अन्त्रोंमें प्रोटीनोंके कोथ (सड़न) से उत्पन्न होनेवाला एक वायु, जो अधोवायुके दुर्गंध का कारण है।

६—Carlson.

७—देखिये—Carlson has shown that articles which are pleasant to the taste of the individual evoke considerably more gastric juice than others. We see here the importance of the cook in relation to our digestion.
Handbook of Physiology, by Mc. Dowall, (1948), P. 423.

मनसोऽर्थानुकुल्याद्धि तुष्टिरूर्जा रुचिर्बलम्।
सुखोपभोगता च स्याद्व्याधेश्चातो बलक्षयः॥

च० चि० ३० । ३३१–३३२

कल्पना विधिभिः स्वरस-शृतकल्कादिभिः, सूदशास्त्रोक्तैश्च विधानैः। ऊर्जो मनोबलम् × × ॥ —चक्रपाणि

अन्नपान आदिकी रम्यताका विचार करना रोगीके पाचक और परिचारकके लिए विशेष आवश्यक है। पथ्य-भोजन किंवा औषध निरन्तर सेवन के कारण अथवा अप्रिय होनेके कारण रोगी उसे ग्रहण करनेको प्रवृत्त न हो, तो विभिन्न कल्पनाओं द्वारा उसी द्रव्यको प्रिय बनाकर परोसे। कारण, हितकर द्रव्यको प्रिय स्वरूपमें प्रस्तुत किया जाय, तो मनकी उसके प्रति प्रवृत्ति होनेसे संतोष, मनोबल, रुचि, बल और द्रव्यका सानंन्द ग्रहण होता है, परिणामतया व्याधि क्रमशः नष्ट होती है।

कुशल परिचारक रोगियोंकी भोजनपर अरुचि देखकर परिस्थितिकी रम्यतापर सविशेष ध्यान देते हैं। वे पन्द्रह-बीस मिनट पूर्व ही रोगीको भोजनके आनेकी सूचना देते हैं। उसकी शय्याको झाड़-पोंछकर सामने चौकी रख देते हैं। हाथ-मुख आदि धुलाकर पोंछकर उसे शान्तिपूर्वक बैठा देते हैं। समीपके कमरेसे भोजन परोसते-लाते हुए बरतनोंके शब्द आदिसे इस प्रकारका वातावरण खड़ा कर देते हैं कि, रोगीका ध्यान -उसके प्रति आकृष्ट हो। भोजन लघु (सुपच) रखते हुए भी उसमें वैविध्य, आकर्षण, सुगन्ध, स्वाद आदि ऐसा रखते हैं कि रोगीको हठात् भोजनकी लालसा हो। थाली, कपड़े आदिकी शुद्धता तथा अन्य उपायोंसे रोगीके मनसे द्वेषादिक भाव सर्वथा दूर रखनेका प्रयास करते हैं। भोजनकी प्रशंसा करके तथा अन्य मनोविनोदक गोष्ठीद्वारा उसकी भोजनके प्रति उत्सुकता उत्पन्न कर देते हैं।

चतुर मातायें बच्चोंको भोजन करनेके पश्चात् थोड़ी मिठाई दे देती हैं। मिठाई (मधुर रस) की नैसर्गिक रोचकताके कारण मुखादिके रस तीव्रतासे निकलते हैं, जिससे भोजनके पचनेमें सौकर्य होता है। स्वस्थ पुरुषों और स्त्रियोंके लिए भी यह क्रम उपयोगी है।

उष्ण (ताजे) भोजनकी उपयोगिता—

उष्णमश्नीयात्। उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्यमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, श्लेष्माणं च परिह्रासयति। तस्मादुष्णमश्नीयात्॥

च० वि० १ । ३६

—चक्रपाणि

परिह्रासयतीति भिन्नसंघातं करोति॥

भोजन स्वादु (प्रिय) और पूर्वोक्त गुणोत्पादक हो, इसके लिए उसमें एक गुण यह होना चाहिए कि वह उष्ण (ताजा) हो। उष्ण भोजन स्वादु होनेके अतिरिक्त जठराग्निका दीपक, सुपच, वातानुलोमक और कफके संघातको तोड़नेवाला है।

कितने ही घरोंमें दोनों समयका भोजन एक ही बार बना लिया जाता है, प्रायः सायंकालका भोजन प्रातराशमें दिया जाता है। ये सब पद्धतियाँ अनाचरणीय हैं। भोज्य द्रव्योंकी कल्पनाएँ (प्रकार) कम भले हों, पर ये उष्ण हों, इस बातका ध्यान रखा जाय, तो रसोईका कार्य भारभूत नहीं होता।

स्निग्ध भोजनका महत्त्व—

स्निग्धमश्नीयात् स्निग्धं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चानुदीर्णमग्निमुदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातमनुलोमयति, दृढीकरोतीन्द्रियाणि, बलाभिवृद्धिमुपजनयति, वर्णप्रसादं-चाभि-निवर्तयति। तस्मात्स्निग्धमश्नीयात्॥ च० वि० १। ३७

आहारपरिणामकर अर्थात् भोजनके सम्यक् पचनमें उपयोगी पदार्थोंमें एक स्नेह या स्निग्धता है। इसके कारण अन्न में मार्दव आता है, यह ऊपर कह आये हैं। इस गुणके अतिरिक्त स्निग्ध भोजन अन्नपानको स्वादु (रोचक) बनानेवाला, अग्नि उद्बुद्ध न हो तो उसे उद्बुद्ध करनेवाला, सुपच, वातानुलोमक, इन्द्रियोंको दृढ़ करनेवाला, बलवर्धक और वर्णको निर्मल करनेवाला होता है। अतः सदा स्निग्ध भोजन करना चाहिए।

अन्नपान, देश, काल आदि की रम्यता और रोचकता एवं समचित्तसे भोजन ग्रहण करनेके कारण जो तृप्ति-लाभ होता है, वही संक्षेपमें आहारका सर्वोत्तम गुण है। देखिये—

तृप्तिराहारगुणानाम् (श्रेष्ठा)॥ च० सू० २५।४०

कार्लसनने सिद्ध किया है कि प्राणियोंमें भोजनके गन्ध, दर्शन आदिसे ही पचन-संस्थानकी क्रियाएँ—लालास्राव आदि—उद्दीप्त हो जाती हैं। परन्तु मनुष्य बुद्धिशाली होनेसे वह वास्तवमें भोजन पाकर तृप्ति अनुभव करे यही अधिक महत्त्वकी वस्तु है[१]।

सम्यक् चर्वण—

भोजनके परिपाककी उत्तमताका एक हेतु उसका भली भाँति चबाया जाना है।

भुज्यमानमन्नं कठिनतरदशनाभिघात जर्जरितम्॥ अ० सं० ६।६६ पर —इन्दु

आहारका प्रधान भाग कार्बोहाइड्रेट होते हैं। उनका पाक मुखमें ही होने लगता है। भोजनको जितना चबाया जायगा, उतना ही उसका लालासे संयोग होकर पूर्ण पाक होगा। मुखमें पाक होकर कार्बोहाइड्रेट डेक्स्ट्रिन[२] नामक शर्करामें परिणत होते हैं। डेक्स्ट्रिन आमाशय-रसको प्रवृत्त करती है। इसके सिवाय चबानेसे आहारके खण्ड सूक्ष्म हो जाते हैं। परिणामतया, पाचक पित्त अपने-अपने पाच्य द्रव्यके भीतर तक प्रवेश कर उन्हें ठीक-ठीक पचा सकते हैं। किसी भी कारणसे भोजन सम्यक् चबाया न जाय, तो आमाशय विभिन्न-चेष्टाओं द्वारा उसे कुचल कर एकरस बनानेका प्रयास करता है, परन्तु दन्त-सदृश कठोर अवयवसे साध्य-कार्य आमाशय-तुल्य मृदु अवयवसे होना दुष्कर होता है, जिससे परिपाक अपूर्ण होनेसे अजीर्ण, आनाह (कब्ज) आदि रोग प्रादुर्भूत होते हैं[३]। भोक्ताके न चबानेके स्वभाववश आमाशयको यह परकीय कार्य चिरकाल करना पड़े, तो अन्तको वह हार जाता है।

१—देखिये—Hand book of Physiology, by Mc. Dowall. (1948), P. 423.

२—Dextrin.

३—पक्षियोंका आमाशय अलबत्ता दाँतका भी कार्य करता है। उनके आमाशयकी भित्तियाँ बहुत मोटी होती हैं। पक्षी प्रायः छोटी-छोटी कङ्करियाँ चुगते रहते हैं। ये कङ्करियाँ अन्दर जाकर आमाशयकी भित्तियोंमें गड़ जाती हैं और आमाशयकी चेष्टाओंके समय चक्कीके सदृश अन्नको कुचलती हैं। मगर भी भोजन कुचलनेके लिये इसी प्रकार बड़े-बड़े पत्थर खाता है।

जिनके दाँत गिर जाते हैं, उन्हें प्रायः भोजन सम्यक् चबाया न जा सकनेसे दारुण अजीर्ण हो जाता है, जो दाँतोंकी जोड़ लगवानेसे सरलतासे दूर हो जाता है।

भोजनको द्रवप्राय होने तक चबाया जाय, तो वह अनायास गलेके नीचे उतर जाता है। इससे भोजनके पाचनके लिए जो द्रवकी आवश्यकता होती है, वह भी लाला द्वारा अंशतः पूर्ण होती है। स्वभावतः या किसी तात्कालिक कारणवश शीघ्रतासे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनको पानीकी घूँटोंसे उतारनेका प्रयत्न करते हैं। भोजन ठीक चबाया न जानेसे यों भी लालास्राव न्यून होता है, जलको उपस्थितिसे भी उसमें और न्यूनता आ जाती है।

भोजन शुष्क हो तो लालास्राव कहीं अधिक होता है। एक परीक्षणमें कुत्तेको साधारण मांस दिखाया या खिलाया गया, तो लालास्राव प्रति मिनट ०.५ घन सेण्टीमीटर [1] हुआ। परन्तु शुष्क मांसका चूर्ण खानेको दिया गया, तो यही स्राव प्रति मिनट २ घन सेण्टीमीटर होने लगा।

चबानेमें जो तन्मयता होती है, उसका मानसिक प्रभाव सारी पचनक्रियापर पड़ता है, यह कह आये हैं। चबानेका यह महत्त्व होते हुए भी आधुनिक क्रियाशारीरविदोंका कथन है कि आजसे कुछ काल पूर्व चबानेपर जितना भार दिया जाता था, वह खब्त तो थी ही, उतना चबाना पचनके लिए हानिकर भी है। इस बातका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। संहिताकारोंने बहुत धीमे-धीमे, बहुत समय लगाकर खानेका निषेध किया है—

नातिविलम्बितमश्नीयात्[2] ॥ च० वि० १।४३

यह सूत्र अति चबानेकी खब्तके उपासकोंमें घण्टे-घण्टे बैठकर खानेकी जो धुन देखी जाती है, उसका स्पष्ट विरोधी है।

आहारकी मात्रा—

आहारकी मात्रा आहारके समयोगका महत्त्वपूर्ण-अङ्ग है तथा समयोगपर अवलम्बित अग्निसाम्य और आरोग्यके प्रधान कारणोंमें एक है।

राशिस्तु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः। तत्र सर्वस्याहारस्य प्रमाणग्रहणमेकपिण्डेन सर्वग्रहः, परिग्रहः पुनः प्रमाणग्रहणमेकैकश्येनाहारद्रव्याणाम्। सर्वस्य हि ग्रहः सर्वग्रहः, सर्वतश्च ग्रहः परिग्रह उच्यते ॥ च० वि० १।२८

राशिः प्रमाणम्। मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थ इति मात्रावदाहारस्यौषधस्य च यत् फलं शुभम्, अमात्रस्य हीनस्यातिरिक्तस्य वा यत्फलमशुभम्। यदुक्तं—'तस्य ज्ञानार्थमुचितप्रमाणमनुचितप्रमाणं च राशिसंज्ञं भवति।' सर्वग्रहं विवृणोति—तत्रेत्यादि। सर्वस्येति मिश्रीकृतस्यान्नमांससूपादेरेकपिण्डेन मानम्। परिग्रहं विवृणोति—परिग्रहः पुनरित्यादि। एकैकश्येनेति अन्नस्य कुडवः, सूपस्य पलं, मांसस्य द्विपलमित्याद्यवयवमानपूर्वकं समुदायमानम्। सर्वग्रहेति प्रत्यवयवमाननियमो नास्ति; तेन येनकेनचिदाहारेण प्रत्येकमनियतमानेन सम्पूर्णाहारमात्रानियमनं सर्वग्रहः। एतदेव शब्दव्युत्पत्त्या दर्शयति—सर्वस्यहीत्यादि। सर्वत इति प्रत्येकावयवत इत्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

आहार या औषधकी मात्रा, राशि या प्रमाण दो प्रकारका है—सर्वग्रह और परिग्रह। समस्त द्रव्योंका मिलित प्रमाण सर्वग्रह कहाता है तथा प्रत्येक द्रव्यकी पृथक् मात्रा परिग्रह।

१—१ सेण्टीमीटर=⅖ इञ्च

२—पूर्ण सूत्र-मूल ग्रन्थ अथवा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखिये।

प्रकृति, वय, ऋतु आदिके भेदसे कौन द्रव्य कितना लेना तथा सब द्रव्य मिलाकर कितने प्रमाणमें लेना, इस बातका विचार मात्रा नामसे किया जाता है।

सर्वग्रह—सर्वग्रहका सामान्य लक्षण शास्त्रकारोंने यह दिया है।—

त्रिविधं कुक्षौ स्थापयेदवकाशांशमाहारमुपयुञ्जानः, तद्यथा—एकमवकाशांशं मूर्तानामाहारविकाराणामेकं द्रवाणामेकं पुनर्वातपित्तश्लेष्मणाम्। एतावतीं ह्याहारमात्रामुपयुञ्जानो नामात्राहारजं किंचिदशुभं प्राप्नोति॥ च० वि० २।३

अवकाशांशमिति कोष्ठावकाशभागम्। × × मूर्तानामित्यादयखाद्यानां, द्रवाणामिति लेह्यपेयानाम्। इह चांशशब्दो न समप्रविभागे वर्तते किन्तु यथोचितविभागे × ×॥ —चक्रपाणि

आमाशयके तीन कल्पित विभाग करके एक भाग घन अर्थात् अशित और खाद्य द्रव्योंसे भरे तथा एक भाग द्रव अर्थात् लेह्य और पेय द्रव्योंसे[1]। शेष तृतीय भाग वात-पित्त-कफके लिए खाली रखे। इस पद्धतिसे भोजन करे, तो मात्राहीन (न्यून या अधिक)[2] आहारकी हानिसे पुरुष बच जाता है।

वात-पित्त-कफके लिए तृतीय भाग शेष रखनेका अर्थ यह है कि वातजनित विभिन्न गतियाँ आमाशय थोड़ा-बहुत खाली हो तभी होती हैं। ऊपर कह आये हैं कि खूब पेट भरकर भोजन किया जाय—तृतीयांश शेष न रखा जाय—तो आमाशयकी गतियाँ, कुछ काल रुकी रहती हैं। कुछ अंश आमाशयका रिक्त रहे तो इन गतियोंके कारण पित्त अर्थात् पाचक रस भी अन्नपानके संसर्गमें ठीक आ सकता है। कफका भी ठीक संसर्ग तभी होकर आहारका क्लेदन योग्य प्रकारसे होता है।

आमाशयके इस अंश विभागको और विशद करते हुए आचार्य कहते हैं—

तत्र मात्रावत्त्वं पूर्वमुद्दिष्टं कुक्ष्यंशविभागेन, तद्भूयो विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—कुक्षेरप्रपीड़नमाहारेण, हृदयस्यानवरोधः, पार्श्वयोरविपाटनम्, अनतिगौरवमुदरस्य, प्रीणनमिन्द्रियाणां, क्षुत्पिपासोपरमः, स्थानासनशयनगमनोच्छ्वासप्रश्वासहास्यसंकथासु च सुखानुवृत्तिः, सायं प्रातश्च सुखेन परिणमनं, बलवर्णोपचयकरत्वं च; इति मात्रावतो लक्षणमाहारस्य भवति॥ च० वि० २।६

× × सायं प्रातश्चेति वचनात् सायं भोजनेकृते यदि प्रातः, प्रातश्च कृते यदि सायं सुखेन परिणमनं तथा स्थानासनादिषु सुखानुवृत्तिर्भवति तदा मात्रावद्भोजनमनेन कृतमिति ज्ञेयम्॥ —चक्रपाणि

भोजन करनेके अनन्तर उदरमें दबाव और अति भार तथा पार्श्वोंमें तनावटकी प्रतीति न होना, हृदय (छाती) पर बाधा न होना, इन्द्रियोंका उल्लसित होना, क्षुधा और पिपासाके वेगोंकी शान्ति; प्रातः किया भोजन सायंकालपर्यन्त और सायंकाल किया भोजन प्रातः निर्विघ्न पच जाना तथा उठने, बैठने, सोने, चलने, श्वास लेने-छोड़ने, हँसने, बातचीत करनेमें कठिनाई न अनुभव होना और परिणाममें बल, वर्ण और पुष्टिका उदय—ये सम मात्रामें सेवन किये आहारके लक्षण हैं।

परिग्रह—आधुनिकोंने प्रोटीन आदि प्रत्येक द्रव्यकी पृथक् मात्रा विभिन्न धन्धे करनेवालोंके लिए कितनी-कितनी होनी चाहिए इस बातका निर्णय किया है। क्षौद्रमेह आदि विभिन्न रोगोंमें

१—इन चार प्रकारके आहार द्रव्योंका अर्थ देखिये पृ० १३१ पर।

२—देखिये—अमात्रावत्त्वं पुनर्द्विविधमाचक्षते—हीनमधिकं च। च० वि० २।७

अपवादरूप आहार तथा उनकी मात्राकी सूचियां भी बनायी हैं। प्राचीनोंने इस विषयका विचार निम्न प्रकारसे किया है—

मात्राशी स्यात्। मात्रा पुनरग्निबलापेक्षिणी। यावद्ध्यस्याशनमशितमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्रा प्रमाणं वेदितव्यं भवति॥ च० सू० ५।३-४

×× मात्राऽनपायिपरिमाणम्। अशिरिहायमविशेषेण खाद्यप्राश्यलेह्यपेयानामभ्यवहारे वर्तते ×××। मात्रां व्याकरोति—आहारेत्यादि। आग्नेर्बलमुत्कृष्टं मध्यमल्पं वाऽपेक्ष्योत्कृष्टा मध्याऽल्पा वा मात्रा भवतीत्यग्निबलापेक्षिणी ×××। एतदुक्तं भवति—यदेकस्मिन् पुरुषे एकदा याऽग्निबलेन व्यवस्थापिता मात्रा सा न सर्वकालं भवति। यत ऋतुभेदेन वयोभेदेन च तस्यैवाग्निः कदाचिद्विवृद्धो भवति, यथा हेमन्ते यौवने च, कदाचिन्मन्दो भवति, यथा वर्षासु वार्द्धक्ये च। तेनाऽग्निबलभेदान्मात्राऽप्येकरूपा न भवति किन्तु तत्कालभवमग्निबलमपेक्ष्य पुनः पुनर्मात्राऽपि भिद्यत इति। अग्निबलापेक्षित्वमेव विवृणोति—यावद्धीत्यादि। अशनं चतुर्विधमपि भोज्यम्। प्रकृतिं वातादीनां रसादीनां च साम्यावस्थाम्। ×× तेन यस्यैव यावती मात्रा निर्विकारा तस्यैव सा मन्तव्या नान्येषाम्, प्रतिपुरुषमग्निबलस्य भिन्नत्वात् ×××॥ —चक्रपाणि

मात्रां द्रव्याण्यपेक्षन्ते मात्रा चाग्निमपेक्षते॥ च० सू० २७।३४१

द्रव्याणि मात्रामपेक्षन्ते इति यथोचित मात्रावन्ति सुखं पच्यन्त इत्यर्थः। मात्रा चाग्निमपेक्षत इति प्रतिपुरुषं प्रतिदिनं चाग्निभेदमपेक्ष्य मात्रा महती स्वल्पा वा भवति, न प्रतिनियता मात्रा विद्यत इति भावः। —चक्रपाणि

यथाऽग्न्यभ्यवहारोऽग्निसंधुक्षणानां (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

मात्राका निर्णय अग्नि-बलके अनुसार होता है। अग्नि प्रत्येक पुरुषका प्रकृति आदिकी भिन्नताके कारण भिन्न-भिन्न होता है। एक पुरुषमें भी भिन्न-भिन्न ऋतु, वय, दिन आदिमें मात्रा भिन्न होती रहती है। इस प्रकार अग्निके संक्षेपमें तीन भेद होते हैं—उत्कृष्ट, मध्य और अल्प। प्रकृत्यारम्भक दोषके अनुसार अग्निके तीन विभाग किये जाते हैं—पित्तसे तीक्ष्ण, कफसे मन्द और वातसे विषम[1]। जिस देश, काल आदिमें जिस पुरुषका अग्नि जैसा हो उसके अनुसार ही उस पुरुषको तत्-तत् द्रव्यका सेवन करना चाहिये। अग्निबलानुसार मात्राके निर्णयके लिए सूत्र यह है कि—जो आहार द्रव्य जितनी मात्रामें लेनेपर यथाकाल अर्थात् प्रातः सेवन किया गया सायंकाल, और सायंकाल सेवन किया गया प्रातःकाल पच जाय और पचने पर दोषों, धातुओं और मलोंकी साम्यावस्थामें कोई विकृति न उत्पन्न करे वह उस द्रव्यकी उचित मात्रा है। इसी मात्रामें उसका सेवन करना चाहिए। इस प्रकार मात्रावत् सेवन, अग्निको प्रदीप्त करनेवाले उपक्रमोंमें श्रेष्ठ है।

अग्निबलानुसार मात्राका निर्णय करते हुए द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका विचार उपयोगी होता है। कई द्रव्य स्वभावसे ही गुरु तथा अन्य स्वभावसे ही लघु होते हैं। यथा, मुद्ग स्वभावतः लघु तथा माष स्वभावतः गुरु हैं। संस्कार (धोना, पकाना आदि) से द्रव्योंके स्वाभाविक गौरव-लाघवमें परिवर्तन आ जाता है[2]।

१—इस बातका सप्रमाण विवेचन आगे दोषोंके प्रकरणमें देखिये।

२—देखिये च० सू० २७।३३२-३३९ ; चा० वि० १।२५-२६ ; तथा सु० सू० ४६।४९४।

मात्रागुरुं परिहरेदाहारं द्रव्यतश्च यः ॥ सु० सू० ४६।४९३

जो आहार स्वभावतः गुरु होते हैं उनका आगे निर्दिष्ट रीतिसे मात्रावत् सेवन करना चाहिये। परन्तु जो आहार स्वभाव या संस्कारसे लघु हों वे भी अधिक मात्रामें लिये जाएँ तो मात्रा गुरु हो जाते हैं। अर्थात् लघु द्रव्योंका सेवन भी अमुक मात्रामें ही करना उचित है।

अल्पादाने गुरूणां च लघूनां चातिसेवने।
मात्रा कारणमुद्दिष्टं द्रव्याणां गुरुलाघवे ॥ च० सू० २७।३४०

गुरूणां द्रव्याणामल्पस्य स्तोकमात्रस्यादाने यत् लाघवं तस्मिन् लाघवे मात्रा कारणं, न द्रव्यम्, तस्य गुरुत्वात्। एवं लघूनामतिसेवने गौरवं मात्रा कृतम् ॥ —चक्रपाणि

लघु-द्रव्य अधिक मात्रामें सेवन करनेसे जैसे गुरु हो जाते हैं; वैसे गुरु-द्रव्य अल्प मात्रामें सेवन करनेसे लघु होते हैं। अतः—

गुरूणामल्पमादेयं लघूनां तृप्तिरिष्यते ॥ च० सू० २७।३४१

त्रिभागसौहित्यमर्धभागसौहित्यं वा गुरूणामुपदिश्यते, लघूनामपि च नातिसौहित्यमग्नेर्युक्त्यर्थम् ॥ च० सू० ५।७

×× अग्नेर्युक्तिः स्वमानावस्थितिः ××× ॥ —चक्रपाणि

गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां तृप्तिरिष्यते ॥ सु० सू० ४६।४९५

×× गुरूणां संस्कारस्वभावकृतानां मोदकमाषादीनां संस्कारस्वभावाभ्यामेव गुरुतराणां पिष्टमयवराहपिशितादीनां त्रिभागसौहित्यमेव। अयं चार्थोऽर्धशब्दादवयव वचनाल्लभ्यते। लघूनां तृप्तिरिष्यत इति लघुतराणामेव तृप्तिः; लघूनां पुनरीषत्तृप्तिः ॥ —डल्हन

पिष्टान्नं नैव भुञ्जीत मात्रया वा बुभुक्षितः ॥ सु० सू० ४६।४९३

अथ कथंचित्पिष्टान्नसेवा तदा क्षुधितस्य मात्रयैव नान्यथेति ॥ —डल्हन

गुरु पिष्टमयं तस्मात्तण्डुलान् पृथुकानपि।
न जातु भुक्तवान् खादेन्मात्रां खादेद्बुभुक्षितः ॥ च० सू० ५।९

अतिमात्राशनमामप्रदोषहेतूनां (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

जो द्रव्य स्वभाव या संस्कारसे लघु हों; उनका सेवन थोड़ी भूख (तृप्ति) रखकर करे, अत्यन्त लघु (तथा द्रव) द्रव्योंका सेवन तृप्तिपर्यन्त करे। स्वभाव या संस्कारसे गुरु द्रव्योंका सेवन एक तिहाई भूख रखकर करे। अच्छा तो यह है कि पिष्ट (गूँदा हुआ आटा) से बने द्रव्योंका सेवन न किया जाय। किया ही जाय तो जब भूख लगी हो तब ही और वह भी उपरिलिखित प्रमाणमें ही। यों आहार-द्रव्य मात्रका सेवन भूख होनेपर ही और सप्रमाण करना चाहिये, परन्तु यह नियम पिष्टान्नोंके लिए विशेषतः है। अधिक भोजन आमके प्रकोपक कारणोंमें सबसे बढ़कर है।

स्वभाव-गुरु-द्रव्योंके पचनमें संबद्ध अङ्गोंको क्लेश होता है। यथा, मांस, दाल आदि प्रोटीन-बहुल द्रव्योंका अतिमात्र सेवन करनेसे उनका बहुत-सा अंश शोषित न होकर महास्रोतस्में ही कुथित होकर विक्रिया उत्पन्न करता है। जो अंश शोषित होता है उसके आवश्यक से अधिक पोषक

१—द्रव्योंके गुरुत्व-लघुत्वका विशेष विचार च० सू० ५।१-१२, सु० सू० ४६। ४९३-४९६ आदि में तथा स्वस्थवृत्तके ग्रन्थोंमें देखिये।

अंश—नाइट्रोजन, गन्धक तथा स्फुरक—के दूर करनेका कार्य यकृत् और वृक्कोंको करना पड़ता है। मात्रागुरु द्रव्योंके सेवनसे हानि प्रकट ही है। पिष्टान्नों और मिष्टान्नोंकी गुरुता उनमें पचन-संस्थानके लिए बलप्रद जीवनीय वी के लुप्त हो जानेसे होती है। इन संस्कार गुरु-द्रव्योंका सेवन अल्पमात्रामें किया जाय, तो उनकी उस अल्पमात्राको पचाना शरीरको क्लेशकर नहीं होता। कारण, शरीरमें जो यत्किंचित् पूर्वसंचित जीवनीय वी होता है, वह उनकी इतनी मात्राको पचानेके लिए पर्याप्त होता है।

अग्नि और वायु—

आहार परिणामकर भावोंके निर्देशके प्रसंगसे अल्प वक्तव्य होनेसे अन्य भावोंका विवेचन इस अध्यायमें हमने किया है। इन भावोंमें अग्नि मुख्य तथा वायु उसका प्रधान सहकारी है। इन भावोंका विवरण अगले अध्यायमें करेंगे।

सोलहवां अध्याय

अथात आहारपरिणाम विज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्यख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः।

अग्नि और पित्त—

× × न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते। आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्त्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते × × ×॥ सु० सू० २१।९

× × × आदिशब्दाद्रञ्जन दर्शनादीनि—गृह्यन्ते × ×॥ —डल्हन

× × × धर्माधर्मिरूपतयैवात्राभेद आचार्यस्य विवक्षितः॥ —चक्रपाणि

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति × × ×॥

च० सू० १२।११

पित्तान्तर्गत इति वचनेन शरीरे ज्वालादियुक्तवह्निनिषेधेन पित्तोष्मरूपस्य वह्नेः सद्भावं दर्शयति, न तु पित्तादभेदम् × × ×[1]॥ —चक्रपाणि

जैसे अग्नि-भूत सूर्य आदि द्रव्योंके रूपमें वाह्य सृष्टिमें रहता हुआ दहन (ओषजनके साथ संसर्ग), पचन (रासायनिक क्रिया[2] होकर नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति), रूपोंका दर्शन, द्रव्योंका विशोधन आदि कर्म करता है वैसे प्राणि-शरीरोंमें पित्तके अन्तर्गत रहता हुआ अग्नि उक्त दहनादि विविध कर्म करता हुआ शरीरको अनुगृहीत करता है। इस प्रकार शरीरान्तर्गत अग्नियाँ पित्तसे भिन्न और उसीका एक अङ्ग या धर्म है तथापि चिकित्सा-व्यवहारमें उपयोगिताकी दृष्टिसे पित्त ही अग्नि है ऐसा समझा जाता है।

पहले कह आये हैं कि प्राणिशरीरमें तीन, तेरह किंवा अधिक अग्नि हैं, जो अन्नपानको रस रूपमें तथा रसको विभिन्न धातुओं और मलोंके रूपमें परिणत करते हैं[3]। यह भी कहा जा चुका है कि आधुनिक प्रत्यक्षानुसार महास्रोतस्में क्षरित होनेवाले विभिन्न पाचक रसों, विभिन्न अन्तःस्रावों तथा कोषान्तर्गत विभिन्न पाचक रसोंकी तुलना प्राचीनोंके पित्त या अग्निसे की जा सकती है। महास्रोतस्में क्षरित होनेवाले पाचक रस तथा विभिन्न-अवयवोंके विभिन्न कर्म करनेवाले कोषोंमें स्थित पाचक रसोंकी क्रिया उनके अन्तर्गत 'एन्ज़ाइम'[4] नामक क्रियाशील द्रव्यों तथा 'को-एन्ज़ाइम'[5] नामक उनके सहकारी द्रव्योंके कारण होती है। महास्रोतस्में क्षरित सभी पित्त 'एन्ज़ाइम' श्रेणीके अन्तर्गत नहीं हैं। आमाशयका लवणाम्ल[6] तथा याकृत-पित्त[7] इसके अपवाद हैं। इस प्रकार संक्षेपमें प्राचीनोंके पाचक-पित्तोंको नवीन मतसे तीन वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—

१-एन्ज़ाइम तथा को-एन्ज़ाइम; २-इनसे भिन्न पाचक रस तथा ३--अन्तःस्राव।

१—ये सूत्र तथा इनकी टीका सम्पूर्ण अग्नि एवं पित्तके भेदाभेदका विचार आगे पित्तधिकारमें देखिये। २—रसायनिक क्रियाका अर्थ पृ० १९४ पर देखिये।

३—देखिये—पृ० २४, ८० तथा १३०-१३७। ४—Enzyme.

५—Co-enzyme. ६—Hydrochloria acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड।

७—Bile—बाइल।

दोषोंकी वर्ग-रूपता—

पित्त किंवा अग्निका नव्यप्रत्यक्षानुसार ऊपर दिया अर्थ देखनेसे तथा इस विषयमें अधिक विचार करनेसे विदित होगा कि पित्त केवल एक द्रव्यका नाम नहीं। किन्तु, पाक किंवा रासायनिक क्रिया द्वारा भिन्न गुण कर्मवाले द्रव्यान्तर तथा ऊष्मा (ताप) उत्पन्न करना जिनका प्रमुख लक्षण है ऐसे अनेक द्रव्योंके वर्गका नाम पित्त है। यही स्थिति वात और कफकी भी है। आशय यह कि— प्राकृत-अवस्थामें तत्-तत् समान कर्म करनेवाले; समान ही आहार, विहार तथा औषध द्रव्योंसे प्रकोप किंवा प्रशम प्राप्त करनेवाले एवं प्रकुपित अथवा क्षीण अवस्थामें तत्-तत् समान ही लक्षणोंसे अभिव्यक्त होनेवाले तीन प्रकारके विभिन्न द्रव्योंके वर्गोंका ही नाम वात, पित्त तथा कफ है। ये एक-एक द्रव्य नहीं हैं। संहितामें उनके उल्लिखित साम्यको दृष्टिमें रखकर उनका एकवचनमें व्यवहार होता है, यह और बात है[1]।

प्राप्त प्राचीन संहिताओंमें दोषोंकी वर्ग-रूपता निर्दिष्ट नहीं है। हरिवंश पुराणमें इसका स्पष्ट निर्देश है।—

कफवर्गे भवेच्छुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ॥

हरिवंश पर्व १, अ० ४०, श्लो० ५२

इसमें दोषोंके वर्गमें धातुओंको भी विभक्त किया गया है।

त्रिदोष-विषयक नव्य लेखकोंने भी प्रारम्भसे ही दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका आधुनिक क्रिया-शारीरके शब्दोंमें अनुवाद करते हुए उनका साम्य भिन्न-भिन्न द्रव्योंसे ही बताया है। हरिवंशका उद्धृत श्लोक इस दिशामें प्रमाणभूत है[2]।

दोषोंके एक-एक भेदका प्रामुख्य—

प्रसङ्गवश कह दूँ कि प्रत्येक दोष अनेक द्रव्योंका वर्ग-रूप होते हुए भी संहितोक्त लक्षणोंके अनुशीलनसे विदित होता है, तथा वृद्धवैद्योंके व्यवहारसे इस बातका समर्थन होता है कि, विशेषतः प्रकुपितावस्थाके लक्षण तो प्रत्येक दोषके एक-एक भेदको ही प्रधानतया द्योतित करते हैं। इस प्रकार वैद्योंमें तथा जनतामें पित्त नामसे याकृत-पित्त, वात नामसे अधोवायु तथा कफ नामसे 'बलगम' ही प्रसिद्ध है। जैसे एक समय भूलसे प्रत्यक्ष पृथ्वी, जल आदिको ही महाभूत मानकर भारतीय दर्शन और विज्ञानको उपहासका विषय बनाया गया, उसी प्रकार दोषोंके उक्त एक-एक भेदको ही पित्त, वात और कफ समझ कर आयुर्वेदके प्रति अन्याय किया गया। दोषोंका यथार्थ स्वरूप उनको

१—गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्यका मत है कि—आयुर्वेदमें ज्वर आदि नामोंसे वर्णित रोग भी एक-एक रोग नहीं हैं, किन्तु एक-दो, एक-दो समान लक्षणोंको प्रमुखतया दृष्टिमें रखकर बनाये गये वर्ग हैं। देखिये 'सचित्र आयुर्वेद' नवम्बर १९४९, पृ० ३५७।

२—शतशः विघ्नोंके कारण प्राचीन आयुर्वेदके विलुप्तप्राय हो जानेके कारण आकर-ग्रन्थोंमें यह सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता इसमें आश्चर्यकी बात नहीं। हरिवंशका कथन अवश्य किसी लुप्त संहिताके आधारपर होना चाहिये। आयुर्वेदके अनेक तथ्य ऐसे हैं जो उपलभ्यमान मूल संहिताओंमें नहीं प्राप्त होते, परन्तु पिछले वैद्यक ग्रन्थोंमें या ऐसे ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं, जिनका प्रधान विषय वैद्यक नहीं है। लुप्तालुप्त-आयुर्वेदके जीर्णोद्धारके लिए सबका परिशीलन आवश्यक है। आधुनिक वैद्यकसे लुप्तांशकी पूर्ति और व्याख्या करनी चाहिये। इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं रह गयी है।

वर्ग-रूप माननेसे ही विशद हो सकता है। ऐसी स्थितिमें वैद्यों और जनतामें उक्त एक-एक द्रव्य ही को पित्त, वात और कफ समझ लेनेका कारण है। जैसे अपने नैसर्गिक धमनके कारण धमनीमात्रकी परीक्षा नाड़ीके रूपमें की जा सकती है, तथापि सुलभ होनेसे प्रकोष्ठीया धमनीकी ही, और कदाचित् अन्य नाड़ियोंकी भी, परीक्षा की जाती है, वैसे अन्य दोष सम, कुपित या क्षीण किस अवस्थामें हैं इस बातकी परीक्षा दोषोंके एक-एक सुलभ भेदकी परीक्षासे सम्यक् हो सकती है। जो स्थिति दोषोंके उक्त एक-एक भेदकी होगी, वही अन्य भेदोंकी भी। उसे ही लक्ष्यमें रखकर सम, उसे समावस्थामें रखनेका प्रयत्न किया जाय, कुपित उसे उचित प्रमाणमें क्षीण करके समावस्थामें लाया जाय एवं क्षीण उसी भेदको योग्य प्रमाणमें बढ़ाकर सम किया जाय तो दोषके अन्य भेद स्वयं समावस्थित हो जाते हैं। दोषोंके एक-एक भेदको प्रामुख्य देनेका यह आशय मुझे प्रतीत होता है। यह भी सम्भव है कि, प्राकृतावस्थामें ये भेद अपने वर्गके अन्य भेदोंको प्रभावित करते हों, एवं इनके कुपित होने और क्षीण होनेका भी प्रभाव अन्य भेदोंपर भी पड़ता हो। अर्थात्—उक्त दोषोंके उक्त तीन भेद अपने-अपने वर्गोंके साम्य, क्षय या कोपके केवल ज्ञापक (द्योतक, सूचक) ही नहीं, प्रत्युत अपनी समता आदि अवस्थाओं द्वारा अपने वर्गके अन्य भेदोंको प्रभावित करके उनके द्वारा विभिन्न प्राकृत-विकृत कर्म करानेमें भी हेतुभूत हों यह सम्भव है। नव्य चिकित्साशास्त्र इतनी हद तक हमारा साथ नहीं देता। याकृत-पित्तका प्रभाव 'अग्नि रस' (अग्न्याशयके पाचक रस) के विभिन्न 'एन्ज़ाइमों'पर पड़ता है, यह अवश्य विदित हुआ है। अस्तु।

5 *अन्तरग्नि, कायाग्नि या जाठराग्नि—*

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशय मध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि। तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणांपित्तस्थानानां शरीरस्य चाऽग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति। तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा × ×॥

सु० सू० २१।१०

विशेषेण भेदेन। विवेचयति च पृथक्करोति दोषरससूत्रपुरीषाणि × ×॥ —डल्हन

अदृष्टहेतुकेन विशेषेणेति देहजनकेनादृष्टेन हि बाह्यादग्नेर्विशिष्टोऽयमग्निरारभ्यते, येनैवंविधमन्नपचनरस मलविवेचनाग्न्यन्तरानुग्रह शरीर रक्षणादीनि करोतीति भावः। शेषाणां पित्तस्थानानामिति तथा शरीरस्य चाग्निकर्मणेति पञ्चभूताग्नि समधात्वग्निकर्मणा॥ —चक्रपाणि

तत्र जाठराग्निः सर्वानेवाहाररसमलविपाकान् पचति, भौतिकास्त्वग्नयः स्वान्-स्वान् गुणान् जनयन्ति। उक्तं च "जाठरेणाग्निना पूर्वं कृते संघातभेदे पश्चाद् भूताग्नयः पञ्च स्वं-स्व द्रव्यं पचन्ति" इति। अयं च भूताग्निव्यापारो धातुष्वप्यस्ति, यतो धातुष्वपि पञ्चभूतानि सन्ति × ×॥

च० चि० १५।१३ पर —चक्रपाणि

तत्र यदामपक्वाशयमध्यस्थं पञ्चमहाभूतात्मकत्वेऽपि तेजोगुणोत्कर्षात् क्षपितसोमगुणं ततश्च त्यक्तद्रवस्वभावं सहकारिकारणैर्वायुक्लेदादिभिरनुग्रहादहनपाचनादिक्रियया लब्धाग्निशब्दं पित्तमन्नं पचति सारकिट्टौ विभजति शेषाणि च पित्तस्थानानि तत्रस्थमेवानुगृह्णाति तत्पाचकमित्युच्यते॥ अ० सं० सू० २०

× × तत्र पक्वामाशयमध्यगम्॥

× × × × ×

तत्रस्थमेव पित्तानां शेषाणामप्यनुग्रहम् ॥
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम् ॥

अ० हृ० सू० १२।१०-१२

पित्त के पाँच[1] भेदोंमें एक पाचक पित्त है। पक्वाशय और आमाशयके मध्यमें[2] रहकर समान आदि वायुओं तथा क्लेद आदि सहकारी कारणोंकी सहायतासे यह पाचक पित्त अशित आदि चार प्रकार के अन्नपानको पचाता है—उसके संघात (स्थूलता) को भिन्न करके उसे सूक्ष्म स्रोतों—ग्राहक-केशिकाओं और रसायनियोंमें प्रवेशके योग्य बना देता है। पश्चात् दोष, रस (सार), मूत्र और पुरीषके रूपमें उन्हें विभक्त कर देता है। बाह्य अग्निके समान इस पाचक पित्तमें पचन, शोधन और विभजन रूप क्रियाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, जिससे इसे पाचक-अग्नि, अन्तरग्नि, कायाग्नि या जाठराग्नि ये अग्निवाचक नाम दिये जाते हैं। यों यह पञ्चमहाभूतात्मक होता है, तथापि इसमें अग्नि महाभूतका प्राधान्य होनेसे जलतत्त्व क्षीण होकर द्रवत्व (विशेष) नहीं होता। यह पाचक पित्त अपने इसी स्थानमें रहता हुआ अन्य स्थानोंके पाचक-पित्तों (धात्वग्नियों और भूताग्नियों) को भी बल अर्पित करता है। कारण, प्रथम इसकी क्रियासे अन्नपान स्थूलसे सूक्ष्म हो जाता है, उसके पश्चात् ही उसपर धात्वग्नि और भूताग्नि क्रिया कर सकते हैं। धात्वग्नियों तथा भूताग्नियों के सदृश आलोचक आदि पित्त या अग्नि भी अपने-अपने कर्मके लिए इस पाचक पित्त पर ही अवलम्बित हैं। इसी कारण समस्त पित्तों या अग्नियोंमें यह जठरगत पाचक पित्त ही श्रेष्ठ है। इसके कर्म अग्निवत् होनेसे उनका तथा पित्तमात्रके कर्मोंका मिलित नाम 'अग्निकर्म' है।

जठराग्निकी मुख्यताके ऊपर दिये कारण 'संघातभेद' के साथ गत-अध्याय में गणित; यह कारण भी जोड़ देना चाहिये कि जठराग्निकृत संघात-भेदके कारण अन्नपान सूक्ष्मके अतिरिक्त अनपायी (अहानिकर) रूपमें भी परिणत हो जाता है। अन्नपान स्व-रूपमें धातु-कोषोंको प्राप्त हो तो वे अपने अग्नियोंकी सहायतासे उसका उपयोग नहीं कर सकते, इतना ही नहीं अन्नपानगत प्रोटीन आदि द्रव्य स्व-रूपमें कोषों और शरीरके लिए घातक भी सिद्ध होते हैं।

अन्तरग्नि शेष पित्तोंको बल देता है, इसका नव्य दृष्टिसे यह भी अर्थ है कि अन्तरग्नि द्वारा पाककी क्रियासे उत्पन्न घटक द्रव्य मिले तभी शरीरमें अन्यत्र स्थित पित्तोंका निर्माण होना संभव है।

प्राचीन मतसे पाचकाग्निका इतना विचार कर अब हम 'एन्ज़ाइमों' तथा 'को-इन्ज़ाइमों' का स्वरूप देखते हैं। शेष अन्तःस्रावोंका स्वरूपवर्णन रसधातुके प्रकरणमें करेंगे, जहाँ इनका तथा धात्वग्नियोंका साम्य सुगमतासे देखा जा सकेगा।

एन्ज़ाइम—

कैटेलिस्ट या कैटेलाइजर—आधुनिक रसायन-शास्त्रमें कैटेलिस्ट[3] या कैटेलाइजर[4] नामक द्रव्योंका निर्देश है। इनका यह स्वभाव होता है कि सांख्य-पुरुषके समान ये स्वयं रासायनिक क्रिया में भाग नहीं लेते—अर्थात् रासायनिक क्रिया के परिणामस्वरूप इनमें कोई परिवर्तन नहीं

१—दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका अर्थ—'पाँच' निर्देश मुख्यताके द्योतनार्थ है। इसका कारण जैसा कि दोषोंके विशेष निरूपणके प्रसङ्गमें देखेंगे, यह है कि पाँच-पाँच स्थानोंपर प्राकृतावस्थामें दोषोंकी क्रिया विशेषतया लक्षित होती है।

२—यह स्थान-निर्देश अम्लरस या याकृत-पित्तकी मुख्यता द्योतित करनेके लिये है, यह स्मरण रखना चाहिए। ३—Catalyst ४—Catalyzer

होता। परन्तु इनके सांनिध्य (उपस्थिति) के कारण ही रासायनिक क्रिया असाधारण वेगसे[१] हो जाती है। इनकी इस क्रियाको 'कैटेलिसिस'[२] या 'कैटेलिटिक एक्शन'[३] कहते हैं।

रसायन-शास्त्रके प्रारम्भिक व्याख्यानोंमें ही विद्यालयके विद्यार्थीको इन संज्ञाओंका परिचय हो चुका होता है। प्रयोगशाला[४] में ओषजन बनानेकी जो पद्धति बतायी जाती है, उसमें ओषजन, पोटाशियमक्लोरेट[५] नामक द्रव्यसे प्रादुर्भूत होता है। यह द्रव्य पोटाशियम, क्लोरीन तथा ओषजनका समास है। अकेले इस समाससे वर्षों प्रतीक्षा करनेपर भी कदाचित् ओषजन उतने प्रमाणमें न निकले। परन्तु इसमें मैंगेनीज़ डाइऑक्साइड[६] मिलाया जाय तो उसकी उपस्थिति मात्रसे देखते-देखते पोटाशियम क्लोरेटसे ओषजन पृथक् होकर परीक्षा-पात्रमें सञ्चित होने लगती है।

अपने विषयका एक उदाहरण लें। पिष्टसार, हम देख आये हैं[७], एक कार्बोहाइड्रेट है। इसे जलमें मिलाकर रखा जाय तो यह अन्तको अपनी घटक शर्कराओंमें विश्लिष्ट हो जाता है। परन्तु यह क्रिया इतनी मन्दतासे होती है कि इसमें कई वर्ष लगना सम्भव है, जिसे दृष्टिमें रखकर यही कह सकते हैं कि रासायनिक क्रिया होती ही नहीं। परन्तु इसी मिश्रणमें गन्धकाम्ल[८] मिलाकर क्वथनाङ्क[९] (खौलनेका अंश) तक गरम किया जाय तो कुछ ही मिनटोंमें रासायनिक क्रिया पूर्ण हो कर पिष्टसार शर्कराओंमें परिणत हो जाता है। महास्रोतमें निःस्रुत होनेवाले कई पाचक पित्तोंमें भी ऐसे ही क्रियाशील द्रव्य होते हैं जो पिष्टसारोंके पचन—शर्करा रूपमें परिणमन—की इस क्रियाको वेगवती बना देते हैं। पर यह विषय तो हम आगे देखेंगे ही।

और एक उदाहरण लें। आप जानते हैं; जल ओषजन और उदजनका समवाय है। ये दोनों वायु साधारण ऊष्मा पर संयुक्त होकर जल नहीं बनाते। परन्तु अल्प घनत्ववाली प्लैटीनम धातुकी उपस्थितिमें दोनों तत्काल मिलकर जलरूप हो जाते हैं। इस रासायनिक क्रियामें प्लैटीनममें कोई परिवर्तन नहीं होता।

कर्णपूय या व्रणोंको शुद्ध करनेके लिए हायड्रोजन पर-ऑक्साइड[१०] का प्रयोग होता है, यह सब जानते हैं। उदजनके दो तथा ओषजनका एक-अणु मिलकर जल बनता है[११]। इसी जलमें ओषजनका एक अधिक-अणु मिलनेसे हायड्रोजन पर-आक्साइड[१२] बनता है। यह द्रव्य ठीक तरह रखा न जाय तो स्वतः विश्लिष्ट होकर जल और ओषजनमें परिणत होकर अन्तको जलमात्र शेष रह जाता है। परन्तु रक्तमें तथा शरीरके इतर धातुओंके जलीय घोलोंमें यह विशेषता होती है कि उनकी उपस्थितिसे यह क्रिया द्रुत वेगसे होती है, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हमें व्रणशोधनादिमें होता है।

१—Velocity—वेलोसिटी। २—Catalysis. ३—Catalytic action.
४—Laboratory लेबोरेटरी। ५—Potassium Chlorate सूत्र $KClO_3$.
६—Monganese dioxide ; सूत्र MnO_2.
७—देखिये पृ० १९९।
८—Sulphuric acid—सल्फ्यूरिक एसिड ; सूत्र—H_2SO_4.
९—Boiling point—बॉयलिङ्ग पॉइण्ट।
१०—Hydrogen Per-oxide. ११—द्योतक सूत्र—H_2O.
१२—द्योतक सूत्र—H_2O_2.

७. संधान आदि क्रियाएँ—वैज्ञानिक प्रगतिका इतिहास देखनेसे विदित होता है कि, संधान (मद्य-निर्माण), दूधका दहीमें परिणमन तथा कोथ (सड़ांद) जिनका कारण पहले कुछ अन्य समझा जाता था, अधिक अनुसन्धानसे ज्ञात हुआ कि वे भी यथार्थमें कैटेलिस्ट श्रेणीके द्रव्योंके प्रभावसे होनेवाली क्रियाएँ ही हैं। यह भी पोछेसे विदित हुआ कि महास्रोतमें अन्नपानका पचन होकर सूक्ष्म द्रव्योंमें परिणमन तथा धातु-कोषोंमें विभिन्न रासायनिक-क्रिया होकर नये-नये पोषक या मल-रूप द्रव्योंकी उत्पत्ति भी कैटेलिस्ट-वर्गीय द्रव्योंकी क्रियाके कारण ही होती है।

संधान या अभिषवण[१] में शर्करा विश्लिष्ट होकर मद्यसार[२] तथा अङ्गाराम्ल वायु[३] में परिणत होती है। अङ्गाराम्ल-वायु बुद्बुदोंके रूपमें बाहर निकलती है। यह क्रिया यीस्ट नामक जीवाणुओंके प्रभावसे होती है। जीवनीय 'बी' के योनिद्रव्यके रूपमें यीस्टका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। ये जीवाणु वायुमण्डलमें पुष्कल होते हैं। आसव-अरिष्ट आदि संधान बनाते समय किण्व (पहले बनाये आसवादिकी गाद) न डालें तो भी वायुमण्डलसे यीस्ट प्रविष्ट होकर संधान कर देते हैं। परन्तु जिस प्रकार अच्छे जमे दहीका जामन लेकर दूधमें छोड़ें तो दही निश्चित और उत्तम जमता है, वैसे ही अच्छे बने (अर्थात् शुक्त-सिरके-के रूपमें परिणत न हुए) आसवादिकी गाद लें तो संधान-कारक यीस्टका ही प्रक्षेप हुआ है ; इस बातका निश्चय रहनेसे आसवके उत्तम बननेका विश्वास रहता है। अन्यथा, वायुमण्डलके भरोसे यह काम छोड़ दें तो यीस्टके साथ शुक्ताम्ल-जीवाणु जाने तथा उनकी क्रियासे आसवादि मद्य न बनकर शुक्त बननेकी आशङ्का रहती है।

आधुनिक रसायनिक द्रव्य-विक्रेताओं (केमिस्ट-ड्रगिस्टों) के यहाँ यीस्ट श्वेतचूर्णके रूपमें मिल सकता है।

जैसे आसवादि मद्यसार-मय द्रव्य बननेमें विशिष्ट जीवाणु (यीस्ट) निमित्त होते हैं, वैसे शुक्त (सिरका) बननेमें भी एक विशिष्ट जीवाणु कारणभूत है, जिसे शुक्ताम्ल-जीवाणु[४] कहते हैं। यह भी यीस्टके समान वायुमण्डलमें अत्यधिक मात्रामें रहता है। आसवादिके खट्टे पड़ जानेका कारण इसके द्वारा संधान हो जाना है।

दूधका दही बनना भी एक जीवाणुके कारण होता है, जिसे तक्राम्ल-जीवाणु[५] कहते हैं। यह भी वायुमण्डलमें तथा जमे दहीमें पुष्कल होता है।

प्रसंगवश इस वर्णनसे यह भी जाना जा सकता है कि जीवाणु सभी रोगजनक हों यह बात नहीं। सत्य यह है कि जीवाणु चाहे उद्भिद्-वर्गीय हों या प्राणि-वर्गीय, उनके दो भेद हैं—रोगजनक[६] और अरोगजनक[७]। पिछले प्रकारके जीवाणुओंके उपकार उनके परिचयसे जाने जा सकते हैं। तक्राम्ल-जीवाणुओंको तो आजसे कुछ ही पूर्व मेचनीकाफ[८] नामक रूसी वैज्ञानिकके

१—आसवमें 'षुञ् अभिषवे' धातु है। उसका अभिषव-अर्थ संधानके लिए पहलेसे प्रचलित है।

२—Alcohol—आलकोहल। कई कहते हैं कि प्राचीनोंके 'कोहल' नामक संधान (देखिये शार्ङ्गधर संहिता पूर्व खण्ड) के वाचक द्रव्य कोहलमें ही अरबी उपसर्ग 'अल' लगकर आलकोहल शब्द बना है। अतः भारतीय भाषाओंमें भी अपनी पुरानी संज्ञा 'कोहल' अपना लेनी चाहिये।

३—Carbon dioxide—कार्बन डाई-ऑक्साइड ; CO_2.

४—Acetic-acid producing bacteria—एसिटिक एसिड प्रोड्यूसिंग बैक्टीरिया।

५—Lactic acid bacteria—लैक्टिक एसिड बैक्टीरिया।

६—Pathogenic—पैथोजेनिक।

७—Non-pathogenic—नॉन-पैथोजेनिक। ८—Metchnikoff.

अन्वेषणने अपूर्व महत्ता दे दी थी। उसका कथन था कि पक्वाशय-गत जीवाणुओंकी क्रियासे विभिन्न विष-द्रव्य उत्पन्न हो-होकर शोषित होते और शरीर धातुओंमें पहुंचकर उनको विकार-ग्रस्त करते हैं। इस क्रियाको उसने आत्म-संक्रमण[1] नाम दिया था। धातुकोषों पर इस क्रियाका जितना प्रभाव होगा, उतनी ही उनकी, परिणाममें शरीरकी, आयु क्षीण होगी। तक्राम्ल-जीवाणुओं में पक्वाशय-गत जीवाणुओं तथा उनके उत्पादित विष-द्रव्यों[2] के कवलन[3] (भक्षण) का स्वभाव विशेष होता है[4]। दही और तक्रका सेवन करनेवालोंमें इसी कारण रोगजनक तथा आयुको क्षीण करनेवाले उक्त जीवाणुओंकी क्रिया मन्द होनेसे वे दीर्घायु होते हैं। उसका यह भी कहना था कि देश-भेदसे तक्राम्ल-जीवाणुओंकी कवलन-शक्ति भी भिन्न और न्यूनाधिक होती है। इस दृष्टिसे मध्य यूरोपका दही सर्वोत्तम है और वहींके निवासी संसारमें सबसे अधिक दीर्घायु भी होते हैं। मेचनीकाफको अपनी शोधके कारण 'नोबल-पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ था[5]।

जो हो। सन्धान आदिके सदृश कोथ[6]का कारण भी जीवाणु हैं, जिनके प्रभावसे सेन्द्रिय निर्जीव पदार्थ विश्लिष्ट होते तथा तीव्र दुर्गन्ध उत्पन्न होता है।

आसव तथा अन्य मद्योंके सन्धानमें अङ्गाराम्ल-वायुके बुद्‌बुदोंके कारण अंग्रेजीमें इस क्रियाको 'फर्मेंएटेशन'[7] नाम दिया गया है। इस शब्दके मूल लेटिन धातु[8]का अर्थ उबलना है। उबलने या क्वाथकी क्रियाके समान मद्य, शुक्त, दही और कोथ सबमें बुद्‌बुदोंका आविर्भाव होनेसे सबको 'फर्मेंएटेशन' कहा गया है। प्राचीन भारतीयोंने भी कोथके अतिरिक्त अन्य क्रियाओंका परस्पर साम्य देखकर उन्हें एक ही 'सन्धान' वर्गमें समाविष्ट किया था[9]।

कालक्रमसे विदित हुआ कि इन सब क्रियाओंके कारण तत्-तत् जीवाणु हैं। ये जीवाणु अपने देहमें विशिष्ट द्रव्य उत्पन्न करते हैं, जो पूर्ववर्णित 'कैटेलिस्ट' श्रेणीके द्रव्योंके समान ही तत्-तत् क्रियाको वेगवती बनाते हैं, और कभी-कभी आरम्भ भी करते हैं। इन्हें स्वभावतः फर्मेंएटेशन शब्दका अनुसरण करते हुए 'फर्मेंएट'[10] संज्ञा दी गयी।

पीछेसे ज्ञात हुआ कि मुख, आमाशय आदिसे क्षरित होनेवाले पाचक रसोंके अन्तर्गत भी इसी प्रकारके (कैटेलिस्ट) द्रव्य होते हैं। लाला आदि पाचक रसोंकी पाचनी क्रियाका कारण वस्तुतः ये द्रव्य ही हैं, जो इन रसोंके बनानेवाली-ग्रन्थियोंके कोषों द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। अधिक अनुसन्धानसे विदित हुआ कि शरीरावयवोंके विभिन्न कोषोंमें जो धातुरूप या मलरूप द्रव्य

१—Auto-infection—ऑटो-इन्फेक्शन।

२—Toxins—टॉक्सिन्स।

३—Phagocytosis—फैगोसाइटोसिस ; देखिये पृ० १५३।

४—व्रणोंके कई योगोंमें दही, तक्र या पनीरका उपयोग देखा जाता है। उसका नव्य-मतानुसार आशय इससे समझा जा सकता है।

५—प्राचीनोंने दहीकी शुक्तों (सिरका, अचार) में गणना की है। (देखिये—मनुस्मृति अ० ५।९-१०)। इससे सूचित है कि वे जानते थे कि दही संधान-वर्गीय कल्प है। आयुर्वेदमें आसव, मदिरा आदिको भी शुक्तके साथ संधान-वर्गमें रखा गया है। आजकल भी विभिन्न मद्य, आसवादि, दही, कोथ, शुक्त इन सबको 'फर्मेण्टेशन' इस एक ही वर्गमें रखा जाता है। इनके उत्पादक जीवाणु भिन्न हैं, यह नवीनोंने विशेष बताया है।

६—Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन। ७—Fermentation. ८—Ferveo फर्वो।

९—देखिये, ऊपर टिप्पणी। १०—Ferment,

बनानेकी क्रिया होती है ; उसका कारण उन कोषों द्वारा बनाये जानेवाले 'कैटेलिस्ट' जातीय विविध द्रव्य ही हैं। ये द्रव्य कोषोंके अन्तर्गत बनते होनेसे इन्हें 'एन्ज़ाइम'[1] नाम दिया गया। पूर्व कथित आसव, मद्यादि क्रियाएँ भी एतज्जातीय एन्ज़ाइमोंसे ही होती हैं, तथापि उनके लिए 'फर्मेण्ट' शब्द ही रूढ़ हो गया होनेसे उसीका अधिक व्यवहार होता है। पृथक् फर्मेण्टोंके पूर्वदत्त नाम भी प्रचलित हैं, जब कि शेष एन्ज़ाइमोंका नामकरण उनके पाच्य द्रव्यके नामके अन्तमें 'एज़'[2] प्रत्यय लगाकर किया जाता है। यथा, पिष्टसार-वाचक 'एमाइलम'[3]. शब्दमें 'एज़' प्रत्यय लगानेसे 'एमाइलेज़'[4] शब्द बनता है, जो इस बातका द्योतक है कि एमाइलेज़ पिष्टसारका पचन कर उन्हें शर्कराओंमें परिणत करता है।

संहिताकारोंने पित्त और अग्निको परमार्थतः (वास्तवमें) भिन्न मानकर अग्नि अर्थात् पित्तोंके पाचकत्व आदि कर्मोंको उनका धर्म बताया है[5] और कहा है कि अग्नि 'पित्तके अन्तर्गत' रहकर प्राकृत या विकृत-स्थितिमें रहता हुआ सम्यक्-पचन आदि शुभ किंवा असम्यक् पाकादि अशुभ कर्म करता है। विभिन्न 'एन्ज़ाइम' पाचक रसोंके अन्तर्गत रहते हैं, इस ऊपर दिये वर्णन तथा पित्त और अग्निके उक्त सम्बन्धमें परस्पर साम्य देखा जा सकता है ; यद्यपि पित्त-द्रव्यमें इन 'एन्ज़ाइमों'के अतिरिक्त अन्तःस्रावों तथा एन्ज़ाइम-शून्य पाचक रसों (याकृत पित्त तथा लवणाम्ल) का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है।

प्रसङ्गवश एन्ज़ाइमोंके उक्त धर्मको लक्ष्यमें रखकर आयुर्वेदकी एक संज्ञाकी व्याख्या की जा सकती है। द्रव्यगुणशास्त्रमें नागकेशर आदि द्रव्य पाचन कहे गये हैं[6], जो अग्निको प्रदीप्त नहीं करते, परन्तु आम (अपक्व-अन्न) को पचाते हैं। अनुमान होता है, इन द्रव्योंमें कोई एन्ज़ाइम स्व-रूपमें अथवा अपने पूर्व-रूपमें विद्यमान रहते हैं, जो क्षुधाको प्रदीप्त नहीं करते, किन्तु अपने पाचक स्वभावसे महास्रोतमें क्षरित होनेवाले पित्तोंके एन्ज़ाइमोंके समान पूर्वभुक्त अजीर्ण (न पचे) अन्न-पानका पचन करते हैं। इस स्थलपर यह स्मरण किया जा सकता है कि, पचन संस्थानपर क्रिया करनेवाले कई जीवनीय वस्तुतः 'एन्ज़ाइम' किंवा 'सहकारी एन्ज़ाइम' हैं। डाक्टरी निघण्टुमें एक-दो द्रव्य ऐसे हैं, जिनमें एन्ज़ाइम होना विदित है। यथा, पपीते (एरण्ड खरबूजे) के दूधमें पैपन[7] नामक एन्ज़ाइम होता है, जो आमाशय-रसगत पेप्सीन[8]के समान प्रोटीनोंका पाचक है, एवं यव आदि अङ्कुरित धान्य, जिन्हें अंग्रेजीमें मॉल्ट कहते हैं, उनमें डायास्टेज़ नामक एन्ज़ाइम उत्पन्न हो जाता है, जो पिष्टसारको धान्य शर्करामें परिणत करता है। इसी कारण मॉल्टके अग्निमान्द्य और अजीर्णमें उपयोगी कल्प औषध-विक्रेता बनाते और बेचते हैं[9]। आयुर्वेदोक्त पाचन-द्रव्योंकी परीक्षा इसी प्रकार होना शेष है।

महास्रोतमें तथा कोषोंमें होनेवाली एन्ज़ाइमोंकी क्रिया तथा आगे दी इनकी संक्षिप्त सूचीको देखनेसे विदित होगा कि ये जीवनमें कितने उपयोगी हैं। "एन्ज़ाइमोंके बिना जीवनकी कल्पना ही

१—En=अन्दर + zyme=परिवर्तन। २—Ase. ३—Amylum.

४—Amylase.

५—देखिये—इस अध्यायके प्रारम्भिक पृष्ठ।

६—देखिये, द्रव्यगुणविज्ञान पूर्वार्ध, पृ० २८।

७—Papain ; अन्य नाम— Papayotin पैपयोटीन।

८—Pepsin.

९—विशेष देखिये, पृ० १९८-१९९।

दुष्कर है[१]।" "इन कैटेलिस्टोंके अभावमें शारीर-कोषोंके अन्तर्गत होनेवाली अधिकांश रासायनिक क्रियाएँ कदाचित् असम्भव और अपूर्ण होतीं[२]।"

प्राचीन कालमें वात-पित्त-कफ एक-एक दोषको अन्योंकी अपेक्षया प्रधान माननेवाले पक्ष थे, जिनके मत (च० सू० १२।६-१२ में) आचार्यने दिखाये हैं। पूर्वधृत 'अग्निरेव' इत्यादि वचनमें पित्तप्राधान्यवादी पक्ष प्रदर्शित किया है। एन्ज़ाइमोंका ऊपर दर्शित महत्त्व तथा अन्तःस्रावों और अन्य पाचक रसों का कर्म देखते हुए पित्तका महत्त्व विशदतया समझा जा सकता है। तथापि शरीरमें अन्य दोषों का भी महत्त्व न्यून तो नहीं ही है। जैसा कि इस वादका उपसंहार करते हुए आत्रेय पुनर्वसुने कहा है, सर्वावस्थाओंमें तीनों ही दोषों का महत्त्व समान है[३]।

ऊपर एन्ज़ाइमोंके दो भेद बताये हैं। एक, महास्रोतमें क्षरित होनेवाले, तथा अन्य कोषोंके अन्तर्गत रहकर धातुपाक और मलपाककी क्रिया करनेवाले। यह भेद करना इसलिए आवश्यक समझा गया है कि जो एन्ज़ाइम, लालाग्रन्थि आदि ग्रन्थियों के अंशभूत कोषों में बनते हैं और पश्चात् अपने-अपने स्रोतों द्वारा महास्रोतमें क्षरित होते हैं, उनका गुण-कर्म जानना स्वभावतः सुकर है। इन्हें 'एक्सो-एन्ज़ाइम'[४] कहते हैं। शेष धातु-कोषों किंवा यीस्ट आदि जीवाणुओं के अन्तर्गत एन्ज़ाइमोंको 'एण्डो-एन्ज़ाइम'[५] कहते हैं। मर्दनादि द्वारा जीवाणुओंको मारकर तथा कुचलकर अथवा ऐसी विधियोंसे ही इन्हें प्राप्त किया जा सकता है। यीस्ट आदि जीवाणुओंकी क्रिया उनके अन्तर्गत 'केटेलिस्टों' से ही होती है, यह विदित होनेके पूर्व 'एन्ज़ाइमों' के सेन्द्रिय[६]-निरिन्द्रिय[७] भेद भी किए जाते थे। ये भेद अब छोड़ दिए गये हैं। तथापि यीस्ट, धातुकोष आदि द्वारा उत्पादित सेन्द्रिय एन्ज़ाइमोंके विषयमें यह माना जाता है कि ये रासायनिक क्रियाको निरिन्द्रिय कैटेलिस्टोंके समान वेगवती तो बनाते ही हैं, कभी-कभी आरम्भ भी करते हैं, एवं कभी-कभी इस क्रियामें भाग लेकर नष्ट भी हो जाते हैं।

एन्ज़ाइमोंकी इस विशेषता का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है कि, रासायनिक क्रियामें ये भाग नहीं लेते, परिणामतया इनमें कोई परिवर्तन नहीं आता। अतः एक तरह से इन्हें अक्षय कहा जा सकता है। पक्व द्रव्योंको हटा लिया जाय तो नये पाच्य-द्रव्योंको वही एन्ज़ाइम पुनः पचा सकता है। एन्ज़ाइमोंकी अन्य एक विशेषता है कि ये अपनी क्रिया द्वारा एक द्रव्य को विश्लिष्ट करते हैं, साथ ही अमुक स्थितिमें इन विश्लिष्ट हुए द्रव्यों को संश्लिष्ट कर पुनः पूर्वस्थितिमें भी लाते हैं, यथा स्नेहोंका पाचक-एन्ज़ाइम 'लाईपेज़'[८] स्नेहोंको स्नेहाम्लों तथा ग्लिसरीनमें विश्लिष्ट कर सकता है और करता है तो इनका संश्लेषण कर पुनः स्नेह भी बना सकता है। इस प्रकार एक ही एन्ज़ाइमकी क्रियासे धातुपाककी अङ्गभूत संश्लेषण विश्लेषणकी क्रियाएँ होती रहती हैं।

१—Indeed, it is very difficult to see how life could continue without them. Handbook of Physiology, by Mc. Dowall (1948) P. 310.

२—Probably in the great majority of cases, the chemical reactions going on in our cells would be impractical and incomplete in the absence of catalysts. Fundamentals of Physiology, by Tokay (1947), P. 21,

३—देखिये पृ० २० पर धृत यह सूत्र--सर्व एव खलु···—इत्यादि।

४—Exo-enzyme. [exo=बाहर]

५—Endo-enzyme. [endo=अन्दर]

६—Organic—ऑर्गेनिक।

७—Inorganic—इनऑर्गेनिक। ८—Lipase.

एन्ज़ाइम सजीव कोषोंमें उत्पन्न होते हैं, परन्तु स्वयं सजीव नहीं हैं। ये प्रोटीन होते हैं। इनमें कइयोंको स्फटिक रूपमें प्राप्त किया गया है। अपने-अपने पाच्य द्रव्यपर क्रिया-क्षम रूपमें आनेके पूर्व वे ऐसे द्रव्य के रूपमें रहते हैं, जिसकी कुछ क्रिया नहीं होती है। एन्ज़ाइमोंके इस क्रिया-शून्य पूर्वरूपको 'ज़ाइमोजन'[1] या 'प्रोफर्मेंएट'[2] कहते हैं। अपनी क्रिया करनेके लिए प्रत्येक एन्ज़ाइमको एक सहकारी-द्रव्यकी आवश्यकता होती है। इस द्रव्यको जो एन्ज़ाइमके समान प्रोटीन नहीं होता 'को-एन्ज़ाइम[3] या 'को-फर्मेंएट'[4] कहते हैं। एक-दूसरेकी सहायता बिना एन्ज़ाइम और को-एन्ज़ाइम अकिंचित्कर हैं। इस 'को-एन्ज़ाइम' के सिवाय कई एन्ज़ाइमों को उद्दीपक[5] की आवश्यकता होती है। यथा, अग्निरस[6] के अंशभूत प्रोटीनोंके पाचक 'ट्रिप्सीन'[7] को अपना कार्य करनेके लिये अन्न-रसके 'एण्टरोकाइनेज़'[8] से उत्तेजन प्राप्त हो तभी वह अपनी क्रिया कर सकता है। एन्ज़ाइमोंको अपनी क्रियाके लिए अमुक ऊष्मा अनुकूलतम होता है।

एन्ज़ाइमोंका अब एक ही, परन्तु अधिक महत्त्वका स्वभाव बताना शेष है। वह यह कि प्रत्येक एन्ज़ाइम एक ही द्रव्यपर क्रिया कर सकता है अन्यपर नहीं। जिस द्रव्यपर वह क्रिया करता है, उसे उसका 'पाच्य'[9] कहते हैं। यथा ट्रिप्सीनकी क्रिया प्रोटीनोंपर ही होती है, पिष्टसार या स्नेहोंपर नहीं ; एवं 'एमाइलेज़' केवल पिष्टसारको विश्लिष्ट कर सकता है, प्रोटीनों और स्नेहोंको नहीं[10]। एन्ज़ाइमोंकी यह विशेषता ताले और चावीकी उपमासे समझाई जाती है। जैसे प्रत्येक तालेकी पृथक् चावी और प्रत्येक चावीका पृथक् ताला होता है ; वैसे तत्-तत् एन्ज़ाइम और पाच्य-द्रव्य परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। पाच्य-द्रव्यके इस भेदके अनुसार शरीरान्तर्गत एन्ज़ाइमोंका श्रेणीकरण किया गया है, जो निम्न है।

एन्ज़ाइमोंका श्रेणीकरण—एन्ज़ाइमों की एक बड़ी श्रेणी 'हाइड्रोलिटिक एन्ज़ाइम्स'[11] कहाती है। जिस रसायनिक-क्रियामें जल[12] का अन्य द्रव्योंसे संयोग होकर जल और वह द्रव्य विश्लिष्ट (विघटित) हो जाते हैं, उसे 'हायड्रोलिसिस'[13] तथा जो द्रव्य, क्रिया आदि उसे प्रवर्तित करें उन्हें 'हायड्रोलिटिक' कहते हैं। 'हायड्रोलिटिक एन्ज़ाइमों' की श्रेणीमें कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा 'ईस्टरों'[14] का विघटन करनेवाले एन्ज़ाइमोंका समावेश है।

'हाईड्रोलिटिक एन्ज़ाइमोंमें प्रथम 'कार्बोहाइड्रेज'[15] हैं, जो जैसा कि नामसे सूचित है, कार्बो-

---

१—Zymogen.
२—Pro-Ferment. [प्रो=पूर्व]
३—Co-enzyme.
४—Coferment. [को=सहयोगी]
५—Activator—एक्टीवेटर।
६—Pancreatic juice—पैन्क्रियेटिक जूस।
७—Trypsin.
८—Enterokinase.
९—Substrate—सबस्ट्रेट।
१०—अंग्रेजीमें इस विशिष्टताको 'Specificity of enzyme action' कहते हैं।
११—Hydrolytic enzymes.
१२—Hydro—हायड्रो=जल।
१३—Hydrolysis—हायड्रोलिसिस। उत्तरपद (समासके पिछले शब्द) का प्रयोग विघटन अर्थमें होता है, यथा Analysis—एनेलिसिस आदि शब्दोंमें।
१४—स्नेहों तथा तत्सम समासोंका एक अंश Ester (ईस्टर) कहाता है। ईथर (Eather) सहित एक अम्ल तथा आलकोहलके संयोगसे 'ईस्टर' बनता है। विशेष गुरुमुखसे जानना चाहिए।
१५—Carbohydrase.

हाइड्रेटोंपर क्रिया करते हैं। इसमें नीचे लिखे एन्जाइमोंकी गणना है—लालारसान्तर्गत टायेलीन[१] यह पिष्टसारको धान्यशर्करा (माल्टोज़) में परिणत करता है। अग्निरसान्तर्गत एमाइलेज़[२]—यह भी पिष्टसारको धान्यशर्करामें परिणत करता है। यकृत्में बननेवाला ग्लायकोजेनेज़[३]—यह शरीरमें चेष्टा, उष्णता आदि शक्तियोंके उत्पादनार्थ ग्लायकोजनको ग्लूकोज़में परिवर्तित करता है। मांसपेशियोंमें स्थित ग्लायकोजेनेज़—इसका भी कार्य उपर्युक्त ही है, केवल स्थानका भेद है। अन्त्ररसान्तर्गत सुक्रेज[४] या इन्वर्टेज़[५]—यह इक्षुशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करा[६] में परिणत करता है। अन्त्ररस, लाला तथा अग्न्याशय रसमें स्थित माल्टेज़[७] धान्यशर्कराको द्राक्षाशर्कराका रूप देता है। अन्त्ररसान्सर्गत लैक्टेज़[८]—दुग्धशर्कराको द्राक्षाशर्करा और उपदुग्धशर्करामें परिणत करता है।

अंकुरित धान्योंका डायास्टेज़ पिष्टसारको धान्यशर्करा रूपमें तथा यीस्टका इन्वर्टेज़-इक्षुशर्करा को द्राक्षाशर्करा और फलशर्करामें परिवर्तित करता है।

इसी श्रेणीका एक एन्ज़ाइम कदाचित् पेशियोंमें रहता है, जो शर्कराको तक्राम्लमें परिणत करता है। इसे 'ग्लायकोलाइटिक[९] एन्ज़ाइम' कहा है।

हायड्रोलिटिक श्रेणी के अन्य एन्जाइम प्रोटीनपर क्रिया करते हैं। इस वर्गका आमाशय रसान्तर्गत पेप्सीन[१०] प्रोटीनोंको विघटित कर प्रोटीओस[११] तथा पेप्टोन[१२] बनाता है। अग्निरसान्तर्गत ट्रिप्सीन प्रोटीनों तथा उनके उक्त विघटित रूपोंको पॉलीपेप्टाइड[१३] नामक सूक्ष्मतर रूपमें परिवर्तित करता है। अन्त्ररसान्तर्गत एरेप्सिन[१४]—यह प्रोटीनोंके सूक्ष्म रूप पेप्टाइडों[१५]के पाचक पेप्टाइडेज़[१६] नामक एन्ज़ाइमोंका ही समुदाय है। इसकी क्रियासे पेप्टाइड अपने घटक एमाइनों-एसिडोंके रूपमें विच्छिन्न हो जाते हैं। आमाशय-रसान्तर्गत रेनेट या रेनीन[१७]—यह दूधकी प्रोटीन केसीन[१८] पर क्रिया करके उसे पैराकेसीन बनाता है, जो सुधा (कैल्शियम) के आयनोंकी विद्यमानतामें जमकर दूधको दहीका रूप देती है। अन्त्ररसान्तर्गत एमाइनोपेप्टाइडेज[१९]--यह एमाइनों-वर्ग[२०] युक्त पॉलीपेप्टाइडोंको विश्लिष्ट करता है। यह सम्भवतः अनेक एन्जाइमोंका समुदाय है। अग्निरसान्तर्गत कार्बोक्सिपेप्टाइडेज--यह 'कार्बोक्सिल'[२१] वर्ग युक्त पॉली-पेप्टाइडोंपर क्रिया करता है। धातुकोषमात्रमें सामान्यतः रहनेवाला ऑटो-लाइटिक एन्जाइमों[२२] का समुदाय—यह अनशन या ज्वरादि रोगोंमें जब कि शरीर अपना भार खो रहा होता है, कोषोंकी प्रोटीनोंके विश्लेषणका कार्य करता है। विश्लिष्ट

१—Ptyalin; अन्य नाम salivary diastase—सैलाइवरी डायास्टेज़ (देखिये पृ० १९८ पर डायास्टेज़का परिचय)।

२—पर्याय Pancreatic diastase—पैनक्रियेटिक डायास्टेज़।

३—Glycogenase.

४—Sucrase.

५—Invertase,

६—देखिये पृ० १९७

७—Maltase.

८—Lactase.

९—Glycolytic.

१०—Pepsin.

११—Proteoses.

१२—Peptones.

१३—Polypeptids.

१४—Erepsin.

१५—Peptide.

१६—Peptidase.

१७—Rennet or Rennin. इस द्रव्यका दूधको जमानेमें उपयोग किया जाता है।

१८—Casein.

१९—Aminopeptidase.

२०—Amino group.

२१—Carboxyl.

२२—Autolytic enzyme ; शब्दार्थ आत्म-पाचक।

प्रोटीनें न्यूनतम धातुपाकमें प्रयुक्त हो जाती हैं। अग्न्याशय, प्लीहा, थायमस आदिमें स्थित न्यूक्लिएज[1]--ये कोषोंके न्यूक्लिअसके प्रोटीन (न्यूक्लीन) में स्थित न्यूक्लीक एसिड[2] को विश्लिष्ट करते हैं। विभिन्न ग्रन्थियों तथा धातुमात्रमें स्थित विभिन्न एन्जाइम, जो तत्-तत् एमाइनो-एसिडको विश्लिष्ट करते हैं---इन्हें 'डी-एमाइनाज़िङ्ग एन्ज़ाइम'[3] कहते हैं। यूरीएज[4] — यह यूरीआ[5] (प्रोटीनका अन्तिम परिणाम-द्रव्य, जो मूत्र मार्गसे निकलता है) को एमोनियम कार्वोनेट[6]में परिणत करता है। यह एन्ज़ाइम शरीरमें नहीं होता। मूत्रकी विशिष्ट गन्ध एमोनियम कार्बोनेटके कारण होती है।

इस्टरोंपर क्रिया करनेवाले एन्ज़ाइमोंमें प्रथम लाइपेज़[7] या स्टीएप्सिन[8] है। यह आमाशय रस, अग्निरस, धातु, स्नेह, रक्त आदिमें रहता है तथा स्नेहोंको स्नेहाम्लों और ग्लिसरीनमें विघटित करता है। फॉस्फेरेज़[9] या फॉस्फोरिक ईस्टरेज़[10]—ये वृक्क, आमाशय आदिमें रहते हैं, अस्थियोंमें सुधाके निक्षेपको सुगम बनाते हैं तथा प्रस्फुरकके कई समासोंका विघटन करते हैं। लिसिथिनेज़[11]—लिसिथिनपर क्रिया करते हैं। ईस्टरेज़[12]—ये निम्नकोटिके स्नेहाम्लोंको विच्छिन्न करते हैं। इनमें प्रमुख रक्तगत कोलीन-ईस्टरेज़[13] है—जो एसिटिल-कोलीन[14] का विघटन करता है। जैसा कि आगे देखेंगे सम्भवतः एसिटिल कोलीन आयुर्वेदीय कफ-वर्ग का एक द्रव्य है, तथा नाड़ियोंमें वेग-वहनमें भाग लेता है।

अन्य एन्ज़ाइमोंमें नीचे लिखे एन्ज़ाइम मुख्य हैं। ऑक्सिडेज़[15]—ये एन्ज़ाइम फुप्फुस, यकृत्, पेशी आदिमें रहते हैं और विभिन्न द्रव्योंका ओषजनके साथ संयोग (उपचय ऑक्सिडेशन)[16] करके नवीन द्रव्योंकी उत्पत्तिमें भाग लेते हैं। रिडक्टेज़[17]—ये धातुमात्रमें रहते हैं तथा उनके अपचय[18] अर्थात् उनसे ओषजनको पृथक् करनेका कार्य करते हैं। कैटालेज़[19]—ये अनेक धातुओंमें रहते हैं तथा हायड्रोजन पर-ऑक्साइडको विघटित करते हैं। उपचय तथा अपचय करनेवाले एन्ज़ाइमोंका जीवनीय बी वर्ग, विशेषतः निकोटिनिक एसिड तथा थायेमाइनसे गाढ सम्बन्ध है। कोद-एग्युलेटिव एन्ज़ाइम[20]—ये विलेय प्रोटीनोंको अविलेय प्रोटीनोंमें परिणत करते हैं। इनमें एक रेवनीनका उल्लेख ऊपर किया गया है। अन्य एन्ज़ाइम रक्तान्तर्गत थ्रोम्बेज़[21] है, जो रक्तके स्कन्दनका प्रवर्तक है। कार्बोनिक एन्हाइड्रेज[22]—ये रक्तगत अङ्गाराम्ल वायु (कार्बन-डाइऑक्साइड) को फुप्फुसोंमें

१—Nucleases. २—Nucleic acid.
३—Deaminizing enzymes. ४—Urease
५—Urea. ६—Ammonium Carbonate.
७—Lipase. ८—Steapsin.
९—Phosphatases. १०—Phosphoric esterases.
११—Lecithinases. १२—Estrerases.
१३—Choline-esterase. १४—Acetyl-choline.
१५—Oxydases. १६—Oxydation.
१७—Reductase.
१८—Reduction—रिडक्शन, या Hydrogenation—हायड्रोजिनेशन।
१९—Catalase. २०—Coagulative Enzymes.
२१—Thrombase. २२—Carbonic anhydrase.

छोड़नेके लिए प्रवर्तन करते हैं। इस प्रकार मुक्त अङ्गाराम्ल उच्छ्वास द्वारा बाहर निकल जाती है। कार्बोक्सिलेज[१]—यह धातुमात्रमें रहता है तथा कार्बोक्सिल-वर्गसे अङ्गाराम्लको पृथक् करनेका प्रवर्तन करता है। आर्जीनेज[२]—यह आर्जीनाइन[३] नामक एमाइनो-एसिडको यूरीया तथा ऑर्नीन्थीन[४] नामक अम्लमें विश्लिष्ट करता है।

यह सूची अभी अपूर्ण है। अनुसंधानके साथ इसमें और वृद्धि होगी। इन एन्ज़ाइमों, एन्ज़ाइम-भिन्न पाचक रसों तथा अन्तःस्रावोंकी उत्पत्ति विभिन्न ग्रन्थियोंमें होती है। केवल कोषान्तर्गत एन्ज़ाइम कोषके अन्दर रहकर क्रिया करते हैं। आयुर्वेदीय पाचक पित्तकी व्याख्याके प्रसंगसे इन ग्रन्थियोंका नव्य-मतानुसार जानना उपयोगी है। अगले अध्यायमें हम इन ग्रंथियोंका वर्णन करेंगे।

१—Carboxylase. २—Arginase.

३—Arginine.

४—Orninthin, अन्य नाम—Diaminovaleric acid—डाईएमाइनो-वेलेरिक एसिड।

सत्रहवाँ अध्याय

अथात आहारपरिणामविज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

ग्रन्थि—लक्षण और उदाहरण—

आयुर्वेदमें शोथके एक भेदके लिये ग्रन्थि शब्दका व्यवहार हुआ है। परन्तु नवीन क्रियाशारीर का भाषान्तर करते हुए ऐसे अवयवोंके लिये भी ग्रन्थि[1] शब्दका प्रयोग किया जाता है, जिनके कोष अपने देहमें कोई विशिष्ट द्रव्य (प्रायः द्रव द्रव्य) उत्पन्न करके उसे रस-रक्तमें किंवा महास्रोत, अपस्तम्भ, मूत्राशय, त्वचा आदि ऐसे अवयवमें छोड़ते हैं जिसका सम्बन्ध बाह्य वातावरणसे हो। पित्तको उत्पन्न कर महास्रोतमें छोड़नेवाला यकृत्, दुग्धकी उत्पादिका स्तन-ग्रन्थि, स्वेदकी उत्पत्ति करनेवाली स्वेद-ग्रन्थियाँ, मूत्रके उत्पादक (वस्तुतः—क्षरण करनेवाले) वृक्क, एड्रीनलीन (साधक पित्त ?) की सर्जक अधिवृक्क-ग्रन्थियाँ, पुंबीजको उत्पन्न करनेवाली वृषणग्रन्थियाँ तथा स्त्रीबीजके उत्पादक अन्तः-फल—ग्रन्थियोंके उदाहरण हैं। ग्रन्थियोंके कोष रासायनिक द्रव्य उत्पन्न करनेवाले कारखाने हैं, जिनके उत्पादित द्रव्य विभिन्न अवयवों द्वारा की जानेवाली विभिन्न क्रियाओंके होने तथा भलीभाँति होनेके लिये अनिवार्य हैं। नाडीसंस्थानकी कर्मात्मक क्रिया मांसधातु तथा इन ग्रन्थियोंको अपनी-अपनी क्रिया प्रारम्भ करने या बन्द करने, मन्दतासे करने या तीव्रतासे करनेके आदेशों द्वारा ही होती है। इनमें मांसधातु स्थूल मांसपेशियोंके रूपमें आकुञ्चन-प्रसारणादि द्वारा विभिन्न चेष्टाएँ करता है; एवं, महास्रोत, मूत्राशय, रक्तवाही स्रोत आदिकी भित्तिमें स्थित सूत्रोंके संकोच-विकास द्वारा उनकी विभिन्न चेष्टाओंका भी निमित्त है।

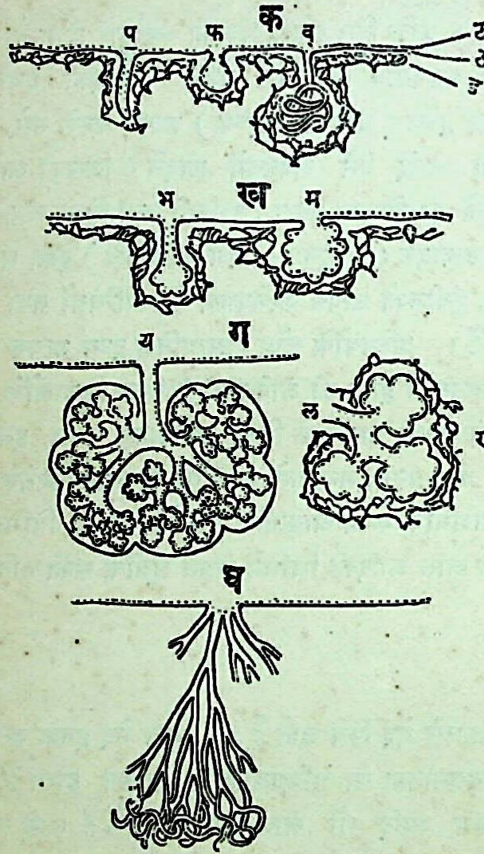
ग्रन्थियोंके भेद—

ग्रन्थियोंके अनेक प्रकारसे भेद किये जाते हैं। प्रमुख भेद इनके उत्पादित द्रव्य या स्राव[2] को वहन करनेवाले स्रोत[3] की विद्यमानता या अविद्यमानताके कारण होता है। लालाग्रन्थि, स्तनग्रन्थि, आमाशयग्रन्थियाँ, अग्न्याशय आदि जो स्राव उत्पन्न करते हैं उन्हें वहन करनेके लिए पृथक् स्रोत (नलिका) होता है, जिसके द्वारा वे अपने स्रावको महास्रोत आदिमें छोड़ती हैं। इनको बहिःस्रावी ग्रन्थि या बहिर्ग्रन्थि[4] तथा इनके स्रावको बहिःस्राव[5] कहते हैं। अधिवृक्क, चुल्लिका आदि ग्रन्थियोंमें ऐसे स्रोत नहीं होते। उनका स्राव सीधा रस-रक्तमें मिश्रित हो अपने प्रभाव-क्षेत्रमें पहुंच तत्-तत् क्रिया करता है। इन्हें अन्तःस्रावी ग्रन्थि या अन्तर्ग्रन्थि[6] अथवा स्रोत न होनेसे निःस्रोत ग्रन्थि[7] तथा इनके स्रावको अन्तःस्राव[8] या हॉर्मोन[9] कहते हैं।

कई ग्रन्थियाँ अन्तःस्राव और बहिःस्राव दोनों उत्पन्न करती हैं, इन्हें उभयतःस्रावी ग्रन्थियाँ कहते हैं। यकृत्, अग्न्याशय, आमाशय, वृषणग्रन्थि तथा अन्तःफल उभयतःस्रावी ग्रन्थियोंके उदा-

१—Gland—ग्लैण्ड ; या Secreting organ—सिक्रीटिङ्ग ऑर्गन।
२—Secretion—सिक्रीशन।
३—Duct—डक्ट।
४—Exocrine gland—एक्सोक्राइन ग्लैण्ड। ५—External secretion—एक्सटर्नल सिक्रीशन।
६—Endocrine organ—एण्डोक्राइन ऑर्गन। ७—Ductless gland—डक्टलेस ग्लैण्ड।
८—Internal secretion—इण्टर्नल सिक्रीशन। ९—Hormone.

हरण हैं। यकृत्का बहिःस्राव याकृत पित्त तथा अन्तःस्राव द्राक्षाशर्करा (अपर ओज), हिपैरिन[१] नामक प्राकृत रक्तको जमनेसे रोकनेवाला द्रव्य तथा यूरीआ हैं। अग्न्याशयका बहिःस्राव अग्निरस तथा अन्तःस्राव इन्सुलीन (धात्वग्नि-विशेष) ही आमाशयका बहिःस्राव आमाशय-रस तथा अन्तःस्राव गैस्ट्रीन[२] नामक अग्निरसका उद्दीपक द्रव्य और रक्तकणोंका उत्पत्तिका प्रवर्तक रञ्जक पित्त[३] हैं। वृषण तथा अन्तःफलके बहिःस्राव क्रमशः पुंबीज-स्त्रीबीज और अन्तःस्राव पुरुषमें पुरुषत्व तथा स्त्रीमें स्त्रीसुलभ स्वरूपके उत्पादक रस-विशेष हैं।



स्रावी ग्रन्थियों के प्रकार। चित्र—१२

क—सामान्य ग्रन्थि ; प—नलिकाकृति ग्रन्थि ; फ—कोष (थैली) के आकारकी ग्रन्थि, कुण्डलितनलिकामय ग्रन्थि ; ख—अनेकखण्डात्मक सामान्य ग्रन्थि ; भ—ख का नलिकाकृति रूप ; म—ख का कोषमय रूप ; ग—द्राक्षानिभ[४] ग्रन्थि ; य—संपूर्ण ग ग्रन्थि ; ल—र—उसका एक खण्ड ; घ—संयुक्त नलिकाकृति ग्रन्थि[५]।

१—Heparin. २—Gastrin.

३—Haemopoetic principal—हेमोपोएटिक प्रिंसिपल ; Intrinsic factor—इण्ट्रिंज़िक फैक्टर या Bloodforming factor—ब्लड-फॉर्मिङ्ग फैक्टर।

४—Racemose—रेसिमोस। निभ या संनिभसदृश।

५—Compound tubular gland—कम्पाउण्ड ट्युब्युलर ग्लैण्ड।

स्राव शरीरके लिए उपयोगी हो तो उसकी उत्पादक ग्रन्थिको सर्जक[1] तथा अनुपयोगी या मलरूप हो तो उत्सर्जक[2] कहते हैं। स्वेदग्रन्थि तथा वृक्क पिछले प्रकारकी ग्रन्थियोंके उदाहरण हैं।

बहिःस्रावी ग्रन्थियोंके रचनानुसार भेद किये जाते हैं। सब भेदोंमें स्रावोत्पादक कोष एक आधारभूत कला[3] पर स्थित होते हैं। कलाके चारों ओर रसधातु तथा उसके चारों ओर केशिका होती है। केशिकासे रसमें और रससे कोषमें वे द्रव्य पहुँचते हैं, जिनका उपयोग करके कोष तत्-तत् स्रावका निर्माण करते हैं। कोष एक वाहिनी[4] के चारों ओर व्यूहित (व्यवस्थित) होते हैं, तथा अपना-अपना रस (स्राव) इस वाहिनीमें छोड़ते हैं। कभी-कभी एक ही वाहिनी और कभी-कभी अनेक वाहिनियाँ मिलकर एक हो त्वचा, श्लेष्मकला आदि अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रमें खुलती हैं। इनके स्वरूपभेद्से भेद जाननेके लिए देखिए चित्रसंख्या—१२।

कोषोंमें स्राव अपने पूर्वरूप[5] के कणोंके रूपमें रहते हैं। एन्ज़ाइमोंका इसी प्रकार पूर्वरूप होता है, जो ज़ाइमोज़न कहाता है, यह गत अध्यायमें कह आये हैं। पूर्वरूप स्रुत होते समय यथार्थ स्रावके रूपमें परिणत हो जाता है।

स्रावी ग्रन्थियोंका नियन्त्रण स्वतन्त्र (जीवनयोनि) नाडीसंस्थानके भेदों—मध्यस्वतन्त्र और परिस्वतन्त्र—द्वारा होता है। महास्रोतकी स्रावी ग्रन्थियोंका स्राव मध्यस्वतन्त्रके सक्रिय होनेपर बन्द हो जाता है। परिस्वतन्त्र सक्रिय हो, किंवा उसे कृत्रिम प्रकारसे उद्दीप्त करें तो स्रावोंकी वृद्धि होती है। पायलोकार्पीन[6] की क्रिया मध्यस्वतन्त्रके तुल्य तथा एट्रोपीन[7]की परिस्वतन्त्रके तुल्य होती है। विशेषतया नासिका और गलके शल्यकर्मोंमें एट्रोपीनका स्राव-प्रतिबन्धक कर्म बड़ा उपयोगी होता है।

जीवनयोनि नाडीसंस्थानके दोनों भेदोंकी पचन-संस्थानपर अन्य भी क्रिया होती है, जिसका यथास्थान उल्लेख करेंगे। विभिन्न स्रावी ग्रन्थियोंका विशेष वर्णन भी आगे परिपाककी तत्-तत् अवस्थाका वर्णन करते हुए किया जायगा।

अग्निकर्ममें वायुका सहकार—

पाचकाग्निका प्राचीन तथा नव्यमतानुसार अबतक जो विचार किया वह आहार-परिणामकर भावों अर्थात् अन्नपानके परिपाककी क्रियामें भाग लेनेवाली वस्तुओंके निरूपणके प्रसङ्गसे किया गया। इनमें अग्नि मुख्य है, शेष उसके सहकारी हैं, जिनमें वायु प्रधान है। अल्प वक्तव्य होनेसे अन्य सहकारियोंका प्रथम वर्णन करके पश्चात् अग्निका विचार हमने किया। अब अन्नपानके परिपाकमें वायुका कर्म देखते हैं। पचनमें सहकारी वायु तीन हैं—प्राण, अपान और समान। प्राण और अपानका कर्म अन्नपानको अग्नि के समीप—पाचक पित्तके सम्पर्कमें—लाना है; समान वायु अग्निके प्रदीपन (संधुक्षण) का कर्म करता है यह पहले कहा जा चुका है। इन कर्मोंकी आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कुछ व्याख्या की जाती है।

१—Secretory—सिक्रीटरी। २—Excretory—एक्सक्रीटरी।
३—Basement membrane—बेज़मेण्ट मेम्ब्रेन।
४—Lumen—ल्युमेन।
५—Precursor—प्रीकर्सर। ६—Pilocarpine.
७—Atropine—बेलाडोनाका सत्त्व (आल्केलॉयड)।

चर्वण और मन्थन—

चर्वण एक इच्छाधीन[१] क्रिया है जो भुक्त द्रव्योंको सूक्ष्म खण्डोंके रूपमें परिणत कर देती है, जिससे वह मुखमें तथा आगे पाचक पित्तोंके सम्पर्कमें आता है। मुखमें लालाके संमिश्रणका परिणाम यह होता है कि, अन्नका कवल[२] (ग्रास) मृदु हो जाता है जिससे उसका गलके नीचे उतरना सुगम हो जाता है। चर्वणका अन्य तथा अधिक महत्त्वपूर्ण फल यह होता है कि अन्नपानके स्वाभाविक, संस्कारजन्य तथा मुखमें पचनके कारण उत्पन्न हुए रस और गन्धके कारण पचन-संस्थान उद्बुद्ध होता है तथा यथावश्यक अन्नपानका सेवन कर चुकनेके पश्चात् तृप्तिका अनुभव होता है। इस विषयमें पर्याप्त निर्देश ऊपर कर आये हैं।

चर्वण क्रिया[३] मुख्यतः नीचेके हानव्य[४] (दाढ) तथा अन्य दन्तों और ऊपरके दन्तोंके मध्य अन्नके कर्तन और पेषणके कारण होती है। नीचे और ऊपरके हानव्य तथा अन्य दन्तोंका परस्पर समागम अधोहन्वस्थि[५]की ऊपर-नीचे आगे-पीछे तथा वाम-दक्षिण गतियोंके कारण विभिन्न पेशियाँ हैं, जो त्रिधारा[६]—पञ्चम शीर्षण्य नाडी[७]—से प्रेरित होती हैं। यह नाडी रसोंका तथा अंशतः गन्धका भी वहन करती है।

जिह्वा, कपोल (गाल) तथा ओष्ठ अन्नको वार-वार दन्तोंके मध्यमें तथा कठोर तालु और दन्तवेष्टों (मसूडों) के घर्षणमें लाकर चर्वणमें सहायता देते हैं। अपने पीडन द्वारा ये अवयव ग्रासको निगलने योग्य गोल आकृतिमें परिणत भी करते हैं।

उक्त प्रकारसे चर्वण सम्यक् पचन और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे उपयोगी क्रिया है। पर इसका भी अतियोग वांछनीय नहीं है।[८]

गौ आदि प्राणियोंमें चर्वणके साथ एक अन्य क्रिया देखी जाती है, जिसे मन्थन (चर्वित-चर्वण) या जुगाली[९] कहते हैं। ये पशु चरते समय घासको जैसी की तैसी उतार देते हैं। यह घास उनके चार कोष्ठोंवाले आमाशयके प्रथम कोष्ठमें जाकर सञ्चित होती है। चर चुकनेके पीछे वे मन्थन करते हैं। इसमें आमाशयमें गयी घास खण्डशः पुनः मुखमें आती है, जिसे भलीभाँति चबा वे मानवादि प्राणियोंके समान ही आमाशयके पाचक कोष्ठमें उतार देते हैं। कहा जाता है कि प्रकृतिने मन्थनकी यह व्यवस्था इस हेतु की है कि, हिंस्र पशुओंसे आक्रान्त वनमें घासभक्षी पशुओंका चरनेके लिए रहना कमसे कम हो तथा पश्चात् वे निरापद स्थानमें बैठकर घासका चर्वण करें।

कई प्राणी, यथा कुत्ता, बहुत थोड़ा और कई अधिक चबाते हैं।

१—Voluntary—वॉलण्टरी।

२—Bolus—बॉलस या Morsel—मॉर्सल।

३—Mastication—मैस्टीकेशन।

४—Molars—मोलर्स। काश्यप संहिता सू० २०।४ में इन दन्तोंको हानव्य कहा है। इसीसे प्रत्यक्षशारीरका चर्वणक नाम नहीं लिया। पूरा उद्धरण तथा अन्य दन्तोंके नामादि आगे अस्थि और दन्तके प्रकरणमें देखिये।

५—Mandible—मैण्डिबल्।

६—Trigeminal—ट्राइजेमिनल।

७—Fifth cramial nerve—फिफ्थ क्रेमिअल नर्व।

८—इस विषयकी विस्तार से पहले चर्चा की जा चुकी है।

९—Rumination—रुमिनेशन।

निगीरण अथवा अन्नका मुखसे आमाशयमें गमन—

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ॥

आदानमाहारप्रणयनं कर्म यस्य सः । प्रकर्षतीति नयति ॥ —चक्रपाणि

चर्वणकी उल्लिखित क्रियासे सूक्ष्म, मृदु तथा गोलाकार हुआ कवल (कौर) प्राणवायु[1]की प्रेरणासे गलमें, वहाँसे अन्नवह स्रोत[2] में, और वहाँसे हार्दिक द्वार[3]में होकर आमाशयमें प्रविष्ट होता है। इस क्रियाको निगिरण[4] (निगलना) कहते हैं।

गल उस आशय या अवकाशमय अवयवका नाम है जो ऊपरकी ओर पश्चिम नासा-रन्ध्रों[5]से मध्यमें मुखसे तथा नीचेकी ओर अन्नवह और कण्ठ (स्वरयन्त्र) से मिला हुआ है। नासिवय गल[6]में पटहपूरणिका[7] नामक उन स्रोतोंके मुख खुलते हैं जो प्रत्येक पार्श्वके मध्यकर्णका नासिवय गलसे सम्बन्ध करती हैं।

गल और मुखके मध्यगत अवकाशको गलद्वार[8] कहते हैं। इसमें ऊपरकी ओर मध्यमें एक छोटी-सी लटकती कोणाकार कला होती है, जिसे काकलक या गलशुण्डिका[9] कहते हैं[10]। काकलकके दक्षिण और वाम दोनों ओर नीचे दो-दो तोरणाकार अवयव आगे और पीछे होते हैं। इनको क्रमशः

१—निगिरण प्राणवायुके अनेक कर्मोंमें एक है। इन तथा अन्य कर्मोंको देखकर निर्णय करना चाहिये कि किन नाडियोंकी क्रिया और प्राणवायुके कर्मोंमें साम्य है।

२—Œsophegus—ईसोफेगस ; या Gullet—गलेट। अन्नवह नाम प्राचीन है। देखिये—'अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं, वामं च पार्श्वम्—च० वि० ५।८'; 'अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः—सु० शा० ९।१२'। सारा प्रकरण चिन्त्य है। पर अन्नवह शब्दका सम्भव कोई अर्थ है तो 'ईसोफेगस'। प्रत्यक्ष शारीरमें 'अन्ननलिका' शब्द दिया है। पुराना और सुन्दर होनेसे 'फेरिंक्स'के लिये 'गल'के समान (देखिये—पृ० ११४) 'अन्नवह' शब्द अभिप्रेत अर्थमें अपना लेने योग्य प्रतीत होता है।

३—Cardiac orifice—कार्डिअक ऑरिफिस।

४—Deglutition—डिग्लुटिशन ; या Swallowing—स्वालोइङ्ग।

५—Posterior nares—पोस्टीरिअर नेरीज़।

६—Naso-pharynx—नेज़ो-फेरिंक्स ; गलका नासिकाके पिछले भागसे सम्बद्ध अंश।

७—Eustachien tube—यूस्टेकिअन ट्यूब ; यह संज्ञा इसके शोधकके नामपर है। अन्य नाम—Pharyngo-tympanic tube—फेरिंगो-टिम्पेनिक ट्यूब ; या Auditory tube—ऑडिटरी ट्यूब।

८—Fauces—फॉसीज़ ; अथवा Palatine arch—पैलेटाइन आर्च।

९—Uvule—यूव्युला। गलशुण्डिका नाम चरकने दिया है ; देखिये—च० शा० ७।११। काकलक नाम सुश्रुतमें आया है ; देखिये—सु० शा० ५।२६ की टीका—काकलकं गलमणिः, घण्टिकेति लोके—डल्हन। सु० नि० १६।४१ में इसके शोथको 'कण्ठशुण्डी' कहा है (डॉ० घाणेकर)।

१०—कण्ठशुण्डि—काकलकमें कभी-कभी शोथ हो जाता है, जिससे चौड़ाईके साथ नीचेकी ओर इसकी लम्बाईमें भी वृद्धि होती है। यह वृद्धि (कण्ठशुण्डी) होनेपर रोगी लेटे तो गुरुत्वाकर्षणवश काकलक लटककर पीछेकी ओर गलकी दीवारसे रगड़ खाता है, जिससे क्षोभ होकर शुष्क कास होता है। प्रत्येक कासरोगीमें प्रश्नपरीक्षा तथा पीछेसे प्रत्यक्षपरीक्षा द्वारा जान लेना चाहिये कि कण्ठशुण्डी तो नहीं है।

पुरःस्तम्भिका[1] तथा पश्चिम स्तम्भिका[2] कहा जाता है। दोनों स्तम्भिकाओंके मध्य दोनों ओर जो गर्त होता है उसमें रसधातुमय एक-एक छोटी ग्रन्थि होती है जिसे उपजिह्विका[3] कहते हैं।[4] काकलक और पुरःस्तम्भिकाके सामने क्रमशः कोमल तालु और कठिन तालु होते हैं।

अन्नवह कोई दस इञ्च लम्बी मांसमयी प्रणाली है, जो आमाशयको गलसे जोड़ती है। अन्नवहके सामने अपस्तम्भ या श्वासपथ होता है। श्वासपथ पीछेकी ओर ऊपरसे नीचे तक नत होता है। इसके इस नत (दबे हुए) भागमें अन्नवह टिका होता है। श्वासपथका शेषांश वृत्ताकार होता है। अन्नवह और श्वासपथ दोनोंके मुख ऊपरकी ओर गलमें खुलते हैं। श्वासपथके ऊपर अधिजिह्विका[5] या कण्ठच्छद नामक तरुणास्थिमयी कपाटिका होती है। गलकी परीक्षा करते समय यन्त्रकी सहायताके विना भी यह देखी जा सकती है। पहले समझा जाता था कि निगिरण-कालमें यह कण्ठको आवृत कर लेती है, जिससे अन्नपान श्वासपथमें प्रविष्ट नहीं होता। खाते समय पुरुष अन्यत्रमना हो तो श्वासपथ सम्यक् आवृत न होनेसे अन्नपान उसमें जानेसे, उसको बाहर निकालनेके लिये शुष्क कासके उत्तरोत्तर वेग होते हैं, जो सुविदित हैं।

निगिरण या कवलनकी क्रिया तीन अवस्थाओंमें विभाजित है। यों तीनों अवस्थाएँ इतनी त्वरित होती हैं कि उनका पृथक् ज्ञान सामान्यतया नहीं होता। प्रथमावस्थामें लालाके कारण मृदु और कपोलादिसे निपीडनके कारण कन्दुकाकृति हुआ कवल मुखसे गलमें पहुँचता है। यह अवस्था इच्छाजन्य होती है। इसमें जिह्वा ऊपर और पीछेकी ओर उठकर कवलको मुखसे गलद्वारमें और वहाँसे गलमें पहुँचाती है। जिह्वाके उन्नमन (ऊपर उठने) का अन्य फल यह होता है कि कवल मुखद्वारसे बाहर नहीं आ सकता।

अन्न निगलनेमें इस अवस्थामें कठिनाई[6] प्रतीत हो तो उसके दो कारण हो सकते हैं—जिह्वाकी विभिन्न चेष्टाओंमें अन्तराय अथवा लाला यथेष्ट उत्पन्न न होनेसे अन्नका यथोचित मार्दव न होना।

निगिरणकी द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाएँ अनैच्छिक और प्रतिसंक्रमित[7] होती हैं। द्वितीय अवस्थामें कवल गलसे अन्नवह स्रोतमें पहुँचता है। सारी क्रिया सेकण्डके पञ्चमांशमें होती है। इस क्रियाका मुख्य प्रयोजन यह है कि, कवल अन्य द्वारोंसे अन्य स्रोतोंमें न जाकर सीधा अन्नवह ही में जाय। मुखद्वार तो प्रथमावस्थामें जिह्वाके ऊपर तालुके साथ संलग्न होनेसे अवरुद्ध होता है। पुरःस्तम्भिका-पेशियोंका संकोच इसमें सहायक होता है। इसके कारण गलद्वारका विवर छोटा हो जाता है तथा अन्नपान पीछेकी ओर धकेला जाता है। विभिन्न पेशियोंकी क्रियासे कोमल तालु तथा

१—Anterior pillar of the fauces—एण्टीरिअर पिलर ऑफ ध फॉसीज़; अथवा Anterior palatine arch—एण्टीरिअर पेलेटाइन आर्च।

२—Posterior pillar of the fauces—पोस्टीरिअर पिलर ऑफ ध फॉसीज़; अथवा Posterior palatine arch—पोस्टीरिअर पेलेटाइन आर्च।

३—Tonsil—टॉन्सिल; प्रत्यक्ष शारीरमें इसे उपजिह्विका कहा है।

४—उपजिह्विकाकी वृद्धिसे भी शुष्क कास होता है। वृद्धिको सु० नि० १६।४२ में 'तुण्डिकेरी' कहा है (डॉ० घाणेकर)। कोई-कोई इसे सु० नि० १६।४६ में वर्णित 'गिलायु' मानते हैं। वृद्धि अन्य कारणोंके सिवाय कभी आमवात (Rheumatism—रूमेटिज़्म) से भी होती है, यह स्मरण रखना चाहिये।

५—Epiglottis—एपीग्लॉटिस।

६—Dysphegia—डिसफेजिआ।

७—Reflex—रिफ्लेक्स।

काकलक ऊपर और पीछेकी ओर उठते तथा पश्चिम स्तम्भिका आकुञ्चित होती है। परिणामतया, पश्चिम नासा-रन्ध्र आवृत हो जाता है, जिससे अन्नपान पीछेकी ओर नासा-स्रोतोंमें नहीं जाने पाता, किन्तु इन अवयवोंके नीचेके पृष्ठसे लगकर अन्नवहकी ओर सरक जाता है। उधर, स्वरयन्त्रियों[1] का आकुञ्चन (परस्पर संमिलन) होकर कण्ठद्वार अवरुद्ध हो जाता है। इसी समय वेगसे कण्ठ समूचा गलसहित ऊपर और आगेकी ओर उठता और जिह्वामूल नीचेकी ओर जाता है। कण्ठका यह उन्नमन अन्नपान निगलते समय, टेंटुएके ऊपर जानेसे बाहरसे भी देखा जा सकता है। प्रथमावस्थामें जिह्वाकी उल्लिखित स्थितिका भी स्वयं अनुभव किया जा सकता है। कण्ठके उन्नमनके कारण कवल ऊपर उठकर उसमें नहीं जा सकता।

द्वितीयावस्था प्रतिसंक्रमित होती है। इस क्रियामें, संज्ञा-ग्राहक[2] गल तथा मुखका पिछला भाग, विशेषतया पुरःस्तम्भिका, और उससे उतरकर पश्चिम स्तम्भिका होती है। ये स्थल अन्नपानके स्पर्शकी संज्ञाको ग्रहण करते हैं। इस अवस्थाका प्रवर्तक केन्द्र सुषुम्णा-शीर्षक[3] में श्वसनके केन्द्रके सन्निकट ऊपर होता है, तथा प्रचेष्टक[4] अवयव गल और कण्ठकी विभिन्न पेशियाँ होती हैं। संज्ञाहर द्रव्य लगाकर उक्त अवयवोंकी संज्ञाग्राहिका शक्ति नष्ट कर दी जाय तो द्वितीयावस्थाका आरम्भ ही न होनेसे निगिरण नहीं होता। अर्बुदके कारण कण्ठका उन्नमन न हो तो भी निगिरण असम्भव हो जाता है।

श्वसन (श्वास क्रिया) का केन्द्र निगिरणकी द्वितीयावस्थाके केन्द्रसे सम्बद्ध होता है, जिससे इस अवस्थामें क्षणमात्रके लिए श्वासक्रिया रुक जाती है। अर्थात्—निगिरण और श्वसन ये दो क्रियाएँ युगपत् (एक साथ) नहीं हो सकतीं। अलबत्ता, महाप्राचीरा (श्वासपटल) पेशी निगिरणके समय सदा थोड़ा नीचे जाती है, जिससे अल्पमात्र प्रश्वास होता है।

निगिरणकी तृतीयावस्थामें अन्नके स्वरूप-भेदसे कुछ भेद होता है। अन्न द्रव या द्रवप्राय हो तो निगिरणकी प्रारम्भिक अवस्थाओंमें प्रयुक्त हुए बलसे अन्नवहके अन्ततक फेंका जाता है। यह क्रिया ०·१ सेकण्डमें होती है। परन्तु अन्न यदि घन या अर्धघन हो तो इसे आगे पहुँचानेके लिए अन्नवहमें एक विशेष चेष्टा होती है जिसे 'अपकर्षणी गति' या केवल 'अपकर्षण' कहते हैं।

अपकर्षण अन्नादिका वहन करनेवाले महास्रोत आदि स्रोतोंमें होनेवाली एक चेष्टा है, जिससे वाह्यद्रव्य उत्तरोत्तर आगे धकेला जाता है। यह एक प्रतिसंक्रमित चेष्टा है। इसका स्वरूप यह है। अन्न, मल आदि वाह्यद्रव्य स्रोतके जिस भागमें पहुँचते हैं वह भाग संकुचित होता है। परिणामतया स्रोतकी भित्ति द्वारा वाह्यद्रव्य पीडित होकर (दबाया जाकर) आगेके शिथिल (पीडनरहित) और अधिक विस्तृत अवकाशमें पहुँचता है। पूर्व स्थान अब शिथिल होकर समावस्थामें आता है। परन्तु आगेका स्थान जहाँ वाह्य द्रव्य पहुँचा है, पूर्वस्थानके समान संकुचित होकर वाह्य द्रव्यको पीडित करके आगे धकेलता है और स्वयं पुनः शिथिल हो जाता है। इस प्रकार संकोच और शैथिल्यकी लहरीसे वाह्य द्रव्य उत्तरोत्तर आगे धकेला जाता है।

यान्त्रिक चेष्टा, चाहे वह हाथ-पैर आदिकी चेष्टाके रूपमें इच्छाधीन हो, चाहे आमाशय, अन्त्र, रक्तवह आदिकी अपकर्षण आदि चेष्टाओंके रूपमें जीवनयोनि (अनैच्छिक) हो, सर्वदा मांसधातुके

१—Vocal Cords—वोकल कॉर्ड्स।

२—Receptors—रिसेप्टर्स।

३—Medulla Oblongata—मेड्युला ऑबलैंगेटा।

४—Effectors—इफेक्टर्स।

कारण होती है। अन्नवह आदि स्रोतोंमें चेष्टाके कारणभूत मांससूत्र वर्तुलाकारमें रहते हुए उनको भित्तिका एक पृथक् आवरण (मांसमय प्राकार[१]) बनाते हैं। मांसपेशियाँ बनानेवाले इच्छाधीन मांससूत्रोंमें चौड़ाईके रुख रेखाएँ होती हैं ; जीवनयोनि मांससूत्रोंमें ये रेखाएँ नहीं होतीं। यह दोनोंमें भेद है। स्रोतोंके मांससूत्रमय आवरणका संकोच होनेसे सारा ही स्रोत संकुचित होता है।

अपकर्षणका ऊपर जो स्वरूप बताया गया है उससे विशद है कि जीवनयोनि मांससूत्रोंके संकोचका प्रमुख कारण उनपर बाह्य द्रव्यका पीडन (दबाव) है। शेष कारणोंका विचार आगे करेंगे।

अन्नवह स्रोतके ऊर्ध्व भागमें रेखाङ्कित[२] मांससूत्र होते हैं, जिसका प्रयोजन यह है कि इस भागसे अन्नपान अति वेगसे नीचे पहुँचा दिया जाय, जिससे वह श्वासपथमें प्रविष्ट न होने पावे। नीचेके भागमें रेखाशून्य[३] मांससूत्र होते हैं। मध्यमें उभयविध मांससूत्रोंका मिश्रण होता है। यह स्थिति मानवोंमें होती है। कुत्ता आदि पशु जो शिर नीचा रखकर अन्नपान ग्रहण करते हैं उनके अन्नवहमें यह विशेषता होती है कि उनके अन्नवहको गुरुत्वाकर्षणके विरुद्ध कार्य करना पड़ता है ; अतः सारे अन्नवहके मांसमय प्राकारमें रेखाङ्कित ही मांससूत्र होते हैं। मानवोंमें पूर्वकथित स्थिति होनेसे शीर्षासनकी अवस्थामें कुछ खिलाया जाय तो वह आमाशयमें नहीं पहुँचने पाता। लेटे हुए जघन ऊपर और शिर नीचा[४] हो तो सामान्यावस्थाकी अपेक्षया सात गुणा मन्दतासे अन्न आमाशयमें पहुँचता है। घन अथवा अर्धघन द्रव्यको मुखसे आमाशयमें पहुँचनेमें ६ से ७ सेकण्ड लगते हैं। द्रव द्रव्य ०·१ सेकण्डमें हार्दिक द्वार तक पहुँचता है। द्रव द्रव्योंकी अन्नवह स्रोतके अन्त तक गतिमें अपकर्षण उतना भाग नहीं लेता, जितना मुख तथा गलद्वारा प्रारम्भिक पीडन और गुरुत्वाकर्षण।

अन्नवह स्रोतमें (अन्यत्र भी) अपकर्षण एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। इसका प्रारम्भ प्रधान-तया जिह्वामूल तथा गलकी पिछली भित्तिमें संज्ञा (अन्नका स्पर्श) के ग्रहणसे होता है। अन्नवह स्रोतमें गृहीत संज्ञाएँ (पीडन) सामान्यतया इसे जारी रखनेका ही काम करती हैं। संज्ञाका ग्रहण गलरासनी (कण्ठरासनी[५],) त्रिधारा[६] तथा प्राणदा[७] नाडियों द्वारा होता है। सुषुम्णा-शीर्षकमें स्थित निगिरणके केन्द्रमें संज्ञाएँ पहुँचती हैं और वहाँसे संकोचके आदेशोंके वेग मुख आदिकी पेशियों और अन्नवहके मांसमय प्राकारमें पहुँचते हैं। इन वेगोंका वहन जिह्वामूलिनी[८], गल-रासनी, त्रिधारा, प्राणदा तथा ग्रीवापृष्ठगा (नागिनी[९]) नाडियों द्वारा होता है। अन्नवहके ऊपरी दो-तिहाई भागमें प्राणदा नाडी द्वारा संज्ञा और चेष्टाके वेगोंका वहन होता है। शेष तृतीयांशमें अन्नवहकी भित्तिमें स्थित नाडी-चक्रों[१०] द्वारा यह कार्य होता है। मांसधातुमें संवाद (एकरूपता) का नियमन भी सुषुम्णा-शीर्षकमें स्थित एक केन्द्र द्वारा होता है।

घन या अर्धघन द्रव्य अपकर्षणीसे प्रेरित हो हार्दिक द्वारपर पहुँचते हैं तो इस द्वारकी शुषिर पेशी[११] शिथिल होकर खुलती है तथा द्रव्य आमाशयमें प्रविष्ट होता है। द्रव्य या द्रवप्राय द्रव्य, अपकर्षण-

१—Muscular Coat—मस्क्युलर कोट।
२—Striated—स्ट्राएटेड। ३—Smooth—स्मूथ।
४—Trendelenburg position—ट्रेण्डलनबर्ग पोज़ीशन।
५—Glosso-pharyngeal—ग्लॉसो-फेरिंजिअल।
६—Trigeminal—ट्राइजेमिनल। ७—Vagus—वेगस।
८—Hypo-glossal—हायपोग्लॉसल।
९—Spinal accessory—स्पायनल एक्सेसरी।
१०—Nervous plexus—नर्वस प्लेक्सस। ११—Sphincter—स्फिंक्टर।

की लहरीके इस द्वार तक पहुँचनेके पूर्व ही वहाँ पहुँचा होता है। यथासमय यह लहरी द्वार तक पहुँचनेपर शुषिर पेशी शिथिल और विवृत्त होती है (खुलती है) और द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होता है।

कई पक्षियोंमें गुरुत्वाकर्षणके विपरीत अन्नपानको आमाशय तक पहुँचानेके लिये ऊपरसे नीचे तक अन्नवहमें रेखाङ्कित मांससूत्र नहीं होते। अतः वे पानी पीते समय बीच-बीचमें सिर ऊपर करते हैं, जिससे गुरुत्वाकर्षण-वश पानी नीचे आमाशयमें उतर जाय।

प्राणदा आदि नाडियोंमें विकृति होकर प्रतिसंक्रमित क्रियाका चक्र पूर्ण न बन सके, अर्बुद आदिसे अन्नवह पीडित हो, किंवा किसी कारण अन्नवहमें व्रण होकर व्रणचिह्नों[1] के परस्पर संयुक्त होनेसे कृच्छ्र[2] हो गया हो तो निगिरणमें तृतीयावस्थागत कठिनाई होती है।

हार्दिक द्वार—आमाशयका यह ऊपरी द्वार वर्तुल मांससूत्रोंसे बना होता है। इन मांससूत्रों का मिलित नाम शुषिर पेशी है। आमाशय खाली हो तो यह पेशी संकुचित रहती है तथा अन्नवह और आमाशयके मध्य अर्गला (अवरोध) का कार्य करती है। अन्य अन्तरवयवोंके समान यह पेशी भी स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके दोनों अङ्गों—मध्य स्वतन्त्र और परिस्वतन्त्र—से नियन्त्रित होती है। प्राणदा नाडी परिस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंको इस पेशीमें पहुँचाती है। इनकी प्रेरणासे पेशीका शैथिल्य होता और द्वार खुलता है।

इन बाह्य नाडियोंके अतिरिक्त इस पेशीका नियन्त्रण (शेष महास्रोतके समान) स्थानीय या आभ्यन्तर नाडीचक्र[3] द्वारा भी होता है। इस पेशी तथा आमाशयके नियामक स्थानीय नाडीचक्रको 'ऑयरबैकका नाडीचक्र'[4] कहते हैं। इस नाडीचक्रके कोप महास्रोतसूकी रचनामें भाग लेनेवाले मांसमय प्राकारों (कोटों) के मध्यमें रहते हैं।

आमाशयकी चेष्टाएँ—

अन्नपानका आमाशयगत पाचक पित्तों (आमाशयरस) के साथ सम्पर्क आमाशयकी चेष्टाओं द्वारा होता है। आमाशयकी एक चेष्टा क्षुधा-सङ्कोच है, जिसके वेग आमाशयके यत्किञ्चित् किंवा सर्वथा रिक्त होनेपर होते हैं। इनका स्वरूप तथा अनुशीलनका प्रकार ऊपर बताया जा चुका है। शरीरसे आमाशयके खण्ड निकालकर, उन्हें योग्य द्रवमें रखकर भी आमाशयकी चेष्टाओंका दर्शन किया जाता है। इन खण्डोंका यद्यपि नाडी-संस्थानसे सम्बन्ध विच्छिन्न हो गया होता है, तथापि जैसा कि ऊपर कहा है इनके अन्तर्गत स्थानीय नाडीचक्र तो होता ही है, जो इनकी चेष्टाओंका प्रवर्तक है।

शुषिर पेशी—'स्फिंक्टर' अंग्रेजीमें उन पेशियोंको कहते हैं, जिनके मध्यमें छिद्र होता है। सु० शा० ५। ३०—३२ में चार प्रकारकी स्नायुओंमें अन्तिम शु (सु) षिर कही हैं। इनका शब्दार्थ 'छिद्रमय' ही है। स्थान भी 'स्फिंक्टर' के समान आमाशय और पक्वाशय दोनों सिरे और बस्ति कहे हैं—आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु। भेद केवल यह है कि नव्य प्रत्यक्षानुसार स्फिंक्टर स्नायु (कण्डरा आदिके समान सूत्रमय धातुके बने) नहीं हैं, किन्तु मांसधातुमय पेशी हैं। अतः इन्हें शुषिर स्नायु न कहकर शुषिर पेशी कहना चाहिये। यों एकाध स्थानपर इनका स्वरूप स्नायुतुल्य (Tendon) भी होता है।

१—Scar—स्कार ; अथवा Cicatrix—सिकेट्रिक्स।

२—Stenosis—स्टेनोसिस।

३—Intrinsic plexus—इण्ट्रिंज़िक प्लेक्सस।

४—Plexus of Auerbach—प्लेक्सस ऑफ ऑयरबैक।

आमाशय तथा अन्त्रोंकी चेष्टाओंकी परीक्षाका अन्य साधन एक्स-रे है। परीक्ष्य व्यक्तिको बिस्मथ सब-नाइट्रेट[1] या बेरियम[2]के अविलेय लवण खिलाये जाते हैं। ये किरणोंके लिए अभेद्य[3] होनेसे आमाशय तथा अन्त्रोंमें जहाँ-जहाँ पहुँचते जाते हैं वहाँ-वहाँका स्वरूप प्रत्यक्ष कराते हैं। महास्रोतसमें व्रण, बद्धोदर आदिकी परीक्षा भी इस विधिसे की जाती है।

आमाशयमें पाककी क्रिया-सम्बन्धी विभिन्न परीक्षण सर्व-प्रथम बोमौण्ट[4]ने एलेक्सिस सेण्ट मार्टिन[5] नामक केनेडियन समुद्र-यात्रीपर किये थे। गोली लगनेसे इसके आमाशयमें असाध्य (स्थायी) नाडीव्रण हो गया था।

अन्य अवयवोंके समान आमाशयकी चेष्टाओंका कारण भी मांससूत्र हैं। ये तीन प्राकारोंके रूपमें व्यूहित होते हैं। सबसे बाहरका प्राकार प्रलम्ब[6] मांससूत्रोंसे तथा अन्दरका तिर्यक् (तिरछे स्थित)[7] सूत्रोंसे बना होता है। दोनोंके मध्य वर्तुल (वृत्ताकार)[8] मांससूत्रोंका प्राकार होता है। यह सबसे स्थूल तथा प्रमुख होता है। आमाशयके गात्र-भाग[9] में सूत्र पतले तथा विरल होते हैं। मुद्रिका द्वारके निकटवर्ती नलिकाकार भाग[10] में इन (तथा प्रलम्ब मांससूत्रों) की संख्या अत्यधिक होती है, जिससे इस भागका मांसमय प्राकार स्थूल और दृढ होता है। इस स्वरूप-भेदका कारण यह है कि आमाशयकी चेष्टाओंमें यही भाग प्रधानतया भाग लेता है। यही प्राकार श्लेष्मकलाके साथ मिलकर मुद्रिका-द्वारकी छुपिर पेशी[11] बनाता है। यह पेशी आमाशय तथा ग्रहणीके मध्य अर्गलाका काम करती है। आमाशयके गात्र तथा आगेके भागके मध्य जो मोड़ होता है वहाँ भी वर्तुल मांससूत्र अधिक-संख्यक होकर एक पट्ट बनाते हैं। वमन आदिके समय इस पट्टका इतना तीव्र सङ्कोच होता है कि आमाशयके गात्र तथा शेष भागके मध्य सम्बन्ध सर्वथा लुप्त हो जाता है। इस सङ्कोचके कारण वमनके उपद्रव-रूप कभी-कभी आमाशय-प्रदेशमें वेष्टन-सी वेदना होती है, जो सबको अनुभवसिद्ध है।

अन्न पहुँचनेके पूर्व गात्रके ऊपरी थोड़े भागको छोड़कर शेष आमाशय, दीवारें परस्पर संपृक्त रहनेसे, अवकाश-रहित और निश्चेष्ट होता है। ऊपरी भागमें वायु रहता है, जो समझा जाता है कि मुख्यतया मुख-द्वारा अन्दर गया होता है। आमाशयका यह भाग कभी-कभी आकारमें बढ़कर हृदयपर दबाव डालता है। रिक्त अवस्थामें आमाशय अधिकांश मानवोंमें अंग्रेजी 'जे' अक्षरके समान होता है तथा पुरुष लेटा हो तो उदर-गुहामें नाभिसे ऊपर तिर्यक् (तिरछा) पड़ा होता है। पुरुष खड़ा हो तो आमाशय सीधा होकर नीचे लटक आता है और इसका नीचेकी ओरका मोड़ जघन कपालों[12]की मध्यरेखा[13] तक पहुँच जाता है। अन्न प्रविष्ट होनेपर आमाशय फैल जाता है तथा खड़े होनेके समयकी ही स्थितिमें आ जाता है।

घन अन्न आमाशयमें कुछ घण्टे रहता है। आमाशयकी चेष्टाओंके प्रयोजन तीन हैं—घन

१—Bismuth subnitrate, २—Barium—एक धातु।
३—Opaque—ओपेक। ४—Beanmont.
५—Alexis St, Martin.
६—Longitudinal—लॉंजिट्यु डिनल; ऊपरसे नीचेकी ओर स्थित।
७—Oblique—ऑब्लीक्। ८—Circular—सर्क्युलर।
९—Fundus—फण्डस। १०—Pyloric end—पायलोरिक एण्ड।
११—Sphincter Pylori—स्फिक्टर पायलोराई। १२—Ileum—इलियम।
१३—Interiliae line—इण्टरइलायक लाइन।

अन्नको कुचलकर अर्धद्रव बनाना, अन्नको लवणाम्लके सम्पर्कमें लाकर पचाना, तथा पचे हुए अन्नको थोड़े-थोड़े समय पीछे थोड़ा-थोड़ा करके मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें भेजना। ये चेष्टाएँ अपकर्षणी-रूप होती हैं। इस चेष्टाका स्वरूप ऊपर बता आये हैं। सम्पूर्ण आमाशय किंवा उसके खण्डोंको शरीरसे बाहर निकालकर, उनपर प्रयोग करके जाना गया है कि, आमाशयकी चेष्टाओंका मूल प्रवर्तक उसके मांसमय आवरणोंके मध्यमें स्थित स्थानीय नाडीचक्र है। यह नाडीचक्र अन्तःप्रविष्ट अन्नपानके पीड़न (दबाव) से प्रभावित [उद्दीपित, उत्तेजित) होकर मांसमय प्राकारको तालबद्ध सङ्कोच करनेके लिये प्रेरित करता है। इस प्रकार हृदयके समान आमाशय भी एक स्वयं-चालित यन्त्र है। आमाशयमें जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाडीसंस्थानकी दोनों प्रकारकी नाडियाँ भी होती हैं। परन्तु उनका कार्य परिस्थितिके अनुसार इन चेष्टाओंको मन्द, द्रुत (वेगवान्) या लुप्त करना है। कारण, इन नाडियोंका सम्बन्ध केन्द्रीय नाडीसंस्थानके साथ होता है, जो बाह्य या अन्तर (शरीर) परिस्थितियोंके अनुसार ऐच्छिक या अनैच्छिक क्रियाओंको प्रभावित करता है। इस प्रकार चिन्ता, रोष या क्लेश इन चेष्टाओं-को तत्काल लुप्त कर देते हैं। मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके सूत्रोंकी वाहक प्राणदा नाडी इन चेष्टाओंको प्रारम्भ करती या बढ़ाती है।

परीक्षणोंसे विदित हुआ है कि अपकर्षणीकी लहरियाँ यों अन्नके प्रविष्ट होनेके कुछ मिनट पीछे आमाशयके ऊर्ध्वभागसे प्रारम्भ होती हैं; परन्तु आमाशयकोण[1]से आगेके मुद्रिका-द्वार-पर्यन्त नलिका-कृति भाग[2]में विशेष लक्षित होती हैं। इनकी दिशा ऊपरसे नीचे मुद्रिका-द्वारकी ओर होती है। पाचन जैसे-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे कोणसे आगेके भागमें लहरियाँ अधिक द्रुत (वेगयुक्त) तथा बलवती होती जाती हैं। इस विशिष्टताके कारण आमाशयके इस भागको चक्की[3]की उपमा दी गयी है।

लहरियोंमें अन्तर नियत होता है—सामान्यतया २०-२० सेकण्डके अन्तरसे एकके पीछे दूसरी लहरी प्रारम्भ होती है। एक समयमें ऊपरसे नीचे तक आमाशयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर सब मिलकर अनेक लहरियाँ देखी जाती हैं। इनके कारण पाचनके समय आमाशयकी आकृतिमें सतत परिवर्तन होता है, जो एक्स-रे से देखा जा सकता है।

आमाशयके कोणाग्रवर्ती भागमें अपकर्षणका वेग, पीड़न (दबाव) और बल अधिक होनेका कारण, जैसा कि ऊपर कहा है, यह है कि, इस स्थानपर वर्तुल मांससूत्र संख्यामें अधिक होते हैं। कोणके ऊपरके भाग (आमाशय-गात्र) में मांससूत्र अल्प-संख्यक होनेसे अपकर्षणका बल भी न्यून होता है। इस भागका प्रधान कार्य अन्नका धारण है। इसकी यह धारक क्रिया प्रकारान्तरसे पाचनमें सहायक होती है। प्राणियोंको क्रमशः विभिन्न वर्णोंके ग्रास देकर और इसके पीछे उन्हें तत्काल मारकर उनका आमाशय चीरकर देखा गया है कि, प्रत्येक पिछला ग्रास अपनेसे पहले ग्रासके मध्यमें जाकर गिरता है और आमाशयके गात्र-भागमें चेष्टा विशेष न होनेसे पर्याप्त काल तक इसी स्थितिमें रहता है। परिणाम यह होता है कि, मध्यवर्ती ग्रासोंका सम्पर्क आमाशय-रसके साथ कुछ काल नहीं होता। इस प्रकार भोजन करनेके कोई आध घण्टे बाद तक मध्यवर्ती ग्रासोंका लाला द्वारा पाचन होता रहता है। अम्लरस लालारसको उदासीन (निष्क्रिय) कर देता है, जिससे अम्ल आमाशय-रसके सम्पर्कमें आये भोजनके बाह्य स्तरोंमें लाला-रस द्वारा पाचन नहीं होता। भोजनके बाह्य स्तर आमशय-रसकी क्रियासे जैसे-जैसे पचते जाते हैं, वैसे-वैसे ऊपरसे थोड़ा अंश कोणसे आगेके

१—Incisura anguleris—इनसिसुरा एँग्युलेरिस।

२—Pyloric antrum—पायलोरिक एण्ट्रम।

३—Pyloric mill—पायलोरिक मिल।

भागमें धकेला जाता है ; वहाँसे यह शीघ्र ही मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें पहुँचाया जाता है। मानवोंमें भी यही स्थिति देखी गयी है।

इस विवरणसे स्पष्ट जाना जा सकता है कि आमाशयका कार्य अन्नको धारण करना, उसे कुचलकर सूक्ष्म करना, अपने पाच्य (प्रोटीन आदि) को पचाना—रूपान्तरित करना तथा अल्पशः उसे ग्रहणीमें भेजना है[1]। वस्तुतः आमाशय जिस प्रकार विस्फारित होकर विपुल अन्नपानका ग्रहण और धारण कर सकता है, उस प्रकार ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र नहीं। जिन कुत्तोंमें आमाशय निकालकर अन्नवह और ग्रहणीको परस्पर जोड़ दिया जाता है वे प्रारम्भमें तो क्लेश अनुभव करते हैं ; पर तत्काल भोजन-विधिमें अवस्थानुरूप परिवर्तन कर लेते हैं। अब वे पहलेके समान एक साथ समूचे भोजनको गलेके नीचे उतारनेके स्थानपर अति मन्दगतिसे कई घण्टे लगाकर भोजन करते हैं। ग्रहणी इस प्रकार प्राप्त भोजनकी अल्पीय सी मात्राको सरलतासे ग्रहण करती है।

आमाशयका खाली होना—

तीनसे पाँच घण्टेमें आमाशय पूरी तरह खाली हो जाता है। अवश्य ही यह क्रिया एक साथ नहीं होती। परन्तु ऊपर कहे अनुसार, अन्न जैसे-जैसे द्रवीभूत और सूक्ष्म होता जाता है वैसे-वैसे वह अल्पाल्पशः झटकेके साथ मुद्रिका-द्वारसे ग्रहणीमें जाता है। सच पूछो तो, पचनकी अवधिमें मुद्रिका-द्वार प्रायः शिथिल रहता है और एक तरहसे छन्नेका कार्य करता है। द्रव द्रव्य कुछ ही मिनटोंमें आमाशयको छोड़ देते हैं। घन द्रव्योंमें कार्बोहाइड्रेट सबसे शीघ्र आमाशयसे ग्रहणीमें जाते हैं, इसके पश्चात् प्रोटीन और सबसे अन्तमें स्नेह। स्नेह आमाशयकी चेष्टाको मन्द या लुप्त कर देते हैं। ये आमाशय-रसकी मात्राको भी घटा देते हैं। इन कारणोंसे उनका जरण (पाचन) देरसे होता है। प्रोटीनोंका अधिक काल आमाशयमें रहना कदाचित् उनके पचनके लिए अनुकूल है। मांसके कल्ककी अपेक्षया उसके विना चबाये उतारे टुकड़ोंको कुत्ते अधिक अच्छी तरह पचाते हैं[2]।

मुद्रिका-द्वारका उद्घाटन ऊपरसे चली आयी लहरीके द्वार पर्यन्त पहुँचनेपर होता है। लहरी पहुँचनेपर भी द्वार नहीं खुलता यदि अन्नपान आगे पहुँचाने योग्य स्वरूपका न हो, ग्रहणीमें अति अम्ल अन्नपान पहुँचे, मध्य स्वतन्त्र नाडी संस्थान उद्दीपित हो किंवा मुद्रिका-द्वार क्षुभित हो।

मुद्रिका-द्वारकी सुस्थिति (यथावत् खुलना) बड़े महत्त्वकी है। वर्तमान सभ्यताके साथ फैलनेवाला एक कष्टकारी रोग आमाशय तथा ग्रहणीका क्षत (व्रण) है[3]। इसकी अनुत्पत्तिका एक

१—आमाशयके अन्य भी कार्य हैं। उनका उल्लेख आगे किया जायगा।

२—इस प्रसङ्गमें पृ० २४५ की टिप्पणी भी देखिये।

३—आमाशय-क्षतको अंग्रेजीमें Stomach-ulcer—स्टमक अल्सर या Gastric ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर कहते हैं ; तथा ग्रहणीके क्षतको Duodenal ulcer—डुओडिनल अल्सर। दोनोंका एक नाम Peptic ulcer—पेप्टिक अल्सर है। वर्तमान सभ्यताकी देन होनेसे कोई आमाशय-क्षतको Wound's type of civilization, या Plague of civilization कहना पसन्द करते हैं। आयुर्वेदमें इन रोगोंका साम्य अम्लपित्त, रक्तपित्त (मुखसे रक्तस्राव होनेपर या गुद मार्गसे शुष्क रक्त जानेपर) और कदाचित् पित्त-गुल्मसे किया जा सकता है। प्रायः परिणामशूलको ग्रहणी-क्षत समझा जाता है। कारण दोनोंमें भोजनके कुछ काल पीछे शूल होता है। परन्तु परिणामशूलमें शङ्ख आदि क्षतजनक द्रव्योंका विधान है, जिससे दोनों रोग भिन्न प्रतीत होते हैं। परिणामशूल कदाचित् मुद्रिका-द्वारका वातवृद्धिके कारण न खुलना है। इस स्थितिमें आमाशय अपने तीव्र संकोच द्वारा अन्नपानको अवरुद्ध द्वारके पार धकेलनेका प्रयास करता है, जिससे विकट शूल होता है। सुधियः प्रमाणम्।

कारण यह माना जाता है कि, ग्रहणी-रसका प्रतिसरण[1] होकर उसकी क्षारीयतासे आमाशयका अम्लरस उदासीन[2] होता रहता है। परिणामतया, श्लेष्मकलाका पाक (सूजन) और क्षत नहीं हो पाते। मुद्रिका द्वार खुलता न हो, विशेषतया आमाशय रिक्त होनेकी दशामें तो, यह प्राकृत क्रिया नहीं हो पाती। कई आप्त आमाशय क्षतकी उत्पत्तिका एक कारण यह बताते हैं।

अन्य भी कुछ कारण मुद्रिका द्वारके उद्घाटन और आमाशयके रिक्तीभवन (खाली होना) के काल पर प्रभाव डालते हैं। ग्रहणी भरी हुई हो तो आमाशयका रिक्तीभाव देरसे होता है, वह खाली हो तो अपेक्षया शीघ्र। आमाशयमें अपकर्षणीकी लहरियाँ जितनी बलवती होंगी उतना ही शीघ्र वह खाली होगा।

शारीरिक श्रम या मानसिक आवेश प्रायः आमाशयकी चेष्टाओंको मन्द या लुप्त कर देते हैं। तेरहवीं शतीके रोमन साम्राज्यके शासक द्वितीय फ्रेडरिकका परीक्षण इस विषयमें इतिहास-प्रसिद्ध है। उनने दो मनुष्योंको अच्छा भोजन खिलाया। पश्चात् एकको तो विश्राम लेने दिया और दूसरेसे कठिन श्रम कराया। पीछेसे दोनोंका उदर उसने अपने सामने निकलवाया। जिस पुरुषसे श्रम कराया गया था उसके आमाशयमें भोजन अपक्व ही पड़ा पाया गया था। पीछेसे अन्य क्रियाशारीर वेत्ताओंने भी देखा कि खाना खिलानेके तत्काल पीछे कुत्तोंको शिकारमें लगाया गया तो भोजन उनके आमाशयमें ही पड़ा रहा।

मानसिक या शारीरिक श्रमवश मुद्रिका द्वार शिथिल होकर खुले नहीं तो आमाशय-नलिका (कोण और मुद्रिका द्वारका मध्यवर्ती भाग) अवरुद्ध द्वारमेंसे अन्नको धकेलनेके लिए वार-वार प्रबलतया संकुचित होती है। कदाचित् यह प्राचीनोंका परिणामशूल है[3]। भोजनके पश्चात् श्रम न करना, किंवा श्रमके पूर्व प्रकृति या प्रमाणकी दृष्टिसे गुरु भोजन करना इसी कारण श्रेयस्कर नहीं। कैम्पवेल[4] और पेम्ब्रे[5] ने तो यहाँतक कहा है कि जिन मानसिक या शारीरिक आयासोंको हम बहुत उपेक्षणीय समझते हैं वे भी आमाशयके रिक्तीभावको विलम्बित करनेमें निमित्त हो सकते हैं। मनोविनोदक गोष्ठीसे जो विश्रान्ति मिलती है वह बहुत हितावह होती है। जो बातें आमाशय-रसके स्रावकी साधक-बाधक हैं वे ही उसकी चेष्टाओंपर भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। अजीर्णकी चिकित्सामें इन सचाइयोंपर सविशेष ध्यान देना चाहिये।

आमाशयकी दृढ़ता (अशिथिलता) भी परिवर्तनशील है। इस विषयमें एक उदाहरण प्रसिद्ध है। किसी कारण एक विद्यार्थीके आमाशयकी एक्स-रे से परीक्षाका प्रसंग उपस्थित होनेपर उसे विद्याभ्यास सम्बन्धी एक चिन्तनीय परिस्थिति उत्पन्न होनेका समाचार दिया गया। उसी क्षण उसका आमाशय इतना नीचे लटक आया कि उसका नीचेका सिरा श्रोणिगुहा तक पहुँच गया।

आमाशयमें वायु अति अधिक प्रमाणमें हो तो उसके रिक्तीभावमें विलम्ब होता है।

मानसिक-शारीरिक आयासों और क्षोभका पाचक पित्तोंके स्राव तथा आमाशय आदिकी चेष्टाओंपर बाधक प्रभाव एवं पूर्ण विश्रान्तिका इन क्रियाओं पर हितावह प्रभाव इन अध्यायोंमें हमने देखा। प्राचीनोंने इसी कारण तच्चित्त होकर खानेका जो और जैसा विधान किया है उसकी शास्त्र-

---

१—Regurgitation—रीगर्जिटेशन। 'प्रतिसरण' शब्द प्राचीन है। देखिये बाह्य वातके प्रकोपका वर्णन—प्रतिसरणम् आपगानाम्— च० सू० १२।८

२—Neutral—न्यूट्रल।

३—देखिये पृष्ठ ३२५ पर आमाशय तथा ग्रहणी-क्षत सम्बन्धी टिप्पणी।

४—Campbell, ५—Pembrey,

शुद्धताका विचार गत अध्यायमें हम देख चुके हैं। अब इन परीक्षणोंकी छायामें सुश्रुतके निम्नोक्त वचनकी महिमा देखिये, जिसमें भोजनोत्तर विधिका उपदेश किया गया है—

> भुक्त्वा राजवदासीत[1] यावदन्नक्लमो गतः।
> ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्॥
> शब्दान् रूपान् रसान् गन्धान् स्पर्शांश्च मनसः प्रियान्।
> भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥ सु० सू० ४६। ४८७—४८८

खानेके अनन्तर जबतक पेटमें भार रहे, राजासनसे बैठे। फिर शतपदी (सौ डग चलना) करके बाईं करवट सो जाय। भोजनके अनन्तर मनोहारी शब्द (रेडियो आदि), स्पर्श, रूप, रस और गन्धका सेवन करे। इससे अन्नका पाक ठीक होता है[2]।

भोजनके पूर्व, समकाल तथा पीछे कुछ काल शारीरिक-मानसिक उपशान्तिका कारण है। संपूर्ण रक्तका एक-तृतीयांश अन्तर्गत अङ्गों[3] में रहता है। जिस काल जो अङ्ग कार्यमें व्यापृत (तत्पर) होता है, रस-रक्तका प्रवाह उस काल उस अङ्गकी ओर ढल जाता है। भोजनके पश्चात् किसी प्रकारका शारीरिक-मानसिक श्रम किया जायगा तो स्वभावतः रस-रक्त मस्तिष्क या श्रमपरायण अङ्गकी ओर जायगा। कोष्ठमें पाचनके लिए उसका अपेक्षित प्रमाण न रह जायगा। अन्य अङ्गोंका रस-रक्त उस काल खिचकर कोष्ठकी ओर आया होता है; अतः क्लम (श्रमके बिना भी थकावट), शीत (त्वचामें उष्णत्व-जनक रक्तका प्रमाण यथेष्ट न रहनेसे) आदि लक्षण रहते हैं।

भोजनोत्तर क्लम, तन्द्रा आदिकी उपरिलिखित संप्राप्ति नव्यमतानुसार है। आयुर्वेद-मतसे इनका कारण यह है कि, भोजनके पीछे कुछ काल कफका प्रकोप होता है। क्लम, तन्द्रा आदि उसके कारण होते हैं।

अजीर्ण रोगियोंके अतिरिक्त अध्ययनशील व्यक्तियों—विशेषतः विद्यार्थियोंको भोजन-विषयक

१—राजासन—राजवदासीत भद्रासनेनासीतेत्यर्थः। 'नृपासनं यत् तत् भद्रासनम्' इत्यमरानुशासनात्। भद्रासनं तु नाम "सीवन्याः पार्श्वयोर्न्यस्येद् गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम्॥ वृषणाधः पादपार्ष्णि पाणिभ्यां परिबन्धयेत् वा भद्रासनं तदुद्दिष्टम्"—इत्युक्तलक्षणम्—हाराणचन्द्र—अर्थात् एडियाँ अण्डकोषके नीचे टिकाकार, एक दूसरेको काटते हुए दोनों हाथोंसे एड़ियोंको इस प्रकार पकड़े कि पैर स्थिर रहें। यह भद्रासन या राजासन है। इसीको उत्कटुकासन तथा हिन्दीमें 'उकड़ूँ बैठना' कहते हैं। देखिये—'गुदपार्ष्णीसमायोगः प्राहुरुत्कटुकासनम्', 'उकुडु' इति लोके— सु० नि० २-४ पर डल्हन

२—भोजन-विधिके विषयमें मनुके निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं—

> उपस्पृश्य द्विजो नित्यमन्नमद्यात् समाहितः।
> भुक्त्वा चोपस्पृशेत् सम्यगद्भिः खानि च संस्पृशेत्॥
> पूजयेदशनं नित्यमद्याच्चैतदकुत्सयन्।
> दृष्ट्वा हृष्येत् प्रसीदेच्च प्रतिनन्देच्च सर्वशः॥
> पूजितं ह्यशनं नित्यं बलमूर्जं च यच्छति।
> अपूजितं तु तद् भुक्तमुभयं नाशयेदिदम्॥ मनु० २। ५३-५५

भोजनके पूर्व और पश्चात् आचमन (उपस्पर्श) तथा शीतल जलसे इन्द्रिय-स्पर्शका विधान मानसिक आवेशोंकी शान्ति और मनकी समाधि (एकाग्रता) के लिए है।

३—Splanchnic area—स्प्लैङ्कनिक एरिआ।

इन विधानोंको सदा दृष्टिगत रखना चाहिये। भोजनके पश्चात् वे बौद्धिक श्रम (अल्पमात्र भी) करेंगे तो, उस काल अन्नपाचनार्थ रस-रक्तकी कोष्ठको आवश्यकता होनेसे उनका विशेष प्रमाण उस ओर गया होता है; अतः मस्तिष्कको रस-रक्तकी यथेष्ट मात्रा न मिल सकनेसे मानसिक श्रम अधिक न हो सकेगा तथा शिरःशूल आदि लक्षण उत्पन्न होंगे। यह अवस्था चिरकाल रहे तो मस्तिष्क उत्तरोत्तर दुर्बल होता जायगा। अध्ययनादि श्रम अधिक करनेकी उसकी शक्ति नष्ट होती जायगी। क्षीण अल्प रस-रक्तवाले पुरुषोंको यह कष्ट शीघ्र पीडित करता है। उपचारमें 'निदान-परिवर्जन' को दृष्टिमें न रखकर केवल मस्तिष्कके बलप्रद औषधोंका सेवन फलदायी न होगा।

क्षुद्रान्त्र-गत चेष्टाएँ—

क्षुद्रान्त्रोंमें तीन-चार प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं। इनके कारण आहारके विविध अंश संमिश्रित होकर एकजीव हो जाते हैं; भली-भांति पाचक पित्तोंके संपर्कमें आते हैं तथा श्लेष्मकलाके संसर्गमें आ-आकर अपने-अपने मार्ग (रसवाहिनी और रक्तवाहिनी) द्वारा शोषित होते हैं—रस-रक्तमें जा मिलते हैं। अन्त्रोंके संकोचका एक परिणाम यह भी होता है कि, उनकी दीवालकी अंशभूत सिरिकाएँ (छोटी सिराएँ) भी संकुचित होती हैं, जिससे उनमें स्थित रक्त पीडित होकर (दबकर) आगे प्रतिहारिणी सिराकी ओर धकेला जाता है। अन्त्रों की अपकर्षणी गतिके कारण अन्न और अन्नरसका आगे-आगे वहन होता है।

अन्नपानके परस्पर तथा पित्तोंके साथ मिश्रणार्थ क्षुद्रान्त्रमें एक विशिष्ट चेष्टा होती है, जिसे 'परिमर्दन'[1] कहते हैं। यह अन्त्रके थोड़े-थोड़े भागमें होती है। जिस भागमें यह चेष्टा होती है, उसमें थोड़ी-थोड़ी दूरी पर एक-साथ संकोच होते हैं। परिणामतया, संकुचित स्थानोंका अन्न दबकर ऊपर-नीचे खिसककर दो-दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। प्रत्येक विभागका पुनः संकोच होकर उनके अन्तर्गत अन्न पुनः विभक्त होता है। पश्चात् मध्यवर्ती दो-दो विभाग मिलकर एक हो जाते हैं। इनका पूर्ववत् पुनः विभजन होता है। यह क्रिया थोड़े-थोड़े परन्तु नियत सेकण्डोंके पीछे होती है। परिमर्दन एक ही स्थानपर कुछ काल रहता है। इतने समय उस स्थानका अन्नपान उसी स्थानपर रहता है। इसके पश्चात् एक लहरी अपकर्षणकी आकर इस अन्नपानको आगे पहुँचा देती है। नये स्थानपर अन्नका पुनः परिमर्दन और पुनः अपकर्षण होता है। परिमर्दन और अपकर्षणका यह क्रम अन्तमें अन्नको क्षुद्रान्त्र और बृहदन्त्रके संगम-स्थानपर पहुँचा देता है।

परिमर्दनमें संकोचोंके अन्तर नियत होते हुए भी समस्त क्षुद्रान्त्रमें उनका अनुपात (दर) एक ही नहीं होता। ग्रहणी[2] के भागोंमें संकोच प्रति मिनट १७ से २१ तथा वलितान्त्र[3] में १० से १२। संकोचोंकी संख्या जैसे-जैसे कम होती जाती है वैसे-वैसे उनका विस्तार अधिक होता जाता है। ग्रहणीसे वलितान्त्रकी दिशामें अन्त्रकी दृढ़ता तथा क्षोभ्यता भी न्यून होती जाती है[4]।

१—Segmentation—सेग्मेन्टेशन। परिमर्दनका मूल अर्थ आटे आदिको मसलना है।

२—Duodenum—डुओडिनम; क्षुद्रान्त्रोंका आदि भाग।

३—Ileum—इलियम; क्षुद्रान्त्रोंका अन्तिम भाग।

४—क्षुद्रान्त्रमें संकोचादिकी उत्तरोत्तर भिन्नताका परिणाम यह होता है कि अन्न एक ही दिशामें—ऊपरसे नीचेकी ओर—गमन करता है। कई प्राणियोंमें क्षुद्रान्त्रका कुछ भाग काटकर उसका ऊपरका सिरा नीचे और नीचेका ऊपर करके पुनः मूल अन्त्रके साथ सी दिया गया। परिणाम यह हुआ कि ये प्राणी बुरी तरह कृश हो गये। इन्हें मारकर देखा गया तो विदित हुआ कि आमाशयकी ओरके संधिस्थानसे ऊपर अन्न संचित हो गया था तथा यह स्थान फूल गया था।

परिमर्दनमें अन्त्रोंके संकोचका कारण बर्तुल मांससूत्र होते हैं।

अपकर्षणीका स्वरूप ऊपर, अन्नपानके अन्नवह स्रोतमें वहनके प्रसंगमें बता आये हैं। क्षुद्रान्त्रमें इसकी लहरीका वेग बहुत धीमा होता है। यह बहुत अनियत—प्रति मिनट १ सेण्टीमीटरसे २५ सेण्टीमीटर—होता है। लहरीकी लम्बाई भी भिन्न-भिन्न होती है। प्रत्येक लहरी थोड़ी दूर (कुछ इञ्च) जाकर रुक जाती है, अथवा सारे क्षुद्रान्त्रका अतिक्रमण करती है। लहरियाँ थोड़ी-थोड़ी देर रुककर होती हैं। जैसा कि ऊपर कह आये हैं लहरियोंके अन्तर-कालमें परिमर्दनकी क्रिया होती है। कभी-कभी लहरीका वेग अधिक होता है। भोजन खाने—भोजन आमाशयमें पहुँचने, विशेषतया उष्ण द्रव्य सेवन करनेसे इसका प्रारम्भ होता है[1]। इसी कारण भोजनके पश्चात् अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ी) का अनुभव बहुधा होता है।

आमाशयसे ग्रहणीमें अन्न खण्डशः आता है, यह कह ही आये हैं। ग्रहणीमें प्रथम-पतित अन्न परिमर्दन और अपकर्षणके प्रभावसे वलितान्त्र और उण्डुक (स्थूलान्त्रका आदि भाग) के संधि-स्थानपर ४ से ४॥ घण्टेमें पहुँचता है। इस अवधिमें खाये भोजनके अन्तिम अंश आमाशयसे ग्रहणीमें लगभग आ चुकनेको होते हैं।

अन्नकी प्रगति—अन्नवहके ऊर्ध्वभागसे गुद-पर्यन्त वहन—अपकर्षणसे होता है। महास्रोतके कई भागोंमें ऐसी ही चेष्टा विपरीत दिशामें भी होती है। यह प्राकृत भी होती है और वैकृत भी। इसे प्रत्यपकर्षण[2] कहते हैं। आमाशयमें इस प्रत्यपकर्षणके कारण अम्ल द्रव अन्नवहमें आकर उसकी अन्तःकलाको प्रभावित करता है, तो अन्तर्दाह[3] नामक स्वनुभूत विकार होता है। आमाशयमें ही हुए प्रत्यपकर्षण-वश तद्गत वायु बाहर निकलता है। इस क्रियाको उद्गार[4] कहते हैं। प्राकृतावस्थामें क्षुद्रान्त्रोंमें प्रत्यपकर्षणसे तद्गत द्रव्यका आमाशयमें आना संभव है। ऊपर कह आये हैं कि इसका हेतु कइयोंके मतमें क्षुद्रान्त्रोंके क्षारीय रसके संपर्कसे आमाशयके अम्लत्वको उदासीन करना है। अम्लके उदासीनं होनेसे आमाशयमें क्षत होनेकी संभावना नहीं रहती। अधिकांश अवस्थाओंमें क्षुद्रान्त्रोंमें प्रत्यपकर्षणका प्रयोजन अन्नकी अतिशीघ्र प्रगतिको रोकना है।

वैकृत प्रत्यपकर्षण बद्धोदर[5] में होता है। इसमें अन्त्रगत द्रव्य अन्त्रके अवरोध-वश आगे जा नहीं सकता। प्रत्यपकर्षणके कारण उलटा लौटकर आमाशयमें और वहाँसे वान्ति द्वारा मुखसे बाहर आता है। अवरोध और प्रत्यपकर्षण घोर हो तो अन्त्र फूलकर स्तम्भाकार हुए तथा उनमें होता हुआ प्रत्यपकर्षण बाहरसे भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। यह स्थिति रोगके निदान तथा तत्काल शस्त्रकर्मका अचूक लक्षण है।

उल्लिखित चेष्टाओंके अतिरिक्त क्षुद्रान्त्रोंमें एक और प्रकारकी चेष्टा होती है, जिसे 'दोलनी'[6] कहते हैं। यह अन्त्रोंके दोनों प्रकारके—वर्तुल और प्रलम्ब मांससूत्रोंमें होती है। यह संकोच और विकासकी मन्द लहरियाँ हैं, जिनके कारण अन्त्र एक पार्श्वसे दूसरे पार्श्वमें झूलेके सदृश झुलते हैं। प्रत्येक लहरीकी गति प्रति सेकेण्ड २ से ५ सेण्टीमीटर होती है। इनका भी प्रयोजन अन्त्रगत द्रव्योंका

१—इस द्रुत लहरीको अंग्रेजीमें Peristaltic rush—पेरीस्टाल्टिक रश—कहते हैं।

२—Antiperistalsis—एण्टीपेरिस्टाल्सिस।

३—Heart-burn—हार्ट-बर्न। ४—Belching—बेल्चिंग।

५—Intestinal obstruction—इण्टेस्टाइनल ऑब्स्ट्रक्शन।

६—Pendulum movement—पेण्डुलम मूवमेण्ट; या Swaying movement—स्वेइङ्ग मूवमेण्ट।

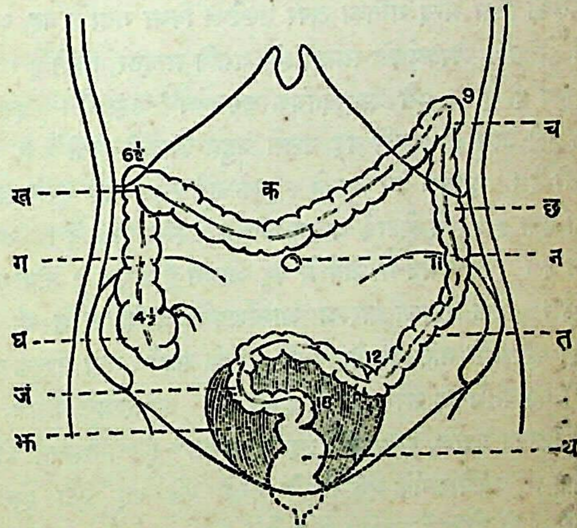
संमिश्रण है। इनमें और अपकर्पणमें भेद यह है कि इनका मूल मांससूत्र होते हैं। नाड़ीजालका इनसे कोई सम्बन्ध नहीं।

रसांकुरिकाओंमें चेष्टा—

रसांकुरिकाओंका थोड़ा परिचय पहले कराया जा चुका है[1]। अन्नरसका ग्रहण (शोषण) करते समय इनमें दो प्रकारकी चेष्टाएँ होती हैं। प्रथम चेष्टामें, इन अंकुरिकाओंमें विभिन्न दिशाओंमें एक ओरसे दूसरी ओर, चाबुकके समान गति होती है। दूसरी चेष्टा पम्प-सदृश होती है। इसमें अंकुरिकाएँ ऊपर-नीचे क्रमशः संकुचित और विस्तृत होती हैं। इन चेष्टाओंके कारण अन्त्रगत द्रव्य इधर-उधर होता है; साथ ही अंकुरिकाओंमें स्थित केशिकाओं और रसायनियों द्वारा गृहीत द्रव्य दबकर अपने-अपने मार्गमें आगे जानेके लिये आगे धकेला जाता है। ये चेष्टाएँ अंकुरिकाओंमें स्थित मांससूत्रके कारण होती हैं। द्वितीय प्रकारकी चेष्टा प्रतिमिनट छह होती हैं।

स्थूलान्त्रमें चेष्टाका स्वरूप—

ऊपर कह आये हैं कि, आमाशयमें पहुँचनेके ४॥ घण्टे पीछे आहार उण्डुक[2] में प्रविष्ट होने लगता है। स्थूलान्त्र या पक्वाशयमें इसकी गति अतिमन्द होती है। चित्र संख्या १३ देखने से विदित होगा कि कुल ६॥ घण्टे पीछे, आरोही स्थूलान्त्र[3] को पारकर आहार याकृत कोण[4] पर पहुँचाता है; अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र[5] को पारकर कुल ९ घण्टे पीछे प्लैहिक कोण[6] में और अन्तको अवरोही



चित्रसं०—१३ कोष्ठमें स्थूलान्त्रकी स्थिति, तथा महास्रोतस्‌में अन्न-संचारका समय।

न—नाभि; घ—उण्डुक; घ—ग—ख—आरोही स्थूलान्त्र; ख—याकृत कोण; क—अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र; च—प्लैहिक कोण; च—त—अवरोही स्थूलान्त्र; ज—कुण्डलिका भाग; थ—उत्तर गुद।

१—देखिये पृ० २७७। २—Coecum—सीकम; स्थूलान्त्रका आदि भाग।
३—Ascending colon—एसेण्डिङ्ग कोलन। ४—Hepatic flexure—हिपेटिक फ्लेक्शर।
५—Transverse colon—ट्रान्सवर्स कोलन। ६—Splenic flexure—स्प्लीनिक फ्लेक्शर।

स्थूलान्त्र[1] के विभिन्न भागोंमें होता हुआ १८ घण्टे पीछे कुण्डलिका[2] भागमें पहुँचता है। मलोत्सर्ग के पूर्व और (पूर्वोक्त कालके अतिरिक्त) चौबीस घण्टे या अधिकाल इस भागमें रहता है। इस प्रकार स्थूलान्त्रमें वाह्य द्रव्यकी गति एक घण्टे में एक फुट से कम होती है। स्थूलान्त्रकी सम्पूर्ण लम्बाई ५ फुटको पार करनेमें मलको १३॥ घण्टे लगते हैं। रातमें यह गति और मन्द हो जाती है।

स्थूलान्त्रमें गतिकी इस मन्दताका कारण यह है कि, इस अवधिमें आहारका जलीयांश पर्याप्त शोषित हो जाय। उण्डुकमें प्रवेशके समय मलका ९० प्रतिशत जलभाग होता है; स्थूलान्त्रमें, मुख्यत्वेन उण्डुकमें जलका शोषण होकर अन्तमें मलमें ७५ प्रतिशत जल रह जाता है।

वलितान्त्रसे उण्डुकमें आहारका प्रवेश जिस द्वारसे होता है उसपर दो अवयव होते हैं जो उण्डुक में प्रविष्ट आहारका प्रतिसरल (विपरीत दिशामें गति)[3] नहीं होने देते। इनमें प्रथम, परन्तु गौण, दो कपाटिकाएँ हैं। ये दो छोटे-छोटे प्यालोंके रूपमें होती हैं। उनका नत (दबा हुआ) भाग उण्डुककी ओर तथा उन्नत भाग वलितान्त्रकी ओर होता है। किसी कारण मलकी विपरीत गति होने लगे तो दोनों कपाटिकाओंके नत भागमें मल भर जाता है। उसके दबावसे दोनों कपाटिकाएँ फूलकर एक-दूसरेसे सट जाती हैं। परिणामतया मध्यवर्ती द्वार अवरुद्ध हो जाता है और मलको विपरीत दिशामें जाने से रोकता है[4]। इस द्वारके अवरोधका कार्य, प्रधानतया, इस स्थानपर स्थित वर्तुल मांससूत्रोंसे बनी शुषिर-पेशी[5] से होता है। यह सामान्यतया सदा दृढ संकुचित और बन्द रहती है। वलितान्त्रकी ओरसे आहारका पीडन हो, तो ही यह खुलती है; उण्डुकके पीडनके प्रति निरपेक्ष रहती है।

स्थूलान्त्रमें मलकी जिस मन्द गतिका ऊपर उल्लेख किया गया है वह, अपकर्षणके कारण होती है। यह क्षुद्रान्त्रोंमें होनेवाले अपकर्षणके समान ही, यद्यपि मन्दतर, होती है। परन्तु स्थूलान्त्रोंकी अपनी विशिष्ट चेष्टा अन्य ही है। इसे 'सामुदायिक अपकर्षण'[6] कहते हैं। इसकी तुलना क्षुद्रान्त्रकी 'पेरिस्टाल्टिक रश' से की जाती है, यद्यपि यह उससे बहुत वेगवती होती है। यह चेष्टा दिनमें केवल तीन या चार वार होती है। प्रत्येक वेग मलको स्थूलान्त्रके एक खण्डसे दूसरे खण्डमें, यथा आरोहीसे अनुप्रस्थ भागमें, पहुँचा देता है। ये चेष्टाएँ याकृत कोणमें प्रारम्भ होती हैं। उण्डुक इन चेष्टाओंकी दृष्टिसे निष्क्रिय होता है। निरामिष-भोजियोंमें यह आशय (उण्डुक) जीवाणुओं द्वारा सेल्युलोज़के पाकका विशिष्ट स्थान है। उक्त चेष्टाका प्रारम्भ आमाशयमें अन्नके प्रवेश या मानसिक आवेशोंके कारण होता है। इन्ही कारणोंसे वलितान्त्रके पिछले भागके संकोच तथा उण्डुक-द्वार (वलितान्त्र और उण्डुकके मध्यका द्वार) का शैथिल्य और उद्घाटन होता है। प्रातराशके पश्चात्, मलप्रवृत्तिका अनुभव प्रायः सबको होगा। इसका कारण, सम्भवतः यह प्रतिसंक्रम[7] (आमाशयमें अन्नके प्रवेशसे सामुदायिक अपकर्षण) ही है। मलोत्सर्गके एक अंशके रूपमें भी यह चेष्टा होती है। इसी कारण मलोत्सर्गके अनन्तर पेट खाली होनेका अनुभव होता है।

अपकर्षणके उद्दीपक-अवसादक कारण

क्षुद्रान्त्रोंकी अपेक्षया स्थूलान्त्रोंमें अपकर्षण मन्द होता है। इसका परिणाम यह होता है कि

१—Descending colon—डिसेण्डिङ्ग कोलन।
२—Sigmoid flexure—सिग्मौयड फ्लेक्शर। ३—Regurgitation—रीगर्जिटेशन।
४—इन कपाटिकाओंको अंग्रेजीमें Ileo-coecal valve—इलिओ-सीकल वाल्व कहते हैं।
५—इस पेशीको अंग्रेजीमें Ileo-coecal sphincter—इलिओ-सीकल स्फिंक्टर कहते हैं।
६—Mass peristalsis—मास पेरिस्टालिसस।
७—Gastro-colic reflex—गैस्ट्रो-कॉलिक रिफ्लेक्स।

पर्याप्त जल-भाग स्थूलान्त्रकी कला द्वारा चूस लिया जाता है। अपकर्षण विशेष मन्द हो, किंवा पुरुष मलोत्सर्गके वेगका धारण करे तो जल आवश्यकसे अधिक मात्रामें चूस लिया जाता है। प्रणिामतया, मल उत्तरोत्तर कठिन और ग्रथित (गाँठोंके आकारका) होता जाता है, जिससे उसका बाहर निकलना दुष्कर होता जाता है। इस स्थितिको आनाह (कब्ज) कहते हैं। वेगधारण[1] आनाहका एक प्रधान कारण है। आनाहका विपरिणाम यह होता है कि, स्थूलान्त्रमें कोथ (जीवाणुओंकी क्रिया से हुई सड़ाँद) के कारण उत्पन्न विष-द्रव्योंका अभिशोषण होता है। इस प्रकार आनाह कई आप्तोंके मतमें अनेक और कइयोंके मतमें अधिकांश मानव-सुलभ रोगोंका निमित्त है[2]।

अपकर्षण अधिक मन्द हो उस अवस्थामें भी परिणाम आनाह-सदृश ही होते हैं। अतः अपकर्षणके उद्दीपक-अवसादक कारणोंका जानना चिकित्सकके लिए अति उपयोगी है।

अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाएँ मांससूत्रोंके संकोचवश होती हैं। इनका मूल स्वयं मांससूत्र हैं। आकुञ्चन या संकोच कोपमात्रका धर्म होते हुए भी मांसधातुमें उसकी पुष्टि सविशेष हुई है[3]। संकोचोंमें एकसूत्रता[4] नाडीसूत्रों द्वारा होती है। ये नाडीसूत्र दो प्रकारके हैं। १—अन्त्रोंके मांसमय प्राकारोंके अन्तरमें स्थित आभ्यन्तर नाडी-चक्र ; २—बाह्य नाडीसूत्र। बाह्य नाडीसूत्र स्वतन्त्र नाडी-संस्थानके दोनों भेदोंके अङ्गभूत हैं। प्राणदा नाडियों[5] के साथ परिस्वतन्त्र नाडी-सूत्र तथा आशयिकी नाडियों[6] एवं उत्तरान्त्रिक[7] और अधरान्त्रिक[8] नाडी-चक्रोंके साथ मध्य स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके सूत्र अन्त्रमें प्रविष्ट होते हैं। प्रथम विभाग अन्त्रोंको संकुचित तथा द्वितीय शिथिल करता है।

केन्द्रीय नाडी-संस्थानका भी इन सूत्रोंके साथ निश्चित सम्बन्ध है। कारण, मानसिक आवेशों का संकोचक या शैथिल्यकारक प्रभाव अन्त्रोंपर पड़ता है यह विदित है।

अधिवृक्क ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव[9] अन्त्रोंकी चेष्टाको लुप्त या मन्द करता है। भय, क्रोध आदि आवेशोंके समय इस स्रावकी वृद्धि होती है।

मांससूत्रों या नाडीसूत्रोंको प्रभावित कर अपकर्षणको उद्बुद्ध या मन्द करनेवाले कारण निम्नोक्त हैं—

१—अन्त्रोंके घटक मांससूत्रोंपर दबाव, परिणामतया उनका तनाव, अपकर्षणीका उद्दीपक है।

१—Neglect—निग्लेक्ट।

२—देखिये—Neglect is one of the commonest causes of constipation, for the retained foeces continue to lose water, and get harder, and more, difficult to expel. Constipation is a possible cause of many—according to some, the majority—of human ailments, because of the absorption of toxic products of putrefaction. Handbook of Physiology by Mc Dowall (1918),

३—देखिये पृ० १७५।

४—Co-ordination—को-आर्डिनेशन।

५—Vagus—वेगस ; बहुवचन—Vagi—वेगाई। अन्य नाम—Pneumogestric—न्यूमोगेस्ट्रिक।

६—Splanchnic nerves—स्प्लैङ्क्निक नर्व्स।

७—Superior mesenteric ganglion—सुपीरिअर मिसेण्टरिक गैङ्गलियॉन।

८—Inferior mesenteric ganglion—इन्फीरिअर मिसेण्टरिक गैङ्गलिऑन।

९—Epinephrine—एपीनेफ्रीन।

अन्त्रोंमें अन्न या मलद्रव्य पर्याप्त मात्रामें उपस्थित हो तो स्वभावतः मांससूत्र पीडित होते हैं और उनके संकोचसे विभिन्न चेष्टाएँ आरम्भ होती हैं।

यह स्पष्ट है कि अग्निमन्द हो तो आहार अल्प होनेसे अन्त्रोंका पीडन यथेष्ट नहीं होता। अन्त्रोंके निम्न भागमें यह पीडन प्रधानतया सेल्युलोज़ द्वारा होता है। इसी कारण स्वस्थवृत्तके पण्डित फल या शाक-भाजीका पुष्कल प्रमाणमें सेवन करनेपर जोर देते हैं[1]। चोकरका सेल्युलोज़ इस दृष्टिसे अधिक कार्यकारी है। इसमें एक कारण यह भी बताया जाता है कि चोकरके अन्तर्गत जीवनीय बी में अन्त्रोंको दृढ़ करनेका गुण विद्यमान है।

आल्वरेज़[2] ने पीडनका अपकर्षणपर प्रभाव देखनेके लिए अद्भुत परीक्षण किया। अन्त्रमें हुए नाडीव्रण द्वारा एक गुब्बारा उसने अन्त्रमें प्रविष्ट किया। इसका सम्बन्ध बाहर एक रस्सीसे था, जिसे दृढ़तासे पकड़े रखा गया, जिससे गुब्बारा अन्दर न जा सके। गुब्बारेको हवा भरकर फुलाया गया। परिणामतया रोगीको क्लेश अनुभव हुआ, जो उत्तरोत्तर बढ़कर शूल[3] के रूपमें परिणत हो गया। इसका कारण गुब्बारेको आगे धकेलनेके लिये अन्त्रोंमें हुआ अपकर्षणका उत्तरोत्तर तीव्र वेग था। गवीनी, पित्तप्रसेक[4] आदिके शूलोंका कारण इसी प्रकार अन्तःस्थित अश्मरी आदि द्रव्यको बाहर निकालनेके लिये हुआ तीव्र संकोच ही होता है।

पाश्चात्य सर (मल-वात प्रवर्तक) औषध लिक्विड पैराफीन शोषित न हो, अन्त्रों को पीडित कर अपकर्षणीको उद्दीपितकर विरेचन करता है। मैगसल्फ शीघ्र शोषित नहीं होता। अन्त्र-विवरमें तथा आसपास जल और घन द्रव्योंका प्रमाण सम रखनेके प्रयोजनसे आकृष्ट होकर जल अन्त्रमें आता है। यह संचित जल अन्त्रको पीडितकर विरेचन करता है[5]।

स्थिर अथवा वात-मल-स्तम्भक द्रव्य, इसके विपरीत, अन्त्रोंमें जलका प्रमाण न्यून करके अपकर्षणीको मन्द करते हैं। परिणामतया मलका स्तम्भन करते हैं।

ऊपर सर द्रव्योंकी क्रियाका जो रासायनिक प्रकार बताया है, उससे भिन्न अन्य प्रकारोंसे भी इनकी क्रिया होती है। कुछ द्रव्य श्लेष्म-कलाको क्षुभित करके श्लेष्माके स्रावकी वृद्धिकर, ऊपर कहे प्रकारसे ही अपकर्षणको उद्दीप्त करते हैं। कई द्रव्य मांससूत्रों या नाडीसूत्रोंको प्रभावितकर अपकर्षणके उद्दीपक होते हैं। अन्त्रोंमें प्राकृत पचन तथा जीवाणुओंकी क्रियासे होनेवाले पचनके परिणामस्वरूप उत्पन्न सेन्द्रिय अम्ल; यथा शुक्ताम्ल[6], पिपीलिकाम्ल[7], प्रॉपिओनिक एसिड[8], केप्रिलिक एसिड[9] तथा प्रोटीनोंके पचनसे उत्पन्न एमाइनो-एसिड भी अपकर्षणकी वृद्धि करते हैं। अङ्गाराम्ल[10], मार्शगैस[11] तथा हायड्रोजन सल्फाइड[12] वायु, जो पचनकी प्रक्रिया द्वारा ही उत्पन्न होते हैं, वे भी अपकर्षणीको

१—सेल्युलोज़-सम्बन्धी अधिक विचार पृ० २००—२०३ पर देखिये।

२—Alvarez.

३—Colic—कॉलिक।

४—Common bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।

५—इस प्रसंगमें 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' पृ० ३६०—३६३ पर सर तथा स्थिर द्रव्योंका विचार भी द्रष्टव्य है।

६—Acetic acid—एसिटिक एसिड।

७—Formic acid—फॉर्मिक एसिड।

८—Propionic acid.

९—Caprylic acid.

१०—Carbon di oxide—कार्बन डाय ऑक्साइड।

११—Marsh gas; पर्याय—Methane—मिथेन; सूत्र CH_4

१२—Hydrogen sulphide; पर्याय—Sulphuretted hydrogen—सल्फ्युरेटेड हायड्रोजन; सूत्र H_2S.

उद्दीपित करते हैं। इन वायुओंकी क्रियाका एक कारण यह भी है कि ये फैलकर अन्त्रोंको पीडित करते हैं। सोडा-वाटरकी क्रिया तद्गत अङ्गाराम्लके कारण होती है। ओषजन यदि शुद्धावस्थामें अन्त्रोंमें उपस्थित हो तो अपकर्षणीको मन्द करता है।

शाकाहार पीडनके अतिरिक्त अपने पचनवश उत्पन्न हुए सेन्द्रिय अम्लों और वायुओंकी अन्त्रोंपर क्रियाद्वारा भी अपकर्षण करता है। शाकाहारका यह सुगुण होते हुए भी इसके पक्ष-विपक्षमें आयुर्वेदका मन्तव्य भुलाना न चाहिये[१]।

याकृत पित्त[२] भी अपकर्षणका उद्दीपक है। परन्तु इसकी यह क्रिया स्थूलान्त्रपर ही होती है। रसपुष्प[३], कटुकी आदि कई द्रव्य अन्त्रोंमें याकृत पित्तके क्षरणको बढ़ाकर अपकर्षणीके उद्दीपनद्वारा सर-कर्म करते हैं। ऐसे द्रव्योंको पित्त-विरेचक[४] कहते हैं। मैग-सल्फ आदि उल्लिखित प्रकारके द्रव्य जल-विरेचक[५] कहाते हैं। दोनों संज्ञाएँ आधुनिक हैं। आयुर्वेदमें तो विरेचनमात्रको श्रेष्ठ पित्तहर माना गया है[६]।

पित्त-प्रकृति पुरुषोंमें पित्तका प्राकृत क्षरण विशेष होनेसे स्थूलान्त्रोंमें अपकर्षण स्वभावतः अधिक होता है। परिणामतया मलके द्रवांशका शोषण न्यून होनेसे वह अधिक द्रव और शिथिल होता है[७]। पित्तमें जलाकर्षणका स्वभाव होनेसे पित्त प्रकृति पुरुषोंमें रक्त, मांस, शुक्र आदि धातुओंमें भी जलका अंश अधिक होनेसे वे द्रवाधिक होते हैं। पित्तके गुणमें जो 'द्रव' की गणना है उसका अर्थ पित्तका इस रीतिसे धातुओं और मलोंमें द्रवोत्पादनका स्वभाव[८] होना ही है[९]।

विभिन्न तैल भी अपकर्षणके उद्दीपक हैं।

२. मल-प्रवर्तक (सर) द्रव्य कुछ-कुछ वात-प्रवर्तन भी करते हैं। परन्तु कई द्रव्य विशेषतः वात-प्रवर्तक[१०] होते हैं, यथा हिङ्गु, सौवर्चल, कर्पूर, यवानी आदि। इनकी क्रिया भी मल-प्रवर्तक द्रव्योंके समान अपकर्षणके प्रदीपनसे ही होती है। विशेषतया विष्टब्धाजीर्ण (वातज अजीर्ण) में

१—इस विषयका विचार पृ० २००—२०३ पर देखिये।

२—Bile—बाइल। ३—Calomel—कॅलोमल।

४—Cholagogue—कॉलेगॉग। ५—Hydragogue—हाइड्रेगॉग।

६—इस विषयके प्रमाण आगे पित्ताधिकारमें देखिये।

७—पित्तप्रकृति पुरुषोंके मलका प्राकृत स्वरूप द्रवोत्तर होनेसे मलकी राशि स्वभावतः अधिक होती है। इसी कारण मलोत्सर्ग भी प्रायः दिनमें अनेक बार होता है। ये पुरुष रुग्ण हों तो प्रश्न-परीक्षाके प्रसंगमें, उक्त स्थितिको लक्ष्यमें रखकर ये लोग यही मानते और कहते हैं कि उन्हें मलशुद्धि ठीक होती है। पर सत्य इसके विपरीत होता है। चिकित्सक उनपर विश्वासकर मृदु विरेचन न दे तो रोगोपशान्ति नहीं होती।

पित्तप्रकृति पुरुषोंमें मल द्रवोत्तर तथा अपकर्षण अधिक होनेका परिणाम यह भी होता है कि वे मलोत्सर्गके वेगको रोकनेमें प्रायः असमर्थ होते हैं।

८—आयुर्वेदके द्रव्योंके गुणवाचक शब्द शरीरमें तत्-तत् कर्मोंको दृष्टिमें रखकर निर्धारित किये गये हैं, यह बात इस प्रसंगमें पुनः स्मरण कर लेनी चाहिए। इस विषयका विचार देखिये पृ० ८५; तथा आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान पृ० १५, १०९, १२४।

९—देखिये—(पित्तलाः पित्तस्य) द्रवत्वात् शिथिलमृदुसंधिमांसाः, प्रभूत सृष्ट स्वेदमूत्रपुरीषाः —च० वि० ८।९७।

१०—Carminative—कार्मिनेटिव।

अन्त्रोंमें वातका सञ्चय होता है। संचित वायुके निकालनेके लिए अन्त्रोंका प्रबल आकुञ्चन (संकोच) होता है, जिससे शूल होता है। वात-प्रवर्तक द्रव्य वायुकी प्रवृत्ति करके इसे शान्त करते हैं।

३. महास्रोतस्के ऊर्ध्वभागसे भी अपकर्षणको उद्दीपन प्राप्त होता है। ऊपर कहा जा चुका है कि आमाशयमें अन्नपानका प्रवेश स्थूलान्त्रोंमें सामुदायिक अपकर्षणको उद्दीप्त करता है। उपवास-कालमें मलकी अप्रवृत्तिका कारण यह प्रेरणा न मिलना ही है। कइयोंमें प्रातः एक प्याला जल पीनेसे मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न होता है। किन्हींको चाय या अन्य अल्पाहार किये बिना शौचकी इच्छा नहीं होती। कइयोंको बीड़ी आदिका एक आपान (कश[1]) ही पर्याप्त होता है। कुछको प्रधान भोजनके पश्चात् शौचका अभ्यास होता है। सर्वत्र कारण एक ही है—महास्रोतस्के ऊर्ध्वभागसे मिली प्रेरणा। अतएव जीर्ण आनाह (कब्ज) में प्रातः उठनेके पूर्व या पीछे थोड़ा सुखोष्ण (कुनकुना) जल पीनेकी सलाह दी जाती है, जो सद्यः फलदायी है।

उपवास उक्त प्रकारसे आनाह कर्ता है। क्षीण पुरुषोंके लिए उपवास विशेषतः हानिकर है। कारण, ऐसे पुरुषोंका अग्नि मन्द होनेसे भोजनके दिनोंमें भी कोष्ठमें अन्नपान न्यून जाता है, जिससे मल भी अल्प (क्षीण) बनता है। परिणामतया अपकर्षणीका उद्दीपक प्रथम कारण—मलकी पर्याप्ति—विद्यमान न होनेसे एवं स्वाभाविक दौर्बल्यवश इन पुरुषोंको यों भी आनाह रहा करता है। उपवाससे यह बढ़ जाता है। एवं, उपवास आनाहमें वृद्धि करके तथा अपोषणके कारण इनके धातुओं (शरीर) और बलका ह्रास ही करता है।

उपवासका धातुक्षयके अतिरिक्त अन्य विपरिणाम पित्त प्रकोप है। इसका कुछ स्वरूप ऊपर समझा आये हैं[2]। उपवासजन्य पित्तप्रकोपका अन्य प्रकार यह होता है कि, भोजनके नियत कालपर पाचकपित्त स्वयं स्रुत होने लगते हैं। उस समय यदि उन्हें अन्नपान द्वारा तृप्त न किया जाय तो वे शल्य वा विषके तुल्य हो जाते हैं। प्रकृति इन पित्तोंको अम्लोद्गार, वमन आदिके रूपमें निकालनेका प्रयत्न करती है। उपवासकी इस विक्रियाके निवारणके लिए ही प्राकृतिक चिकित्सक उपवासके साथ-साथ प्रति दिन सोडा-बाई-कार्ब (खानेका सोडा) का सेवन तथा बस्तिकर्म कराते हैं। सोडा उत्कृष्ट पित्तशामक और वातानुलोमक तथा बस्ति उत्तम आनाहहर है। तथापि प्रसिद्ध सिद्धान्त तो यही है कि—

लङ्घनाल्लघु भोजनम् ॥

सम्पूर्ण लङ्घनकी अपेक्षया लघु (सुपच और मित) भोजन ही प्रशस्त है। दोषोंका अति सञ्चय होनेपर ही पूर्ण उपवास उचित है, जो यथावश्यक सजल या निर्जल हो सकता है।

४. अपकर्षणको प्रभावित करनेवाला अन्य कारण विभिन्न मनोभाव हैं। अन्त्रोंकी चेष्टाओं और पाचक पित्तोंके क्षरणपर मनोभावोंके प्रभावके विषयमें ऊपर पर्याप्त कहा जा चुका है। वेदना, शीत और क्रोधके आवेशोंसे अपकर्षण रुक जाता है। भय, शोक प्रभृति आवेश इसे बढ़ा देते हैं, जिससे कभी-कभी अतिसार हो जाता है।—

आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ।
मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति॥ च० चि० १९।१५-१६

भय और शोक वायु (नव्य मतानुसार वायुसे प्रेरित नाडीसंस्थान) को कुपित करके अतिसार उत्पन्न करते हैं।

१—कशके लिए आपान शब्द प्राचीन है ; देखिये—च० सू० ५।३६।

२—देखिये पृ० २१४।

अत्यन्त वातप्रकृति[1] स्त्रियों या पुरुषोंमें अल्पमात्र भी मनो-विक्षोभक कारण उपस्थित होनेपर वातका प्रकोप होकर, अकस्मात् पाचक पित्तोंका क्षरण तथा अन्य क्रियाएँ मन्द या नष्ट हो जाती हैं; परिणामतया क्षुधानाश और विबन्ध होते हैं; महास्रोतसमें स्तम्भ[2] होनेसे वातका सञ्चय होकर आमाशय या अन्त्रोंमें गोला-सा अनुभव होता है; कण्ठकी तन्त्रियों[3]का स्तम्भ हो तो स्तब्ध हुई इन तन्त्रियोंमें होकर आते-जाते श्वास-वायुके कारण 'गों-गों' ऐसा सतत शब्द होता है, जिसकी उपमा संहिताओंमें 'कपोतके कूजन'से दी गयी है[4]।

व्यायामसे भी अपकर्षणमें वृद्धि होती है।

जो पदार्थ सर या अपकर्षणको उद्दीप्त करके वात और मलका प्रवर्तन करनेवाले पदार्थों, भावों आदिके विपरीत क्रिया करके मल और वातका स्तम्भन करते हैं, उन्हें 'स्थिर' अथवा 'वातमल-स्तम्भन' कहते हैं[5]।

मलका प्रमाण सम रखनेमें सेल्युलोज़ प्रमुख कारण है, यह अनेक बार कहा जा चुका है। सेल्युलोज़ तीन प्रकारसे मलकी वृद्धि करता है—अपक्व होनेके कारण स्वयं मलका अङ्ग बनकर, श्लेष्म-कलाको क्षुभित कर अधिक प्रमाणमें अन्त्र-रस[6] उत्पन्न कराकर; एवं, मलांशकी अधिकता-वश जीवाणुओंकी उत्पत्ति भी अधिक संख्यामें करके।

अपक्व सेल्युलोज़ या प्रोटीन आदि अन्य आहार अन्त्र-रस, श्लेष्म-कलाके मृत आस्तरण-कोष[7] तथा जीवाणु—ये सब मिलकर मल बनाते हैं। वॉयट[8] तथा हरमान[9]ने अन्त्रका एक वलय (वृत्त-खण्ड[10]) सर्वथा रिक्त करके और उसे अन्त्रके शेष भागसे पृथक् करके देखा कि, उसमें कुछ दिन पीछे सामान्य मल-सदृश ही द्रव्य उत्पन्न हो गया था। यह अन्त्र-रस, आस्तरण-कोष तथा जीवाणुओंसे बना था।

शुष्कीकृत मलका औसतन $\frac{1}{8}$ से $\frac{1}{3}$ भाग जीवाणु होते हैं। जीवाणुओंके प्रमाणका भेद आहार भेदसे होता है। स्ट्रासबर्गर[11]की गणनानुसार १२८,०००,०००,००० जीवाणु मनुष्यके मलमें प्रति दिन निकलते हैं।

मलके साम्यमें सेल्युलोज़ उक्त प्रकारसे कारण होनेसे, जीर्ण विबन्ध (कब्ज) के रोगियोंकी परीक्षा करके देखा गया है कि, स्वस्थ पुरुषोंकी तुलनामें, इनके महास्रोतमें, सम्भवतः जीवाणुओं द्वारा, सेल्युलोज़के विघटन (विनाश) की क्रिया अधिक होती है। परिणामतया सेल्युलोज़का प्रमाण न्यून हो जानेसे ही ये लोग विबन्धसे पीडित रहते हैं।

कभी-कभी, यथा गुद-प्रदेशके शस्त्र-कर्मोंमें, व्रणके साथ मलका संसर्ग न हो इस हेतु विबन्ध

१—Neurotic—न्यूराटिक ; या Hysteric—हिस्टेरिक।

२—Spasm—स्पैज्म।

३—Vocal cords—वोकल कॉर्ड्स।

४—देखिये, च० सि० ९।१४ तथा सु० नि० १।६५ में अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) के लक्षण।

५—इनका विशेष विवरण जाननेके लिए देखिये—आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान पृ० ३६३।

६—Succus intericus—सक्स इण्टेरिकस।

७—Epithelial cells—एपीथीलिअल सेल्स ; मृत कोष-समूहको कूड़ेके सदृश होनेसे Debris डेब्री' भी कहते हैं।

८—Voit. ९—Hermann. १०—Loop—लूप।

११—Strasburger.

उत्पन्न करना इष्ट होता है। इसके लिए जिस आहारमें अपक्वांश न्यून हो वह प्रशस्त होता है। इस दृष्टिसे वसा-रहित[1] मांस उत्तम विदित हुआ है।

किसी भी कारण अन्त्रकी अपकर्षणी गति वेगवती हो तो, यथोचित प्रमाणमें जलका शोषण नहीं होता। बार-बार और द्रव मल-प्रवृत्ति होती है। इसे अतिसार[2] कहते हैं। विबन्ध या आनाहमें स्थिति इसके विपरीत होती है। वेग-निग्रहके अतिरिक्त, कभी-कभी विबन्धका कारण यह भी होता है कि उत्तरगुद मलको अधिक मात्रामें सञ्चित रख सकता है, जिससे वह शुष्क होकर आगे सरक नहीं पाता। विबन्ध-रोगियोंको नियत समयपर मल त्यागके लिए जाना विशेष गुणकारी है। इसमें विरेचन द्रव्योंकी सहायता लेना हानिकर ही होता है। अन्त्र जानो स्वयं निश्चेष्ट होकर मलके अपकर्षणके लिए बाह्य सहायताकी आशामें बैठ रहनेका स्वभाव बना लेते हैं।

वेगधारणके समान वेगोदीरण (मल-प्रवृत्त न हो तो प्रवाहण—काँखना—आदिके द्वारा उन्हें प्रवृत्त करनेकी चेष्टा) भी आयुर्वेदमें निषिद्ध कही गयी है।

मलोत्सर्ग—[3]

काल-क्रमसे मल प्रगति करता हुआ कटि-प्रदेशीय स्थूलान्त्र[4] तथा उत्तरगुद[5]में प्रवेश करता है। मानवोंमें उत्तरगुद चारसे पाँच इञ्च लम्बी नलिका होती है। इसमें मलके प्रवेशके कारण उसका तनाव होकर मलोत्सर्गकी इच्छा होती है। इस इच्छाका पालन किया जाय तो कुछ अनैच्छिक और कुछ ऐच्छिक चेष्टाएँ होकर गुद-मार्गसे मल-प्रवृत्ति (मलोत्सर्ग) होती है। ऐच्छिक चेष्टाको 'प्रवाहण' (काँखना)[6] कहा जाता है।

मलोत्सर्ग होनेके पूर्व मल दो सुषिर पेशियों द्वारा उत्तरगुदमें टिका रहता है। ये पेशियाँ गुदद्वारपर होती हैं तथा संकुचित रहकर उसे अवरुद्ध रखती हैं। इनमें एक आभ्यन्तर सुषिर पेशी[7] है। यह अनैच्छिक मांससूत्रोंका बना वलयाकार (वर्तुल) दृढ पट्ट है तथा उत्तरगुदकी दीवारका एक अङ्ग है। मलोत्सर्गकी चेष्टा होनेके पूर्व यह संकुचित रहती हुई मलको आगे प्रवृत्त नहीं होने देती। चेष्टा प्रारम्भ होनेपर यह शिथिल होकर विस्तृत हो जाती है। परिणामतया, इसका मध्यवर्ती छिद्र विवृत (उद्घाटित) होकर मल इसमेंसे आगे सरक जाता है। बाह्य सुषिर पेशी[8] रेखाङ्कित[9] मांससूत्रोंकी बनी तथा कुछ अंशोंमें इच्छाधीन होती है। मलप्रवृत्तिके पूर्व यह भी संकुचित रहकर छिद्रको बन्द रखती हुई मलका धारण किये रहती है। मलप्रवृत्तिके समय आभ्यन्तर पेशीके समान यह भी शिथिल होकर मलके लिए द्वार बना देती है। आभ्यन्तर पेशीका सङ्कोच बाह्य पेशीकी अपेक्षया ३० से ६० प्रतिशत न्यून होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है, मलोत्सर्ग अंशतः अनैच्छिक और अंशतः ऐच्छिक होता है। अनैच्छिक क्रियामें यह होता है कि—उत्तरगुद, अथवा सत्य कहो तो, समूचे स्थूलान्त्रका प्रबल अपकर्षण होता है; साथ ही दोनों सुषिर पेशियाँ शिथिल होती हैं। ऐच्छिक क्रिया किंवा प्रवाहणका स्वरूप यह है।— पुरुष एक दीर्घ श्वास लेता है। परिणामतया, महाप्राचीरा[10] नीचे आकर स्थूलान्त्रको पीडित करती है

१—Lean—लीन। २—Diarrhea (hœa)—डायरिया।
३—Defecation—डिफिकेशन। ४—Pelvic colon—पेल्विक कोलन।
५—Rectum—रेक्टम।
६—Straining—स्ट्रेनिङ्ग। ७—Internal sphincter—इण्टरनल स्फिंक्टर।
८—External sphincter—एक्सटरनल स्फिंक्टर। ९—Striated—स्ट्रायेटेड।
१०—Diaphragm—डायफ्राम। इसके श्वासपटल आदि नाम भी व्यवहृत हैं।

—उसे दबाती है। इस काल स्वरतन्त्रियाँ परस्पर संयुक्त होकर श्वासपथको अवरुद्ध कर देती हैं, जिससे श्वासक्रिया रुक जाती है और महाप्राचीरा इतने काल नीचेकी नीचे रहकर स्थूलान्त्रपर अविरत दबाव डाले रहती है। इस काल स्थूलान्त्रका क्ष-किरण (एक्स-रे) से निरीक्षण करें तो अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र[1] इस पीडनके कारण दो इञ्च नीचे उतरा हुआ पाया जाता है। अनुप्रस्थ अन्त्र बहुधा मलोत्सर्गके एक घण्टे पीछे तक अपने मूल स्थानपर नहीं पहुँचा होता। इसी समय उदरकी पेशियोंका प्रबल सङ्कोच होता है। यह सङ्कोच उदरगत अवयवोंको और पीडित करता है। इस प्रकार उत्तर-गुदमें अथवा स्थूलान्त्र-मात्रमें हुआ अपकर्षण तथा महाप्राचीरा और उदरकी पेशियोंका पीडन सब मिलकरमलको बहिर्मार्गकी ओर प्रवृत्त करते—धकेलते हैं। गुदोत्तंसिनी पेशी[2] भी ऊपर उठकर पीडनमें वृद्धि करती है।

पीडनके प्रभाववश अनुप्रस्थ स्थूलान्त्रमें स्थित मल अवरोही स्थूलान्त्रमें तथा वहांसे कुण्डलिका और उत्तरगुदमें आता है। उत्तरगुदमें पहलेसे स्थित और नीचे उतरते हुए मलके पीछे-पीछे यह और उतरकर मलद्वारसे निकल जाता है।

मलके रहे-सहे अंश गुदोत्तंसिनी पेशीके ऐच्छिक सङ्कोचोंके कारण बाहर निकल जाते हैं।

वेगका निग्रह किया जाय तो मलोत्सर्गकी इच्छा शीघ्र लुप्त हो जाती है। प्रायः मल त्यागके अगले वार तक यह पुनरुद्भूत नहीं होती। यह भी सम्भव है कि, स्थूलान्त्रके अधोभागमें प्रत्यपकर्षण (मलकी विपरीत गति) भी होता है। इस मन्तव्यका कारण यह प्रत्यक्ष है कि, रक्तार्शके एक रोगीमें रक्त-स्तम्भनके लिए भुना हुआ सम्पूर्ण अण्डा अन्दर डाला गया तो वह प्लैहिक कोण[3] (प्लीहाके समीपवर्ती स्थूलान्त्रका मोड़) तक पहुँच गया, जिसे शस्त्रकर्मसे निकालना पड़ा।

कितना मल उत्तरगुदकी दीवारोंको दबाकर मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न कर सकता है, इसका प्रमाण पुरुष-पुरुषमें भिन्न होता है। जब तक इतना मल सञ्चित नहीं हो जाता तब तक मलोत्सर्गका वेग उत्पन्न नहीं होता। इस प्रमाणके अनुरूप ही मलकी मोटाईमें भेद होता है।

उत्तरगुद तथा गुदद्वारकी आभ्यन्तर सुषिर पेशीकी चेष्टाओं अर्थात् अपकर्षण और सङ्कोच-शैथिल्य का मूल कारण महास्रोतसके शेष भागके समान आभ्यन्तर नाडीचक्र (इन अवयवोंकी दीवालोंमें स्थित नाडीचक्र) ही है। सुषुम्णाकाण्डसे इन अवयवोंमें मध्य स्वतन्त्र तथा परिस्वतन्त्र नाडियाँ प्रविष्ट होती हैं और अवस्थानुसार इन अवयवोंको तत्-तत् कर्म करनेकी प्रेरणा करती हैं। मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थान अत्यधिक सचेष्ट हो, किंवा परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थान मन्द (अवसन्न) हो तो तीव्र प्रकारका आनाह (कब्ज) होता है। इसका उपाय यह है कि मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थानकी नाडीको काटकर उसका इन अवयवोंसे सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाता है। गुदोत्तंसिनी पेशी तथा बाह्य सुषिर पेशीकी ऐच्छिक नाडीका मूल भी सुषुम्णामें होता है।

मलप्रवृत्ति कितने समयमें एक वार होनी चाहिये, यह एक विवादग्रस्त विषय है। इसका कोई नियम भी नहीं देखा जाता। देखनेमें कई स्वस्थ पुरुष सप्ताहमें एक या दो वार ही मलोत्सर्ग करते हैं। कइयोंमें यह अवधि और भी लम्बी होती है। कई समझते हैं, उन्हें प्रतिदिन एक या दो वार मलशुद्धि होनी ही चाहिए और इसके लिए वे विरेचक द्रव्योंका प्रायः सेवन करते हैं।

१—Transverse colon—ट्रान्सवर्स कोलन।

२—Levator ani—लिवेटर एनाई। गुदद्वारके दोनों ओर इस नामकी एक-एक पेशी होती है। दोनों मिलकर अञ्जलि-सी बनाती हैं। इनका कर्म उत्तरगुद तथा अधरगुदको ऊपर उठाना तथा स्त्रियोंमें योनिद्वारको संकुचित करना भी है। प्रत्यक्षशारीरमें पायुधारणी नाम दिया है।

३—Splenic flexure—स्प्लीनिक फ्लेक्शर।

वमन— 5

महास्रोतस्की जिन चेष्टाओंका वर्णन अब तक किया है उनका प्रयोजन और परिणाम अन्न तथा मलका गुदद्वारकी ओर वहन होता है। वमन[1]में द्रव्यकी गति इसके विपरीत मुखद्वारकी ओर होती है।

वमन सामान्यतया एक इच्छा-निरपेक्ष चेष्टा है। परन्तु, कई पुरुषोंमें इच्छानुसार वमन करनेकी शक्ति होती है। कई प्रयत्न और अभ्यासले अपनेमें यह शक्ति उत्पन्न कर लेते हैं। यथा, कई लोग गलद्वार[2]में अङ्गुली छुआकर वमन कर सकते हैं। अपवादभूत इन पुरुषोंको छोड़कर अन्य व्यक्तियोंमें यह एक प्रतिसंक्रमित क्रिया[3] है। अन्य प्रतिसंक्रमित क्रियाओंके समान इसमें भी दो प्रकारके नाडी-सूत्र अङ्गभूत होते हैं। एक बहिर्मुख[4] या संज्ञावह[5]; तथा दूसरे अन्तर्मुख[6] या चेष्टावह[7]।

बहिर्मुख नाडीसूत्र वे हैं जो वमनोत्पादक क्षोभ उत्पन्न करनेवाले अङ्गों (आमाशय आदि) से चलकर वमनके मस्तिष्क-गत केन्द्रकी ओर जाते हैं। अन्तर्मुख या चेष्टावह नाडीसूत्र वे हैं, जो वमनके केन्द्रसे वमनमें भाग लेनेवाले अङ्गों (विभिन्न पेशियों) की ओर जाते हैं। कई द्रव्य, यथा एपोमॉर्फीन[8], साक्षात् वमनके केन्द्रपर ही क्रिया करके वमन कराते हैं। वमनका केन्द्र सुषुम्णा-शीर्षक[9]में कहीं होता है। यह स्थान सम्भवतः श्वसनके केन्द्रके निकट होता है। कारण, वमनके समय उन्हीं पेशियोंका सहसा सङ्कोच होता है जो उच्छ्वास तथा प्रश्वासमें भाग लेती हैं। ये पेशियाँ क्रमशः उदरगत पेशियाँ तथा महाप्राचीरा पेशी हैं।

जिन अवयवोंके संज्ञावह नाडी-सूत्रोंके क्षोभसे अन्तको वमन होता है, उनमें सामान्यतया आमाशय प्रधान है। आमाशयकी श्लेष्मकलाके अन्तर्गत नाडीसूत्रोंका यह क्षोभ आमाशयमें अजीर्ण-वश हुए कोथ (सडांद[10]) के कारण उत्पन्न द्रव्योंसे होता है; किंवा वमनकी इच्छावश प्रयुक्त राई, लवणजल, विपुल उष्णजल आदिसे होता है[11]। संहिताकारोंने भी आमाशयको वमनका प्रधान कारण माना है। उन्होंने भी इसका हेतु आमसे अत्यन्त पीडित होना कहा है। देखिये—

अत्यन्तामपरीतस्य छर्देर्वै सम्भवो ध्रुवम् ॥ सु० उ० ४९।५

अजीर्णजन्य आमका प्राबल्य तथा आमाशयका उत्क्लेश वमनमें प्रधान निमित्त होनेसे इसमें लङ्घन प्रथम चिकित्सा कही गयी है—

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
स्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु ॥ सु० उ० ४९-१५

१—Vomiting—वमिटिंग। २—Fauces—फॉसीज़। इनका वर्णन इसी अध्यायमें ऊपर देखिये। ३—Reflex action—रिफ्लेक्स ऍक्शन। ४—Afferent—ऐफरेण्ट। ५—Sensory—सेन्सरी। ६—Efferent—इफरेण्ट। ७—Motor—मोटर।

८—Apomorphine.

९—Medulla Oblongata—मेड्युला ऑब्लॉङ्गेटा।

१०—Fermentation—फर्मेण्टेशन।

११—देखिये—Under ordinary conditions, however, irritation of the sensory nerves of the gastric muccus membrane is the most common cause. This effect may result from the products of fermentation in the stomach in cases of indigestion, or may be produced intentionally by local emetics, such as mustard, taken into the stomach. Howell's Text Book of Physiology (1946), P. 1010.

× × आमाशयोत्क्लेशयवा इति आमाशयमुत्क्रिय दोषैर्जन्यन्त इति तात्पर्यार्थः। हितं लङ्घमिति 'बलिन' इति शेषः। तास्तु छर्दिषु ॥ —डल्हन

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
श्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक् कारयेन्मारुतजां विमुच्य,
संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥ च० चि० २०।२०

यस्मादामाशयोत्क्लेशात् सर्वाश्छर्दयो भवन्ति, आमाशयोत्थे च रोगे लङ्घनादि कफहरं भेषजं युक्तं, तस्माल्लङ्घनमेव कर्तव्यमिति भावः। लङ्घनमल्पदोषविषयं, शोधनं च बहुदोषविषयमिति व्यवस्था। संशोधनशब्देन चेह विरेचनवमने अपि गृह्येते। अन्ये त्वत्र संशोधनशब्देन प्रतिमार्गहरणतया अत्यर्थ-हितं विरेचनमेव वर्णयन्ति ॥ —चक्रपाणि

दोष अधिक हो तो वमन और विरेचन रूप संशोधन विधेय है। पाश्चात्य चिकित्सामें भी वमनमें चौबीस घण्टेका उपवास तथा (अन्य औषधोंके अतिरिक्त) खण्डित मात्रा[1] में रसपुष्प[2] का विधान है। खण्डित मात्राका आशय यह है कि सामान्य मात्रामें (५ ग्रेन) रसपुष्प ले उसमें १५ ग्रेन सर्जक्षार (सोडा बाईकार्ब) मिला एक मात्राके पाँच भागकर १५-२०, १५-२० मिनटोंके अन्तरसे तबतक एक-एक भाग दिया जाता है, जबतक एक-आध विरेचन न हो जाय। चक्रपाणिने विरेचनको टीकामें प्रतिमार्ग-संशोधन (वमनसे विपरीत गतिकारक) होनेसे अत्यन्त उपकारी कहा है।

आमाशयके अतिरिक्त अन्य अवयव, जिनके संज्ञावह सूत्रोंके क्षोभसे वमन होता है, निम्न हैं— महास्रोतसके विभिन्न भाग ; यथा—गलके पृष्ठभागका अंगुलीसे स्पर्श करनेसे हुए वमनमें ; मूत्र तथा जनन-संस्थान[3] के अवयव, यथा—वृक्क, गर्भाशय, वृषण इत्यादि ; यकृत् तथा अन्य अन्तरवयव ; प्राणदा[4] तथा अन्य संज्ञावह नाडियाँ, जिनके कृत्रिम क्षोभसे वमन होता है। सगर्भामें जननावयवोंका क्षोभ, कुछ अंशमें आमाशयका तात्कालिक क्षोभ एवं नये आ पड़े कार्यके कारण नाडी-संस्थानका क्षोभ होनेसे वमन होता है[5]। अप्रिय मनोभाव एवं शरीरके समतुलनकी प्रतीतिमें विक्रिया होनेसे भी वमन होता है। आयुर्वेदमें द्विष्ट (अप्रीतिकर) या बीभत्स (विरूप) वस्तुओंके दर्शन आदिसे जो वमन कहा है वह प्रथम कोटिका है। समुद्र या विमानकी यात्रामें किंवा मोटर आदि द्वारा पर्वतोंकी चढ़ाईमें जो वमन होता है वह द्वितीय प्रकारका है[6]। मस्तिष्कके विभिन्न भागोंमें आघात या रोगोंके कारण हुई विकृति होनेसे वमनके केन्द्रपर, मस्तष्कसे मस्तिष्कमें ही, साक्षात् प्रभाव होकर वमन होता है। इसे 'केन्द्रीय वमन[7]' कहते हैं। प्रायः वामक द्रव्य आमाशयको ही क्षुभित करके वमन कराते हैं। ऐपोमोर्फीन आदि कुछ ही द्रव्य साक्षात् वमनके केन्द्रपर क्रिया करके वमन कराते हैं। डिक्सन[8] ने

१—Fractional doses—फ्रैक्शनल डोज़ेज़।

२—Calomel—केलोमल।

३—Urogenital system—यूरोजेनिटल सिस्टम।

४—Vagus—वेगस।

५—सगर्भाका वमन तथा उत्क्लेश प्रायः प्रातः होनेसे अंग्रेजीमें इसे 'Morning sickness—मॉर्निङ्ग सिकनेस' कहते हैं।

६—समुद्र-यात्रामें होनेवाले वमनको अंग्रेजीमें 'Sea sickness—सी-सिकनेस' कहते हैं।

७—Central vomiting—सेण्ट्रल वमिटिङ्ग। ८—Dixon.

एक कुत्तेमें देखा कि वामक द्रव्यकी सूची-वस्तिसे कुछ दिन वमन होते रहनेके पश्चात् कुत्तेको सुई देखनेसे ही वमन होने लगा। इससे विदित होता है कि वमन सांकेतिक व्यापार[1] भी हो सकता है। चिकित्सामें यह बात उपयोगी हो सकती है।

वमनमें आमाशय-गत द्रव्य बाहर फेंका जाता होनेपर भी, प्रयोगोंसे ज्ञात हुआ है कि, आमाशय स्वयं तो निष्क्रिय-सा रहता है। जैसा कि प्रत्येक पुरुषको स्वानुभवसे विदित होगा, इस काल उदरकी पेशियोंका सहसा और प्रबल आकुञ्चन होता है। आमाशयपर इन आकुञ्चित पेशियोंके पीडनके परिणाम-स्वरूप ही वमन होता है। मैगेण्डी[2] ने एक परीक्षणमें आमाशय निकालकर उसके स्थानपर एक जल-पूर्ण मूत्राशय जोड़ दिया और उसका सम्बन्ध अन्नवहके साथ कर दिया। पश्चात् वामक[3] सूचीवस्ति दी। परिणाम यह हुआ कि, प्रसिद्ध (सामान्यतः दृष्टानुभूत) प्रकारसे ही इस व्यक्तिको भी वमन हुआ। उधर, उदरकी पेशियोंको निःसंज्ञ कर देनेपर वामक द्रव्य देनेपर भी वमन नहीं होता। वमनके समय आमाशय निष्क्रिय होनेपर भी उसमें इतना परिवर्तन आवश्यक होता है—मुद्रिका-द्वार दृढ़ आकुञ्चनके कारण बन्द होता है; आमाशय-कोणपर स्थित पूर्व-वर्णित मांससूत्रमय पट्ट भी दृढतासे संकुचित होता है; परन्तु, आमाशयका गात्र-भाग[4] तथा हार्दिक द्वार शिथिल और विस्तृत होता है। परिणामतया, मांस-पट्टसे ऊपर स्थित द्रव्य उदरकी पेशियोंके तीव्र और सहसा पीडनवश वेगसे बाहर फेंका जाता है। उदरकी पेशियोंके संकोचके पूर्व नियत रूपसे महाप्राचीरा पेशी नीचे उतरती है। इस अवनमनका प्रयोजन भी आमाशयको पीडित करना है। इसके दो अन्य परिणाम होते हैं। एक तो वमनके पूर्व सर्वदा दीर्घ प्रश्वास और दूसरा उदरगत अवयवोंपर दबाव पड़नेके कारण विवमिषा (वमनकी आशङ्का[5]) और उत्क्लेश (मतली, जी मिचलना[6])। कण्ठच्छद[7] भी इस काल श्वास-पथको दृढ आवृत कर देता है, जिससे प्रश्वास पूर्णतया होता है। उत्क्लेशके पूर्व प्रायः प्रतिसंक्रमित लालास्राव[8] भी होता है। इस प्रकार वमनके संहितोक्त निम्न पूर्वरूप[9] प्रकट होते हैं।

> प्रसेको हृदयोत्क्लेशो भक्तस्यानभिनन्दनम्।
> पूर्वरूपं मतं छर्द्याम् × × ×॥ सु० उ० ४९।८
>
> तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ।
> द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम्॥ च० चि० २०।६

इन पूर्व रूपोंमें अरुचि अधिक गिनाया है।

महा प्राचीरासे अवनमनका एक परिणाम यह भी होता है कि, उरोगुहा[10] में पीडन न्यून हो

१—Conditioned reflex—कण्डिशन्ड रिफ्लेक्स।
२—Magendie.
३—Emetic—एमेटिक।
४—Fundus—फंडस (ऊपरका विस्तृत भाग)।
५—Nausea—नॉशिआ।
६—Retching—रेचिंग। इसे 'हृदयोत्क्लेश' भी कहते हैं।
७—Epiglottis—एपीग्लॉटिस; श्वासपथका आवरण।
८—Salivation—सेलिवेशन। इसे 'हृल्लास, प्रसेक या कफप्रसेक' भी कहते हैं।
९—Precursor—प्रीकर्सर; या Prodromal symptoms—प्रॉड्रोमल सिम्प्टम्स।
१०—Thorax—थॉरेक्स।

जाता है, जिससे तन्नत अन्नवहमें भी आमाशयकी अपेक्षया दबाव कम होनेसे, स्वभावतः आमाशय-गत द्रव्यकी गति न्यून पीडनवाले स्थान—अन्नवह—की ओर होना सुगम हो जाता है। कण्ठ-द्वारके समान नासा-स्रोतका पिछला द्वार भी पश्चिम स्तम्भिका[1] के एवं तालु और काकलकके सङ्कोचके कारण अवरुद्ध हो जाता है। परन्तु तीव्र वमनमें वान्त द्रव्य कभी-कभी इस अन्तरायको दूर कर मुखके समान नासिकासे भी बाहर आता है।

इस प्रकार वमनमें उन्हीं पेशियोंका सहसा, युगपत् (एक साथ, समकाल) तथा प्रबल आकुञ्चन होता है जो श्वसनकी कारणभूत हैं। जैसा कि आगे देखेंगे, उच्छ्वास कर्म उदरकी पेशियोंका तथा प्रश्वास महाप्राचीराका है। इन पेशियोंके अन्य कार्य (वमन) में व्यापृत (लग्न) होनेसे वमनके वेगके समय श्वासक्रिया रुकी रहती है।

कई तज्ज्ञोंका मन्तव्य है कि स्वयं आमाशयमें भी इस काल सङ्कोच होता है।

सामान्य वमनोंमें केवल आमाशय-गत द्रव्यकी वान्ति होती है। कई तीव्र वमनोंमें प्रत्यपकर्षण होकर ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रमें स्थित द्रव्य भी मुद्रिका-द्वारके अवरोधकी अवगणना कर आमाशयमें आता है और वहाँसे वमनकी प्रक्रिया द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है। बद्धगुदोदर[2] में, जिसमें किसी प्रकारके अवरोधके कारण अन्त्रगत द्रव्यका अवरुद्ध स्थानके आगे जाना रुक जाता है, अवरोधके ऊपर स्थित समस्त ही द्रव्य प्रत्यपकर्षणके प्रभावसे बाहर फेंक दिया जाता है। प्रबल प्रत्यपकर्षणके कारण फूले हुए अन्त्र तथा उनमें विपरीत गति पेटपरसे देखी जा सकती है।

वमनमें अन्तर्मुख नाडीसूत्र प्रधानतया प्राणदा नाडियों तथा त्रिधारा[3] नाडियों द्वारा केन्द्रमें जाते हैं। ये नाडियाँ वमनके उत्तेजनके मुख्य स्थान—आमाशय तथा गल—से संज्ञाओंका वहन करती हैं। गर्भाशय आदि शेष स्थानोंसे संज्ञाओंका वहन अन्य नाडियों द्वारा होता है। चेष्टावह नाडीसूत्र प्राणदा, प्रश्वसनी[4] तथा उदरकी पेशियोंकी प्रवर्तक अन्य नाडियों द्वारा अपनी-अपनी पेशियोंको जाते हैं।

प्राणवायुका पित्त तथा कफसे आवरण—

पचनकी क्रियामें वायुके कर्मोंका विचार करते हुए इस प्रकरणके आदिमें हमने कहा है कि, अन्नका आदान अर्थात् मुखसे आमाशय तक पहुँचाना प्राणवायुका कर्म है। आधुनिक मतसे यह कर्म किन नाडियों द्वारा होता है, यह बात इस अध्यायके आरम्भमें कह आये हैं। आयुर्वेदमें वाताधिकारका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग 'आवरण' सम्बन्धी है। आगे वातके प्रकरणमें इसका उल्लेख होगा। आवरणका अर्थ प्रकुपित अन्य दोष आदिके द्वारा, किंवा स्वयं वातके अन्य भेद द्वारा वायुमात्र अथवा किसी विशिष्ट वायुकी क्रियाका मन्दताको प्राप्त होना है। इन आवरणोंमें दो पित्तसे प्राणका आवरण तथा कफसे प्राणका आवरण हैं। आवरणके अधिकार (प्रकरण) में दिये इन आवरणोंके लक्षण देखनेसे विदित होगा कि, इनमें आमाशयमें वृद्धिको प्राप्त पित्त तथा कफ जब आमाशयकी श्लेष्मकलाको क्षुभित कर वमनादि लक्षण उत्पन्न करते हैं तो इन स्थितियोंको उक्त नाम दिये गये हैं। लोकमें इन्हें क्रमशः 'पित्तकी उलटी', 'उलटीमें कफ' आदि कहा जाता है। आवरणोंका अर्थ समझनेमें ये दो आवरण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

१—Posterior pillars—पोस्टीरिअर पिलर्स।

२—Intestinal obstruction—इण्टेस्टाइनल ऑब्स्ट्रक्शन।

३—Trigeminal—ट्राइजेमिनल।

४—Phrenic nerve—फ्रेनिक नर्व ; यह महाप्राचीराकी प्रवर्तक नाडी है।

मलका (मूत्र, शुक्र और आर्तवका भी) अवेग कालमें धारण तथा वेग होनेपर उत्सर्ग आयुर्वेदमें अपानका कर्म कहा गया है। नव्य संज्ञामें इनका अनुवाद भी ऊपर दिये प्रकरणको देखकर किया जा सकता है।

पचनकी क्रियामें वायुके दो कर्म आयुर्वेदने कहे हैं—अन्नका अपकर्षण, अर्थात् पित्त या पाचक रसोंके सम्पर्कमें लाना तथा अग्निका उद्दीपन। इनमें प्रथम कर्मकी नव्यमतानुसार व्याख्या इस अध्यायमें हमने की। अगले अध्यायमें अग्निका नवीन तथा प्राचीन मतसे कर्म देखते हुए वायुके दूसरे कर्मका नवीन मतानुसार स्वरूप देखेंगे।

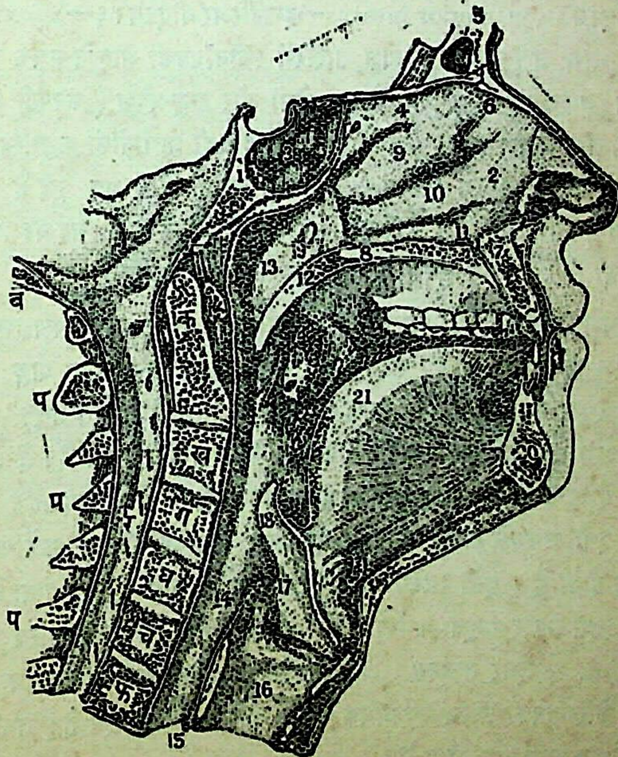
अठारहवां अध्याय

अथातोऽवस्थापाक विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

एक भ्रान्ति—

अवस्थापाकोंका शास्त्र-दृष्ट वर्णन करनेके पूर्व एक भ्रान्तिका उल्लेख कर दूँ। आधुनिकोंने महास्रोतमें अन्नपानके पाकको तीन अवस्थाओंमें विभक्त किया है। प्रथम पाक मुखमें कार्बोहाइड्रेटोंका अंशतः पाक है। द्वितीय पाक आमाशयमें प्रोटीनोंका अंशतः पाक है तथा तृतीय पाक क्षुद्रान्त्रमें कार्बोहाइड्रेटों, प्रोटीनों और स्नेहोंके पाककी परिपूर्णता है। इस विभागका कारण स्थान-भेद तथा पाचक पित्तोंके स्वरूप और क्रियाका भेद है।

प्रथम दृष्टिमें आयुर्वेदमें वर्णित तीन अवस्थापाक भी अन्नपानकी इन्ही तीन अवस्थाओंका वर्णन करते हुए प्रतीत होते हैं। म० म० कविराज गणनाथ सेनजीने 'सिद्धान्त निदान' में अवस्थापाकोंका यह अर्थ किया है। वैद्य समाज भी इस मतका अनुसरण करता है। परन्तु विशेष विचारसे विदित होता है कि ये अवस्थापाक मुख्यतः अन्नपानके परिपाककी उल्लिखित तीन अवस्थाओंका वर्णन नहीं करते। यह बात और है कि, 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति' न्यायसे आगे कहे जानेवाले मुख्य प्रयोजनकी सिद्धि करते हुए अवस्थापाकोंके वर्णनमें अन्नपानके प्राकृत पचनका भी अंशतः उल्लेख हो गया है।



चित्रसंख्या—१४ मुख तथा ग्रीवा (मध्य रेखापर काटकर दिखाये गये)।

9, 10 तथा 11—क्रमशः ऊर्ध्व शुक्तिका, मध्य शुक्तिका तथा अधर शुक्तिका[1]। ऊर्ध्व तथा

1—सामान्य नाम—Turbinals- टर्बिनल्स; Turbinated bones- टर्बिनेटेड बोन्स

मध्य शुक्तिकाओं, मध्य तथा अधर शुक्तिकाओं एवं अधर शुक्तिका तथा नासा-भूमि[१] के मध्य छोटी-छोटी खाइयाँ[२]-सी होती हैं ; इनमें ऊपरकी सबसे छोटी तथा निचली सबसे बड़ी होती है। इनके क्रमशः नाम—ऊर्ध्व सुरङ्गा[३], मध्य सुरङ्गा[४], अधः सुरङ्गा[५]। प्रत्येक सुरङ्गामें विभिन्न स्रोतोंके मुख खुलते हैं। ऊर्ध्व सुरङ्गामें शङ्खास्थि[६] के वाताशय[७] तथा झर्झरास्थि[८] के पश्चिम वाताशय के स्रोत, मध्य सुरङ्गामें पुरः कपाल[९] के वाताशय, ऊर्ध्व हन्वस्थि[१०] के वाताशय[११] तथा झर्झरास्थिके पुरोवाताशयके स्रोत एवं अधःसुरङ्गामें अश्रुवाहिनीके स्रोत खुलते हैं। 19—पटहपूरणिकाका नासिक्य गलमें खुलनेवाला छिद्र। 13—गल। 8—अस्थिमय कठोर तालु। 12—कोमल तालु। 21—जिह्वा। 18—अधिजिह्विका या कण्ठच्छद। 14-15—अन्नवह। 16—कण्ठ या स्वरयन्त्र। क से फ तक—ग्रीवा-

---

(अर्थ—शिखराकार अस्थि) ; या Nasal concha—नेज़ल कॉङ्का (बहुवचन–Chonchæ—कॉङ्की)। श्लेष्मकलाके आवरण-सहित शुक्तिकाओं का विशेष नाम—Turbinated bodies—टर्बिनेटेड बॉडीज़। पृथक् नाम क्रमशः—Superior Turbinals—सुपीरिअर टर्बिनल्स (आदि) ; Middle Turbinals—मिडल टर्बिनल्स (आदि) ; Inferior Turbinals—इन्फीरिअर टर्बिनल्स (आदि)। ये अस्थियाँ दोनों नासा-स्रोतोंकी बाह्य दीवारमें होती हैं। ऊपरकी दो झर्झरास्थि (Ethmoid—एथमॉयड) की ही भाग हैं, तथा तीसरी स्वतन्त्र है।

१—Floor—फ्लोर या Base—बेज़ ; यह अनेक अस्थियोंसे बना होता है। २—Meatus—मीएटस (बहुवचन—Meati—मीएटाई)। ३—Superior meatus—सुपीरिअरमीएटस। ४—Middle meatus—मिडल मीएटस। ५—Inferior meatus—इन्फीरिअर मीएटस। ६—Sphenoid—स्फीनॉयड।

शङ्खास्थि बनाम जतूकास्थि—प्रत्यक्ष शारीरमें स्फीनॉयडकी आकृति-सूचक और सुन्दर परन्तु आयुर्वेदमें अनुल्लिखित 'जतूकास्थि' नाम दिया है। दोनों ओर शङ्ख-प्रदेश (कनपटी) पर स्फीनॉयडके बड़े पक्ष गये होते हैं, तथा प्रत्यक्ष गोचर होते हैं। अतः इसे ही प्राचीनोंकी शङ्खास्थि कहना चहिए। पर्शुका आदिकी गणनामें ऊपर-ऊपरसे देखकर अस्थिगणना करनेसे जैसी भूल हुई है (देखिये—घाणेकरी सुश्रुत व्याख्या) वैसी ही कुछ भूल यहाँ भी प्राचीनोंकी हुई है। वह यह कि, शङ्खास्थि एकके स्थानपर दो मानी गयी है। इतना सुधार प्रत्यक्षानुसार कर लेना चाहिए।

कर्णास्थि बनाम शङ्खास्थि—प्राचीनोंकी कर्णास्थिकी गणना न कर प्रत्यक्षशारीरमें Temporal bones—टेम्पोरल बोन्सको शङ्खास्थि कहा है। परन्तु इस स्थानका नाम शङ्ख नहीं है। स्फीनॉयडके वर्णनमें वहाँ स्पष्ट कहा भी है कि, उसके दो बड़े पक्ष 'शङ्खप्रदेशपर्यन्त प्रसृत' होते हैं। अतः 'टेम्पोरल बोन्स' को शङ्खास्थि नहीं कह सकते। वस्तुतः ये प्राचीनोंकी कर्णास्थि हैं। कारण, बाह्य कर्णविवर इसमें होता है, इसीके एक अवकाशको मध्यकर्ण कहते हैं, जिसमें शब्दवाहक तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ रहती हैं ; इसी अस्थिके अन्दर की ओर एक छिद्र होता है जिससे कर्णेन्द्रियकी प्रधानाङ्गभूत शब्दवह नाडी प्रविष्ट होती है ; इसी अस्थि में ही मस्तिष्कका वह भाग आश्रित होता है, जिसमें शब्दकी संज्ञाएँ पहुँचती हैं। इस प्रकार समूचा कर्णयन्त्र इस अस्थिमें होनेसे इसे ही कर्णास्थि कहना युक्त है।

७—Air-sinus—एअर साइनस। अस्थियोंको आयुर्वेदमें वातका स्थान माना है ; प्रतिश्याय आदिसे इनमें पाक होनेसे वातका लक्षण न्यूनाधिक वेदना भी होती है। इस हेतु तथा अंग्रेजी शब्द-साम्यसे 'साइनस' को वाताशय नाम दिया है।

८—Ethmoid—एथमॉयड। ९—Frontal bone—फ्रॉण्टल बोन। १०—Superior Maxilla—सुपीरिअर मैग्ज़िला ; Upper jaw-bone—अपर जॉ-बोन। ११—विशेष नाम—Highmore's antrum—हाईमोर्स एण्ट्रम ; Antrum maxillare—एण्ट्रम मैग्ज़िल्लेअर।

कशेरुका। 4—ग्रीवा-कशेरुकाओंके पृष्ठकण्टक। 2—सुषुम्णा-विवर। 3—शङ्खास्थिका वाताशय; इसके ऊपर शरावाकृति (प्याले-जैसा) प्रदेश शङ्खास्थिका पोषणिका-खात[१] है, जिसमें पोषणिका-ग्रन्थि रहती है। 5—पुरःकपालका वाताशय। विभिन्न वाताशयोंका नासास्रोतसे तथा नासिक्य गलका पटहपुरणिका द्वारा मध्यकर्णसे सम्बन्ध होनेके कारण प्रतिश्याय-सुलभ पाक (सूजन)[२] फैलकर वाताशयों में एक या दोनों ओर वेदना, बाधिर्य, कर्णस्राव, कास, स्वरभेद आदि सुविदित लक्षण उत्पन्न करता है।

भोजनकालिक दोष-प्रकोप—

दोषोंके प्रकोपके कारणोंको संक्षेपमें दो वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है—दोष-प्रकोपक आहार-विहार तथा दोष-प्रकोपक काल। द्वितीय विभागमें भोजन-कालका भी समावेश है। भोजन-कालके सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोपोंका क्रम यह है—

जीर्णेऽन्ने वर्धते वायुर्विदग्धे पित्तमेव तु।
भुक्तमात्रे कफश्चापि × × ॥

सु॰सू॰ ४६। ४८४

× × जीर्णे परिणामं गते, विदग्धे किंचित्पक्वे ॥ —डह्लन

अविदग्धः कफं, पित्तं विदग्धः, पवनं पुनः।
सम्यग्विपक्वो निःसार आहारः परिबृंहयेत् ॥

सु॰ सू॰ ४६। ५२७

दोषाणामाहारावस्थापाकात् प्रकोपवर्धनलक्षणं प्रतिपादयन्नाह—अविदग्ध इत्यादि। अविदग्धो मधुराहारः, कफं परिबृंहयेत्, अतिशयेन वर्धयेदित्यर्थः। पित्तं विदग्धोऽम्लीभूत आहारः परिबृंहयेत्। पवनं पुनः सम्यक् विपक्व आहारः, निःसारो निर्गतसारः, रौक्ष्येण परिबृंहयेदित्यर्थः ॥ —डह्लन

अर्थात्—खानेके तत्काल पीछे, मधुर अवस्थापाकके कारण आहारके माधुर्यवश, (आहारमें गृहीत मधुर द्रव्योंके समान) कफकी वृद्धि होती है[३]। द्वितीय अम्ल अवस्थापाकके पश्चात्, अन्न जब विदग्ध—आमाशयमें किंचित् पक्व होकर अम्लीभूत हो जाता है तब (आहारमें गृहीत अम्ल द्रव्योंकी क्रियाके समान) अन्नपानकी अम्लतावश पित्तकी वृद्धि होती है। भोजन पूर्ण पच चुकनेके पश्चात्, उसका सारभाग रस शोषित होनेके अनन्तर, तृतीय अवस्थापाकमें, आहारके शेषांशकी रूक्षता तथा कटुताके कारण (आहार-रूपमें गृहीत रूक्ष-कटु द्रव्योंके सदृश) वायुकी वृद्धि होती है।

भोजनकालिक दोष-प्रकोपका द्वैविध्य—

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥

च॰ चि॰ ३०। ३१२

१—Pituitary Fossa—पिट्युइटरी फोसा। २—Pituitary gland—पिट्युइटरी ग्लैन्ड; Pituitary body—पिट्युइटरी बॉडी; या Hypophysis—हाइपोफिसिस।

३—भोजनोत्तर स्वभावतः हुई यह कफ-वृद्धि अग्नि-कर्ममें बाधक न हो इस हेतु सुपारी, लवङ्ग, ताम्बूल आदि कटु, तिक्त, कषाय कफहर द्रव्योंके सेवन तथा धूमपानका विधान और प्रचार है। देखिये आगे—सु॰सू॰ ४६। ४८४-४८६।

भोजनकालका दोषोंसे यह सम्बन्ध होनेसे ही प्रायः भोजन खानेके तत्काल पीछे कफज रोगोंका बल बढ़ता है (किंवा उनका वेग उत्पन्न होता है), भोजन पच रहा हो उस समय पित्तज रोगोंका तथा भोजन पच चुकनेके पश्चात् वातज रोगोंका बल बढ़ता है या उनका वेगोदय होता है। परन्तु सामान्यतः यह स्थिति देखनेमें नहीं आती।

× × × ननु रात्रिदिनभोजनानां तासु तास्ववस्थासु श्लेष्मप्रकोपादिना नित्यं धातुवैषम्यमस्ति, तत्कुतो धातुसाम्यमित्याह—सुखसंज्ञकमित्यादि। सुखहेतुः सुखम्, एवं दुःखहेतुर्दुःखम् × ×। संज्ञकग्रहणात् परमार्थतोऽसुखमपि लोके सुखमिति यद् व्यवह्रियते, तदिह गृह्यत इति दर्शयति; तेन दिवारात्रिभोजनावस्थाजनितं धातुवैषम्यमुद्धतजकविकाराकर्तृत्वेन सुखमिति व्यवह्रियते; तेन यो ह्यल्पः स नास्त्येवेति कृत्वाऽल्पेऽपि धातुवैषम्ये धातुसाम्यव्यवहारः सिद्धो भवति × × ॥

च॰ सू॰ ९। ४ पर चक्रपाणि

× × ननु द्विविधेऽपि काले नित्यं दोषचयाद्यनुबन्धात् कथं समदोषत्वम्? तथाहि—नित्यगे आह्निके तावत् प्रातः कफः कुप्यति, मध्याह्ने पित्तमित्यादि; तथाऽऽर्तवेऽपि हेमन्ते कफश्चीयते वसन्ते स एव कुप्यतीति; तथाऽऽवस्थिके च काले 'बाले विवर्धते श्लेष्मा—सु॰ सू॰ ३५। ३१' इत्याद्युक्तत्वात्। उच्यते—दोषचयादेरल्पत्वादतद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनव्यपदेशवत् × ×॥

सु॰ सू॰ १५। ४१ पर डल्हन

× × × अथ समाग्नित्वाद्यन्तर्वर्तितया दुर्विज्ञेयं कथं ज्ञेयमित्याह—प्रसन्नात्मेन्द्रियमना इति। आत्मादिप्रसन्नता हि दुःखरूपाग्न्यादिवैषम्यात्मकविकारविरहितत्वेन भवति, नहि दुःखयोगे सत्यात्मादिप्रसन्नता संभवति × × × प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणमव्यभिचारि व्यक्तं च; तत्परिकरतया वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधानमिति युक्तं पश्यामः॥

उक्त स्थलपर चक्रपाणि

भोजनकी उल्लिखित अवस्थाओंमें सामान्यतया दोषोंका प्रकोप इतना नहीं हो जाता कि वह इन्द्रिय, मन और आत्मामें अप्रसन्नता या असुख[1] उत्पन्न करे। इस अल्पमात्र दोप-वैषम्यको इसी कारण नहिवत् मान साम्य ही माना जाता है। प्रकोप जब अधिक होकर आत्मादिका दुःखोत्पादक होता है तभी उसे यथार्थ प्रकोप एवं अस्वास्थ्य कहते हैं।

मैं समझता हूँ, यथार्थतः प्रकुपितावस्थामें तत्तत् भोजनकालमें दोष निज रोगोंकी उत्पत्ति या बलवृद्धि करते हैं इस बातको समझाना ही अवस्थापाकोंके वर्णनका प्रधान प्रयोजन है। अवस्थापाकोंका वर्णन सूत्रस्थानमें न होकर चिकित्सा-स्थानमें हुआ, यह इस मतका पोषक है। प्रत्येक अवस्थापाकका वर्णन देखें तो अन्तमें सर्वत्र तत्-तत् दोषका प्रकोप ही निर्दिष्ट हुआ देखनेमें आता है। उधर, द्वितीय अवस्थापाकके वर्णनपर ध्यान दें तो विदित होगा कि, वह आमाशयमें ही समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् महामहोपाध्यायजीकी व्याख्यानुसार ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रोंमें जो पाक होता है, वह तृतीय कटु अवस्थापाक है। परन्तु मूलग्रन्थ और टीकाकारोंका आशय यह नहीं है। वे तो तृतीय अवस्थापाकका स्थान पक्वाशय बताते हैं, जहाँ अन्नका रसभाग शोषित होनेपर निःसार भागका पिण्डीभाव (मलरूपता) होता है। मलकी सारहीनताके कारण यहाँ वायुकी वृद्धि होती है। निःसंदेह यह जीवाणुओंकी क्रियासे सेल्युलोज़ आदिके पाक तथा तज्जन्य वातोत्पत्तिका वर्णन है। इस स्थानपर भी यत्किंचित पाक होता है, इस बातका अनुभव अवश्य ही प्राचीनोंको हुआ होगा, यह 'पाक'

१—इन्द्रियादिकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्यका मुख्य लक्षण है—इसका विचार देखिये आ॰ क्रि॰ शा॰ पृ॰ ६१ पर।

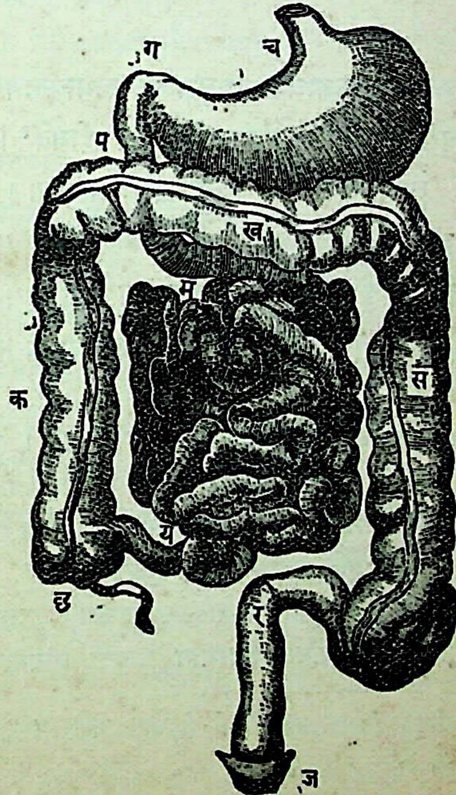
शब्दसे द्योतित है। तात्पर्य तृतीय अवस्थापाक कदापि क्षुद्रान्त्रगत पाक नहीं है। क्षुद्रान्त्रोंमें प्राकृत पाकका 'पित्त मच्छमुदीर्यते' इतना कहकर निर्देश अवश्य किया है, अवस्थापाकोंमें उसकी गणना नहीं की है। सो, समूचा अवस्थापाक-प्रकरण पचनकी आधुनिकोक्त क्रियाका वर्णन न होकर भोजन-कालके सम्बन्धसे दोष-प्रकोपका सूचक ही है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है।

त्रिविध अजीर्ण—7

इस प्रसङ्गमें और एक बात स्मरणीय है।

माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं,
विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्।
किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं
विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम्॥ सु० सू० ४६।५०२

× × कफकार्याणि तत्र गौरवस्नेह कण्डूप्रभृतीनि च द्रष्टव्यानि × × अत्रापि शुक्ततिक्ताम्लोद्गारादीनि पित्तकार्याणि द्रष्टव्यानि। आनद्धविरुद्धवातं विष्टब्धं कथ्यते। × × अत्रापि वातकार्याणि जृम्भाङ्गमर्दशिरोरुजादीनि द्रष्टव्यानि × ×॥ —डल्हन



महास्रोतका उदरगत भाग। चित्र १५

च—आमाशय। ग—आमाशय तथा ग्रहणीकी संधि। म तथा य के मध्यमें—क्षुद्रान्त्र। क, ख तथा स—स्थूलान्त्र। क—आरोहि स्थूलान्त्र; ख—अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र; स—अवरोहि स्थूलान्त्र। छ—उण्डुकपुच्छ या अन्त्रपुच्छ। र—उत्तरगुद। ज—अधरगुद या पायु।

चार प्रकारके अजीर्णोंमें तीन दोषज हैं। कफके आधिक्यसे अन्न जिसमें आम रहकर मधुर होता है वह आमाजीर्ण कहाता है। अन्नपान जिसमें अम्लताको प्राप्त होता है वह पित्तकी अधिकतासे हुआ विदग्धाजीर्ण कहाता है। तथा, अन्नपानके अपूर्ण पाकके कारण वातकी अधिकतावाला विष्टब्धाजीर्ण कहाता है। तीनोंमें पृथक् दोषोंके लक्षण क्रमशः गुरुता, स्नेह, कण्डू आदि ; तिक्त, अम्ल उद्गारादि, एवं अति तोद[1], शूल[2], जृम्भा, अङ्गमर्द (शरीर टूटना), शिरोवेदना आदि भी साथ ही होते हैं।

प्रतीत होता है, कफाधिक्यवश अन्य अवस्थापाकोंमें अन्य दोषोंकी उत्पत्ति सम्यक् न होकर आमाजीर्ण होता है ; प्रथम और तृतीय अवस्थापाक पूर्ण न हों, अम्लत्व ही विशेष उत्पन्न हो तो विदग्धाजीर्ण होता है तथा प्रथम और द्वितीय अवस्थापाकोंकी पूर्णता न होनेसे (देखिये—सूलमें किञ्चित् विपक्वम्) वातका प्रकोप विशेष हो तो विष्टब्धाजीर्ण होता है। इस प्रकार भी अवस्थापाकों का निर्देश भोजन कालके सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोपका विचार करनेके लिये ही हुआ है। तथापि, गौण रूपसे इस प्रकरणमें, अन्नपानके पचनका भी विचार आ गया है, अतः क्रिया शारीरमें उनका निर्देश स्वभावतः प्रसङ्ग-प्राप्त है। आगे हम प्राचीन मतसे अवस्थापाकोंका निरूपण कर उनकी नव्यमतानुसार यथामति व्याख्या करेंगे।

त्रिविध अवस्थापाक—

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य स्वभावतः।
मधुराद्यात् कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते[3] ॥
परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥
पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥

च० चि० १५।९—११

स्थूलपाकक्रममभिधाय, अवान्तरमणुपाक क्रममाह—अन्नस्येत्यादि। भुक्तमात्रस्येति भुक्तानन्तरमेव। षड्रसस्येति प्राशस्त्येनाभिधानं, किंवा षड्रस्यापि प्रथमं मधुरता निरुक्ता भवतीति दर्शयति। प्रपाकत इति प्रथमपाकतः, प्रशब्द आदिकर्मणि। मधुरश्चासौ आद्यश्चेति मधुराद्यः ; किंवा 'मधुरात् प्राक् कफोद्भवः' इति पाठः। फेनभूत इति फेनसदृशोऽघन इत्यर्थः।

परमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम्। विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य। अम्लभावत इति जाताम्लस्वरूपतः। आशयादामाशयात्। च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य। अनेन च पित्त-

---

१—सुई चुभनेकी-सी वेदना ; Pricking sensation---प्रिकिंग सेन्सेशन।

२—भाला भोंकनेकी-सी वेदना; Stabbing pain---स्टैबिंग पेन (Stab=छुरा)।

३—भोजनकालके संबन्धसे शास्त्रोंमें अन्यत्र दोषोंका कोप अभिहित होनेसे इन वचनोंमें 'उदीर्यते' का अर्थ 'कुप्यति' ही ग्रहण करना चाहिये। 'आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते—सु० सू० ४१।९' ; 'ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते—सु० सू० १२।१७' इत्यादि वचनोंमें इसी अर्थमें यह शब्द आया भी है। इसी प्रकरणके आगे उद्धृत श्लोक सु० सू० २१।१३ की टीकामें 'संभवति' का भी यही अर्थ टीकाकारने किया है।

स्थानसंबन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छमित्यघनम्। उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते; अम्लं च पित्तमम्लभावाद्दाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव।

पक्काशयं तु प्राप्तस्येति मलरूपतया पक्काशयं गतस्य। शोष्यमाणस्य वह्निनेति यद्यप्यूर्ध्वदाहक्षमो वह्निः, तथाप्यस्याधोगतस्य वह्निना शोष्यमाणत्वं पक्काशयगतस्याप्युपपन्नम्। यतश्चाधोगमने सम्यग्वह्निव्यापारो नास्ति, अतः पच्यमानस्येति पदं परित्यज्य शोष्यमाणस्येति कृतम्। परिपिण्डितपक्कस्येति परिपिण्डितरूपतया मलरूपतया पक्कस्य। वायुः स्यात् कटुभावत इति परिपिण्डितावस्थोद्भूतकटुता वायोरुत्पद्यते। एवमीदृशः षड्रसाहारस्यावस्थापाको भवति।

× × अयं तु विशेषः—यन्मधुराख्यस्यावस्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति; यदा त्ववस्थापाको विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति। एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्।

× × × यद्यपि सर्वमन्नमवस्थायां विदह्यते, तथापि येऽत्यर्थं विदाहिनस्त एव विदाहिन इत्युच्यन्ते, विशेषदाहकर्तृत्वात्।

अन्ये त्वाहुः—न षड्रसादप्यन्नात् सामान्येनावस्थापाके कफाद्युत्पत्तिः; किंतु षड्रसादन्नात् प्रथमे पाके मधुरोऽयमुद्भूतो रसः स कफं जनयति। तथा पित्तं विदाहावस्थायामुद्भूतादम्लरसादुत्पद्यते। एवं वायुरपि आहारकटुतावस्थायां भवतीति।

× × × यत्तु श्लेष्मजनकांशस्यैवावस्थापाके श्लेष्मकर्तृत्वमित्युक्तं, तदनुमतमेव। एवं यः श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण जनयतीति ब्रूमः × ×॥ —चक्रपाणि

स्तनस्य वामस्य भवत्यधस्तादा—
माशयस्तत्र विपच्यतेऽन्नम्।
धातून् रसः प्रीणयते विसर्पन् काश्यप० क० भो० ५६
किट्टान्मलानां प्रभवोऽखिलानाम्॥

नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः।
अशितं खादितं पीतं लीढं चात्र विपच्यते॥ च० वि० २।१९

तत्र समासेन आमाशयः श्लेष्मणः (स्थानम्)॥ सु० सू० २१।६

तत्रामाशयः पित्ताशयस्योपरिष्ठात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात् तेजसः, चन्द्र इवादित्यस्य; चतुर्विधस्यान्नस्याधारः। स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति।

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात्तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति॥ सु० सू० २१।१२—१४

× × औदकैर्गुणैर्द्रवस्नेहादिभिः × ×। अथ के औदका गुणा इत्याह—माधुर्यादित्यादि। आहारस्येति शेषः। चकारद्वयेन द्रवस्नेहादयो गुणा अनुक्ता अपि समुच्चीयन्ते। संभवतीति प्रकुप्यति, न पुनरभूतप्रादुर्भावेण, कफस्य रसधातुत एवोत्पन्नत्वात्। उदककर्मणेति क्लेदनपूरणादिना॥ —डल्हन

× × यस्त्वामाशयसंस्थितः।
क्लेदकः सोऽन्नसंघात क्लेदनात् × × ×॥ अ० हृ० सू० १२।१६

अन्नवहानां स्रोतसामामाशयो मूलं, वामं च पार्श्वम् ॥ च० वि० ५।८

षष्ठी पित्तधरा ; या चतुर्विधमन्नपानमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम् ।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥

सु० शा० ४।१८—१९

पित्तमत्रान्तरग्निसंज्ञकम् । आमाशयात्प्रच्युतं कफाशयाद् भ्रष्टं, पक्वाशयोपस्थितं पक्वाशयागमनायोपस्थितं पित्तस्थानं संप्राप्तं, धारयति 'पाकार्थम्' इति शेषः । × × × यथाकालं कालानतिक्रमेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्निषु मात्राद्रव्यगुरुलघूचितकालानतिक्रमेण ॥ —डल्हन

षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था । सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुञ्चति । दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव । ततोऽसावन्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणी संज्ञा । बलं च तस्याः पित्तमेवाऽग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति ॥

अ० सं० शा० ५

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणीमता ।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः ।
दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ च० चि० १५।५६-५७

× × × उपस्तम्भिता इति अग्निना पित्तव्यापार करणेन अनुकूलिता । उपबृंहितेति अग्निना बृंहणव्यापारकरणेन सशक्तीकृता × × । दुष्टा इति दोषदुष्टा × × ॥ —चक्रपाणि

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता ।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥
ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः ।
तस्मात् संदूषिते वह्नौ ग्रहणी संप्रदुष्यति ।
एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव प्रमुञ्चति ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ सु० उ० ४०।१६९-१७२

तस्माददृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि । तत्रस्थमेवचात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति । तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा ।

अदृष्टहेतुकेन विशेषेणेति देहजनकेनादृष्टेन हि बाह्यादग्नेर्विशिष्टोऽयमग्निरारभ्यते, येनैवं विधमन्नपचनरसमलविवेचनाद्यन्यन्तरानुग्रहशरीररक्षणादीनि करोतीति भावः । × × अग्निकर्मणेति पञ्चभूताग्निसमधात्वग्निकर्मणा ॥ —चक्रपाणि

अग्न्याशये भवेत् पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम् ॥ शा० पू० ५।२६

पञ्चमी पुरीषधरा नाम (कला), याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्वाशयस्था ॥
सु० शा० ४।१६

× × तस्मिन् मलं मूत्रपुरीषरूपतया विभजति × × स चात्र मूत्रपुरीषविभागोऽग्निमारुतकृतोऽपि ; तत्राग्निकृतो यथा—'विवेचयति च रसमूत्रपुरीषाणि (सु० सू० २१।१० ; मारुतकृतो यथा—'सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि (सु० नि० १।१६)' × × ॥ —डह्लन

अन्नाद् यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

छहों प्रकारके रसवाले अन्नका तीन प्रकार का अवस्थापाक होता है—प्रथम मधुर अवस्थापाक, फिर आमाशयमें अम्ल अवस्थापाक, पश्चात् पक्वाशयमें कटु अवस्थापाक।

मधुर अवस्थापाक—खानेके तत्काल पश्चात् अन्नपानका मधुर अवस्थापाक होता है। इसे मधुर इसलिये कहते हैं कि, सम्पूर्ण ही अन्न इसमें माधुर्यको प्राप्त करता है (नव्यमतसे इसे समझनेका प्रयत्न करें तो अधिकांश अन्न मधुर हो जाता है, तथा उसके आगे शेष द्रव्योंका रस अभिभूत हो जाता है—प्रतीत नहीं होता)। अन्नपानकी मधुरता के कारण यह अवस्थापाक स्वभावतः कफकी वृद्धि करता है। संहिताकारों ने जो कहा है कि, भोजन के पश्चात् तत्काल कफकी वृद्धि होती है, तथा यह वृद्धि विशेष हो तो कफज रोग पहलेसे विद्यमान हों तो उनके बलमें इस काल वृद्धि हो जाती है ; तथा न विद्यमान हों तो उनका वेग उदित होता है—उसका स्वरूप यह है। आहारमें कफवर्धक रस (मधुर-अम्ल-लवण) तथा पिच्छिल, द्रव, स्नेह, क्लेद, आदि गुण अधिक हों तो कफ की यह वृद्धि भी विशेष होती है। इसके विपरीत आहारमें कफहर रस (कटु-तिक्त-कषाय) का प्रमाण विशेष हो तो प्रकृत्या मधुर अवस्थापाकमें कफकी उत्पत्ति न्यून होती है। वृद्धिगत यह कफ विशेष कष्टदायी न हो इस हेतु ताम्बुलादिका विधान शास्त्रकारोंने किया है, यह ऊपर कह आये हैं।

आमाशय कफकी उत्पत्ति और संचयका प्रधान स्थान होनेसे तथा कफोत्पादक सामग्री देकर अन्य कफस्थानोंका अनुग्राहक होनेसे यह कफ-प्रकोप प्रधानतः वहीं—आमाशयमें ही—होता है ; और जैसा कि अनुभवसिद्ध है तथा नव्य प्रत्यक्षके साथ तुलना से भी विदित होता है, मुखमें भी कफका कुछ प्रकोप इस काल होता है।

आमाशय में स्वभावतः सर्वदा कुछ कफ रहता है। यह अन्नका क्लेदन (आर्द्रता जनन)[1] करता है ; अतः इसे क्लेदक कहते हैं। यह जब अधिक हो कुपित हो जाता है तो अग्निमान्द्य, श्वास, कास आदिका जनक होनेसे वमनादि द्वारा इसका संशोधन-संशमन अभीष्ट होता है।

सूर्यके प्रतापसे चेतन सृष्टिका अभिशोषण अतिमात्र न हो जाय इस हेतु जैसे चन्द्रकी स्थापना जगत् में हुई है, उसी प्रकार पित्त अधिक कुपित होकर निज रोग उत्पन्न न करे, यह कार्य आमाशयमें रहे क्लेदक कफसे होता है। (वह यथेष्ट प्रमाणमें रहे किंवा पित्त वृद्धिगत होनेसे तदपेक्षया क्लेदक कफका प्रमाण स्वयं सम होता हुआ भी वृद्ध पित्तकी विक्रियाको रोकनेमें असमर्थ न हो जाय तो—पित्तज विकार—पाक[2], व्रण[3] अम्लपित्त आदि नहीं होते)।

१—Lubrication—ल्युब्रिकेशन।

२—Inflammation—इन्फ्लेमेशन ; आमाशय-पाक=Gastritis—गैस्ट्राइटिस।

३—Ulcer—अल्सर ; आमाशय-व्रण=Gastric ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर ; ग्रहणी-व्रण=Duodenal ulcer—डुओडिनल अल्सर ; दोनों व्रणोंका अंग्रेजीमें एक नाम—Peptic ulcer—पेप्टिक अल्सर।

आमाशयमें अन्नका संघात (घनत्व) दूर होकर वह आगे पित्तकी क्रिया से सरलतासे जीर्ण होने योग्य हो जाता है। (आमाशयमें पीडन-वश अन्नका संघात कैसे नष्ट होता है, यह बात गत अध्यायमें आमाशयकी चेष्टाओंके प्रकरणमें देख आये हैं)।

अम्ल अवस्थापक—इसके पश्चात् आमाशयमें[1] द्वितीय अवस्थापाक होता है। इसमें समस्त अन्न अर्धपक्व (विदग्ध) होकर अम्ल हो जाता है। इसीसे इसे अम्ल अवस्थापाक भी कहते हैं।

आमाशयमें अर्धपक्व हुआ अन्न पाककी सम्पूर्णताके लिए जब आमाशयसे च्युत हो ग्रहणी (क्षुद्रान्त्र) में जाता है तो, (प्रकृत्या अम्लरस द्रव्योंके समान), द्वितीय अवस्थापाकमें हुई अम्लताके प्रभावसे, ग्रहणीमें स्वच्छ और तनु (पतले) पित्तका उदीरण—वृद्धि, विशेष प्रमाणमें स्राव—होता है। आमाशयमें द्वितीय अवस्थापाकमें अर्धपक्व तथा अम्लीभूत अन्नकी 'विदग्ध' यह विशेष संज्ञा है। एवं, इस पाकको 'विदाह' यह नामान्तर दिया गया है। मधुर अवस्थापाकके समान इस अवस्थापाकमें भी, आहारमें पित्तवर्धक रस (कटु-अम्ल-लवण ; एवं अन्य पित्तवर्धक तीक्ष्णोष्णादि गुण) अधिक हों तो पित्तका यह उदीरण सविशेष होता है। यह भी जानना चाहिए कि, यों सभी द्रव्य इस अवस्थापाकके स्वभाववश विदग्ध होकर विदाहजनक हो जाते हैं, तथापि शास्त्रमें विदाही उन्हीं द्रव्योंको कहते हैं जो अपने तीक्ष्णतादि गुणोंके कारण विशेषतया दाहादि उत्पन्न करें[2]। इसके विपरीत जिन द्रव्योंके रस-गुण पित्तविरोधी हों, उनके सेवनसे पित्तका यह उदीरण अल्प होता है।

आमाशयसे च्युत हुआ अन्न, पक्वाशयकी ओर प्रगति करता हुआ, प्रथम ग्रहणीमें आता है। इस स्थानको 'ग्रहणी' इसलिए कहते हैं कि पित्त या अग्निकी क्रियासे जबतक अन्नपानका सम्पूर्ण पाक नहीं हो जाता तबतक उसका ग्रहण या धारण किये रहती है। अग्नि किंवा पित्तकी क्रियाका स्थान होनेसे इसे 'अग्न्यधिष्ठान' या 'पित्तधरा कला' भी कहते हैं।

अग्निकी प्रकृति-सिद्ध तीक्ष्णता, मध्यता या मन्दताके अनुसार प्रत्येक पुरुषमें भिन्न-भिन्न परन्तु नियतकाल पर्यन्त अन्न ग्रहणीमें रहता है। द्रव्य मात्रा या प्रकृतिकी दृष्टिसे गुरु या लघु हो तो इस कालमें अलबत्ता कुछ न्यूनाधिकता होती है। परन्तु, जब अहिताहार विहारवश एक या अधिक दोष कुपित हो जायँ तो अग्नि भी विकृत (दुर्बल) हो जाता है। परिणामतया, प्रायः आम (अपक्व), कभी पक्व, दुर्गन्धयुक्त, सकष्ट, कभी बद्ध (घन), कभी द्रव अन्नको नियत समयके पूर्व ही छोड़ देती है, जिससे बार-बार उक्त प्रकारके मलकी अति-प्रवृत्ति होती है। इस विकृतिको ग्रहणी रोग (संग्रहणी) कहा जाता है।

इस प्रकार अग्नि या पित्त इस ग्रहणीके आश्रयमें रहता है, तो ग्रहणीकी प्रकृति-विकृति या बलाबलका कारण भी अग्निकी प्रकृति-विकृति है। अर्थात्—अग्नि और ग्रहणी दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

पित्तधरा कला या ग्रहणीके अतिरिक्त शरीरमें पित्तके अन्य भी स्थान हैं। इनका उल्लेख आगे पित्ताधिकारमें करेंगे। आमाशयमें भी पाचक पित्त रहता है। यह होते हुए भी ग्रहणीको पित्तका अधिष्ठान कहनेका आशय यह है कि, यहाँ जठराग्नि विशेष रूपसे रहता है और अन्नपानके पाककी परिपूर्णता यहीं होती है। एवं, पित्त यहाँ रहता हुआ अन्य पित्तस्थानोंको (पित्तजनक सामग्री प्रदान करता हुआ) तथा शरीरको बल प्रदान द्वारा अनुगृहीत करता है। यहाँ स्वच्छ पित्त क्षरित होता है। (यह निर्देश ग्रहणीमें क्षरित—च्युत—होनेवाले अग्निरस[3]के प्रति है। इस स्थानमें क्षरित

१—मूलमें कहा है कि, अन्न अम्ल होकर आमाशयसे च्युत होनेपर पित्तके संसर्गमें आता है। इस वचनसे तथा नव्य प्रत्यक्षानुसार अम्ल अवस्थापाकका स्थान भी आमाशय है।

२—विदाही द्रव्योंका लक्षण देखिये—आ० क्रि० शा० पृ० १०२—१०३ की टिप्पणी।

३—Pancreatic juice—पैनक्रियेटिक जूस।

होनेवाले सम्पूर्ण पित्तोंमें यह प्रधान होनेसे इसका निर्देश किया प्रतीत होता है। शेष पित्त इसीके सहकारी होते हैं। आधुनिकोंने भी उसे स्वच्छ—पारदर्शक—कहा है[1]।)

इस अध्यायकी प्रस्तावनामें मैंने कहा है कि, द्वितीय अवस्थापाक आमाशयमें ही समाप्त हो जाता है। आमाशयसे निकलनेके पूर्व वह अम्ल हो चुका होता है—अर्थात् अम्ल अवस्थापाककी सम्पूर्ति हो चुकी होती है। ऊपर धृत च० चि० १५।१० में दिये विशेषणोंके क्रमको देखनेसे यह बात स्पष्ट होगी। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार भी आमाशयमें समस्त अन्न लवणाम्लके संसर्गसे अम्लीभूत हो जाता है[2]। इसके पश्चात् तृतीय अवस्थापाकको भी ग्रहणीका पाक नहीं कहा जा सकता। कारण, वह तो रसका अभिशोषण होनेके पश्चात् तथा पक्वाशयमें होता है।

परिपाकके पश्चात् यह अग्नि तथा वायु पक्व हुए अन्नपानका विवेचन करते हैं—उसे रस और मल दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं। अन्नके मल तीन हैं—पुरीष, मूत्र तथा वायु। रससे प्रसादभूत रसादि धातुओं तथा अवयवोंकी और मलसे शरीरगत विभिन्न मलोंकी पुष्टि होती है[3]।

ग्रहणीमें स्थित अग्निको पाचक पित्त, अन्तरग्नि, कायाग्नि, जठराग्नि आदि नाम दिये गये हैं। समान वायु इस अग्निको प्रदीप्त (संधुक्षित) रखता है। व्यान वायु उत्पन्न हुए रसको शरीरमें पहुँचाता है। अग्निमें पाचन-विवेचन रूप यह विशेषता अदृष्ट अर्थात् पूर्वजन्मके कर्मोंके प्रभावसे आती है, यह पूर्वाचार्योंका मत है।

कटु अवस्थापाक—पित्तधरा कलामें पाक तथा रस-भागका अभिशोषण होनेके अनन्तर मलरूपमें उच्छिष्ट रहा आहार पक्वाशय (स्थूलान्त्र) में पहुँचता है। यहाँ अग्निकी क्रियासे (नव्य-मतानुसार भौतिकशास्त्रके नियमानुसार) इसका शोषण होता है—इसके जलभागका पुरीषधरा कला द्वारा ग्रहण होता है। परिणामतया, मल कटुरस एवं पिण्डरूपको प्राप्त होता है। यह निःसार हुआ आहार अपनी निःसारता (रूक्षता)[4] एवं कटुरसताके कारण वातकी वृद्धि करता है। इसीसे इसे कटु अवस्थापाक कहते हैं। पहले दो अवस्थापाकोंके समान यहाँ भी स्थिति यह होती है कि, आहारमें वातवर्धक रस (कटु-तिक्त-कषाय) तथा गुण विशेष हों तो इस अवस्थापाकमें वातकी वृद्धि सविशेष होती है। इसके विपरीत वातशामक रस (मधुर-अम्ल-लवण) तथा गुण (स्निग्धादि) विशेष हों तो वातकी वृद्धि उतनी नहीं होती।

१—देखिये—'The pancreatic juice is a colourless and transparent fluid etc.' Human Physiology, by Smart (1935), P. 142.

२—देखिये—इसी अध्यायमें आगे।

३—मलका पक्वाशयमें शोषण—रसोंके शोषणके समान मलोंका भी अन्त्रोंमें शोषण होता है, यह बात ग्रन्थोंमें देखनेमें नहीं आयी। परन्तु आहारके मल द्वारा मलोंका पोषण होता है, यह सिद्धान्त ही इस बातका द्योतक है कि, पुरीषका भी शोषण होता है। व्यवहारकी दृष्टिसे यह बात सदा स्मरणीय है। जैसे यौवनपिडका (Acne vulgaris—एकनी वल्गेरिस) की संप्राप्ति आधुनिकोंने यह कही है कि मेद ग्रन्थियोंके मुख रुद्ध हो जाते हैं, जिससे मेद बाहर न निकलकर ग्रन्थियों और उनके स्रोतोंको फुला देता है। यही फूली हुई ग्रन्थियाँ यौवनपिडकाएँ (मुँहासे) हैं। अनुभवसे विदित होता है कि उदरकी शुद्धि की जाय तो पिडकाएँ बैठ जाती हैं, जिससे अनुमान होता है कि ग्रन्थियोंमें मलकी अधिकता होनेसे मेद-सदृश द्रव्य भी अधिक बनता है और मलका कुछ अंश मुखोंको अवरुद्ध भी कर देता है। नासिका, कर्ण, त्वचा आदिके मलोंकी अधिकता होनेपर भी यह संप्राप्ति और यह उपाय (मलशुद्धि) सदा स्मरणमें रखना चाहिए। साथ ही आहारकी शुद्धिपर भी ध्यान देना चाहिए।

४—देखिये पूर्वधृत सु० सू० ४६।५२७ तथा उसपर टीका।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार आमाशयका लवणाम्ल जीवाणुओंका घातक होनेसे वातोत्पादक[1] तथा अन्य जीवाणु वहाँ रह नहीं सकते। परिणामतया वहाँ उनकी क्रिया नहीं होती। परन्तु आगे ग्रहणीमें, विशेषतया पक्वाशयमें, जीवाणुओंकी वृद्धि तथा कर्मके अनुकूल परिस्थिति होनेसे वातका उदीरण उत्तरोत्तर अधिक होता है। ये जीवाणु पाचकपित्तोंके सदृश कोई प्रोटीनको, कोई कार्बोहाइड्रेट-को और कोई स्नेहको अपने एन्ज़ाइमोंकी क्रियासे पचाते हैं। इनकी क्रियासे दो-एक जीवनीय भी उत्पन्न होते हैं, यह जीवनीयोंके प्रकरणमें कह आये हैं। जीवाणुओंकी यह क्रिया देखते हुए कहा जा सकता है कि, प्राचीनोंने पक्वाशयमें होनेवाले परिवर्तनोंको ठीक ही 'पाक' नाम दिया है। जीवाणुओंकी सेल्युलोज़ (अन्नका निःसारांश) तथा प्रोटीनादिपर क्रिया होकर विभिन्न वायु[2] प्रादुर्भूत होते हैं। यही प्राचीनोंकी पक्वाशयमें हुई वातवृद्धि है। अन्नमें वातवर्धक अंश अधिक तथा वातशामक अंश न्यून हो तो यह वातवृद्धि और तज्जन्य वातज रोगोंका बल इस अवस्थापाकमें विशेष लक्षित होता है, इतना आयुर्वेद-मतसे अधिक जानना चाहिए[3]।

अवस्थापाकमें मतान्तर—

चक्रपाणिने तन्त्रान्तरसे अवस्थापाक-सम्बन्धी कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। इनमें भोजन-कालके सम्बन्धसे दोषोंके प्रकोपके विषयमें कुछ भिन्न मत दिखाया है।

अन्ये त्वाहुः यत्, नान्नस्याग्निसंयोगान्मधुराद्यावस्थिकं भवति, किंतु कफादिस्थानेषु मनुष्याणां स्वभावादेव मधुरादयो रसास्तिष्ठन्ति, ते चान्नं स्वस्वभावं नीत्वा कफादिञ्जनयन्ति। उक्तं हि तन्त्रान्तरे—

मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः।
ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीरबलवर्धनः॥
नाभीहृदयमध्ये च रसस्त्वम्लो व्यवस्थितः।
स्वभावेन मनुष्याणां ततः पित्तं विवर्धते॥
अधो नाभ्यास्तु खल्वेकः कटुकोऽवस्थितो रसः।
प्रायः श्रेष्ठतमस्तत्र प्राणिनां वर्धतेऽनिलः॥
तस्माद्विपाक स्त्रिविधो रसानां नात्र संशयः॥

च० चि० १५।९-११ पर चक्रपाणि

अर्थात्—अग्नि या पाचक पित्तोंके संयोगसे अन्नपानके रसमें तत्-तत् परिवर्तन होकर इन रसोंकी क्रियासे क्रमशः कफादिकी वृद्धि होती है, यह बात सत्य नहीं। किंतु—आमाशय आदि कफादि दोषोंके स्वाभाविक स्थान हैं। इनमें स्वभावतः मधुर आदि रस रहते हैं। अपने स्थानमें

१—Gas-producing—गैस-प्रोड्यू सिंग।

२—Gas—गैस।

३—सुश्रुतने अपस्मार-चिकित्सामें अवस्थापाकका व्यवहार किया है। विधि यह है। भार्गीके क्षीरपाकमें शालिधान्यकी खीर बनाए। यह खीर तीन दिन भूखे रखे शूकर को खिलाए। द्वितीय अवस्थापाकमें अम्लत्व प्राप्त करनेके पूर्व मधुरावस्थामें ही, इस खीरको शूकरको मारकर उसके आमाशयसे निकाल ले। भार्गीक्वाथमें इस खीरको डाल, किण्व मिला संधान करे। परिणाममें उत्पन्न हुई सुरा रोगीको दे। देखिये सु० उ० ६१।३८-४१।

आये अन्नको ये रस अपने प्रभावसे आत्म-सदृश बना लेते हैं। इस रूपान्तरके कारण ही तत्-तत् स्थानमें तत्-तत् दोषकी वृद्धि होती है। यथा—

हृदयसे ऊपर कोष्ठमें (महास्रोत तथा प्राणवह स्रोतोंमें) स्वभावतः मधुर रस रहता है। इसके संयोगसे शरीरके बलकी वृद्धि करनेवाले कफकी वृद्धि होती है। आगे हृदय और नाभिके मध्य, स्वभावतः अम्लरस रहा करता है। यह अपने गुण-धर्मानुसार स्वभावतः पित्तकी अभिवृद्धि करता है। आगे नाभिसे नीचे, स्वभावतः कटु रस रहा करता है। इस स्थानमें इसके प्रभावसे श्रेष्ठतम दोष वायुकी वृद्धि होती है। अवस्थापाकोंमें दोषोंकी वृद्धिका स्वरूप यह है।

अवस्थापाक और निष्ठापाकमें भेद—

विपाक या निष्ठापाकका विचार ऊपर किया जा चुका है[1]। इसमें तथा अवस्थापाकमें भेद बताते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—

ननु यद्यत्रावस्थापाकवशात् षण्णामेव रसानां कफादिकर्तृत्वमुच्यते तदा 'कटुतिक्तकषायाणां विपाकः प्रायशः कटुः (च० सू० २६।५८) इत्यादिना यो विपाक उच्यते स विरुध्यते, अवस्थापाकेनैव बाधितत्वात्। मैवम्; नह्यवस्थापाकोऽयं रसस्वभावं निष्ठापाकं बाधते, किन्त्ववस्थायां स्वकार्यं करोति। तेन रसादयोऽपि स्वकार्यं कुर्वन्ति, अवस्थापाकोऽपि स्वकीयं कार्यं करोति। यथा, मधुरतिक्तादिषड्रसेऽन्ने उपयुक्ते मधुरोऽपि स्वकार्यं करोति, तिक्तादयश्च स्वकार्यं कुर्वन्ति। अयं तु विशेषः—यन्मधुराख्यस्याव-स्थापाकस्य मधुरादयः श्लेष्मजनका रसा अनुगुणा भवन्ति तदा स बहुश्लेष्माणं जनयति, यथा त्ववस्था-पाको विपरीतकटुकादिपरिगृहीतो भवति तदा स्तोकमात्रं कफं जनयति; एवं पित्तजनकेऽवस्थापाकेऽपि वाच्यम्। 'कटुतिक्तकषायाणाम्' इत्यादिनोक्तस्त्रिधा विपाकस्तु रसमलविवेकसमकालो भिन्नकाल एवावस्थापाकैः सममिति न विरोधः। स च भिन्नकालोऽप्यवस्थापाककार्यदोषानुगुणतयाऽननुगुणतया वा अवस्थापाकाहितदोषाणां वर्धनं क्षपणं वा करोतीति तस्याभिधानं शास्त्रे प्रयोजनवदेव॥

च० चि० १५।९–११ पर चक्रपाणि

अवस्थापाक और निष्ठापाक दोनोंका काल भिन्न होता है। स्थान-भेद भी दोनोंमें होता है। अवस्थापाक आमाशय आदि भिन्न-भिन्न स्थानोंमें तथा भिन्न-भिन्न कालोंमें होता है। उस-उस अवस्थापाकमें उत्पन्न हुए रसानुसार उस-उस दोषकी वृद्धि होती है। गृहीत अन्न अनेक रसवाला होनेपर भी प्रत्येक अवस्थापाकमें समस्त ही अन्न उपर्युक्त प्रकारसे एक-रस हो जाता है। वृद्ध एक रसके प्रभावसे उस समय अनुरूप दोषकी वृद्धि होती है। यह होते हुए भी प्रत्येक अवस्था-पाकके समय आहारमें ग्रहण किये सभी रस अपने द्रव्यमें स्व-रूपमें रहते ही हैं। अन्न पच चुकनेपर इस रसके अनुसार उस-उस रसवाले प्रत्येक द्रव्यका पृथक्-पृथक् विपाक होता है। यह विपाक अपने स्वभावानुसार तत्-तत् दोषकी वृद्धि या क्षय करता है। आशय यह है कि, विपाक प्रत्येक द्रव्यका जठराग्निद्वारा पाक या रूपान्तर होनेपर उसमें विद्यमान रसका सूचक है; जब कि, अवस्थापाक तत्-तत् स्थानमें पाककी अवस्थावश हुए समूचे आहारके रसका द्योतन करता है।

दोनों पाकोंके विषयमें परस्पर यह बात जाननी चाहिए कि, यदि पृथक्-पृथक् द्रव्योंके रस तत्-तत् अवस्थापाकमें होनेवाले रसके अनुरूप होंगे तो तत्-तत् अवस्थामें तत्-तत् रसकी वृद्धि विशेष होगी तथा तदनुरूप दोषका उदीरण भी विशेष होगा। यथा, आहारमें मधुर-अम्ल-लवण रसोंका बाहुल्य होगा तो, प्रथम अवस्थापाकमें मधुर रसकी उत्पत्ति तथा कफका उदीरण उतने ही प्रमाणमें

१—देखिये पृ० ८९–९३।

अधिक होगा। यही बात अन्य अवस्थापाकोंके विषयमें भी ऊपर जता आये हैं। स्थिति विपरीत हो तो परिणाम भी विपरीत होगा, यह भी ऊपर कह आये हैं।

शुषिर पेशियाँ—

आमपक्वाशयान्तेषु बस्तौ च शुषिराः खलु ॥ सु० शा० ५।३२

आमाशय और पक्काशयके सिरोंपर तथा बस्तिमें शुषिर स्नायु होती हैं। जैसा कि नाम तथा नव्यप्रत्यक्षसे विदित है ये बीचमें छिद्रित होती हैं। प्रत्यक्षसे इतना विशेष ज्ञात हुआ है कि ये स्नायु न होकर उस-उस स्थानके वर्तुल मांसमय प्राकारका ही एक रूप हैं[1], जिसमें मांससूत्र संख्यामें महास्रोतके अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होते हैं। इनके शैथिल्यसे द्वार खुलता है तथा सङ्कोचसे अवरुद्ध होता है।

आमाशयगतः पाकमाहारः प्राप्य केवलम्[2]।
पक्वः सर्वाशयं पश्चाद्धमनीभिः प्रपद्यते ॥ च० वि० २।१८

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ सु० नि० १।१७

रससंवहनोद्यत इत्यत्रादिशब्दो द्रष्टव्यः। तेन रसादिसंवहनोद्यत इत्यर्थः। संवहनं प्रेरणम् ॥
—डह्लन

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥ सु० सू० ४६।५२८

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ च० चि० १५।३६

× × रसरूपो धातुः। किंवा रसतीति रसो द्रव धातुरुच्यते। तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति। विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा। तेन व्यानेन, युगपदित्येककालम्। सर्वत इति सर्वस्मिन् देहे। विक्षिप्यते इति नीयते। अजस्रमिति अविश्रान्तं विक्षिप्यते। सदेति सर्वकालम् ॥ —चक्रपाणि

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं, दश च धमन्यः ॥ च० वि० ५।८

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि। तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति ॥ च० सू० २८।५

× × यन्त्यनेनेत्ययनानि मार्गाणि, मुखानि तु यैः प्रविशन्ति × ×। यथाविभागेनेति यस्य धातोर्यो विभागः प्रमाणं तेनैव प्रमाणेन पूरयति × × एतच्च प्रकृतिस्थानां कर्म; विकृतानां तु न्यूनातिरिक्तधातुकरणमस्त्येवेति बोद्धव्यम् × × ॥ —चक्रपाणि

पक्व हुए आहारका मलभूत अंश पक्काशयमें चला जाता है। शेष प्रसादभूत रस व्यानवायुकी प्रेरणासे अपने स्रोतों (केशिकाओं और रसायनियों[3]) द्वारा प्रथम हृदयमें और पश्चात् वहाँसे

१—अंग्रेजी नाम—Sphincter—स्फिंक्टर।

२—यहाँ आमाशयका यौगिक अर्थ क्षुद्रान्त्र लेना चाहिये। उनमें भी आम नाम अपक्व अन्न रहता है।

३—पोषक स्रोतोंका यह भेद नव्यप्रत्यक्षानुसार है।

विभिन्न धातुओंमें पहुँचता है और प्राकृत अवस्थामें जिस धातुको जितनी पोषक सामग्री आवश्यक है उतनी देकर उसके प्रमाणकी रक्षा करता है। विकृतिमें न्यूनाधिक प्रमाण देकर उनका प्रमाण विषम कर देता है।

महास्रोतकी रचना—

गत अध्यायमें वर्णित महास्रोतकी विभिन्न चेष्टाओं और इस अध्यायमें कहे जानेवाले पाचक पित्तोंके कर्मको अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है, यदि हम संक्षेपमें महास्रोतकी रचना देख लें।

मुखसे गुदपर्यन्त प्रायः नलिकाकार स्रोतको महास्रोत[1] कहा जाता है। इसकी लम्बाई औसतन ३० फुट होती है। इनके सामान्यतः पाँच विभाग किये जाते हैं—मुख, गल, अन्नवह, आमाशय, क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्र। इनमें क्षुद्रान्त्रोंकी लम्बाई लगभग २० फीट होती है। ये नाभि-प्रदेशमें कुण्डलाकार पड़ी रहती हैं। इनके मध्य प्रत्यक्ष कोई विभाग न होते हुए भी वर्णनकी सुविधाके लिए इन्हें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। प्रारम्भिक दस इञ्च अर्धवर्तुलाकार भाग वलितान्त्र[2] कहाता है, शेष अन्त्रका $\frac{2}{5}$ भाग जेजुनम[3] तथा अन्तिम भाग इलियम[4] कहाता है। सुश्रुतमें क्षुद्रान्त्रोंकी लम्बाई पुरुषोंमें ३॥ व्याम तथा स्त्रियोंमें अर्ध व्याम कम—३ व्याम—कही है[5]।

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥ सु० शा० ५।९

व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् ॥ —डल्हन

महास्रोतका प्रत्येक विभाग सर्वत्र एक ही क्रमसे व्यवस्थित चार प्राकारों (स्तरों[6]) का बना होता है। कर्मानुसार तत्-तत् स्थानके तत्-तत् प्राकारमें आगे दर्शित प्रकार से कुछ भिन्नता अवश्य होती है। मध्यवर्ती विवर[7]से बाहरकी ओर ये प्राकार निम्न होते हैं—श्लेष्मकला[8], आभ्यन्तर योजक-धातुमय प्राकार[9], मांसमय प्राकार[10] तथा बाह्य योजक-धातुमय प्राकार[11]। इन प्राकारोंमें श्लेष्मकला तथा मांसमय प्राकार मुख्य हैं। आभ्यन्तर योजक-धातुमय प्राकार शिथिल-सा होता है तथा श्लेष्मकला और मांसमय प्राकारको जोड़े रखता है। इसमें बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियाँ होती हैं, जिनकी शाखाएँ उक्त दोनों प्राकारोंमें, विशेष प्रमाणमें श्लेष्मकलामें, जाती हैं। इसी प्राकारमें

१—Alimentary canal—एलीमेण्टरी कैनाल ; Digestive tract—डायजेस्टिव ट्रैक्ट।

२—Duodenum—डुओडीनम। ३—Jejunum. ४—Ileum—इलियम। प्रत्यक्षशारीरमें पिछले दो विभागोंको क्रमशः मध्यान्त्रक तथा शेषान्त्रक नाम दिया है।

५—दोनों हाथोंको छातीकी समरेखामें फैलायें तो उनका अन्तर व्याम कहाता है। सुश्रुतका दिया अन्त्रोंका दैर्घ्य (लम्बाई) आधुनिक···सम्मत है। केवल, स्त्रियोंमें अन्त्र अर्ध व्याम न्यून होना उसने लिखा है, उसके लिए आधुनिक शारीरमें कोई निर्देश नहीं मिलता।

६—Coat—कोट ; या Layer—लेयर।

७—Lumen—ल्यूमेन ; या Cavity—केविटी।

८—Mucous membrane—म्यूकस मेम्ब्रेन ; या Mucosa—म्यूकोज़ा।

९—Inner connective tissue layer—इनर कनेक्टिव टिस्यु लेयर ; या Sub-mucous coat—सबम्युकस कोट (सब=नीचे)।

१०—Muscular coat—मस्क्युलर कोट।

११—Outer connective tissue layer—आउटर कनेक्टिव टिस्यु लेयर।

महास्रोतकी विभिन्न चेष्टाओंका मूल प्रवर्तक नाडीचक्र[1] स्थित होता है। बाहरका योजक प्राकार दृढ, परन्तु स्थिति स्थापक होता है; तथा महास्रोतका धारण और रक्षण करता है।

महास्रोतमें दो प्रकारकी ग्रन्थियाँ अपना-अपना पचनोपयुक्त रस भेजती हैं। कई ग्रन्थियाँ, यथा आमाशय तथा अन्त्र-ग्रन्थियाँ या श्लेष्म-ग्रन्थियाँ श्लेष्मकलामें ही रहती हैं। अन्य ग्रन्थियाँ, यथा—लाला-ग्रन्थियाँ, अग्न्याशय तथा यकृत् महास्रोतसे कुछ दूर रहती हैं। ये अपने स्रावोंको अपने स्रोतों द्वारा महास्रोतमें भेजती हैं।

महास्रोतका उदरगत भाग अधिकांश, बाहरकी ओर एक कुट्टिमास्तरणमय लसीका-स्रावी[2], भास्वर (चमकदार) कलासे आवृत होता है। इसे वपावहन[3] कहते हैं। इससे सदा रस[4]का क्षरण हुआ करता है: रसके क्षरणका परिणाम यह होता है कि, विभिन्न चेष्टाओंके समय महास्रोत अपने साथ संलग्न अवयवों, अपने ही संलग्न भागों किंवा उदरगुहाकी दीवाल (जो स्वयं भी इस कलासे व्याप्त होती है, उस) के संस्पर्शमें आता है तो महास्रोत और अवयवोंमें घर्षणकी सम्भावना न्यूनतम हो जाती है, जिससे महास्रोत छूटसे अपनी चेष्टाएँ कर सकता है।

श्लेष्म-कला—इसका पृष्ठ आस्तरणधातुमय[5] होता है। मुख, गल एवं अन्नवह स्रोतमें तथा नीचे उत्तरगुदमें आस्तरण प्रचित[6] होता है। जैसा कि इस धातुके वर्णनमें कह आये हैं[7], इस प्रकारका आस्तरण उन स्थानोंपर होता है जहाँ घर्षण विशेष होता है। उक्त स्थलोंपर, ऊपर विविध खाद्य द्रव्योंका तथा नीचे पिण्डीभूत या ग्रथित मलका, घर्षण स्वभावतः होनेसे इस प्रकारका आस्तरण आवश्यक है। महास्रोतके शेष भाग—आमाशय और अन्त्रद्वय—की श्लेष्मकलामें आस्तरण स्तम्भाकार[8] होता है।

आमाशयमें श्लेष्मकला अनेक वलियों (झुर्रियों—मोडों—तहों)[9] के रूपमें रहती है। ये वलियाँ असहाय[10] आँखोंसे भी देखी जा सकती हैं। वलियोंके कारण आमाशयका पृष्ठ बहुत बढ़ जाता है, जिससे अल्प स्थानमें ही अगणित ग्रन्थियाँ रह सकती हैं। क्षुद्रान्त्रोंमें भी ऐसी ही वलियाँ होती हैं। इन वलियोंको फैलाकर रखें तो इनका क्षेत्रफल १·५ वर्ग-मीटर[11] होता है। क्षुद्रान्त्रमें स्थित और आगे वर्णित रसाङ्कुरिकाओंको भी इस क्षेत्रफलमें लें तो क्षुद्रान्त्रोंके अन्तःपृष्ठका क्षेत्रफल ४० वर्ग-मीटर तक पहुँचता है। नाडी-संस्थानके प्रकरणमें हम देखेंगे कि मस्तिष्कमें भी प्रकृतिने ऐसी ही वलियाँ रखी हैं, जिनके कारण न्यूनाधिक गहरी सीताएँ (गर्ताएँ—खाइयाँ) मस्तिष्कमें बन जाती हैं। इनका उद्देश्य भी मस्तिष्कके पृष्ठको बढ़ाकर अल्प स्थानमें अनेक केन्द्र स्थापित करना है। जो हो, इन वलियों तथा अणु-वीक्षण-वीक्ष्य रसाङ्कुरिकाओंके होते हुए भी क्षुद्रान्त्रकी श्लेष्मकला स्पर्शमें मखमल-सी मुलायम ही प्रतीत होती है।

जैसा कि ऊपर कह आये हैं, श्लेष्मकलाके नीचे योजक धातुका प्राकार होता है। यह शिथिल होनेसे आध्मान आदिके कारण जब श्लेष्मकलापर पीडन (दबाव) पड़ता है, तो उसके फूलनेके लिए

१—Plexus of Meissner—प्लेक्सस ऑफ मीसनर। २—Seraus—सीरस।
३—Peritonium—पेरीटोनियम। वपावहन नामका विचार पृ० १७ की टिप्पणीमें देखिये।
४—Lymph—लिम्फ। ५—Epithelial—एपीथीलिअल।
६—Stratified—स्ट्रेटीफाइड। ७—देखिये—पृष्ठ १७१।
८—Columnar—कॉलमनर; देखिये—पृष्ठ १७०।
९—Folds—फोल्ड्स। १०—Naked—नेकेड।
११—Meter, या Metre; एक मीटर=३९·३७ इञ्च।

अवकाश सुलभ होता है। इस प्राकारमें पूर्व-वर्णित रक्तवाहिनियों और नाडीचक्रोंके अतिरिक्त, लसीका-धातु[1] के पुञ्ज होते हैं। क्षुद्रान्त्रोंमें इस धातुके पुञ्ज पृथक्-पृथक् स्थित होनेसे उनको एकाकी ग्रन्थियाँ[2] कहनेका प्रचार है। परन्तु क्षुद्रान्त्रोंके अन्तिम भाग इलियममें ये ग्रन्थियाँ परस्पर अधिक निकट पुञ्जित होकर रहती हैं और इनके उपनिवेश नेत्रोंसे भी देखे जा सकते हैं। इन्हें 'पेयर्स पेचेज़'[3] कहते हैं। लसीका-धातुमें 'लिम्फोसाइट' नामक श्वेत कणोंका प्राचुर्य होता है। अन्य श्वेत (क्षत्र) कणोंके सदृश ये भी जीवाणुओं तथा विषोंके कवलन द्वारा शरीरकी रोगोंसे रक्षा करते हैं। क्षुद्रान्त्रोंके अन्तिम भागमें इनकी अवस्थितिका प्रयोजन इस भागके महास्रोतकी जीवाणुओंसे विशेषतया रक्षा करना है। स्थूलान्त्रोंमें जीवाणुओंकी पुष्टि और वृद्धि पुष्कल होती है। सेल्युलोज़ विघटन (पाचन) के लिए प्रकृत्या इस भागमें जीवाणुओंका प्रमाण विशेष रहता है, विशेषतया निरामिष-भोजियोंमें। आमाशयमें लवणाम्ल[4] जीवाणुओंका नाशक होनेसे वहाँ तो ऐसी व्यवस्था निष्प्रयोजन होती है; परन्तु महास्रोतके ऊर्ध्वभागमें उपजिह्विकाओं (टॉन्सिलों) के रूपमें गलके दोनों ओर लसीका-धातुके पुञ्ज रहते हैं।

प्रतिश्याय आदिके उत्पादक जीवाणुओंसे युद्ध करते हुए ये उपजिह्विकाएँ कभी-कभी शोथयुक्त हो जाती हैं। यह स्थिति बालकोंमें अधिक देखी जाती है। इस शोथके कारण विशेष प्रकारका शुष्क कास होता है। कभी-कभी इनके कारण जीर्ण प्रतिश्याय हो जाता है। तब इनका उत्पाटन (निकाल देना)[5] किया जाता है। परन्तु अब माना जाता है कि, उपजिह्विका निकाल देनेके पश्चात् जीवाणुओंसे रक्षाका कार्य करनेवाला कोई अवयव नहीं रह जाता, जिससे जिन्हें प्रतिश्याय थोड़े-थोड़े समय पीछे होता था उन्हें कई बार अब बारहों मास रहने लगता है। कई रोगियोंमें यह उपद्रव न हो तो भी कोई गुण नहीं होता। इन कारणोंसे कई शल्यशास्त्रविशारद अब इस शस्त्रकर्मके पक्षमें नहीं रहे—अन्य शब्दोंमें यह शस्त्रकर्म अब शल्यतन्त्रके संग्रहालय[6] की वस्तु रह गया है। आयुर्वेद-मतसे ऐसी स्थितिमें मूलभूत दोषका प्रत्युपाय करना चाहिए। हाँ, उपजिह्विकाएँ पूयाक्रान्त होकर सर्वथा स्वकार्याक्षम हो गयी हों तो इनका उत्पाटन ही श्रेयस्कर है। स्मरण रहे, ये उपजिह्विकाएँ आमवात-जनक वायरस[7] से पीडित होकर भी शोथापन्न हो सकती हैं।

'पेयर्स पेचेज़' टायफॉयड[8] में उसके उत्पादक जीवाणुओंसे युद्ध करते-करते कभी शोथयुक्त हो जाते हैं। पाक कभी-कभी बढ़कर इस स्थानकी कलामें क्षत हो जाता है, जिससे रक्तस्राव होता है। यह स्थिति चालू रहे तो अन्त्र ही विद्ध (छिद्रित)[9] होकर असाध्य छिद्रोदर हो जाता है—रोगीकी मृत्यु हो जाती है[10]।

१—Lymphoid tissue—लिम्फॉयड टिश्यु; इसका वर्णन देखिये—पृ० १७४ पर।

२—Solitary Nodules—सॉलीटरी नॉड्यूल्स; या Solitary Glands—सॉलीटरी ग्लैण्ड्स।

३—Peyer's Patches.

४—Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड; सूत्र—H Cl—एच सी एल।

५—Tonsilectomy—टॉन्सिलेक्टॉमी इस शस्त्र कर्मका नाम है।

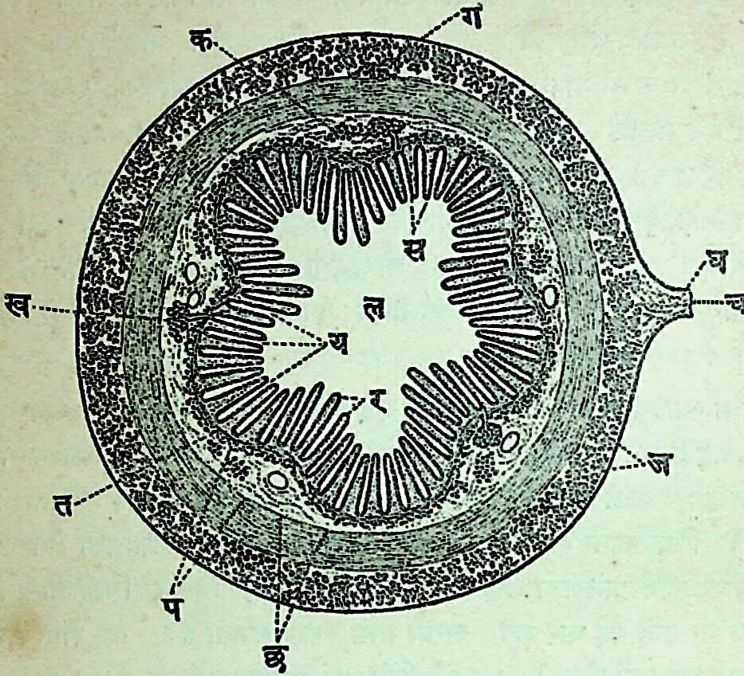
६—Surgical museum—सर्जिकल म्यूज़ियम।

७—Virus—इनका परिचय पृ० २५७ की टिप्पणीमें देखें।

८—Typhoid—अन्त्रज्वर। ९—Perforated—परफोरेटेड।

१०—टायफॉयडकी कफ प्रधानता—कई वैद्य पाश्चात्य चिकित्सा ग्रन्थोंसे यह जानकर कि टायफॉयडमें 'पेयर्स पेचेज़' में शोथ, व्रण, रक्त-स्रुति आदि लक्षण होते हैं, इस रोगको पित्तप्रधान मानते हैं

क्षुद्रान्त्रों में श्लेष्म-कलाका विस्तार रसाङ्कुरिकाओं के रूपमें होता है, यह कह आये हैं। इनके कारण क्षुद्रान्त्रोंके क्षेत्रफलमें बहुत वृद्धि हो जाती है। यह अंगुलीके समान कलामें उभरी होती हैं, परन्तु केवल अणुवीक्षणसे देखी जा सकती हैं। इनका कार्य रसका शोषण करना है।



क्षुद्रान्त्रोंका चौड़ाईकी दिशामें छेदन। चित्र—१६

अन्दरसे बाहरकी ओर क्रमशः निम्न स्तर हैं; य र स—रसांकुरिकाएँ। क—कलामय प्राकार; इसमें अन्त्ररसकी उत्पादक ग्रन्थियाँ देखिये। ख—योजक धातुमय प्राकार। ग—मांसधातुमय प्राकार।

आहारौषध द्रव्योंका शोषण अधिकांश क्षुद्रान्त्रोंमें होता है। इसीसे यहाँ रसांकुरिकाओंकी स्थापना प्रकृतिने की है। शोषणके अपवादभूत अन्य स्थान आमाशय आदि हैं। आमाशयमें मद्यसार[1] का शोषण होता है। शोषण की इस अल्पकालिकताके कारण ही मद्यसार तथा मद्यसारयुक्त पेयों[2] में

वस्तुतः, यह कफप्रधान सन्निपात है। १४ या २१ दिनमें मलपाक होकर ज्वरका उतरना, तन्द्रा, मोह, अरुचि, क्षुधानाश आदि लक्षण स्पष्ट ही इसमें कफके प्राधान्यके द्योतक हैं। बलभेदसे कफके अनन्तर वात और पश्चात् पित्तका कोप होता है। सन्निपातोंमें दोषभेदसे ज्वरमुक्तिकी मर्यादा जानने के लिये देखिये—मा० नि० ज्वरनिदान, श्लोक ३४-३५ तथा उसपर मधुकोष और आतङ्कदर्पण टीका; इसी प्रकरण के ६३—७३ श्लोक तथा उसपर उभय टीकाएँ; अ० हृ० नि २।६१—६३ तथा उसपर सर्वाङ्गसुन्दरा और आयुर्वेदरसायन; च० नि० ३।५३—६१ तथा उसपर आयुर्वेददीपिका।

मा० नि० की टीकाओं एवं च० चि० ३।७४ की आ० दी० में इस प्रकरणमें यह भी देखिये कि, संततज्वरका वर्णन संहिताओंमें विषमज्वरोंके साथ किया है, तथापि यह स्वयं विषमज्वर नहीं है। परिणामतया, टायफॉयड, न्यूमोनिया आदिको संतत ज्वर माननेका जो प्रचार वैद्योंमें है वह शास्त्रशुद्ध है।

१—Alcohol—आलकोहल; पृ० ३०५ की टिप्पणी देखिये।

२—Alcoholic drinks—आलकोहलिक ड्रिङ्क्स।

आशुकारिता (क्रियाकी शीघ्रता—आशु गुण)[१] होती है। आसवारिष्ट-कल्पनाका भी एक हेतु उनकी उक्त-कारण-मूलक आशुकारिता है। मद्योंकी इस आशुकारिताको आचार्योंने 'व्यवायि' गुण[२] कहा है। उन्होंने इस गुणके अन्य उदाहरण विषद्रव्य, विजया (भाँग) और अहिफेन दिये हैं। स्थूलान्त्रोंमें जल, निरिन्द्रिय लवणों तथा कभी द्राक्षा-शर्करा[३] का अभिशोषण होता है। द्राक्षा-शर्कराका शोषण इस मार्गसे होनेके गुणका उपयोग चिकित्सामें इसका द्रव बस्तिद्वारा देनेमें होता है। तीव्र वमन, महास्रोतके ऐसे शस्त्रकर्म जिनमें अन्नपान देना अभीष्ट न हो, इत्यादि स्थितियोंमें गुदद्वारसे द्राक्षा-शर्कराके द्रवकी बस्ति[४] दी जाती है। आयुर्वेदमें बृंहण-बस्ति नामसे अन्य आहारौषध द्रव्योंका भी इसी रूपमें विधान है। निज विषोंका शोषण भी इस द्वारसे हो सकता है। इस बातको लक्ष्यमें रखकर ज्वरादि उपद्रवोंके उत्पादक आगन्तु व्रणोंमें विरेचन द्रव्य भी दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि, शरीरमें प्रसृत हुआ जो विष[५] स्थूलान्त्रोंकी कलाद्वारा बाहर (अपने विवरमें) छोड़ दिया गया है उसका पुनः शोषण होकर सर्वाङ्गीण लक्षणोंकी स्थिरता या वृद्धि नहीं होती।

प्रत्येक रसाङ्कुरिकाका पृष्ठ अन्त्रके शेष भागके समान स्तम्भाकार-आस्तरणधातुमय होता है। प्रत्येकके मध्यमें एक-एक मुड़ी हुई रक्तवह केशिका, सिरिका (छोटी सिरा) तथा रसायनी होती है। अङ्कुरिकामें शेष स्थानपर क्षत्रकणों (श्वेतकण), नाडीसूत्रों तथा अनैच्छिक मांससूत्रोंका जाल होता है। स्तम्भाकार कोषोंके मध्य यत्र-तत्र कफ-ग्रन्थियाँ[६] होती हैं। कफोत्पादक कोषोंमेंसे कफका स्राव हो चुकनेके पश्चात् रिक्त स्थानके कारण इन कोषोंकी आकृति प्याले-जैसी प्रतीत होती है, अतः इन्हें चपक-कोष[७] कहते हैं। शरीरमें जहाँ भी श्लेष्म-कला हो, ऐसे कोष सर्वत्र पाये जाते हैं।

शर्करा तथा एमाइनो-एसिड आस्तरणमेंसे गुजरकर सिरिकामें प्रविष्ट हो रक्तमें मिल जाते हैं। संवहन-क्रमसे ये यकृत् और हृदयमें पहुँच सर्वधातुओंको प्राप्त होते हैं। मेदोऽम्ल तथा गिलसरोल आस्तरणमेंसे गुजरते हुए संयुक्त हो पुनः मेदके रूपमें परिणत हो जाते हैं। यह मेद अङ्कुरिकाओंकी रसायनियोंमें प्रविष्ट होता है। दुग्ध-धवल मेदके कारण अभिशोषणके समय (भोजनके दो-ढाई घण्टे पीछे) इन रसायनियोंका वर्ण दुधियाला होता है। अतः इन्हें पयस्विनी[८] यह विशेष नाम दिया

१—Rapidity—रेपिडिटी ; आशुकारी तथाऽऽशुत्वाद् धावत्यम्भसि तैलवत्—सु० सू० ४६।५२४।

२—व्यवायी चाखिलं देहं व्याप्य पाकाय कल्पते—सु० सू० ४६।५२३ ; अपक्व एवाखिलं देहं व्याप्नोति, पश्चान्मद्यविषवत् पाकं याति—डह्लन। पूर्वं व्याप्याखिलं कायं ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि तद्, यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्—शा० प्र० ख० अ० ४।

३—Glucose—ग्लुकोज़।

४—Rectal feeding—रेक्टल फीडिंग (शब्दार्थ-गुदमार्गसे भोजनदान); Nutrient enema—न्यूट्रिएण्ट एनीमा (शब्दार्थ-पोषक—बृंहण—बस्ति)। दोनों पद्धतियोंकी इस बस्तिके वाचक शब्दोंमें साम्य देखिये।

५—Toxin—टॉक्सिन। ६—Mucus-glands—म्यूकस-ग्लैण्ड्स।

७—Goblet-cells—गॉब्लेट-सेल्स। चषकका शब्दार्थ = मद्यपानका पात्र।

८—Lacteals—लैक्टीअल्स। Lac = लैक—दूध ; Lactose (लैक्टोज़-दुग्ध-शर्करा), Lacto-metre (लैक्टो-मीटर—दुग्धका घनत्व जाननेका यन्त्र), Lactic acid (लैक्टिक एसिड) आदि शब्दोंमें यही प्रकृति (मूल शब्द) है।

४६

गया है। शेष कालमें इन रसायनियोंमें अन्य रसायनियोंके समान पतला (तनु) और पारदर्शक (अच्छ) रस बहता है[1]। पयस्विनियोंद्वारा मेद, उदरकी अन्य रसायनियोंके रसके समान वाम (मुख्य या महती) रसकुल्या[2] में पहुँचता है। वहाँसे वहन-क्रमसे हृदयमें और हृदयसे सर्वाङ्गमें[3]।

श्लेष्मकलामें स्थित नाडीचक्रों तथा मांससूत्रोंका कर्म हम गत अध्यायमें विस्तारसे देख आये हैं। ये स्थानीय नाडीचक्र अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाओं और रसोत्पत्तिके मूल प्रवर्तक हैं। अन्त्रोंमें जीवनयोनि या अनैच्छिक नाडीसंस्थानके दोनों प्रकारके नाडीसूत्र भी प्रविष्ट होते हैं। इनके द्वारा अन्त्रोंका सम्बन्ध केन्द्रीय नाडीसंस्थानसे और परम्परया आभ्यन्तर (शरीरके सर्व अवयव) तथा बाह्य सृष्टिसे होता है, जिससे उनमें होनेवाले परिवर्तनोंके अनुसार अन्त्रों तथा अङ्कुरिकाओंकी चेष्टा प्रभावित होकर मन्द या तीव्र, लुप्त या उद्बुद्ध (प्रदीप्त) होती है। अङ्कुरिकाओंमें स्थित मांससूत्र उनकी (अङ्कुरिकाओंकी) पूर्व-वर्णित ऊपर-नीचे किंवा तिर्यक् गतियोंके मूल हैं। इनके कारण आचूषित (शोषित, गृहीत) रस पीडित हो-होकर आगे रस-कुल्याकी ओर प्रवाहित होता रहता है। विभिन्न चेष्टाओंके प्रसंगमें स्वयं अन्त्रोंमें जो पीडन होता है वह भी रसको पीडितकर आगे-आगे धकेलनेमें निमित्त होता है।

जैसा कि पहले कह आये हैं, महास्रोतमें अपना स्राव भेजनेवाली ग्रन्थियाँ दो प्रकारकी होती हैं। कुछ, यथा यकृत्, महास्रोतसे थोड़े अन्तरपर रहकर अपने स्रोतद्वारा अपने स्रावको महास्रोतमें भेजती हैं। इन्हें सहकारी ग्रन्थियाँ[4] कहते हैं। शेष ग्रन्थियाँ श्लेष्मकलामें रहकर अपने रसको सीधे महास्रोतके पृष्ठपर छोड़ती हैं। इनमें कफग्रन्थियोंका निर्देश अभी ही कर आये हैं। कफग्रन्थियाँ ऊपरसे नीचेतक समूचे महास्रोतमें होती हैं। दोनों अन्तों (सिरों) पर इनका महत्त्व विशेष होता है। स्थूलान्त्रोंमें चषक-ग्रन्थियाँ होती हैं। कफका कार्य क्लेदन[5] तथा रक्षण है।

१—वसामेह—वसामेह (Chyluria—काइल्यूरिआ) में श्लीपद-जनक कृमियों (Filaria Sanguinis hominis—फायलेरिया सैङ्ग्विनिस होमिनिस ; या Filaria bancrofty—फायलेरिया बैन्क्रॉफ्टी ; या Wuchereria bancrofty—वुकेरेरिया बैनक्रॉफ्टी ; संक्षेपमें फायलेरिया) के अण्ड तथा अपक्व बच्चों (Larva—लार्वा) से मूत्राशयकी रसायनियाँ अत्यधिक पूर्ण होकर अन्तमें फट जाती हैं। परिणाम यह होता है कि इस मार्गके छिद्रित हो जानेसे रसका स्राव मूत्रमार्गसे होने लगता है। इन रसायनियोंका सम्बन्ध ऊपर रसकुल्याओंके साथ होता है। भोजनके २-२॥ घण्टे पीछे इनमें जब प्रभूत मात्रामें पक्व मेदका संचार होता है तो यह मेद भी, जो दुग्ध-धवल होता है, ऊपर प्राकृत मार्गसे न जा मूत्राशयकी रसायनियोंद्वारा मूत्राशयमें आकर पुष्कल दुधियाले मूत्रके रूपमें मूत्रमार्गसे बाहर निकलता है। वसामेह नाम तथा काइल्यूरिआकी इस संप्राप्तिको देखते हुए, एवं प्राचीनोंने वसामेहको (वातिकमेह होनेसे) तथा आधुनिकोंने काइल्यूरिआको असाध्य कहा है (यह ठीक है कि बीच-बीचमें कुछ कालके लिए स्वयं स्वस्थता आ जाती है) इस बातको दृष्टिमें रखकर वसामेहको आधुनिकोंका काइल्यूरिया मानना योग्य प्रतीत होता है। सिद्धान्त निदानमें इसे 'पिष्टमेह' माना है तथा वसामेहका निर्देश ही नहीं किया है।

२—Thoracic duct—थॅरेसिक डक्ट।

३—देखिये पृ० २७७ तथा आगे रस-प्रकरण।

४—Associatedglands—असोशिएटेड ग्लैण्ड्स।

५—Lubrication—ल्युब्रिकेशन

पाचक रसोंकी स्रावी ग्रन्थियाँ आस्तरण कोषोंके मध्यमें यत्र-तत्र रहती हैं तथा इन कोषोंका ही परिणत (विशेष कर्म के लिए रूपान्तरित)[1] स्वरूप हैं[2]।

आमाशयकी ग्रन्थियाँ कफके अतिरिक्त नीचे लिखे द्रव्य उत्पन्न करती हैं—शुद्ध (स्वतन्त्र) लवणाम्ल ; प्रोटीन-पाचक, पचनके लिये दूधको जमानेवाला एवं स्नेह-पाचक, विभिन्न एञ्जाइम[3] ; रञ्जक (रक्तोत्पादक) पित्तविशेष ; तथा नाड़ी-पोषक द्रव्य[4]। यह द्रव्य आमाशयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंपर स्थित भिन्न-भिन्न ग्रन्थियों द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। इनका विवरण इसी अध्यायमें आगे करेंगे।

अन्त्रोंकी श्लेष्मकलामें स्थित विभिन्न ग्रन्थियाँ विभिन्न रस उत्पन्न करती हैं। ये रस मिलकर अन्त्ररस[5] कहाते हैं। इनमें निम्न रस होते हैं—अग्निरसका उद्दीपक एक अन्तःस्राव[6], यही कर्म करनेवाला एक अन्य रस[7], ऐसा ही एक तीसरा अन्तःस्राव[8] ; प्रोटीन-पाचक-रस[9] ; स्नेह-पाचक रस[10] ; कुछ कार्बोहाइड्रेट-पाचक एन्ज़ाइम[11]। क्षुद्रान्त्रोंकी ग्रन्थियाँके दो-दो रसांकुरिकाओंके मध्यमें खुलती हैं—अपना रस छोड़ती हैं। इन स्थलोंको लीवरकुनकी कन्दराएँ[12] कहते हैं।

वलितान्त्रमें आभ्यन्तर योजक-धातुमय प्राकारमें ब्रूनरकी[13] ग्रन्थियाँ नामक विशेष ग्रन्थियाँ होती हैं। इनके स्रोत श्लेष्मकलाके पृष्ठ पर खुलते हैं। आमाशयकी अमुक ग्रन्थियोंके समान ये भी रञ्जक पित्त उत्पन्न करती हैं। इन सब ग्रन्थियों तथा मुख और क्षुद्रान्त्रोंकी सहकारी ग्रन्थियोंका विवरण आगे करेंगे।

स्थूलान्त्रकी श्लेष्मकलामें पूर्व-कथित चषक-ग्रन्थियोंके अतिरिक्त कोई वैशिष्ट्य नहीं होता। परन्तु ; यहाँ बहिःस्रावी कोष भी होते हैं, जो शरीरको अनावश्यक द्रव्यका निर्हरण करते हैं—उसे बाहर निकालते हैं।

मांसधातुमय प्राकार[14]—इस प्रकारका स्तरके घटक मांससूत्रोंके संकोच-विकाससे महास्रोत-की विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं। अन्नवहके ऊपरके दो-तिहाई भागमें मांससूत्र ऐच्छिक प्रकारके तथा शेष

१—Modified—मॉडीफाइड

२—देखिये पृष्ठ १६९, आस्तरण धातु।

३—क्रमशः नाम—Pepsin—पेप्सीन ; Rennin—रेनीन ; Gastric lipase—गैस्ट्रिक लायपेज़।

४—Haemopoietic Factor—हीमोपॉयेटिक फैक्टर ; या Blood Forming Factor—ब्लड फॉर्मिङ्ग फैक्टर।

५—Neuropoietic Factor—न्यूरोपॉयेन्रिक फैक्टर ; या Nerve Nourishing Factor—नर्व-नरिशिंग फैक्टर।

६—Succus intericus—सक्कस इण्टेरिकस ; या Intestinal juice—इण्टेस्टाइनल जूस।

७—Secretin—सिक्रीटीन। ८—Enterokinase—एण्टरोकायनेज़।

९—Pancreozymin—पैनक्रियोज़ाइमिन।

१०—Intestinal lipase—इण्टेस्टाइनल लाइपेज़।

११—Maltase—माल्टेज़ ; Lactase—लैक्टेज़ तथा Sucrase—सुक्रेज़।

१२—Crypts of Lieberkuehn—क्रिप्ट्स ऑफ लीबरकुन।

१३—Brunner's glands—ब्रूनर्स ग्लैण्ड्स।

१४—Muscular Coat—मस्क्युलर कोट ; या Muscular layer—मस्क्युलर लेयर।

महास्रोतमें अनैच्छिक होते हैं। मांससूत्रोंकी अवस्थितिके भेदसे इनके दो प्रकारके स्तर बनते हैं। प्रथम आभ्यन्तर स्तर, जिसमें मांससूत्र वृत्ताकारमें (विवरको चारों ओरसे घेरकर) स्थित होते हैं। दूसरा बाह्य स्तर, जिसके सूत्र महास्रोतकी लम्बाईकी दिशामें स्थित होते हैं। वर्तुल सूत्रोंके संकोच-विकाससे महास्रोतका संकोच-विकास होता है। आमाशयमें मांसमय प्राकार अन्य स्थलोंकी अपेक्षया बहुत अधिक स्थूल होता है। इसका प्रयोजन हम देख आये हैं कि इसके कारण आमाशयमें अन्नका मर्दन और सूक्ष्मीकरण होता है। आमाशयमें ही मांससूत्रोंका एक तीसरा भी तिर्यक् स्तर होता है। स्थूलान्त्रके दीर्घ (लम्बे) मांससूत्रों का स्तर पूर्ण प्राकार नहीं बनाता। इस स्थानमें दीर्घ मांस सूत्र तीन पृथक् पट्टिकाओं[1] के रूपमें स्थित होते हैं। इसके सिवाय ये पट्टिकाएँ लम्बाईमें स्थूलान्त्र जितनी नहीं होतीं। अतः ये जब संकुचित होती हैं तो स्थूलान्त्र मुड़ा-तुड़ा-सा प्रतीत होता है।

अन्नवह और आमाशय, आमाशय और क्षुद्रान्त्र तथा क्षुद्रान्त्र और स्थूलान्त्रकी संधियोंपर एवं गुदद्वारपर वर्तुल प्राकारअतिस्थूल होकर एक छल्लेके रूपमें होता है। इन छल्लोंको, जैसा कि पहले जता आये हैं, शुषिर पेशी कहा जाता है। शिथिल होकर ये छल्ले अन्न,मल आदिको समय-समयपर जाने देते हैं और शेष समयमें धारण किये रहते हैं। आमाशय के हार्दिक द्वारपर ऐसा स्पष्ट छल्ला नहीं होता। हाँ, इस प्रदेशका पर्याप्त स्थान संकुचित स्थितिमें रहता है। शिथिल होनेपर यह प्रदेश अन्न-पानके प्रवेश और अवस्थिति दोनोंके लिए स्थान कर देता है।

महास्रोतके शेष दो प्राकारोंके विषयमें विशेष वक्तव्य नहीं है। अतः वर्णनक्रमसे महास्रोतके प्राकारोंमें स्थित ग्रन्थियोंका उल्लेख समाप्तकर हम अब सहकारी ग्रन्थियोंका विचार करते हैं। पश्चात् उभयविध ग्रन्थियोंकी समुचित क्रियासे महास्रोतके विभिन्न स्थलोंमें होनेवाले पाकका स्वरूप देखेंगे।

कुछ इतिहास—

अन्नपानके पाककी क्रिया आयुर्वेदमें पित्तनामक स्वतन्त्र द्रव्य मानी गयी है। परन्तु पश्चिममें १६ वीं शतीके प्रारम्भ तक पाक एक भौतिक प्रक्रिया समझी जाती थी[2]। उस समय यही माना जाता था कि, आमाशयमें पीडनके कारण अन्न सूक्ष्म हो जाता है। पश्चात् खरलके समान इससे पोषक द्रव्य खेंच लिया जाता है। कुछ विद्वानोंने देखा कि, आमाशय-रस बाहर निकालकर उसमें मांस छोड़ा जाय (मांस प्रोटीनमय है, और उसका पाक अंशतः आमाशयमें होता है) तो वह पच जाता है इससे निश्चित हुआ कि, पाक भौतिक (यान्त्रिक)[3] प्रक्रिया नहीं, किन्तु रासायनिक घटना है। इस बातकी सिद्धिके लिए एक विचित्र प्रयोग किया गया। चारों ओर छिद्रित और अन्दरसे पोली एक गेंद उसमें आहार भरकर एक पुरुषको निगलवाई गयी। गेंदमें छिद्र होनेसे आमाशय-रस तो अन्दर प्रविष्ट हो सकता था। पर गेंद दृढ़ होनेसे भोजनपर आमाशयके पीडनका कोई प्रभाव न हो सकता था। कुछ काल पीछे गेंद निकालकर देखा गया तो उसमें भोजन पच चुका था। एक विद्वान्‌ने अपने ही शरीरपर भी ऐसे विविध प्रयोग किये। बादमें, संधानकी क्रियाके अनुसंधानके

१—Bands—बैण्ड्स।

२—इस कालकी तुलना आयुर्वेदके कालके साथ करिये। सुश्रुतका काल आजसे २६०० वर्ष पूर्व तथा चरकका काल भी बुद्ध (६०० ई० पू०) के पूर्व माना जाता है (देखिये—राजगुरू हेमराज शर्मा कृत—काश्यपसंहिता का उपोद्घात)। इतने पूर्व कालतक भारतीय वैद्योंको पाककी क्रिया निश्चित विदित थी। वैसे तो आयुर्वेदका काल इन संहिताओंसे बहुत पूर्वसे प्रारम्भ होता है।

३—Mechanical—मिकेनिकल।

साथ पाककी प्रक्रियाका ज्ञान और पल्लवित हुआ और जैसा कि गत अध्यायमें कह आये हैं, अन्तको विदित हुआ कि किस प्रकार और क्रमसे महास्रोत तथा शारीर धातुओंमें अन्नपानका रस-रूपमें और रसका तत्-तत् रूपमें परिवर्तन होता है।

लालरस[1] *—कर्म—*

अन्नपानपर महास्रोतमें जिन एन्ज़ाइमों तथा तद्भिन्न पाचक रसोंकी क्रिया होती है उनमें लालाऽन्तर्गत 'टायेलीन'[2] प्रथम है। यह पिष्टसारका शर्करामें परिवर्तन करता है। परन्तु लालाके पाकके अतिरिक्त अन्य भी कर्म हैं, जो अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अल्प वक्तव्य होनेसे पहले उनका निर्देश कर दें।

लालास्राव अपर्याप्त हो तो मुख तथा गलकी कला शुष्क हो जाती है, जिससे स्थानीय नाडी-सूत्रों के प्रभावित होनेसे तृषाके वेगका उदय होता है। जल किंवा अन्य उचित पेय पीनेसे ही तृषा शान्त होती है। गत अध्यायमें कहे अनुसार, रक्तमें जलका अंश न्यून होकर उसमें घनत्व की वृद्धि हो जाय तो लालास्राव अल्प होता है, जिससे तृषाका अनुभव होता है। जलपानसे रक्त तथा धातुओंमें द्रवत्वका साम्य होता है। इस प्रकार लाला शरीरमें जलधातुकी समता रखती है।

तरुण या जीर्ण प्रतिश्यायमें नासास्रोत अवरुद्ध होनेसे रोगी मुखसे ही श्वास लेता है। इससे मुख और गला बार-बार सूखते हैं, जिससे बार-बार तृषाका वेग होता है; जो जीर्ण प्रतिश्याय का एक लक्षण और उपद्रव है।

रसज्ञान जिह्वापर स्थित जिन स्वादाङ्कुरोंसे होता है, द्रव्य उनके संनिकर्ष (संयोग) में आवे तभी उसके रसका ज्ञान संभव है। द्रव्य लालारसमें विलीन होकर (घुलकर) तथा शोषित होकर ही इन स्वादाङ्कुरोंके संनिकर्षमें आ सकता है, शुष्क और घन दशामें नहीं। इस प्रकार लालारससे रसोंका ज्ञान (बोधन) होता है। प्राचीनोंने मुखमें बोधक (रसबोधक) कफकी स्थिति कही है। लालारस—अथवा अधिक सत्य कहना हो तो लालारसका टायेलीन-भिन्न भाग—ही बोधक कफ होना चाहिये। टायेलीनकी गणना पित्तवर्गमें की जा सकती है।

रसज्ञानसे प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा आमाशय-रसका भी प्रवर्तन (स्रावण) होता है। यह प्रवृत्ति या स्राव उस मानसिक स्रावसे भिन्न है, जिसका कारण भोजनके सेवनकी प्रतीति या तृप्तिका अनुभव है।

मुख और गल आर्द्र और स्निग्ध हो तो विशेष सुखानुभव होता है। इससे जिह्वा तथा ओष्ठकी विभिन्न चेष्टाएँ होकर भाषण की क्रिया सुगम होती है।

भोजन लालारस द्वारा आर्द्र तथा तदन्तर्गत म्युसीन[3] नामक प्रोटीन द्वारा स्निग्ध बने तब ही जिह्वा और अन्य पेशियाँ उसे घुमा-फिराकर दाँतोंके मध्य ला सकती हैं; पश्चात् स्निग्ध और गोल होनेके कारण ही उसका निगलना भी सुगम होता है। इस प्रकार लालारसका अन्य कर्म चर्वण और निगिरण है।

भोजनसे भिन्न कालोंमें लालारस मुखका शोधन और वैमल्य करता है—भोजनके अंशों

१—Saliva—सेलाइवा। लाला=थूक।

२—Ptyalin; अन्य नाम—Salivary diastase—सेलाइवरी डायस्टेज़; देखिये पृ० १९८-९९ तथा पृ० ३१०।

३—Mucin—विशेष परिचय आगे देखिये।

तथा निर्जीव कला-कोषोंको रहने देकर सड़नेसे अटकाता है। ज्वर आदि रोगोंमें जब लालास्राव न्यून हो जाता है तो मुख दुर्गन्धयुक्त और जिह्वा मलिन हो जाती है।

मुखमें यों भी जीवाणु पुष्कल रहते हैं। दाँतोंके मध्य आहारके कण रह जायें तो उन्हें पुष्टि और वृद्धिकी उत्तम सामग्री मिल जाती है। ये जीवाणु दन्तवल्क[1] को खाकर कृमिदन्त[2] आदि रोग उत्पन्न करता है। जीवाणुओं द्वारा उत्पादित अम्ल दन्तवल्ककी सुधा (केल्शियम) के साथ संयुक्त हो नये समास बनाते हैं। इस प्रकार सुधा-हीन[3] होनेसे दन्तवल्क नष्ट हो जाता है और दाँतका शेष अंश भी विघटित होता जाता है—दन्तवल्क या दाँतोंके खाये जाने या उनमें कीड़ा लगने का यह अभिप्राय है। सो, जीवाणुओंसे दन्तोंका रक्षण भी लालारसका कर्म है। चाय पीकर मुखशुद्धिका ध्यान कोई ही रखते हैं। इसीसे, शर्कराका कुछ अंश मुखमें रह जानेसे और शर्करा जीवाणुओंके लिए उत्तम खाद्य होनेसे चाय पीनेवालोंको दन्तरोग विशेष होते हैं।

कई प्राणियों, यथा कुत्तों और भेड़ोंमें, लालास्राव द्वारा ऊष्माका निर्हरण होकर शरीरोष्माका नियमन होता है। उष्ण देशकालमें कुत्ते जिह्वा बाहर निकालकर खूब हाँफते हैं। जिह्वासे लालाका क्षरण भी पुष्कल होता है। लालारसके साथ तथा बाहर छोड़े वायुकी आर्द्रताके साथ ऊष्मा भी बाहर निकलता है।

लाला द्वारा मलोत्सर्जन भी होता है। वृक्कके रोगोंमें इसमें यूरीआ, अग्न्याशयके विकारोंमें शर्करा, नाग-विषमें नाग, गन्धक तथा सुधा पाये जाते हैं। कई रोगोंमें जीवाणु तथा वायरस भी लालारसमें उत्सृष्ट होते हैं, जो लालाको संक्रमणका निमित्त बना देते हैं। सुधा छोटी-छोटी पपड़ियों[4] के रूपमें दाँतोंपर जम जाती है। पित्तरोगोंमें पित्त या उसके लवण लालामें उत्सृष्ट होते हैं, जिनके कारण मुखका रस तिक्त (कडुआ) हो जाता है। ग्लुकोज़की सूचीबस्ति देकर प्रायः तत्काल चिकित्सक रोगीसे पूछते हैं कि मुखका स्वाद मधुर प्रतीत होता है या नहीं? मुखमें यह माधुर्य रक्तमें और रक्तद्वारा लालामें ग्लुकोज़ (द्राक्षा शर्करा) के पहुँचनेके कारण होता है। आयुर्वेदमें कफप्रधान रोगोंका एक लक्षण मुखमाधुर्य कहा गया है।

लालारसके अब तक निर्दिष्ट कर्म प्रायः भौतिक हैं। शेष पिष्टसारका पचन इसका रासायनिक कर्म[5] है, जिसका कारण उसके अन्तर्गत क्रियाशील अंश[6] या एन्ज़ाइम टायेलीन है। दशम अध्याय में वर्णित क्रमानुसार[7] पिष्टसार शर्कराओंका ही एक भेद है। अपनी रचनाकी उत्तरोत्तर

१—Enamel—इनेमल ; दन्तोंके शीर्षभागका आवरणभूत द्रव्य। यह शरीरमें सबसे कठिन द्रव्य है। इसमें जल केवल २ या ३ प्रतिशत होता है।

दन्तवल्क संज्ञा प्राचीन है। देखिये—

दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी॥ सु० नि० १६।३३

२—Caries—केरीज़।

३—Decalcification—डीकेल्सीफिकेशन।

४—Tartar—टार्टार।

५—Chemical action—केमिकल एॅक्शन।

६—Active principle—एॅक्टिव प्रिन्सिपल।

७—देखिये—पृ० १९५-२०२। यह प्रकरण पढ़नेके पूर्व सुखबोधार्थ ये पृष्ठ पुनः पढ़ लेने चाहिये।

जटिलताके अनुसार शर्कराओंके तीन भेद हैं—(१) सामान्य शर्कराएँ, (२) द्विगुण शर्कराएँ, (३) प्रगुण शर्कराएँ। शरीरमें किंवा बाहर, शर्कराओंके पचनमें स्थिति यह होती है कि प्रगुण शर्कराएँ जलके संयोग[1] के अनन्तर, विघटित होकर सामान्य शर्कराओंके रूपमें परिणत हो जाती हैं। इस रूपमें इनका रसांकुरिकाओं द्वारा अभिशोषण होता है। अभिशोषित सामान्य शर्कराएँ जब धातुओंमें पहुँचती हैं तो धातु-कोष इनके जलांशको पृथक् कर[2], अनेक सामान्य शर्कराओंको संयुक्तकर इन्हें पुनः प्रगुण शर्कराओं अर्थात् प्राणियोंमें ग्लायकोजन (जङ्गम पिष्टसार) तथा उद्भिजोंमें पिष्टसारके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं।

प्राणि-शरीरमें प्रगुण शर्करा या पिष्टसारके विघटनकी क्रिया दो एन्ज़ाइमोंके अधीन है—मुखके टायेलीनके तथा अग्निरसके एमाइलेज़के। टायेलीनसे पिष्टसार डेक्स्ट्रीन और धान्यशर्करा[3] में परिणत होता है। डेक्स्ट्रीन भी पीछेसे धान्यशर्करामें ही परिवर्तित हो जाती है। पिष्टसारसे धान्यशर्करा बनते हुए अन्य भी कई मध्यवर्ती द्रव्य[4] बनते हैं। इनका पूर्ण अनुशीलन अबतक नहीं हुआ है। परन्तु, बाहर एक पात्रमें पिष्टसार और लालारस डालकर तुत्थके द्रव[5]से थोड़ी-थोड़ी देर पीछे परीक्षा करें तो क्रमशः विविध वर्णोंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जिससे अनेक मध्यवर्ती द्रव्योंका उत्पन्न होना सिद्ध है। कोई पिष्टसार[6]मय द्रव्य, यथा सेका हुआ आलू, कुछ मिनट मुखमें रखनेके पीछे उक्त द्रवसे परीक्षा करें तो वह शर्करामें परिणत हुआ सरलतासे देखा जा सकेगा।

ग्लायकोजनपर टायेलीनकी क्रिया मन्द (धीमी) होती है। सेल्युलोज़पर इसका प्रभाव नहीं होता। परिणाम यह होता है कि, संस्कार (राँधने आदिमें प्रयुक्त क्रियाओं) द्वारा पिष्टसारके कणोंको आवृत्त करनेवाले सेल्युलोज़के मण्डल भिन्न न हो गये हों तो टायेलीन उन्हें भेदकर पिष्टसारके कणोंतक पहुँचकर उन्हें पचा नहीं सकता। चावल या अरारोट[7] के कण केवल यन्त्रमें पीसनेसे टायेलीनके लिए गम्य और पाच्य हो जाते हैं। गेहूँके पिष्टसारको टायेलानद्वारा पचानेके लिए उसे पकाना अभीष्ट है। इस प्रसंगमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि धान्योंके छिलके (चोकर)[8] में पिष्टसार-पाचक एन्ज़ाइम[9] होता है। मैदा[10] बनानेमें यह चोकरके साथ निकल जाता है।

लालारसद्वारा पाककी महत्ता इस बातमें है कि, यह केवल मुखमें समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत आमाशयमें भी बहुत काल चालू रहता है। थोड़ी-थोड़ी देर पीछे विविध वर्णके आहार देकर जाना गया है कि, पिछले-पिछले कवल पहले-पहले कवलके मध्यमें जाकर पड़ते हैं। पिछले कवल पर्याप्त समय, आमाशयकी दीवालोंके, परम्परया अपनी अम्लतासे लालारसको निष्क्रिय कर देनेवाले लवणाम्लके, संसर्गमें नहीं आते। परिणाम यह होता है कि, लालारसद्वारा इन कवलोंको पचानेका

१—जलके संयोगके अनन्तर हुए विघठनको अंग्रेजीमें Hydrolysis—हायड्रोलिसिस कहते हैं।

२—जलांशके पृथक्करणको अंग्रेजीमें Dehydration—डीहाइड्रेशन कहा जाता है।

३—Maltose—माल्टोज़।

४—Intermediate substences—इण्टरमीडिएट सब्स्टेन्सेज़।

५—Fehling's solution—फेहलिंग्स सॉल्यूशन; मूत्रमें शर्कराकी परीक्षाके लिए यह द्रव व्यवहृत होता है।

६—देखिये—पृ० १९९, पिष्टसार।

७—Arrowroot. ८—Husk—हस्क।

९—Diastatic enzyme—डायास्टेटिक एन्ज़ाइम।

१०—White flour—ह्वाइट फ्लोर।

कार्य चालू रहता है[१]। कई पशुओंमें कैननने देखा था कि, कभी-कभी आहार आमाशय-स्कन्ध[२] में कमसे कम दो घण्टेतक निष्क्रिय—आमाशयकी चेष्टा तथा आमाशय-रसकी क्रियासे अलिप्त—पड़ा रहा, एवं उसपर लालारसकी क्रिया होती रही, विशेषतया उसके मध्यवर्ती कवलोंपर। मानवोंमें भी कमसे कम आध घण्टा अथवा अधिक यह पाक चालू रहता है। यह स्थिति तब विशेष देखी जाती है जिस काल कर्कश व्यायाम द्वारा आमाशय-रसका स्राव क्षीण (अल्प) हो गया हो। इस विषयमें यह स्मरणीय है कि, कार्बोहाइड्रेटमय अन्न, जिनपर लालारसकी क्रिया होती है, उनके साथ हम प्रायः स्नेहोंका सेवन करते हैं; यथा रोटी, चावल आदिके साथ घी, मक्खन, दूध आदिका। स्नेह आमाशय-रसके प्रमाणको अपने स्वभावसे क्षीण करते हैं। परिणामतया, इनके सह-सेवनकी अवस्थामें आमाशयमें लालारसद्वारा पाककी क्रिया अधिक काल चालू रहती है।

उदर-विकारोंमें कई वैद्य भोजनके पूर्व (प्राग्भक्त) प्रथम कवलके रूपमें चावल, घी और हिङ्ग्वष्टकका सेवन कराते हैं, उसकी शास्त्रशुद्धता सिद्ध है। इसी प्रकार इस ओर गुजरातमें भोजनके पूर्व तीन-चार कवल घी और चावल के लेनेका प्रचार है। अन्यत्र यह प्रथा है या नहीं, विदित नहीं। यह प्रथा भी विज्ञानानुमोदित है। आमाशय-क्षतमें दोनों प्रथाओंका प्रयोगकर देखना चाहिए।

प्राचीनोंने जिस प्रथम और मधुर अवस्थापाकका वर्णन किया है, उसकी तुलना लालारसद्वारा मुख और आमाशयमें पचनकी क्रियासे शर्कराकी उत्पत्तिसे की जा सकती है।

लालास्राव—स्वरूप—

लालारस अनेक ग्रन्थियोंके मिलित स्रावका नाम है। इनमें तीन लालाग्रन्थियोंके युग्म मुख्य हैं। युग्ममें प्रत्येक मुखके एक-एक ओर होती है। ये ग्रन्थियाँ अपने-अपने स्रोतों (वाहिनियों) द्वारा अपना-अपना रस मुखमें भेजती हैं। शेष छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ मुखकी कलामें स्थित होती हैं, तथा अपना स्राव सीधा मुखमें छोड़ती हैं। ये कफ या लसीका उत्पन्न करती हैं। उपजिह्विका (टॉन्सिल) ग्रन्थियोंसे भी कुछ कोष एवं मुखकी कलाके आस्तरण कोष भी इस रसमें मिश्रित होते हैं। यह मिश्रित रस स्वच्छ (पारदर्शक), वर्णहीन या कुछ दुधियाला[३], मलिन, पिच्छिल[४], उदासीन[५] या किंचित् अम्ल प्रतिक्रियावाला (५·८ से ७·६ PH का) तथा १·००२ से १·००६ विशिष्ट गुरुत्व[६]वाला होता है। टायलीनके सिवाय इसमें प्रधानतया निम्न द्रव्य होते हैं—म्यूसीन[७]—यह एक एल्ब्यूमिन-सदृश[८] द्रव्य होता है, यह कफका प्रधान द्रव्य होता है, लालाकी तन्तुमयता[९] तथा

१—देखिये गत अध्याय।

२—Fundus—फण्डस, आमाशयका सबसे विस्तृत और कूबड़के सदृश ऊपर उठा हुआ भाग, जो महाप्राचीराके अङ्कमें रहता है।

३—Opalescent—ओपेलेसेण्ट।

४—Viscid—विसिड, या Viscous—विस्कस, या Slimy—स्लिमी।

५—Neutral—न्यूट्रल।

६—Specific gravity—स्पेसिफिक ग्रेविटी।

७—Mucin.

८—Albuminoid—ऍल्ब्युमिनॉयड। Albumen (in)—प्राणियों तथा उद्भिदोंमें स्थित एक प्रोटीन; अण्डेका श्वेत भाग प्रायः यही होती है।

९—Ropy character—रोपी केरेक्टर।

चिक्कणता इसके कारण होती है; कभी-कभी लालामें शुद्ध म्यूसीनके पुञ्ज होते हैं; अल्प मात्रामें हायड्रोसायनिक एसिड[1]का समास पोटाशियम थायोसायनाइड[2] अथवा पोटाशियम सल्फोसायनाइड[3] होता है; विभिन्न लवण, इनमें मुख्य सोडियम क्लोराइड[4] (खानेका नमक) होता है; अन्य लवण—पोटाशियम क्लोराइड[5], पोटाशियम सल्फेट[6], सोडियम कार्बोनेट[7], कैल्शियम कार्बोनेट[8], कैल्शियम फास्फेट[9], मैगनेशियम फास्फेट[10]; अङ्गाराम्ल या कार्बन डाइऑक्साइड—इस वायुकी लालामें स्थिति लालाग्रन्थियोंमें होनेवाले विपुल रासायनिक परिवर्तनोंकी द्योतक है; उक्त लवणोंमें कार्बोनेटका प्रमाण सविशेष होता है; अङ्गाराम्ल लालान्तर्गत कैल्शियम कार्बोनेटके साथ मिलकर कैल्शियम बाइकार्बोनेट[11] बनाता है, जो विलेय होनेसे लालामें घुला रहता है; लालारसको कुछ काल पड़ा रहने दें तो अङ्गाराम्ल मुक्त हो जाती है, परिणामतया बाइकार्बोनेट रह जाता है, जो अविलेय होनेसे नीचे बैठकर (निक्षिप्त होकर) लालाको धुँधला बना देता है; विभिन्न जीवाणु तथा वायरस—पाषाणगर्दभ[12]में कर्णमूलिक लालाग्रन्थिके स्रोत द्वारा जीवाणु या वायरस ग्रन्थिमें जाकर शोथ उत्पन्न करते हैं; यह रोग कभी स्वतन्त्र होता है और कभी संनिपात ज्वरों (टायफायड आदि) का उपद्रव-रूप होता है और उनकी कभी कष्टसाध्यताका सूचक है[13]; कुछ प्रोटीन।

लालाग्रन्थियाँ—परिचय

विभिन्न ग्रन्थियोंके स्रोतोंमें नाडी[14] डालकर उनका पृथक् रस प्राप्तकर उसका विश्लेषण किया गया है। इससे विदित हुआ है कि कर्णमूलिक ग्रन्थिमें म्यूसीन सर्वथा नहीं होता। हन्वधरीय, विशेषकर जिह्वाधरीयमें म्यूसीन प्रभूत होता है। मानवोंमें कर्णमूलिकमें टायेलीनका प्रमाण इतर ग्रन्थियोंकी अपेक्षया विशेष होता है। कुत्ते आदिकी लालामें टायेलीन नहीं होता। कार्बोहाइड्रेटके पाचनके लिए उन्हें अग्निरसके आश्रित रहना पड़ता है।

लालाग्रन्थियाँ बहुत श्रमपरायण होती हैं। प्रत्येक ग्रन्थि एक अहोरात्रमें अपने भारसे १०-१२

१—Hydrocyanic acid.
२—Potasium Thiocyanide.
३—Potassium sulphocyanide.
४—Sodium chloride
५—Potassium chloride
६—Potassium sulphate
७—Sodium carbonate
८—Calcium carbonate
९—Calcium phosphate
१०—Magnesium phosphate
११—Calcium bicarbonate

१२—Mumps—मम्स; या Parotitis—पैराटाइटिस; (Parotid—पैरोटिड=कर्णमूल ग्रन्थि अंग्रेजीमें 'आइटिस' प्रत्यय शोथका वाचक है)।

१३—देखिये—सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः। शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते—च० चि० ३।२८७। कश्चिदेव प्रमुच्यते इत्यनेन दारुणत्वमस्य दर्शयति। 'सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः। ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्याचारेण वा पुनः (च० सू० १८।३७)।' किंवा साध्य एवाऽयं प्रायो भवति, कदाचिच्च कृच्छ्रसाध्य इति। ×× —चक्रपाणि

तथा—यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते। ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते—च० सू० १८।२७—दुर्जयोऽन्तायेति दुर्जयो वा यथाक्रममुपक्रम्यमाणः, अन्तायेति मिथ्योपक्रमादेति मन्तव्यम्। अयमेव शोथोऽन्यत्राप्युक्तः—"सन्निपातज्वरस्यान्ते ××।" —चक्रपाणि

इस शोथकी साध्यासाध्यतापर चक्रपाणिकी यह टीका देखिये।

१४—Canula—केन्युला। नाडी नाम प्राचीन है; देखिये—सु० चि० १४।१८ इत्यादि।

गुणा रस उत्पन्न करती है। मानवमें एक अहोरात्र (२४ घण्टे) में १॥ पिण्ट[1] (७५ तोला) लाला स्रुत होती है।

लालास्रावी प्रमुख ग्रन्थियाँ मुखमें दोनों ओर तीन-तीन होती हैं—कर्णमूलिक[2], जिह्वाधरीय[3] तथा हन्वधरीय[4]।

कर्णमूलिक ग्रन्थियाँ सबसे बड़ी होती हैं। ये मुखके दोनों ओर, गालमें कानके ठीक सामने तथा कुछ नीचे स्थित होती हैं (देखिये चित्र १७—क)। इसका स्रोत बड़ा होता है[5]। यह मुखमें, गालके आभ्यन्तर पृष्ठपर, ऊपरके जबड़ेके द्वितीय हानव्य (या चर्वणक)[6] के सामने खुलता है (चित्रमें—द)। यह छिद्र एक छोटे-से उभार[7]पर होता है, जो सरलतासे देखा जा सकता है। इस ग्रन्थिके शोथको कर्णमूलशोथ कहते हैं, यह कह आये हैं। कभी-कभी ग्रन्थिमें अश्मरी भी बन जाती है, जो स्रोतमें आकर उसे अवरुद्ध कर देती है। इससे तीव्र वेदना होती है। प्रायः शस्त्रकर्मसे अश्मरी निकाली जाती है। ये ग्रन्थियाँ लसीका-स्रावी[8] होती हैं। लालाका अधिकांश इनमें बनता है।

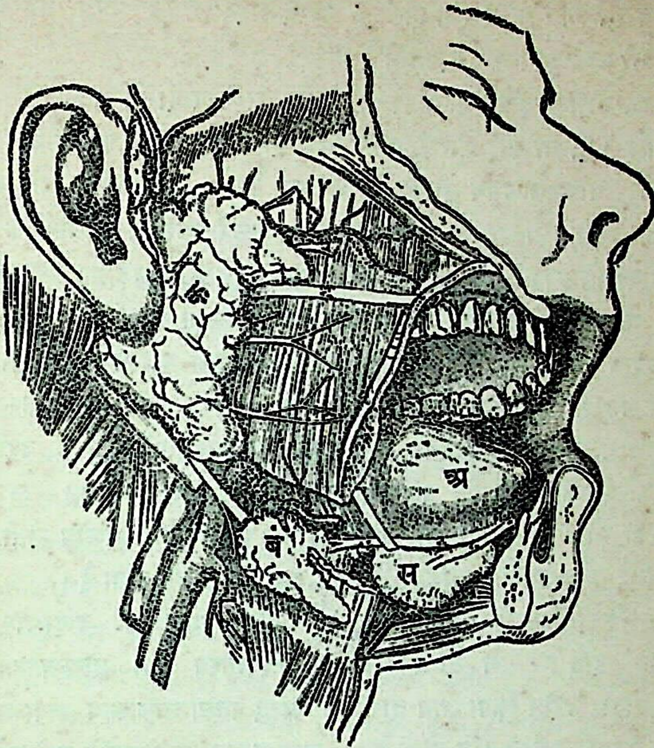
जिह्वाधरीय ग्रन्थि (चित्रमें—स) प्रमाणमें बादामसे छोटी एवं मुखके तल[9] के ठीक नीचे, जिह्वा और अधोहनुके मध्यमें, सेवनी[10] (जिह्वाके नीचे स्थित वह झिल्ली जो जिह्वाको मुखके तलसे जोड़ती है) के दोनों ओर एक-एक होती है। जिह्वा और निचले दाँतोंके मध्यमें स्थित उभार इन्हीं ग्रन्थियोंके होते हैं। प्रत्येक ग्रन्थिके कोई ८ से २० छोटे-छोटे स्रोत होते हैं[11], जो मुखके तलपर जिह्वाके ठीक नीचे खुलते हैं और इस स्थलको सर्वदा आर्द्र रखते हैं। इनका स्राव कफ-प्रधान होता है।

हन्वधरीय ग्रन्थि छोटे अखरोटके प्रमाणकी तथा अधोहनु (निचले जबड़े) के नीचे दोनों ओर एक-एक स्थित होती है। प्रत्येकका स्रोत[12] जिह्वाके कोणके नीचे, सेवनीके एक ओर खुलता है। इनका छिद्र भी एक-एक उभारपर रहता है, जिसे असहाय नेत्रोंसे देखा जा सकता है। मुख खुलवा, जिह्वा ऊँची करा मुखके तलपर खाँडकी डली रखें तो इन स्रोतोंसे लालास्राव होता देखा जा सकता है। इनका स्राव मिश्र स्वरूपका होता है।

लालाके जिन कर्मोंका ऊपर निर्देश किया है उनमें कुछ भोजन-कालिक हैं और कुछ अ-भोजन-कालिक। अ-भोजन कालमें लाला-स्राव उचित प्रमाणमें होता है, परन्तु कोई भोज्य द्रव्य मुखमें डाला जाय तो उसपर तत्-तत् क्रिया करनेके लिए लालाग्रन्थियाँ सविशेष कार्य-पर हो जाती हैं और लालास्राव बढ़ जाता है। इतना ही नहीं, भोज्य-पदार्थके दर्शन, गन्ध किंवा उसके स्मरणमात्रसे भी लालाके प्रवाहमें वृद्धि होती है। एक बार अपने प्रिय भोज्यान्नका विचार कीजिए और इस मनोमूलक परिणामका प्रत्यक्ष कीजिए।

लालास्राव सर्वथा सप्रयोजन है। मुखमें कोई अम्ल डाला जाय तो प्रभूत लालास्राव होता

१—Pint. २—Parotid—पैरोटिड।
३—Sublingual—सबलिंग्वल। ४—Submaxillary—सबमेग्ज़िलरी।
५—स्रोतका अंग्रेजी नाम—Stensen's duct— स्टेन्सन्स डक्ट।
६—Second molar—सेकण्ड मोलर। ७—Papilla—पेपिला।
८—Serous—सीरस। ९—Floor—फ्लोर।
१०—Frenum—फ्रीनम।
११—अंग्रेजी नाम—Ducts of Rivinus—डक्ट्स ऑफ रिविनस।
१२—Wharton's duct—व्हार्टन्स डक्ट।



दाँई ओरकी लालाग्रन्थियाँ तथा उनके स्रोत। चित्र—१७

क—कर्णमूलिक ग्रन्थि। द—उसका स्रोत। स्रोतके पीछे हनुकूटकर्षणी[1] पेशी, जो चर्वणमें प्रधानतया भाग लेती है। स—जिह्वाधरीय। द—स्रोत। ब—हन्वधरीय। द—स्रोत। अ—जिह्वा।

है, जो अम्लको हलका कर देता है, जिससे कलाको क्षति होनेकी आशङ्का नहीं होती। परन्तु भोजनके ध्यान, सेवन आदिसे जो पूर्वकथित स्रवण होता है, उसमें द्रवांशकी अपेक्षया पाचनोपयुक्त एन्ज़ाइम तथा कफका प्रमाण ही विशेष होता है। उक्त दोनों अवस्थाओंमें लालाके स्वरूपकी इस भिन्नतासे अर्थात् प्रथम स्रावमें जलांश और द्वितीयमें पित्त और कफकी अधिकतासे सूचित है कि, अवस्था-भेदसे भिन्न-भिन्न ग्रन्थियाँ उद्दीपित होकर अपने-अपने रसको विशेष मात्रामें क्षरित करती हैं। इन सब बातोंसे स्पष्ट है कि, लालास्रावके प्रवर्तक या अवसादक नाडीसूत्र प्रत्येक ग्रन्थिके लिए पृथक् हैं, एवं इन सूत्रोंका कर्म कितना दुरूह (जटिल) है।

लालास्राव सांकेतिक[2] भी होता है। जिस परिस्थिति या घटनाके साथ भोजनकी प्राप्तिका नियत सम्बन्ध बार-बारके अनुभवसे विदित हो चुका हो वह पीछेसे अकेली भी लालास्रावकी अति-प्रवर्तक (उद्दीपक) हो जाती है। इन स्थितियोंमें, प्रारम्भमें लालास्रावमें वृद्धिका कारण भोजनकी प्राप्ति होता है; परन्तु अनन्तर कालमें सहचारी वस्तुएँ ही उसकी अति प्रवृत्तिका हेतु बन जाती हैं। यथा, कुत्तेको घण्टी बजाकर भोजन परोसनेका नियम बना लिया जाय तो प्रथम तो दिये गये भोजनके

१—Masseter—मैसेटर। दाँतोंको मींचें तो गालपर मध्यमें ऊपरसे नीचे स्तंम्भ-रूपमें यह पेशी स्पर्शसे जानी जा सकती है।

२—Conditioned reflex—कण्डिशंड रिफ्लेक्स; या Learned reflex—लर्न्ड रिफ्लेक्स।

दर्शन या सेवनके कारण अति लालास्रुति होती है, परन्तु बादमें केवल घण्टी बजायी जाय, भोजन न दिया जाय तो भी लालास्रावकी वृद्धि होती है।

लालास्रावका ज्ञानेन्द्रियों और मनके साथ यह सम्बन्ध होनेके कारण ही मानसिक आवेश (चिन्ता, रोष आदि) हो या कोई शारीर-मानस व्यथा हो तो क्षुधा लुप्त हो जाती है, लालास्राव भी क्षीण हो जाता है। भाषणके समय मुखशोषका भी यही हेतु है। जैसा कि, पहले कहा जा चुका है, लालास्रावके मनके साथ इस सम्बन्धका उपयोग प्राचीन कालमें अपराध-परीक्षार्थ किया जाता था[१]।

अबतकके वर्णनसे स्पष्ट है कि, लालास्राव साधारणतः एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। अ-भोजन कालमें मुख तथा गलकी कलाका शोष एवं भोजन-कालमें उसका रूप (दर्शन), गन्ध, रस किंवा उसका स्मरण (ध्यान), एवं सांकेतिक व्यापारकी स्थितिमें उसकी श्रवणादि अभ्यस्त संज्ञाएँ—इनके वेग[२] अपने-अपने संज्ञावह स्रोतद्वारा सुषुम्णा-शीर्षक[३]के लालास्राव-नियामक केन्द्रमें पहुँचते हैं। आमाशयके उत्क्लेश या वमनमें आमाशयसे क्षोभके वेग इस केन्द्रमें पहुँचते हैं। वहाँसे लालास्रावके उद्दीपक वेग लालाग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं; परिणामतया, लालाकी वृद्धि होती है। क्षुधा उपस्थित हो, मनमें किसी प्रकारका क्षोभ (आवेश) या व्यथा न हो तो यह क्रिया अतिशीघ्र होती है। अन्यथा, जैसा कि पहले कहा है और सबके अनुभवका विषय है, इसमें व्याघात होता है।

अन्तर्मुख—केन्द्राभिगामी[४]-नाडियोंमें रसवह नाडीसूत्र प्रमुख हैं। बहिर्मुख[५] सूत्र भिन्न-भिन्न नाडियोंके अन्तर्गत होते हैं। ये दो प्रकारके हैं—परिस्वतन्त्र तथा मध्यस्वतन्त्र। परिस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंको विद्युद्वारा उद्दीप्त किया जाय तो प्रभूत परन्तु पतला लालास्राव तथा धमनिकाओं[६] का विस्फार[७] होकर ग्रन्थियोंमें रक्तकी वृद्धि होती है। मध्यस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंके उद्दीपनसे अल्प परन्तु गाढ और मन्द स्राव होता है तथा ग्रन्थियोंमें रक्तका प्रवाह न्यून होकर वे पीतवर्ण हो जाती हैं।

दोनों प्रकारके नाडीसूत्रोंपर प्रयोग करके निर्णय किया गया है कि, परिस्वतन्त्र नाडीसूत्रोंका कर्म जल और निरिन्द्रिय लवणोंके स्रावका प्रवर्तन है; जब कि मध्यस्वतन्त्रके प्रभावसे लालाके सेन्द्रिय द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है[८]।

परिस्वतन्त्र नाडियोंमें कुछ सूत्र ऐसे भी होते हैं, जीवितावस्थामें जिनके वेगोंसे ग्रन्थियाँ पुष्ट (स्वरूप में स्थित) रहती हैं। नाडियोंको काट दिया जाय तो कुछ सप्ताहमें ग्रन्थियाँ प्रक्षीण[९] हो जाती हैं।

प्रत्येक ग्रन्थियोंके विशेष उद्दीपक भिन्न-भिन्न होते हैं। यथा, हन्वधरीय ग्रन्थि अन्नके दर्शन, मांसके चर्वण, अम्ल आदि अनेकों वस्तुओंसे उद्दीप्त होती है; परन्तु कर्णमूल ग्रन्थि शुष्क अन्न, शुष्क चूर्णीकृत मांस या शुष्क रोटी मुखमें जानेपर ही—अर्थात् शुष्कताके प्रभावसे ही—उद्दीप्त होती है। लालाग्रन्थियों तथा अन्य ग्रन्थियोंमें चेष्टाके समय वैद्युत परिवर्तन भी होते हैं।

एन्ज़ाइमोंके प्रकरणमें हमने कहा है कि, स्रुत होनेके पूर्व वे अपनी उत्पादक ग्रन्थिमें अपने

१—देखिये पृ० २८३–९०। २—Impulse—इम्पल्स।

३—Medulla oblongata—मेड्युला ऑब्लॉङ्गेटा।

४—Afferent—ऐफरेण्ट। ५—Efferent—(E=Ex=बाहर)।

६—Arterioles—आर्टीरिओल्स; धमनियोंकी केशिकाओंसे बड़ी शाखाएँ। अल्प अर्थमें 'कन्' प्रत्यय है। ७—Diltation—डायलेटेशन।

८—इन्हें क्रमशः Secretory—सिक्रीटरी तथा Trophic—ट्रॉफिक नाडीसूत्र कहा गया है। शब्दोंका अर्थ स्रावी तथा बृंहण (पोषक) है। ९—Atrophied—एट्रोफीड।

पूर्वरूप ज़ायमोजनके रूपमें रहते हैं। स्रावके समय लालाग्रन्थियों तथा कफ-ग्रन्थियोंमें होनेवाले विभिन्न परिवर्तनोंमें पूर्वगामी द्रव्योंका उत्तम निरीक्षण किया गया है। लालास्रावपर विभिन्न औषधोंका विभिन्न प्रभाव होता है। एट्रोपीन[1]की सिराबस्ति[2]से स्राव क्षीण होता है, पायलोकार्पीन[3] से स्रावका आधिक्य तथा धमनिकाओंका विस्फार एवं एड्रीनलीन[4]से रक्तवहोंका संकोच होता है।

जठराग्नि द्वारा पाकमें क्रम-बन्ध—

महास्रोतमें अन्नपानके परिपाकका आदिसे अन्त तक निरीक्षण करें तो विदित होगा कि, वे एक-दूसरेसे असम्बद्ध घटनाएँ नहीं हैं। प्रत्येक अगली क्रिया अपनेसे पिछली क्रियाके अनन्तर और उसके परिणामस्वरूप होती है। मुख तथा आमाशयमें लालारसकी क्रियासे डेक्स्ट्रीन उत्पन्न होता है। यह आमाशयके स्रावका प्रवर्तक है। मुख और आमाशय दोनोंके स्रावोंपर मनःस्थितिका प्रभाव होता है, जो आमाशयकी चेष्टाओंको भी प्रभावित करती है। अन्नपान आमाशयसे च्युत होता हुआ ग्रहणीमें अपकर्षणकी लहरियोंको आरम्भ करता है तथा याकृत पित्तका महास्रोतमें क्षरण करता है। याकृत पित्तकी उपस्थितिके कारण ग्रहणीकी कला क्षुद्रान्त्रकी कलाद्वारा उत्पादित एक अन्तःस्राव-विशेष सिक्रीटीनका अभिशोषण करती है। रक्तप्रवाहमें संचार करता हुआ यह द्रव्य अग्न्याशयमें पहुँचता है तो अग्निरसका स्राव करनेके लिए उसे उद्दीप्त करता है। इस प्रकार उत्पन्न और ग्रहणीमें क्षरित अग्निरस वहाँ स्थित पिष्टसारमय एवं स्नेह द्रव्योंपर क्रिया करता है। स्नेहद्रव्योंपर इसकी क्रियाके लिए याकृत पित्त आवश्यक है। अग्निरसकी प्रोटीनोंपर क्रिया तब तक नहीं होती, जब तक अन्त्ररसका अंशभूत एण्टरोकाइनेज़-नामक स्राव उत्पन्न होकर अग्निरसके प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइम ट्रिप्सीनको उद्दीप्त नहीं करता। आमाशयमें अम्ल और पेप्सीनकी क्रियासे प्रोटीनोंका जो पाक आरम्भ हुआ था, उसे अन्त्ररसके इरेप्सीनकी सहायतासे ट्रिप्सीन और क्षारद्रव्य पूर्ण कर प्रोटीनोंका विघटन कर देते हैं। उधर, अन्त्ररसके पिष्टसार-पाचक एन्ज़ाइमसे कार्बोहाइड्रेटोंका पाचन भी पूर्ण हो जाता है। इस प्रकार प्रकृतिमें पाकका जो क्रम है, उसका अनुसरण करते हुए हमने अब तक लालारसद्वारा परिपाककी क्रिया देखी। अब आमाशयमें इस क्रियाका अनुशीलन क्रमप्राप्त है।

आमाशयमें पाक —

इस अध्यायमें अन्यत्र आमाशय-रसके घटकोंकी जो सूची दी है उससे विदित होगा कि इसके पाचक रस (पाचक पित्त) दो प्रकारके हैं। प्रथम—लवणाम्ल[5] तथा पेप्सीन आदि एन्ज़ाइम, जिनकी क्रिया आमाशयगत अन्नपानपर होती है, और द्वितीय रक्तकणों तथा नाडीसूत्रोंके निर्माणके प्रवर्तक दो द्रव्य। क्रमशः इनकी क्रिया देखनेके पूर्व, आमाशयकी अबतक विस्तारसे दी क्रिया संक्षेपमें दुहरा लें। आमाशय, जैसा कि इसके नामसे भी सूचित है, आम (अपक्व) अन्नका अधिष्ठान (आश्रय) है। इसका यह कर्म रोमन्थकारी (जुगाली करनेवाले) पशुओंमें विशेष महत्त्व रखता है। आमाशय

१—Atropine—बेलाडोनाका क्रियाशील अंश।

२—Intravenous injection—इण्ट्रावीनस इंजेक्शन।

३—Pilocarpine. ४—Adrenaline.

५—Hydrochloric acid—हायड्रोक्लोरिक एसिड। नागरीप्रचारिणी सभाके वैज्ञानिक शब्दकोषमें उद्हरिकाम्ल पर्याय दिया है। 'लवणाम्ल' संज्ञा रसतरङ्गिणी कार की है, वैद्योंमें सुप्रचलित तथा अपनाने योग्य है

पचनका स्थान भी है। पचन इसमें दो प्रकारसे होता है। एक मध्यमवर्ती ग्रासोंके अन्तर्गत कार्बोहाइड्रेटोंका पूर्वकथित प्रकारसे लालास्राव द्वारा तथा दूसरा—प्रारम्भमें आमाशयकी दीवालके संपर्कमें आये कवलोंमें तथा पीछेसे सारे अन्नपानमें स्थित प्रोटीन आदिका स्वयं आमाशय-रसद्वारा। आमाशय-रसका तीसरा कर्म पेषण या मर्दन है, जिसके कारण अन्न आमाशय तथा क्षुद्रान्त्रके पाचक पित्तोंके लिए प्रवेश्य हो जाता है।

आमाशय-रसके सामान्य कर्म—

आमाशय-रसका कर्म उसके लवणाम्ल और पेप्सीनके प्रमाणपर अवलम्बित है। इनके तथा आमाशय-रसके अन्य पाचक पित्तोंके सामान्य कर्म निम्न हैं—

१. जीवाणु-नाशन—आमाशय-रस जीवाणुहर[१] है। यह कर्म उसके लवणाम्लका माना जाता है। इसी कारण आमाशय-रसको बाहर महीनों तक अविकृत (सड़े विना तथा दुर्गन्धरहित) स्थितिमें रखा जा सकता है। अन्नपानके साथ अनेक प्रकारके अगणित रोगजनक जीवाणु तथा कृमियोंके अण्ड कोष्ठमें जाते हैं। आमाशय-रस उनका नाश करके शरीरको रोग-मुक्त रखता है। अन्त्र-ज्वर (टायफायड), विषूचिका, यक्ष्मा, प्रवाहिका, आध्मान, अतिसार, आमातिसार, रक्तदोष, कण्ठ-रोहिणी[२], कृमि आदि रोग इस प्रकार अन्नपानसे होते हैं। जीवाणुओंकी संख्या अत्यधिक हो तो इनका नाश आमाशयमें नहीं होता, परिणामतया कोथ[३] (सड़ांद होकर आध्मान), अन्त्रज्वर आदि रोग होते हैं। ग्रहणीमें स्थित द्रव्य सामान्यतया जीवाणु-रहित[४] होते हैं। परन्तु लवणाम्लकी क्षीणता[५] में बी० कोलाई[६] तथा स्ट्रेप्टोकोकाई[७] नामक जीवाणुओंका प्रसार होकर पित्ताशय-शोथ[८] तथा पित्ताश्मरी हो[९] जाते हैं। इन रोगोंमें ३० प्र० श० का कारण जीवाणु होते हैं।

सामान्यतया सर्वदा, विशेषतया अन्त्रज्वर, विषूचिका आदि फैले हों ऐसे समय, डॉक्टर लोग प्रातः अल्पाहार करके ही धन्धेपर जाना पसन्द करते हैं। कारण, आहार आमाशयमें जानेसे स्वभावतः लवणाम्लका क्षरण होता है, जो इस मार्गसे गये जीवाणुओंको मारकर उन्हें शरीरमें रोग उत्पन्न नहीं करने देता। इस दृष्टिसे लशुन आदिको जीवाणुहरताकी भी परीक्षा की जा सकती है।

२. प्रोटीनोंका पचन—प्रोटीनोंका पाक आमाशय-रसका प्रमुख कर्म है। यह कार्य लवणाम्ल और पेप्सीन दोनोंके सहकारसे होता है। पेप्सीन तथा अग्निरसके प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइम ट्रिप्सीनमें भेद यह है कि, पेप्सीन केवल अम्ल द्रवपर क्रिया करता है। इस प्रकार पेप्सीनकी क्रिया लवणाम्ल और उसकी इयत्ता के अधीन है। आमाशयमें प्रोटीनोंका पचन पूर्ण—एमाइनो एसिडोंके विघटन-पर्यन्त—नहीं होता। विघटन केवल पेप्टोनोंतक होता है। इनका विघटन होकर एमाइनो-एसिडोंकी उत्पत्ति आगे अग्निरसकी क्रियासे होती है। खाद्य द्रव्योंके कोषोंके प्रोटीनमय आवरणका पचन हो जानेसे उनके अन्तर्गत पिष्टसार तथा स्नेहोंका पाक करना उनके एन्ज़ाइमोंके लिए सुकर हो जाता है। इसीसे लवणाम्ल-क्षयमें पिष्टसारोंका पाक अपूर्ण रह जानेसे अन्त्रोंमें उनका कोथ होकर आध्मान, अतिसार आदि विकृतियाँ होती हैं।

१—Antiseptic—एण्टीसेप्टिक।
२—Diphtheria—डिफ्थीरिआ। ३—Putrefaction—प्युट्रीफेक्शन।
४—Sterile—स्टराइल। ५—Achlorhydria—एक्लोरहाइड्रिया।
६—B. Coli. (B.—Bacillus—बेसीलस—दण्डाकार जीवाणु; बहुवचन—Bacilli—बेसीलाई। ७—Streptococci. (एकवचन—Streptococcus—स्ट्रेप्टोकॉकस)
८—Cholecystitis—कॉलीसिस्टाइटिस। ९—Gall-stone—गॉल-स्टोन।

पेप्सीन तथा उसका पूर्वरूप पेप्सीनोजन एक प्रकारके प्रोटीन हैं। इन्हें स्फटिक रूपमें प्राप्त किया जा चुका है।

३—दूधका संधान—आमाशय-रसगत रेनीन-नामक[1] एन्ज़ाइम दूधको जमाकर दहीके रूपमें परिणत करता है। यह भी अम्ल द्रव (घोल) पर ही क्रिया करनेवाला होनेसे इसकी क्रियाका आधार भी लवणाम्ल तथा उसकी इयत्ता ही है। दूधके संधानकी इस क्रियामें उसकी प्रधान प्रोटीन केसीनोजन[2], जो विलेय होती है, रूपान्तरित होकर अविलेय (न घुलनेवाली) केसीन[3] नामक प्रोटीन बन जाती है। यह सुधा (केल्शीयम) के साथ मिलकर दही या केल्शीयम केसीनेट[4] बनाती है। इसका पचन अत्र अन्य प्रोटीनोंके समान लवणाम्ल और पेप्सीन द्वारा होता है।

दूध अकेला लें तो उसके जमनेसे चकत्ते बड़े-बड़े बनते हैं, जिनके भीतर प्रवेश कर तदन्तर्गत प्रोटीनको पचाना पित्तोंके लिए दुष्कर होता है। इसीसे कई लोगोंको अकेला दूध गुरु होता है। रोटी आदिके साथ दूध लेनेसे उनके कणोंसे दूध और दहीके कण विच्छिन्न और छोटे-छोटे होकर पित्तोंके लिए प्रवेश्य और पाच्य हो जाते हैं। एवं इस प्रकार सेवन किया गया दूध भारी नहीं पड़ता।

४—स्नेह-पचन—आमाशयमें स्नेहोंका पचन क्षुद्रान्त्रगत द्रव्योंके प्रतिसरण (प्रत्यागमन) तथा तद्गत अग्निरस द्वारा होता है, परन्तु आमाशय-रसमें अपना भी स्नेह-पाचक एन्ज़ाइम[5] अल्प होता है। पहले स्नेह-कोषोंके प्रोटीनमय आवरण लवणाम्ल और पेप्सीनसे विलीन होते हैं, पश्चात् घन स्नेह द्रवित होकर इस एन्ज़ाइम द्वारा अपने घटक स्नेहाम्लों और ग्लिसरोलके रूपमें विच्छिन्न हो जाते हैं।

५—इक्षुशर्कराका पचन—पिष्टसारोंपर आमाशय-रसकी क्रिया नहीं होती। इक्षुशर्करा द्राक्षा-शर्करा और फल-शर्करामें परिणत हो जाती है। इस रूपान्तरका कारण भी लवणाम्ल है। इसमें उद्भिदोंमें प्रकृत्या स्थित शर्करा-पाचक एन्ज़ाइमोंकी सहायता भी होती है।

६—संरक्षण—आमाशय अपने अङ्गभूत प्रोटीन आदिका स्वयंपाक[6] करके अपनेको नष्ट नहीं कर देता। इसका एक कारण कफ[7]का आवरण है। इसमें प्रभूत जीवाणुहर धर्म भी होता है। आमाशय-क्षतकी चिकित्सामें कफके शुष्क चूर्णका प्रयोग किया जाने लगा है। क्षोभक द्रव्योंके संसर्गसे कफका प्रसेक पुष्कल बढ़ जाता है।

७—रक्त-संजनन—इसका विचार आगे रञ्जक-पित्त शीर्षकमें किया है।

८—नाडी-पोषण—आमाशयके जीर्ण पाक (सूजन) तथा क्षीणता[8]के कारण होनेवाले घातक पाण्डु[9]में कभी-कभी सुषुम्णा-काण्डके पश्चिम तथा पार्श्ववर्ती स्तम्भों[10]का नाश[11] हो जाता है। इससे अनुमान होता है कि आमाशयकी कला नाडी-पोषक द्रव्य-विशेषको भी उत्पन्न करती है।

१—Rennin.
२—Caseinogen.
३—Casein ; या Tyrein—टायरीन।
४—Calcium Caseinate.
५—Lipase—लायपेज़।
६—Autodigestion—ऑटोडायजेशन।
७—Mucus—म्यूकस।
८—Atrophy—एट्रोफी।
९—Pernicious anaemia—पर्नीशस एनीमिआ। इस प्रसंगमें इसी अध्यायमें आगे रक्त-संजननमें आमाशयका स्थान देखिये।
१०—Postero-lateral columns—पोस्टेरो-लेटरल कॉलम्स। इनका परिचय आगे नाडी-संस्थानके अधिकारमें देखिये।
११—Degeneration—डीजेनेरेशन।

रञ्जक पित्त—

पित्तके आयुर्वेदमें अनेक कर्म कहे हैं ; उनमें एक रसका रक्तमें परिणमन किंवा रक्तोत्पादन है। पित्तके जिस भेदका यह कर्म है उसे अन्वर्थक 'रञ्जक पित्त' नाम दिया गया है। इसके विषयमें कहा है—

तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ च० चि० १५।२८

स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। श्लोकौ चात्र भवतः—

रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्।
अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते ॥ सु० सू० १४।४-५

× × शरीरस्थेन यकृत्प्लीहस्थेनैव। प्रसन्नेन प्रकृतिस्थेन। तेजसा रञ्जकनाम्ना। आपोऽत्र रसः ॥ —डल्हन

यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा। स रसस्य रागकृदुक्तः ॥ सु० सू० २१।१०

आमाशयस्थं तु (पित्तं) रसस्य रञ्जनाद् रञ्जकम् ॥ अ० सं० सू० २०

आमाशयाश्रयं पित्तं रञ्जकं रसरञ्जनात् ॥ अ० हृ० सू० १२।१३

रसस्तु हृदयं याति समानमरुतेरितः।
रञ्जितः पाचितस्तत्र पित्तेनायाति रक्तताम् ॥ शा० प्र० ६।९

रञ्जक पित्तका स्थान यकृत्-प्लीहा (चरक-सुश्रुत), आमाशय (दोनों वाग्भट) तथा हृदय (शार्ङ्गधर) हैं। इनमें जब रस पहुँचता है तो रञ्जक पित्तके सम्बन्धसे रक्तरूपमें परिणत होता है।

नव्य मतसे उक्त तीनों मत अत्यन्त शुद्ध हैं। आमाशय शब्दका अर्थ यहाँ प्रसिद्ध आमाशय और ग्रहणी दोनों लेना योग्य है। प्राचीनोंने भी इस शब्दका यह अर्थ कहीं-कहीं किया है[१]। रक्तकी नव्यमतानुसार उत्पत्तिका स्वरूप देखते हुए भी यह व्यापक अर्थ लेना चाहिये।

प्राचीनोंने रस धातुके जो महत् कर्म कहे हैं, उनकी आधुनिकोक्त रक्तधातुके कर्मोंके साथ तुलना करनेसे विदित होता है कि—

आधुनिक क्रियाशारीरमें जिस सर्वधातुपोषक द्रवको 'लिम्फ'[२] कहा है वही केवल आयुर्वेदका रसधातु नहीं है। किन्तु रक्तकणातिरिक्त रक्तका जो द्रवभाग है वह भी आयुर्वेदीय रसधातु है। इसे 'प्लाज्मा'[३] कहा जाता है[४]। प्लाज्मा और लिम्फके घटक द्रव्योंमें कोई अन्तर नहीं। अन्तर केवल उनके प्रमाणमें होता है, जो सकारण है। प्लाज्माके अतिरिक्त शेष रक्तकण[५] आयुर्वेदके रक्तधातु हैं, ऐसा विदित होता है। यह सत्य है कि, बहुधा आयुर्वेदमें रक्तधातु (रक्तकणों) का वर्णन उनके वाहक तथा अविनाभावी (सदा सहचरित) रसधातुके साथ संयुक्त रूपमें ही आता है।

१—यथा देखिये च० वि० २।१८ ; च० सू० २०।८।

२—Lymph. ३—Plasma.

४—इस विषयका विशेष विचार आगे रसधातुके प्रकरणमें देखिये।

५—Red blood corpuscles—रेड ब्लडकॉर्पसल्स ; संक्षेप R. B. C.—आर. बी. सी. ; पर्याय —Erythrocytes—एरीथ्रोसाइट्स।

इस रक्तधातु या रक्तकणोंकी उत्पत्तिके विषयमें गवेषणाद्वारा आधुनिक क्रियाशारीरविदोंका यह सिद्धान्त हुआ है कि—रक्तमज्जा रक्तकणोंका उत्पत्तिस्थान है। रक्तमज्जामें अपने मज्ज-कोषों[१] के अतिरिक्त आम (अपरिपक्व, बीजभूत) दशामें रक्तकण भी रहते हैं। इन्हें 'एरीथ्रोब्लास्ट'[२] कहते हैं। ये ही क्रमशः तत्-तत् रूप और नाम ग्रहण करते हुए अन्तमें रक्तकणोंमें परिणत हो जाते हैं। इनका यह परिणाम या परिपाक[३] होनेके लिए जहाँ रक्तजनक सामग्री (अयस आदि उपादान तथा उनसे बना रञ्जक द्रव्य—हीमोग्लोबीन[४]) आवश्यक है, वहाँ इनके क्रम-विकासका उद्दीपक एक द्रव्य विशेषतः अनिवार्य है। इस द्रव्यका आयुर्वेदके रञ्जकपित्तसे साम्य देखा जा सकता है[५]।

रक्तक्षय[६] के एक घातक प्रकार 'पर्णीशस एनीमिआ'[७] में पर्याप्त संख्यामें रक्तकणोंका यह क्रम-विकास अन्तिम दशातक नहीं पहुँचता, यद्यपि रक्तकणोंमें रञ्जक-द्रव्य हीमोग्लोबीनका प्रमाण सम (प्राकृत) होता है। इस रोगमें रक्तजनक द्रव्यकी क्षीणता होती है। यह द्रव्य आमाशयके क्षुद्राद्वारके समीपवर्ती प्रदेशकी ग्रन्थियों[८] में तथा आगे ग्रहणीमें इन्ही ग्रन्थियोंसे संतत (चालू रही हुई) इसी प्रकारकी ग्रन्थियोंमें उत्पन्न होता है। ग्रहणीमें स्थित इन ग्रन्थियोंको 'ब्रूनर्स ग्लैण्ड्स'[९] नाम दिया गया है। ये ग्रन्थियाँ जिस द्रव्यका निर्माण करती हैं, वह अकेला रक्तोत्पादनमें समर्थ नहीं होता ; किन्तु गोमांस, यीस्ट आदि द्रव्योंमें विद्यमान कोई द्रव्य जिसका स्वरूप अबतक विशेष जाना नहीं जा सका है, उसके साथ मिलकर ही यह द्रव्य एक नया द्रव्य बनाता है। यह नूतन द्रव्य अन्त्रोंमें शोषित होकर रक्तानुधावन-क्रमसे रक्तमज्जामें जाता है तो वहाँ स्थित आम रक्तकणोंको अपने क्रमविकासके लिए प्रदीपना देता है।

भोज्यद्रव्यगत रक्तजनक द्रव्यको 'बाह्यद्रव्य'[१०] तथा आमाशय और ग्रहणीद्वारा उत्पादित एन्ज़ाइम-सदृश द्रव्यको 'आन्तर द्रव्य'[११] कहते हैं। दोनोंके संयोगसे निर्मित नूतन पदार्थके नाम ऊपर दिये हैं। बाह्य द्रव्यको अपने शोधकके नामपर 'कैसलका बाह्य द्रव्य'[१२] भी कहते हैं। रक्तजनक नूतन द्रव्य यकृत्में संचित होता है। वहाँसे आवश्यक प्रमाणमें रक्तमज्जाको वितीर्ण होता रहता है। अन्नके अतिरिक्त आमाशय द्वारा भी यह किंचित् प्रमाणमें शोषित होता है। इसी कारण शूकरके

१—Marrow-cells—मैरो-सेल्स। २—Erythroblost.

३—Maturation—मेच्युरेशन। ४—Haemoglobin.

५—इस द्रव्यके अनेक नाम हैं—Haemopoetic principle—हेमोपॉयेटिक प्रिंसिपल ; Haematinic principle-हेमेटिनिक प्रिंसिपल ; Maturation principle-मेच्युरेशन प्रिंसिपल ; Antipernicious anaemia principle-एण्टी-पर्णिशस एनीमिआ प्रिंसिपल।

६—Anemia -एनीमिआ। रक्तक्षयका शुद्ध पर्याय एनीमिआ है। आयुर्वेदके पाण्डुरोग तथा उसके एक भेद कोष्ठशाखाश्रित कामलामें रक्तक्षयसे अधिक यह विशेषता होती है कि पित्तके आधिक्यसे उसमें त्वचाकी पाण्डुता आदि लक्षण होते हैं। पाण्डुरोग शब्दका व्यवहार 'एनीमिआ' के लिए करते हुए सावधानी रखनी चाहिए।

७—Pernicious anemia. इसका आयुर्वेदके किस रोगसे साम्य है, इसका विचार नहीं कर पाया हूँ।

८—Pyloric glands-पायलोरिक ग्लैण्ड्स। ९—Brunner's glands.

१०—Extrinsic factor-एक्स्ट्रिन्ज़िक फैक्टर।

११—Intrinsic factor-इंट्रिन्ज़िक फैक्टर।

१२—Castle's extrinsic Factor—कैसल्स एक्स्ट्रिन्ज़िक फैक्टर।

आमाशयके सत्व 'वेण्ट्रीक्युलीन'[1] का रक्तक्षय तथा पाण्डुरोगमें चिरकालसे सफल व्यवहार पाश्चात्य चिकित्सामें हो रहा है। यह सत्य है कि, ग्रहणीका ब्रूनरकी ग्रन्थियोंका अधिष्ठान-भूत भाग अधिक गुणकारी होता है।

आयुर्वेदमें यकृत्को रक्ताशय[2], रञ्जकपित्तका स्थान तथा रक्तवाही स्रोतोंका मूल (उद्गम स्थान[3]) कहा है। उसका अर्थ इस अन्वेषणसे विशद हो सकता है। इतना आयुर्वेदमें अधिक कहा है कि, यकृत्के समान प्लीहा भी रक्तका आशय आदि है। नवीन क्रियाशारीरमें प्लीहाको रञ्जकपित्तका स्थान तो नहीं, पर रक्तका उत्तम आशय माना है। देखा गया है कि प्लीहासे निकलनेवाले रक्तमें रक्तकणोंकी संख्या विशेष होती है। साथ ही, रक्त तथा उसकी उत्पत्तिका प्लीहासे सम्बन्ध बताते हुए नीचे लिखे सिद्धान्त स्वीकृत हुए हैं—

गर्भमें यकृत् और प्लीहा दोनों रक्तकणोंकी रचनामें भाग लेते हैं। पीछेसे यह कर्म केवल रक्तमज्जाके अधीन रह जाता है। कई प्राणियोंमें तरुणावस्थामें भी प्लीहा रक्त-निर्माण करती है। इनमें प्लीहा निकाल दी जाय तो रक्तमज्जाकी वृद्धि हो जाती है। प्लीहा क्षीणायु तथा रुग्ण रक्तकणोंके नाशका कार्य करती है। इस कारण इसमें इनके नाशसे उत्पन्न स्नेह-सदृश[4] द्रव्य कॉलेस्टेरोल तथा लिसिथिनके अतिरिक्त अयसका प्रमाण भी पुष्कल होता है। प्लीहामें श्वेतकणों, विशेषतः लिम्फोसाइटोंकी उत्पत्ति होती है। प्लीहाके निकाल देनेसे उसकी स्थानपूर्तिके हेतु रसग्रन्थियोंकी वृद्धि हो जाती है।

रक्तोत्पत्तिका उद्दीपक उक्त द्रव्य विदित होनेके पूर्व 'पर्णीशस (अर्थ-घातक) एनीमिआ', जैसा कि नामसे ही सूचित है, असाध्य माना जाता था। अब यकृत् तथा उसके अर्क[5] के सेवनसे यह साध्य हो गया है। ह्विपल[6] ने देखा है कि, कुत्तोंको रक्तमोक्षणके अनन्तर यदि यकृत्का सेवन कराया जाय तो, उसके न सेवनकी अपेक्षया, अधिक शीघ्र स्वास्थ्य-लाभ होता है। आयुर्वेदमें रक्तपित्तमें अति रक्तस्राव होनेपर मधुसहित रक्तके पान किंवा बकरीके अपक्व यकृत्के सेवनका विधान है। देखिये—

अतिनिःस्रुतरक्तो वा रक्तयुक्तं पिबेदसृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम् ॥

सु० उ० ४५।२८

अपक्व यकृत्के सेवनका भी अर्थ है। विदित हुआ है कि—७०° श. तापसे रक्तजनक द्रव्य (रञ्जक पित्त) नष्ट हो जाता है[7]। आधुनिकोंने रक्तक्षयके, रक्तकणोंकी विकृतिके भेदसे, अनेक भेद किये हैं तथा पता लगाया है कि, किसी भेदमें अयस् (लोह) की न्यूनता कारणभूत होती है, किसीमें रक्तजनक द्रव्यकी (अन्य शब्दोंमें उनके आश्रयभूत यकृत्की विकृति) तथा अन्य भेदोंमें अन्य द्रव्योंकी हीनता होती है। प्रत्येक भेदमें हीन द्रव्यका सेवन करानेसे गुण लाभ होता है। परन्तु, व्यवहारमें, इस प्रकारका सूक्ष्म निदान अशक्य-सा होनेसे, तथा प्रायः प्रत्येक रक्तक्षयमें प्रधान

१—Ventriculin. २—Blood-depot—ब्लड-डेपो।

३—देखिये—'प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम्—च० चि० ४। १०'; 'शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च—च० वि० ५। ८'; 'रक्तवहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ, रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः—सु० शा० ९। १२।'

४—Lipide—लिपाइड। ५—Extract—एक्स्ट्रैक्ट। ६—Whipple.

७—देखिये—Hand book of physiology, by Mcdowall. (1948), P. 416.

कारणके साथ अन्य कारणोंका भी अनुबन्ध (सहयोग) होनेसे, अयस, यकृत आदि सभी द्रव्योंका युगपत् (एक साथ) सेवन कराना ही योग्य माना जाता है। जैसे, जीवनीय बी के विभिन्न भेदोंके हीनयोगसे पृथक् रोग होते हैं। परन्तु, व्यवहारमें अमुक भेदके हीनयोगके लक्षणोंसे आक्रान्त रोगी उपस्थित होनेपर, केवल उसी जीवनीयके कल्प न देकर जीवनीय बी के सभी भेदोंका संयुक्त कल्प[1] दिया जाता है। कारण, व्यवहारसे सिद्ध है कि, सामान्यतया प्रायः सभी भेदोंका हीनयोग एक ही रोगीमें पाया जाता है, यद्यपि अधिक हीनयोग उस रोगीमें किसी भेद-विशेषका होता है।

रञ्जक द्रव्यकी उत्पत्ति और संचय योग्य प्रमाणमें हो इसके लिए आमाशय और यकृत्का स्वस्थ होना आवश्यक है[2]। आयुर्वेदमें रक्तक्षय तथा पाण्डुमें साक्षात् रक्तवर्धक लोह, मण्डूर आदिके साथ कटुकी आदि द्रव्य दिये जाते हैं, जो यकृत्का संशोधन करते हैं, कई द्रव्य तिक्त होनेसे आयुर्वेद मतसे पित्तका शमन (स्वरूपकी शुद्धि) तथा उभय मतसे पचनको उद्दीप्त करते हैं ; कई द्रव्य उष्ण होनेसे एक ओर कफका लेखनकर पाचक रसोंके स्रावकी वृद्धि तथा रञ्जक द्रव्यके शोषणकी सुविधा उत्पन्न करते हैं, साथ ही उष्णताके कारण स्थानीय रक्तकी वृद्धि करके इन रसोंके निर्माणमें उपयोगी द्रव्योंका आयात विशेष प्रमाणमें करते हैं। आरोग्यवर्धनीमें रहा ताम्र अयसके आत्मसात्करणमें भी उपयोगी है[3]। पाण्डुरोगकी चिकित्सामें प्रयुक्त पुनर्नवा आदि मूत्रल द्रव्य मूत्रके अङ्गभूत द्रव्योंका निर्माण विशेष कराके भी यकृत्का भार हलका करते हैं[4]।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें रञ्जक पित्तके स्थान प्राचीनमतानुसार देते हुए शार्ङ्गधरके अनुसार इसका स्थान हृदय कहा है। वहां यही आशय लेना चाहिये कि आमाशय तथा ग्रहणीमें प्रसूत और यकृत्में संचित रञ्जक पित्त हृदय द्वारा ही रक्तमज्जामें पहुँचाया जाता है, और वह स्वस्थ हो तो योग्य प्रकारसे यह कर्म करके रक्तोत्पादनमें समुचित भाग लेता है। बाकी स्वयं शार्ङ्गधरने आगे रञ्जक पित्तका स्थान यकृत्को ही बताया है—

हृश्यं यकृति यत्पित्तं तद्रसं शोणितंनयेत्॥ शा० पू० ख० ५।३१

संहिताओंमें धात्वग्निके प्रकरणमें जिस रक्त-धात्वग्निका निर्देश किया है, वह रञ्जक पित्त ही होना चाहिए। कारण, पित्त और अग्नि अभिन्न-से हैं।

यकृत् और रञ्जक पित्तके इस सम्बन्धको देखते हुए एवं आधुनिकों द्वारा यकृत्के प्रयोगसे रक्त क्षयमें होनेवाले गुणोंको लक्ष्यमें रखकर हमें भी अपनी यकृत्-चिकित्सा (सत्य कहो तो सम्पूर्ण जङ्गम-चिकित्सा) को पुनः अपनाना चाहिये। मध्यकालमें, बौद्ध और जैन धर्मके प्रभावसे, लुप्त हुई इस प्रथा को अपना कर जो चिकित्सक प्रत्यक्ष या गुप्त रूपसे यकृत्-रस आदिका सेवन पाण्डुरोग, दौर्बल्य आदिमें कराते हैं, वे अत्यन्त यशस्वी होते हैं[5]।

१—Vitamin B complex—वायटेमिन बी कॉम्प्लेक्स।

२—देखिये—Hand book cf physiology by Mcdowall (1948), P. 327.

३—देखिये पृ० २४१।

४—स्मरण रहे, मूत्र-निर्माण यकृत्में ही होता है। वृक्क केवल उसको छानने (क्षरण) का कर्म करते हैं।

५—बौद्ध और जैन संस्कृतिको न्याय देनेके लिए इतना कह देना चाहिए कि, भोजन और चिकित्सामें जङ्गम द्रव्योंके परित्यागसे होनेवाले अवगुणोंकी पूर्तिका प्रयत्न उन्होंने बलवान् रसौषधोंके आविष्कार द्वारा किया।

अम्ल अवस्थापाक—

रक्त जनक द्रव्यके अतिरिक्त आमाशय-रसके शेष भाग की क्रिया अन्नपान पर होकर अर्धपक्व अन्नरस बनता है। अंग्रेजीमें इसे 'काइम'[1] कहते हैं। अमाशय-रसमें दो द्रव्य-लवणाम्ल और पेप्सीन, तथा अंशतः रेनीन प्रमुख होते हैं। लवणाम्ल तो स्वयं अम्ल है, शेष दो रसोंका भी स्वभाव है कि वे अम्ल द्रवपर ही क्रिया करते हैं। रेनीन ६.० से ६.५ पी० एच[2] पर तथा पेप्सीन १.५ पी० एचपर अधिकतम क्रिया करता है। रेनीनका अपने पूर्ववर्ती जायमोजनसे रेनीनमें परिणत होना भी अम्लके कारण होता है। आमाशयमें अन्न पहुँचनेपर प्रथम लालाके कारण क्षारीय प्रतिक्रियावाला समस्त अन्नपान अम्ल बन जाता है। इस क्रियामें ३० से ४० मिनट लगते हैं। परिणामस्वरूप जो अन्नरस तय्यार होता है वह भी अम्ल होता है[3]। इन बातोंको दृष्टि में रखते हुए, प्राचीनोंने जो आमाशयमें होनेवाले पाकको 'अम्ल अवस्थापक' नाम दिया है वह शुद्ध और उनके दर्शनका द्योतक है।

भोजनके पचनकालमें भोजन-गत उदासीन[4] प्रोटीनके योगसे तथा आमाशय रिक्त होनेपर ग्रहणीके क्षारीय द्रवके प्रतिसरणवश लवणाम्ल मन्द (हलका) होता रहता है, जिससे आमाशयका पाक या उसमें क्षत होनेकी संभावना नहीं रहती। भोजनमें अम्ल द्रव्य अधिक लिए गये हों तब किंवा आयुर्वेदमें जिसे विदग्धाजीर्ण कहते हैं वह विकृत होकर अप्राकृत अम्ल ब्यूटिरिक एसिड[5] आदि उत्पन्न हों तो प्रतिसरण अधिक होता है, जिसके कारण पित्तका उद्रेक[6] होता है।

आमाशय-रस के उद्दीपक कारण—

आमाशय-रसके स्रावके उद्दीपक कारणोंके अनुसार तीन विभाग किये जा सकते हैं।—प्रथम मानसिक कारण जन्य स्राव[7]—भोजनके दर्शन, गन्ध, रस तथा उसके खानेका अनुभव, इन कारणोंसे प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा होनेवाला स्राव। मानसिक स्राव तथा उसके प्रमाण और गुणकी दृष्टिसे उत्तमताके लिए भोक्ताको भूख लगी होना तथा उसका तन्मय होना आवश्यक है। द्वितीय रासायनिक कारणोंसे होनेवाला स्राव। इनमें प्रथम कारण भोजनगत उद्दीपक द्रव्य हैं। आमाशय-रसका कर्म प्रोटीनको पचाना है। न जाने क्यों, पर भोजन में प्रोटीनका आधिक्य हो तो, आमाशय-रसमें

१—Chyme. २—pH—अम्लताकी इकाई।

३—देखिये—Pepsin and rennin only begin to act when the hydrochloric acid has neutralized the alkaline saliva and rendered the whole food mass acid. It takes from half an hour to forty minutes for this to occur ; the food is mixed with the gastric juice as a result of the paristaltic waves passing down the stomach the wall. As mixing proceeds the food becomes more fluid and is churned into acid, semisolid mass called chyme. The Miracles of the Human Body, (1948) P. 126.

The enzymes of the gastric juice work properly only in stromly acid media. The Fundamentals of physiology, By P E. Tokay (1047), P. III.

It (chyme) is generally a thick, milky acid fluid, possessing a disagreeable odour. Human physiology, By Smart. (1935), p. 136.

४—Amphoteric—एम्फोटेरिक। ५—Butyric acid.

६—Bilious attack—बिलियस एटेक।

७—Psychical secretion—सायकिकल सिक्रीशन ; या Appetite secretion—एपीटाइट सिक्रीशन।

लवणाम्ल और पेप्सीन दोनोंका स्रवण अधिक होता है। मांसका अर्क[1], स्वरस[2] या रस[3] आदि आमाशयमें पहुँचकर अपने स्वभावसे आमाशय-रसको उद्दीप्त करते हैं। रोटी, अण्डका श्वेत भाग आदि द्रव्योंसे यह क्रिया सर्वथा नहीं होती। दूध तथा जलसे किञ्चित् स्राव होता है। प्राणी सोये हों तब उक्त द्रव्य एक नाडीव्रण द्वारा उनके आमाशयमें छोड़कर उनके ये कर्म जाने गये हैं। प्राणियोंको रोटी आदि खिलाये जायँ तो उनके रस, गन्ध आदिके कारण प्रथम प्रकारका स्राव तो होता ही है। रासायनिक स्रावका अन्य (तृतीय) भेद अन्नरसगत उद्दीपक कारणसे होता है। अन्न पचने लगे तो उसमें एक द्रव्य उत्पन्न होता है। इसे 'गेस्ट्रीन'[4] या 'गेस्ट्रिक सिक्रिटीन'[5] कहते हैं। लालारस द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंके पाचनसे उत्पन्न डेक्स्ट्रीन, एवं क्षुद्रान्त्रोंमें पाकवश उत्पन्न हुआ एक द्रव्य भी आमाशय-रसके ऐसे ही उद्दीपक हैं।

मानसिक स्रावकी महत्ताका द्योतक यह उदाहरण प्रसिद्ध है। दो कुत्तोंको उनके ज्ञानके विना समभार प्रोटीन खिलायी गयी। पीछेसे एक को मांसका मिथ्या भोजन[6] कराया गया। मिथ्या भोजनका अर्थ यह है कि, भोजन आमाशयमें जाता तो है, पर ऊपरके भागमें बनायी गयी एक नाडी[7] की राह समूचा बाहर निकल आता है, जिससे उसका संस्पर्श आमाशयसे नहीं होता और स्थानीय रासायनिक उत्तेजनाका प्रसंग नहीं होता। १॥ घण्टे पीछे देखा गया कि जिसे मिथ्या भोजन कराया गया था उसके आमाशयमें प्रोटीनका पाक दूसरे कुत्तेकी अपेक्षया पाँच गुणा अधिक हुआ। लालारसके स्राव तथा आमाशयकी चेष्टाओंके समान आमाशय-रस पर भी चिन्ता आदि मनोभावोंका अनिष्ट प्रभाव होता है यह पहले कह आये हैं। पैवलॉवकी प्रयोगशालामें देखा गया था कि, बिल्लीके दर्शन मात्र से कुत्तेके आमाशय-रसका प्रमाण न्यून हो गया। एक वैमानिकको संमोहित करके उसके समक्ष विमान-यात्रा की कठिनाई रखी गयी तो उसके आमाशयका स्राव एकदम घट गया।

भोज्य द्रव्योंके प्रवेशवश आमाशयका विस्फार (यान्त्रिक पीडन) भी आमाशय-रसकी उत्पत्तिमें अंशतः कारण है। उद्दीपक द्रव्य कोई लवणाम्लको अधिक स्रुत करते हैं, कोई पेप्सीनको और कोई दोनों को। इन्सुलीन तथा परिचुल्लिका[8] ग्रन्थियोंके स्राव आमाशय-रसके उद्दीपक हैं। सर्जक्षार (सोडा बाई कार्ब) आदि क्षार प्रथम आमाशय-रसको उदासीन[9] करते हैं, पश्चात् उसकी वृद्धि। शुक्ताम्ल[10] आदि अम्ल लवणाम्लका स्राव नष्ट करते हैं। हिस्टैमीन[11] से स्रावमें अति वृद्धि होती है। शरीरमें अम्लत्वकी वृद्धि करनेवाले द्रव्य, यथा अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाई—ऑक्साइड) या एसिड सोडियम फॉस्फेट लवणाम्लके स्रावमें वृद्धि करते हैं। स्नेह आमाशय-रसके स्रावको मन्द करते हैं, यह तथा इसका चिकित्सामें उपयोग पहले कह आये हैं। अ-भोजनकालमें भी आमाशय-रसका यत्किञ्चित् स्राव होता है। उल्लिखित उद्दीपक कारण उसे बढ़ा देते हैं।

१—Extract—एक्स्ट्रैक्ट।
२—Juice—जूस।
३—Soup—सूप (शोरवा)।
४—Gastrin,
५—Gastric secretin.
६—Sham feeding—शैम फीडिंग।
७—Fistula—फिस्च्युला।
८—Parathyroid—पैराथायरॉयड।
९—Nutral—न्यूट्रल।
१०—Acetic acid—एसिटिक एसिड।

११—Histamine. Histidine—हिस्टिडीन नामक एमाइनो एसिडके धातु पाकसे बना एक द्रव्य। इसका अग्निविशेष (एक एन्ज़ाइम) द्वारा पाक होकर नाश न होनेसे 'एलार्जिक' (Allergic) रोग होते हैं, यह कहा जाता है। इन रोगोंका विचार आगे करेंगे।

आमाशयकी ग्रन्थियाँ—

आमाशय-रसके अङ्गभूत लवणाम्ल, पेप्सीन आदि द्रव्योंकी उत्पादिका ग्रन्थियाँ किंवा कोष भिन्न-भिन्न होती हैं। एवं, विभिन्न द्रव्योंके उत्पादक इन कोषोंकी संख्या भी आमाशयके विभिन्न स्थानोंमें न्यूनाधिक होती है।

आमाशयकी श्लेष्मकलाका पृष्ठ स्तम्भ-आस्तरण[1] का बना होता है। इसके कोषोंका प्रधान कर्म कफ उत्पन्न करना है। इस कलामें ऊपरसे नीचे तक यत्र-तत्र छोटी-छोटी नलिकाकृति स्राविणी ग्रन्थियाँ[2] होती हैं। नलिकाको बनानेवाले कोषोंके दो प्रकार हैं। प्रथम मुख्य या केन्द्रीय कोष[3]। ये नलिकायें ऊपरसे नीचे तक होते हैं और उसके बनानेमें मुख्य भाग लेते हैं। द्वितीय सीमावर्ती कोष[4]। ये कोष मुख्य कोषोंके मध्य-मध्यमें परस्पर अनियत अन्तरपर रहते हैं। इनका कर्म लवणाम्लका उत्पादन है। अतः इन्हें अम्ल-सू[5] कोष कहते हैं। शेष मुख्य कोषोंके भी दो प्रकार हैं—नलिकाके ऊपर या ग्रीवाभागमें स्थित कोष तथा नलिकाके नीचेके भागमें—गहराइमें स्थित कोष। ऊपरी कोष प्रधानतया कफोत्पत्ति करते हैं। गहराईमें रहे हुए कोष पेप्सीन उत्पन्न करते हैं। अतः पेप्सीन-जनक कोष[6] कहाते हैं।

आमाशयमें स्थान भेदसे अम्ल-सू तथा पेप्सीन-जनक कोषोंकी अवस्थितिमें भेद होता है। आमाशय के मध्यभाग अर्थात् गात्र-भाग[7]में अम्ल-सू कोष अधिक होते हैं। मुद्रा द्वारके समीपवर्ती भाग[8]में ये कोष नहीं होते। इस भागकी नलिका केवल मुख्य कोषोंसे बनी होती है। ये कोष भी, इस स्थानपर, पेप्सीनकी अपेक्षया कफका ही स्राव विशेष करते हैं। कइयोंके मतसे ये पेप्सीनका स्राव सर्वथा नहीं करते। ये कोष एक क्षारीय द्रव्य उत्पन्न करते हैं।

आशय यह है कि, सब मिलकर आमाशय-रस उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थियाँ चार प्रकार की हैं—कफोत्पादक, लवणाम्लोत्पादक, पेप्सीनोत्पादक तथा क्षारोत्पादक। पूर्ववर्णित रक्तजनक पित्तकी उत्पादक ग्रन्थियाँ इनसे भिन्न होती हैं। रेनीन भी गात्र-प्रदेशमें स्थित मुख्य कोषोंसे ही उत्पन्न होता है।

१—देखिये पृ० १७०। २—देखिये पृ० ३१४।

३—Chief cells चीफ सेल्स या; Central cells—सेण्ट्रल सेल्स।

४—pareital cells—पैरायटल सेल्स; या Border cells—बॉर्डर सेल्स। [paries—पैरीज़=दीवार]

५—Oxyntic cells—ऑक्सिण्टिक सेल्स। [Oxus=ऑक्सस=अम्ल। ऑक्सिजन शब्दमें भी यही प्रकृति (मूल शब्द) है। पहले समझा जाता था कि अम्ल मात्रकी उत्पत्ति में यह वायु कारणभूत है। अतः उसे यह नाम दिया गया। पीछे विदित हुआ कि यह धर्म 'हाइड्रोजन' का है। हिन्दीमें भी उक्त भ्रान्तिवश इसे अम्लजन नाम दिया गया; जिसका स्थान अब ओषजनने ले लिया है। अम्लजन नाम हायड्रोजन को दिया जाना चाहिए। अम्लसूमें सू (षू) धातुका अर्थ उत्पत्ति है। प्रसूता प्रसुत आदिमें यही धातु है।]

६—peptic cells—पेप्टिक सेल्स। ७—Fundus—फण्ड्स।

८—pyloric region—पायलोरिक रीजन; या Antrum pylori—एण्ट्रम पायलोराई।

लवणाम्लकी उत्पत्ति 'क्लोराइड'[1] नामक समासोंसे होती है। अम्लोत्पादक कोषोंको इन समासोंकी प्राप्ति रक्तसे होती है। इन क्लोराइडोंमें प्रमुख खानेका नमक है, जो सोडियमका क्लोराइड है। क्लोराइडोंका क्लोरीन वियुक्त होकर उदजनसे मिल लवणाम्ल बनाता है[2]। यह लवणाम्ल दो रूपोंमें रहता है। प्रथम जलमें विलीन रूपमें, जिसे स्वतन्त्र[3] लवणाम्ल कहते हैं। दूसरा प्रोटीनोंसे मिलित[4]। लवणाम्लकी पाचकता उसके स्वतन्त्र रूपकी इयत्ता (मात्रा) पर अवलम्बित है। रक्तमें जितना क्लोराइड होता है उसका दो-तीन गुणा आमाशय-ग्रन्थियों द्वारा क्षरित होता है। स्वस्थावस्थामें यह अन्त्रों द्वारा शोषित करके पुनः रक्तमें पहुँचा दिया जाता है। इससे रक्तमें क्लोराइडका प्रमाण सम रहता है[5]। प्रयोगके रूपमें यदि आमाशय-रसको आमाशयसे आगे न जाने देकर बाहर ले लिया जाय, एवं रक्तमें क्लोराइडके उल्लिखित साम्यमें बाधा पहुँचायी जाय तो, प्राणी क्षुधानाश[6], दौर्बल्य, मांसक्षय (भारमें न्यूनता), मूत्रक्षय तथा अत्यन्त अवसाद[7]से पीडित होकर कुछ ही दिवसोंमें मर जाता है। उसे क्लोराइडके रक्त-समानुपाती[8] द्रवकी सिरा-बस्ति दें तो स्वस्थ तथा जीवित रखा जा सकता है। इस परीक्षणसे शरीर एवं रक्तमें क्लोराइडोंकी क्रिया सुविशद है।

एक अहोरात्रमें स्रुत आमाशय-रसका कुल प्रमाण १००० से २६०० घन-सेण्टीमीटर होता है।

आमाशय-रसका स्राव प्रधानतया एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है। इसमें बहिर्गामी सूत्र—अर्थात् केन्द्रसे स्रावी कोषोंको स्रावोत्पत्तिके लिए प्रेरणा लानेवाले सूत्र—प्राणदा नाडी[9] में—उसके अङ्ग होकर रहते हैं। लवणाम्लके अतिस्राव[10] तथा उसके कारण आमाशय-क्षतकी उत्पत्ति या संभावनाके अन्य उपचार निष्फल होनेपर इस नाडीके कुछ सूत्र काट दिये जाते हैं[11]। इससे स्रावकी प्रेरणा मिलना ही बन्द हो जाता है।

अबतकके वर्णनसे स्पष्ट है कि, आमाशय में सब भोज्योंका पाक नहीं होता। जिनका होता है उनका भी पूर्णता तक नहीं पहुँचाया जाता[12]। पाकको पूर्ति प्रधानतया अग्निरस द्वारा अन्त्रोंमें जाकर होती है। पाकके इस क्रमको देखते हुए आमाशयमें पाकके वर्णनके अनन्तर स्वभातः ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रोंमें पाककी प्रक्रियाका विचार प्रसङ्ग-प्राप्त है।

१—Chloride—दो मूल द्रव्योंके उन समासोंको क्लोराइड कहते हैं; जिनमें एक 'क्लोरीन' (Chlorine) नामक प्रसिद्ध वायु होता है।

२—अतः इसका सूत्र है—H·Cl.

३—Free—फ्री।

४—Combined—कम्बाइण्ड।

५—क्लोरीन तथा क्लोराइडके कर्म जाननेके लिये देखिये पृ० २४२-४३।

६—Anorexia—एनोरेक्शिया।

७—Depression—डिप्रेशन।

८—Iso-tonic—आयसो-टॉनिक।

९—Vagus—वेगस ; या Pneumogastric—न्यूमोगेस्ट्रिक।

१०—Hyperacidity—हायपरएसिडिटी।

११—काटनेके लिए Resection—रिसेक्शन शब्द है।

१२—इसीलिए शस्त्रकर्म द्वारा आमाशय निकाल देने तथा अन्नवहका सम्बन्ध सीधे ग्रहणीसे कर देनेपर भी रोगियोंको कुछ क्षति हुई पायी नहीं गयी। हाँ, पीछेसे देखा गया कि, कई प्राणियोंमें कुछ मास पीछे भारमें कमी तथा रक्तक्षयसे मृत्यु हो गयी। इसका कारण कदाचित् आमाशयसे प्राप्त होनेवाले रक्तोत्पादक द्रव्यकी उपलब्धि बन्द हो जाना था।

अग्न्याशय और यकृत्—

अन्नपानका परिपाक तथा शोषण मुख्यतया क्षुद्रान्त्रमें, उसमें विशेष तीव्रतासे डुओडीनम या ग्रहणीमें होता है। अग्न्याशयका अग्निरस[१], यकृत्का स्राव याकृत पित्त[२] तथा अन्त्रोंसे स्रुत अन्त्र-रस[३]—इन तीन स्रावोंके परस्पर सहकारसे क्षुद्रान्त्रोंमें पाक होता है। इन तीनोंमें भी अग्निरस प्रधान है। शेष दो स्राव उसके सहायक हैं। इन स्रावोंके उत्पादक अवयवोंका अल्प परिचय पाककी क्रियाको समझनेमें उपयोगी है।

क्षुद्रान्त्रोंके बारह अङ्गुल आदिम भागको डुओडिनम कहते हैं। यह घोड़ेकी नाल किंवा अंग्रेजी अक्षर C के समान मुड़ा होता है। क्षुद्रान्त्रके शेष भागकी अपेक्षा इसकी चौड़ाई अधिक होती है। इसका आरम्भ आमाशयके मुद्रिकाद्वारसे होता है।

अग्न्याशय[४] एक उभयतः स्रावी अर्थात् बहिः और अन्तः दोनों प्रकारके स्राव उत्पन्न करनेवाली ग्रन्थि है। इसका बहिःस्राव अग्निरस है, जो आमाशयसे आये अर्धपक्व अन्नपानके पाकमें भाग लेता है। अन्तःस्राव 'इन्सुलीन[५]' कहाता है। यह कार्बोहाइड्रेटोंके साक्षात् धातुपाकका तथा उनके पाक द्वारा स्नेहोंके पाकका प्रवर्तक है। यह क्षीण हो तो, महास्रोतमें कार्बोहाइड्रेटोंके पाकसे उत्पन्न शर्कराओंका उपयोग धातु नहीं कर पाते। परिणामतया इनकी परिणामभूत द्राक्षाशर्करा शरीरके लिए विष-रूप होनेसे मूत्रमार्गसे बाहर निकाल दी जाती है। इस विकृतिके इक्षुमेह आदि नाम हैं। आयुर्वेद-मतसे इन्सुलीन धात्वग्नि—विशेष है।

अग्न्याशय पाँच इञ्च लम्बा, दो इञ्च चौड़ा, दो-तीन औंस भारी, देखनेमें गुँदे हुए आटे-जैसा तथा दस्तेके आकारका होता है। इसका स्थूल भाग शीर्ष[६] कहाता है और ग्रहणीके अङ्क (गोद, मोड़) में रहता है। (देखिये—चित्र १८) दूसरा सिरा पुच्छ[७] कहलाता है। यह आमाशयके पीछे प्लीहा और बाम पर्शुकाओं तक गया होता है और योजक धातु द्वारा उनसे जुड़ा होता है। अग्न्याशय छोटे-छोटे खण्डों[८]से बना होता है। ये खण्ड स्रावीकोषोंसे बनी एवं योजक धातु द्वारा परस्पर सम्बद्ध असंख्यों नलिकाकृति ग्रन्थियोंसे बने होते हैं। इनका स्राव अन्तको एक प्रधान स्रोतमें आता है। यह स्रोत अग्न्याशयके अन्दर पुच्छसे शीर्ष पर्यन्त होता है। इसे अग्निप्रसेक[९] कहते हैं। यह ग्रहणीमें मुद्रिकाद्वारसे चार इञ्च नीचे 'एम्पुला ऑफ वेटर'[१०] नामक उभारपर खुलता है। पित्तप्रसेक[११]—नामक यकृत् और पित्तकोषसे याकृत पित्तको लानेवाला स्रोत भी इसी उभारपर खुलता है।

१—Pancreatic juice—पैनक्रियाटिक जूस। २—Bile—बाइल।

३—Succus interious—सक्कस इण्टेरिकस।

४—Pancreas—पैनक्रियास ; लौकिक नाम—Sweet bread—स्वीट ब्रेड।

५—देखिये—पृ० १९६ ; तथा 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान'—पृ० २७५-७७।

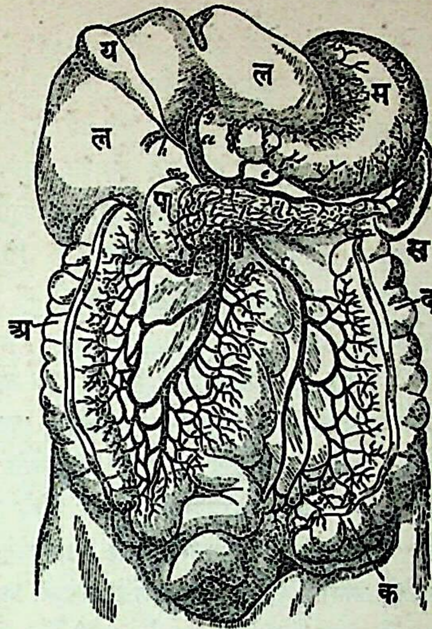
६—Head—हेड। ७—Tail—टेल।

८—Lobules—लॉब्यूल्स।

९—Pancreatic duct—पैनक्रियेटिक डक्ट ; या Duct of wirsung—डक्ट ऑफ वीरसंग

१०—Ampulla of Vater.

११—Common bile-duct—कॉमन बाइल डक्ट।



आमाशय तथा अन्य पाचक चित्र—१८

अवयव। म—आमाशय। आमाशयके नीचे तथा स के ऊपर बीज-सदृश प्लीहा। प—ग्रहणी या डुओडीनम। आमाशयके मुद्रिका द्वार और ग्रहणीके मध्यका कुछ भाग, यकृत्की सिराएँ दिखानेके लिए काट दिया गया है; आमाशय और ग्रहणीके कटे सिरे बँधे हैं। ग्रहणी और प्लीहाके मध्यमें F—p—d—:—अग्न्याशय। ल—ल—यकृत्। य—पित्तकोष। अ—आरोही स्थूलान्त्र। द से क तक—अवरोही स्थूलान्त्र। ग्रहणी आदिको दिखानेके लिए स्थूलान्त्रका अनुप्रस्थ भाग काटकर निकाल दिया गया है। पित्तप्रसेक। A—प्रतिहारिणी सिरा। यह सिरा आमाशय, क्षुद्रान्त्र, पक्वाशय (स्थूलान्त्र), प्लीहा, अग्न्याशय तथा अन्त्रधरा कला आदिके रक्तको, जिसमें अन्नरसका स्नेहातिरिक्त भाग भी मिश्रित होता है, यकृत्में पहुँचाती है। इन अवयवोंसे निकलनेवाली सिराओंके संयोगसे हुई प्रतिहारिणी सिराकी रचना चित्रमें देखी जा सकती है। स्थूलान्त्रोंके मध्यमें उत्तरान्त्रिकी[1] तथा अधरान्त्रिकी[2] सिरा। दोनोंके मध्यमें क्षुद्रान्त्रका द्वितीय तथा तृतीय भाग; इसके ऊपरका कुछ भाग सिराएँ दिखानेके लिए काट दिया गया है; ऊपरका सिरा बँधा हुआ है। यकृत् आदिमें किसी कारण अवरोध हो तो गुदगत सिराएँ रक्तके संचयके कारण फूल जाती हैं। इन्हीको तब 'अर्श' कहते हैं। एवं, उदरगत उक्त सिराओंमें रक्त-संचय हो जाय तो उनसे रस परिस्रुत होकर वपावहन[3] में संचित हो जाता है। यही जलोदर है। क—उत्तरगुदका आदिम भाग।

अग्निरस-स्रावी नलिकाओंके जोड़नेवाले योजक धातुके मध्य कहीं-कहीं एक अन्य प्रकारके कोषोंके पुञ्ज होते हैं। इन पुञ्जोंको लैङ्गरहैन्सके द्वीप[4] कहते हैं। ये कोष इन्सुलीनको उत्पन्न करते हैं।

१—Superior mesenteric vein—सुपीरिअर मेसेण्टरिक वेन।
२—Inferior mesenteric vein—इन्फीरिअर मेसेण्टरिक वेन।
३—Peritoneum—पेरीटोनियम। ४—Islands of Langerhans—आयलैंड्स ऑफ लैङ्गरहैन्स; या Bodies of Langerhans—बॉडीज़ ऑफ लैङ्गरहैन्स।

याकृत पित्तकी उत्पत्ति यकृत्में होती है। यह भूरा किंवा हरापन लिये भूरा द्रव है। शरीरके सर्व भागोंसे रक्त द्वारा लाये गये मलोंको विच्छिन्न कर उनसे यकृतके कोष अविरत इस द्रवको बनाते रहते हैं। इसीसे आयुर्वेदमें पित्तको जो रक्तका मल कहा है वह नव्य मतसे भी यथार्थ है। अणुवीक्षणके नीचे यकृत्का नमूना लेकर देखें तो विदित होगा कि, वह छोटी-छोटी (१/२० इंचकी) खण्डिकाओं[१] से बना होता है। खण्डिकाएँ याकृत कोपोंसे बनी होती हैं। ये कोष पित्तकी उत्पत्ति तथा यकृत्को सौंपे गये अन्य कर्म करते हैं, जिनका निर्देश आगे मलोंके प्रकरणमें करेंगे। प्रत्येक खण्डिकाके मध्यमें एक रक्तवाहिनी होती है। याकृत कोष इसके चारों ओर अरोंकी भाँति व्यवस्थित होते हैं।

यकृत्को रक्त दो मार्गोसे आता है—प्रतिहारिणी सिरा[२] द्वारा तथा याकृती धमनी[३] द्वारा। प्रतिहारिणी सिरा आमाशय, क्षुद्रान्त्र, पक्काशय (स्थूलान्त्र), प्लीहा, अन्त्रधरा कला आदि उदरके सर्वावयवोंसे नील रक्त लाती है। इसमें कार्बोहाइड्रेटों और प्रोटीनोंके परिपाक वश उत्पन्न सूक्ष्म द्रव्य भी होते हैं। केवल स्नेह पयस्विनियों (रसायनियों) द्वारा सीधे हृदयमें जाते हैं। याकृती धमनी शुद्ध रक्त यकृत्में लाती है। यकृत्में पहुँचकर प्रतिहारिणी सिरा शतशः शाखाओंमें विभक्त हो ऊपर कही खण्डिकाओंके अन्तरालोंमें जाती हैं। इन शाखाओंसे निकली प्रशाखा-रूप सूक्ष्म केशिकाएँ खण्डिकाओंके केन्द्रमें जा, मध्यवर्ती रक्तवाहिनीसे संयुक्त हो जाती हैं। इन केशिकाओंके परस्पर मिलनेसे अन्त्रको बड़ी सिराएँ बनती हैं। इन सिराओंको याकृती सिरा[४] कहते हैं। बड़ी याकृती सिरा सामान्यतः तीन होती हैं। ये अपना रक्त अधरा महासिरा[५] में छोड़ती हैं।

याकृत कोपोंके अन्तरालोंमें और एक प्रकारके सूक्ष्म स्रोत (वाहिनियाँ) रहते हैं। कोष रक्तके मलिनांशसे जो पित्त बनाते हैं, ये स्रोत उसका वहन करते हैं। अतः इन्हें पित्त-स्रोत[६] कहते हैं। ये स्रोत प्रतिहारिणी सिराकी शाखाओंके साथ-साथ रहते हैं। ये स्रोत क्रमशः मिलकर अन्तको एक वाम और एक दक्षिण इस प्रकार दो बड़े स्रोत बनते हैं। यकृत्से निकलते ही ये दोनों स्रोत मिलकर एक श्रोत बनाते हैं। यह श्रोत याकृत पित्तनलिका[७] कहाता है। उद्गमसे कोई १॥ इञ्च नीचे इस नलिकासे पित्तकोष[८] से आनेवाली पित्तकोपनलिका[९] आकर मिलती है। दोनोंके संयोगसे एक हुए स्रोतको पित्त-प्रसेक[१०] नाम दिया गया है। यह स्रोत, जैसा कि ऊपर कहा है, ग्रहणीमें उसी उभारपर खुलता है, जिस पर अग्नि-प्रसेक।

पित्त-कोप एक छोटी सी, कोई १॥ इञ्च लम्बी अधोमुख थैली है, जो यकृत्के अधर पृष्ठमें स्थित एक गर्तमें रहती है। जिस समय ग्रहणीमें अन्नपानका पचन हो रहा होता है उस समय याकृत पित्त यकृत्से उल्लिखित मार्ग द्वारा ग्रहणीमें आता है। शेष कालमें वह ग्रहणीमें न जाकर पित्तकोषमें

१—Lobules—लॉब्यूल्स। २—Portal vein—पोर्टल वेन।

उदरके नील तथा अंत्ररस-मिश्रित रक्तको सीधा हृदयमें न जाने देकर उसके और हृदयके मध्य द्वारपाल का-सा काम यह सिरा करती है, अतः अंग्रेजी और उसकी अनुकृतिमें संस्कृतमें तत्-तत् नाम इस सिराको दिये गये हैं।

३—Hepatic artery—हिपैटिक आर्टरी। ४—Hepatic vein—हिपैटिक वेन।

५—Inferior vena cava—इन्फीरिअर वीना कावा।

६—Bile Capillaries—बाइल-केपीलरीज़। ७—Hepatic duct—हिपैटिक डक्ट।

८—Gall bladder—गॉल-ब्लैडर। ९—Cystic duct—सिस्टिक डक्ट।

१०—Common bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।

जा संचित होता रहता है। इसकी नलिका १॥—१॥। इञ्च लम्बी होती है। अन्नपान आमाशयसे ग्रहणीमें च्युत होनेपर पित्तकोषका आकुञ्चन होकर पित्तकोप नलिका-द्वारा संचित पित्त ग्रहणीमें पहुँचता है। संचयवश द्रवांशका कुछ शोपण होनेसे पित्तकोषका पित्त कुछ घन होता है। कभी-कभी यह अधिक घन होकर अश्मरी बन जाता है। यह यदि पित्त-प्रसेकमें अटक जाय तो उसके निकालने के लिए तत्-तत् अवयवका तीव्र स्तम्भ होता है, जिससे दारुण शूल होता है[1]। पित्त आगे न जाकर पीछे लौटता है और सर्वाङ्गमें रक्त द्वारा पहुँचकर नेत्र, त्वचा, मूत्र आदि को हरिद्रावर्ण कर देता है। पित्तके अयोगवश स्नेह अपक्व रहकर मलको श्वेत कर देते हैं। इस प्रकार कामलाके-से लक्षण उत्पन्न होते हैं[2]। जिन्हें पित्ताश्मरी हो, उनमें कभी-कभी पित्तकोप निकाल दिया जाता है। इस प्रकार यह कोई अनिवार्य अङ्ग नहीं है। कई प्राणियोंमें यह नहीं भी होता।

जलके अतिरिक्त याकृत पित्तमें निम्न द्रव्य होते हैं—पित्त-लवण,[3] पित्त-रञ्जक,[4] तथा कालेस्टेरोल और लिसिथिन ये दो स्नेह-सम द्रव्य।

अग्न्याशय आदिके स्राव तथा उनके कर्म—

आमाशयमें हुए द्वितीय (अम्ल) अवस्थापाकके अनन्तर और पक्काशयमें होनेवाले तृतीय (कटु) अवस्थापाकके पूर्व पचनके प्राकृत स्वरूपका वर्णन करते हुए, ऊपर अवस्थापाकोंके प्रसंगमें धृत तथा नीचे पुनरुद्धृत पद्यमें चरकने कहा है—

परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते॥ च० चि० १५।१०

परमिति आद्यमधुरपाकानन्तरम्। विदग्धस्येति पक्वापक्वस्य। अम्लभावत इति जाताम्लस्वरूपतः। आशयादामाशयात्। च्यवमानस्य अधोभागं वायुना नीयमानस्य। अनेन च पित्तस्थानसम्बन्धं विदग्धाहारस्य दर्शयति। अच्छमित्यघनम्। उदीर्यते इति पित्तमुत्पद्यते। अम्लं च पित्तमम्लभावादाहारस्य उत्पद्यत इति युक्तमेव॥ —चक्रपाणि

अर्थात्—अर्धपक्व अन्न आमाशयसे च्युत होता है तो उसके आमाशयमें हुए अम्लत्वके कारण स्वच्छ (पारदर्शक) पित्तका प्रस्रवण होता है। इन पंक्तियोंमें क्षुद्रान्त्रोंमें होनेवाले परिपाकका संक्षिप्त परन्तु अतिशुद्ध दर्शन (अवलोकन)[5] हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा है, क्षुद्रान्त्रोंके पाकमें भाग लेनेवाले पाचक रसों (पित्तों) में अग्न्याशयका अग्निरस प्रधान है। शेष रस इसीके प्रवर्तक अथवा सहकारी होते हैं। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार अग्निरस पारदर्शक, वर्णहीन तथा जल-सदृश होता है[6]। आमाशयसे जो अम्लरस अर्धपक्व अन्नपान ग्रहणीमें अल्पाल्पशः आता है; उसकी अम्लतासे

१—अंग्रेजी में अश्मरी को Gale-stone—गॉल-स्टोन तथा शूल को Biliary colic—बिलिअरी कॉलिक कहते हैं।
२—देखिये पृ० २१९।
३—Bile—salts—बाइल सॉल्ट्स
४—Bile pigments—बाइल-पिगमेण्ट्स।
५—Observation—ऑब्ज़र्वेशन।
६—देखिये—It (the pancreatic secretion) is described as water-clear and as having a specific gravity of 1.0075.
Text Book of Physiology, By Howell (1946). P. 1061. तथा—The pancreatic juice is a colourless and transparent fluid, etc. Human physiology, By Smart (1935), P. 142.

इसकी प्रवृत्ति (स्रवण) होती है। आमाशयसे च्युत अन्नपानकी अम्लतासे ही क्यों, कोई भी अम्ल ग्रहणीकी कलाके संसर्गमें लाया जाय, तो उसकी अम्लतासे अग्निरसका उदीरण होता है। चरकके पद्यमें अग्निरसका ही निर्देश हुआ प्रतीत होता है। अब इस प्रक्रियाको जरा विस्तारसे देख लें।

ग्रहणीके पाचक रसोंमें अग्निरसका प्राधान्य होनेसे, इस स्थानमें होनेवाली पाचनकी प्रक्रिया अयेति समझनेके पूर्व, अग्निरसके अङ्गभूत विभिन्न पाचक पित्तों (एन्ज़ाइमों) का नाम और क्रिया समझ लेना योग्य प्रतीत होता है।

अग्निरसका ९७.६ प्रतिशत जल होता है ; १.८ प्रतिशत सेन्द्रिय द्रव्य और ०.६ प्रतिशत निरिन्द्रिय द्रव्य। सेन्द्रिय द्रव्यों में छः प्रकारके एन्ज़ाइम मुख्य हैं। इनमें तीन प्रोटीनोंका विघटन (पचन) करते हैं, जिनमें प्रधान ट्रिप्सीन[1] है। चौथा लायपेज़[2] तथा पाँचवाँ एमायलेज़[3] क्रमशः स्नेहों और पिष्टसारोंका पचन करते हैं। एक छठा एन्ज़ाइम दूधको जमाता है। एक अहोरात्रमें मानवमें ५०० से ८०० घन सेण्टीमीटर अग्निरस क्षरित होता है।

ट्रिप्सीन का कर्म पेप्सीनके समान है। पर इसमें उससे कुछ विशेषताएँ हैं। पेप्सीन, कहा जा चुका है कि, अम्ल माध्यममें क्रिया करता है, जबकि ट्रिप्सीन क्षारीय, उदासीन अथवा अति मन्द अम्ल माध्यममें ही काम करता है। इसके लिए ८.१ पी एच अनुकूलतम है। इसके सिवाय, इसकी क्रिया पेप्सीनसे अधिक शीघ्र, अधिक बलवती और जिन प्रोटीनोंको पेप्सीन नहीं पचा सकता उनपर भी होती है। यद्यपि यह प्रोटीनोंका विघटन प्रारम्भसे पेप्टाइड-पर्यन्त कर सकता है, तथापि प्सीनकी क्रियासे उनका विघटन प्रोटीओज़ और पेप्टोन पर्यन्त हो चुका हो तो उनका विघटन बहुत शीघ्र होता है।

ट्रिप्सीन अपने अत्यल्पबल पूर्वरूप ट्रिप्सिनोजनके रूपमें अग्न्याशयसे ग्रहणीमें आता है। यह द्रव्य अन्त्ररसके एक स्राव एण्टरोकाइनेज़के संसर्गसे प्रभावी ट्रिप्सीनमें परिणत होता है। ट्रिप्सीन आमाशय-रसद्वारा अपूर्ण पक्व (प्रोटीओज़ तथा पेप्टोनकी स्थितितक अ-विघटित) प्रोटीनोंको भी पचा देता है। अग्निरसके दो अन्य प्रोटीन-पाचक एन्ज़ाइमोंके नाम कायमोट्रिप्सीन[4] तथा कार्बोक्सि-पेप्टाइडेज़[5] हैं। तीनों को स्फटिक रूपमें प्राप्त किया जा चुका है।

क्षत्र-कणों (रक्तके श्वेत-कणों) में भी ट्रिप्सीन-सदृश एक एन्ज़ाइम होता है जो जीवाणुओंको पचाता है।

अन्त्ररसका एक एन्ज़ाइम इरेप्सिन पेप्टाइडोंको एमाइनोएसिडोंमें विच्छिन्न कर देता है। इसी रूपमें किंवा क्वचित् पेप्टाइडोंके रूपमें, प्रोटीन रसाङ्कुरिकाओंद्वारा शोषित हो, यकृत्में और वहाँसे हृदयमें जा अनुधावनक्रमसे धातुओंमें पहुँचती है। धातु इन एमाइनो-एसिडोंमेंसे अपने देहके घटक प्रोटीनोंके निर्माणमें उपयुक्त तत्-तत् एमाइनो-एसिड लेकर तत्-तत् प्रोटीन बनाते हैं। अबतक सताईस-अठाईस एमाइनो-एसिड विदित हुए हैं।

१—Trypsin—इसका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ पसीना (To grind) है। इस प्रकार यह नाम पाश्चात्योंकी पचन-विषयक पूर्व-कल्पनाका द्योतक है।

२—Lypase—अर्थ स्नेह-विघटक (Fat-splitting—फैट-स्प्लिटिंग ; Lipolytic—लायपोलाइटिक ; या Lipoclastic—लायपोक्लास्टिक) एन्जाइम।

३—Amylase—अर्थ पिष्टसार-विघटक (Amylolytic—एमाइलोलाइटिक ; Amyloclastic एमाइलोक्लास्टिक) एन्जाइम।

४—Chymotrypisn. ५—Carboxypeptidase.

लायपेज़ का स्नेह-विश्लेषक कर्म याकृत् पित्तके सहकारसे होता है। स्नेहोंके विघटनमें दो क्रियाएँ होती हैं—धौतीकरण[1] और साबुनीकरण[2]।[3] धौत एक प्राकृत या कृत्रिम कल्पना है। स्नेह, गोंद आदि द्रव्य, जिनके स्फटिक नहीं बन सकते, जब किसी द्रवमें विच्छिन्न (एक-दूसरेसे पृथक्-विविक्त) कणिकाओंके रूपमें अवलम्बित[4] रहते हैं, तो उनकी इस स्थितिको धौत[5] कहते हैं। आयुर्वेदमें धौत घृत या तैल चिरकाल प्रबल घर्षणके प्रभावसे जलकणोंद्वारा एक-दूसरेसे पृथक्कृत कणिकाओंके रूपमें परिणत हुए होते हैं। प्रवाहिकामें बबूलके गोंद[6] या अन्य किसी गोंद (यथा कतीरेका गोंद)[7] तथा जलकी सहायतासे तय्यार किया एरण्ड तैलका धौत[8] बहुधा दिया जाता है। दुग्ध एक प्राकृत धौत है। इसके स्नेह-कण स्वाभाविक अवस्थामें अवलम्बित रहते हैं। दुग्धको कुछ काल स्थिर रहने दें, किंवा मथें तो इसके स्नेह-कण दूधसे वियुक्त एवं परस्पर संयुक्त होकर ऊपर तैर आते हैं। आयुर्वेदमें इसे 'क्षीरोत्थ नवनीत'[9] कहते हैं। दही या तक्रको मथनेसे भी इसी प्रकार उसका स्नेहांश ऊपर तिर आता है। इसे 'नवनीत'[10] कहते हैं। मलाई या संतानिका भी इसी प्रकार पृथक हुआ स्नेह है, जिसमें दूध के अन्य भी घटक रहते हैं।

ग्रहणीमें स्नेहोंके पचनमें यह क्रम होता है। प्रथम लायपेज़ स्नेहके एकांशको ग्लिसरीन (ग्लिसरोल) और स्नेहाम्लों (मेदोऽम्लों) के रूपमें विघटित करता है। स्नेहाम्ल अन्नगत क्षारके साथ मिल साबुन बनाते हैं। ये साबुन शेष संपूर्ण स्नेहांश का धौतीकरण करते हैं। इस क्रियासे स्नेहोंके कण अति सूक्ष्म हो जाते हैं। इन कणिकाओंपर चारों ओरसे तथा प्रविष्ट होकर अन्दरके भागमें क्रिया करना लायपेज़के लिए सुगम हो जाता है। याकृत पित्त प्रारम्भमें बने साबुनको पुनः विघटित कर देता है। इस प्रकार लायपेज़की क्रियासे स्नेह समस्त ग्लिसरीन और स्नेहाम्लोंके रूपमें विच्छिन्न हो जाता है। इन दो घटकोंके रूपमें स्नेह रसाङ्कुरिकाओंकी पयस्विनियोंद्वारा गृहीत होते हैं। इन स्रोतोंमें पहुँचते ही ये पुनः संघटित हो स्नेह बन जाते हैं।

याकृत पित्त इस प्रकार स्नेहोंके पचनमें साक्षात् भाग लेता है। इसके सिवाय याकृतपित्तके लवण[11] लायपेज़की क्रियाको उद्दीप्त भी करते हैं। याकृतपित्तके अम्लोंकी उपस्थितिमें स्नेहाम्लोंका अभिशोषण भी प्रकृष्ट होता है। शाखाश्रित या रुद्धपथ[12] कामलामें पित्तका अवरोध हो जानेसे स्नेहोंका पाक तथा शोषण पूर्ण अथवा सर्वथा न होनेसे पक्वापक्व स्नेहोंके कारण मल श्वेत या धूसर होता है[13]। इस प्रकार मुख्यतया स्नेहोंके पचनका निमित्तभूत याकृतपित्त, प्रोटीनों तथा पिष्टसारोंके पाकमें भी अग्निरसकी सहायता करता है। जैसा कि आगे देखेंगे, यह (याकृत पित्त) अग्निरसके क्षरणका भी प्रवर्तक है। इसकी अपनी पाचकता सर्वथा नहीं या न-जैसी है।

अग्निरसका एमायलेज़ मुख तथा आमाशयमें टायेलीनद्वारा पक्व न हुए पिष्टसारका विघटन

१—Emulsification—इमलसिफिकेशन। २—Saponification—सैपोनिफिकेशन।
३—यह विषय पृ० २२२-२३ पर भी देखिये। ४—In suspension—इन सस्पेन्शन।
५—Emulsion—इमल्शन। ६—Gum acacia—गम एकेशिया।
७—Gum Tragacanth—गम ट्रेगेकैन्थ (गुजरातीमें-कडायानो गूंदर)
८—Castor oil emulsion—कैस्टर ऑयल इमल्शन।
९—देखिये—सु० सू० ४५।९३। अंग्रेजीमें इसे Cream—क्रीम कहते हैं।
१०—देखिये—सु० सू० ४५।९२। ११—Bile salts—बाइल सॉल्ट्स।
१२—Obstructive jaundice—आब्स्ट्रक्टिव जौण्डिस।
१३—यह विषय २१८-१९ पृ० पर भी देखिये।

करता है। उससे इसमें भेद यह है कि, टायेलीन केवल अग्निसिद्ध (पाकार्थ) पिष्टसारको ही पचा सकता है, जब कि अग्निरसके एमायलेज़में अनग्निसिद्ध पिष्टसारके पचनका भी सामर्थ्य है। पाचकशक्ति भी इसकी उससे कहीं अधिक होती है। शिशुओंमें इस स्रावकी अल्पता इस बातकी द्योतक है कि, पिष्टसार उनका स्वाभाविक आहार नहीं है।

हर्स्ट[१] तथा नॉट[२] का कथन है कि आमाशयमें लवणाम्लकी क्रिया पिष्टसारोंपर हो चुकी हो तो ग्रहणीमें उनका पाक छूगमतर हो जाता है। अन्यथा अपूर्णपाकके कारण आध्मान होता है। पिष्टसार इस एन्ज़ाइमकी क्रियासे धान्यशर्करा[३] तथा एक्रूडूेक्स्ट्रीन[४] इन दो द्रव्योंमें परिणत हो जाते हैं। अन्त्ररसका माल्टोज़[५] इन द्रव्योंपर क्रिया करके इन्हें द्राक्षाशर्करा (ग्लूकोज़) में परिवर्तित कर देता है। इस रूपमें रसाङ्कुरिकाओंद्वारा इनका ग्रहण होता है।

अन्त्ररस एक क्षारीय द्रव है। इसकी क्षारताका कारण सोडियम कार्बोनेट है। एक अहोरात्रमें कोई तीन लिटर अन्त्ररस क्षरित होता है। इसके अङ्गभूत स्रावोंके दो प्रभेद हैं; कुछ अग्निरसके विभिन्न स्रावोंके समान प्रोटीन आदिका पचन करते हैं तथा अन्य अग्निरसकी क्रिया या प्रवृत्तिको बढ़ाते हैं। साक्षात् पाचक स्रावोंमें एक इरेप्सिनका उल्लेख ऊपर किया है। यह पेप्सीन तथा ट्रिप्सीनके अवशिष्ट कार्यको पूर्ण करता है—अर्थात् उनकी क्रियासे पेप्टाइडोंके रूपमें परिणत हुए प्रोटीनोंको एमाइनो-एसिडोंमें परिवर्तित करता है। कई धातुओं तथा क्षत्र-कणोंमें भी यह स्राव विद्यमान होता है।

अन्त्ररसगत तीन एन्ज़ाइम द्विगुण शर्कराओं[६] को सामान्य शर्कराओं[७] के रूपमें विघटित करते हैं[८]। अन्त्रीय माल्टोज़[९] धान्यशर्करा तथा डेक्स्ट्रीन को द्राक्षाशर्करामें परिणत करता है। इसका निर्देश ऊपर किया है। अन्त्रीय लैक्टेज़[१०] दुग्धशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा उपदुग्धशर्करामें परिवर्तित करता है। अन्त्रीय सुक्रेज़[११] या इन्वर्टेज़ इक्षुशर्कराको द्राक्षाशर्करा तथा फलशर्करामें परिणत करता है।

धातु पिष्टसारों का उपयोग उल्लिखित सामान्य शर्कराओंके रूपमें ही कर सकते हैं। द्विगुण शर्कराओंके उपयोगका सामर्थ्य उनमें न होनेसे वे मूत्रमार्गसे बाहर कर दी जाती हैं। मुखसे क्षुद्रान्त्र-पर्यन्त विभिन्न रसों द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंका सामान्य शर्कराओंमें परिणमन ही उनका पचन है।

अन्त्ररसीय लायपेज़[१२] अग्निरसके लायपेज़से बहुत कम पाचक शक्तिवाला, अतएव न्यून महत्त्व का है। उसके क्षीण होनेपर इसका महत्त्व अवश्य बढ़ जाता है।

अग्निरसके प्रवर्तक या प्रदीपक स्राव तीन हैं। इनमें एक एण्टरोकाइनेज़का उल्लेख ऊपर कर आये हैं। यह ट्रिप्सीनोजनको ट्रिप्सीनके रूपमें परिवर्तित करता है। अग्निरसके उद्दीपक दो स्राव ये

१—Hurst.
२—Knott.
३—Maltose—माल्टोज़।
४—Achroo dextrin.
५—Maltase.
६—Disaccharides—डायसैकेराइड्स।
७—Monosaccharides—मॉनोसैकेराइड्स।
८—आगे का विषय समझने के लिए पृ० १९५—२०० पुनः देखिये।
९—Intestinal maltose—इण्टेस्टाइनल माल्टोज़।
१०—Intestinal lactase—इण्टेस्टाइनल लैक्टेज़।
११—Intestinal sucrase—इण्टेस्टाइनल सुक्रेज़।
१२—Intestinal lipase—इण्टेस्टाइनल लायपेज़।

हैं—सिक्रीटीन तथा पैन्क्रियोज़ाइमीन। ये दोनों अन्तःस्राव हैं। इनकी क्रिया पृथक् देखने के पूर्व अच्छा होगा, यदि हम मुखसे क्षुद्रान्त्रपर्यन्त विभिन्न पाचक रसोंकी क्रियासे पिष्टसारादिमें जो-जो परिवर्तन होते हैं,उन्हें उनके पचनके कारणभूत रसों सहित एक स्थानपर देख लें।

कार्बोहाइड्रेट

टायेलीन किंवा
अग्निरसका एमायलेज़

पिष्टसार ——————→ धान्यशर्करा माल्टोज़ ——————→ द्राक्षाशर्करा।

सुक्रेज़

इक्षुशर्करा ——————→ द्राक्षाशर्करा+फलशर्करा।

लैक्टेज़

दुग्धशर्करा ——————→ द्राक्षाशर्करा+उपदुग्धशर्करा।

स्नेह :

आमाशय, अग्न्याशय
तथा (अथवा) अन्त्रका
लायपेज़

स्नेह ——————→ स्नेहाम्ल+ग्लिसरीन।

प्रोटीन :

पेप्सीन या
ट्रिप्सीन

प्रोटीन ——————→ प्रोटीओज़+पेप्टोन।

ट्रिप्सीन इरेप्सिन

प्रोटीओज़ तथा पेप्टोन ——————→ पेप्टाइड ——————→ एमाइनो एसिड।

अन्त्रोंकी श्लेष्मकलासे क्षरित होनेवाले दो स्राव सिक्रीटीन[1] तथा पैनक्रियोज़ाइमीन[2] अग्निरस-के प्रवर्तक (उद्दीपक) हैं। यों यकृत् तथा अग्न्याशयमें स्रावोंके प्रवर्तक नाडीसूत्र भी होते हैं, जो प्राणदा नाडी के अङ्ग होते हैं। प्राणदा नाडीको विद्युत् आदिसे उद्दीप्त करें तो इन ग्रन्थियोंके स्रावमें वृद्धि होती है। मुख तथा आमाशयकी ग्रन्थियोंके समान इन ग्रन्थियोंसे मानसिक स्रावका आविर्भाव भी किया जा सकता है। परन्तु यथार्थ स्थिति यह है कि—नाडीसंस्थानीय उद्दीपनकी अपेक्षया रासायनिक उद्दीपन ही इन ग्रन्थियोंके स्रावका अधिक महत्त्वपूर्ण प्रवर्तक है। और यह प्रवर्तन सिक्रीटीन और पैनक्रियोज़ाइमीनके कारण होता है। ये दोनों अन्तःस्राव हैं और ग्रहणीकी श्लेष्मकलामें उत्पन्न होते हैं।

सिक्रीटीन श्लेष्मकलामें अपने पूर्वरूप प्रोसिक्रीटीन[3]के रूपमें पहलेसे रहता है। ग्रहणीमें कोई भी सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय अम्ल प्रविष्ट हो तो उसके संस्पर्शसे प्रेसिक्रीटीन सिक्रीटीनके रूपमें परिणत हो जाता है[4]। प्राकृत पचनमें यह क्रिया आमाशयसे अल्पाल्पशः च्युत होनेवाले अम्ल अन्नरस द्वारा होती है। अपकर्षणके वेगसे एक ओर आमाशयसे अन्नरसका प्रवेश ग्रहणीमें होता है, दूसरी ओर

१—Secretin. २—Pancreozymin. ३—Prosecretin.

४—अम्लरस पित्तका प्रकोपक (वर्धक) है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। इसकी कुछ व्याख्या इस प्रकरणसे होगी।

पित्तप्रसेकका मुख खुलकर याकृत पित्तके कुछ बिन्दु ग्रहणीमें स्रुत होते हैं। याकृत पित्तके लवणोंके साथ सिक्रीटीन शोषित होकर रक्तमें मिश्रित होता है तथा अनुधावन-क्रमसे अग्न्याशय और यकृत्में पहुँचता है। सिक्रीटीन अग्न्याशय तथा यकृत्को और याकृत पित्तके लवण यकृत्को अपना-अपना स्राव अधिक प्रमाणमें तय्यार करनेको उत्तेजित करते हैं। याकृत पित्तके लवणोंके समान पेप्टोन भी अपने साथ सिक्रीटीनको अभिशोषित कर इस क्रिया में सहायक होते हैं।

सिक्रीटीन यकृत्को उत्तेजित कर नये पित्तके निर्माणकी ही प्रेरणा देता है, पित्त-कोषमें पूर्वसंचित पित्तको निकालनेका प्रवर्तन नहीं करता। यह कार्य एक अन्य अन्तःस्राव कॉलीसिस्टोकाइनीन[1] का है। यह ग्रहणीकी श्लेष्मकलापर स्नेहोंकी क्रियासे प्रादुर्भूत होता है। यह शोषित हो रक्तमें मिलकर पित्त-कोषमें पहुँच उसे आकुञ्चित होने तथा इस प्रकार सञ्चित पित्तको ग्रहणीमें धकेलनेके लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार क्षरित याकृत पित्त धौतीकरण द्वारा स्नेहोंके पचनमें पूर्वकथित प्रकारसे भाग लेता है।

अग्न्याशय-रसका प्रवर्तक द्वितीय अन्तःस्राव पैनक्रियोज़ाइमीन है। इस प्रकार अग्निरसका उद्दीपन तीन पदार्थोंसे होता है—प्राणदा नाडीके उत्तेजनसे तथा सिक्रीटीन और पैन्क्रियोज़ाइमीनसे। तीनोंके उद्दीपनसे प्रवृत्त अग्निरसके स्वरूपमें कुछ-कुछ भिन्नता होती है। पचनकी प्राकृत क्रियामें तीनोंका अपना स्थान है।

प्राणदा नाडीके उत्तेजनसे स्रुत अग्निरस प्रमाणमें यद्यपि अल्प होता है तथापि इसमें इन्ज़ाइम और प्रोटीन प्रभूत होते हैं। यह गाढ़ा और दुधियाला होता है। इसमें क्षार[2] न्यून होते हैं। सिक्रीटीनकी क्रियासे उत्पन्न स्राव पतला, जल-सदृश, अल्पतर एन्ज़ाइम और प्रोटीनयुक्त परन्तु क्षार-सम्पन्न होता है। पैन्क्रियोज़ाइमीनकी क्रियासे क्षरित अग्निरसमें भी एन्ज़ाइमोंका प्राचुर्य होता है। अनुमान है, ग्रहणीमें अम्ल अन्नरसके प्रवेशसे सिक्रीटीन उत्पन्न होता है। उसकी क्रियासे जो क्षारधर्मा (और न्यून एन्ज़ाइमोंवाला) अग्निरस स्रुत होता है, उसका कर्म लवणाम्लको उदासीन (निष्क्रिय) कर देना है। ऊपर कह आये हैं कि, अग्निरसके एन्ज़ाइमोंकी क्रिया टायलीनके समान क्षार माध्यममें ही होती है। सो, प्रारम्भमें अम्लके उपहत (उदासीन) कर दिये जानेका परिणाम यह होता है कि, पश्चात् शेष दो हेतुओंसे क्षरित होनेवाले एन्ज़ाइम-बहुल अग्निरसके लिए अनुकूल भूमिका तय्यार हो जाती है। सिक्रीटीन एक प्रोटीन है। इसका क्षार-धर्म सोडियम बाइकार्बोनेटके कारण होता है।

अग्निरसके अङ्गभूत एन्ज़ाइमोंका प्रमाण पाच्य द्रव्यके भेदसे भिन्न-भिन्न होता है। यथा, आहारमें प्रोटीन अधिक होगा तो अग्निरसमें ट्रिप्सीन अधिक होगा; उसमें स्नेह अधिक होगा तो अग्निरसमें लायपेज़की अधिकता होगी, इत्यादि। तात्पर्य, अग्न्याशयको जो कार्य सौंपा जाय अपनेको तदनुरूप बनानेका उसमें सहज सामर्थ्य है।

सिक्रीटीनका स्राव डुओडीनम या ग्रहणीसे आगे उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। अन्त्रोंकी दीवालमें इसकी क्रियासे प्रबल सङ्कोच भी होता है।

भोजन ग्रहणीमें न हो उस काल भी अग्निरसका यत्किञ्चित् स्रवण होता है।

मुख, आमाशय और क्षुद्रान्त्रमें विभिन्न पाचक पित्तोंके प्रभावसे प्रोटीनादि परिपक्व (सूक्ष्म, रसाङ्कुरिका-ग्राह्य रूपान्तरको प्राप्त) होकर अपने-अपने मार्गसे धातुओंको प्राप्त होते हैं। क्षुद्रान्त्रमें पूर्ववर्णित विभिन्न चेष्टाएँ अन्नको पाचक पित्तोंके संसर्गमें लाती हैं, साथ ही उसके परिपक्वांशको रसाङ्कुरिकाओं तक पहुँचाकर शोषणमें सहायक होती हैं। शोषण—क्रमसे कौन अंश किस मार्गसे कहाँ

१—Cholecystokinin. २—Alkali—आल्केली।

जाता है, इसका उल्लेख गत अध्यायमें किया जा चुका है। पाचक पित्त तथा वायुके सहकारसे इस प्रकार सम्पूर्ण अन्नपान अन्तको दो भागोंमें विभक्त हो जाता है—रस[1] और मल (किट्ट)। मलकी गुदमार्गकी दिशामें प्रगति तथा उत्सर्गका स्वरूपोल्लेख भी गत अध्यायमें कर आये हैं। प्राचीनोंने पक्काशयमें भी एक अवस्थापाक माना है। संख्याक्रमसे इसे 'तृतीय अवस्थापाक' तथा रस-भेदसे 'कटु अवस्थापाक' कहा है। पाक नाम इस बातका गमक (द्योतक) है कि, पक्काशयमें भी मलका (उसके अंशभूत प्रोटीनादिका) रूपान्तरीभाव होता है। नवीन मतसे इसका कुछ उल्लेख यत्र-तत्र किया है। पक्काशयमें होनेवाले पाक तथा उसके अन्य कर्मोंके निर्देशके प्रसङ्गसे पुनः उसका उल्लेख कर इस अध्यायको समाप्त करेंगे।

पक्काशयका कर्म—

पक्काशय या स्थूलान्त्रके कर्म तीन प्रकारके हैं—यान्त्रिक[2], शोषणात्मक तथा उत्सर्जनात्मक। इनके सिवाय एक चौथा कर्म है, जिसका पक्काशयसे इतना ही सम्बन्ध है कि, वह उसका अधिष्ठान है। वह कर्म है पाक अर्थात्—प्रोटीनादि का रासायनिक रूपान्तर।

यान्त्रिक कर्मसे आशय है मलका सञ्चय तथा यथाकाल त्याग।

शोषण पक्काशयमें मुख्यतया जलका होता है। यों क्षुद्रान्त्रमें भी जलका शोषण बड़ी मात्रामें होता है, तथापि पाककी रासायनिक क्रियामें उत्पन्न तथा अन्त्रसे स्रुत हुए जलके कारण उसमें (क्षुद्रान्त्रमें) अन्नका द्रवत्व बना रहता है। पक्काशयमें केवल शोषण होता है, स्रवण नहीं। परिणामतया, प्रतिदिन जो ५०० घन सेण्टीमीटर जल मलके साथ क्षुद्रान्त्रसे स्थूलान्त्रमें आता है उसका ४०० घन सेण्टीमीटर शोषित होकर मलमें केवल १०० घन सेण्टीमीटर रह जाता है। वेगावरोधादि कारणोंसे मलको अधिक काल पक्काशयमें रहना पड़े तो शोषण और भी होकर मल उत्तरोत्तर शुष्क और कठिन होता जाता है।

जलका शोषण आरोही स्थूलान्त्रमें ही प्रायः हो जाता है। आरोही स्थूलान्त्रमें पहुँचनेके पूर्व मल अपने प्राकृत स्वरूपको प्राप्त कर चुका होता है।

जलके अतिरिक्त लवण, द्राक्षाशर्करा तथा कदाचित् एमाइनो एसिडोंका शोषण भी पक्काशयमें होता है। लवणोंकी शोष्यताका उपयोग शल्य-चिकित्सामें किया जाता है। शस्त्रकर्मोत्तर आघात[3]में सञ्चारी रक्तका प्रमाण न्यून हो जानेसे जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, उनके निवारणार्थ रक्तका प्रमाण बढ़ानेके लिए सम लवण-जल[4] गुद-मार्गसे दिया जाता है। द्राक्षाशर्कराका शोषण अति मन्द ही होता है।

कई औषध बहुत हलके घोलके रूपमें हो तो पक्वाशयमें उनका शोषण होता है। सर्वाङ्ग-संमोहन[5] के लिये कभी-कभी यह मार्ग पसन्द किया जाता है।

उत्सर्जन स्थूलान्त्रमें ऐसे द्रव्योंका प्रायः होता है, जो किसी कारण विलीन (जलमें घुले) न होनेसे मूत्रमार्गसे बाहर न निकल सकें। यथा, अन्नपान या औषध रूपमें यथेष्ट अम्ल न लिया जाय तो सुधा (कैल्शियम) और मैग्नीशियम के विलेय लवण नहीं बनते। परिणामतया, मूत्रमार्गसे इन धातुओंका निर्गमन शक्य न होनेसे ये पक्वाशयमें उसकी दीवालसे उत्सृष्ट होते हैं तथा मलमार्गसे बाहर निकाल दिये जाते हैं।

१—Chyle—काइल। २—Mechanical—मिकेनिकल।
३—Shock—शॉक। ४—Normal saline—नॉर्मल सैलाइन।
५—General anaesthesia—जेनरल ऍनेस्थीशिआ।

महास्रोत का यह प्रदेश जीवाणुओंकी क्रिया का विशेष अधिष्ठान है। स्थूलान्त्रकी प्रतिक्रिया क्षारीय[1] होनेसे जीवाणुओं, विशेषतः प्रोटीनपर क्रियाकर कोथ[2] करनेवाले जीवाणुओंके लिए यह अति अनुकूल और स्वभावसिद्ध स्थान है।

क्षुद्रान्त्र परिपक्व अन्नरसका अभिशोषण करते हैं। इस स्थानपर जीवाणुओंकी परिपुष्टि तथा विषद्रव्योंकी उत्पत्ति हो तो ये विषद्रव्य भी रसके मार्गसे शोषित एवं शरीरमें प्रसृत हो रोगोत्पत्ति करें। इस दृष्टिसे यह सर्वथा स्वाभाविक है कि सामान्यतया इस स्थानपर जीवाणुओंको विकासके लिए अनुकूल परिस्थिति सुलभ न हो ; एवं जीवाणुओंका संवर्धन हो तो भी उसका परिणाम शरीरको हानिकर न हो। वास्तवमें इस स्थानपर प्रकृतिने ऐसी व्यवस्था की भी है।

लवणाम्ल उत्तम जीवाणुहर होनेसे महास्रोतके ऊर्ध्वभागमें जीवाणुओंको विकासके लिए उत्तम अवसर सामान्यतया नहीं मिलता। रोगविशेषमें लवणाम्ल न्यून क्षरित हो या अन्नपानमें जीवाणु अतिमात्रामें हों तभी उनका विनाश यथावत् न होनेसे वे शरीरमें प्रसर और रोगोत्पत्ति करते हैं। कह आये हैं कि, द्रव द्रव्य आमाशयको शीघ्र छोड़ देते हैं। परिणामतया, लवणाम्ल का इनसे जैसा संयोग चाहिए वैसा नहीं होता, जिससे उनमें रोगजनक जीवाणु प्रचुर हों तो वे रोगके उत्तम वाहक बन जाते हैं। दूध तथा जल अन्त्रज्वर[3] के उत्तम वाहक हैं, यह प्रसिद्ध है इसका कारण इस वस्तुस्थितिसे विशद हो सकता है।

क्षुद्रान्त्रोंके दूसरे अन्त (सिरे) पर 'पेयर्स पेचेज़' तथा 'एकाकी ग्रन्थियाँ'[4] नामक लसीका ग्रन्थियोंके पुञ्ज होते हैं। ये जीवाणुओंके ऊपरकी ओर प्रसरमें अर्गलाका काम करते हैं।

जीवाणुओंके विरुद्ध यह सामग्री होते हुए भी, क्षुद्रान्त्रोंमें, परीक्षणोंसे ज्ञात हुआ है कि, प्रकृत्या कार्बोहाइड्रेटोंपर क्रिया करनेवाले जीवाणुओंकी वृद्धि तथा कर्म होते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंका यह संधान प्रोटीनोंपर क्रिया करनेवाले जीवाणुओंका दो प्रकारसे बाधक होता है। कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे जो द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे निर्दोष (अहानिकर) होते हैं। इसके विपरीत, प्रोटीनोंके संधान या कोथसे जो नाइट्रोजन-मय द्रव्य उत्पन्न होते हैं, उनमें कई विषरूप होते हैं। विदित हुआ है कि, कार्बोहाइड्रेटोंके पाकसे उत्पन्न द्रव्य (शर्करा) की उपस्थितिमें प्रोटीनका विघटन करनेवाले जीवाणु, यथा बी० कोलाई[5], अपनी क्रिया नहीं कर पाते। इस प्रकार कार्बोहाइड्रेटोंकी उपस्थिति प्रोटीनको विघटित होनेसे बचाती है। इसके सिवाय, कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। ये अपनी अम्लतासे क्षुद्रान्त्रकी क्षारताको उदासीन करते रहते हैं। कभी-कभी उसकी प्रतिक्रियाको अम्ल भी बना देते हैं। अम्लता प्रोटीन-विघटक जीवाणुओंके लिए प्रतिकूल होनेसे भी उनका विकास इन स्थानपर हो नहीं पाता। इससे स्पष्ट है कि, क्षुद्रान्त्रमें जीवाणुओंकी क्रिया आहारके स्वरूपपर अवलम्बित है ; तथा आहारमें परिवर्तन करके क्षुद्रान्त्रमें अभीष्ट जीवाणुओंकी क्रिया कराई जा सकती है।

जीवाणुओं द्वारा कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे अधिकतर तक्राम्ल[6] बनता है। इसका भी विघटन होकर कभी अङ्गाराम्ल (कार्बन डाय ऑक्साइड), उदजन तथा नवनीताम्ल[7] भी बन सकता है। सेल्युलोज़का विघटन होकर अङ्गाराम्ल तथा मिथेन[8] नामक वायु बनता है। अन्त्रोंमें वायुकी

१—Alkaline—आलकेलाइन। २—Putrefaction—प्युट्रिफैक्शन।

३—Typhoid Fever—टायफॉयड फीवर। ४—इनका परिचय पृ० ३५९ तथा १७४पर देखिये।

५—B. Coli. (B.Bacillus—बेसीलस)। ६—Lactic acid—लैक्टिक एसिड।

७—Buteryic acid—ब्यूटिरिक एसिड। ८—Methane;-पर्याय—Marsh gas-मार्शगैस।

उत्पत्ति (आध्मान) की सामान्य संप्राप्ति यह है। रूक्ष औद्भिद आहार द्रव्योंसे इसमें वृद्धि होती है। लवणाम्ल पिष्टसारोंके पचनमें सहायक होता है। इसकी क्षीणता हो तो पिष्टसारोंका पाक अपूर्ण रह जानेसे उनपर जीवाणुओंकी क्रिया होकर भी आध्मान विशेष होता है। यह भी होता है कि, पिष्टसारमय आहार, आलू, चावल आदि, अधिक खाये जायँ, परिणामतया उनका अमुक भाग पक्व न होनेसे उसपर जीवाणुओंकी क्रिया होकर आध्मान होता है। मानवोंमें आध्मानका इससे भी अधिक सामान्य कारण द्रव भोजनके साथ निगला गया वायु है।

स्नेहोंपर लायपेज़के समान क्रियाकर अमुक जीवाणु निम्नकोटिके अम्ल, यथा नवनीताम्ल, वेलेरिक एसिड[१] आदि, उत्पन्न करते हैं। कार्बोहाइड्रेटोंके संधानसे उत्पन्न अम्लोंके समान ये अम्ल भी क्षुद्रान्त्रकी प्रतिक्रियाको अम्ल बनाते हैं।

प्रोटीनोंका संधान, जो दुर्गन्धजनक होनेसे कोथ कहाता है, स्थूलान्त्रोंकी एक नियत (सदा होनेवाली) और प्राकृत घटना है। जीवाणु ऊपर पच न सकी प्रोटीनोंपर क्रियाकर उनका पचन करते हैं···उन्हें पेप्टोन, प्रोटीओज़, विभिन्न एमाइनो एसिड और एमोनियामें परिणत करते हैं; साथ ही एमाइनो एसिडोंपर अधिक क्रिया करके स्केटोल[२], इण्डोल[३], हायड्रोजन सल्फाइड[४], आदि दुर्गन्धयुक्त द्रव्योंको भी उत्पन्न करते हैं। फिनोल[५] या कार्बोलिक एसिड[६] भी इन द्रव्योंमें एक है। इन द्रव्योंमें कई मल मार्गसे निकल जाते हैं और कई शोषित हो, ओषजनके संपर्कसे रूपान्तरित होकर मूत्रमार्गसे निकलते हैं। मूत्रमें इन द्रव्योंकी मात्रासे इस बातका अनुमान किया जाता है कि स्थूलान्त्रमें प्रोटीनका कोथ कितना है। अङ्गाराम्ल, मिथेन, उदजन, स्नेहाम्ल आदि अम्ल भी प्रोटीनोंके संधानसे उत्पन्न होते हैं।

एमाइनो एसिडोंपर जीवाणुओंकी क्रियासे एमाइन[७] वर्गके दो द्रव्य बनते हैं[८]। इन्हें वृक्क बाहर न निकाल दें (उनके रोग-विशेषसे अशक्त होने के कारण) तो रक्त दाबमें वृद्धि[९] हो जाती है। इस स्थितिकी तुलना आयुर्वेदोक्त वातजन्य शिरोरोग (शिरः शूल) से की जा सकती है। आहारमें प्रोटीनका प्रमाण न्यून कर देनेसे रोग निवृत्त होता है। ऐसा हो हिस्टेमाइन[१०] नामक एमाइन हिस्टोडीन[११] नामक एमाइनो-एसिडके विघटनसे बनता है। यह शोषित हो केशिकाओंका व्यादान (विस्तार-विस्फार) करके रक्तदाबको न्यून करता है। इसकी क्षतिपूर्तिके रूपमें धमनियोंका संकोच होता है।

कोथजन्य एमोनिया अन्त्रोंकी प्रतिक्रियाको क्षारीय करता है।

जीवाणुओं द्वारा संधान और कोथ एक नियत और प्राकृत वस्तु है। पाचक पित्तों द्वारा पक्व न हुए कई द्रव्योंका पाक होकर शरीरको उनका लाभ होता है। इस प्रकार विशेषतया सेल्युलोज़का उपयोग हो जाता है। जीवनीयोंके प्रकरणमें हमने देखा है कि रक्तके स्कन्दन (जमने) में सहकारी जीवनीय 'के' तथा 'बी' वर्ग के दो जीवनीय अन्त्रोंमें उत्पन्न और शोषित होते हैं। इसके अतिरिक्त

१—Valeric acid. २—Skatol. ३—Indol.
४—Hydrogen sulphide. ५—Phenol. ६—Carbolic acid.
७—Amine.
८—इनका अंग्रेजीमें नाम—Iso-amylamine—आयसो-एमाइलऐमाइन तथा Hydroxy-phenyl-ethylamine—हायड्रॉक्सिफिनाइल-इथायलेमाइन है।
९—High blood pressure—हाई ब्लड प्रेशर (संक्षेप—H. B. P.); या Hypertension—हाइपरटेन्शन। १०—Histamine. ११—Histicine.

कई परीक्षणोंमें देखा गया कि, प्राणियोंको जीवाणु-मुक्त[1] आहारपर रखा गया तो उनका भार क्रमशः न्यून हो गया। उन्हें जब जीवाणु-युक्त आहार देना प्रारम्भ किया गया तभी उनकी पुष्टि स्वाभाविक रूपसे होने लगी। इससे अनुमान होता है कि, जीवाणुओं और प्राणियोंमें कोई परस्पर उपकार्योपकारक सम्बन्ध[2] है, जिसकी पूर्ण गवेषणा अभी शेष है। जीवाणुमुक्त आहार-विषयक परीक्षणोंके विपरीत परिणाम भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें इस प्रकारके आहारमें प्राणियोंकी वृद्धि यथावत् हुई पायी गयी है।

जीवाणुजन्य कोथ मानव-कुलके लिए सर्वदा और निश्चित हानिकर माननेवाला सम्प्रदाय भी है। इस मतको पराकाष्ठाको पहुँचानेवाले मेचनीकॉफ[3] का कथन है कि, अन्त्रोंमें जीवाणुजन्य विषोंकी अविराम उत्पत्ति और शोषण क्षमता (रोगोपहारक शक्ति) के ह्रासके कारणोंमें एक महत्त्वपूर्ण कारण है। क्षमताका यह ह्रास हो जानेसे शरीर वार्धक्य तथा मृत्युके कारणभूत परिवर्तनोंका प्रतिकार करनेमें अशक्त होता जाता है[4]।

तक्राम्ल जीवाणु जो दहीमें पाये जाते हैं, उनका भी अन्त्रोंमें प्रादुर्भाव और वृद्धि होती है। इनकी पुष्टि तीव्र हो तो इनमें हानिकारक जीवाणुओंको नष्ट करनेकी शक्ति होती है। मेचनीकॉफके मतसे भूमण्डलके विभिन्न स्थानोंके दहियोंके जीवाणुओंमें यह सामर्थ भिन्न-भिन्न होता है। इस दृष्टिसे उसने मध्य यूरोपका दही सर्वोत्तम पाया और वहाँ के निवासी सारी पृथ्वीमें सबसे दीर्घायु होते हैं।

जीवाणुओंकी अतिवृद्धिसे अतिसार आदि रोग तथा एमाइनोंके शोषणसे अनेक रोग हो जाते हैं, यह निर्विवाद है।

अन्त्रगत जीवाणुओंकी उपकारकता-विषयक इस वायुमें आयुर्वेदका मत दोनों का मध्यवर्ती कहा जा सकता है। पक्वाशयको वायुका स्थान कहा है। यहाँ वायुकी उत्पत्ति बतायी गयी है। पृष्ठ ६४ की टिप्पणीमें धृत संग्रहकारके वचनमें तो इसी वायुको पञ्चविधि कहा है। जो हो, यह वायु इस स्थानपर उत्पन्न होता और रहता है। समावस्थामें अमुक नियत प्रमाणमें हो तो यह तत्-तत् उपकार (प्राकृत कर्म) करता है। न्यून या अधिक हो तो यह अमुकामुक विक्रिया करता है। वायुकी स्वाभाविक उत्पत्तिके कारण ही आयुर्वेदमें इस क्रियाको पाक यह यथार्थ संज्ञा दी गयी है, यह पहले कह आये हैं। इस पाकके अतिरिक्त वह पाक भी इस स्थानमें होता है जिसका स्वाभाविक स्थान क्षुद्रान्त्र है—अर्थात्, अन्नपान क्षुद्रान्त्रसे स्थूलान्त्रमें उतरता है तो इसमें कुछ अपक्वांश होता है। साथ ही, इसमें एन्ज़ाइम भी होते हैं। ये एन्ज़ाइम अपने-अपने पाच्यको यहाँ भी उसी प्रकार रूपान्तरित करते हैं, जैसे क्षुद्रान्त्रमें।

अन्नपानका यह अन्तिम पाक होकर जठराग्नि द्वारा पाककी वह क्रिया सम्पूर्ण हो जाती है, जिसका वर्णन हमने पिछले पृष्ठोंमें किया है। इस पाकके परिणाम-स्वरूप अन्नपान दो भागोंमें विभक्त हो जाता है—रस और मल। इस प्रकरणके प्रारम्भमें हमने कहा है कि—रससे रसादि धातुओंकी तथा मलसे मलोंकी पुष्टि होती है[5]। यह पुष्टि क्रमिक होती है तथा प्रत्येक धातुका अपना-अपना अग्नि इसका मूल है। सामान्यमत यह होते हुए भी इसके विस्तारके विषयमें आयुर्वेदमें कुछ मतभेद है। अगले अध्यायमें हम इन मतान्तरोंका उल्लेख करेंगे।

१—Sterile—स्टराइल। २—Symbiosis—सिम्बायोसिस ; (sym=परस्पर+Bio=जीवन)।
३—Metchnikoff. ४—इस प्रसंगमें पृ० ३०५-६ तथा १९८ भी देखिये।
५—देखिये पृ० २३-२५ ; १३७-३८।

उन्नीसवाँ अध्याय

अथातो धातुपोषणक्रमविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

धातुओंकी आनुपूर्वी (अनुक्रम)—आयुर्वेदका सर्वतन्त्र सिद्धान्त—

वर्तमान क्रियाशारीरके साथ संवाद हो या न हो, आयुर्वेदका यह सर्वतन्त्र-सिद्धान्त[1] है कि रस-रक्तादि धातुओंमें एक विशेष आनुपूर्वी या क्रम है। सबकी पुष्टि यों रससे होती है, तथापि कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि, सामान्यतया[2] पूर्व-पूर्व धातुकी पुष्टि हो चुके—उसकी पुष्टिमें रसका उपयोग हो जाय, तदनन्तर ही उत्तर-उत्तर धातु शेष रससे अपनी-अपनी पुष्टिके लिए सामग्री ग्रहण करते हैं[3]। इस बातमें भी सब आचार्य एकमत हैं कि रसद्वारा प्रत्येक धातुकी पुष्टि अपने-अपने अग्निकी सहायतासे होती है।

इस सिद्धान्तको आयुर्वेद-बाह्य बताना दुष्कर है। रोगोंके विचारमें भी आयुर्वेदमें इस आनुपूर्वीको मान्य किया गया है। यथा, कहा गया है कि, उपेक्षा अथवा मिथ्या उपचारसे रोग असाध्य हो जाता है, यह दर्शन है। इसका कारण यह है कि, रोग काल-क्रमसे उत्तरोत्तर धातुमें प्रविष्ट होता जाता है। देखिये—

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥

सु० सू० २३। १५-१६

साध्यस्याप्युपेक्षया धात्ववगाहनेनासाध्यत्वं दर्शयन्नाह-क्रमणेत्यादि। उपचयं प्राप्त इति धात्ववगाहने हेतुगर्भं विशेषणम्। उपचयश्चाप्रतिकारादेव। × × महत्त्वेन महादोषत्वं धात्वनुक्रमणेन गम्भीरत्वमुच्यते॥ —चक्रपाणि

सर्पविषके प्रकरणमें भी माना गया है कि, उपेक्षा या मिथ्या उपचारसे विष क्रम-प्राप्त दो-दो धातुओंके मध्यमें स्थित कलामें प्रविष्ट होता जाता है। इस प्रकार सर्पविषोंके सात वेग या अवस्थाएँ होती हैं[4]।

धातुओंकी आनुपूर्वीका विचार चिकित्सामें भी होता है। यथा, ज्वरमें लङ्घनसे पूर्व-पूर्व धातु निराम होकर अन्तमें रसधातु निराम होता है[5]। इसके लिए अधिकसे अधिक सात दिन बहुत होते

१—अन्य वस्तुओंमें विरोध होते हुए भी जो सिद्धान्त सब वादियोंको संमत (मान्य) हो उसे सर्वतन्त्र-सिद्धान्त या सर्ववादिसंमत सिद्धान्त कहते हैं। देखिये—च० वि० ८।३७।

२—'सामान्यतया' इसलिए कि, कारणवश धातु-विशेषका क्षय विशेष हो जाय तो प्रथम उस धातुके विशेष पोषणमें रसका व्यय होता है।

३—इस प्रसंगमें पृ० २४ भी देखिये। ४—देखिये—सु० क० ४। ३९-४१।

५—इस विषयमें देखिये आगे धृत पराशर-वचन—

हैं[1]। अथच, ज्वर, कुष्ठ, विषवेगादिमें आश्रयभूत धातुके भेदसे बाह्याभ्यन्तर उपचारमें भी भेद होता है।

इस प्रकार धातुओंकी क्रम-विशेषसे पुष्टि तथा प्रत्येककी पुष्टिमें निज-निज अग्निकी कारणता इन दो बातोंमें संमति होते हुए भी आचार्योंमें विस्तारमें कुछ विमति है। तीन पक्ष इस विमतिके कारण आचार्योंमें हैं, जिनके नाम ये हैं—क्रमपरिणामपक्ष, केदारीकुल्यान्याय तथा खलेकपोत-न्याय। चक्रपाणि ने चरक सूत्रस्थान २८।४ की आयुर्वेद दीपिका व्याख्यामें तथा चरक चिकित्सा-स्थान १५।१६-१७ की आयुर्वेद दीपिकामें और डह्लन ने सु० सू० १४।१० की निबन्धसंग्रह व्याख्यामें इन मतोंका निरूपण किया है। क्रमशः उनका उल्लेख यहाँ करते हैं।

क्रमपरिणामपक्ष—

अत्राहाररसाद् रक्तादिपोषणमेवं केचिद् ब्रुवते यत्, रसो रक्तरूपतया परिणमति रक्तं च मांसरूपतया, एवं मांसादयोऽप्युत्तरोत्तर धातुरूपतया परिणमन्ति। अत्रापि च पक्षे केचिद् ब्रुवते—क्षीराद् यथा सर्वात्मना दधि भवति, तथा कृत्स्नो रसो रक्तं भवति; एवं रक्तादयोऽपि मांसादिरूपा भवन्ति ॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

अत्र च रसाद्रक्ताद्युत्पादने केचिदिदं वदन्ति यत्, रसोऽग्निपच्यमानः (सर्वात्मना) रक्ततां याति रक्तं च मांसतामित्यादि पूर्वपूर्वधातुपरिणामादेव उत्तरोत्तरधातूत्पादः। यथा, (सर्वात्मना) क्षीराद् दधि भवति, दध्नो नवनीतं, नवनीताद् घृतमित्येकः पक्षः।

सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

तत्र च त्रिधातूत्पादे व्याख्यातारो वर्णयन्ति—तत्र रसः स्वाग्निपच्यमानो रक्ततां याति, रक्तं मांसतामित्यादि पूर्वपूर्वधातुपरिणामादुत्तरोत्तर धातूत्पादः; यथा क्षीराद्दधि भवति, दध्नो नवनीतं, नवनीताद् घृतं, घृताद् घृतमण्डः, इत्येकः पक्षः ॥

च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणि

अन्नरससे रसादि धातुओंके पोषणके विषयमें कई आचार्योंका मत है कि, जैसे दूध सर्वात्मा (पूराका पूरा) दहीके रूपमें परिणत होता है, दही सर्वात्मना नवनीत (और तक्र) के रूपमें और नवनीत (मक्खन) सर्वतोभावेन घृतके रूपमें परिणत होता है वैसे अन्नरस रसधातुसे मिश्रित होकर सर्वात्मना रसधातुके रूपमें परिणत होता है। रसधातु रसाग्निसे पक्व हो रक्तके रूपमें, रक्त मांसरूपमें

तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्।
सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः ॥

अर्थात्—सामान्यतया सात दिनमें रससे शुक्रपर्यन्त धातुओंकी पुष्टि होती है। इसी कारण अपथ्याहारसे सात दिनमें शुक्रपर्यन्त धातु दूषित हो जाते हैं तथा लङ्घन या पथ्याहारसे सात दिनमें उनकी विशुद्धि होती है।

१—सन्निपात ज्वरोंमें इस अवधिमें दोष, धातु तथा मल निराम नहीं होते। परन्तु अधिक लङ्घनसे बलहानि तथा अन्य विपरिणाम होना संभव है। अतः 'अष्टाह' यही निरामता और औषध-प्रदानका लक्षण संनिपात ज्वरोंमें माना गया है।

इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातु अपने-अपने अग्निसे पक्व हो उत्तर-उत्तर धातुके रूपमें सर्वात्मना परिणत होता जाता है। इस पक्षको क्रमपरिणामपक्ष, सर्वात्मपरिणामपक्ष या क्षीरदधिन्याय कहा जाता है।

चरकसंहिता, चिकित्सास्थान १५।२०-३५ में प्रतिसंस्कर्ता दृढ़बल क्रमपरिणामपक्षके अनुसार अग्निवेशके प्रश्न और आचार्य आत्रेय पुनर्वसुके उत्तरके रूपमें धातुओंकी पुष्टिका विलक्षण-सा प्रतिपादन करता हुआ प्रतीत होता है। वैद्य-सम्प्रदायमें प्रचलित क्रमपरिणामवादका यह प्रकरण परम आधार है। परन्तु, प्रामाणिकोंके मतमें यह सारा ग्रन्थ ही प्रक्षिप्त है; कारण, चक्रपाणि ने इसकी व्याख्या नहीं की है। देखिये—

'इत्युक्तवन्तम्' इत्यादिः 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' इत्यन्तः पाठश्चक्रपाणिदत्तेनाऽव्याख्यातत्वादनार्ष इति प्रतिभाति ॥

—निर्णयसागरीय चरकसंहितामें सम्पादकीय टिप्पणी

इस प्रकार क्रमपरिणामपक्षका यह दुर्ग गिर जानेसे विवेकशीलोंके लिए धातुपोषणके विषयमें स्वतन्त्र विचार करनेका मार्ग खुला है[1]।

क्रमपरिणाम-पक्षके अनुसार विभिन्न धातुओंकी उत्पत्तिका काल—क्रमपरिणामपक्षके अनुसार रस कितने-कितने काल एक-एक धातुमें रहता हुआ उसकी पुष्टि करता है, तथा अन्तमें कितने समय बाद शुक्रकी पुष्टि होती है, इस विषयमें कुछ मत हैं—

१—ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयुक्त होनेसे यह प्रश्नोत्तर आगे देते हैं—इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत्। रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते ॥ रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम्। द्रवाद्रक्तात् स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥ द्रवधातोः स्थिरान्मांसान्मेदसः संभवः कथम् (रसाद्रक्तात् तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम् इति पाठान्तरम्)। श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥ खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा। मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥ सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः। तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥ छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम्। एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥—अर्थात्, द्रव्योत्पत्तिके नियमानुसार कारणमें जो गुण हों वही कार्यमें होने चाहिये। परन्तु धातुओंकी पुष्टिमें यह स्थिति देखी नहीं जाती। रसका वर्ण श्वेत है, उससे उत्पन्न रक्त लाल है; मांस घन है उससे द्रव धातु मेद उत्पन्न होता है, इत्यादि। संक्षेपमें यह प्रश्नोंका स्वरूप है। उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं—तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ (शोणितं स्वाग्निना पक्वं वायुना च घनीकृतम्। तदेव मांसं जानीयात् स्थिरं भवति देहिनाम् ॥) वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम्। स्थिरतां प्राप्यमांसं स्यात् स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ॥ स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते। पृथिव्यग्न्यनिलादीनां संघातः स्वोष्मणा कृतः ॥ खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम्। करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ॥ मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः। तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ॥ वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु। तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात् कुम्भादिवोदकम् ॥ स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः। हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात् ॥ विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्। बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥—आशय यह है कि अपने-अपने अग्निकी क्रियासे उत्तर धातुकी पुष्टि और पूर्ति पूर्व धातुसे होती है। उत्तर धातुमें घनत्व या खरत्व वायुके कारण तथा स्निग्धत्व जल महाभूतके कारण आता है, इत्यादि।

केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे।
मासाद् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति॥

अ० सं० शा० ७ ; अ० हृ० शा० ३।६५-६६

××× पाकस्य जठराग्नि· भूताग्निभिर्धात्वग्निभी रस-रक्तादिपरिपाट्येत्येवं प्रकारः क्रमः ××। अहोरात्रात् प्रभृति मासः परः प्रमाणावधिरन्नस्य रसादिपाक क्रमादिना परिणमतः शुक्रत्वगमने, न त त ऊर्ध्वं कदाचिदपि। तथा च पराशरोऽष्टरात्रेणान्नं परिणमच्छुक्रत्वं यातीति संगिरते। तथा च तद्ग्रन्थः—"आहारोऽद्यतनः···प्रदुष्यन्ति च धातवः" इति॥

स खलु (रसः) त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि[1] पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धातावतिष्ठते ; एवं मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं भवति। भवति चात्र—

अष्टादश सहस्राणि संख्या ह्यस्मिन् समुच्चये।
कलानां नवतिः प्रोक्ता स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः॥

सु० सू० १४।१४-१५

रसधातुर्धात्वन्तराणां स्वभावं जनयन्नेकैकस्मिन् धातौ कियन्तं कालमवतिष्ठत इत्याह—स खल्वित्यादि। परिणामं गच्छन्नेव तिष्ठति पच्यमानस्थालीतण्डुलवत्, न पुनरस्य गमननिवृत्तिः। त्रीणि त्रीणि कलासहस्राणि पञ्चदश च कला इत्यस्यार्थः—रसः किलैकाहेनैव संपद्यते, तदनन्तरं ये षड् धातवस्ते प्रत्येकं पञ्चभिः पञ्चभिरहोभिः संपद्यन्ते। ×× अत्रार्तवशब्दोऽयं शुक्रे वर्तते न तु रजसि। रजो हि रसाद् रक्तवत् सप्तमेऽहनि जायते ×××। अष्टादश सहस्राणीत्यादिना त्रिंशद्दिनानि कथितानि॥

—डह्लन

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम्।
संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्॥

च० चि० १५।२१

अथोत्सर्गतः कियता कालेन धातुपरिवृत्तिर्भवतीत्याहषड्भिरित्यादि। षड्भिरहोरात्रै रसस्य शुक्ररूपतया परिवर्तनं भवतीति केचिदिच्छन्ति। तत्रोत्पन्नो रसो रक्तमेकेनाहोरात्रेण याति, एवं रसोत्पत्तिदिनं परित्यज्य षडहेन शुक्रता भवति। यदा तु रसोत्पत्तिदिनमपि प्रक्षिप्यते तदा षड्भिर्दिनैरतिक्रान्तैः सप्तमेशुक्रभावतया परिवर्तनं भवतीति ज्ञेयम्। उक्तं हि पराशरे—

"आहारोऽद्यतनः श्वो हि रसत्वं गच्छति नृणाम्।
शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि, चतुर्थे मांसतामपि॥
मेदस्त्वं पञ्चमे, षष्ठे त्वस्थित्वं, सप्तमेत्वियात्।
मज्जतां, शुक्रतां याति नियमादष्टमे नृणाम्॥
तस्माद्धि पथ्यापथ्याभ्यामाहाराभ्यां नृणां ध्रुवम्।
सप्तरात्रेण शुध्यन्ति प्रदुष्यन्ति च धातवः॥"[2]

१—कलाका अर्थ जाननेके लिए देखिये—सु० सू० ६।५

२—अन्तिम श्लोक अ० हृ० शा० ३।६५ की अरुणदत्तकी टीकामें विशेष होनेसे वहाँ से उद्धृत किया है।

एतदप्युपयोगादिनं संपूर्णं परित्यज्यैव व्याख्यातव्यमित्याहुः। किंच, रसधातोः रक्तधातुरूपतया च परिणमनं यत् तदपि पञ्चदिननिर्वर्त्यमेवेति। यदुक्तं सुश्रुते—"स खल्वाप्यो रसः × × × (सु० सू० १४।१४) इति। तेनैतत् पक्षद्वयमपि केचिदित्यादिना दर्शयति। स्वमतमाह—संतत्येत्यादि। भोज्ये उपयुक्ते सति धातूनां रसादीनां चक्रवत् परिवृत्तिर्भवति अविश्रान्ता समुत्पत्तिर्धातूनां भवति। चक्रदृष्टान्तेन तु परिवृत्तिकालानियमं दर्शयति। यथा चक्रं पानीयोद्धरणार्थं नियुक्तं वाह्यमानं बाहुबलप्रकर्षात् कदाचिदाश्वेव परिवर्तते कदाचिद् बाहुबलमान्द्याच्चिरेण; एवं धातवोऽपि अग्न्यादिसौष्ठवाच्छीघ्रमेव परिवर्तन्ते, अग्न्यादिवैगुण्ये चिरेण परिवर्तन्ते इति। एवं सुश्रुतेनापि "शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येव शरीरं केवलम् (सु० सू० १४।१६)" इत्यत्र दृष्टान्तत्रयेण रसपरिणामोऽपि अग्न्यादिभेदेन प्रकृष्टाप्रकृष्टकालज उक्त एव। तत्र हि जलसन्तान दृष्टान्तेन चिरेण मासपर्यन्तेन शुक्रतापत्तिः रसस्योक्ता; शब्दसंतानदृष्टान्तेन तु नातिशीघ्रं नातिचिराच्च शुक्रोत्पत्तिरुक्ता। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—"केचिदाहुरहोरात्रात् × × (अ० सं० शा० ७; अ० हृ० शा० ३।६५)" इति। तदेतत् सकलं चक्रदृष्टान्तेन गृहीतं ज्ञेयम्॥ —चक्रपाणि

स (रसः) शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम्[1]॥

सु० सू० १४।१६

× × × शब्दादि दृष्टान्तत्रयेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्नयो निर्दिष्टाः। शब्दसंतानवत्तीक्ष्णाग्नीनां रसः संचरति, अर्चिःसंतानवन्मध्याग्नीनां, जलसंतानवन्मन्दाग्नीनाम् इति। तेन तीक्ष्णाग्नीनामष्टाहेनैव रसः शुक्रीभवति, मन्दाग्नेर्मासेनैव × ×॥ —डल्हन

ननु तन्त्रान्तरेऽष्टाहाच्छुक्रोत्पत्तिरुक्ता यदुक्तं पराशरे—"आहारोऽद्यतनः × × " इति; चरकेऽप्युक्तम्—"षड्भिः केचिदहोरात्रैः × ×" (च० चि० १५।२१) इति। तदेतदाशङ्क्याह—स शब्दार्चिर्जलसंतानवदित्यादि। यदेतन्मासेन रसस्य शुक्रत्वाभिधानं तत् पराकाष्ठ्याज्ञेयम्। अर्वागपि त्वग्निप्रकर्षस्रोतः शुद्धिप्रकर्षाद् रसस्य शुक्रतापत्तिर्भवति। यदुक्तं चरके—"संतत्या पोष्यधातूनाम्··· (च० चि० १५।२१)" इति। अत्र हि चक्रस्य वाह्यवाहकप्रकर्षाप्रकर्षाभ्यां यथा परिवृत्तिः शीघ्रं चिरेण वा भवति, तथा रसस्यापीति वाक्यार्थः। तेनेहापि शब्दवदनुसरतीत्यनेन मध्यः परावृत्तिक्रम उच्यते; अर्चिर्वदित्यनेन शीघ्रः, अर्चिःसंतानो हि शब्दसंतानादपि शीघ्रः; जलसंतानवदित्यनेन चातिमन्दः परो मासेन परावृत्तिरूपः क्रम उच्यते। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—"केचिदाहुरहोरात्रात् × × (अ० सं०, अ० हृ०)" इति। × ×॥ —चक्रपाणि

रस यों प्रत्येक धातुके स्थान (आशय) में उसकी पुष्ट्यर्थ अविराम पहुँचता रहता है, तथापि उसके धात्वग्नि या भूताग्निके बलके न्यूनाधिक होनेसे रससे तत्-तत् धातुके बननेमें कालकी कुछ भिन्नता होती है। जैसे कुए से पानी निकालनेके लिए हाथका पम्प लगाया हो, वह चलानेवाले पुरुषके बाहुबलानुसार न्यूनाधिक काल-भेदसे पानी देता है, वही स्थिति यहाँ भी है। इस प्रकार अग्नि मन्द हो तो अधिक से अधिक एक मास (१८ हजार ९० कला) में रससे शुक्र बनता है। अग्नि मध्यबल हो तो एक-एक दिनमें एक-एक धातु बननेके क्रमसे सात दिनमें, किंवा रसधातुकी उत्पत्तिका प्रथम दिवस न गिना जाय तो छः दिनमें रससे शुक्रकी पुष्टि होती है। अग्नि और भी बली हो तो एक ही दिनमें सातों धातु बन जाते हैं। वृष्य द्रव्य अपने प्रभावसे शुक्रको और भी शीघ्र पुष्ट करते हैं। तत्-तत् धातुको रस पहुँचानेवाले स्रोतके स्वरूपका भेद (न्यूनाधिक विवृत—खुला—या संवृत—बन्द-होना) भी रससे तत्-तत् धातुकी पुष्टिका काल भिन्न होनेमें कारणभूत है।

१—आगे रस-रक्तानुधावनके अधिकारमें इस सूत्रकी अधिक व्याख्या की है।

क्रमपरिणाम-पक्षमें दूषण और उसका परिहार—

क्रमपरिणाम-पक्षका खण्डन करते हुए चक्रपाणि कहते हैं।

एवु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामपक्षो विरुद्ध एव। येन सर्वात्मपरिणामे त्रिचतुरोपवासेनैव नीरसत्वाच्छरीरस्य मरणं स्यात्; मासोपवासे च केवलं शुक्रमयं शरीरं स्यात्[1] ॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

यह पक्ष तर्कसह नहीं है। इस पक्षके अनुसार यदि प्रत्येक पूर्वधातुका सर्वतोभावेन उत्तर-धातुमें परिणत होना स्वीकार करें तो यह भी मानना होगा कि, तीन-चार दिन अनशन किया जाय तो शरीरमें रसधातु सर्वथा न रहेगा; अथवा, और दो-चार दिन उपवास करें तो शरीर सर्वथा रक्तशून्य हो जायगा। कारण, इतने कालमें वे तो पूर्णतया अगले धातुके रूपमें परिणत हो चुके होंगे और अन्नपानका सेवन न होनेसे उनकी पूर्ति होगी नहीं। इसी प्रकार एक मास अन्न सेवन न किया जाय तब तो शेष धातुओंका बनना बन्द हो जानेसे और इस कालमें सर्वधातु शुक्र रूपमें परिणत हो चुके होनेसे शरीरमें एक मात्र शुक्र धातु रह जायगा। परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता; अतः यह पक्ष असिद्ध है।

इसका उत्तर वृद्ध वाग्भटका अनुसरण करते हुए डह्लनाचार्यने दिया है।

तत्राहाररसो व्यानविक्षिप्तो यथास्वं सप्तसु धात्वग्निषु क्रमात्पच्यमानः स्वात्मभाव-प्रच्युतिसमनन्तरमेव प्राप्तरक्तादिधातुसंज्ञकः कालवदस्खलितबलप्रमाणो देहमूर्जयित्वा धातून् धातुमलांश्च पुष्णाति। अथान्नकिट्टमच्छं मूत्रं घनं शकृत्। रसस्य सारो रक्तं; मलः कफो लसीका च। रक्तस्य सारो मांसं कण्डराः सिराश्च; मलं पित्तम्। मांसस्य सारो मेदस्त्वचो वसा च; किट्टं कर्णाक्षिनासिकास्यरोमकूपप्रजननमलाः। मेदसः सारोऽस्थिस्नायुसंधयः; किट्टं स्वेदः। अस्थ्नः सारो मज्जा; किट्टं केशलोमानि नखाः। मज्ज्ञस्तु सारः शुक्रं; मलोऽक्षिविट्त्वचां स्नेहः। शुक्रस्य सारमोजः। अत्यन्तशुद्धतया चास्मिन् मलाभावः। अन्ये पुनरत एव तस्य नेच्छन्ति पाकम्। अपरे पुनः शुक्रस्य सारं गर्भमेवामनन्ति ॥

अ० सं० शा० ६

शोणितप्रसंगेनान्येषामपि धातूनां क्रमेणोत्पत्तिं दर्शयन्नाह—रसाद् रक्तमित्यादि। "स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति" (सु० सू० १४।४) इत्यनेनैव रसादेव रक्तस्य भवने उक्ते रसात् पुनः शोणितसंभववचनं नियमार्थम्। तेन रसात् क्रमोत्पत्त्या शोणितमेव भवति न परे धातव इति। एतेन युगपदेव सर्वधातुषु रससंचाराद् रसेनैव सर्वधातुपोषणमिति तन्त्रान्तरीयं वचो निरस्तम्। ननु, यदि परिणमन्ति रसादयो रक्तादिभावेन तर्हि सर्वेषामुत्सादः स्यात्? सन्तत्या परिणाम इति चेत् तर्हि सर्वेषां पूर्वेषामल्पता स्यादुत्तरेषां बाहुल्यमिति? नैतदस्ति। रसादीनां मलस्थूलाणुभागविशेषेण त्रिविधः परिणामो भवति; तद्यथा—अन्नात् पच्यमानाद् विण्मूत्रं मूलः, सारो रसः; रसादग्निपक्वान्मलः कफः, स्थूलो भागो रसः, अणुभागो रक्तम्; रक्तादग्निपक्वान्मलः पित्तं, स्थूलभागः शोणितम्, अणुभागस्तु मांसमिति; ततोऽप्यात्मपावकपच्यमानान्मलः श्रोत्रनासाकर्णा[2]क्षिप्रजननादिस्रोतोमलः,

---

१—यह स्थापना सु० सू० १४।१० की भानुमती टीका में भी देखिये।

२—यहाँ 'कर्ण' और 'श्रोत्र' दोनोंका ग्रहण किया है। यह प्रमाद-वश हुआ है या इसे भिन्नार्थ मानकर इसका विचार करना चाहिए।

स्थूलभागो मांसं, सूक्ष्मो मेदः ; ततोऽपि निजवह्निपच्यमानान्मलः स्वेदः, स्थूलोंऽशो मेद एव, सूक्ष्मभागोऽस्थि ; ततोऽपि पच्यमानान्मलः केशलोमश्मश्रूणि, स्थूलोऽस्थि, सूक्ष्मस्तु मज्जा ; ततोऽपि मज्ज्ञः पावकपच्यमानान्मलो नयनपुरीषत्वचां स्नेहः, स्थूलो भागो मज्जा, सूक्ष्मः शुक्रम् ; ततः पुनः पच्यमानादुपमलो नोत्पद्यते सहस्रधाध्मातसुवर्णवत्, स्थूलो भागः शुक्रमेव, स्नेहभागः सूक्ष्मस्तेजोभूतमोजः । पूर्वोक्त एवार्थः श्लोकाभ्यां कथ्यते ।

स्थूलाण्वंशमलैः सर्वे भिद्यन्ते धातवस्त्रिधा ।
स्वः स्थूलोंऽशः परं सूक्ष्मस्तन्मलं याति तन्मलः ॥
स्वाग्निभिः पच्यमानेषु मलः षट्सु रसादिषु ।
न शुक्रे पच्यमानेऽपि हेमनीवाक्षये मलः ॥

आकृष्टाण्डकोशस्य पुंसः श्मश्रुपाताच्छ्मश्रु शुक्रमल इत्येके । तन्न, श्मश्रुहीनस्यापि शुक्रदर्शनात् । 'प्रजायत' इति क्रियापदं रसादीनां मेदःपर्यन्तानां विशिष्टकार्यान्तरोत्पाददर्शनार्थम् । एभ्य एवोपधातवः स्वभावादुत्पद्यन्ते न पुनरस्थ्यादिभ्य इति । तथाहि—रसात् स्तन्यमार्तवं च ; रक्तात् कण्डराः सिराश्च ; मांसाद् वसात्वचौ ; मेदसः स्नायुसन्धी × × । संभवशब्दोऽत्र पोषणे, न त्वपूर्वोत्पादने । यतो रसादीनां शुक्रान्तानामागर्भादेवोत्पत्तिरिति ॥ सु० सू० १४।१० पर डल्हन

आहारका जठराग्निसे पाक होकर वह द्विधा विभक्त हो जाता है—सार या अन्नरस तथा किट्ट (मल)। यह मल घन या पुरीष (शकृत्) तथा द्रव या मूत्र दो प्रकारका होता है। सार शोषित होकर शरीरके सार या प्रसादभूत धातु-उपधातुओंका पोषण करता है; तथा किट्टभागसे शरीरके किट्टों (मलों) की पुष्टि होती है[1] । जैसे अन्नका पचन जठराग्निसे होता है वैसे रससे प्रत्येक धातु-उपधातुकी पुष्टिके लिए उसका अपना-अपना अग्नि होता है। एवं, जठराग्निसे अन्नपानका पचन होनेपर जैसे उसके सार और मल दो विभाग हो जाते हैं वैसे प्रत्येक धात्वग्निसे पाक होनेपर रसके (क्रमपरिणामपक्षके अनुसार पूर्व धातुके) दो विभाग हो जाते हैं—सारभूत उत्तरधातु तथा उत्तरधातुके उपधातु एवं उस धातुके अपने-अपने मल।

क्रमपरिणामपक्षके दूषणका परिहार करते हुए डल्हन कहते हैं कि, अपने-अपने अग्निसे पाक होनेपर सम्पूर्ण पूर्वधातु उत्तरधातु तथा उसके उपधातुके रूपमें परिवर्तित नहीं हो जाता ; किन्तु सारभागके दो विभाग होते हैं : एक स्थूलभाग अर्थात् स्वयं पूर्वधातु तथा द्वितीय सूक्ष्मभाग अर्थात् उत्तरधातु और उसके उपधातु। इस प्रकार पूर्वधातुसे उत्तरधातुकी पुष्टि होते हुए पूर्वधातुका सम्पूर्ण क्षय होनेका प्रसंग नहीं आता। स्वयं डल्हनके शब्दोंका प्रयोग करें तो—पूर्वधातुके तीन विभाग ये होते हैं : अणु (सूक्ष्म) भाग उत्तरधातु, स्थूल भाग पूर्वधातु तथा मल। अब इस मतके अनुसार धातु पुष्टिका क्रम देखें।

अन्नपानका अन्तरग्नि (जठराग्नि) से पाक होकर सार अन्नरस बनता है तथा मल विट् (पुरीष), मूत्र और अधोवायु। अन्नरस रसधातुसे मिलकर उसकी वृद्धि करता है। इस रसधातुका रसाग्निसे पाक होकर सूक्ष्म भाग रक्तधातु और आर्तव तथा उपधातु स्तन्य (दूध) बनते हैं, स्थूल भाग रस तथा मल—कफ और लसीका। रक्तका रक्ताग्निसे पाक होकर अणु (सूक्ष्म) भाग मांसधातु और कण्डरा (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ ये उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग रक्त और मल पित्त। मांसका मांसाग्निसे पाक होकर अणु भाग मेदधातु तथा छह त्वचाएँ और वसा (मांसगत स्नेह) ये उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग स्वयं मांस एवं मल कर्ण, नेत्र, नासिका, मुख, रोमकूप और (बाह्य) जननावयव

१—देखिये—पृ० २३-२८ ; १३३-३८ ।

इन स्रोतोंके मल। मेदका मेदोऽग्निसे पाक होकर अणुभाग दन्त-सहित अस्थिधातु तथा स्नायु (सूक्ष्म स्नायु) और सन्धि ये उपधातु बनते हैं, स्थूल भाग मेद तथा मल स्वेद। अस्थिका अस्थ्यग्निसे पाक होकर अणु (सार) भूत मज्जा धातु बनता है, स्थूल भाग अस्थि एवं मल केश, लोम और नख। अस्थि, मज्जा और शुक्रका कोई उपधातु नहीं होता। आगे, मज्जाका मज्जाग्निसे पाक होकर अणुभाग शुक्र बनता है, स्थूल भाग मज्जा तथा मल नेत्र, पुरीष[1] और त्वचामें स्थित स्नेह (स्निग्धता-जनक द्रव्य)। शुक्रका शुक्राग्निसे पाक होकर कोई मल नहीं बनता। कारण, शुक्र सहस्रों बार प्रतप्त किये सुवर्णके सदृश निर्मल होता है; उसका स्थूल भाग स्वयं शुक्र होता है तथा सूक्ष्म भाग सर्वधातुओंका तेज (सार) भूत ओज। कोई कहते हैं कि श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) शुक्रका मल है, पर यह सत्य नहीं। कारण, श्मश्रुहीनोंमें भी शुक्र तो देखा ही जाता है। कोई गर्भको शुक्रका सार (सूक्ष्म भाग) मानते हैं। (स्मरण रहे, जैसा कि पहले भी कह आये हैं, यहाँ 'बनना' का अर्थ जो पहले नहीं था उसकी उत्पत्ति—अपूर्वोत्पत्ति—अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि, धातु, उपधातु और मल तो गर्भमें ही बन चुके होते हैं। आगे सारी आयु उनकी पुष्टि ही होती है)[2]।

सोलहवें अध्यायके प्रारम्भमें 'अग्नि और पित्त' शीर्षकके अन्तर्गत हमने कहा है कि, प्राचीनोंके अग्निका साम्य नव्य क्रियाशारीरके रासायनिक क्रिया करनेवाले तीन द्रव्योंसे देखा जा सकता है; एन्ज़ाइम तथा को-एन्ज़ाइम, इनसे भिन्न पाचक रस तथा अन्तःस्राव। महास्रोतमें क्रिया करनेवाले पाचक रस प्रधानतया प्रथम दो प्रकारके हैं। सिक्रीटीन आदि दो-एक द्रव्य तृतीय कोटिके भी हैं। प्रथम दो प्रकारके रस कोषोंके शरीरमें रहकर भी प्रोटीनादिका पचन और उपयोग कराते हैं। इनका वर्णन पिछले अध्यायोंमें किया जा चुका है। इस अध्यायमें धातुपोषण सम्बन्धी शेष मतोंका उल्लेख कर अगले अध्यायमें अन्तःस्रावोंका निरूपण करेंगे।

१—यौवनमें विबन्धका एक कारण—शुक्रक्षय—पुरीषमें स्निग्धता यथेष्ट हो तो उसका अनुलोमन सम्यक् होकर विबन्धकी संभावना न्यून होती है। यौवनमें सहज श्रमके कारण यों भी स्नेहांशका पाक होते रहनेसे शरीरके इतर भागोंके समान पुरीषमें भी स्नेहांश अल्प होता है। साथ ही, शुक्रधातुका व्यय विशेष होनेसे उसका मलभूत पुरीष-गत स्नेह भी न्यून बन पाता है। इससे युवाओंमें विबन्धकी संभावना बढ़ जाती है। संप्रति शुक्रक्षयोत्तेजक वातावरण विशेष होनेसे यह संभावना अधिक हो गयी है। इसके अतिरिक्त स्वस्थवृत्तोक्त नियमोंके अज्ञान या प्रमादजनित उल्लङ्घनादिके कारण हुआ वेगावरोध, आहारमें रूक्षांशकी अधिकता तथा स्नेहकी न्यूनता, उपयुक्त प्रकार और प्रमाणमें व्यायाम न होना आदि भी विबन्धके कारण हैं।

२—छान्दोग्योपनिषद्में अन्नके पचकर तीन भाग होते कहे गये हैं। इस प्रसंगमें वह वचन द्रष्टव्य है: अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽणिष्ठस्तन्मनः॥ छान्दोग्योपनिषद् ५।१—अर्थात् अन्नके पाकानन्तर तीन भाग हो जाते हैं—स्थूलतम भाग या पुरीष, मध्यम भाग या मांस (शरीरके धातु-उपधातु) तथा सूक्ष्मतम भाग या मन। अर्थात् अन्नके इन-इन भागोंसे इन-इन पदार्थोंकी पुष्टि होती है। (सु० शा० ४।६ में 'मांस' शब्द धातुमात्रके लिए आया है। तद्वत् यहाँ भी मांसका व्यापक अर्थ लिया है।)

आधुनिक क्रियाशारीरमें धातुओंकी क्रमोत्पत्तिका निर्देश नहीं। नोबल-पारितोषिक विजेता एलेक्सिस केरलके 'मैन ध अननोन' (अज्ञात मानव) पृ० १८८ पर अस्थिभग्नके संधानका स्वरूपोल्लेख करते हुए लिखा है कि भग्न खण्डोंके सिरोंके समीपका मांस प्रथम तरुणास्थिमें रूपान्तरित होता है, और यह तरुणास्थि पीछे अस्थिमें परिणत हो जाती है। क्रमपरिणामका कुछ साम्य इस प्रक्रियामें देखा जा सकता है।

केदारीकुल्यान्याय—

अन्ये त्वाहुः—केदारीकुल्यान्यायेन रसस्य धातुपोषणम्। तत्रान्नादुत्पन्नो रसो धातुरूपं रसमधिगम्य कियताऽप्यंशेन तं रसं वर्धयति, अपरश्च रसराशिस्तत्र गतः सन् शोणितगन्धवर्णयुक्तत्वाच्छोणितमिव भूत्वा कियतापि शोणितसमानेनांशेन धातुरूपं शोणितं पुष्णाति, शेषश्च भागो मांसं याति, तत्रापि शोणितवद् व्यवस्था। तथा मेदःप्रभृतिष्वपीति। अत एव च मुख्यार्थोऽयं ग्रन्थो भवति; यथा—"रसाद्रक्तं ततो मांसम् × ×" (च० चि० १५।१६) इति। तथा हारीतेऽप्युक्तम्—"रसः सप्ताहादर्वाक् परिवर्तमानः श्वेतकपोतहरितहारिद्रपद्मकिंशुकालक्तकरसप्रख्यश्चायं यथाक्रमं दिवसपरिवर्ताद् वर्णपरिवर्तमापद्यमानः पित्तोष्मोपरागाच्छोणितत्वमापद्यते" इति। तथा सुश्रुतेऽप्युक्तम्—"स खल्वाप्यो रसः × × ×" (सु० सू० १४।१४) इति॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

किंवा रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र रक्तस्थानसंबन्धाद् रक्तसादृश्यं रक्तव्यपदेशं चानुभवति, रक्तं च रक्तसमानेन स्तोकेनांशेन पोषयति। ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति; तत्रापि मांससमानेनांशेन मांसपोषणं करोति मांससादृश्यं मांसशब्दाभिधेयतां चानुभवति। एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति। यथा—केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीमाप्लावयतीति द्वितीयः पक्षः। एतदेवोक्तं हारीते यत्—"रसः सप्ताहादर्वाक् × × ×" इत्यादि। तथा सुश्रुतेऽपि "तत्रैषां धातूनाम्" इत्यादिना तथा "स खलु त्रीणि" इत्यादिना रसेनैव रक्तादिपोषणमुक्तम्॥ सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

किंवा, रस एव रक्तं प्रथमं प्लावयति, तत्र च रक्तस्थानसंबन्धात् रक्तसादृश्यमनुभवति, रक्तं च रक्तसमानेनांशेन पोषयति; ततो रक्तमाप्लाव्य मांसमाप्लावयति, तत्रापि मांसपोषणं करोति, मांससादृश्यमनुभवति। एवमुत्तरोत्तरधातून् रस एवाप्लावयति वर्धयति च; यथा केदारनिषिक्तं कुल्याजलं प्रत्यासन्नां केदारीं तर्पयित्वा क्रमेण केदारिकान्तराणि आप्लावयति॥ च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणि

केदारीकुल्यान्याय पक्षका मन्तव्य है कि—जैसे खेतमें जल छोड़ दिया जाय तो वह संपूर्ण प्रथम समीपतम क्यारी (केदारी) में जाता है; उसको जितने जलकी आवश्यकता होती है, उतना देकर उसे तृप्त करता है; पश्चात् उस जलका शेषांश कुल्या (नाली) द्वारा अगली क्यारीमें, फिर अगली क्यारीमें जाता है; इस प्रकार शेष-शेष अंशसे उत्तर-उत्तर क्यारीको सींचता है, वही स्थिति रसद्वारा धातुओंके पोषणकी है। अन्नरसकी प्रथम रसधातुके रूपमें परिणति हो, पूर्व-पूर्व धातुका उत्तर-उत्तर धातुके रूपमें परिणाम (परिवर्तन) होकर उसकी (उत्तरधातुकी) पुष्टि होती है, यह मत इस पक्षको मान्य नहीं है। उसका मत है कि रस ही साक्षात्—स्वरूपसे—प्रत्येक धातुके आशयमें जाकर उसे पोषक सामग्री देकर पुष्ट करता है। यथा, प्रथम रसधातु रक्तधातुके आशयमें जाता है। रक्तस्थानके संसर्गवश वह रक्तके सदृश गन्ध, वर्ण तथा उसकी संज्ञा प्राप्त करता है तथा रक्तके पोषणके अनुरूप सामग्री, जो सर्व धातुओंकी पोषक सामग्रीका एक अंश होती है, रक्तको देकर उसे पुष्ट करता है।

अनन्तर रक्त-सदृश एवं रक्तसंज्ञाको प्राप्त रस मांसधातुके अधिष्ठानमें जा मांसके पोषणके अनुरूप एकांशसे उसे पुष्ट करता है, उसका सादृश्य तथा उसका अभिधान (नाम) ग्रहण करता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व धातुके आशयमें जा, अपने एकांशसे उस-उस धातुकी पुष्टि कर, उस धातुके संपर्कवश उसके सदृश हुआ रस ही शेषांशसे उत्तर-उत्तर धातुकी पुष्टि करता जाता है। चक्रपाणि का कथन है कि, 'रसाद् रक्तम्' इत्यादि वचन द्वारा चरक, 'स खल्वाप्यो रसः' इत्यादि द्वारा सुश्रुत तथा 'रसः सप्ताहादर्वाक्' इत्यादि वचन द्वारा हारीत इसी पक्षकी पुष्टि करते हैं।

चक्रपाणि ने आगे तीनों पक्षोंका विचार करते हुए क्षीरदधिन्यायको असंगत बताकर शेष दो पक्षोंको महाजनोंद्वारा आदृत कहकर 'स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये' द्वारा केदारीकुल्यान्यायके प्रति अपना पक्षपात प्रदर्शित किया है[1]।

१—विशेष जिज्ञासु विद्यार्थियोंके विचारार्थ ये वचन उद्धृत किये जाते हैं—केदारीकुल्यापक्षे तु रसाद् रक्तादिपोषणं मुख्यार्थतया भवति। यदपि रक्तादेर्मांसादिपोषणं तदपि रसादेव रक्तादिधर्मकात्, तथा रक्तादिव्यपदेशभाजो भवतीति व्युत्पादितमेव। यत्तु रसस्य सर्वधातुदोषमलानुसारित्वमुक्तं तदपि रक्तादिपोषकतया तथा हृदयस्थायिरसस्य च कृत्स्नदेहव्यापकतया चोपपन्नम्। एवं चरकेऽप्युक्तम्—"व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा (च० चि० १५।३६)" इत्यादि तदप्युक्तन्यायादेवोपपन्नम्। यदपि मांसादिना समानेन मांसादेरेव पोषणं तदपि धात्वाप्लावनन्यायेन गच्छताऽपि रसेन तद्धातुसमानेनांशेन तद्धातुपोषणादुपपन्नम्। वृष्यं तु प्रभावाद् यथा खलेकपोतन्यायेन विदूरमपि शुक्रं प्रभावाच्छीघ्रं याति तथाऽत्रापि शीघ्रमेव वृष्योत्पन्नो रसो रक्तादिधातून् शीघ्रमाप्लावयतीति सुघटम्; एवमनया दिशाऽप्यत्र दूषणमुद्धार्यम्। तेनायं पक्षस्तावत् साधुः। खलेकपोतपक्षेऽपि यथा रसाद् रक्तमित्यादि गौणतया भवति तद्दर्शितमेव। यत्तु चरके—"रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नोपपद्यते (च० चि० ८।५८)" इति, तत् कृत्स्नदेहचारिशोणिताभिप्रायेणेति व्यवस्थाप्यते। यत्त्वेकैकस्मिन् धातौ त्रीणीत्यादिना धातावस्थानकाल उक्तः स पूर्वपूर्वरक्तादिधातुलङ्घनकालो विदूरगामिरसस्येति व्यवस्थाप्यते। एवमनयोः पक्षयोर्महाजनोपगीतयोर्गतिरुपदर्शिता भवति। स्वरसस्त्वस्माकं केदारीकुल्यान्याये। यत्त्वन्यैः खलेकपोतन्यायस्वीकारे संततज्वरस्य द्वादशाश्रयत्वमुक्तं तन्न बुध्यामहे। येन संततस्य द्वादशाश्रयत्वं दोषमहिम्ना कृत्स्नदेहव्यापकतया—"यथा धातुंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः (च० चि० ३।५६)" इत्यादिनोक्तम्; दोषाणां च कुपितानां किमगम्यमस्ति देहे, येन यावद्रसमेव परं सर्वधात्वादिव्यापकं सर्वधातुदूषणे अपेक्षन्ते॥ सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

किंच, परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य रक्तादिरूपतापत्तिक्रमेणातिचिरेण शुक्रं भवतीति, क्षीरादयश्च सद्य एव वृष्या दृश्यन्ते। खलेकपोतपक्षे तु वृष्योत्पन्नो रसः प्रभावाच्छीघ्रमेव शुक्रेण संबद्धः सन् तत्पुष्टिं करोतीति युक्तम्। तथा रसदुष्टौ सत्यां परिणामपक्षे तज्जन्मनां शोणितादीनां सर्वेषामेव दुष्टिः स्यात्, दुष्टकारणजातत्वात्। खलेकपोतपक्षे तु यद्धातुपोषको रसभागो दुष्टः स एव दुष्यति न सर्वे, तदितरेषामदुष्टकारणत्वात्। तथा मेदोवृद्धौ सत्यां भूरिकारणत्वेनाऽस्थ्नापि भूयसा भवितव्यं, दृश्यते च भूरिमेदस इतरधातुपरिक्षयः; वचनं च—"मेदस्विनो मेद एवोपचीयते, न तथेतरे धातवः (च० सू० २१।४)" इति। एवमादि परिणामवादे दूषणम्। एषु च पक्षेषु सर्वात्मपरिणामवादो विरुद्ध एव; येन सर्वात्मपरिणामे त्रिचतुरोपवासेनैव नीरसत्वाच्छरीरस्य मरणं स्यात्, मासोपवासे च केवलं शुक्रमयं शरीरं स्यात्। केदारीकुल्यान्यायस्तु तुल्यबल एव खलेकपोतन्यायेन। यतो यदुक्तं वृष्यप्रभावं प्रति तत् केदारीकुल्यापक्षेऽपि प्रभावादेव शीघ्रं रक्तादिधातूनभिगम्य शुक्रं जनयिष्यति वृष्यं, यथा खलेकपोतपक्षेऽपि प्रभावादिति। यत्तु रसदुष्टौ शोणितदूषणं तन्न भवति; धातुभूतशोणितांशपोषकस्य रसभागस्यादुष्टत्वात्, इति समानं

सिराओंका कर्म बताते हुए सुश्रुतने दो दृष्टान्त दिये हैं—"याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यते (सु० शा० ७।३)।" इन दृष्टान्तोंमें एक केदारी और कुल्याका दृष्टान्त है। यह सुश्रुतका केदारीकुल्यापक्षके प्रति पक्षपात नहीं तो संकेत तो अवश्य ही सूचित करता है। डल्हन भी यों परिणामवादका समर्थक है, परन्तु उसने भी रस द्वारा धातुओंके प्रतर्पणके लिए यही दृष्टान्त दिया है—स च (व्यानेन विक्षिप्तो रसः) कुल्याकेदारन्यायेन सर्वान् धातून् प्रतर्पयति।

सु० सू० ४६।५२८ पर डल्हन

खलेकपोतन्याय पक्ष—

किंवा आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गैः स्थायिरसरुधिरमांसादीन् रसरुधिरादिसमानांशेन तर्पयति ; तत्र यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको भागस्तं शीघ्रं पुष्णाति, यस्तु विदूरधातुस्तस्य सूक्ष्मविदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। एवं भिन्नैरपि मार्गैर्धातुपोषणं भवति। तेन रक्तपोषणकालादुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं पोषयति, तथा मांसपोषणकालादुत्तरकालं मेदःपोषको रसभागो मेदः पोषयतीत्यादि। तेन 'रसाद् रक्त'मित्यादेरयमर्थो यत्, रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं प्रवर्तते, रक्तपुष्टिकालादुत्तरकालं मांसं प्रवर्तते इत्यादि। अस्मिंश्च पक्षे यदुक्तम्—"विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः। स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत्" (सु० सू० ४६।५२८) इति, तथा "तस्मिन् धातुमलानुसारिणि रसे (सु० सू० १४।३)" इति च मुख्यार्थं भवति। तथा चरकेऽपि "स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुना (च० चि० ८।३९)" इति च मुख्यार्थं भवति। तेन यथा, खले उत्पतितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नत्वविप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण वा गमनं भवति, तद्वत्। इति क्षीरदधिन्याय-केदारिकुल्यान्याय-खलेकपोतन्यायात् त्रिधा धातुपोषणक्रमः॥

सु० सू० १४।१० पर चक्रपाणि

अन्ये त्वाहुः—खलेकपोतन्यायेनायमन्नरसः पृथक्पृथग्धातुमार्गे गतः सन् रसादीन् पोषयति, न त्वस्य धातुपोषको रसभागो धात्वन्तरेण समं संबन्धमप्यनुभवति। रसादिपोषकाणि स्रोतांस्युत्तरोत्तरं सूक्ष्ममुखानि दीर्घाणि च। तेनैव रसपोषकरसभागो

पूर्वेण। अत्रापि हि पक्षे न सर्वो रसो धातुरूपशोणिततामापद्यते, किं तर्हि कश्चिदेव शोणितसमानो भागः ; शेषस्तु शोणितस्थानगतत्वेन किंचिच्छोणितसमानवर्णादित्वाच्च शोणितमुच्यते ; अनेन न्यायेन मेदोवृद्धौ सत्यामस्थिवृद्धिरपि निरस्ता ; यतो न मेदसा अस्थि पोष्यते, अपि तर्हि मेदःस्थानगतेनैव रसेन मेदोऽनुकारिणा। एवमनयोः पक्षयोर्महाजनादृतत्वेन तुल्यन्यायत्वेन च नैकमपि निश्चितं ब्रूमः ; बुद्धिविभवाच्च पक्षबलाबलम् ; अत्र न कश्चित् कार्यविरोध इत्युपरम्यते॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

तत्रेह शब्दार्थपर्यालोचनया केदारीकुल्यान्यायः क्षीरदधिन्यायो वा संगत एव। खलेकपोतन्यायस्तु मनाग्दुर्घटः॥ च० चि० १५।१६ पर चक्रपाणि

इस अन्तिम वचनमें चक्रपाणि ने पूर्वधृत दो वचनोंसे भिन्न मत दर्शाया है। इसमें क्षीरदधिन्याय किंवा केदारीकुल्यान्यायको संगत तथा खलेकपोतन्यायको बुद्धिमें न उतरनेवाला कहा है।

रसमार्गचारित्वाद् रसं पोषयति। एवं रसपोषणकालादुत्तरकालं रक्तपोषकमार्गचारित्वात् रक्तपोषको रसभागो रक्तं पोषयति। तथा शोणितपोषणकालादुत्तरकालं मांसपोषको रसभागो मांसं पोषयति विदूरसूक्ष्ममार्गचारित्वात्। एवं मेदःप्रभृतिपोषणेऽपि ज्ञेयम्। तेन "रसाद् रक्तं ततो मांसम्" (च० चि० १५।१६) इत्यादेरयमर्थो यत्—रसपुष्टिकालादुत्तरकालं रक्तं जायते, तथा रक्तकालादुत्तरकालं मांसं प्रजायते इत्यादि। एवं सुश्रुतहारीतवचने अपि व्याख्येये। यच्च "रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नोपपद्यते" (च० चि० ८।५८) इति राजयक्ष्मणि वक्ष्यति, तद्धृदयचारिशोणिताभिप्रायेण, न तु पोषकशोणिताभिप्रायेण ('कृत्स्नदेहचारिशोणिताभिप्रायेण' इति पाठान्तरम्)। किंच, परिणामपक्षे वृष्यप्रयोगस्य × × ×[1] ॥

च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

किंवा, आहाररस उत्पन्नो भिन्नैरेव मार्गैं रसरुधिरादीनि समानेनांशेन तर्पयति। तत्र च यः प्रत्यासन्नो धातुस्तत्पोषको धातुभागस्तं शीघ्रं पुष्णाति। यस्तु विदूरो धातुस्तस्य विदूरमार्गतया चिरेण पोषणं भवति। एवं भिन्नैरेव मार्गैर्धातूनां पोषणं भवति; यथा खले उत्पतितानां कपोतानां भिन्नदिग्गामिनां स्वीयस्वीयमार्गेणैव गच्छतां गम्यदेशस्य प्रत्यासन्नविप्रकृष्टत्वादिभेदेन शीघ्रं चिरेण च गमनं भवति तद्वत्। इति क्षीरदधिन्यायकेदारीकुल्यान्यायखलेकपोतन्यायात् त्रेधा धातुपोषणक्रमः ॥

च० चि० १५।१६ पर चक्रपाणि

खलेकपोतन्याय पक्षका मन्तव्य है कि, अन्नरसको रसादि विभिन्न धातुओंमें पहुँचानेवाले मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। अन्नरसके अधिष्ठानसे प्रत्येक मार्ग सीधा अपने-अपने धातुके आशयमें जा उसे अन्नरसके रूपमें पोषक-तर्पक सामग्री पहुँचाता है। स्वाभावतः धातुओंकी दूरी भिन्न-भिन्न होनेसे उनके मार्गों (स्रोतों) की लम्बाई भी तदनुसार भिन्न-भिन्न होती है। अतः, जो धातु जितना दूर होगा, एवं जिसका स्रोत जितना लम्बा होगा, उस तक अन्नरसके पहुंचनेमें काल भी उतना ही लगेगा। रस-रक्तादि धातुओंकी दूरी उत्तरोत्तर अधिक होती है। इसके अतिरिक्त उनके स्रोत भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म (पतले विवरवाले) होते हैं: अर्थात् रसके पोषक स्रोतकी अपेक्षया रक्तका पोषक स्रोत सूक्ष्म होता है, उससे मांसका, इत्यादि क्रमसे पूर्व-पूर्व धातुकी अपेक्षया उत्तर-उत्तर धातुका पोषक स्रोत (मार्ग) सूक्ष्मतर होता है। इस कारण भी पूर्व धातुकी अपेक्षया उत्तर धातुमें अन्नरस पहुँचनेमें काल अधिक लगता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर स्रोतोंकी दीर्घता (अधिक लम्बा होना) तथा सूक्ष्मताके कारण उनका पोषण भी उत्तरोत्तर पीछे होता है—प्रथम अन्नरससे इस धातुका, पश्चात् रक्तका, अनन्तर मांसका इत्यादि। इस पक्षमें विशेषता यह है कि, अन्नरस ही साक्षात् सब धातुओंकी पुष्टि करता है। एक धातुके पोषक रसका अन्य धातुके पोषक रसके साथ सर्वथा सम्बन्ध नहीं होता।

किसी खलिहान (खल, खलधान) में दाना चुगनेके लिए एकत्र हुए कबूतर (कपोत) जब तृप्त हो चुकते हैं और अपने-अपने आवासको जानेके लिए उड़ते हैं तो जिसका स्थान जितना दूर होता है उसका मार्ग भी उतना ही दूर होता है; अतः उसे अपने आवास तक पहुँचनेमें काल भी उतना ही लगता है। इस प्रकार प्रत्येक कबूतरको अपने-अपने आवास तक पहुँचनेमें काल भिन्न-भिन्न व्यतीत होता

१—इस टीकाका शेष-अंश टिप्पणीमें पहले दिया है।

है। यही स्थिति इस पक्षके अनुसार धातुओंके पोषणकी है। इस उपमाके अनुसार इसे नाम भी 'खलेकपोतन्याय' दिया गया है। चरक के 'स्रोतसा च यथास्वेन' वचनमें प्रत्येक धातुका पृथक् स्रोत होता है यह कहा है। यह तथा अन्य वचन इस पक्षकी पुष्टिमें प्रस्तुत किये जाते हैं।

वृद्ध वाग्भट स्वयं क्रमपरिणाम पक्षके अनुयायी हैं। अपना मत दर्शाकर आगे एकीय मतसे खलेकपोत पक्षका उन्होंने निम्न शब्दोंमें उल्लेख किया है :

अन्ये तु वर्णयन्ति—अभ्यवहृतमात्रस्याहारस्य कण्ठनाडीप्रलुठितस्य महानिम्न[1]मवतीर्णस्य यो य एवांशः कायाग्निनाऽवलीढः पाकमुपनीयते तस्य तस्यैव प्रसादाख्यो रसलेशोऽभिनिर्वृत्तिसमनन्तरं समं समस्तधातुषु संवृतासंवृतैः[2] प्रविसृतो विवृतमुखेष्वासन्नेषु द्वारैः स्रोतःसु भूयान् प्रथमतरं चान्वेति, पर्यायेणेतरेष्वपि। एवमन्नरस एव साक्षात् सर्वधातून् केनचिदेव कालभेदेन पुष्णाति। न पुनर्धातवो धात्वन्तरतां स्वरूपोपमर्दन प्रतिपद्यन्त इति॥

अ० सं० शा० अ० ७

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार महास्रोत या हृदय कहीं से भी विभिन्न अवयवों या धातुओंको सीधे और पृथक् स्रोत नहीं जाते। किन्तु, हृदयसे निकलकर एक ही प्रधान धमनी जैसे-जैसे आगे जाती है वैसे-वैसे उसकी शाखा-प्रशाखाएँ निकलकर तत्-तत् अवयवमें जाती हैं। हाँ, कुछ प्रारम्भिक प्राणियोंमें अवश्य यह स्थिति देखी जाती है कि, महास्रोत[3] से ही सीधे पृथक्-पृथक् स्रोत पृथक्-पृथक् अवयवोंको जाते हैं। उदाहरणतया, आर्थ्रोपोडिया[4], क्रस्टेशी[5], मोलसी[6] आदि वर्गोंके प्राणियोंमें यह बात पायी जाती है, उच्चवर्ग के मानवादि प्राणियों में नहीं। सो खलेकपोतन्याय उक्त प्राणियों पर ही चरितार्थ होता है। प्रतीत होता है, इन प्राणियोंमें प्राचीनों द्वारा किया गया दर्शन[7] कालवश अर्ध रूपमें हमें प्राप्त हुआ है।

वृष्यादि द्रव्योंकी क्रियामें क्रम-भङ्ग—

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि॥ च० चि० १५।२०

वृष्यादिद्रव्याणां धातुपरम्पराक्रमेण शुक्रजननादि कार्यं निषेधयन्नाह—वृष्यादीनामित्यादि। आदिशब्देन बल्यभेदनादीनि ग्राहयति। वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां प्रभावो बलमाशु पुष्णाति। ततस्ते क्षीरादयः प्रभाववर्धितबलाः शीघ्रमेवान्नकार्यं शुक्रजननादि कुर्वन्ति, न यथोक्तधातुक्रमेणेत्यर्थः। किंवा, वृष्यादीनां क्षीरादिद्रव्याणां यः प्रभावः स आशु बलं पुष्णाति स्वजन्यानां शुक्रादीनामित्यर्थः। हिशब्दोऽवधारणे ; एवं वृष्यादीनां प्रभावाच्छुक्राद्युत्पत्तिः शीघ्रं भवति। —चक्रपाणि

आदिग्रहणाद् विषगरप्रशमनमूढगर्भजरायुनिष्क्रमणक्रियाप्रायाणि॥

अ० हृ० शा० ३।६७ पर अरुणदत्त

वृष्य, बल्य, भेदन आदि द्रव्योंके विषयमें देखा जाता है कि उनकी क्रिया धातुपोषणके उल्लिखित क्रमका भङ्ग करके होती है। तीनोंमें कोई भी पक्ष उनपर घटित नहीं होता। यथा,

१—कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमाम पक्वाशयश्च पर्यायशब्दैस्तन्त्रे—च० सू० ११।४८ के अनुसार महानिम्नका अर्थ कोष्ठ या महास्रोत है।

२—संवृतासंवृत=स्रोत ; देखिये—च० वि० ५।९ में स्रोतोंके पर्याय।

३—Digestive Tract—डायजेस्टिव ट्रैक्ट। ४—Arthropodia.

५—Crustaceæ. ६—Mollusæ. ७—Observation—ऑब्ज़र्वेशन।

वृष्य पदार्थ रसादि क्रमसे धातुओंको पुष्ट करते हुए अन्तमें अपनेमें सविशेष प्रमाणमें स्थित शुक्रपोषक सामग्रीसे शुक्रका पोषण करते हों तो इस क्रियामें जितना काल लगना चाहिए उसकी अपेक्षया अल्पतर कालमें ही वे शुक्रकी पुष्टि करते हैं। इस स्थितिका समाधान यह है कि, इन द्रव्योंकी क्रियामें शीघ्रता (आशुकारिता) इनके प्रभाव (इनकी अचिन्त्य शक्ति) से होती है : अपने प्रभावके कारण ये द्रव्य धातुओंके पोषणके उक्त क्रमका व्यतिक्रम कर प्रथम सीधे शुक्रकी पुष्टि करते हैं। यही बात बल्य, भेदन, विषघ्न एवं मूढगर्भ तथा जरायुके निष्क्रामक द्रव्योंकी क्रियाकी आशुकारिताके विषयमें भी समझनी चाहिए।

एककालधातुपोषणपक्ष—

अरुणदत्त ने अपनी टीकामें पूर्वपक्षके रूपमें 'एककालधातुपोषणपक्ष' नामक एक चौथे पक्षका उल्लेख किया है :

आहाररसादेककालं सप्तसु धातुस्रोतःसु प्रवेशिताद् रसरक्तादयो धातव उत्पद्यन्ते इति एककालधातुपोषणपक्षः ॥ अ० हृ० शा० ३।६२ पर अरुणदत्त

इस मतकी पुष्टिमें चरकका निम्न पद्य प्रस्तुत किया जाता है :

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा॥ च० चि० १५।३६

व्यान धातुकी प्रेरणासे रसधातु एक साथ (युगपत्) सदा शरीरमें फेंका जाता है।

अरुणदत्त ने इस पक्षमें दोषोद्भावन कर 'युगपत्' का अर्थ यहाँ क्रम ही लिया है[1]। जो भी हो, जैसा कि पहले कह आये हैं, धातुओंका क्रमिक पोषण आयुर्वेदका सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। होता यह है कि :

धातुपाकसे हुई क्षतिकी आहारसे पूर्ति—

अपने-अपने अग्निसे प्रत्येक धातुका निरन्तर परिपाक होकर मलादिके रूपमें परिणत होती रहती है, जिससे स्वभावतः उसकी क्षति होती है। इसकी पूर्ति अशित आदि विभिन्न आहारसे होती है। क्रम-पुष्टिका यह सर्ववादिसंमत सिद्धान्त होनेसे ही धातुओंकी पुष्टि और क्षयके विषयमें भी आयुर्वेदका यह सिद्धान्त है कि :

पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम्।
तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्॥ सु० सू० १५।१८

स्वयं तावदेते वृद्धा अनर्थकराः, परम्परया वर्धिताः पूर्वपरधातुभिरपि महानर्थकारिण इति दर्शयन्नाह—पूर्व इत्यादि। ह्रासनमिति ह्रासोऽत्र वृद्धेर्हानिः। पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम्। तेन परोऽपि वृद्धः प्रतिस्रोतःसरिद्बन्धस्थलाप्लावनन्यायेन पूर्वं वर्धयति, तथा परोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति, तथा पूर्वः क्षीणः परं क्षपयति ॥ —डल्हन

पूर्व-पूर्व धातुकी अतिवृद्धि हो जाय तो उत्तर-उत्तर धातुको पोषक सामग्री अधिक प्रमाणमें उपलब्ध होनेसे उसकी भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार पूर्वधातु कभी क्षीण हो जाय, (यथा, आघातादिजन्य स्रावसे रक्त) तो उत्तर धातुओंका भी क्षय होता है। कभी इसके विपरीत भी स्थिति होती है। अर्थात्—उत्तर धातुकी वृद्धिसे पूर्व धातुकी वृद्धि और उसके क्षयसे पूर्व धातुका

१—'युगपत्' और क्रमोत्पत्तिका अविरोध अष्टाङ्गहृदयकी टीकाके उक्त स्थलपर विस्तारसे देखिये।

क्षय। उत्तर धातुके क्षयसे पूर्व धातुओंके क्षयका कारण यह है कि, क्षीण हुए उत्तर धातुकी क्षीणतासे शरीरको हानि न हो इस हेतु शरीर-प्रकृति क्षीण धातुकी पुष्टिमें ही पोषक रसका विशेष उपयोग करती है। इससे स्वभावतः इतर धातुओंको समुचित प्रमाणमें पोषण न मिलनेसे उनका क्षय होता है। मैथुनवश अति शुक्रक्षयसे इतर धातुओंका क्षय होकर राजयक्ष्माकी उत्पत्तिमें यही क्रम होता है। वैद्योंमें इस क्षीणताके लिए प्रतिलोमक्षय शब्द प्रसिद्ध है। तथा पूर्वधातुका (विशेषतया अग्निविकृति आदिसे रसका) क्षय होकर इतर धातुओंका क्षय और राजयक्ष्मा हो तो उसे अनुलोमक्षय कहा जाता है।

बीसवाँ अध्याय

अथातोऽन्तःस्रावविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

सामान्य परिचय—

अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका लक्षण बता आये हैं। गत अध्यायमें महास्रोतमें अपना पाचक बहिःस्राव भेजनेवाली ग्रन्थियोंके उद्दीपक गेस्ट्रीन, सिक्रिटीन आदि अन्तःस्रावोंकी क्रियाके प्रकारका भी निर्देश किया गया है। उससे शेष अन्तःस्रावोंकी क्रियाका स्वरूप समझा जा सकता है। जैसा कि पहले कह आये हैं, इन अन्तःस्रावोंका आयुर्वेदके धात्वग्नियोंसे साम्य देखा जाने योग्य है।

सप्तम अध्यायमें संस्थानोंके लक्षण बताते हुए नाडीसंस्थान और अन्तर्ग्रन्थिसंस्थानकी तुलनाके प्रसङ्गको भी यहाँ पुनः स्मरण किया जा सकता है। वहाँ कहा है कि अन्तर्ग्रन्थियाँ देश-कालानुसार तत्-तत् अवयवको अपना कर्म प्रारम्भ करने, अधिक वेग और सामर्थ्यसे करने अथवा मन्द करनेकी प्रेरणा देती हैं। अतः इनके अन्तःस्रावोंको रासायनिक सन्देशहर तथा नाडीसंस्थानको अपने टेलीफोन-सदृश सूत्रोंके कारण टेलीफोनिक सन्देशहर कहते हैं। ऐसा ही एक रासायनिक सन्देशहर द्रव्य अङ्गाराम्ल वायु (कार्बन डाई ऑक्साइड) भी है। यह वायु मस्तिष्क-गत श्वसन-संस्थानके केन्द्रको सतत उद्दीपना देता रहता है। रक्तानुधावन-संस्थानको भी इससे उत्तेजना मिलती है। शरीरमें इस वायुका आधिक्य हो जाय तो उसका संशोधन (श्वासपथसे बाहर निर्हरण) करनेके लिए उसके वाहक रक्तकणोंकी अधिक संख्यामें आवश्यकता होती है। वस्तुतः इस स्थितिमें रक्तकणोंकी उत्पत्ति सविशेष होती भी है। इस प्रकार यह वायु रक्तकणोंकी उत्पत्तिका भी एक प्रवर्तक है। इसकी उत्पत्तिके लिए कोई विशेष अवयव नियत नहीं है। अवयवमात्रकी प्राकृत क्रियामें नियत सहचरित रासायनिक क्रियाके परिणामरूप यह वायु भी उत्पन्न होता है। शेष रासायनिक द्रव्योंकी उत्पत्तिके लिए पृथक् ग्रन्थियाँ हैं।

अन्तःस्रावी किंवा निःस्रोत ग्रन्थियाँ शरीरके पृथक्-पृथक् स्थानोंमें पृथक्-पृथक् होती हैं। इन्हें एक संस्थानमें समाविष्ट करनेवाला एकही तत्त्व है। वह यह कि, अपनेको प्राप्त रस-रक्तका उपयोगकर, इनमें प्रत्येक एक-एक विशिष्ट रासायनिक द्रव्य उत्पन्न करती है, जो रस या रक्त द्वारा शरीरमें प्रसृत हो, निकट या दूरवर्ती अवयवपर विशिष्ट प्रकारकी क्रिया करता है। इस दृष्टिसे निम्न निःस्रोत ग्रन्थियाँ निश्चित विदित हुई हैं: चुल्लिका[1], परिचुल्लिका[2], थायमस[3], अधिवृक्क[4], अग्न्याशय[5], बीजग्रन्थियाँ[6] (वृषण और अन्तःफल), अपरा, आमाशय और क्षुद्रान्त्र। अन्य भी कई अवयवोंके अन्तःस्रावी होनेकी सम्भावना की जाती है; यथा, वृक्कोंके विषयमें कि वे रक्तदाब-वर्धक, तथा यकृत्के विषयमें कि, वह रक्त-क्षयप्रतिबन्धक अन्तःस्राव उत्पन्न करता है।

ब्रह्मगुहा[7]के दोनों ओर कटहलके बीज-सदृश आज्ञाकन्द[8] नामके दो अति महत्त्वपूर्ण नाडीकोष-

---

१—Thyroid—थायरॉयड। चुल्लिका नामके लिए देखिये पृ० १४६, टिप्पणी।

२—Parathyroid—पैराथायरॉयड। ३—Thymus. ४—Adrenals—एड्रीनल्स।

५—Pancreas—पैन्क्रियास। ६—Gonads—गॉनड्स।

७—Third ventricle—थर्ड वेण्ट्रीकल; परिचय आगे नाडीसंस्थानके प्रकरणमें देखिये।

८—Thalamus—थैलेमस; अथवा Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस (दृष्टिनाडीके सूत्रोंका परिवर्तन-स्थल होनेसे)। परिचय आगे नाडीसंस्थानके प्रकरणमें देखिये।

मय पिण्ड होते हैं। इनके ऊपर और आगेकी ओर इनका ही विस्तार[१]-तुल्य पीनिअल बॉडी[२] नामक एक अवयव होता है। कदाचित् इसका भी कोई अन्तःस्राव होता है, जिसका, आगे कहे जानेवाले थायमसके अन्तःस्रावके समान शरीरकी सम्पूर्णता[३]से कुछ सम्बन्ध है। डेकार्टे[४] इस अवयवको आत्माका आश्रय मानता था।

किसी अन्तःस्रावी ग्रन्थि (अन्तर्ग्रन्थि) की क्रिया जाननेका, क्रियाशारीरविदोंमें प्रचलित, सर्वोत्तम प्रकार यह है कि उस ग्रन्थिको शरीरसे निकाल दिया जाय; पश्चात् उसके परिणामोंका अनुशीलन किया जाय। अन्तःस्रावोंका ज्ञान होनेके पूर्व भी पण्ढीकरण[५] (वृषण ग्रन्थि निकाल देना) के रूपमें यह पद्धति प्रचलित थी ही। मानवोंको अन्तःपुरचारी बनाने तथा प्राणियोंको सुन्दर या विचित्र (जैसे मुर्गोंको कलगी रहित, कई मृगोंको शृङ्गरहित) बनाने अथवा उन्हें शिक्षित करनेके पूर्व नम्र[६] बनाने, किंवा चूज़ों (मुर्गीके बचों)[७] को अधिक मृदु और रसवान् बनानेके लिए उन्हें निर्वृपण किया जाता था। बैल आदिको खस्सी करनेकी प्रथा तो सुविदित ही है। कोई अन्तर्ग्रन्थि इस प्रकार निकाल दी जानेसे अथवा वह रोगविशेषवश अपना अन्तःस्राव न्यून उत्पन्न करे तो उसमें मन्दकर्मता[८] आती है।

अन्तर्ग्रन्थियोंके अनुशीलनकी अन्य पद्धति यह है कि, उसे निकालनेके पश्चात् पशुको उस ग्रन्थिका सार[९] दिया जाय और देखा जाय कि इस प्रकार उसके शस्त्रकर्मकृत हीनयोगका उपचार होता है या नहीं? अन्तःस्रावोंके अनुशीलनकी यह पद्धति अब इतनी सम्पूर्ण हो गयी है कि, पशुओंकी अन्तर्ग्रन्थियोंसे विशुद्धतम रूपमें उनके अन्तःस्राव प्राप्त किये गये हैं; एवं उनकी रासायनिक रचना जानकर प्रयोगशालाओंमें उनका कृत्रिम निर्माण किया गया है। उभय विधियोंसे प्राप्त अन्तःस्रावोंका उनकी मन्दकर्मतामें उपयोग किया जाता है।

कभी-कभी किसी अन्तर्ग्रन्थिका स्राव प्राकृत प्रमाणसे अधिक हो जाता है। यह स्थिति तब भी होती है जब कोई स्राव स्व-प्रमाणमें हो और उसकी बाहरसे सूचीबस्ति दी जाय। इस अवस्थाको उस अन्तःस्रावकी वृद्धकर्मता[१०] कहते हैं।

अन्तर्ग्रन्थियोंके रोगों, उनके लक्षणों तथा उनके उपचारोंकी सिद्धि-असिद्धिसे भी अन्तःस्रावों[११]-के ज्ञानमें प्रचुर वृद्धि हुई है।

अपने-अपने अन्तःस्रावोंकी क्रियासे सामान्यतः ये अन्तर्ग्रन्थियाँ स्वास्थ्यको स्थिर रखती हैं, पुष्टिका नियन्त्रण करती हैं एवं नाडीसंस्थानको अपना कर्म करनेमें सहायता देती हैं। इनकी क्रिया कभी सहसा होती है, यथा रक्तवाहिनियोंके अमुक समुदायका सहसा संकोच; कभी दीर्घकालिक होती

१—Outgrowth—आउटग्रोथ।

२—Pineal body. प्रत्यक्षशारीरमें इसे 'तृतीय दृकन्दिका' नाम दिया है।

३—Maturation—मेच्युरेशन; सम्पूर्णता शब्द इस अर्थमें सु० सू० ३५।२९ में आया है।

४—Descartes: फ्रेञ्च दार्शनिक, आधुनिक पाश्चात्य दर्शनका पिता (१५९६-१६५०)।

५—Castration—कैस्ट्रेशन। ६—Docile—डोसाइल।

७—Chickens—चिकन्स। ८—Hypofunction—हाइपोफंक्शन।

९—Extract—एक्स्ट्रैक्ट।

१०—Hyperfunction—हायपर-फंक्शन।

११—Hormone—हॉर्मोन। इसका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ है: उद्दीपन (उत्तेजन)।

है ; यथा, अस्थियोंकी मन्द परन्तु स्थिर पुष्टि, जो कई वर्ष चालू रहती है। जैसा कि कहा है, प्रमाणकी मन्दता या वृद्धि (अधिकता) के वश अन्तःस्रावकी क्रिया मन्द या वेगवती हो सकती है।

चुल्लिका ग्रन्थि

सर्वप्रथम इस ग्रन्थिके अन्तःस्रावका ज्ञान हुआ था। यह ग्रीवामें श्वासपथ[1]के ऊर्ध्वभागपर स्थित होती है। इसके दो शङ्कु-सदृश खण्ड[2] होते हैं। श्वासपथकी मध्यरेखाके दोनों ओर एक-एक खण्ड होता है। ये खण्ड सेतु[3] या मध्यवर्ती खण्डसे परस्पर मिले रहते हैं। भारमें यह ग्रन्थि कोई तीस माषे होती है। इसमें रक्तवह स्रोत प्रभूत होते हैं। यह स-शुषिर धातु[4]के बने निबिड (घने) कोष (थैली) में स्थित होती है। अणुवीक्षणके नीचे ग्रन्थि छोटी-छोटी थैलियोंकी बनी दिखाई देती है। थैलियोंमें स्वच्छ, पिच्छिल द्रव्य भरा होता है। इस द्रव्यका एक अङ्ग चुल्लिका ग्रन्थिका अन्तःस्राव थायरॉक्सिन[5] होता है।

चुल्लिका ग्रन्थिके कर्म—मनुष्यों तथा प्राणियोंपर परीक्षण करके जाना गया है कि, चुल्लिका ग्रन्थिके कर्म तीन हैं—धातुपाकके दरका नियमन तथा शरीर और मनकी पुष्टि। पैर निकलनेके पूर्व मेंडकके बच्चे[6]की चुल्लिका ग्रन्थि निकाल दी जाय तो वह मेंडकके रूपमें परिणत नहीं हो सकता। इस अवस्थामें भी उसके आश्रयभूत जलमें चुल्लिकाका सत्त्व छोड़ दिया जाय तो पुनः उसकी यथावत् वृद्धि होती है। दूसरी ओर, मेंडकके सामान्य बच्चेको ऊपरसे चुल्लिका-सत्त्व दिया जाय तो वह देखते-देखते मेंडक बन जाता है। चुल्लिका ग्रन्थिके सत्त्वकी शक्तिका निर्णय करनेके लिए इस घटनाका उपयोग किया जाता है। मैक्सिकोमें पाया जानेवाला मेंडकका एक भेद[7] जो यों शाखा-हीन (पैर-रहित) अवस्थासे ऊपर नहीं उठ पाता, उसे यदि चुल्लिका-सत्त्व दिया जाय तो उसके भी पैर निकल आते हैं। इन प्रयोगोंसे शरीरपर चुल्लिका ग्रन्थिकी समता, मन्दता या वृद्धिका प्रभाव देखा जा सकता है। मनके विकासपर भी इसका ऐसा ही प्रभाव होता है।

शरीर और मनकी पुष्टिपर चुल्लिका ग्रन्थिकी इस क्रियाका कारण उसका यह कर्म है कि : यह ग्रन्थि शरीरके प्रत्येक कोषके धातुपाककी नियामक है। कहा जा चुका है कि, शरीरके प्रत्येक कोष तथा कोषोंके समवायसे बने प्रत्येक अङ्गकी क्रियाका मूल दहन अर्थात् उसके अन्तर्गत शक्त्युत्पादक द्रव्यका ओषजनके साथ संयोग है। दहनके परिणामस्वरूप कोषोंमें होनेवाली तापोत्पत्तिका नाम ही धातुपाक है। सो, दहन किंवा धातुपाकके दरकी नियमनकारिणी होनेसे चुल्लिका ग्रन्थि परम्परया शरीरकी इतर सर्व क्रियाओंको प्रभावित करती है। वस्तुतः, किसी पुरुषमें चुल्लिका ग्रन्थिके साम्य या वैषम्यका निर्णय उसके शरीरमें होनेवाले न्यूनतम धातुपाक[8]के स्वरूपको देखकर ही किया जाता है।

चुल्लिका ग्रन्थिकी मन्दता-जन्य रोग—किसी पशुमें चुल्लिका ग्रन्थिके निकाल देनेसे, किंवा मनुष्यमें उसकी रोगज मन्दताके कारण होनेवाले लक्षणोंको दो विभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम वे लक्षण जो बच्चेमें देखे जाते हैं, तथा द्वितीय जो पशु या मनुष्यके पूर्ण पुष्ट होनेके अनन्तर देखे जाते हैं। बच्चोंकी चुल्लिका ग्रन्थि रोगाक्रान्त होकर मन्द स्राव और कर्मवाली हो तो जो लक्षण

१—Trachea—ट्रेकिआ। २—Lobe—लोब। ३—Isthmus—इस्थमस।
४—Areolar Tissue—एरीओलर टिश्यु ; परिचयके लिए देखिये—पृ० १७२-७३
५—Thyroxine. ६—Tadpole—टैडपोल। ७—नाम Axolotl.
८—देखिये पृ० १८९।

प्रकट होते हैं, उन्हें क्रीटिनिज़्म[1] तथा रुग्ण बच्चोंको क्रीटिन[2] कहते हैं। इस रोगमें न्यूनतम धातुपाककी दर अत्यन्त घट जाती है। अस्थियोंकी पुष्टि रुक जाती है, जिससे बच्चा ठिगना रह जाता है। लिङ्ग (बीज-ग्रन्थि) का विकास मन्द हो जाता है या रुक जाता है। त्वचा रूक्ष और शुष्क तथा बाल पतनशील और अल्प हो जाते हैं। हृदयके संकोच-विकासका दर न्यून हो जाता है। पेशियाँ दुर्बल हो जाती हैं। उनमें श्रम (थकावट) शीघ्र उत्पन्न किया जा सकता है। पेशियाँ दुर्बल होनेसे अस्थियोंको अपने स्वाभाविक आकारमें रख नहीं सकतीं, जिससे वे (अस्थियाँ) मुड़ जाती हैं और विरूप हो जाती हैं। रक्तक्षय[3], देहोष्माकी मन्दता[4] तथा रोगजन्तुओंके प्रति सुगम्यता भी हो जाती है। बुद्धिपर निश्चित प्रभाव पड़ता है। बच्चा मूढ[5] रह जाता है। उसकी जिह्वा मुखकी अपेक्षया अधिक बड़ी होनेसे बाहर लटकी रहती है। आँखें सूजी (फूली) रहती हैं। नाक सूअरकी थूँथके समान चपटी हो जाती है। कन्धोंपर मेदकी गद्दियाँ बन जाती हैं। पेट फूल जाता है तथा नाभि उभर आती है। अग्न्याशयको छोड़ इतर अन्तर्ग्रन्थियोंमें भी विकृति आती है। रक्तमें शर्कराका प्रमाण सामान्यसे कम हो जाता है।

ये बच्चे जन्मके छ मास बाद तक शेष स्वस्थ बच्चोंके समान ही होते हैं। क्रीटिनिज्मके लक्षण बादमें प्रकट होते हैं। संभवतः इसका कारण यह है कि, बच्चेको गर्भमें अपनी मातासे तथा पीछे दूध द्वारा चुल्लिकाका स्राव इतने प्रमाणमें मिलता है कि, वह छ मासके लिए पर्याप्त होता है। माताओंको मिक्सीडीमा[6] हो तो बच्चोंमें क्रीटिनिज्म होता है। इन रुग्ण माताओंको उचित औषध देकर रोगमुक्त कर देनेसे उनके बच्चे भी मूढ नहीं उत्पन्न होते। बच्चोंमें इस रोगकी संभावना होते ही उन्हें आयोडीन आदि देकर बुद्धिसंपन्न तथा पुष्ट शरीरवाला करके समाजका उपयोगी अङ्ग बनाया जा सकता है।

शरीर पूर्ण पुष्ट होनेके पश्चात् चुल्लिका ग्रन्थि मन्दकर्म हो जाय या पशुओंमें शस्त्रकर्म द्वारा निकाल दी जाय तो उनमें क्रीटिनिज्मसे मिलता-जुलता एक रोग हो जाता है, जिसे मिक्सीडीमा या गल्स डिसीज़[7] कहते हैं। इसमें विशेषता यह होती है कि, शरीर पूर्ण विकसित हो चुका होता है, अतः उसके कुण्ठित होनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। शेष लक्षण वही रहते हैं। पुरुष मूढ होता है तथा मानसिक दृष्टिसे पिछड़ जाता है। अधिक यह कि : शक्त्युत्पादक द्रव्यका उपयोग न हो सकनेसे समस्त शरीरमें त्वचाके नीचे, यथा आँखके नीचे अथवा अक्षकास्थिके ऊपर इत्यादि स्थलोंपर, मेद तथा द्रवका शोथके रूपमें बड़ा बेडौल संचय हो जाता है। भारमें वृद्धि हो जाती है। त्वचा रूक्ष होती है, बाल गिर जाते हैं। क्रीटिनके समान इन्हें भी चुल्लिका ग्रन्थि अल्प मात्रामें ही दें तो वे पुनः पूर्ववत् स्वरूपावस्थित हो जाते हैं। उनके नये केश तथा नेत्रलोम निकल आते हैं।

चुल्लिका ग्रन्थिका प्रकोप[8]—यह स्थिति चुल्लिका ग्रन्थिके अत्यधिक सक्रिय होनेसे होती है, सत्त्व देनेसे प्रायः नहीं। मन और शरीर दोनोंकी चेष्टाएँ बढ़ जाती हैं। नाडीसंस्थानकी

१—Cretinism. इस रोगका आयुर्वेदके किस रोगसे साम्य है, यह विचारणीय है।

२—Cretin. ३—Anaemia—एनीमिआ।

४—Subnormal temperature—सब-नॉर्मल टेम्परेचर।

५—Idiot—ईडियट ; Stupid—स्टुपिड। ६—Myxedema.

७—Gull's disease.

८—Hyperthyroidism—हायपरथायरॉयडिज्म।

क्षोभ्यता बढ़ जाती है[१]—अर्थात् प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ[२] बढ़ जाती हैं और हाथोंमें स्पन्दन (किंचित् कम्प)[३] पाया जाता है। रोगीका धातुपाक बढ़ जाता है। हृदयका स्पन्दन बढ़ जाता है, जो प्रति मिनट १५० तक भी हो सकता है, हृद्द्रव[४] इनमें प्रायः देखा जाता है। क्षुधा अति प्रबल तथा आहारका प्रमाण अति प्रभूत होनेपर भी पुरुष धातुपाककी अतिवृद्धिके कारण समस्त संचित और गृहीत शक्त्युत्पादक द्रव्यका उपयोग कर लेनेके कारण बहुत क्षीण हो जाता है। वह भारी प्रयत्नशील तथा जानो अक्षयशक्तिसंपन्न होता है। पर साथ ही अधीर[५] और जरा-जरामें या विना विशेष कारणके खीजनेवाला होता है। प्रस्वेद बहुत होता है, त्वचा आर्द्र रहती है। देहोष्मामें किंचित् वृद्धि हो सकती है, रक्तमें शर्कराका प्रमाण भी समसे कुछ अधिक हो सकता है।

मानवोंमें कभी-कभी एक और लक्षण चुल्लिकाके प्रकोपमें पाया जाता है : बहिर्नेत्र गलगण्ड[६]। इसमें गलगण्ड[७]के अतिरिक्त नेत्र-बुद्बुद बाहर निकल आता है। रोगी भय-चकित-सा लगता है। इसका कारण नेत्र-बुद्बुदके पीछे और चारों ओर के योजक धातुमें स्थित अनैच्छिक मांसका संकुचित हो जाना है। चुल्लिका का स्राव सूचीवस्ति द्वारा देनेसे यह गलगण्ड नहीं होता, जिससे अनुमान है कि, संभवतः इस रोगका हेतु चुल्लिकाका प्रकोप न हो।

प्रकोप अत्यधिक होनेपर हार जाने[८]से, विशेषतः हृदयके हार जानेसे मृत्यु हो जाती है। परन्तु यदि योग्य समयमें चुल्लिकाका कुछ भाग काट दिया जाय या एक्स-रे से भस्म कर दिया जाय तो रोगीको बचाया जा सकता है।

चुल्लिकाके प्रकोपसे तापोत्पत्ति अत्यधिक होनेसे रोगी उष्ण ऋतुको सहन नहीं कर सकता। उधर चुल्लिकाकी मन्दतामें शीत ऋतु की सहिष्णुता न्यून हो जाती है।

थायरॉक्सिन—चुल्लिका ग्रन्थिके अन्तःस्रावका नाम अंग्रेजी में थायरॉक्सिन है। इसका प्रधान द्रव्य आयोडीन है, जो टायरोसीन[९] नामक एमाइनो एसिडके साथ मिलकर यह अन्तःस्राव बनाता है। अन्नपानमें आयोडीन न्यून हो, किंवा यथेष्ट होनेपर भी ग्रहणीमें उसका शोषण या धातुओंमें उपयोग यथावत् न हो तो थायरॉक्सिनकी मन्दता होकर उल्लिखित शारीर-मानस विकार एवं गलगण्ड[१०] होते हैं। जिन स्थानोंकी भूमि तथा जलमें आयोडीन न्यून हो, यथा हिमालयकी उपत्यका (तराई) में, वहाँ चुल्लिकाकी मन्दतासे उत्पन्न लक्षण तथा गलगण्ड प्रायः देखे जाते हैं। पश्चिममें खानेके नमकमें (जो भोजनके टेबलपर पृथक् ही परोसा जाता है) थोड़ा पोटाशियम आयोडाइड मिला देनेसे, किंवा पीनेके पानीमें थोड़ा आयोडीन मिला देनेसे आहारमें आयोडीनका समयोग होकर विकार लुप्त होते हैं। दूध, अण्ड, पलाण्डु, गाजर आदिमें आयोडीन पर्याप्त होता है।

जल अति कठोर[११] (छधाकी अधिकता वाला) हो तो आयोडीनका ग्रहणीमें शोषण (आचूषण) यथायोग्य नहीं होता। ऐसी स्थितिमें जलकी शुद्धिका उपचार करना चाहिये। कभी-

---

१—इस स्थितिको Hyperexcitability—हायपर-एक्साइटेबिलिटी कहते हैं।
२—Reflex action—रिफ्लेक्स एक्शन।
३—Fine Tremors—फाइन ट्रेमर्स।
४—Palpitation—पेलिपटेशन।
५—Nervous—नर्वस।
६—Exophthalmic goitre—एक्सॉफ्थेल्मिक गॉयटर।
७—परिचय आगे देखिये।
८—Exhaustion—एग्ज़ोशन।
९—Tyrosine.
१०—Goitre—गॉयटर।
११—Hard—हार्ड। जलकी कठोरताका विषय आधुनिक रसायनमें देखिये।

कभी अन्त्रमें संक्रमण[1] हो तो भी आचूषण ठीक नहीं होता। इस स्थितिमें यवानी-सत्त्व[2]-जैसे अन्त्रगत-जीवाणुहर[3] देनेसे लाभ होता है।

चुल्लिका ग्रन्थिका प्रकोप होनेपर ग्रन्थिका कुछ भाग एक्स-रे से नष्ट कर दिया जाय या शस्त्रकर्मसे निकाल दिया जाय तो रोग निवृत्त होता है। पुनः प्रकोप हो जाय तो दुबारा यही उपचार करना चाहिये।

गलगण्ड[4]—चुल्लिका ग्रन्थिकी वृद्धिका नाम गलगण्ड है। कभी-कभी गलगण्ड छातीपर लटक आता है। बात विस्मयकारिणी है पर है सत्य कि गलगण्डका अर्थ चुल्लिकाके अन्तःस्रावका प्रकोप नहीं है। अन्तःस्रावकाकी मन्दता, प्रकोप और समता तीनों अवस्थाएँ गलगण्डके साथ हो सकती हैं।

कभी-कभी चुल्लिका ग्रन्थिके अन्तःस्रावी कोषोंकी संख्या-वृद्धि गलगण्डका कारण होती है। ऐसी स्थितिमें गलगण्ड और अन्तःस्रावका प्रकोप दोनों युगपत् (एक साथ) होते हैं। इस स्थितिमें कोषोंकी वृद्धिका कारण क्या है यह प्रश्न तो 'शेष' ही रहता है। उल्लिखित कारणोंसे अन्तःस्रावकी मात्रा अल्प हो तो प्रकृति कोषोंकी संख्यामें वृद्धि करके, अन्य शब्दोंमें गलगण्ड उत्पन्न करके, अन्तःस्रावका प्रमाण सम करनेका प्रयत्न करती है। इस दशामें दो परिणाम हो सकते हैं। प्रकृतिका प्रमाण-साम्यका प्रयत्न सफल हुआ तो गलगण्ड और अन्तःस्रावकी समता एक साथ पाये जाते हैं। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि, प्रकृतिको अपने प्रयासमें सफलता न मिले—कोषोंकी वृद्धि गलगण्डके रूपमें होनेपर भी उनके द्वारा उत्पादित अन्तःस्राव अल्प हो। तब गलगण्ड और अन्तःस्रावकी मन्दता ये दो लक्षण युगपत् होते हैं।

चुल्लिका ग्रन्थिका प्रवर्तन—प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, चुल्लिका शारीर चेष्टा और देहोष्माको वृष्टिमें रखकर धातुपाकके दरका नियमन करती है। कारण, मध्य स्वतन्त्र नाडी[5]को उद्दीप्त करें, किंवा उसके समान कर्मा एड्रीनलीनकी सूची बस्ति दें (जो दोनों शारीर चेष्टा तथा देहोष्माकी वृद्धि करनेवाले हैं) तो ग्रन्थिकी क्रियामें वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार पशुको शीतमें खुला रखनेके द्वारा उसके मध्यस्वतन्त्रको उद्दीप्त करें तो ग्रन्थि अति सचेष्ट देखी जाती है। यह भी जाना गया है कि, पशुओंकी यह ग्रन्थि निकाल दी जाय तो शीतमें खुला रखने पर अपेक्षया अल्पतर कालमें वे ठण्ढ लग कर मर जाते हैं। भय (मध्यस्वतन्त्र तथा उसके द्वारा चेष्टाओंका उद्दीपक) से भी कई पुरुषोंमें बहिर्नेत्र गलगण्ड हुआ पाया गया है।

१—Infection—इन्फेक्शन। २—Thymol—थायमॉल।

३—Intestinal antiseptic—इण्टेस्टाइनल एण्टिसेप्टिक।

४—गॉयटर और गलगण्डकी पर्यायिता वैद्योंमें प्रसिद्ध है। परन्तु—'गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद् गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः' (च० चि० १२।७९) में इसका पर्श्वमें होना तथा उसकी संख्या अधिक हो जाय तो गण्डमाला (कण्ठमाला) कहा जाना—इस लक्षणसे शङ्का उपस्थित होती है। कारण 'गॉयटर' तो मध्यमें होता है, पार्श्वमें नहीं, तथा उसका और कण्ठमालाको कोई साम्य नहीं। इस विषयमें सुश्रुतका यह पद्य सन्देह-निवर्तक है—'निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले। महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत्—सु० नि० ११।२९'। माधवने भी यही पद्य लिया है। डल्हनकी टीकामें धृत निम्न भोज-वचन भी द्रष्टव्य है—'महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम्। लम्बन्तं मुष्कवद् दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्'॥

५—Sympathetic nerve—सिम्पैथेटिक नर्व।

पोषणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्डका एक अन्तःस्राव चुल्लिकाकी क्रिया तथा पुष्टिको बढ़ानेवाला विदित हुआ है। इसके विपरीत, अधिवृक्क-वल्क इसे मन्द करता है।

मेदोऽग्नि और चुल्लिका—तुलना करनेसे प्रतीत होता है कि, चुल्लिकाके अन्तःस्राव और आयुर्वेदोक्त मेदोऽग्निमें कुछ साम्य है। मेदोऽग्नि क्रमपरिणाम पक्षके अनुसार मेदके आशयमें आकर मेद-सदृश हुए रसका तथा केदारी कुल्यान्यायके अनुसार स्वरूपावस्थित रसका पाक कर मेदका प्रमाण सम रखता है तथा आगे सार रूपमें अस्थि धातुकी पुष्टि करता है। थायरॉक्सिनका कर्म भी मेद और अस्थिकी सम्यक् पुष्टि करना है। उसकी मन्दता होनेपर अस्थिकी पुष्टि न होनेसे वामनत्व तथा मेदकी अति प्रवृद्धि होती है; यह ऊपर कह आये हैं। आगे अस्थिक्षयके लक्षणोंमें कहेंगे कि, अस्थिकी क्षीणता होनेपर केश और लोमका पतन होता है, अनायास श्रम तथा त्वचाकी रूक्षता होती है। ये लक्षण अपने अग्निकी मन्दतासे भी होने संभव हैं। ऊपर देख आये हैं कि, थायरॉक्सिन यथेष्ट न होनेपर अन्य लक्षणोंके साथ ये लक्षण भी पाये जाते हैं।

परिचुल्लिका ग्रन्थियाँ

ये छोटी-छोटी ($\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बी) ग्रन्थियाँ हैं, जो चुल्लिका ग्रन्थिके अति समीप या उसमें अनुस्यूत (घँसी) रहती हैं[1]। मानवोंमें इनकी संख्या दो से प्रायः चार होती है।

परिचुल्लिका ग्रन्थियोंका कर्म रक्त तथा अन्य धातुओंके द्रव भागमें सुधा (केल्शियम) के आयनों[2]का साम्य स्थिर रखना है। सुधाके जो कर्म कहे हैं उनकी समताके लिए परिचुल्लिकाके अन्तःस्रावकी समता आवश्यक है। सुधाके कर्मोंमें एक मांस तथा नाड़ी धातुकी क्षोभ्यता[3] का नियन्त्रण है। किसी कोष अथवा धातुकी क्षोभ्यताका अर्थ यह है कि उस कोष या धातुके संपर्कमें कोई विषय[4] आवे तो वह किसी न किसी प्रकारकी क्रिया (उत्तर रूपमें) करता है। अन्य धातुओंकी अपेक्षया यह प्रतिक्रियाका स्वभाव उत्क्रान्तिके क्रमसे मांस-तथा नाड़ी-कोषों और-धातुओंमें विशेष विकसित हुआ है। इस गुणके कारण नाडी-धातु विभिन्न विषयोंका स्पर्श होनेपर सुगन्ध-दुर्गन्ध, शीत-उष्ण, रम्य-अरम्य, गुरु-लघु आदि संज्ञाओंके ग्रहणके रूपमें प्रतिक्रिया करता है तथा तदनुरूप चेष्टा करनेके लिए मांसधातुको प्रेरणा देता है। यह क्रिया समभावसे होनेमें एक कारण सुधाके आयनोंका समत्व है। परिचुल्लिकाका अन्तःस्राव अस्थि आदि सुधाके संचय-स्थानोंमें तथा रक्तादि द्रव धातुओंमें सुधाके आयनोंकी समता रखता हुआ नाडी-तथा मांसधातुके कर्मके साम्यका नियमन करता है।

प्राणियोंमें परिचुल्लिका निकाल दी जायँ तो, नाडी—तथा मांस-संस्थान अति क्षुभित हो जाते हैं; जिससे उनके कर्म विकृत हो जाते हैं। प्रारम्भमें वेष्टनके वेग होते हैं। कुछ ही दिनोंमें ये तीव्र होकर आक्षेप[5]का रूप धारण करते हैं—पेशियाँ किंचित् आयाम (स्तब्धता[6]) की स्थितिमें आ जाती हैं। 'टिटेनस' के सदृश होनेके कारण अंग्रेज़ीमें ऐसी स्थितिको 'टिटेनी'[7] कहते हैं। प्रस्तुत लक्षण

१—इसीसे इन ग्रन्थियोंको परिचुल्लिका कहते हैं। परि=चारों ओर।

२—देखिये—पृ० २११, टिप्पणी।

३—Stimulus—स्टिम्युलस=कोष या धातुको उद्दीपित करने—क्रियामें तत्पर करने—वाली वस्तु। प्राचीनोंने रूप (वर्ण), रस आदिको विषय कहा है। इन्हींको तथा अन्य तत्सम कार्यकारी अगणित वस्तुओंको आधुनिक 'स्टिम्युलस' कहते हैं।

४—Twitching—ट्विचिंग—हलकी और झटकेके साथ बार-बार खेंच।

५—Convulsions—कन्वल्शन्स; Fits—फिट्स।

६—Tetanus—टिटेनस। ७—Tetany.

परिचुल्लिका ग्रन्थिकी क्षीणता होनेके कारण इन्हें 'पेराथायरॉयड टिटेनी'[१] कहा जाता है। लक्षणोंमें और वृद्धि होती जाती है। अन्तरायाम आदि आयामोंके समान अन्तमें परिणाम यह होता है कि, आयामका कोई वेग (दौरा, हमला) अधिक काल रहे तो ऐच्छिक (अस्थि-लग्न)[२] पेशियोंके साथ श्वसनोपयोगी पेशियोंका भी चिरस्थायी स्तम्भ होता है, जिससे श्वासरोध[३] होकर प्राणीकी मृत्यु होती है।

वेष्टनों तथा आयामोंका कारण यह जाना गया है कि, छधाका हीनयोग होनेका परिणाम यह होता है कि, सामान्य स्थितिमें नाडियाँ और पेशियाँ जिन मृदु विषयोंसे प्रभावित (क्षुभित) नहीं होतीं, वे भी अब इन धातुओंको क्षुभित (कार्य-तत्पर) करने लगते हैं। यह क्षोभ शरीर-गत विषयोंसे होता है।

परिचुल्लिकाकी मन्दताके उक्त परिणाम पशुओंमें परीक्षा रूपमें इन ग्रन्थियोंके निकाल देनेपर ही होते देखे गये हैं। मानवोंमें रोगरूपमें यह विकृति होनेके प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं। कभी-कभी चुल्लिका ग्रन्थिका शस्त्रकर्म करते हुए भूलसे परिचुल्लिका भी छिन्न हो जानेसे यह विकृति अवश्य देखी जाती है। इन ग्रन्थियोंका अर्बुद होनेपर उसका छेदन करनेमें ग्रन्थियोंका बहुत-सा भाग निकल जाय तो भी ये लक्षण हुए पाये गये हैं। परन्तु मानवोंमें लक्षण बहुत मन्द होते हैं। तथा किंचित् शेष ग्रन्थिका अन्तःस्राव अधिक होकर पुनः साम्य हो जाता है।

परिचुल्लिकाकी मन्दता होनेपर मुखसे छधाके योग दिये जाते हैं। गलगण्डका छेदन करते हुए परिचुल्लिकाकी मन्दताके प्रतिषेधार्थ चारमें दो ग्रन्थियाँ शेष रखी जाती हैं। 'टिटेनी' रिकेट्सका भी लक्षण हो सकता है। पर उपस्थितिमें इसका कारण परिचुल्लिकाकी मन्दता नहीं होता।

परिचुल्लिकाका प्रकोप होनेपर इसके विपरीत लक्षण होते हैं। अन्तःस्रावकी अतिमात्राके कारण रक्तमें छधाके आयनोंकी संख्या बढ़ जाती है। परिणामतया, क्षोभ्यताके विपरीत नाडीसंस्थान-का सामुदायिक अवसाद[४], तन्द्रा[५], मांसपेशियोंकी मृदुता (दृढ़ताका[६] ह्रास), मूर्च्छा और अन्तमें मरण-ये चिह्न होते हैं। मृत्युके अन्तर रक्तवाहिनियोंमें स्कन्दन तत्क्षण हो जाता है। रक्तमें छधाके आयनोंके आधिक्यका कारण अस्थियोंसे उनका आयात है। अस्थियोंमें छधाकी हीनता (अल्पता) होनेसे वे दुर्बल तथा मुड़कर विरूप हो जाती हैं। अल्पमात्र कारणसे वे टूट जाती हैं तथा उनका संधान भी देरसे होता है। ऐसे पुरुष पूर्णतया लूले हो जाते हैं। यह स्थिति परिचुल्लिकाका अर्बुद होनेसे होती है। इस विकारमें मूत्रमार्गसे छधाका परिस्राव होता है। पशुओंमें परिचुल्लिकाके अन्तःस्रावकी सूचीबस्ति देनेसे ये लक्षण होते हैं। अर्बुद होनेपर परिचुल्लिकाके प्रकोपका साम्य ग्रन्थिके छेदन द्वारा किया जाता है।

वृक्क निकाल देनेसे, किंवा गवीनी या वृक्कोंकी धमनियाँ बाँध देनेसे रक्तगत छधाकी वृद्धि सम हो जाती है। इससे प्रतीत होता है छधाके साम्यका वृक्कोंसे सम्बन्ध है। रक्तमें प्रस्फुरक न्यून हो तो छधाका प्रमाण बढ़ जाता है।

इस प्रसंगमें स्मरण रखना चाहिए कि जीवनीय डी का समत्व आदि अन्य भी पदार्थ शरीरमें छधाके साम्यके हेतु हैं।

१—Parathyroid-tetany.

२—Skeletal—स्केलेटल ; Skeleton—स्केलेटन=अस्थिपञ्जर।

३—Asphyxia—ऐस्फिक्सिआ। ४—Depression—डिप्रेशन।

५—Drowsiness—ड्राउजीनेस। ६—Tone—टोन।

अधिवृक्क-ग्रन्थियाँ

(अधिवृक्कमध्य तथा अधिवृक्कवल्क)

अधिवृक्क ग्रन्थियाँ शरीर में दो होती हैं। एक-एक ग्रन्थि प्रत्येक वृक्कपर कलगीदार टोपीके समान लगी होती है। इसीसे इन्हें अधिवृक्क[1] कहते हैं। वास्तवमें प्रत्येक अधिवृक्क ग्रन्थि दो-दो अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका समुदाय है। ग्रन्थिको मध्यमें काटनेसे दोनों ग्रन्थियोंकी पृथक् स्थिति देखी जा सकती है। मध्यके भाग या ग्रन्थिको अधिवृक्क-मध्य[2] तथा चारों ओरके आवरणको अधिवृक्क-वल्क[3] कहते हैं। मध्य और वल्क दोनों ग्रन्थियोंके अन्तःस्राव तथा उनके कर्म भिन्न होते हैं। गर्भमें दोनोंका मूल[4] भी भिन्न होता है। मध्य, जिसके कर्म मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थानके[5] सदृश होते हैं, उसका मूल वह नलिका[6] होती है, जिसकी पुष्टि (विकास) होकर मध्य-स्वतन्त्र नाडी-संस्थानके कन्दों सहित समस्त नाडी-संस्थान बनता है। इस नलिकाके शिखरसे मध्य स्वतन्त्रके कन्द, पश्चिम नाडीमूल कन्दिकाएँ[7] और अधिवृक्क-मध्य उत्पन्न होते हैं[8]। अधिवृक्क-वल्कका मूल मध्यचर्म[9] है, जिससे वृषण-ग्रन्थियाँ भी उत्पन्न होती हैं, जिनकी पुष्टि और कर्मपर अधिवृक्क-वल्कका प्रभाव होता है।

अधिवृक्क-मध्य—इसके अन्तः स्रावका नाम एड्रीनलीन[10] है। यह अधिवृक्क-मध्यके सत्त्वपातन[11] से प्राप्त किया जाता है, एवं कृत्रिम विधि[12]से बनाया भी जाता है। औषध रूपमें इसका पुष्कल व्यवहार होता है। इसका कर्म संक्षेपमें शरीरको आत्ययिक (अकस्मात् आ पड़ी) शारीरिक चेष्टाओंके लिए तय्यार करना है[13]। इसके कर्म वही हैं जो उद्दीपित हुए मध्य-स्वतन्त्रके हैं।

१—Adrenal—एड्रीनल ; Suprarenal—सुप्रारीनल।

२—Adrenal-medulla—एड्रीनल-मेड्युला।

३—Adrenal-cortex—एड्रीनल-कॉर्टेक्स। ४—Origin—ओरीजिन।

५—Sympathetic or Orthosympathetic Nervous System—सिम्पैथेटिक या ऑर्थो-सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम। अधिक विचारसे इस नाडीसंस्थानको आग्नेय तथा इसके विरोधी कर्मवाले 'पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम' को सौम्य नाडीसंस्थान कहना उपयुक्त प्रतीत होता है।

६—Neural tube—न्यूरल ट्यूब ; प्रत्यक्ष शारीरमें इसे 'नाडीतन्त्रप्रसू प्रणालिका' नाम दिया है।

७—Posterior root ganglions—पोस्टीरिअर रूट गैङ्गलीऑन्स। इनका परिचय आगे नाड़ी-संस्थानके प्रकरणमें देखिये।

८—देखिये—The relationship to the sympathetic is also seen in the mode of development of the gland. The medulla of the organ is developed, quite seperately from the cortex, from that part of the neural crest which subsequently becomes differentiated into the sympathetic and the posterior root ganglia. It is, therefore, of interest that sensory stimulation, adrenaline, and stimulation of the sympathetic all bring about similar reactions. Handbook of Physiology, by Mc Dowall (1950), P. 716.

९—Mesoderm—मेज़ोडर्म। १०—Adrenaline.

११—Extract—एक्स्ट्रैक्ट। १२—Synthesis—सिन्थेसिस।

१३—यह विषय पृ० २८९ पर भी देखिये।

शौर्य, भय और पलायनके प्रसंग उपस्थित होनेपर मध्य-स्वतन्त्र और अधिवृक्क-मध्य दोनों मिलकर शरीरमें कालानुरूप परिवर्तन उत्पन्न करते हैं, जिससे प्राणीकी रक्षा होती है। यह प्रश्न अब तक बना हुआ है कि, इन परिस्थितियोंमें शारीरिक परिवर्तन जितने प्रमाणमें होते हैं, वे सब उतने प्रमाणमें एकमात्र एड्रीनलीनके स्रावसे सम्पन्न हो सकें (मध्य स्वतन्त्रकी सहायता बिना), इतना स्राव सामान्यतया होता है या नहीं? कारण, परीक्षणीय प्राणियोंमें ये सब परिवर्तन इतने ही प्रमाणमें उत्पन्न करनेके लिए जितने एड्रीनलीनकी सूचीबस्ति देनी पड़ती है, उतना स्राव भय, शौर्य या पलायनकी स्थितियोंमें प्राणि-शरीरोंमें पाया नहीं जाता। इससे अनुमान किया जाता है कि, मुख्य कार्य तो ऐसी स्थितियोंमें मध्य-स्वतन्त्रके उद्दीप्त होनेसे ही होता है। अधिवृक्क-मध्य उसका सहायक-मात्र होता है। इसीसे दोनों अधिवृक्क-मध्य (अधिवृक्क-वल्ककी बात नहीं) निकाल दिये जायँ तो भी कोई अनिष्ट परिणाम हुए बिना प्राणी जीवित रहता है।

"इसमें संशय नहीं कि, अधिवृक्क-मध्यसे एड्रीनलीनका क्षरण निरन्तर हुआ करता है, यद्यपि इसकी मात्रा अति अल्प होती है। यह अब तक विशद नहीं हुआ कि, प्राणीके नैत्यक कार्योंमें इसका क्या प्रयोजन है[१]?"

भय आदि परिस्थितियोंमें हृदयका स्फुरण (गति) बढ़ जाता है, जिससे प्रति-मिनट हृदयसे रसरक्तके निर्यातके प्रमाणमें वृद्धि हो जाती है। हृदय-पोषक धमनियाँ[२] भी विस्तृत हो जाती हैं, जिससे हृदय तत्काल अधिक आ पड़े कार्यको करनेमें सविशेष समर्थ होता है। उदरकी धमनिकाएँ[३] संकुचित तथा अस्थिलग्न पेशियोंकी धमनिकाएँ विस्तृत हो जाती हैं। परिणमतया, उदर-गत अङ्गोंसे रस-रक्त पीडित होकर विशेष प्रमाणमें पेशियोंमें जाता है। परिसरीय प्रतिरोध[४] में वृद्धि हो जाती है। हृदयके संकोच-विकासके दर (गति) में वृद्धि, उदर-गत धमनिकाओंका संकोच, अस्थिलग्न पेशियोंकी धमनिकाओंका विस्तार, परिसरीय प्रतिरोधमें वृद्धि (एवं त्वचाकी धमनिकाओंका संकोच) इन सब कारणोंसे रक्तदाबमें वृद्धिका परिणाम यह होता है कि, रक्त अधिक वेगसे और अधिक

१—The exact function of adrenaline and whether or not it is circulated in the blood in the resting animal has been much debated. The evidence now appears to be in favour of its being constantly present in the blood in small quantities. Handbook of Physiology, by Mc Dowall (1950), P. 716

There is no doubt that the adrenal-medulla does secrete adrenaline continuously, although at a very low concentration. Of what significance this is in the daily activities of the organism is not clear. Fundamentals of Physiology, by Tokay (1947), P. 237.

२—Coronary arteries—कॉरोनरी आर्टरीज़।

३—Arterioles—आर्टीरिओल्स; धमनियोंकी छोटी शाखायें। परिचय आगे रक्ताधिकारमें देखिये।

४—Peripheral resistance—पेरीफरल रेज़िस्टैन्स। धमनिकाओंमें स्थितिस्थापक धातुकी अल्पता तथा धमनिका और केशिका दोनोंकी परिधि न्यून होनेसे रक्त धमनियोंसे धमनिकाओं और केशिकाओंमें आता है तो कुछ अटकाव-प्रतिरोध-सामान्यतया भी होता है। इसे परिसरीय-प्रतिरोध (पेरीफरी=सीमा, परिसर) कहते हैं। नाड़ी-संस्थानकी प्रेरणासे किंवा रासायनिक द्रव्यों, यथा एड्रीनलीनकी, क्रियासे धमनिकाओंका संकोच होकर प्रतिरोध कमी-कमी बढ़ जाता है। नाड़ी-संस्थानका इतर केन्द्र तथा विपरीत कार्यकारी द्रव्य धमनिकाओंको शिथिलकर प्रतिरोधको न्यून करते हैं।

प्रमाणमें अस्थिलग्न पेशियोंमें जाता है। प्रसंगानुरूप शारीरिक चेष्टाएँ विशेष तीव्रतासे करनेके लिए इन पेशियोंको अधिक प्रमाणमें इन्धनात्मक द्रव्य और ओषजनकी आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार पूर्णकी जाती है।

रक्ताशय (रक्तका संग्रहस्थान) प्लीहामें संचित रक्तकण भी उन्मुक्त होते हैं, जिससे रक्तमें रक्तकणोंकी अधिकता होनेसे उसकी ओषजनके बहनकी शक्ति बढ़ जाती है। साथ ही श्वसनके दरमें वृद्धि तथा अपस्तम्भिकाओंका[1] विकास (विस्तार) होता है, जिससे फुप्फुसों (प्राणवह स्रोतों) की ओषजन और अङ्गाराम्लके लेन-देनकी क्रिया बढ़ जाती है। इन हेतुओंसे तथा रक्तानुधावनका वेग तीव्रतर होनेसे कालोचित-विशेष चेष्टा-परायण अस्थिलग्न पेशियोंको ओषजन यथा संभव अधिक मात्रामें पहुँचाता है। यकृत् प्रेरित होकर ग्लाइकोजनको द्राक्षाशर्करामें सविशेष प्रमाणमें परिवर्तित करता है और रक्तमें छोड़ता है। इससे इन पेशियोंको अधिक मात्रामें इन्धन उपलब्ध होता है। रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी वृद्धिसे मूत्रमें भी द्राक्षाशर्करा क्षरित होनेसे अल्पकालिक इक्षुमेह होता है। पेशियोंको श्रम (थकान) अनुभव किये विना अधिकतर काल आयास करनेका सामर्थ्य भी प्राप्त होता है।

अन्य भी कुछ सहकारी और कालोपयुक्त क्रियाएँ इस काल होती हैं। यथा, रक्तमें स्कन्दन (जमने) का धर्म बढ़ जाता है। परिणाम यह होता है कि, कदाचित् प्राणीके रक्तस्राव हो तो रक्त शीघ्र जमनेसे अनिष्ट परिणामोंसे उसकी रक्षा होती है। इस काल अन्त्रोंकी विभिन्न चेष्टाएँ स्तब्ध तथा शुषिरपेशियाँ संकुचित हो जाती हैं, जिससे पचनकी क्रिया रुक जाती है। भावावेशवश इस काल कनीनिकाओंका विस्तार, रोमाञ्च, नेत्र-बुद्बुदोंका बाहर उभार, प्रस्वेद आदि परिवर्तन भी होते हैं।

सम्भवतः एड्रीनलीन शरीरकी शीतसे रक्षा तथा ज्वरमें उपयोगी है। अधिवृक्क ग्रन्थियाँ निकाल दी जायें तो अमुक प्रमाणमें शीत अपेक्षया अधिक कम्प उत्पन्न करता है। एड्रीनलीन हिस्टामीन आदि विषोंके अनिष्ट परिमाणोंसे शरीरका त्राण भी करता है।

एड्रीनलीनके ये कर्म उसकी सूचीबस्ति आदिसे होनेवाले परिणामोंको देखकर विशेषतया निश्चित किये गये हैं।

नाडी-संस्थानकी क्रियामें वेगोंको एक नाडी-कोष[2]से दूसरे नाडीकोष तक पहुँचानेका कार्य, विदित हुआ है कि, अमुक रसों या स्रावों द्वारा होता है। पहले नाडी-कोषके सूत्रके अन्तमें एक रस उत्पन्न होता है। यह रस आगे नाडी-कोषमें वेगको पहुँचाता है। मध्य-स्वतन्त्रके नाडीकोषोंमें वेग-के वहनका कार्य जिस रससे होता है उसे सिम्पेथीन[3] नाम दिया गया है। परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थानमें वेगका वहन एसिटिल कोलीन[4] नामक द्रव्य द्वारा होता है। कइयोंके मतमें सिम्पेथीन स्वरूपतः एड्रीनलीन ही है।

एड्रीनलीनके उल्लिखित कर्म देखकर उसका चिकित्सामें विविध प्रयोजनोंसे व्यवहार होता है। हृदयको बल देनेके लिए इसका प्रायः उपयोग होता है, यद्यपि इसकी यह क्रिया अल्पकालिक होती है। यह अपस्तम्भिकाओंका विकास करता है; अतः उनके स्तम्भसे हुए श्वास रोग[5] में इसकी सूचीबस्ति दी जाती है। धमनिकाओंके संकोचक होनेसे नासिका आदिसे होनेवाले रक्तस्रावमें इसके द्रवका पिचु (फोया) क्षतपर रखा जाता है।

१—Bronchioles—ब्रोङ्किओल्स; श्वास-पथ (अपस्तम्भ) की शाखाएँ।
२—Neuron—न्यूरॉन। ३—Sympathin. ४—Acetylcholine
५—Spasmodic asthma—स्पैज्मोडिक एस्थमा।

संहिताओंमें वर्णित पञ्चपित्तोंमें एक साधकपित्त है। इसके कर्म भय या शौर्य, क्रोध या हर्ष कहे हैं। इन कर्मोंका साम्य एड्रीनलीनके कर्मोंसे देखा जा सकता है। यह अन्तःस्राव हृदयमें उत्पन्न नहीं होता। तथापि हृदय पर इसका प्रभाव, तथा अन्य अवयवोंपर क्रिया करनेके हेतु हृदय द्वारा ही उन तक इसका पहुँचाया जाना-इस स्थितिको लक्ष्यमें रखकर इसका स्थान हृदय कहा जा सकता है। जैसे, रसकी उत्पत्तिका स्थान आयुर्वेदमें स्पष्ट ही ग्रहणीको कहा होनेपर भी उक्त कारणोंसे ही उसका स्थान हृदयको कहा है। यह भी संभव है कि, ऐसे प्रकरणोंमें स्थानका अर्थ 'स्टेशन' हो। जैसे, स्टेशनसे गाड़ी जाती है और लौटकर फिर वहीं आती है, वैसे ही चक्रवत् भ्रमणके केन्द्रको संभवतः स्थान नाम दिया हो। 'स्थान' और 'स्टेशन' दोनों शब्दोंके धातु सामान ही हैं।

साधक पित्तको हृदयके आवरक कफका दूर करनेवाला कहा है। इसका अर्थ यह हो सकता है कि, यह प्रतिक्षण उत्पन्न होकर अपने विरोधी एसिटिल कोलीनकी क्रियाका प्रशमन किया करता हो। अर्थापत्तिसे, एसिटिल कोलीन ही हृदयका आवरक कफ, अन्य शब्दोंमें कफवर्गीय एक द्रव्य है, यह भी कहा जा सकता है।

अधिवृक्क-वल्क—अधिवृक्क-मध्यके चारों ओर स्थित भिन्न अन्तःस्रावी कोष-समुदायका नाम अधिवृक्क-वल्क है। यह ग्रन्थि जीवनके लिए अनिवार्य है। गर्भावस्थामें जिस मूल भागसे अन्तःफल और वृषण-ग्रन्थियाँ उत्पन्न होती हैं, उसीसे यह ग्रन्थि भी उत्पन्न होती है। दोनोंके स्रावोंकी रासायनिक रचना समान होती है। दोनोंमें परस्पर कुछ सम्बन्ध भी है, यद्यपि उसका पूर्णज्ञान अबतक नहीं हुआ है।

दोनों अधिवृक्कोंको निकाल देनेसे, अधिवृक्क-वल्कका अन्तःस्राव अनुपलब्ध होनेके परिणाम-स्वरूप प्रायः परीक्षणीय पशुओंमें निम्न लक्षण देखे जाते हैं; क्षुधानाश, अत्यधिक अङ्गसाद (मांसपेशीसाध्य कार्य करनेकी प्रवृत्ति न होना), भारमें उत्तरोत्तर कमी, स्फूर्ति और उत्साह[1] का अत्यधिक ह्रास; क्रमशः मोह (संज्ञानाश)[2] और दस दिनोंमें मृत्यु। यही लक्षण मृदु रूपमें 'एडीसन्सडिसीज़'[3] नामक रोगमें भी होते हैं। अपने प्रथम द्रष्टाके नामसे प्रसिद्ध यह रोग चिरकालसे विदित था। अधिवृक्क-वल्कसे इसका सम्बन्ध पीछेसे ज्ञात हुआ। इस रोगमें अङ्गसाद (कर्ममें अप्रवृत्ति तथा अनुत्साह), उत्तरोत्तर शारीर दौर्बल्य और मानस अवसाद, मूत्र-विकार, धमनियोंमें दृढताका ह्रास होनेसे अत्यन्त धमनी-शैथिल्य (रक्तदाबकी न्यूनता) और अन्तमें परन्तु दीर्घकाला-नन्तर मृत्यु—ये लक्षण होते हैं। एक लक्षण जो अधिवृक्कके छेदनसे पशुओंमें नहीं देखा जाता, पर इस रोगसे आक्रान्त मनुष्योंमें देखा जाता है वह यह है कि; इसमें त्वचामें रञ्जक वर्णके अति निक्षेपके कारण उसका वर्ण कांसे-जैसा हो जाता है। रोगका कारण विदित हो जानेसे अब अधिवृक्क-वल्कके सत्त्वका सेवन कराके मृत्युको टाला जा सकता है। अन्यथा, रोगके चिह्न प्रकट होनेके एकसे तीन वर्षमें मृत्यु होती है। रोगका प्रायिक कारण इस ग्रन्थिका यक्ष्मा है।

१—Interest—इण्टेरेस्ट।

२—मोह और मूर्च्छा—अंग्रेजीमें जिसे Coma—कोमा, या Stupor—स्टूपर कहते हैं, वह आयुर्वेदका मोह है। इसमें संज्ञानाश होता है। ('मुह वैचित्त्ये' धातुसे यह शब्द बना है)। मूर्च्छाका अंग्रेजी पर्याय Syncope—सिनकोप, Fainting—फेण्टिंग या Swooning—स्वूनिंग है। इसमें श्वसन और रक्तानुधावन कुछ कालको रुद्ध होकर त्वचाकी श्यावता (Cynosis—सायनोसिस, सलेटी-जैसा रंग) आदि लक्षण होते हैं। यह इसमें विशेष है। संज्ञानाश भी इसमें होता ही है।

३—Addison's disease.

ऊपर लक्षणोंमें निर्दिष्ट मूत्र-विकारका स्वरूप यह होता है कि अधिवृक्क-वल्कके अन्तःस्रावकी क्षीणता होनेका प्रभाव वृक्कोंपर पड़ता है। वे स्वस्थावस्थाकी अपेक्षया सोडियमके आयनों[1] का अधिक मात्रामें तथा पोटाशियमके आयनोंका न्यून मात्रामें विसर्जन करते हैं। सोडियम अतिमात्रामें मूत्र-मार्गसे निकलता हुआ अपने साथ विलायक रूपमें जलधातुको भी प्रभूत मात्रामें बाहर निकालता है। इसके दो परिणाम होते हैं—उदकक्षय[2] अर्थात् शरीरमें जलधातुकी क्षीणता; तथा रक्तमें जलका अंश न्यून होनेसे रक्तका आयतन न्यून होना, परिणामतया रक्तदाबमें कमी। कोषोंमें सोडियमकी न्यूनता, उदकक्षय तथा रक्तदाबकी मन्दताके परम्परया अन्य विपरिणाम होते हैं। रक्तमें द्राक्षाशर्करा भी न्यून हो जाती है। लवण (सोडियम क्लोराइड) देकर रोगको याप्य बनाया जा सकता है; या अधिवृक्क-वल्कका सत्त्व देकर रोगीके प्राण बचाये जा सकते हैं[3]।

अधिवृक्क-वल्कके सत्त्वोंकी सूचीबस्तिसे इसके अतियोगके कोई लक्षण दिखाई नहीं देते। रोग-रूपमें भी नरोंमें इसके अतियोगका (एडीसन्स डिसीज़का विरोधी) कोई विकार पाया नहीं जाता। हाँ, नारियोंमें अधिवृक्क ग्रन्थिका अर्बुद होनेपर उनमें नर-सदृश बाह्य लिङ्ग-द्योतक चिह्न[4] प्रकट हो जाते हैं। यथा, स्तन क्षीण हो जाते हैं; केशों और रोमोंका प्रादुर्भाव नरोंके समान हो जाता है; जैसे मुखपर श्मश्रुकी उत्पत्ति; कामच्छत्र[5] की वृद्धि हो जाती है; स्वर भारी हो जाता है; स्वभाव तथा चेष्टाएँ भी नरोंके समान हो जाती हैं[6]।

यह स्थिति (अर्बुद) यदि बच्चेमें हो तो उसमें लिङ्गावयवोंकी अकालिक पुष्टि हो जाती है—चार वर्षका लड़का देखाव तथा बाह्य लिङ्ग-द्योतक चिह्नोंसे, यथा बस्ति-प्रदेश (पेड़ूपर शीघ्र रोमोत्पत्ति) वयःस्थ पुरुष-जैसा प्रतीत होता है। शस्त्रकर्म द्वारा अर्बुदका छेदन कर देनेसे बालक पुनः प्रकृतिस्थ हो जाता है।

१—Ion; इनका परिचय जाननेके लिए देखिये पृ० २११, टिप्पणी।

२—Dehydration—डिहाइड्रेशन। उदकक्षय शब्द प्राचीन है। देखिये—च० सू० १७।७३-७५ पर —चक्रपाणि

३—कोई विद्वान् इस रोगका साम्य आयुर्वेदके हलीमकसे करते हैं। तुलनाके लिए उसके लक्षण देते हैं:—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितश्यावपीतकः।
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः॥
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च श्वासस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिल पित्ततः॥ च० चि० १६।१३२-३४

सु० उ० ४४।१२ में 'क्षय' (धातुक्षय) लक्षण अधिक दिया है। यद्यपि वर्तमान ग्रन्थोंमें 'एडीसन्स डिसीज' के लक्षणोंमें 'स्त्रियोंके प्रति आकर्षणका अभाव' (स्त्रीषु अहर्षः) नहीं गिनाया है, तथापि अधिवृक्क-मध्यका पोषक प्रभाव वृषण-ग्रन्थियोंपर होनेसे (देखिये आगे) यह लक्षण भी होना संभव है, ऐसा इन विद्वानोंका कथन है। सामान्यतया, हलीमकको Chlorosis—क्लोरोसिस समझा जाता है। परन्तु वह रोग प्रायः छोटी लड़कियोंमें होता है। हलीमकके लक्षणोंमें लिङ्ग और वयका ऐसा निर्देश नहीं।

४—Secondary sex-characters—सेकन्डरी सेक्स-केरेक्टर्स।

५—Clitoris—क्लाइटोरिस; संज्ञाका विचार पृ० १६७ की टिप्पणीमें देखिये।

६—अंग्रेजीमें इस विकारको Virilism—विरिलिज्म कहते हैं।

वल्कके अन्तःस्राव अनेक हैं। इनमें दो मुख्य हैं। एक प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेटके धातुपाकसे सम्बन्ध रखता है। दूसरा सोडियम और पोटाशियमका तथा उनके द्वारा शरीरमें क्षारता, स्नेहोंके संचय और जलका प्रमाण स्थिर रखता है। इस दूसरेको 'लवण और जल अन्तःस्राव'[1] कहते हैं। शेष अन्तःस्राव (६ से २८) नरों और नारियोंके लिङ्ग-ग्रन्थियोंके अन्तःस्रावोंके समान स्वरूपवाले होते हैं।

गर्भावस्थामें स्त्री की अधिवृक्क-वल्क पुरुषोंकी अपेक्षया बड़ी हो जाती है। इससे इसका गर्भावस्थाकी क्रियाओंसे कुछ सम्बन्ध होनेका अनुमान होता है। वल्कमें जीवनीय 'सी' भी प्रभूत होता है। एक नारङ्गीके रसमें जितना 'सी' होता है उससे तीन-गुना एक वल्क में होता है।

अग्न्याशय

जठराग्नि-द्वारा पचनके प्रकरणमें हम देख आये हैं कि[2]—कार्बोहाइड्रेटोंका परिपाक होकर अन्तमें द्राक्षाशर्करा आदि सामान्य शर्कराएँ बनती हैं। इनमें प्रधान भाग द्राक्षाशर्कराका होता है। शोषित होनेके पश्चात् शेष शर्कराओंका भी अधिकांश द्राक्षाशर्करामें परिणत कर दिया जाता है। यह कर्म संभवतः यकृत् करता है। परिणामतया कहा जा सकता है कि शरीरमें कार्बोहाइड्रेटोंका चलन द्राक्षाशर्कराके रूपमें ही होता है।

द्राक्षाशर्कराका उपयोग, कहा जा चुका है कि,[3] दहन और शक्त्युत्पादनके रूपमें होता है। इस क्रियाके परिणाम स्वरूप द्राक्षाशर्करा (अन्य शब्दोंमें कार्बोहाइड्रेट) जल और अङ्गराम्ल (कार्बन डाई-ऑक्साइड) के रूपमें परिणत हो तत्-तत् मार्गसे बाहर निकल जाते हैं। दहन मुख्यतया पेशियोंमें होता है। अन्तमें इस रूपमें उपयोगके सिवाय दो अन्य प्रकारोंसे भी द्राक्षाशर्कराका उपयोग होता है। प्रथम, वह ग्लायकोजनके रूपमें परिणत हो संचित होती है। संपूर्ण संचय (मानवोंमें कोई ६०० ग्राम) का आधार यकृत्में और लगभग इतना ही (मानवोंमें कोई ३५० ग्राम) पेशियोंमें होता है। अन्य धातुओंमें भी संचय होता है, पर नाम मात्र। इस संचयसे लगभग ३००० केलोरी उत्पन्न हो सकती हैं, जो एक अहोरात्रके निर्वाहके लिए पर्याप्त हैं। पेशियोंके सूत्र तथा अन्य अवयवोंके कोप यह संचय ऐसे कालों के लिए करते हैं, जब रस-रक्त से तत्काल द्राक्षाशर्कराकी प्राप्ति सुगम न हो। संचित ग्लायकोजन आवश्यकता होनेपर तत्क्षण द्राक्षाशर्करामें परिणत हो जाता है। द्राक्षाशर्कराका तीसरा उपयोग यह है कि, वह स्नेह (मेद) के रूपमें परिवर्तित हो, मेदः स्थानोंमें संचित होती है। संचयका यह प्रकार अल्प स्थानमें अधिक इन्धनात्मक द्रव्यके संचयमें उपयोगी है। प्रयोजन उपस्थित होनेपर यह मेद भी द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत हो जाता है।

ग्लायकोजनसे द्राक्षाशर्करा और उसके दहनसे अङ्गराम्ल और जल बनने तक अनेक मध्यवर्ती द्रव्य बनते हैं। इनमें तक्राम्ल, शुक्राम्ल तथा 'पायरुविक एसिड'[4] (एक अम्ल) प्रधान हैं।

परीक्षासे विदित हुआ है कि अग्न्याशयके अन्तःस्राव 'इन्सुलीन'के विना द्राक्षाशर्कराके उक्त तीनों उपयोग असम्भव हैं। तीनों क्रियाएँ होनेमें कुछ एन्जाइम भी सहायक होते हैं। अधिवृक्क-वल्कका अन्तःस्राव भी इस क्रियामें भाग लेता है। पोपणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्डका एक अन्तःस्राव इन्सुलीनके विरोधी कर्म करता है।

१—Salt and water hormone—सॉल्ट एण्ड वॉटर हॉर्मोन।
२—देखिये पृ० ३६७, ३८९-९१। ३—देखिये पृ० १९३-२०२। ४—Pyruvic acid.

अठारहवें अध्यायमें[1] कहा जा चुका है कि, अग्न्याशय एक उभयतःस्रावी ग्रन्थि है। इसके 'लैङ्गर-हैन्सके द्वीप, नामक कोष-पुञ्ज इन्सुलीनके सर्जक हैं। भोजनके अनन्तर कार्बोहाइड्रेट जठराग्निसे पक्व हो, विभिन्न शर्कराओंके रूपमें परिणत हो रक्तमें मिश्रित हो जाते हैं। मुख्यतया इन्सुलीनकी क्रियासे इनका दहन या सञ्चय होता है। किंवा, ये दो उपयोग होनेपर भी वे शेष रहें तो मूत्रमार्गसे बाहर निकाल दी जाती हैं। इसीसे कभी-कभी अति प्रमाणमें मधुर द्रव्योंके सेवनके पश्चात् मूत्रमें कुछ काल शर्करा प्राप्त होती है। शर्कराओंकी इस त्रिविध व्यवस्थाका फल यह होता है कि, रक्तमें उनका प्रमाण निश्चित रहता है। प्राकृत स्थितिमें रक्तमें शर्करा ०.०८ से ०.१ प्रतिशतसे न्यून तथा ०.१८ प्रतिशतसे अधिक नहीं होती। क्षुद्रान्त्र और यकृत् रक्तमें द्राक्षाशर्कराको भेजकर तथा कार्य-परायण पेशियाँ, मस्तिष्क और रक्तमें शर्करा अधिक होनेपर यकृत् रक्तसे शर्कराका आदान (ग्रहण) कर प्राकृतावस्थामें रक्तमें शर्कराके मानको नियत बनाये रखते हैं। यकृत् ऊपर कहे अनुसार इसे ग्रहण कर ग्लायकोजनके रूपमें परिणत कर सञ्चित रखता है, एवं आवश्यकता होनेपर इसे द्राक्षाशर्करामें परिवर्तित कर रक्तमार्गसे तत्क्षण कर्म-परायण अवयवको भेजता है।

दहनके कार्यमें प्रयुक्त या सञ्चित शर्कराकी अपेक्षया क्षुद्रान्त्र द्वारा शोषित शर्कराका प्रमाण अधिक हो तो रक्तमें शर्कराकी वृद्धि होती है। यह स्थिति अग्न्याशयके विकृत होनेसे इन्सुलीनकी क्षीणता (स्रावकी अल्पता) होनेपर होती है। इन्सुलीनका क्षय होनेसे शोषित शर्कराका उपयोग यथावत् नहीं हो पाता, जिससे रक्तमें उसका मान बढ़ जाता है। मधुर द्रव्योंका अतियोग होनेपर, किंवा यकृत्में ग्लायकोजनका भराव होनेपर भी यह स्थिति होती है। रक्तमें शर्कराके आधिक्यको मधुरक्त[2] कहते हैं।

मधुरक्तका एक परिणाम होता है—क्षौद्रमेह[3]—मूत्रमें शर्कराकी विद्यमानता। प्राकृत अवस्थामें वृक्कोंमें यह विशेषता होती है कि, मूत्रस्रावी नलिकाओंके आदिम कोषाकार भागसे अन्य मल द्रव्योंके समान शर्करा, हरिद[4] तथा जलका भी क्षरण (स्रवण) होता है। परन्तु शेष भाग इन द्रव्योंको शोषित कर पुनः रक्तमें पहुँचा देता है। इस भागमें इन द्रव्योंके पुनर्ग्रहणका सामर्थ्य इस बातपर अवलम्बित है कि, रक्तमें इन द्रव्योंका प्रमाण कितना है। रक्तमें इनका प्रमाण एक नियत मानसे हो तो ये नलिकाएँ इन द्रव्योंका पुनः अभिशोषण नहीं कर सकतीं। परिणामतया, ये द्रव्य इतर द्रव्योंके समान मूत्रमार्गसे निःस्रुत होते हैं। यथा, व्यक्ति-भेदसे रक्तमें शर्कराका प्रमाण ०.१ से ०.२० प्रतिशतसे अधिक हो तो मूत्रस्रावी नलिकाएँ शर्कराका पुनः शोषण नहीं कर सकतीं। इस मान-विशेष को वृक्कीय देहली[5] कहते हैं। इन्सुलीनकी क्षीणता हो तो, रक्तमें शर्कराका प्रमाण बढ़ जाता है, जिससे इस देहलीका अतिक्रमण होनेसे शर्करा अभिशोषित न हो मूत्ररूपमें निकलती है।

मूत्रमें शर्कराके क्षरणका परिणाम होता है—उदकमेह[6], मूत्रमें जलधातुकी वृद्धि, जिसे चलित

१—देखिये—पृ० २८४–८६।

२—Hyperglycaemia—हायपरग्लायकीमिया 'मधुरक्त' संज्ञाके लिए देखिये—पृ० २१६।

३—इस संज्ञाके लिए देखिये पृ० १९६। ४—Chloride—क्लोराइड।

५—Renal threshold—रीनल थ्रेशोल्ड।

६—Polyuria—पॉलीयूरिआ, या Diabetes insipidus—डायबिटीज़ इनसिपिडस। इस रोगका प्राचीन नाम उदकमेह है, यह आगे दिये वचनोंसे विदित होगा 'अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम्। श्लेष्मकोपान्नरो मूत्रमुदमेही प्रमेहति—च० नि० ४।१३'; 'तत्र श्वेतमवेदनमुदकसदृशमुदकमेही मेहति—सु० नि० ६।१०'। इस रोगके लिए प्रायः लेखक बहुमूत्र, मूत्रातिसार आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं। प्राचीन शब्दके रहते उनका व्यवहार अप्रस्तुत है।

भाषामें बहुमूत्र कहा जाता है। शर्करा घन रूपमें मूत्रमार्गसे निकल नहीं सकती ; जलमें विलीन होकर ही बाहर जा सकती है। स्वभावतः यह स्थिति होनेसे शर्करा अपने साथ प्रभूत मात्रामें जलको भी लेती है, जिससे क्षौद्रमेहके साथ उदकमेह भी होता है। उदकमेह स्वतन्त्र रोग भी है, जिसका विचार इसी अध्यायमें आगे किया है। जल धातुके अति निर्गमनसे उसकी सविशेष प्रमाणमें आवश्यकताका अनुभव धातुओंको होता है। आवश्यकताकी पूर्तिके लिए तृषाके रूपमें इस जलकी माँग होती है। तृषा क्षौद्रमेहका नियत लक्षण है।

तृषाके साथ क्षौद्रमेहमें एक अन्य भी चिह्न होता है—अति क्षुधा। कारण यह होता है कि इन्सुलीनकी क्षीणतावश अवयवोंमें शर्कराके उपयोगकी शक्ति भले न हो, उसकी आवश्यकता तो उन्हें रहती ही है। यह आवश्यकता अति क्षुधाके रूपमें प्रकट होती है।

क्षौद्रमेहका अन्य परिणाम होता है—दौर्बल्य। इसका कारण यह होता है कि, रक्तमें शर्कराका प्रमाण न्यून होनेसे यकृत् प्रकृत्या पूर्वसञ्चित ग्लायकोजनको द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिवर्तित कर रक्तमें भेजता है। वह भी मूत्रमार्गसे निकल जानेसे यकृत् अन्तको धातुओंके प्रोटीनको ही द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणत कर अवयवोंको पहुँचाता है। परिणामतया, शरीरावयव प्रोटीनके हीन-योगसे होनेवाले दौर्बल्य तथा अन्य लक्षणोंके ग्रास होते हैं। संक्रामक रोगोंकी प्रतिकारशक्ति भी न्यून हो जाती है।

स्नेहोंका धातुपाक कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाककी पूर्णतापर अवलम्बित है। कार्बोहाइड्रेटोंका उपयोग न होनेसे उनका धातुपाक यथावत् नहीं हो पाता, जिससे स्नेहोंका भी धातुपाक पूर्णतया नहीं हो पाता[1]। अपूर्णपाकवश उत्पन्न हुए मध्यवर्ती अम्ल द्रव्योंके अति प्रमाणसे रक्तमें अम्लता होती है, जो अन्तमें मूर्च्छा या मरणका कारण बनती है। मरण परीक्ष्य प्राणियोंमें कुछ ही सप्ताहोंमें होता है। मानवोंमें, जैसा कि प्रत्यक्ष है, इस परिणामके होनेमें बहुत समय लगता है। कारण, प्राणियोंमें परीक्षार्थ समूचा अग्न्याशय निकाल दिया जानेसे 'लङ्गर-हैन्सके द्वीप' सभी नष्ट हो जाते हैं। मानवोंमें जो विकृति होती है, उसमें सभी द्वीप विकृत नहीं होते। अतः यत्किंचित् मात्रामें इन्सुलीन बनता ही रहता है।

अग्न्याशयकी विकृति जीर्ण शोथ या यक्ष्मासे होती है। कइयोंमें कुछ जन्मगत विकृति भी होती है।

यकृत् एक ओर द्राक्षाशर्कराको ग्लायकोजनमें परिणत करता है, तो दूसरी ओर ग्लायकोजनको द्राक्षाशर्करामें परिवर्तित करनेकी विरोधी[2] क्रिया भी करता है। इस प्रकार रक्तमें, परिणामतया मूत्रमें, शर्कराके प्रमाणके नियमनके कार्यमें यकृत् तथा उसके स्वास्थ्यका पद महत्त्वपूर्ण है। विकृत यकृत् इस प्रकार क्षौद्रमेहका कारण हो सकता है। अवस्था इसमें यह होती है कि, यकृत्में ग्लायकोजनके रूपमें कार्बोहाइड्रेटोंकी परिणति और संग्रह होनेके स्थानपर द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणमन और रक्तमें प्रेषण अधिक होता है। पूर्वकथित प्रकारसे इस अतिमात्र शर्कराकी मूत्रमार्गसे प्रवृत्ति होती है। क्षौद्रमेहकी चिकित्सामें निदानके इस भेदको ध्यानमें रखना चाहिए।

इन्सुलीनकी सूचीबस्तिसे मधुरक्त या क्षौद्रमेहका कारण नष्ट होनेसे सब लक्षण लुप्त हो जाते हैं। मुखसे इसका सेवन गुणकारी नहीं होता। इसकी सूचीबस्ति ही दी जाती है। लक्षणोंका पुनरावर्तन न हो, इस हेतु प्रतिदिन एक बार इसकी सूचीबस्ति दी जाती है। क्षौद्रमेही पुरुष (विशेषोंमें बच्चे भी) स्वयं आवश्यकतानुसार यथाप्रमाण सूचीबस्ति लेनेके अभ्यस्त देखे जाते हैं। सिरामें इन्सुलीनकी

१—इस विषयमें पृ० २१३-१५ पुनः देखिये। २—Reversible—रिवर्सिबल।

सूचीबस्तिका परिणाम कुछ ही मिनटोंमें होता है ; परन्तु आध से एक घण्टेमें नष्ट भी हो जाता है और पुनः रक्तमें शर्कराकी वृद्धि हो जाती है। त्वचामें देनेसे शोषण मन्द होनेके कारण परिणाम विलम्बित पर कुछ स्थायी होता है। इन्सुलीनकी सूचीबस्ति इसी कारण इसी मार्गसे दी भी जाती है। भूलसे इन्सुलीनकी अतिमात्रा प्रविष्ट होकर, रक्तमें शर्कराका प्रमाण न्यून न हो जाय, इस हेतु साथ द्राक्षाशर्करा भी दी जाती है। इन्सुलीनकी अधिक मात्रा इस शर्करा पर क्रियाकर निर्वीर्य हो जाती है।

इन्सुलीन अग्न्याशयके सत्त्वके रूपमें प्राप्त किया जाता है। यह एक प्रोटीन है इसके स्फटिक भी बनाये जा सके हैं।

किसी कारण रक्तमें शर्कराकी न्यूनता (क्षीणता)[१] हो जाय तो, केन्द्रीय नाडी-सूत्रोंपर परिणाम होकर निम्न लक्षण होते हैं ; दौर्बल्य, क्षुधा-प्रतीति, प्रस्वेद, त्वचाकी रक्तवाहनियोंका संकोच या विकास, हृल्लास (लालास्राव), अश्रु, कम्प, अकामतः (इच्छा विना) मल-मूत्र-प्रवृत्ति, आक्षेप, मूर्च्छा और सूची द्वारा द्राक्षाशर्करा (ग्लुकोज) देनेके रूपमें तत्काल उपचार न किया जाय तो अन्तमें मृत्यु। यह स्थिति क्षौद्रमेहीको अतिमात्र इन्सुलीन देनेसे होती है। कभी रोग-रूपमें भी होती है। तब द्वीपोंका कुछ अंश काट दिया जाता है।

स्निग्ध आहार तथा अनशनसे अग्न्याशयमें इन्सुलीनका प्रमाण बढ़ जाता है। इन्सुलीन आमाशय-रसके स्रावकी वृद्धि करता है।

यकृत्में द्राक्षाशर्करासे ग्लायकोजन बनते हुए जो मध्यवर्ती द्रव्य बनते हैं, उनके प्रवर्तक तीन एन्ज़ाइम हैं—हेक्सोकायनेज़[२], फॉस्फोग्लुकोम्युटेज[३] तथा फास्फोरिलेज[४]। पोषणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्डका एक स्राव हेक्सोकाइनेजका विरोधी है—उसकी ग्लायकोजन बनानेकी क्रियामें बाधक है। कारण, परीक्षणोंमें देखा गया है कि अग्न्याशय निकाल देनेपर यद्यपि रक्तमें द्राक्षाशर्कराकी वृद्धि होती है, परन्तु साथ ही पोषणिका ग्रन्थि भी निकाल दें तो हेक्सोकाइनेज द्वारा द्राक्षाशर्करासे ग्लायकोजन बनानेकी क्रिया निर्बाध हो जाती है। परिणामतया, रक्तमें द्राक्षाशर्करा अधिक नहीं हो पाती, जिससे मूत्रमें भी उनका निर्गमन (क्षौद्रमेह) नहीं होता। इसी प्रकार, अतिवृक्क-वल्क अग्न्याशयके साथ निकाल दिया जाय तो अग्न्याशयके निकाल देनेके संभावित विपरिणाम नहीं होते।

परिस्वतन्त्र नाडी-संस्थान जब सक्रिय होता है उस समय, अर्थात् पुरुष जब शारीरिक-मानसिक विश्रान्तिमें होता है, इन्सुलीन क्रिया करता है। वर्तमान कालमें विशेष दृष्टिगोचर होनेवाले मानसिक संघर्षणके कारण परिस्वतन्त्रका विरोधी स्वतन्त्र नाडी-संस्थान प्रायः विशेष प्रकुपित (क्षुभित) रहता है। इसीसे इन्सुलीनकी क्रिया समीचीन न होनेसे क्षौद्रमेहका प्रसार सविशेष देखा जाता है। अति संतर्पण इसका अन्य ध्यान देने योग्य कारण है। यह अग्न्याशय के द्वीपों तथा यकृत् पर अधिक कार्य-भार डालता है, जो कालान्तरमें इन्हें विकृत कर देता है। एक और स्मरणीय कारण व्यायामाभाव है। क्षौद्रमेही पुरुष व्यायाम करे तो इन्सुलीनकी आवश्यकता न्यून होती है। व्यायामोंके अन्तरकालमें परिस्वतन्त्र नाडी-संस्थान प्रदीप्त होता है। इस वस्तुस्थितिको लक्ष्यकर क्षौद्रमेहकी आयुर्वेदोक्त चिकित्सा—यव आदि लघु धान्योंका सेवन (जिससे अग्न्याशय पर न्यूनतम भार पड़े), गृह-त्याग (सम्पूर्ण शान्तिके लिए), मार्ग चलना, कुआ खोदना आदि श्रमकी[५]—आधुनिक दृष्ट्या महत्ता समझी जा सकती है।

१—Hypoglycaemia—हायपोग्लायकीमिया। २—Hexokinase.
३—Phosphoglucomutase. ४—Phosphorylase.
५—विस्तारके लिए देखिये—सु० चि० ११।११—१३।

कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाकसे संबद्ध होनेसे अधिवृक्क तथा चुल्लिका ग्रन्थियाँ भी रक्त तथा मूत्रमें द्राक्षाशर्कराके प्रमाणका नियमन करती हैं।

आयुर्वेद-मतसे विचार करें तो इन्सुलीन, शेष सहकारी अन्तःस्राव तथा एन्ज़ाइम धातुगत पाचकपित्त किंवा धात्वग्नि हैं। प्रश्न शेष है कि, विशेषतया इन्सुलीनका साम्य किस धात्वग्नि से है? आगे पित्ताधिकारमें इस विषयका पुनः कुछ विचार करेंगे।

बीज-ग्रन्थियाँ

वृषण और अन्तःफल

वृषण-ग्रन्थियाँ—

वृषण तथा अन्तःफल अग्न्याशयके समान उभयतःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं। इनके बहिःस्राव क्रमशः पुंबीज और स्त्रीबीज हैं। वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तःस्रावको अन्तःशुक्र[1] कहते हैं।

आधुनिक क्रियाशारीरके इतिहासमें अन्तःशुक्रका प्रथम संकेत ब्राउन-सेक्वर्ड[2] नामक पेरिसके वातरोगविशेषज्ञ द्वारा अपने ऊपर किये गये परीक्षणोंमें प्राप्त होता है। सन् १८८९ में इस विद्वान्‌ने अपनी ७२ वर्षकी वयमें अपनी त्वचामें वृषण-ग्रन्थियोंके सत्त्वकी सूचीबस्ति ली। परिणामतया, उसने अपनेमें अत्यधिक यौवनके चिह्न पाये। इसके पश्चात् वाँरोनॉफ[3] ने पुरुषोंमें वानरों के वृषण लगाकर ऐसे ही दावे किये। इन शस्त्रकर्मोंमें यशका कारण, सम्भव है, मानसिक भी रहा हो।

डल्हन और गयदासने अपनी टीकाओंमें[4] लिखा है: "कई पुरुष कहते हैं कि जिनके अण्ड-कोष निकाल दिये जायँ उनकी श्मश्रु (दाढ़ी-मूँछ) झड़ जाती है; इससे सिद्ध है कि श्मश्रु शुक्रका मल है। परन्तु यह सत्य नहीं; कारण, जिनके श्मश्रु नहीं होतो, उनके भी शुक्र तो होता ही है।" यह कथन सूचित करता है कि प्राचीन आचार्यों ने भी वृषण-ग्रन्थियों तथा श्मश्रुके सम्बन्धका दर्शन किया था। इसके अतिरिक्त शुक्रकी सर्वाङ्गव्यापिता एवं सर्वाङ्गपर महत् प्रभावका उल्लेख भी सूचित करते हैं कि, प्राचीनोंको अन्तःशुक्र सम्बन्धी कुछ जानकारी थी। चिकित्सा-शास्त्र के इतिहासमें इस सचाईको स्थान मिलना चाहिये। आधुनिक प्रत्यक्ष द्वारा दोनों स्रावोंका वैशद्य हो जानेसे वृषणोंके अन्तःस्रावको अन्तःशुक्र नाम दिया गया है। पुंबीज अकेले किंवा इतर ग्रन्थियोंके स्रावों सहित बहिःशुक्र कहाते हैं।

वृषण-ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव भी होता है, इस बातकी ओर आधुनिकोंका भी लक्ष्य, मुख्यतः, प्राणियों और मनुष्योंके षण्ढीकरण[5] किंवा जिनमें वृषण क्षीण या रोगाक्रान्त हो गये हों उनमें हुए परिणामोंके अनुशीलन द्वारा हो गया है। संक्षेपमें, वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तःस्राव या अन्तःशुक्रका कार्य अन्य जननावयवोंकी पुष्टि तथा उनके प्राकृत कर्मों का परिरक्षण और पुरुषोंमें श्मश्रु आदि लिङ्गद्योतक बाह्य चिह्नोंका उत्पादन और रक्षण है।

वृषण-ग्रन्थियोंकी अत्यन्त बारीक तह[6] काटकर अणुवीक्षणके नीचे देखें तो, यत्र-तत्र कोषोंके

१—Testosterone—टेस्टोस्टीरोन ; व्यापारिक नाम—Periandrine—पेरीएण्ड्रीन।

२—Brown-Sequared.

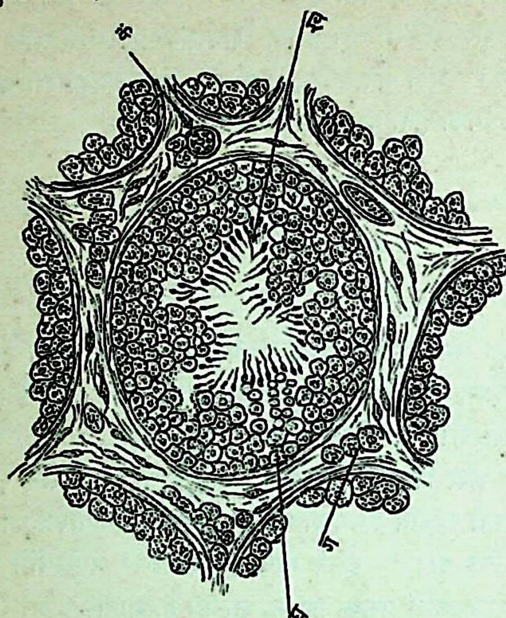
३—Voronoff ; इस विद्वान्‌ने भारतमें भी आकर यह शस्त्रकर्म किया था।

४—देखिये—पृ० २७।

५—Castration—कैस्ट्रेशन ; खस्सी करना ; वृषण-ग्रन्थियाँ निकाल देना।

६—Section—सेक्शन।

अनेक स्तरोंसे बनी नलिकाएँ तथा नलिकाओंके अन्तरावर्ती स्थानोंमें अन्य प्रकारके कोष बिखरे हुए दिखाई देंगे। नलिकाएँ पुंबीजोत्पादक स्रोत[1] हैं, तथा अन्तरवार्ती कोष[2] अन्तःशुक्रकी उत्पत्ति करते हैं।



अन्तःशुक्र तथा बहिःशुक्रके उत्पादक कोष। चित्र सं०—१९

मध्यमें एक शुक्रप्रादुर्भावकर (पुंबीजोत्पादक) स्रोत ; ख—पुंबीज ; ग—आम (अपरिपक्व) पुंबीज ; पुंबीजोत्पादक स्रोतके चारों ओर अन्तरावर्ती धातु ; घ—अन्तःशुक्रोत्पादक कोष ; इनके भी चारों ओर अन्य पुंबीजोत्पादक स्रोतोंके खण्ड।

षण्ढीकरणका यह परिणाम तो प्रकृत्या होता ही है कि पुरुष वन्ध्य[3] हो जाता है[4]। परन्तु इस परिणामके अतिरिक्त कुछ अन्य परिणाम भी होते हैं, जिनका सम्बन्ध शरीरके इतर अवयवोंसे होता है। अन्य प्राणियोंके देहसे प्राप्त किये गये किंवा कृत्रिम[5] अन्तःशुक्रकी सूचीवस्ति अथवा शरीरके किसी भागमें अन्य प्राणियोंकी वृषण-ग्रन्थियाँ लगा देनेसे (उनकी कलम कर देनेसे) वन्ध्यता तो यथापूर्व बनी रहती है, परन्तु षण्ढीकरणके शेष लक्षण लुप्त हो जाते हैं। ये परीक्षण सिद्ध करते हैं कि, पुंबीजके सिवाय वृषण-ग्रन्थियाँ कोई अन्तःस्राव भी उत्पन्न करती हैं।

१—Seminiferous tubules—सेमिनीफेरस ट्यूब्यूल्स।

२—Interstitial cells—इण्टरस्टिशल सेल्स। ३—Sterile—स्टराइल।

४—अवन्ध्यता तथा मैथुन-शक्ति—पुंस्त्वके ये दो अङ्ग हैं। पुरुषमें स्त्रीको संतुष्ट करनेका सामर्थ्य हो तो इस धर्मको मैथुन-शक्ति (Potency—पोटेन्सी) कहते हैं। प्रजोत्पादनका सामर्थ्य अवन्ध्यता (Fertility—फर्टीलिटी) कहा जाता है। दोनों प्रायः एक व्यक्तिमें रहते हैं, यह सुविदित है। इनका प्रमाण सबमें समान न हो यह और बात है। यह स्थिति भी हो सकती है कि, पुरुषमें मैथुन-शक्ति हो, पर वह प्रजोत्पादनमें समर्थ न हो। रोगके सिवाय यह स्थिति सन्तति नियमनार्थ शुक्रवह स्रोतको बीचमेंसे काट देने (Vasectomy—वैसेक्टॉमी) से भी होती है। यह भी संभव है कि, पुरुषमें प्रजोत्पादनका सामर्थ्य होनेपर भी मैथुन-शक्ति न्यूनाधिक अल्प हो। इस स्थितिमें गर्भाधान हो सकता है। कभी स्त्रीकी असम्यक् तृप्तिके कारण गर्भस्थिति न होना भी सम्भव है।

५—Synthetic—सिंथेटिक।

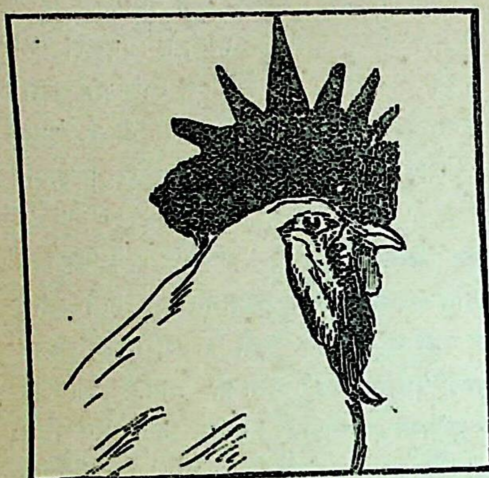
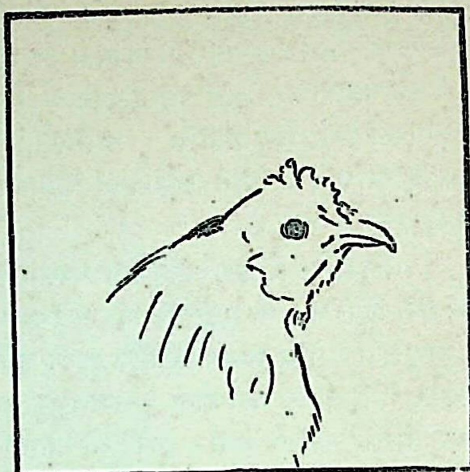
सामान्यतः तारुण्य[1] का उदय होनेपर—लगभग चौदहसे सोलहवर्षकी वयमें—एक ओर वृषणोंमें पुंबीजोंका प्रादुर्भाव (परिपक्वता)[2] तथा लिङ्गकी दृष्टिसे परिपूर्णता होती है; दूसरी ओर कई चिह्न प्रकट होते हैं, जिन्हें बाह्य लिङ्गद्योतक चिह्न[3] कहते हैं। यथा, मानवोंमें इस काल भग-प्रदेश[4] और मुखपर रोमोत्पत्ति होती है, स्वर गम्भीर हो जाता है तथा देखाव पूर्वापेक्षया अधिक पुरुष-सुलभ हो जाता है। बाह्य लिङ्गद्योतक चिह्नप्राणियोंमें विशेष ध्यान खेंचते हैं, यथा सींग निकलना, कलगी फूटना इत्यादि।

मानवोंमें षण्ढीकरणके परिणाम अवस्थाभेदसे कुछ भिन्न होते हैं। तारुण्यके पूर्व लड़केको षण्ढ बना दिया जाय तो पुरुषत्वके चिह्न प्रादुर्भूत नहीं होते—स्वरकी बाल-सुलभ तीक्ष्णता बनी रहती है, श्मश्रु तथा शरीरमें अन्यत्र तरुणाईके कारण फूटनेवाले बाल बहुत थोड़े फूटते हैं, शरीरका संहनन (घड़न) पुरुषोचित नहीं होता; अण्ड, शुक्राशय[5] तथा पौरुष ग्रन्थि[6] क्षीण हो जाते हैं, शिश्नका उतना विकास नहीं हो पाता; पुरुषमें जो स्वाभाविक दबंगपन (धाष्टर्य) होना चाहिये वह थोड़ा होता है या सर्वथा नहीं होता; मनुष्य कम क्रियाशील और प्रायः मेदस्वी हो जाता है; कभी-कभी अस्थियोंको पुष्टि भी अधिक होती है; यथा हिजड़ोंमें प्रायः पैर लम्बे होते हैं। तारुण्यके पश्चात् शस्त्र कर्म किया जाय तो ये चिह्न उतने स्पष्ट नहीं होते। हर्ष (कामवासना) अन्य प्राणियोंमें लुप्त हो जाता है, मानवोंमें नहीं।

शुक्रवह स्रोतको बाँध या काट दिया जाय तो शुक्रप्रादुर्भाव कर (पुंबीजोत्पादक) स्रोत क्षीण हो जाते हैं—पुंबीजोंकी उत्पत्ति बन्द हो जाती है। अन्तरावर्ती कोषों पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उलटे, स्टीनेक[7] के मतानुसार पुंबीजोत्पादक कोषोंके क्षीण होनेके कारण उनके रिक्त हुए अवकाशमें वृद्धिका अवसर प्राप्त होनेसे अन्तरावर्ती कोषोंकी विशेष पुष्टि और वृद्धि होती है, जिससे शरीरमें यौवन-सुलभ चिह्न (शारीरिक-मानसिक श्रम अधिक करनेका सामर्थ्य, हर्ष-कामेच्छा[8] मैथुन-शक्तिका आधिक्य इत्यादि) उदित होते हैं।

प्राणियोंमें भी षण्ढीकरणके ऐसे ही प्रभाव देखे जाते हैं। साँड तथा बैल एवं खस्सी न किये और किये घोड़ोंकी शारीरिक-मानसिक प्रकृतिमें जो भिन्नता देखी जाती है, वह षण्ढीकरणके परिणामोंके उत्तम परिचायक है। तारुण्यके पूर्व मुर्गोंको खस्सी करनेका फल यह होता है कि उनके सिरपर कलगी तथा गले और कानकी पाली[9] प्रकट नहीं होती (देखिये चित्र—२१) हरिणोंमें सींग उत्पन्न नहीं होते। जिन ढोरोंमें नर-मादा दोनोंके शृङ्ग होते हैं उनमें षण्ढीकरण-वश शृङ्गोंकी वृद्धि तो नहीं अटकती, पर उनकी आकृतिमें विक्रिया आती है। एक प्रकारके मेष[10], जिनमें नर शृङ्गी और नारी शृङ्गहीन होती है, उनमें वृषणोंकी अवस्थिति शृङ्गोंके उदय तथा वृद्धिके लिए अनिवार्य है। किसी भी अवस्थामें षण्ढीकरणसे शृङ्गोंकी वृद्धि वहीं रह जाती है।

१—Puberty—प्युबर्टी।
२—Spermatogenesis—स्पर्मेटोजेनेसिस; या Spermatogony—स्पर्मेटोजेनी।
३—Secondary sex characters—सेकंडरी सेक्स केरेक्टर्स। ४—Pubis—प्यूबिस।
५—Vesiculae seminales—विसीक्युली सेमीनेलिस। ६—prostate—प्रॉस्टेट।
७—Steinach
८—इस शस्त्रकर्मके पश्चात् हर्षकी वृद्धि, जो अति समागमसे लक्षित होती है, उसका एक कारण यह भी होना संभव है कि, प्रजोत्पत्तिकी संभावना न रहनेसे पुरुष अब पूर्ववत् समागमको टालता नहीं।
९—Spur—स्पर। १०—Herdwick Sheep—हर्डविक शीप।

चित्र सं०—२० षण्ढीकरणका परिणाम—मुर्गेपर। चित्र सं०—२१

बांई ओर प्राकृत मुर्गा ; दांई ओर तारुण्यके पूर्व षण्ढीकृत मुर्गा। षण्ढ मुर्गेकी कलगी तथा कान और गलेकी पालियाँ नहीं निकली हैं।

पूर्वकालमें गिर्जाघरोंमें गायक तथा अन्तःपुरोंमें हिजड़े सेवक (कञ्चुकी) तय्यार करनेके लिए षण्ढीकरणमें पद्धतिका व्यवहार किया जाता था। विदेशोंमें टेबलकी शोभार्थ पक्षी[1], इसी विधिसे बनाये जाते हैं। प्रजोत्पादनका कार्य जिनसे न लेना हो ऐसे बैल, मेंढे तथा घोड़े तय्यार करनेके काममें षण्ढीकरणका चिरकालसे प्रयोग होता आ रहा है। इससे ये विशेष अनुद्धत हो जाते हैं।

षण्ढीकरण किंवा वृषणोंकी क्षीणता[2]से उत्पन्न परिणामोंमें, प्रजोत्पादनकी अक्षमताको छोड़कर शेष सभी वृषण-ग्रन्थियोंके सत्त्व अथवा अन्तः शुक्र की सूचीबस्ति देनेसे लुप्त हो जाते हैं। अन्तःशुक्र (टेस्टोस्टिरोन) को स्फटिक रूपमें प्राप्त किया जा चुका है। यह स्टीरोल[3] नामक मेद-तुल्य द्रव्यके वर्गका है। इसके कल्पोंकी शक्तिका निर्णय इस बातसे किया जाता है कि षण्ढीकृत मुर्गोंमें कलगी, कण्ठपाली[4] एवं कर्णपालीके पुनर्जनन तथा शुक्राशयों[5]की पुष्टिके उद्दीपनका सामर्थ्य कितने प्रमाणमें है।

रक्त, मूत्र, तर्पक कफ[6] और याकृत पित्तके सार देनेसे भी अन्तःशुक्रकी सूचीबस्तिके सदृश फल होता है। सब अवयवोंमें अधिवृषणिका[7]का सत्त्व, वृषण-ग्रन्थियोंके बाद सबसे अधिक

१—इन मुर्गोंको अंग्रेजीमें Capon—कैपन कहते हैं। २—Atrophy—एट्रॉफी।

३—Sterol, देखिये पृ० २२३। ४—Wattle—वैटल।

५—Seminal vescicles—सेमीनल वेसीकल्स या Vescicula seminalis—विसिक्युला सेमीनेलिस। परिचय आगे शुक्र-प्रकरण में देखिये।

६—Cerebrospinal fluid (C, S, F.)—सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड (संक्षेप—सी०एस०एफ०)। मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकी वृत्तियों (आवरणों) और विवरमें रहनेवाला पोषक और रक्षक द्रव-विशेष। अधिक परिचय के लिए देखिये—आगे कफवाताधिकार।

७—Epididymis—एपीडिडिमिस—शुक्रवह स्रोतका, आदि भाग, जो वृषण-कोषमें वृषणोंके पीछे सीधी खड़ी कुण्डलित नलिकाके रूपमें रहता है एवं कभी-कभी शोथ होने पर अंगुलियोंको स्पर्शोपलभ्य भी होता है। विशेष जाननेके लिए देखिये आगे—शुक्राधिकार।

अन्तःशुक्रके सदृश कर्म करनेवाला विदित हुआ है। अन्तःशुक्रकी रासायनिक रचना स्त्रीशुक्र[1] के समान होती है। मूत्रमें परीक्षकोंने इस प्रकारके कई समास उपलब्ध किये हैं, जिनका कर्म अन्तःशुक्र-सदृश होता है। तज्ज्ञोंका मन्तव्य है कि, अन्तःशुक्र मूल तो वृषणोंमें ही बनता है। पश्चात् उसका धातुपाक होकर विभिन्न द्रव्य बनते हैं, जो मूत्रमार्गसे क्षरित होते हैं। इन धातुपक्व[2] द्रव्योंको एण्ड्रोजन[3] नाम दिया गया है।

एण्ड्रोजन न केवल नर-मूत्रमें, नारी-मूत्रमें भी पाये जाते हैं। अधिवृक्क-वल्कका अर्बुद हो तो इनका प्रमाण तीस-गुणा बढ़ जाता है। अन्तःफलसे ऐसे द्रव्य प्राप्त किये जा सकते हैं, जिनका सेवन करानेसे कलगी बढ़े। उधर वृषणोंसे स्त्री-शुक्र सदृश द्रव्य निकाले जा सकते हैं। नर बत्तख[4], गिनीपिग[5] आदि प्राणियोंको पण्ढ बनाकर, उनके शरीरमें अन्तःफलकी कलम लगायी जाय तो उनके बाह्य लिङ्ग-द्योतक चिह्न बदलकर स्त्री-सदृश बनाये जा सकते हैं। इनका शिश्न क्षीण हो जाता है, स्तन-ग्रन्थियोंसे दूधका क्षरण होने लगता है। नरोंका उनके प्रति हाव-भाव नारियोंके प्रति हाव-भावके समान हो जाता है। ये तथ्य इस बातके सूचक हैं कि, नर और नारीमें अन्तर कितना अल्प है। जिस व्यक्तिमें अन्तःफलके अन्तःस्राव अधिक होंगे, उसमें स्त्री-बीज उत्पन्न होंगे; और जिसमें वृषणोंके अन्तःस्रावका प्रमाण विशेष हो उसमें पुंबीज उत्पन्न होंगे। दोनों बीज-ग्रन्थियोंमें किसका स्राव अधिक होगा, यह इस बातपर अवलम्बित है कि गर्भ-बीज[6] के अङ्गभूत पुंबीजमें 'एक्स' क्रोमोसोम है या 'वाई'।

आचार्योंने विभिन्न नारी प्राणियोंके मूत्रोंका स्वतन्त्र तथा कल्पोंके अङ्गके रूपमें सेवनका विधान किया है। इसका नवीन दृष्ट्या एक महत्त्व तो इस बातमें है कि मूत्र-गत यूरीआ[7] यकृत्‌की शोधन क्रियाको उद्दीप्त करता है। उद्दीपन-वश पित्तका स्राव भी अधिक होता है, जो पाकमें सहायक होता है एवं अपकर्षणको उत्तेजितकर मल-प्रवृत्ति भी सम्यक् करता है। मूत्रोंके उपयोगका एक कारण उनमें अन्तःशुक्रोंकी विद्यमानता भी होना संभव है।

अन्तःशुक्र तथा उसके धातुपक्व रूपान्तरोंकी सूचीवस्तिके जो परिणाम देखे गये हैं उनका निष्कर्ष नीचे दिया जाता है। कदाचित् परिणामोंकी यह सूची अभी पूर्ण नहीं हुई है।

१—जननावयव—अण्डकोष, अण्ड (वृषण), शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतोंके विभिन्न भाग, पौरुष ग्रन्थि, शिश्नमूलग्रन्थि और शिश्नकी पुष्टि एवं कर्मसामर्थ्य। वृद्धावस्थामें पौरुष ग्रन्थिके शोथके कारण मूत्रकृच्छ्र हो जाता है, जिसका प्राचीनोंने मूत्रग्रन्थि[8] नामसे वर्णन किया है।

१—Oestrogen—ईस्ट्रोजन; इसी अध्यायमें आगे देखिये।

२—Metabolite—मेटाबोलाइट। ३—Androgens—एण्ड्रोजन्स।

४—Drake—; Male duck—मेल डक।

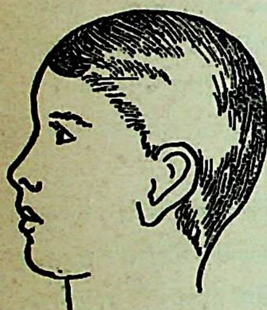
५—Guinea-pig; श्वेत चूहेके-से जन्तु, जिनका चिकित्सा-शास्त्रकी विभिन्न शाखाओंमें परीक्षणार्थ पुष्कल व्यवहार होता है।

६—Fertilized ovum—फर्टिलाइज्ड ओवम। ७—Urea.

८—मूत्रग्रन्थि बनाम अष्ठीला—म० म० गणनाथ सेनजीने पौरुषकी वृद्धिको अष्ठीला कहा है। तुलनासे मूत्रग्रन्थिके लक्षण ही पौरुषकी वृद्धिसे वस्तुतः मेल खाते हैं। तुलनाके लिये देखिये —सु० नि० १।१०—११ तथा डल्हन और गयदासकी टीका; च० नि० ९।३६ तथा माधव निदानमें उद्धृत इस पद्यपर मधुकोष और आतङ्क दर्पण टीकाएँ; अ० हृ० नि० ९०।२४ तथा उसपर अरुणदत्तकी टीका। इस विषयका विस्तारसे ऊहापोह 'सचित्र आयुर्वेद' १९४९ के दिसम्बरके अङ्कमें मेरे 'मूत्रग्रन्थि बनाम अष्ठीला' लेखमें भी देखा जा सकता है।

पेरिएण्ड्रीनकी सूचीवस्तिसे शोथ न्यून होकर रोगमें लाभ होता है। परन्तु कभी-कभी इससे प्रबल कामुकता होती है ; पुरुष बलात्कारमें भी प्रवृत्त होता है।

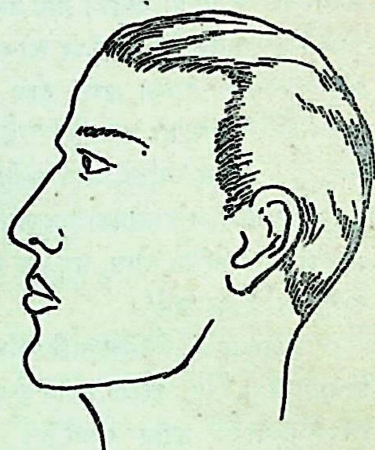
२—केश तथा रोम—दाढ़ी-मूँछ पुरुषोंका विशेष लक्षण है। इसके अतिरिक्त शिरके केशोंमें भी स्त्री-पुरुषोंमें कुछ भेद होता है। बालकों तथा स्त्रियोंमें ललाटपर केशकी सीमा एक सिरेसे दूसरे सिरेतक सीधी होती है, जब कि पुरुषोंमें दोनों शङ्ख-प्रदेशोंपर सीमान्तरेखा (चित्र सं०—२२-२३-२४ में दिखाये प्रकारसे) अन्दरकी ओर गयी होती है। अल्प-अन्तःशुक्र पुरुषोंमें यह रेखा कुछ सीधी होती है, केश भी अल्प होते हैं। मध्यकाय तथा शाखाओंपर रोमराजिकी निबिडता, एवं रोम भग-प्रदेशसे ऊपर सरल रेखा में नाभिपर्यन्त जाना—ये चिह्न पुरुषोंमें तारुण्यके पश्चात् दीख पड़ते हैं।



बालक चित्र—२२



स्त्री चित्र—२३



पुरुष चित्र—२४

बालक, स्त्री तथा पुरुषमें शिरके केशोंकी स्थिति।

बालक तथा युवतीमें सामनेकी ओर केशान्त-रेखा सीधी होती है ; पुरुषमें प्रायः अन्दरको गयी होती है। कारण अन्तःशुक्रका प्रभाव है।

३—मेदोग्रन्थियाँ—त्वचाकी मेदोग्रन्थियोंका[1] भी अन्तःशुक्रसे सम्बन्ध प्रतीत होता है। इन ग्रन्थियोंके शोथके कारण ही यौवन-पिडकाएँ (मुहाँसे) होती हैं। षण्ढों (हिजड़ों) में ये नहीं होतीं। परन्तु अन्तःशुक्रोंकी सूचीवस्ति देकर उत्पन्न की जा सकती हैं। स्त्रियोंमें भी पुरुषोंमें पाये जानेवाले रूपान्तरित अन्तःशुक्र होते हैं। इसीसे उनमें भी ये पिडकाएँ होती हैं। ये पिडकाएँ यौवनारम्भमें ही होती हैं। वैद्य-समाज तथा जनतामें इनका शुक्रके साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है। उक्त प्रकारसे इस मन्तव्यको वैज्ञानिक आधार प्राप्त हुआ है।

४—त्वचाका वर्ण—जन्मतः षण्ढों या खस्सी किये लोकोंमें चर्मपर बारीक वलियाँ (झुर्रियाँ) होती हैं तथा त्वचा कोमल और पीली होती है। इन पुरुषोंमें अन्तःशुक्र देनेके पश्चात् या सामान्य व्यक्तियोंमें त्वचा दृढ़, अधिक गुलाबी और गहरे रंगकी होती है। षण्ढोंमें त्वचामें रक्त-रञ्जक द्रव्य (हीमोग्लोबीन) अल्प होता है ; एवं ओषजन-शून्य रक्त-रञ्जक अधिक होता है। त्वचाको देखकर शुक्र और ओजके प्रमाणकी परीक्षा करनेका प्रचार वैद्योंमें प्रचलित भी है।

५—मेद—पुरुषोंमें मेद साधारणतः नाभिसे ऊपर तथा स्त्रियोंमें नाभिसे नीचे संचित होता है। षण्ढोंमें मेदके संचयके स्थानोंमें कुछ भिन्नता देखी जाती है।

१—Sebaceous glands—सिबेशस ग्लैण्ड्स।

६—स्वर—जैसा कि ऊपर कह आये हैं, अन्तः शुक्रके अभावमें षण्ढोंमें स्वर बच्चोंके समान तीक्ष्ण बना रहता है। इन्हें अन्तःशुक्रका सेवन करानेसे स्वर मध्यम पड़ जाता है; कभी-कभी स्वरभङ्ग भी हो जाता है।

७—अस्थि—परीक्षणोंमें अन्तःशुक्रके सेवनसे कभी अस्थियोंकी वृद्धि देखी गयी है और कभी उनकी पुष्टि अटक गयी-सी पायी गयी है। यों, हिजड़ोंमें अस्थियोंकी पुष्टि उत्तम देखी जाती है। वे प्रायः ऊँचे और चौड़े होते हैं।

८—मांस पेशियाँ—स्त्रियोंकी अपेक्षया पुरुषोंकी पेशियाँ अधिक पुष्ट और शक्त होती हैं। इससे तथा प्रयोगोंसे सिद्ध है कि अन्तःशुक्रका प्रभाव पेशियोंपर भी होता है।

९—रक्तवह संस्थान—प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि षण्ढोंकी त्वचामें रक्तवहस्रोतोंका विस्तार अल्प होता है, उसमें रक्तका प्रमाण भी न्यून होता है। इसके विपरीत सिराओंका विस्तार अधिक होता है, तथा ओषजन-रहित, अङ्गाराम्लकी अधिकतावाला रक्त अधिक होता है। इसीसे उनकी त्वचामें पीतता होती है। शुद्धरक्तवह केशिकाओंका विस्तार अल्प होनेसे ये लोग कुपित हों तो त्वचा थोड़ेसे कोपसे ही रक्त-वर्ण हो जाती है। कारण, कोप अल्प होनेसे यों रक्त अल्प मात्रामें आया हो तथापि उसे ग्रहण करनेवाली केशिकायें अल्प होनेसे उनके लिए वह रक्त अधिक होता है, जिससे वे लाल-लाल हो जाती हैं। अन्तःशुक्रोंके देनेसे यह विकृति दूर हो जाती है।

१०—धातुपाक—अन्तःशुक्रोंके कारण नाइट्रोजन, सोडियम, पोटाशियम, निरिन्द्रिय प्रस्फुरक तथा क्लोराइड मल रूपमें शरीरसे बाहर नहीं जा पाते। क्रिएटीन[१] नामक मांसपेशियोंकी रचनामें भाग लेनेवाला नाइट्रोजन-घटित द्रव्य षण्डोंमें मूत्रमार्गसे निकलने लगता है। अन्तःशुक्रों द्वारा चिकित्सा करते हुए धातु-पाककी क्रिया ५ से १५ प्रतिशत बढ़ जाती है, भारमें वृद्धि होती है, रक्तकण और रक्त-रञ्जक भी बढ़ते हैं।

पुरुषोंके अन्तःशुक्र स्त्रियोंमें भी होनेसे, एवं इनके उल्लिखित प्रभावोंको देखते हुए इनका व्यवहार स्त्रीरोगोंमें भी प्रभूत होने लगा है।

ओज और अन्तःशुक्र—

प्राचीनोंने ओजके दो भेद कहे हैं: प्रधान और अप्रधान या पर और अपर[२]। इनमें अपर ओज प्राचीनोंके वर्णन और आधुनिक क्रियाशारीरोक्त मतकी तुलना करनेसे द्राक्षा-शर्करा विदित होता है। ओजका शुक्रके साथ जो किसी-न-किसी रूपमें सम्बन्ध प्राचीनोंने बताया है, वह शेष पर या प्रधान ओजको लक्ष्य करके ही कहा गया प्रतीत होता है।

शुक्रस्य सारमोजः, अत्यन्तशुद्धतयाऽस्य मलाभावः॥ अ० सं० शा० ६

यहाँ ओजको शुक्रका सार कहा है।

कफः पित्तं मलः खेषु प्रस्वेदो नखरोम च।
स्नेहोऽक्षित्वग्विशामोजो धातूनां क्रमशो मलाः॥ अ० हृ० शा० ३।६३

यहाँ ओजको शुक्रका मल कहा है।

× × तथैवोजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवा ज्ञेयाः सप्तैते उपधातवः॥ शार्ङ्गधर० पू० ५।१६

यहाँ ओजको शुक्रका उपधातु कहा है।

१—Creatine. २—यह विषय विस्तारसे आगे ओजके प्रकरणमें देखिये।

ततः (शुक्रात्) पुनः पच्यमानात् उपमलो नोत्पद्यते, सहस्रधाऽऽध्मातसुवर्णवत्, स्थूलो भागः शुक्रमेव, स्नेहभागः सूक्ष्मस्तेजोभूतमोजः ॥ सु० सू० १४।१० पर डल्हन

यहाँ ओजको शुक्रका स्नेहभाग (प्रसाद) कहकर सूक्ष्म और तेजोभूत ये विशेषण दिए हैं।

शुक्रं तु ओजोजनकत्वाद् धात्वन्तर्गतमेव ॥ च० चि० १५।१६-१७ पर चक्रपाणि

यहाँ ओजको शुक्रजनक कहा है।

शुक्रका सार, शुक्रका मल, शुक्रका उपधातु, शुक्रका स्नेह या तेज अथवा शुक्रका जनक—इन सबसे एकही द्रव्य अभिप्रेत होना चाहिए। ऊपर 'अन्तःशुक्र' नामसे जिस द्रव्यका निर्देश किया है वही प्राचीनोंका शुक्र-सार आदि नामोंसे अभिहित द्रव्य हो सकता है। हमने ऊपर वृषण-ग्रन्थियों के अन्तःस्रावको अन्तःशुक्र यह नवीन नाम दिया है, वह वर्णनके सौकर्यके लिए ही। वह प्राचीन संज्ञा नहीं है। आगे ओजके जो कर्म कहे जायँगे उनकी इस अध्यायमें कथित अन्तःशुक्रके कर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह विषय अधिक विशद होगा[1]।

बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव—

तारुण्यका उदय होने तक नरमें न पुंबीजोंकी परिपक्वता होती है, न अन्तःशुक्रकी उत्पत्ति। नारीमें भी यह काल आनेपर ही स्त्रीबीजों की परिपक्वता और अन्तःशुक्रोंका प्रादुर्भाव होने लगता है। अन्तःशुक्रोंके प्रभाववश दोनोंमें इसी काल आत्मलिङ्गोचित शारीर-मानस चिह्न अभिव्यक्त होते हैं। नर और नारी दोनोंमें अमुक वय उपस्थित होनेपर बहिः—तथा अन्तः-शुक्रोंका यह उत्पादन किंवा लैङ्गिक परिपूर्णता[2] पोषणिका ग्रन्थिके अग्रिम खण्ड[3] के दो अन्तःस्रावोंपर अवलम्बित है। अग्रिम खण्डको निकाल दिया जाय तो, शस्त्रकर्म जिस अवस्थामें किया गया हो उसके अनुसार, वृषण-ग्रन्थियों एवं लिङ्ग-द्योतक अन्य अवयवोंकी परिपूर्णता रुक जाती है (तारुण्य प्रारम्भ होनेपर) किंवा वे क्षीण हो जाते हैं (तारुण्यके पश्चात् शस्त्रकर्म करनेपर)। हर्ष या कामवासना भी नष्ट हो जाती है। इस दशामें यदि प्राणीको अग्रिम खण्डका सत्त्व दिया जाय तो शस्त्रकर्मके परिणामोंका विपर्यय (विपरीतता) होता है।

अग्रिम खण्डमें वृषण-ग्रन्थिके उद्दीपक[4] दो अन्तःस्राव होते हैं—एक पुंबीजोंकी उत्पत्तिका उद्दीपक तथा द्वितीय अन्तरावर्ती कोपोंका उद्दीपक। दूसरा अन्तःस्राव, जेसा कि ऊपर कहा है, लिङ्ग-द्योतक अन्य लक्षणोंको उत्पन्न करता है। स्वस्थ प्राणीको अग्रिम खण्डके सत्त्वका सेवन कराया जाय तो लिङ्गोचित अवयवोंके विकासकी पूर्णता तथा अन्तःशुक्रोंका प्रादुर्भाव त्वरित होता है। यह विदित नहीं हुआ है कि, पोषणिकाके दोनों अन्तःस्रावोंको इसी काल प्रवृत्त (क्षरित) होनेकी प्रेरणा कहाँसे मिलती है ? अग्रिम खण्डके दो तथा वृषण-ग्रन्थियोंका एक इस प्रकार तीनों अन्तःस्राव, सम्भावना है कि, अतिवार्धक्य पर्यन्त भी क्षरित होते रहते हैं। कारण, वृद्ध पुरुष भी पिता होते जाने गये हैं।

१—शरीरक्रियाविज्ञानके प्रथम मुद्रणमें मैंने म० म० गणनाथ सेनजीका अनुसरण करते हुए (प्रधान) ओजको पोषणिका ग्रन्थिका स्राव माना था। अधिक विचार करनेसे अब यह मत हुआ है कि प्रधान ओज अन्तःशुक्र होना चाहिए, तथा पोषणिका ग्रन्थिके विभिन्न स्रावोंको धात्वग्नि-विशेष मानना चाहिए। इसी अध्यायमें आगे इसके दो स्रावोंको शुक्राग्नि तथा आर्तवाग्नि कहा है।

२—Sexual maturity—सेक्सुअल मेच्योरिटी। ३—Anterior lobe—एण्टीरिअर लोब।

४—Gonadotropic hormones—गॉनेडोट्रॉपिक हॉर्मोन्स। Gonad—गानेड बीजग्रन्थि=वृषण और अन्तःफल।

अग्रिम खण्ड और वृषण-ग्रन्थियोंमें अन्तःस्रावका परस्पर विपरीत भी प्रभाव होता है। षण्ढीकरणके कारण पोषणिकाके बेज़ोफ़िल[1] कोषोंकी अतिवृद्धि तथा एक प्रकारके नये कोषोंकी उत्पत्ति हो जाती है। अन्तःशुक्रकी सूचीबस्तिसे यह परिवर्तन लुप्त हो जाता है।

शुक्राग्नि और आर्तवाग्नि—

प्राचीनोंने प्रत्येक धातुका उत्पादक एक-एक अग्नि माना है, यह हमने गत अध्यायमें कहा है। ऊपरके वर्णनसे प्रतीत होगा कि, अग्रिम खण्डके वृषण-ग्रन्थि-प्रवर्तक—अन्तःस्रावोंका शुक्राग्निसे साम्य है। स्त्रियोंमें शुक्राग्निकी प्रतिनिधि आर्तवाग्नि मानी गयी है। नव्यमतानुसार अन्तःफलके वहिः और अन्तःस्रावोंके प्रवर्तक दो अन्तःस्राव अग्रिम खण्ड उत्पन्न करता है। इन्हें आर्तवाग्नि समझा जा सकता है।

अन्तःफल और अपरा

वृषणोंके समान अन्तःफल भी उभयतःस्रावी ग्रन्थि हैं। उनके समान ही इनके भी अन्तः और वहिःस्रावोंका प्रादुर्भाव, तारुण्यका उदय होनेपर किसी अलक्षित प्रेरणासे क्षरित होनेवाले पोषणिका ग्रन्थिके दो पृथक् अन्तःस्रावोंसे होता है। वहिःस्राव स्त्रीबीज हैं। अन्तःस्राव यों स्त्रीबीजके आवरणसे, किंवा गर्भस्थिति होनेपर अपरासे भी, क्षरित होते हैं, तथापि सावरण स्त्रीबीजोंका आश्रय अन्तःफल होनेसे, अन्तःफल निकाल दिया जानेपर इन अन्तःस्रावोंका कर्म भी नष्ट हो जानेसे, एवं अन्तःफलोंके सारकी सूचीबस्ति देनेसे लुप्त हुए कर्म पुनः दृष्टिगोचर होनेसे ये अन्तःस्राव अन्तःफलोंके ही कहे जानेका प्रचार है। अपरा भी इन अन्तःस्रावोंका ही परिणाम है।

अन्तःफलके अन्तःस्रावोंका एक बड़ा प्रयोजन गर्भधारणाके लिए गर्भाशयको तय्यार करना तथा गर्भस्थिति न हो तो आर्तव-प्रवृत्ति है। अतः आगे आर्तवाधिकारमें इन अन्तःस्रावोंका विचार विस्तारसे करेंगे। यहाँ दिङ्मात्र निर्देश किया जायगा।

एक बारके शुक्रोत्सर्गमें २०-३२ करोड़ पुंबीज होते हैं—प्रत्येक गर्भोत्पत्तिमें समर्थ। इसका आशय यह है कि इतने पुंबीज एक साथ आम या अविकसित (अपरिपक्व) दशासे विकसित या पक्वावस्थामें आते हैं। परन्तु स्त्रीमें एक मासमें, क्रमशः वाम और दक्षिण अन्तःफलमें एक ही बीज परिपक्व—पुंबीजके ग्रहण आदि कर्मोंके योग्य—होता है। जन्मके समय प्रत्येक मानवीके प्रत्येक अन्तःफलमें कोई ७०,००० आम स्त्रीबीज[2] होते हैं। वय उपस्थित होनेपर स्त्रीमें स्त्री-सुलभ चिह्नोंका—तारुण्यका—उदय अन्तःफलके अन्तःस्रावोंके अधीन है और ये अन्तःस्राव आम स्त्रीबीजोंके विकास या परिपाकके आश्रित हैं।

तारुण्यका उदय होनेपर मानवीमें पाया जानेवाला विशिष्ट चिह्न आर्तव-प्रवृत्ति है, जो सामान्यतया प्रतिमास एक बार होती है। पुरुषोंमें ऐसा ही चिह्न शुक्रस्राव है, पर उसका काल नियत नहीं। मानवोंमें आर्तव-प्रवृत्तिके चक्र[3]के समान निम्न कक्षाके स्तन्य प्राणियों[4]में एक चक्र होता है, जिसे उत्कण्ठा-चक्र (या प्रमद-चक्र)[5] कहते हैं। तारुण्योदयके पश्चात् इन प्राणियोंमें स्त्री, जाति-भेदसे प्रतिवर्ष एक या दो ऋतुओं[6]में, पुरुषके समागमकी इच्छा व्यक्त करती है—उसे अपने पास आने देती

१—Basophil.

२—O.O.Cytes—ऊ ओसाइट्स।

३—Menstrual Cycle—मेन्स्ट्रुअल सायकल।

४—Mammals—मैमल्स।

५—Oe (e) strous Cycle—ईस्ट्रस सायकल।

६—Breeding season—ब्रीडिङ्ग सीज़न; Mating season—मेटिङ्ग सीज़न।

है।[1] इस इच्छाको 'उत्कण्ठा' या 'प्रमद'[2] कहा जाता है। इस समागम-कालकी अवधि कुछ सप्ताह या महीने होती है। जाति-भेदसे यह काल दो प्रकारका होता है। कई जातियों[3]में समागमेच्छा (उत्कण्ठा) सम्पूर्ण ऋतु-पर्यन्त निरन्तर रहती है—और समागमसे ही शान्त होती है। अन्य जातियोंमें प्रत्येक ऋतुमें उत्कण्ठाके कई चक्र होते हैं। सब जानते हैं, मानव-जातिमें इस प्रकार उत्कण्ठा तथा तज्जन्य समागमकी नियत ऋतु नहीं; तथापि गणनासे विदित हुआ है कि, प्रजोत्पादन-क्षमता[4] वसन्तमें सबसे अधिक होती है। निम्न वर्गके स्तनोंमें देखे जानेवाले इस उत्कण्ठा-चक्र तथा मानवोंके आर्तव-प्रवृत्तिके चक्रमें साम्य यह है कि, दोनोंका मूल अन्तःफलोंमें होनेवाले परिवर्तन हैं।

मानवीमें इस काल रजोदर्शन[5]के अतिरिक्त जननावयवोंकी पुष्टि होती है तथा तारुण्यके अभिव्यञ्जक अन्य चिह्न (बाह्य लिङ्ग द्योतक चिह्न) उदित होते हैं। यथा, गर्भाशय, योनि (अपत्यपथ) तथा स्तनोंकी पुष्टि होने लगती है। तारुण्यके पूर्व प्राणियोंके अन्तःफल निकाल दिये जायँ[6] तो ये अवयव बाल रह जाते हैं। यह शस्त्रकर्म तारुण्यके पश्चात् किया जाय तो ये अवयव क्षीण हो जाते हैं। दोनों दशाओंमें अन्तःफलोंकी कलम की जाय या उनके सारोंकी सूचीवस्ति दी जाय तो अवयवोंकी स्वभाव-सिद्ध पुष्टि होती है। स्थगित हुई आर्तव-प्रवृत्ति पुनः चालू होती है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि अन्तःफल निकाल देनेसे स्त्री सदाको वन्ध्या हो जाती है।

तारुण्यके अन्य चिह्न ये हैं : भग-प्रदेश तथा कक्षा (बगल) में रोमोद्गम, कन्याके शारीरिक स्वरूपमें प्रौढ़ता। तारुण्योदयका वय साधारणतः १३ से १५ वर्ष होता है। यों यह अवस्था १० से १८ वर्षके मध्य कभी भी प्रारम्भ हो सकती है। रजोदर्शनके पश्चात्, आर्तव-प्रवृत्ति अनियमित होती है—कुछ मास नहीं भी होती, पश्चात् सामान्यतः नियमित हो जाती है।

तारुण्योदयका सहचारी एक महत्त्वका चिह्न शरीरकी पुष्टिकी दरमें वृद्धि है। दरमें वृद्धि कुछ पूर्व वयमें हो तो रजोदर्शन भी शीघ्र होता है। दरमें वृद्धि कुछ विलम्बसे हो तो रजोदर्शन भी देरसे होता है। रजोदर्शनवाले वर्षमें शरीरकी वृद्धि अधिकतम होती है। सम्भव है, रजोदर्शन और शरीरकी पुष्टिमें इस सम्बन्धका कारण पोषणिकाके दोनों अन्तःस्रावों—अन्तःफलका प्रवर्तक तथा पुष्टिका प्रवर्तकमें कुछ सम्बन्ध हो।

आमावस्थामें प्रत्येक स्त्रीबीज छोटे-छोटे अन्य कोषोंसे अभिव्याप्त होता है। इन कोषोंके इस आवरण या कवचको बीजपुट[7] कहते हैं। रजोदर्शनके पूर्व, एवं इसके पश्चात् जीवनमें होनेवाली प्रत्येक आर्तव-प्रवृत्तिके पूर्व, कुछ बीजपुट विकसित (पुष्ट, परिपक्व) होने लगते हैं। इनमें पूर्ण परिपक्व एक ही होता है। शेष क्षीण हो जाते हैं। परिपक्व हुए बीजपुटके मध्यमें अवकाश हो जाता है।

१—इन प्राणियोंको Seasonal breeders—सीज़नल ब्रीडर्स कहते हैं।

२—oe (e) strus—ईस्ट्रस, Heat—हीट या Sexual excitement—सेक्सुअल इक्साइटमेण्ट। ३—Species—स्पिशीज़। ४—Fertility—फर्टिलिटी।

५—Menarche ६—इस शस्त्रकर्मको Overectomy—ओवेरेक्टॉमी कहते हैं।

७—Follicle—फॉलीकल। यह शब्द मूल उद्भिद्-विद्याका है; तथा बीजोंके आवरण-विशेष (Pericarp—पेरीकार्प) का वाचक है। प्राणिशास्त्रमें यह मेदो-ग्रन्थि आदि थैलीके आकारकी छोटी-छोटी स्रावी ग्रन्थियोंके लिए व्यवहृत होता है।

बीजपुट जब विकसित होकर अन्तःस्रावी ग्रन्थि बनता है तो इसे इसके कर्मके प्रथम ज्ञाता Rejnier de Graaf के नामपर Graafian follicle—ग्राफिअन फॉलीकल कहते हैं।

इस अवकाश (खाली स्थान) में कुछ द्रव रहता है। इस अवस्थामें यह अन्तःफलके बाहर उभर आता है। विकास प्रारम्भ होनेके दस दिन पीछे बीजपुट या कवच फटता है और स्त्रीबीज इसमें से बाहर छटक जाता है। इस प्रक्रियाको बीजोत्सर्ग[1] कहते हैं। बीजोत्सर्गके पश्चात् शेष कवच (बीजपुट) में कुछ परिवर्तन होकर एक घन, पीतवर्ण,[2] कोषपुञ्ज बनता है। इसे बीजपुट वृद्धि क्रिया कहते हैं।

स्त्रीबीज बीजवाहिनीमें पहुँचता है। इस समय यदि इसका पुंबीजसे समागम और एकीभाव न हो तो बीजपुटकिण और १२-१४ दिन पुष्ट होता है। पश्चात् क्षीण हो जाता है। परन्तु एकीभाव (फलन) होकर गर्भस्थिति हुई तो बीजपुटकिण यथास्थित रहता है तथा प्रायः सम्पूर्ण-गर्भावस्था पर्यन्त रहता है।

विविध प्रयोगोंसे विदित हुआ है कि, बीजपुट एवं बीजपुट किण दोनोंका एक-एक पृथक् अन्तःस्राव होता है[3]। बीजपुटके अन्तःस्रावको[4] ईस्ट्रिन कहते हैं। इस द्रव्यके समान रासायनिक रचना और कर्मवाले द्रव्योंको ईस्ट्रोजन[5] कहा जाता है। इनकी शक्ति उतनी नहीं होती। ईस्ट्रिन और ईस्ट्रोजन की क्रिया गर्भाशय, योनि और स्तनग्रन्थियों पर होती है। इनसे गर्भाशय की अन्तःकला की पुष्टि, रक्तवाहिनियोंकी वृद्धि तथा भराव, कफ-ग्रन्थियोंकी वृद्धि एवं गर्भाशयकी चेष्टाओंमें वृद्धि होती है। गर्भस्थिति होकर प्रसव-पर्यन्त अन्तःकला इस स्थितिमें रहती है। अन्यथा क्षीण होकर मृत हो जाती है। परिणामतया इसमें संचित रक्त बाहर आता है। इसे ही आर्तव कहते हैं। रजोदर्शनके समय स्तन ईस्ट्रिनके प्रभावसे पुष्ट होते हैं। प्रत्येक आर्तव प्रवृत्तिके समय ये अधिकतर पुष्ट होते हैं। इस पिछली पुष्टिमें अन्तःफलोंके द्वितीय अन्तःस्रावका भी सहकार होता है। स्तनोंसे दुग्धका क्षरण पोषणिकाके एक अन्तःस्रावके अधीन है।

बीजपुट किणसे होनेवाले अन्तःस्रावको प्रोजेस्टिरोन[6] कहते हैं। इसके कारण गर्भाशयकी पूर्व कथित पुष्टि तथा कफ ग्रन्थियोंका स्राव अविकल (अपरिवर्तित) रहता, जिसमें गर्भका यथावत् धारण-पोषण होता है।

वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तः- और बहिः- स्रावोंके समान अन्तःफलके भी दोनों स्रावोंका प्रवर्तन (उद्दीपन) पोषणिकाके अग्रिम खण्डके दो पृथक् अन्तःस्रावोंसे होता है। अग्रिम खण्ड निकाल दिया जाय तो अन्तःफल एवं शेष जननावयव प्रनष्ट हो जाते हैं तथा हर्ष (कामेच्छा) लुप्त हो जाता है। अग्रिम खण्डके इन बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्रावोंके देनेसे इन परिणामोंको रोका जा सकता है या विपरीत परिणाम (प्राकृत स्थिति) उत्पन्न किये जा सकते हैं।

१—Ovulation—ओव्युलेशन।

२—Corpus luteum—कॉर्पस ल्युटियम : (शब्दार्थ—पीत काय—Yellow body—येलो बॉडी)।

३—मैकडॉवल लिखता है कि, अन्तःफलोंमें स्थित सभी बीजपुट क्ष-किरण (x-ray—एक्स-रे) से भस्म कर दिये जायँ तो भी प्रथम अन्तःस्रावके परिणाम देखे जाते हैं। इससे निश्चय है कि प्रथम् अन्तःस्रावोंका उद्गम बीजपुट नहीं है। शायद इनकी उत्पत्ति अन्तरावर्ती कोषोंसे होती है।

४—Oe (e) strin.

५—Oe(e) strogen ; पर्याय—Follicular Hormone—फॉलीक्युलर हॉर्मोन ; संक्षेप F H.

६—Progesterone ; पर्याय—Luteal Hormone—हॉर्मोन ; संक्षेप L H ; या—Progestin—प्रोजेस्टिन।

अन्तःफलपर पुंबीज-प्रवर्तन-सदृश क्रिया करनेवाले अग्रिम खण्डके अन्तःस्रावको 'बीजपुट प्रवर्तक अन्तःस्राव[१], कहते हैं। अन्तःशुक्र-प्रवर्तक-तुल्य अन्तःस्रावको 'बीजपुट किण-प्रवर्तक अन्तःस्राव[२]' कहा जाता है। जिस स्त्री प्राणीका अग्रिमखण्ड निकाल दिया गया हो उसे प्रथम प्रकारके अन्तःस्रावकी सूचीवस्ति देनेसे अन्तःफल नष्ट नहीं होने पाते, बीजपुटोंकी पुष्टि तथा ईस्ट्रिनका स्राव होता है। द्वितीय अन्तःस्रावके विषयमें कहा जाता है कि उसकी सूची बस्तिसे बीजोत्सर्ग तथा बीजपुट किणके अन्तःस्राव प्रोजेस्टिरोनके प्रादुर्भावका उद्दीपन होता है। प्रथम अन्तःस्रावकी सूचीवस्ति देकर अपक्व स्त्रीबीजोंको पक्व करके तारुण्यके लक्षण सामान्य अवस्थासे पूर्व उत्पन्न किये जा सकते हैं।

ईस्ट्रिन और प्रोजेस्टिरोनका उद्दीपन पोषणिकाके अग्रिम खण्डके अन्तःस्रावोंसे होता है, पर दूसरी ओर अन्तःफलके अन्तःस्राव अपने-अपने उद्दीपक अन्तःस्रावोंको अवसन्न करते हैं। इस वस्तु स्थितिका उपयोग चिकित्सामें (रजोनिवृत्तिके विकारोंमें) किया जाता है।

गर्भावस्थाके पूर्वार्धमें प्रोजेस्टिरोन अनिवार्य है। यह गर्भाशयको गर्भ-स्थिति योग्य दशामें रखता है तथा आर्तव-प्रवृत्तिको रोकता है। गर्भावस्थाके शेषार्धमें प्रोजेस्टिरोनका प्रभूत स्राव उत्पन्न कर अपरा यह कार्य करने लगती है और बीजपुट किण क्षीण हो जाता है।

गर्भस्थितिके लिए बीजग्रन्थि प्रवर्तक अन्तःस्राव प्रभूत मात्रामें, सत्य कहें तो, गर्भको स्रुत होनेसे निश्चित रोकनेकी दृष्टिसे आवश्यकसे अधिक मात्रामें क्षरित होते हैं। आवश्यकसे अधिक बीज ग्रन्थि प्रवर्तक दोनों अन्तःस्राव गर्भिणीके मूत्रमार्गसे बाहर निकलते हैं। सगर्भावस्थामें इन अन्तःस्रावों की मूत्रमार्गसे प्रवृत्ति गर्भस्थितिकी परीक्षाका निश्चित प्रमाण है। जिस नारीकी गर्भस्थितिका निदान करना हो उसका मूत्र अतरुण स्त्री मूषक या शशकके शरीरमें सूची द्वारा प्रविष्ट किया जाता है। चार दिन पीछे प्राणीको मारकर उसके अन्तःफलोंकी परीक्षाकी जाती है। उनमें स्त्री बीज पक्व हुए पाये जायँ तो नारी सगर्भा समझी जाती है, अन्यथा नहीं।

तीससे चालीस वर्षकी वयमें आर्तवप्रवृत्ति रुक जाती है। इसे रजोनिवृत्ति[३] कहते हैं। इसका कारण वार्धक्य-वश अन्तःफलोंके क्षीण होनेसे उनके अन्तःस्रावोंका क्षरण मन्द होना है। इस मन्दताके कारण अवसादक प्रभाव न रह जानेसे पोषणिकाके अग्रिम खण्डके बीज-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्रावोंका प्रमाण बढ़ जाता है। रजोनिवृत्तिके समय यह स्थिति सविशेष होनेपर कभी-कभी कई विकार होते हैं, जिनका उपचार अन्तःफलके अन्तःस्राव देकर किया जाता है। इनमें स्टिल्बेस्ट्रॉल[४] मुख्य है।

कार्योंका साम्य देखनेसे पोषणिकाके अग्रखण्डके स्त्री बीजग्रन्थि प्रवर्तक स्रावोंको आर्तवाग्नि कह सकते हैं। नरोंमें ऐसे स्राव शुक्राग्नि कहे जा सकते हैं, यह जता आये हैं।

अपरा[५]—माताके रस-रक्तसे पोषक तथा अन्य द्रव्य गर्भको पहुंचाना और मलद्रव उससे ग्रहण करना—अपराका प्रसिद्ध कर्म है। पर अपरा एक अन्तःस्रावी ग्रन्थि भी है। ईस्ट्रिन, प्रोजेस्ट्रिन तथा बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव अपरासे उत्पन्न होते हैं। कदाचित् दुग्धप्रवर्तक[६] तथा पोषक अन्तःस्राव भी इससे क्षरित होते हैं। ऐसे दो अन्तःस्राव पोषणिकासे भी उत्पन्न होते हैं यह विदित है।

गर्भावस्थाके पश्चार्धमें गर्भस्थिति (और स्वयं अपनी भी स्थिति) के लिये अपरा प्रभूत प्रोजेस्टिन उत्पन्न करती है। परिणामतया कार्य शेष न रहनेसे बीजपुटकिण प्रनष्ट हो जाता है।

१—Follicle—stimulating hormone—फॉलीकल—स्टिम्युलेटिंग हॉर्मोन ; संक्षेप–FSH.

२—Luteinizing hormone—ल्युटीनाइजिंग हॉर्मोन ; संक्षेप LH.

३—Menopause—मेनोपॉज़। ४—Stilbestrol.

५—Plecenta—प्लेसेण्टा। ६—Lacto genic—लेक्टो जेनिक।

थायमस

यह ग्रन्थि उरोऽस्थिके पीछे छातीमें रहती है। बच्चोंमें यह बड़ी होती है। धीमे-धीमे क्षीण हो जाती है। कभी-कभी बनी भी रहती है। अनुमान है कि, इसका अन्तःस्राव शरीरके पोषण और परिपूर्णतामें उपयोगी है। स्त्री और पुरुष दोनोंमें बीज-ग्रन्थियोंके विकासको यह रोकती है। इन ग्रन्थियोंपर इसके दमनका फल यह होता है कि उतने कालमें शरीरकी पुष्टि संपूर्ण हो जाती है। षण्ढीकरणसे यह ग्रन्थि क्षीण नहीं होती—आजीवन बनी रहती है। विपरीत, यह ग्रन्थि निकाल देनेसे बीजग्रन्थियोंकी परिपूर्णता शीघ्र होती है।

पोषणिका-ग्रन्थि[1]

(अग्रिम तथा पश्चिम खण्ड)

यह ग्रन्थि आज्ञाकन्द[2] के नीचे, शङ्खास्थि (जतूकास्थि) के पोषणिका-खात[3] (देखिये पृ० ३४३, चि० सं० १४) में, एक वृन्त (दण्डिका) द्वारा लटकी होती है। यह वास्तवमें एक नहीं, दो अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंका समुदाय है। दोनों ग्रन्थियोंकी सूक्ष्म रचना, अन्तःस्राव तथा उनके कर्मोंके भेदके अतिरिक्त, गर्भमें इनका मूल भी भिन्न होता है। इसके चार भाग हैं, जिनमें मुख्य दो हैं—अग्रिम खण्ड[4] तथा पश्चिम खण्ड[5]। अग्रिम खण्ड मुख-विवरका ही एक अंश है, जो पीछेकी ओर पश्चिम खण्डसे जा मिलता हैं और अस्थियों द्वारा मुख-विवरसे पृथक् हो जाता है। पश्चिम खण्ड मस्तिष्कका ही एक नीचेकी ओर गया हुआ विस्तार है, यद्यपि इसमें नाडी-कोष नहीं होते ; नाडी-भूमि[6] से ही यह बना है।

दोनों ग्रन्थियाँ मिलकर केवल मटर-जितनी होती हैं, पर इनके अन्तःस्रावोंकी संख्या बड़ी है। इनके स्राव अन्य अन्तर्ग्रन्थियोंके स्रावोंके उद्दीपक होनेसे इसे सर्वाध्यक्ष[7] कहा जाता है।

अग्रिम खण्डके अन्तःस्राव—इसके अनेक अन्तःस्राव हैं—१-बृंहण या वृद्धि-कारक अन्तःस्राव[8]—इसका विशेष प्रभाव अस्थियोंकी वृद्धि (पुष्टि) पर होता है। इसकी हीनताके कारण प्राणी वामन रह जाता है। अतिवृद्धि (प्रकोप) से अस्थियोंकी अति पुष्टि होती है। अस्थियोंके विकासके अवस्था-भेदसे अति अस्थि-वृद्धिसे दो प्रकारकी विकृतियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख आगे करेंगे।

२—**बीजग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तःस्राव**[9]—ये अन्तस्राव दो हैं। पुरुषोंमें एकसे पुंबीजोंकी क्रम-पुष्टि होती है, दूसरेसे अन्तःशुक्रका उद्दीपन होता है। स्त्रियोंमें एक बीजपुटकी पुष्टिका तथा

१—Pituitary gland—पिट्युइटरी ग्लैण्ड ; या Hypophysis—हायपोफिसिस।

२—Thalamus—थैलेमस।

३—Sella Turcica—सेला टर्सिका ; या Pituitary Fossa—पिट्युइटरी फोसा।

४—Anterior lobe—एण्टीरिअर लोब।

५—Posterier lobe—पोस्टीरिअर लोब।

६—Neuroglia—न्यूरॉग्लिआ। देखें—पृ० १७६।

७—Master-gland—मास्टर-ग्लैण्ड।

८—Growth hormone—ग्रोथ हॉर्मोन।

९—Gonado-tropic hormone—गॉनेडो-ट्रॉपिक हॉर्मोन।

दूसरा बीजपुटकिणकी पुष्टिका उद्दीपक है। इनका कुछ विचार पीछे कर आये हैं। आगे भी शुक्र और आर्तवके प्रकरणमें करेंगे।

३—दुग्ध-प्रवर्तक अन्तःस्राव[1]—अन्तःफलके दोनों उक्तपूर्व अन्तःस्रावोंकी क्रियासे स्तन-ग्रन्थियोंमें दुग्धकी उत्पत्ति होती है। पोषणिकाके इस अन्तःस्रावके प्रभावसे उसका क्षरण होता है।

४—चुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्राव[2]—इससे चुल्लिका-ग्रन्थिकी पुष्टि होती है।

५—अधिवृक्क वल्क-प्रवर्तक अन्तःस्राव[3]—यह अधिवृक्क-वल्ककी पुष्टिका हेतु है।

६—परिचुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्राव[4]—यह परिचुल्लिका ग्रन्थिकी पुष्टि तथा क्रियाका उद्दीपक है। पोषणिकाके अग्रिम खण्डके निकाल देनेसे चुल्लिका, परिचुल्लिका, अधिवृक्क-वल्क तथा बीज-ग्रन्थियाँ क्षीण-प्रणष्ट हो जाती हैं। पूर्ण नष्ट होनेके पूर्व अग्रिम खण्डके सत्त्वकी सूचीबस्ति दें तो इन ग्रन्थियोंकी वृद्धि पुनः यथावत् होती है। अथवा सत्त्व अधिक दिया जाय तो वृद्धि अधिक हो जाती है।

७—धातुपाक-प्रवर्तक अन्तःस्राव[5]—इनका सम्बन्ध मुख्यतया कार्बोहाइड्रेटोंसे तथा अल्पांशमें स्नेहोंके धातुपाकसे है। किसी प्राणीमें अग्न्याशय निकाल दिया जाय, साथ ही पोषणिका भी तो उसे क्षौद्रमेह नहीं होता। यह अन्तःस्राव इन्सुलीनका प्रतियोगी होता है।

८—मूत्रविरेचनीय या मूत्रल अन्तःस्राव[6]—पोषणिकाके पश्चिम खण्डका एक अन्तःस्राव मूत्रमार्गसे जलधातुके निर्गमन (उदकक्षय) को नियन्त्रणमें रखता है। कइयोंके मतसे उसका प्रतियोगी एक मूत्रल अन्तःस्राव अग्रिम खण्डसे क्षरित होता है।

पश्चिम खण्डके अन्तःस्राव—अग्रिम खण्डके उक्त अन्तःस्रावोंकी शोध कुछ ही वर्ष पूर्व हुई है। पश्चिम खण्डके प्रसिद्ध सत्त्व 'पिट्युइट्रीन'[7] का उपयोग, प्रसवकालमें गर्भाशयके संकोचको बढ़ानेके लिए, इससे बहुत पहलेसे, होता आया है। पीछेसे विदित हुआ कि पश्चिम खण्ड के अन्य भी अन्तःस्राव हैं।

अन्य अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंसे पश्चिम खण्डमें एक विशेषता है। इसपर अंशतः नाडी-संस्थानका

१—Lactogenic hormone—लैक्टोजेनिक हॉर्मोन।

२—Thyrotropic hormone—थायरोट्रॉपिक हॉर्मोन।

३—Adrenotropic hormone—एड्रीनोट्रॉपिक हॉर्मोन।

४—Parathyrotropic hormone—पैराथायरोट्रॉपिक हॉर्मोन।

५—Metabolic hormone—मेटाबोलिक हॉर्मोन।

६—Diuretic Hormone—डाईयूरेटिक हॉर्मोन। मूत्रविरेचनीय शब्द दशेमानि-प्रकरण (च० सू० ४) का है। 'मूत्रस्य विरेचनं करोतीति मूत्रविरेचनीयम्' यह इसकी व्युत्पत्ति चक्रपाणिने च० सू० ४।८ पर दी है। 'मूत्रल' शब्द सु० सू० ४६।९५, ३१८ आदि स्थलोंमें आया है। अन्य पर्याय मूत्र-विरेचन या बस्ति-शोधन हैं।

७—Pituitrin. इसे पहले सम्पूर्ण पोषणिकाका सत्त्व समझा गया था। ग्रन्थिके दो स्पष्ट खण्ड और दोनोंके पृथक् अन्तःस्रावोंका ज्ञान पीछे हुआ। पिट्युइट्रीनकी प्राप्ति प्रथम १८९४ में हुई। पिट्युइट्रीन व्यावसायिक नाम है।

भी प्रभुत्व है। आज्ञाकन्द[1] के नीचेके भाग[2] से कुछ नाडी-सूत्र पोषणिकाके वृन्तमें होकर पश्चिम खण्डमें जाते हैं। परीक्षणोंमें पश्चिम खण्डके सत्त्वोंकी सूचीबस्ति या उसके निकाल देनेके जो परिणाम होते हैं, क्रमशः वही परिणाम इन नाडी-सूत्रोंके उद्दीपन या छेदन (काट देने) के भी होते हैं।

१—रक्तभार[3]-वर्धक अन्तःस्राव—पशुओंमें पिट्युइट्रीनकी सूचीबस्तिसे धमनिकाओं[4]का संकोच होकर कुछ कालके लिए रक्तभारकी वृद्धि हो जाती है। मानवोंमें इसकी सूचीबस्तिका यह प्रभाव नहीं होता। इससे अनुमान है कि, मानवोंमें कदाचित् रक्तभारकी वृद्धि पोपणिकाके प्राकृत कर्मोंके अन्तर्गत नहीं है। सम्भव है, यह एड्रीनलीनकी रक्तभार-वर्धक क्रियामें अभिवृद्धि करता है। पिट्युइट्रीनके रक्तभारवर्धक अन्तःस्रावको पिट्रेसिन[5] कहते हैं।

२—मूत्र-संग्रहणीय अन्तःस्राव[6]—पिट्युइट्रीनकी सूचीबस्तिसे मूत्रका प्रमाण न्यून हो जाता है। इसी कारण उदकमेह[7], जिसमें मूत्रमार्गसे प्रचुर, अत्यल्प-घनभागयुक्त मूत्रकी पुनः-पुनः प्रवृत्ति होती है, उसमें इसकी सूचीबस्ति दी जाती है। प्राकृत अवस्थामें भी जलका अति प्रमाणमें सेवन किया जाय तो भी मूत्रका प्रमाण न्यून होता है। परीक्षणके रूपमें, पश्चिम खण्डके छेदन (निकाल देने) से या इसमें आनेवाले नाडी-सूत्रोंके काट देनेसे कृत्रिम उदकमेह उत्पन्न किया जा सकता है। यह रोग पश्चिम खण्ड या उसके समीपगत कन्दाधरिक भागकी विकृतिसे होता है। प्राकृतावस्थामें मूत्रसंग्रहणीय अन्तःस्राव वृक्कोंके मूत्रस्रावी स्रोतों द्वारा जलके पुनर्ग्रहण[8]की प्राकृत क्रियाको नियन्त्रित करता है। इसका हीनयोग होनेपर जल पुनर्गृहीत न होनेके कारण अतिमात्रामें मूत्रमार्गसे बाहर निकलता है।

३—गर्भ-प्रवर्तक अन्तःस्राव[9]—पोषणिकाके पश्चिम खण्डकी रेखाशून्य पेशियोंपर, विशेषतः गर्भाशयके मांस-सूत्रोंपर संकोचक क्रिया होती है। इसी कारण प्रसूतिमें इसका प्रायः उपयोग होता है। कभी-कभी मात्रा अधिक हो जानेसे गर्भाशयके विदीर्ण होनेके भी दृष्टान्त पाये जाते हैं। स्वयं प्राकृत अन्तःस्राव (गर्भिणीके शरीरमें उत्पन्न) प्रसवमें कुछ भाग लेता है या नहीं, यह शङ्कास्पद है।

४—अन्य रेखाशून्य मांससूत्रोंपर क्रिया—पोपणिका[10]के सत्त्वका अन्त्र आदि अन्य रेखाशून्य मांससूत्रोंपर भी संकोचक प्रभाव होता है।

१—Thalamus—थैलेमस; या Optic thalamus—ऑप्टिक थैलेमस। परिचय आगे नाडी-संस्थानके प्रकरणमें देखिये।

२—Hypothalamus—हायपोथैलेमस। प्रत्यक्षशारीर, तृतीय भाग, पृ० ९६ पर इसे 'कन्दाधरिक भाग' नाम दिया है।

३—Blood-Pressure—ब्लड-प्रेशर।

४—Arterioles—आर्टीरिओल्स; केशिकाओंसे बड़े और धमनियोंसे छोटे रक्तवह स्रोत।

५—Pitressin.

६—Antidiuretic Hormone—एण्टीडाइयूरेटिक हॉर्मोन। मूत्रसंग्रहणीय नाम चरक—दशेमानिमें (च० सू० ४।१४ पर) आया है। अ० सं० १५ में ऐसे द्रव्योंको मूत्र-ग्रहण नाम दिया है।

७—Diabetes insipidus—डायाबिटीज़ इनसिपिडस।

८—Reabsorption—रीएब्सॉर्प्शन। यह विषय आगे मूत्राधिकारमें देखिये।

९—Pitocin—पिटोसिन। इसका व्यावसायिक नाम Oxytocin—ऑक्सिटॉसिन है। Oxytocic—ऑक्सिटॉसिक उन द्रव्योंको कहते हैं, जो गर्भाशयको संकुचितकर गर्भको बाहर निकालते हैं। १०—Plain—प्लेन; Smooth—स्मूथ।

५—उभयचरोंके[1] रञ्जक कोषों[2]पर प्रभाव—पिट्युइट्रीनकी अत्यल्प मात्राकी सूचीबस्तिसे त्वचा श्याम हो जाती है। कारण यह है कि, पिट्युइट्रीनकी क्रियासे त्वग्रञ्जक[3]के वाहक कोष* स्थूल हो जाते हैं। पश्चिम खण्डके छेदनसे त्वग्रञ्जकके वाहक कोष संकुचित हो जानेसे त्वचा पीली पड़ जाती है।

६—कार्बोहाइड्रेटोंके धातुपाकपर प्रभाव—पोषणिकाके अग्रिम खण्डके समान पश्चिम खण्डका भी स्नेहोंके संचय और रक्तमें शर्कराके अधिक प्रमाणमें धारण[4]के साथ कुछ सम्बन्ध है। पश्चिम खण्डका सत्त्व रक्तगत शर्कराके प्रमाणको बढ़ा देता है तथा इन्सुलीनका प्रतियोगी है। यह भी देखा गया है कि अग्न्याशयके साथ पोषणिकाको भी निकाल दिया जाय तो क्षौद्रमेह नहीं होता।

पोषणिकाका नियन्त्रण—इस विषयमें अभी विशेष विदित नहीं हुआ है। इस बातके प्रमाण हैं कि कदाचित् यह एक प्रतिसंक्रमित क्रिया है[5]। कारण, प्राणदा नाडी[6]के केन्द्रीय अन्त (सिरे) को उद्दीप्त करें तो रक्तमें पोषणिकाके स्राव प्रकट हो जाते हैं। यह भी देखा गया है कि, शशकोंमें मैथुनके कारण पोषणिकापर प्रभाव होकर बीजोत्सर्ग[7] होता है। इससे अनुमान है कि, रतिके भावों[8]से इस ग्रन्थिकी क्रियामें वृद्धि होती है।

ईल[9]-नामक मत्स्य-जातियोंमें ऋतु-भेदसे इस ग्रन्थिमें बहुत भेद देखा जाता है। उनमें तारुण्य और गर्भावस्थामें यह परिपुष्ट हो जाती है। इस मत्स्यको यदि स्थानान्तर न करने दें[10] तो इसकी पोषणिका बहुत बड़ी हो जाती है।

पोषणिकाके प्रकोप या क्षयसे होनेवाले रोग—पोषणिकाके कर्मोंपर सामान्य दृष्टिपात करनेसे विदित होगा कि इसके अन्तःस्रावोंका प्रभाव पुष्टि, प्रजनन और गर्भके धारण और पोषणपर होता है। इन अन्तःस्रावोंका प्रकोप या क्षय (न्यूनता) होनेपर स्वभावतः इन क्रियाओंमें विकृति होती है। पोषणिकाके प्रकोप (अतिस्राव) का प्रभाव विशेषतः अस्थियोंपर होता है, यह प्रारम्भमें कहा जा चुका है। अस्थियोंकी पुष्टिके भेदसे प्रकोपज विकृति दो प्रकारकी होती है। पुरुषकी वृद्धि पूर्ण न हुई हो—अर्थात् प्रागस्थियाँ[11] अभी परस्पर संयुक्त न हुई हों तो पोषणिकाके प्रकोपवश शाखाओंकी अस्थियाँ अत्यन्त लम्बी-चौड़ी हो जाती हैं। इस वैरूप्यको दानवकाय[12] कहते हैं। ये दानव सातसे आठ फीट ऊँचे होते हैं। सर्कसोंमें देखे जानेवाले सभी विशालकाय पुरुषोंमें पोषणिकाका

१—Amphibia—एम्फीबिआ ; जल-स्थल चर।

२—*—Pigment-cells—पिगमेण्ट-सेल्स ; Melanophore—मेलेनोफोर।

३—Melanin—मेलेनिन।

४—High Sugar tolerance—हाई शुगर टॉलरेन्स।

५—Reflex—रिफ्लेक्स।

६—Vagus—वेगस।

७—Ovulation—आव्युलेशन।

८—Sexual emotions—सेक्शुअल इमोशन्स।

९—Eel.

१०—ये मत्स्य ऋतु-भेदसे नदीसे समुद्र और समुद्रसे नदीमें जाते हैं।

११—Epiphysis—एपीफिसिस—अस्थियोंके तरुणास्थिसे कठोरास्थिमें परिणत होनेवाले भाग। विशेष परिचय आगे अस्थि-अधिकारमें देखिये।

१२—Gigantism—जायगेण्टिज़्म।

ऐसा ही प्रकोप होता है। अठारहवीं सदीमें जॉन हंटर[१]ने एक आयरिश दानवका वर्णन किया था, जिसका कङ्काल एक अजायब-घरमें रखा है। उसका पोषणिका-खात[२] बहुत बड़ा है, जो उसकी पोषणिकाकी अतिवृद्धि तथा प्रकोपका गमक (सूचक) है।

पोषणिकाका प्रकोप यदि शरीरकी वृद्धि पूर्ण होनेके पश्चात्—अर्थात् प्रागस्थियाँ संयुक्त होनेके पीछे—हुआ हो तो नलकास्थियों[३]की लम्बाईमें वृद्धि सम्भव नहीं होती, परन्तु समग्र ही शरीरकी अस्थियाँ समभावसे बढ़ती हैं। मुखके नीचेके भाग, हाथ तथा पैर[४]पर प्रभाव विशेष होता है—नाक स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियाँ[५] उभर आती हैं, जबड़े बहुत बड़े हो जाते हैं, जिससे दाँत पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। हाथ तथा पैर भी विशाल हो जाते हैं। इन अवयवोंके मृदु भाग भी स्थूल होकर मुख तथा शाखाओंकी परिधिको बढ़ा देते हैं। चुल्लिका-प्रवर्तक अन्तःस्रावके प्रकोपवश न्यूनतम धातुपाकमें भी वृद्धि हो जाती है। इस विकारका नाम प्रान्तवृद्धि[६] है।

दानवकाय और प्रान्तवृद्धिका कारण पोषणिका अथवा समीपवर्ती भागका अर्बुद होना भी संभव है।

प्रकोपके विपरीत अग्रिम खण्डके असुक कोप नष्ट[७] हो जायँ या उनका स्राव क्षीण (अल्प) हो जाय तो उक्त रोगों के विपरीत पुरुष वामन[८] रह जाता है। इस विक्रियाको वामनत्व[९] कहते हैं। वामन तीन से चार फुट के होते हैं। इनमें विरूपता प्रायः नहीं होती। परन्तु ये प्रजननकी दृष्टिसे बाल[१०] रह जाते हैं। बृंहण अन्तःस्राव देनेसे इनकी चिकित्सामें कुछ सिद्धि मिली है।

वामन दो प्रकार के देखे जाते हैं ; एक प्रकारके वामन रूपवान् बालक-जैसे तथा बुद्धिशाली होते हैं। दूसरे प्रकारके वामन मेदस्वी, निद्रालु और मेदका संचय स्त्री-तुल्य स्थानोंपर होनेसे अत्यन्त बोदी कन्या जैसे प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेद में दानवकाय और प्रान्तवृद्धिका निर्देश अस्थिसार नामसे[११] तथा वामनोंका निर्देश जन्मबल-प्रवृत्त[१२] रोगोंकी गणनामें किया है। जन्मबलप्रवृत्त रोगोंमें परिगणित पङ्गु कदाचित् 'रिकेटी'[१३] तथा मूक कदाचित् 'क्रीटिन'[१४] हैं।

१—John Hunter.

२—Sella Turcica—सेला टर्शिका।

३—Long bones—लाँग बोन्स।

४—हाथ-पैरके सिरोंसे अभिप्राय है। इनके लिए अंग्रेजीमें Hand तथा Foot शब्द तथा संस्कृतमें कर और पाद शब्द हैं।

५—Malar bones—मैलर बोन्स।

६—Acromegaly—एक्रोमेगैली। Acro—एक्रो=प्रान्त, सिरा+Megus—मेगस=स्थूल, विशाल।

७—Degenerate—डिजेनेरेट।

८—Dwarf—ड्वार्फ।

९—Dwarfism—ड्वार्फिज़्म। पर्याय—Lorain-levy Infantilism—लोरेन-लेवी इन्फेण्टाइलिज़्म।

१०—रचना तथा क्रियाकी दृष्टिसे पूर्णताको न प्राप्त हुए।

११—तुलनाके लिए देखिए आगे अस्थि-अधिकार।

१२—गर्भावस्थामें माताके दुष्ट—अहित—आहार-विहारसे हुए। देखिये—सु० सू० २४।४-७।

१३—Rickety. रिकेट्स नामक रोगसे पीड़ित। स्मरण रहे, रिकेट्स अस्थियोंकी अपूर्ण पुष्टि से हुआ रोग-विशेष है। यह शब्द कृश बालक-मात्रके रोगके लिए अशुद्ध रूढ़ हो गया है।

१४—Cretin ; देखिये पृ० ४१४-१५।

अकाल-वार्धक्य[1]—पोषणिकाके अग्रिम खण्डका प्रणाश होनेसे यह विकार होता है। इसमें अकाल में ही पलित (केशोंकी धवलता) और केशपात, त्वचामें वलियाँ (झुर्रियाँ); शरीर तथा उसके अन्तर्बाह्य अवयवोंका शोष (ह्रास); बीज-ग्रन्थियोंकी क्षीणता, पुंस्त्वनाश तथा वन्ध्यता; मानसिक मन्दता, पेशियों तथा सर्वाङ्गमें अति दौर्बल्य, अस्थियोंकी भङ्गुरता, शिरा शैथिल्य (रक्तदाबकी अल्पता) एवं मूर्च्छा होकर अकाल-मरण ये लक्षण होते हैं। विकारका कारण पोषणिकाके प्रणाशके कारण उसके इतर-ग्रन्थि-प्रवर्तक अन्तः स्रावोंकी क्षीणता (अल्पता) माना जाता है। परीक्ष्य प्राणियोंमें अग्रिम खण्ड निकाल देने से यही लक्षण देखे जाते हैं। बच्चोंमें इसी प्रकारका एक रोग देखा जाता है[2]। देखावमें बच्चा वयोवृद्ध बुद्धिशाली पुरुषों-जैसा दीखता है। परन्तु अधिकतर यह विकार चालीससे पचास वर्षकी स्त्रियोंमें होता है। इसका कारण पोषणिकाकी विकृति ही होना संभव है।

कुशिंग्स डिसीज़[3]—अग्रिम खण्डके कुछ कोषोंकी अति क्रियासे यह होता है। इसमें मध्यकाय और मुख पर मेदका प्रचुर संचय होता है, शाखाओं पर नहीं। प्रायः साथ अधिवृक्कोंके आकारमें वृद्धि और बीज ग्रन्थियोंकी क्षीणता होती है। अन्य अन्तर्ग्रन्थियों पर प्रभाव होनेसे अन्य भी लक्षण होते हैं; यथा—उदकमेह, क्षौद्रमेह, अतितृषा।

पश्चिम खण्डकी विकृतिसे भी उदकमेह तथा अतितृषा होते हैं। यह घातक तो नहीं, पर बड़ा परेशान करनेवाला होता है। पश्चिम खण्डके सत्त्वकी सूची-बस्तिसे कुछ घण्टोंके लिए आराम मिलता है।

पोषणिकाकी विकृति कृच्छ्रसाध्य है। इसका प्रकोप होनेपर स्थानकी दृष्टिसे शल्यकर्म असंभव-प्राय होता है। शल्यकर्म शक्य हो तोभी अन्य महत्त्वपूर्ण अङ्गोंको हानि पहुँचाये विना शल्यकर्म दुष्कर होता है। पोषणिकाके अन्तःस्रावोंकी क्षीणता भी दुःसाध्य होती है। कारण, विशेषतः किस अन्तःस्रावकी क्षीणतासे रोग हुआ है, यह निदान करना सुगम नहीं होता, न ही प्रत्येक अन्तःस्राव शुद्ध रूपमें अबतक प्राप्त किया जा सका है।

पोषणिका ग्रन्थिका विवरण समाप्त करनेके पूर्व आयुर्वेदीय दृष्टिसे इसके अन्तःस्रावोंका विचार करनेके विषयमें पुनः कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि: अन्तः शुक्र अर्थात् वृषण-ग्रन्थियोंका अन्तः-स्राव आयुर्वेदका नरोंमें पाया जानेवाला पर या प्रधान ओज है[4]। स्त्रियोंमें इसी प्रकार अन्तः फलोंके अन्तःस्राव, जो उनमें अन्तः शुक्रके प्रतिनिधि-तुल्य हैं, उन्हें स्त्रीगत प्रधान ओज कहना चाहिए। स्त्री-शुक्र नव्यमतानुसार क्या है, इसका विचार आगे आर्तवके प्रकरणमें करेंगे। बहिः और अन्तःशुक्र तथा स्त्री बीज और अन्तःफलके अन्तःस्रावोंके प्रवर्त्तक पोषणिकाके अन्तःस्रावोंकी तुलना क्रमशः शुक्राग्नि और आर्तवाग्निसे की जा सकती है। पोषणिकाके अन्य अन्तःस्रावोंका आयुर्वेदोक्त अग्नियोंसे साम्य अन्वेषणीय है। यथा, अग्रिम खण्डके प्रथम अन्तःस्रावका साम्य अस्थ्यग्निसे देखा जा सकता है। इस विषयमें पृ० १३४-३५ की टिप्पणीमें आयुर्वेद मतसे तेरहसे अधिक अग्नियाँ होनेका जो निर्देश उद्धृत किया है, वह कुछ सहायक हो सकता है।

१—Simmond's disease—सिमंड्स डिसीज़।

२—Progeria—प्रोगेरिआ।

३—Cushing's Disease.

४—पृ० ४२५-२६ भी इस विषयमें देखिये।

अन्य रासायनिक द्रव्य

इस अध्याय में वर्णित निःस्रोत ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों के समान कुछ अन्य भी द्रव्य शरीरके तत्-तत् अवयवोंपर रासायनिक क्रिया करते हैं। इनकी उत्पत्ति ग्रन्थियोंमें नहीं होती। अध्यायके प्रारम्भमें ऐसे एक द्रव्य अङ्गाराम्लका उल्लेख कर आये हैं। कुछ अन्य ज्ञातव्य द्रव्योंका निर्देश करते हैं।

श्रम (थकावट) का कारण पेशियों में कर्म (चेष्टा)-वश उत्पन्न तक्राम्ल[1]का संचय है। श्रान्त अङ्गको ओषजन जितना मिले उतना ही शीघ्र तक्राम्लका विघटन होकर श्रम निवृत्त होता है। क्षत्रकण, जीवाणुसूदन आदिका कर्म क्षमताके प्रकरणमें देखेंगे। द्राक्षाशर्करा, यूरीआ तथा अन्त्रोंमें पाक या कोथवश उद्भूत विभिन्न द्रव्योंकी भी शरीरावयवों पर अपनी-अपनी हिताहित क्रिया होती है। नीचे ऐसे तीन विशिष्ट क्रियाकारी स्मरणीय द्रव्य दिये जाते हैं। इनके नाम हैं : हिस्टेमीन[2], कोलीन[3] तथा एसिटील कोलीन[4]।

हिस्टेमीन—

दस अवश्यग्राह्य[5] एमाइनो एसिडों[6]में एक हिस्टिडीन[7] है। इसका विघटन होकर इससे अङ्गाराम्ल (कार्बन डाई-ऑक्साइड) निकल जानेसे हिस्टेमीन बनता है। हिस्टेमीनकी महत्ता इस बातमें है कि, यह प्रसृत होकर शरीरके बड़े भागकी केशिकाओंका विकास[8] कर देता है। परिणामतया, रक्तका बहुत-सा भाग इन केशिकाओंमें आ जाता है, जिससे संचारी रक्तका प्रमाण अल्प हो जानेसे रक्तदाब बहुत न्यून हो जाता है। इससे 'शॉक'[9] होकर मृत्यु भी होना सम्भव है। रक्त केशिकाओंमें ही विकीर्ण (व्याप्त) हो जानेसे हृदय की ओर लौट नहीं पाता। त्वचा के अग्नि आदिसे दग्धमें मृत्युका एक कारण हिस्टेमीन या तत्सदृश द्रव्य दग्धस्थानमें उत्पन्न होकर शरीरमें प्रसृत होना है।

हिस्टेमिनेज़[10] नामक एक एन्ज़ाइम[11]की क्रियासे हिस्टेमीन विघटित हो जाता है—उसका स्वरूप नाश होता है। इस प्रकार शरीर इसकी उक्त तथा आगे कही विक्रियाओंसे रक्षित रहता है। यह एन्ज़ाइम अन्त्रों तथा वृक्कोंमें सविशेष होता है। त्वचामें यह नहीं होता, अतः हिस्टेमीनकी विक्रिया त्वचापर विशेषतया लक्षित होती है (आगे देखिए)।

हिस्टेमीनकी उत्पत्ति अन्त्रोंमें हिस्टिडीनके पाकवश तथा कुथित होते (सड़ते) धातुओंमें (यथा, अग्निदग्धके कारण) होती है। अन्त्रोंमें यह अन्नरसके क्षरणका उद्दीपक है। इसकी यह क्रिया सिक्रीटीन[12]की अपेक्षया न्यून होती है।

जाना गया है कि, व्यायामसे हिस्टेमीन उत्पन्न होकर आमाशयमें जाता है तो आमाशय-रसका स्राव प्रभूत होता है। इस ज्ञानकी उपयोगिता इस बातमें है कि आमाशय-क्षत[13] होनेपर शय्यामें विश्रान्ति उपचारका प्रधान अंग है। अन्यथा परिश्रमवश आमाशय-रस अधिक क्षरित हो व्रणको बढ़ा देता है[14]।

१—Lactic acid—लक्टिक एसिड। २—Hfstamine. ३—Choline.
४—Acetyl Choline. ५—Essential—एसेन्शल।
६—देखिये पृ० २३५। ७—Histdine, ८—Dialatation—डायलेटेशन।
९—Shock. १०—Histaminase.
११—एन्ज़ाइमोंके परिचयके लिए देखिये पृष्ठ ३०३—१२।
१२—Secretin ; देखिये पृष्ठ ३९१-९२। १३—Gastric ulcer—गेस्ट्रिक अल्सर।
१४—श्रमको आयुर्वेदमें पित्तवर्धक कहा है, उसका एक रूप यह है।

हिस्टेमीनकी क्रियासे केशिकाओंके विकासका एक परिणाम—रक्तदाबमें वृद्धि—ऊपर बताया है। इसके दो अन्य स्मरणीय परिणाम होते हैं। केशिकाओंका विकास होनेसे उनका निःस्रवण (निथार—उनमें से द्रवोंके चूने—रक्त-रसके स्रवण—की क्रिया)[1] बढ़ जाता है। धातुओंमें रसके संचयसे शोथ[2] होता है। त्वचामें हिस्टेमीनकी सूचीबस्तिसे किंवा त्वचापर आघात, दग्ध आदिसे इसकी उत्पत्ति और विद्यमानता-वश स्थानीय केशिकाएँ विकसित हो जाती हैं। परिणामतया दग्ध स्थानोंमें देखे जानेवाले अथवा शीतपित्त-सदृश कोठ (ददोड़े)[3] हो जाते हैं।

एनाफायलेक्सिस[4]—अण्डेका श्वेतांश किसी कुत्ते या गिनीपिग[5]में सूचीसे प्रविष्ट किया जाय तो कुछ क्षति नहीं होती। परन्तु तीन सप्ताह पीछे यदि पुनः ऐसी ही मात्रा दी जाय तो शरीरके रेखाशून्य मांसका, विशेषतया गर्भाशय, अपस्तम्भ[6] तथा यकृत्से निकलनेवाली शिराओंके मांसका प्रबल संकोच होता है और प्राणीकी मृत्यु होती है। पुरुषोंमें ऐसे ही परीक्षणोंमें श्वास तथा शीतपित्त[7] होते हैं। कदाचित्, कई भोज्य द्रव्योंसे भी कई पुरुषोंमें ऐसी ही प्रतिक्रिया होती है। किसी विष या औषधकी बढ़ती हुई मात्राके प्रति शरीरकी प्रतिकार-शक्ति न्यूनतर होनेकी इस स्थितिको एनाफायलेक्सिस कहते हैं। माना जाता है कि, असात्म्य (अननुकूल)[8] प्रोटीनके शरीरमें जानेसे हिस्टेमीन उत्पन्न होता है, जिसके कारण उक्त विकार शरीरमें होते हैं। पाककी तत्कालिक विकृति इसमें सहायक होती है

परीक्षणोंमें हिस्टेमीनके कारण मस्तिष्ककी केशिकाओंके विकास और उनमें रक्तकी वृद्धि होनेसे शिरमें तीव्र शूल होता है[9]।

१—Permeability—पर्मिएबिलिटी। २—Oedema—इडीमा।

३—Wheals—व्हील्स। ४—Anaphylaxis.

५—Guinae-pig, श्वेत चूहे जैसे प्राणी। चिकित्साविषयक संशोधनोंके लिए अपने शरीरको अर्पित करनेवाले पुरुषोंको भी गिनी-पिग कहा जाता है।

६—Bronchi—ब्रोंकाई; श्वासपथ।

७—Urticaria—अर्टीकेरिया; या Nettle rash—नेटल रैश। शीतपित्त नामसे प्रसिद्ध रोगके दोषभेदसे दो भेद होते हैं—वाताधिकं शीतपित्तम् उदर्दस्तु कफाधिकः —माधव।

८—Foreign—फॉरेन।

९—वात-पित्त-कफ नव्य तथा प्राचीन मत से—आयुर्वेदमें जिसे वातिक शिरःशूल (शिरोरोग) कहा है वह हिस्टेमीन तथा तत्सदृश द्रव्योंके कारण मस्तिष्ककी केशिकाओंका विकास होनेसे उक्त प्रकारसे हुआ शिरःशूल होना चाहिए। प्राचीनोंने जिसे वात कहा है उसका कुछ अनुमान इस घटना से किया जा सकता है। प्राचीन पदार्थ-विज्ञान तथा आधुनिक भौतिक शास्त्रकी दृष्टिसे हिस्टेमीन वायु (गैस)-रूप द्रव्य नहीं है। पर आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञानमें इसे वायु-वर्गमें गिन सकते हैं। अग्निकी विकृति आदि कारणोंसे अन्वर्थतः वायु-रूप द्रव्योंकी उत्पत्ति और वृद्धि हो आध्मान, अधोवात प्रवृत्ति आदि लक्षणोंसे हिस्टेमीनका ज्ञान होता है। इन वायुरूप द्रव्योंके साथ भौतिक शास्त्र को दृष्टिसे अ-वायुरूप हिस्टेमीन आदि द्रव्योंकी भी उत्पत्ति और प्रसर होकर शिरोवेदना आदि रोग होते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रत्यक्ष वायुसंज्ञक द्रव्योंके कारण अप्रत्यक्ष हिस्टेमीन आदि जिन द्रव्योंका अनुमान होता है वे भी वात-वर्गके अन्तर्गत माने गये हैं ऐसा समझा जा सकता है। प्रसंगमें कह दूँ कि, पक्वाशयमें उत्पन्न अङ्गाराम्ल भी हिस्टेमीनके समान केशिकाविकाशक (Vaso dialator—वॅसो डायलेटर) है।

शीतपित्त और अमुक श्वासोंमें प्रोटीन-बहुल (शिम्बीधान्य, मांस आदि) आहार वर्ज्य है। यह इस विवरणसे समझा जा सकता है। विदित हुआ है कि त्वचाके केशिका-विकाशक नाड़ीसूत्र हिस्टेमीन तथा एसिटिल कोलीन जैसे केशिका-विकाशक (आगे देखिये) द्रव्योंका स्रवणकर केशिकाओंको विकसित करते हैं। अधिवृक्कका स्राव एड्रीनलीन हिस्टेमीन क्रियाका विरोधी है।

हिस्टेमीनके विषयमें इतना होते हुए भी अभी बहुत ज्ञातव्य शेष है।

एसिटिल कोलीन[1]—

अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है क नाड़ियाँ[2] अपने वशवर्ती अवयवोंपर साक्षात् क्रिया नहीं करतीं, किन्तु एक रासायनिक माध्यमको उत्पन्नकर उसके द्वारा उन्हें तत्-तत् कर्म के लिए प्रेरित करती हैं। इस रासायनिक द्रव्यको एसिटिल कोलीन कहते हैं।

एसिटिल कोलीन 'कोलीन'[3]-नामक द्रव्यसे उत्पन्न होता है। शरीरमें दोनोंके कर्म समान हैं, यद्यपि एसिटिल कोलीनकी क्रिया कोलीनसे कई गुणा प्रबल होती है। एट्रोपीन[4]से दोनोंकी क्रिया सामान्यतः रुक जाती है। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाड़ीसंस्थानके कन्द्रों[5], अस्थिलग्न

वायु शब्दके उच्चारके साथ प्रथम स्मरण अधोवायु और ऊर्ध्ववायुका ही होता है। इससे इन वायुओंका प्राधान्य अवगत होता है। आशय यह है कि, इन वायुओंकी समता, वृद्धि और क्षीणता से उनके सहजात जिन द्रव्योंको समता आदि अवस्थाओंका ज्ञान होता है, वे द्रव्य भी 'वात' ही हैं।

इसी प्रकार 'पित्त' नामसे सामान्यतः याकृत पित्त (Bile—बाइल) ही प्रसिद्ध है। उसका भी अर्थ यही है कि, शरीरान्तर्गत पित्तमात्रकी वृद्धि, क्षय और साम्यके साथ याकृत पित्तकी भी वृद्धि, क्षय और साम्य होते हैं। सब पित्तोंमें प्रत्यक्ष याकृत पित्त ही होनेसे उसीकी तीनों अवस्थाएँ देखकर शेष अप्रत्यक्ष पित्तोंके अवस्था-त्रयका ज्ञान हो सकता है। अतः पित्त नामसे यही एक द्रव्य शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध हो गया।

यही बात 'कफ' के सम्बन्धमें है। कफ नामसे बलगम या म्यूकस (Mucus) ही सर्वत्र प्रसिद्ध है। उसका कारण यह है कि, कफ नाम (याने) शरीरकी पोषक सामग्री जब वृद्धिको प्राप्त होती है तब शरीरके कोष्ठ बने वहाँ तक, अपने धात्वग्निके बलके अनुसार अपनी पुष्टि (और उसके कारण स्रोतोरोध) करते हैं। शेष पोषक सामग्री वायुकी क्रियासे प्रसिद्ध कफ (बलगम) के रूप में बाहर फेंक दी जाती है। इस कफमें म्यूसीन (Mucin)—नामक प्रोटिन प्रधान होती है। इस बातको ध्यानमें रखनेसे उक्त मत विशद हो सकता है। इसी प्रकार इस कफकी क्षीणतासे शरीरान्तर्गत कफ (पोषक सामग्री) क्षीणताका तथा समतासे समताका ज्ञान हो सकता है। सो इस कफसे ही शरीरगत समस्त पोषक द्रव्योंकी पुष्टि आदि तीनों अवस्थाओंका अनुमान होनेसे उन्हें भी कफ ही कह दिया गया।

वात-पित्त-कफका नवीन दृष्ट्या विचार करते हुए मैं जहां तक पहुंचा हूँ उसका कुछ निर्देश ऊपर किया है। विद्वज्जन विचार करें।

१—Acetylcholine. २—Nerves—नर्व्स। ३—Choline.

४—Atropine : बेलाडोना-नामक धतूरके समान गुण उद्भिद्का उपक्षार (Alkaloid—आल्केलॉयड)।

५—Ganglions—गैङ्गलीऑन्स : सुषुम्णा (Spinal cord–स्पायनल कॉर्ड) के दोनों ओर मालाकार स्थित नाडी-कोषोंके दृश्य पुञ्ज, जिनमें मस्तिष्क या सुषुम्णाकी ओरसे आये सूत्र समाप्त और अनुस्यूत (ओत-प्रोत) होते तथा निकलनेवाले नये सूत्र निकलकर अपने-अपने वशवर्ती अवयव तक पहुँचते हैं। देखिये—आगे नाडीसंस्थान।

(इच्छाधीन) पेशियोंमें जानेवाली नाडियों तथा प्राणदा इत्यादि नाडियोंमें जानेवाले पश्चिमकन्दिक[1] सूत्रोंमें वेगोंका वहन एसिटिल कोलीनसे होता है। नाडीसूत्रोंके परस्पर सन्धिस्थलों[2] तथा नाडीसूत्रों और पेशीसूत्रोंके संधिस्थानों[3] पर भी यह द्रव्य उन्मुक्त होकर अपनी क्रिया करता है। एसिटिल कोलीनकी उत्पत्तिके लिए द्राक्षाशर्करा तथा केल्शियम अनिवार्य हैं।

केन्द्रीय नाडीसंस्थान—स्वयं मस्तिष्क और सुषुम्णा-काण्ड—में वेगोंके वहनमें एसिटिल कोलीन निमित्त है या नहीं, यह अभी विवादग्रस्त है।

कोलीन तथा एसिटिल कोलीनकी क्रिया सौम्य[4] (परिस्वतन्त्र) नाडीसंस्थानके तुल्य होती है; यथा, उसके समान ये हृदयको मन्द, धमनियोंको विकसित, कनीनिकाको संकुचित तथा ग्रन्थियोंको स्रावके लिए प्रेरित करते हैं। एसिटिल कोलीनकी क्रियाका अतियोग न हो, इस हेतु इसका तत्काल नाश आवश्यक है। विदित हुआ है कि, शरीरमें यह क्रिया करनेवाला एक एन्ज़ाइम है, जिसे कोलीनेस्टेरेज़[5] कहते हैं। इसरीन[6] तथा प्रोस्टेग्मीन[7] इस एन्ज़ाइमको निष्क्रिय कर देते हैं। परिणामतया, एसिटिल कोलीन यथास्थित रहकर उसका क्रियाकाल बढ़ता है। इसके विपरीत एट्रोपीन एसिटिल कोलीनकी क्रियाका विरोधी है। एड्रीनलीनकी क्रिया भी विपरीत होती है।

एसिटिल कोलीनकी गणना कफ-वर्गीय द्रव्योंमें की जा सकती है।

पहले कह आये हैं[8] कि आयुर्वेदोक्त साधक पित्तका साम्य एड्रीनलीनसे देखा जा सकता है। यह साधक पित्त हृदयके आवरक कफको दूर करनेवाला कहा गया है। यह आवरक कफ प्रकुपित—अर्थात् अतिमात्रामें मुक्त किंवा अपने नाशक एन्ज़ाइमकी क्षीणतावश यथायोग्य प्रमाणमें नष्ट न हुआ—एसिटिल कोलीन हो सकता है।

आयुर्वेदोक्त दोष यदि नव्यों द्वारा प्रतिपादित अनेकानेक द्रव्योंके वर्ग हैं तो यह भी मानना गलेपतित है कि दोष केवल पाँच-पाँच नहीं हैं। पाँच-पाँच स्थानोंपर स्थित पाँच-पाँच दोष अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण क्रियाके कारण विशेष ध्यान खेंचनेवाले होनेसे 'ब्राह्मणकौण्डिन्यन्याय' से पृथक् निर्दिष्ट हुए हैं। प्रकृत (प्रकरण-गत) एसिटिल कोलीन हो सकता है, कफके पाँच भेदोंसे भिन्न हो, अथवा संभवतः वह अवलम्बक कफ हो। अवलम्बक कफके विषयमें कहा गया है कि वह अन्नरस (रसधातु) के साथ मिलकर अपने वीर्य (कर्म-शक्ति) द्वारा त्रिक (पृष्ठवंशका अधोभाग या ग्रीवा और बाहुओंकी अस्थियोंका समुदाय), हृदय (हृदय और फुप्फुस) तथा अन्य स्थानोंपर स्थित कफका अवलम्बन करता है। उधर—

एसिटिल कोलीनकी क्रिया सौम्य (परिस्वतन्त्र) नाडीसंस्थानके सदृश होती है। दोनों पचनसंस्थानके अवयवोंको अपनी-अपनी क्रियाके लिए प्रेरित करते हैं। परिणामतया रसधातुका निर्माण सम्यक् होता है। दोनों हृदयकी गतिको सम करते हैं, जिससे हृदय उत्पन्न रसधातुको

१—Post-ganglionic—पोस्ट-गैंगलिऑनिक : उक्त कन्दोंसे निकलनेवाले।

२—Synopses—सिनेप्सिज़। देखिये आगे।

३—Neuromuscular junctions—न्यूरोमस्क्युलर जंक्शन्स।

४—इस संज्ञाके लिए देखिये पृ० ४२०, टिप्पणी।

५—Cholinesterase.

६—Eserine ; पर्याय--Physostigmine—फिसोस्टिग्मीन ; Calabarin—केलाबेरीन।

७—Prostagmine.

८—देखिये पृ० ४२३।

समुचित प्रमाणमें शरीरमें पहुँचा सकता है और शरीर तथा कफस्थानगत कफोंके पोषणकी क्रियाको सुस्थित करता है—नव्यमतानुसार उन्हें पोषक सामग्री, ओपजन, जीवनीय तथा अन्य अन्तःस्राव प्रदान करता है एवं उनके धातुपाकजन्य विषोंको ग्रहण करता है। इस प्रकार उनका अवलम्बन अर्थात् उन्हें निज-निज कर्म करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है। एसिटिल कोलीनका अन्नरसके साथ यह अवलम्बन कर्म उसे अवलम्बक कफ माननेकी प्रेरणा करता है।

अवलम्बक कफ एसिटिल कोलीनको मानें या अन्य किसी द्रव्यको, 'त्रिक' के अवलम्बनकी व्याख्या किसी भी पक्षमें छकर नहीं है।

सिम्पेथीन[1]—

जीवनयोनि नाडीसंस्थानमें वेगोंका वहन सामान्यतया एसिटिल कोलीन द्वारा होता है। परन्तु कुछ आग्नेय (मध्य स्वतन्त्र) नाडीसंस्थानकी नाड़ियोंमें वेगका वहन एक अन्य द्रव्यकी उत्पत्ति और मुक्ति द्वारा होता है, यथा रक्तवह स्रोतोंका नियमन करनेवाली नाड़ियों[2]की क्रियासे जब स्रोत संकुचित होते हैं तो इस द्रव्यकी मुक्ति (उत्सर्ग) होती है। इस द्रव्यको सिम्पेथीन कहते हैं। सिम्पेथीनकी स्रावी नाडियोंको एड्रीनर्जिक[3] तथा एसिटिल कोलीनकी स्रावी नाडियोंको कोलीनर्जिक[4] कहते हैं।

१—Sympathin.
२—Vaso motor Nerves—वैसोमोटर नर्व्स।
३—Adrenergic.
४—Cholinergic.

इक्कीसवां अध्याय

अथातो रसधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

आहारपर जठराग्निकी क्रियासे जो रस उत्पन्न होता है, वह शरीरमें प्रसृत हो तत्-तत् धातुको प्राप्त होता है । अपने-अपने धात्वग्निके बलसे धातु इस रसधातुका उपयोग कर उसके सार (प्रसाद) भागसे अपनी और मल-भागसे अपने मलको पुष्टि करते हैं । पिछले अध्यायोंमें प्राचीन और अर्वाचीन मतसे अग्नियोंका विवरण किया गया है । अब रसधातुका वर्णन-क्रम प्राप्त है ।

रसधातुका कर्म और शरीरमें चक्रवत् भ्रमण—

तत्र पाञ्चभौतिकस्य चतुर्विधस्य षड्रसस्य द्विविधवीर्यस्याष्टविधवीर्यस्य वाऽनेकगुणोपेतस्योपयुक्तस्याहारस्य सम्यक् परिणतस्य यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स 'रस' इत्युच्यते । तस्य हृदयं स्थानम् । स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दशाधोगामिन्यश्च-तस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति (जीवयति इति पाठान्तरम्) यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा । तस्य शरीरमनुसरतोऽनुमानाद् गतिरुपलक्षयितव्या क्षयवृद्धिवैकृतैः । तस्मिन् सर्वशरीरावयवदोषधातुमलानुसारिणि रसे जिज्ञासा—किमयं सौम्यस्तैजस इति ? अत्रोच्यते स खलु द्रवानुसारी स्नेहन जीवनतपणधारणादिभिर्विशेषैः सौम्य इत्यवगम्यते ॥ सु० सू० १४।३

× × × उपयुक्तस्येति सम्यक् परिणतस्येत्यनेनैवोपयुक्तपदार्थस्य लब्धत्वाद् यदुपयुक्तग्रहणं करोति तत् सम्यग्योगं स्वस्थवृत्तीयद्वादशविधाशनप्रविचारमपेक्ष्योपयोगं प्रापयति । तेजोभूत इति तेजसा भूतस्तेजोभूतो वह्निसंभूत इत्यर्थः । अन्ये तु तेजःशब्देन घृतमाहुः; तत्र तेजोभूतो घृतवदुत्पन्न इत्यर्थः । अन्ये तु वदन्ति—भूतशब्दोऽत्रोपमानार्थः, तत्र तेजोभूतो घृताकार इत्यर्थः । सार इति विडादिमलरहित इत्यर्थः । परमसूक्ष्म इति अतिशयेनास्थूलावयवः, सूक्ष्मस्रोतोऽनुसारी इत्यर्थः । रसस्य स्थानमाह—तस्येत्यादि । तस्य रसस्य सर्वदेहानुसारित्वेऽपि हृदये स्थानम् । × × तर्पयतीति बालमध्यस्थविरान् सर्वानेव प्रीणयति । वर्धयतीति बालं, धारयतीति मध्यं सम्पूर्णधातुत्वात् । केचित् धारयतीत्यत्र जीवयतीति पठन्ति; अत्रापि स एवार्थः । यापयतीति वृद्धं क्षीयमाणदेहत्वात् । × × अदृष्टहेतुकेन कर्मणा प्राक्तनकर्मणेत्यर्थः । अनुसरतोऽनुगच्छतः । क्षयवृद्धिवैकृतैरिति वैकृतं विकारः; क्षयविकारैः 'रसक्षये हृत्पीडा कम्प' इत्यादिभिः; वृद्धिविकारैः 'हृदयोत्क्लेद' इत्यादिभिः × × × । सौम्यः कफवत्, तैजसः पित्तवत् । × × आदिशब्दादवष्टम्भनादयः × × ॥ —डह्लन

तत्रैतेषां धातूनामन्नपानरसः प्रीणयिता ॥ सु० सू० १४।११

प्रीणयिता तर्पयिता ॥ —डह्लन

रसस्तुष्टिं प्रीणनं रक्तपुष्टिं च करोति ॥ सु० सू० १५।५ (१)

विण्मूत्रमाहारमलः सारः प्रागीरितो रसः ।
स तु व्यानेन विक्षिप्तः सर्वान् धातून् प्रतर्पयेत् ॥ सु० सू० ४६।५२८

× × विक्षिप्तः प्रेरितः । प्रतर्पयेत् अतिशयेन वर्धयेत् । व्यानस्य सर्वाङ्गव्यापित्वेन दोषधातुमलव्यापित्वात् । स च केदारिकुल्यान्यायेन सर्वान् धातून् प्रतर्पयति ॥ —डह्लन

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ सु० नि० १।१७

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ च० चि० १५।३६

× × रसरूपो धातुः, किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते; तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणां ग्रहणं भवति । विक्षेपः उचितं प्राकृतं कर्म यस्य स विक्षेपोचितकर्मा । तेन व्यानेन, युगपदित्येककालम् । सर्वत इति सर्वस्मिन् देशे (देहे) विक्षिप्यत इति नीयते । अजस्रमिति अविश्रान्तं विक्षिप्यते । सदेति सर्वकालम् । —चक्रपाणि

हृदो रसो निःसरति तस्मादेव च सर्वशः ।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः ॥
मेलसंहिता, सूत्रस्थान अ० २१

रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः ॥ च० वि० ५।७ (४)

मूलमिति प्रभवस्थानम् ॥ —चक्रपाणि

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः ।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥ अ० हृ० शा० ३।१८

अन्यासां मूलसिराणां सर्वासां मूलभूतत्वेनैवैताः स्थिताः, ततः प्रधानभूता इत्यर्थः । हृत्स्था हृदयसम्बद्धाः । × × चेष्टितं वाक्कायमनोव्यापारः । यस्मात् तन्निबद्धं चेष्टितमतस्ता मूलसिराः । —अरुणदत्त

संतत्या भोज्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत्[1] ॥ च० चि० १५।२१

तत्र 'रस' गतौ धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥ सु० सू० १४।१३

अन्तरग्नि (जठराग्नि, कायाग्नि) की क्रियासे परिपक्व होकर मल-रहित हुआ आहार अन्तमें रस-रूपको प्राप्त होता है । अति सूक्ष्म नाम अपने ग्राही और संवाही सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रविष्ट हो सकने योग्य होनेसे अपने स्रोतों[2] द्वारा गृहीत होकर यह रस व्यान[3] वायुकी प्रेरणासे हृदयमें पहुँचता है । व्यान-वायुसे प्रेरित हृदय इस रसको चौबीस धमनियों द्वारा शरीरके प्रत्येक अवयव, दोष, धातु तथा मलको पहुँचाता है । इन धमनियोंमें दस ऊर्ध्वगामी, दस अधोगामी तथा चार तिर्यग्गामी होती हैं[4] ।

१—चक्रपाणि ने 'चक्रवत् परिवृत्ति'का अर्थ निरन्तर उत्पत्ति किया है । 'चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च' इत्यादि प्रसिद्ध पद्योंके अनुकरणमें मैंने इसका अर्थ चक्रवत् भ्रमण—हृदय-रूप स्थानसे चलना और उसी स्थानपर पुनः घूम-फिरकर आ जाना—किया है । 'धातूनां'का अर्थ रसधातु किया है ।

२—प्रमाण-वचनके लिये देखिये पृ० ३५६ पर च० वि० ५।१८ । नव्य-प्रत्यक्षानुसार ये स्रोत केशिकाएँ तथा पयस्विनी-नामक रसायनियाँ हैं । विस्तारके लिये देखिये पृ० ३५६, ३६०-६२ ।

३—शीर्षण्य नाडियोंको छोड़कर शेष मस्तिष्क-सौषुम्णिक नाडीसंस्थान ।

४—प्रत्यक्षानुसार शरीरमें रस-रक्त पहुँचानेके लिये एक ही महाधमनी (Aorta—ए ऑर्टा) है । निकलनेके लगभग साथ ही इसकी शाखायें होने लगती हैं । किस-किस शाखाका ग्रहणकर चौबीस संख्या पूर्ण की जा सकती है, यह चिन्तनीय है ।

शरीरके अवयवादिमें प्रतिक्षण पहुँचा हुआ यह रस उनका तर्पण (बाल, युवा और वृद्ध

प्रकरण-विशेषमें 'नाभि' शब्दसे हृदयका ग्रहण—

ऊपर धृत सु० सू० १४।३ में ये चौबीस धमनियाँ हृदयसे निकलती कही गयी हैं। आगे सु० शा० ९।३ में सुश्रुतने कहा है—'चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभावा अभिहिताः—' पहले कह आये हैं कि—'नाभिसे चौबीस धमनियाँ निकलती हैं।' कहाँ कह आये हैं? डल्हन व्याख्यामें कहता है—अभिहिता उक्ताः, 'शोणितवर्णनीये' इति शेषः। टीकाकारके इस वचनसे स्पष्ट है कि सूत्रस्थानके शोणित-वर्णनीय अध्याय (१४) के ऊपर धृत वचनमें जो धमनियाँ 'हृदय'से निकलती कही गयी हैं वे ही यहाँ 'नाभि'से उत्पन्न कही गयी हैं। अर्थात्—ग्रन्थकर्त्ताको इस प्रसंगमें हृदय और नाभि शब्दोंकी अभिन्नार्थता अभिप्रेत है।

जन्मके पश्चात् प्रसिद्ध नाभि (तुण्डी) का रस और रक्तके अनुधावन तथा श्वास क्रियासे विशिष्ट सम्बन्ध नहीं रहता। जहाँ-जहाँ संहिताओंमें नाभिके साथ प्राण, सिराओं अथवा धमनियोंका सम्बन्ध आता है, वहाँ-वहाँ (गर्भावस्थाको छोड़कर) नाभिका अर्थ हृदय लेना योग्य प्रतीत होता है। आगे श्वासक्रियाके प्रकरणमें धृत 'नाभिस्थः प्राणपवनः' इत्यादि प्रसिद्ध शार्ङ्गधर-वचनमें 'नाभि' का यही अर्थ विशेष संगत है। सुश्रुतके उक्त वचनोंके अतिरिक्त अन्य संहिताओंमें भी दोनों शब्दोंका अभिन्नार्थमें प्रयोग आया है:

"धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुरुत्तरा। ताभिः परिवृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥ ताभिश्चोर्ध्वमधस्तिर्यग्देहोऽयमनुगृह्यते—अ० हृ० शा० ३।३९" इस वचनमें लघु वाग्भट ने तथा शा० अ० ६ में वृद्ध वाग्भट ने चौबीस धमनियाँ नाभिसे निकलती कही हैं।

"सप्त शिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः, केदार इव कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः। तासां नाभिर्मूलम्, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम्। नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥ नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः—सु० शा० ७।३-५।' यहाँ सम्पूर्ण सिराएँ नाभिसे निकलती बतायी गयी हैं।

"हृदयात् सम्प्रतायन्ते सिराणां दश मातरः। ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रोऽधोवहाः सिराः॥ व्याप्नुवन्ति शरीरं ता भिद्यमानाः पुनः पुनः। पर्णानामिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः—काश्यप संहिता, शा० शरीर-विचयाध्याय"—यहाँ दस सिरायें हृदयसे निकलती काश्यपने कही हैं। उक्त सुश्रुत-वचन तथा इस काश्यप-वचनमें संख्या-भेद होते हुए भी वृक्षके पत्रोंकी सिराओंके प्रतानके समान सिराओंका प्रतान दोनोंमें निरूपित है।

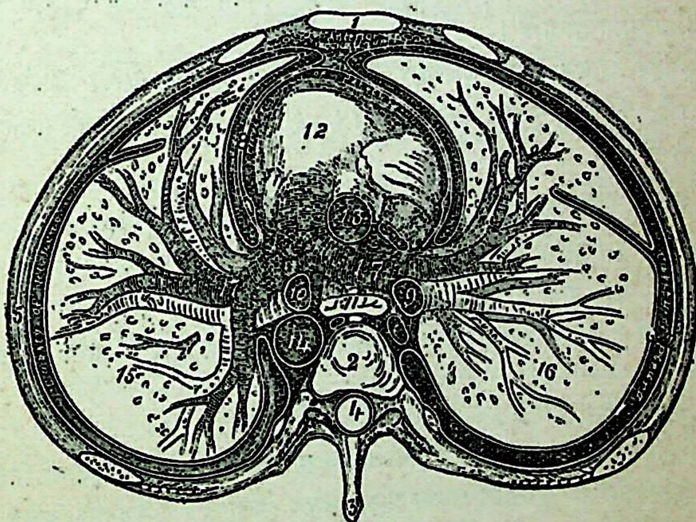
"अथ इत्याह हृदयं तस्मिन् धमन्यो दश। ऊर्ध्वं चतस्रो द्वे तिर्यक् चतस्रश्चाप्यधः क्रमात्-भेड०, सू० अ० १०, यहाँ भेडने यही दस सिराएँ (धमनी नामसे) हृदयसे निकलती कही हैं। "अर्थे दश महामूलाः सिराः सक्ता महाफलाः—च० सू० ३०।३" यहाँ भी हृदयसे दस सिराओंका उद्भव कहा गया है। "हृदो रसो निः सरति"—इत्यादि ऊपर धृत श्लोकमें भी भेडने हृदयसे सिराओंका सम्बन्ध कहा है।

ऊपर धृत वचनोंमें कई वचनोंमें नाभिका स्वरूप चारों ओर निकलती सिराओंके कारण अरोंसे आवृत रथके चक्रकी नाभिके सदृश बताया गया है। हृदय और उससे निकलनेवाली सिराओं और धमनियोंको सामने, नीचे या ऊपर किसी भी ओरसे देखें तो अनायास चक्रका स्वरूप दिखाई पड़ता है, जिसमें हृदय नाभि है और उसके चतुर्दिक् स्थित वाहिनियाँ अरे। जिन पण्डितोंने दुष्ट वायुका हृदयमें

तीनोंमें पोषण—प्रीणन[1], वर्धन (बाल्यावस्थामें वृद्धि), धारण (जीवन—युवाओंमें जिस स्वरूपमें वे हैं, उसी अवस्थामें उन्हें बनाये रखना), यापन (वृद्धावस्थामें क्षीण होते हुए भी उन्हें नष्ट होनेसे बचाना), स्नेहन (उनमें स्निग्धता), अवष्टम्भन (उनमें दृढ़त्व स्थापित करना), तुष्टि आदि करता है। इस प्रकार शरीरावयवों, दोषों, धातुओं तथा मलोंका रसधातु द्वारा तर्पणादि होनेसे ही शरीरकी सर्व चेष्टाएँ—कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार—सम्पन्न होती हैं। इन क्रियाओंका निमित्त होनेसे रसको ओज भी कहा जाता है।

रसधातु पूर्वोक्त कर्म करनेके लिये व्यानवायु द्वारा विक्षिप्त होकर सर्वाङ्गव्यापी होते हुए भी हृदयको ही उसका स्थान कहा जाता है। कारण उसके द्वारा और वहींसे इसका विक्षेप (फेंका जाना) होता है[2]। रसका स्थान हृदयको माननेका चिकित्सामें साक्षात् प्रयोजन यह है कि जो भाव (पदार्थ) हृदयको पीडित करते हैं वे तदन्तर्गत रसधातुको भी क्षीण करते हैं। यथा, जब मनुष्यका हृदय

आना और फिर श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि (देखिये आगे 'नाभिस्थः प्राणपवनः' आदि शार्ङ्गधर-वचन), हृदय द्वारा रस-रक्तका सारे शरीरमें परिभ्रमण और पुनः हृदयमें लौट आना तथा ऐसी ही अनेक सूक्ष्म वस्तुओंको यथवत् साक्षात् किया था, उनको हृदय और उससे निकलनेवाली वाहिनियोंका प्रत्यक्ष न हुआ हो, यह माना ही नहीं जा सकता। यह सर्वथा शक्य है कि उनकी अलंकारप्रिय बुद्धिने इस दृश्यको



उरोगुहाका चौड़ाईकी दिशामें छेदन। हृदय तथा उससे संबद्ध वाहिनियोंके चक्रकी नाभि तथा अरोंके तुल्य स्वरूपपर ध्यान दीजिए चित्र—२५

चक्रका रूप देकर हृदयको नाभि नाम दिया हो। इस प्रकार एक-एक नामका अनेक वस्तुओंके लिये व्यवहार प्राचीन वाङ्मयमें अपूर्व नहीं है। इसी विषयके 'प्राण-अपान' शब्द इस सम्बन्धमें उदाहरण-भूत हैं। इनका विचार आगे श्वासक्रियाके प्रकरणमें किया है। 'ओज' शब्द भी उदाहरणत्वेन उपस्थित किया जा सकता है।

१—प्री (ञ्) तर्पणे धातु।
२—ऐसे प्रसंगोंमें स्थानका अर्थ जाननेके लिये देखिए पृ० ४२३।

अत्यधिक शोक, चिन्ता[१], ईर्ष्या, उत्कण्ठा (कामेच्छा), भय, क्रोध, त्रास आदिसे अभिभूत रहता है तो उसका हृदय-स्थायी रसधातु भी क्षीण (क्षयको प्राप्त) होता है, जिससे परम्परया अन्य धातुओंका भी क्षय होकर पुरुष शोष (राजयक्ष्मा) का ग्रास[२] होता है[३]। उधर, सन्तत ज्वरादिके कारण अन्य अवयवोंके समान हृदय भी दुर्बल होता है, जिससे उसमें स्थित मन भी दीन हो जाता है—पुरुषमें मृत्यु-भय आदि विकार देखे जाते हैं। तब बृंहण (रसधातुकी वृद्धि करनेवाले) द्रव्योंके अतिरिक्त प्रवाल आदि हृदयके लिये सविशेष बल्य द्रव्योंका सेवन कराया जाता है। साथ ही गोष्ठी भी उत्साहवर्धक हो, इसपर ध्यान दिया जाता है।

हृदयसे प्रसृत हुआ, यह रस सर्वधातुओंका पोषक होनेपर भी उनका रक्तादि क्रमसे पोषण करता है। इस विषयमें केदारीकुल्या आदि तीन न्यायोंका उल्लेख पहले कर आये हैं[४]। इस दृष्टिसे रक्तकी पुष्टि इसका प्रथम कर्म है।

अवयवादिका पोषणकर रस पुनः सिराओं द्वारा हृदयको ही लौट आता है। इस प्रकार यावज्जीवन शरीरमें सिराओं द्वारा इसका चक्रवत् परिवर्तन (परिभ्रमण) होता रहता है। रस शब्द गत्यर्थक 'रस' धातुसे बना है, जो इसकी अविराम गतिका द्योतक है। इसकी यह गति जीवनके हेतुभूत पूर्वजन्मके कर्मोंके वश होती है। शरीरमें उसकी गति (समता, क्षीणता और वृद्धिरूप अवस्थात्रय) तज्जन्य विकारोंको देखकर अनुमानसे जानी जाती है। यथा, हृदयमें[५] पीडा, कम्प आदिसे उसकी क्षीणताका, उत्क्लेद (वमनकी प्रतीति)[६] आदिसे वृद्धिका तथा ऐसी कोई विकृति न होनेसे समताका अनुमान होता है।

इसके स्नेहन, जीवन, तर्पण, धारणादि सौम्य कर्मोंको देखकर रसको कफके समान सौम्य धातु माना जाता है, पित्तके समान आग्नेय नहीं। (अन्य शब्दोंमें—रसकी गणना कफ-वर्गीय द्रव्योंमें की जाती है।)

नव्य क्रियाशारीरमें रसधातु—

सामान्यतया रसधातुका अर्थ पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रमें जिसे 'लिम्फ'[७] कहते हैं, वह समझा जाता है। लिम्फ वह द्रव्य है, जो केशिकाओंसे रिसता है और धातुओंको पोषक द्रव्य तथा ओषजन पहुँचाता है। इसका स्वल्प भाग केशिकाओंके उन प्रान्तोंमें चला जाता है, जो सिराओंके

१—Anxiety—एंग्ज़ाइटी।

२—देखिये च० नि० ६।८, च० चि० ८।२४; सु० उ० ४१।१८ (यक्ष्माका निदान)।

३—आधुनिकोंने भी चिन्ताको क्षयका प्रमुख कारण कहा है। गणनासे विदित हुआ है कि सबसे न्यून पुष्ट होनेपर भी भिक्षुकोंमें यह रोग उतना नहीं होता। कारण उनकी सर्वथा चिन्ताशून्यता है। एवं, मुस्लिम पुरुषोंकी अपेक्षया (स्त्रियोंकी बात मैं नहीं कहता) हिन्दू पुरुषोंमें यह रोग विशेष होता है। कारण कुटुम्ब-भारजनित चिन्ता है। उधर, मुस्लिम स्वभावतः चिन्ताको फेंक देनेकी वृत्तिवाले होते हैं। क्षय होनेपर तो वे और निश्चिन्त हो जाते हैं, जब कि हिन्दू और घबरा जाता है तथा उसके स्वजन, इष्ट-मित्र उसकी घबराहटमें और वृद्धि कर रोगको भी बढ़ाते हैं।

४—देखिये पृ० २५, ३९७-४११।

५—हृदय-प्रदेश (Precordial region—प्रीकॉर्डीअल रीजन, हृदयसे व्याप्त स्थान) से अभिप्राय है।

६—उबकाई, Nausea—नॉशीआ।

७—Lymph; पर्याय—Tissue fluid—टिश्यु-फ्लुइड।

उद्गमस्थान होते हैं। शेष—अधिकांश—रसायनी नामक विशेष स्रोतों द्वारा गृहीत होकर अन्तमें हृदयकी समीपवर्तिनी सिराओंमें पहुँचता है और पुनः रक्तका अङ्ग बन जाता है। इसमें धातुपाक-जन्य द्रव्य, मुख्यतया जल और अङ्गाराम्ल, मिश्रित होते हैं। उदरकी रसायनियोंमें आहारके परिपाकवश उत्पन्न स्नेह-कण भी प्रविष्ट होते हैं[1]। 'लिम्फ' में रक्तके कोष-रक्त तथा श्वेत···कण और चक्रिकाएँ[2]—नहीं होते।

विशेष विचारसे विदित होता है कि, रक्तरस, जिसे पाश्चात्य क्रियाशारीरमें 'प्लाज़्मा'[3] कहते हैं, उसका भी समावेश रसधातुके अन्तर्गत करना चाहिये; प्रत्युत कहना चाहिये कि रक्तरस ही आयुर्वेदका यथार्थ रसधातु है। रक्त नामसे प्रसिद्ध द्रव धातुका कोषों—रक्त और श्वेत कणों तथा चक्रिकाओंसे भिन्न जो द्रवांश है, उसे प्लाज़्मा कहते हैं। स्पष्टताके लिये इसे 'रक्तरस' नाम दिया गया है।

रक्तरसको आयुर्वेदका रसधातु माननेमें कारण यह है कि, आयुर्वेदमें रसधातुका जो वर्णन है, वह आधुनिकोंके रक्तधातुसे अत्यधिक साम्य रखता है। हृदयसे प्रतिक्षण सर्वत्र विक्षेप; अवयवों, दोषों, धातुओं तथा मलोंका धारण-पोषणादि कर्म, शरीर और मनके सर्व व्यापारोंका निमित्त होना, अतएव 'ओज' नामसे उसका व्यपदेश होना; ये कर्म करके अन्तमें हृदयमें प्रत्यागमन और चक्रवत् परिवर्तन—रस धातुका यह कर्म केवल 'लिम्फ' पर घटित नहीं होता किन्तु रक्तके कोषातिरिक्त अंश 'प्लाज़्मा' पर ही सविशेष चरितार्थ होता है। यही द्रव केशिकाओंसे रिसकर 'लिम्फ' नाम धारण करता है। प्रसिद्ध रक्तके शेषांश—कोषों—में रक्तकणोंका कर्म ओषजन तथा अङ्गाराम्लका वहन, और श्वेत कणोंका कर्म जीवाणु-नाशन मात्र है। चक्रिकाओंका कार्य रक्तके स्कन्दन में भाग लेना माना जाता है। सो कोषोंका धारण-पोषणादि कर्म न होनेसे शेष द्रव भाग अर्थात् प्लाज़्माको रस धातु मानना होगा।

लिम्फ प्लाज़्माका ही रूप है। दोनों की रचना[4] समान होती है—समान ही द्रव्य समान ही अनुपात में दोनों के निर्माणमें भाग लेते हैं। भेद केवल उनके प्रमाण में होता है। कारण, प्रोटीनें स्थूलता के कारण शीघ्र क्षरित न हो सकने से 'प्लाज़्मा' की अपेक्षया 'लिम्फ' में उनका प्रमाण किंचित् न्यून होता है[5]।

१—उदरकी रसायनियों द्वारा स्नेहका ग्रहण तथा हृदयकी ओर उसकी गति जाननेके लिये देखिये—पृ० २७७ तथा ३६१-६२।

२—Platelets—प्लेटलेट्स।

३—Plasma.

४—Composition—कम्पोज़ीशन।

५—प्रमाण के लिए देखिये—From the manner of its formation we would expect lymph to have approximately the same composition as the fluid which filters through the capillary walls, i. e., to contain water and most solutes in about the same proportion as they exist in plasma, but considerably less protein. ✻✻ The principal conclusion to be drawn from these data is that the ionic pattern of the lymph is similar to that of the plasma, all the differences being in a direction which can be accounted for by the lower protein content of the lymph and the existence of a Donnan equilibrium between lymph and plasma (Text-book of Physiology By Howell, 1946, P. 623)

तथा—From what has been said regarding its formation lymph is like blood plasma in composition, but diluted so far as its protein constituents are concerned. This is due to the fact that proteins do not pass readily through membranes. The salts are similar to those of blood-plasma, and are present in about the same

'प्लाज़्मा' आयुर्वेदका रसधातु ही होनेसे उसे रक्तद्रव आदि नामान्तर न देकर रक्त-रस कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

प्रसिद्ध रक्तगत रक्तकण आयुर्वेद के रक्तधातु हैं। आयुर्वेदमें रसधातुके समान रक्तको गौरव न दिया जाना तथा नव्य क्रिया-शारीरमें भी रक्तकणों का ओषजन और अङ्गाराम्लके वहनके अतिरिक्त कर्म-विशेष (पोषणादि रूप) न होना इस दिशामें इङ्गित करता है।

रक्तरस (प्लाज़्मा) रक्तधातु (रक्तकणों) का वाहन है—यह इस प्रसंगमें समझ लेना चाहिए।

रक्तसार (रक्तधातु की विशेष प्रमाण में वृद्धि—देखिये आगे रक्ताधिकार) पुरुषोंका आयुर्वेदमें जो वर्णन—मुखादिका रक्तवर्ण और स्निग्ध होना आदि किया गया है वह नव्य क्रियाशारीरके 'प्लेथोरिक'[१] पुरुषों के वर्णन से साम्य रखता है। इसमें रक्तकणोंकी ही जन्मसिद्ध वृद्धि होती है। यह साम्य भी आधुनिकोंके रक्तकणों और प्राचीनोंके रक्तधातुके अभेदका द्योतक है।

रसका अर्थ रक्तरस लिया जाय तो संहिताओंमें आये 'रसवह स्रोत' शब्दका अर्थ प्रायः आधुनिकोंके 'रक्तवह स्रोत'[२] लेना होगा[३]। इस ग्रन्थमें मैंने इसी दृष्टिसे प्रायः 'रस-रक्त' तथा 'रस-रक्तवह' स्रोत इन शब्दोंका व्यवहार किया है।

सिराओं (रस-रक्तवह स्रोतों) का प्रतान

शाखा-विस्तार—

सप्त सिराशतानि भवन्ति, याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः। तासां नाभिर्मूलम्। ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च। × × ×। तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्। तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति। तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः। एवमेतानि सप्त शिराशतानि। × × ×।

---

proportions. Chlorides, however, are more abundant in lymph than in blood. The waste products, such as carbonic acid and urea, are also more abundant, and water is added by the combustion of hydrogen. (Handbook of Physiology and Biochemistry, By Mcdowall, 1950, P. 165-6).

१—Plethoric. २—Blood-vessels—ब्लड-वेसल्स।

३—इसी अध्यायमें ऊपर धृत वचनोंमें आये 'रसवह स्रोत, सिरा और धमनी' का यही अर्थ लेना उपयुक्त है।

लसीका शब्दका शुद्धार्थ—"यत्तु (उदकं) त्वगन्तरे व्रणगतं लसीका शब्दं लभते (च०शा० ७।१५)" इस चरक-वाक्यसे लसीका नाम व्रणके स्राव (रक्त के स्कंदनके कारणभूत फाइब्रिन नामक प्रोटीन, तथा उसमें संसक्त कोषोंके अतिरिक्त रक्तका द्रवांश) का है, जिसे सीरम (Serum) कहा जाता है। अतः रसधातुके अर्थमें इस शब्दका व्यवहार न करना चाहिए। पाश्चात्य सुप्रचलित लसीका चिकित्सा (Serum-Therapy—सीरम थैरेपी) आदि शब्दोंके भाषान्तरके लिए यह शब्द सुरक्षित रखना चाहिए।

नहि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलाः सिराः।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां मूर्च्छितानां प्रधावताम्।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः॥
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात्॥
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः[1]॥

सु० शा० ७।३,६, १६-१८।

तासामणुशोऽपरिसंख्यातानामपि भूयस्त्वाश्रयां समुदायसंख्यां निर्दिशन्नाह—सप्तेत्यादि। तासां सर्वासामपि सामान्यं कर्म निर्दिशन्नाह—याभिरित्यादि। जलहारिणीभिः प्रणालीभिः, कुल्याभिः कृत्रिमाल्पसरिद्भिः। एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्। उपस्निह्यते पुष्टिं नीयते तरुणानां शरीरम्। वृद्धानां शरीरपरिणामात् तेनोपस्नेहेन शरीरं याप्यते। उक्तं च—'स एवान्नरसो वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति (सु० सू० १४।१६)' इति। अनुगृह्यते परिपाल्यते। आकुञ्चनादिभिरित्यत्रादिशब्दाद् भाषणस्वप्नावबोधादयो गृह्यन्ते। सिराणां सूक्ष्मविशेषप्रदर्शनाय दृष्टान्तमाह—द्रुमेत्यादि। प्रताना विस्ताराः। × × प्राकृतवातादिवहानामपि सिराणां सर्वत्र सर्वकार्योपलम्भात् सर्ववहत्वं दर्शयन्नाह—नहि वातमित्यादि। इदानीं प्रकुपितवातादिवहानामपि सिराणां सर्ववहत्वं दर्शयन्नाह प्रदुष्टानामित्यादि। मूर्च्छितानामिति परस्परं मिश्रितानामित्यर्थः। सिराविभक्तिं प्रतिपाद्य तद्वर्णविभक्तिं प्रतिपादयन्नाह—तत्रेत्यादि॥ —डल्हन

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्॥
स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु॥

अ० हृ० शा० ३।१८-१९

× × × स्थूलमूलत्वेन तासां व्यानवायुविक्षिप्तो रसः शीघ्रमेव चान्तः प्रविशति। सूक्ष्मप्रान्तत्वेन रोमराज्यामभ्यन्तः प्रविश्य तेषां रोम्णां वृद्धिहेतुः संपद्यते। × × ×॥ —अरुणदत्त

शरीरका धारण-पोषणादि करनेवाली अणु सिराएँ (रस-रक्तवह स्रोत) सूक्ष्म होनेसे अपरिसंख्येय हैं। तथापि अपेक्षया स्थूल सिराएँ सब मिलकर सात सौ होती हैं। जैसे पत्तोंकी एक मूल सिरा होती है, जिसकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म शाखा-प्रशाखा (प्रतान) होती हैं, वैसा ही शाखा-विस्तार इन सिराओंका भी होता है। इनका मूल (उद्भव स्थान) नाभि (हृदय) है। यहाँ से ये अरोंके सदृश ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् निकलकर फैलती हैं। नाभिसे निकलनेवाली मूल सिराएँ कुल चालीस होती हैं। इनमें दस वातवाहिनी होती हैं—ये वातप्रधान स्थानोंमें पोषक रस पहुंचाती हैं, जिससे वातकी पुष्टि होती है। पित्तवाहिनी सिराएँ भी दस होती हैं—ये पित्तप्रधान स्थानोंमें पोषक रस

१—इस प्रकार के ४,५ श्लोक ऊपर टिप्पणीमें, ७ वाँ गद्य मूल ग्रन्थमें तथा ८-१५ श्लोक वातादिके प्रकरणमें यथास्थान देखिये।

पहुंचाती हैं, जिससे पित्तकी पुष्टि होती है। कफवाहिनी सिराएं दस होती हैं—ये कफप्रधान स्थानोंमें पोषक रस पहुँचाती हैं, जिससे कफकी पुष्टि होती है। रक्तवाहिनी सिराएँ भी दस होती हैं। ये रक्तप्रधान स्थानोंमें—यकृत् और प्लीहामें—पोषक रस पहुँचाती हैं, जिससे रक्तकी पुष्टि होती है। प्रत्येक दोषकी पोषक दस मूल सिराओंका शाखा-विस्तार होकर पचहत्तर-पचहत्तर सिराएं बनती हैं, जो सब मिलकर सात सौ होती हैं[1]। उद्यानकी पुष्टि जैसे नालियोंसे और खेतकी पुष्टि नीकोंसे होती है, वैसे स्थूल और अणु शिराओंसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी पुष्टि होती है।

यों वातादिप्रधान स्थानोंमें वातादि-दोषवाहक सिराओंको वातादिका पोषक होनेसे वातवाहिनी, पित्तवाहिनी आदि नाम दिये हैं, परन्तु सत्य स्थिति यह है कि, प्रत्येक सिरा प्रत्येक दोष तथा रक्तके पोषक रसका वहन करती है—अतः प्रत्येक सिरा सर्ववह है। इसके सिवाय जब किसी दोषका प्रकोप[2] होता है तब भी वह दोष प्रत्येक सिरा द्वारा वाहित होकर स्थानविशेषमें विकारोत्पत्ति करता है। इस दृष्टिसे भी प्रत्येक सिरा सर्ववह है[3]। समावस्थामें ये दोष पूर्व प्रकारसे अपनी-अपनी शिराओंमें वहन करते हुए तत्-तत् प्राकृत कर्म द्वारा शरीरमें आकुञ्चन, प्रसारण, भाषण, निद्रा, जागरणादि क्रिया करते हैं। वही प्रकुपित होकर शरीरावयवोंमें निज-निज विकार उत्पन्न करते हैं।

वातवह सिराएं अरुणवर्ण और वायुपूर्ण होती हैं। पित्तवह सिराएं उष्ण-स्पर्श और नीलवर्ण होती हैं। कफवह सिराएं शीत और गौर-वर्ण होती हैं। रक्तवह सिराएं न अति उष्ण और न अति शीत तथा रोहिणी (रोहित-लोहित-वर्ण) होती हैं।[4]

रसके दो भेद—

द्विविधो रसः-स्थायी पोषकश्चेति। × × स्थायिरसपोषकरसभागयोः स्थान-भेदाद्यभावादेकत्वम् ॥ च० चि० १५।१७ पर—चक्रपाणि

१—अष्टाङ्ग हृदयके ऊपर धृत वचनमें मूल सिराएं दस कहकर उनका इसी प्रकार सात सौ की संख्यामें शाखा-विस्तार तथा कर्म कहा है। इससे स्पष्ट है कि, वहाँ प्रत्येक दोषकी दस-दस मूल शिराएं अभिप्रेत हैं। चरक, भेल आदिके ऊपर धृत तथा अन्य वचनोंमें जहाँ हृदय या नाभिसे दस सिराएं या धमनियां निकलती कही हैं वहाँ प्रत्येक दोष तथा रक्तकी दस-दस पृथक्-कुल मिलाकर चालीस-सिराएं अभिहित समझनी चाहिये। इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता।

२—प्रकोप-दोषोंका अपनी वृद्धि या संचयके स्थानसे अपने निर्गमन-द्वारसे न निकलकर तिर्यक् या विपरीत गति (उन्मार्ग गमन) करके स्थान-विशेषमें संश्रयकर रोगोत्पत्ति करना—देखिये आगे।

३—धातुवह स्रोतोंका अर्थ—वातादि दोषवह सिराका जो अर्थ स्वयं संहिताकारने दिया है, उससे तत्तद्धातुवह स्रोतका अर्थ भी समझा जा सकता है। ग्रन्थोंमें जो मांसवह, अस्थिवह, मेदोवह इत्यादि धातुवह स्रोतों (केशिकाओं) का निर्देश होता है, (जैसे च० वि० अ० ५ में) वहाँ मांस धातु प्रधान अवयवमें मांसपोषक रस पहुँचाने वाला स्रोत, अस्थिप्रधान अवयवमें अस्थिपोषक रस पहुँचाने वाला स्रोत, इत्यादि अर्थ ग्रहण करना चाहिए। 'स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः (च० चि० ८।३९)' में भी 'यथास्वेन स्रोतसा—अपने-अपने स्रोतसे' का यही आशय है।

४—नीला और रोहिणी—कई विद्वान् चारों प्रकारकी सिराओंसे आधुनिकोंके संपूर्ण रस-रक्तवह संस्थानका ग्रहण करते हैं। वे कफवह सिराओंका अर्थ, उनको गौर कहा होनेसे, 'लिम्फेटिक्स' (Lymphatics) कहते हैं; पित्तवहका अर्थ, उन्हें नील कहा होनेसे, 'वेन्स' (Veins), एवं वातवह तथा रक्तवहका अर्थ, उन्हें रक्त वर्ण तथा वायुपूर्ण कहा होनेसे, 'आर्टरीज़' (Arteries) कहते हैं—

रसके दो भेद हैं : स्थायी और पोषक। इनमें पोषक रस वह है जो आहारके परिपाकसे उत्पन्न होता है तथा जिसका उत्पत्ति-क्रम पिछले अध्यायोंमें बताया है। इसे इसी कारण अन्नरस भी कहते हैं। स्थायी रसका परिचय संक्षेपमें निम्न है :

तिर्यग्गाणां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यते। तास्त्वसंख्येयाः। ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च। तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च। तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपवीर्याण्यन्तः शरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि। तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा गृह्णीते। × ×।

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते[1] ॥ सु० शा० ९।९-१०

× × गवाक्षितं जालकैरिव व्याप्तम्। अन्तः अभ्यन्तरे। यैर्मुखैः सम्यक्परिणताहाररसवाहिभिः। संतर्पयन्ति सर्वतस्तर्पयन्ति। बहिश्च संतर्पयन्ति 'त्वचम्' इति शेषः। तैरेव चाभ्यङ्गादीनां वीर्याणि त्वचि भ्राजकेनाग्निना विपक्वानि शरीरान्तः प्रविशन्ति। तैरेव मनोऽनुगतैः सुखासुखरूपं स्पर्शं कर्मात्मा गृह्णीते। ताः सर्वाङ्गगताः स्पर्शग्रहणायाधिकृतत्वात् तद्गतं मनोऽपि सर्वाङ्गस्रोतोगतमेव × × ॥

—डल्हन

स्रवणात् स्रोतांसि[2] ॥ च० सू० ३०।१२

हृदय या नाभिसे निकलनेवाली धमनियोंमें दस ऊपर, दस नीचे तथा चार सारे शरीरमें प्रसृत होती हैं। इन चार धमनियोंमें प्रत्येककी सैकड़ों-हजारों शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। इस प्रकार असंख्य इन शाखाओं द्वारा इन धमनियोंसे यह शरीर सब ओरसे व्याप्त और बद्ध होनेसे शरीरमें

देखिये घाणेकरी सुश्रुत-व्याख्या। इसीसे महाराष्ट्रीय लेखक 'नीला' शब्दका प्रयोग 'वेन्स' के लिए तथा 'रोहिणी' शब्दका प्रयोग 'आर्टरीज़' के लिए करते हैं। शब्द अपनाने योग्य हैं।

१—सिरा और धमनी अब तक वैद्योंके विवाद-विषय बने हैं। सिराओंके ऊपर जो चार भेद दिखाये हैं वे केवल अशुद्ध रक्तका वहन करते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता। उलटे उनमें रसवाहिनियोंका भी समावेश हो गया है। फिर, धमनी नामसे किस द्रव्यके वाहक स्रोतोंका ग्रहण है, यह प्रश्न है। कई विद्वान् (यथा डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री गङ्गाधर शास्त्री जोशी) धमनीका अर्थ 'नर्व' करते हैं। मैं स्वयं इस विषयमें निश्चित नहीं हूँ। म० म० गणनाथ सेनजी सिराका अर्थ 'वेन' तथा धमनीका अर्थ 'आर्टरी' करते हैं। यही मत, कम-से-कम नवीन शारीरका अनुवाद करते हुए, विशेष प्रचलित है। ऊपर धृत वचनमें धमनीका अर्थ 'आर्टरी' तथा उनकी शाखाओंका अर्थ धमनिका और केशिका लिया है। यह वचन जिस अध्यायका है, उसमें आये धमनी शब्दका अर्थ जो विद्वान् 'नर्व' करते हैं, वे इस अध्यायमें सर्वत्र जहाँ-जहाँ अमुक धमनी अमुक कर्म करती है ऐसा कहा है वहाँ (अन्तर्भावितण्यर्थ मानकर) अमुक कर्म कराती है—अमुक कर्म करनेके लिए उचित अवयवको प्रेरणा देती है, यह अर्थ करते हैं। परन्तु इस अध्यायके प्रारम्भमें हमने जो सु० सू० १४।३ वचन उद्धृत किया है, उसमें धमनियोंका कर्म स्पष्ट ही रसका वहन लिखा है। शायद वहाँ भी ये विद्वान् वहनका अर्थ वहन कराना करते हैं।

२—व्यानवायुके कर्म 'स्वेदासृक्स्रावणः' (सु० नि० १।१८) में आये 'रक्त-स्रावण'का अर्थ भी केशिकाओंसे रक्तका रसरूपमें स्रवण किया जाता है।

इनकी स्थिति जालीके समान होती है। रोमकूपों तक इनके अन्तिम प्रतान गये होते हैं, जहाँ ये स्वेद (स्वेदरूपमें निकलनेवाले मल द्रव्यों) के वहनका कर्म करते हैं। इन शाखा-प्रशाखाओं द्वारा ये धमनियाँ शरीरके सर्व भागोंमें रसका वहन कर उसकी (रसकी) सर्वत्र पुष्टि करती हैं। यही शाखाएँ त्वचापर अभ्यङ्ग, परिषेक (ऊपरसे औषध द्रव्य छोड़ना), अवगाह (औषध द्रव्योंके क्वाथ आदिसे भरी द्रोणी[1] में सारे शरीर या रुग्ण अङ्गको रखना), लेप आदिमें प्रयुक्त द्रव्योंके वीर्य[2] का ग्रहण करती हैं। इस वीर्यका त्वचामें स्थित भ्राजक पित्त द्वारा पचन (शरीरोचित रूपान्तरमें परिणमन) होकर वह रस धातुमें पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार बाहर त्वचाकी ओरसे भी ये धमनियाँ रसकी पुष्टि करती हैं। इन धमनियों द्वारा सुख-दुःखजनक विषयोंका स्पर्शसे अनुभव भी आत्माको होता है।

धमनियोंके प्रतानोंमें वैसे ही छिद्र होते हैं, जैसे कमल और कमलनाल (भिस) में। कमल तथा बिस (भिस) के छिद्रोंसे जैसे तत्तत् द्रव्य बाहर जाते तथा जलगत द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होते हैं वैसे इन प्रतानोंसे रसका स्रवण तथा अभ्यङ्गादिगत द्रव्योंका ग्रहण होता है।

इन प्रतानोंसे स्रुत हुए द्रव्यको स्थायी रस या उसके धातुपोषक होनेसे धातुरस कहते हैं। दोनों रसोंके स्वरूप, स्रोत तथा कर्मोंका ऐक्य होनेसे दोनों एक ही हैं। केवल आहार-रसमें पोषक अंश विशेष होनेसे उसे पोषक रस तथा इतर रस रक्त आदि धातुओंके समान शरीरका स्थिर अंश होनेसे उसे स्थायी रस कहा जाता है। पोषक रस भी अल्पकालमें ही स्थायी रस बन जाता है।

नव्यमतानुसार धमनियोंके अन्तिम प्रतान जिन्हें केशिका कहा जाता है, केवल एक वृत्ति (आवरण, दीवाल) से बने होते हैं। इनके तनुत्व (पतलेपन) के कारण इनसे सूक्ष्म पोषक द्रव्य तथा ओषजन रिसता रहता है। इस द्रव्यसे धातुओंके घटक कोष अपनी-अपनी रचना और कर्मके अनुरूप द्रव्य ग्रहण कर लेते तथा धातुपाक-जन्य द्रव्योंको इसमें छोड़ देते हैं। यह रस वहन-क्रमसे पुनः हृदयमें पहुँच जाता है।

शरीरमें रसके भ्रमणका कारण—

हृदयसे उत्तरोत्तर सूक्ष्म सिराओंमें (रक्तवाहिनियोंमें), वहाँसे धातुओंमें और वहाँसे पुनः स्थूल होती हुई सिराओं द्वारा हृदयमें रस-रक्तका आजन्म संचरण भौतिक शास्त्रके अमुक नियमोंके अधीन होता है। सुश्रुतने रसके संचरणकी प्रक्रियाका अल्प परन्तु उत्तम वर्णन किया है :

स (रसः) शब्दार्चिर्जलसंतानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ॥

सु० सू० ४।१६

दृष्टान्तत्रयेण शरीरे रसगतिं त्रिधा दर्शयन्नाह—स शब्दार्चिर्जलसंतानवदित्यादि। × अणुना विशेषेण सूक्ष्मप्रकारेण। अनुधावति संचरति। एवं शब्दो नियमार्थः। शरीरं केवलं सकलमित्यर्थः × × ×[3] ॥

—डल्हन

१—Tub—टब। २—क्रियाशील अंश; Active principle—एक्टिव प्रिन्सिपल।

३—आगे टीकामें डल्हनने तीन दृष्टान्तोंका यह अर्थ दिया है : शब्द के समान रसकी तिर्यक् (पार्श्वोंमें), अर्चि (ज्वाला) के समान ऊर्ध्व दिशामें तथा जलके समान अधो दिशामें गति होती है। उसीने आगे एकीय तथा गयदास द्वारा दूषित (खण्डित) मत दिया है : शब्दादि दृष्टान्त अग्निभेदसे रससंचरणका वेग प्रदर्शित करते हैं। तीक्ष्णाग्नि पुरुषोंका रस शब्दके प्रवाहके समान वेगसे (उत्तरोत्तर धातुओंके आशयमें) परिभ्रमण करता है, जिससे उनमें आठ ही दिन में रस शुक्रमें परिणत हो जाता

शब्द, ज्वाला और जलके प्रवाहके सदृश सूक्ष्म प्रकारसे रस शरीरमें सदा अनुधावन (संचरण) किया करता है। (आशय यह है कि, आघातजन्य शब्दकी तरंगें जैसे अपनेसे अगली-अगली तरङ्गको पीडित करती हुई—दबाती हुई—शब्दको चतुर्दिक् प्रसृत कर देती हैं वैसे ही प्रवाह-गत रस के पिछले-पिछले अंशसे अगले-अगले अंशका पीडन होकर उसकी (रसकी) धातुओंके प्रति प्रगति होती है। एवं, ज्वालामें जलते हुए द्रव्यका जो अंश जल जाता है उसका स्थान स्वभावतः द्रव्यका अगला अंश ले लेता है। इसी प्रकार धातुओं द्वारा रसके जिस अंशका उपयोग हो चुकता है उसका स्थान अन्य रस आकर ले लेता है; अपरञ्च, जिन प्राकृतिक नियमों के अधीन जलका बाह्य द्रव्योंमें संसरण होता है उन्हींके अनुसार रसका भी संसरण शरीर धातुओंमें होता है।)

है। मन्दाग्नि पुरुषोंका रस (इन आशयोंमें) मन्द गतिसे संचार करता है, जिससे उनमें एक मासमें रस धातु शुक्रताको प्राप्त करता है। मध्याग्नि पुरुषोंका रस (धात्वाशयोंमें) मध्य गतिसे परिभ्रमण करता है, अतः उनमें दोनोंके मध्यवर्ती कालमें रसका शुक्र बनता है।

इस सूत्रकी टीकामें चक्रपाणिने यह पिछला ही अर्थ इन तीन दृष्टान्तोंका किया है। उसे डल्हनकृत प्रथम अर्थ अभिमत नहीं है। देखिये :

तत्र शब्दसंतानवदित्यनेन तिर्यग्गामित्वं रसस्योक्तम्, अर्चिःसन्तानवदित्यनेनोर्ध्वगामित्वं, जलसंतानवदित्यनेनाधोगामित्वमिति। केचिदन्यथा व्याख्यानयन्ति—'शब्दादिदृष्टान्तत्रयेण तीक्ष्णमध्यमन्दाग्नयो निर्दिष्टाः। शब्दसन्तानवत् तीक्ष्णाग्नीनां रसः संचरन्ति, अर्चिःसन्तानवन्मध्याग्नीनां, जलसंतानवन्मन्दाग्नीनां' इति। तेन तीक्ष्णाग्नीनामष्टाहेनैव रसः शुक्रीभवति, मन्दाग्नेर्मासेनैव। अयमर्थो गयदासाचार्येण बहुधा दूषितः। दीप्ताग्नेस्तु किंचिन्न्यूनेन मासेन शुक्रं भवति, मन्दाग्नेस्तु किंचिदधिकेन मासेनेत्ययमर्थो न्याय्य इति।
—डल्हन

ननु तन्त्रान्तरे अष्टाहाच्छुक्रोत्पत्तिरुक्ता, यदुक्तं पराशरे—'आहारोऽग्यतनो यः स द्वो रसत्वं नियच्छति। शोणितत्वं तृतीयेऽह्नि चतुर्थे मांसतामपि। मेदस्त्वं पञ्चमे षष्ठे त्वस्थित्वं सप्तमे त्वियात्। मज्जत्वं शुक्रतां यायान्नियमात्त्वष्टमे नृणाम्' इति॥ चरकेऽप्युक्तम्—'षड्भिः केचिदहोरात्रैः केचित् सप्तभिरेव च। इच्छन्ति मुनयः प्रायो रसस्य परिवर्तनम् (च० चि० १५।२१) इति। तदेतदाशंक्याह—'स शब्दार्चिर्जलसंतानवदित्यादि'। यदेतन्मासेन रसस्य शुक्रत्वाभिधानं तत् पराकाष्ठया ज्ञेयम्, अर्वागपि त्वग्निप्रकर्षस्रोतःशुद्धिप्रकर्षाद् रसस्य शुक्रतोत्पत्तिर्भवति। यदुक्तं चरके—'संतत्या पोष्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् (च० चि० १५।२१)' इति। अत्र हि चक्रस्य वाह्यवाहकप्रकर्षापकर्षाभ्यां यथा परिवृत्तिः शीघ्रं चिरेण वा भवति तथा रसस्यापीति वाक्यार्थः। तेनेहापि शब्दवदनुसरतीत्यनेन मध्यः परावृत्तिक्रम उच्यते; अर्चिर्वदित्यनेन शीघ्रः, अर्चिःसन्तानो हि शब्दसंतानादपि शीघ्रः; जलसंतानवदित्यनेन चातिमन्दः परो मासेन परावृत्तिरूपः क्रम उच्यते। तथाऽन्यत्राप्युक्तम्—'केचिदाहुरहोरात्रात् षडहादपरे परे। मासात् प्रयाति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति'। अणुना विशेषेणेति सूक्ष्मेण सूक्ष्मबुद्धिगम्येनेति यावत्। यच्छब्दसंतानवत् तिर्यग्गनं रसस्य, अर्चिःसंतानवच्चोर्ध्वगमनं, जलसंतानवच्चाधोगमनमुच्यते तच्छब्दस्य सर्वदिग्गामित्वादनुपपन्नम्। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनं च रसस्य 'स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीः (सु० सू० १४।३), इत्यादिनोक्तम्॥
—चक्रपाणि

कई आधुनिक व्याख्याकार इस वाक्यमें आये दृष्टान्तोंका यह अर्थ करते हैं : ज्वालाके संतान (प्रवाह) के समान वेगसे रसका वहन धमनियों में होता है, शब्दके संतानके समान कुछ मन्द गतिसे सिराओंमें तथा उससे भी मन्द केशिकाओं में। (देखिये घाणेकरी सुश्रुतटीका तथा निर्णयसागरी सुश्रुत)।

ऊपर की व्याख्या मेरी अपनी है।

सुश्रुत द्वारा संक्षेपतः कथित रसानुधावनकी प्रक्रियाका आधुनिक क्रियाशारीरमें उत्तम विस्तार उपलब्ध होता है। थोड़े में उसका निरूपण करते हैं।

रसके संवहन-सम्बन्धी नियम

हृदय आदि द्वारा पीडन— शरीरमें रसधातुके संवहनका आदिस्थान प्राचीनोंने हृदयको कहा है, यह अध्यायके आरम्भ में दिये वचनोंसे विदित होगा। प्राचीनोंके 'रस' शब्दसे आधुनिकोंका रक्तका द्रवांश (प्लाज़्मा) तथा लिम्फ दोनों गृहीत हैं यह भी ऊपर कहा जा चुका है[1]। सो जीवनकालमें हृदयके पीडनसे तदन्तर्गत रस-रक्त पीडित होकर बाहर निकलता है—कुछ अंश विशुद्ध्यर्थ फुफ्फुसाभिगा धमनियों द्वारा फुफ्फुसोंको तथा अधिकांश महाधमनी[2] द्वारा शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गको जाता है। इन धमनियोंमें पहुँचा यह रक्त इनमें पहलेसे विद्यमान रक्तको पीडितकर आगे धकेलता है; वह भी अपनेसे अगले रक्तको। इस प्रकार सारे रस-रक्तवह संस्थानमें रस-रक्त पीडनकी अमुक मर्यादामें रहता है। पीडनकी यह मर्यादा[3] सम प्रमाणमें रहे तभी तत्-तत् अवयवके कोषोंमें रस-रक्त योग्य प्रमाणमें जा सकता है और वे अपना कर्म समतासे कर सकते हैं। यथा, पीडनकी समताके कारण वृक्क मूत्रका विसर्जन और स्रावी ग्रन्थियाँ अपना-अपना स्राव स्वस्थोचित प्रकारसे कर सकती हैं।

प्राचीनोंने रक्तक्षय[4]का एक लक्षण सिरा-शैथिल्य[5] कहा है। उसका अर्थ पीडनकी मर्यादा न्यून होना[6] ही है। सिरा-शैथिल्यका प्रमुख कारण आधुनिकोंने भी यही (रक्तके प्रमाणकी अल्पता) कहा है। मांसक्षयका भी एक विपरिणाम धमनी-शैथिल्य[7] कहा गया है। उसका अर्थ यह है कि, पेशियोंमें स्थित मांसधातुकी क्षीणताके सदृश हृदय तथा धमनियोंके घटक मांसधातु[8]के भी क्षीण हो जानेसे ये अवयव दुर्बल हो जाते हैं, जिससे उनका पीडन उतना नहीं रह जाता। आधुनिकोंने भी पीडन (रक्तदाब) न्यून होनेका एक अन्य प्रमुख कारण हृदयकी शिथिलता या दुर्बलता कहा है।

हृदयके पीडनके समान श्वासक्रियामें उदर तथा उरमें होनेवाला पीडन भी रस-रक्तको हृदयकी ओर धकेलता है। कर्म करते हुए पेशियोंसे हुआ पीडन तथा मर्दन, चम्पी आदिका बाह्य पीडन भी सिराओं और रसायनियोंको पीडित कर आगे धकेलता है। अतएव पक्षाघात पुराना हो जाय तो चेष्टानाशके कारण रसका पीडन और हृदयकी ओर यह गति यथावत् न होनेसे तदन्तर्गत जलधातुका क्षरण और सञ्चय होकर शोथ[9] होता है। आचार्योंने इस शोथको असाध्य कहा है।

१—रस शब्दके इस अर्थपर मैं विशेष भार देना चाहता हूँ। कई पण्डित रक्तके द्रवांश (प्लाज़्मा) को कफ-विशेष (अवलम्बक) कहते हैं।

२—एक विद्वान्ने अंग्रेजी 'एओर्टा' की अनुकृतिमें तथा इसकी गोल आकृतिको देखकर महाधमनीको आवर्ता नाम दिया। शब्दमें स्वारस्य है। इसका अपनाया जाना मुझे पसन्द होगा।

३—Blood-Pressure—ब्लडप्रेशर।

४—Anaemia—एनीमिया। एनीमियाका शुद्ध पर्याय रक्तक्षय है। पाण्डुरोग भिन्न रोग है जिसमें त्वचा आदिमें पीतता किंवा अन्य पित्त-वर्ण आ जाते हैं। प्रायः एनीमिया और पाण्डुरोगको पर्याय समझा जाता है।

५—देखिये सु० सू० १५।९

६—Low Blood Pressure—लो ब्लड प्रेशर या Hypotension—हायपोटेंशन।

७—देखिये, सु० सू० १५।९

८—प्राचीनोंने भी हृदयको मांसपेशीमय कहा है। देखिये आगे।

९—पक्ष-शोथ ; Unilateral Oedema—यूनिलेटरल इडीमा।

क्षुद्रान्त्रों एवं रसाङ्कुरिकाओंका घटक मांसभाग तथा स्वयं रसायनियोंकी दीवारें भी रसको निपीडित करती हैं। रसकुल्याओंमें श्वासक्रियाका भी यही प्रभाव होता है। कई प्राणियोंमें रसको प्रगति देनेके लिये रस-हृदय[१] भी होते हैं[२]।

इस प्रकार उत्तरोत्तर पीडनसे रसकी जो सर्वत्र गति होती है, उसे सुश्रुतने शब्दवत् इस शब्दसे सूचित किया है।

रसके अनुधावन-सम्बन्धी अन्य नियम समझनेके लिए कोषोंके भीतर-बाहर द्रव्योंके प्रवेश तथा निर्गमनके भौतिक और रासायनिक नियम समझ लेना आवश्यक है।

पृष्ठगत आकर्षण[३]—कोषोंका स्वरूप बताते हुए कह आये हैं कि कोषमें किनारे पर स्थित सायटोप्लाज़्म ही कुछ घन होकर कोषके चारों ओर एक पतली त्वचा या दीवार (कोट) बनाता है[४]। इसे प्लाज़्मेटिक मेम्ब्रेन[५] कहते हैं। सायटोप्लाज़्म के घनीभाव से यह दीवार बननेका कारण भौतिक शास्त्रका एक नियम है, जिसे पृष्ठगत आकर्षण कहते हैं। संक्षेपमें इसका निर्देश करते हैं।

स्वरूपकी दृष्टिसे द्रव्य तीन प्रकारके हैं—घन या ठोस[६], द्रव[७] तथा वायु या गैस[८]। वायव्य द्रव्यों की एक विशेषता यह होती है कि उनके अणुओं[९] में परस्पर किंचिन्मात्र भी आकर्षण नहीं होता। परिणामतया उन्हें बन्द पात्र से मुक्त करें तो उनके अणु अति वेगसे भिन्न-भिन्न दिशाओंमें उड़ जाते हैं। घन द्रव्योंके अणु, इसके विपरीत, परस्पर प्रबल आकर्षणके कारण, ताप, पीडन आदि अन्य शक्तियों की उनपर क्रिया न हो तो, द्रव्यों को एक आकृति में बाँधे रखते हैं। द्रव पदार्थोंके अणु वायुओंके समान स्वच्छन्द नहीं होते, पर उनमें घन द्रव्यों के अणुओं जितना आकर्षण भी नहीं होता। परिणाममें, किसी द्रवको जिस पात्रमें रखा जाय उसके अनुरूप ही आकृति उसकी हो जाती है। तथापि द्रवोंके अणुओंमें परस्पराकर्षण न्यून भी नहीं होता। ताप द्वारा इन अणुओंके परस्पर आकर्षणको पराजित कर उन्हें वायु-रूप करनेमें जो ताप लगता है, उससे इस आकर्षणकी कल्पना की जा सकती है।

पात्रगत द्रवका प्रत्येक अणु एक दूसरे को खेंचता है। अर्थापत्तिसे इसी बातको यों भी कह सकते हैं कि द्रवके ऊपरके पृष्ठका प्रत्येक अणु अन्दरके प्रत्येक अणु द्वारा प्रबल भाव से खेंचा जाता है। इस खेंच या आकर्षणको पृष्ठगत आकर्षण कहते हैं। इस आकर्षणके कारण द्रवोंके पृष्ठपर तनी हुई स्थिति-स्थापक कला बन जाती है। पृष्ठगत इस आकर्षणका प्रभाव किसी द्रवके स्वतन्त्र बिन्दु-पर—यथा वृष्टिकण, पारेके बिखरे कण अथवा मद्यसार (अलकोहल) और जलके मिश्रणमें डाले हुए तैल-बिन्दुपर—सविशेष देखा जाता है। द्रवके बिन्दु-तुल्य आकृति ग्रहण करनेका कारण यह होता है कि, पात्रकी दीवार आदिके समान कोई बाह्य-शक्ति नहीं होती जो द्रव-कण पर क्रिया करनेवाले पृष्ठगत आकर्षणको पराभूत करे एवं इस आकर्षणके अधीन आकृति धारण करनेसे द्रवको रोक सके। परिणाम यह होता है कि, द्रवके कणके बाह्य-पृष्ठके अणुओंपर अन्दरके सभी अणुओंका अपनी ओर (अन्दरकी ओर) खिचाव होनेसे वह छोटेसे छोटे पृष्ठके अन्दर समा जाता है और छोटे-से-छोटा पृष्ठ बिन्दुरूपमें ही होता है।

१—Lymph-heart—लिम्फ-हार्ट।
२—इन विषयोंका विस्तार आगे रक्त-प्रकरणमें देखिये।
३—Surface Tension—सर्फेस टेन्शन।
४—देखिये पृ० १४९।
५—Plasmatic membrane.
६—Solid—सॉलिड।
७—Liquid—लिक्विड।
८—Gas.
९—Molecule—मॉलीक्यूल।

पृष्ठगत आकर्षणके इस नियमके अनुसार प्रत्येक जाङ्गम (प्राणिवर्गीय) कोषके चारों ओर जो उल्लिखित प्लाज़्मेटिक मेम्ब्रेन का आवरण बनता है उसके घनत्वकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका प्रभाव उसमें तथा उससे द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमनपर एवं परिणामतथा रसधातुके संवहनपर भी पड़ता है ; परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य भी कारण हैं, जो कोषोंमें रसके प्रवेश-निर्गम तथा शरीरमें रसके संवहन पर प्रभाव डालते हैं। संक्षेपमें उन्हें देख लें।

विलयन (घोल[1]) के प्रभेद—द्रव्य जबतक विलयन या घोलके रूपमें न हो तबतक उनका कोषमें जाना-आना नहीं हो सकता। शरीरमें (और बाहर भी) जल अन्य द्रव्योंकी अपेक्षया अधिक संख्यामें घन, द्रव तथा वायव्य द्रव्योंका विलायक (घोलनेवाला) है। शरीरमें इसका प्रमाण ६० से ६५ प्र० श० है। विलीन (घुले) द्रव्यके विलयनकी पूर्णता या अपूर्णता के अनुसार विलयन दो प्रकारका है—पूर्ण[2] तथा अपूर्ण[3]। जिन द्रव्योंके स्फटिक सुगमतासे बन जाते हैं उन्हें यदि जल या उनके अन्य विलायकमें छोड़ा जाय—जैसे शर्करा या लवणको जलमें—तो, उनके अणु जलमें पूर्णतया घुलकर एकरस हो जाते हैं। इनका यह विलयन पूर्ण कहाता है। ऐसे विलेय द्रव्योंको 'क्रिस्टलॉयड'[4] कहा जाता है। जिन द्रव्योंके स्फटिक नहीं बन सकते, अथवा बनते हैं तो बहुत कठिनाईसे उन्हें कोलॉयड[5] नाम दिया गया है। प्रोटीन, प्रगुण शर्करा[6] आदि द्रव्य—तथा सुविदित द्रव्योंमें गोंद, रबर, जेली आदि-इस श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

'कोलॉयड' द्रव्योंकी विशेषता यह होती है कि : एक तो जैसा कि ऊपर कहा, इनके स्फटिक[7] नहीं बन सकते, अथवा बनते हैं तो बहुत कठिनाईसे ; उनके घोल प्रकाशका प्रतिक्षेप नहीं करते[8] ; ये प्रायः 'जेली'[9] बनानेकी प्रवृत्ति रखते हैं; ताप तथा अन्य परिस्थितियोंके प्रभावसे ये जम जाते हैं[10] (अधिकांश प्रोटीनोंमें इस प्रकार जमनेका स्वभाव होता है); इनकी स्मरणीय विशेषता इनकी स्थूलता—अप्रवेश्यता[11]—होती है—इनके कण पूर्ण विलेय द्रव्योंकी अपेक्षया स्थूल होते हैं—यद्यपि इतने स्थूल नहीं कि अणुवीक्षणके नीचे देखे जा सकें ; इनकी स्थूलताका कारण यह होता है कि या तो इनके पृथक् अणु[12] ही बहुत बड़े होते हैं किंवा इनके कण अनेक अणुओंके मिलनेसे बने होते

१—Solution-सॉल्युशन। २—True solution—ट्रू सॉल्युशन।

३—Colloidal solution-कोलॉयडल सॉल्युशन। ४—Crystalloid—क्रिस्टलॉयड।

५—Colloid—कोलॉयड। ६—Polysaccharides—पॉलीसेकेराइड्स ; देखिये पृ० १९९।

७—Crystal—क्रिस्टल। ८—ऐसे घोलों आदि को opalascent ओपेलेसेण्ट कहते हैं।

९—Jelly-योजक धातु (कनेक्टिव टिश्यु ; देखिये पृ० १७२) के तन्तु जिस प्रोटीन-तुल्य द्रव्यके बने होते हैं, उसे कोलेजन (Collagen) कहते हैं। उबालनेसे यह जिलेटिन (Gelatin)—नामक प्रोटीन सदृश द्रव्यमें परिणत हो जाता है। जिलेटिन की यह विशेषता होती है कि गर्म जलमें बनाया इसका घोल जब ठंढा होता है तो यह एक पिच्छिल (लेसदार) और स्थितिस्थापक द्रव्यमें परिवर्तित हो जाता है। इस द्रव्यको जेली (एक प्रकारका मुरब्बा) कहते हैं। विभिन्न फलों अथवा मांसरसको जमाकर इस प्रकार जेली तैयार की जाती है। विदेशोंमें इसका आहार रूपमें, विशेषतः रोगियोंके लिए, बहुत प्रयोग होता है। कोलेजन अविलेय तथा जिलेटिन विलेय (यद्यपि अपेक्षया कुछ गुरु) होती है।

१०—जमनेके लिए अंग्रेजी शब्द Coagulate—कोएग्युलेट।

११—प्रकृत अर्थमें स्थूल शब्दके व्यवहारके लिए स्मरण कीजिए आयुर्वेदोक्त सूक्ष्म-स्थूल शब्दोंके लक्षण।

१२—Molecule—मॉलीक्यूल।

हैं ; स्थूलताका परिणाम यह होता है कि ये गटापर्चा[1] के आरपार नहीं जा सकते; इनकी जलाकर्षण शक्ति[2] न्यून होती है।

आयुर्वेदमें सूक्ष्म और स्थूल द्रव्यों का अर्थ बताते हुए कहा है कि सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म स्रोतोंमें भी प्रविष्ट होनेका सामर्थ्य रखते हैं ; स्थूल द्रव्योंमें यह विशेषता नहीं होती। यहाँ स्रोत शब्दको व्याप्त करके उसका कोष अर्थ लेना योग्य है। अस्तु।

कोलॉयड द्रव्योंके घोल पुनः दो प्रकारके होते हैं ; सॉल[3] तथा जेल[4]। यथा, जिलेटिनका घोल घरके तापांशका हो तो वह द्रवावस्थामें होता है। इस घोलको सॉल[5] कहते हैं। परन्तु तापांश कुछ न्यून हो तो यह अर्ध-घन हो जाता है। तब इसे जेल[6] कहते हैं। प्रोटोप्लाज़्म[7] जेलीके सदृश द्रव्य है। कारण, इसका अधिकांश कोलॉयडल घोल होता है। कोषका सायटोप्लाज़्म[8] सामान्यतः सॉल दशामें तथा उसका बाह्य आवरण (प्लाज़्मेटिक मेम्ब्रेन) जेल अवस्थामें होता है। दोनों की दोनों अवस्थाएँ परस्पर परिवर्तित होती रहती हैं। यह परिवर्तन तापसे भिन्न पदार्थोंसे भी होता है। परिणामतया, बाह्य आवरण कभी अंशतः टूटता और फिर जुड़ता रहता है।

ऊपरके विवरणसे हम देख सकते हैं कि रस-रक्तमें विलीन द्रव्योंके केशिकाओंसे स्रुत होने एवं कोषोंमें प्रविष्ट होने तथा कोषोंसे निकलने और पुनः सिरिकाओं या रसायनियोंमें प्रविष्ट होनेका एक आधार उनका सूक्ष्म होना—पूर्णतया सॉल घोलके रूपमें विलीन होना है। प्रायः विलीन हुए द्रव्यों का अन्य भी एक सूक्ष्म रूपमें विभजन होता है। इन सूक्ष्म कणोंको आयन[9] कहते हैं।

आयन—आयन किसी विलयन या घोलमें स्थित द्रव्यके उन कणोंका नाम है जो धन[10] अथवा ऋण[11] किसी भी विद्युत्से आविष्ट हों। जलमें विलेय कई द्रव्योंका स्वभाव होता है कि वे इस प्रकारके कणोंमें विभक्त हो जाते हैं। कणोंके भिन्न-विद्युदाविष्ट होनेका परिणाम यह होता है कि इनमें विद्युद्धारा प्रवाहित हो सकती है। शुद्ध जल उदजनके दो तथा ओषजनके एक अणुके मिलनेसे बनता है। उदजन (एच) तथा उदजन-ओषजन (ओ-एच) के रूपमें विभक्त कण अत्यल्प होने से यह विद्युत्का उत्तम वाहक नहीं है। जलमें यदि शर्करा घोली जाय तो यह घोल भी विद्युत्का वैसा ही अवाहक रहता है। कारण, शर्करा आयनोंके रूपमें विभक्त नहीं होती ; परन्तु शर्कराके स्थानमें खानेका लवण घोला जाय तो घोलमें विद्युत् प्रवाहितकी जा सकती है। भौतिक शास्त्र पढ़कर आये विद्यार्थीके लिए यह विषय नवीन नहीं है। लवणके इस प्रकार आयनोंमें विभजनको आयनीभाव[12] कहते हैं। अधिकांश अम्ल[13], भस्म[14], तथा लवण[15] इस प्रकार आयनीभावकी प्रवृत्ति रखते हैं।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि समासोंका आयनीभाव होता है तो विभजन परमाणुओंके रूपमें ही होता है। बहुत वार अणु-पुञ्ज ही आयनोंके रूपमें विभक्त होते हैं। यथा, गन्धकाम्लके आयनी-

---

१—Parchment membrane—पार्चमेण्ट मेम्ब्रेन ; बकरी, मेढ़ा, बछड़े आदिकी त्वचाके बनाये पतले पत्र (पर्दे)।

२—Osmotic pressure—ऑज़्मोटिक प्रेशर देखिये आगे।

३—Sol.

४—Jel.

५—अंग्रेजी शब्द सॉल्यूशनका अंश।

६—अंग्रेजी शब्द जेलीका अंश।

७,८—देखिये पृ० १४८।

९—इनका कुछ विचार पृ० २११ पर भी किया है।

१०—Positive—पॉज़िटिव।

११—Negative—नेगेटिव।

१२—Dissociation—डिसोसिएशन अथवा Ionization आयोनाइज़ेशन।

१३—Acid—एसिड।

१४—Base—बेज़।

१५—Salt—सॉल्ट। एसिड आदि संज्ञाएँ विज्ञानमें विशिष्टार्थमें परिभाषित हैं।

भावमें एक ओर उद्जनके आयन होते हैं तथा दूसरी ओर गन्धकके एक तथा ओषजनके चार अणुओंसे मिले SO_4 इस पुञ्जके आयन होते हैं।

जो आयन धन-विद्युत्से आविष्ट होते हैं, उन्हें कैट-आयन[1] कहते हैं। कारण, वे अपनेसे विपरीत ऋण-ध्रुवों[2] की ओर आकृष्ट होते हैं। ऋणविद्युदाविष्ट आयन अपनेसे विपरीत धन ध्रुव[3]के प्रति आकृष्ट होनेसे एन-आयन[4] कहलाते हैं।

जो पदार्थ आयनोंमें विभक्त होने एवं विपरीत विद्युत्से आविष्ट आयनोंके विपरीत ध्रुवकी ओर जानेके स्वभावके कारण विद्युत्के प्रवाहको प्रवृत्त करनेके स्वभाव वाले होते हैं, उन्हें इलेक्ट्रोलाइट[5] कहते हैं। यह आयनीभाव कई द्रव्योंका पूर्ण और कइयोंका अपूर्ण होता है। शरीरके द्रव-द्रव्योंमें ऐसे इलेक्ट्रोलाइट विलीन होते हैं, अतः वे विद्युत्के वाहक हैं।

शरीरमें आयनोंके रूपमें पदार्थोंके विभजनका अन्य परिणाम आज्मोटिक प्रेशर या जलाकर्षण शक्ति[6] पर होता है। आयनोंके रूपमें विभजन होनेका अर्थ यह होता है कि रस-रक्तादि द्रव-द्रव्योंमें संचार करनेवाले, एवं कोषोंमें जाने-आनेवाले कणोंकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है, जिससे उनकी जलाकर्षण शक्ति भी बढ़ जाती है। आगे 'ऑज़्मोटिक प्रेशर' के प्रसंगमें आयनीभावका यह महत्त्व स्वयं विशद होगा।

कोषोंके आवरण सभी द्रव्योंको अपनेमें प्रविष्ट नहीं होने देते—किसीको प्रविष्ट होने देते हैं, किसीको नहीं—अर्थात् वे अर्ध-प्रवेश्य[7] होते हैं। इसकी भी अंशतः व्याख्या आयनीभावसे की जा सकती है। स्पष्टताके लिए एक उदाहरण लें। रक्तकणोंमें धन आयन प्रविष्ट नहीं होने पाते। ऋण आयनोंका प्रवेश उनमें हो सकता है। यदि हम मान लें कि, उनके आवरणोंके बनानेवाले कोलॉयडल आयन धन विद्युत्से आविष्ट होते हैं तो--समान विद्युदाविष्ट द्रव्य समान विद्युदाविष्टको धकेलते हैं। इस नियमसे--उसमें होकर रक्तकणमें ऋण विद्युदाविष्ट एवं आवेश-रहित कण तो जा सकते हैं, धन-विद्युदाविष्ट नहीं। अन्य परिणाम इसका यह होता है कि, किसी भी स्थानमें विद्युत्का साम्य[8] रहना आवश्यक होनेसे रक्त कणमें एक ऋण कण जाता है तो दूसरा वैसा ही कण उससे बाहर निकलता है।

चेतना-कृत विवेचन[9] (स्वीकार और त्याग)—कोषों तथा उनसे बने केशिका आदि स्रोतों द्वारा द्रव्योंके ग्रहण और उत्सर्जनके कुछ नियमोंका उल्लेख ऊपर किया है। कुछका आगे किया जायगा। इन नियमोंके निर्देशका यह अर्थ नहीं कि, कोषों तथा स्रोतोंमें द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमकी सभी घटनाओं की व्याख्या इन नियमोंके आधारपर की जा सकती है। वस्तुतः, कई बार इनकी सहायतासे द्रव्योंके प्रवेश और निर्गमका समाधान शक्य नहीं होता। ऐसी स्थितियोंमें कहा जाता है कि, कोई चेतना-कृत विवेचन (स्वीकार और अस्वीकार) की क्रिया है, जिसके आधारपर अमुक कोष, स्रोत या अन्तःस्रावों तथा मलों (यथा मूत्र) की उत्पादिका ग्रन्थियाँ अमुक द्रव्यका ग्रहण करती हैं तथा अमुकका त्याग। आधुनिक क्रियाशारीरवित् जब इस संज्ञाका प्रयोग करते हैं, तब वे ऐसी किसी क्रिया या शक्तिको स्वीकार करते हों, सो बात नहीं। उनका अभिप्राय ऐसे प्रसंगोंपर यही होता है कि, इन प्रसंगोंकी व्याख्या वे ज्ञात तथा वर्णित नियमोंके आधारपर संप्रति

१—Kat-ions. २—Kathode—कैथोड, या Negative pole—नेगेटिव पोल।
३—Anode—एनोड, या Positive pole—पाज़िटिव पोल। ४—An-ion.
५—Electrolytes. ६—Osmotic pressure—देखिये पृ० २३१ तथा इसी अध्यायमें आगे।
७—Semi-permeable-सेमी-परमीएबल। ८—Neutrality—न्यूट्रलिटी।
९—Vital action—वायटल एक्शन।

करनेमें अशक्त हैं। पृष्ठ २०६ की पाद-टिप्पणीमें 'चेतनवाद और यन्त्रवाद' शीर्षकके नीचे इस प्रकारके कुछ उदाहरण दिये हैं। उनमें प्लीहाके कोषोंद्वारा अमुक ही रक्तकणोंके निगिरण (कवलन, ग्रास) और विच्छेदन तथा शेषकी उपेक्षाकी भी गणना की जा सकती है।

प्रसरण[1]—द्रव्य घन, द्रव या वायव्य किसी भी स्थितिमें हो, उसके घटक अणु[2] निरन्तर गतिमें रहते हैं। घन द्रव्योंमें अणुओंकी चारों ओर गति यद्यपि बड़े वेगसे होती रहती है, तथापि उनको जोड़नेवाली शक्ति बलवत्तर होनेसे इन अणुओंको परस्पर जोड़े रखती है। द्रव्य द्रव हो या तापद्वारा द्रव बना दिया जाय तो उसमें अणुओंकी गति व्यक्त हो जाती है। भिन्न जातीय द्रवोंको (यथा, साधारण जल तथा खाँडके जलमें घोलको) एक पात्रमें रखा जाय तो अपने अणुओंकी गतिके कारण कुछ कालमें दोनों द्रव मिलकर समान स्वरूपवाला द्रव बन जायगा। द्रव्य वायव्य हो, किंवा द्रव द्रव्यको तापवश वायव्य रूप दे दिया जाय तो अणुओंकी यह गति व्यक्ततर हो जाती है। अमोनिया अथवा अन्य गन्धवान् वायव्यको मकानके एक कोनेमें छोड़ा जाय तो अल्पकालमें ही वह अपने अणुओंकी गतिके कारण सारे मकानमें व्याप्त हो जायगा। द्रव्योंकी इस गतिके वश उनके अणु जो स्थानान्तरमें पहुँचनेकी क्रिया करते हैं, उसे प्रसरण कहते हैं।

द्रव्योंके प्रसरणके इस नियमकी यह निसर्गसिद्ध विशेषता है कि, घनत्व[3] (अणुओंका निचय) जिधर अधिक होता है, उधरसे अणुओंकी गति उस दिशामें होती है, जिस प्रदेशमें उनका घनत्व या निचय न्यून होता है। प्रसरण स्वभावतः तबतक चालू रहता है, जबतक दोनों प्रदेशोंमें घनत्व समान न हो जाय।

शरीरमें ओषजन और अङ्गाराम्ल (कार्बन-डाई-ऑक्साइड) वायुओंका प्रवेश और निर्गम प्रसरणके नियमानुसार होता है। फुफ्फुसोंके वायुकोषोंमें ओषजनका निचय अधिक होता है, जहाँसे वह उनके चतुर्दिक् स्थित केशिकाओंमें प्रसृत होता है। इसके विपरीत, अङ्गाराम्लका निचय वायुकोषोंमें न्यून तथा केशिकाओंमें अधिक होता है। अतः, वह प्रसृत होकर केशिकाओंसे वायुकोषोंमें तथा वहाँसे बाहर जाती है। धातुओंमें दोनों वायुओंका अनुपात इससे भिन्न होता है, जिससे वे केशिकाओंसे ओषजनका ग्रहण करते हैं तथा अङ्गाराम्लका उनमें (केशिकाओंमें) उत्सर्जन करते हैं।

परिपक्व द्रव्य इसी नियमानुसार केशिकाओंसे कोषोंमें जाते तथा मलद्रव्य उनसे केशिकाओंमें जाते हैं।

निर्गलन[4]—घनत्वकी न्यूनाधिकताके अतिरिक्त दोनों ओर पीडन (दबाव) की न्यूनाधिकता के कारण भी द्रव द्रव्य एक ओरसे दूसरी ओर जा सकते हैं। पात्रपर छारण-पत्र[5], स्याहीचूस, कपड़ा आदि रखकर ऊपरसे कोई द्रव छोड़ें तो द्रवपर अन्तरिक्ष (वायुमण्डल) का तथा द्रवके निचले स्तरोंपर ऊपरके स्तरोंका पीडन होनेसे वे पीडित होकर छारण-पत्र आदिमेंसे प्रसृत हो जायँगे—चू जायँगे। इस क्रियाको निर्गलन (छनना) कहते हैं। क्योंकि, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, केशिकाओंमें पीडन धातुगत द्रव (धातु रस) की अपेक्षया अधिक होता है, अतः जल तथा रक्तमें विलीन कतिपय द्रव्य निरन्तर केशिकाओंकी भित्तियोंसे निर्गलित होकर (रिसकर) धातुरसमें मिलते रहते हैं।

१—Diffusion—डिफ़्यूजन।
२—Molicule—मॉलीक्यूल।
३—Concontration—कॉन्सेंट्रेशन।
४—Filtration—फिल्ट्रेशन; छनना।
५—Filter-paper—फिल्टर पेपर।

प्रवेश्यता[१]—ऊपरके वर्णनसे स्पष्ट है कि, निर्गलनके लिए मध्यमें व्यवधान (पर्दा) ऐसा होना चाहिए जो न्यूनाधिक प्रवेश्य[२] हो—द्रव्यको अपनेमेंसे प्रसृत होने दे ऐसा हो। निर्जीव व्यवधानोंकी प्रवेश्यताका कारण उनकी सच्छिद्रता[३] है। परन्तु कोषोंका बाह्य आवरण अथवा केशिकाओंकी भित्तियाँ तो निर्जीव नहीं हैं। उनमें द्रवोंका प्रसरण सच्छिद्रताके सिवाय अन्य भी कारणोंसे होता है। इन कारणोंमें एक चैतन्यका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। कुछ ही ऊपर यह भी कह आये हैं कि, दूसरी ओर विद्युत्के आवेशकी भिन्नता हो तो द्रव्य अन्दर प्रविष्ट होते हैं या बाहर निकलते हैं; आवेशका साम्य हो तो दूर धकेले जाते हैं। यह भी कह आये हैं कि, प्रसरण के लिए द्रव्योंका सूक्ष्म (प्रवेश-क्षम) होना अनिवार्य है। प्रोटीनें कोषोंमें प्रविष्ट नहीं हो सकतीं, पर उनके पक्व रूप—एमाइनो एसिड प्रविष्ट हो सकते हैं। महास्रोतमें आहार द्रव्योंके पाक (जरण) का एक प्रयोजन उन्हें सूक्ष्म रूप देना—प्रवेशक्षम बनाना है।

कोषोंमें पृष्ठगत आकर्षण तथा उनके कारण बना बाह्य आवरण स्थिर स्वरूपका हो तो उसमें द्रव्योंका यथावत् प्रवेश नहीं हो सकता। इसके सिवाय, कई कोषोंकी कुछ क्रियाएँ उनसे निकलनेवाली शुण्डाओं (देखिये—पृ० १५२) के अधीन होती हैं। ये शुण्डाएँ तभी निकल सकती हैं जब पृष्ठगत आकर्षण उचित कालपर न्यून हो जाय। पृष्ठगत आकर्षण न्यून होना सुगम होता है; कारण, स्नेह तथा लिपाइड[४] नामक स्नेह-सदृश द्रव्य, जो प्रकृत्या पृष्ठगत आकर्षणको अति न्यून करते हैं वे, कोषके आन्तर भागकी अपेक्षया बाह्य आवरण (प्लाज़्मेटिक मेम्ब्रेन) में अधिकतर प्रमाणमें रहते हैं। बाहरकी ओर रहे ये द्रव्य धातुरसमें स्थित स्नेहके कणोंको थोड़ा-थोड़ा करके अपनेमें विलीनकर (घोलकर) कोषके अन्दर समाविष्ट कर देते हैं। यह स्थिति न होती तो, अपनी स्थूलताके कारण स्नेहकणोंका कोषोंके छिद्रोंमें प्रवेश शक्य न होता।

जलाभिसरण या जलाकर्षण—निर्गलनकी प्रक्रियामें द्रवके पारगमनका कारण पीडन है। स्याहीचूससे स्याही या अन्य द्रवके चूसने अथवा अंगोछेसे शरीरादि पोंछनेमें भी यही क्रिया होती है। परन्तु, पीडनके बिना भी द्रव द्रव्योंका पारगमन—मध्यवर्ती सच्छिद्र पर्देके एक पारसे दूसरे पार जाने की क्रिया होती है। उद्देश्य इसमें भी पर्दे या माध्यमके दोनों ओर स्थित द्रवोंमें द्रवोंका अनुपात (तारतम्य) सम बनाना होता है। शरीरमें या शरीरके बाहर माध्यम सच्छिद्र होना, घुले द्रव्य स्फटिक होने योग्य या कोलॉयड होना, स्फटिक योग्य हो तो आयनीभावसे उनका सूक्ष्मतर हो जाना, कोलॉयड हों तो उनके कणोंका प्रवेशक्षम सूक्ष्मता तक पहुँचा होना, अन्तमें—शरीरमें चेतनाकृत विवेचन तथा हृदय, पेशी आदिका पीडन—शरीरमें द्रव द्रव्योंके कोषों और स्रोतोंमें जाने-आनेके हेतु-भूत इन नियमोंका उल्लेख ऊपर हो चुका है; परन्तु—सभी सच्छिद्र माध्यम सभी द्रव्योंको आरपार नहीं जाने देते, विशेष कर शरीरमें सब ही द्रव्यों को समान शीघ्रतासे अपनेमें प्रविष्ट नहीं होने देते; यथा, मैगसल्फ स्फटिक-योग्य द्रव्य होने पर भी महास्रोत की भित्तियों द्वारा शीघ्र गृहीत होकर शरीरमें प्रसृत नहीं हो पाता। तथापि, प्रसरणके नियमानुसार ऐसी स्थितियोंमें भी शरीरमें या शरीरके बाहर घन या द्रव द्रव्योंका साम्य तो होता ही है। यह साम्य कैसे शक्य होता है?

एक परीक्षणसे इस बातको समझनेका प्रयत्न करें। एक पात्र लेकर उसके मध्यमें एक सच्छिद्रपर्दा रखकर उसे दो विभागोंमें विभक्त कर दें। पश्चात् एक विभाग, मानिये 'क' में केवल जल तथा दूसरे विभाग 'ख' में लवण-जल छोड़ दें। कुछ काल बाद दोनों विभागोंमें द्रवोंका मिलित

१—Permeability—पर्मिएबिलिटी। २—Permeable—परमिएबल।
३—Porosity—पोरोसिटी। ४—Lipide.

प्रमाण उतना ही होगा जितना परीक्षण प्रारम्भ करते हुए उनका मिलित प्रमाण था। साथ ही, दोनों द्रवोंमें लवणका प्रमाण सम होगा। जितना लवण लिया गया था, उसका अर्धार्ध प्रमाण दोनों विभागोंमें पाया जायगा। दोनों विभागोंके ऊपरी पृष्ठ भी समान होंगे; परन्तु प्रारम्भमें, 'ख' (लवण जल-युक्त) विभागमें द्रव द्रव्यका प्रमाण अधिक होगा। पृष्ठ भी, इसी कारण 'क' की अपेक्षया 'ख' के द्रवका ऊँचा होगा। कारण, एक ही कालमें लवणके जितने अणु 'ख' से 'क' में जा सकते हैं उनकी अपेक्षया जलके अधिक अणु 'क' से 'ख' में जाते हैं। माध्यममें होकर जलके जानेको जलाभिसरण (जलाकर्षण)[१] कहते हैं। जिन द्रव्योंका पारगमन होता है उनका उन द्रव्योंसे पृथक् होना, जिनका पारगमन संभव नहीं है, अंग्रेजीमें डायेलिसिस[२] कहाता है। उल्लिखित परीक्षणमें, प्रारम्भमें 'ख' विभागमें जलका आयात (जलाभिसरण) डायेलिसिसकी अपेक्षया अधिक होनेके कारण द्रवका पृष्ठ भी अन्य विभागकी तुलनामें उच्च होता है। यह अन्तर इस बातका सूचक है कि, लवणमें जलके आकर्षणकी इतनी शक्ति है। इस शक्तिको जलाभिसरणीय दवाव[३] कहा जाता है। इस शक्तिको दवाव कहना सार्थक है। नीचेके परीक्षणसे इस बातको जान सकते हैं।

लवणके सान्द्र घोलसे पूर्ण एक गुब्बारेमें एक पीडन-मापक (दवाव मापनेवाला)[४] यन्त्र रखकर, उसे (गुब्बारेको) परिस्रुत जल[५] से भरे पात्रमें रखें तो अभिसरणवश जल गुब्बारेमें आता है, जिससे वह फूलता है। आनेवाले जलके बढ़ते हुए दवावकी सूचना पीडन-मापक यन्त्रसे होती है।

ऊपर कहे प्रथम परीक्षणमें माध्यम लवणके लिए भी प्रवेश्य होनेसे लवणकी जलाभिसरण शक्तिका पूरा माप नहीं निकल पाता। इसके लिए ऐसे माध्यम बनाये जाते हैं जो जलको तो पार जाने देते हैं, लवणको नहीं। ऐसे अर्ध-प्रवेश्य[६] माध्यम ताम्रके फेरोसायनायड[७] द्वारा बनाये जाते हैं। एतदर्थ मट्टीके सच्छिद्र पात्रको प्रथम तुत्थ[८] से पश्चात् पोटाशियम फेरो सायनायडसे धोते हैं। दोनों द्रवोंके मिलनेसे बना अविलेय (न घुलनेवाला) ताम्रका फेरोसायनायड पात्रके छिद्रोंमें निक्षिप्त हो जाता है[९]।

क्रियाशारीरकी दृष्टिसे मैगसल्फके स्थानपर प्रोटीनका उदाहरण लिया जा सकता है। इन दो द्रव्योंके उदाहरणोंसे समझा जा सकता है कि, क्यों मैगसल्फ जलीय विरेचकका कर्म करता है, तथा क्यों प्रोटीन-बहुल आहार कई बार अतिसार उत्पन्न करता है। मैगसल्फ की प्रवेशक्षमता न्यून होने से प्रसरणके नियमानुसार अधिक जल महास्रोतकी भित्तियोंके कोषोंसे आकृष्ट होकर महास्रोतके विवरमें आता है। अति संचित यह जल भित्तियोंके मांससूत्रोंको पीडित करता है। पीडन, जैसा कि हम जानते हैं, अपकर्षणी गतिको उद्दीप्त करता है। अपकर्षणके उद्दीपनका परिणाम यह होता है कि पक्वाशयमें मल इतने समय नहीं रह पाता कि उसके द्रवांशका शोषण अन्त्र कर सकें। इसका परिणाम अतिसार होता है। प्रोटीन-बहुल आहार भी, अग्नि मन्द हो तो पच नहीं पाता—उसके कण एमाइनो एसिडोंके रूपमें समग्र परिणत न होने से प्रवेश-क्षम नहीं होते। परिणामतया वे जलका आकर्षण करते हैं, जो उक्त प्रकारसे अति मल प्रवृत्तिका हेतु होता है।

१—Osmosis—आज़्मोसिस। २—Dialysis.
३—Osmotic Pressure—ऑज़्मोटिक प्रेशर। ४—Manometer—मैनोमीटर।
५—Distilled Water—डिस्टिल्ड वाटर। ६—Semi permeable—सेमी परमीएबल।
७—Copper ferrocyanide—कॉपर फेरो सायनायड।
८—रासायनिक नाम—Copper sulphate—कॉपर सल्फेट।
९—जलाभिसरणके मापकी विधि विस्तारसे भौतिक शास्त्र तथा नव्य क्रियाशारीरके ग्रन्थोंमें देखिये।

द्रव्यों की जलाकर्षण शक्ति उनके द्वारा विरेचनके समान स्थान-भेदसे अन्य भी कर्म कराती है। द्रव्य प्राणवह स्रोतोंमें पहुँचें तो वहाँ जलका आकर्षण करते हैं। यह संचित जल स्थानीय वायुको कुपित करता है—कफ आदि बाह्य द्रव्यों को बाहर फेंकनेवाले नाड़ी-यन्त्रको क्षुभित करता है। परिणामतया, कासका वेग होकर चिपटा कफ भी जल के साथ निकल आता है। इस प्रकार ये द्रव्य कफहर[1] कर्म करते हैं। मूत्र यन्त्रमें जलका आकर्षण बढ़ाकर ये ही द्रव्य मूत्रविरेचन करते हैं। त्वचामें जलकी वृद्धिकर यही द्रव्य स्वेदल क्रिया करते हैं। शुक्रयन्त्रमें ऐसे द्रव्य पहुँच कर जलका प्रमाण बढ़ाकर शुक्रविसर्गकारी वायुको कुपित कर शुक्र की च्युति (स्वप्नदोष आदिके रूपमें) कराते हैं।

अमीबाको यदि शुद्ध जलमें रखें तो वह जी नहीं सकता। इसके शरीरगत कई द्रव्य इसके आवरणके आरपार नहीं जा सकते, परन्तु जल तो उसमें प्रविष्ट हो सकता है। जलका अतितर प्रवेश होकर अन्तर्गत दबाव इतना बढ़ जाता है कि उसके कारण कोष—अमीबा—फट जाता है। रसधातु यदि जलमात्र होता तो प्राणिकोषोंका जीवन भी इसी प्रकार अशक्य होता। परन्तु, जैसा कि विदित है, स्थिति यह नहीं है।

शरीरमें कितने ही द्रव्योंके जलीय घोल मध्यवर्ती कलाओं द्वारा एक दूसरेसे पृथक् रहते हैं। केशिकाओंके बनानेवाला आस्तरण रक्तको रससे पृथक् रखता है; वृक्कोंके मूत्रोत्पादक स्रोतोंके बनानेवाले आस्तरण मूत्रको रक्त और रससे पृथक् रखते हैं। अन्य स्रावी ग्रन्थियोंमें भी यही स्थिति होती है; महास्रोतकी भित्तियाँ पक्व या अपक्व अन्न तथा मलको केशिकाओं और रसायनियोंसे पृथक् करती हैं। धातुरस, मूत्र, अन्तःस्राव तथा बहिःस्रावोंकी उत्पत्ति और भोजनका अभिशोषण—इन सबमें तथा अन्य कई कार्योंमें ऊपर वर्णित नियमोंका अनुसरण होता है।

मुख्यतः प्रोटीनों (और अंशतः लवणों) की जलाभिसरण-शक्ति धमनीगत रक्तमें यथोचित द्रवत्व बनाये रखती है। प्रोटीनोंका कर्म देखते हुए इस विषयका विचार कर आये हैं[2]। प्रोटीनोंके धातुपाकसे धातुओंमें जो सरल द्रव्य बनते हैं वे—यूरीआ तथा उसके पूर्वरूप (पुरोगामी पदार्थ)[3], विविध सल्फेट, विविध फॉस्फेट—धातुओंसे इसमें त्यागे जाते हैं। रसमें इनका निचय[4] होनेसे उसकी जलाभिसरण शक्ति बढ़ती है। परिणामतया, रक्तसे जलका आकर्षण रसमें होता है, जिससे उसके प्रमाण तथा प्रवाहमें वृद्धि होती है। यह निचय रक्तकी अपेक्षया अधिक होनेपर ये द्रव्य रक्तमें प्रसृत होते हैं तथा उसके द्वारा अपने उत्सर्जक अवयवमें पहुँचाये जाकर शरीरसे बाहर कर दिये जाते हैं।

एक ओर अपने अन्तर्गत रक्तकी दूसरी ओर बाह्य रसकी परस्पर विरोधिनी जलाभिसरण शक्तिके कारण केशिकाओंमें दबावका साम्य रहता है। यह साम्य बड़ा सुकुमार होता है। दिनकी चेष्टाके कारण—जिसमें पैर प्रायः नीचे रहते हैं—पैरोंमें चेष्टोपयोगी होनेसे रक्तका आयात अधिक तथा निम्न स्थितिके कारण निर्यात न्यून होनेसे उनमें जलाभिसरण शक्ति अधिक हुई होती है। इसीसे सायं हमारे पैर प्रातःकी अपेक्षया स्थूलतर होते हैं। उधर कभी रक्तस्राव हो तो रक्तका विपुल प्रमाण केशिकाओंसे हृदयादि मर्मोंकी ओर गया होता है। इस प्रकार उनमें (केशिकाओंमें) रक्तका प्रमाण न्यून होनेसे उसका दबाव और जलाकर्षण शक्ति भी न्यून हो जाती है। इससे एक तो

१—Expectorent—एक्सपेक्टोरेण्ट। २—देखिये पृ० २३१-३२।

३—पूर्वरूप शब्द आयुर्वेद में अर्थविशेषमें रूढ हैं। Precursors—प्रीकर्सर्सके लिए भी इसे चलाया जा सकता है। समास न करते हुए।

४—Concentration—कॉन्सेण्ट्रेशन।

मर्मोंकी रक्षा होती है ; दूसरे रक्तका स्राव न्यून होता है ; तीसरे क्षत स्थानपर रक्तस्रावका प्रमाण और वेग अल्प होनेसे स्कन्दन (जमनेकी प्रक्रिया) सुलभ हो जाती है ।

अपतर्पण एवं पाण्डुरोगके कारण धमनीगत रक्तमें प्रोटीनके क्षय (ह्रास) के कारण शोथ होता है । यह पहले कह आये हैं[1] । वृक्कके रोगोंमें मूत्रमार्गसे प्रभूत प्रोटीन क्षरित होती है । ग्लोब्यूलीन[2] की अपेक्षया क्षुद्र परमाणु तथा अधिक जलाभिसरण शक्तिवाली प्रोटीन एल्ब्युमिन[3]का ही क्षरण इन रोगोंमें सविशेष होता है । साथ ही कोलॉयड द्रव्योंका भी नाश होता है । इससे रसकी अपेक्षया रक्तकी जलाभिसरण शक्ति न्यून होनेसे धातुकोषोंके अन्तरालमें—रसस्थानमें—रक्तसे जलका आयात अधिक होनेसे शोथ[4] होता है ।

किसी औद्भिद् अथवा जाङ्गम (प्राणियोंके) कोषके अन्तर्गत द्रव्योंके साथ तुलनामें जिस द्रवकी जलाभिसरण शक्ति अधिक हो उसे अंग्रेजीमें हायपरटॉनिक[5] कहते हैं । द्रवकी जलाभिसरण शक्ति न्यून हो तो उसे हायपोटॉनिक[6] कहते हैं । ऐसे द्रवमें अमीबा या रक्तकणोंको छोड़ें तो वे फूलकर अन्तमें फट जाते हैं । पूर्व द्रवमें इन्हें डालें तो ये जलका त्यागकर संकुचित हो जाते हैं। रक्तकण दन्तुरित (दाँते निकले हों ऐसी आकृतिवाले) हो जाते हैं[7] । जो द्रव अपनी जलाभिसरण शक्ति कोष-गत द्रव्योंके समान होनेसे उक्त एक भी कर्म नहीं करते, उन्हें आयसोटॉनिक[8] कहते हैं[9]; यथा नॉर्मल सेलाइन[10] ।

उपसंहार— आयुर्वेदमें संक्षेपसे शरीरमें रस-रक्तके संचारके जो सूत्र बताये गये हैं ; उनका यह नव्यमतानुसार विवेचन है । अब समय है कि, थोड़ेमें प्राचीन-अर्वाचीनकी तुलना कर देखें ।

शब्दका प्रसरण अन्दर-अन्दरकी लहरियों द्वारा बाहर-बाहरकी संनिहित (निकटवर्ती) लहरियोंके पीडनसे होता है । सो यह प्रसरण पीडन-कृत होनेसे इसका तथा निर्गलन (फिल्ट्रेशन) का साम्य स्पष्ट देखा जा सकता है । स्पन्दमान हृदय द्वारा धमनी-गत रस-रक्तका अविरत पीडन, कर्मकालमें पेशियों द्वारा सिरागत रसरक्तका पीडन, अन्त्रोंकी तत्-तत् चेष्टावश पयस्विनियोंका पीडन तथा कई प्राणि-जातियोंमें रसको प्रगति देनेके हेतु अपवाद-रूपेण विद्यमान रस-हृदयों[11] द्वारा रसका पीडन होनेसे अन्तको केशिकाओंमें स्थित रक्त-रसका जो पीडन होता है उससे वह रिसकर (चू कर) बाहर निकलता है ।

ऑस्मोसिसका अनुवाद अंग्रेजीमें भी जलका आकर्षण करनेका सामर्थ्य किया जाता है । इससे इसका और जल-प्रवाहवत् रसके प्रसरणका साम्य देखा जा सकता है । आयुर्वेदमें अन्यत्र इस भौतिक नियमानुसार पोषणको उपस्नेह कहा है[12] ।

१—देखिये पृ० २३२ । २—Globulin, ३—Albumin.
४—Oedema—इडीमा । ५—Hypertonic. ६—Hypotonic.
७—अंग्रेजीमें इस स्थितिको Crenation—क्रेनेशन कहते हैं । ८—Isotonic.
९—Hyper—हायपर, Hypo—हायपो तथा Iso—आयसो इन उपसर्गोंका अर्थ क्रमशः अधिक, न्यून तथा समान है ।
१०—खानेके नमकका जलमें उसी अनुपातमें घोल जो रक्तमें है—०.६५ प्र० श०—नॉर्मल (सम) सेलाइन (Normal saline) कहाता है । किसी द्रव्यके एक प्रतिशत घोलका अर्थ होता है एक आउंस (२॥ तोला) द्रवमें पाँच ग्रेन (२॥ रत्ती) वह द्रव्य । ११—Lymph Hearts—लिम्फ-हार्ट्स ।
१२—यथा, अपरा (Placenta—प्लेसेण्टा) की उत्पत्तिके पूर्व तथा पश्चात् दोनों कालोंमें होनेवाली गर्भकी पुष्टिके लिए सु० शा० ३।३१ में उपस्नेह शब्दका व्यवहार किया है । इस शब्दको

आयुर्वेदोक्त ज्वाला-प्रवाहवत् रसके प्रसरणकी तुलना धातुकोषोंमें होनेवाले रासायनिक जोड़-तोड़से की जा सकती है। मोमबत्ती आदि की ज्वालामें जलते द्रव्यका एक अंश ओषजनके संसर्गमें आकर समाप्त हो जाता है तो प्रकृत्या उससे अगले अंशका संसर्ग ओषजनसे होता है। इस प्रकार द्रव्य सम्पूर्ण जल नहीं जाता तबतक ज्वाला अविराम जलती रहती है। धातुकोषोंकी अपनी-अपनी प्रकृत-नियत क्रिया इस प्रकार ज्वलन के ही आश्रित है, यह बात पहले विस्तारसे कही जा चुकी है[1]। स्वभावतः धातुपाकजन्य मलोंका निचय कोषों तथा उनके चतुर्दिक् स्थित रसमें हो जानेपर वे (मल) रक्तमें और वहाँ से अपने उत्सर्जक अवयव को जाते हैं। उधर केशिका-गत रक्तमें आहारवश गृहीत प्रोटीनादिका तथा श्वासमें गृहीत ओषजनका आधिक्य (निचय) होनेसे वे धातुकोषोंमें आते हैं तथा अपना-अपना कर्म करते हैं।

आधुनिकोंके चेतना-कृत विवेचनका उल्लेख प्राचीनोंने आत्माके कर्मोंका उल्लेख करते हुए सामान्य रूपसे कर दिया है। जीवनकी क्रियामात्रको आत्माके संनिधान (विद्यमानता) से हुई मानते हैं।

रसायनियाँ और रसका संवहन—

इसी अध्यायमें पहले कह आये हैं कि[2] आधुनिकोंके प्लाज़्मा, टिश्यु फ्लुइड तथा लिम्फ आयुर्वेद के रस धातु हैं। सो रसके अनुधावनके सामान्य नियम बतानेके पश्चात् हृदयसे रस (प्लाज़्मा, तदन्तर्गत रक्त तथा शेष दो रसभेदोंके शरीरमें अनुधावन एवं हृदयमें पुनरावर्तनका विवरण क्रम-प्राप्त है। परन्तु अद्यावधि प्रचलित पद्धतिका अनुसरण करते हुए पूर्ण चक्रका विवरण हम रक्तधातुके प्रकरणमें देंगे। शेष दो रसभेदोंके संवहनका ही विचार यहाँ किया जाता है।

रक्त किंवा रक्त-रस शरीरके प्रत्येक कोषको उसकी रचना तथा क्रियाके अनुरूप द्रव्य देने तथा उससे मलद्रव्योंके निर्हरणके लिए उत्तरदायी है। परन्तु इन दो में एक भी अवयवों, धातुओं या कोषोंके साक्षात् संस्पर्शमें नहीं आता। स्थिति यह है कि, हृदयसे रक्त जिन धमनियों द्वारा बाहित होता है वे उत्तरोत्तर कृश (छोटी तथा पतली) होती जाती हैं। इनकी अन्तिम शाखाएँ केशिका कहाती हैं। ये कोषोंके केवल एक स्तरकी बनी होती हैं। इन केशिकाओंकी समाप्ति बन्द मुखकी नलिकाओंके रूपमें नहीं होती। किन्तु, ये शुद्धरक्तवह केशिकाएँ जहाँ समाप्त होती हैं, वहीं उनका आगे विस्तार अशुद्धरक्तवह नलिकाओंके रूपमें होता है। ये अशुद्धरक्तवह नलिकाएँ उत्तरोत्तर स्थूल होकर उन रक्तवह स्रोतोंका निर्माण करती हैं जिन्हें सिरा कहा जाता है, जिनका कर्म शरीरके कोषोंमें प्रकृतिनियतकर्मजन्य मलों—अङ्गाराम्ल और जल—को हृदय तथा वहाँसे फुफ्फुस पर्यन्त पहुँचाना है।

इस प्रकार केशिकाओंके दो खुले अन्त या सिरे होते हैं। एक से इनमें धमनियों द्वारा आनीत शुद्ध रक्तका प्रवेश होता है ; दूसरेसे इनमें स्थित रक्त (शुद्ध-अशुद्ध दोनों प्रकारका) सिराओं की मूलभूत केशिकाओंमें प्रविष्ट होता है।

शुद्धरक्तवह केशिकाओंकी भित्ति अन्तर्गत रक्तको उनके चतुर्दिक् स्थित धातुओं तथा कोषोंसे पृथक् रखती है। इनके पतलेपनके कारण इनसे उक्तपूर्व कारणवश रस-द्रव्योंका स्राव होता रहता है। फुफ्फुस और यकृत्, जिन पर रस-रक्तके विशोधन द्वारा शरीरके आरोग्यका भार है, उनके प्रत्येक कोषका साक्षात् संपर्क किसी केशिकाके बाह्यपृष्ठसे रहता है। शेष तरुणास्थि आदि धातुओं

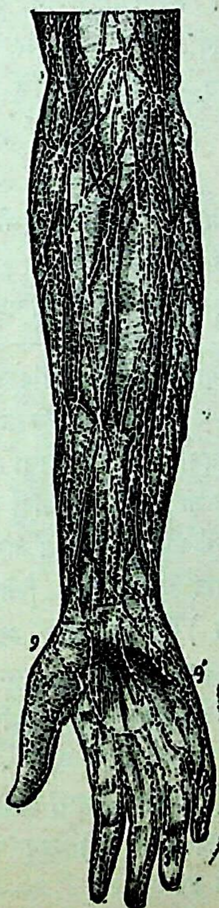
विशद करता हुआ डल्हन कहता है : × × उपस्नेहो जीवयति। यथा, पूर्णसरःसलिलोपस्नेहस्तीरजाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोति।

१—देखिये पृष्ठ १८० तथा आगे। २—देखिये पृ० ४५६।

में केशिकाएँ इस प्रकार गहरी प्रविष्ट नहीं होतीं। केवल उनसे स्रुत हुआ रस कोषों तक जाता है। कोष इस रससे अपनेको अभिप्रेत द्रव्योंका ग्रहण तथा मलोंका इसमें उत्सर्ग करते रहते हैं। जल चूसे हुए वस्त्र या स्पञ्जके समान शरीरके अवयव रसको चूसे रहते हैं।

सीधी बात है कि, सारे ही रसका इस प्रकार उपयोग नहीं हो जाता। अवश्य ही उसका विपुल अंश शेष रहता है। यह शेषांश, जिसमें अब उत्सृष्ट मल भी संचित हो गये हैं, दो मार्गोंसे हृदयकी ओर परावर्तित होता है। इन मार्गोंमें एक पूर्व निर्दिष्ट सिराओंका मार्ग है। सिराएँ इसका ग्रहणकर, आगे रक्ताधिकारमें वर्णित पथसे इसे हृदय तक पहुँचाती हैं। केशिकाओंका उपयोगमें न आया—क्षरित न हुआ—रक्त भी इसी मार्गसे हृदयको जाता है। दूसरा मार्ग रसायनियाँ[1] हैं।

रसायनियोंका मूल—कोषोंके चारों ओर स्थित अवकाश—जिसमें कोष निमग्न रहते हैं तथा जिसमें केशिकाओंसे स्रुत रस (टिश्यु फ्लुइड) भरा रहता है उसमें मूलभूत रसायनियाँ रेशस-



हाथ तथा हथेलीकी रसायनियाँ। चित्र—२६

१—Lymphatics—लिम्फेटिक्स ; या Lymphvessels—लिम्फ-वेसल्स। रसायनी शब्दका शिथिल प्रयोग शरीरान्तर्गत अवकाशमात्र के लिए—चाहे वह आशय-रूप हो, चाहे किसी पदार्थकी वाहक प्रणाली-रूप—प्राचीन संहिताओंमें हुआ है। (देखिए—च० वि० ५।१। आयुर्वेदीय सिद्धान्तोंका नवीन चिकित्साशास्त्रके शब्दोंमें अनुवाद करते हुए रसायनी आदि अवकाशवाचक पदोंके प्रसंगवश अर्थभेदको

जैसे सूक्ष्म एवं केवल अणुवीक्षणसे देखे जा सकनेवाले सूत्रोंके रूपमें जालवत् ओत-प्रोत होकर रहती हैं। (देखिये—चित्र २६)—ये रसायनियाँ केशिकाओंके सदृश कृश-काय कोषोंके एक स्तर से ही बनी होती हैं। इसी कारण इन्हें रसकेशिका[1] कहते भी हैं।

कहीं-कहीं रसायनियाँ कृश सूत्रोंके रूपमें आरम्भ न होकर अनियताकृति अवकाशोंके रूपमें आरम्भ होती हैं। हृदयधरा, फुप्फुसधरा, उदरधरा (या वपावहन) आदि लसीका-स्रावी[2] कलाएँ चारोंसे अवरुद्ध जो आशय[3] बनाती हैं उनमें भी रस-सदृश द्रव भरा रहता है। यह द्रव इन अवयवोंको प्रकृति-नियत कर्म करते समय अन्य अवयवोंके साथ घर्षणसे बचाता है; साथ ही बाह्य आघातोंको अपने ऊपर लेकर भी इन मर्मभूत अवयवोंका त्राण करता है। विदित हुआ है कि, इन आशयोंमें स्रुत रसकी अनपेक्षित मात्राका ग्रहण करलेनेवाली रसायनियोंके मुख खुले रहते हैं। अन्य शब्दोंमें कहना हो तो, वस्तुस्थित्या ये आशय चारों ओरसे सर्वथा बन्द नहीं होते। ये जानो रसायनियोंके ही विपुलीभूत विस्तार[4] हैं। रसायनियोंके इन आशयोंमें खुलनेवाले सिरोंको मुख या छिद्र[5] कहते हैं। इन विशिष्ट रसायनियोंको छोड़कर ऊपर निर्दिष्ट शेष सभी तथा आगे कही पयस्विनीनामक रसायनियोंका आरम्भ बन्द मुखकी वाहिनियोंके रूपमें होता है।

ग्रहणीमें जो रसायनियाँ होती हैं उनकी पयस्विनी[6] यह विशेष संज्ञा है। इनका परिचय कराया जा चुका है[7]।

रस ग्रन्थियाँ[8]—सिराओंके समान ये रसायनियाँ भी हृदयाभिमुख होती हैं। हृदयकी दिशामें रसकी प्रगति जिन कारणोंसे होती है, उनका उल्लेख इसी अध्यायमें कर आये हैं। उनके प्रभावसे प्रगत हुआ रस पीछे न लौट आये इस हेतु बड़ी रसायनियोंमें स्थान-स्थानपर कपाटिकाओंका[9]

दृष्टिमें रखना चाहिए।) रस शब्दसे प्लाज़्मा और लिम्फ दोनोंका ग्रहण करें तो रसायनी आदि रसशब्द-घटित संज्ञाओंका अर्थ कुछ मर्यादित होगा—ब्लडवेसल्स तथा लिम्फ-वेसल्स। अलबत्ता, यह अर्थ लेनेका मुख्य आशय इनका प्राचीन संहिताओंमें प्रधान अर्थ द्योतित करना तथा नवीन विज्ञान का प्राचीन शब्दोंमें अनुवाद करना है। अस्तु। इस अर्थको भी मर्यादित कर यहाँ रसायनी शब्दसे केवल लिम्फ-वेसल्सका ग्रहण किया है। उपरिनिर्दिष्ट चरक-वचनमें अवकाशोंका एक नाम संवृतासंवृत है, जिसका यौगिक अर्थ है—बन्द होने तथा खुलनेवाले। यह शब्द केशिकाओंपर विशेष घटित होता है। आवश्यकता न होनेपर उनके अमुक पुञ्जों (Beds-बेड्स)के विवर बन्द रहते हैं; व्यायामादिजन्य आवश्यकता होनेपर वे खुलते हैं, जिससे रक्तका आयात उनमें होता है। अन्य भी स्रोत—यथा महास्रोत, हृदय, धमनी, फुप्फुस आदि—खुलते और बन्द होते हुए—क्रमशः संकुचित-विकसित होते हुए अपना प्रकृति-नियत कर्म करते हैं। एवं उनके द्वार भी समय-समयपर खुलते-बन्द होते हैं।

कई लेखक वर्णनकी विशदताके निमित्त कोषोंके चारों ओर स्थित रसको टिश्यु-फ्लुइड (Tissue-Fluid) तथा रसायनियोंमें प्रविष्ट द्रवको लिम्फ (Lymph) कहना पसन्द करते हैं।

१—Lymph-capillary—लिम्फ केपीलरी। २—Serous—सीरस।

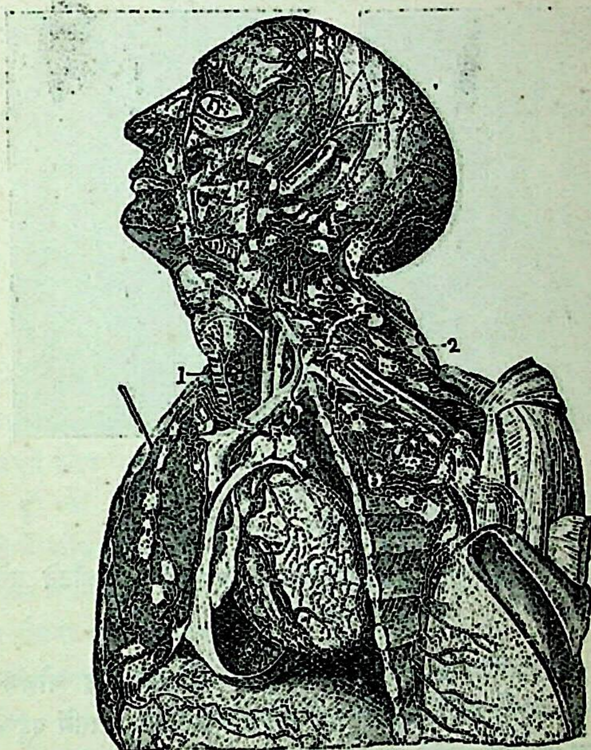
३—Serous Cavity—सीरस केविटी। ४—Lymph-Spaces—लिम्फ-स्पेसिज़।

५—Stoma—स्टोमा; बहुवचन—Stomata—स्टोमेटा; (स्टोमा=मुख; स्मरण कीजिए मुखपाकके लिए प्रसिद्ध अंग्रेजी शब्द—Stomatitis—स्टोमेटाइटिज़)

६—Lacteals—लैक्टीअल्स। ७—देखिये पृ० २७७ तथा ३६१-६२।

८—Lymph-glands—लिम्फ ग्लैण्ड्स, या Lymph-nodes—लिम्फ-नोड्स। कई लेखक पिछली संज्ञा को अधिक शुद्ध और व्यवहार्य मानते हैं। ९—Valves—वाल्व्स।

प्रबन्ध होता है। ये नीचेकी ओर रसायनियोंकी दीवारोंसे संसक्त तथा ऊपर से मुक्त दो झिल्लियाँ होती हैं। नीचेकी ओरसे रसका प्रवाह आने पर ये दीवारोंसे सट जाती हैं और रसको आगे जाने देती हैं। परन्तु रस लौटने लगे तो वह इनके तथा रसायनियोंकी दीवारोंके मध्य भर जाता है। लौटे हुए इस रसके दबावसे कपाटिकाओंके मुक्त सिरे परस्पर जुड़ जाते हैं और उनके मध्यका अन्तर लुप्त हो जानेसे रसके लौटनेका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। परिणामतया वह लौट नहीं सकता। आगे बढ़ानेवाले उक्त पूर्व हेतुओंसे आगे तो बढ़ता जाता है। (देखिये—चित्र २८-२९)। ये कपाटिकाएँ परस्पर इतनी निकट स्थित होती हैं कि, रसायनी किसी कारण विस्फारित हो जाय—फूल



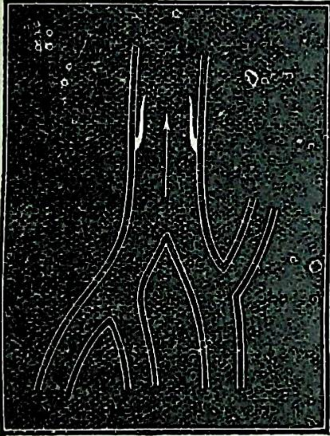
शिर, ग्रीवा तथा मध्यकाय (धड़) के ऊर्ध्व भागकी रसायनियाँ और रसग्रन्थियाँ। चित्र—२७

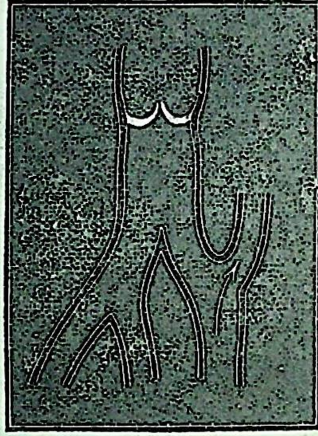
जाय—तो रससे भरी इन (कपाटिकाओं) के कारण उसकी आकृति माला-सी प्रतीत होती है। हम आगे जाकर देखेंगे कि, इसी प्रयोजनसे हृदय तथा सिराओंमें भी कपाटिकाओंकी ऐसी ही व्यवस्था होती है।

रसायनियाँ चाहे खुले मुखोंके रूपमें आशयोंमें प्रारम्भ हों, चाहे बन्द मुखवाली प्रणालिकाओंके रूपमें शेष स्थानोंमें, वे उत्तरोत्तर परस्पर मिलकर बड़ी रसायनियाँ बनाती जाती हैं। इनके मार्गोंमें उल्लिखित कपाटिकाओंके अतिरिक्त और एक व्यवधान होता है—रस ग्रन्थियोंका। ये ग्रन्थियाँ गोल (वृत्ताकार) किंवा अण्डाकार होती हैं तथा भाँगके बीज (या पिनकी घुण्डी) से लेकर मटर और कभी-कभी सेंमके बीज जितनी स्थूल होती हैं। ये योजक धातुमें गुंथी रहती हैं तथा सामान्यतया दो-से चारके समूहमें और कभी-कभी बढ़कर पन्द्रह-पन्द्रह तकके पुञ्जमें रहती हैं। वर्ण इनका

श्यामता लिये अरुण होता है। परन्तु फुफ्फुसोंके मूलके निकटवर्ती ग्रन्थियाँ—विशेषतया नगरोंमें महायन्त्रोंमें कार्य करनेवाले श्रमिकोंमें अंगार (कोयले) के कणोंके निक्षेपके कारण कृष्ण वर्णकी होती हैं।

शरीरके ऊपरी पृष्ठकी रसग्रन्थियाँ मुख्यतया वंक्षण (जाँघके मूल) तथा कक्षा (काँख) में और उनसे न्यून संख्यामें कूर्पर (कोहनी) और जानु (घुटने) पर होती हैं। उदरगुहामें महाधमनी के किनारे-किनारे, अन्त्रबन्धनी कला[1] पर, श्रोणिके चारों ओर एवं उरोगुहा तथा ग्रीवामें बड़ी-बड़ी रक्तवाहिनियोंके मार्गके दोनों ओर (अपस्तम्भ तथा उसकी शाखाओंके चारों ओर) इनकी बड़ी संख्या होती है। टॉन्सिल भी लसीका-धातुके ही बने होते हैं।





क खं

सिराओंकी कपाटिकाएँ। चित्र—२८-२९

क—रक्तके हृदयाभिमुख प्रवाहके समय कपाटिका। ख—रक्तप्रवाह लौटने लगे तो अवरुद्ध हुई कपाटिका।

अणुवीक्षणके नीचे रसग्रन्थिकी परीक्षा करें तो विदित होता है कि, वह योजक-धातुमय एक आवरणमें रहती है। इस आवरणसे चारों ओरसे सूत्र[2] ग्रन्थिके अन्दरके भागमें पहुंचते तथा उसे टेका देते हैं। परस्पर संयुक्त हुए इन सूत्रोंसे बने जालमें होकर रसका वहन होता है। ग्रन्थियोंमें इन सूत्रों तथा रसके अतिरिक्त लिम्फोसाइट[3] नामक क्षत्रकणों (श्वेतकणों) के एक प्रकारके पुञ्ज होते हैं। ये ग्रन्थियाँ वस्तुतः इन कणोंके उद्भव-स्थान हैं, जहांसे ये निरन्तर रस और उसके द्वारा रक्तमें प्रसृत होते हैं और उसके क्षत्र-कणोंका एक प्रकार बनते हैं। लिम्फोसाइटोंकी विशेषता यह होती है कि, उनमें प्रोटोप्लाज़्म न्यून तथा न्यूक्लिअस अपेक्षया बड़ा होता है।

रस धातुके अबतकके वर्णनमें इसके दो ही कर्मोंका निर्देश हुआ है—शरीरका पोषण तथा धातुपाक जन्य मलोंका निर्हरण। अपने अन्तर्गत अन्य क्षत्रकणों तथा रसग्रन्थियोंमें स्थित लिम्फोसाइटोंके द्वारा यह विकारी (रोगजनक) जीवाणुओं तथा तदुत्पादित विषसे शरीरका त्राण भी करता है।

१—Mesentery—मिसेण्टरी।

२—Strands—स्ट्रैण्ड्स। अंग्रेजीमें इनका विशेष नाम—Trabeculae—ट्रैबेक्युली।

३—Lymphocyte.

शरीरके किसी भी भागमें क्षत हो, आघातादि लगे या जीवाणुओंका आक्रमण हो तो शरीर उसकी प्रतिक्रिया अधिक रक्त उस स्थानपर लानेके रूपमें करता है। समीपवर्ती सभी केशिकाएँ विस्तृत हो जाती हैं। तथा धात्ववकाशों (कोषोंके मध्यगत अवकाशों) में अधिक प्रमाणमें रसका स्रवण होता है। रक्तके विशेष आयातके कारण यह स्थान रक्तवर्ण होता है तथा रक्त और रससे हुए फुलावेके कारण उत्सेधयुक्त (उभरा हुआ, सूजा हुआ) होता है। साथ ही यह उष्ण और वेदनायुक्त (एवं स्पर्श या पीड़न दबावको सहन करनेमें असमर्थ—स्पर्शाक्षम या पीडनाक्षम)[१] होता है। कारण, रक्तके अधिक आयातसे उस स्थानके ऊष्मामें वृद्धि होती है। समूहित हुए रक्त और रसके कारण तनाव—नाडीसूत्रोंपर दबाव—होता है। स्पर्श या पीडनसे यह तनाव बढ़ जाता है, जिससे इन क्रियाओंसे वेदनामें भी वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्पन्न स्थितिको व्रणशोथ[२] या संरम्भ (या पाक) कहते हैं। उक्त सम्प्राप्ति (रोगोत्पत्तिक्रम) के अनुसार व्रणशोथ या पाकके रक्तिमा, उष्णता, उत्सेध तथा वेदना ये चार किंवा अकर्मण्यताके साथ पाँच लक्षण होते हैं।

यक्ष्मा या कास-श्वास प्रधान संततज्वर (न्यूमोनिया) के प्रारम्भ में इस प्रकार हुए शोथ के कारण वातकोषों का अवकाश लुप्त हो जाने से आक्रान्त स्थान का आकोठन या श्रवण वात पूर्णदृतिवत्[३] न होकर घन[४] होता है। उक्त संततज्वरमें हुए शोथमें रक्त के अधिक आयातके कारण कफ न्यूनाधिक रक्तयुक्त होता है। फुप्फुसोंमें संज्ञावह स्रोत न होनेसे उनमें तो वेदना नहीं होती पर उक्त संततज्वरमें प्रारम्भमें ही—और यक्ष्मामें अनन्तर कालमें फुप्फुसधरा कलाका शोथ[५] होकर तीव्र वेदना—पार्श्वशूल होता है।

आमाशयमें शोथ या व्रण हो तो भोजनके दबावके कारण भोजनोत्तर गौरव या वमनके रूपमें, पच्यमानाशयमें हो तो भोजनके १॥-२ घण्टे पीछे शूलके रूपमें, अन्तःफल या आर्तव वह स्रोत[६] (बीजवाहिनी) में शोथ हो तो आर्तव प्रवृत्तिके दो-तीन दिन पूर्व, गर्भाशयमें शोथ हो तो आर्तवके दिनोंमें तथा अपत्य पथमें हो तो निरन्तर[७] या सभागम कालमें[८] तथा आर्तवके प्रवाहके समय वेदनाके रूपमें वेदना या पीडना क्षमता प्रादुर्भूत होती है।

रस अधिक मात्रामें स्रुत होकर क्षत स्थानके रोपण (मरम्मत) के लिए आवश्यक मात्रामें प्रोटीन देता है। परन्तु इससे भी अधिक उपयोगी क्षत्रकणों को प्रस्तुत करता है, जो रक्तसे रसमें आकर सर्वदा उसके अङ्गभूत होकर रहते हैं। शोथ होने पर ये अधिक मात्रामें शोथयुक्त (शून) स्थानपर आते हैं तथा चारों ओरसे विकृत स्थानको घेर लेते हैं, जिससे विकारी जीवाणु या उनका विष स्वस्थ धातुमें प्रविष्ट नहीं हो पाता। ये क्षत्र कण इन विकारी जीवाणुओंका कवलन[९] कर उन्हें समाप्त कर देते हैं। रक्त या रसके अङ्गभूत क्षत्र कणोंके एक भेद पॉलीमॉर्फो-

१—Tender—टेण्डर।
२—Inflammation—इन्फ्लेमेशन।
३—Resonant—रेजोनेण्ट। दृति=मशक। वातपूर्ण-दृतिवत् शब्द प्राचीन है।
४—Dull—डल।
५—Pleurisy—प्लुरिसी, या—Pleuritis—प्लुराइटिस।
६—बीजवाहिनी के लिए यह प्राचीन नाम है।
७‘—नित्यवेदना’ योनिको विप्लुता कहा जाता है।
८—समागमकालमें वेदनायुक्त योनिको परिप्लुता कहते हैं। ९—देखिये—पृ० १५३।

न्यूक्लिअर ल्यूको साइट[1] या पालीमार्फ[2] में यह क्रिया अन्य कणों की अपेक्षया सविशेष होती है। शोथयुक्त स्थानमें ये अन्य क्षत्र कणोंकी अपेक्षया अधिक मात्रामें पाये भी जाते हैं।

प्रायः जीवाणुओंको परास्त करनेमें पॉलीमॉर्फोंको सिद्धि मिलती है। परन्तु कभी-कभी जीवाणु बलवत्तर होनेसे, परास्त होनेतक, अगणित पॉलीमॉर्फोंका वध कर देते हैं। तथापि, क्षत्र कणों द्वारा निर्मित कोट को तो वे भेद नहीं पाते। मृत पॉलीमॉर्फोंके इस संचयका ही नाम पूय है। कभी-कभी आक्रान्त स्थान स्वयं त्वचा आदि बाह्य पृष्ठोंपर विदीर्ण हो जाता है। कभी गहरा हो तो शस्त्र द्वारा खोलना पड़ता है।

बहुत वार जीवाणु क्षत्र कणोंके इस कोटको भेद कर संक्रमणको शरीरमें पहुँचा देते हैं। इनका प्रथम ग्रास रसायनियाँ होती हैं। कारण, कोषमध्यगत अवकाशसे इनका संबन्ध अधिक होता है। ऐसी स्थितिमें शून (शोथयुक्त) स्थानसे रक्त वर्ण रेखाएँ निकटतम रसग्रन्थिकी दिशामें जाती देखी जा सकती हैं। इन रसग्रन्थियोंमें प्रायः जीवाणुओं का सफल प्रतिकार हो जाता है। इनमें भी क्षत्र कण प्रभूत संख्यामें होते हैं, यद्यपि वे पॉलीमॉर्फ नहीं होते, परन्तु ऊपर कहे अनुसार लिम्फोसाइट् होते हैं।

दैवात् हमारे हाथ की अङ्गुलीपर क्षत हो तो कुछ ही घण्टे पीछे कूर्पर (कोहनी) की दिशामें जाती हुई रक्त रेखाएँ, तथा कूर्पर पर पीछेकी ओर सूजी हुई रसग्रन्थि देखी जा सकती है। यह ग्रन्थि संक्रमणको अँटका न सके तो और कुछ घण्टे पीछे कूर्परसे भी ऊपर जाती हुईं रक्त रेखाएँ तथा कक्षा (कॉख) में त्वचाके नीचे सूजी रसग्रन्थि देखी जाती है। मरक (प्लेग) तथा कक्षा (कचनाली) में कक्षाकी इन्ही ग्रन्थियोंमें शोथ होता है।

पैरमें क्षत, विसर्प आदिसे संक्रमण हो तो जानु एवं वङ्क्षणकी ग्रन्थि इसी प्रकार सूजी देखी जा सकती है। फिरङ्ग तथा उपदंश (ध्वजभङ्ग)[3] में और पूयमेहकी उस स्थिति

१—Polymorsphonuclear leucocytes. २—Polymorphs.

३—फिरङ्ग और उपदंश संज्ञाएँ—प्रायः फिरङ्ग और उपदंश शब्द पर्याय रूप में तथा ध्वजभङ्ग क्लैब्य (मैथुनाशक्ति—Impotency—इम्पोटेन्सी) के लिए प्रयुक्त होता है। संहिताओंमें दिये इन रोगोंके वर्णनकी तुलनासे विदित होता है कि, चरकने चि० अ० ३०।१६२—१७६ में ध्वजभङ्ग नामसे जिस रोगका वर्णन किया है उसीका सुश्रुतने नि० अ० १२ में उपदंश नामसे निर्देश किया है। 'भङ्ग' शब्द यहाँ नष्ट होकर गिर जानेके अर्थमें है। जहाँ-जहाँ स्राव जाता है उस-उस स्थानमें पाक उत्पन्न होकर उस स्थानको गला देता है—विशीर्यते मणिश्चास्य मेढ्रं मुष्कावथापि वा—चरक। 'उपदंश' शब्द में 'दंश' पद इसी अर्थमें प्रयुक्त है। दोनोंके कारणोंमें 'योनि रोग पीड़ित' स्त्रीका सहवास परिगणित है। अङ्गरेजी में जिसे 'सॉफ्ट शैंकर' (Soft Chancre) कहते हैं वह यह है। इसमें किनारी अस्पष्ट, तथा फिरंगके समान कठिन नहीं होनेसे इसे यह नाम दिया गया है। ध्वजभङ्गके कारण स्पष्ट ही क्लैब्य होता है। चरकने क्लैब्यके कारणोंमें एकके रूपमें ध्वजभङ्गकी चर्चा की है।

फिरङ्ग रोग वह है जिसे अङ्गरेजीमें 'सिफिलिस' (Syphilis) या 'हार्ड शैंकर' (Hard Chancre) कहते हैं। उपदंशके लक्षण अपने कालमें प्रादुर्भूत हुए फिरङ्ग रोग पर घटित न होनेसे उसे नवीन रोग निश्चित करके ही भावमिश्रने उसे 'फिरङ्ग' यह नया नाम दिया। दोनों रोगोंमें पार्थक्य का यह भी एक प्रमाण है। विशेष विवरण इस विषयका घाणेकरी सुश्रुत टीकामें नि० अ० १२ में देखें।

अध्यापक, चिकित्सक तथा औषध विक्रेताओंको तीनों संज्ञाओंके शुद्धार्थको लक्ष्यमें रखना चाहिए।

में[1] जब पूय बाहर लगकर त्वचा या मणिपर भी व्रण बन जाता है, वंक्षण ग्रन्थियों में शोथ हो जाता है। तीनोंके शोथमें कुछ-कुछ भेद होता है, जिनका निर्देश आगे चिकित्साके ग्रन्थों में विद्यार्थी पायेंगे।

नंगे पैर चलने वाले पुरुषोंके पाद-तल द्वारा पूयजनक जीवाणुओंका सतत संक्रमण होता रहता है, जिससे ऐसे पुरुषोंकी वंक्षण-ग्रन्थियाँ बहुधा यत्किंचित् शोथ युक्त पायी जाती हैं। रोग-निदानमें इस तथ्यको ध्यानमें रखना चाहिये।

गण्डमालामें ग्रीवा तथा छातीकी रसग्रन्थियाँ यक्ष्म-जन्तुओंके आक्रमणवश फूल जाती हैं। बच्चोंके शिरमें पिडकाएँ हों तब भी ग्रीवा की पीछे की ओर की ग्रन्थियोंमें शोथ होता है।

रसवाहिनियों द्वारा प्रसृत होने वाले दो और स्मरणीय रोग हैं—श्लीपद[2] तथा दुष्टार्बुद—विशेष[3]। श्लीपद के अण्ड और शिशु सूत्राशयकी रसायनिमोंमें पुञ्जित होकर अन्तमें वे विदीर्ण हो जायँ तो वसामेह नामक रोग होता है[4]। दुष्टार्बुद भी रसायनियोंसे फैलता है। समीपवर्ती रसग्रन्थियाँ पाषाण-कठिन हो जाती हैं। एक अन्य घातक अर्बुद (सार्कोमा)[5] से भेद करनेमें यह ज्ञान उपयोगी है। कारण, वह सिराओं द्वारा फैलता है, तथा उसके प्रसरके लक्षण उनके मार्ग पर दिखाई देते हैं। उसमें रस-ग्रन्थियोंमें शोथ नहीं होता।

अन्त्र शोष[6] में अन्त्र-बन्धनीकी रस-ग्रन्थियाँ शून, कठिन, वेदनायुक्त और स्पर्शोपलभ्य तथा इस रोगकी गमक होती हैं। अन्त्र-ज्वर आदि में भी ये ग्रन्थियाँ किंचित् शोथयुक्त हो जाती हैं। अपस्तम्भके दोनों ओर, उसके दोनों काण्डों तथा शाखा-प्रशाखाओंके चारों ओर जो ग्रन्थियाँ होती हैं, वे राजयक्ष्मा आदि रोगोंसे आक्रान्त होकर कृच्छ्रकास-प्रभृति लक्षण उत्पन्न करती हैं।

उपजिह्विकाएँ[7] भी रसग्रन्थियोंके समान लसीका-धातुकी बनी दो ग्रन्थियाँ हैं, जो गलके दोनों पार्श्वों पर रहती हैं। ये मुख द्वारसे प्रविष्ट जीवाणुओंका ध्वंस करती हैं। परन्तु इनकी यह शक्ति अल्पमात्र होनेसे ये इस प्रयत्नमें प्रायः शोथयुक्त हो जाती हैं। आधुनिक शल्यतन्त्रके मतसे उस काल ये दुर्बल हुई होनेसे जीवाणुओंकी घातक न रहकर उत्तम आश्रय बन गयी होतीं हैं। इन केन्द्रोंसे शरीरमें प्रसृत होकर जिवाणु तथा तज्जन्य विष सर्वाङ्गमें अस्वास्थ्य एवं रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसी स्थितिमें शस्त्र कर्म द्वारा इनका निकलवा देना हितावह होता है[8]। कफवात प्राकृतिक[9]

१—पूयमेह पुरुषोंमें मूलतः मूत्र-प्रसेक तथा स्त्रियोंमें अपत्य-पथका रोग है। इन दोनों स्थानोंकी रसायनियाँ वङ्क्षण-ग्रन्थियोंमें होकर नहीं जातीं—उदरगुहामें प्रविष्ट होती हैं। अतः इस रोगमें वङ्क्षण-ग्रन्थियोंका शोथ नहीं होता—बशर्ते कि बाहर भी त्वचापर संक्रमण न हो जाय। यह निदान स्मरणीय है।

२, ४—विशेषके लिए देखिये—पृ० ३६५।

३—Carcinoma—कार्सिनोमा; या Cancer—केन्सर। ५—Sarcoma.

६—Intestinal Tuberculosis—इण्टेस्टाइनल ट्यूबर्क्युलोसिस।

७—Tonsils—टॉन्सिल्स। उपजिह्विका नाम चि० वि० ७।११ में आया है।

८-९—उपजिह्विकाओंका छेदन या कर्तन आजकल सुप्रचलित है। आयुर्वेद-मतसे जीवाणुओंकी अपेक्षया उनके यजमान-भूत दोषकी चिकित्सा पर प्रधानतया लक्ष्य देना चाहिए। अति दूषित होने पर शल्य-तुल्य होनेसे उपजिह्विकाओंका निकलवा देना योग्य है। इनके छेदन या कर्तनसे सर्वदा स्वास्थ्यमें उतनी उन्नति नहीं देखी जाती। प्रत्युत देखा जाता है कि, जिन्हें कुछ-कुछ कालसे प्रतिश्यायके वेग होते थे, उन्हें प्रतिश्यायके कारण भूत जीवाणुओंका अब कोई प्रतिषेधक न रहनेसे बारहों मास प्रतिश्याय रहने लगता है।

बालकोंमें ये ग्रन्थियाँ प्रायः प्रवृद्ध होती हैं। इनकी वृद्धिका एक कारण आमवात[१] भी है[२]।

नासास्रोत और गलेकी संधिपर प्रकृत्या स्थित लसीका-धातु[३] की वृद्धिसे इसी प्रकार ग्रन्थियाँ बन जाती हैं। इन्हें 'एडीनॉयड'[४] कहा जाता है।

अन्तको रस संवहन-क्रमसे पुनः समग्रतया रक्तमें प्रविष्ट हो जाता है। परन्तु उसे पहुँचाने वाली रसायनियाँ सीधी ही महासिराओं में नहीं जातीं, जहाँ समूचे रसका निक्षेप होता है। छोटी-छोटी रस-केशिकाओंके संयोग से बनी रसायनियाँ या तो बड़ी रसायनीमें किंवा किसी रसग्रन्थिमें समाप्त हो जाती हैं। रसग्रन्थिसे पुन: नयी रसायनी उत्पन्न होती है। उसका भी अवसान उक्त दो में किसी एक प्रकार से होता है। रसग्रन्थिमें प्रविष्ट होनेवाली रसायनियाँ अनेक होती हैं। इन्हें अभिगामी[५] रसायनी कहते हैं। ग्रन्थिसे निकलनेवाली रसायनियाँ भो अनेक होती हैं। इन्हें बहिर्गामी[६] रसायनी कहते हैं। ये निकलनेके साथ ही, किंवा कुछ अन्तरपर मिलकर एक रसायनी बनाती हैं। इनके निकलनेका स्थान शिम्बीधान्योंके समान मध्यमें नत (दबा हुआ) होता है। इस स्थानको हायलस[७] कहते हैं। बहुधा कई ग्रन्थियाँ बहिर्गामी या अभिगामी रसायनियों द्वारा परस्पर संयोजित होती हैं।

रसग्रन्थियों द्वारा इस प्रकार बीच-बीचमें व्यवहित होती हुई भी रसायनियाँ, शाखाओं द्वारा परस्पर संधान करती हुई हृदयकी दिशामें बढ़ती जाती हैं। ज्यों-ज्यों ये स्थूल होती जाती हैं त्यों-त्यों उनकी भित्ति स्थिति-स्थापक धातुके स्तरों द्वारा दृढ़ होती जाती हैं। स्थूलतम रसवाहिनियों में रक्तवाहिनियोंके समान तीन स्तर होते हैं। रसायनी जितनी बड़ी होती है, उतनी ही अधिक उसमें कपाटिकाएँ होती हैं। सबसे बड़ी रसायनियोंकी आकृति इन कपाटिकाओंके कारण हुए उत्सेध-वश असम प्रकारकी होती है।

सारे शरीरकी रसायनियाँ अन्तको दो अन्तिम स्रोतोंके रूपमें परिणत होती हैं। इनको रस-कुल्या[८] कहते हैं। इनमें एक दूसरीसे बहुत बड़ी होती है। इसका नाम वाम (महती या मुख्य) रसकुल्या[९] है। इसका प्रारम्भ उदरगुहामें होता है। इसका आदिम भाग एक लम्बे, फूले हुए, अपने-से ऊपरके अंशकी अपेक्षया चार-पाँच गुणा मोटे अवकाशके रूपमें होता है। इस भागको रसप्रपा[१०] कहते हैं। रसकुल्या पृष्ठवंशके ऊपर रहती है। अन्त्रोंकी सभी रसायनियोंका रस इसमें आकर मिलता है। इनमें विशेष स्मरणीय पयस्विनियाँ हैं, जो जठराग्नि द्वारा परिपक्व हुए स्नेहोंका ग्रहणकर उसे क्रम-वृद्ध रसायनियों द्वारा रसप्रपामें छोड़ती हैं[११]। इनके अतिरिक्त अधःशाखाओं (पैरों), उदरके सभी अङ्गों, उदरकी दीवालों तथा वक्षस्के निचले भागका भी रस इसमें मिश्रित होता है।

१—Rheumatic—रुमेटिक।

२—आमवातसे हुई उपजिह्विका-वृद्धि सोडियम सेलिसिलेटसे ही मिटती है। यह इसकी उपशय-परीक्षा है। आयुर्वेदकी इस पर अनुभूत चिकित्सा मुझे विदित नहीं। ३—देखिये—पृ० १७४।

४—Adenoid. ५—Afferent—एफरेण्ट। [Ad-प्रति+fero=ले जाना]

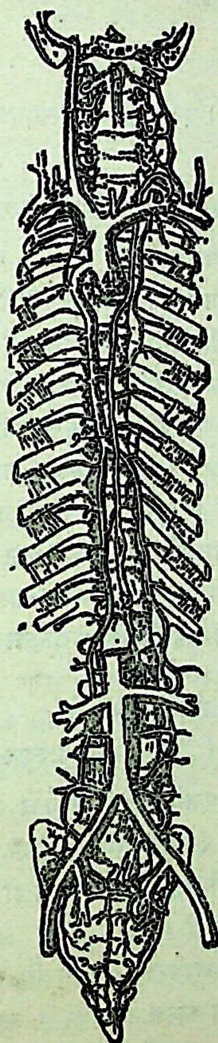
६—Efferent—इफरेण्ट [Ex=बाहर] ७—Hilus.

८—Lymphatic Duct—लिम्फेटिक डक्ट। ९—Thoracic Duct—थॉरेसिक डक्ट।

१०—Cisterna Chyli—सिस्टर्ना काइली; या Receptaculum Chyli—रिसेप्टेक्युलम काइली; या Receptacle of the Chyle—रिसेप्टेकल ऑफ ध काइल।

११—विस्तारके लिए देखिये—पृ० २४७, ३६१-६२।

रसप्रपा ऊपरकी ओर वाम रसक्युल्या नामसे बढ़ती है। यहाँ भी यह वक्षस्की पिछली दीवारपर स्थित तथा महाधमनीके दक्षिण ओर रहती है। पाँचवें पृष्ठ-कशेरुकाके तलपर आकर यह बाँयी ओर मुड़ जाती है और वाम अक्षाधरा सिरा[1] से जा मिलती है। समूचे मार्गमें इसे वक्षस् तथा हृदयके वाम भाग, वाम फुफ्फुस और वाम बाहुकी रसायनियाँ आकर मिलती रहती हैं। रसप्रपा से लेकर वाम अक्षाधरामें अपनी समाप्ति तक वाम रसकुल्याकी लम्बाई लगभग अठारह इञ्च होती है। (देखिये चित्र—३०)



रसकुल्याएँ तथा रसप्रपा। चित्र—३०

6—वाम रसकुल्याका अनुमन्या और अक्षाधरा सिराओंके संगमसे बनी गलमूलिका सिरामें प्रवेश ; 2—रसप्रपा ; 9—दक्षिण रसकुल्या ; 4—उत्तरा महासिरा।

दूसरी रसकुल्याका नाम दक्षिणा रसकुल्या[2] है। यह वाम रसकुल्याकी अपेक्षया बहुत ही

१—Left Subclavian—लेफ्ट सबक्लेविअन।

२—Right Lymphatic Duct—राइट लिम्फेटिक डक्ट।

छोटी—केवल कोई आध इञ्च लम्बी होती है। परन्तु इसका कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है। दक्षिण शिर तथा ग्रीवा, दक्षिण बाहु, वक्षस् तथा हृदयके दक्षिणार्ध श्वासपटलके दक्षिण भाग एवं यकृत्के ऊर्ध्वपृष्ठकी रसायनियाँ इसमें आकर मिलती हैं। ये सब रसायनियाँ दक्षिण अक्षाधरा सिरा[1] के निकट आ एकीभूत हो यह रसकुल्या बनाती हैं। बनकर तत्काल ही यह उक्त सिरामें प्रविष्ट हो समाप्त हो जाती है।

रसधातुके वैषम्यके लक्षण

वार्धक्यमें रसधातुकी अकर्मण्यता—

स एवाऽन्नरसो वृद्धानां (जरा) परिपक्व शरीरत्वादप्रीणनो भवति ॥

सु० सू० १४।१९

× × अप्रीणन इति ईषत्प्रीणनो[2] भवति, जीवनमात्रं करोतीत्यर्थः ॥ —डह्लन

रसधातु यों उल्लिखित सर्वधातु पोषणादि कर्म करता है, पर वृद्धोंमें उनका शरीर वार्धक्यके उत्पादक हेतुओंसे परिपक्व हो जानेके कारण वह उतनी पुष्टि नहीं करता। उनका जीवन स्थिर रहे इतनी ही अल्पमात्र पुष्टि रसधातु द्वारा वृद्धोंमें होती है।

वृद्धोंमें होता यह है कि रसवह (रस-रक्त-वह) स्रोतोंके वैगुण्य (दुष्टि) के कारण रसका अयन (वहन) ही अल्प होता जाता है। परिणामतया, धातुओंका यथावत् पोषण नहीं हो पाता, जिससे उनके प्राकृत कर्मोंका भी उत्तरोत्तर क्षय (ह्रास) होता जाता है[3]।

यह स्रोतो-वैगुण्य केवल वार्धक्यकी उत्पत्तिमें ही कारणभूत नहीं होता, रोगोत्पत्तिका कारण भी यही है। वार्धक्य और रोग दोनों दशाओंमें स्रोतोवैगुण्यका सामान्य अर्थ वात, पित्त या कफ किसी भी दोषसे दुष्टि होकर मार्गावरोध और उसके कारण रसका अयन सम्यक् न होना ही है। राजयक्ष्माकी संप्राप्ति बताते हुए चरकने स्पष्ट कहा है कि : प्राकृतावस्थामें तत्तद्धातुपोषक रसवह स्रोत

१—Right Subclavian—राइट सबक्लेवियन।

२—निषेधार्थक न (ञ्) का अल्प (ईषत्) अर्थ व्याकरण-संमत और प्रसिद्ध है।

३—वार्धक्यका यथार्थ कारण रस (रस-रक्त) के वहनका उत्तरोत्तर ह्रास है, यह वस्तु रसायन शब्दके व्याकरणानुसारी विग्रहसे स्पष्ट है। रसायन द्रव्योंसे रसका अयन नाम वहन समीचीन होनेसे सर्वधातुओंकी यथावत् पुष्टि होनेके कारण ही वृद्धावस्था शीघ्र नहीं आती—यौवन स्थिर रहता है—इतनाही क्यों आयु सौ वर्षसे भी अधिक होती है।

रसायन द्रव्योंका दूसरा कर्म रोगोंका अपहरण (अनुत्पत्ति तथा उत्पन्न हुए उन रोगोंका नाश) है। यह कर्म भी रसधातुके सप्रमाण अयनके कारण ही होता है, कारण धातुओंका क्षय और रोगोत्पत्ति भी रस द्वारा उनकी पुष्टि यथावत् न होनेसे होती है। (देखिये ऊपर)। रसायन द्रव्योंके कर्म प्राचीन अर्वाचीन उभयमतोंसे समझनेमें रसायन शब्दके इस व्याकरण संमत विग्रहको विशेषतया लक्ष्यमें रखना चाहिए। आचार्यने रसायनका फल सविस्तर बताकर जो कहा है कि:

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम् ॥

च० चि० १।१।८; अ० सं० उ० ४९; अ० हृ० उ० ३९।२

—श्रेष्ठ (शुद्ध और सप्रमाण) रसादि धातुओंकी प्राप्तिका जो उपाय है उसे रसायन कहते हैं। यहां लाभोपाय शब्दसे इसी बातका संकेत है।

शुद्ध (अदुष्ट) हो तो उस धातुके आशयमें रस यथोचित प्रमाणमें पहुंचता है। अनन्तर उस रसका उपयोग (पाक स्व-धातुके रूपमें परिणमन) करनेवाला धात्वग्नि सम हो तो रसधातुका पाक होनेसे धातुकी अबाध पुष्टि होती रहती है। देखिये :

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥

च० चि० ८।३९

×× यथास्वेन यथात्मीयेन। ऊष्मणा रसाग्न्यादिरूपेण त्रयोदशविधेन। धातुः पुष्यति धातुनेति धातुना रसेन, धातू रक्तादिरूपः। किंवा, क्रमपरिणामपक्षे रसेन रक्तं, रक्तेन मांसं पुष्यतीति ज्ञेयम्॥ —चक्रपाणि

आगे कहा है : धात्वग्नियोंकी मन्दता, यक्ष्मोत्पादक दोषसे स्रोतोंका अवरोध तथा इन दोनों हेतुओंसे धातुओंका क्षय—इन तीन कारणोंसे राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। तथाहि—

स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात्।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥ च० चि० ८।४०

×× संनिरोधादिति यक्ष्मकारकदोषेणावरुद्धत्वात्। रक्तादिसंक्षयोऽपि स्रोतोऽवरोधात्तथा पोषकरसाप्राबल्याज्ज्ञेयः। धातूष्मापचयोऽपि धातुक्षयाद्दोषप्रभावाच्च ज्ञेयः॥ —चक्रपाणि

अर्वाचीन विज्ञानकी संज्ञाओंमें दोषोंसे रस-रक्तवह तथा अन्य (मूत्रवह, पुरीषवह आदि) स्रोतोंकी दुष्टि (वैगुण्य, मार्गावरोध) की व्याख्या करना चाहें तो कह सकते हैं कि : वायु कुपित होकर इन स्रोतोंके बनानेवाले कोषोंको क्षीण (कृश)[1] कर देता है, जिससे इनसे बने स्रोतों की परिधि तथा उनके अन्तर्गत विवर[2] प्राकृतापेक्षया न्यून हो जाता है। परिणामतया, उनमें होकर रसादिका वहन यथावत् नहीं हो पाता। महास्रोतके पित्तवह स्रोतोंमें यह स्थिति हो तो पित्तका स्रवण तथा तज्जन्यपाक यथोचित नहीं होता। महास्रोतके रसवह (रसका ग्रहण करनेवाले) स्रोतोंके मुख इस संप्राप्तिके अनुसार कृश हों तो रसका ग्रहण प्राकृतवत् नहीं हो पाता। यही स्थिति अन्यत्र भी समझिए।

किंवा, कुपित हुए वायुके कारण स्रोतोंमें खरत्व आ जाता है। नव्यमतानुसार रस-रक्तवह स्रोतों (धमनियों) में यह स्थिति वयोवृद्धिके साथ-साथ सुधा (केल्शियम) के न्यूनाधिक निक्षेपके कारण होती है। वात प्रकोपक आहार-विहारके अतियोगसे यह स्थिति होती है यह आयुर्वेदका मत समझना चाहिए। मस्तिष्ककी धमनी-विशेषमें यह खरत्व (किंवा आगे कहा स्तम्भ) हो तो तज्जनित भंगुरताके कारण वह अल्पमात्र कारणसे टूट जाती है। परिणामतया, पक्षाघात होता है। इसी कारण, आयुर्वेदमें पक्षाघातको वात प्रकोपजन्य कहा है। मूत्राशयकी रसवाहिनियोंमें भंगुरता (स्थिति स्थापताकी अल्पता) हो तो श्लीपदके जीवाणुओंके बच्चों और अण्डोंके सञ्चयवश वे शीघ्र टूट जाती हैं और दुग्धवर्ण रस मूत्रमार्गसे प्रवृत्त होने लगता है। इसी कारण इस रोग (वसामेह)[3] की भी गणना संहिताकारोंने वात रोगोंमें की है।

अथवा, कुपित वातके कारण स्रोतोंमें स्तम्भ[4] (स्तब्धता, प्राकृत संकोच-विकासका ह्रास) अथवा संकोच[5] होता है। वृद्धावस्थामें धमनिकाओंमें संकोच होता है। इसके परिणामका

१—Attenuated—एटेन्युएटेड। अथवा—Atrophied—एट्रोफीड।
२—Lumen—ल्युमेन। ३—Chyluria—काइल्यूरिया। ४—Spasm—स्पैज़्म।
५—Contraction—कॉण्ट्रैक्शन।

विचार आगे किया है। कभी हृदयकी पोषक धमनियों[१]में भी वातप्रकोपवश स्तम्भ हो तो तीव्र हृच्छूल (हृद्ग्रह)[२]के रूपमें हृदय अधिक रस-रक्तकी याचना करता है। महास्रोतमें कहीं स्तम्भ होनेसे उदर-शूलादि, पित्तप्रसेक (याकृत पित्तवह स्रोत)[३]में अश्मरी अटकनेसे हुए स्तम्भसे पित्ताश्मरी-शूल[४], मूत्रवहस्रोतोंमें इसी प्रकार मूत्राश्मरीशूल[५], भय या अनिच्छावश[६] मैथुनके समय अपत्यपथका स्तम्भ हो तो समागममें कष्ट होता है। अन्य स्रोतोंके स्तम्भसे हुए लक्षणोंका इसी प्रकार विचार कर लेना चाहिये।

पित्तसे मार्गावरोधका स्वरूप यह है कि, उसके कारण मार्गोंमें पाक (शोथ, सूजन) होता है, जिससे उनके विवरोंमें भी उत्सेध होकर उनके मध्य अवकाश न्यून हो जाता है। यह स्थिति धमनियों और सिराओंमें शोथ होनेसे होती देखी जाती है[७]।

कफसे मार्गावरोध और स्रोतोदुष्टिमें कफ नाम शरीरावयवों (धातु आदि) की पोषक सामग्रीके आधिक्यके कारण स्रोतोंके घटक कोषोंकी अतिशय पुष्टि हो जाती है। इससे जहाँ वे बाहरकी ओर बढ़ते हैं, वहाँ उनकी अन्दरकी ओर (विवरकी दिशामें) भी वृद्धि होती है। परिणामतया, विवर अल्प हो जाता है और उनके अन्दर रसादिका वहन (अयन) सम्यक् नहीं हो पाता। शाखाश्रित कामलाको कफके प्रकोपसे हुआ कहा जाता है। अनुमान करना चाहिये कि, उसमें यकृत्के रस-रक्तवह स्रोतोंमें कफप्रधान शोथ हो जाता है। इन शून (शोथयुक्त) स्रोतोंसे याकृत पित्तवह स्रोतों[८]का पीडन होनेसे यह पित्त ग्रहणीमें न जाकर पीछे शाखाओंमें (रस-रक्तादि धातुओंमें) लौटता है और तत्तत् लक्षण उत्पन्न करता है।

धमनियोंकी भित्तियोंके घटक द्रव्योंका स्नेहोंके रूपमें परिणमन[९] होनेसे भी उनमें मार्गावरोध होता है, यह आधुनिकोंका प्रत्यक्ष है[१०]। कदाचित् यह कफकृत मार्गावरोधका एक भेद है।

उक्त प्रकारसे तत्तद्दोषसे स्रोतोरोध होनेसे दूषित रसका तत्तत् स्थानमें संचय होकर तत्तद्रोगकी उत्पत्ति होती है। देखिये :

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृतिं तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम्॥ च० चि० १५।३७
सज्जतीति तिष्ठति॥ —चक्रपाणि
कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोप जायते॥ सु० सू० २४।१०

१—Coronary Arteries—कॉरोनरी आर्टरीज़।

२—Angina pectoris—एन्जाइना पेक्टोरिस।

३—Common bile duct—कॉमन बाइल डक्ट।

४—Biliary Colic—बिलिअरी कॉलिक। ५—Renal Colic—रीनल कॉलिक।

६—स्मरण कीजिये—कामशोकभयाद् वायुः—च० चि० ३।११५। यहाँ वायुका नव्यमतानुसार अर्थ अपत्यपथके संकोच-विकासके नियामक वात-सूत्र समझने चाहिये।

७—धमनियोंका शोथ--Arteritis—आर्टराइटिस; सिराओंका शोथ--Phlebitis—फ्लेबाइटिस।

८—Bile—Capillaries—बाइल केपिलरीज़।

९—Fatty degeneration—फैटी डिजेनेरेशन।

१०—इस रोगको अंग्रेजीमें Atheroma—एथेरोमा कहते हैं।

निदान-चिकित्साके ग्रन्थोंमें विद्यार्थी पढ़ेंगे कि दोष अपने-अपने स्थानमें कुपित और वहांसे प्रसृत होकर तत्तत् स्रोत या स्रोतोंकी विकृतिवश तत्तत् अवयवमें स्थित होकर (स्थान-संश्रय कर) तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक रोग-विषयक इस विवरणको आयुर्वेदमें संप्राप्ति कहा जाता है।

दोषोंके प्रकोपवश एकदेश या सर्वाङ्गके स्रोतोंका—विशेषतया रस-रक्तवह स्रोतोंका—अवरोध हो जानेसे रस, रक्त तथा अन्य वाह्योंका अयन प्रमाणवत् न होनेसे पोष्य अवयवोंका पोषण सम्यक् नहीं होने पाता और उनका बल—शारीर तथा मानस श्रम करने एवं रोगोंका सामना करनेका सामर्थ्य—न्यून हो जाता है। परिणामतया वृद्धावस्था आती है। रसायन द्रव्योंके सेवनसे यह अवस्था शीघ्र नहीं आती, आयी हो तो बढ़ने नहीं पाती, प्रत्युत न्यून होती है। जिस पुरुषमें जिस दोषका प्रकोप हो उसे उसके विरोधी रसायनों का ही सेवन कराया जाता है। ये द्रव्य स्रोतोंमें स्तब्ध होकर रहे हुए दोषका शमन और संशोधन कर उन्हें—स्रोतोंको—विशद (विवृत—खुले—उद्घाटित) करते हैं, जिससे उनमें रसादिका वहन सम्यक् होता है[1]।

नव्योंने रस-रक्त वह स्रोतोंमें होनेवाली वार्धक्यजनक दुष्टिका उत्तम अनुशीलन किया है। रक्तदाबकी वृद्धिकी संप्राप्तिके प्रकरणमें वे कहते हैं कि : इस रोगमें धमनिकाओं (धमनियों की शाखाओं) का चिरकारी (पुराना) संकोच हो जाता है। परिणाम यह होता है कि, उनकी स्थितिस्थापकता उतनी न रह जानेसे उनके अन्तर्गत रस-रक्त का दबाव बढ़ जाता है। इस स्थिति को परिसरीय प्रतिरोध[2] कहते हैं। धमनिकाओंके इस संकोचका कारण सब रोगियों में पूर्ण विदित नहीं हुआ है। अलबत्ता, कई रोगियोंमें रक्तदाब वृक्क रोगोंका उपद्रवभूत होता है। वृक्कमें ये रोग होनेसे उनमें रस-रक्तका प्रवाह न्यून हो जाता है, जिससे उनमें ओषजन यथोचित प्रमाणमें नहीं जा पाता। ओषजन के प्रमाण को न्यूनतावश, अनुमान किया जाता है कि, वृक्कोंमें कोई द्रव्य उत्पन्न होता है जो प्रसृत होकर धमनिकाओं की भित्तियोंके अनैच्छिक मांस-सूत्रोंमें प्राकृतापेक्षया अधिक संकोच उत्पन्न करता है। परीक्षणोंसे इस अनुमान की पुष्टि भी हुई है। यदि एक कुत्ते की वृक्कोंकी

१—आधुनिकोंने गणना कर निश्चित किया है कि : स्थलचर स्तनपायिओं Mammals—मैमल्स) को वयःस्थोचित प्रमाण और पुष्टि प्राप्त करनेमें जितने वर्ष लगते हैं, उसकी कोई सप्तगुणी उनकी आयु होती है। यथा, कुत्तेकी पूर्ण पुष्टि दो वर्षमें होती है और वह बारह से चौदह वर्ष जीता है; बिल्ली डेढ़ वर्षमें पूर्ण वृद्धि प्राप्त करती है और वह दस-ग्यारह वर्ष जीवित रहती है; घोड़ा पाँच वर्षमें पुष्ट होता है और पैंतीस वर्ष जीता रह सकता है; ऊँट आठ वर्षमें पूर्ण पुष्ट होता है और वह पचपन वर्ष तक जीता है। मानव इसका अपवाद है। वह बीस से पच्चीस वर्ष तक पूर्णता प्राप्त करता है, परन्तु एक सौ चालीस या एक सौ सत्तर वर्ष जीवित नहीं रहता। तीसके पश्चात् उसमें वार्धक्यके लक्षण प्रकट होने लगते हैं। परन्तु, चरकने लिखा है कि : सत्ययुगमें पुरुष अमितायु (चार सौ वर्षकी आयुवाले) होते थे। (देखिये. च० वि० ३।२८); इसकी टीकामें अमितायुका अर्थ स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—"अमितमिवातिबहुत्वेनायुर्येषां ते अमितायुषः। सत्ये हि चतुर्वर्षशतमायुः, यदुक्तं भगवता व्यासेन—'पुरुषाः सर्वसिद्धार्थाश्चतुर्वर्षशतायुषः। कृते' इति।" प्रत्येक युगमें धर्मका एक-एक चरण ह्रसित होकर लोकोंमें गुणोंका भी एक-एक चरण लुप्त होता जाता है। इस प्रकार प्रत्येक सौ वर्षों में लोकोंकी आयु एक वर्ष न्यून होती है। अन्यत्र (च० वि० ८।१२२) में चरकने अपने कालकी आयुका मध्यमान सौ वर्ष कहा है (वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले); यद्यपि कोई इससे न्यूनाधिक भी जीते हैं। दोनों प्रकरण तथा आगे च० चि० १।२।३ तथा १।४।३-४ जिज्ञासुओंके लिये द्रष्टव्य हैं।

२—Peripheral resistance—पेरीफेरल रेज़िस्टैन्स। इसका विचार पहले कर आये हैं।

पोषक धमनी को चिमटी[१] से दृढ़ दबा दिया जाय कि जिससे उसके कोषोंमें रक्त तथा ओषजनका संचार न्यून हो जाय तो वृक्कोंमें एक द्रव्य उत्पन्न होकर रक्तदाबकी वृद्धि होती है[२]। रक्तदाब की वृद्धिका प्रमुख कारण यह है। (विदग्ध वाचक समझ सकते हैं कि धमनिकाओंका संकोच वातधातुके प्रकोपसे हुई दृष्टिके प्रति हमें खेंच ले जाता है।)

वृद्धावस्थामें सामान्यतया रक्तदाबकी वृद्धिका एक अन्य भी कारण होता है, यद्यपि इससे उतनी वृद्धि नहीं होती कि रोगोत्पत्ति हो। इसमें यह होता है कि, ज्यों-ज्यों वयोवृद्धि होती जाती है, हमारी धमनियोंमें सुधा (केल्शियम) के अविलेय—न घुलनेवाले—समासोंका निक्षेप होता जाता है[३]। इससे वे कठिन हो जाती हैं तथा उनमें स्थितिस्थापकता न्यून हो जाती है[४]। दोनों कारणोंसे धमनियों तथा उनकी शाखाओंमें रक्तको ग्रहण करनेकी मर्यादा न्यून हो जानेका परिणाम यह होता है कि, अवयवोंमें रस-रक्त पहुँचानेके लिए हृदय को अधिक बलपूर्वक कार्य करना पड़ता है। कारण, हृदय सामान्यकी अपेक्षया अधिक बल लगाकर संकुचित होगा तभी उसके अन्तर्गत रक्तका पीडन धमनियोंमें स्थित रक्तके पीडन (दवाव) से अधिक होगा और तभी रक्त हृदयसे सर्वाङ्गकी ओर प्रसृत हो सकेगा। यह कर्माधिक्य विशेषतया वामनिलय (वामक्षेपक कोष्ठ)[५] को करना पड़ता है, जिसका कर्म रस-रक्तको सर्वाङ्गमें भेजना है। इस कर्माधिक्यका परिणाम यह होता है कि उसकी

१—Clamp—क्लैम्प।

२—शिलाजतु, गोक्षुर, पलाश आदि प्रसिद्ध रसायन द्रव्योंका प्रधान कर्म मूत्रमार्ग विशोधन है। वे अपना रसायन कर्म मूत्रके विरेचन द्वारा ही करते होंगे। यह नव्योंकी इस गवेषणासे जाना जा सकता है।

३—इस विकृतिको धमनी-खरत्व (Arteriosclerosis—आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) कहते हैं। इस शब्दके उत्तरपद (पिछले शब्द) का अर्थ कठिन है; यथा नेत्र-गोलकके कठिन श्वेत मण्डलको स्क्लेरा (Sclera) या स्क्लेरोटिक (Sclerotic) कहते हैं।

४—देखिये—Arteriosclerosis (× × ×) does not bring on the hypertension in these cases, although it may be responsible for the smaller increases in pressure that occur normally as we age. The cause of hypertension in pathological cases is an increase in peripheral resistance due to chronic constriction of arterioles. However, what causes this constriction is not clearly understood. In some instances, the hypertension is secondary to kidney disease. Such disease restricts the blood flow to the kidneys and they receive insufficient oxygen. The oxygen lack seems to bring on the production of a substance by the kidneys which causes increased contraction of smooth muscle in arterial walls. There is some experimental confirmation of this. If a clamp is placed about the renal artery in a dog in such a way that the blood supply is reduced and insufficient oxygen reaches the kidney cells, hypertension is produced by means of a substance elaborated by the kidneys. (Vide, Fundamentals of physiology, by E. Tokay (1947), P. 78-79.) यह उद्धरण इस दृष्टिसे दिया है कि नयी अन्वेषणाओंसे वृक्ककी विकृति रक्तदाबकी अधिकतामें कारणतया विदित हुई है। अन्यथा, पहलेकी गवेषणाओंके आधारपर धमनी-खरत्व ही उच्च रक्तदाबका प्रमुख कारण माना जाता था। नये अनुसंधानसे आयुर्वेदके रसायनोंकी क्रियाकी व्याख्या हुई है, यह ऊपर कह आये हैं।

५—Left ventricle—लेफ्ट वेण्ट्रिकल।

भित्तियाँ प्रथम तो पुष्ट और स्थूल हो जाती हैं[1], पश्चात् विस्तृत हो जाती हैं, जिससे हृदयका आयाम (विस्तार)[2] हो जाता है। रक्तके दबावकी वृद्धि होनेसे अन्तमें रक्तवह स्रोतोंके स्वरूपमें भी विकार होने प्रारम्भ होते हैं।

एक ही वयमें कृश पुरुषोंकी अपेक्षया स्थूल पुरुषोंमें रक्तदाब अधिक होता है। कारण, उनका शरीर विशाल होनेसे एक तो हृदयको तुलनामें अधिक क्षेत्रमें रक्त पहुँचाना आवश्यक होनेसे संकुचित ही अधिक होना पड़ता है, दूसरे, शरीरके अन्य अवयवोंके समान हृदयधरा कलापर भी मेदका संचय होनेसे वह हृदयके कार्योंमें प्रतिरोधक होती है, जिससे उसके प्रतिरोधका सफल सामना करनेके निमित्त भी हृदयको अधिक कर्म करना पड़ता है।

अस्तु। रस-रक्तवह स्रोतोंकी इन विकृतियोंका परिणाम यह होता है कि, धातुओंमें—शरीरावयवोंमें—रस-रक्तका क्षेपण न्यून होता जाता है। इस स्थितिको प्राचीनोंने 'जरापरिपक्व शरीरत्वात्' शब्द द्वारा व्यक्त किया है। इस स्थिति की अनुत्पत्तिके लिए और वह उपस्थित हो चुकी हो तो उसकी निवृत्तिके लिए प्राचीन आचार्योंने आयुर्वेदके आठ अङ्गोंमें एक पृथक् अङ्गकी ही रचना की थी। पाश्चात्य चिकित्सक भी अब वार्धक्यके कारणों तथा उनके उपचारोंके अनुसंधानमें प्रवृत्त हुए हैं[3]। परन्तु उन्हें इतनी सिद्धी नहीं मिली है। उनके उपचारोंसे कुछ काल यौवन-सुलभ लक्षण दिखाई देते हैं, परन्तु पीछे तो समवयस्क अन्य पुरुषोंकी अपेक्षया भी अधिक वार्धक्यके चिह्न इनमें प्रकट हो जाते हैं। अपरंच, आयुर्वेदके आचार्योंने रसायनाधिकारमें, आयुके साथ आरोग्य और बलकी वृद्धिका भी विचार किया है। यह प्रगति आधुनिकोंके अवतकके अनुसंधानोंमें प्रायः नहीं हुई है, जिससे पुरुषोंमें वयोवृद्धि होते हुए भी अनारोग्य और दौर्बल्यके कारण वे कुछ भी कर्म करनेमें अशक्त अतएव बहुधा कुटुम्ब, जनसमाज एवं अपने लिए भी भारभूत होते हैं। कहते हैं, विशेषतया अमेरिकामें लोकोंकी वयोवृद्धि तो हो ही रही है, पर कानूनन मृत्यु[4] प्राप्त करनेके प्रार्थना-पत्रोंकी संख्या भी बढ़ रही है।

अष्टविध सार तथा रससार पुरुषोंके लक्षण—

रुग्ण पुरुषकी परीक्षा करते हुए प्रकृति, विकृति आदि अन्य परीक्षणीय वस्तुओंके साथ सारकी भी परीक्षा की जाती है। सारका सामान्य लक्षण तथा रससार पुरुषोंके लक्षण निम्न हैं:

साराण्यष्टौ बलमान विशेष ज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते।
तद्यथा— त्वग्रक्त मांसमेदोऽस्थि मज्जशुक्रसत्त्वानीति॥ च० वि० ८।१०२

सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते॥ —चक्रपाणि

अथ सारान् वक्ष्यामः—× × सत्त्वसारं विद्यात्; × × शुक्रेण; × × मज्ज्ञा; × × अस्थिभिः; × × मेदसा; × × मांसेन; × × रक्तेन; सुप्रसन्न मृदु त्वग्रोमाणं त्वक्सारं विद्यादिति। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुः सौभाग्ययोरिति॥ सु० सू० ३५।१६

सुप्रसन्नमृदुशब्दौ त्वग्रोमभ्यां सह प्रत्येकं संबध्येते। त्वक्सारं रससारं; त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रसोऽभिहितः। × × सौभाग्यं सर्वस्यापि प्रतिभासमानंत्वम्॥ —डह्लन

१—Hypertrophy—हायपरट्रॉफी।

२—Dialatation—डायलेटेशन।

३—इस विद्याको—Geriatrics—जेरीएट्रिक्स, या Gerontology—जेराण्टोलॉजी कहते हैं।

४—Mercy-killing—मर्सी-किलिङ्ग; या Euthanasia—यूथेनेशिया।

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ् मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्प बल इति। दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराः कृशाश्चैके बलवन्तः। तत्र पिपीलिका भारहरणवत्सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्॥

च० वि० ८।११५

उपचितत्वादिति स्थूलत्वात्। महाशरीरत्वादिति अतिप्रमाणशारीरत्वात्। पिपीलिका भारहरणवदिति स्वल्पाः पिपीलिका यथा सारशरीरत्वेन महान्तं भारं नयन्ति, तथाऽल्पकृशशरीरा इत्यर्थः॥ —चक्रपाणि

विशेषतोऽङ्ग प्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु॥ सु० सू० ३५।१७

तत्र सर्वैःसारैरुपेताः पुरुषा भवन्त्यति बलाः परमसुखयुक्ताः क्लेशसहाः सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः कल्याणाभिनिवेशिनः स्थिरसमाहित शरीराः सुसमाहितगतयः सानुनादस्निग्ध गम्भीर महास्वराः सुखैश्वर्यवित्तोपभोग संमानभाजो मन्दजरसो मन्दविकाराः प्रायस्तुल्यगुण विस्तीर्णापत्याश्चिरजीविनश्च। अतो विपरीतास्त्वसाराः। मध्यानां मध्यैः सारविशेषैर्गुणविशेषा व्याख्याता भवन्ति। इतिसाराण्यष्टौ पुरुषाणां बलप्रमाण विशेषज्ञानार्थमु दिष्टानि भवन्ति॥ च० वि० ८।१११-१४

तुल्यगुणविस्तीर्णपत्या इति जनितात्मसदृशापत्याः। प्रायःशब्दो नियमेन निषेधयति। मध्यनामिति स्तोकसाराणाम्। मध्यैः सार विशेषैरिति ये तत्र संभवन्ति सारास्तद्युक्तैः सारगुणैरित्यर्थः। —चक्रपाणि

तत्र स्निग्धश्लक्ष्णमृदु प्रसन्न सूक्ष्माल्प गम्भीरसुकुमारलोमा सप्रभेध च त्वक् त्वक्साराणाम्। सा सारता सुखसौभाग्यैश्वर्योपभोगबुद्धिविद्यारोग्यप्रहर्षणान्यायुष्यत्वं च चष्टे॥

च० वि० ८।१०३

सप्रभेवेति प्रभायुक्ता त्वक्॥ —चक्रपाणि

उपस्थित रोगीके परिणाह (डील-डौल) मात्रको देखकर उसके बल नाम रोगके वेग एवं चिकित्सोपयुक्त औषध, अन्न और विहारके बलको सहन करनेके सामर्थ्यका ज्ञान नहीं हो सकता। शरीरकी स्थूलता और अति प्रमाणताका अर्थ यह नहीं कि पुरुष बलवान् है। इसी प्रकार शरीरकी कृशता और अल्प प्रमाणतासे भी यह नहीं समझना चाहिए कि यह अल्पबल है। कारण, कई अल्प प्रमाण एवं कृश शरीरवाले पुरुष बलवान् देखे जाते हैं। यथा, पिपीलिका अल्प और कृश शरीरवाली होती हुई भी अपने शरीर से कई गुणा अधिक भारको उठाती तथा खेंच ले जाती है। सो, बलकी परीक्षा केवल शरीरके प्रमाणको देखकर नहीं की जा सकती। बलकी परीक्षा सारकी परीक्षासे होती है। सारका अर्थ है—धातु विशेषकी अन्य धातुओंकी अपेक्षया अधिक विशुद्धि (अतएव अधिक पुष्टि[1])।

बलकी परीक्षार्थ निम्न आठ धातुओंके सारकी परीक्षा की जाती है—सत्त्व (मन), शुक्र मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त और त्वचा (रस)। इनमें पीछेकी ओरसे पूर्व-पूर्व सार पिछले-पिछले सारकी अपेक्षया आयु और सौभाग्यकी दृष्टिसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

१—अंग्रेजीमें जिसे स्टेमीना (Stamina) कहते हैं वह आयुर्वेदका सार है।

जिस पुरुषमें इन सब धातुओंका सार होता है उसमें निम्नोक्त लक्षण देखे जाते हैं ; अत्यन्त बलवत्ता, परम सुख, क्लेशसहिष्णुता, सर्व कार्य करनेमें आत्म-विश्वास, कल्याण कर्मों के करनेमेंही प्रवृत्ति, शरीर स्थिर (दृढ़) और द्वन्द्वों (शीत-उष्ण आदि) के सहनमें समर्थ होना, गतिकी स्थिरता ; स्वर अनुनाद (प्रतिध्वनि) युक्त, स्निग्ध, गम्भीर और विशाल होना ; सुख, ऐश्वर्य, धन, भोग और संमान ; वार्धक्यका प्रसर मन्द होना ; रोगोंके प्रसारकी मन्दता ; चिरायु, संतति भी प्रायः इन्हीं गुणोंवाली होना। ये लक्षण जिनमें न हों उन्हें असार तथा जिनमें मध्य प्राण हों उन्हें मध्यसार समझना चाहिए।

इनमें त्वक्सार किंवा रससार पुरुषोंमें ये लक्षण देखे जाते हैं : रोम स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न (निर्दोष, निर्मल), सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर (गहरे मूलवाले) तथा सुकमार एवं त्वचा भी प्रभावती, सुप्रसन्न और मृदु होना। पुरुषमें त्वक्सारता सुख, सौभाग्य, ऐश्वर्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या आरोग्य प्रहर्षण (आनन्दी स्वभाव) और आयुष्य की गमक (द्योतक) होती है[1]।

रस का प्रमाण—

अपना-अपना प्राकृत कर्म करने के लिए प्रत्येक दोष, धातु, उपधातु और मलका अमुक प्रमाण शरीरमें रहना चाहिए, यह अनेकशः कहा जा चुका है। यह भी कह आये हैं कि तत्तत्कारणवश इनका प्रमाण एक ही पुरुषमें भी नियत नहीं रहता। अतः उसका प्रति पुरुष प्राकृत मान बताना शक्य नहीं है। इनकी समता जाननेका एक ही उपाय है—इनका प्राकृत कर्म समभावसे होना तथा उसके कारण आत्मादिका प्रसन्न होना[2]। तथापि, कई आचार्योंने इन दोषादिका सामान्य प्रमाण बताया है। आयुर्वेद-मतसे इस प्रमाण-निर्देशकी यह विशेषता है कि इनका माप पुरुषकी अपनी अंजलिसे ही बताया गया है। इसी प्रकार, आधुनिक शरीर शास्त्रज्ञ जैसे भार और ऊँचाई जाननेके प्रचलित मानोंसे सभी पुरुषोंके लिए सारे शरीरकी वयोभेदसे अमुक ऊँचाई और भार आवश्यक होना बताते हैं तथा प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका भी अमुक भार जताते हैं वैसा प्राचीनोंने नहीं किया है। दीर्घायुके लक्षणोंमें सारे शरीरकी ऊँचाई और प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गका प्रमाण पुरुषके अपने अंगुल के अनुसार इतने-इतने अंगुल होना चाहिए, इसी प्रकार निर्देश प्राचीनोंने किया है[3]। प्रसंगवश यह भी पुनः स्मरण करा दूँ कि, अमुक जीवनीय, खनिजतत्त्व आदिकी विद्यमानताके कारण जैसे प्रायः सभीके लिए तत्तत् द्रव्य आजकल सेवनीय बताया जाता है, वह भी आयुर्वेद-संमत नहीं है। प्रकृति आदि देखकर ही तत्तत् आहार, द्रव्य, विहार, औषध द्रव्यादि का सेवन प्रत्येक पुरुषके लिए योग्य या अयोग्य होता है।

जो हो। रसधातुका अञ्जलिमेय प्रमाण निम्न कहा गया है :

नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः, यं रस इत्याचक्षते ॥ च० शा० ७।१५

आद्य धातु रसकी अपने हाथके मापसे नव अञ्जलियाँ होती हैं। परन्तु यह प्रमाण रसधातु अधिकतम हो तभी समझना चाहिए। इसमें स्वस्थावस्थामें भी वृद्धि-ह्रास होता ही है। यह वृद्धि और ह्रास अनुमानसे जाना जा सकता है।

१—शेष सारोंके लक्षण आगे तत्तद्धातुके अधिकारमें कहे जायेंगे।

२—देखिये पृ० ६०-६२।

३—देखिये—सु० सू० ३५।१२, १४ ; च० वि० ८।१।७। इनमें 'स्वैः अंगुलैः' तथा 'यथा स्वेनांगुलिप्रमाणेन' गणना ही आचार्योंने की है। ऊपर धृत चरक-वचनमें (च० शा० ७।१५ में) भी मान 'स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन' ही कहा है।

देखिये—

यत्त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः। तत् परं प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव। तद्यथादशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन × ×॥ च० शा० ७।१५

ननु यथा प्रकृतिस्थे शरीरे यथोक्तं मानं त्वगादि न व्यभिचरति, तथा किं प्रकृतिस्थे शरीरे तदुदकाद्यपि यथोक्तं मानं न व्यभिचरतीत्याह—यत्त्वञ्जलीत्यादि। यत्तु उदकादि अञ्जलिसंख्येयमग्रे वक्ष्यमाणं, तदुदकादेः परमुत्कृष्टं प्रमाणम्। तेन प्रकृतिस्थेऽपि शरीरे उदकादि वृद्धिह्रासयोगि भवतीति तर्क्यमेव। एतेन यदुदकादेरिह प्रमाणमभिधातव्यं तत्प्रकृष्टस्योदकादेः प्रमाणं; तेनोक्तप्रमाणात् किंचिन्न्यूनमपि तथाऽधिकमपि यदुकादिमानं तदपि प्राकृतमानमेव[1]॥ —चक्रपाणि

रसक्षय के लक्षण—

दोषाणां धातूनामोजोमूत्रशकृदिन्द्रियमलानाम्।
अष्टादश क्षयास्ते लक्ष्याः स्वगुणक्रियानाशात्॥

च० सू० १७।६३-७२ चक्रपाणि धृत जतूकर्ण-वचन

क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम्॥ च० सू० १७।६२

१—अंजलि-मान बताते हुए चरकने यह मान अधिकतम प्रमाण होनेपर ही बताया है। साथ ही, जैसा कि उसका अभिप्राय विशद करते हुए चक्रपाणिने भी कहा है, प्राकृतावस्थामें भी इन प्रमाणों में न्यूनाधिकता होती ही है। इससे फलित है कि जो आचार्य दोष, धातु आदिका नियत प्रमाण नहीं मानते उनका यहाँ विरोध नहीं किया है।

प्रकरण-पूर्तिके लिए आगेका संपूर्ण ग्रन्थ तथा उसकी टीका देता हूँ।

दशोदकस्यांजलयः शरीरे स्वेनांजलिप्रमाणेन, यत्तु प्रच्यवमानं पुरीषमनुवध्नात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च धातून्, यत्तु सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्विभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्योनिष्पतत् स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशांजलिप्रमाणं; नवांजलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोः यं रस इत्याचक्षते; अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पंच पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसायाः, द्वौ मेदसः, एको मज्जायाः, मस्तिष्कस्यार्धांजलिः शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इति। एतच्छरीरतत्त्वमुक्तम्—च० शा० ७।१५॥ × × दशोदकांजलय इत्यभिधायापि तदुदकं दशांजलिप्रमाणमिति पुनर्यत्करोति, तेन मध्यग्रन्थकृतलसीकास्वेदादिसंज्ञया उदकस्यानन्यतां दर्शयति। पूर्वस्येति प्रथमस्य। वसा मांसस्नेहः। मस्तिष्कः शिरोगतस्नेहः। श्लेष्मलस्यौजस इत्यनेन यदोजोऽष्टबिन्दुकं तत्व्यतिरिक्तस्यौजस ओजोवह धमनीवाह्यस्य विशुद्धश्लेष्मसमानगुणस्यार्धाञ्जलिप्रमाणतां दर्शयति। ओजो हि परावरभेदेन द्विविधमर्थेदशमहामूलीये दर्शितमेव॥ —चक्रपाणि

भारकी दृष्टिसे पाश्चात्य क्रियाशारीरमें धातुओंके प्रमाण-निर्देशकी कल्पना कुछ भिन्न है। तद्यथा—मोटे तौरपर विविध अवयवों का प्रतिशत अनुपात निम्न होता है—अस्थित १६, मांस ४२, मेद १८, अन्तःस्थ मृदु अङ्ग (यकृत् आदि) ९, त्वचा ८, मस्तिष्क २, रक्त ५। रक्तके रक्त-श्वेत कणों, रञ्जक पित्त, एवं स्वस्थावस्था में निकलनेवाले कुल मूत्र, पित्तादिका नियत प्रमाण भी गणनासे बताया जाता है। शरीरके धातुओं या मलोंके नाइट्रोजन; सुधा; कार्बन आदि घटक तत्त्वोंका प्रमाण-निर्देश भी रसायन या शारीरशास्त्रकी संज्ञाओंमें किया जाता है।

तीन दोष, सात धातु, ओज, मूत्र, पुरीष और पाँच इन्द्रियोंके मल इन अठारह[1]के क्षय को जाननेका सामान्य नियम यह है कि, इनमें किसी का भी क्षय होने पर क्षीणदोषादिके प्राकृतगुणतथा क्रियाका लोप हो जाता है। तथापि विशदताके लिए प्रत्येकके क्षयके लक्षण कण्ठरव से आचार्योंने कहे हैं। इनमें रसधातुके क्षयके लक्षण निम्न हैं।

घट्टते सहते शब्दं नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥ च० सू० १७।६४

द्रवति इति हृदयं धुग् धुगिति करोति इति। —शिवदास सेन

रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च॥ सु० सू० १५।९

हृच्छब्दः पीडादिभिः शून्यतान्तैः संबध्यते। चकारात् प्राकृतकर्महानिः। अन्ये तु 'रसक्षये हृत्पीडा, कम्पः, शोषः शून्यता, तृष्णा च' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—'शोषः शरीरस्य, शून्यता आमाशयस्य मनसो वा' इति; शेषं समम्॥ —डल्हन

हृच्छब्दः पीडाकम्पशोषशून्यताभिर्योज्यः। एते च रस क्षये वृद्धवाताद्धि भवन्ति। चकारादिहान्यत्र च स्वकर्महानिः परधात्वपचयश्च ज्ञेयः॥ —चक्रपाणि

रसे (क्षीणे) रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता॥
अ० हृ० सू० ११।१७

× × शोषो मुखादीनाम्। ग्लानिः क्लमः॥ —अरुणदत्त

रसधातुका क्षय होनेपर नीचे लिखे विपरिणाम होते हैं : पूर्वोक्त प्राकृत कर्मोंका ह्रास, इतर धातुओंका अपचय (क्षीणता), मुख तथा शरीरके अन्य अवयवोंका शोष (कृशता), रूक्षता, तृष्णा, आमाशय, हृदय तथा मनकी शून्यता (इनका खाली-सा प्रतीत होना), श्रम (थकावट), शब्दासहिष्णुता (बर्तन, बाल-बच्चे आदिसे हुए शब्दके प्रति द्वेष—उससे क्षुब्ध हो जाना[2]), हृदयका घट्टन (जकड़ा-सा जाना[3] ?), हृत्कम्प[4], हृद्द्रव (हृदय धुक्-धुक्) करना[5],

---

१—इस प्रकरणमें चरक-निगदित अठारह क्षयोंको लक्ष्यकर चक्रपाणिने कहा है—क्षय इतने ही नहीं हैं। कण्ठरवसे इतनोंका संख्या और लक्षणसे निर्देश तो इनके अति प्रसिद्ध होनेसे किया है। वैसे अन्यत्र, अन्य भी प्रकारके क्षय आचार्यने कहे ही हैं। देखिये—एते चाष्टादश क्षया आविष्कृततमत्वेनोक्ताः। तेन उदकक्षयस्वरक्षयाद्यनभिधानं नोद्भावनीयम्। उक्तं हि—'स्वरक्षयमुरोरोगम्' इति। तथोदकक्षयलक्षणं यथा—'जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमसंशोषं पिपासां चातिवृद्धां दृष्ट्वा उदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति जानीयात् (चि० वि० ५।८।२)' इति—च० सू० १७।७३-७५ पर चक्रपाणि। उदकक्षय = Dehydration—डीहाइड्रेशन।

२—Phonophobia—फोनोफोबिआ।

३—हृदय-विद्रधिके लक्षणोंमें 'हृद्धट्टन' शब्द, चरकने लिखा है। देखिये—च० सू० १७।१०१

४—Tachycardia—टैकीकार्डिआ। हृदयके स्पन्दनकी प्रतिमिनट प्राकृत संख्यामें वृद्धि हृत्कम्प कहाती है।

५—Palpitation—पैल्पिटेशन। प्राकृत कर्ममें एवं केवल हृत्कम्पमें हृदयके स्पन्दनका ज्ञान रोगी को नहीं होता। हृद्द्रवमें धुक्-धुक् (धड़क्-धड़क्) शब्दके रूपमें रोगीको हृदयका स्पन्दन विदित होता है और घबराहटमें डालता रहता है।

हृच्छूल[1], अल्प भी श्रम करने पर हृदय तथा शरीरमें ग्लानि (श्रम-क्लम) एवं श्वासका उदय। रसक्षयके हृदय-संबन्धी लक्षण रसक्षयजनित वात-वृद्धके कारण होते हैं।

रसकी अतिवृद्धिके लक्षण—

रसोऽतिवृद्धो हृदयोत्क्लेदं प्रसेकं चापादयति ॥ सु० सू० १५।१४

हृदयोत्क्लेदं हृल्लासं, अन्ये छर्दिमाहुः। प्रसेकं लालास्रावमित्यर्थः॥ —डल्हन

श्लेष्मा वृद्धो) ऽग्निसदन प्रसेकालस्यगौरवम्।
श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रताः॥
रसोऽपि श्लेष्मवत्— अ० हृ० सू० ११।७-८

आलस्यम् अनुत्साहः। गौरवं दुर्वहाङ्गत्वम्। शैत्यं शीतस्पर्शत्वम्। श्लथाङ्गत्वम् अवयव शैथिल्यम्॥ —अरुणदत्त

रसकी प्रमाण वृद्धिके लक्षण श्लेष्म-वृद्धिके तुल्य ही होते हैं। ये निम्नोक्त हैं: अग्निमान्द्य, उत्क्लेद (उत्क्लेश—जी मिचलाना[2]), प्रसेक (लालस्राव), वमन, आलस्य (शक्ति होने पर भी कर्म करनेमें उत्साह न होना[3]), गौरव (भारीपन—शरीरका भार उठानेमें असमर्थता प्रतीत होना), अवयवोंकी श्वेतता, शैत्य (अवयव स्पर्शमें शीत प्रतीत होना), अवयवोंका शैथिल्य, श्वास, कास तथा अनिद्रा।

दोषादिके क्षयके सामान्य कारण—

दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलोंका प्राकृत प्रमाण स्थिर रखनेके लिए उनके क्षय और वृद्धिके कारणोंका जानना आवश्यक है। चिकित्सामें भी इनका ज्ञान उपयोगी है[4]। अतः इनके क्षयके सर्व-सामान्य कारणोंका उल्लेख करते हैं।

व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्पप्रमिताशनम्।
वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
कफशोणितशुक्राणां मलानां चातिवर्तनम्।
कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः॥ च० सू० १७।७६-७७

सामान्येन क्षयाणां हेतुमाह—व्यायाम इत्यादि। प्रमिताशनमेकरसाभ्यासः। अतिवर्तनमतिप्रवृत्तिर्बहिर्गमनमिति यावत्। कालो वार्धक्यमादानं च। भूतोपघातः पिशाचाद्युपघातः। अत्र

१—Angina Pectoris—एंजाइना पेक्टोरिस। हृदयको रस-रक्त अल्प मिलनेसे वातकी वृद्धि होकर (हृदय-पोषक धमनियोंका स्तम्भ-संकोच होकर) हृच्छूल होता है—ऐसा आयुर्वेद का मत है। नव्योंका मत है कि प्रथम स्तम्भ और पीछे रस-रक्तके अल्प मिलनेसे हृच्छूल होता है। यह भेद स्मरण रखना चाहिये।

२—Nausea—नॉशिआ।

३—शक्तौ सत्यामनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते॥ —साहित्य-दर्पण

४—कारण, चिकित्साका प्रथम सोपान है—निदान-परिवर्जन-कारणका परित्याग—संक्षेपतः क्रियायोगो निदान परिवर्जनम्—सु० उ० १।२५

वातक्षयहेतुर्नोक्तो विलक्षणत्वात्; स चाचिन्तनदिवास्वप्नादिर्ज्ञेयः। किंवा, अनशनात् किट्टाभावः, ततश्च किट्टरूपस्य वातस्याप्यनुत्पादात् क्षयो ज्ञेयः॥

व्यायाम (शारीर-मानस श्रम), अनशन, चिन्ता, रूक्ष (स्नेह-रहित) भोजन, अल्पभोजन प्रमित भोजन (एक ही रसका चिरकाल सेवन), वात (हवामें रहना), धूप, भय, शोक; रूक्ष पेय; अतिजागरण; कफ, रक्त, शुक्र और मलोंकी अत्यधिक प्रवृत्ति (बहिर्गमन): काल (वृद्धावस्था एवं आदान—शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु), पिशाचादि योनियोंका आवेश[1]।

इन क्षयोंमें वातक्षयके कारणोंका निर्देश नहीं किया गया है। कारण अन्य दोषों, धातुओं तथा मलोंके क्षयसे वायुकी वृद्धि तथा उनकी वृद्धिसे वायुका क्षय होता है। सो, इतर दोष-धातु आदिकी वृद्धिके कारणभूत अचिन्ता, दिवास्वप्नादि कारण वातके क्षयके समझने चाहिये।

दोषादिकी वृद्धिके सामान्य कारण—

सर्वैव हि वृद्धिः प्रायोऽतिसंतर्पणनिमित्तत्वाच्छ्लेष्मणानुगता। तद्विपर्ययाच्च क्षयो वायुना॥ अ० सं० सू० १९

अति संतर्पणादि जो कारण श्लेष्माके प्रकोपक प्रसिद्ध हैं, वातको छोड़कर शेष सभी दोषों, धातुओं और मलोंकी सामान्य वृद्धिके कारण भी सामान्यतया वही हैं। वायुकी वृद्धि तद्विपरीत अपतर्पणादि कारणोंसे होती है।

रसादिके क्षयका उपाय—

तत्रापि (रसक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतिकारः)॥ सु० सू० १५।१०

स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण, समानगुणेन, समानगुणभूयिष्ठेन वा। ×× द्रव्यग्रहण-मुपलक्षणम्। तेन कर्मापि यद्यस्यधातोरभिवृद्धिकरं तत्क्षये तत्सेव्यम्॥ —डल्हन

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति॥
यद्यदाहारजातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति॥ सु० सू० १५।२९-३०

दोष, धातु, मल और बल (ओज) का क्षय हो जाने पर सामान्य उपचार यह है कि, ऐसे आहार-विहारका सेवन किया जाय जो शरीरमें क्षीण हुए दोषादिके योनि (उत्पादक कारण) की वृद्धि करे। ऐसे द्रव्य तीन प्रकार के हो सकते हैं—समान, यथा रक्तकी वृद्धिके रक्त (वही धातु, पशु आदिके शरीरमें ग्रहण करना), समानगुण—द्रव्य रक्तादि धातुरूप न हो तथापि उसके गुण पूर्णतया क्षीण हुए धातुके सदृश हों तथा समानगुणभूयिष्ठ—द्रव्यके सबके सब गुण क्षीण धातुके समान न हों, परन्तु अधिकांश गुण उसके समान हों। ऐसे द्रव्योंके सेवन में सुकरता यह है कि पुरुषमें जिस दोष इत्यादिका क्षय हुआ हो उसकी पूर्ति जिन द्रव्योंसे होती हो उनके सेवनकी

१—आदान तथा काल-सम्बन्धी आयुर्वेद एवं नव्य विज्ञानकी दृष्टिसे अन्य विवेचन जाननेके लिये देखिये—आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान आठवाँ अध्याय।

इच्छा उसे स्वयं होती है। उन्ही द्रव्योंका सेवन करानेसे उस धातुका क्षय निवृत्ति होकर साम्य होता है[१]।

रसका क्षय होनेपर उसके साम्यके लिए नीचे लिखे द्रव्योंकी नैसर्गिक इच्छा होती है—गन्ना, मांसरस (शोरवा), मन्थ, (सतू), मधु, घृत, गुडोदक (गुडका पानी), रक्त, मांस, यवागू[२]।

रसधातुके साम्यका परिणाम—मध्यशरीर—

रसनिमित्तमेव स्थौल्यं कार्श्यं च ॥ सु० सू० १५।३२

चकारान्मध्यशरीरत्वं च ॥ —डह्लन

यः पुनरुभयसाधारणान्यासेवेत तस्यान्नरसः शरीरमनुक्रामन् समान् धातूनुपचिनोति, समधातुत्वान्मध्यशरीरो भवति, सर्वक्रियासु समर्थः क्षुत्पिपासा शीतोष्णवातवर्षातपसहो बलवांश्च। स सततमनुपालयितव्य इति। भवन्ति चात्र—

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूलकृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥ सु० सू० १५।३४-३५

मध्यशरीरस्य हेतुं गुणं च दर्शयन्नाह—यः पुनरित्यादि। उभयसाधारणानि नातिस्निग्धरूक्षाणि स्वास्थ्यवृत्तिकानि द्रव्याणि षष्टिकरक्तशालिलावकदाडिमतण्डुलीयकादीनि, अदिवास्वप्नादींश्च विहार-विशेषान्। सर्वक्रियासु समर्थ इत्यनेनैव बलवत्वे लब्धे यद्बलवांश्चेति करोति तन्नियमार्थम्; एवंभूताहारविहारसेवी बलवानेव भवतीत्यर्थः। मध्यशरीरस्य चिकित्सामाह—स सततमनुपालयितव्य इति 'स्वस्थवृत्तानुवर्तनेन' इति शेषः। तयोर्द्वयोः कृशस्थूलयोर्दोषवत्त्वेपि स्थूलस्यातिदोषवत्त्वं मध्यशरीरस्य च गुणवत्त्वं निर्देष्टुमाह—अत्यन्तेत्यादि। कुतः स्थूलात् कृशः पूजितः? उच्यते—स्थूलस्य क्रियाऽक्षमत्वात्, अतिशयेन व्याधिपीडनाच्च॥ —डह्लन

सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।
सततं चोपचर्यौ हि कर्शनबृंहणैरपि॥
स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवाति पीडयेत्॥
सममांस प्रमाणस्तु समसंहननो नरः।
दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते॥
क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः।
समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः॥ च० सू० २१।१६-१९

कर्शनबृंहणैरिति यथासंख्यम्। वरमिति मनागिष्टम्। स्थूलमेवातिपीडयेदिति स्थूलस्य दुरुपक्रमत्वात्। यतः स्थूलस्य संतर्पणमिति स्थौल्यकरम्, अपतर्पणंचायं प्रवृद्धाग्नित्वान्न सोढुं क्षमः।

१—पृ० २३४ पर नवीन और प्राचीन उभयमतानुसार रुचिसे ही क्षीण धातुपूर्तिके इस प्राकृत नियमका निर्देश कर आये हैं। वहीं डह्लन-धृत पद्यमाला भी दी है, जिसमें कहा है, किस दोषादिका क्षय होनेपर किस-किस द्रव्यकी अभिलाषा होती है। इन अभिलाषाओंकी तुलना गर्भस्थितिकालिक दोहदसे की जा सकती है। २—देखिये पृ० २३५ पर धृत पद्यमाला।

दुर्बले तु संतर्पणं योग्यमेवेति भावः । संप्रति प्रशस्तपुरुषमाह—समेत्यादि । मांसशब्देनेहोपचयो विवक्षितः । तेन सममुपचयस्य प्रमाणं यस्य स तथा । संहननं मेलकः । अपरानमपि सममांसप्रमाणगुणानाह—क्षुदित्यादि ॥

—चक्रपाणि

समोपकरणाविति सममुपकरणं चिकित्सविधानं । ययोस्तौ ; तथा च चिकित्सत्वेन तुल्यावपीत्यर्थः ॥

— शिवदास सेन

स्वास्थ्यकी अनुवृत्ति (सुरक्षा) तथा रोगकी साध्यासाध्यता आदिकी परीक्षार्थ शरीरके तीन विभाग किये जाते हैं—स्थूल (मेदस्वी), कृश तथा मध्य । शरीरके इन तीनों भेदोंका कारण भी रसधातु ही है । आगे स्थूलताके कारणभूत जो आहार-विहार कहे जायेंगे केवल उनका एवं केवल कृशता-जनक आहार-विहारका सेवन पुरुष न करे, किन्तु दोनोंकी समान भावसे पुष्टि करें ऐसे न अति स्निग्ध और न अति रूक्ष साँठी चावल, शालि, लवाका मांस, दाडिम, चौलाई इत्यादि आहार द्रव्योंका उपयोग करे तथा आदिवास्वप्नादि विहारोंका सेवन करे तो वह मध्यशरीर होता है । कारण, स्थौल्य और कार्श्य दोनोंमें किसी एककी वृद्धि न करनेवाले आहार-विहारका सेवन करनेसे जो रस उत्पन्न होता है उससे सर्वधातुओंकी सम ही पुष्टि होती है—उनकी क्षीणता या वृद्धि न होकर साम्य रहता है । इस प्रकार जो सम या मध्यशरीर बनता है उसका संहनन (गठन) भी सम होता है । परिमाणतया ऐसा पुरुष दृढ़ इन्द्रियोंवाला, सर्वप्रकारकी चेष्टा (व्यायाम) कर सकनेमें समर्थ ; क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वात, वर्षा, आतप तथा श्रमको सहन कर सकनेवाला, समाग्नि, नियत कालपर वार्धक्यके लक्षणों से अन्वित, बलवान् तथा रोगोंके वेगसे पीडित न होनेवाला होता है । शेष दो—स्थूल और कृश गर्हित हैं । वे सदा किसी-न-किसी रोगसे ग्रस्त रहते हैं—सदा उनकी चिकित्सा आवश्यक होती है—स्थूलकी कर्शण (उसके धातुओंको क्षीण करनेवाली) तथा कृश की बृंहण (उसके धातुओंकी पुष्टि करनेवाली) । यों, ये दोनों शरीर अप्रशस्त हैं, तथापि तुलना ही करनी हो तो स्थूलकी अपेक्षया कृश अच्छा है । कारण, स्थूल पुरुषोंको रोग अधिक होते हैं—उसे हुए रोगोंका बल भी अधिक होता है । अपरंच, स्थूल पुरुषका उपचार भी शक्य नहीं है । यतः, रोग आयुर्वेद-मतसे दो कारणोंसे होते हैं—दोषादिकी क्षीणतासे या उन्हींकी वृद्धिसे । सो, उनकी युक्तियुक्त चिकित्सा भी दो प्रकार की होती है—संतर्पण द्वारा क्षीण दोषादि की वृद्धि और अपतर्पण द्वारा वृद्ध दोषादिका क्षय । इन दोनोंमें एक भी चिकित्सा स्थूल पुरुषमें संभव नहीं । संतर्पणसे उसके मेद आदि धातुओंकी अधिक वृद्धि होती है और अपतर्पणको वह अग्निकी तीव्रताके कारण सह नहीं सकता । तथापि, यथाशक्य तत्तत् उपाय द्वारा इनका वैषम्य बढ़े नहीं इस बातको लक्ष्यमें रखकर इनकी सदा चिकित्सा करनी चाहिये[1] । शेष मध्यशरीर पुरुषको स्वस्थ्यवृत्तोक्त आहार-विहारके सेवन द्वारा सतत तद्वत् रखना चाहिये ।

अतिस्थूल पुरुषको होनेवाले विकार—

अतिस्थूलस्य तावदायुषो ह्रासो जरोपरोधः ('जवोपरोधः' इति पाठान्तरम्) कृच्छ्रव्यवायता दौर्बल्यं दौर्गन्ध्यं स्वेदाबाधः क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति भवन्त्यष्टौ दोषाः । तदतिस्थौल्यमतिसंपूरणाद् गुरुमधुरशीतस्निग्धोपयोगादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नाद्धर्षनित्यत्वादचिन्तनाद्बीजस्वभावाच्चोपजायते । तस्य ह्यतिमात्रमेदस्विनो मेद एवोपचीयते न तथेतरे धातवः । तस्मादायुषो ह्रासः ; शैथिल्यात्सौकुमार्याद् गुरुत्वाच्च मेदसो जरोपरोधः;

१—इन्हीं प्रकरणोंमें आगे आचार्योंने स्थूल और कृशका उपचार लिखा है । जिज्ञासु वहीं देखें ।

शुक्राबहुत्वान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च कृच्छ्रव्यवायता; दौर्बल्यमसमत्वाद्धातूनां; दौर्गन्ध्यं मेदोदोषान्मेदसः स्वभावात्स्वेदनत्वाच्च; मेदसः श्लेष्मसंसर्गाद्विष्यन्दित्वाद्बहुत्वाद्गुरुत्वाद्व्यायामासहत्वाच्च स्वेदाबाधः; तीक्ष्णाग्नित्वात् प्रभूतकोष्ठवायुत्वाच्च क्षुदतिमात्रं पिपासातियोगश्चेति। भवन्ति चात्र—

मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन्संधुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि॥
तस्मात्स शीघ्रं जरयत्याहारं चातिकाङ्क्षति।
विकारांश्चाश्नुते घोरान् कांश्चित्कालव्यतिक्रमात्॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान्दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम्॥
मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः।
अयथोपचयोत्साही नरोऽतिस्थूल उच्यते॥
इति मेदस्विनो दोषा हेतवो रूपमेव च।
निर्दिष्टम्— ॥ च० सू० २१।४-१०

अतिसंपूरणमतिभोजनम्। बीजस्वभावादिति स्थूलमातापितृजन्यत्वात्। संप्रति स्थूलस्य साधारणादप्याहाराद्भूरिमेदोजन्याह—तस्य हीत्यदि। मेदस्विन इति हेतुगर्भविशेषणम्; तेन यस्मादिति स्थूले शरीरे मेदो देहव्यापकत्वेन लब्धवृत्ति, अतस्तदेव प्रायो वर्धते नान्ये रसादयः, तदभिभूतत्वदित्यर्थः। तस्मादिति विषमधातुत्वात्। मेदोदोषादिति दुष्टं मेदो दुर्गन्धं भवति। स्वभावादिति स्वभावादपि मेद आमगन्धित्वेन दुर्गन्धम्। स्वेदनत्वाच्चेति सति स्वेदे दुर्गन्धताऽनुभवसिद्धैवेत्यर्थः। श्लेष्मसंसर्गादिभ्यो हेतुभ्यः स्वेदाबाधो ज्ञेयः। मेदसेति वायोरनतिवृद्धत्वेनाग्निसंधुक्षकत्वं, न वैषम्यापादकत्वं, यतोऽतिवृद्धोहि वैषम्यं वह्नेः करोति वायुः। स इति मेदस्वी। कालव्यतिक्रमादिति भोजनकालातिक्रमात्। अतिस्थूललक्षणमाह—मेदोमांसेत्यादि॥ —चक्रपाणि

अयथोपचयोत्साह इति शरीरोपचयानुरूपबलरहित इत्यर्थः॥ शिवदास सेन

× × तत्र श्लेष्मलाहारसेविनोऽध्यशनशीलस्याव्यायामिनो दिवास्वप्नरतस्य चाम एवाऽन्नरसो मधुरतरश्च शरीरमनुक्रामन्नतिस्नेहान्मेदो जनयति, तदतिस्थौल्यमापादयति। तमतिस्थूलं क्षुद्रश्वासपिपासाक्षुत्स्वप्नस्वेदगात्रदौर्गन्ध्यक्रथनगात्रसादगद्गदत्वानि क्षिप्रमेवाविशन्ति; सौकुमार्यान्मेदसः सर्वक्रियास्वसमर्थः कफमेदोनिरुद्धमार्गत्वाच्चाल्पव्यवायो भवति, आवृतमार्गत्वादेव शेषा धातवो नाप्यायन्तेऽत्यर्थमतोल्पप्राणो भवति; प्रमेहपिडकाज्वरभगन्दरविद्रधिवातविकाराणामन्यतमं प्राप्य पञ्चत्वमुपयाति; सर्वे एवास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यावृतमार्गत्वात् स्रोतसाम्; अतस्तस्योत्पत्तिपरिहरेत्॥ सु० सू० १५।३२

अध्यशनशीलस्येति अजीर्णभोजनाभ्यासिन इत्यर्थः। ननु मेदस्विनो दीप्ताग्नित्वेऽपि कथमाम रससंभवः? नैष दोषः, दीप्ताग्नित्वेऽप्यध्यशनशीलत्वादामरसो भवति। तर्हि कथं रसश्चापक्वश्चेति विरोधनीयवचनम्? नह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्, जाठरेणाग्निना रसः कद्भावेन (अत्र 'कटुभावेन' इति, 'क्लेदभावेन' इति 'किट्टभावेन' इति च पाठान्तरत्रयम्) कृत एव, किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते। शरीरमनुक्रामन्निति तं तं शरीरदेशं गच्छन्नित्यर्थः। मेदो जनयति विशिष्टाहारवशाददृष्टवशान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च धातुद्वयमतिक्रम्य मेद एव वर्धयति। तत् मेदः। क्रथनं स्वपतः कण्ठे घुर्घुरारवः; अन्येत्वकस्मात् श्वासावरोधं क्रथनं कथयन्ति। गद्गदत्वमव्यक्तवचनत्वम्। क्षिप्रमेवाविशन्तीति शीघ्रमेव प्रविशन्ति स्थूले भवन्तीत्यर्थः। वातविकाराणामित्यत्र वातविकारा मेदःकृतमार्गावरणनिमित्तवातकोपविकारा इति। अन्यतममितिएषामेकम्॥ —डल्हन

तदतिस्थौल्यमित्यादौ—मेदसोऽतिप्रवृद्धत्वाज्जाठर्यमापादयति। तमतिजाठरं क्षुद्रश्वास इति पाठान्तरम्। तत्र जाठर्यमिति बृहज्जठरत्वम् इति चक्रपाणिः॥

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः। न तु 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः' इत्यादिनोक्तः, तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वायोगात्॥ —चक्रपाणि

अति स्थूलताके कारणों तथा उससे होनेवाली विकृतियोंका उल्लेख करते हैं। अत्यशन[1]—विशेषतया गुरु, मधुर, शीत और स्निग्ध-गुणप्रधान श्लेष्म-प्रकोपक आहार-द्रव्योंका अतिसेवन, अध्यशन[2] (एक बार खाया भोजन पचनेके पूर्व ही और भोजन कर लेना), अव्यायाम, अव्यवाय

१, २—अत्यशन, अध्यशन, विषमाशन आदि पदों का अर्थ—अत्यशन आदि शब्दोंका प्रयोग पुनः-पुनः आयुर्वेदमें होता है। इनको समझ लेना विद्यार्थीके लिए उपयुक्त होगा।

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः॥
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं स्मृतम्।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन् सृजन्ति वा॥ च. चि.१५।२३५-३७

पथ्यापथ्यं किंचिदेकत्र मिलितं, यथा रक्तशाल्यन्नं यवकान्नं च मिलितम्॥ —चक्रपाणि

हिताऽहितोपसंयुक्तमन्नं समशनं स्मृतम्।
बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम्॥
अजीर्णे भुज्यते यत्तु तदध्यशनमुच्यते।
त्रयमेतन्निहन्त्याशु बहून् व्याधीन् करोति च॥ सु० सू० ४६।५०८-९

हिताहितोपसंयुक्तमिति हितमहितं चात्रमैकध्यमुपयुक्तम्। यथा—'धान्यं नवं पुराणं यच्छाकं जीर्णं च कोमलम्। ऐकध्यं तद्विरुद्धं स्याच्छीतोष्णं च स्वजातितः इति। अन्ये तु हितमेवाहितं येन संपद्यते तत् हिताहितोपसंयुक्तम्; यथा—गोक्षीरं मत्स्येन सहितमहितं संपद्यते। × × अकालोऽप्राप्ताऽतीतो वा कालः॥' —डल्हन

हित और अहित (पथ्य और अपथ्य) दोनों प्रकार के अन्न द्रव्यों का समकाल (एक साथ) सेवन करना—यथा, रक्तशालि और यवक, नये और पुराने धान्य, बासी और ताजे शाक, एवं शीत तथा उष्ण द्रव्योंका किंवा विरुद्ध द्रव्योंका एक साथ सेवन समशन कहाता है। आवश्यकसे अल्प अथवा अधिक किंवा भोजनका काल न उपस्थित हो तब अथवा बीत जाय तब भोजन करना विषमाशन कहाता

(मैथुनका अयोग), दिवानिद्राका स्वभाव, नित्य आनन्द, चिन्ताका अभाव और (विशेष करके, बीज-स्वभाव नाम स्थूल ही माता-पितासे उत्पत्ति[1]---इन कारणोंके अतियोगवश पुरुष में जो रस तय्यार होता है वह धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश आम (अपक्व)[2] तथा द्रव्य-स्वभाववश अति मधुर होता है। धात्वग्नियों का दौर्बल्य, बीज-दोष, अदृष्ट (पूर्वजन्मकृत कर्म, जिनके कारण मेदस्वी ही शरीर होना), तथा शेष धातुओंके मार्ग (उनमें पोषक रस पहुँचानेवाले रक्तवह और रसवह स्रोत) मेदसे आवृत हो जानेके कारण उनमें रस यथाप्रमाण न पहुँच पाना---इन कारणोंसे रसधातु द्वारा रक्त और मांस एवं इतर धातुओंकी उतनी पुष्टि न होकर मेद की ही पुष्टि विशेष होती है। मेदकी अतिशयताके कारण पुरुषका उदर, स्तन और स्फिक् (नितम्ब) शिथिल (अतएव बोझल तथा विरूप) होते हैं। इतर धातुओं की यथावत् पुष्टि न होनेसे पुरुष अल्पप्राण---शारीर-मानस श्रम करने तथा रोगोंका आक्रमण सहन करनेमें अक्षम---होता है। इस अल्पप्राणता एवं स्रोतोरोधके कारण आगे कही अन्य विकृतियाँ तो होती ही हैं, अन्य भी रोग उसमें शीघ्र हो सकते हैं, एवं उसे जो रोग होते हैं वे प्रकृत्या बली होते हैं। अपरंच, इन्ही कारणोंसे उसकी आयुका भी क्षय होता है---वह अल्पायु होता है। मेदकी शिथिलता, सुकुमारता तथा गुरुताके कारण उसमें वृद्धावस्था शीघ्र आती है। (पाठान्तरमें---वह उचित वेगसे अभीष्ट चेष्टाएँ नहीं कर सकता)। अन्तमें, अतिशय मेदोवृद्धिके कारण वायु आदि दोषोंका सहसा अत्यधिक कोप होकर प्रमेह, प्रमेह पिडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि तथा वातव्याधि---इन दारुण रोगोंमें किसी रोगसे उसकी मृत्यु होती है। जीवनकाल---में भी मेदके सुकुमार होनेसे उसमें शरीरकी विशालताके अनुरूप बल और उत्साह नहीं होता। कारण, मांसादि धातुओंमें शारीर-मानस श्रम सहन करनेका जितना सामर्थ्य होता है उसकी अपेक्षया अति न्यून सामर्थ्य मेद धातुमें होता है। अन्नरस द्वारा मेदकी सविशेष पुष्टि होनेसे अन्य धातुओंके समान शुक्रकी भी पुष्टि न्यून होती है---इस प्रकार शुक्रके क्षयके कारण एवं (शुक्रप्रादुर्भावकर तथा शुक्र विसर्ग कर)

है। पहले किया भोजन न पचा हो तो---(यथा घरसे खाकर निकले तो बाजार या कार्यालय जाकर किंवा बाहरसे थोड़ा-बहुत खाकर आये हों तो घर आकर) जो भोजन किया जाता है उसे अध्यशन कहते हैं। सब रसोंका यथाप्रमाण सेवन न कर एक, दो, तीन, चार या पांच ही रसोंका सेवन करना प्रमिताशन कहाता है। (देखिये---ऊपर धृत च० सू० १७।७६-७७ पर चक्रपाणि) समशन आदि घोर व्याधि उत्पन्न करते हैं अथवा पुरुष के घातक सिद्ध होते हैं।

१---अनुमान है, जन्मतः चुल्लिका-ग्रन्थि तथा पोषणिका-ग्रन्थिकी विकृतिसे जो मेदोवृद्धि होती है (देखिये-पृष्ठ ४१५---४४६) वह यहाँ अभिप्रेत है। कारण, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों के रस की तुलना करनेसे पित्त या कफके तत्तत् भेद प्रतीत होते हैं। उधर, आयुर्वेदमतसे शारीर-मानस प्रकृति, माता-पिताके शुक्रशोणितमें जिस दोषका प्राधान्य होता है उसके अनुसार निर्मित होती है। इसका अर्थ यह ले सकते हैं कि, अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके कर्मोंका निर्धारण प्रधानतया माता-पिताकी तत्तत् ग्रन्थिके अनुसार ही होता है। विज्ञ वाचक विचार करें।

२---आमके जो लक्षण प्रसिद्ध हैं वे केवल जठरमें अन्तरग्निके दौर्बल्यसे हुए आमका लक्षण देते हैं। परन्तु आमका अन्य भी भेद है। जो धात्वग्नियोंके दौर्बल्यसे धातुओंमें---शरीरमें---इस आमकी उत्पत्ति होती है। उसका स्पष्ट निर्देश ऊपर धृत चक्रपाणि तथा डल्हनके वचनोंमें है। आम-के इन दोनों भेदोंकी व्याख्या आगे दोषोंके प्रकरणमें देखिये।

स्रोत कफ तथा मेदसे अवरुद्ध होनेके कारण मेदस्वी पुरुष में मैथुनकासामर्थ्यअल्प होता है[१]। कफका संसर्ग, कफका विष्यन्दी स्वभाव—द्रव होकर बाहर निकलनेकी प्रवृत्ति, प्रचुरता, गुरुता तथा श्रम सहन न करने की शक्ति—इन हेतुओंसे मेदस्वी पुरुषोंमें स्वेदोद्गम बहुत होता है। मेद का स्वभावसिद्ध दौर्गन्ध्य[२], दुष्ट (कुथित, सड़े) हुए मेद से दौर्गन्ध्यकी सविशेष उत्पत्ति तथा अति प्रस्वेद—इन कारणोंसे मेदस्वी पुरुषमें अति दौर्गन्ध्य होता है। उसके अग्निकी स्वभाव-गत तीक्ष्णता[३] तथा कोष्ठ—महास्रोत—में मेदसे अवरुद्ध हुए वायुका प्रकोप होकर प्रकुपित हुए उसके—वायुके-प्रभावसे-अग्निकी सुतरां दीप्ति होनेसे मेदस्वी पुरुष में क्षुधा तथा पिपासा तीव्र होते हैं उसका अन्नपान शीघ्र पच जाता है—पचकर शीघ्र शोषित हो जाता है, परिणामतया अन्नपानकी पुनः-पुनः आकाङ्क्षा होती है। अन्नकी आकांक्षासे प्रेरित होकर पुरुष अन्नपानका सेवन तो करता है, परन्तु उससे उल्लिखित कारणवश उसके मेदकी ही पुष्टि होती है, जो पूर्वोक्त तथा आगे कही विकृतियोंमें और वृद्धि करती है। वह अल्पमात्र श्रमसे हाँफ जाता है[४]। इस स्थितिको क्षुद्रश्वास कहते हैं। उसे निद्रा बहुत पीड़ित करती है। निद्रावस्थामें उसके श्वासमें घुर्घुर ध्वनि[५] (पाठान्तरमें अकस्मात् श्वासावरोध) होती है। उसका स्वर गद्गद (लरजनेवाला) होता है। अङ्गोंमें ग्लानि[६] होती है। जैसे

१—स्थिति यह होती है कि, जैसे मूत्रवृद्धि (Lymph-scrotum—लिम्फ-स्क्रोटम; पुराना नाम—Hydrocele—हायड्रोसील), या वृषणकोषके श्लीपदमें संचित द्रव्यका या स्थूल हुई त्वचाका शुक्र प्रादुर्भाव कर (शुक्रोत्पादक) स्रोतों पर पीड़न होनेसे क्षीण हो जाते हैं, जिससे उनका शुक्रोत्पादन का सामर्थ्य न्यून हो जाता है, वैसा ही पीड़न मेदका भी इन स्रोतों पर होनेसे शुक्र (तथा ओज) का क्षय मेदस्वी पुरुषोंमें होता है। इस शुक्रक्षय, मेदस्विताके कारण अल्पप्राणता तथा मैथुनकी क्रियाकी सुव्यक्त कृच्छ्रताके कारण मेदस्वी पुरुषोंमें मैथुनका सामर्थ्य न्यून होता है।

२—आम्रगन्ध, विस्रगन्ध, कच्चीगन्ध। मछलियाँ राँधी न जायें तो भी अपक्क दशा में उनमें जैसी गन्ध होती है वैसी गन्धके ये नाम हैं।

३—होता यह है कि, जैसे क्षौद्रमेह तथा इक्षुमेहमें अग्न्याशय और यकृत्की विकृतिसे (देखिये पृ० १९६, ४२६-२७) पुरुष कार्बोहाइड्रेटोंका उपयोग तो नहीं कर पाता, परन्तु उनकी धातुओं द्वारा माँग बनी ही रहती है जो अति क्षुधाके रूपमें व्यक्त होती है, तथा उक्त पृष्ठोंमें जताये कारणवश उदक क्षय होनेसे तृषा भी सविशेष होती है, वैसे मेदस्वियोंमें गृहीत अन्नपानका व्यय मेदकी पुष्टिमें ही होता है—अन्यधातुओंकी पुष्टि न होनेसे अति क्षुधा और तृषाके रूपमें वे धातु अपनी माँग (आकांक्षा) व्यक्त करते हैं। मेदोरोगमें क्षुधा और तृषाकी तीक्ष्णताकी यह संप्राप्ति है।

४—नव्यमतानुसार हृदयधरा कला (Pericardium—पेरिकार्डीअम) पर मेदका आवरण समकी अपेक्षया अधिक हो जानेसे उससे हुए पीडनके कारण श्रमके समय पुरुषके हृदयको जितना कर्म करना चाहिए उतना वह कर नहीं पाता। परिणामतया—अधिक उत्पन्न प्राणवायु—कार्बन डाई ऑक्साइड—शरीरसे बाहर निकल नहीं पाता। इस प्रकार संचय-वश कुपित प्राणवायु श्वासके दरको बढ़ा देता है। यही श्वास है। मेदस्वियोंका शरीर विशाल होनेसे सर्वत्र रस-रक्त पहुँचानेके हेतु उनके हृदयको सामान्य अवस्थामें भी श्रम अधिक करना पड़ता है, जब कि रक्त (रक्तकण) की पुष्टि न्यून होनेसे प्राणवायुके शोधनकी शक्ति उनमें अपेक्षया अल्प होती है।

५—Snoring—स्नोरिंग। नवीन रोगनिदानमें आये प्राणवह-स्रोतोंके Sonorous sound—सॉनोरस साउण्डके लिए यहाँ आया 'घुर्घुर' शब्द अपनाया जा सकता है।

६—अङ्गसाद; Lassitude—लेसीटयूड।

अग्नि और वायु मिलकर किसी वनको नष्ट कर डालते हैं वैसे मेदस्वी पुरुषके शरीर को कुपित हुए अग्नि और वायु नष्ट कर देते हैं।

मेदोवृद्धिके इन दोषोंको लक्ष्यमें रखकर उसको उत्पन्न न होने देने तथा उत्पन्न हुई हो तो उसे साम्यमें लानेका यत्न करना चाहिए[1]।

स्थूलताके कारणों और परिणामोंका निर्देशकर अब कृशताके कारणों और परिणामोंका उल्लेख किया जाता है।

अति कृशको होनेवाले विकार—

वक्ष्यते वाच्यमतिकार्श्ये त्वतः परम् ॥
सेवा रूक्षान्नपानानां लङ्घनं प्रमिताशनम् ।
क्रियाऽतियोगः शोकश्च वेगनिद्राविनिग्रहः ॥
रूक्षस्योद्वर्तनं स्नानस्याभ्यासः प्रकृतिर्जरा ।
विकारानुपशयः क्रोधः कुर्वन्त्यतिकृशं नरम् ॥
व्यायाममतिसौहित्यं क्षुत्पिपासामयौषधम् ।
कृशो न सहते तद्वदतिशीतोष्ण मैथुनम् ॥
प्लीहा कासः क्षयःश्वासो गुल्मोऽर्शांस्युदराणिच ।
कृशं प्रायोऽभिधावन्ति रोगाश्च ग्रहणीगताः ॥
शुष्कस्फिगुदरग्रीवो धमनी जाल संततः ।
त्वगस्थिशेषोऽतिकृशः स्थूलपर्वा नरोमतः ॥ च० सू० २१।१०-१५

वाच्यमभिधेयं, किंवा वाच्यमवद्यं निन्दितमिति यावत् । क्रियातियोगो वमनाद्यतियोगः । प्रकृतिर्देहजनकं बीजम् । अनुशयोऽनुबन्धः । × × ॥ —चक्रपाणि

तत्र पुनर्वातलाहारसेविनोऽतिव्यायामव्यवायाध्ययनभयशोकध्यांनरात्रिजागरणपिपासा-क्षुत्कषायाल्पाशनप्रभृतिभिरुपशोषितो रसधातुः शरीरमनुक्रामन्नल्पत्वान्न प्रीणाति, तस्मा-दति कार्श्यं भवति । सोऽतिकृशः क्षुत्पिपासाशीतोष्ण वातवर्षभारादानेष्वसहिष्णुर्वातरोग-प्रायोऽल्पप्राणश्च क्रियासु भवति, श्वासकासशोषप्लीहोदराग्निसादगुल्मरक्तपित्तानामन्य-तममासाद्य मरणमुपयाति ; सर्व एव चास्य रोगा बलवन्तो भवन्त्यल्पप्राणत्वात् । अत-स्तस्योत्पत्तिं परिहरेत् ॥ सु० सू० १५।३३

वातलाहारसेविन इति अतिरूक्षाहारसेविनः । अतिव्यायामेत्यादि—अतिशब्दो व्यायामादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । क्षयो धातुक्षयः । उपशोषितो रसधातुरिति अतिरूक्षीकृतोऽल्पीकृतश्च । न प्रीणाति ईषत्प्रीणातीत्यर्थः । सोऽतिकृश इत्यनेनोपचय लक्षणबलाभावो दर्शितः । वातरोगप्राय इति वातरोगबहुल इत्यर्थः । अल्पप्राणश्च क्रियासु विषयेऽल्पशक्तिर्भवति । एतेन शक्तिलक्षण बलाभाव उक्तः । शोषो राजयक्ष्मा ॥ —डल्हन

१—अति स्थूलताके उपचार इन्ही प्रकरणोंमें आगे—च. सू. २१।२०-२८, सु. सू. १५।३२ तथा सु. चि. १०।३-१६ (महाकुष्ठ-चिकित्सा) आदिमें देखिये।

अति कृशता के कारण निम्नलिखित हैं :—अत्यधिक लङ्घन, अति अनशन[१], क्षुधा, पिपासा (क्षुधा तथा पिपासाके वेग होनेपर उनका निग्रह—भूख-प्यास लगनेपर अन्नपानका सेवन न करना), अन्य वेगों तथा निद्राका निरोध ; अल्पाशन ; वातल (वात प्रकोपक ; रूक्ष तथा कषाय) अन्नपान का अतिसेवन, बीजदोष, अति व्यायाम, अति व्यवाय (मैथुन ; उसके कारण अति शुक्रक्षय, तथा धातुओंका प्रतिलोमक्षय[२]), अति अध्ययन (बोलना); भय, शोक, ध्यान (चिन्ता), क्रोध तथा अन्य मनोविकारोंका अतियोग ; अति रात्रि-जागरण ; वमनादि कर्मोंका अतियोग[३], शरीर रूक्ष होते हुए भी उद्वर्तन[४] (उबटन), अति स्नान, वृद्धावस्था इत्यादि ।

इन कारणोंके अतियोगका परिणाम यह होता है कि, पुरुषका रसधातु अत्यन्त अल्प और अति रूक्ष हो जाता है । उसका संवहन भी उतना वेगवान् नहीं रह पाता । फल यह होता है कि, वह धातुओंकी पुष्टि यथावत् नहीं कर पाता, जिससे पुरुषका शरीर अति कृश हो जाता है । उसके स्फिक् (नितम्ब), उदर तथा ग्रीवा शुष्क हो जाते हैं । उसमें केवल त्वचा और अस्थि शेष रहते हैं । मांसादिके शोष के कारण उसके पर्व (संधियां) स्थूल दिखाई देते हैं । त्वचापर सिराएँ जालवत् फूली दृष्टिगोचर होती हैं । पुरुष कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाएँ करनेमें अल्प समर्थ (अल्पप्राण) होता है । क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, वृष्टि भार-ग्रहण तथा अन्य प्रकार के श्रम (व्यायाम) वह सहन नहीं कर पाता । पेट भरकर खानेका सामर्थ्य (सौहित्य) भी उसमें नहीं रहता । मैथुन-शक्ति भी (शुक्रक्षयादि के कारण) उसकी अल्प हो जाती है । उसमें वातिक रोग विशेषतया पाये जाते हैं । अल्पप्राण होनेसे उसे जो भी रोग होते हैं वे बलवान् होते हैं—रोगोंका बल अधिक और उनके बलको सहन करनेका सामर्थ्य रोगीमें न्यून होता है । साथ ही, औषधके बलको सहनेका सामर्थ्य भी रोगीमें अल्प होता है, जिससे उसके रोगका बल और असाध्यतामें और भी वृद्धि होती है । वह इन रोगोंका विशेषतया ग्रास होता है—प्लीहा (मेदके क्षयसे प्लीहाकी स्थानच्युतिपूर्वक वृद्धि[५]), धातुक्षय, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, उदर, अग्निमान्द्य, ग्रहणी विकार, अर्श, गुल्म, रक्तपित । अन्तमें इन्ही रोगों में कोई प्रबल होकर उसकी मृत्यु का हेतु होता है । इन परिमाणोंको देखते हुए कृशतके कारणोंसे पुरुष बचकर रहे[६] ।

१—प्राचीन तथा नवीन मतसे अनशनका प्रभाव सविस्तर जाननेके लिए देखिये—पृ० ७२, २०५ ; २३२-३३ ।

२—प्रतिलोम तथा इसके विपरीत अनुलोमक्षय (रसधातुओंके क्षयसे शेष धातुओंका क्षय) का स्वरूप आगे शुक्राधिकारमें देखिये ।

३—निसर्गोपचारमें अति वस्ति (वह भी रूक्ष) से वात रोग होनेके उदाहरण प्रायः देखने-सुननेमें आते हैं । अनग्निसिद्ध एवं रूढ़ (अंकुरित) धान्य भी निसर्गोपचारकों द्वारा प्रशंसित तथा आयुर्वेद-बाह्य हैं ।

४—इस प्रसंगमें शरीर रूक्ष (त्वचाकी रूक्षतासे जिसका अनुमान हो सकता है) होते हुए भी साबुनके अति प्रयोगको भी स्मरण करना चाहिए । त्वचाकी रोग-क्षमता भी साबुनके अतियोगसे मन्द होती है ।

५—देखिये आगे मेदोधातुका अधिकार । प्लीहा-वृद्धि आयुर्वेदमें दो प्रकारकी मानी है—स्थानच्युति सहित तथा उसके बिना ।

६—कृशताके उपचार इन्हीं प्रकरणोंमें आगे च० सू० २१।२९-३४ तथा सु० सू० १५।३३ में देखिये ।

रसधातुके साम्यके उल्लिखित प्राकृत कर्मों एवं उसकी विकृतिके विपरिणामोंको देखते हुए अप्रमत्त होकर उसको समावस्थामें रखनेवाले आहार-विहारका सेवन करना चाहिए।

रसजं पुरुषं विद्याद्रसं रक्षेत्प्रयत्नतः।
अन्नात्पानाच्च मतिमानाचाराच्चाप्यतन्द्रितः॥ सु० सू० १४।१२

रसज रोग—

प्रथम अध्यायमें कह आये हैं कि[1] रोग यद्यपि दोषोंके वैषम्यसे होते हैं तथापि जिस धातुको दुष्ट करके, अथवा जिस अवयवमें स्थान-संश्रय करके वे रोगोत्पत्ति करते हैं उनका जानना चिकित्सोपयोगी होनेसे आवश्यक होता है[2]। इसी दृष्टिसे रोग दोषज होते हुए भी उन्हें दूष्य धातुके अनुसार रसज, रक्तज आदि नाम दिये जाते हैं। प्रत्येक धातुके प्रकरण में उस-उस धातुमें हुए रोगोंका नामतः उल्लेख करेंगे। इनमें—

अश्रद्धा चारुचिश्चास्यवैरस्यमरसज्ञता।
हृल्लासो गौरवं तन्द्रा साङ्गमर्दो ज्वरस्तमः॥
पाण्डुत्वं स्रोतसां रोधः क्लैब्यं सादः कृशाङ्गता।
नाशोऽग्नेरथाकालं वलयः पलितानि च।
रसप्रदोषजा रोगाः ॥
च० सू० २८।९–१०

अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परन्त्वनिच्छा, अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेदः। आस्यवैरस्यमुचितादास्यरसादन्यथात्वम्॥ —चक्रपाणि

तत्र, अन्नाश्रद्धारोचकाविपाकाङ्गमर्दज्वरहृल्लास तृप्तिगौरव हृत्पाण्डुरोगमार्गोपरोधकार्श्यवैरस्याङ्गसादाकालजवलीपलितदर्शन प्रभृतयो रसदोषजा विकाराः॥ सु० सू० २४।९

चिकित्सा विशेष विज्ञानार्थं सुखासाध्यत्वादिकर्मबोधार्थं च प्रत्येकं रसादिधातुविकारान् दर्शयितुमाह—तत्रान्नाश्रद्धारोचकेत्यादि। अन्नाश्रद्धा अन्नविद्वेषः। अङ्गमर्दो वेदना विशेषः, 'स्फुटनिका' इति लोके। हृल्लासो हृदयोत्क्लेदोऽसकृत् ष्ठीवनम्। अङ्गसाद इति अङ्गानामनुत्साहः। रसदोषजा इति दोषदूषित रसजाताः॥ —डल्हन

आरोचकस्त्वाहारेच्छायां सत्यामन्नस्य मुखप्रवेशनेऽस्वादुत्वावबोधः॥ —चक्रपाणि

रसधातुके दोषदूषित होने पर निम्न रोग होते हैं—अन्नद्वेष (अन्न के प्रति तिरस्कार), अरुचि (अन्नपर प्रीति होते हुए भी उसके मुखमें आने पर उसका स्वादु न प्रतीत होना, अतएव मुख से नीचे अन्नका उतर न पाना), रसों का ज्ञान सम्यक् न होना, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, अङ्गमर्द (शरीर टूटना), तृप्ति (अन्नपान न लेने पर भी पेट भरा हुआ लगना), हृल्लास (लाला-प्रसेक), अङ्गसाद (शरीर-शैथिल्य, अनुत्साह), गौरव, तन्द्रा, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, स्रोतों का अवरोध, कृशता, मुखवैरस्य (मुखका स्वाद भिन्न—फीका, मधुर इत्यादि होना), ग्लानि (थकान), तम, असमयमें वली (झुर्रियां) तथा पलित (बाल पकना), क्लीबता (पुंस्त्वनाश) इत्यादि।

१—देखिये पृ० २८।
२—देखिये आगे धृत सुश्रुत-वचनमें डल्हन।

रसज रोगोंका उपचार—

गुरुशीतमतिस्निग्धमतिमात्रं समश्नताम ।
रसवाहीनि दुष्यन्ति चिन्त्यानामतिचिन्तनात् ।। च० वि० ५।१३
रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम् ।। च० सू० २८।२५

गुरु, शीत, अतिस्निग्ध द्रव्योंके अतिमात्रामें सेवन करनेसे तथा अतिचिन्ताके कारण रसवाही स्रोतोंकी दुष्टि होकर[1] ऊपर कहे रसदोषज रोग होते हैं। इनका एकमात्र उपाय लङ्घन[2] है।

१—रोगोत्पत्तिमें स्रोतो-दुष्टिकी कारणता जाननेके लिए देखिये पृ० ४७—५०।

२—लङ्घन शब्द केवल अनशनका वाचक नहीं, शरीरको लघु करनेवाले उपचार-मात्रको लङ्घन कहते हैं। विस्तारके लिए देखिये—पृ० २०७।

बाईसवाँ अध्याय

अथातो रक्तधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ।।

पहले कह आये हैं कि रञ्जक पित्तकी क्रियासे रसधातु रक्तके रूपमें परिणत होता है। प्राचीन तथा नव्य उभयमतानुसार रञ्जक पित्तके कर्म, स्वरूप और शरीरमें स्थानका निर्देश भी कर आये हैं[1]। अब अवसर है कि रक्तके सम्बन्धमें अन्य जानकारी प्राप्त करें।

रक्तकण—

नवीन मतसे रक्तको रक्तिमा उसमें स्थित रक्तकणोंके[2] कारण होती है। रक्तकण एक प्रकारके कोष हैं। इनका आकार वर्तुल, व्यास १/३००० इञ्च तथा मोटाई मध्यमें कोई १/१०००० इञ्च होती है। समस्त रक्तका ४५ प्रतिशत अंश ये कण होते हैं। इन कणोंकी रक्तिमाका हेतु एक रञ्जक द्रव्य[3] है, जिसे हीमोग्लोबीन[4] कहते हैं।

विशुद्ध रक्तका स्वरूप—

तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसंनिभम्।
गुञ्जाफलसवर्णञ्च विशुद्धं विद्धि शोणितम्।। च० सू० २४।२२

विशुद्धरक्तलिङ्गे नानावर्णता वातादिप्रकृतित्वान्मनुष्याणाम् ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रगोपकप्रतीकाशमसंहतमविवर्णं च प्रकृतिस्थं जानीयात्।। सु० सू० १४।२२

अविवर्णमिति इन्द्रगोपकवर्णमपि ईषद् विविधवर्णम्, एतेन पद्मालक्तकगुञ्जाफलवर्णमित्युक्तम् ॥ —डह्लन

इन्द्रगोपकोऽत्र लोहितो विवक्षितः। इन्द्रगोपकवर्णेनैव वर्णे लब्धे 'अविवर्णम्' इति वचनं वातादिप्रकृतीनामपि नराणां ये शोणितवर्णा भवन्ति तेषामप्यविवर्णतया ग्रहणार्थम्। यदुक्तं चरके— 'तपनीयेन्द्र०'; तेन लोहितेन्द्रगोपकवर्णः समधातोः; शेषा वातादिप्रकृतिशोणितवर्णा ज्ञेयाः ॥ —चक्रपाणि

शुद्ध रुधिरका वर्ण रक्त (लाल) होता है। मनुष्योंकी वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सम प्रकृतिके कारण रक्तकी रक्तिमामें भी न्यूनाधिक भेद होता है। समप्रकृति पुरुषके रुधिरकी रक्तिमा बीरबहूटीके वर्णके सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतिवाले पुरुषोंके रक्तका वर्ण तपाये हुए सुवर्ण, रक्तकमल, लाक्षारस या रत्तीके वर्णके सदृश होता है।

नवीनमतसे शुद्ध और अशुद्ध रक्त—

शरीरमें अनुधावन करता हुआ रुधिर जब फुप्फुसोंमें आता है, तो अङ्गाराम्ल वायुको छोड़ देता है। यह वायु तापोत्पादक द्रव्योंके धातुपाकवश शरीरमें उत्पन्न एक मल है[5], और रुधिर द्वारा संगृहीत किया जाकर फुप्फुसोंके मार्गसे बाहिर कर दिया जाता है। श्वास क्रियामें गृहीत ओषजन

१—देखिये—पृ० ३७६—७९।

२—Red blood corpuscles या Erythrocytes—रेड ब्लड कौर्प्सल्स, या एरिथ्रोसाइट्स।

३—Pigment—पिगमेण्ट। ४—Haemoglobin. ५—देखिये पृ० १८२।

वायु तब रुधिरस्थ हीमोग्लोबीनसे मिल जाता है। ओषजन और हीमोग्लोबीनके मिश्रणसे ऑक्सी-हीमोग्लोबीन[1] नामक द्रव्य उत्पन्न होता है। इसका वर्ण बीरबहूटी या रत्तीके सदृश चमकीला लाल[2] होता है। शुद्ध रक्त भी उसके कारण उसी वर्णका होता है। आयुर्वेदके अनुसार शुद्ध रक्तकी रक्तिमामें वातादि प्रकृतियोंके कारण कुछ न्यूनाधिकता होती है।

यह शुद्ध रक्त फुप्फुसोंसे हृदयमें आता है, और वहाँसे धमनियों द्वारा समस्त शरीरमें प्रसृत होता है। धातु इस रक्तसे पोषक द्रव्योंके साथ ओषजनका भी ग्रहण करते हैं, जिससे ऑक्सीहीमोग्लोबीन पुनः हीमोग्लोबीनमें परिणत हो जाता है। यह अपचित[3] रक्त अब हृदयकी ओर लौटने लगता है। इसमें उस काल पूर्वोक्त धातुपाकजन्य अङ्गाराम्ल वायु भी मिश्रित होता है।

हीमोग्लोबीनका निज वर्ण गहरा बैंगनी होता है। अतः सिराओं द्वारा धातुओंसे हृदयकी दिशामें आते हुए रक्तका वर्ण भी गहरा बैंगनी होता है। हृदयमें होकर यह रक्त उक्त क्रमसे विशुद्धके लिए फुप्फुसोंमें जाता है; वहांसे हृदयमें आता और पूर्ववत् धमनियों द्वारा समस्त शरीरमें जाता है। इस प्रकार जीवनकी स्थितिके लिए यह चक्र अविराम चलता रहता है।

हीमोग्लोबीनका प्रधानतत्त्व अयस् (लोहा) है, जो बहुत ही थोड़ा ०.४ प्रतिशत होता है। उक्त वर्णनसे प्रतीत होगा कि हीमोग्लोबीन ओषजनवाहक[4] है। एवं, उसके आश्रयभूत रक्त-कणोंका कार्य धातुओंको ओषजन पहुंचाना तथा अङ्गाराम्लको उनसे लेना ही है। धमनीगत रुधिरके १०० घन सेण्टीमीटरमें २० घन सेण्टीमीटर ओषजन होता है।

क्षत्रकण और उनका कार्य—

रक्त कणोंके अतिरिक्त रक्तमें दो और प्रकारके कोष या कण होते हैं क्षत्रकण[5] और चक्रिकाएं[6]। क्षत्र कणोंके पाँच-सात भेद हैं। इनमें एक लिम्फोसाइट नामक हैं, जिनकी उत्पत्ति, हम देख चुके हैं कि, रसग्रन्थियोंमें होती हैं। क्षत्रकणोंका कार्य जीवाणुओंका भक्षण और संहार करना है। अमीबाके वर्णनके प्रसंगमें हम देख चुके हैं कि जीवाणुओंका कवलन (ग्रास) करनेके लिए[7] क्षत्रकणोंमें कैसी चेष्टा होती है। इन चेष्टाओंके कारण क्षत्रकणोंकी आकृति प्रतिक्षण बदलती रहती है। सामान्यतः ये किञ्चित् गोलाकार होते हैं।

जीवाणुजन्य श्वसनक ज्वर (न्यूमोनिया), विद्रधि आदिमें रोगानुसार रक्तमें तत्-तत् क्षत्र-कणोंकी संख्या बहुत बढ़ जाती है। यह वृद्धि अणुवीक्षण द्वारा जानी जा सकती है और इन रोगोंके निदानका निर्भ्रान्त चिह्न है।

चाक्रिकाएँ—

ये रक्तकणोंसे बहुत छोटी होती हैं। ये रक्तके स्कन्दन (जमने)[8]में भाग लेती है।

रक्तरस—

रुधिरके रक्तकण, क्षत्रकण तथा चक्रिकाओंसे व्यतिरिक्त अंशको रक्तरस[9] कहते हैं। यह रुधिरका

१—Oxyhaemoglobin. २—Bright red—ब्राइट रेड।

३—ओषजनरहित; Deoxygenated या Reduced—डीआक्सिजिनेटिड या रिड्यूस्ड।

४—Oxygen-Carrier—आक्सिजन कैरीअर।

५—White corpuscles या Colourless corpuscles—व्हाइट कौर्प्सल्स, या कलरलेस कौर्प्सल्स। ६—Blood Platelets—ब्लड प्लेटलेट्स। ७—देखिये—पृ० १५२-५४।

८—Coagulation—को-एगुलेशन; या Clotting—क्लॉटिङ्ग। ९—Plasma—प्लाज़मा।

द्रव भाग है। रुधिरके शेष घन द्रव्य इसमें विलीन रहते हैं; रक्तकण, क्षत्रकण और चक्रिकाएँ इसीमें अवलम्बित (तैरते) रहते हैं। रक्तरस सारे रुधिरका ५५ प्रतिशत होता है।

रक्तका उत्पत्तिस्थान—

शरीरके अन्य कोषोंके सदृश रक्तके उक्त कोष भी नैत्यक घर्षणके कारण तथा आयुकी अवधि आनेपर सर्वदा विनष्ट होते रहते हैं। रक्तकणोंकी आयु ३० से ४० दिन कूती गयी है। अन्य कोषोंके समान इनकी भी पूर्ति नवीन कोषोंके निर्माणसे होती है।

आयुर्वेदमें रक्तकी उत्पत्ति यकृत्, प्लीहा और आमाशयसे कही है। आधुनिक अन्वेषणके अनुसार रक्तकणों तथा क्षत्रकणोंकी उत्पत्ति (लिम्फोसाइटको छोड़कर) अस्थियोंकी लोहित मज्जासे[1] होती है। लोहित मज्जा अस्थियोंके शुषिरसंघातमें[2] विशेषकर कशेरुका, पर्शुका, उरःफलक और कपालास्थिमें होती है। भ्रूण और शिशुकी नलकास्थियोंके विवर[3] में भी लोहित मज्जा होती है। (शैशवके पश्चात् इन विवरोंमें लोहित मज्जाका स्थान पीतमज्जा[4] ले लेती है।) तथापि, इन स्थलोंमें रक्तकणोंकी उत्पत्ति और पुष्टिका उद्दीपक एक द्रव्य जाना गया है, जिसे 'हीमोपॉयेटिक प्रिंसिपल' कहते हैं। इसका प्रकरणान्तरमें दिया विवरण[5] देखनेसे विदित होगा कि रक्तोत्पत्ति-विषयक प्राचीन और नवीन मतोंमें कहने योग्य अन्तर नहीं है।

रक्तके कार्य—

रक्तं वर्णप्रसादं मांसपुष्टिं जीवयति च ॥ सु० सू० १५।५ (१)

तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते ॥ सु० सू० १४।२१

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते ॥ च० सू० २४।४

लोहितं प्रभवः शुद्धं तनोस्तेनैव च स्थिति ॥ अ० हृ० सू० २७।५

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः सञ्जायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति— सु० सू० १४।३७

तदेभिरेव (वातपित्तश्लेष्मभिः) शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं[6] शरीरं भवति। सु० सू० २१।३

देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः ॥ सु० सू० १४।४४

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः शिराः संचरद्रक्तं कुर्य्याच्चान्यान् गुणानपि ॥ सु० शा० ७।१४

असृजः पित्तं × × मलः ॥ च० चि० १५।१८

१—Red marrow—रेड मैरो—रुधिरवाचक रक्त शब्दसे भेदके लिए रेडका अनुवाद रक्त न करके लोहित किया है।

२—Spongy या Cancellous tissue—स्पञ्जी या कैन्सलस टिश्यू।

३—Middulary cavity—मिडलरी केविटी। ४—Yellow marrow—येलो मैरो।

५—देखिये—पृ० ३७६-७९। ६—अविरहितमिति कारणतया अविरहितम्।—चक्रपाणि

शुद्ध रुधिर अग्नियोंको प्रदीप्तकर आहारका पाचन करता है और उसके द्वारा तथा साक्षात् भी समग्र धातुओंकी पुष्टि और पूर्ति (पूरण) करता है। शरीरकी उत्पत्ति और स्थिति इस प्रकार रुधिरके ही अधीन है। विशुद्ध और सम रुधिर ही शरीरके बल, वर्ण, सुख और जीवनका मूल है। जितना भी स्पर्शज्ञान अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे होनेवाला ज्ञान है वह सब निःसंशय रक्तके कारण ही होता है[1]। किसी कारणसे रक्तका क्षय हो जाय तो वायु अति प्रकुपित हो जाता है और उसके अति रूक्षत्वादिके कारण शरीरके धातु क्षीण होने लगते हैं। प्राण रक्तका अनुसारी है, अथवा यह निश्चय है कि रक्त ही प्राण है। रक्तका मल पित्त (याकृत पित्त ?) मात्र है।

रुधिरके कार्य—नवीन मतसे—

आधुनिक गवेषणाएँ आयुर्वेदोक्त मतकी उत्तम व्याख्या करती हैं। उनके अनुसार रुधिर (रक्त-रस) द्वारा जहाँ धातुओंको प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, स्नेह, खनिज—लवण तथा जल इन पोषक और तापोत्पादक द्रव्योंकी प्राप्ति होती है, वहाँ शरीरस्थितिके लिए अनिवार्य जीवनीय भी उन्हें रुधिर द्वारा ही मिलते हैं। रुधिर ही अन्य शरीरावयवोंके सदृश विविध अन्तर्ग्रन्थियोंको वे मूल द्रव्य पहुंचाता है, जिनसे वे विविध स्रावोंकी रचना कर सकती हैं। रुधिर ही उत्पन्न हुए इन स्रावोंको समस्त शरीरमें प्रसृत कर देता है, जहाँ वे अपनी-अपनी प्रतिनियत क्रिया करते हैं। लालाग्रन्थि, अग्न्याशय आदि बहिःस्रावी ग्रन्थियाँ भी रुधिर द्वारा अपेक्षित द्रव्य मिलनेपर ही स्रावका निर्माण करती हैं। पाचक अङ्गोंकी यथास्थिति क्रियाके लिए रुधिर अनिवार्य है। इसी कारण सारे रुधिरका ⅓ भाग कोष्ठ[2] में रहता है। याकृत पित्त तो साक्षात् रुधिरसे ही बनता है, एवं, उसके वक्ष्यमाण कर्म मूलभूत रुधिरके ही अधीन हैं। रुधीर ही अपने रक्तकणोंके द्वारा धातुओंको ओषजनपहुंचाता है, जो जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, प्रत्येक धातुके अपने-अपने कर्मके लिये तथा शरीरके नियत ऊष्माके लिए आवश्यक है। रुधिर ही धातुपाकजन्य मलों—विशेषतः अङ्गाराम्ल और यूरिया—को विसर्गी अवयवों द्वारा बाहर निकलवाता है। रुधिर पेशियों, ग्रन्थियों तथा अन्य कर्मपरायण अङ्गोंमें उत्पन्न तापको समस्त शरीरमें व्यवस्थित कर देता है। रुधिरके क्षत्रकण जीवाणुओं और उनके विषोंका ग्रासकर शरीरकी विकारोंसे रक्षा करते हैं। रुधिरकी इन क्रियाओंको देखते हुए आयुर्वेदमें जो रक्तको ही प्राण कहा है, वह यथार्थ है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये॥ च० सू० १७।११७

बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्॥ च० चि० ३।११६

तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, इयं चाभेदोक्तिश्चिकित्सैक्यार्था, परमार्थतस्तु बलौजसोर्भेद एव॥ सु० सू० १५।२१ पर—डल्हन

१—आगे वातधातुके प्रकरणमें कहेंगे कि प्राचीन-अर्वाचीन उभयमतानुसार ज्ञानेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रिय है। इसीसे यहां स्पर्शज्ञानका अर्थ ज्ञानमात्र लिया है। यह सिद्धान्त बहुत स्मरणीय है। हृदय और मस्तिष्कमें किसका महत्त्व आयुर्वेद-मतसे अधिक है यह इस वचनसे स्पष्ट विदित होता है। रक्त और उसका प्रसार करनेवाला हृदय स्पर्शज्ञानके कारण हैं। उधर, धातुओंको पुष्टकर वे ही शारीर सर्व चेष्टाओंके भी मूल हैं। अर्थात् नव्य मतसे ज्ञान और चेष्टाके मूल मस्तिष्ककी क्रिया भी रस-रक्ताधीन होनेसे हृदयका ही महत्त्व मस्तिष्कसे अधिक है, यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है

२—Splanchnic area—स्प्लैङ्क्निक एरिआ।

इन वचनोंमें कहा है कि प्राकृत श्लेष्मा (कफ) ही का नाम ओज किंवा लक्षणासे बल है ; और बलका कार्य दोषों नाम रोगोंका प्रतिबन्ध है । पहले कह आये हैं[1] कि कफ, पित्त, वायु तथा ओज एक-एक द्रव्यके नाम नहीं, किन्तु अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं । इनमें कफके अन्तर्गत ही एक उपवर्गका नाम ओज है, जिसका एक कार्य शरीरकी रोगोंसे रक्षा करना है । रुधिरके रञ्जक द्रव्यके अतिरिक्त अंश रक्तरस तथा क्षत्रकणमें रोगोंके प्रतिबन्धकी विशिष्ट शक्ति—क्षमता या बल—होती है । इस शक्तिका नवीन मतसे स्पष्टीकरण आगे किया जायगा । इस शक्तिके कारण उक्त वचनोंको दृष्टिमें रखते हुए कह सकते हैं कि रुधिरका रञ्जक द्रव्यातिरिक्त अंश कफवर्ग किंवा तदन्तर्गत ओजोवर्गके अन्तर्गत है ।

रक्तका प्रमाण—

अन्य धातुओंके समान रक्तका भी प्रमाण बताया जाता है—

अष्टौ (अञ्जलयः) शोणितस्य ॥ च० शा० ७।१५

रक्तकी (अपने हाथकी) कुल आठ अञ्जलियाँ होती हैं । आधुनिक अन्वेषणसे रक्त सारे शरीरका ५ प्रतिशत होता है । रक्तकण समस्त रुधिरके ४५ प्रतिशत होते हैं । गणनासे प्रति घन मिलीमिटर[2] में इनकी संख्या पुरुषमें कोई ६० लाख तथा स्त्रीमें ५५ लाख होती है । क्षत्रकणोंकी संख्या बहुत कम होती है । क्षत्र और रक्त कणोंका अनुपात १ और ५००-६०० होता है । क्षत्रकण प्रत्येक घन मिलीमीटरमें ६००० से ८००० तक चक्रिकाएँ २ लाख ५० हजार होती हैं ।

रक्तक्षयके लक्षण—

रक्तके प्रमाणसे न्यून वा अधिक किंवा दूषित होनेपर धातु विकारग्रस्त होते हैं । इनमें रक्तकी न्यूनता (क्षय) के लक्षण निम्न हैं—

धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्दः संजायतेऽनलः ।
पवनश्च परं कोपं याति ॥ सु० सू० १४।३७

शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च[3] ॥ सु० सू० १५।९

परुषा स्फुटिता म्लाना त्वग्रूक्षा रक्तसंक्षये ॥ च० सू० १७।६५

रक्तका क्षय होनेसे अग्निमान्द्य तथा पवनका खतरा प्रकोप होता है । रक्तकी अल्पताके कारण सिराएँ (रक्तवाहिनियाँ तथा हृदय) क्षीण और शिथिल हो जाती हैं[4] । त्वचा, रूक्ष, म्लान तथा स्फुटित हो जाती है । अम्ल और शीत पदार्थोंपर प्रीति रक्तक्षयका अन्यतम चिह्न है ।

रक्तवृद्धिके लक्षण—

रक्तं रक्ताङ्गाक्षितांसिरापूर्णत्वं चापादयति ॥ सु० सू० १५।१४

रक्तके वृद्धिको प्राप्त होनेपर सिराओं नाम रक्तवाहिनियोंकी पूर्णता तथा नेत्र और त्वचामें रक्तिमा—ये लक्षण होते हैं ।

१—देखिये पृ० ३००-३०२ । २—एक मिलीमीटर=$\frac{1}{25}$ इञ्च ।

३—सिराशैथिल्य पूरकरक्ताल्पतया ॥ —चक्रपाणि

४—यह सिराशैथिल्य आधुनिकोंका रक्तदाबकी अल्पता रोग (Hypotension—हायपो-टेंशन ; या Low Blood Pressure—लो ब्लड प्रेशर ; संक्षेप L- B. P.—एल० बी० पी०) है । आधुनिक

अन्य धातुओंके समान रक्तकी वृद्धिके भी दो भेद हैं—चय और प्रकोप[1]।

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव ॥ अ० हृ० सू० १२।२२

कोपस्तून्मार्गगामिता ॥ अ० हृ० सू० १२।२३

दूषित धातुओंकी अपने प्रकृतिनियत स्थानपर वृद्धि चय कहाती है। उन्हीकी स्थानान्तर-गमनसे अन्वित वृद्धिका नाम प्रकोप है। अर्थात् दोष जब स्थानान्तरमें जा, अनुकूल अवस्था पाकर रोगोत्पत्ति करता है, तो यह उसकी प्रकोपावस्था कहाती है।

यस्माद्रक्तं विना दोषैर्न कदाचित् प्रकुप्यति।
तस्मात्तस्य यथादोषं कालं विद्यात् प्रकोपणे ॥ सु० सू० २१।२६

रक्तका प्रकोप दोषोंके कारण होता है। अतः रक्तज रोगोंमें प्रवृद्ध दोष और कालको देखकर चिकित्सा करनी चाहिए।

रक्तके प्रकोपक कारण—

पित्तप्रकोपणैरेव चाभीक्ष्णं द्रवस्निग्धगुरुभिराहारैर्दिवास्वप्नक्रोधानलातपश्रमाभिघाताजीर्णविरुद्धाध्यशनादिभिर्विशेषैरसृक् प्रकोपमापद्यते ॥ सु० सू० २१।२५

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिल-तैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांस-दधितक्र-कूर्चिकामस्तु-सौवीरकसुराविकाम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते ॥ सु० सू० २१।२१

प्रदुष्टबहुतीक्ष्णोष्णैर्मद्यै रन्यैश्च तद्विधैः।
तथाऽतिलवणक्षारैरम्लैः कटुभिरेव च ॥
कुलत्थमाषनिष्पाव तिलतैलनिषेवणैः।
पिण्डालुमूलकादीनां हरितानां च सर्वशः ॥
जलजानूपवैलानां प्रसहानाञ्च सेवनात्।
दध्यम्लमस्तुशुक्तानां सुरासौवीरकस्य च ॥
विरुद्धानामुपक्लिन्नपूतीनां भक्षणेन च।
भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रवस्निग्धगुरूणि च ॥

चिकित्साशास्त्रमें भी इसका एक कारण रक्तके प्रमाण (Volume—वॉल्यूम) में न्यूनता—रक्तक्षय—Anaemia—एनीमिया) कहा है। सिराशैथिल्यका अन्य प्राचीन-संमत कारण मांसक्षय है। इसका अर्थ हृदय तथा रक्तवह धमनियोंके घटक मांससूत्रोंकी क्षीणता और दुर्बलता है। यह भी नव्यमतसे अविरुद्ध है।

१—रक्तकणोंकी वृद्धिको अंग्रेजीमें Erythraemia—एरीथ्रोमिआ या Polycythemia—पॉलीसिथीमिआ कहते हैं। रक्तको सामान्य वृद्धि Polyemia—पॉलीमिआ, उसके कारण रक्तवहोंकी असाधारण पूर्णता Plethora—प्लेथोरा तथा रक्तमें जलकी अधिकता Plethora Hydtaemia—प्लेथोरा हायड्रीमिआ कहाती है।

अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चातपानिलौ।
छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्॥
श्रमाभिघातसन्तापैरजीर्णाध्यशनैस्तथा।
शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति॥ च० सू० २४।५।१०

क्रोध, शोक, चिन्ता, भय, श्रम, उपवास, दाह, मैथुन, चंक्रमण (फिरना), अग्नि, आतप तथा वायु—इनका अतिसेवन ; चोट, तीक्ष्ण, उष्ण, अतिलवण, क्षार, अम्ल, कटु, विदाही[1], अतिद्रव, गुरु, स्निग्ध, प्रकृतिविरुद्ध, मात्राधिक, विषम, सड़े-गले पदार्थोंका अतिमात्र भक्षण ; तिलतैल, पिण्याक (खली), कुलथी, माष (उर्द), लोभिया, सरसों, अलसी, हरितक वर्ग[2], पिण्डालु, दही, शुक्त (खट्टे आचार या सिरका), तक्र, कूर्चिका (छाना[3]), मस्तु (दहीके ऊपरका पानी), सौवीरक, विविध मद्य, खट्टे फल, कट्वर[4] ; गोह, मत्स्य, बकरी, भेड़ आदि जलज, आनूपज, बिलेशय तथा प्रसहोंके मांसका अतिसेवन, अध्यशन, अजीर्ण, अतिभोजन, खाकर दिनमें सोना, वमनका वेग रोकना, समयपर रक्तमोक्षण न करना तथा शरद्ऋतु इनसे रक्त प्रकोपको प्राप्त होता है। संक्षेपमें—जो कारण पित्तको प्रकुपित करते हैं उन्हीसे रक्तका भी प्रकोप होता है।

रक्त-प्रकोपज रोग—

ततः शोणितजा रोगाः प्रजायन्ते पृथग्विधाः।
मुखापाकोऽक्षिरागश्च पूतिघ्राणास्यगन्धिता॥
गुल्मोपकुशवीसर्प रक्तपित्तप्रमीलकाः।
विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्॥
वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता।
संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्॥
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः।
क्रोधप्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता॥
स्वेदः शरीरदौर्गन्ध्यं मदः कम्पः स्वरक्षयः।
तन्द्रानिद्रातियोगश्च तमसश्चातिदर्शनम्॥
कण्ड्वरुःकोठपिडका कुष्ठचर्मदलादयः।
विकाराः सर्व एवैते विज्ञेयाः शोणिताश्रयाः॥

१—'विदाही' रसों तथा द्रव्योंका लक्षण जाननेके लिये देखिये—पृ० १०८-९ टिप्पणी।

२—देखिये च० सू० २७।१६६–१७७। इस वर्गमें अदरक, नीबू, मूली, तुलसी, अजवायन, वनतुलसी, सहेंजना, शालेय, राई, गण्डीर, जलपिप्पली, तुम्बुरु, शृङ्गवेरिका, गन्धतृण, कृष्णजीरक, वनयवानी, सुमुख, गाजर, पलाण्डु (प्याज) तथा लशुन परिगणित हैं। ये द्रव्य चटनी, कचूमर आदिके रूपमें हरे अर्थात् कच्चे खाये जाते हैं, अतः हरितक कहाते हैं।

३—दध्ना तक्रेण वा सह पाकात् पृथग्भूतघनद्रवभागं क्षीरं कूर्चिकेति विदुः॥ —हेमाद्रि

४—सौवीराम्लमथात्यम्लं काञ्जिकं कट्वरं विदुः। अन्ये तु तदधोभागं तक्रं चात्यम्लतां गतम्। सस्नेहं दधिजं तक्रमाहुरन्ये तु कट्वरम्॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैरुपक्रान्ताश्च ये गदाः।
सम्यक् साध्या न सिध्यन्ति रक्तजांस्तान् विभावयेत्॥
च० सू० २४।११।१६

वक्ष्यन्ते रक्तदोषजाः।
कुष्ठवीसर्पपिडका रक्तपित्तमसृग्दरः॥
गुदमेढ्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मोऽथ विद्रधिः।
नीलिका कामला व्यङ्गः पिप्लवस्तिलकालकाः॥
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठास्रमण्डलम्।
रक्तप्रदोषाज्जायन्ते॥ च० सू० २८।११।१३

कुष्ठविसर्पपिडकामशकनीलिकातिलकालकन्यच्छव्यंगेन्द्रलुप्तप्लीहविद्रधिगुल्मवातशोणिता-ऽर्शोऽर्बुदाङ्गमर्दासृग्दररक्तपित्तप्रभृतयो रक्तदोषजाः गुदमुखमेढ्रपाकाश्च॥ सु० सू० २४।९

रक्तके उक्त कारणोंसे प्रकुपित (दूषित) होनेपर आगे कहे रक्तज रोग होते हैं—मुखपाक; त्वचा, मूत्र और नेत्रोंमें रक्तिमा; नासिका तथा मुखमें दुर्गन्ध, रक्तगुल्म, उपकुश[1], विसर्प, रक्तपित्त, तन्द्रा, विद्रधि, रक्तमेह, रक्तप्रदर, वातरक्त, विवर्णता, कामला, अग्निमान्द्य, पिपासा, गौरव (शरीरमें भारीपन), दाह, अतिदौर्बल्य, अरुचि, शिरःशूल, भुक्त अन्नपानका विदग्ध होकर अम्लभाव, तिक्त और अम्ल उद्गार, श्रम, क्रोधप्राचुर्य (चिड़चिड़ापन), बुद्धिवैकल्य (बुद्धि चकरा जाना), मुखका स्वाद लवण रहना, स्वेद, शरीर-दौर्गन्ध्य, मद (नशा-सा रहना), कम्प, स्वरभङ्ग, निद्रा तथा आलस्यका आधिक्य, आँखोंके आगे अन्धेरा छा जाना; कण्डू (खाज), व्रण, कोठ (चकत्ते), पिडका (फुन्सियाँ), दद्रु, श्वित्र, पामा (अकौता), रक्तमण्डल कुष्ठ, चर्मदल प्रभृति त्वग्विकार; मशक, नीलिका, पिप्लु, तिल, न्यच्छ, व्यङ्ग ये वर्णविकार, इन्द्रलुप्त (केशपात), प्लीहा; रक्त, अर्श, अर्बुद, अङ्गमर्द, गुदपाक, मेढ्रपाक। अथ च, शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इस प्रकार विपरीतगुण आहार-विहार आदिसे भी जो रोग शान्त न हो, वह रक्तज है, ऐसी कल्पना करनी चाहिए। [कारण, पित्तज हो तो स्निग्ध-शीत, वातज हो तो स्निग्ध-उष्ण एवं कफज हो तो रूक्षोष्ण उपचारसे शान्त हो ही जाना चाहिए था।]

विदाहीन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च।
रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ॥ च० वि० ६-१४

उल्लिखित विदाही, स्निग्ध, उष्ण तथा द्रव अन्नपान; धूप-ताप तथा अग्नि आदिके सेवनसे रक्तवाहिनियाँ दूषित हो जाती हैं। इस प्रकार यथोक्त रक्तदोषज रोग उत्पन्न होते हैं।

रक्त-प्रकोपज रोगोंकी संप्राप्ति—

आगे दोषोंके प्रकोपके विवरणमें कहेंगे कि, दोष जब प्रकुपित (या क्षीण) होते हैं तब उनके सभी गुण प्रकुपित नहीं होते। प्रत्युत, दोष-प्रकोपक आहार-विहारमें प्रकोप्य दोषके जिस गुणकी

१—यह एक प्रकारका दन्तवेष्टों (मसूड़ों) का पाक है। इसके लक्षण—वेष्टेषु दाहः पाकश्च तेभ्यो दन्ताश्चलन्ति च। आघट्टिताः प्रस्रवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः॥ आध्मायन्ते स्रुते रक्ते मुखं पूति च जायते। यस्मिन्नुपकुशः स स्यात् पित्तरक्तकृतो गदः॥ सु० नि० १६।२१-२२

वृद्धिका स्वभाव विशेष होता है उसी गुणकी वृद्धि अधिक होती है। परिणामतया उस दोषके उस प्रकुपित हुए गुणके अनुसार ही रोग-विशेषका प्रादुर्भाव होता है। तद्यथा—इसी प्रकरणमें पित्त-प्रकोपक आहार, विहार या औषधमें पित्तके दुर्गन्ध (विस्त्र, पूति) गुणके प्रकोपका स्वभाव विशेष हो तो उससे दूषित रक्तमें दुर्गन्ध (कोथ–सड़ाँद) होकर कुष्ठ, दद्रू, विसर्प आदि त्वग्रोग होते हैं[1]। पित्त-प्रकोपक कारण अपनी तीक्ष्णताके कारण पाकको उत्पन्न करनेवाला हो तो उसके सेवनसे केशिकाओंके अणुश्लेष्मा (उनके घटक कोषोंके जोड़नेवाले कफ) का पाक होता है—वह खाया जाता है। परिणामतया स्रोतोंमें छिद्र होकर उनसे रक्तस्राव होता है। इसीको स्थानभेदसे रक्तपित्त, अर्श, रक्तप्रदर आदि कहते हैं। यदि निदान पित्तके द्रव गुणका प्रकोपक रहा हो तो त्वचाके नीचे या किसी कारण त्वचामें हुए व्रणमें रक्तका स्कन्दन (जमना) नहीं हो पाता। यह स्थिति आधुनिकोक्त हीमोफीलिया[2] तथा स्कर्वी[3] रोगोंमें होती है।

रक्त और पित्तके प्रकोपक कारण आशु (मन्द-विरोधी—तीक्ष्ण)[4] गुणका प्रकोप करनेवाला हो तो रक्तमें वेगाधिक्य होकर भ्रम, तम, शिरोरुजा (शिरोवेदना), नेत्रोंमें रक्तिमा आदि रोग होते हैं, जिनका विचार आधुनिकोंने रक्तभारकी अधिकता नामसे किया है[5]।

रक्तदोषज रोगोंका संक्षेपमें उपचार—

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासञ्च स्रावणं शोणितस्य च॥ च० सू० २४।१८

रक्तज रोगोंमें रक्त और पित्तका शमन, विरेचन, उपवास तथा रक्तमोक्षण करना चाहिए।

१—महाकुष्ठोंमें रक्त और पित्तके इस प्रकोपको देखकर, समझा जा सकता है कि गुजरातीमें महाकुष्ठोंको जो रक्त-पित्त नाम दिया है, वह अन्वर्थक ही है।

२—Haemophilia.

३—Scurvy. इस रोगका विचार पृ० २७०-७२ पर देखिये।

४—तीक्ष्णके दो अर्थ शास्त्रकारोंने किये हैं, मन्द-विरोधी तथा दाह-पाककर पित्तमें दोनों संगत होनेसे दोनोंका यहाँ ग्रहण किया है।

५—स्मरण रहे, रक्तभाराधिक्यमें आयुर्वेदमतसे कफ तथा वातका भी अनुबन्ध होता ही है। उसके अतिभोजन, खाकर दिवास्वप्न, अतिअम्ल-लवणादि भोजन इत्यादि कारण बताये हैं। आधुनिकोंने भी रक्तदाबकी अधिकताके कारणोंमें इन कारणोंका उल्लेख किया है। आयुर्वेद-मतसे रक्तदाबकी उच्चताका विचार करते हुए उक्त संप्राप्ति स्मरण रखने योग्य है। चिकित्सा भी कारणानुरूप चिन्त्य प्रकारकी (दोष-प्रत्यनीक) होनी चाहिए।

इस विषयमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चरकने उक्त अध्यायमें ही रक्त-प्रकोपके उक्त लक्षणादि देकर आगे मद, मूर्च्छा और संन्यास (Apoplexy—अपोप्लेक्सी) की भी निदान-चिकित्सा दी है। ये रक्तदाबकी अधिकताकी ही उत्तरोत्तर अवस्थाएँ हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इस प्रकरणमें रक्तमोक्षणपर चरकने विशेष भार दिया है, जो कुष्ठादि अन्य रोगोंके समान रक्तभारको भी सम करता है तथा पाश्चात्य चिकित्सामें भी सुव्यवहृत है।

रक्त प्रकोपज अन्य रोगोंमें रक्त और पित्तके अन्य गुणोंके प्रकोपका विचार इसी पद्धतिमें करना चाहिए।

तं नातिशीतैर्लघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्॥ सु० सू० १४।३८

(अतिप्रवृत्ते रक्ते) काकोल्यादिकाथं वा शर्करामधुमधुरं पाययेत्॥ सु० सू० १४।३७

व्रणादिसे रक्तका अतिस्राव होनेसे अथवा किसी कृच्छ्ररोगके कारण रक्तका क्षय हो गया हो तो लघु, अनतिशीत, स्निग्ध, किञ्चित् अम्ल किंवा अनम्ल, रक्तवर्द्धक आहार द्वारा उसकी वृद्धि करे। सिता (मिसरी) और मधुमिश्रित काकोल्यादि गणके द्रव्योंका क्वाथ दे। (यकृत्, रक्तवर्ण मांस, अण्डा, दाल, अनछने अनाज, शलगम (कन्द तथा पत्ते), सलाद, प्याज, मूली, स्ट्रोबेरी, टमाटर, पालक-मूलीके पत्ते, चुकन्दर इत्यादि द्रव्य रक्तके वर्द्धक हैं। इनमें अयस् (लोह) होता है। आहारमें अयस् पर्याप्त हो तो भी शरीर द्वारा उसका उपयोग तभी हो सकता है, जब साथ ही ए, बी, सी और ई जीवनीय तथा सुधा (केल्शियम) पर्याप्त मात्रामें हों और यकृत् ठीक कार्य करता हो।

सोमल और ताम्र अपने प्रभावसे रक्तकी वृद्धि करते हैं। रक्त स्वयं सर्वोत्तम रक्तवर्द्धक है।

रक्त सर्वोत्तम रक्तपोषक है—

लोहितं लोहितेन (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः)॥ च० शा० ६।१०

अतिनिःस्रुतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं पिबेदसृक्। सु० ३।४५।२८

(अतिप्रवृत्ते रक्ते) एणहरिणोरभ्रशशमहिषवराहाणां वा रुधिरं क्षीरयूपरसैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात्॥ सु० सू० १४।३६

रक्तक्षयमें अथवा अतिरक्तस्राव होनेपर एण, हरिण, मेष, शशक, महिष और शूकरका रुधिर अथवा दूध, मुद्गयूप तथा मांसरसका स्निग्ध पदार्थोंके साथ सेवन करे।

रक्तवर्धनार्थ आजकल भी रक्तका प्रयोग होता है, पर पान अथवा बस्ति[1]के रूपमें नहीं। रक्त भी मनुष्यका दिया जाता है। इसमें पहले दाता[2] और आदाता[3]के रुधिरकी परीक्षा करके देखा जाता है कि दोनोंके रक्त विरुद्ध[4] तो नहीं है। विरुद्ध न होनेपर दाताकी धमनीसे शुद्ध रक्त लेकर आदाता (रोगी) की सिरामें डाल दिया जाता है। इस विधिको रक्ताधान[5] कहते हैं। इसके अतिरिक्त रञ्जक द्रव्य हीमोग्लोबीनके बने अनेक कल्पोंका भी प्रायः सेवन कराया जाता है।

वातादि दूषित रक्तका स्वरूप—

किसी भी विधिसे किये रक्तमोक्षणसे निकले रक्तमें वातादि दोषभेदसे निम्न लक्षण होते हैं :—

अरुणाभं भवेद् वाताद् विशदं फेनिलं तनु।
पित्तात् पीतासितं रक्तं स्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च॥

१—रक्तके पान और बस्तिका और भी देखिये—'मृगगोमहिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्। पिबेज्जीवाभिसन्धानं जीवं तद्ध्याशु गच्छति॥ तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्॥ च०सि० ६।८२-८३

२—Donor—डोनर। ३—Recipient—रेसीपिएण्ट। ४—Incompatible—इनकम्पेटिबल। ५—Transfusion—ट्रैन्स्फ्यूशन। गर्भाधान, अग्न्याधान आदि शब्दोंकी अनुकृतिमें यह रक्ताधान संज्ञा रची गयी है।

अलंकार-ग्रन्थोंकी संज्ञा अक्षर-मैत्री तथा ज्योतिषकी संज्ञा ग्रह-मैत्रीके अनुकरणमें दाता और आदाताके रक्तोंके साम्य (Compatibility) के लिए रक्त-मैत्री संज्ञा रखी जा सकती है।

ईषत् पाण्डु कफाद् दुष्टं पिच्छिलं तन्तुमद् घनम्।
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात् त्रिलिङ्गं सन्निपातिकम्॥ च० सू० २४।२०।२१

तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रमस्कन्दि च वातेन दुष्टं; नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्रमनिष्टं पिपीलिकामक्षिकाणामस्कन्दि च पित्तेन दुष्टं; गैरिकोदकप्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्रावि मांसपेशीप्रभं च श्लेष्मदुष्टं; सर्वलक्षणसंयुक्तं काञ्जिकाभं विशेषतो दुर्गन्धि च सन्निपातदुष्टं (पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णं च); द्विदोषलिङ्गं संसृष्टम्॥
सु० सू० १४।२१

वातसे दूषित रक्त वर्णमें कृष्णारुण; तनु (पतला), रूक्ष, फेनिल (फेनवाला), शीघ्रगति और न जमनेवाला होता है। पित्तसे दूषित रक्त नील, हरित, पीत, श्याम वर्ण, आमगन्धि, (कच्ची मछलियोंके गन्धवाला) मक्खियों और चींटियोंको अप्रिय तथा न जमनेवाला होता है। कफदुष्ट रक्त गेरूके द्रव्यके समान ईषत् पाण्डु, पिच्छिल (चिपचिपा); तन्तुमान्, गाढ़ा, स्निग्ध, शीतल, मन्द-गति तथा (शीघ्र जमनेके स्वभाववाला होनेसे स्वरूपमें) मांसपेशीके समान प्रतीत होता है। सन्निपातदुष्ट रक्त उक्तसर्वलक्षणयुक्त, कांजीके समान तथा विशेषतः दुर्गन्धित होता है। प्रकुपित रक्तसे दूषित रक्त पित्तदूषितके समान परन्तु कुछ अधिक कृष्णवर्ण होता है। दो दोषोंसे दूषित रक्तमें उन दोनों दोषोंसे दूषित होनेके लक्षण पाये जाते हैं[1]।

जीवरक्त और पित्तरक्तमें भेद—

मुख, गुद, योनि आदि मार्गोंसे कभी-कभी दूषित रक्तके समान जीवरक्त (अदूषित रक्त) भी निकल सकता है। इसका कारण दुर्बलता या दोषके प्राबल्यके कारण अन्त्र, आमाशय, गर्भाशय आदिकी केशिकाओंका व्रणित हो जाना है। इन व्रणोंके मार्गसे जीवरक्त आता है। वमन, विरेचन आदिके लिए प्रयुक्त औषधोंके तीक्ष्ण होनेसे भी जीवरक्तका स्राव होता है[2]। उसे देखकर रक्तातिसार, रक्तवमन, रक्तप्रदर, रक्तार्श आदिकी शङ्का हो सकती है। जीवरक्त और दूषित रक्तका भेदज्ञान चिकित्साके प्रयोजनसे बड़ा आवश्यक है। कारण, रक्तातिसार, रक्तप्रदर आदिका रक्त दूषित होनेसे आम मलके सदृश तबतक अस्तम्भनीय हो सकता है, जबतक उसकी राशि सीमातीत (अतश्च भयावह) न हो जाय[3]। परन्तु[4] जीवरक्तका एक-एक बिन्दु रक्षणीय होता है। दोनों रक्तोंकी भेदक परीक्षा यह है—

१—रक्त प्रदरमें भी दोष-भेदसे दूषित रक्तके यही लक्षण कहे गये हैं।

रक्तके स्कन्दनकी आधुनिकोंने जो संप्राप्ति (प्रक्रिया) कही है, उसके साथ तुलना करके देख सकते हैं कि फाइब्रिनोजन आदि पोषक-गुण प्रधान द्रव्योंका शरीरमें साम्य हो तो रक्तका स्कन्दन यथावत् होता है। अन्य कुछ द्रव्योंकी उपस्थितिमें नहीं होता। इस विचारसे रक्तके स्कन्दनके प्रकरणमें आये द्रव्योंका दोष-भेदसे वर्गीकरण करना चाहिए।

२—अतितीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघुदोषस्य भेषजम्।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम्॥ च० सि० ६।७८

३—उदाहरणार्थ देखिये—
अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः।
तद् दोषदुष्टमक्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति॥ च० चि० ४।२५

४—देखिए पूर्वधृत 'तस्माद्यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इति स्थितिः।' सु० सू० १४।४४

तेनान्नं मिश्रितं दद्याद् वायसाय शुनेऽपि वा ।
भुङ्क्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्[1] ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा ।
प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥ च० सि० ६।७६।८०

जीवशोणितरक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थं तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्, यद्युष्णोदकप्रक्षालितमपि वस्त्रं न रञ्जयति तज्जीवशोणितमवगन्तव्यं ; सभक्तं च शुनेदद्याच्छक्तुसंमिश्रं वा, स यद्युपयुञ्जीत तज्जीवशोणितमवगन्तव्यम् ; अन्यथा रक्तपित्तमिति ॥ सु० चि० ३४।१४

निःसृत रक्तमें श्वेत शुष्क वस्त्र किंवा पिचु (रुईका टुकड़ा) को भिगोये । इसे गरम जलसे धोनेपर यदि वस्त्र वा पिचु शुद्ध निकल आय—उसपर किसी तरहका चिह्न न रहे—तो जीवरक्त समझे, अन्यथा पित्तदूषित रक्त जाने । दूसरी परीक्षा यह है कि इस रक्तमें चावल अथवा सत्तू मिला कुत्ते या कौएके आगे रखे । वह यदि खाय तो जीवरक्त जाने ; अन्यथा दुष्ट रक्त है, ऐसा समझे ।

विशुद्धरक्तवान् पुरुष—

पूर्वोक्त वातादिदोषदूषित रक्तके लक्षण उसके निःसृत होनेपर किंवा तत्तद् विकारके प्रादुर्भूत होनेपर जाने जा सकते हैं । विशुद्ध रक्तकी परीक्षा इन उपायोंसे नहीं हो सकती । चिकित्सोपयोगी होनेसे उसका भी लक्षण जानना चाहिए और वह यह है—

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिन्द्रियार्थानिच्छन्तमव्याहतपक्तृवेगम् ।
सुखान्वितं तु(पु)ष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥ च० सू० २४।२४

जिस पुरुषका वर्ण और इन्द्रियगण विमल हो, इन्द्रियोंके विषयोंके ग्रहणमें जिसकी रुचि हो, जाठराग्नि जिसका यथावत् कार्य करता हो, मलमूत्रादिके वेग जिसके अदुष्ट हों, जो सुख और शान्तिसे सम्पन्न हो तथा जिसका बल और पुष्टि अबाध हो, उसका रक्त विशुद्ध है, ऐसा मानें ।

रक्तसार पुरुषका लक्षण—

कर्णाक्षिमुखजिह्वानासौष्ठपाणि पादतलनखललाटमेहनं स्निग्धरक्तवर्णं श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसाराणाम् । सा सारता सुखमुद्धतां मेधां मनस्वित्वं सौकुमार्यमनतिबलमक्लेशसहिष्णुत्वमुष्णासाहिष्णुत्वं चाचष्टे ॥ च० वि० ८।१-४

स्निग्धताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलं रक्तेन ॥ सु० सू० ३५।१७

रक्तसार पुरुष सुखी, मेधावी, मनस्वी, सुकुमार, अल्पबल, क्लेशके सहनमें असमर्थ, उष्णताके असहिष्णु तथा सुकुमार होते हैं । उनके कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हथेली, तलुए, नख, ललाट और शिश्न (मूत्रेन्द्रिय) स्निग्ध तथा रक्तवर्ण होते हैं ।

रक्तसारका अर्थ नवीन विज्ञान में प्लेथोरा[2] है । इस विकार में रक्तकणों का प्रमाण सामान्य की अपेक्षया अधिक होता है । पुरुषके गाल आदि विशेष गुलाबी-लाल दिखाई देते हैं ।

१—पित्तमादिशेदिति शोणितगतं पित्तमादिशेद् रक्तपित्तमिति यावत् ॥ —चक्रपाणि
२—Plethora.

तेईसवां अध्याय

अथातः शोणितशोधनाधिकारमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

रक्तकी श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्।
कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥
पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः।
प्रीणयन् देहमखिलं जीवं च जठरानलम्॥ शा० पू० ५।४४-४६
उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम॥ सु० शा० ४।३१

नाभि (हृदय) में स्थित[1] (धातुपाकजन्य) प्राणसंज्ञक दूषित वायु[2] प्रथम हृदय (फुफ्फुसों)

१—पृ० ४५४-४५ पर कह आये हैं कि कई प्रकरणोंमें नाभि शब्दसे हृदयका ग्रहण अभीष्ट होता है। नाभि शब्दका अर्थ ऐसे स्थलोंपर हृदय ले सकें, तो साथ आये हृदय शब्दका अर्थ छाती और लक्षणासे तदन्तर्गत फुफ्फुस लेना उचित होगा। छातीके लिये हृदय शब्दका प्रयोग संस्कृत वाङ्मयमें प्रचुर है ही। श्वासक्रियावर्ती संकोच-विकासके कारण हृदयके समान फुफ्फुसोंके लिये भी कमल (किंवा भस्त्रा—धौंकनी) की उपमा संगत ही है।

२—नासिकामें संचार करनेवाले प्राण और अपान—पञ्चविध वायुओंमेंसे एकके लिए प्राण शब्द शास्त्र और लोकमें प्रसिद्ध है, जो ठीक है। बहिश्चर तथा नासिका द्वारा शरीरमें प्रविष्ट शुद्ध वायुके अर्थमें भी यह लोकमें रूढ है। पर इसका शास्त्रशुद्ध अर्थ श्वासक्रियामें निकला दूषित वायु है, जो वायुओंका ऐसा मिश्रण होता है, जिसमें 'कार्बन डाइऔक्साइड' (अङ्गाराम्ल गैस, CO_2) का आधिक्य होता है। इसीसे इसे अशुद्ध वायु कहा जाता है। अन्तःप्रविष्ट वायुके लिये अपान शब्द है। शास्त्रमें शरीरके अधोभागमें स्थित मलमूत्रादिके प्रवर्तक वायुको भी अपान कहते हैं। यह भी कतिपय वायुओंका मिश्रण होता है, जिसमें ओषजन अधिक रहता है। इसी कारण इसे शुद्ध वायु कहते हैं। इससे लोकमें गुदमार्गसे निकले विकृत वायुके लिये तथा विकृतिके साम्यसे नासिकद्वारसे निकले दूषित वायुके लिये भी अपान शब्द प्रचलित हो गया है। श्वसन क्रियाके प्रकरणमें प्राणका अर्थ अशुद्ध वायु तथा अपानका अर्थ शुद्ध वायु (ओषजन) होता है। देखिये भगवद्गीता ४—२९ पर श्रीधराचार्य—'अपाने अधोवृत्तौ प्राणमूर्ध्ववृत्तिं पूरकेण जुह्वति पूरककाले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति। तथा कुम्भकेन प्राणापानयोरूर्ध्वाधोगती रुद्ध्वा रेचककालेऽपानं प्राणे जुह्वति। एवं पूरककुम्भकरेचकैः प्राणायामपरायणा अपरे इत्यर्थः॥' 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ। (भ०गी०५-२)' इत्यादिके अनुसार अपान वायुको नासान्तरसञ्चारी कहा है। ऐसे प्रसङ्गोंमें अपान वह नहीं हो सकता जिसके अधीन मलमूत्रादिकी क्रिया है। न वह विकृत वायु हो सकता है, जो गुदामार्गसे बाहर निकलता है। इसी श्लोकपर श्रीधर कहते हैं—'उच्छ्वासनिःश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणपानावूर्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा। कुम्भयित्वा इत्यर्थः। यद्वा प्राणो यथा बहिर्न निर्याति यथा चापानोऽन्तर्न प्रविशति किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतः तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिःश्वासाभ्यां समौ कृत्वेति।'

में आता है। और फिर आकाशके अमृत (ओषजन[1]) का पान करनेके लिए अपस्तम्भ[2] नामकी दो नाडियोंमें होकर कण्ठ द्वारा बाहर निकल जाता है। आकाशके अमृतका पान करके वह वेगसे अन्दर प्रविष्ट होता है, और रुधिर (जीव), जठराग्नि और समस्त देहका तर्पण—पोषण—करता है।

रस और रक्तका चक्रवत् भ्रमण—

हृदो रसो[3] निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात्तत्प्रभवाः सिराः॥ भेडसंहिता सू० अ० २१
धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ॥ शा० पू० ५।३५
शिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः॥ शा० पू० ५।४३।४४
शोणितकफप्रसादजं हृदयं यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः॥
सु० शा० ४।३१

नासासंचारी प्राण-अपान वायुओंके शुद्धार्थसूचक अन्य प्रमाण—प्राणानां दशानां कर्माणि, प्राणस्य बहिर्गमनम्, अपानस्याधो गमनम् (भगवद्गीता ४—२९ पर श्रीधर)। (प्राणस्य) कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद् वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं प्राणायामः। (प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य—योगसूत्र १—३४ के भाष्यमें व्यास)। यद्वै पुरुष ; प्राणिति मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निःसारयति स प्राणाख्योवायोर्वृत्तिविशेषः, यदपानिति अपश्वसिति ताभ्यामेवान्तराकर्षति वायुं सोऽपानोऽपानाख्या वृत्तिः। (छान्दोग्योपनिषत् १—३—३ 'यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः।' पर शंकराचार्य)। प्राणो धूमो धूम इव मुखान्निर्गमनात्। (छान्दोग्य० ५—७—२ पर शंकराचार्य)। प्राणो धूमस्तदुत्थानसामान्यात्। (बृहदारण्यक ६—२—१२ पर शंकराचार्य)। प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिः तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य ते प्राणापानगती। (भगवद्गीता ४—२९ पर शंकराचार्य)। प्राणः प्राग्वृत्तिरुच्छ्वासादिकर्मा, अपानोऽर्वाग्वृत्तिर्निःश्वासादिकर्मा। (वेदान्तसूत्र २—४—१२ पर शंकराचार्य)। 'ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥' (कठ०, अ० २, व० २)। इस विषयमें अन्य प्राचीनोंके प्रमाण भी उद्धृत किये जा सकते हैं। नवीन लेखकोंमें ऋषि दयानन्द और लोकमान्य तिलकने भी प्राणापानके यही अर्थ किये हैं। अपान शब्दमें अधोगमनार्थक 'प' उपसर्ग ही मुख और नासिकासे ग्रहण किया जानेपर अधोगमन करनेवाले शुद्ध वायुका ही सूचक है। पञ्चविध कर्मोंमें एक अपेक्षपणमें भी 'अप' का यही अर्थ है।

१—शुद्ध वायुका अमृत नामसे व्यपदेश सूचित करता है कि आचार्यने उसके कर्मोंका यथावत् प्रत्यक्ष किया है। एवं ओषजनकी शरीरमें क्रिया आर्य वैद्योंके लिये नवीन नहीं है।

२—श्वासपथ (Trachea—ट्रेकियाकी प्रथम दो शाखाएँ—Bronchi—ब्रोंकाई। देखिये पृ० १४५ पर टिप्पणी। रसयोगसागरमें पण्डित हरिप्रसन्नजीने इनका अर्थ फुफ्फुस किया है। पर इन्हें नाडी कहा है, जो इनका साम्य Bronchi से द्योतित करता है। अपरंच, मर्मस्थान इतना विशाल नहीं बताया जाता, जितने दोनों फुफ्फुस हैं। अन्यथा सारा शरीर ही मर्ममय हो जायगा।

३—रस शब्दसे प्रसंगानुसार रस तथा रक्त दोनोंका शास्त्रमें ग्रहण होता है। देखिये—किंवा रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते, तेन रुधिरादीनामपि ग्रहणं भवति॥ च० चि० १५।३६ पर —चक्रपाणि

हृदयसे शुद्धरक्तवहा धमनियाँ निकलती हैं, जिनकी सूक्ष्मतर शाखाएँ सारे शरीरमें व्याप्त हैं। इनके द्वारा रुधिर और रस समस्त धातुओंको पुष्ट करते हैं। इस कर्ममें शुद्ध वायु उनका सहायक होता है[१]।

शुद्ध वायु तथा रस-रक्त किस प्रकार धातुओंको पुष्ट करते हैं, यह पिछले अध्यायोंमें कहा जा चुका है।

प्रश्वास और उच्छ्वास—

प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद् वायुः ॥ सु० शा० ९।५ पर डल्हन

बाह्य वायुका नासिका (किंवा मुख) द्वारा ग्रहण प्रश्वास कहाता है, तथा कोष्ठ नाम वक्षस्में स्थित वायुका बाहर निकलना उच्छ्वास कहाता है। प्रश्वासको ही निःश्वास भी कहते हैं। प्रश्वास[२] और उच्छ्वास[३] जीवनकी अनिवार्य क्रियाएँ हैं ; क्योंकि इनके द्वारा ही जीवनसंज्ञक धातु-पाकका प्रधान साधन ओषजन (अपान) धातुओंको उपलब्ध होता तथा मलपाकजन्य अङ्गाराम्ल (प्राण) वायु निःसृत होता है। प्रश्वास और उच्छ्वास मिलितका नाम श्वसन (श्वास या श्वास-क्रिया)[४] है।

श्वासरोध[५]—

बन्द कमरेमें रहने या सोनेका फल यह होता है कि बाहरसे शुद्ध वायु न आने और अन्दरका दूषित वायु बाहर न जानेके कारण कमरेमें ओषजन क्रमशः घटता जाता है और अङ्गाराम्ल वायुका प्रमाण बढ़ता जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रश्वासमें ओषजन न्यूनतर और अङ्गाराम्ल अधिक होता जाता है। कमरेका ओषजन १ या २ प्रतिशत कम हो जाय तो शिरोवेदना और शैथिल्य (अस्वस्थता[६]) का अनुभव होता है। ओषजनका ह्रास और अङ्गाराम्लकी वृद्धि १० प्रतिशत हो जाय तो रुधिरका वर्ण बदलने तथा धातुपाकके लिये प्रश्वास द्वारा यथेष्ट ओषजन नहीं मिलता। सारे शरीरका रक्त मलिन[७] हो जाता है। ओषजनके अभाव और अङ्गाराम्ल (जो स्वयं हलका विष है) की वृद्धिके कारण अन्तको पुरुषकी मृत्यु हो जाती है। इस अवस्थाको श्वासरोध कहते हैं।

सोनेके कमरेमें सिगड़ी आदि जलते रखे हों तो यह अवस्था जल्दी आ सकती है। कारण, कोयला आदि जलनेसे अङ्गाराम्ल उत्पन्न होता है। शिरोरोग (शिरोवेदना), कोई रोग न होते हुए भी शरीर अस्वस्थ लगना इत्यादिके निदान और चिकित्सामें खुले वायुमें भ्रमण और शयनको सदा स्मरण रखना चाहिये।

१—शार्ङ्गधरके ऊपर धृत पद्य इस बातके साक्षी हैं कि प्राचीन आयुर्वेदका लोप कितना अधिक हो गया है। ध्यान रहे विद्वानोंके मतमें वर्त्तमानमें उपलब्ध चरक-सुश्रुत मूल प्राचीन संहिताएँ नहीं हैं ; लोक भ्रान्तिवश इन्हें प्राचीन मानता है। प्राप्त चरक-सुश्रुत संहिताओंमें रक्तकी बहिश्चर वायु द्वारा शुद्धि तथा शुद्ध वायु द्वारा धातुओंके पोषणका वर्णन नहीं है। शार्ङ्गधरने अपने समयमें प्राप्त किसी संहिताके आश्रयसे इस प्रक्रियाका वर्णन किया होगा। नहीं कह सकते, प्राचीन पण्डितोंने इतनी सूक्ष्म क्रियाका अनुशीलन कैसे किया होगा ?

२—Inspiration—इन्स्पिरेशन। ३—Expiration—एक्स्पिरेशन।

४—Respiration—रेस्पिरेशन।

५—Suffocation—सफोकेशन ; या Asphyxia—ऐस्फिक्सिया।

६—General uneasiness—जेनरल अनईज़ीनेस। ७—Venous—वीनस।

शुद्धवायुसेवन—

बन्द कमरोंमें रहने, विशेषतः सोनेका स्वस्थवृत्तमें जो इतना निषेध है, उसका यह कारण है। विद्यार्थियोंके वर्ग खुले वायु[1]में रखने तथा कार्यालय आदिमें शुद्ध वायु आने देनेपर भी इसीलिये आजकल मनीषियोंका बहुत आग्रह है। ध्यान रहे, प्रयत्न शुद्ध वायुके सेवनका होना चाहिये, प्रवात (वायुके झोंकों) के सेवनका नहीं। प्रवात शरीरके तापको हर लेता है; अतः नियत ऊष्मा (९८·४ फा०) स्थिर रखनेमें शरीरकी शक्तिके बड़े अंशका व्यय हो जाता है। इससे पाचन आदि अनिवार्य क्रियाओंके लिये ऊष्मा पर्याप्त नहीं रह जाता और शरीर अजीर्ण, प्रतिश्याय, गौरव आदि विभिन्न रोगोंका भोग होता है। दुर्बल-काय पुरुषोंपर यह दुष्प्रभाव शीघ्र होता है। कार्यालय आदिमें, बिजलीके पंखेके नीचे वा निकट बैठकर कार्य करनेका भी प्रवातके तुल्य ही विपरिणाम होता इसीलिये—

निवातं प्रवातैकदेशम्॥ च० सू० १५।६; च० शा० ८।५९

घरकी रचना ऐसी होनी चाहिये कि उसमें एक ओरसे वायुका प्रवेश हो, जिससे शुद्ध वायुका लाभ तो हो, परन्तु प्रवातजन्य हानि न हो। आयुर्वेदमें व्रणितागार[2], सूतिकागार और कुमारागार बनवाते हुए भी यह वस्तु लक्ष्यमें रखनेका उपदेश किया गया है। प्रवात शरीरमें वातका प्रकोपक माना गया है।

घरोंमें शुद्ध वायुकी पर्याप्तिके लिये प्रति पुरुषको कम-से-कम १००० घन फीट अवकाश चाहिये।

फन्दा लगाकर[3] या गला घोटकर[4] मार डालने तथा डूबनेमें भी मृत्यु श्वासरोधके समान ही होती है। इन अवस्थाओंमें कुछ ही मिनटोंमें मृत्युसे स्पष्ट है कि शरीरको प्रतिक्षण ओषजनकी कितनी आवश्यकता है।

श्वासक्रियाकी दर—

श्वासक्रिया प्रति मिनट शिशुमें ४०, बच्चोंमें २६ तथा प्रौढमें १८ होती है। श्रम (व्यायाम आदि), रोग आदिसे इसमें घटती-बढ़ती हो सकती है। कास-श्वास प्रधान संतत ज्वर (न्यूमोनिया) में प्रश्वास छिछला तथा श्वासक्रियाकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है। इस ज्वरके निदानमें यह लक्षण स्मरणीय है।

श्वाससंस्थानके अवयव—

श्वासक्रिया श्वाससंस्थानके अधीन है। इस संस्थानमें नासिका, कण्ठ (स्वरयन्त्र) क्लोम, फुप्फुस-द्वय तथा श्वास-पटलकी गणना है। वायु नासिकासे (अथवा मुखसे श्वास लेनेकी टेव हो तो मुखसे) गल, कण्ठ तथा क्लोममें होकर फुप्फुसोंमें जाता है। इनमें कण्ठका अपेक्षित विवरण पीछे होगा।

क्लोम—

क्लोम[5] किंवा श्वासपथ ४-४॥ इञ्च लम्बी और ३/४-१ इञ्च व्यासकी नली है, जो तरुणास्थिमय

१—Open air classes—ओपेन एअर क्लासिज़।

२—Surgical Hospital—सर्जिकल हॉस्पिटल।

३—Strangling—स्ट्रैङ्गलिङ्ग। ४—Choking—चोकिङ्ग।

५—Trachea—ट्रेकिया। रसयोगसागरमें स्व० पं० हरिप्रपन्नजी क्लोमका अर्थ पित्ताशय (गौल ब्लैडर) सिद्ध करते हैं। मैंने म० म० गणनाथसेनजीके अनुसार श्वासपथ (ट्रेकिया) लिया है।

वलयों(छल्लों)की बनी है। क्लोमकी एक विशेषता इसकी कलाका पक्ष्मल होना है। पक्ष्मकलाके अणुओंके ही अवयवभूत अति सूक्ष्म सूत्र हैं। इनमें ऊपरकी ओर अविरत, वेगवान् तथा परस्पर सहकारयुक्त कम्पनं विशेष पाया जाता है। इस कम्पनका फल यह होता है कि प्रश्वासके साथ बाहरसे आये धूलि तथा धुएँके कण और कलामें उत्पन्न कफ सतत मुखकी ओर वाहित होते रहते हैं और अन्तमें थूत्कारवश बाहर कर दिये जाते हैं, अथवा निगल लिये जाते हैं। पक्ष्मोंकी इस क्रियासे फुप्फुस और क्लोम निर्मल रहते हैं। अन्यथा सर्वदा श्वासावरोधका भय रहता[1]।

फुप्फुसोंमें प्रवेशके कुछ पूर्व क्लोमकी दो शाखाएँ हो जाती हैं। एक-एक शाखा प्रत्येक फुप्फुसको जाती है। इन्हें अपस्तम्भ कहते हैं।

क्लोमके प्रतान—

क्लोम बाहरकी ओर एक स्वतन्त्र पेशीसे[2] वेष्टित होता है। इसके अस्वाभाविक संकोचसे क्लोमके पीड़ित होनेपर उसका छिद्र संकुचित हो जाता है, जिससे श्वासकृच्छ्र (श्वास लेनेमें कठिनाई) होता है। यह श्वासरोग (दमे) का एक भेद है[3]। दक्षिण क्लोम-शाखा तीन प्रशाखाओंमें विभक्त हो जाती है। एक-एक प्रशाखा दक्षिण फुप्फुसके एक-एक खण्डमें जाती है। वाम शाखाके दो विभाग हो जाते हैं, जो वाम फुप्फुसके एक-एक खण्डमें जाते हैं[4]। ये प्रशाखाएँ भी वृक्षोंकी प्रशाखाओंके समान उत्तरोत्तर सूक्ष्म प्रतानों (शाखाविस्तारों) में विभक्त होती जाती हैं। च० वि० अ० ५—८ तथा सु० शा० अ० ९ में आये 'प्राणवह स्रोत' यही वायुकोष हैं। अपस्तम्भोंके सबसे अन्तिम प्रतानोंको वायुकोष[5] कहते हैं, जिनका व्यास ०·५ से ०·३ मिलीमीटर[6] होता है। अणुवीक्षणसे देखनेपर वायुकोषोंके समूह द्राक्षाफलोंके गुच्छसे प्रतीत होते हैं। (देखिये चित्र—३१)



अ, ब दो वायुकोष। चित्र—३१

१—इस विषयका अन्य विवरण पृ० १७० पर देखिये।

२—अंग्रेजीमें इस पेशीको Trachialis muscle—ट्रेकिएलिस मसल कहते हैं।

३—अंग्रेजीमें इसे Bronchial Asthma—ब्रौङ्कियल अस्थ्मा कहते हैं; इसमें एड्रीनलीनका सूचीवेध दिया जाता है।

४—अंग्रेजीमें इन दो शाखाओंको Bronchi—ब्रौङ्काई—तथा प्रशाखाओंको Bronchioles—ब्रौङ्किओल्स कहते हैं। ५—Air cells—एअर सेल्स; या Alveoli— ऐल्विओलाई।

६—एक मिलीमीटर=$\frac{1}{25}$ इञ्च।

उपर्युक्त पक्ष्म क्लोमकी प्रशाखाओंमें लगभग अन्ततक पाये जाते हैं। कफग्रन्थियाँ अन्त तक होती हैं और कफ उत्पन्नकर श्वाससंस्थानको मृदु और आर्द्र बनाये रखती हैं। शरीरमें वायुका प्रकोप होकर कफ रूक्ष और शुष्क हो जाय तो पक्ष्मल सूत्रों द्वारा उसका वहन नहीं होता। इसे निकालनेके लिए कासके शुष्क (कफ-रहित) वेग होते हैं। इसे ही शास्त्रमें वातिक कास कहते हैं।

फुप्फुसोंमें वायुओंका विनिमय—

फुप्फुसोंकी अशुद्धरक्तवह केशिकाओंकी अन्तिम सूक्ष्म शाखाएँ वायुकोषोंके चारों ओर तथा ऊपर स्थित होती हैं। प्रश्वास द्वारा गृहीत तथा अन्तको इन वायुकोषोंमें आकर उपस्थित शुद्ध वायु तथा हृदयसे आये हुए अशुद्ध रक्तके मध्य केवल केशिकाओं और वायुकोषोंकी अत्यन्त पतली भित्तियोंका ही व्यवधान होता है। यह व्यवधान अकिञ्चित्कर होता है—नैसर्गिक नियमोंके अनुसार वायुओंके प्रसरणमें बाधक नहीं होता। वायुकोषोंमें ओषजनका दबाव अधिक होता है तथा केशिकाओंमें स्थित मलिन रक्तमें न्यून। इस कारण वायुकोषोंमें स्थित ओपजनका न्यून दबाववाले स्थान—केशिकाओं—में प्रसरण होता है। उधर, अङ्गाराम्ल वायुका दबाव मलिन रक्तमें—अधिक तथा वायुकोषोंमें न्यून होता है। अतः वह मलिन रक्तको छोड़कर वायुकोषोंमें पहुँच जाता है और वहांसे उच्छ्वासकी क्रिया द्वारा विपरीत क्रमसे नासिकामें पहुंच बाहर निकल जाता है। शुद्ध वायुके संसर्गसे शुद्ध हुआ रक्त लौटकर हृदयमें आता है और हृदयसे समस्त शरीरमें प्रसृत होता है।

क्लोमकी प्रशाखाओंकी सम्पूर्ण कला कभी-कभी शोथाक्रान्त हो जाती है। इससे कफ-ग्रन्थियोंका स्राव (कफ, श्लेष्मा) बढ़ जाता है। श्वासक्रियाके समय वायुको श्लेष्मराशिमें होकर आने-जानेमें बल लगाना पड़ता है। यह बल कासके रूपमें प्रकट होता है। कास (खाँसी) शोथाक्रान्त श्वास-पथकी श्लेष्माके निर्हरणार्थ प्रयुक्त प्रतिक्रिया है। इसके वश कफ इधर-उधर हो जाता है, किंवा ऊपरको आ जाता है और थूत्कारसहित बाहर निकाल दिया जाता वा निगल लिया जाता है। वायुका मार्ग इस प्रकार खुला हो जाता है[1]।

रोगादिसे शरीर दुर्बल होनेपर अथवा शीतत्राणके साधन अपर्याप्त होनेपर बच्चोंका क्लोम तथा उसकी शाखाएँ तीव्रशोथाक्रान्त हो जाती हैं। कभी-कभी उपेक्षित वा बलवान् प्रतिश्याय किंवा कासका ही शोथ श्वासपथका अनुसरण करता हुआ नीचे उतर जाता है। इसके साथ ज्वरादि लक्षण भी हों तो यह विकार श्वसनक ज्वरका एक भेद होता है, इसे अंग्रेजीमें ब्रौङ्कोन्यूमोनिया[2] कहते हैं। रोमान्तिकाके[3] उपद्रवरूपमें यह रोग शिशुओं और बालकोंको प्रायः अभिभूत करता है। एवं रोमान्तिका स्वयं अल्पबल होता हुआ भी केवल इस उपद्रवके कारण बड़ा अनुपेक्षणीय रोग है। मूल रोगके शान्त होनेपर रोगीकी शीतसे रक्षा इत्यादि उपचार तत्परतासे करने चाहिए। रोमान्तिकाका ज्वर उतरने पर दो-एक या कुछ अधिक दिन पीछे ज्वर चढ़े और श्वासक्रियामें काठिन्य, प्रतिश्याय, कास आदि लक्षण हों तो इसी रोगकी शङ्का करनी चाहिए।

बच्चोंके सदृश वृद्धोंको भी ब्रौंकोन्यूमोनिया प्रायः हो जाता है।

श्लैष्मिक कास जीर्ण ज्वर हो जाय तो प्रायः तमकश्वासमें परिणत हो जाता है। पर ध्यान रहे, कभी-कभी जीर्ण कासमें ही श्लेष्माका समय-समयपर सञ्चय हो जानेसे भी श्वासक्रियामें कठिनता अनुभव होती है। इस उपद्रवको कभी-कभी तमक श्वासरोग वेग समझ लिया जाता है।

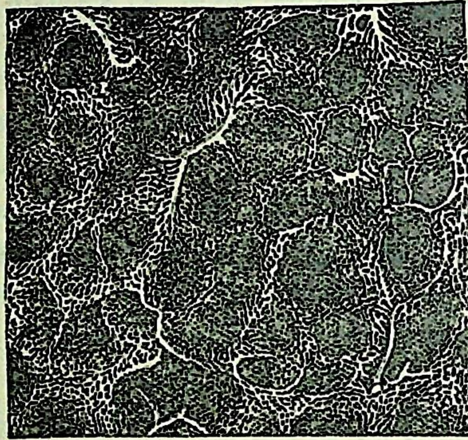
१—कास रोगको अंग्रेजीमें Bronchitis—ब्रौङ्काइटिस कहते हैं।

२—Broncho-pneumonia.

३—Measles—मीज़ल्स ; खसरा।

फुप्फुस—

उरःपञ्जरका अधिकांश फुप्फुसोंसे अधिष्ठत है। ये संख्यामें दो होते हैं। प्रत्येक पार्श्वपर एक-एक होता है। ये स्पञ्जके सदृश कोषमय तथा स्थितिस्थापक होते हैं। इनकी रचना प्रधानतः पूर्वोक्त वायुकोषों तथा उनको चतुर्दिक् आवृत करनेवाली केशिकाओंके प्रतानोंसे होती है। प्रत्येक वायुकोष स्थितिस्थापक धातुसे[1] वेष्टित होता है। प्रश्वास और उच्छ्वासके समय वायुकोषोंका सङ्कोच-विकास इसी धातुके तन्तुओंके सिकुड़ने और फैलनेसे होता है।



फुप्फुसमें केशिकाओंका जाल। चित्र—३२

वातकोषमय होनेसे फुप्फुसोंको यदि अंगुलियोंमें दबाया जाय तो मृदु मर्मर शब्द होता है, अथवा यदि सम्पूर्ण फुप्फुस या उसका खण्ड पानीमें डाला जाय तो तैरता है। जन्मके समय फुप्फुस पाटलवर्ण होते हैं। पर वयःक्रमसे कपिश (स्लेटके रङ्गके), प्रायः अत्यन्त चितकबरे होते जाते हैं। अन्तमें लगभग कृष्णवर्ण हो जाते हैं। वर्णपरिवर्तनका हेतु धूलि या धूम्रका सर्वदा श्वासमें लिया जाना है।

फुप्फुसोंकी रचनाके इस प्रकार अणुकोषमय होनेका उद्देश्य यह है कि अल्प स्थानमें (वायुओंके परिवर्तन द्वारा) प्रभूत रक्तका शोधन हो सके। सम्पूर्ण वायुकोषोंका विस्तार मिलाया जाय तो क्षेत्रफल २० गज लम्बे और बारह गज चौड़े कमरेके फर्शको ढाँप सके ऐसी दरी जितना होगा।

प्रत्येक फुप्फुस गहरी सीताओं द्वारा खण्डों[2] में विभक्त होता है—दक्षिण फुप्फुस तीन और वाम दोमें। इन खण्डोंका पुनः उपखण्डों[3] में विभाग होता है।

श्वासपटल—

उरःपञ्जर और उदरगुहाके मध्य श्वासपटल[4] नामक एक छत्राकार पेशी होती है, जो इन

१—Elastic tissue—इलैस्टिक टिश्यू, देखिये पृ० १७३।

२—Lobes—लोब्स। ३—Lobules—लौब्यूल्स।

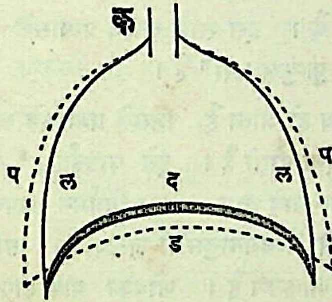
४—Diaphragm—डायाफ्राम। इस पेशीके महाप्राचीरा, वक्षोदरमध्यस्थ पेशी आदि नाम प्रचलित हैं। श्वासपटल नाम बोलनेमें सुगम, कर्मबोधक तथा इसके छप्परके सदृश स्वरूपका गमक होनेसे ग्राह्य समझा है। (पटलं छदिः—अमरकोष)।

दोनों अवकाशोंको पृथक् करती है। अन्नवह, महाधमनी[1] तथा अधरा महासिरा[2] अपने-अपने विवरोंमें होकर इसमेंसे गुजरती हैं। यह ऊपरसे उन्नतोदर तथा नीचेकी ओर नतोदर होती है।

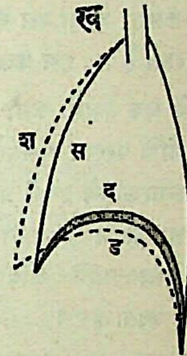
उदरगुहा[3] में श्वासपटल क्रोडमें दक्षिणकी ओर यकृत्का दक्षिण खण्ड तथा दक्षिण वृक्क और अधिवृक्क[4] होते हैं। वाम ओर यकृत्का वाम खण्ड, आमाशयका शीर्षभाग, प्लीहा, वाम वृक्क और अधिवृक्क होते हैं।

श्वासपटलका कार्य—प्रश्वासका संपादन—

श्वासपटलका प्रधान कार्य प्रश्वासका संपादन है। यह पेशी सामान्यतया ऊपरकी ओर उन्नतोदर होती है। संकुचित होनेपर इसका आकार लघु हो जाता है और ऊपरकी ओरकी वक्रता न्यून हो जाती है। परिणामतया, उरोगुहाका आयतन बढ़ता है। (देखिये चित्र—३३-३४), नासिका द्वारा अन्तःप्रविष्ट वायुके दबावसे, उस काल स्थितिस्थापक होनेसे फुप्फुस फैलते हैं, और वायु सम्पूर्ण कोषोंमें व्याप्त हो जाता है। इसी क्रियाका नाम प्रश्वास है। दीर्घ-प्रश्वासमें श्वासपटलके साथ ग्रीवा, वक्षस् तथा उदरकी पेशियाँ भी भाग लेती हैं।



चित्र—३३



चित्र—३४

प्रश्वासकालमें श्वासपटलका संकोच। स्थूल रेखा द—श्वासपटलकी सामान्य स्थिति।
बिन्दुरेखा ड—संकोचके समय श्वासपटलकी स्थिति।

उच्छ्वासक्रिया फुप्फुसोंके स्थितिस्थापक गुणके कारण होती है। श्वासपटल तथा अन्य पेशियाँ शिथिल होती हैं और फुप्फुस पुनः संकुचित हो अपना पूर्व आकार ग्रहण कर लेते हैं। फुप्फुसों के संकोचसे अन्तःस्थ वायु पीडित होकर श्वासपथ द्वारा निकल जाता है।

उदरगुहाके वायुका फुप्फुसोंपर दबाव—

प्रश्वासके समय महाश्वासपटल संकुचित होकर नीचे उदरगुहाकी ओर जाती है और अन्तर्वर्ती अङ्गोंपर दबाव डालती है। उदरगुहामें भी इसी प्रकार दबाव अधिक हो तो उसका प्रभाव श्वासपटल पर पड़ता है।

उरोगुहा तथा उदरगुहा दोनोंमें समान ही प्राणदा नाड़ी होनेसे बहुत वार एक गुहाके किसी

१—Aorta—एओर्टा। २—Inferior Vena Cava—इनफीरियर वीना कावा।
३—Abdominal Cavity—एब्डौमिनल केविटी।
४—Suprarenal—सुप्रारीनल ; या Adrenal—ऐड्रीनल।

अङ्गमें स्थित विकारका प्रभाव प्रतिसंक्रमण द्वारा दूसरी गुहाके अवयवपर पड़ता है, यह बात भी इस प्रसङ्गमें स्मरणीय है।

आध्मान,[1] प्रत्याध्मान,[2] विष्टम्भ[3] और विशेषतः रातको तृप्तिके पश्चात् भी भोजनसे उदरगुहा आध्मात होकर श्वासपटलपर दबाव डालती है। अतः, वह जितना चाहिये उतना संकुचित नहीं हो सकती, जिससे शुद्ध वायुकी अपेक्षित मात्रा शरीरमें नहीं पहुँच पाती। परिणाममें श्वास (दमा) के रूपमें शरीर शुद्ध वायुकी प्राप्तिके लिए प्रतिक्रिया करता है। एवं श्वासके निदानमें इन उदर विकारोंकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये। कोष्ठगत वायुके दबावसे इसी प्रकार शुष्क (वातिक) कास भी होता है[4]।

फुप्फुसोंकी आवरणी कला—

फुप्फुस एक दुहरी कलासे आवृत होते हैं। कलाका एक स्तर फुप्फुसोंके साथ दृढ़ संसक्त होता है। दूसरा स्तर उरोगुहाके अन्दरके पृष्ठसे संलग्न होता है। दोनों स्तर पृथक् होते हुए भी उनमें व्यवधान नहीं होता, वे सर्वत्र परस्पर मिले—संयुक्त—होते हैं।

इनके मध्य कलासे थोड़ा रस स्रुत होता है। इस रसके कारण प्रश्वासके समय दोनों स्तर परस्पर घर्षणसे मुक्त रहते हैं। इस कलाका नाम फुप्फुस धरा[5] है।

फुप्फुस धराके एक देशमें कभी-कभी शोथ हो जाता है, जिससे प्रश्वासके समय इस कलाके शोथयुक्त दोनों आवरणोंके परस्पर संसर्गसे तीव्र वेदना होती है। इसे पार्श्वशूल[6] कहते हैं। रोग-वृद्धि हो जाय तो अनन्तरकालमें इसमें प्रभूत रसका स्राव तथा उसका निर्गमन अपर्याप्त होनेसे दोनों आवरणोंके मध्य उसका संचय हो जाता है। इसे नव्यमतानुसारी जलपार्श्व[7] नाम दिया गया है। शोथका कारण प्रायः राजयक्ष्माके जीवाणुओंका आक्रमण है। शोथका पाक होकर कभी पूय भी कलाके अन्तरालमें भर जाता है[8]।

१—'साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति तं विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्॥' सु० नि० १—८८; अंग्रेजीमें 'Tympanitis—टिम्पैनाइटिस।'

२—अन्नके कोथ (सड़ाँद) से उत्पन्न किंवा अन्नपानके साथ (विशेषतया बच्चोंमें) लिये गये वायुके कारण या दौर्बल्यवश आमाशयका फूल जाना—

'विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफव्याकुलितानिलम्॥'

३—मल, विशेषतः दूषित वायुका बन्ध।

४—आयुर्वेदके शब्दोंमें इस विषयका विचार आगे वायुके प्रकोपके प्रकरणमें आमाशय तथा पक्वाशयमें स्थित वायुके लक्षणोंमें देखिये।

५—Pleura—प्लूरा। फुप्फुस धरा संज्ञाका विचार देखिये पृ० २१७ पर। म० म० गणनाथसेनजीने इसे उरस्या नाम दिया है।

६—Dry Pleurisy—ड्राई प्लुरिसी।

७—Wet Pleurisy—वेट प्लुरिसी। प्लुरिसीको सिद्धान्त-निदानमें उरस्तोय नाम दिया है। पर यह नाम केवल उसके द्वितीय भेदपर घटित होता है। जलोदरकी अनुकृतिमें बनाया जलपार्श्व शब्द सरस है।

८—इस रोगको अंग्रेजीमें Empyeama—एम्पाईमा कहते हैं।

फुप्फुसोंके यक्ष्मामें शस्त्रकर्मोपचारके रूपमें संप्रति फुप्फुस धरा कलाके अन्तरालमें वायुप्रवेशका बहुत प्रचार है। कलामें प्रवेशित वायु फुप्फुसको पीड़ित करता है, जिससे उसका संकोच-विकास रुक जानेसे रुग्ण स्थानको विश्राम मिलता है। दूसरे, उसमें स्थित यक्ष्मजन्तुओंसे आक्रान्त रक्त, पूय, जन्तु तथा उनका विष दबकर श्वासपथसे बाहर निकल जाते हैं और पुनः सञ्चित नहीं हो पाते। इस कर्मका अंग्रेजी नाम आर्टीफीशल न्यूमोथौरेक्स[1] है। संक्षिप्त ए० पी०[2] प्रचलित है।

राजयक्ष्माका दूसरा सुप्रयुक्त शस्त्रोपचार 'फ्रेनिक इव्हल्शन'[3] कहाता है। इसमें श्वासपटल-की मनोवहा प्रश्वसनी नाड़ीको[4] उस ओरसे अंशतः काट दिया जाता है, जिस ओरका फुप्फुस विशेष आक्रान्त होनेसे चिकित्स्य होता है। प्रश्वसनी नाड़ी काटनेसे उस ओर श्वासपटलका श्वासक्रियामें होनेवाला संकोच लुप्त हो जाता है। वह ऊपरकी ओर फुप्फुसपर दबाव डालता है, जिसका रुग्णस्थल-पर पूर्वोक्त ही प्रभाव होता है।

जो रक्तवहा हृदयमें एकत्र हुए अशुद्ध रक्तको शोधनके लिए फुप्फुसोंमें पहुंचाती है, उसका नाम फुप्फुसाभिगा धमनी[5] है। आगे जाकर इसकी दो शाखाएँ होती हैं, जो प्रत्येक एक-एक फुप्फुसको जाती है। इनके ही सूक्ष्मशाखा-प्रतान फुप्फुसीय वायुकोषोंको चारों ओरसे आवृत कर रहते हैं[6]।

शुद्ध हुआ रक्त जिन रक्तवहाओं द्वारा फुप्फुसोंसे हृदयमें आता है, उन्हें फुप्फुसीय सिरा[7] कहते हैं। प्रत्येक फुप्फुससे दो, इस प्रकार चार सिराएँ[8] निकलती हैं।

हृदय और उसकी क्रिया—

देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्।
तत् सङ्कोचंविकासञ्च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः॥
सङ्कोचने बहिर्याति वायुरन्तर्विकासतः।
ततो नाड्यश्चलन्त्यस्रग्धरायाः स्फुरणं ततः॥ —नाडीज्ञानम्
विकासमथ सङ्कोचमत्र नाली हृदि स्थिता।
यदा याति तदा प्राणश्छेदैरायाति याति च॥
बाह्योपस्करभस्त्रायां यथाऽऽकाशास्पदात्मकः।
वायुर्यात्यपि चायाति तथाऽत्र स्पन्दनं हृदि॥
योगवासिष्ठ निर्वाणप्रकरण उत्तरार्ध सर्ग १७८, श्लोक ९-१०

हृदये चित्तसंवित्॥ योगसूत्र

१—Artificial Pneumothorax. २—A. P. ३—Phrenic evulsion.
४—Phrenic Nerve—फ्रेनिक नर्व। ५—Pulmonary artery—पल्मोनरी आर्टेरी।

६-७—ध्यान रहे, सामान्यतः धमनी नाम शुद्धरक्तवहाओंके लिये तथा सिरा नाम अशुद्धरक्त-वहाओंके लिये प्रयुक्त होता है। परन्तु शारीरके अनुसार इनका यह व्यापक लक्षण नहीं है। शारीरमें हृदयकी ओर जानेवाली वाहिनियाँ सिरा और उससे निकलनेवाली धमनियाँ कहाती हैं। अतश्च, अशुद्ध रक्तवहा होते हुए भी फुप्फुसाभिगा धमनी, धमनी कहाती है। तथैव, शुद्धरक्तवहा होती हुई भी दो ही वाहिनियाँ नाम फुप्फुसीय सिरा, सिरा कहाती हैं। इन अपवादोंको छोड़ शेष सर्वत्र अशुद्धरक्तवहाओंका नाम सिरा तथा शुद्धरक्तवहाओंका नाम धमनी ही है।

८—Pulmonary Veins—पल्मोनरी वेन्स।

हृदो रसो[1] निःसरति तस्मादेव च सर्वशः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्मात् तत्प्रभवाः सिराः ॥ भेडसंहिता सू० अ० २१
सिराधमन्यो नाभिस्थाः सर्वां व्याप्य स्थितास्तनुम्।
पुष्णन्ति चानिशं वायोः संयोगात्सर्वधातुभिः[2] ॥ शा० पू० ५।४३।४४
तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम् ॥ सु० शा० ४।३१
अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् ॥ च० नि० ८।७

अन्योऽपि शरीरदेशोऽन्तरात्मनः स्थानं, हृदयं तु श्रेष्ठतमं, तत्रैव चेतनाविशेषनिबन्धनात् ॥
—चक्रपाणि

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ॥ सु० शा० ४।३२

हृदयं कमलमुकुलाकारमधोमुखम् ॥ —डल्हन

आगमोऽपि—
हृदयं मनसः स्थानमोजसश्चिन्तितस्य च।
मांसपेशीचयो (मयो ?) रक्तपद्माकारमधोमुखम् ॥
योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग् ज्योतिः समाहिताः।
रसो यः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते ॥
ततो व्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते।
अ० हृ० सू० १२।१५ पर सर्वाङ्गसुन्दरामें धृत प्राचीन वचन

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम ॥
सु० शा० ६।२५

शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः ॥ सु० शा० ४।३१

उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां मरणम् ॥ सु० शा० ४।३१

यत्र हृदि दश च धमन्यः प्राणापानौ मनो बुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानि ॥ च० सि० ९।४

दश धमन्य इति ओजोवहा दश धमन्यः, 'अर्थे दश महामूलाः समासक्ता' इत्यादिना अर्थेदशमहामूलीये (च० सू० ३०) प्रतिपादिताः। प्राणापानावित्युच्छ्वासनिःश्वासौ। केचित्तु प्राणापानौ यथोक्तावेव तौ प्राहुः। तत्रापानो यद्यपि मेढ्रश्रोण्याश्रय एवेत्याहुः, तथापि हृदयाव्यतिरिक्तानुविधायित्वाद्धृदयाश्रित इत्युच्यते। मनोऽन्तःकरणम्। बुद्धिर्महच्छब्दाभिलप्या। चेतना बुद्धिवृत्तिभेदः। महाभूतानीति आत्मसंबद्धानि महाभूतानि। एतत्सर्वं सांख्यदर्शने व्यवस्थापितमाकरे च व्युत्पादितमनुसरणीयम्। प्रदेशान्तरे चोक्तम्—'षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुण-

---

१—यहाँ रस शब्दसे रस, रक्त दोनों ग्राह्य हैं।
२—इक्कीसवें अध्यायमें भी इस विषयके प्रमाण देखिये।

श्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संस्थितम् (च० सू० ३०)। तेऽर्था एतच्छ्लोकोक्ताः, अधिकार्थानाञ्च प्रोक्तेऽर्थ एवावरोधो व्याख्येयः। किंवा इह शास्त्रद्वारेणाभिधानम्। यथा हृदये दश धमन्यादीन्याश्रितानि तद् दृष्टान्तेन दर्शयति—नाभ्यामरा इव प्रतिष्ठितानीति। नाभिश्चक्रनाभिः, अराश्चक्रनेमयः। यथा चक्रनाभ्यां संबद्धा अरास्तदुपघातादुपहन्यते, तन्मूलत्वेन तत्संबद्धा भवन्ति, एवं धमन्यादयोऽपीत्यर्थः। अरा इव अरा इति व्याख्यानयन्ति। 'नाभ्यामपरा' इति वा पाठः। तेन नाभ्यामपरा अपत्यानीवेत्यर्थः। एतेन प्रदेशान्तरवर्तिनामपि धमन्यादीनां हृदयाश्रितत्वं सिद्धमिति भावः॥

—चक्रपाणि

दूपित रक्त शुद्ध बहिर्वायुके पानके लिए सारे शरीरसे सिमटकर हृदयमें आता और वहाँसे फुप्फुसोंमें जाता है। शुद्ध होकर लौटता हुआ वह पुनः हृदयमें आता है; हृदय इसे सर्वाङ्गमें पहुँचा देता है। यहाँसे यह पुनः हृदयमें आता है।

रक्तके अनुधावनकी यह क्रिया हृदयकी गतियोंके कारण होती है। हृदयकी गतियाँ दो प्रकारकी हैं—संकोचात्मक और विकासात्मक। संकोचके समय एक ओर तो (शुद्ध) रक्त और तदन्तर्गत शुद्ध वायु धमनियोंमें जाता है; दूसरी ओर रक्त तथा अशुद्ध वायु शुद्ध्यर्थ (फुप्फुसोंमें) जाते हैं। हृदयके संकोचवश रक्तमें जो वेग आता है, उसके कारण धमनियोंमें स्फुरण (स्पन्दन) होता है। हृदयका विकास होनेपर एक ओर तो (फुप्फुसोंसे) रक्त और तन्मिश्र शुद्ध वायु हृदयमें प्रविष्ट होता है; और दूसरी ओर सारे शरीरका रक्त और उसके अन्तर्गत दूपित वायु हृदयमें आता है।

हृदयके संकोच और विकासका कारण स्वयं हृदय है[1]। हृदय मांसपेशीमय और अधोमुख कमलमुकुलके आकारका होता है। यह उरःपञ्जरमें दोनों स्तनोंके मध्यमें स्थित होता है। दस धमनियोंका मूल हृदय है। जैसे चक्रकी नाभिसे अरे संसक्त रहते हैं तथा उसकी क्षति होनेसे अरोंको भी क्षति पहुँचती है, वैसे हृदयसे इन धमनियोंका भी सम्बन्ध तथा हृदयकी हुई क्षतिका प्रभाव उनपर भी पड़ता है। परम्परया, शरीरमें अन्यत्र स्थित धमनियाँ भी हृदयके ही आश्रित होती हैं। धमनियोंके अतिरिक्त प्राण-अपान (उच्छ्वास-निःश्वास), अन्तःकरण, बुद्धि तथा आत्मासे संबद्ध महाभूत भी हृदयके ही आश्रित हैं। यह हृदय सारे शरीरमें चेतनाका विशेष अधिष्ठान है।

१—हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है—वर्तमान प्रत्यक्षसे भी हृदय एक स्वतन्त्र-पेशीमय होता है। इसके संकोच और विकासमें नाड़ीसंस्थान कारण नहीं है, यद्यपि नियामक तो है। पहले पाश्चात्य विद्वान् हृदयकी गतियोंको नाड़ीसंस्थानके अधीन मानते थे। देखिये—

At one time the rhythm which cardiac muscle exhibits was supposed to be due to the action upon it of the nerves which are present. We now know that the property of rhythmical contraction resides in the muscular tissue itself, though normally during life it is controlled and regulated by the nerves which supply it. This conclusion may be expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic, not neurogenic. *Handbook of Physiology, (31st edition) P. 196* तथा—

The cause of the heart beat, resides in the muscle itself, i, e, it has an inherent rhythm of its own; it is therefore said to be myogenic. During life it is controlled by nerves, but these only serve to make it keep up with the needs of the body. *Human Physiology, (1935) P. 181.*

श्लोकोक्त 'स्वतः संकोचं च विकासं च कुर्यात्' का यही तात्पर्य होना चाहिये।

(समस्त शरीर, इन्द्रियों और मनके सुख-दुःख—आरोग्य और रोग[1] तथा हर्ष-विषाद—का प्रभाव हृदयपर पड़ता है। इस प्रकार) हृदय उनके सुख और दुःखका प्रकाशक है[2]।

हृदयके अन्य कार्य—

आयुर्वेदमें हृदयके कुछ अन्य भी कार्य कहे हैं। संक्षेपमें उनका निर्देश करते हैं।

तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ॥ च० सू० ३०।७

हृदयपर (वा प्रधान) ओजका स्थान है।

यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा ॥ सु० सू० २१।१०

पित्तके पाँच भेदोंमें एक साधक पित्त है। यह हृदयमें स्थित होता है।

तस्मिन् (हृदये) तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति ॥ सु० शा० ४।३१

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥ सु० शा० ४।३२

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥ सु०शा०४।३४

इन वचनोंमें सुश्रुतने हृदयको चेतनाका श्रेष्ठ आयतन (स्थान) कहकर निद्राका कारण हृदयका तमसे अभिभूत होना कहा है।

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ च० सू० २१।३४

यहाँ चरकने निद्राका कारण मनके कर्मवश क्लान्त (श्रान्त) होनेसे विषयोंसे निवृत्ति बताया है।

ओज तथा साधक पित्तका वर्णन आगे प्रसंगानुसार करेंगे।

हृदयके स्वरूपका विशेष वर्णन—

आधुनिक प्रत्यक्षसे हृदयके सम्बन्धमें यह विशेष ज्ञात होता है। यह उरःपञ्जरमें अधिकांश वाम ओर, दक्षिण और वाम फुप्फुसोंके मध्यमें स्थित होता है। इसका आकार बन्द मुट्ठीके बराबर होता है। प्रौढ़ पुरुषमें इसका भार ६ से १० औंस (१ औंस=२½ तोला) होता है। फुप्फुसोंके समान यह भी एक दुहरी कलासे आवृत होता है। इस कलाका नाम हृदयधरा कला[3] है। इसमें भी अल्पमात्र रस रहता है, जो संकोच-विकासके समय हृदयकी घर्षणसे रक्षा करता है।

१—'सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ च० सू० ९।४' के अनुसार यहाँ सुख-दुःखका अर्थ क्रमसे आरोग्य और रोग भी है।

२—हृदय शरीरमें चेतनाका विशेष अधिष्ठान तथा शरीरके सुख-दुःखका प्रकाशक कैसे है, यह अगले अध्यायमें दिखायेंगे।

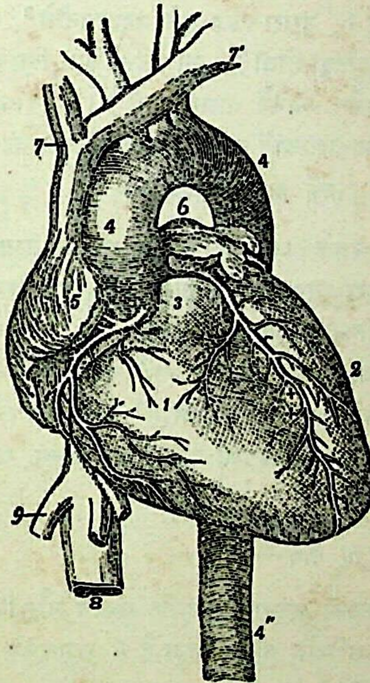
३—Pericardium—पेरीकार्डिअम। इस कलाका प्राचीन नाम 'वुक्क' है। हाराणचन्द्र की सुश्रुतसंहितामें नि० ९—१७ में अन्तर्विद्रधिप्रकरणमें 'वृक्कयोः' के स्थानपर 'वुक्कयोः' पाठ है, और वुक्कोंका अर्थ बताया है—हृदयके दो आवरण—वुक्कौ नाम द्वे हृदयावरणे। वुक्कोंमें विद्रधिका लक्षण पार्श्वसंकोच दिया है, जिससे हृदयावरण शब्दमें हृदयका अर्थ फुप्फुस और वुक्कोंका अर्थ हृदयधरा कला होना सम्भव है। हृदय शब्दसे फुप्फुसोंकी ग्राह्यताका विचार इसी अध्यायके प्रारम्भमें कर आये हैं।

हृदयका आभ्यन्तर भाग चार कोष्ठोंमें विभक्त होता है। ऊपरके दो कोष्ठ अलिन्द[१] कहाते हैं। दक्षिण ओरका अलिन्द दक्षिण अलिन्द और वाम ओरका अलिन्द वाम अलिन्द कहाता है। नीचेके कोष्ठोंका नाम निलय[२] है। इन्हें दक्षिण निलय और वाम निलय कहा जाता है। हृदयका अधिकांश निलय होते हैं। इनकी दीवारें अलिन्दोंसे कहीं अधिक दृढ़ तथा स्थूल होती हैं।

दक्षिण अलिन्द[३] में उत्तरा महासिरा[४] तथा अधरा महासिरा[५] द्वारा सारे शरीरका दूषित रक्त लाया जाता है। इसकी दीवारें पतली होती हैं।

कोष्ठोंमें रुधिरके भ्रमणका क्रम—

दक्षिण अलिन्द एक छिद्रके द्वारा दक्षिण निलय[६] से सम्बद्ध होता है। यह छिद्र एक कपाटिका[७] से आवृत होता है। कपाटिकाकी रचना ऐसी होती है कि मध्यवर्ती छिद्रमें होकर रक्त दक्षिण अलिन्दसे दक्षिण निलयकी ओर तो जा सकता है; पर दक्षिण निलयसे दक्षिण अलिन्दकी ओर नहीं जा सकता।



हृदय तथा उससे संबद्ध वाहिनियाँ। चित्र—३५

1—दक्षिण निलय ; 2—वाम निलय ; 5—दक्षिण निलय ; 6—वाम अलिन्द ;
4-4-4—महाधमनी ; 3—फुप्फुसाभिगा धमनी ; 7—उत्तरा महासिरा ;
8—अधरा महासिरा ; 3 के दोनों ओर हृदयकी पोषक वाहिनियाँ।

१—Auricle—औरीकल ; या Atriun—ऐट्रियम। २—Ventricle—वेण्ट्रिकल।
३—Right auricle—राइट औरीकल। ४—Superior Vena Cava—सुपीरियर वीना कावा।
५—Inferior Vena Cava—इन्फीरिअर वीना कावा।
६—Right ventricle—राइट वेण्ट्रिकल। ७—Valve—वाल्व।

दक्षिण निलयमें एक अन्य भी छिद्र होता है। यह छिद्र फुप्फुसाभिगा धमनी[१] से सम्बद्ध होता है। इस छिद्रके भी एक कपाटिका होती है, जिसके कारण रक्त दक्षिण निलयसे फुप्फुसाभिगा धमनीमें तो जा सकता है, पर उसकी ओरसे दक्षिण निलयमें नहीं आ सकता। फुप्फुसाभिगा धमनी रक्तको शुद्धिके लिये फुप्फुसोंमें ले जाती है। हृदयका सम्मुख भाग प्रधानतः दक्षिण निलय होता है।

फुप्फुसोंमें शुद्ध हुआ रक्त फौप्फुसी सिराओं[२] द्वारा वाम अलिन्दमें आता है। ये सिराएँ दो होती हैं। वाम अलिन्द एक छिद्र द्वारा वाम निलयसे संबद्ध होता है। इस छिद्रपर भी एक कपाटिका होती है, जो रक्तको वाम अलिन्दसे वाम निलयमें तो जाने देती है, पर वाम निलयसे वाम अलिन्दमें आनेसे रोकती है।

वाम अलिन्दसे शुद्ध हुआ रक्त उस छिद्र द्वारा वाम निलयमें आता है। हृदयका पृष्ठभाग मुख्यतः वाम निलय होता है। हृदयका शिखर इसीका अंश है। मानव हृदयमें वाम निलयकी दीवार कोई आध इञ्च मोटी होती है। यह मुटाई दक्षिण निलयकी मुटाईसे तिगुनी होती है।

वाम निलयमें दो छिद्र होते हैं। एक छिद्र द्वारा यह वाम अलिन्दसे संबद्ध होता है। इसका उल्लेख ऊपर कर आये हैं। दूसरा छिद्र इसे महाधमनीसे[३] जोड़ता है। वाम निलय और महाधमनीके मध्य भी एक कपाटिका होती है, जो रक्तको वाम निलयसे महाधमनीमें जाने देती है, पर महाधमनीसे वाम निलयमें लौट आनेमें बाधक होती है। महाधमनी हृदयसे निकलनेवाली एक मात्र धमनी है। इसीकी शाखा-प्रशाखायें सर्वाङ्गमें शुद्ध रुधिरका वहन करती हैं।

हृदय, फुप्फुस तथा शरीरमें रक्तके अनुधावनका चक्र—

कोष्ठोंके वर्णनमें हृदयमें रक्तके अनुधावनका क्रम भी देख लिया, पर बिखरा हुआ। उसका संग्रह कर लें। दूषित रक्त उत्तरा तथा अधरा महासिराओं द्वारा दक्षिण अलिन्दमें आता है। वहाँसे यह एक कपाटिकामय छिद्रमें होकर दक्षिण निलयमें जाता है। दक्षिण निलयसे फुप्फुसाभिगा धमनी इसे फुप्फुसोंमें ले जाती है। वहाँसे यह वाम अलिन्दमें आता है। वाम अलिन्दसे यह वाम निलयमें जाता है, और वहाँसे महाधमनी द्वारा समस्त शरीरमें प्रसृत होता है। शरीरमें अनुधावन करता हुआ यह धातुपाकवश मलिन हो महासिराओं द्वारा पुनः दक्षिण अलिन्दमें आता है, जहाँसे हमने इसका अनुसरण प्रारम्भ किया था[४]।

हृदयके संकोच और विकासका क्रम—

हृदय और फुप्फुसोंमें रक्तका अनुधावन हृदयके संकोच और विकासके कारण होता है संकोच[५] और विकास[६] का क्रम चक्रवत् अविराम चलता रहता है। समझनेके लिये हम इस चक्राको निरीक्षण हृदयके विकासकालसे प्रारम्भ करेंगे।

प्रथम अलिन्दोंका विकास होता है। परिणाममें, दक्षिण और वाम अलिन्दमें क्रमसे महासिराओं और फौप्फुसी सिराओंसे रक्तका प्रवाह आता है और इनके अन्तरवकाशको भर देता है। आलिन्दोंमें रक्त प्रभूत होनेपर निलयोंकी कपाटिकायें खुल जाती हैं और रक्त अलिन्दोंसे निलयोंमें जाने

१—Pulmonary artery—पल्मोनरी आर्टरी।

२—Pulmonary veins—पल्मोनरी वेन्स। ३—Aorta—एओर्टा।

४—उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि अलिन्दोंका कार्य केवल रुधिरका ग्रहण करना है; निलय रक्तको फुप्फुसों तथा महाधमनीमें डालते हैं। अतः कई लेखकोत्तम इन कोष्ठोंको क्रमशः ग्राहक कोष्ठ और क्षेपक कोष्ठ लिखते हैं। ५—Systole—सिस्टली। ६—Diastole—डायास्टली।

लगता है। इससे निलयोंका भी विकास होता है। अलिन्दों और निलयोंका क्रमिक विकास मिलकर हृदयका विकास कहाता है।

अब अलिन्दोंका एक साथ संकोच होता है। परिणामतया विकासकालमें संगृहीत रक्त सम्पूर्णतया निलयोंमें पहुँच जाता है—दक्षिण अलिन्दका दूषित रक्त दक्षिण निलयमें और वाम अलिन्दका फुप्फुसोंसे आया रक्त वाम निलयमें। इसके अनन्तर एक साथ ही निलयोंका भी संकोच होता है। परिणमतया, इनकी महाधमनी और फुप्फुसाभिगा धमनीसे सम्बद्ध कपाटिकाएँ रक्त के दबावसेखुल जाती हैं और रक्त इन धमनियोंमें चला जाता है—दक्षिण निलयसे शुद्ध होनेके लिये फुप्फुसोंमें और वाम निलयसे शरीरमें वितीर्ण होनेके लिये महाधमनीमें। अलिन्दों और निलयोंका संकोच मिलकर हृदयका संकोच कहाता है।

अलिन्दोंका कार्य रक्तको ग्रहण कर केवल निलयों तक पहुँचा देना है। निलयोंका कार्य उसे दूर देश तक पहुँचानेका है। इसी हेतु उनकी दीवारें और कपाटिकाएँ मोटी और दृढ़ होती हैं। संकोच भी उनका बलवान् होता है।

धमनियों तथा उनकी शाखाओं द्वारा शुद्ध रुधिरका शरीरमें वहन—

धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ ॥ शा॰ पू॰ ५।३५

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शारीरिणाम्।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥ सु॰ शा॰ ७।४।५

प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते।
गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥ च॰ सू॰ ३०।५

बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः। ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः॥ च॰ सू॰ ३०।१२

बहुधा वा ताः फलन्तीति ता हृदयाश्रिता धमन्यो बहुधाऽनेकप्रकारं फलन्तीति निष्पद्यन्ते; एतेन मूले हृदये दशरूपाः सत्यो महासंख्याः शरीरे प्रतानभेदाद् भवन्तीत्युक्तम्। × × ध्मानात् पूरणाद् वाह्येन रसादिनेत्यर्थः। स्रवणादिति रसस्यैव पोष्यस्य स्रवणात् सरणाद् देशान्तरगमनात्॥
—चक्रपाणि

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ सु॰ शा॰ ९।१३

सप्त सिराशतानि[1] भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणी नाभिः केदार

१—ध्यान रहे, सिरा, धमनी और स्रोतकी स्पष्ट परिभाषा दिखाकर भी संहिताएँ इन शब्दोंका एक-दूसरेके अर्थोंमें प्रयोग करती हैं। यहाँ सिराका अर्थ धमनी है।

इव कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभि[1]र्विशेषैः ; द्रुमपत्रसेवनीनामिव तासां प्रतानाः ; तासां नाभिर्मूलं[2], ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥ सु० शा० ७।३

व्याप्नुवन्त्यभितो देहे नाभितः प्रसृताः सिराः ।
प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद् बिसादीनां यथा जलम् ॥ सु० शा० ७।२३

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च ।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥ सु० शा० ९।१०

स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ च० वि० ५।२५

हृदयसे दस धमनियाँ (आधुनिक प्रत्यक्षसे एक ही महाधमनी) निकलती हैं। इनकी (इसकी)[3] ही आगे जाकर असंख्य शाखाएँ होती जाती हैं। ये शाखाएँ उत्तरोत्तर तनु (पतली) होती हैं। क्यारियाँ जिस प्रकार प्रणालियों द्वारा वाहित जलसे फूलती-फलती हैं, उस प्रकार धमनियोंके मार्गसे आये रक्तसे सर्वाङ्गकी पुष्टि और आकुञ्चन, प्रसारण, भाषण प्रभृति कर्म होते हैं।

हृदयसे निकलनेवाली रक्तवहाओंको धमनी कहा जाता है। कारण, हृदय के संकोच (तथा इनकी अपनी स्थितिस्थापकता) के कारण इनमें धमन—सशब्द स्फुरण—होता है। (धमनियोंकी अन्तिम शाखाएँ इतनी सूक्ष्म हैं, कि इन्हें असहाय नेत्रोंसे देखना अशक्य होता है।) इन्हें तब केशिका कहते हैं। वृक्षोंके पत्रोंमें जैसे नाड़ियोंके प्रतान (जालक) देखे जाते हैं, वैसा ही जालतुल्य इन केशिकाओंका स्वरूप होता है। एक वर्ग मिलीमीटरमें ५०० से २,००० केशिकाएँ होती हैं। ये बारी-बारी बन्द होतीं और खुलती हैं।

केशिकाएँ—

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च —भवति ॥ सु० शा० ४।१०

(केशिकाएँ केवल एक कलाकी बनी होती हैं।) इस कलाको रक्तधराकला[4] कहते हैं। शरीरमें सर्वत्र इनके प्रतान होते हुए भी मांस भागमें विशेषतः होते हैं। धमनियों तथा सिराओंकी दीवारोंमें भी सबसे अन्दरका स्तर रक्तधरा कलाका ही होता है। परन्तु उनमें अन्य भी दो स्तर होते हैं—बाहरका ऐरिओलर धातु[5] का तथा मध्यका मांसधातु[6] तथा स्थितिस्थापक[7] धातुका।

१—आकुञ्चनादिभिरित्यत्रादिशब्दाद् भाषणावबोधादयो गृह्यन्ते ॥ —डल्हन

२—नाभिका अर्थ ऐसे प्रसङ्गोंमें हृदय लेना चाहिये, यह पृ० ४५४-५५ पर दो टिप्पणीमें कह ही चुके हैं।

३—नाभिके पास चतुर्थ कटिकशेरुकाके सम्मुख महाधमनीकी पहली दो शाखाएँ होती हैं। आघात आदिसे कभी-कभी महाधमनीका उदरगुहामें स्थित भाग किञ्चित् स्थानान्तरित हो जाता है। लोकमें इसी रोगके 'नाभि खिसकना' आदि नाम हैं।

४—Endothelium—एण्डोथीलियम।

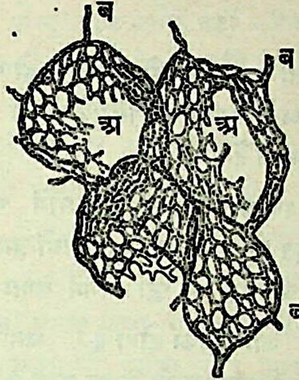
५—Areolar tissue—एरिओलर टिश्यू।

६—Muscular tissue—मस्क्युलर टिश्यू।

७—Elastic tissue—इलैस्टिक टिश्यू।

वृक्षाद् यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते॥ सु० शा० ४।११

शरीरका मांस भाग[1] क्षत (व्रणित) हो जाय तो रक्तधराकलात्मक इन्हीं केशिकाओंके कट जानेसे रुधिरका स्राव होता है।



केशिकाओंका जाल चित्र—३६

केशिकाओंकी पतली दीवारोंसे धातुओंका पोषक रस झरता रहता है[2]।

१—मूलमें धृत 'सु० शा० ४।१०' तथा 'सु० शा० ४।११' दोनों वचनोंमें मांस शब्द उपलक्षण है। अस्थि, मज्जा, मस्तिष्क आदि धातुओंमें भी रक्तधरा कला होती है। शरीरमें मांस भाग अधिक होनेसे केशिकाओं (अथवा रक्तधरा कला) के प्रतान भी मांस भाग ही में विशेष अनुभवमें आते हैं।

२—पाश्चात्य विद्वानोंका मत है कि विलियम हार्वे (Willium Harvey) ने १६२८ ईस्वीमें रक्तानुधावनका प्रथम आविष्कार किया। हार्वेको भी स्रोतोंका ज्ञान न था। स्रोतोंका परिचय पहले-पहल मैलपीघी (Malpighi) को १६६१ में हुआ। परन्तु इन अध्यायोंमें दिये प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि आर्य वैद्योंको रुधिर और रसके अनुधावन, रक्तकी श्वासक्रिया द्वारा शुद्धि और पुनः हृदयमें प्रवेश; धमनी, शिरा और स्रोतके रूपमें रक्तवहाओंका त्रिविधत्व, हृदयका संकोच-विकास; हृदयके संकोचके कारण शुद्ध रक्तवहा धमनियोंमें स्फुरण, हृदयका पेशीमय होना तथा स्वयं संकोच-विकास करना; स्रोतोंका स्रोतोंका जालरूपमें विस्तार, स्रोतोंसे पोषक रसका झरना, शुद्ध वायु तथा रसके संयोगसे अवयवोंकी पुष्टि और अपने-अपने कर्म इन सब विषयोंका ज्ञान था।

शतपथ ब्राह्मण (तथा तदन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषद्) में आया निम्न वाक्य भी हृदय शब्दका निर्वाचन बताता हुआ आर्य पण्डितोंके हृदय-सम्बन्धी ज्ञानकी सूचना देता है—

'तदेतत् त्र्यक्षर ँ हृदयमिति; हृ इत्येकमक्षरम्, अभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, द इत्येकमक्षरम्, ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद, यमित्येकमक्षरम्, एति स्वर्गं य एवं वेद॥

श० ब्रा० १४।८।४।१

एवं हरतेर्ददातेरेतेर्हृदयशब्दः॥ निरुक्तमें धृत उक्त वचनपर दुर्ग॥

आवश्यक होनेसे इसका अर्थ देते हैं—'हृदय शब्दमें तीन धातु हैं—हृ (ह्), दा और इण् (य)। जिसे यह ज्ञान है कि प्रथम अक्षर हृ है, उसके आगे स्वकीय तथा परकीय जन अपनी बलि धरते हैं। जो यह जानता है कि दा यह दूसरा धातु है, उसे सब कोई इष्ट वस्तु देते हैं। तीसरा धातु इण् है, यह जिसे विदित है, वह स्वर्ग लोकको जाता है।'

रसके इस प्रकार स्रवणके कारण ही इन्हें स्रोत[1] भी कहते हैं। स्रोत शब्दमें स्रवणार्थक स्रु धातु है। (केशिकाओंका व्यास औसतन ३⁄३००० इञ्च होता है[2]। केशिकाओंसे जो रस झरता है, उसका धातुपोषणसे बचा हुआ भाग रसायनियों द्वारा हृदयमें पहुँचता है, यह कह आये हैं। केशिकाओंका रक्त भी सिराओं[3] द्वारा संचित होकर हृदयमें पहुँचता है।)

सिराएँ—

सिराएँ प्रारम्भमें पतली होती हैं और उत्तरोत्तर स्थूल होती जाती हैं। ऊर्ध्वकायकी सिराएँ सब अन्तमें उत्तरा महासिरामें तथा अधःकायकी सब सिराएँ अन्तमें अधरा महासिरामें आ मिलती हैं। ये दोनों सिराएँ दक्षिण अलिन्दमें खुलती हैं।

दक्षिण अलिन्दसे निकलकर रक्तका हृदय तथा फुप्फुसोंमें चक्र और वहाँसे सर्वाङ्गमें अभिसरण हम देख चुके हैं। सर्वाङ्गसे समूहित होकर रक्तका महासिराओं द्वारा पुनः दक्षिण अलिन्दमें आना भी हमने देखा। रक्तको सारे शरीरमें यह एक चक्र पूरा करनेमें केवल १५ सेकण्ड लगते हैं।

सिराओंकी विशेषता उनमें कपाटिकोंका होना है। धमनियोंमें रक्तकी प्रगति हृदयके संकोच द्वारा प्राप्त वेग तथा धमनियोंकी स्थितिस्थापकताके कारण होती है। सिराओंमें यह स्थित नहीं है। उनमें रक्तका अनुधावन रसायनियोंके सदृश कपाटिकाओं[4] तथा पेशियोंके संकोच आदि पर आश्रित है। सिराओंमें ओपजनरहित अतएव नीलपाटल (जामुनी) वर्णका रक्त बहता है। सिराओंका वर्ण भी इस रक्तके कारण नीलपाटल होता है। सिराएँ प्रायः त्वचाके बहुत ही निकट स्थिति होती हैं, और दिखाई देती हैं। सिराओंको दबाया जाय तो रक्तका प्रवाह रुक जानेसे ये फूल जाती हैं। उनमें स्थान-स्थानपर मनकों जैसे उभार दीख पड़ते हैं। ये उभार उनकी कपाटिकाओंके हैं।

गूढाः समस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम्॥ अ० हृ० शा० ३।३८

धमनियाँ प्रायः गहराईमें स्थिति होती हैं। प्रकृतिने यह प्रबन्ध इसलिये किया है कि धमनियाँ यथासम्भव आघातसे बची रहें। कारण, वे यदि कट जायँ तो उनके अन्तर्गत रुधिरका वेग प्रबल होनेसे अल्पकालहीमें रक्तकी बड़ी राशि बाहिर निकल जाय और शरीर रक्तक्षयजन्य विकारोंका ग्रास हो। सिराओंमें रक्तका प्रवाह मन्द होता है, और सरण कहाता है। रक्तके सरणके कारण ही सिराओंका नाम सिरा है। इस शब्दमें सरणार्थक सृ धातु है।

तीन धातुओंसे बना हृदय शब्द 'हरण, दान और अयन (गति)' तीन क्रियाओंको सूचित करता है। अर्थात् हृदय रस-रक्तका आहरण, सर्वधातुओंको रस-रक्तका प्रदान और संकोचविकासात्मक गतियाँ करता है। हृदय शब्दके इस निर्वचनके ज्ञानका फल 'हृ, दा और इ' इन धातुओंसे ही बताया है। ऋषि निर्दिष्ट सुमहान् फलको देखनेसे विदित होगा कि शरीरकी रचना और क्रियाके ज्ञानकी आर्योंकी दृष्टिमें कितनी महिमा थी। ऐसी दृष्टि रखनेवाले पण्डित शरीर-शास्त्रके सूक्ष्म सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त कर सके, इसमें क्या आश्चर्य ?

१—Capillary—केपीलरी।

२—धमनियों और स्रोतोंके मध्यमें धमनिका नामकी मध्यम आकारकी अन्य भी रक्तवाहिनियाँ होती हैं। इनमें अल्पमात्र विशेष होनेसे उनका वर्णन नहीं किया है। अंग्रेजीमें इन्हें आर्टीरिओल्स (Arterioles) कहते हैं। केशिकाओं और सिराओंके मध्य भी इसी प्रकार सिरिका—(अंग्रेजीमें Venules वेन्यूल्स) संज्ञक वाहिनियाँ होती हैं।

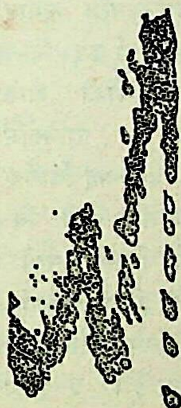
३—Veins—वेन्स।

४—कपाटिकाओंका विशेष वर्णन पृ० ४७८ पर चित्र-सहित दिया जा चुका है।

धमनीके रक्तस्रावमें प्राथमिक चिकित्सा—

कभी-कभी धमनी कट जाय तो रक्तस्राव रोकनेके लिये तत्काल प्राथमिक चिकित्सा आवश्यक होती है। पहला उपाय यह है, कि धमनी जिस स्थानपर कटी हो, उससे ऊपर उसके मार्गको अँगूठेसे बलपूर्वक दबाया जाय। धमनी जिस प्रदेशमें मांसभागमें होकर जाती हो, वहाँ दबानेसे उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु उसके मार्गमें कहीं अस्थि या अस्थि जैसा कोई कठोर अवयव हो तो धमनीपर दबाव ठीक पड़ता है, परिणामतया उसमें होनेवाला रक्तका प्रवाह रुक जाता है। प्राथमिक चिकित्साकी पुस्तकोंमें सर्वाङ्गकी धमनियोंका मार्ग दिखाकर स्थूल बिन्दुओं[१] द्वारा ऐसे प्रदेश दिखाये जाते हैं, जिन्हें अँगुलीसे दबानेसे उन प्रदेशोंसे नीचेकी ओर कहीं भी (प्रधान धमनीसे किंवा उसकी शाखाओंसे) होनेवाले रक्तस्रावको सरलतासे रोका जा सकता है।

क्षतस्थानसे बहता रक्त यदि निरन्तर तुल्य वेगसे न निकलकर स्फुरणके रूपमें निकले तो समझें कि कोई धमनी कटी है। धमनियोंमें हृदयकी गतियोंके कारण रक्तका स्फुरण होता है। उनके विद्ध होनेपर रक्तके स्रावमें भी स्फुरण पाया जाता है। (देखिये चित्र—सं० ३७)। सिराओंके विद्ध होनेपर स्रुत रक्त प्रभूत होनेपर भी उसका स्राव स्फुरणपूर्वक नहीं होता। रक्तस्रावकी चिकित्सामें यह भेद प्रथम देखना चाहिये।



धमनीसे हुआ रक्तस्राव, कागजपर लिया गया। चित्र—३७

कई धमनियाँ त्वचाके निकट भी होती हैं। जैसे अंगुष्ठमूलमें स्थित नाड़ी अथवा इसी प्रकार गुल्फके मूलमें स्फुरित होनेवाली नाड़ी। इनके स्फुरणसे प्राकृत तथा विकृत वातादि दोषोंकी परीक्षा होती है।

यकृत्में रक्तशुद्धि—

फुप्फुसोंके समान यकृत् और वृक्क भी रसकी शुद्धिका कार्य करते हैं। यकृत् मलरूपमें याकृत पित्तका स्राव करता है, तथा वृक्क मूत्रके रूपमें मलोंको निकालते हैं। धमनियों द्वारा आनीत विशुद्ध रक्तके अतिरिक्त, आमाशय, अन्त्र, अग्न्याशय तथा प्लीहाकी सिराओंका रक्त समूहित (एकत्र) होकर प्रतिहारिणी सिरा[२] द्वारा यकृत्में जाता है। यकृत्के कोष प्रतिहारिणी सिराके प्रतानोंसे प्राप्त रक्तको

१—Pressure points—प्रेशर पौइण्ट्स। २—Portal vein—पोर्टल वेन।

विशोधित कर याकृत पित्तकी उत्पत्ति करते हैं। यह विशोधित रक्त वाहिनियों द्वारा एकत्र होकर अधरा महासिराओंमें छोड़ दिया जाता है।

वृक्कोंमें भी रक्तशुद्धि इसी क्रमसे होती है। इस प्रकार रक्तके अनुधावनके चार चक्र प्रदर्शित किये जाते हैं। प्रथम कायिक चक्र[१], जिसमें रक्त हृदय (वाम निलय) से निकल सर्वाङ्गको पुष्ट करता हुआ पुनः हृदय (दक्षिण अलिन्द) में आता है। द्वितीय फौप्फुस चक्र[२] जिसमें रक्त हृदय (दक्षिण निलय) से निकल फुप्फुसोंमें जा पुनः हृदय (वाम अलिन्द) में आता है। तृतीय पूर्वोक्त याकृत चक्र[३] तथा चतुर्थ वृक्की चक्र[४] है।

कायिकचक्रगत रक्तमें, धातुपाकवश उत्पन्न अङ्गाराम्ल वायु अधिकांश सोडाबाईकार्ब (सर्जक्षार—खानेका सोडा) के रूपमें होता है। कारण, अङ्गाराम्ल एक अम्ल है और जैसा कि कहा जा चुका है, अम्ल शरीरमें एक अत्यल्प मात्रामें ही रह सकते हैं। अतः प्रकृति इसे सोडाबाई-कार्बके रूपमें परिणत कर देती है। सोडाबाईकार्ब एक क्षार[५] है।

प्लीहा[६]—

रक्तोत्पत्तिके विषयमें प्राचीनों और नवीनोंका मत पहले देख आये हैं। वहाँ निर्दिष्ट प्लीहा आमाशयके वाम पार्श्वमें स्थित होती है। इसके कर्म निम्न हैं: १—यह रक्तका संग्रहस्थान है, और आपत्कालमें काम आता है[७]। २—रसग्रन्थियोंके समान यह लिम्फोसाइट नामक क्षुद्र कणोंको उत्पन्न कर रुधिरमें भेजती है। प्लीहाको शास्त्रकर्म द्वारा निकाल दिया जाय तो कोई क्षति नहीं होती; केवल इसकी स्थानपूर्तिके लिये रसग्रन्थियोंकी आकार-वृद्धि[८] हो जाती है। ३—कई प्राणियोंमें यह रक्तकण उत्पन्न करती है। इन प्राणियोंमें प्लीहा निकाल दी जानेपर अस्थियोंमें लोहित मज्जाकी प्रमाणवृद्धि हो जाती है। ४—यह निर्जीव रक्तकणोंके विघटनका कार्य करती है। विषमज्वर[९]में रक्तकणोंका अतिशय विनाश होनेपर उनके विघटनका अतिभार प्लीहापर आ पड़ता है। विघटित रक्तकण प्लीहामें सञ्चित हो जाते हैं, जिससे उसकी (प्लीहाकी) वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार विषमज्वर प्लीहाकी वृद्धि करता है और प्लीहा रक्तकणोंका विघटन कर पित्त उत्पन्न करती है, जो स्वयं जीर्णज्वरका हेतु है। जीर्णज्वरोंमें इसीलिये सञ्चित पित्तका शोधन और शमन करके प्लीहाको सङ्कुचित करना (बैठाना) आवश्यक होता है। ५—प्लीहा प्रोटीनोंके नाइट्रोजनका विश्लेषण कर, विशेषतः मूत्राम्ल[१०]का निर्माण करती है। ६—शरीरकी जीवाणुओंसे रक्षा करनेमें यह भाग लेती है।

१—Systemic or greater circulation—सिस्टमिक सर्क्युलेशन या ग्रेटर सर्क्युलेशन।

२—Pulmonary or lesser circulation—पल्मोनरी सर्क्युलेशन या लेसर सर्क्युलेशन।

३—Portal circulation—पोर्टल सर्क्युलेशन।

४—Renal circulation—रीनल सर्क्युलेशन।

५—Alkali—आलकाली।

६—Spleen—स्प्लीन।

७—आयुर्वेदमें यकृत् को भी रक्तका संग्रहस्थान कहा है। देखिये—इसी अध्यायमें धृत 'सु० शा० ४—१०' वचन तथा उसका अर्थ।

८—Overgrowth—ओवरग्रोथ।

९—Malaria—मैलेरिया।

१०—Uric acid—यूरिक एसिड।

चौबीसवां अध्याय

अथातो नाडीपरीक्षाविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

हृदयके स्फुरणसे धमनियोंमें स्फुरण—

देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम्।
तत् संकोचं विकासञ्च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥
संकोचने वहिर्याति वायुरन्तर्विकासतः।
ततो नाड्यश्चलन्त्यसृग्धरायाः स्फुरणं ततः ॥ नाडीज्ञानम्
करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः ॥ शा० पू० ३।१

पिछले अध्यायमें कह आये हैं कि हृदयके संकोचके कारण धमनियोंमें स्फुरण होता है। धमनियाँ प्रायः गहराईमें होती हैं, पर कोई उत्तान भी होती हैं। अङ्गुष्ठमूलमें जिसका स्फुरण स्पर्शसे विदित होता है, वह बहिःप्रकोष्ठीया धमनी[1] ऐसी धमनियोंका उदाहरण है।

शरीरके सुख-दुःखका हृदयपर प्रभाव—

शरीरका सुख-दुःख अर्थात् आरोग्य वा रोग हृदयकी परीक्षासे ज्ञात हो सकता है। सर्वाङ्गके स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्यका प्रभाव हृदय तथा उसके स्फुरणपर पड़ता है। हृदयका स्फुरण स्वयं हृदयकी पेशी तथा कपाटिकाओंपर अवलम्बित है, तथापि उनकी क्रियाका नियन्त्रण सर्वाङ्गके अधीन है। हृदयका स्फुरण स्वाभाविक हो तो समझना चाहिये कि हृदय तथा इतर अङ्गोंमें कोई विकार नहीं है। परन्तु हृदयकी गतियोंमें कुछ असाधारणता पायी जाय तो हृदय किंवा शरीरकी किसी प्रकारकी रुग्णताकी कल्पना करनी चाहिये। इसके पश्चात् परीक्षा-विधिके अन्य अङ्गोंके सहकारसे रोगका निश्चय किया जा सकता है।

शरीरके सुख-दुःखका धमनियोंपर प्रभाव—

धमनियोंका स्फुरण हृदयके स्फुरणवश होता है। अतः शरीरके स्वास्थ्य वा अस्वास्थ्यका प्रभाव हृदयके स्फुरण द्वारा धमनियोंके स्फुरणपर भी होता है। एवं, धमनियोंके स्फुरणसे शरीरके सुख और दुःखका परिज्ञान होता है। धमनियोंमें भी सुलभ होने तथा अस्थिके ऊपर स्थित होनेसे बहिःप्रकोष्ठीया धमनीका परीक्षार्थ व्यवहार होता है। आवश्यकतानुसार गुल्फके मूलमें तथा कर्णके सम्मुख, ऊपरकी ओर स्थित धमनियोंकी भी परीक्षा की जाती है। रोगपरीक्षाके प्रसङ्गमें, परीक्ष्य धमनीके लिये नाडी[2] शब्दका प्रयोग होता है।

वर्तमान प्रत्यक्षानुसार हृदयका सर्वाङ्गसे सम्बन्ध कैसे है, एवं हृदय तथा नाडीकी परीक्षासे रोग-ज्ञान किस प्रकार सम्भव है, यह हम पीछे बतायेंगे। प्रारम्भमें हम यह देखेंगे कि नाडीके विषयमें आयुर्वेदका मत क्या है।

१—Radial artery—रेडिअल आर्टरी। २—Pulse—पल्स।

नाडीपरीक्षासे वातादिका ज्ञान—

वातं पित्तं कफं द्वंद्वं सन्निपातं रसं त्वसृक्।
साध्यासाध्यविवेकञ्च सर्वं नाडी प्रकाशयेत्॥ नाडीप्रकाश

इक्कीसवें अध्यायमें[1] कह आये हैं कि धमनियाँ तथा सिराएँ प्राकृत और वैकृत (प्रकोप तथा क्षय) दोनों अवस्थाओंमें तीनों दोषों और रक्तका वहन करती हैं। अतः वे सर्ववह हैं। इसी कारण इनके स्वरूप और स्फुरणपर इन चारोंकी प्राकृत-वैकृत अवस्थाओंका प्रभाव पड़ता है, जो नाड़ी-परीक्षासे जाना जाता है। नाडीकी परीक्षासे वात-पित्त-कफ पृथक्, इनका द्वन्द्व तथा सन्निपात, रस, रुधिर तथा रोगकी साध्यासाध्यता लक्षित होती है[2]।

१—देखिये पृ० ४५९-६०।

२—सुश्रुतमें नाडीपरीक्षाका मूल—पृ० ४५९-६० पर तथा इस अध्यायमें भी आगे धृत पद्य सु० शा० ७।१८ में यह बताया है कि वात आदिकी प्रबलता होनेपर वाहिनियोंके स्वरूपमें क्या भेद आ जाता है। एवं, तीनों पद्योंमें प्रथम तो नाडीपरीक्षाका यह मूल हेतु बताया है कि नाडी कुपिता-कुपित वात, पित्त, कफ और रक्तका वहन करती है। सुचिर अभ्याससे जाना जा सकता है कि पृथक् या मिलित वातादि दोषोंके कुपित होनेपर नाड़ीकी क्या अवस्था होती है, तथा उनके सम होनेपर नाड़ी का स्फुरण कैसा होता है। दोष-विशेषके प्रबल होनेपर नाड़ीका स्वरूपभेद कहकर दूसरी वस्तु इन पद्योंमें यह बताई है कि नाडीपरीक्षा किस प्रकार करनी चाहिये—अर्थात् नाडीमें क्या-क्या देखना चाहिये।

सु० सू० १५।९ में शोणितक्षय तथा मांसक्षयका लक्षण धमनीकी शिथिलता बताया है। सु० शा० ४।६५ में वायुका लक्षण धमनियोंका आध्मात होना कहा है। सु० सू० १५—१४ में रक्तकी अतिवृद्धिका एक लक्षण सिरापूर्णता निर्दिष्ट है। ये प्रकरण भी प्राचीनोंकी धमनी (नाडी) परीक्षाके स्फुट प्रमाण हैं। कई आदरणीय विद्वानोंके मतमें नाडीपरीक्षाका विषय प्राचीन संहिताओंमें नहीं पाया जाता। उनके मतसे यह मध्ययुगकी उपज है। परन्तु प्रस्तुत पद्योंमें नाडीपरीक्षाका स्पष्ट उल्लेख है—यद्यपि उतना विस्तृत नहीं जितना पिछले ग्रन्थोंमें। अन्यथा, यह एक आश्चर्यका विषय है कि नाडीपरीक्षा मध्ययुगमें आविष्कृत होकर सहसा वैद्यों और साधारण लोगोंमें इतना प्रचार कैसे पा गयी? अधिक आश्चर्य तो तब होता है, जब हम देखते हैं कि यूरोपमें भी प्राचीनकालमें नाडी देखकर आदिसे अन्ततक रोगोंका सम्पूर्ण क्रम जाननेकी पद्धति चिकित्सकोंमें प्रचलित थी। देखिये—

Many of the indications obtained from the pulse do not depend upon a comprehension of the circulatory conditions which the varieties of the pulse denote, or, indeed, upon a knowledge of the circulation at all. Observant physicians before the time of Harvey could gauge thoroughly the state of the patient in fever from the pulse. ***A System of Clinical Medicine by T. D. Savil, P. 105.***

इस उद्धरणमें यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि नाडीसे प्रति मिनट स्फुरण आदि रक्तके अनुधावनसे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुओंके अतिरिक्त भी अनेक वस्तुओंका ज्ञान होता है।

चरक-सुश्रुत-वाग्भटमें नाडीपरीक्षाका विस्तार पिछले ग्रन्थोंमें समान न होना आश्चर्यजनक नहीं। कई ऐसे विषय हैं, जो इन ग्रन्थोंमें उपलब्ध नहीं होते, पर अन्यत्र उपलब्ध होनेसे सर्वसम्मत हैं। यथा रसतन्त्रका चरक आदिमें उतना प्रतिपादन नहीं, न उनमें ओषजन द्वारा रक्तकी शुद्धि और श्वास-प्रक्रियाका विवरण है, परन्तु शार्ङ्गधरमें इनका स्फुट उल्लेख है, और वैद्यमात्रको स्वीकृत है।

नाडीपरीक्षामें दो सम्प्रदाय—

नाडीपरीक्षाके सम्बन्धमें दो सम्प्रदाय हैं। दोनों ही ग्राह्य हैं। एक सम्प्रदायके अनुसार एक ही नाडी, एक ही कालमें वात, पित्त, कफ तीनोंके तारतम्य (न्यूनाधिक प्रमाण) का ज्ञान कराती है। दूसरे सम्प्रदायके अनुसार नाडी केवल प्रकुपित दोषको प्रदर्शित करती है।

प्रथम सम्प्रदायसे नाडीपरीक्षा—

एकाङ्गुलं परित्यज्याधस्तादङ्गुष्ठमूलतः।
परीक्षेद् यत्नवान् वै सा ह्यभ्यासादेव लक्ष्यते ॥ रावणकृत नाडीपरीक्षा
आदौ च वहते वातो मध्ये पित्तं तथैव च।
अन्ते च वहते श्लेष्मा नाडिकात्रयलक्षणम् ॥ नाडीविज्ञान

प्रथम सम्प्रदायके अनुसार अङ्गुष्ठमूलके एक अङ्गुल नीचे (मणिबन्ध-सन्धि) तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियाँ एक साथ सटाते हुए रखकर नाडीकी परीक्षा करनी चाहिये। ऊपरकी ओरकी अंगुलके नीचे वातका, मध्यमें पित्तका तथा नीचे कफका संवेदन होता है। बीच-बीचमें दो-दो अंगुलियाँ उठाकर प्रत्येक दोषका पृथक्-पृथक् प्रमाण देखना चाहिये। नाडियोंको पुनः पुनः अंगुलीसे दबाकर और छोड़कर इस बातकी भी परीक्षा करनी चाहिये कि कौन दोष कितना प्रकुपित है (तथा नाडी कठिन है या मृदु)। इस प्रकार दोषोंके अंश-ज्ञानसे चिकित्साका मार्ग सुगम हो जाता है। इस पद्धतिसे प्रत्येक दोषकी परीक्षा एक ही वार पर्याप्त नहीं है। अनेक वार, अवधान-सहित परीक्षासे ही दोषोंकी कल्पना यथावत् होती है। दोनों ही सम्प्रदायोंके अनुसार स्त्रियोंमें बाएँ हाथकी तथा पुरुषोंमें दाएँ हाथकी नाडीकी परीक्षा करनी चाहिए। आधुनिक मतसे स्त्री-पुरुष दोनोंमें दोनों हाथोंकी नाडियोंका देखना आवश्यक है। एक ही हाथ की नाडी देखनेसे परीक्षा अपूर्ण किंवा अशुद्ध होती है। परीक्षाके समय रोगीकी कोहनीको अपने दूसरे हाथपर अथवा अन्यत्र कहीं टिका रखना चाहिये।

द्वितीय सम्प्रदायसे नाडीपरीक्षा—

नाडी धत्ते मरुत्कोपे जलौकासर्पयोर्गतिम्।
कुलिङ्गकाकमण्डूकगतिं पित्तस्य कोपतः ॥
हंसपारावतगतिं धत्ते श्लेष्मप्रकोपतः। शा० पू० ३।२।३
तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ॥ सु० शा० ७।१८
वाताद्वक्रगता नाडी चपला पित्तवाहिनी।
स्थिरा श्लेष्मवती ज्ञेया ॥ नाडीप्रकाश

शार्ङ्गधरमें ही नाडीपरीक्षाका भी विधान है, जो उक्त सिद्धान्तोंके सदृश माननीय होना चाहिये। चरक आदिमें अमुकामुक विषय क्यों नहीं आये, इसका विवेचन अप्रासंगिक है। इतना ही कहेंगे कि नाडीशास्त्रके ग्रन्थोंमें नाडीपरीक्षाके विधानमें भेड, भारद्वाज आदि ऋषियोंका प्रमाणतया निर्देश है, जो चरकादिके कर्ता ऋषियोंके सदृश ही प्राचीन और पूज्य हैं।

द्वितीय सम्प्रदायके अनुसार शरीरमें वायुका कोप हो तो नाडी आध्मात[1] (फूली हुई) और अरुणवर्ण होती है। अंगुलियोंके नीचे उसका स्पर्श ऐसा होता है, जैसे सर्प वा जलौकाके सदृश वक्र (तिरछी, क्रमसे दोनों पार्श्वों में) गति कर रही हो।

शरीरमें पित्तका प्रकोप हो तो नाडी उष्ण और नीलवर्ण होती है। उसका स्पर्श अंगुलियोंको ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कौआ, चिड़ा वा मेढ़क सहसा ऊर्ध्व गति करता हुआ आगे बढ़ता जाता है[2]।

कफका प्रकोप हो तो नाडी शीतल तथा गौरवर्ण होती है[3]। उसके अन्दर स्थिति रुधिरकी गति स्थिर, एकरस और शान्त होती है। जैसे हंस मस्तानी चालसे चलता है, वैसी कफाधिक नाडीकी गति होती है।

आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी दोनों सम्प्रदायोंमें कोई भेद नहीं। सामान्यतः नाडी तीनों दोषोंका ज्ञान कराती है और उसकी प्रथम मतके अनुसार परीक्षा करनी चाहिये; परन्तु कभी-कभी जब कि कोई दोष शरीरमें विशेष कुपित हो तो अन्य दोषोंको अभिभूत कर लेता है। परिणाममें, नाडीमें भी एक ही दोष प्रबलतासे देखा जाता है। उसका द्वितीय सम्प्रदायके अनुसार अवलोकन करना चाहिये। यह अवस्था बलवान् रोगोंमें देखी जाती है। इसके अतिरिक्त किन्ही नाडियोंकी परीक्षा दो ही अंगुलियोंसे और किन्हीकी एक ही अंगुलीसे की जाती है[4]। ऐसे स्थलोंमें भी द्वितीय सम्प्रदायके अनुसार प्रधान दोष ही लक्षित होता है।

असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥ सु० शा० ७।१८

असृक्पूर्णा भवेत्कोष्णा गुर्वी ॥ शा० पू० ३।७

रक्तकी वृद्धिसे नाडी भरी हुई, किञ्चित् उष्ण, भारी तथा लोहितवर्ण होती है।

सामा गरीयसी ॥ शा० पू० ३।७

शरीरमें आम रसका[5] सञ्चय हो तो नाडी स्पर्शसे बहुत भारी लगती है। (जैसे श्रीखण्ड-सदृश घन द्रव उसमें भरा हो और वह मन्दगति से सरकता हो ऐसी प्रतीति भारी—गुरु—नाडी में होती है।)

मिश्रिते मिश्रिता भवेत् ॥ नाडीप्रकाश

कदाचिन्मन्दगमना कदाचिद् वेगवाहिनी।
द्विदोषकोपतो ज्ञेया ॥ शा० पू० ३।४

१—इसी कारण उत्पन्न तनाव के कारण इसका दबाना कठिन होता है। अंग्रेजी में इस प्रकार की नाडी को High Tensioned—हाई टेन्शन्ड कहते हैं।

२—पाश्चात्य चिकित्सामें ऐसी नाडीको High bounding—हाई बाउण्डिंग, किंवा Full & bounding—फुल एण्ड बाउण्डिंग कहते हैं।

३—नाडीको उष्ण या शीतल कहनेका अर्थ यह है कि उसके ऊपर की त्वचाका स्पर्श वैसा होता है।

४— हस्तयोस्तत् प्रकोष्ठान्ते मणिबन्धेऽङ्गुलित्रयम्।
पादयोर्नाडिकास्थाने गुल्फस्याधोऽङ्गुलिद्वयम् ॥ वैद्यभूषण
नासामूलेऽङ्गुलिद्वंद्वं कर्णमूलेऽङ्गुलिर्भवेत् ॥
कण्ठमूलेऽङ्गुलिद्वंद्वं : नासायामङ्गुलिद्वयम् ॥ नाडीप्रकाशटीका

५—आम रसका लक्षण तथा भेद आगे देखिये।

शरीरमें दो दोषोंका कोप हो तो नाडीमें दोनों दोषोंका प्रकोप अंगुलियोंको स्पर्शसे विदित होता है ; तथा नाडी कभी वेगसे, और कभी मन्द बहती है।

लावतित्तिरवर्तीनां गमनं सन्निपाततः ॥ शा० पू० ३।४

सर्वाङ्गुलीतले या च स्यान्नानागतिभिर्धरा।
स्फुटा वै सा च विज्ञेया सन्निपातगदोद्भवा ॥ नाडीज्ञान

तीनों दोषोंके प्रकुपित होनेपर नाडीकी गति लवा, तीतर और बटेरके समान अनियत गतिवाली होती है—रह रह-कर अतिवेगसे चलती है। तथा, तीनों अंगुलियोंको नाडीका स्पर्श प्रतिवार भिन्न प्रकारका और तीनों दोषोंके प्रकोपका संवेदक होता है।

हन्ति च स्थानविच्युता ॥ शा० पू० ३।४

अङ्गुष्ठमूलमारभ्य सार्धद्व्यङ्गुलतो बहिः।
यदा नाडी तदा तस्य यामार्धेन भवेन्मृतिः ॥ नाडीज्ञान

दृश्यते चरणे नाडी करे नैवाधिदृश्यते।
मुखं विकसतं यस्य तं दूरे परिवर्जयेत् ॥ निघण्टुरत्नाकर

नाडी स्वस्थानसे चलित हो जाय अर्थात् अंगुष्ठमूलके नीचे न प्रतीत हो, किन्तु ढाई अंगुल ऊपरकी ओर प्रतीत हो ; एवं हाथमें न दिखाई दे परन्तु पैरमें (गुल्फमूलमें) अनुभवमें आये और रोगीका मुख खुला हुआ हो तो रोगी आसन्नमृत्यु होता है।

स्पन्दते चैकमानेन त्रिंशद्वारं यदा धरा।
स्वस्थानेन तदा नूनं रोगी जीवति नान्यथा ॥ वृद्धहारीत

स्थित्वा स्थित्वा चलति या सा स्मृता प्राणनाशिनी।
अतिक्षीणा च शीता च जीवितं हन्त्यसंशयम् ॥ शा० पू० ३।५

जो नाडी ठहर-ठहर कर चले वह मरणकी सूचक है। एतदर्थ, नाडीके एकसाथ तीस वार स्पन्दन देखने चाहिये। वे यदि निरन्तर और एक जैसे हों तो समझें कि प्राणोंकी शंका नहीं है[1] नाडी अत्यन्तक्षीण हो और शीत हो (नाडीके ऊपरकी त्वचा यथार्थमें तो सर्वाङ्ग—शीत हो) तो रोगी निःसन्देह मृत्युवश होता है।

ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्। शा० पू० ३।६

शरीर ज्वरित हो तो धमनी उष्ण और वेगवती होती है।

कामक्रोधाद् वेगवहा क्षीणा चिन्ताभयप्लुता ॥ शा० पू० ३।६

काम और क्रोधके आवेशमें नाडीकी गति वेगयुक्त तथा चिन्ता और भयकी अवस्थामें क्षीण (मन्द) होती है।

मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा वहेत्। शा० पू० ३।७

मन्दाग्निवाले तथा अत्यधिक क्षीणशुक्र मनुष्यकी नाडी भी मन्द होती है।

१—सामान्य दशाओंमें नाडीकी परीक्षा कितने कालतक करनी चाहिये यह इससे जाना जा सकता है। प्रत्येक हाथमें कम-से-कम तीस स्पन्दन तो देखने ही चाहिये। इसके लिये प्रति नाड़ीमें आध मिनट पर्याप्त है।

लघ्वी वहति दीप्ताग्नेस्तथा वेगवती भवेत्।
सुखितस्य स्थिरा ज्ञेया तथा बलवती मता ॥ शा० पू० ३।८

दीप्त अग्निवाले पुरुषकी नाडी हलकी और वेगयुक्त होती है। स्वस्थ मनुष्यकी नाडी स्थिर और बलवती होती है—अर्थात् तीनों अंगुलियोंको उसका स्पर्श समान होता है, प्रत्येक अंगुलीके नीचेकी नाडीका स्पन्दन भी चिरकाल तक देखनेपर भी बदलता नहीं, तथा अंगुलियोंसे पीडित करनेपर नाडीके अन्तर्गत प्रवाहके वेगको रोकना सुगम नहीं होता।

चपला क्षुधितस्यापि तृप्तस्य वहति स्थिरा ॥ शा० पू० ३।८

क्षुधातुर पुरुषकी नाडी चपल (वेगसे उछाल मारती हुई) होती है। भोजनानन्तर तृप्त होनेपर नाडीकी गति स्थिर हो जाती है।

गुर्वी वात वहा नाडीं गर्भेण सह लक्षयेत्।
लघ्वी पित्तवहा सैव नष्टगर्भां वदेत्तु ताम् ॥ रावणकृत नाडीपरीक्षा

किसी स्त्रीकी नाडी यदि गुर्वी (भारी) और वातके स्थानपर अधिक कोपवाली हो तो समझना चाहिए कि स्त्री गर्भवती है। (शास्त्र तथा अनुभवसे विदित हुआ है कि, ग्रथित-मलयुक्त विबन्धमें भी नाडी ऐसी ही होती है। अतः उसका प्रश्न द्वारा निरास कर लेना चाहिए।) नाडी यदि लघु (क्षीण) और पित्तवह (मध्यमें विशेष लक्षित होनेवाली) हो तो गर्भ नहीं है—या नष्ट हो गया है, ऐसा मानें।

नाडीपरीक्षाके अपवाद—

सद्यःस्नातस्य भुक्तस्य क्षुत्तृष्णातपशीलिनः।
व्यायामश्रान्तदेहस्य सम्यङ्नाडी न बुध्यते ॥ नाडीदर्पण
तैलाभ्यंगे च सुप्ते च तथा च भोजनान्तरे।
तथा न ज्ञायते नाडी यथा दुर्गतमा नदी ॥ कणादकृत नाडीविज्ञान

तत्काल स्नान, भोजन, व्यायाम या आतप-सेवन करके आये हुए; क्षुधित, तृषित, तैलाभ्यक्त तथा सुप्त पुरुषकी नाडीसे शरीरकी वास्तविक अवस्थाका बोध नहीं होता। अतः इनकी परीक्षा न करनी चाहिये।

इस प्रकार यह संक्षेपमें आयुर्वेदमतसे नाडी विषयका अवलोकन हुआ। ग्रन्थान्तरसे इसका विस्तार जानना चाहिये। परन्तु नाडीका यथार्थ ज्ञान तो शतशः स्वस्थों और आतुरोंपर अभ्याससहीसे होता है। अब हम वर्तमान मतसे संक्षेपमें नाडीका निरूपण करेंगे, और प्राचीन सिद्धान्तोंकी यथाप्राप्त व्याख्या करेंगे। नाडीसे वात, पित्त, कफ आदिका ज्ञान कैसे होता है, यह नव्य परिभाषामें कहना अशक्य है। पर इतनेसे नाडीज्ञानके प्राचीन तत्त्वोंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। निपुण चिकित्सक केवल नाडीसे दोषोंकी अंशांशकल्पना सम्यक् जानकर चिकित्सा द्वारा प्रवृद्ध दोषोंका शमन और क्षीण दोषोंकी वृद्धि करके यशस्वी होते हुए सर्वत्र देखे जाते हैं। नाडीकी सत्यता और उपयोगिताके लिये यह प्रमाण बहुत है[1]।

१—इतना तो कहना ही चाहिये कि वैद्यों और लोकमें जो यह प्रचलित है कि नाडीसे सब कुछ (?) विदित हो जाता है, उसमें कुछ अति है। यह सत्य है कि क्षीण और वृद्ध दोषोंका ज्ञान

हृदयके स्फुरणका कारण स्वयं हृदय है—

हृदयकी भित्तियोंमें मांसधातुके विशेष प्रकारके सूत्र ओत-प्रोत होते हैं। इनका प्रारम्भ दो स्थानोंसे होता है—उत्तरा महासिराके दक्षिण अलिन्दमें प्रवेश-स्थलपर तथा दक्षिण अलिन्दमें हार्दिकी मूलसिरा[1]के ठीक सामनेसे। प्रथम स्थानको हम गतिमूल[2] कहेंगे। इन सूत्रोंको उनके आविष्कारकके नामपर पर्किञ्जीके सूत्र[3] कहा जाता है। हृदयका संकोच गतिमूलसे आरम्भ होकर पहले अलिन्दोंको तथा पश्चात् निलयोंको व्याप्त करता हुआ अन्तमें हृदयके शिखर[4]पर पहुँचकर समाप्त होता है। इसके पश्चात् हृदयका विकास होता है; अनन्तर, गतिमूलसे ही पुनः संकोच प्रारम्भ होता है।

बाह्य कारणोंसे हृदयके स्फुरणमें भेद—

एवं, हृदयके संकोच-विकासका मूल तो स्वतः हृदय है, परन्तु उसमें बाह्य हेतुओंके प्रभावसे परिवर्तन आ सकता है। फलरूपमें धमनियोंके स्फुरणमें भी भेद आता है। हृदयकी गतियोंमें भेद उपस्थित करनेवाले बाह्य हेतु दो प्रकारके हैं। प्रथम साक्षात् हेतु; जैसे रुधिरकी उष्णतामें वृद्धि, जो कि ज्वरादिमें देखी जाती है; अथवा अलिन्दोंमें रक्तका आधिक्य, जो कि व्यायाममें पाया जाता है। ये गतिमूलको सीधा उत्तेजित कर हृदयकी गति बढ़ा देते हैं। व्यायाममें धातुपाकके आधिक्यके कारण रक्तमें मल (अङ्गाराम्ल वायु) की भी अधिकता हो जाती है। अतः शुद्धि तथा ओषजनके विशेष पानके निमित्त अधिक वेग और प्रमाणमें रक्त हृदयकी ओर आता है[5]। व्यायामसे शरीरकी उष्णतामें हुई वृद्धि गतिमूलको और अधिक उत्तेजित करती है। लेटे हुए-से खड़े हुए में नाडीसंख्या प्रति मिनट लगभग आठ अधिक हो जाती है। इसी कारण वैद्यकमें व्यायामके पश्चात् नाडीपरीक्षा निषिद्ध है।

हृदय स्वस्थ हो तो नाडी तीव्र होनेका प्रधान हेतु ज्वर (तज्जन्य उष्णता) ही समझा जाता है। राजयक्ष्माकी प्रारम्भिक अवस्था भी नाडीके तीव्र होनेका हेतु है। शरीरोष्मा सम हो, पर नाडीकी प्रति मिनट गति ८४ हो तो यह यक्ष्माके चिह्नोंमें एक चिह्न समझा जाता है। अन्य जीवाणु-जन्य रोगों, यथा श्वसनक ज्वर, उपदंश, श्लेष्मज्वर तथा कोलाई[6], स्ट्रेप्टोकौकस[7] और स्टैफिलो-कौकस[8] नामक जीवाणुओंसे उत्पन्न शोथों और पूयोत्पत्तिमें भी नाडी तीव्र हो जाती है। आयुर्वेदमें ज्वरमें नाडी वेगवती कही है। उसकी वर्तमान प्रत्यक्षसे यह व्याख्या है।

हृदयके गत्यन्तर (गतिभेद) का दूसरा और साक्षात् हेतु नाडीसंस्थान है। नाडियोंके मण्डल दो प्रकारके हैं—प्रथम हृदयकी गति और शक्तिके वर्धक[9], और द्वितीय मन्दक[10]। प्रथम

नाडीसे हो जाता है, पर इसके आगे दोषका अधिष्ठान, उस अधिष्ठानमें दोषके संभाव्य लक्षण और निदान सब अन्य चिह्नोंसे जाने जाते हैं। निदानग्रन्थोंके अध्ययन और अनुभवसे इन चिह्नोंका ज्ञान हो सकता है। अनुभवी नाडी वैद्योंकी नाडी परीक्षाका यही सर्वस्व है।

१—Coronary sinus—कॉरोनरी साइनस। २—Pace-maker—पेस-मेकर।
३—Purkinje's—पर्किञ्जीज़ फाइबर्स। ४—Apex—ऐपेक्स।
५—जैसे कि आगे इसी अध्यायमें देखेंगे, इस प्रक्रियाका वास्तविक कारण, अङ्गाराम्लकी अधिकतासे मस्तिष्कमें स्थित श्वसन तथा रक्तवह संस्थानके केन्द्रोंका उत्तेजित हो जाना है।
६—Coli. ७—Streptococcus. ८—Staphylococcus.
९—Cardio-accelerotor system—कार्डिओ-एक्सेलेरेटर सिस्टम।
१०—Cardio-inhibitory system—कार्डिओ-इनहिबिटरी सिस्टम।

नाडीमण्डलका सम्बन्ध शरीरस्थ रस, गन्ध, स्पर्श, वेदना, भार आदि संज्ञाओंका बहन करनेवाली सम्पूर्ण नाडियोंसे होता है।

हृद-वर्धक मण्डल[1] स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके एक भेद मध्य स्वतन्त्र संस्थान[2] (आग्नेय नाडी-संस्थान) के अन्तर्गत है। पूर्ववर्णित व्यायाम और उष्णताके अतिरिक्त अङ्गाराम्लकी अधिकता, रक्तक्षय[3] तथा संज्ञावहाओं[4]का स्वाभाविक या परीक्षणकृत उद्दीपन[5] भी हृद्-वर्धक मण्डलको उत्तेजित करता है। अधिवृक्क ग्रन्थि[6]का स्राव—एड्रीनलीन—भी यही प्रभाव रखता है, परन्तु उसकी क्रिया कर्कश व्यायाम, भयङ्कर वस्तु (जिससे पलायन वा युद्ध द्वारा आत्मरक्षण अभीष्ट हो) की उपस्थिति आदिके समय ही होती है।

हृन्मन्दक मण्डल परिस्वतन्त्र या सौम्य नाडीसंस्थान[7]के अन्तर्गत है। मन्दक मण्डलमें दो नाडियाँ हैं, जिन्हें प्राणदा नाडी[8] कहते हैं। इनका भी शरीरके अन्य भागोंसे सम्बन्ध है। उनसे इन्हें सर्वदा प्रेरणा मिलती रहती है। पेटपर आघातके कारण हृदय मन्द पड़नेसे इसी कारण मूर्च्छा सम्भव है। कण्ठ (स्वरयन्त्र) पर आघातसे हृदयावरोध होनेसे मृत्यु देखी गयी है। कइयोंमें तम्बाखूके धूम्रसे किंवा अन्यथा श्वासपथका क्षोभ होनेसे हृदयकी गति मन्द हो जाती है। संन्यास-रोगमें मस्तिष्कगत कोई केशिका फटनेसे निःसृत रक्तके दबावसे प्राणदा नाडी प्रभावित हो जाती है; इससे हृदय मन्द पड़नेसे मूर्च्छा प्राप्त होती है।

मानसिक चेष्टाओंका भी हृदयपर वर्धक या मन्दक प्रभाव पड़ता है, जिससे हृदयकी गतिमें वृद्धि या मन्दता आ जाती है। भोजनसे हृदयकी गतिसंख्या बढ़ जाती है। हृदय और नाडीमें गत्यन्तर लानेवाले अन्य भी कारण हैं, जिनका ज्ञान चिकित्साके ग्रन्थोंसे प्राप्त हो सकता है। इतना कहकर हम इस विषयको समाप्त करेंगे कि आयुर्वेदमें हृदयको जो चेतनाका विशेष अधिष्ठान और सुख-दुःख (वे सुख-दुःख चाहे मानस हों अथवा आरोग्य और रोगके रूपमें शारीर) का प्रकाशक कहा है, उसका क्या स्वरूप है? वर्धक या मन्दक दोनों नाडीमण्डलों तथा गतिमूलका शरीरके अन्य भागोंसे सम्बन्ध है। उनमें परिवर्तन हो तो हृदयकी गतियोंमें परिवर्तन आता है। परिणामतया, हृदय किंवा नाडीकी गतिमें भेद देखकर तत्तत् विकारका ज्ञान सुलभ होता है।

हृदयके समान ही रक्तवहाओंकी क्रियाका नियन्त्रण भी नाडीसंस्थानके अधीन है। नाडी-संस्थानमें रक्तवहाओंमें रक्तकी गति, संकोच तथा विकासके पृथक् केन्द्र होते हैं। गतिके केन्द्रका शरीरकी, विशेषतः त्वचाकी, संज्ञावहाओंसे सम्बन्ध है, जहाँसे उसे निरन्तर प्रेरणा मिलती है। नाडी द्वारा शरीरके सुख-दुःख-प्रकाशनका यह एक अन्य हेतु है। गतिके केन्द्रका नियमन शरीरकी अङ्गाराम्ल वायुसे विशेषतः होता है। यह वायु श्वाससंस्थानका भी उद्दीपक है। यह हृद्-वर्धक नाडीमण्डलको भी उत्तेजित करता है, यह ऊपर कह ही आये हैं। देहयन्त्रके मितव्ययका यह एक अति सुन्दर दृष्टान्त है कि वह मलभूत द्रव्योंका भी प्रथम कोटिकी जीवनी क्रियाओंमें उपयोग किया करता है।

यकृत्से स्रुत, रक्तके मलभूत पित्तका सदुपयोग पाचन क्रियाके प्रकरणमें हम देख चुके हैं; अन्य मलोंकी उपयोगिता भी प्रसङ्गोपात्त देखेंगे; अतएव आयुर्वेदका सिद्धान्त है—

१—Cardio-accelerator system—कार्डिओ-एक्सेलेरेटर सिस्टम।
२—Sympathetic nervous system—सिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।
३—Anæmia—ऐनीमिया। ४—Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स।
५—Stimulation—स्टिम्युलेशन।
६-७—Parasympathetic nervous system—पैरासिम्पैथेटिक नर्वस सिस्टम।
८—Vagus nerve—वेगस नर्व।

दोषधातुमलमूलं हि शरीरम् ॥ सु० सू० १५।३

यहाँ वातादि दोष तथा रसादि धातुओंके साथ मलोंको भी शरीरका मूल कहा है ; कितना सत्य सिद्धान्त है !

पूर्वोक्त उपयोगिताके कारण उच्छ्वास क्रियामें शरीरका अङ्गाराम्ल वायु समस्त ही नहीं निकल जाता। सत्य तो यह है कि शरीरमें ओपजनकी तुलनामें अङ्गाराम्ल ही का प्रमाण अधिक रहता है[1]।

ब्लड-प्रेशर[2]—

हृदयके संकोचके कारण रक्त स्वभावतः धमनियोंकी दीवारोंपर एक हद तक दबाव डालता है। रक्त ज्यों-ज्यों हृदयसे दूर जाता है, त्यों-त्यों यह दबाव न्यून होता जाता है। अन्तमें विकसित दक्षिण अलिन्दमें जाकर यह शून्यसे भी नीचे चला जाता है। हृदयके संकोचसे यह फिर उच्चतम कक्षा तक पहुँच जाता है। हृदयके संकोच और विकासके समय समस्त रक्तवहाओंमें ब्लड-प्रेशर नियत अंश तक रहता है। इसका बढ़ना या न्यून होना अस्वास्थ्यका चिह्न है। ब्लड-प्रेशरका माप एक यन्त्रविशेषसे किया जाता है। इसे स्फिग्मोमैनोमीटर[3] कहते हैं। इससे केवल धमनियोंमें संकोच और विकास-कालके दबावका माप किया जा सकता है। यन्त्रके अभावमें मोटे तौरपर नाडीपरीक्षासे भी ब्लड-प्रेशर जाना जा सकता है। एतदर्थ नाडीको अंगुलियोंसे इतना दबाएँ कि स्फुरण प्रतीत होना बन्द हो जाय। जितने जोरसे दबानेसे स्फुरण बन्द हो जाय उतना ही अधिक वा न्यून ब्लड-प्रेशर होगा[4]।

आयुर्वेद-मतसे ब्लड-प्रेशरकी अधिकतामें प्रकुपित वात, पित्त तथा रक्तवृद्धिके लक्षण पृथक् किंवा मिलित होते हैं। इस रोगकी चिकित्सा भी दोषानुसार ही करना योग्य है[5]।

१—अङ्गाराम्ल वायु (प्राच्य मतसे प्राण ; देखिये—तेईसवाँ अध्याय) का यह प्रयोजन प्राणायामके अङ्गभूत आभ्यान्तर कुम्भककी महत्तापर विशद प्रकाश डालता है। आभ्यन्तर कुम्भकमें बहिश्चर वायुको दीर्घप्रश्वास द्वारा अन्दर लेकर कुछ काल रोका जाता है। इसका एक फल यह होता कि अङ्गाराम्ल वायु उतने काल शरीरमें विशेष प्रमाणमें रहता है और उक्त प्रकारसे उसे लाभान्वित करता है।

प्राण शब्दमें 'प्र' उपसर्ग और 'अन' धातु है। इसका विग्रह ऐसा है—'प्राणयतीति प्राणः' अर्थात् जो श्वास क्रियाका निमित्त हो, वह वायु प्राण कहाता है। पाणिनिके अनुसार 'श्वस' और 'अन्' धातुका अर्थ समान है। श्वास लेना और छोड़ना। 'श्वस प्राणने, अन च' यह धातुपाठका सूत्र है। इससे सहज ही कल्पना होती है कि आर्य वैद्योंको श्वासक्रियाका प्राण (अङ्गाराम्ल वायु) के साथ सम्बन्ध ज्ञात रहा होगा।

२—Blood-pressure. देशभाषाओंमें प्रयुक्त कोई संज्ञा अभिरुचित न होनेसे अंग्रेजी संज्ञा ही रहने दी है।

३—Sphygmometer. नाडीकी परीक्षाके लिये भी एक यन्त्र होता है। इसे Sphygmometer—स्फिग्मोमीटर—कहते हैं।

४—ब्लड-प्रेशर संकोचकालिक ११० से १३५ तथा विकासकालिक ६० से ८० होता है।

५—बाईसवें अध्यायमें रक्तके प्रकोपके प्रकरणमें आयुर्वेद-मतसे इस विषयका कुछ विचार कर आये हैं। कुछ निर्देश पृ० ६० पर भी किया है।

ब्लड-प्रेशर न्यून होना भी रोगका लक्षण है। यह हृदयके रचना-सम्बन्धी रोगों तथा चिन्ता, श्रम किंवा शरीरको क्षीण करनेवाले क्षय, अन्त्रज्वर आदि रोगोंके अन्तमें पाया जाता है। आयुर्वेदोक्त रक्तक्षयमें न्यून ब्लड-प्रेशरका समावेश किया जा सकता है। रक्तक्षयके सुश्रुतोक्त लक्षणोंमें एक 'सिराशैथिल्य' (देखिये—२२ वाँ अध्याय) का अर्थ ब्लड-प्रेशरके न्यून होनेकी सूचना देता है। ध्यान रहे, यहाँ सिराका अर्थ रक्तवाहिनीमात्र, विशेषतः धमनी है। ब्लड-प्रेशरकी वृद्धि वा न्यूनताके लक्षण चिकित्सा-ग्रन्थोंमें देखे जा सकते हैं।

हृदयके शब्द—

श्रावणी नलिका[1]से हृदय प्रदेशकी परीक्षा करें तो क्रमशः दो शब्दों और एक विरामकी परम्परा सुनाई देगी। शब्दोंका स्वरूप कुछ ऐसा होगा—लुब्ब्-डप्।

हृदयका सम्पूर्ण चक्र एक सेकण्डमें पूर्ण होता है। प्रथम शब्द मन्द होता है। यह नलियोंकी पेशीके संकोच तथा उन कपाटिकाओंके रुधिरके वेगसे उत्पन्न कम्पनके कारण होता है, जो दक्षिण अलिन्द और निलय तथा वाम अलिन्द और निलयके मध्यमें होती हैं। यह अपेक्षया अधिककाल $\frac{४}{१०}$ सेकण्ड रहता है। इसके पश्चात् $\frac{१}{१०}$ सेकण्डका विराम और फिर द्वितीय शब्द होता है। यह उच्च होता है। इसका कारण रुधिरके वेगसे आहत उन कपाटिकाओंका कम्पन है, जो फुप्फुसाभिगा धमनी तथा महाधमनीके निष्क्रमण द्वार पर स्थित होती हैं। यह $\frac{२}{१०}$ सेकण्ड रहता है। इसके अनन्तर हृदयके विकासकालकी स्तब्धता होती है, जो $\frac{३}{१०}$ सेकण्ड रहती है।

प्रथम शब्द क्योंकि निलयोंकी पेशीसे उत्पन्न होता है, अतः उससे हृदयके पेशीभागकी (अर्थात् स्वयं हृदयकी) शक्ति सूचित होती है। ज्वरादिमें प्रथम शब्द मन्द हो तो निकट भविष्यमें हृदयावरोध[2]की सम्भावना होती है।

प्रथम शब्द वाम ओरके पञ्चम पर्शुकान्तरालमें स्पष्टतम सुनाई देता है। इस स्थलके नीचे हृदयका शिखर होता है। द्वितीय शब्द उरःफलक[3]के जरा दक्षिण ओर, द्वितीय दक्षिण उपपर्शुकापर सबसे अच्छा सुन पड़ता है। इस स्थलके नीचे हृदयका आधार होता है। यहाँ महाधमनी बाह्य पृष्ठके अधिकतम निकट होती है।

हृदय आदि अङ्गोंकी श्रावणी नलिकासे परीक्षाका नाम श्रवण[4] है। रोग-विनिश्चयका यह आवश्यक साधन माना जाता है। इसका विस्तार चिकित्साके ग्रन्थोंसे उपलब्ध हो सकता है। इसके समुचित ज्ञानके लिये बड़े अभ्यासकी अपेक्षा है। वह अभ्यास विशेषतः स्वस्थ पुरुषोंके हृदयके श्रवण द्वारा करना चाहिये।

फुप्फुसोंकी श्रवणपरीक्षा—

फुप्फुसोंका श्रवण भी उतना ही अभ्यसनीय है। स्वस्थ फुप्फुसोंमें प्रश्वासकालमें प्रविष्ट होते हुए वायुका शब्द मृदु फूत्कार (जैसा बीड़ीका धुआँ उड़ाते हुए होता है) के सदृश होता है। कास-श्वास-प्रधान संतत ज्वर (न्यूमोनिया), यक्ष्म-शोथ[5] आदि विकारोंमें फुप्फुसका आक्रान्त प्रदेश घन (ठोस) हो जाता है। इसमें प्रश्वास और उच्छ्वास दोनों कर्कश (रफ) होते हैं। दोनोंका काल और स्वरूप तुल्य होते हैं और दोनोंके मध्य अन्तर होता है। स्वस्थ अवस्थामें उच्छ्वासका

१—Stethoscope—स्टेथोस्कोप।
२—Heart-failure—हार्ट-फेल्यर। ३—Sternum—स्टर्नम।
४—Osculatation—औस्कल्टेशन। ५—Tubercle—ट्युबर्कल।

शब्द कभी ही सुनाई पड़ता है; सुनाई भी पड़े तो प्रश्वास और उच्छ्वासके मध्य अन्तर नहीं होता।

अन्त्रज्वर या अन्य चिरानुबन्धी रोगोंमें रोगीके चिरकाल तक पौढे रहनेसे, फुप्फुसोंमें रक्त-सञ्चय होकर श्वसनज्वरकी सम्भावना होती है। अतः, इनमें फुप्फुसोंकी, विशेषतः पृष्ठ देशकी ओरसे, परीक्षा करते रहना चाहिये।

फुप्फुसधरा कलाका शोथ[1] होनेपर उसके दोनों आवरणोंकी रगड़से विशिष्ट घर्षण सुनाई देता है। क्लोमकी बड़ी शाखाओंमें अत्यधिक कफ किंवा अन्य द्रव भरा हो तो श्वास-ध्वनिके साथ बुद्बुद-ध्वनि भी सुनाई पड़ती है—ऐसी, जैसी कि द्रवमें होकर जाते हुए वायुकी बुलबुलियोंकी होती है। कफ व अन्य स्राव यदि इसी प्रकार छोटी क्लोमशाखाओं या वायुकोषोंमें भरा हो तो ऐसी मर्मर ध्वनि सुनाई पड़ती है, जैसी कानके निकट बालोंको चुर-चुर करनेसे होती है। श्वसनकज्वर (न्यूमोनिया) के प्रारम्भ तथा फुप्फुसोंके शोथ[2]में यह मर्मर सुनाई देता है। रोगीको दीर्घश्वास लेनेको कहा जाय तो ये ध्वनियाँ स्पष्ट सुनी जा सकती हैं।

बड़ी क्लोमशाखाएँ मोटी हो गयी हों या शुष्क हों या उनमें आर्द्रता अल्प हो तो खुर्राटेकी-सी ध्वनि सुनाई देती है। शाखाएँ आक्रान्त होनेपर सूत्कार (दन्त्य स के उच्चारके सदृश स्वर) सुन पड़ता है। क्षयके कारण खात (खाये हुए) फुप्फुस प्रदेशमें प्रवेश करते हुए वायुका शब्द सङ्कीर्ण (तङ्ग) गुहामें घुसते वायुके शब्दके तुल्य होता है।

स्वस्थ दशामें भी श्रवणपरीक्षामें रोगीके वाक्-प्रयोगकी विशेष प्रतिध्वनि होती है। श्वसनक-ज्वर, यक्ष्म-शोथ अथवा खातमें आक्रान्त प्रदेशके ऊपर परीक्षासे प्रतिध्वनि अधिक हुई पायी जाती है। फुप्फुसधरा कलाके शोथमें द्रवका व्यवधान होनेसे प्रतिध्वनि मन्द हो जाती है। इस परीक्षाके समय रोगीको पुनः पुनः एक-दो-तीन (अथवा योग्यतानुसार अन्य) शब्द बुलाया जाता है।

हृदयकी गति और श्वासक्रियाके साथ उसका अनुपात—

स्वस्थ और प्रौढ पुरुषमें हृदयकी गति प्रतिमिनट ७२ रहती है। परन्तु आयु, प्रकृति, लिङ्ग (स्त्री या पुरुष), अन्नपान, व्यायाम, दिनका काल, स्थिति, वातावरणका उतार-चढ़ाव और शरीरोष्मा—मुख्यतः इन कारणोंसे इसमें प्रभेद आ जाता है[3]। हृदयकी स्फुरण-संख्या जीवनकालमें उत्तरोत्तर घटती जाती है। एवं स्फुरण-संख्या जन्मके पूर्व प्रतिमिनट १५०, जन्मके ठीक पीछे १४० से १२०, प्रथम वर्षमें १३० से ११५, द्वितीय वर्षमें ११५ से १००, सप्तम वर्ष तक ९० से ८५, कोई चौदहवें वर्ष तक ८५ से ८०, वयःस्थोंमें ८० से ७० तथा वार्धक्यमें १०० से ६० होती है।

श्वासक्रिया वयःस्थ स्वस्थ मनुष्यमें एक मिनटमें १४ से १८ होती है। स्वस्थ अवस्थामें हृदय (अथवा नाडी) के स्फुरण और श्वासक्रियाकी संख्यामें अनुपात नियत रहता है—श्वास १ : स्फुरण ४ या ५। व्यायाम, आहार आदि हृदयके स्फुरणकी वृद्धि करनेवाली परिस्थितियोंमें श्वाससंख्यामें भी वृद्धि आ जाती है। रोगोंमें यह अनुपात परिवर्तित हो जाता है। फुप्फुस और श्वासमार्गके श्वसनकज्वर आदि रोगोंमें श्वासक्रियाकी संख्यामें तथा अन्य रोगोंमें हृदयकी संख्यामें वृद्धि हो जाती है।

१—Pleurisy—प्लुरिसी। २—Oedema—इडीमा।

३—कई पुरुषोंमें हृदयकी स्वाभाविक स्फुरण-संख्या न्यूनाधिक होती है। कहते हैं नैपोलियनका हृदयका स्फुरण चालीस ही होता था।

हृदय तथा फुप्फुस पर उदरगुहाका प्रभाव—

हृदय तथा फुप्फुसकी गतियोंपर उदरगुहाकी विकृतिका प्रभाव सदा ध्यानमें रखना चाहिए। विशेषतः रातको गुरु वा अतिमात्र भोजन, आनाह (कब्ज), अजीर्ण, विष्टम्भ, आध्मान-प्रत्याध्मान इनमें उदरगुहा[१] का अन्तर्गत दबाव बढ़ जाता है। यह बढ़ा हुआ दबाव फुप्फुसों और हृदयको भी पीड़ित करता है, जिससे प्रायः श्वासरोग किंवा हृत्कम्प[२] उपस्थित होते हैं। हृत्कम्पका कारण प्रायः यह होता है। इसे हृदयका दौर्बल्य मानकर चिकित्सक हृदयके लिये बल्य औषधोंका प्रयोग करते हैं[३]। हृदयकी दुर्बलताका ध्यान कर रोगी अलग व्यथित होता है। ऐसे समयमें साधारण दीपक, पाचक, सारक द्रव्य ही इष्ट कार्य कर जाते हैं। श्वासरोगके निदान और चिकित्सामें भी इस तत्त्वपर प्रथम लक्ष्य देना उचित है।

अतिसार वा विरेचनके वेगको औषधादि द्वारा सहसा रोक देनेसे भी अवरुद्ध मल तथा आम अंशके कोथ (सड़ाँद) से दूषित वायु उत्पन्न होता है। इसके पीडन नाम उरोगुहापर दबावसे कृच्छ्र, हृत्कम्प आदि लक्षण होते हैं ; मलोंके कोष्ठहीमें रह जानेसे, अथच अन्त्रकी कला द्वारा आचूषित होकर सर्वाङ्गमें पहुंचनेसे जो स्थानिक तथा सर्वाङ्गिक विकार होते हैं, सो अलग। यह विषय चिकित्सा-ग्रन्थोंके अतिसार-प्रकरणमें देखना चाहिये[४]।

१—उदरगुहाके विकारका हृदय पर प्रभाव प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा भी होता है।

२—Palpitation of the heart—पैलपिटेशन ऑफ धी हार्ट।

३—हम एक ऐसे रोगीको जानते हैं, जिसे विशेषतया मिष्टान्न आदि गुरु भोजनों अथवा अति सौहित्य (पेट भरकर भोजन) के पश्चात् हृत्कम्पकी व्यथा हो जाती थी। ठीक निदान न होनेसे यह विकार पर्याप्त समय बना रहा। अन्तमें अकस्मात् चिकित्सकका ध्यान रोगीकी अन्त्रवृद्धि (Hernia—हर्निया) की ओर गया, जो कदाचित् कुछ ही काल पूर्व हुई थी, तथा जिसके होनेका रोगीको भी ज्ञान न था। शस्त्रकर्म द्वारा अन्त्रवृद्धिकी चिकित्सा करनेसे हृत्कम्प स्वयं मिट गया।

४—उदरगुहामें स्थित वायुके उक्त प्रभावोंका आयुर्वेदके शब्दोंमें विचार वात धातुके प्रकरणमें आमाशय तथा पक्वाशयमें स्थित वायुके लक्षणोंमें देखिये।

पच्चीसवाँ अध्याय

अथातो मांस-मेदोधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरत्रेयादयो महर्षयः ॥

रक्तका वर्णन हुआ। अब मांसधातुका वर्णन अवसरप्राप्त है।

मांसधातुका कार्य—

मांसं शरीरपुष्टिं मेदसश्च (पुष्टिं करोति) ॥ सु० सू० १५।५ (१)

मांसका कार्य शरीर, शरीरके बल अर्थात् कार्यशक्ति और मेदकी पुष्टि करना है।

प्रमाणमें सबसे अधिक होनेसे शरीरमें मांसधातुका महत्त्व सर्वोपरि है[1]। शरीरके कुल भारका ४१ प्रतिशत मांस है। इसमें कोई ५ प्रतिशत जल तथा २१ प्रतिशत प्रोटीन होता है। एवं, शरीरके सम्पूर्ण जल और प्रोटीनका अर्धांश मांसमें होता है। अतएव, मांसकी पुष्टि साक्षात् शरीरहीकी पुष्टि है।

मांसका कार्य कर्म (चेष्टा) करना है। चलना-फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना इत्यादि सब कर्मोंका साधन मांस है। मांसधातुके संकोच और विकासका ही नामान्तर कर्म है। स्पष्टताके लिये अपना एक हाथ खोलकर ऐसे फैलायें कि हथेली ऊपर रहे। अब दृष्टि खुले हाथके बाहुपर रखते हुए कोहनीको मोड़ें। बाहुके मध्यमें एक पेशी स्थूल होती हुई दृष्टिगोचर होगी। यह द्विशिख[2] नामक मांसपेशी है, मुख्यतः जिसका संकोच हाथके इस प्रकार मुड़नेका कारण है।

सिरास्नाय्वस्थिमर्माणि संधयश्च शरीरिणाम्।
पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥ सु० शा० ५।३८
मांसन्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥ सु० शा० ५।२३

महास्नायोस्तु 'कण्डरा' इति संज्ञा ॥ सु० शा० ५।२९ पर डह्लन

कण्डराः स्थूलस्नायवः ॥ च० चि० १५।१७ पर चक्रपाणि

त्वचा उतारकर देखें तो देहयष्टि सर्वत्र मांसमयी पेशियोंसे व्याप्त दिखाई देगी। इनकी संख्या कोई छह सौ है। प्रत्येक पेशीके दो सिरे होते हैं। दोनों सिरे स्नायु[3] और कण्डराओं[4] द्वारा अस्थियोंसे दृढ़ सम्बद्ध होते हैं। पेशीके ही श्वेत, स्नायुमय सिरोंका नाम कण्डरा है। पेशीका एक सिरा, स्थिर अथवा दूसरीकी अपेक्षया स्थिर अस्थिसे तथा दूसरा चल अस्थिसे सम्बद्ध होता है। प्रथम सिरेको प्रभव[5] और द्वितीयको निवेश[6] कहते हैं।

१—The most important, because the most abundant of the tissue of the body, is the muscular tissue.
Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 512.

२—Biceps—बाइसेप्स। प्रत्यक्षशारीर में द्विशिरस्का नाम है।

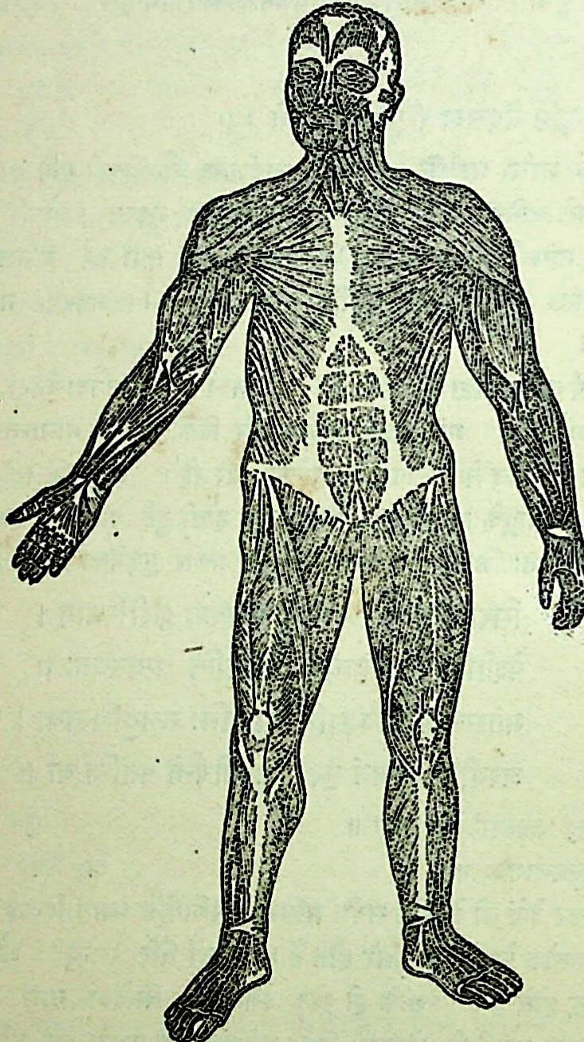
३—Ligaments—लिगमेण्ट्स। ४—Tendons—टेण्डन्स।

५—Origin—ओरिजिन। ६—Insertion—इन्सर्शन।

प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः ॥ शा० पू० ५।४०

महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरायास्तु षोडश।
प्रसारणाकुञ्चनयोर्दृष्टं तासां प्रयोजनम् ॥ भावप्रकाश

जब जिस अवयवसे कर्म करनेकी इच्छा होती है, तब उस अवयवकी उस कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली पेशियाँ आकुञ्चित और प्रसारित होती हैं। इस प्रकार पेशियाँ इच्छाधीन हैं।



शरीरकी मांसपेशियाँ, सामनेकी ओरसे। चित्र—३८

आयुर्वेदमतसे कर्मकालमें होनेवाले प्रसारण और आकुञ्चन (प्रधानतः) कण्डराओंमें होते हैं। जैसा कि आगे इसी अध्यायमें देखेंगे, आयाम, स्तम्भ आदि जिन वातरोगोंका कारण आधुनिकोंने पेशियोंकी विकृति कहा है, उन्हें भी आयुर्वेदमें कण्डराओंका ही विकार कहा है।

आकुञ्चन-प्रसारणादि इन ऐच्छिक चेष्टाओंके अतिरिक्त शरीरमें और भी कर्म होते हैं—जैसे आमाशय तथा अन्त्रमें दोलनी और अपकर्षणी गति,—किंवा रक्तवहाओंमें रक्तानुधावन सम्बन्धी गतियाँ।

ये कर्म भी इन अङ्गोंमें स्थित मांसधातुके कारण होते हैं। भेद यही है कि ये हमारी इच्छाके अधीन नहीं हैं।

मांसधातुके दो भेद—

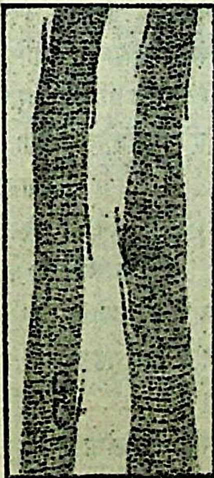
शरीरक्रियाविदोंने इस प्रकार मांसधातुके दो भेद किये हैं—प्रथम इच्छाधीन[1] और द्वितीय स्वतन्त्र[2]। दोनोंका कर्म वात किंवा नाडीसंस्थानके अधिष्ठातृत्वमें होता है; परन्तु प्रथम मांस-संघातका नियमन नाडीसंस्थानके उस प्रदेशसे होता है, जो व्यक्तिकी इच्छाके अधीन है। पेशियाँ इच्छाधीन मांस हैं।

स्वतन्त्र मांसका नियमन नाडीसंस्थानके उस प्रदेशसे होता है, जिसपर व्यक्तिकी इच्छाकी प्रभुता नहीं है। यह रक्तावहाओं, महास्रोत, मूत्र और जननके अवयवों, तारामण्डल[3], तथा क्लोम (श्वासपथ) की दीवारोंमें होता है।

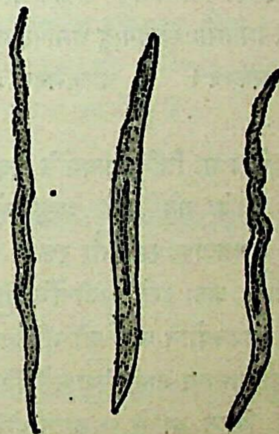
मांसधातुके दोनों भेदोंमें अन्तर—

मांसावयवसंघातः परस्परं विभक्तः 'पेशी' इत्युच्यते ॥ सु० शा० ५।३७ पर डल्हन

अणुवीक्षणकी सहायतासे मांसधातुका निरीक्षण करनेसे विदित होता है कि वह छोटे-छोटे सूत्रों[4] का बना होता है। इनका औसतन व्यास १/५०० इञ्च तथा लम्बाई कोई १ इञ्च होती है। इच्छाधीन मांस किंवा पेशियाँ एकमात्र इन सूत्रोंके व्यूह हैं। केवल उनके परस्पर सम्बन्धके लिये मध्यमें कला होती है। रक्तवहा आदिकी दीवारोंमें स्वतन्त्र मांस अन्य धातुओंके साथ होता है। इच्छाकृत भेदके अतिरिक्त मांसधातुके दोनों प्रकारोंमें रचनाभेद भी है। इच्छाधीन मांससूत्रोंमें चौड़ाईकी दिशामें रेखाएँ होती हैं। स्वतन्त्र मांससूत्रोंमें ऐसी रेखाएँ नहीं पायी जातीं। एक हृदयके मांससूत्र इस नियमके अपवाद हैं। वे स्वतन्त्र होते हुए भी इच्छाधीन मांससूत्रोंके समान रेखाङ्कित होते हैं।



इच्छाधीन मांसके सूत्र। चित्र—३९



स्वतन्त्र मांसके सूत्र। चित्र—४०

१—Voluntary—वौलण्टरी। २—Involuntary—इन्वौलण्टरी।
३—Iris—आइरिस। ४—Fibres—

इच्छाधीन होनेसे पेशियोंमें यह विशेषता है कि उनके कर्म कालिक—इच्छित कालपर होनेवाले—और बलवान् होते हैं। स्वतन्त्र मांसका कर्म मन्द किन्तु तालबद्ध[1] होता है; अर्थात् उनमें विराम और कर्म क्रमसे और नियतकालपर्यन्त होते हैं। हृदयकी गतियोंमें यह तालबद्धता हम देख चुके हैं। तालबद्धताके कारण स्वतन्त्रमांसयुक्त वाहिनियों किंवा आशयोंके अन्तर्गत द्रव्योंका प्रवाह नियमित बना रहता है।

आधुनिकोंके स्वतन्त्र कर्म तथा भारतीय दर्शनका जीवनयोनि प्रयत्न—

शरीर कर्मोंके पूर्वोक्त दो भेद—इच्छानुग तथा स्वतन्त्र—आधुनिक क्रियाशारीरके अनुसार हैं। भारतीय दर्शनमें स्वतन्त्र कर्मोंका जीवनयोनि प्रयत्न नामसे निर्देश है। भारतीय दर्शनमें कर्म वा चेष्टाका कारण प्रयत्न माना गया है। यह प्रयत्न आत्माका गुण है। इसे उत्साह वा भावना भी कहते हैं। देखिये :—

प्रयत्नस्त्वात्मधर्मः स्यादुत्साहो भावना च सः ॥ तार्किकरक्षा

यह प्रयत्न तीन प्रकारका है—इच्छापूर्वक प्रवृत्तिजन्य, द्वेषपूर्वक निवृत्तिजन्य तथा जीवनयोनि इनमें जीवनयोनि प्रयत्न जीवन (प्राणसञ्चार आदि जीवनोपयोगी क्रियाओं) का कारण होता है तथा अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंको अगोचर) होता है—

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च तथा जीवनकारणम्।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकैः परिकीर्तितम्॥
यत्नो जीवनयोनिस्तु सर्वदाऽतीन्द्रियो भवेत्।
शरीरे प्राणसंचारे कारणं परिकीर्तितम्॥ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली

इच्छापूर्वक प्रवृत्तिजन्य तथा द्वेषपूर्वक निवृत्तिजन्य प्रयत्नोंको प्रशस्तपादभाष्यमें एक ही कोटिमें रखते हुए प्रयत्नके दो ही भेद किये गये हैं—

प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः[2]। स द्विविधः जीवनपूर्वक इच्छाद्वेषपूर्वकश्च। तत्र जीवनपूर्वकः सुप्तस्य प्राणापान संतान प्रेरकः प्रबोधकाले चान्तःकरणस्येन्द्रियान्तर प्राप्ति हेतुः। अस्य जीवनपूर्वकस्यात्ममनसोः संयोगाद् धर्माधर्मापेक्षादुत्पत्तिः। इतरस्तु हिताहितप्राप्ति परिहार समर्थस्य व्यापारस्य हेतुः शरीर विधारकश्च। स चात्ममनसोः संयोगादिच्छापेक्षाद् द्वेषापेक्षाद्वोत्पद्यते॥

प्रशस्तपाद, गुणग्रन्थ

इन द्विविध या त्रिविध प्रयत्नोंके भेदसे तज्जन्य कर्म वा चेष्टा भी तीन वा दो प्रकारकी होती है। इच्छाद्वेषपूर्वक किये गये कर्म आधुनिकोंके इच्छानुग कर्म हैं। तथा जीवनयोनि कर्म आधुनिकोंके स्वतन्त्र कर्म हैं। अन्नपाक, रस और रक्तका अनुधावन इत्यादि प्रक्रियाओंका उद्देश्य जीवनको अविच्छिन्न (चालू) रखना है, अतः इन्हें प्राचीनोंने जीवनयोनि कहा है। भेद केवल यह है कि इच्छाद्वेषात्मक कर्मोंके समान जीवनयोनि कर्मोंको भी प्राचीनोंने आत्मजन्य कहा है।

मांसका नियमन नाडीसंस्थानसे निःसृत नाडियों अथवा उनके अधिष्ठाता वायुसे होता है। इन नाडियोंके विकृत वातसे आक्रान्त होनेपर उनसे नियन्त्रित मांसपेशीमें आक्षेपके रूपमें अवाञ्छित कर्म होने लगते हैं। अथवा विविध आयाम, अर्दित आदिके रूपमें पेशियोंका स्तम्भ हो जाता है; किंवा पेशीका पोषण नष्ट हो जानेसे वह क्षीण हो जाती है। अस्थिभङ्ग होनेपर यदि भग्न अस्थिखण्डों

१—Rhythmic—रिद्मिक।

२—दर्शनों में प्रयत्न के लिए कृति शब्द भी आता है। प्रयत्न शब्द लोक प्रचलित अर्थ में नहीं है।

को बैठाते हुए उनके मध्यमें कोई नाडी फँस जाय तो पीडित होनेसे उसका पोषण रुक जाता है। परिणामतया उससे नियन्त्रित पेशियां भी क्षीण और संकुचित हो जाती हैं; तथा अङ्ग जड़ हो जाता है। पेशियोंके अति संकोचके कारण अङ्ग भी सदाके लिये उनकी दिशामें संकुचित और वक्र हो जाता है[1]। इसीलिये अस्थिभग्नमें सम्यक् अनुभवी चिकित्सककी तथा ऐक्सरेकी सहायताकी आवश्यकता मानी जाती है। मरणानन्तर पेशियोंके घटकोंमें परिवर्तन विशेष होनेसे वे स्तब्ध और कठिन हो जाती हैं। इस स्तब्धताको मरणस्तम्भ या मरणसंकोच[2] कहते हैं। कुछ काल पीछे पेशियाँ पुनः मृदु हो जाती हैं। इसका कारण निर्जीव मांसमें कोथ (सड़ाँद[3]) का प्रारम्भ है।

सजीव पेशियोंमें भी निष्कर्म दशामें भी वैज्ञानिक दृष्टिसे कर्म बना रहता है। सामान्यतया वे सदा खिचावकी अवस्था में रहती हैं। कर्मकालमें जब वे संकुचित होती हैं, तब ही सहज आकार धारण करती हैं। अंग्रेजीमें इस खिचावको टोन[4] कहते हैं।

मांसधरा कला—

तासां (कलानां) प्रथमा मांसधरा, यस्यां मांसे सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः॥ सु० शा० ४।८।९

शरीरका पृष्ठ बाह्यतः त्वचासे आवृत होता है। त्वचाके नीचे मेदोधरा कला[5] होती है। इसका वर्णन आगे करेंगे। उसके नीचे मांसधरा कला[6] होती है। मांसगत धमनी, सिरा, केशिका, नाड़ियों और रसायनियोंके प्रतान प्रायः मांसकलामें प्रसृत होते हैं।

द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं (भवति)॥
सु० शा० ४।१०

मांसके प्रत्येक भागमें रक्तधरा कला[7] के प्रतान व्याप्त होते हैं। इनसे प्राप्त रुधिरके कारण मांसका वर्ण रक्ताभ होता है। बूचड़के यहाँसे मांस लाकर उसे चिरकालतक शीतल जलमें डुबोये रखें तो रक्तांश जलमें विलीन हो जाता है और मांसका नैसर्गिक पीत-श्वेत वर्ण प्रकट होता है।

अन्य धातुओंके समान मांस भी सम प्रमाणमें रहता हुआ ही शरीरका उपकारक होता है। अतः मांसके क्षय और वृद्धिके लक्षण तथा उनकी चिकित्सा जानना उपयोगी है।

मांसक्षयके लक्षण—

मांसक्षये स्फिग्गण्डोष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कतारौक्ष्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीशैथिल्यं च ॥ सु० सू० १५।९

मांसक्षये विशेषेण स्फिग्ग्रीवोदरशुष्कता ॥ च० सू० १७।६५

१—आयुर्वेदमें आयाम आदि उक्त विकारोंका कारण भी कण्डराओंका दोषाक्रान्त होना कहा है। देखिये स्नायुविद्ध होनेपर सुश्रुत में कहे निम्न लक्षण—

"कौब्ज्यं शरीरावयवाङ्गसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च।
चिराद् व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्येत्॥" सु० सू० २५।२७

२—Rigor-mortis—राइगर-मौर्टिस। ३—Putrefaction—प्युट्रीफैक्शन।
४—Tone. ५—Superficial fascia—सुपरफिशल फेशिया।
६—Deep fascia—डीप फेशिया। ७—देखिये बाईसवाँ अध्याय।

मांसका क्षय होनेपर चूतड़, गाल, ओष्ठ, शिश्न, जाँघ, छाती, ग्रीवा, काँख, पिण्डली, पेट इनकी क्षीणता शरीरमें रूक्षता और चुभनेकी-सी वेदना ; अङ्गोंमें थकान और धमनीकी शिथिलता[1] ये लक्षण होते हैं।

यहाँ कही धमनीकी शिथिलता नव्योंकी रक्तदाबकी न्यूनता है। हृदय तथा धमनियोंके घटक मांस सूत्रोंकी क्षीणता तथा तज्जन्य दुर्बलतासे यह होती है। सो 'धमनी शैथिल्य' के प्रसंगमें मांसक्षयका यही अर्थ लेना चाहिए।

मांसक्षयकी चिकित्सा—

तत्रापि (मांसक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु० सू० १५।१०

स्वयोनिवर्धनमपि समानेन द्रव्येण समानगुणेन समानगुणभूयिष्ठेन वा ॥ —डह्लन

यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसांनिध्यं स्यात् संनिहितानां वाप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात्, तस्य ये समानगुणाःस्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात् ॥ च० शा० ६।११

क्षीण मांसकी समताके लिये मांसवर्धन द्रव्योंका सेवन करना चाहिये। मांसवर्धन द्रव्य समान (अर्थात् स्वयं मांस), समानगुण अथवा समानगुणभूयिष्ठ होते हैं।

मांसमाप्याय्यते मांसेन (भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥ च० शा ६।१०

शरीरबृंहणे नान्यत् खाद्यं मांसाद् विशिष्यते ॥ च० सू० २७।८७

मांसं बृंहणीयानां, रसस्तर्पणीयानां (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

शुष्यतां क्षीणमांसानां कल्पितानि विधानवित्।

दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः। च० चि० ९।१४९

मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् ॥ च० चि० ८।१५२

मांसकी, परिणाम रूपमें शरीरकी सर्वोत्तम पुष्टि मांस तथा मांसरससे होती है। मांस भी यदि मांसभक्षक प्राणीका हो तो विशेषतः पुष्टिकर होता है। इस अध्यायके प्रारम्भमें हम देख आये हैं कि शरीरका कोई आधा भाग मांस है, और मांसका पौन भाग जल और शेष भाग प्रोटीन होता है। अतः शरीरमें मांसकी पुष्टि प्रोटीनमय आहारोंके सेवनसे होती है। परन्तु जैसा कि बारहवें अध्यायमें पढ़ चुके हैं—प्रोटीनमय आहार भी सब एक जैसे नहीं होते। रचनाकी दृष्टिसे जंगम (प्राणिज) प्रोटीन शरीरगत प्रोटीनके निकटतम होनेसे लघु (सुपच) तथा अल्पमात्रामें बहुगुण होती है। जङ्गमवर्गकी प्रोटीनमें मांस, अण्डा, दूध आदिकी गणना वहीं बता चुके हैं। इन द्रव्योंमें भी समान होनेसे मांस मांसका सर्वोत्तम पोषक है[2]।

१—धमनी अर्थात् नाडी प्राचीनोंके मतसे परीक्षणीय वस्तु है। फलतः नाडी परीक्षा मध्ययुगकी कल्पना नहीं है, इसका यह उत्तम प्रमाण है। यह विषय विस्तारसे २४ वें अध्यायमें देखिये।

२—मांसकी आधुनिकों द्वारा स्तुति मानों शब्दशः संहिता-वचनोंका अनुवाद है। —देखिये—
Meat is the most concentrated and easily assimilable of nitragenous foods.

Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 448.

मांसके अभावमें अथवा द्वेषवश मांस न लेना हो तो, समान गुणवाले स्वयोनिवर्धन द्रव्योंका सेवन करना चाहिये। नव्य परिभाषामें कह सकते हैं कि मांसके अतिरिक्त जो प्रोटीनमय आहार ग्राह्य हों उनका सेवन करना चाहिये। ऐसे द्रव्य दूध तथा उसके बने पदार्थ, धान्योंके ताजे अंकुर आदि हैं।

समानगुणद्रव्योंके भी अभावमें समानगुणभूयिष्ठ, अर्थात् वे द्रव्य जिनमें समानगुण द्रव्य-प्रोटीन अधिकसे अधिक हों, उन द्रव्योंका सेवन पथ्य है। आधुनिक मतसे इन द्रव्योंमें शिम्बीधान्य (चना, मूँग आदि), अनछना आटा, फल, मेवे आदिकी गणना है। मांसक्षयमें भी प्रोटीन-रहित द्रव्य सदा अपथ्य हैं[1]। मांसादि प्रोटीनयुक्त द्रव्योंकी भी अतिमात्रा हितावह नहीं है। इनकी अतिमात्रासे उत्पन्न हानियोंका निर्देश ग्यारहवें अध्यायमें (पृ० २०४ पर) कर आये हैं।

मांसवृद्धिके लक्षण तथा उपाय—

मांसं (अतिवृद्धं) स्फिग्गण्डौष्ठोपस्थोरुबाहुजङ्घासु वृद्धिं गुरुगात्रतां च (आपादयति)॥ सु० सू० १५।१४

मांसकी अतिवृद्धिसे चूतड़, गाल, ओष्ठ, शिश्न, जाँघ, बाहु, पिण्डली इनकी स्थूलता तथा शरीरमें गौरव उत्पन्न होता है।

तेषां (अतिवृद्धानां दोषधातुमलानां) यथास्वं संशोधनं क्षपणञ्च क्षयाद्विरुद्धैः क्रियाविशेषैः प्रकुर्वीत॥ सु० सू० १५।१७

प्रवृद्ध मांसको संशोधन, मांसकी वृद्धि करनेवाले आहारके त्याग और मांसवृद्धिहर कर्मों द्वारा समान स्थितिमें लाना चाहिये।

मांसज रोग—

मांस धातुके दोषदूषित होनेसे मांसज रोगोंका प्रादुर्भाव होता है। मांसज रोग ये हैं :—

अधिमांसार्बुदार्शोऽधिजिह्वोपजिह्वोपकुशगलशुण्डिकालजीमांससंघातौष्ठप्रकोपगलगण्ड-गण्डमालाप्रभृतयो मांसदोषजाः॥ सु० सू० २४।९

... ... शृणु मांसप्रदोषजान्॥
अधिमांसार्बुदं कीलं गलशालूकशुण्डिके।
पूतिमांसालजीगण्ड गण्डमालोपजिह्विका॥
विद्यान्मांसाश्रयान् ... ...॥ च० सू० २८।१३।१५

अधिमांस (मांसपर मांसके अंकुर निकलना), अर्बुद, कील (अर्शस्), अधिजिह्वा, उपजिह्वा, उपकुश (दन्तरोगविशेष ; देखिये अध्याय २२ वाँ), गलशालूक, गलशुण्डिका, अलजी, मांससंघात, ओष्ठप्रकोप, गलगण्ड, गण्डमाला, मांसमें दुर्गन्ध (कोथजन्य) इत्यादि।

अभिष्यन्दीनि भोज्यानि स्थूलानि च गुरूणि च।
मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा॥ च० वि० ५।१५

१—प्रोटीनमय द्रव्योंका प्राचीनोंको स्वरूपतः परिज्ञान था, इस विषयका बारहवें अध्यायमें किया विचार यहाँ पुनः द्रष्टव्य है।

अभिष्यन्दी[1], स्थूल और गुरु पदार्थोंके सेवनसे तथा भोजनान्तर दिवाशयनसे मांसवहाएँ—मांसपेशियोंमें जानेवाली केशिकाएँ—दूषित हो जाती हैं।

मांससार पुरुषके लक्षण—

शङ्खललाटकृकाटिकाक्षिगण्डहनुग्रीवास्कन्धोदरकक्षवक्षःपाणिपादसन्धयः स्थिरगुरुशुभ-मांसोपचिता मांससाराणाम्। सा सारता क्षमां धृतिमलौल्यं वित्तं विद्यां सुखमार्जवमारोग्यं बलमायुश्च दीर्घमाचष्टे॥ च० वि० ८।१०५

अच्छिद्रगात्रं गूढास्थिसन्धि मांसोपचितञ्च मांसेन (सारं विद्यात्)॥

सु० सू० ३५।१६

मांससार अर्थात् शुद्धमांसयुक्त पुरुषके शङ्ख, (कनपटी), कृकाटिका, (ग्रीवा के पीछेका भाग), नेत्र, गाल, हनु, ग्रीवा, स्कन्ध, उदर, काँख, छाती, हाथ-पैर—इनकी सन्धि गूढ़, स्थिर, गुरु और उत्कृष्ट मांसधातुसे व्याप्त तथा शरीर निम्नतासे रहित (भरा हुआ) होता है। जिस पुरुषमें मांससारता हो उसे क्षमा, धैर्य, अचपलता, धन, विद्या, सुख, सरलता, आरोग्य, बल और दीर्घायुसे सम्पन्न मानना चाहिये।

श्रम या थकान—

आहारके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि कर्म (कार्य) के अनन्तर धातुओंमें इन्धन द्रव्योंका दहन होता है; वे ओषजनके साथ मिलकर तापको उत्पन्न करते हैं, तथा मलरूपमें अङ्गाराम्ल और जलका प्रादुर्भाव होता। तक्राम्ल[2] नामक एक द्रव्य अङ्गाराम्ल पूर्वरूप होता है। इसी द्रव्यके संचयसे थकावटका अनुभव होता है। ओषजनकी उपस्थितिमें इस द्रव्यका अङ्गाराम्ल में परिवर्तन होता है। यह अङ्गाराम्ल श्वासक्रिया द्वारा शरीरसे बाहर निकल जाता है। परन्तु तक्राम्लकी उत्पत्ति और विघटनकी प्रक्रियाके साम्यके लिये विश्रामकी आवश्यकता है। विश्रामकालमें शरीरको तक्राम्लके विघटन तथा नष्ट धातुओंकी पूर्त्तिका अवकाश मिलता है। इसका निसर्गसिद्ध प्रमाण हृदयकी पेशी है। हृदयके प्रत्येक संकोच-विकासके पश्चात् नियतकालिक विराम होता है। इसी कारण आमरण हृदयकी शक्ति बनी रहती है।

मांसधातुमें कार्यजनित श्रम तथा उसके शोधनका नैसर्गिक नियम देखते हुए निम्न उपयोगी तत्त्व ज्ञात होते हैं—प्रथम यह कि शारीर या मानस कार्य करते हुए शुद्ध वायु अनिवार्य है। दूसरे, अमुक-अमुक अन्तरपर विश्रामकाल परमावश्यक है। विशेषतः, औद्योगिक क्षेत्रोंमें कार्यकरोंका सामर्थ्य बढ़ानेके लिये अन्य वस्तुओंके साथ इन तत्त्वोंपर भी लक्ष्य देना चाहिये[3]।

१—अभिष्यन्दी द्रव्यका लक्षण निम्न है—

'निजवीर्येण यद्द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः।
धत्ते यद्गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥' शार्ङ्गधर

२—Lactic Acid—लैक्टिक एसिड।

३—देखिये—The same principle implies to the industrial work, where spaced periods of rest increase both the quantity and quality of the work done. *Handbook of Physiology, (31st edition) P. 110.*

व्यायाममें कर्मके आधिक्यवश तक्राम्ल भी अधिक उत्पन्न होता है। उस काल, इसका पूर्वोक्त प्रकारसे तो विघटन होता ही है, साथ ही इसका बड़ा अंश रुधिरधारामें पहुँचा दिया जाता है। वृक्क इसे ग्रहणकर लैक्टेटोंके रूपमें[1] मूत्रमार्गसे बाहर निकाल देते हैं। निष्कर्म दशामें मूत्रमें जितने लैक्टेट होते हैं, कठिन व्यायामकालमें उससे सौगुणा बढ़ जाते हैं। कदाचित् इन तथा अन्य प्रवृद्ध मलद्रव्योंको तत्काल निकालनेके उद्देश्यसे ही विशेषज्ञ व्यायामके अनन्तर मूत्रोत्सर्गकी सलाह देते हैं।

आयुर्वेद-मतसे तक्राम्लकी पित्तवर्गमें गणना की जा सकती है[2]। निद्रा अर्थात् विश्रामके अभावमें पित्तका प्रकोप तथा निद्रासे पित्तका ह्रास होता है, आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी उक्त विवरणसे अंशतः व्याख्या की जा सकती है।

मेदके कार्य—

मेदः स्नेहस्वेदौ दृढत्वं पुष्टिमस्थ्नां च (करोति)॥ सु० सू० १५।५ (१)

मेद मांस धातुसे पुष्ट होता तथा अस्थियोंको पुष्ट करता है। इसके अन्य कार्य स्वेद, शरीरका स्नेहन, मार्दव तथा दृढता संपादन करना है।

शरीरमें मेदधातु[3] छोटे-छोटे अनियतākृति खण्डोंके रूपमें पाया जाता है। ये खण्ड मेदोऽणुओं[4]के समूह होते हैं। मेदोऽणुओंका व्यास $\frac{१}{५००}$ से $\frac{१}{४००}$ इञ्च होता है। इनमें मेद भरा होता है। जीवन दशामें मेद शरीरके ऊष्माके कारण द्रव रहता है। मृत्युके अनन्तर सान्द्र हो जाता है। आधुनिक मतसे मेदकी उत्पत्ति आहारगत स्नेह द्रव्यों, कार्बोहाइड्रेटों तथा नाइट्रोजनरहित की गयी प्रोटीनसे होती है। मेदके विषयमें अधिक विचार ग्यारहवें अध्यायमें (पृ० २१६-२१) तथा उसकी वृद्धि एवं क्षयका विचार इक्कीसवें अध्यायमें कर आये हैं।

मेदोधरा कला—

तृतीतया मेदोधरा ; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति॥

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते॥
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्त्तिता। सु० शा० ४।१२-१३
मांसाद्वसा (प्रसादजा)॥ च० चि० १५।१७

ग्यारहवें अध्यायमें मेद (चर्बी) का शरीरमें प्रयोजन, अनपेक्षित मेदका नाना स्थलोंमें संग्रह तथा विविध कार्य देख आये हैं। अण्डकोष, पलक आदि दो-चार स्थलोंको छोड़कर सर्वत्र त्वचाके नीचे और मांसधरा कलाके ऊपर मेदोधरा कला[5] होती है। मेदके खण्ड इसीमें संसक्त रहते हैं। उदरमें मेदका संग्रह विशेष होता है और वपावहन[6] नामकी कलामें होता है। यह अन्तरावयवोंकी बाह्य आघातों तथा शीतसे रक्षा करता है। ऊष्माके रक्षणसे पाचनक्रिया सुस्थिर रहती है[7]। मेदका

१—Lactates. २—दोषोंके वर्गीकरणका विषय १२ वें अध्यायमें देखिये।
३—Adipose tissue—ऐडिपोज़ टिश्यू। ४—Fat-cells—फैट-सेल्स।
५—Superficial fasia—सुपरफिशल फेशिया। ६—Omentum—ओमेण्टम।
७—ऊष्माका पाचनक्रियापर प्रभाव पन्द्रहवें अध्यायमें (पृ० २७९ पर) देखिये।

विशेष प्रमाण स्थूलास्थियों (नलकास्थियों) में मज्जा नामक होता है। वर्तमान प्रत्यक्षानुसार नलकास्थियोंकी मज्जामें ९६ प्रतिशत मेद होता है। अण्वस्थियोंकी मज्जा सरक्त मेद होता है[1]। मांससूत्रोंके मध्यगत जो मेद होता है, उसे वसा कहते हैं। आयुर्वेदमें वसाको मांससे उत्पन्न उपधातु माना है।

ग्यारहवें तथा प्रस्तुत अध्यायके अब तकके विवरणसे स्पष्ट है कि घृत, तैल, मेद, मज्जा, वसा सब एक ही वर्गके द्रव्य हैं। इस वर्गको स्नेहवर्ग[2] कहते हैं।

मेदके उक्त कार्योंको देखते हुए इसका इष्ट प्रमाणमें शरीरमें रहना आवश्यक है। अन्यथा नीचे लिखे लक्षण होते हैं।

मेदःक्षयके लक्षण—

मेदःक्षये प्लीहाभिवृद्धिः सन्धिशून्यता रौक्ष्यं मेदुरमांसप्रार्थना च ॥ सु० सू० १५।९

प्लीहाभिवृद्धिरत्र मेदःक्षये वृद्धवातेनोदरशून्यतया च प्लीहा स्थानाद् भ्रष्टो वर्धते ॥ —चक्रपाणि

संधीनां स्फुटनं ग्लानिरक्ष्णोरायास एव च।
लक्षणं मेदसि क्षीणे तनुत्वमुदरस्य च ॥ च० सू० १७।६६

मेदका क्षय होनेपर सन्धियोंका टूटना (वेदना विशेष) तथा उनमें शून्यताकी प्रतीति होना; आयास (परिश्रमके विना भी शरीरमें थकान बनी रहना); आँखोंका निष्प्रभ (मुर्झायी-सी) होना त्वचा, केश, कर्ण आदिके मार्गोंकी रूक्षता; पेटका छोटा होना, प्लीहाकी स्थानभ्रंश[3] पूर्वक वृद्धि तथा मेदयुक्त मांसपर प्रीति—ये लक्षण पाये जाते हैं। इन्हें देखकर उचित उपचार द्वारा मेदको समतामें लाना चाहिये।

मेदःक्षयके उपाय—

तत्रापि (मेदःक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः ॥ सु० सू० ६।१०
मेदो मेदसा (आप्याय्यते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥
च० शा० ६।१०

जिन आहारद्रव्योंसे मेदकी पुष्टि होती है, उनका सेवन क्षीण हुए मेदके साम्यके लिए हित है। इनमें भी समान अर्थात् स्वयं मेद मेदोधातुका श्रेष्ठ पोषक है[4]। उसके अभावमें समानगुण

१—नलकास्थियों तथा अण्वस्थियोंमें स्थित मज्जाका रासायनिक स्वरूप समान ही होता है। केवल अण्वस्थियोंमें केशिकाओंका जाल अतिशय व्याप्त होनेसे उनमें स्थित मज्जा रक्तवर्ण प्रतीत होती है, तथा नलकास्थियोंमें स्थित मज्जाका अपना प्राकृत पीतवर्ण दृष्टिगत होता है। सो, दोनोंको आयुर्वेदमें ठीक ही एक ही वर्गमें रखा है। अण्वस्थियोंके सरक्त मेद (लोहित मज्जा) में रक्तकणोंकी उत्पत्ति विशेष प्रमाणमें होती है। इसीसे उसमें केशिकाओंका जाल इतना व्याप्त होता है।

२—Fat—फैट।

३—Floating Spleen—फ्लोटिङ्ग स्प्लीन; या Wandering Spleen—वाण्डरिङ्ग स्प्लीन यह प्रायः प्रजाताओंमें कोष्ठके शैथिल्यके कारण पाया जाता है।

४—च० सू० अ० १३ तथा सु० चि० अ० ३१ में मेद आदि स्नेह द्रव्योंके पानका विषय विस्तारसे देखिए।

किंवा समानगुणभूयिष्ठ द्रव्य सेवनीय हैं। आगे मेदोवृद्धिके प्रकरणमें निर्दिष्ट जो आहार-विहार मेदकी वृद्धि करते हैं, वे ही सम मात्रामें सेवन किये जाकर मेदको सम करते हैं।

मेदकी अतिवृद्धिके लक्षण—

मेदः (अतिवृद्धं) स्निग्धाङ्गतामुदरपार्श्ववृद्धिं कासश्वासादीन् दौर्गन्ध्यञ्च ॥

सु० सू० १५।१४

मेदोधातुकी अतिवृद्धिसे अङ्गोंमें स्निग्धता ; उदर तथा पार्श्वोंकी वृद्धि ; कास, श्वास, आदि रोग तथा शरीरमें दौर्गन्ध्य होता है। इक्कीसवें अध्यायके अन्तमें रसधातुके साम्य-वैषम्यके प्रसंगमें मेदकी वृद्धि, क्षय और साम्यका प्राचीन-अर्वाचीन मतसे विस्तृत विवरण कर आये हैं। इस प्रसंगमें एकवार फिर उसे स्मरण कर लेना चाहिए[1]।

मेदोज रोग—

मेदोधातुके वातादि दोषों द्वारा दूषित होनेपर निम्न लक्षण होते हैं—

ग्रन्थिवृद्धिगलगण्डार्बुदमेदोजौष्ठप्रकोपमधुमेहातिस्थौल्यातिस्वेदप्रभृतयो मेदोदोषजाः।

सु० सू० २४।९

... ... मेदःसंश्रयांस्तु प्रचक्ष्महे।
निन्दितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि च ॥ च० सू० २८।१५

मेदोग्रन्थि[2], मेदोज अण्डवृद्धि और अन्त्रवृद्धि, मेदोवृद्धि, गलगण्ड, अर्बुद, मेदोज ओष्ठप्रकोप (ओष्ठशोथ), सर्व प्रमेह[3], मुख्यतः मधुमेह, अस्तिस्थौल्य, अतिस्वेद, तथा मेदोवृद्धिके प्रकरणमें कहे गये विकार।

अव्यायामाद् दिवास्वप्नान्मेद्यानां चातिसेवनात्।
मेदोवाहीनि दुष्यन्ति वारुण्याश्चातिसेवनात् ॥ च० वि० ५।१६

पूर्वोक्त अव्यायाम, दिवास्वप्न तथा मेदुर (मेदवाले) अन्नपान और मदिराके अति सेवनसे मेदोवाही स्रोत दूषित होकर मेदोज रोग उत्पन्न करते हैं।

मेदःसार पुरुषका स्वरूप—

स्निग्धमूत्रस्वेदस्वरं बृहच्छरीरमायासासहिष्णुञ्च मेदसा (सारं विद्यात्) ॥

सु० सू० ३५।१६

१—मेदस्विताके कारणोंका निम्न पद्यमें मनोरम उल्लेख है—

अचिन्तनाच्च कार्याणां ध्रुवं संतर्पणेन च।
स्वप्नप्रसंगाच्च नरो वाराह इव पुष्यति ॥ च० सू० २१।३४

१—Lipoma—लइपोमा।

२—मधुमेह शब्दसे प्रमेह मात्रके ग्रहणमें प्रमाण देखिये—मधुमेह शब्दः सर्वप्रमेहे मधुमेहविशेषे च वर्तते, यथा तृणशब्दः सर्वतृणे तृणविशेषे च वर्तते ॥ च० चि० ६।५६ पर चक्रपाणि

मधुमेहका कारण अव्यायाम, चिन्ताशून्यता, दिवास्वप्नादिसे उत्पन्न मेदोवृद्धि है। देखिये—च० सू० १७।७८-८०।

वर्णस्वरनेत्रकेशलोमनखदन्तौष्ठमूत्रपुरीषेषु विशेषतः स्नेहो मेदःसाराणाम्। सा सारता वित्तैश्वर्यसुखोपभोगप्रदानान्यार्जवं सुकुमारोपचारतां चाचष्टे ॥ च० वि० ८।१०६

मेदःसार पुरुषका सर्व शरीर विशेषतः वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, स्वेद, दन्त, ओष्ठ, मूत्र तथा पुरीष स्निग्ध और देह विशाल होते हैं। ऐसे पुरुषमें धन, ऐश्वर्य, सुख, दान, भोग, सरलता तथा उपचारों (व्यवहार अथवा चिकित्साकार्य) की सुकुमारता तथा श्रमकी असहिष्णुता जाननी चाहिये।

छब्बीसवाँ अध्याय

अथातोऽस्थिमज्जधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

अस्थियोंका कार्य—

अस्थीनि देहधारणं मज्ज्ञः पुष्टिं च। सु० सू० १५।५ (१)

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम्॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम्॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा॥ सु० शा० ५।२१।२३

शरीरकी स्थिति अस्थिसंथानपर अवलम्बित है। अस्थिपञ्जर[1] शरीरका सुदृढ़ ढाँचा बनाता है। मांसपेशियाँ स्नायुओं द्वारा अस्थियोंपर निबद्ध होती हैं। मर्मोंको अपने अन्तरमें धारणकर अस्थियाँ उनकी बाह्य आघातोंसे रक्षा करती हैं। उदाहरणतः, शिरःकपालोंमें मस्तिष्क तथा पोषणिका ग्रन्थि; पृष्ठवंशमें सुषुम्णा तथा उरःपञ्जरमें हृदय और फुप्फुस संरक्षित हैं। (पीत तथा लोहित मज्जा अस्थियोंके विवरोंमें रहती है।)

अस्थिसंधियाँ—

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु संधयः।
शेषास्तु संधयः सर्वे विज्ञेयाः हि स्थिरा बुधैः॥ सु० शा० ५।२४-२५

कट्यां चेति चकाराद् ग्रीवायामपि चलाः॥ —डल्हन

स्नायुसंज्ञक[2] दृढ पट्टोंसे अस्थियाँ सुबद्ध होती हैं। इनके समागम-स्थलको सन्धि[3] कहते हैं। सन्धियाँ दो प्रकारकी हैं चल और स्थिर। शाखाओं[4], हनु, कटि और ग्रीवामें चल तथा अन्यत्र स्थिर सन्धियाँ होती हैं।

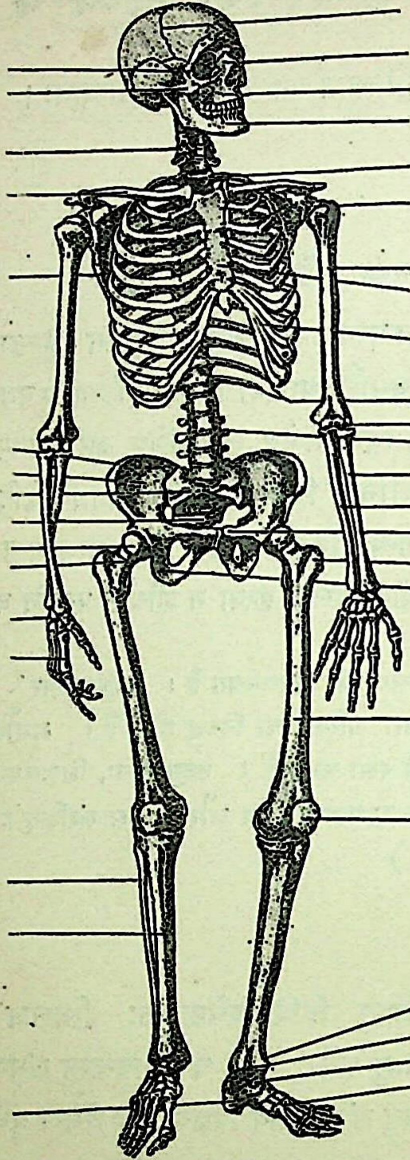
१—Skeleton—स्केलेटन। २—Ligaments—लिगामेण्ट्स।

३—Joint—जौयण्ट; वा Articulation—आर्टीकुलेशन।

४—Extremities—ऐक्स्ट्रिमिटीज।

तरुणास्थि—

अस्थियोंका ही एक सजातीय[१] तरुणास्थि[२] है। यह योजक धातुका एक प्रकार है।



अस्थिपञ्जर। चित्र—४१

१—सुश्रुत, भेड आदि प्राचीन शल्यतन्त्री तरुणास्थियोंकी भी अस्थियोंमें गणना करते हैं। दाँत भी उनके मतसे अस्थिभेद ही हैं। (देखिये सु० शा० २०।२६-२७)। चरक तथा धार्मिक ग्रन्थोंमें तरुणास्थियों और दन्तोंके साथ नखोंका भी अस्थियोंमें अन्तर्भाव है। नवीन रचना शारीरमें तरुणास्थि आदिका अस्थियोंमें परिगणन नहीं किया जाता। हमने सब मतोंका समन्वय करनेके लिये तरुणास्थिको अस्थिका सजातीय कह दिया है। दोनोंकी सजातीयता अगले वर्णनसे विशद होगी। यह विषय प्रत्यक्षशारीर प्रथम भाग तृतीय अध्यायमें देखिये।

२—Cartilage—कार्टिलेज। कई लेखक इसके लिये उपास्थि शब्दका प्रयोग करते हैं। प्राचीन शब्द तरुणास्थिके रहते वह अनावश्यक है।

स्थितिस्थापक और नम्र होता हुआ भी यह सुदृढ होता है। प्रधानतया निम्न स्थानोंपर पाया जाता है। १—यह प्रायः समस्त अस्थियोंका पूर्वरूप होता है। २—क्लोम तथा कण्ठ (स्वरयन्त्र) तरुणास्थिमय होते हैं। ३—पर्शुकाओंका उरःफलकसे सन्धान उपपर्शुका नामक तरुणास्थियों द्वारा होता है। ४—नाकका अग्रभाग, कर्णशष्कुली तथा अधिजिह्विका तरुणास्थिके बने होते हैं। ५—अस्थियोंके सिरे तरुणास्थि-वेष्टित होते हैं। परिधिपर भी तरुणास्थि होती है, जो सन्धिके गर्तको गहरा बनाकर अस्थिभ्रंश होनेसे रक्षा करती है। ६—कशेरुकाओंके मध्यमें तरुणास्थियाँ गद्दी-सी बनाती हैं।

अस्थियोंका स्वरूप—

वर्तमान प्रत्यक्षसे कतिपय शिरःकपालास्थियोंको छोड़कर शरीरकी समस्त अस्थियाँ प्रारम्भमें तरुणास्थिरूप होती हैं। प्रौढ अस्थियोंमें प्रतिशत ५० अंश जल होता है। शेष घन भागमें ६७ प्रतिशत निरिन्द्रिय[१] तथा ३३ प्रतिशत सेन्द्रिय[२] होता है। निरिन्द्रिय द्रव्य प्रधानतया सुधा और प्रस्फुरकका बना सुधा प्रस्फुरित[३] होता है। शेष द्रव्य भी सुधा और प्रस्फुरकके ही समास होते हैं। निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय द्रव्य परस्पर ऐसे संयुक्त होते हैं कि रासायनिक उपायोंसे दूसरेको क्षति न पहुँचाते हुए एकको अस्थिसे पृथक् कर लिया जाय तो भी दूसरेकी उपस्थितिके कारण अस्थिका अपना आकार बना रहता है।

तरुणास्थिसे अस्थिरचना—

शिशुकालिक तरुणास्थियोंसे अस्थिरचनाका कार्य दो प्रकारके कोषोंके अधीन है। प्रथम प्रकारके कोष ढो-ढोकर सुधाके निक्षेपका कार्य करते हैं। दूसरे प्रकारके कोष सुधाके इस संग्रहके अनावश्यक अंशका भक्षणकर अस्थिको बाह्य आकृति देते हैं, उनकी आभ्यन्तर सच्छिद्रता प्रस्तुत करते हैं तथा नलकास्थियोंके मज्जा-विवरोंकी रचना करते हैं।

बच्चोंमें अस्थियोंका यथोक्त निर्माण सम्पूर्ण न होनेसे वे मृदु होती हैं। आघातवश वे टूटती हैं तो भङ्ग आरपार नहीं होता; किन्तु हरी वृक्षशाखाके सदृश आधी चौड़ाई तक टूटतीं और मुड़कर रह जाती हैं[४]। उधर, वृद्धोंकी अस्थियोंमें पोषणकी अल्पतावश सुधाका प्रमाण न्यून हो जानेसे वे भङ्गुर हो जाती हैं और कभी-कभी अल्पमात्र कारणसे टूट जाती हैं। उनका पुनः सन्धान भी दुष्कर होता है। जिन वयःस्थ या तरुण स्त्री-पुरुषोंमें एक से अधिक बार भग्नास्थिका इतिहास पाया जाय उनमें भी अस्थियोंकी पुष्टिकी अल्पताका (केल्शियमके अयोगका) निदान करना चाहिये।

१—Inorganic—इनौर्गैनिक। २—Organic—और्गैनिक। निरिन्द्रिय तथा सेन्द्रिय शब्द प्राचीन हैं। देखिये—

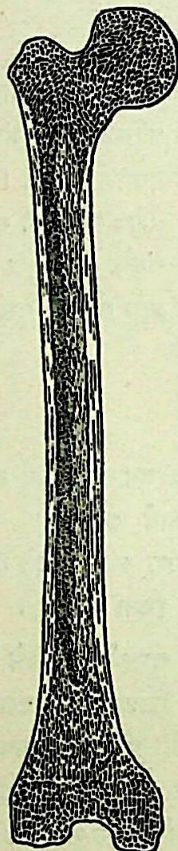
'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ च० सू० १।४८

३—Calcium Phosphate—कैल्शियम फौस्फेट।

४—अंग्रेजीमें अतएव इस भङ्गको Green stick fracture—ग्रीन स्टिक फ्रैक्चर—कहते हैं। 'आभुग्नमविमुक्तास्थि वक्रम्' (सु० नि० १५।१०) में इस भङ्गको वक्र कहा है। 'तरुणास्थीनि नम्यन्ते।' (सु० नि० १५।१६); 'नम्यन्ते वक्रीभवन्ति, एतेन वक्रलक्षणं भग्नमुक्तम्।' (डह्लन) यहाँ उसे नमन भी कहा है तथा तरुणास्थियोंमें पाया जानेवाला कहा है।

अस्थियोंका दो प्रकारका सङ्घात—

चर्मचक्षुओंसे देखनेपर अस्थियोंका सङ्घात (रचना) दो प्रकारका पाया जाता है—प्रथम घनसङ्घात[१], द्वितीय शुषिरसङ्घात[२]। घनसङ्घात निबिड होता है और शुषिरसङ्घात छिद्रमय। नलकास्थियोंका काण्ड[३] घनसङ्घातमय होता है। इनके मुण्ड घनसङ्घातके पतली स्तरसे वेष्टित होते हैं; अन्दरका भाग शुषिरसङ्घातमय होता है। कपालास्थियों और अन्त्रस्थियोंमें भी बाहर घनसङ्घातका पतला आवरण तथा अन्दर शुषिरसङ्घात होता है। अस्थियोंका उपरिभाग एक कलासे आवृत होता है; जिसमें होकर धमनियाँ और सिराएँ जाती-आती हैं। इसे अस्थिधरा कला[४] कहते हैं।



अस्थियोंका घनसङ्घात, शुषिरसङ्घात तथा मज्जा-विवर। चित्र—४२

स्वास्थ्यके लिये शरीरमें अस्थि धातुका साम्य आवश्यक है। उसके ज्ञानके लिये अस्थिके क्षय-वृद्धिके लक्षण जानने चाहिये।

अस्थिक्षयके लक्षण—

अस्थिक्षयेऽस्थितोदो दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च॥ सु० सू० १५।९

दन्तभङ्गोऽपि तत्प्रभवास्थिक्षयादेव॥ —चक्रपाणि

१—Compact tissue—कौम्पैक्ट टिश्यु; या Dense tissue—डेन्स टिश्यु।

२—Spongy tissue—स्पञ्जी टिश्यु; या Cancellous tissue—कैन्सलस टिश्यु।

३—Shaft—शैफ्ट। ४—Periosteum—पेरीऔस्टियम।

रौक्ष्यं देहस्य दन्तनखानां च ; दन्तादीनामस्थिमयत्वाद् भङ्गः ॥ —डल्हन

केशलोमनखश्मश्रु द्विजप्रपतनं श्रमः ।
ज्ञेयमस्थिक्षये लिङ्गं संधिशैथिल्यमेव च ॥ च० सू० १७।६७

अस्थि अर्थात् अस्थिके कारणभूत द्रव्योंका क्षय (ह्रास) होने पर अस्थियोंमें तोद ; सामानयोनि (समान मूल द्रव्योंसे उत्पन्न) होनेसे दन्त और नखकी भंगुरता वा भङ्ग और पतन ; दन्तनख तथा समस्त शरीरको रूक्षता ; केश, लोम और श्मश्रुका झड़ना ; अनायास श्रम (थकान) और संधियोंकी शिथिलता—ये लक्षण होते हैं ।

गर्भज फक्करोग[1] भी नवीन अन्वेषणानुसार अस्थिक्षयका ही विकार है ।

वालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति ।
स फक्क इति विज्ञेयः ॥ का० चि०

इस रोगमें अस्थियोंकी पुष्टि अपूर्ण होती है ; जिससे बालक एक वर्ष या अधिक आयुका होनेपर भी चलने-फिरने या हिलने-डुलनेकी शक्ति और प्रवृत्ति नहीं रखता[2] । वसस्य स्त्रियोंमें, फक्करोगसे मिलता मृद्वस्थि[3] रोग पाया जाता है । इसमें प्रारम्भमें शाखाओंका दौर्बल्य और शरीरमें कभी कहीं, कभी कहीं वेदनाएँ होती हैं । कुछ मासमें अस्थियाँ मुड़-तुड़ जाती हैं ; अकस्मात् टूट भी सकती हैं ।

चिकित्साक्रमकी दृष्टिसे अस्थिभग्नको भी अस्थिक्षयका ही विकार समझना चाहिये । गर्भिणियोंमें अस्थियोंके घटक तत्त्वोंका एक अंश भ्रूणकी अस्थियोंकी रचनामें चला जाता है । उनके दाँतोंका भुरभुरापन अस्थिक्षयका चिह्न है

अस्थिक्षयकी चिकित्सा—

तत्रापि (अस्थिक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतिकारः) ॥ सु० सू० १५।१०

अस्थि तरुणास्थ्ना (भूयस्तरमाप्याय्यतेऽन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥ च० शा० ६।१०

क्षीण अस्थिके साम्यके लिये उसके योनि नाम कारणभूत द्रव्योंकी वृद्धि करनेवाले द्रव्योंका उपयोग करना चाहिये । ऐसे द्रव्य, समान अर्थात् स्वयं अस्थि, समानगुण या समानगुणभूयिष्ठ तीन प्रकारके हो सकते हैं । इनमें समान द्रव्य अस्थिका अस्थिवृद्धिके लिये उपयोग सर्वोत्कृष्ट है ।

१—Rickets—रिकेट्स । सुश्रुतने इसीको जन्मवलप्रवृत्त पङ्गु कहा है ।

२—फक्करोगके सम्बन्धमें अन्य ज्ञातव्य १४ वें अध्यायमें (पृ० २६०-६२) पर देखिये । काश्यपसंहिता फक्कचिकित्सिताध्यायमें इसके हेतु, स्वरूप और चिकित्साका उत्तम वर्णन है । यह स्मरण रखना चाहिए कि जैसा कि पृ० २६० पर भी कह आये हैं—काश्यपका फक्क नव्यमतानुसार तीन रोगोंका वर्ग है । इनमें रोगज फक्क आधुनिकोंका पॉलिओमायलाइटिस (Polio myelitis या Infantile Paralysis—इन्फेण्टाइल पेरेलिसिस) होना चाहिए । कारण, काश्यपने इसे ज्वर, अतिसार आदिसे उत्पन्न कहा है । शिशु पहले स्वस्थ होता है, पर रोगके पश्चात् पंगु हो जाता है । इसकी चिकित्सामें तीन पहियोंकी गाड़ी (त्रि-चक्र फक्क-रथक) का विधान है, जो आधुनिकोंके रीहेबिलिटेशन (Rehabilitation) की स्मृति कराता है । गर्भज फक्क या सुश्रुतका जन्मबलप्रवृत्त पंगु रिकेट्स होना चाहिए । शेष फक्क नवीनोंके मेरेस्मस् (Marasmus) का वाचक है । बाल-कार्श्य भी इसे कह सकते हैं ।

३—Osteomalacia—औस्टिओमैलेशिया ।

अस्थिखण्डोंको १०-१५ दिवस गोमूत्रमें डुबोये रखकर एक दो गजपुट देनेसे अस्थिभस्म तय्यार हो जाती है। यह गर्भज पक्वरोगकी उत्तम औषध है। कछुएकी पीठकी भस्म भी अच्छी है[१]। चरक तरुणास्थियोंके प्रयोगको श्रेष्ठ कहता है।

समान द्रव्यके अभावमें समानगुण अर्थात् ऐसे द्रव्योंका प्रयोग करना चाहिये, जो छुधामय हों। आजकल अर्वाचीन औषध विक्रेता (फार्मेसियाँ) अनेक प्रकारके छुधाप्रधान अस्थिपोषक औषध तय्यार करते हैं। आयुर्वेदिक गोदन्तीभस्म फक्क तथा अन्य क्षीणास्थिविकारोंपर सुन्दर काम करती है[२]। भग्नास्थिपर पीतवराटिकाभस्मकी प्रशंसा है[३]।

समान और समानगुण द्रव्योंके पश्चात् समानगुणभूयिष्ठ अस्थिपोषक द्रव्योंका स्थान है। ये वे आहार द्रव्य हैं जिनमें छुधा वा प्रस्फुरक प्रभूत होता है। दूध, मठा, पनीर तक्र, अण्डेका तरल, मेवे, शिम्बीधान्य (मूंग, चना आदि), सर्व फल तथा ताजे पत्रशाक—इनमें छुधा प्रभूत होती है। इनमें भी दूध छुधाका सर्वोत्तम उपादान है।

दूध, मठा, अण्डे, सोयाबीन, दालें, मेवे, गेहूँ, जई, जौ, हाथछँटा चावल, बाजरा, सलगम, मूली, ककड़ी, गाजर, बन्दगोभी, मांस, मछली इत्यादिमें प्रस्फुरक प्रभूत होता है।

परन्तु भोजनमें छुधा और प्रस्फुरक पर्याप्त हों, पर जीवनीय "डी" अयोग या हीनयोग हो तो शरीर इनका लाभ नहीं उठा सकता। अतः जीवनीय "डी" के उपादानभूत घी, दूध, मछलीके तेल आदिका सेवन, किंवा उसके उत्पादक सूर्यप्रकाशका सेवन करना योग्य है[४]।

अस्थिवृद्धिके लक्षण—

अस्थि (अतिवृद्धं) अध्यस्थीनधिदन्तांश्च (आपादयति)॥ सु० सू० १५।१४

चकारात् केशनखयोरतिवृद्धिर्ज्ञेया॥ —डल्हन

१—कैंकड़ेकी अस्थि या कछुएकी पीठकी भस्म राजयक्ष्मामें भी अति हितावह है; ये फुप्फुसीय व्रणोंके रोपणके लिये आवश्यक सुधा (कैल्शियम) प्रस्तुत करती हैं। राजयक्ष्मामें मुक्ता, प्रवाल आदिके प्रयोगका भी यही आशय है।

स्मरण रहे, पाश्चात्य चिकित्सकोंके अनुकरणोंमें अस्थिक्षय आदि अस्थिरोगोंमें कैल्शियम के कल्प देना हो तो प्रवाल-मुक्ता-सदृश शीतवीर्य द्रव्य न देना चाहिए। कारण, ये अपने वीर्यसे वातकी वृद्धि करते हैं। और यह वात अस्थियोंमें विशेषतया रहता है। जैसा कि, आगे दोषोंके सामान्य प्रकरणमें दोषों और धातुओंके आश्रयाश्रयिभावके प्रसंगमें देखेंगे अस्थिवर्धक द्रव्य श्लेष्माके वर्धक हों तभी अस्थिगत (या अन्य) वातको शान्त करते हैं। इसीसे परम्परानुसारी वैद्य स्निग्ध, बृंहण औषधोंका ही बाह्याभ्यन्तर व्यवहार करते हैं—प्रवाल-मुक्ताका नहीं। प्राचीनोंने भी ऐसा ही विधान किया है—

अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पञ्चकर्माणि भेषजम्।
बस्तयः क्षीरसर्पींषि तिक्तकोपहितानि च॥ च० सू० २८।२६

अस्थिक्षयजान् बस्तिभिः तिक्तोपहितैश्च क्षीरसर्पिभिः॥ अष्टाङ्गसंग्रह

२—रासायनिक दृष्टिसे गोदन्ती सुधा और गन्धकका समास है। इसका रासायनिक नाम Calcium Sulphate—कैल्शियम सल्फेट (सुधा गन्धित) तथा लौकिक नाम Gypsum—जिप्सम् है। इसकी भस्म Plaster of Paris—प्लास्टर औफ पेरिस कहाती है।

३—देखिये भैषज्यरत्नावली।

४—देखिये अध्याय चौदहवां। ऊपर दी टिप्पणीमें धृत वचनोंमें जो स्निग्ध घृत विहित हैं उनमें जीवनीय डी की विद्यमानतासे गुण होना संभव है। औषध द्रव्यों से जो गुण होता है, वह अलग।

अस्थि धातुकी अति वृद्धिसे अध्यस्थि अर्थात् अस्थिका स्वाभाविक आकारसे अधिक मोटा होना अथवा अस्थ्यर्बुद[1]; अधिदन्त (दाँत अधिक होना); तथा केश और नखकी अतिवृद्धि[2] ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अस्थिदोषज रोग और उनका कारण—

व्यायामादतिसंक्षोभादस्थ्नामतिविघट्टनात्।
अस्थिवाहीनि दुष्यन्ति वातलानां च सेवनात्॥ च० वि० ५।१७

अध्यस्थ्यधिदन्तास्थितोदशूलकुनखप्रभृतयोऽस्थिदोषजाः॥ सु० सू० २४।९

अध्यस्थिदन्तौ दन्तास्थिभेदशूलं विवर्णता।
केशलोमनखश्मश्रु दोषाश्चास्थिप्रदोषजाः॥ च० सू० २८।१६

अति व्यायाम, अति मानसिक क्षोभ, अस्थियोंकी अति रगड़ या संघर्ष तथा वातल आहार-विहारका अति सेवन इनसे अस्थिवाहिनियाँ दूषित होकर अस्थिज विकारोंको उत्पन्न करती हैं। अध्यस्थि, अधिदन्त, दाँत और अस्थिमें टूटने या चुभनेकी सी व्यथा, शूल, विवर्णता, केश, लोम, नख, श्मश्रु इनके विकार अस्थिदोषज होते हैं।

अस्थिसार पुरुषके लक्षण—

पार्ष्णिगुल्फजान्वरत्निजत्रुचिबुकशिरःपर्वस्थूलाः स्थूलास्थिनखदन्ताश्चास्थिसाराः। ते महोत्साहाः क्रियावन्तः क्लेशसहाः सारस्थिरशरीरा भवन्त्यायुष्मन्तश्च॥ च० वि ८।१०७

महाशिरःस्कन्धं दृढदन्तहन्वस्थिनखमस्थिभिः (सारं विद्यात्)॥ सु० सू० ३५।१६

उत्कृष्ट अस्थिवाले पुरुषोंकी एड़ी, गिट्टा, घुटना, मुट्ठी, कन्धा, ठोडी, शिर, पर्व ये तथा अस्थि, नख और दन्त स्थूल होते हैं। ये अस्थिसार पुरुष उत्साही, क्रियाशील, क्लेशसहिष्णु, स्थिर और बली शरीरवाले या दीर्घायु होते हैं।

नव्यमतानुसार अस्थिक्षयका विचार चौदहवें अध्यायमें तथा अस्थिवृद्धि और अस्थिसार पुरुषोंका उल्लेख बीसवें अध्यायमें (पृ० ४४४-४५ पर) कर आये हैं। इन प्रकरणोंको एक बार पुनः देखा जा सकता है।

अस्थियोंका एक भेद–दन्त—

दशनास्तु रुचकानि॥ सु० शा० ५।२०

आयुर्वेदमतसे दन्तोंकी भी अस्थियोंमें गणना है। अस्थिके पाँच भेदोंमें ये रुचक हैं। शार्ङ्गधर इन्हें अस्थिका उपधातु कहता है[3]।

१—Osteoma—औस्टिओमा। तरुणास्थियोंके अर्बुद Chondroma—कौंड्रोमा; Ecchondroses—एकौंड्रोसिस्।

२—केशोंकी अतिवृद्धिको अंग्रेजीमें Hypertrichosis—हायपरट्रायकोसिस्, Hypertrichiasis—हायपरट्रिकायसिस्, या Extreme Hairiness—एक्स्ट्रीम हेअरीनेस् कहते हैं।

३— स्तन्यं रजश्च नारीणां काले भवति गच्छति।
शुद्धमांसभवः स्नेहः साः सा वसा परिकीर्तिता॥
स्वेदो दन्तास्तथा केशास्तथैवौजश्च सप्तमम्।
इति धातुभवां ज्ञेया एते सप्तोपधातवः॥ शा० पू० ५।१५।१६

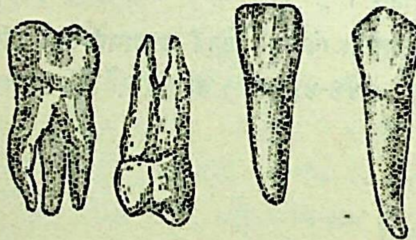
आधुनिक विद्वान् दन्तोंकी अस्थियोंमें गणना नहीं करते। तथापि, रचनाका साम्य देखते हुए दोनोंको समान श्रेणीमें रखना दोषपात्र नहीं है। अस्थिधातुके सदृश होनेसे (उपमितो धातुना उपधातुः) इसे अस्थिका उपधातु कहना और भी संगत है।

दन्तोंका स्वरूप—

प्रत्येक दन्तके तीन अवयव होते हैं—शीर्ष, ग्रीवा और मूल। दन्तवेष्ट (मसूड़े[1]) के उपरिवर्ती अंशका नाम शीर्ष[2] है। इसके नीचेका संकुचित प्रदेश ग्रीवा[3] और शेष मूल[4] कहाता है। दन्तके मध्यमें एक विवर होता है, जो चारों ओर दन्तके प्रधान कठोर भागसे वेष्टित होता है। यह कठोर भाग रचनामें अस्थियोंके घन संघातके तुल्य होता है। परन्तु इसमें पार्थिव अंश कहीं अधिक (७२ प्रतिशत) होता है, जो इसे विशेष कठिन बनाये हैं। जल केवल १० प्रतिशत होता है। पार्थिव द्रव्योंमें प्रधान सुधा प्रस्फुरित[5] तथा सुधा कर्बनित[6] होते हैं। इस कठोर भागको अंग्रेजीमें डेण्टीन या आइवरी[7] कहते हैं। प्रत्येक दन्तका शीर्ष भाग दन्तवल्क[8] नामक पदार्थसे आवृत होता है। दन्तवल्क शरीरमें सबसे कठिन द्रव्य है। इसमें जलीय अंश केवल २ या ३ प्रतिशत होता है! दन्तोंका मूलभाग अपेक्षया मृदु सीमेंट[9] नामक पदार्थसे वेष्टित होता है। दन्तोंकी रचना, पुष्टि और सुस्थितिके लिए भी वे ही द्रव्य आवश्यक हैं जो अस्थिके लिए। दाँतोंका कार्य भोज्य पदार्थोंका चर्वण है।

इह खलु नृणां द्वात्रिंशद् दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः स्वरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषाः द्विजाः ॥ का० सू० २०।४

वयःस्थोंमें कुल दन्त बत्तीस होते हैं। इनमें बीस एक वार होकर गिर जाते हैं और उनके स्थानपर नये आते हैं। इन्हें 'द्विज' कहते हैं। शेष आठ (और चार ज्ञानदन्त) एक ही वार उत्पन्न होते हैं।



चार प्रकार के दन्त। चित्र—४३

१—दन्तवेष्ट या दन्तमांस प्राचीन नाम है। देखिये—सु० नि० १६।१४।१५
२—Crown—क्राउन। ३—Neck—नेक।
४—Root—रूट। ५—Calcium Phosphate—कैल्शियम फौस्फेट।
६—Calcium Carbonate—कैल्शियम कार्बोनेट। ७—Dentine या Ivory.
८—Enamal—इनेमल। दन्तवल्क प्राचीन संज्ञा है। देखिये—
'दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह।
ज्ञेया कपालिका सैव दशनानां विनाशिनी ॥ सु० नि० १६।३३
९—Cement.

दाँतोंके भेद—

ऊपर और नीचे मध्यरेखाके दोनों ओर आठ-आठ दांत नियत स्वरूप और क्रमवाले होते हैं ; यथा—मध्यरेखाके पार्श्वमें प्रथम दो दन्त तीक्ष्ण धारवाले होते हैं। इन्हें कर्तनक[1] कहते हैं। इसके बाहिरकी ओर एक रदनक[2] (कीला) नामका होता है। इनके पार्श्वमें दो अग्रचर्वणक[3] होते हैं। अन्तिम तीन पश्चिम चर्वणक[4] कहाते हैं। अष्टम दन्त 'अक्लकी दाढ़'[5] कहाता है और यौवनारम्भमें उदित होता [6]।

मज्जाका कार्य—

मज्जा स्नेहं बलं शुक्रपुष्टिं पूरणमस्थ्नां च करोति ॥ सु० सू० १५।५(१)

मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ॥ सु० शा० ४।१२।१३

ग्यारहवें तथा पचीसवें अध्यायमें स्नेहोंके कर्म एवं मेदधातुके भेद बताते हुए कह आये हैं कि मज्जा[7] मेद किंवा स्नेहका ही एक प्रकार है। इसमें ९६ प्रतिशत मेद होता है। कर्म-भेदसे इसे भिन्न धातु कहा है। यह अण्वस्थियों और नलकास्थियोंके मुण्डोंके शुषिरों तथा नलकास्थियोंके मध्य विवरमें रहती है। इसका कर्म शुक्रधातुका पोषण, शरीरका स्नेहन और बलसंपादन है।

मज्जाका स्वरूप—

आधुनिक क्रियाशारीरमें मज्जाके दो विभाग किये जाते हैं—पीत मज्जा[8] तथा लोहित मज्जा[9]। पीत मज्जा नलकास्थियोंके मध्यविवर[10] में होती है। इसमें मेदोऽणु बहुत होते हैं। इन्हीके कारण इसका वर्ण पीत होता है।

लोहित मज्जा अस्थियोंके शुषिर संघातमें, तथा गर्भ और शिशुमें नलकास्थियोंके विवरमें भी होती है। इसमें केशिकाओंके प्रतान अत्यधिक होते हैं, जिनके कारण इसका अपना वर्ण भी अति रक्त होता है। इसमें अनेक प्रकारके कोष पाये जाते हैं। इनका ७५ प्रतिशत मज्जाणु[11] होते हैं। यही कालक्रमसे रक्तके ल्यूकोसाइट नाम[12] क्षत्र कण बन जाते हैं। शेष २५ प्रतिशत ऐरिथ्रोब्लास्ट[13] संज्ञक अणु होते हैं। रक्तके रक्तकण इन्हीका परिणाम (विकसित रूप) होते हैं।

रक्तके रक्त तथा क्षत्र कणोंका कर्म हम रक्ताध्यायमें देख चुके हैं। उन्हें ध्यान में रखते हुए आयुर्वेदके इस मतकी कुछ अंश तक व्याख्या की जा सकती है कि मज्जाका कर्म बल देना है। आयुर्वेदमें इसे शुक्रका पूर्वधातु कहा है। इससे भी यह बलका हेतु है।

१—Incisors—इनसाइज़र्स। २—Canine—केनाइन।

३—Bicuspid or Premolar—बाइकस्पिड या प्रीमोलर।

४—Molar—मोलर। ५—Wisdom Tooth—विज़्डम टुथ।

६—काश्यपसंहिता सूत्रस्थानके बीसवें अध्यायमें दन्तसम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य बातें हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होतीं।

७—Marrow—मैरो। ८—Yellow marrow—येलो मैरो।

९—Red marrow—रेड मैरो। १०—Medullary cavity—मिडलरी केविटी।

११—Marrow-cells—मैरो-सेल्स। १२—Leucocytes.

१३—Erythroblasts.

मज्जक्षयके लक्षण—

मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च ॥ सु० सू० १५।९

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च ।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम् ॥ च० सू० १७।६८

शरीरमें मज्जाका अपेक्षित प्रमाण न रहनेसे शुक्रकी न्यूनता; अस्थियों और सन्धियोंका फूटना; अस्थियोंमें शून्यता, दुर्बलता तथा लघुता (छोटापन—अपूर्ण वृद्धि) ये लक्षण उपस्थित होते हैं।

मज्जक्षयकी चिकित्सा—

मज्जा मज्ज्ञा (आप्यायते भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः) ॥ च० शा० ६।१०

क्षीण मज्जाकी भी पुष्टिके लिये स्वयोनिवर्धन स्नेह द्रव्यों—विशेषतः मज्जाका उपयोग करना चाहिये। मज्जाके पानकी आयुर्वेदमें बड़ी महिमा है।—

बलशुक्ररसश्लेष्म मेदोमज्जविवर्धनः ।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहने मतः ॥ च० सू० १३।१७

मज्जा बल, शुक्र, रस, श्लेष्मा, मेद और मज्जाकी वृद्धि करनेवाला, विशेषतः अस्थियोंका बलप्रद तथा उत्तम स्नेहन है।

मज्जाकी अतिवृद्धिके लक्षण—

मज्जा (ऽतिवृद्धः) सर्वाङ्गनेत्रगौरवं च (आपादयति) ॥ सु० सू० १५।१४

मज्जा अत्यधिक हो जाय तो सर्वाङ्गमें विशेषतः नेत्रमें गौरव प्रतीत होता है।

मज्जदोषज रोग—

मज्जाके वातदिदोषदूषित होनेसे नीचे लिखे मज्जदोषज रोग होते हैं—

तमोदर्शनमूर्च्छाभ्रमपर्वस्थूलमूलारुर्जन्मनेत्राभिष्यन्दप्रभृतयो मज्जदोषजाः ॥
सु० सू० २४।९

रुक् पर्वणां भ्रमो मूर्च्छा दर्शनं तमसस्तथा ।
अरुषां स्थूलमूलानां पर्वजानां च दर्शनम् ॥
मज्जप्रदोषात् ॥ च० सू० २८।१७।१८

आँखोंके आगे अन्धेरा छाना, मूर्च्छा, भ्रम, (चक्कर), अस्थियोंके पर्वोपर विशाल व्रण होना, आँख आना, पर्वभेद इत्यादि।

उत्पेषादत्यभिष्यन्दादभिघातात् प्रपीडनात् ।
मज्जवाहीनि दुष्यन्ति विरुद्धानां च सेवनात् ॥ च० वि० ५।१८

कुचली जानेसे, आघातसे, दब जानेसे, शोथसे या विषम आहारके सेवनसे मज्जवहाएँ (मज्जाकी रक्तवाहिनियाँ) दूषित होकर मज्जज रोगोंका कारण होती हैं।

मज्जसार पुरुषके लक्षण—

मृद्वङ्गा बलवन्तः स्निग्धवर्णस्वराः स्थूलदीर्घवृत्तसन्धयश्च मज्जसाराः। ते दीर्घायुषो बलवन्तः श्रुतवित्तविज्ञानापत्यसंमानभाजश्च भवन्ति ॥

च० वि० ८।१०८

अकृशमुत्तमबलं स्निग्धगम्भीरस्वरं सौभाग्योपपन्नं महानेत्रं च मज्ज्ञा (सारं विद्यात्) ॥ सु० सू० ३५।१६

मज्जसार पुरुष मृदु तथा पुष्ट अङ्गोंसे भूषित, बलसम्पन्न; स्निग्ध वर्ण और स्निग्ध-गम्भीर वाणीवाले तथा स्थूल, विशाल और गोल सन्धि तथा विपुल नेत्रों वाले होते हैं। मज्जसारता दीर्घायु, बल, श्रुत (शास्त्र या श्रवणजन्य ज्ञान), सौभाग्य, वित्त, शिल्प, अपत्य और सम्मानकी सूचक है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

अथातः शुक्रधातुविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

शुक्रधातुके कार्य—

शुक्रं धैर्यं च्यवनं प्रीतिं देहबलं हर्षं (करोति) बीजार्थञ्च ॥ सु० सू० १५।५

धैर्यं शौर्यं शूरत्वं, अत एव क्लीबा अधीराः; देहबलमुत्साहोपचयलक्षणम् ॥ —डल्हन

धैर्य नाम सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंकी उपस्थितिमें भी निर्विकारता ; शूरता तथा निर्भयता ; मैथुनके समय सुखच्युति ; स्त्रियोंपर पुरुषकी तथा स्त्रियोंकी पुरुषपर प्रीति ; शरीरमें बल नाम उत्साह और पुष्टि ; हर्ष (कामकी प्रबलता) ; और गर्भोत्पत्तिके लिये बीजका[1] प्रदान—ये कर्म शुक्रके हैं ।

शुक्रका स्थान—सर्वाङ्ग—

अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयाधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥[2]
यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षौ रसो यथा ।
शीरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद् भिषग्वरः ॥ सु० शा० ४।२१
रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥ च० चि० २ पा० ४।४६

संस्पर्शने इति संस्पर्शनवति, तेन केशादौ संस्पर्शनाव्याप्तेः शुक्रमपि नास्तीति दर्शयति ॥

—चक्रपाणि

कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात् तत् संप्रवर्तते ॥ सु० शा० ४।२३
विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥
तदेव चेष्ट्युवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात् स्पर्शात् संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ॥ सु० नि० १०।१९।२१

१—Spermatozoon—स्पर्मेटोजोऑ—बहुवचनमें Spermatozoa—स्पर्मेटोजोआ ।

२—यह वचन गोभिल गृह्यसूत्रका (२ ८।८१) है । निरुक्त नैघण्टुक काण्ड ३।१।४ में उद्धृत है । अ० हृ० उ० १।३ में तथा संस्कार-ग्रन्थोंमें जात कर्म के समय शिशुके कर्णमें इस मन्त्रके उच्चारण का विधान हुआ है । वात्सल्यरसका यह उत्तम दृष्टान्त है । पिता प्रेमपुलकित हो कहता है—'वत्स, तू मेरे अङ्ग-अङ्गसे उत्पन्न हुआ है, मेरे हृदयसे तूने जन्म लिया है । तू मेरा पुत्रसंज्ञक आत्मा ही है । वह तू सौ बरस जी ।' आयुर्वेदमें शुक्रको सर्वदेहाश्रित कहा है, वह प्राचीन-संहितामूलक सिद्धान्त है, यह इससे स्पष्ट है । इसकी उपपत्ति उनतीसवें अध्यायमें स्तन्यके प्रकरण में देखिये ।

जिस प्रकार ईखमें रस, दूध या दहीमें घी तथा तिलमें तेल अलक्षित रूपसे सर्वत्र ओतप्रोत होता है, वैसे शुक्र मनुष्यके सर्वाङ्गमें व्याप्त होता है। इसीसे मृतक परीक्षामें शुक्र स्थानविशेषपर सञ्चित नहीं पाया जाता। जब मनुष्य इष्ट स्त्रीका स्मरण, दर्शन, शब्दश्रवण किंवा स्पर्श करता है तो प्रहर्षका अनुभव होता है और शुक्र अङ्ग-अङ्गसे खिचकर मूत्रमार्गसे प्रवृत्त होता है।

बालकोंमें भी शुक्र होता है—

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम्॥ च॰चि॰ २ पा॰ ४।३९

यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुं, नैव नास्तीति; अथ चास्ति, सतां भावानामभिव्यक्तिरिति कृत्वा, केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते; स एव विवृतपत्रकेशरे पुष्पे कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति; एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति; रोमराज्यादयश्च विशेषा नारीणाम्॥ सु॰सू॰ १४।१८

यह शुक्र बालकों और कन्याओंमें भी होता है, परन्तु अव्यक्त रूपमें। जिस प्रकार कलीमें गन्ध अनभिव्यक्त दशामें रहता है, वैसे ही शुक्र बालकोंमें रहता है। यौवन उपस्थित होनेपर बालकोंमें शुक्रका प्रादुर्भाव तथा कन्याओंमें रोमराजि आदि चिह्न प्रकट होते हैं।

इस विषयमें नव्यमतानुसार स्थिति यह है, कि जबतक शरीरका विकास सम्पूर्ण नहीं हो जाता तबतक थायमस नामक अन्तर्ग्रन्थिके रसके प्रभावसे वृषण-ग्रन्थियोंका पुंबीजोत्पत्तिका कार्य रुका रहता है। तबतक वे केवल शरीरके विकासमें भाग लेनेवाले अन्तःस्रावको ही उत्पन्न करती हैं। (देखिये पृष्ठ ४४१)।

स्त्रीशुक्र—

स्त्रीणां शुक्रं न गर्भाय भवेद् गर्भाय चार्तवम्[1]॥

स्त्रियोंमें भी शुक्र होता है, पर वह गर्भोत्पत्तिके योग्य नहीं होता[2]। अथवा—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन।
मुञ्चतः शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते॥ सु॰ शा॰ २।४७

कभी कभी दो नारियोंका अनैसर्गिक समागम होनेसे उनके शुक्रसे गर्भ संभव भी होता है, परन्तु वह गर्भ अस्थिशून्य होता है (?)।

शुक्रसे गर्भोत्पत्ति—

शुक्राद् गर्भः प्रसादजः॥ च॰ चि॰ १५।१६

तया सह तथा भूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् संभवति। स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन तथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति॥ च॰ शा॰ ४।७

१—यह पद्य सु॰ सू॰ १४।१४ पर चक्रपाणि ने तन्त्रान्तरसे दिया है।
२—स्त्रीशुक्रका विवरण आगे उनतीसवें अध्यायमें देखिये।

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः[1] शरीराद् वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसंनिपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणो गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ सु० शा० ३।४

तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥
हर्षात् तर्षात् सरत्वाच्च पैच्छिल्याद् गौरवादपि ।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ।
अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात् प्रसिच्यते ।
चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥ च० चि० २ पा० ४।४७।४९
स्रोतोभिः स्यदन्ते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ।
हर्षेणोदीरितं वेगात् संकल्पाच्च मनोभवात् ॥
विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
वस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥ च० चि० १५।३४।३५

शुक्रसे गर्भकी उत्पत्ति होती है। विविध योनियोंमें संचार करनेवाले अतएव विश्वरूपसंज्ञक जीवात्मा का वह रूपद्रव्य[2] है अर्थात् उसके द्वारा उस अदृश्य, अचिन्त्य, अनिर्वचनीय आत्माकी सत्ता और शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। शुक्रके अन्तर्गत जो बीज होता है, वह उस आत्माका अधिष्ठान है। हर्षादि कारणोंसे और विशेषतः प्राक्तनकर्मानुगत वायुकी प्रेरणासे शुक्र पुरुषेन्द्रियसे च्युत[3] होकर योनिमार्गसे गर्भाशयमें प्रविष्ट होता और आर्तवके (स्त्री बीज के) सम्पर्कमें आता है। उसके साथ ही बीजस्थ जीव अपने लिङ्गशरीरके साथ, सत्त्व-रज-तम तथा दैव और आसुर भावोंको लिये हुए अन्तःप्रविष्ट होता है। परन्तु स्मरण रहे, गर्भोत्पत्तिके लिये बीजका अव्यापन्न अर्थात् अविकृत होना आवश्यक है[4]।

शुक्रका स्वरूप तथा पुंबीज—

वर्तमान प्रत्यक्षसे शुक्र अनेक ग्रन्थियोंके रसोंका मिश्रण होता है। इसका प्रधान भाग पुंबीज[5] होते हैं। एक बारके मैथुनमें जितना शुक्र निकलता है उसमें इनकी संख्या बीस करोड़से

१—तेजः स्त्रीपुरुषेन्द्रियद्वयसंघर्षज ऊष्मा ॥ —डल्हन

२—'रूपयति दर्शयति इति रूपम्' ऐसा विग्रह है। 'रूप रूपक्रियायाम्' धातु है।

३—इस नैसर्गिक स्रावके अतिरिक्त रोगादि द्वारा भी शुक्रका स्राव होता है।

४—बीजकी अव्यापत्तिके लक्षण प्राच्य तथा पाश्चात्य कामशास्त्रके ग्रंथोंमें देखें।

५—Spermatozoa—स्पर्मेटोजोआ। ऊपर धृत च० शा० ४।७ तथा प्रथम अध्यायमें धृत च० शा० ४।३०, ३१ आदिमें बीज शब्द स्पर्मेटोजोआ तथा ओवमके लिये पृथक् रूपसे आया है। अतः इन्हें शुक्राणु आदि नये नाम देना निरवकाश है।

अधिक होती है। प्रत्येक पुंबीजके तीन अवयव होते हैं—एक मुण्ड, दूसरा मध्य और तीसरा पुच्छ। (देखिये—पृ० १५७ पर चित्र सं० ५) पुंबीजकी लम्बाई १/१००० से १/५०० इञ्च होती है। पुच्छके सहारे पुंबीज बड़े वेगसे गति करते हुए पाये जाते हैं। मैथुनके पश्चात् जो पुंबीज सबसे प्रबल होता है, वही वक्ष्यमाण स्त्रीबीजतक पहुंचता है और मुण्डके नोकीले भागसे उसके अन्दर प्रविष्ट होकर गर्भका आरम्भक प्रथम अणु बनाता है। शेष पुंबीज नष्ट हो जाते हैं[1]।

स्त्रीपुरुषके समागमजन्य प्रहर्षसे सुषुम्णा तथा मस्तिष्कमें स्थित जननावयवोंके केन्द्र उत्तेजित होकर अपने-अपने अवयवोंको प्रेरित करते हैं। इससे शुक्रादिकी ग्रन्थियाँ शुक्रका स्राव करती हैं, तथा अन्य सम्बद्ध इन्द्रियाँ अपना कर्म करती हैं। नाडीसंस्थानके इस कर्मको आयुर्वेदमें वायुकी प्रेरणा कहा है[2]।

शुक्रोत्पादक अवयव—

शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च ॥ च० वि० ५।८ (४)

शुक्रवहे द्वे (स्रोतसी), तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च ॥ सु० शा० ९।१२

शुक्रवहे (धमन्यौ) द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय ॥ सु० शा० ९।७

सप्तमी (कला) शुक्रधरा, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥ सु० शा० ४।२०

वीर्यवाहिसिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ ॥ शा० पू० ५।४२

तत् स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात्।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात् पटादिव ॥ च० चि० २ पा० ४।४७

द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे[3] बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥ सु० शा० २२।४

विलीनं घृतवद् व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम्।
बस्तौ[4] संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादिवोदकम् ॥ च० चि० १५।३५

पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि ॥ च० सू० २८।३

१—पुंबीज और स्त्रीबीजके संयोगके लिये स्त्री-पुरुषका सामागम आवश्यक नहीं है। आजकल पुरुषवीर्य नलिकाओंमें ले स्त्रियोंके गर्भाशयमें प्रविष्टकर बच्चे उत्पन्न किये गये हैं। पशुओं तथा मनुष्य दोनोंमें ये परीक्षण सफल हुए हैं। समागममें आई स्त्रीके कपड़ोंसे उछलकर पुंबीजोंके अन्य स्त्रीके गर्भाशयमें प्रविष्ट होने तथा एक ही द्रोणी—टब—में पुरुषके स्नान करनेके पश्चात् किसी स्त्रीके स्नान करनेसे द्रोणीमें स्थित पुंबीजोंके गर्भाशयमें प्रवेशसे भी गर्भधारणका रेकर्ड है।

२—वातधातुके विशेष विवरणमें यह विषय स्पष्ट होगा।

३—मूलमें 'पार्श्वे' पाठ है। म० म० गणनाथ सेनजीने 'वामे' पाठ सिद्ध किया है। देखिये—'अत्र द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे इत्येव साधीयान् पाठः, अन्यथा प्रत्यक्षविरोधः स्वोक्तिविरोधश्च, श्रूयते हि शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय द्वे शुक्रविसर्गाय च। इति सुश्रुते एव।' (प्रत्यक्षशारीर उपोद्घात)

४—ऊपर धृत सुश्रुत-पद्य 'द्व्यङ्गुले' इत्यादिके अनुसार बस्तिसे यहाँ बस्तिसमीपवर्ती प्रदेश अभिप्रेत है।

शुक्रोत्पादनका कार्य वृषणोंका[1] है. जो संख्यामें दो है। शुक्र यद्यपि सर्वशरीरस्थ है, तथापि प्रहर्षकालमें वृषणों द्वारा आकृष्ट और च्युत किया जाता है[2]। वृषणोंमें शुक्रवाही अनेक स्रोत हैं। पोषक रस उनके मध्यमें पहुंचता है, तो जैसे गीले वस्त्रके निचोड़नेसे उसके छिद्रोंमेंसे जलका स्राव होता है, वैसे हर्ष (रतिकी इच्छा) से उद्दीपित हुए वायु की प्रेरणासे इन स्रोतोंकी पतली दीवारोंसे शुक्रका स्राव होने लगता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे स्रुत शुक्रका वहन प्रत्येक वृषणसे निकलनेवाली एक इस प्रकार दो शुक्रवहाओं-से होता है। ये शुक्रवहा शुक्रप्रादुर्भावकर कहाती हैं। इन दो शुक्रवहाओंसे आगत शुक्र दो अन्य शुक्रवहाओंमें पहुंचता है, जिनका कार्य शुक्रका विसर्ग करना है। विसर्गकरी शुक्रवहाएँ बस्ति (मूत्राशय) के द्वारके दो अंगुल नीचे मूत्रमार्गसे मिलती हैं। शुक्र इसी मार्गसे बाहिर आता है। एवं शुक्रवह प्रणालियोंका एक मूल वृषण तथा दूसरा मूल या सिरा शिश्न है[3]।

शुक्रवह स्रोतोंकी शुक्रस्राविणी तथा बीजजननी कलाका नाम शुक्रधरा कला है[4]।

प्राचीनोक्त शुक्रोत्पत्ति विषय आधुनिक प्रत्यक्षसे सर्वथा एकमत है। केवल स्पष्टीकरणार्थ आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इस विषयका पुनः अल्प विवरण करते हैं।

वृषणों, बस्तिशिर, शुक्राशयों, शिश्नमूलग्रन्थियों तथा शुक्रवहाओंके एकीभूत रसका नाम शुक्र है। इनमें वृषणोंका रस प्रधान है। वृषण अण्डकोषमें दोनों ओर एक-एक स्थित ग्रन्थियाँ हैं, जो बीजोंके उत्पादक हैं। फुफ्फुसों या हृदयके सदृश ये भी दुहरी कलासे आवृत होते हैं[5]। वृषण अनेक खण्डिकाओंमें विभक्त होते हैं। प्रत्येक खण्डिकामें शुक्र तथा बीजका स्राव करनेवाली प्रणालियाँ (आयुर्वैदिक शुक्रवह स्रोत) होती हैं। इन प्रणालियोंका रस अधिवृषणिका नामक[6] प्रणालीमें एकत्र होता है। (देखिये चित्र सं० ४४) प्रत्येक वृषणकी एक-एक इस प्रकार दो अधिवृषणिका प्रणालियाँ (आयुर्वेदिक शुक्रप्रादुर्भावकरी शुक्रवहाएँ) होती हैं। ये अण्डकोषके पश्चिम (पिछले) भागमें होती हैं। अतिकुण्डलित होनेसे ये अल्प स्थानमें समाई होती हैं। अन्यथा इनकी लम्बाई कोई तेरह हाथ (बीस फुट) होती है।

अण्डकोषके निचले भागमें आनेपर अधिवृषणिकाओंका सम्बन्ध एक-एक नलिकाकृति प्रणालीसे

१—Testes—टेस्टीज़ ; एकवचनमें Testis—टेस्टिस, या Testicle—टेस्टिकल।

२—उत्पत्तिके पूर्व शुक्रके सारे शरीरमें स्थित होनेका क्या अर्थ है, यह आगे २९ वें अध्याय में कहेंगे।

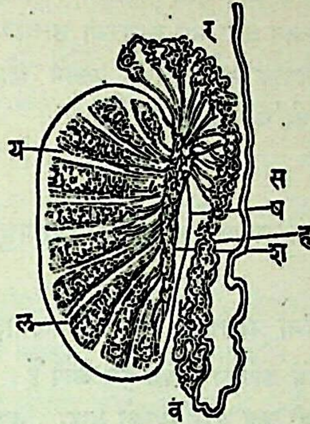
३—ऊपर धृत एक वचनमें सुश्रुतने शुक्रवह स्रोतोंका एक सिरा स्तनोंको कहा है।

४—मूलमें शुक्रधरा कलाको सर्वशरीरव्यापिनी कहा है। उसका विचार आगे देखिये।

५—इस कलाके अन्तरालमें दूषित जल भर जानेसे मूत्रवृद्धि (Hydrocele—हाइड्रोसील) नामक रोग हो जाता है। यह अधिकतया श्लीपदके कारणभूत जन्तुओंके कारण होता है। आजकल शस्त्रकर्ममें इस कलाको हो निकाल या पलट दिया जाता है अथवा वेध द्वारा जल निकालकर कलाके मध्यमें आयोडीनका द्रव भर दिया जाता है। इससे कलाके दोनों आवरणोंके अन्तःप्रदेशमें थोड़ा शोथ होकर वे परस्पर जुड़कर एकाकार हो जाते हैं। दोनों शस्त्रकर्मोंमें जलसञ्चयका अवकाश नहीं रहने पाता। ध्यान रहे अण्डकोषोंका चर्ममय बहिःप्रावरण इस कलासे भिन्न है।

६—Epidydimus—एपिडिडिमस।

होता है। ये ऊर्ध्वगामिनी होती हैं। इनके द्वारा शुक्र मूत्रप्रसेकमें[1] पहुँचाया जाता है। इन प्रणालियोंको शुक्रवाहिनी[2] कहते हैं। आयुर्वैदिक शुक्रविसर्गकरी शुक्रवहा यही प्रतीत होती हैं।



ल, म—शुक्रवह स्रोतोंसे बनी खण्डिकाएँ; चित्र—४४
र-ह-व—अधिवृषणिका; स—शुक्रवाहिनी।

वस्तिशिर[3]—यह एक अखरोट जितनी स्रावी ग्रन्थि है। मूत्रप्रसेक बस्तिद्वारसे निकलकर प्रारम्भमें इसमें होकर जाता है। कामोद्रेकके समय इसका पिच्छिल रस निःस्रुत होकर शुक्रमें मिल जाता है यह रस क्षारीय[4] होता है। मूत्रमार्गमें अम्लता हो तो पुंबीज उसमें जीवित नहीं रह सकते। मूत्रमार्गको क्षारीय करनेके उद्देश्यसे बस्तिशिर ग्रन्थिका स्राव झरता है। इस ग्रन्थिके दस-बारह सूक्ष्म द्वार मूत्रप्रसेकमें खुलते हैं। वार्धक्यमें प्रायः यह बढ़ जाती है और मूत्रप्रसेकपर दबाव डालती है, जिससे मूत्रकृच्छ्र हो जाता है[5]। गुदमें अंगुली डालकर सम्मुख दिशामें दबानेसे बढ़ी हुई बस्तिशिर ग्रन्थिका अनुभव होता है। शस्त्रकर्म द्वारा इसे निकाल देनेसे विकार दूर हो जाता है।

स्वप्नादिगत शुक्रपातमें कभी-कभी वास्तविक शुक्र न निकलकर बस्तिशिर ग्रन्थिका ही रस निकला करता है। कभी श्लेष्म कलाका स्राव (कफ) भी हो सकता है। बहुत बार जो द्रव्य (प्रस्फुरित)[6] साधारणतः मूत्रमें विलीन रहने चाहियें वे सामान्यसे कारणोंसे पृथक् हो जाते हैं। प्राकृत जन वर्णके श्वेत होनेसे इन्हें भी भ्रान्तिवश शुक्र समझ लेते हैं। मूत्रमार्गसे होनेवाले स्रावमें सर्वदा शुक्र ही की आशंका न करना चाहिये।

शुक्राशय[7]—ये दो स्राविणी ग्रन्थियाँ हैं और शुक्रवाहिनियोंके बाहरकी ओर रहती हैं। बस्तिद्वारके समीप दोनों ओरके शुक्राशय और शुक्रवाहिनियोंके मिलनेसे एक-एक प्रणाली बनती है।

१—मूत्रवाहिनी; Urethra—यूरिथ्रा। २—Vas deferens—वास डेफरेन्स।

३—Prostate—प्रौस्टेट। बस्तिशिर संज्ञाके विषयमें विशेष विवरण इकत्तीसवें अध्यायमें देखिये। ४—Alkaline—आल्कलाइन।

५—आयुर्वेदमें इस वृद्धिका नाम 'मूत्रग्रन्थि' है। देखिये सु० उ० ५८।१८-१९ तथा उसपर डह्लनकी टीकामें धृत तन्त्रान्तरके वचन। कई विद्वान् इसे 'वाताष्ठीला' (सु० उ० ५८।७-८) मानते हैं। पर तुलनासे विदित होगा कि उक्त वृद्धिके लक्षण मूत्रग्रन्थिसे ही अधिक मिलते हैं। विशेषके लिये देखिये पृ० ४३३ पर टिप्पणी। ६—Phosphates—फास्फेट्स।

७—प्रत्यक्ष शारीरमें शुक्रप्रपिका नाम दिया है। अंग्रेजीमें Vesicula-Seminales—व्हिसीक्युला-सेमिनेलीस।

इसे शुक्रप्रसेक[1] कहते हैं। दोनों ओरके शुक्रप्रसेकोंका मुख मूत्रप्रसेकमें खुलता है। शुक्राशयोंका रस भी निर्गत शुक्रमें सम्मिश्रित होता है।

शिश्नमूल ग्रन्थियाँ[2] मूँगके आकारकी, बस्तिशिर ग्रन्थिके नीचे मूत्रप्रसेकके दोनों ओर एक-एक होती हैं। इनका तथा जनन तथा मूत्र सम्बन्धी अन्तरवयवोंकी कलाका स्राव (कफ) भी शुक्रमें मिश्रित होता है। शुक्रस्रोतोंके एक अंशकी कलामें श्लोमकी कलाके सदृश पक्ष्मल कोष होते हैं, जिनका कार्य शुक्रको आगेको धकेलना है।

वाजीकर औषधोंका प्रभाव—

वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति ॥
सु० सू० १४।१७

वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि ॥ च० चि० १५।२०

महास्रोतमें अन्नके परिपाकमें कालका नियम देख आये हैं। विरेचन ओषधियाँ अपने प्रभावसे उस कालका अतिपात करके शीघ्र ही अन्न और मलको बाहर निकाल देती हैं। वाजीकर ओषधियाँ भी इसी प्रकार अपनी शक्तिसे स्वाभाविक यत्किञ्चित् कालके पूर्व ही शुक्रको च्युत कर देती हैं।

पूर्वोक्त कर्मोंकी सम्पत्तिके लिये शुक्रका सम प्रमाणमें रहना आवश्यक है। शुक्रके साम्यके ज्ञानार्थ उसके क्षय और वृद्धिके लक्षण देते हैं।

शुक्रक्षयके लक्षण—

दौर्बल्यं मुखशोषश्च पाण्डुत्वं सदनं श्रमः।
क्लैब्यं शुक्राविसर्गश्च क्षीणशुक्रस्य लक्षणम् ॥ च० सू० १७।६९

शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद् वा प्रसेकः प्रसेके चाल्परक्तशुक्रदर्शनम् ॥
सु० सू० १५।९

शुक्रका क्षय होनेपर शरीरदौर्बल्य, मुखकी शुष्कता, पाण्डुता, अङ्गोंमें शैथिल्य और अनायास श्रम, क्लीबता, मैथुनमें अशक्ति, शुक्रकी अच्युति या विलम्बसे च्युति तथा च्युतिमें रक्तमिश्रित शुक्रका आना, शिश्न और वृषणमें वेदना—ये लक्षण होते हैं।

शुक्रक्षयके कारण—

शुक्रकी क्षीणताके कारण तथा सामान्यविशेष लक्षण निम्न हैं—

अतीव चिन्तनाच्चैव शोकात्क्रोधाद् भयात् तथा ॥
ईर्ष्योत्कण्ठामदावेगान् सदा विशति यो नरः।
कृशो वा सेवते रूक्षमन्नपानं तथौषधम् ॥
दुर्बलप्रकृतिश्चैव निराहारो भवेद्यदि।
असात्म्यभोजनाच्चापि हृदये यो व्यवस्थितः ॥

१—Ejaculatory duct—इजैक्युलेटरी डक्ट।

२—Cowper's glands—कूपर्स ग्लैण्ड्स ; अथवा Bulbo-urethral glands—बल्बो-यूरिथ्रल ग्लैण्ड्स।

रसः प्रधानधातुर्हि क्षीयेताशु ततो नृणाम् ।
रक्तादयश्च क्षीयन्ते धातवस्तस्य देहिनः ॥
शुक्रावसानास्तेभ्योऽपि शुक्रं धाम परं मतम् ।
चेतसो वाऽतिहर्षेण व्यवायं सेवतेऽति यः ॥
तस्याशु क्षीयते शुक्रं ततः प्राप्नोति संक्षयम् ।
घोरं व्याधिमवाप्नोति मरणं वा स गच्छति ॥
शुक्रं तस्माद्विशेषेण रक्ष्यमारोग्यमिच्छता ॥

च० चि० ३०।१८१।१८६

अतिव्यवायिनो वापि क्षीणे रेतस्यनन्तरम् ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ सु० ३।४१।१०
जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ॥ च० चि० २।४।४३

यदा पुरुषोऽतिमात्रं शोकचिन्तापरिगतहृदयो भवति, ईर्ष्योत्कण्ठाभयक्रोधादिभिर्वा समाविश्यते, कृशो वा सन् रूक्षान्नपानसेवी भवति, दुर्बलप्रकृतिरनाहारोऽल्पाहारो वा भवति, तदा तस्य हृदयस्थायी रसः क्षयमुपैति ; स तस्योपक्षयाच्छोषं प्राप्नोति, अप्रतीकाराच्चानुबध्यते यक्ष्मणोपदेक्ष्यमाणरूपेण ॥

यदा वा पुरुषोऽतिप्रहर्षादतिप्रसक्तभावः स्त्रीष्वतिप्रसङ्गमारभते, तस्यातिप्रसङ्गाद्रेतः क्षयमेति । क्षयमपि चोपगच्छति रेतसि यदि मनः स्त्रीभ्यो नैवाऽस्य निवर्तते, (अतिप्रवर्तते एव) तस्य चातिप्रणीतसंकल्पस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोपक्षीणरेतस्त्वात्, तथाऽस्य वायुर्व्याच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्रविश्य शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य पुनः शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते, वातानुसृतलिङ्गम् । अथास्य शुक्रक्षयाच्छोणितप्रवर्तनाच्च संधयः शिथिलीभवन्ति, रौक्ष्यमुपजायते, भूयः शरीरं दौर्बल्यमाविशति, वायुः प्रकोपमापद्यते ; स प्रकुपितो वशिकं शरीरमनुसर्पन्नुदीर्य श्लेष्मपित्ते परिशोषयति मांसशोणिते, प्रच्यावयति श्लेष्मपित्ते, संरुजति पार्श्वे, अवमृद्नात्यंसौ, कण्ठमद्ध्वंसति, शिरःश्लेष्माणमुपक्लेश्य प्रतिपूरयति, श्लेष्मणा, संधींश्च प्रपीडयन् करोत्यङ्गमर्दमरोचकाविपाकौ च, पित्तश्लेष्मोत्क्लेशात् प्रतिलोमगत्वाच्च वायुर्ज्वरं कासं श्वासं स्वरभेदं प्रतिश्यायं चोपजनयति ; स कासप्रसङ्गादुरसि क्षते शोणितं ष्ठीवति, शोणितगमनाच्चास्य दौर्बल्यमुपजायते, ततः स उपशोषणैरेतैरुपद्रवैरुपद्रुतः शनैः शनैरुपशुष्यति । तस्मात् पुरुषो मतिमानात्मनः शरीरमनुरक्षञ्छुक्रमनुरक्षेत् । परा ह्येषा फलनिर्वृत्तिराहारस्येति । भवति चात्र—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद् रक्ष्यमात्मनः ।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति ॥ च० नि० ६।८-१०

चिन्ता, शोक, क्रोध, भय, ईर्षा, उत्कण्ठा, मद आदि मनोभावोंका अतियोग; कृश वा दुर्बल होते हुए भी उपवास वा अल्पाहार करना अथवा रूक्ष या अहित अन्नपान वा औषधका सेवन करना अति शारीर-मानस श्रम तथा वृद्धावस्था—इन हेतुओंसे सर्वधातुओं का मूलभूत हृदयस्थित रस धातु क्षीण हो जाता है। इन कारणोंमें चिन्तादि भाव प्रथम मनको पश्चात् उसके आश्रयभूत हृदयको दुर्बल और क्षीण करते हैं। हृदयके दौर्बल्यसे उसके अन्तर्गत रसधातु भी क्षीण होता है[1]। परिणाममें रक्तादि धातु विशेषतः शुक्र क्षयको प्राप्त होते हैं। उपाय न करनेसे अन्तको मनुष्य यक्ष्माका ग्रास होता है।

अथवा, मनुष्य यदि कामातुर होकर स्त्रियोंमें अति प्रसक्त होता है तो शनैः शनैः उसका शुक्र क्षीण हो जाता है। तथापि वह अपने सङ्कल्पसे निवृत्त न हो तो शुक्र समाप्त हो जाता है[2]। फल रूपमें क्षयज क्लीबता या आगे कहे प्रकारसे यक्ष्माकी उत्पत्ति होती है।

समाप्त हो जानेसे मैथुनमें शुक्र तो निकलता नहीं किन्तु वायुकी प्रेरणासे केशिकाओंसे स्रुत हुआ, शिश्न-वृषणवेदना आदि वात लक्षणोंसे युक्त रक्त ही निकलता है। शुक्रके क्षय और रक्तकी अति प्रवृत्तिके कारण, सन्धिशैथिल्य, रूक्षता, अधिकतर दौर्बल्य और वातका प्रकोप होता है। प्रकुपित वात श्लेष्मा और पित्तको तथा अपने अधीन शरीरकी सम्पूर्ण क्रियाओंको विकृत कर देता है; तथा निम्न यक्ष्माके लक्षण उत्पन्न करता है—श्लेष्मा और पित्तकी च्युति, पार्श्वशूल, अंसावमर्द (कन्धे दुखना), कण्ठोद्ध्वंस (गला बैठना), शिरके श्लेष्माकी विकृतिसे शिरोगौरव, सन्धिवेदना, अङ्गमर्द, अरुचि, अजीर्ण, ज्वर, कास, श्वास और प्रतिश्याय। कासके अतिवेगसे फुफ्फुसोंकी केशिकाएँ फट जानेसे रक्तष्ठीवन (मुँहसे रक्त आना) होता है, जिससे दौर्बल्यमें और वृद्धि होती है। इन उपद्रवोंसे शोष और अन्तमें मरण उपस्थित होता है[3]।

नव्यमतानुसार शुक्रक्षयके विपरिणाम—

बीसवें अध्यायमें हम देख आये हैं कि, वृषण ग्रन्थियाँ पुंबीज-रूप बहिःस्राव एवं एक अन्तःस्राव इस प्रकार दो स्राव उत्पन्न करती हैं। धमनियों द्वारा जो रस-रक्त वृषण ग्रन्थियोंमें आता है उसका

१—शास्त्रोंमें जो सर्वशरीरव्यापी भी रसका स्थान हृदयको कहा है, उसका एक कारण हृदयसे उसका सर्वाङ्गमें प्रसर और पुनः उसमें प्रत्यावर्तन तो है ही; साथ ही निदान-चिकित्साकी दृष्टिसे भी इस मन्तव्यकी उपयोगिता है और वह यह कि जो कारण रसधातुको क्षीण या वृद्ध करते हैं वे हृदयको भी क्षीण या वृद्ध करते हैं। उधर जो पदार्थ मन या हृदयपर क्रिया करते हैं उनका प्रभाव रसधातुपर भी होता है। जैसे—इसी प्रकरणमें चिन्तादिसे रसधातुकी क्षीणता।

२—शरीरमें शुक्रका प्रमाण अपने हाथकी अर्धाञ्जलि होता है। देखिए—मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणम् ॥ च० शा० ७।१५ ॥

३—राजयक्ष्माके पाश्चात्य निदानमें शुक्रक्षयकी हेतुता नहीं पायी जाती। यक्ष्म-जन्तुओंके आक्रमणकी सफलतामें शरीरका दौर्बल्य कारणभूत कहा जाता है, परन्तु उस दौर्बल्यके कारणोंमें भी शुक्रक्षयका स्थान नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सक पौष्टिक आहार, शुद्ध वायु और उचित विश्राम पर विशेष भार देते हैं। पर देखते हैं, इन परिस्थितियोंमें भी मनुष्य राजयक्ष्मासे पीड़ित होते हैं।

ऊपर वर्णित धातुक्षयजन्य क्षय (यक्ष्मा) के धातुक्षयभेदसे दो भेद हैं—अनुलोमक्षय तथा प्रतिलोमक्षय। जब रस धातुकी क्षीणतासे सब धातु क्रमशः क्षीण होनेसे क्षय रोग होता है तो उसे अनुलोमक्षय कहते हैं। जब शुक्रधातुकी प्रथम क्षीणतासे तथा उसके कारण अन्य धातुओंकी क्षीणतासे क्षय होता है तो उसे प्रतिलोमक्षय कहते हैं।

उपयोग कर दोनोंके उत्पादक अवयव अपने-अपने स्रावको उत्पन्न करते हैं। यदि पुरुष अति मैथुनासक्त हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि वृषणोंमें जितना रस-रक्त आता है उसका उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करनेवाले अवयव ही कर लेते हैं। परिणामतया, अन्तःस्रावोत्पादक अवयवोंको अपने प्रकृति नियत कर्मके सम्पादनार्थ यथेष्ट सामग्री नहीं मिल पाती—वे अपना अन्तःस्राव यथावत् उत्पन्न नहीं कर पाते। फल यह होता है कि, पुरुष अन्तःस्रावके सर्वधातुओं और सर्वाङ्गपर महत्त्वपूर्ण प्रभावोंसे वञ्चित रह जाता है और उसमें तत्तत् विकार उत्पन्न होते हैं।

इसी बातको केदारीकुल्यान्यायके आश्रयसे कहना हो तो कह सकते हैं कि सात क्यारियोंमें सातवीं क्यारीमें बड़ा गर्त हो किंवा उसमें से जलके निकलनेके लिये छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल उस गड्ढेको भरनेमें लगेगा—या उस क्यारीको पूर्ण करनेमें व्यय होगा। यही स्थिति अति मैथुनादिवश होनेवाले शुक्रक्षयमें होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्रधातुकी पुष्टिमें लगता है, परन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नहीं पाता—परिणामतया अन्य धातुओंकी पुष्टि रससे हो नहीं पाती और शरीरमें विभिन्न विकार उत्पन्न होते हैं।

शुक्रक्षयकी चिकित्सा—

तत्रापि (शुक्रक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु० सू० १५।१०

शुक्रं शुक्रेण (आप्याय्यते भूयस्तरम्) ॥ च० शा० ६।१०

नक्ररेतो वृष्याणां (श्रेष्ठम्) ॥ च० सू० २५।४०

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम् ॥ सु० शा० २।३८

शुक्रकी वृद्धिके लिये भी समान, समानगुण या समानगुणभूयिष्ठ द्रव्योंका सेवन हितावह है। इनमें भी समान अर्थात् स्वयं शुक्रका सेवन शुक्रक्षयमें सर्वोत्तम है। शुक्रवर्धक द्रव्योंका नाम वृष्य है। घडियालका वीर्य सर्वश्रेष्ठ वृष्य है। आसेक्य नामका एक षण्ढ (नपुंसक) होता है। उसकी षण्ढताका कारण माता-पिताके शुक्रकी अल्पता है। आसेक्यको यदि शुक्रका पान कराया जाय तो वह निःसन्देह पौरुष लाभ करता है।

शुक्रपानके विधानमें अण्ड (वृषण तथा अण्डा) का ग्रहण—

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥ च० चि० अ० २। पा० २।१०

शुक्राणीति यद्यप्युक्तं, तथाऽपि चटकादिशुक्रग्रहणस्याशक्यत्वात् समानगुणानि तदण्डान्यपीह गृह्यन्ते। —चक्रपाणि

कुलीरकूर्मनक्राणामण्डान्येवं तु भक्षयेत्।
महिषर्षभवस्तानां पिबेच्छुक्राणि वा नरः ॥ सु० चि० २६।२६

कुलीरः कर्कटः, 'गृहचटक' इत्यन्ये, 'कुलीरो मत्स्यविशेष' इत्यपरे। कूर्मः कच्छपः। नक्रो मत्स्यभेदः, 'घड़ियाल' इति लोके। अण्डमत्र प्राणाधारो वर्तुलः, न तु मुष्कः; ऋषभो वृषभः। बस्तश्छागः। तेषां शुक्राणि गुरूपदेशात् तदाधारभूतान्येवाण्डानि ॥ —डल्हन

शुक्रका मिलना अशक्य है। अतः जहाँ शास्त्रमें शुक्रके ग्रहणका विधान हो, वहाँ गुरूपदेशके अनुसार अण्डाका ग्रहण करना चाहिये। अण्ड शब्दके दो अर्थ हैं। चिड़िया, हंस, मुर्गा, मोर,

केंकड़ा, कछुआ, शिशुमार, घड़ियाल इत्यादिके प्रसङ्गमें अण्डका अर्थ अण्डे लेना चाहिये। तथा, भैंसा साँड, बकरा आदिके प्रसङ्गमें अण्डका अर्थ वृषण लेना चाहिये। दोनों अण्ड समानगुण होनेसे शुक्रकी वृद्धि करते हैं। (हकीमों द्वारा पुंस्त्वनाशमें जुंदबेदस्तर तथा जबादका प्रयोग होता है। ये दो विशिष्ट प्राणियोंके वीर्य हैं।)

पाश्चात्य चिकित्सामें भी वृषणोंके सत्त्वका सूचीवेध द्वारा शरीरमें प्रवेश कराया जाता है। पुरुषके वृषण निकालकर वानरके वृषण भी लगाये जाते हैं[1]।

शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषां द्रव्याणाम् ॥
च० शा० ६।११

सद्यः शुक्रकरं पयः ॥

समानगुण द्रव्योंमें दुग्ध और घृतकी गणना है। तुल्यगुण होनेसे ये शीघ्र ही शुक्रकी उत्पत्ति करते हैं।

जीवकर्षभककाकोलीक्षीरकाकोलीमुद्गपर्णीमाषपर्णीमेदावृद्धरुहाजटिलाकुलिङ्गा इति दशेमानि शुक्रजननानि भवन्ति ॥ च० सू० ४।१०

जीवक आदि ओषधियाँ समानगुणभूयिष्ठ होनेसे शुक्रवर्धक हैं। इनके अतिरिक्त वाजीकरण अध्यायोंमें उक्त औषधों तथा आहार-विहारोंका शुक्रवृद्धिके लिये सेवन करना चाहिये।

शुक्रकी अतिवृद्धिके लक्षण—

शुक्रं (अतिवृद्धं) शुक्राश्मरीमतिप्रादुर्भावं च (आपादयति) सु० सू० १५।१४

शुक्रकी अतिवृद्धिके ये लक्षण हैं—शुक्रकी पथरी[2] और शुक्रकी अतिप्रवृत्ति।

शुक्रदोषज रोग—

× × शुक्रस्य दोषात् क्लैब्यमहर्षणम्।
रोगिणं क्लीबमल्पायुर्विरूपं वा प्रजायते ॥
न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवत्यपि।
शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सादरं बाधते नरम् ॥ च० सू० २८।१८।१९

क्लैब्याप्रहर्षशुक्राश्मरीशुक्रमेहशुक्रदोषादयश्च तद्दोषजाः ॥ सु० सू० २४।९

शुक्रके वातादिदूषित होनेसे शुक्रदोषज निम्न विकार होते हैं—क्लीबता, स्त्रियोंके प्रति उदासीन-

---

१—पौराणिक गाथा है कि गौतमके शापसे इन्द्रके वृषण गिर गये। देवोंने मेषके वृषण लगाकर इन्द्रको पुनः स्वस्थ कर दिया। अतएव इन्द्रका नाम मेषवृषण भी है। यह गाथा शस्त्रकर्म द्वारा वृषणविनिमयके आधुनिक शस्त्रकर्मकी प्राचीनता सिद्ध करती है। इससे पुरुष प्रजोत्पत्ति नहीं कर सकता। अन्तःस्रावका लाभ उसे अवश्य मिलता है।

२—शुक्रकी पथरीसे क्या अभिप्रेत है, यह कहना कठिन है। मधुकोषमें लिखा है कि यह पथरी दबानेसे विलीन हो जाती है। आधुनिकोंने मनुष्योंमें तो नहीं, एक-दो वानरजातियोंमें ऐसी पथरी अवश्य पायी है। शुक्रकी अति प्रवृत्ति प्रायः अपरिणीतोंमें स्वप्नमेहके रूपमें देखी जाती है। यह अधिक हो तो विवाहकी सलाह दी जाती है।

भाव, मैथुनाशक्ति, शुक्राश्मरी, शुक्रमेह आदि। दूषित शुक्रसे या तो गर्भ स्थिर नहीं होता या होकर गिर जाता है, या उसका स्राव हो जाता है[1]।

अकालयोनिगमनान्निग्रहादतिमैथुनात्।
शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा॥ च० वि०५।१९

अकालयोनिगमनादिति अहर्षकालगमनात् तथाऽनुचितयोनौ गमनात्॥ —चक्रपाणि

उपदंशादिदूषित योनिमें गमनसे वा अकालगमनसे, कामवेगके निरोधसे, अति मैथुनसे[2] तथा शस्त्रक्षार और अग्निके प्रयोगसे शुक्रवाहिनियाँ दूषित होकर शुक्रदोषज तथा जननावयवसम्बन्धी रोग उत्पन्न होते हैं।

शुक्रसार पुरुषके लक्षण—

स्निग्धसंहतश्वेतास्थिदन्तनखं बहुलकामप्रजं शुक्रेण (सारं विद्यात्)॥

सु० सू० ३५।१६

सौम्याः सौम्यप्रेक्षिणः क्षीरपूर्णलोचना इव प्रहर्षबहुलाः स्निग्धवृत्तसारसमसंहत-शिखरदशनाः[3] प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वरा भ्राजिष्णवो महास्फिचश्च शुक्रसाराः। ते स्त्रीप्रियोप-भोगा बलवन्तः सुखैश्वर्यारोग्यवित्तसंमानापत्यभाजश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।१०९

शुक्रसार अर्थात् शुद्ध और पुष्कल शुक्रवाले पुरुष सौम्य, सौम्य दृष्टिवाले, मानो दुग्धपूर्ण नेत्रवाले, अति हर्ष (कामवेग) वाले; श्वेत, स्निग्ध, घन, पुष्ट, सम, दृढ़ तथा सुन्दर अस्थि, नख और दन्तावलीयुक्त; प्रसन्न और स्निग्ध वर्ण तथा स्वरसे सम्पन्न; दीप्त तथा विपुल स्फिक्प्रदेश (चूतड़) वाले होते हैं। वे स्त्रियोंकी तृप्तिमें समर्थ, बलवान् तथा सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, वित्त, संमान और संतानसे अन्वित होते हैं[4]।

शुद्ध शुक्रका स्वरूप—

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च।
शुक्रमिच्छन्ति, केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा॥ सु० शा० २।११।१२

१—इस विषयका विस्तार शास्त्रान्तरमें देखना योग्य है। आगे वात धातुके अधिकारमें दिये शुक्रगत वात के लक्षण भी द्रष्टव्य हैं।

२—अति मैथुन शब्दसे यहाँ तथा पूर्वोक्त शुक्रक्षयके विवरणमें हस्तमैथुन आदिका भी समावेश करना चाहिये।

३—शिखरदशना इति शोभनदशनाः। —चक्रपाणि

४—इस अध्यायके आरम्भमें शुक्रके कार्य धैर्य और शौर्य कहे हैं। व्याख्यामें टीकाकार कहता है—इसी कारण क्षीण शुक्र पुरुष अधीर होते हैं। उधर, सर्वसार पुरुषोंके लक्षणोंमें अन्य लक्षणोंके साथ एक लक्षण यह भी दिया है कि—वे सर्व कार्योंमें आत्मविश्वास-सम्पन्न होते हैं (देखिये—२१ वाँ अध्याय)। इस विवरणको देखकर मेरा मत है—आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंके सुपीरिओरिटी कॉम्प्लेक्स (Superiority Complex) को शुक्रसारता तथा उसकी विरोधी स्थितिको इन्फीरिओरिटी कॉम्प्लेक्स (Inferiority Complex) समझ सकते हैं।

स्निग्धं घनं पिच्छिलं च मधुरं चाविदाहि च ।
रेतः शुद्धं विजानीयाच्छ्वेतं स्फटिकसन्निभम् ॥ च० चि० ३०।१४५।१४६
बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् ॥
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत् तदसंशयम् ॥ च० चि० २।पा०।४।५०

शुद्ध शुक्र स्फटिकवत् निर्मल, किन्हींके मतमें तैल या मधुके सदृश ; स्निग्ध, कुछ द्रव, पिच्छिल, मधुर, अविदाही, शुक्ल, मधुतुल्य गन्धवाला तथा आमगन्धरहित होता है । यही सन्तानोत्पत्तिक्षम होता है ।

दोषदूषित शुक्र—

प्रकुपित हुए दोष शुक्रको दूषित करते हैं । उनमें—

फेनिलं तनु रूक्षञ्च कृच्छ्रेणाल्पं च मारुतात् ।
भवत्युपहतं शुक्रं न तद् गर्भाय कल्पते ॥ च० चि० ३०।१४०।१४१

वातवर्णवेदनं (शुक्रं) वातेन[1] ॥ सु० शा० २।४

वातदूषित शुक्र फेनयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है । उसका वर्ण अरुणकृष्ण होता है । वह कठिनाईसे तथा अल्प निकलता है । निकलते हुए तोदभेदादि वेदनायें होती हैं ।

सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च ।
दहल्लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम् ॥ च० चि० ३०।१४१।१४२

पित्तवर्णवेदनं[2] (शुक्रं) पित्तेन ॥ सु० शा० २।४

पित्तदूषित शुक्र नील-पीतवर्णवाला, अति उष्ण, दुर्गन्धयुक्त तथा निकलते हुए दाहक होता है ।

श्लेष्मणा बद्धमार्गं तु भवत्यत्यर्थपिच्छिलम् ॥ च० चि० ३।१४२

श्लेष्मवर्णवेदनं[3] (शुक्रं) श्लेष्मणा ॥ सु० शा० २।४

श्लेष्मासे दूषित शुक्र शुक्लवर्ण, अति पिच्छिल तथा कण्डु आदिका जनक होता है ।

वर्तमान प्रत्यक्षानुसार शुक्रमें बीज कभी न्यून होते हैं, कभी अधिक और कभी नहीं भी होते । बीज न हों, बहुत सुस्त हों, या निश्चल हों तो शुक्र सन्तानोत्पत्तिमें समर्थ नहीं होता ।

वृषणोंका अन्तःस्राव—

वृषण-ग्रन्थियोंके अन्तःस्राव टेस्टोस्टिरॉन (आयुर्वेदका पर ओज ?) का वर्णन सविस्तर बीसवें अध्यायमें किया जा चुका है । विषयकी पूर्तिके लिए उसे यहाँ पुनः स्मरण किया जा सकता है ।

१—वातवर्णा अरुणकृष्णादयः । वातवेदनास्तोदभेदादयः ॥ —डह्लन
२—पित्तवर्णाः पीतनीलादयः । पित्तवेदना ओषचोषादयः ॥ —डह्लन
३—श्लेष्मवर्णः शुक्लः । श्लेष्मवेदनाः कण्ड्वादयः ॥ —डह्लन

अठाईसवां अध्याय

अथातस्त्वग्विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

रसादि शुक्रपर्यन्त सात धातुओंका विवरण कर चुके। अब स्तन्यादि उपधातुओं तथा पुरीषादि मलोंका[1] वर्णन क्रमप्राप्त है। उपधातुओंमें स्नायुओं तथा कण्डराओंका अस्थियोंके प्रसंगसे, सिराओंका रक्तानुधावनके प्रसंगसे और वसाका मेदके साथ अपेक्षित वर्णन किया गया है। इस अध्यायमें त्वचा, उसके प्रसंगसे स्वेद, रोम, केश, श्मश्रु, त्वचा में स्थित स्नेह और कर्णमल इन मलोंका तथा अन्तमें आवरणके साम्यसे कला और श्लेष्मकलाओंके मलभूत कफका वर्णन करेंगे।

त्वचा—

एताः (त्वचः) षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति॥ च० शा० ७।४

तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति। पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति। पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः॥ च० सू० ८।८—११[2]

लक्षणं सर्वमेवैतत् स्पर्शनेन्द्रियगोचरम्॥ च० शा० १।१३०[3]

त्वचा[4] सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त (आवृत्त) किये रहती है। यह स्पर्शेन्द्रियका अधिष्ठान है। यह शीत-उष्ण, गुरु-लघु आदि स्पर्शोंका ज्ञान कराती है। वैसे तो सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शेन्द्रियरूप ही हैं[5]। (इस प्रकार हित-अहित स्पर्शके ज्ञानके द्वारा त्वचा शरीरकी रक्षाका कार्य करती है।)

इसके अतिरिक्त त्वचा अपने अन्दर स्थित भ्राजक पित्तकी सहायतासे शरीरके ऊष्माका साम्य (नियन्त्रण) रखती है, लेप आदि द्रव्योंको ग्रहण कर शरीरमें पहुंचाती है और शरीरको कान्ति प्रदान करती है। त्वचा ही स्वेद (स्वेदग्रन्थियाँ) का आश्रय है, और उसके द्वारा होनेवाले कर्मोंका आधारकारण है। (मेदोग्रन्थियों, नख, रोम, केश तथा स्तनग्रन्थियोंका आश्रय भी त्वचा ही है।) वही आगे कही जानेवाली पांच प्रकारकी छायाओंकी भी प्रकाशक है।

पाञ्चभौतिक होते हुए भी त्वचामें वायुभूतकी प्रधानता होती है। इसी कारण त्वचा वायुभूतकी प्रधानतावाले स्पर्शगुणका ही ग्रहण करती है[6]। नव्यमतानुसार संज्ञावह स्रोत[7] मांसधराकला-पर्यन्त त्वचामें ही रहते हैं; अस्थि, अन्त्र, फुफ्फुस आदि अन्तरवयवोंमें नहीं। इस मांसधरा कलाको

१—उपधातुओं, मलों तथा उनके उत्पादक धातुओंके निर्देशके लिए देखिए—पृ० २५-२७ तथा ४०२-५।

२—अर्थ करते हुए इन वचनोंका त्वचासम्बन्धी विषय ही लिया है।

३—यहाँ 'सर्वम् एतत् लक्षणम्' से मूल ग्रन्थमें ऊपर कहे शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध तथा खरत्व-स्निग्धत्व, द्रवत्व-सान्द्रत्व, चलत्व-स्थिरत्व, उष्णत्व-शीतत्व, अस्पर्श (और गुरुत्व-लघुत्व आदि) गुणोंसे अभिप्राय है।

४—Skin—स्किन; या Integument—इन्टेग्युमेण्ट।

५—आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें यह विषय अधिक विस्तारसे लिया है।

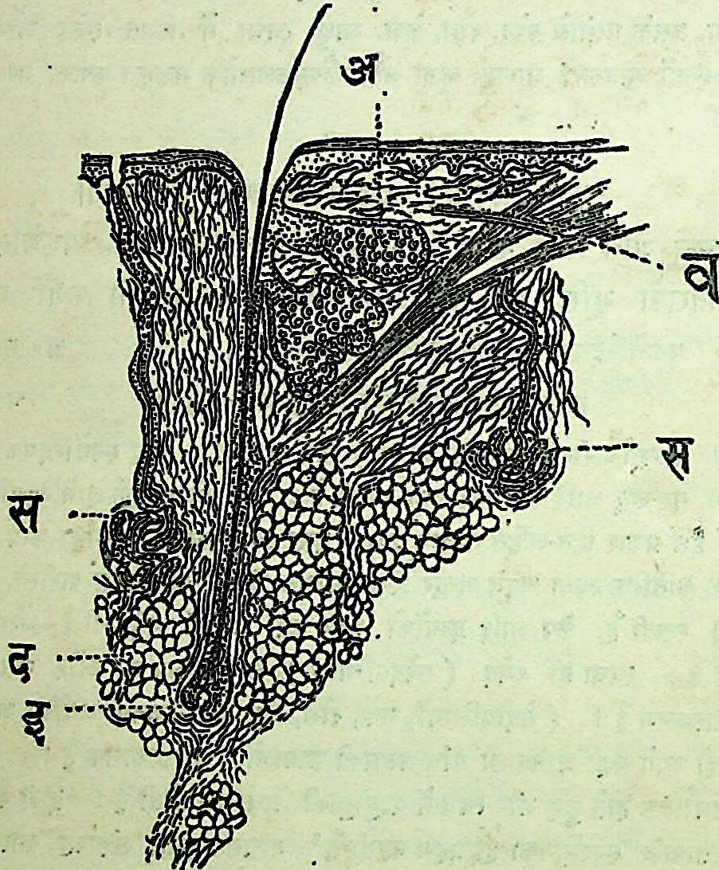
६—देखिये—च० सू० ८।१४, सु० शा० १।१५।

७—Sensory nerve fibres—सेंन्सरी नर्व फायबर्स।

सुश्रुतने त्वचाका ही एक भेद माना है। (इसीसे त्वचाओंकी संख्या सुश्रुतमें एक अधिक होकर सात हो गयी है।) सो प्राचीनोंने जो त्वचाको ही स्पर्शेन्द्रिय कहा है वह नव्यमतानुसार अदूषित है।

त्वचाके स्तर—

च० शा० ७।४ में त्वचाके छः तथा सु० शा० ४।४ में सात स्तर बताये हैं। अणुवीक्षणकी सहायतासे आधुनिकोंने त्वचाके मुख्यतः दो विभाग किये हैं—बहिस्त्वक्[1] तथा अन्तस्त्वक्[2]। बहिस्त्वक् चार स्तरोंसे तथा अन्तस्त्वक् दो स्तरोंसे बनी होती है[3]।



चित्र—४५

त्वचाका गहराईकी दिशामें छेदन। अ—मेदोग्रन्थि; इसकी वाहिनी रोमके छिद्रमें खुलती है; व—मांससूत्र; स, स—स्वेदग्रन्थि तथा स्वेदवह; द—त्वचाके नीचे स्थित मेद; इ—रोम तथा उसका मूलस्थित अंकुर।

१—Epidermis—एपिडर्मिस।

२—Dermis—डर्मिस। पृ० ४९२ की टिप्पणीमें धृत चरक-वचनमें 'बाह्या त्वक्' तथा 'त्वगन्तर' शब्द आये हैं। उन्हें देखते त्वचाके नव्योक्त दो भेदोंके लिए बहिस्त्वक्-अन्तस्त्वक् संज्ञाएँ प्राचीनानुसारी समझनी चाहिए।

३—यह विषय तुलनाके लिये घाणेकरी सुश्रुतटीकामें देखिये।

भ्राजक पित्त—

यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्त्वा छायानां च प्रकाशकः ॥ सु० सू० २१।१०

(पित्तं) त्वक्स्थं भ्राजकं भ्राजनात् त्वचः ॥ अ० हृ० सू० १२।१४

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ; तद्यथा × × मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ × × ॥ च० सू० १२।११

ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्णभेदौ च त्वग्गतस्य भ्राजकस्य ॥ —चक्रपाणि

पित्तके पाँच भेद हैं। इनमें एक भ्राजक पित्त कहाता है। इसका स्थान त्वचा है, तथा कार्य अभ्यङ्ग, स्वेदन, अवगाहन (शीत वा उष्ण जल, क्वाथ, सिद्ध तैल आदिसे पूर्ण द्रोणी—टब—में रोगीको बैठाना), लेपन आदि क्रियाओंमें प्रयुक्त द्रव्योंको पकाना (उन्हें शरीरके अनुरूप रूपान्तर देकर शरीरमें पहुंचाना), त्वचाको कान्ति प्रदान करना, तथा शरीरके ऊष्माका नियमन करना है। आधुनिक मतसे भ्राजक पित्तके कर्म त्वचामें स्थित ऊष्मासे नियन्त्रित स्वेद तथा मेदकी ग्रन्थियोंके अधीन समझे जा सकते हैं[1]।

स्वेद तथा स्वेदग्रन्थियाँ—

मलः स्वेदस्तु मेदसः ॥ च० चि० १५।१८

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च ॥ च० वि० ५।८

स्वेद मेदोधातुका मल है। स्वेदवह स्रोतोंका एक मूल अर्थात् उत्पत्तिस्थान मेद (त्वचाका मेदोबहुल आभ्यन्तर भाग) है। इनका दूसरा अन्त लोमकूप अर्थात् तदुपलक्षित त्वचाका उपरिप्रदेश है।

विपुलदर्शक काच[2] से त्वचाकी परीक्षा करें तो उसमें रोमकूपोंके अतिरिक्त भी अगणित सूक्ष्म छिद्र दीख पड़ेंगे। ये छिद्र स्वेदवहस्रोतोंके मुख हैं। अन्तस्त्वक्में स्वेदका निर्माण करनेवाली ग्रन्थियाँ (स्वेदग्रन्थियाँ) होती हैं[3]। इनके चारों ओर केशिकाओंका निबिड जाल होता है। स्वेदग्रन्थियाँ केशिकागत रक्तसे जल तथा कुछ मलभूत घन द्रव्योंका सर्वदा निर्हरण किया करती हैं। यही जल तथा उसमें विलीन द्रव्य स्वेद कहाते हैं[4]। इसमें जल ९९ प्रतिशत तथा घनद्रव्य १ प्रतिशत होते हैं जिनमें मुख्य यूरिआ तथा सैन्धव हैं। स्वेद ग्रन्थियोंसे स्वेदवहोंमें और उनके द्वारा बहिस्त्वक्पर्यन्त आता है[5]। एवं त्वचा यकृत्, वृक्क और फुप्फुसोंके समान विसर्गसंस्थान[6] का ही एक अङ्ग है। अतएव—

१—विशेष वक्तव्य आगे पित्तके प्रकरणमें देखिये।

२—Magnifying glass—मेग्नीफाइङ्ग ग्लास।

३—Sweat-glands—स्वेट-ग्लैण्ड्स ; या Sudoriferous glands—स्यूडोरिफेरस ग्लैण्ड्स।

४—नव्यक्रियाशारीरानुसार स्वेद मल तो है, पर उसकी उत्पत्ति मेद धातुसे कहना दुष्कर है। स्वेद समस्त शरीरका मल है। तथा, लोमकूप स्वेदके मूल—अन्तस्थान—नहीं हैं, जैसा कि चरकने कहा है। अतः हमने लोमकूपका अर्थ लोमकूपोपलक्षित त्वचा लिया है।

५—स्रोतांसि स्रवणात् (च० सू० ३०।१२) के अनुसार स्रोतका अर्थ यह भी होता है कि इनसे सूक्ष्म रसोंका स्राव होता है। यथा—रक्तानुधावन प्रकरणमें इस शब्दका प्रयोग केशिकाओंके लिये होता है। उक्त विग्रहसे 'स्वेदवह स्रोत' शब्दसे स्वेदग्रन्थियों और स्वेदप्रणालियों दोनोंका ग्रहण होना चाहिये। दोनोंकी क्रिया स्पष्ट प्रदर्शित करनेके लिये हमने मूलमें (ऊपर) स्वेदवह शब्द केवल प्रणालियोंके लिये रखा है।

६—Excretory System—एक्सक्रीटरी सिस्टम।

त्वग्दोषाः सङ्गोऽतिप्रवृत्तिरयथाप्रवृत्तिर्वा मलायतनदोषाः ॥ सु० सू० २४।९

स्वेदकी यथोचित प्रवृत्ति न हो तो मलायतनों (मलस्थानों) के दूषित होनेसे होनेवाले त्वग्विकार उत्पन्न होते हैं। मलायतनोंके दूषित होनेसे सामान्यतः ये रोग उत्पन्न होते हैं—पिडका (फोड़े-फुंसी), रूक्षता, दौर्गन्ध्य आदि त्वग्रोग ; वात, मूत्र, पुरीष, स्वेदादि मलोंका अवरोध ; अतिसार, उदकमेह, अतिस्वेद प्रभृतिके रूपमें मलोंकी अति प्रवृत्ति तथा अस्वाभाविकगन्धवर्णादियुक्त मलोंकी प्रवृत्ति।

स्वेदका कार्य—

स्वेदः क्लेदत्वक् सौकुमार्यकृत् ॥ सु० सू० १५।५ (२)

स्वेद (इसमें आगे कही मेदोग्रन्थियोंका स्राव भी सम्मिलित है) का कर्म त्वचाको स्निग्ध, मृदु और सुकुमार बनाये रखना है।

त्वचा द्वारा शरीरोष्माका नियमन—

त्वचाका एक कार्य, जैसा कि कह आये हैं, शरीरके ऊष्माका नियमन है। यह कार्य स्वेदद्वारा होता है। शरीरका ऊष्मा सदा प्रायः ९८° से ९९° फा० रहता है। व्यायाम या श्रमके कारण शरीरके ऊष्मामें वृद्धि हो जाय, किंवा धूप-तापके कारण चतुर्दिक् वातावरण उष्ण होनेसे ऊष्मा बढ़ने लगे, तो त्वचाकी केशिकाओंमें रक्तका प्रवाह बढ़ जाता है (इसी कारण गर्मीमें मुख लाल-लाल हो जाता है।) रक्तके आधिक्यके कारण सहज ही स्वेदग्रन्थियोंसे स्वेदका स्राव भी अधिक होने लगता है। वायु लगनेसे यह स्वेद बाष्प होकर उड़ जाता है। बाष्पीभवनके लिये अपेक्षित ताप त्वचासे मिलता है, जिससे त्वचाका और परम्परया शरीरका ऊष्मा न्यून हो जाता है।

इसके विपरीत शीतमें त्वचाकी रक्तवाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं और त्वचामें रक्तका प्रवाह अल्प हो जाता है। अतः स्वेदके न्यून होनेसे शरीरका ऊष्मा गिरने नहीं पाता। शीत जलसे स्नान करें तो इस प्रक्रियानुसार शरीरकी उष्णतामें वृद्धि ही होती है। दूसरी ओर, उष्ण जलसे स्नान शरीरके ऊष्माको न्यून ही करता है। परिणामतया शीत जलसे स्नानके पश्चात् स्फूर्तिका अनुभव होता है, और उष्ण जलसे स्नान करनेके अनन्तर शीत प्रतीत होता है। अनभ्यस्त पुरुषोंको उष्ण जलके इस विलक्षण प्रभावका अनुभव विशेष हो सकता है। प्रकृत्या अथवा रोगादिसे दुर्बल शरीरवालोंको स्नान करते कराते हुए शीत जलके इस गुणका स्मरण रखना चाहिये। परन्तु ध्यान रहे जल सुखद शीत और स्नान मात्रावत् ही होना चाहिये। शीत जलसे आर्द्र वस्त्रखण्डसे घर्षण भी उपयुक्त है। जलचिकित्साके नानाप्रयोग शीत जलके इस प्रभावके सुन्दर कल्प हैं।

त्वचा द्वारा शरीरोष्माकी वृद्धि और ह्रासका नियमन अन्य प्रकारसे भी होता है। ऊष्माकी वृद्धिसे त्वचाकी ओर रक्त अधिक आता है। वाहन[1] द्वारा उसके ऊष्माके वातावरणमें मिल जानेसे भी शरीरोष्मा न्यून होता है। इसके विरुद्ध शीतमें रक्तवाहिनियोंके संकोचके कारण ऊष्माका रक्षण होता है।

शरीरमें तापकी उत्पत्ति तथा उसके नियन्त्रणका विचार अधिक विस्तारसे नवम अध्यायमें (पृ० १८२—८५) कर आये हैं। उसे इस प्रसंगमें पुनः देख लेना चाहिए।

त्वचाकी रक्तवाहिनियोंका संकोच-विकास तथा स्वेदग्रन्थियोंका कर्म नाडीसंस्थानमें स्थित उनके केन्द्रोंके अधीन है। कई औषध भी इन केन्द्रोंपर क्रिया करके स्वेदमें वृद्धि या ह्रास करते हैं।

१—Convection—कन्वेक्शन।

स्वेदकी वृद्धि करनेवाले द्रव्य स्वेदल[1] कहाते हैं। त्वचा और वृक्क मलोत्सर्गकी क्रिया सहकारपूर्वक करते हैं। उष्ण ऋतुमें जब स्वेद अधिक होता है तब मूत्र न्यून आता है। इसके विपरीत शीत कालमें स्वेद न्यून और मूत्र अधिक आता है। हाथ और पैरके तलोंमें स्वेदग्रन्थियाँ प्रभूत होती हैं, जिससे इन स्थानोंमें स्वेद विशेष होता है। यौवनके आरम्भमें कक्षा (काँख), जननेन्द्रियों तथा स्तनप्रदेशोंकी स्वेदग्रन्थियोंका आकार बढ़ जाता है।

स्वेद सर्वदा स्रुत होता रहता है और सामान्यतः उड़ता रहता है, अतः ज्ञात नहीं होता। वातावरण आर्द्र हो किंवा स्वेदका स्राव अति शीघ्र हो तो स्वेद कणिकाओंके रूपमें प्रकट होता है।

अन्य धातुओं और मलों के सदृश स्वेदका प्रमाण नियत है। च० शा० ७।१५ के अनुसार शरीरमें जल (जिसमें स्वेदगत जल प्रधान है) का प्रमाण अपने हाथकी दश अञ्जलि रहना चाहिये[2] नव्य गणनासे एक अहोरात्रमें कोई दो पाउण्ड स्वेद निकलता है। इस प्रमाणमें क्षय वा वृद्धि विकारसूचक है।

स्वेदक्षयके लक्षण तथा चिकित्सा—

स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता त्वक्शोषः, स्पर्शवैगुण्यं स्वेदनाशश्च ; तत्राभ्यङ्गः स्वेदोपयोगश्च ॥ सु० सू० १५।११

स्पर्शवैगुण्यमिति स्वेदक्षये वृद्धवातेन ज्ञेयम्, स्तब्धरोमकूपता स्वेदक्षयेण तेषां शुष्कत्वात् ॥ —चक्रपाणि

चकारात् स्वेदजननकुक्कुटवराहादिमांसोपयोगश्चाभ्यन्तरो लभ्यते ॥ —डह्लन

स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः ॥ अ० हृ० सू० ११।२२

व्यायामाभ्यञ्जनस्वेदमद्यैः स्वेदक्षयोद्भवान् ॥ अ० हृ० सू० ११।३३

अभ्यङ्गव्यायाममद्यस्वप्ननिवातशरणस्वेदैः ॥ अष्टाङ्गसंग्रह

स्वेद (स्वेदग्रन्थियों तथा मेदोग्रन्थियोंका स्राव) क्षीण होनेपर रोमकूपोंका अवरोध, त्वचाकी रूक्षता, त्वचाका फटना, स्पर्शज्ञानका शुद्ध न होना तथा रोमपात ये लक्षण होते हैं[3]। अभ्यङ्ग, व्यायाम मद्य, निद्रा, स्वेदन (विभिन्न सेक), निवात (वायुरहित) गृहमें वास तथा स्वेदल द्रव्योंका सेवन— इनसे क्षीण स्वेद पुनः साम्यावस्थाको प्राप्त होता है।

स्वेदकी अतिवृद्धिके लक्षण—

स्वेदः (अतिवृद्धः) त्वचो दौर्गन्ध्यं कण्डूं च (आपादयति) ॥ सु० सू० १५।१५

१—Diaphoretic—डायाफोरेटिक् ; या Sudorific—स्यूडारिफिक्

२—देखिये—२१ वाँ अध्याय।

३—मलक्षयके सामान्य लक्षण—

मलायनानि चान्यानि शून्यानि च लघूनि च।
विशुष्काणि च लक्ष्यन्ते यथास्वं मलसंक्षये ॥ च० सू० १७।७२

तत्तत् मलका क्षय होनेपर उसके स्थान शून्य (मल-रहित), लघु तथा शुष्क हो जाते हैं।

स्वेद[1]की वृद्धिसे त्वचामें दुर्गन्ध और कण्डू (खाज) उत्पन्न होते हैं।

स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं लोमकूपाश्च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अस्वेदनमतिस्वेदनं पारुष्यमतिश्लक्ष्णतामङ्गस्य परिदाहं लोमहर्षं च दृष्ट्वा स्वेदवहान्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ च० वि० ५।८

स्वेदविकार स्वेदवह स्रोतों (ग्रन्थियों और प्रणालियों) की दुष्टिसे होते हैं। ये विकार निम्न हैं—स्वेदावरोध, अतिस्वेद, त्वचाकी परुषता, त्वचाकी अति स्निग्धता, अङ्गोंमें दाह, लोमहर्ष[2]।

व्यायामादतिसंतापाच्छीतोष्णाक्रमसेवनात्।
स्वेदवाहीनि दुष्यन्ति क्रोधशोकभयैस्तथा ॥ च० वि० ५।२२

स्वेदवह स्रोतोंकी दुष्टि व्यायाम, अति धूप-ताप; शीत और उष्णका अयोग्य सेवन; तथा क्रोध शोक, भय इनके कारण होती है।

कर्णमल (कानका मैल) भी ग्रन्थियोंसे उत्पन्न होता है। ये ग्रन्थियाँ स्वेदग्रन्थियोंके ही विकार हैं। कर्णमल कर्णविवरको स्निग्ध रखता है।

मेदोग्रन्थि[3]—

ये छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ हैं। ये प्रत्येक लोम वा केशके चारों ओर अनेक होती हैं। इनका स्नेहमय स्राव[4] लोमकूपोंके ऊर्ध्वभागमें स्नुत होता है और वहाँसे त्वचापर आता है। यह लोमों और केशों तथा त्वचाको स्निग्ध रखता है। जहाँ केश अधिक होते हैं, वहाँ मेदोग्रन्थियाँ भी अधिक होती हैं; यथा शिरमें। मेदःस्राव स्नेहाम्लोंकी विद्यमानताके कारण अम्ल होता है। अतिस्वेद अथवा अस्नान दशामें इन्हीके कारण त्वचाका गन्ध बहुत अप्रिय होता है। मेदःस्नुतिकी अधिकताके कारण त्वचा अत्यधिक स्निग्ध रहती है।

मेदःस्रावकी वाहिनियोंके छिद्र रुद्ध हो जायँ तो अवरुद्ध मेद सञ्चित होकर ग्रन्थियोंको फुला देता है, जिससे त्वचापर छोटी-छोटी पिडकाएँ प्रकट होती हैं[5]। मुखपर मेदोग्रन्थियाँ अधिक होती हैं[6]। उक्त पिडकाएँ भी अतएव मुखपर अधिक होती हैं। इन्हें मुखदूषिका या यौवनपिडका[7] कहते हैं। कोई-कोई आचार्य यौवनपिडकाको शुक्रका मल मानते हैं।

स्यात् किट्टं केशलोमास्थ्नः ॥ च० चि० १५।१९
× × नखरोम च ॥
× × धातूनां क्रमशो मलाः ॥ सु० सू० ४६।५२७

१-२—यहाँ भी स्वेदसे स्वेदग्रन्थि और वक्ष्यमाण मेदोग्रन्थि दोनोंके स्रावोंका ग्रहण होना चाहिये। स्वेदके कर्म तथा स्वेदकी क्षय-वृद्धिके लक्षण बतानेवाले पूर्वधृत आयुर्वेदोक्त वाक्योंका अर्थ उभय स्रावोंको दृष्टिमें रखते हुए किया जाय तभी आधुनिक प्रत्यक्षानुसारी हो सकेगा।

३—Sebaceous glands—सेबेशस ग्लैण्ड्स।

४—इसे अंग्रेजीमें Sebum—सीबम कहते हैं।

५—देखिये इसी अध्यायमें मलायतन दोष।

६—इसी कारण मुखकी द्युति अन्य स्थानोंकी अपेक्षया अधिक होती है।

७—Acne vulgaris—एकनी वल्गेरिस; या Acne—एकनी।

केश, लोम तथा नख अस्थिधातुके मल हैं। नव्य मतसे इनका अस्थिसे सम्बन्ध विदित नहीं होता। ये सब त्वचा ही के विकार (रूपान्तर) हैं। अतः इनकी एक ही वर्गमें स्थापना अवश्य संगत है।

केश-लोम-नख-त्वचा तथा आगे कही श्लेष्मकला सबमें निचले-निचले स्तरों या कोष-श्रेणीसे ऊपर-ऊपरके स्तरोंका निर्माण होता रहता है। नवजात कोष-श्रेणियाँ अपने ऊपरकी कोष-श्रेणियोंको धकेलती हुई उनका स्थान लेती जाती हैं[1]। केश, लोम और नखोंकी इस प्रकार वृद्धि होती है। बढ़े हुए केशादि कर्तन या मुण्डन द्वारा कम कर दिये जाते हैं। त्वचाका सबसे बाहरका स्तर केशादिके सदृश ही निष्प्राण होता है। स्नान, उद्वर्तन (उबटन) आदि द्वारा यह भी दूर कर दिया जाता है। अंगुली या हथेलीके घर्षणसे त्वचासे जो मैलकी वर्तियाँ उतरती हैं वे वस्तुतः मृत त्वचा ही हैं। बाह्य धूलि, स्वेदका घन अंश तथा मेद भी इसमें यत्किंचित् मिश्रित होता है। कलाका ऊपरी स्तर भी इसी भाँति निर्जीव होता है। विशेषतः आनाह (कब्ज), ज्वर आदिमें कलाके आभ्यन्तर स्तरकी कोष-श्रेणीका विनाश शीघ्र होता है। आनाह प्रभृतिमें जिह्वापर तथा मुखमें जो मलकी श्वेत परत दिखाई देती है, वह मृत कोष-श्रेणी ही है। दन्तधावनमें चीरी या जिह्वानिर्लेखनी द्वारा जिह्वाका यह मल पृथक् कर दिया जाता है। महास्रोतकी कलाके आभ्यन्तर स्तरकी कोष-श्रेणी पुरीषकी रचनामें अंशतः भाग लेती है, और गुदमार्गसे बाहर निकाल दी जाती है[2]।

रोम और केश—

रोमों तथा केशोंके दो भाग होते हैं—मूल तथा काण्ड। मूल भाग स्थूल होता है और छोटे-से गर्त (गढ़े) में रहता है। बाल उखाड़नेमें कभी-कभी यह स्थूल भाग भी साथ आ जाता है। रोम या केशका श्यामादि वर्ण उनमें स्थित रञ्जक द्रव्य[3] के कारण होता है। वार्धक्यमें इसके अभावसे केश श्वेत हो जाते हैं।

प्रत्येक रोम या केश स्वतन्त्र मांससूत्रोंसे अन्वित होता है। शीत, भय या एड्रीनलीन[4] के अति स्रावसे ये सूत्र सङ्कुचित हो जाते हैं, जिससे इनसे सम्बद्ध केश खड़े हो जाते हैं। इससे त्वचा कुछ रूक्ष-सी प्रतीत होती है। इस अवस्थाको रोमाञ्च कहते हैं। इन मांससूत्रोंका सङ्कोच नाडी-संस्थानके अधीन है।

अन्तस्त्वक्में सूक्ष्म अङ्कुर[5] होते हैं। बहिस्त्वक् इन्हीं पर आवृत होती है। हथेली और तलुओंपर ये अंकुर बड़े और रेखाओंमें स्थित होते हैं। इनकी इस रचनाके कारण ही बहिस्त्वक्का आवरण भी सम-विषम होता है जिससे सामुद्रिक शास्त्रमें प्रसिद्ध रेखाएँ तथा शङ्खचक्रादि बनते हैं। इन अङ्कुरों और रोमोंके मूलके चारों ओर स्पर्शवह (संज्ञावह) नाडियोंके प्रतान होते हैं।

अन्तस्त्वक् और बहिस्त्वक्के मध्यवर्ती कोषोंमें मेलेनिन[6] नामक रञ्जक होता है। इसीके श्याम, काँसे-जैसे तथा पीत आदि वर्णोंके कारण विविध जातियों और मनुष्योंके विविध वर्ण होते हैं।

१—सु० शा० ४।४ में त्वचाके स्तरोंका निर्माण बताते हुए उपमा दी है कि जैसे दूधको पकाते समय मलाईकी तहें उत्पन्न होती हैं, वैसे शरीरमें त्वचाओंकी उत्पत्ति होती है—'तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभिपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भवन्ति।' यह उपमा ऊपर कही नीचेकी ओरसे क्रमिक उत्पत्तिका ही निर्देश करती है।

२—देखिये ३० वाँ अध्याय।

३—Pigment—पिगमेण्ट।

४—अधिवृक्क ग्रन्थियोंका स्राव।

५—Papilla—पेपिला।

६—Melanin—मेलेनिन।

इनके अभावमें त्वचा स्वाभाविक अरुण वर्णकी होती है। यह अरुणवर्ण अन्तस्त्वक्‌में स्थित केशिकाओंके कारण होता है। यूरोपीयनोंमें रञ्जक न्यूनतम तथा हबशियोंमें अधिकतम होता है[1]।

प्रकृत-विकृति परीक्षामें अन्य सारोंके सदृश त्वचाका भी सार देखा जाता है। रस-सार नामसे उसके लक्षण इक्कीसवें अध्यायमें लिखे जा चुके हैं।

छाया तथा उसके भेद—

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या।
मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम्॥
प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु।
छाया या सा प्रतिच्छाया, च्छाया वर्णप्रभाश्रया॥ च० इ० ७।८।९

आकृति अथवा आकार (अवयवोंकी रचना – घड़न तथा संनिवेश—स्थिति) का नाम संस्थान है। यह दो प्रकारकी होती है—सुषम (सुघटित) तथा विषम। प्रमाण (डील-डौल, लम्बाई-चौड़ाई) के तीन भेद हैं—महत् (विशाल), लघु तथा मध्य। जल, दर्पण, धूप आदिमें संस्थान और प्रमाणके सदृश जो छाया (प्रतिबिम्ब) पड़ती है उसे प्रतिच्छाया कहते हैं। जो छाया वर्ण तथा (आगे कही जानेवाली) प्रभाके आश्रयमें रहती है, उसे केवल छाया कहते हैं।

वर्णमाक्रामति च्छांया भास्तु वर्णप्रकाशिनी।
आसन्ना लक्ष्यते च्छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते॥ च० इ० ७।१६

छाया और प्रभामें भेद यह है कि छाया वर्णको दबा देती है; (छाया बलवती हो तो उसके आगे वर्ण ठीक-ठीक लक्षित नहीं होता।) इसके विपरीत प्रभा वर्णको और भी प्रकाशित (विस्पष्ट) कर देती है। दोनोंमें दूसरा भेद यह है कि छाया निकटसे ही दिखाई देती है, (जैसे चित्रगत छाया निकटसे ही देखी जा सकती है)। परन्तु प्रभा दूरसे भी सुस्पष्ट होती है, (यथा मणि, मुक्ता आदिकी प्रभा दूरसे भी जानी जाती है)।

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च॥
रूक्षा श्यावारुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया॥
शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी॥
वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः सुखोदयाः।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा॥ च० इ० ७।१०।१३

आकाशादि पाँच भूतोंके प्राधान्यसे छायाके पाँच भेद होते हैं। इनके नाम और लक्षण ये हैं—नाभसी छाया निर्मल, नीलवर्ण, स्नेहयुक्त तथा उज्ज्वल होती है। वायवी छाया रूक्ष, श्याव-

---

१—स्तन ग्रन्थियोंका आश्रय भी स्वेद और मेदकी ग्रन्थियोंके सदृश त्वचा ही है। इनका तथा इनके स्राव—स्तन्य—का वर्णन अगले अध्यायमें होगा।

अरुण (राख जैसा तथा गुलाबी रंग लिये) तथा निष्प्रभ होती है। आग्नेयी छाया विशुद्ध रक्तवर्णकी, अति उज्ज्वल तथा नेत्रप्रिय होती है। आम्भसी (जलीय) छाया शुद्ध वैदूर्यके समान विमल तथा अतिस्निग्ध होती है। पार्थिवी छाया स्थिर, स्निग्ध, घन, श्लक्ष्ण (चिकनी) तथा श्याम और श्वेत होती है। इनमें वायवी छाया (अकस्मात् उत्पन्न हो तो) विनाशकी सूचक तथा (स्वाभाविक—जन्मजात हो तो) क्लेशकी सूचक है[1]।

प्रभा तथा उसके भेद—

स्यात् तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता॥
तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः॥ च० इ० ७।१४।१५

प्रभा सभी तैजस (तेजःप्रधान) होती हैं। इनके सात भेद हैं—रक्त, पीत, श्वेत, श्याव (राख सदृश), हरित, पाण्डुर तथा कृष्ण। इनमें जो विकासिनी (सब ओर प्रसृत होनेवाली), स्निग्ध तथा विशाल हों वे शुभसूचक होती हैं। रूक्ष, मलिन तथा संक्षिप्त प्रभाएँ अशुभकर होती हैं। [अर्थात् अकस्मात् उत्पन्न हों तो मरणसूचक तथा सहज (जन्मजात) हों तो अति दुःखसूचक हैं[2]]।

कला—

त्वचा जिस प्रकार शरीरको बाहरसे आवृत किये रहती है वैसे कला शरीरके अन्तर्गत धातुओं (दोषों, धातुओं और मलों) को आवृत किये रहती है।—

कलाः खल्वपि सप्त भवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः॥ सु० शा० ४।५

दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः, तेषामाशया अवस्थानप्रदेशा, धात्वाशयाः, तेषामन्तरेषु मर्यादाः सीमाभूता इत्यर्थः॥ —डल्हन

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा हि धातुर्मांसेषु[3] छिद्यमानेषु दृश्यते॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान्विदुः॥ सु० शा० ४।६।७

१—यह वायवी छाया हृदयके स्वाभाविक या आकस्मिक दौर्बल्य अथवा उसकी कपाटिका आदिमें किसी प्रकारकी विकृति (Organic Heart-disease—ऑर्गेनिक हार्ट डिसीज) के कारण रक्तकी शुद्धि पूर्ण न होनेसे होती है, एवं यह हृदय दौर्बल्य प्रकट करती है। अंग्रेजी में इसे सायनोसिस—Cyanosis कहते हैं।

२—छाया, प्रतिच्छाया, वर्ण तथा प्रभाकी परीक्षा रोगोंमें अरिष्ट (मरण-लक्षण) देखनेके लिये होती है। छायादि सम्बन्धी अरिष्ट च० इ० अ० ७ में देखिये।

३—प्रसङ्गके अनुसार तथा काष्ठीय आवरणकी उपमाका विचार करते हुए यहाँ मांस शब्दका अर्थ प्रसिद्ध मांस न होकर 'कला' है।

कलाएँ सात होती हैं। ये दोषों, धातुओं और मलोंके आशयों (स्थलों) के मध्यमें सीमारूप होती हैं (—भित्तियोंके समान एक दोष, धातु या मलको अन्य दोष, धातु या मलसे पृथक् करती और रखती हैं)। काष्ठोंको छीलने पर जैसे उनके अन्दर सार (अन्तर्वर्ती भाग) दीख पड़ता है वैसे ही कलाओंको हटानेपर उनका अन्तर्वर्ती धातु दिखाई देता है। ये कलाएँ स्नायुओं (सूत्रों) से बनी हुई, जरायु (गर्भावरण) के समान स्वरूपवाली (सूक्ष्मजालरूप) तथा श्लेष्मासे वेष्टित व्याप्त होती हैं[1]।

१—(क) कई विद्वानोंका मत है कि संहिता ग्रन्थोंमें इस लक्षण के आगे दी सात कलाएँ उदाहरणरूप हैं, परिसंख्यान नहीं हैं। कारण, इस श्रेणीमें अस्थि, मूत्र, मज्जा, फुप्फुस आदिकी आवरक कलाओंका निर्देश नहीं हुआ है, यद्यपि लक्षणके अनुसार वे भी कलाएँ ही हैं।

(ख) 'संतत' का अर्थ 'समं सदृशं ततं विस्तृतं' ऐसा किया है।

(ग) 'स्नायु' शब्द संहिताओंमें दो अर्थोंमें व्यवहृत होता है—शणके सूत्रों जैसे सूक्ष्म सूत्र तथा इनसे बने बन्धन विशेष। अंग्रेजीमें इन्हें क्रमशः Fibre—फाइबर, तथा Ligament—लिगमेंट कहते हैं। कलाके लक्षणमें प्रथम अर्थ अभीष्ट है।

(घ) आगे दी हुई कलाओंका स्वरूप प्रत्यक्ष देखनेसे विदित होता है कि सभी कलाएँ स्नायुओंसे निर्मित, जरायुसदृश और श्लेष्मासे वेष्टित नहीं होतीं। किन्तु कोई स्नायुनिर्मित, कोई जरायुतुल्य तथा कोई श्लेष्मवेष्टित होती हैं। घाणेकरजी इन्हें क्रमशः Fibrus—फाइब्रस, Serous—सीरस, तथा Mucous—म्यूकस कहते हैं। कलाओंका सामान्य लक्षण उनका दोषादिका आवरक होना है।

(ङ) आधुनिक क्रियाशारीरका वर्णन करते हुए 'कला' शब्दका प्रयोग प्रायः Mucous Membrane—म्यूकस मेंब्रेनके लिये होता है। कोई स्पष्टताके लिये म्यूकस मेंब्रेनको श्लेष्मकला भी कहते हैं। वैसे म्यूकस मेंब्रेन तीन प्रकारकी कलाओंमें तृतीय भेद है।

(च) शार्ङ्गधर सात कलाओंमें सुश्रुतोक्त श्लेष्मधरा कलाका नाम नहीं देता, तथा यकृत्-प्लीहामें एक पृथक् कलाका निर्देश करता है। देखिये—शा० पूर्वखंड ५-६।

उनतीसवाँ अध्याय

अथातः स्तन्यार्तव विज्ञानीय मध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

स्तनके कार्य—

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वजननं जीवनं चेति॥ सु० सू० १५।५

जीवनं बालानां, तेषामेव स्त्रीक्षीरसात्म्यत्वात्॥ —डल्हन

स्तन्य (दुग्ध) शिशुओंका सर्वोत्तम पोषक और बलवर्धक होनेसे जीवनरूप है। इसके प्रादुर्भावकालमें स्तनोंका आकार बढ़ जाता है।

शिशुका सर्वोत्तम आहार माताका दूध—

प्रकृतिभूतत्वात् तत् (स्तन्यं) पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति॥ च० शा० ८।५४

मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तद्ध्यलं देहवृद्धये॥ अ० हृ० उ० १।१५

माता (अथवा परीक्षित धाय) का दूध शिशुके लिये सर्वोपरि प्राकृतिक आहार है[1]।

अहारप्रकरणोक्त प्रोटीन प्रभृति समस्त द्रव्य दूध और अण्डोंमें यथोचित प्रमाणमें होते हैं। शिशु और अण्डस्थ जीवका एकमात्र आहार दुग्ध और अंडा होता है। अतः प्रकृतिने इन्हें सर्वात्मना परिपूर्ण बनाया है। पर इनकी यह परिपूर्णता केवल शिशुओंके लिये है। [कारण, युवा आदिको अपेक्षित प्रमाणमें नाइट्रोजन तथा कार्बोहाइड्रेटकी प्राप्तिके लिये दुग्धकी अत्यन्त विपुल राशि ग्रहण करनी पड़ेगी, जो रुचिविरुद्ध होगी। इसके सिवाय, इतने दूधमें प्रोटीन तथा स्नेहकी अधिकता भी हानिकर होगी। फिर दूधमें अयस् (लोहे) की इयत्ता अति न्यून होती है; अतएव चिरकाल तक दूध पर रखे गये शिशुपाण्डुर होते हैं। एवं अण्डे में प्रोटीन यथेष्ट होते हुए भी कार्बोहाइड्रेटोंका प्रौढोचित प्रमाण नहीं होता।]

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।
दद्यादा स्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया॥ सु० शा० १०।४८

मातृदुग्धके अभावमें शिशुको बकरी वा गौका दुग्ध मात्रावत् पिलायें। यतः, उनके गुणधर्म मातृदुग्धके समान होते हैं।

मातृदुग्धकी विशेषता—

आजकल मातृदुग्धके प्रतिनिधिरूपमें ताजे अथवा रासायनिक विधियोंसे शोषित गोदुग्धका बहुत व्यवहार होता है। इसमें प्रोटीनका अंश कहीं अधिक तथा शर्करा और स्नेह किंचित् न्यून होनेसे जल डालकर हलका कर लिया जाता है तथा ऊपरसे थोड़ी खाँड और क्रीम मिला दी जाती है।

१—तुलनाके लिये देखिये—It has been shown that the milk best adapted for the nutrition of the young animal is that which comes from its mother, or, at least from an animal of the same species.

Handbook of Physiology. (31st edition) P. 445

तथापि, गोदुग्ध मातृदुग्धका स्थान सर्वथा नहीं ले सकता[१]। गौ और नारीके दुग्धमें प्रोटीन एक ही जाति और नामकी होते हुए भी गोदुग्धकी प्रोटीन गुरु होती है। महास्रोतमें पाकके पूर्व दूध दहीके रूपमें परिणत होता है। नारीदुग्धका परिवर्तन दहीके छोटे-छोटे खण्डोंमें होता है, जिससे पाचक रस इनके भीतर प्रवेश कर तदन्तर्गत प्रोटीनको सम्यक् पचा सकते हैं। गोदुग्धका परिवर्तन चकत्तेके रूपमें होता है, जिसका फल विपरीत होता है। दहीके खण्ड छोटे करनेके अभिप्रायसे गोदुग्धको यवमण्ड[२] किंवा चूनेके पानी[३]के साथ मिश्रित कर दिया जाय तो भी पाचनक्रियाकी गति अपेक्षया मन्द होती है। वाग्भटने गोदुग्धको औषध द्रव्योंसे भावित करके सेवन करनेका विधान किया है; कदाचित् इससे गोदुग्धकी उक्त विक्रिया शान्त होती हो—

ह्रस्वेन पञ्चमूलेन स्थिराभ्यां वा सितायुतम् ॥ अ० हृ० उ० १।२०

मातृदुग्धके अभावमें शिशुको गौ या बकरीका दुग्ध देना हो तो लघु पञ्चमूल[४] या शालिपर्णी, पृश्निपर्णी और मिश्रीके साथ देना चाहिये।

स्तन्यका स्थान—

रसाद् स्तन्यं (प्रसादजम्) ॥ च० चि० १५।१७

रसप्रसादो मधुरः पक्काहारनिमित्तजः।
कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते ॥
विशस्तेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ सु० नि० १०।१८-१९

स्तन्यमुच्यते इति शेषः ॥ —डल्हन

स्तन्य आहारसे उत्पन्न हुए रसका मधुर सार (प्रसाद) है। यह शुक्रके सदृश समस्त शरीरमें स्थित होता है। आगे कहे कारणोंसे सर्वाङ्गसे सिमटकर स्तनोंमें आता है[५]।

१—It is universally ackonwledged that, after all cow's milk is but a poor substitute for human milk. *Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 445.*

२—Barley water—बार्ले वाटर। ३—Lime water—लाइम वाटर।

४—शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोखरू।

५—उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य तथा शुक्रकी सारे शरीरमें स्थितिका तात्पर्य—

उत्पत्तिके पूर्व स्तन्य सारे शरीरमें व्याप्त रहता है उसका अर्थ यही है कि वह अपने कारणभूत रस (रस-रक्त) के रूपमें सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। डल्हन और गयदास दोनों टीकाकार स्पष्ट कहते हैं कि "यहाँ स्तन्यके सम्पूर्ण शरीरसे स्तनोंमें आनेका अभिप्राय यह है कि (स्तन्यका पूर्व-रूपभूत) रस व्यानवायु द्वारा सारे शरीरमें विक्षिप्त (प्रसारित) किया जाता है—कृत्स्नदेहात् इत्यादि—'रसधातोर्व्यानविक्षिप्तस्य सर्वदेहगतत्वात्'।" मूल संहितामें इन पद्योंके आगे शुक्रको भी स्तन्यके सदृश सारे देहमें स्थित कहा है। स्पष्ट ही उत्पत्तिके पूर्व शुक्रके सारे देहमें स्थित होनेका तात्पर्य भी यही होना चाहिये कि कारणभूत रस धातुके सर्वशरीराश्रित होनेसे शुक्रको भी सर्वशरीराश्रित कहा गया है। परन्तु शुक्र स्व-रूपसे भी सारे शरीरमें व्याप्त है। इसी कारण उसके लिये पृथक् कलाकी भी कल्पना की गयी है। शुक्रके स्व-रूपसे शरीरमें व्याप्त होनेका नव्यमतसे कथंचित् इतना साम्य है कि—

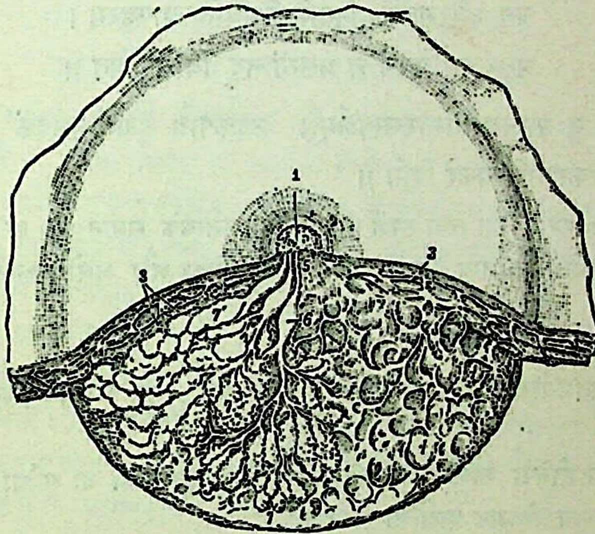
वृषणोंका अन्तःस्राव सर्वशरीरगत होता है।

धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः ।
तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः ॥
स्वभावादेव विवृता जायन्ते ॥ सु० नि० १०।१६।१७

कन्या अर्थात् असंजातगर्भाओंके स्तनोंकी दुग्धहरिणी नलियाँ[1] संकुचित होती हैं। प्रसूताओं और सगर्भाओंमें ये स्वभावसे ही विस्तृत हो जाती हैं।

स्तन—

स्तन दुग्धस्रावी छोटी-छोटी ग्रन्थियोंके व्यूह हैं। ग्रन्थियोंका स्राव (दुग्ध) छोटी दुग्धहरिणी प्रणालियोंमें एकत्र होकर बड़ी प्रणालियोंमें आता है। बड़ी प्रणालियाँ संख्यामें १५ से २० तक होती हैं। इनका मुख चूचुकमें खुलता है। स्तनग्रन्थियोंकी क्रिया किन्ही (वात) नाडियोंके अधीन नहीं है। स्त्रीबीजके अन्तःस्रावोंका विवरण करते हुए कह आये हैं कि—प्रतिमास स्त्रीबीजसे उत्पन्न हुआ एक अन्तःस्राव ईस्ट्रिन स्तनोंको दुग्धोत्पादनके प्रयोजनसे पुष्ट करता है। यही द्रव्य



चित्र—४६

स्तन। नीचेका भाग काटकर दिखाया गया है। 1—चूचुक; 7-7-7—दुग्धग्रन्थियाँ; 6—एक दुग्धहरिणी; 4—दुग्धग्रन्थियोंको आश्रय देनेवाले स्नायुसूत्रोंके बने अवकाश।

गर्भाशयमें पहुंच उसमें गर्भावस्थोचित परिवर्तन लाता है। गर्भस्थिति न हुई तो इसकी दोनों अवयवोंपर क्रिया लुप्त हो जाती है। परिणामतया, स्तन पटक जाते हैं—तथा गर्भाशयसे आर्तवके रूपमें रक्त-क्षरण होता है। अपरासे भी ऐसा ही अन्तःस्राव उत्पन्न होता है। पोषणिकाका एक

१—Lactiferous ducts—लैक्टीफेरस डक्ट्स। ऊपर धृत पद्यमें धमनी शब्द दुग्ध वहन करनेवाली प्रणालियोंके लिये आया है। धमनी, सिरा, नाडी आदि संज्ञाओंका विप्लव प्राचीन-नवीन वैद्यक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। देखिए—प्रत्यक्ष शारीर उपोद्घात। दुग्धहरिणी शब्द प्राचीन है—'पक्वे तु दुग्धहरिणीः परिहृत्य नाडीः' (सु० नि० १७।४७)।

अन्तःस्राव स्तनोंको दुग्धकी प्रवृत्ति करनेके लिए प्रेरित करता है[1]। उल्लिखित सुश्रुतवाक्यमें यह सब विषय 'स्वभावादेव'[2] शब्द द्वारा जताया है। दुग्ध भर जानेसे दुग्धहरिणियाँ विस्तृत होकर स्तनोंको और पीवर (पुष्ट) बना देती हैं।

आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः॥
तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात् स्मरणादपि।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते॥
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रसवे हेतुरुच्यते॥ सु० नि० १०।२१।२३

स्त्रीस्मरणादिसे जैसे शुक्रका आविर्भाव होता है, वैसे ही सन्तानके स्पर्श, दर्शन, ग्रहण और स्मरणमात्रसे वात्सल्यवश स्तन्य क्षरित होता है।

निर्दोष दुग्धका लक्षण—

यत् क्षीरमुदके क्षिप्रमेकीभवति पाण्डुरम्।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद् विनिर्दिशेत्॥ सु० नि० १०।२५

स्तन्यसंपत् तु प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शम्। उदकपात्रे दुह्यमानमुदकं व्येति[3], प्रकृतिभूतत्वात् तत् पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति॥ च० शा० ८।५४[4]

जिसका वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श वातादिदूषित स्तन्यके समान न हो[5] तथा जलपात्रमें डाला जानेपर जो जलसे मिल जाय, वह स्तन्य अविकृत, पुष्टिकर और आरोग्यकर है।

स्तन्यके क्षय और वृद्धिके लक्षण—

स्तन्यक्षये स्तनयोर्म्लानता स्तन्यासंभवोऽल्पता वा; तत्र श्लेष्मवर्धनद्रव्योपयोगः॥
सु० सू० १५।१२

स्तन्यका क्षय होनेपर स्तनोंकी म्लानता तथा स्तन्य न्यून आना वा सर्वथा न आना ये लक्षण होते हैं। इसका उपाय श्लेष्मल द्रव्योंका सेवन है[6]।

स्तन्यं स्तनयोरापीनत्वं मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं तोदं च॥ सु० सू० १५।१६

स्तन्यकी वृद्धिसे स्तनोंकी विशालता, समय-असमयपर स्तन्यकी स्रुति तथा स्तनोंके तननेसे वेदनाविशेष होते हैं। (शिशुकी मृत्यु, चूचुक धँसे होनेसे उनका पान शक्य न होना--इत्यादि

१—देखिये—पृ० ४३९-४०; ४४२।
२—गयदास ने तो टीकामें स्पष्ट कहा है—हेत्वन्तरमपश्यन्नाह—स्वभावादेवेति।
३—व्येति व्याप्नोतीत्यर्थः। —चक्रपाणि
४—स्तन्यपरीक्षा सु० शा० १०।३१ पर भी देखिये।
५—सु० नि० १०।२३-२४, च० शा० ८।५५ तथा च० चि० ३०।२३२-२५० में वातादिदूषित स्तन्यके लक्षण कहे हैं।
६—स्तन्यक्षयके कारण तथा स्तन्यवर्धन द्रव्य सु० शा० १०।३० में तथा स्तन्यवर्धन और स्तन्यशोधन द्रव्य च० सू० ४।१२ में देखिए।

निमित्तोंसे भी स्तन्य-वृद्धि हो सकती है। प्रसवके अनन्तर—विशेषतया प्रथम-प्रसवामें—स्तनोंके तनावसे ज्वर भी हो आता है।)

तेषां (अतिवृद्धानां रसादीनां) यथास्वं संशोधनं क्षपणं च क्षयादविरुद्धैः क्रिया-विशेषैः प्रकुर्वीत ॥

सु० सू० १५।१७

प्रवृद्ध स्तन्यका संशोधन करे (चुसवाकर किंवा ब्रेस्ट-पम्प[१]से निकलवा दे) तथा स्तन्य-वृद्धिहर (लघु) द्रव्योंका मात्रावत् सेवन करे। (तनावके कारण ज्वर हो तो स्तनोंपर गैरिक या गिले-अरमनी—गैरिक-भेद—लगाए। इससे स्तन बैठ जाते हैं और ज्वर निवृत्त होता है)।

आर्तवका सामान्य परिचय—

रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत्।
तद् वर्षाद् द्वादशादूर्ध्वं याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ सु० सू० १४।६
तद् वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ सु० शा० ३।११

बारहवें वर्षके पश्चात् स्त्रियोंके योनिमार्गसे प्रतिमास रक्तका स्राव हुआ करता है, जिसे आर्तव, पुष्प या रज कहते हैं। इसकी उत्पत्ति भी रससे ही होती है। प्रत्येक आर्तव कोई तीन दिन रहता है। पचास वर्षके वयके आसपास शरीरके जरावस्थासे पक्व होनेसे आर्तव आना बन्द हो जाता है। इस स्थितिके लिये रजोनिवृत्ति[२] शब्द प्रसिद्ध है। (प्रसवके पीछे स्तन्य-पानके दिनोंमें कोई पचास प्रतिशत स्त्रियोंमें आर्तव-प्रवृत्ति नहीं होती[३]।

रक्त आनेकी इस प्रक्रियाका भाषामें नाम मासिक धर्म[४] है। प्रथम मासिक धर्म (रजोदर्शन) की सुश्रुतोक्त आयु मध्यम (औसतन) है। यह आगे पीछे भी हो सकता है। शीतप्रधान देशोंमें उष्ण देशोंकी तुलनामें देरसे रजोदर्शन होता है; तीक्ष्णोष्ण-आहारसेवियोंमें तथा सिनेमा, उपन्यास-वाचन आदिके नगरसुलभ वातावरणमें रजोदर्शन शीघ्र होता है। कृश और अल्परक्त कन्याओंमें यह स्वभावतः देरसे होता है। आर्तवकालमें स्त्रीको रजस्वला कहते हैं। आर्तवदर्शनके दिनसे प्रारम्भ करके सोलह दिन अथवा आर्तवानन्तर स्नानके पश्चात् बारह दिनका काल गर्भधारणके लिये अनुकूल होनेसे ऋतु कहलाता है। इस कालमें स्त्रीको ऋतुमती कहते हैं[५]।

१—Breast-Pump. २—Menopause—मेनोपॉज़।

३—देखिये—About 50% of all women do not menstruate while they are nursing at the breast (during lactation), vide Ideal Marriage, P. 101.

४—Menstruation—मेन्स्ट्रुएशन; या Monthly course—मन्थली कोर्स; या Menses—मेन्सिज़; संक्षिप्त नाम M. C.—एम० सी०।

५—इस कालमें स्त्रीमें पुरुष-समागमकी इच्छा अधिकतम होती है। ऋतुमतीके लक्षणोंमें आचार्योंने इस प्रत्यक्षका उल्लेख किया है। जैसे क्षुधाका उदय भोजनका तथा तृषाका उदय जल-पानका सर्वोत्तम काल है, वैसे जिस काल समागमकी इच्छा हो वह गर्भधारणका सर्वोत्तम काल होता है। आधुनिकोंने भी ऋतुकाल और समागमेच्छाके इस सम्बन्धका दर्शन किया है। देखिये—

Desire, it has been said, does not remain on a level, but waxes and wanes. These fluctuations in the strength of sexuality are more obvious amongst women than amongst men, just as it is during "œstrus" or heat, that the female animal

रजोदर्शन तारुण्य[1] के पदार्पणका सूचक है। इसमें गर्भाशय आदि जननावयवोंका विकास पूर्ण हो जाता है ; स्तन पुष्ट हो जाते हैं। कुमारोंमें भी इस अवस्थामें जननेन्द्रियोंकी पूर्णता, मुखपर रोमोद्गम तथा कण्ठकी स्वरतन्त्रियोंकी वृद्धि के कारण स्वरकी गम्भीरता हो जाती है। रजोनिवृत्ति ४५ से ५० वर्षके मध्यमें होती है।

आर्तवकी प्रवृत्तिका कारण—

मासेन रसः शुक्रं स्त्रीणां चार्तवं[2] भवति। सु० सू० १४।१४

सूक्ष्मकेशप्रतीकाशा बीजरक्तवहाः[3] सिराः।
गर्भाशयं पूरयन्ति मासाद् बीजाय जायते॥ —विश्वामित्र

मासेनार्तवस्य भवनमुपचयोऽभिप्रेतः प्रकाशश्च। यस्मादार्तवस्य रक्तवत् सप्ताहेनैवोत्पत्तिरिति। —डह्लन

ते (द्वे धमन्यौ) एव रक्तमभिवहतो विसृजतश्च नारीणामार्तवसंज्ञम्॥ सु० शा० ९।७

आर्तववहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः॥ च० शा० ९।१२

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥ सु० शा० ३।१०

नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥ सु० शा० ३।९

योनिर्गर्भाशयः॥ —डह्लन

मासिक रक्त सर्वदेहाश्रित रक्तसे अभिन्न है। परन्तु उसकी पुष्टि और आविर्भाव एक मासमें होता है। केशके सदृश सूक्ष्म सिराएँ (केशिकाएँ)[4] इस रक्तसे परिपूर्ण होकर गर्भाशय (गर्भाशयकी कला) को पुष्ट करती हैं। इन केशिकाओंका पूरण दो धमनियों द्वारा आये रक्तसे होता है। इस रक्तसे पुष्ट हुआ गर्भाशय बीज—पुंबीज—के ग्रहणके लिये तैयार होता है। वायुके प्रभावसे यह कुछ कृष्ण और विकृत गन्धवाला रक्त योनिद्वारपर आकर निकल जाता है। (इस अवसरपर गर्भस्थिति न हो तो) गर्भाशय (कला) पुनः संकुचित हो जाता है। रक्तका वहन और

---

allows the approach of the male, so in a women the period of maximum desire generally falls somewhere about the time of menstruation, Dr. Katharine Davis, in her study of the sex life of over 2,000 women, found that the period of maximum desire was always noted within a period beginning from two days before and ending a week after menstruation. Vide, The Physiology of Sex, By Kenneth Walker, P. 64.

१—Puberty—प्युबर्टी।

२—इस आर्तवका अर्थ कोई-कोई स्त्रीशुक्र करते हैं। देखिये सु० सू० ४।१४ पर डह्लन तथा चक्रपाणि।

३—बीजरक्तं बीजभूतं रक्तमार्तवमित्यर्थः॥ —चक्रपाणि

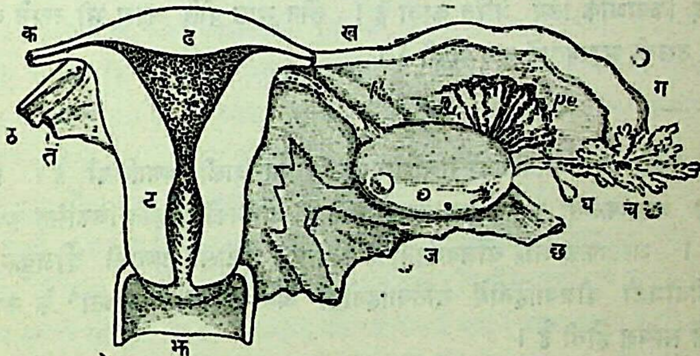
४—विशेषणको देखते हुए यहाँ सिराओंका अर्थ निःसंशय केशिकाएँ हैं।

उत्सर्ग करनेवाले स्रोत दो हैं[1]। इनका एक मूल (अर्थात् एक अन्त) गर्भाशयमें होता है, दूसरा आर्तवका वहन करनेवाली धमनियोंमें[2]।

आवश्यक होनेसे नव्यमतानुसार उक्त वचनोंकी व्याख्या करते हैं।

अन्तःफल तथा स्त्रीबीज—

गर्भाशयके दोनों ओर १½ इञ्च लम्बी, ¾ इञ्च चौड़ी तथा ½ इञ्च मोटी एक-एक ग्रन्थि होती है। इन्हें अन्तःफल[3] कहते हैं। (देखिये चित्र ४७) इनका कार्य प्रतिमास बारी-बारीसे एक स्त्रीबीज[4] उत्पन्न करना है। कन्याके जन्मके समय प्रत्येक अन्तःफलमें ७०,००० स्त्रीबीज आम (अपक्व, अविकसित) दशामें रहते हैं[5]। प्रथम रजोदर्शनसे रजोनिवृत्ति तक, नाम आयुके पन्द्रहवें वर्षसे पैतालीसवें वर्ष तक, प्रतिमास एकके हिसाबसे, सम्पूर्ण आयुमें कोई ४०० ही स्त्रीबीज पक्वता (पूर्णता) को प्राप्त होते हैं। गर्भस्थितिमें केवल एक स्त्रीबीज आवश्यक होता है, जिसमें एक ही पुंबीजके प्रवेशसे एक नवीन कोष उत्पन्न होता है। यही गर्भका आदि रूप है। यह सुविदित है कि गर्भस्थिति प्रतिमास नहीं होती। सर्व आयुमें गर्भस्थितिकी संख्या अत्यल्प होती है। इन गर्भस्थितियोंमें प्रयोजित स्त्रीबीजोंको छोड़ शेष पक्वापक्व समस्त स्त्रीबीजोंसे कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। स्त्रीबीजोत्पत्तिमें प्रकृति की इस उदारताका हेतु प्राणिसमाजकी वृद्धिको अक्षुण्ण बनाये रखना है। पुंबीजोंको प्रस्तुत करनेमें प्रकृतिकी उदारता इससे भी अधिक है। जैसा कि लिख आये हैं, एक बारके मैथुनमें जो शुक्रोत्सर्ग होता है, उसमें बीस करोड़से अधिक पुंबीज होते हैं।



स्त्रीके जननावयव। चित्र—४७

झ—योनिमार्ग; ट—गर्भाशयका दक्षिण पार्श्व (दीवाल); 'ढ' के नीचे—गर्भाशय (गर्भाशय लम्बाईकी दिशामें काटकर दिखाया गया है); ख-ग—बीजवाहिनी; 'च' के ऊपर—पुष्पित प्रान्त (फिम्ब्रिएटेड एण्ड); घ—बीजकुल्या; 'ज' के ऊपर अण्डाकृति अवयव अन्तःफल है। इस चित्रमें एक ही ओरके बीजवाहिनी, अन्तःफल आदि दिखाये गये हैं।

१—ऊपर धृत सु० शा० ९।७ तथा सु० शा० ३।१० में कही दो आर्तववह धमनियाँ नवीनोंकी Uterine arteries—यूटेराइन आर्टरीज़ हैं। ये गर्भाशयको रक्त पहुंचाती हैं, जिससे आर्तव उत्पन्न होता है। २—घाणेकरी सुश्रुत-टीकामें सप्रमाण लिखा है कि प्राचीन मतसे आर्तव दो प्रकारके हैं। इनमें योनिमार्गसे स्रुत होनेवाला आर्तव तो गर्भस्थितिमें भाग लेता नहीं। शेष, जिसे अन्तःपुष्प कहा है वह—नवीनोंका स्त्रीबीज—द्वितीय आर्तव है। इसका वहन करनेवाले दो आर्तववह स्रोत आधुनिकोंकी बीजवाहिनियाँ (फैलोपियन ट्यूब) होनी चाहिए।

३—Ovary—ओवरी। अन्तःफल शब्दका विचार पृ० १४६ पर किया है। वहाँ देखिये।

४—Ovum—ओवम। ५—आम स्त्रीबीजोंको अंग्रेजीमें Oocytes—ऊओसाइट्स कहते हैं।

बीजपुट तथा बीजपुटकिण—

इनका विवरण अन्तःफलोंके अन्तःस्रावके प्रकरणमें किया ही जा चुका है। प्रसंगोपात्त थोड़े में फिर इनका वर्णन करते हैं।

स्त्रीबीजोंका एक बुद्बुदाकार आवरण होता है, जिसे बीजपुट[१] कहते हैं। स्त्रीबीज जब पक हो चुकता है तब बीजपुट स्वभावतः फट जाता है और स्त्रीबीज उससे च्युत हो जाता है। इस प्रकार स्वतन्त्र हुआ स्त्रीबीज बीज-वाहिनी द्वारा गर्भाशयकी ओर आता है। इसकी खोजमें संचार करते हुए अगणित पुंबीजों में कोई एक इसे पा लेता और इसमें प्रविष्ट हो जाता है। फटे हुए बीजपुटके भग्नावशेषमें बीजपुटकिण[२] नामक ग्रन्थिकी रचना होती है। बीजपुट एवं बीजपुटकिण दोनोंका एक-एक अन्तःस्राव सर्वाङ्गके रक्तप्रवाहमें मिलकर गर्भाशय और स्तनोंमें पहुंचता है तथा अपने प्रभावसे उनमें क्रमसे गर्भधारण और दुग्धस्रावके लिए पुष्टि उत्पन्न करता है। किसी कारण गर्भस्थिति न हो तो बीजपुटकिण क्षीण होकर नष्ट हो जाता है, जिससे गर्भाशयकी अन्तःकला सहसा फट जाती है और रक्तस्राव (मासिक) होता है। बीजपुट तथा बीजपुटकिणकी क्रिया भी पोषणिकाके एक अन्तःस्रावकी प्रेरणासे होती है।

आर्तव-प्रवृत्तिमें विदीर्ण गर्भाशयकी अन्तःकलाको प्रकृतिस्थ होनेमें कोई एक पक्ष लगता है। इसके कुछ काल पीछे पुनः यथोक्त कारणोंसे अगली आर्तव-प्रवृत्तिकी तैयारी होने लगती है। इस अवधिमें गर्भस्थिति हो गई तो बीजपुटकिण भी अक्षीण रहता है, और गर्भाशयको गर्भधारणानुकूल रक्तोपचय आदि क्रियाओंके लिये प्रेरित करता है। तीन मास पीछे अपरा भी अपने बीजपुटकिणके अन्तःस्राव द्वारा उसकी सहायतामें लग जाती है।

बीजवाहिनी[३]—

ये अन्तःफलसे च्युत स्त्रीबीजको गर्भाशय तक ले जानेवाली प्रणालियाँ हैं। इनका प्रभव (उत्पत्तिस्थल) अन्तःफलसे कुछ अन्तरपर होता है। प्रभवकी आकृति विकसित कूष्माण्ड-पुष्पके सदृश होती है[४]। अन्तःफल और बीजवाहिनीके मध्य एक छोटीसी प्रणाली बीजकुल्या[५] नामक होती है। स्त्रीबीजकी बीजवाहिनीमें गतिवाहिनीकी अन्तःकलाकी पक्ष्मलता[६] के कारण होती है और कुछ दिनोंमें सम्पन्न होती है।

आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयम्, अग्नीषोमीयत्वाद् गर्भस्य ॥

सु० सू० १४।७

१—Graafian Follicles—ग्राफिअन फौलिकल्स। यह संज्ञा उपर्युक्त प्रक्रियाके आविष्कर्ता 'Rejnier de Graaf' के नाम पर रची गयी है।

२—Corpus Luteum—कौर्पस ल्यूटियम।

३—Fallopian tube—फैलोपिअन ट्यूब, या Oviduct—ओवीडक्ट्, या Uterine tube—यूटराइन ट्यूब, या Salpinx—सैल्पिंक्स। जैसा कि इसी अध्यायमें ऊपर कह आये हैं, आधुनिकोंको फैलोपिअन ट्यूब प्राचीनोंके आर्तववह स्रोत हैं। तथापि अधिक अर्थबोधक और प्रचरित होनेसे इस ग्रन्थमें इनके लिए बीजवाहिनी संज्ञा ही रखी है।

४—इसे अंग्रेजीमें Fimbriated end—फिम्ब्रिएटेड एण्ड कहते हैं।

५—Ovarian Fimbria—ओवेरियन फिम्ब्रिया।

६—देखिये—पृ० १७०-७१।

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्युना विशेषेण, परस्परोपकारात्, परस्परानुप्रवेशाच्च ।। सु० शा० ३।३

गर्भ अग्नीषोमाय होता है। आर्तव अग्निगुणप्रधान है, और शुक्र जलगुणप्रधान। अन्य भी भूतोंका गर्भमें आश्रय है ही। कारण, संसारके समस्त द्रव्योंमें एक भूतकी प्रधानता होते हुए भी अन्य भूत भी परस्पर उपकार निमित्तसे अनुप्रविष्ट होते हैं।

स्त्रीशुक्र—

योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे ।
तन्न गर्भस्य किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ।। अष्टाङ्गसंग्रह शा० १

समागमकालमें स्त्रियोंके भी शुक्रस्राव होता है, परन्तु उसका गर्भसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

स्त्रियोंके योनिद्वारसें अन्दरके भागमें दोनों ओर दो-दो ग्रन्थियाँ होती हैं। इनका नाम योनिद्वारिक[1] है। इन्हीका पिच्छिल स्राव आचार्योंके मतमें स्त्रीशुक्र है[2]।

१—Glands of Bartholin—ग्लेण्ड्ज़ आफ बार्थोलिन।

२—भारतीय जनताके समान पाश्चात्य जनतामें भी यह मत प्रचलित है कि स्त्रियोंमें भी पुरुषोंके शुक्रस्रावके समान एक वेगवान् स्राव होता है, जो उनमें तृप्तिका सूचक है। पाश्चात्य कामशास्त्री भी इस विषयका वैज्ञानिक विवरण करनेका प्रयत्न करते हैं। प्रख्यात डच कामशास्त्री 'वान ड वेल्ड' (Van De Velde) ने अपने 'आयडियल मैरेज' (Ideal Marriage पृ० १९५-१९६) में इस विषयका विचार करते हुए कहा है कि "समागमके समय योनिद्वारसे प्रबल वेगसे होनेवाला स्राव योनिद्वारिक ग्रन्थियोंका स्राव ही हो सकता है। इसका प्रयोजन समागमके समय योनिको स्निग्ध बनाना है। यह स्राव समागमके पूर्व होता है। परन्तु प्रसिद्धि जो है वह यह कि स्त्रियोंमें स्राव तृप्तिके अनन्तर होता है, जब कि इन ग्रन्थियोंका स्राव तो समागमके पूर्व होता है। इसका समाधान करते हुए 'वान ड वेल्ड' कहते हैं कि कभी संभव है कि समागमकालमें यह स्राव वाहिनियोंमें संचित रह जाय और हर्षकी परिसीमाके समय श्रोणिकी पेशियों और पीछेकी ओर योनिकी दीवारोंके संकोचके कारण उत्पन्न दबावसे यह संचित स्राव अतिवेगसे फूट पड़े।" अन्तमें वान ड वेल्डने भग (बाह्य जननावयवों) से होने वाले श्लेष्म-स्राव के प्रति भी संकेत किया है। मूल पुस्तकके अंग्रेजी अनुवादके शब्द निम्न हैं—

"But what of ejeculation ?"...The only substance which can possibly be forcibly expelled (squirted or ejeculated) is the thin fluid which fills the Glandulae vestibularies majores (Bartholin's glands) at the onset of orgasm. We have seen that these glands begin to secrete immediately sexual excitement manifests itself. Skene's glands do the same, but are far too small to furnish enough secretion for an 'ejeculation.' We also know that the mucus secretion follows into the vulva (lubrication or distillation) and is most beneficial or, indeed, necessary in preparing the introitus vaginae to receive the phallos without pain. And this secretion will accumulate during the movements of coitus, so that a certain amount is present in the glandular ducts. And the distended glands are, of course, subject to strong pressure during the powerful spasmodic contractions of the pelvic muscles in the orgasm, while the tense bulbi vestibulae serve as cushion or supports. Thus the secretion collected in Bartholin's glands may, under certain pressure, be squeezed out and forcibly ejected from their orifice'. P. 195-196

आर्तवका कार्य—

रक्तलक्षणमार्तवं गर्भकृच्च ॥ सु० सू० १५।५

प्राकृत आर्तव जीवरक्तके समान ही गुणधर्म रखता है। उसका विशेष कार्य गर्भोत्पत्ति करना है।

ध्यान रहे मासिकमें निःस्रुत आर्तवका गर्भसे कोई सम्बन्ध नहीं। गर्भस्थितिके अनन्तर कालका अनिःस्रुत आर्तव ही गर्भकर्ता है[1]। (इस विषयमें आवश्यक वक्तव्य ऊपर आ चुका है।)

शुद्ध आर्तव—

मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च।
नैवातिबहु नात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥
गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसंनिभम्।
इन्द्रगोपकसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥

च० चि० ३०।२२५-२२६

नीचेके उद्धरणमें कहा है कि—कामोद्रेकके कारण कामच्छत्त फूलकर तन जाता है—बीजवाहिनियों की पेशियां तथा गर्भाशय संकुचित होकर योनिमें प्रभूत द्रव छोड़ते हैं; स्वयं योनिसे भी प्रचुर श्लेष्माका स्राव होता है। यह सब क्रिया लगभग शुक्रोत्सर्ग के समय होती है तथा पुंबीजोंके मार्गको सुगम बना देती है—

In many—probably most-animals the female part in the sexual act would seem to be a much more passive one, from the emotional or Psychological point of view than that of the male. In man, however, as in certain other of the nearly related mammals, psychic and physical events occur in the female not dissimilar from those which take place in the male. As a result of sexual excitement, the clitoris like the penis (of which it is the female counterpart), becomes swollen and erected, while the muscles of the fallopian tubes and the uterus contract and pour down copious fluid into the vagina. The walls of the vagina are stirred into activity and flood it with mucous secretion, generally at the time that semen is ejaculated into the vagina. The spermatozoa emitted by the male thus find themselves in a suitable environment for their progress towards the cavity of the uterus and thence into the oviduct. Vide, the Miracle of Human Body, P. 266.

मेरा झुकाव इस स्रावको स्त्रीशुक्र माननेके प्रति है।

१—सु० शा० २।३६ की टीकामें डह्लन ने स्पष्ट शब्दोंमें यह बात लिखी है। देखिये—"ननु पुराणमार्तवमुपचयाद् दिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं, नूतनं स्वल्पं स्त्यानीभूतमिव प्रवर्तितुमक्षमं, तत् कथमार्तवसंचारो येन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसंघर्षजेनोष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति।"

डॉ० घाणेकरजी इस स्थलपर तथा ऐसे ही अन्य कई स्थलोंपर आये आर्तव या शोणित शब्द का अर्थ 'स्त्रीबीज' करते हैं। सुश्रुत शारीरस्थानकी टीका पृ० २१, कालम २, तथा पृ० ४३ पर उनके दिये युक्ति तथा प्रमाणोंको देखनेसे उनका मत सर्वथा ग्राह्य प्रतीत होता है।

गुञ्जाफलसवर्णमित्यादिना वर्णभेदश्चार्तवे प्रकृतिभेदादेव भवति ॥ —चक्रपाणि

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥ सु० शा० २।१७

जो आर्तव मासमें एक बार आए, जिसमें पिच्छ (श्लेष्म कलाके अभ्यन्तर स्तरके खण्ड—छिछड़े) न हों; जिसके समकाल (क्रमशः पित्त तथा वातकी दुष्टिके द्योतक) दाह या वेदना न हों, जो मात्रामें न तो बहुत अधिक हो न बहुत अल्प, जिसका वर्ण शशकके रक्त, बीरबहूटी, लाक्षारस, गुञ्जाफल, रक्तकमल इनके तुल्य हो; वस्त्रपर लगनेपर जिसके दाग सरलतासे धोये जा सकें तथा जो पाँच अहोरात्र रहे वही आर्तव प्रशस्त नाम स्वास्थ्यका लक्षण है। शुद्ध आर्तवकी रक्तिमामें भी शुद्ध रुधिरके समान (देखिये बाईसवाँ अध्याय) वातादि प्रकृतियोंके कारण, कुछ-कुछ भेद होता है। ये भेद विविध उपमाओं द्वारा शास्त्रकारने प्रदर्शित किये हैं[1]।

रक्त प्रतिमास कोई २२½ तोला निकलता है। इस प्रमाणमें विशेष न्यूनाधिक्य दोषका लक्षण है। एवं, मासके पूर्व आना किंवा मासके पश्चात् आना भी दोषसूचक है। ऋतुकालमें वेदना वातकी तथा दाह पित्तकी विक्रिया सूचित करता है। आर्तवमें स्वभावतः क्षत हुई कलाके खण्ड तथा कलाकी श्लेष्म-ग्रन्थियोंका स्राव मिश्रित होते हैं। कलामें मृदु शोथ[2] हो तो दुर्बल कलाके खण्ड-पिच्छ निकलते हैं। मासिक तीन-चार दिनसे अधिक रहना भी विकारका सूचक है।

आर्तवका क्षय—

आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च; तत्र संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः ॥ सु० सू० १५।१२

आर्तवका क्षय होनेसे नियत कालमें अदर्शन अथवा अल्प प्रमाणमें दर्शन और योनिमें वेदना ये लक्षण होते हैं। इसकी चिकित्सा वमन-विरेचनादि द्वारा दोषशुद्धि, तथा तीक्ष्णोष्ण द्रव्योंके विधिवत् सेवन द्वारा करनी चाहिये।

आर्तव वृद्धि—

आर्तवं (अतिवृद्धं) अङ्गमर्दमतिप्रवृत्तिं दौर्गन्ध्यं च (आपादयति) ॥
च० सू० १५।१६

आर्तवं वृद्धतया वातरोधादङ्गमर्दं करोति ॥ —चक्रपाणि

दौर्गन्ध्यं पित्तधर्मत्वादार्तवस्य, तदुक्तम्—"ईषत् कृष्णं विगन्धं च।" शा० अ० ३ इत्यादि; "दौर्बल्यम्" इत्यन्ये पठन्ति। चकाराद्रक्तगुल्मादीनपि ॥ —डह्लन

अति प्रवृद्ध आर्तव आर्तवकी अतिप्रवृत्ति (रक्तप्रदर) करता है। वात (अर्थात् नाडियों) तथा जठरस्थ दूपित वायुपर दबाव डालकर अङ्गमर्द उत्पन्न करता है; पित्ततुल्य होनेसे विदग्ध होने (सड़ने) के कारण इसमें दुर्गन्ध होता है। यह दौर्बल्य, रक्तगुल्म आदिका उत्पादक है।

१—'मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ सु० शा० ३।१०'—यहाँ शास्त्रकारने आर्तवका वर्ण कुछ काला कहा है।

२—किसी भी स्थानकी श्लेष्मकलामें मृदु शोथ (अभिष्यन्द) प्रायः दूपित कफके कारण तथा तीव्र शोथ और दाह पित्तके कारण होते हैं।

तीसवाँ अध्याय

अथातः पुरीषादिमलविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

रसादि धातुओंका वर्णन करनेके अनन्तर त्वचा, स्तन्य और आर्तव इन उपधातुओंका वर्णन हमने किया। त्वचाके प्रसंगसे स्वेद, रोम, केश, मेद आदि मलों और उपधातुओंका उल्लेख किया गया। अब शेष मल—पुरीष, मूत्र और पित्त (याकृत पित्त) का वर्णन क्रमप्राप्त है। उपधातु होते हुए भी विशेष वक्तव्य होनेसे ओजका वर्णन इसके अनन्तर करेंगे।

आहारके रसभागसे धातु-उपधातुओं तथा किट्टभागसे मलोंकी पुष्टि—

पाचक पित्तकी क्रियासे आहारके दो विभाग हो जाते हैं—रस और किट्ट (मल)। रससे रस-रक्त प्रभृति धातु-उपधातुओंकी पुष्टि होती है और मलसे स्वेद, मूत्र, पुरीष ; मलभूत वात-पित्त-कफ ; कर्ण, नेत्र, नासा, मुख, रोमकूप और जननेन्द्रियके मल, केश-श्मश्रु और नख ये मल उत्पन्न होते हैं। धातुओंके समान मल भी प्रमाणवत् तथा अविकृत रहते हुए शरीरके उपकारक होते हैं। उधर, प्रसादभूत रसादि धातु भी यदि दूषित हो जायं तो शरीरको पीड़ित करते हुए मल कहाते हैं। एवं वातादि तीन तथा रसादि सात धातु और पुरीष, मूत्र प्रभृति मल अविकृत होते हुए तथा हितावह मधुरादि रसोंसे यथायोग्य पुष्टि प्राप्त करते हुए देहको धारण करते हैं।

अनेक प्रसंगोंमें हम देख आये हैं कि शरीर मलसंज्ञक द्रव्योंका भी जीवनोपयोगी क्रियाओंमें कैसा सुन्दर उपयोग करता है। दूषित प्राणवायु (अङ्गाराम्ल) मासिक, रक्त, स्वेद, लोमकूपोंका मल, मलभूत पित्त, (याकृत पित्त) इत्यादि मलोंके कर्म वाचकोंको स्मरण होंगे। आगे कहे जानेवाले मलोंके कर्मोंका निरीक्षण करनेसे मलोंकी देहधारकता और भी स्पष्ट होगी। फलितार्थ यह है कि मलोंके वृद्धिक्षयका ज्ञान, चिकित्सा-कर्मकी सफलताके लिये उतना ही आवश्यक है, जितना धातुओंका। उल्लिखित मलोंमें स्वेदादि कुछ एकका वर्णन किया जा चुका है। शेष पुरीपादि मलोंका क्रमशः वर्णन करते हैं।

पक्वाशयमें मलके तीन विभाग—

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ च० चि० १५।११

अन्नाद्यः किट्टांशस्ततो मूत्रपुरीषे भवतो वायुश्च ॥ च० सू० २८।४ पर चक्रपाणि

तत्रापि (वातस्थानेषु) पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। च० सू० २०।८

भुक्त अन्नका अन्तिम परिपाक क्षुद्रान्त्रोंमें होता है। क्षुद्रान्त्रोंसे प्रसादभूत रस धमनियों और रसायनियों द्वारा सर्वाङ्गमें पहुँचा दिया जाता है। शेष किट्टांश पक्वाशय (स्थूलान्त्रों) में प्रवेश करता है। इस किट्टांशका द्रव भाग वह्नि[1] द्वारा शुष्क कर दिया जाता है। परिणाममें पक्वाशयमें

१—स्थूलान्त्रोंकी कला मलके द्रव अंशको चूस लेती है। उसके इस कर्मको वह्निकर्म कहा है।

प्रवेशके समय जो किट्ट द्रव रूप होता था, वही अब पक्क होकर पिण्डरूप हो जाता और पुरीष नाम धारण करता है। पुरीषके कटुरस होनेसे[1] पक्काशयमें दूषित वायु प्रादुर्भूत होता है। पक्काशय दुष्ट वायुका प्रधान स्थान है। किट्टांशका स्थूल भाग पुरीष होता है और सूक्ष्म भाग मूत्र[2]। एवं, आहारके मलके तीन रूप हैं—पुरीष, मूत्र और मलभूत वायु।

पुरीषधरा कला—

पञ्चमी पुरीषधरा नाम ; याऽन्तःकोष्ठे मलमभिविभजते पक्काशयस्था ॥
यकृत् समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता।
उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥ सु० शा० ४।१६।१७

समन्तात् सर्वतो यकृदादिकं समाश्रिता उण्डुकस्थं मलं विभजते। यकृद्ग्रहणं रक्ताधारसाम्येन प्लीह्न उपलक्षणम्। × × उण्डुकग्रहणेन सांनिध्याद् गुदो गृह्यते, तेनोर्ध्वं यकृदादि व्यवस्थितं, अधस्ताद् गुदपर्यन्तं कोष्ठं समन्तात् समाश्रिता ॥ —डह्लन

पक्काशय वा स्थूलान्त्रमें पुरीषधरा कला स्थित है। यह कोष्ठमें चारों ओर क्षुद्रान्त्र, यकृत् तथा प्लीहाके ऊपर रहती है। आहारका किट्टांश जो प्रथम उण्डुकमें आता है, उसे यह कला पुरीष, मूत्र तथा वायुके रूपमें विभक्त कर देती है[3]।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्काशयो गुदश्च ॥ सु० शा० ९।१२
पुरीषवहानां स्रोतसां पक्काशयो मूलं गुदश्च ॥ च० वि० ५।८

पुरीषधरा कलाके दो विभाग हैं। उनका एक मूल (अन्त—सिरा) गुदमें होता है, तथा द्वितीय पक्काशयमें (पक्काशयके आदिमें ?)।

पक्काशयके विभाग—

आधुनिकोंने भी स्थूलान्त्रोंके कतिपय विभाग किये हैं। प्रथम भाग आयुर्वेदोक्त उण्डुक या पुरीषोण्डुक[4] है। इसका आकार थैली जैसा होता है और लम्बाई कोई चार अंगुल। क्षुद्रान्त्रोंके साथ उण्डुक (अथवा स्थूलान्त्रों) का सम्बन्ध कपाटिकाओं द्वारा होता है। ये कलामयी दो झिल्लियाँ होती हैं। इनका स्वतन्त्र शिखर भाग उण्डुकमें होता है। इनका कार्य मलको क्षुद्रान्त्रोंसे स्थूलान्त्रोंमें जाने देना तथा विपरीत दिशामें जानेसे रोकना है[5]।

१—पुरीषके कटुरस होनेका अभिप्राय १८ वें अध्यायमें देखिये।

२—विवरण आगे इसी अध्यायमें देखिये।

३—उक्त सीमानिर्देश यद्यपि पुरीषधरा कलाका हुआ है, तथापि इसे उसके आश्रयभूत पक्काशय या स्थूलान्त्रका समझ सकते हैं। ग्रहणी या क्षुद्रान्त्रके लिये जैसे पित्तधरा नाम है (देखिये—१८ वाँ अध्याय पृ० ३५२) ऐसे ही स्थूलान्त्रके लिये पुरीषधरा नाम समझा जा सकता है ?

४—उण्डुक संज्ञाका निर्णय प्रत्यक्षशारीर उपोद्घातमें देखिये ; अंग्रेजी नाम—Caecum—सीकम। सु० शा० ४।१७ पर डह्लन कहता है कि जिसे सुश्रुत 'उण्डुक' कहता है, उसीको चरकने 'पुरीषाधार' नाम दिया है, तथा जनतामें (पोटली या थैलीके आकारका होनेसे) इसे 'पोट्टलक' कहते हैं।

५—कपाटिकाओंकी रचना तथा कर्मका स्वरूप इक्कीसवें अध्यायमें पृ० ४७६-७७ पर देखिये।

७७

उण्डुकपुच्छ[1]—यह एक गण्डूपदके आकारकी सामान्यतः ४ इञ्च (कभी-कभी ८ इञ्च भी) लम्बी पोली नली है, जो उण्डुकके आदि भागसे संलग्न होती है। इसका प्रयोजन अविदित है। कभी-कभी इसमें बलवान् शोथ हो जाता है, जिसे एपेण्डिसाइटिस[2] कहते हैं।

उण्डुकका स्थान उदरगुहामें नाभिके कुछ नीचे दक्षिण ओर होता है। स्थूलान्त्रका अगला भाग अंग्रेजीमें कोलन[3] कहाता है। जैसा कि पुरीषधरा कलाके वर्णनके प्रसंगमें कहा जा चुका है, उदरगुहामें स्थूलान्त्रकी अवस्थिति ऐसे वर्गके समान होती है, जिसकी निचली भुजा न हो। अर्थात् यह पहले ऊपरकी ओर जाती है। यकृत्के तलपर आकर यह बाईं ओर मुड़ जाती है। आमाशयके नीचे-नीचे जाती हुई बाईं ओर प्लीहाके तलतक जाती है। वहाँसे यह फिर सीधी नीचेकी दिशामें जाती है। (देखिये चित्र सं० १३, पृ० ३२६) इनके नाम क्रमसे आरोहि स्थूलान्त्र[4], अनुप्रस्थ स्थूलान्त्र[5] तथा अवरोहि स्थूलान्त्र[6] हैं[7]।

गुदनलिका—

स्थूलान्त्रका अवरोहि स्थूलान्त्रसे आगेका भाग (कुण्डलिका) गुरु चिह्न (ऽ) के समान वक्र होता है। इससे आगे स्थूलान्त्रका अन्तिम भाग गुदनलिका होता है। उत्तरगुद[8] चार-पांच इञ्च लम्बा होता है। पुरुषोंमें इसके सामने बस्ति (मूत्राशय) होता है और स्त्रियोंमें गर्भाशय। नीचेकी ओर पुरुषोंमें शुक्राशय, शुक्रवाहिनी तथा बस्तिशिर ग्रन्थि होती है। वार्धक्यमें सूजी हुई

१—Appendix—एपेण्डिक्स। कोई-कोई इसे अन्त्रपुच्छ भी कहते हैं।

भिन्न-भिन्न संहिताओंमें आशयोंकी संख्या तो सात ही कही है, पर उनके नाम-निर्देशमें भेद है। यथा, काश्यप-संहितामें एक कृमि-आशय कहा है। डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी अपने अंग्रेजी ग्रन्थ आयुर्वेदीय शारीरमें इस शब्दका "विग्रह कृमि-सदृश आयश" करके, इसे उण्डुक पुच्छ मानते हैं। इस अवयवका पूर्ण अंग्रेजी नाम है भी Wormiform appendix—वर्मीफॉर्म एपेण्डिक्स। इसके पूर्वपदका अर्थ कृमि-सदृश ही है। परन्तु केवल कृमि-आशय शब्दका यह विग्रह कैसे किया जाय, जब कि अन्य नामोंके विग्रहमें षष्ठी-तत्पुरुष (रक्तका आशय इत्यादि) है।

२—Appendicitis.

३—Colon.

४—Ascending colon—ऐसेण्डिङ्ग कोलन।

५—Transverse colon—ट्रेन्सवर्स कोलन।

६—Descending colon—डिसेण्डिङ्ग कोलन।

७—आनाह (कब्ज) की चिकित्सामें स्थूलान्त्रोंकी उक्त दिशामें पेटकी मालिश की जाती है। इससे अपकर्षणी गतिको उत्तेजन मिलता है, तथा स्थूलान्त्रोंमें स्फूर्ति (टोन—Tone) आती है।

८—Rectum—रेक्टम। प्रत्यक्ष शारीरमें रेक्टमके लिए गुदनलिका इस नवनिर्मित शब्दका व्यवहार हुआ है। परन्तु इसके लिए प्राचीन होनेसे "उत्तरगुद" शब्द ग्रहण करने योग्य है। च० शा० ७।१० में "उत्तरगुद" और "अधरगुद" ये दो कोष्ठांग बताये हैं। इनका अर्थ बताते हुए चक्रपाणि कहते हैं—जहां पुरीष रहता है, उसे उत्तरगुद तथा जिससे निकलता है, उसे अधरगुद कहते हैं—उत्तरगुदो यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्। इससे स्पष्ट है, कि आधुनिकोंका रेक्टम (Rectum) उत्तरगुद तथा एनस (Anus) अधरगुद है। [उत्तर = ऊर्ध्व, अधर = नीचे]

बस्तिशिर ग्रन्थिका गुदद्वारमें अंगुली डालकर अनुभव और निदान किया जा सकता है। प्राकृत बस्तिशिर ग्रन्थिका शिखर अङ्गुलीको स्पर्शसे प्रतीत होता है। शोथ हो तो ऊपर तक अङ्गुली पहुँच नहीं पाती। स्त्रियोंमें इसके नीचेकी ओर योनि होती है। शुक्रावयवोंके समीप होनेके कारण ही पुरीष, मूत्र वा वातके वेगोंके निरोधके कारण इनके दबावसे शुक्रपात होता है। उत्तरगुदमें स्थित सिराओंके विबद्ध मल आदिसे पीड़ित होनेसे उनके अन्तर्गत रुधिरकी ऊर्ध्वगति रुक जाती है। अवरुद्ध रुधिरके कारण सिराएँ फूल जाती हैं। यही रक्तार्शके अंकुर हैं। कभी-कभी सिराएँ फट जाती हैं, और रक्तस्राव होता है। अन्त्रोंका दुष्ट रक्त हृदयकी ओर लौटता हुआ प्रतिहारिणी महासिरामें एकत्र होता है। यह महासिरा विशुद्धिके लिये रक्तको यकृत्‌में ले जाती है। एवं, यकृत्-रोगोंमें अल्प भी कारणसे दूषित रक्त पूर्णतया यकृत्‌के पार न जा सके तो प्रतिहारिणी और उसकी पूरणी सिराओंमें रक्तका आधिक्य हो जाता है, जिससे पूर्ववत् रक्तार्श और रक्तस्राव या रक्तपित्तका प्रादुर्भाव होता है।

गुदद्वार—

स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं वातवर्चोनिरसनं गुदं नाम ॥ सु० शा० ६।२५

उत्तरगुद गुद या पायु नामक छिद्रमें खुलती है। यह आधेसे एक इञ्च लम्बा होता है। इसके दो ओष्ठ[1] या सुषिर पेशियाँ होती हैं। बाह्य ओष्ठ इच्छाधीन होता है तथा आभ्यन्तर दृढ़ ओष्ठ स्वतन्त्र। सम्पूर्ण स्थूलान्त्रकी लम्बाई पाँच फीट होती है।

स्थूलान्त्रोंके इतने तथा दो-एक अन्य विभाग होनेपर भी व्यवहारमें दो ही विभाग हैं—कोलन और उत्तरगुद। चौड़ाईकी दृष्टिसे तो इनका भेद प्रत्यक्ष ही है। कर्मके विचारसे भी दो ही भेद पर्याप्त हैं; कारण कोलनका कार्य पुरीषका संग्रह है और उत्तरगुदका विसर्जन। उत्तरगुदमें मल पहुँचते ही शौचार्थ वेग उत्पन्न होता है। प्राचीनोक्त दो पुरीषवह स्रोत यही प्रतीत होते हैं[2]।

पक्वाशयका कार्य—

पहले कह आये हैं कि स्थूलान्त्रोंका कार्य जलको शोषित कर मलको पिण्डित करना है। अतएव क्षुद्रान्त्रोंसे इनकी रचनामें एक ही भेद है कि इनमें उनके समान अंकुरिकाएँ नहीं होतीं। स्थूलान्त्रोंमें प्रवेशके समय पुरीषमें ९० प्रतिशत जल होता है। जलभाग शोषित होनेपर साधारण मलमें केवल ७० प्रतिशत जल रहता है।

पुरीषका वेग रोकनेसे हानि—

पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम्।
पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद् विधारिते ॥ च० सू० ७।८

मलशुद्धिके उपस्थित हुए वेगको रोकनेसे मल और दूषित वायुकी अप्रवृत्ति (मलकी अप्रवृत्ति=आनाह), पक्वाशय और शिरमें शूल, आध्मान तथा जाँघोंमें उद्वेष्टन (मरोड़नेकी-सी वेदना)—ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

होता यह है कि किसी भी कारणसे पुरीषके वेगकी उपेक्षा की जाय तो वेग शीघ्र ही लुप्त हो जाता है। अगले शौचकालमें ही उसका पुनः उद्भव होता है। स्थूलान्त्र अनिर्गत मलके जलीय

१—Sphincters—स्फिंक्टर्स।

२—पुरीषवहोंका एक अन्त पक्वाशय कहा है, जो चिन्त्य है। हमने पक्वाशयका आदि भाग अर्थ लिया है, जो प्रत्यक्षसिद्ध है।

अंशको और चूस लेती है, जिससे मल ग्रथित हो जाता है—उसकी गाँठें बँध जाती हैं। ये गाँठें इच्छा होनेपर भी मल और वायुको निकलनेसे रोकती हैं। मल और वायुकी ऊर्ध्वगति (अर्थात् स्वाभाविकसे विपरीत दिशामें गुदसे उण्डुककी ओर—गति) भी हो सकती है। परिणाममें उदरशूल आध्मान आदि कोष्ठगत लक्षण उत्पन्न होते हैं। वायु और मलके गृध्रसी आदि नाडियोंपर दबावसे जाँघ आदिमें गौरव और शूल हो सकते हैं। जलके साथ दूषित वायु और विषोंके शरीरमें पहुँचनेसे सर्वाङ्गके विकार भी हो सकते हैं। किं बहुना, शरीरके प्रायः रोग आनाह (कब्ज) के कारण होने सम्भव हैं, और आनाहका प्रधान निमित्त वेगधारण है[1]।

अधोवायुका वेग रोकनेसे हानि—

संगो विण्मूत्रवातानामाध्मानं वेदना क्लमः।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात्॥ च० सू० ७।१२

वायुका वेग रोकनेसे पुरीष, मूत्र और वायुका अवरोध, आध्मान (आफरा), उदरमें वेदना, क्लम (थकान—सुस्ती) तथा इतर वातिक रोग उत्पन्न होते हैं[2]।

आयुर्वेदके अनुसार मूत्रोत्पत्ति—

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्॥ शा० पू० ६।६

पक्वाशयमें शोषित जल रक्तवाहिनियों द्वारा (रक्तमें तथा वहाँसे वृक्कों द्वारा क्षरित होकर) बस्तिमें पहुँचा दिया जाता है। बस्तिसे यह मूत्रके रूपमें बाहर कर दिया जाता है।

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि॥
सु० सू० २१।१०

आमाशय और पक्वाशयके मध्यमें स्थित पित्त आहारको रस और मलमें विभक्त करता है। वायुके अतिरिक्त इस मलके दो विभाग हैं—पुरीष और मूत्र।

नवीन क्रियाशारीरके अनुसार मूत्रमें ९६ प्रतिशत जल तथा शेष घन द्रव्य होते हैं। इनमें किसीकी भी रचनाका कार्य वृक्कोंका नहीं है। वे तो केवल उनका क्षरण (छाननेका कार्य) करते हैं। रक्तमें से मलोंके विघटन और नवीन रूपमें घटनका कार्य यकृत्का है। यकृत्से ये मल पुनः रक्तप्रवाहमें आते और अनुधावनक्रमसे वृक्कोंमें आकर छान दिये जाते हैं[3]। यही मल द्रव्य मूत्रका घन भाग है।

यकृत् पाचकपित्तवर्गीय है, यह हम पहले कह आये हैं। वह मूत्रके घन अंशका विवेचक है, यह आधुनिकोंका भी मत है। मूत्रका ९६ प्रतिशत जलमय भाग, अधिकांश, आहार द्वारा गृहीत

१—देखिये—पृ० ३३१।

२—आयुर्वेदमें क्षयके चार कारणोंमें एक वात, मूत्र और पुरीषके वेगोंका धारण बताया है। (देखिये च० नि० ६।६ तथा सु० उ० ४१।८)। आधुनिक वैज्ञानिक शुक्रक्षयके सदृश (देखिये २७ वाँ अध्याय) वेगधारणकी भी क्षयके कारणोंमें गणना करते नहीं प्रतीत होते।

३—It is important to note that the constituents of urine, with the exception of hippuric acid, and possibly some of the ammonia, are not formed by the kidney, but that the kidney merely excretes them from the blood,

Handbook of Physiology, (31st Edition) P. 564.

और अन्त्रों द्वारा शोषित होता है। (अधिकांश इसलिये कि कार्बोहाइड्रेट आदिके धातुपाकसे भी यत्किञ्चित् जल उत्पन्न होता है) अतः मूत्रका आहारका मल होना तथा अन्त्रोंमें रस और मलके विभागके समय उसका प्रादुर्भाव भी आधुनिक दृष्टिसे अदूषित है।

पुरीषका स्वरूप—

पुरीषके स्वरूपका आधार बहुत कुछ स्थूलान्त्रोंमें बाह्य द्रव्यकी गतिपर अवलम्बित है। इस गतिके उद्दीपक—अवसाद—कारणोंका निर्देश सत्रहवें अध्याय[1]में कर ही आये हैं। पुनरुक्ति-भयसे उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते।

पुरीषका कोई ७० प्रतिशत अंश जल होता है, यह कह आये हैं। शेष घनद्रव्य होते हैं। घनद्रव्योंमें कलाके आभ्यन्तर स्तरके निर्जीव अणु, अन्त्ररस, असंख्यात मृत जीवाणु, सेल्युलोज; आचूषित तथा अपक्व आहार और खनिज द्रव्य होते हैं। घनद्रव्योंका $\frac{1}{3}$ से $\frac{1}{2}$ भाग जीवाणु होते हैं। स्ट्रासबर्गरकी गणनानुसार कोई १२८,०००,०००,०००,००० जीवाणु प्रतिदिन हमारे शरीरसे पुरीष द्वारा निकलते हैं। जो खनिज मल वृक्कोंके द्वारा नहीं निकाले जा सकते हैं, वे मलमार्गसे निकलते हैं। शेष, सेल्युलोजके विषयमें ज्ञातव्य दसवें तथा सत्रहवें अध्याय[2]में कह ही आये हैं। पुरीषका वर्ण याकृत पित्तपर अवलम्बित है, जिसका आगे वर्णन होगा।

पुरीषका कर्म—

पुरीषमुपस्तम्भं वाय्वग्निधारणञ्च (करोति)॥ सु० सू० १५।४ (२)

पुरीषं निःसारमप्याशयबलकारितया वाय्वग्निधारणमुपस्तम्भं च करोति; तदुक्तं—'सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥' च० चि० ८।४२ पर—चक्रपाणि

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं च जीवितम्।
तस्माद् यत्नेन संरक्षेद् यक्ष्मिणो मलरेतसी॥

योगरत्नाकर, भैषज्यरत्नावली

पुरीष देहका धारण तथा वायु और अग्निका धारण[3] करता है। प्राणियों का बल शुक्रके अधीन तथा जीवन मलके अधीन है। राजयक्ष्मामें अग्नि मन्द होनेसे पोषक तत्त्व प्रायः मलरूपमें परिणत हो जाता है, अतः मलकी सविशेष रक्षा करनी होती है।

पुरीषके क्षयके लक्षण—

देहधारक होनेसे पुरीषका नियत प्रमाणमें देहमें रहना आवश्यक है। उसके क्षयके चिह्न निम्न हैं—

पुरीषक्षये हृदयपार्श्वपीडा सशब्दस्य च वायोरूर्ध्वगमनं कुक्षौ[4] संचरणं च॥

सु० सू० १५।११

१—देखिये—पृ० ३३०।३३६। २—देखिये क्रमशः २००, २०३ तथा ३३५ पृष्ठ।

३—मूढवात (इसे आजकल 'गैस' कहते हैं) में मलत्यागके अनन्तर कोष्ठमें वायुका प्रसार होनेसे प्रायः रोगका वेग होता है। इससे समझा जा सकता है कि मल कैसे वायुका धारण करता है।

मल द्वारा अग्निके धारणका अर्थ है—अग्निकी आहारके पाकमें सहायता करना। नव्यमतानुसार इसका स्वरूप पृ० ३५४, ३९३ आदि पर दर्शा आये हैं।

४—कुक्षिरत्र जठरम् —डल्हन

क्षीणे शकृति चान्त्राणि पीडयन्निव मारुतः ।
रूक्षस्योन्नमयन् कुक्षिं तिर्यगूर्ध्वं च गच्छति ॥ च० सू० १७।७०

पुरीषका क्षय (अल्प बनना) होनेपर अन्त्र, हृदय और पार्श्वमें पीड़ा, गड़गड़ाहटके साथ वायुका जठरमें ऊपर, नीचे तथा तिर्यक्गमन और आध्मान ये लक्षण होते हैं ।

अतिसार, विरेचनका अतियोग, लङ्घन आदि में पुरीषका क्षय होकर वायुका प्रकोप पाया जाता है ।

तत्रापि (पुरीषक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्योपयोगः (प्रतीकारः) ॥ सु० सू० १५।११

पुरीषक्षये कुल्माषमापकुष्कुण्डाजमध्ययवशाकधान्याम्लानाम् ॥ च० शा० ६।११[1]

पुरीषका क्षय होनेपर पुरीषवर्धक माष, यव, शाक, भाजी, चोकर आदिका प्रयोग करें ।

इन द्रव्योंमें सेल्युलोज विशेष होता है, जो मलकी राशिको बढ़ा देता है ; तथा अपकर्षणी गतिको सम करके वायुका अनुलोमन करता है ।

पुरीषकी अति वृद्धिके लक्षण—

पुरीषम् (अतिवृद्धं) आटोपं[2] कुक्षौ सूलञ्च (आपादयति) सु० सू० १५।१५
कुक्षावाध्मानमाटोपं गौरवं वेदनां शकृत ॥ अ० हृ० सू० ११।१३

पुरीषकी अतिवृद्धिसे कुक्षिमें शूल, अन्त्रकूजन (गुड़गुड़ाहट) तथा आध्मान और शरीरमें भारीपन होते हैं ।

पुरीषवहस्रोतोंकी दुष्टिका कारण—

संधारणादत्यशनादजीर्णाध्यशनात् तथा ।
वर्चोवाहीनि दुष्यन्ति दुर्बलाग्नेः कृशस्य च ॥ च० वि० ५।२१

वात वा पुरीषके वेगका धारण, अत्यशन, अजीर्ण, अध्यशन—इन कारणोंसे पुरीषवह स्रोत (स्थूलान्त्र) दूषित हो जाते हैं । दुर्बलाग्नि तथा कृश पुरुषके स्थूलान्त्र स्वभावसे दूषित रहते हैं ।

वेगधारणका स्थूलान्त्रोंपर विपरिणाम पीछे देख आये हैं । दुर्बल पुरुषोंके अन्य अङ्गोंके सदृश अन्त्र भी स्वभावतः दुर्बल होते हैं, जिससे वे स्थूलान्त्रके दोषों (आनाह आदि) का सहज ही ग्रास बने रहते हैं । अत्यशन और अध्यशनमें प्रायः अपक्व अन्न स्थूलान्त्रोंमें उतरता है, जिससे प्रवाहिका आदि विकार होते हैं । अजीर्णमें भी इसी भाँति विक्रिया होती है ।

पुरीषवहस्रोतोंकी दुष्टिका लक्षण—

पुरीषवहानां स्रोतसां पक्वाशयो मूलं स्थूलगुदं च । प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति ; तद्यथा—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ च० वि० ५।८

मलोत्सर्गमें कठिनाई ; थोड़ा-थोड़ा शब्द और शूलके सहित मल आना ; अति द्रव या अति

१—इस सूत्रका विचार पृ० २०।१३ पर भी देखिये ।

२—आटोपमीषत्सशब्दमाध्मानम् ॥ —चक्रपाणि

ग्रथित (गाँठोंके रूपमें) मल आना या बार-बार हाजत होना—ये लक्षण स्थूलान्त्रोंके दूषित (रोगाक्रान्त) होनेके हैं। इन्हें देखकर उचित प्रतीकार करना चाहिये।

उक्त लक्षण वर्तमान परिभाषामें कोलनके शोथके हैं, जो प्रवाहिका[1] आदिमें उत्पन्न होता है। इसे अंग्रेजीमें कोलाइटिस[2] कहते हैं।

आम तथा पक्व पुरीषके लक्षण—

दोषादि भेदसे अन्य भेद होते हुए भी चिकित्साकी दृष्टिसे दो भेद द्रष्टव्य होते हैं—आम तथा पक्व। इनके लक्षण निम्नोक्त हैं—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम्॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत्॥ सु० उ० ४०।१७।१८
मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वात्तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्॥ च० चि० १५.९३

आम अर्थात् अपक्व पुरीष वातादिदोषयुक्त, जलमें डूबनेवाला, अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त तथा थोड़ा-थोड़ा (टूट-टूटकर आनेवाला) होता है। पक्व मल इसके विपरीत चिह्नोंवाला अर्थात् दुर्गन्धरहित, बँधा हुआ, पानीमें तैरनेवाला (कफदूषित न हो तो) तथा शरीरमें लघुता (हलकापन-स्फूर्ति) से युक्त होता है।

इन लक्षणोंमें व्यवहारमें दुर्गन्ध होना या न होना इन लक्षणोंसे ही पुरीषकी सामता या निरामता की परीक्षा की जाती है।

मूत्र आहारका मल है—

पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरस-मूत्रपुरीषाणि॥ सु० सू० २१।१०

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीष...... पुष्यन्ति॥ च० सू० २८।४

विण्मूत्रमाहारमलः॥ सु० सू० ४६।५२८

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्॥ च० चि० १५।१८

आहारस्य रसः सारः सारहीनो मलद्रवः।
शिराभिस्तज्जलं नीतं वस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात्॥ शा० पू० ६।६

पाचकपित्तकी क्रियासे परिपक्व हुआ आहार सारभूत रस और असारभूत मलमें विभक्त हो जाता है। मल दो प्रकारका होता है—घन और द्रव। घन मल पुरीष है, जिसका वर्णन अभी ही कर

१—Dysentery—डिसैण्ट्री। २—Colitis—कोलाइटिस।

आये हैं। शेष द्रवांश विशिष्ट वाहिनियों द्वारा मूत्राशयमें[1] पहुंचा दिया जाता है, और मूत्र[2] संज्ञा धारण करता है।

मूत्रसम्बन्धी अवयव और मूत्रनिर्माण—

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद् वस्तावधि संश्रितम्।
एवा ते मूत्रम्—॥ अथर्व १।३।३[3]

आन्त्रेभ्यो विनिर्गतस्य मूत्रस्य मूत्राशयप्राप्तिसाधने पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ॥ —सायण

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च[4]॥ सु० शा० ९।१२

वृक्कौ पुष्टिकरौ ज्ञेयौ जठरस्थस्य मेदसः[5]॥ शा० पू० ५।४१

वृक्कौ मांसपिण्डद्वयम्। एको वामपार्श्वस्थितः, द्वितीयो दक्षिणपार्श्वस्थितः॥
सु० नि० ९।१८ पर डल्हन

मूत्रवहे (स्रोतसी) द्वे, तयोर्मूलं वस्तिर्मेढ्रं च॥ सु० शा० ९।१२

१—मूत्रनिर्माणका यह क्रम अपूर्ण है। विशेष वक्तव्य तथा सम्पूर्ण क्रम आगे देखिये।

२—पुरीष जिस प्रकार आहारका साक्षात् मल है, मूत्र वैसा नहीं है। किन्तु सर्वशरीरमें अनुधावन करता हुआ रक्त जब वृक्कोंको प्राप्त होता है तो उनके आन्त्र नामक सहस्रों स्रोत उसके अन्तर्गत मल अंश और उचितसे अधिक जलका निर्हरण कर लेते हैं। यही निर्हृत द्रव्य मूत्र कहाते हैं।

मूत्र आहारका मल कैसे है ?

ऊपर धृत चरक वाक्य (सू० २८।४) में आहारके किट्टांशसे पुरीषके साथ स्वेद, मूत्र, वात, पित्त, श्लेष्मा; कर्ण-नेत्र-नासिका-मुख-लोमकूप और जननावयवोंके मल, तथा केश, श्मश्रु, लोम, नख आदि मलोंकी भी पुष्टि गिनाई है। इनमें मूत्रसे भिन्न मलोंका आयुर्वेदानुसार भी आहारसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उनके पृथक्-पृथक् उत्पत्तिस्थान आयुर्वेदमें स्पष्ट कहे गये हैं। तथापि इनकी उत्पत्ति इस सूत्रमें आहार ही से कही है। उसकी उपपत्ति इस प्रकार हो सकती है कि जैसे रस, रक्त, मांस आदि धातुओंकी पुष्टि आहारसे होती है, वैसे ही इन मलोंकी पुष्टि भी अन्तको तो आहार ही से होती है। अतः उन सबको आहारका मल कहा है। मूत्रको जो आहारका मल कहा है, उसका समाधान भी इसी प्रकार करना चाहिये। इन मलोंमें पुरीष और मूत्र प्रधान हैं, अतः संहिताओंमें बहुधा इन्हींको आहारका मल कहा है; यथा 'विण्मूत्रमाहारमलः।' 'किट्टमन्नस्य विण्मूत्रम्।' इत्यादि। गौण और प्रधानमें प्रधानका ग्रहण शास्त्र और लोकमें सम्मत है—'प्राधान्येन हि व्यपदेशा भवन्ति।'

३—इस श्रुतिमें रुद्ध मूत्रके स्रावणका वर्णन है। मूत्र अपने आदि उत्पत्तिस्थानसे लेकर निर्गमनद्वार तक कहीं भी रुद्ध हो सकता है। उन्ही स्थानोंके कथनके प्रसङ्गसे इसमें मूत्रसंस्थानके समग्र अवयवोंका नामोल्लेख हो गया है। उपलब्ध आयुर्वेदमें मूत्रसम्बन्धी अवयवोंका ऐसा निर्देश नहीं पाया जाता।

४—५—इन वचनोंका समन्वित अर्थ यह है कि—'वृक्क दो हैं। इनका कार्य जठरस्थ मेदकी पुष्टि करना है। मेदोवह स्रोत दो हैं—इनका एक मूल (सिरा) वृक्कोंमें होता है, दूसरा कटिमें।' आधुनिक शारीरके साथ इन वचनोंकी सङ्गति बैठाना कठिन है। हमने ये वचन केवल यह जतानेके लिये दिये हैं कि लुप्तप्राय आयुर्वेदमें भी वृक्कोंके अस्तित्व तथा उनकी संख्याके ज्ञानके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। यह भी सम्भव है कि भविष्यमें इनका मेदके साथ कुछ सम्बन्ध प्रकट हो जाय।

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च ॥ च० वि० ५।८

अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो बस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते ॥ सु० शा० ६।२५

कट्यामित्युपलक्षणं, तेन नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफांसि गृह्यन्ते ; तदुक्तं—"नाभिपृष्ठ··· अधोमुखः" इति ॥ —डल्हन

नाभिपृष्ठकटीमुष्कगुदवङ्क्षणशेफसाम् ।
एकद्वारस्तनुत्वक्को मध्ये बस्तिरधोमुखः॥
बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव पौरुषं वृषणौ गुदम् ।
एकसम्बन्धिनो ह्येते गुदास्थिविवरस्थिताः ॥
अलाब्वा इव रूपेण सिरास्नायुपरिग्रहः ।
मूत्राशयो मलाधारः प्राणायतनमुत्तमम् ॥
पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः ।
तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥[1]
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः ।
नाडीभिरुपनीतस्य मुखस्यामाशयान्तरात् ॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव स निःस्यन्देन पूर्यते ।
आमुखात् सलिले न्यस्तः पार्श्वेभ्यः पूर्यते नवः ॥
घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते ॥ सु० नि० ३।१८।२४

× × प्राणानामग्नीषोमादीनाम्, आयतनं स्थानम् । × × मूत्रवाहिन्यौ मूलधमन्यौ द्वे, तच्छाखाभूता दशधा शतधा सहस्रधा च विभिद्यन्ते । × × आमाशयान्तरात् आमपक्वाशयान्तरात् × × ॥ —डल्हन

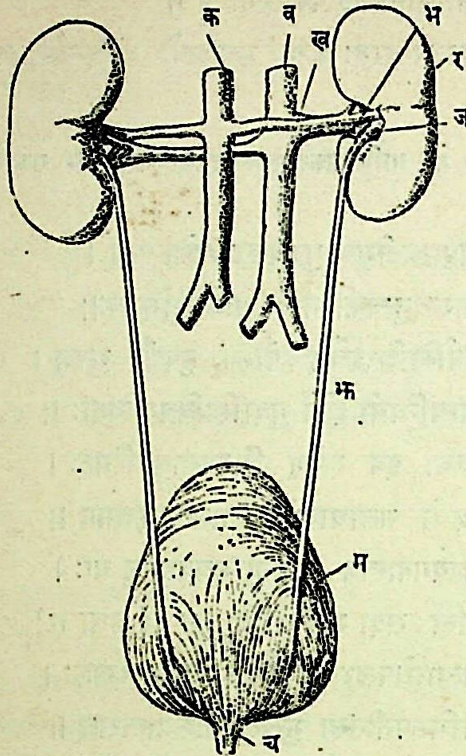
बस्तिस्तु स्थूलगुदमुष्कसेवनीशुक्रमूत्रवहानां नाडीनां मध्ये मूत्राधारोऽम्बुवहानां सर्वस्रोतसामुदधिरिवापगानां प्रतिष्ठा ॥ च० सि० ९।४

मूत्रवहशुक्रवह-मुष्कस्रोतो-मूत्रप्रसेक-सेवनी-योनि-गुद-बस्तीनष्टौ परिहरेत् ॥ सु० चि० ७।३६[2]

मूत्रप्रसेकस्रोतसी स्त्रीपुंसयोः, अभेदेनोक्तत्वात् । मूत्रप्रसेको नाम मूत्रं येन बस्तिमुखाश्रयेण स्रोतसा क्षरति ॥ सु० चि० ७।३३ पर डल्हन

१—यहाँ 'मूत्र' शब्दका अर्थ मूत्राशय (मूत्रयन्त्र) है । कारण, अगले श्लोकोंसे विदित होगा कि इस श्लोकमें स्थित क्रियापद 'तर्पण' का अर्थ 'पूरण' है और पूरण मूत्राशयका ही मूत्रके द्वारा होता है ; यह इन्हीं श्लोकोंमें तथा इसी अध्यायमें आगे कहे मूत्रके कर्मोंसे ज्ञात होगा । अतः यहाँ व्याकरणके नियमानुसार उत्तरपद 'आशय' का लोप समझना चाहिये ।

२—यह संदर्भ अश्मरीके शस्त्रकर्म प्रकरणका है । 'मूत्रप्रसेक' के परिचयके लिए यहाँ उद्धृत किया है । २७ वें अध्यायमें 'शुक्रोत्पादक अवयव' शीर्षकके नीचे धृत सु० शा० ४०।२२ में मूत्रप्रसेकको 'मूत्रपथ' कहा है ।



मूत्रयन्त्र (वृक्क, गवीनियाँ तथा मूत्राशय) पीछेकी ओरसे। चित्र—४८

क, व—वृक्कोंकी पोषक अनुवृक्कधमनियाँ (सु० शा० ९—७ में कही 'द्वे मूत्रवहे धमन्यौ')।

मूत्रकी रचना तथा निर्गमनमें भाग लेनेवाले अवयव निम्न हैं—दो वृक्क[1], दो गवीनियाँ[2], एक बस्ति[3] (मूत्राशय), एक मूत्रप्रसेक[4]। इनमें वृक्क उदरगुहामें दक्षिण और वाम दोनों पार्श्वोंमें एक-एक होता है। वृक्कोंकी आन्त्र नामकी प्रणालिकाओं द्वारा मूत्रका निर्माण होता है। ये प्रणालिकाएँ संख्यामें सहस्रों होती हैं। अतिसूक्ष्म होनेसे इनके मुख दिखाई नहीं देते[5]। सहस्रों नदियोंका प्रवाह जैसे सर्वदा समुद्रको तृप्त किया करता है, वैसे इनसे निर्मित मूत्र निरन्तर मूत्राशयको आपूरित करता रहता है। इनकी क्रिया दिन और रात, मनुष्य सोता हो वा जागता हो, चालू रहती है। नये घड़ेको मुखपर्यन्त जलमें रखें तो जैसे उसके अतिसूक्ष्म छिद्रोंसे रिस-रिस कर जल कालक्रमसे सम्पूर्ण घड़ेको भर देता है, वैसे आन्त्रोंके सूक्ष्म छिद्रोंसे रिसकर मूत्र प्रथम वृक्कोंको तथा पीछे गवीनियों द्वारा बस्तिको संपूरित किया करता है।

वृक्कोंमें तय्यार हुए मूत्रको बस्तिपर्यन्त पहुंचानेका कर्म दो प्रणालियोंका है, जिन्हें गवीनी किंवा मूत्रवह कहते हैं।

बस्ति तुम्बीके आकारका अल्पमांसमय और कुछ रक्त (रक्तवाहिनियों) से युक्त पतली त्वचा (कला) से बना एक आशय है। इसका मुख नीचेकी ओर होता है। स्नायु और सिराओंसे

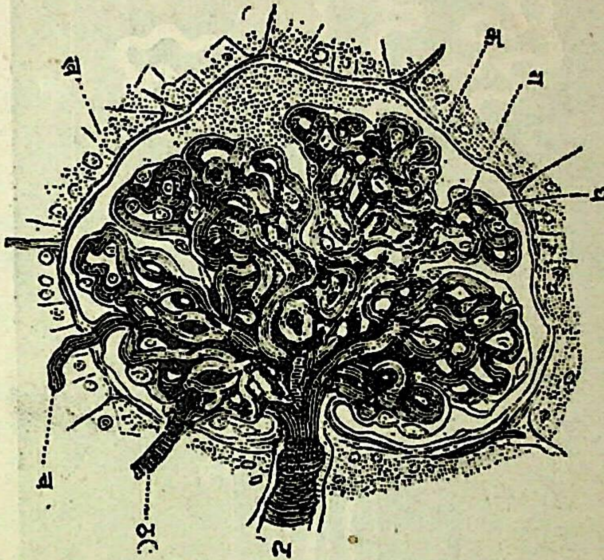
१—Kidneys—किडनीज़। २—Ureters—यूरेटर्स।
३—Bladder—ब्लैडर। ४—Urethra—यूरिथ्रा।
५—उत्कृष्ट अणुवीक्षणकी सहायतासे ही ये देखे जा सकते हैं।

यह अपने स्थानपर छबद्ध रहता है। यह नाभि, पृष्ठ, कटि, वृषण, गुद, वङ्क्षण और मेढ्रके मध्य स्थित होता है। मूत्र नामक मलका यह आधार है। यह एक सद्यःप्राणहर मर्म है[1]।

बस्तिमें संचित मूत्र मूत्रप्रसेकनामक प्रणालिका द्वारा शिश्नद्वारसे बाहर कर दिया जाता है[2]।

वृक्क और गवीनियाँ—

वृक्कोंका आकार लोबिए (राजमाष) के समान अन्तर्वक्र होता है। ये उदरगुहाके पृष्ठभागमें अन्तिम पर्शुकाओंपर स्थित होते हैं। इनकी लम्बाई कोई ४ इञ्च, चौड़ाई २॥ इञ्च, मोटाई १। इञ्च



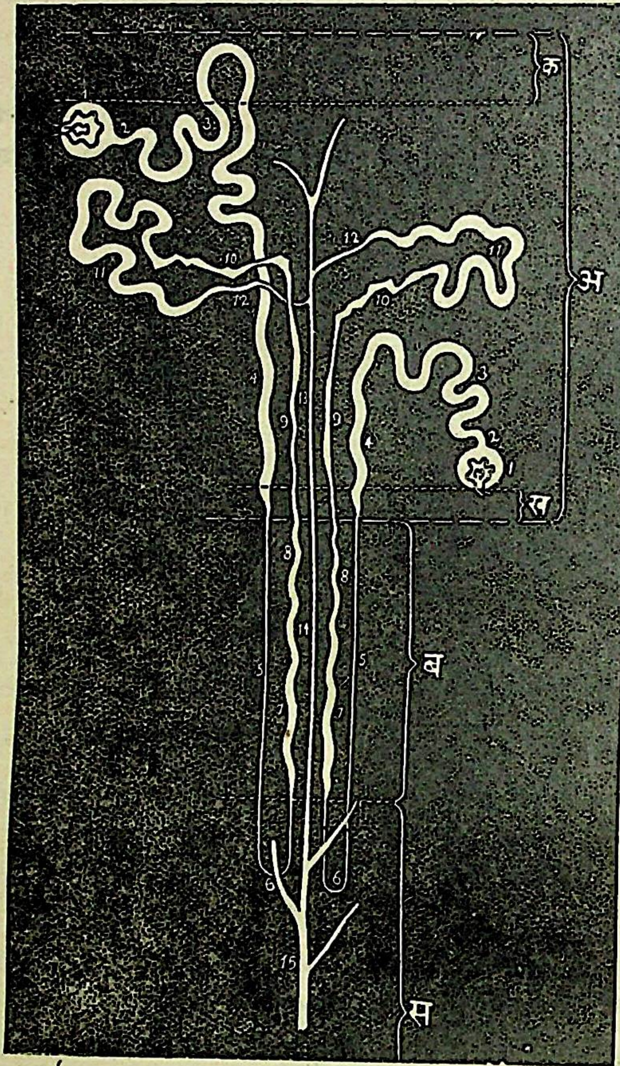
एक आन्त्र (मूत्रनिर्माण करनेवाली प्रणाली) का आदिभाग। चित्र—४९

इस चित्रमें 'ट' धमनी, उसकी शाखाभूत केशिकाओंका गुच्छ तथा उसे वेष्टित करनेवाला आन्त्रका कोष देखिये।

१—कारण, इसपर सहसा आघात पहुँचे तो मनुष्य निश्चेतन हो जाता है। तथा यदि इसमें आकस्मिक वेध हो जाय तो इससे स्रुत मूत्रका विष अन्तरवयवों में प्रसृत होकर घातक शोथ उत्पन्न करता है।

२—(क) 'नाभिपृष्ठ' इत्यादि सुश्रुतसे उद्धृत पद्यावलीमें वर्णित मूत्रनिर्माणकी प्रक्रिया अपूर्ण है। 'यदान्त्रेषु०' इत्यादि मन्त्रसे स्पष्ट है कि अतिप्राचीन कालमें भारतीयोंको मूत्रावयवों और उनके कर्मोंका ज्ञान था। पश्चात्कालमें शास्त्रका लोप होनेसे अन्य अनेक सिद्धान्तोंके सदृश यह सिद्धान्त भी विरूप दशाको प्राप्त हो गया। म० म० गणनाथसेनजी ने अति पटुतासे सिद्ध किया है कि इन पद्योंमें लिपिकरोंके अपराधसे अर्थका अनर्थ हो गया है। उनके अनुसार 'सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः' में कथित प्रणालियाँ निःसंशय वृक्कोंमें स्थित परमचमत्कारिणी मूत्रनिर्मात्री प्रणालियाँ ही हैं। अथ च, विशुद्ध पाठ 'तर्पयन्ति सदा मूत्रं' के स्थानपर 'तर्पयन्ति सदा वृक्कौ' तथा 'घटो यथा तथा विद्धि बस्तिर्मूत्रेण पूर्यते' के स्थानपर 'घटो यथा तथा वृक्कौ ततो बस्तिश्च पूर्यते' पाठ होना चाहिये। (देखिए 'प्रत्यक्षशारीर' उपोद्घात)। अथवा—'मूत्रं' का अर्थ पृष्ठ ६१७ पर दी टिप्पणीके अनुसार मूत्राशय है। और आशय शब्द संस्थानवाचक होनेसे यथास्थित पाठ भी निर्दोष ही है।

तथा भार कोई १२-१३ तोला (स्त्रियोंमें कुछ कम) होता है। प्रत्येक आन्त्रका आदिभाग कोषके आकारका होता है। इसके अन्दर केशिकाओंका निबिड गुच्छ होता है। आन्त्रका उक्त कोष इन



दो आन्त्र। चित्र—५०

1, 1-आन्त्रोंका आदि भाग; 2 से 15 तकके अङ्क प्रत्येक आन्त्रकी दिशा बताते हैं। दोनों आन्त्र अन्तको एक प्रणालीमें समाप्त होते हैं। अन्य भी कई आन्त्रोंके अन्तिम सिरे (चित्रमें कटे हुए) इस प्रणालीमें खुलते हुए दिखाई पड़ते हैं।

(ख) इसी पद्यमालामें आमाशय तथा पक्वाशय शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हैं। भिन्न-भिन्न तन्त्रोंके समस्त वाक्योंके समन्वयसे स्पष्ट है कि इनका अर्थ यहाँ उदरगुहा है। आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें प्रयुक्त संज्ञाओंके प्रसंगवशात् अर्थभेदका यह उत्तम उदाहरण है।

(ग) आथर्वणी श्रुतिके अनुसार बस्तिमें दो गवीनियाँ आती हैं। अतः, ऊर्ध्वभागमें गवीनियोंके दो द्वार (छिद्र) और नीचेका एक द्वार मिलकर बस्तिमें कुल तीन द्वार होने चाहिये। अतः सुश्रुतोक्त 'एकद्वार' विशेषण अयुक्त है।

गुच्छोंमें स्थित रक्तसे मूत्रांशका निर्हरण कर लेता है। अनेक आन्त्रोंके सिरे मिलनेसे एक-एक प्रणाली बनती है। ये प्रणालियाँ मिलकर उत्तरोत्तर बड़ी वाहिनियाँ बनती हैं। अन्तको इन सबका उक्त गवीनी नामक एक-एक बड़ी वाहिनीमें पर्यवसान होता है। प्रत्येक वृक्कसे एक-एक गवीनी बस्तिको जाती है। इनकी लम्बाई १२ से १६ इञ्च होती है। मूत्र निरन्तर बन-बनकर बूंद-बूंद वृक्कोंसे गवीनियों द्वारा बस्तिमें प्रविष्ट होता रहता है। बस्तिमें मूत्र नियत ही प्रमाणमें रह सकता है। इसके पश्चात् मूत्रका वेग उत्पन्न होता है। इच्छाकृत प्रयत्नसे मूत्राशयके अधोवर्ती द्वारका ओष्ठ (सुषिर पेशी) शिथिल होता है, तथा मूत्राशयके सङ्कोचसे मूत्रप्रसेक द्वारा मूत्र बाहर आता है।

मूत्रप्रसेक—

मूत्रप्रसेक पुरुषोंमें एक वितस्ति (बालिश्त) तथा स्त्रियोंमें कोई १॥ इञ्च लम्बा होता है। पुरुषोंमें मूत्रप्रसेकका आदिभाग बस्तिशिर[1] नामक ग्रन्थिसे वेष्टित होता है। यह ग्रन्थि १। इञ्च मोटी, ¾ इञ्च लम्बी और १। इञ्च ऊँची होती है। इस ग्रन्थिके स्रावके अतिरिक्त मूत्रप्रसेकमें वृषणों, शुक्राशयों और शिश्नमूल ग्रन्थियोंके भी हर्षादिवश उत्पन्न स्राव अपनी-अपनी वाहिनियों द्वारा स्रुत होते हैं। वार्धक्यमें बस्तिशिर ग्रन्थि कभी-कभी मोटी हो जाती है, जिससे मूत्रकृच्छ्र हो जाता है। इसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं।

(घ) 'मूत्रवहानां स्रोतसां' इत्यादि चरकवाक्यमें बहुवचनका अर्थ द्विवचनमें होना चाहिये। कारण, सुश्रुतने स्थान-स्थानपर मूत्रवहोंकी संख्या दो ही दी है। 'स्रोतों' के लिये बहुवचनका प्रयोग करनेकी आचार्यकी शैली है।

उक्त वाक्यमें ही आचार्यने मूत्रवहोंका एक मूल (सिरा) बस्तिमें बताया है, जो प्रत्यक्षसिद्ध है। परन्तु दूसरा मूल वङ्क्षणोंमें कहा है, जो चिन्तनीय है। सुश्रुतोक्त मूल बस्ति और मेढ्र अंशतः सत्य हैं।

(ङ) वृक्कोंमें स्थित मूत्रनिर्मात्री प्रणालियाँ प्रत्येक प्रारम्भमें क्षुद्र अन्त्रोंके सदृश कुण्डलाकृति तथा पश्चात् स्थूल अन्त्रोंके सदृश सरल होती हैं। एवं, अन्त्रोंके सदृश होनेसे इन्हें श्रुतिमें आन्त्र कहा है। इनकी सूक्ष्म रचना संक्षेपमें ऊपर दी गयी है।

(च) आयुर्वेदमें मूत्ररचनाका कार्य पाचक पित्तके अधीन कहा है। इसकी आधुनिक मतसे व्याख्या इसी अध्यायमें पहले कर आये हैं।

(छ) आमपक्वाशयसे जो मूत्रका सम्बन्ध बताया गया है, वह साक्षात् नहीं है। किन्तु पृष्ठ ६१६ पर दी गयी टिप्पणीमें कहे प्रकारसे मूत्र भी अन्ततः स्वेद आदिके समान ही आहारका मल है। अतः उसका मूलस्थान आमपक्वाशय कह दिया है।

ऊपर उद्धृत तन्त्रवाक्योंका अर्थ करते हुए हमने इन टिप्पणियोंमें जताये अभिप्रायका अनुसरण किया है।

१—Prostate—प्रौस्टेट। ऊपर धृत 'बस्तिर्बस्तिशिरश्चैव' (सु० नि० ३।१९।२०) में आये पौरुष शब्दका अर्थ डह्लनने शिश्न किया है; परन्तु म० म० गणनाथसेनजीने प्रत्यक्षशारीरके उपोद्घातमें प्रौस्टेट ग्रन्थि किया है। डॉ० घाणेकरजीने उनकी युक्तिका सुविहित खण्डन कर सिद्ध किया है कि पौरुषका अर्थ शिश्न ही है। (देखिये—घाणेकरी सुश्रुतव्याख्या पृ० ३३६-३३७)। द्वितीय शब्द 'बस्तिशिर'का अर्थ गणनाथसेनजीने बस्तिके ऊर्ध्वभागमें स्थित एक बन्धनी किया है। घाणेकरजी इसका अर्थ मूत्रप्रसेकके आभ्यन्तर (बस्तिकी ओरके) द्वारका समीपवर्ती प्रदेश करते हैं। हमारी नम्र सम्मतिमें बस्तिशिरका अर्थ प्रौस्टेट ग्रन्थि है। कारण, श्लोकमें निःसंशय ऐसे अवयवोंका

मूत्रका स्वरूप और कर्म—

बस्तिपूरणविक्लेदकृन्मूत्रम् ॥ सु० सू० १५।५ (२)

क्लेदविवेकजं[1] बस्तिपूरणकृन्मूत्रम् ॥ पाठान्तर

शरीरकी क्लिन्नता (प्रमाणसे अधिक आर्द्रता) ही पृथक् होकर मूत्रके रूपमें प्रकट होती है। मूत्र बस्तिको आर्द्र तथा पूर्ण करता है।

यह सत्य है कि प्रतिशतकताको देखते हुए मूत्र केवल शरीरकी आर्द्रता (द्रवांश, जल) ही है। मूत्रका ९६% जल होता है। परन्तु साथ ही इसमें ४ प्रतिशत घन द्रव्य भी होते हैं। घन द्रव्योंमें अर्धांश यूरिआ[2] होता है। यह प्रोटीनोंके धातुपाकसे उत्पन्न मल है। इसके अतिरिक्त अन्य भी सेन्द्रिय[3] या निरिन्द्रिय[4] घन द्रव्य होते हैं। कभी-कभी ये द्रव्य मूत्रसे च्युत हो जाते हैं —उसमें घुले नहीं रहते। परिणाममें उनसे छोटी-मोटी शर्कराओं[5] या अश्मरियोंकी[6] रचना होती है। इनकी रचना और स्थिति वृक्क, गवीनी या मूत्राशय कहीं भी हो सकती है। इनके वृक्क किंवा गवीनीमें रुद्ध होनेसे अश्मरीशूल[7] होता है।

मूत्रका वर्ण याकृत पित्त तथा भोजनके वर्णके कारण होता है। बासी मूत्रकी विशिष्ट गन्ध

वर्णन है, जो अपनी स्पष्ट और विशिष्ट आकृतिके कारण अन्य अवयवोंसे पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं, और अङ्ग (या प्रत्यङ्ग) कहाते हैं; जैसे गुद, वृषण, पौरुष (शिश्न) और बस्ति। च० शा० ६।११ में भी 'एकं बस्तिशीर्षम्' कहकर बस्तिशिरको पृथक् प्रत्यङ्ग गिना है। बस्तिद्वारका समीपवर्ती प्रदेश कोई विशिष्ट पृथक् अङ्ग नहीं है। एवं, बस्तिके ऊर्ध्वभागमें स्थित बन्धनीमें भी अन्य बन्धनियोंसे कोई विलक्षणता नहीं है, जिससे उसकी सुविभक्त और विशिष्ट अङ्गोंमें परिगणना की जाय। फिर 'द्वे (पेश्यौ) बस्तिशिरसि ॥ सु० शा० ५।३७ ॥' में तो बस्तिशिर की दो पेशियाँ भी गिनाई हैं। इसके अतिरिक्त, इस गणनामें अङ्ग अपनी ऊपरसे नीचेकी ओर स्थितिके क्रमसे निर्दिष्ट किये प्रतीत होते हैं। अतः बस्तिशिर बस्ति और पौरुषके मध्यवर्ती कोई अङ्ग होना चाहिये, उक्त बन्धनीके सदृश बस्तिके उपरिवर्ती नहीं। तीसरे, शरीरका प्रत्यक्ष करनेसे बस्तिके ठीक मूलमें स्थित प्रौस्टेट ग्रन्थि स्पष्ट ही उसके शिरके तुल्य भासित होती है। अतः उसे अन्वर्थक ही बस्तिशिर नाम (बस्तेः शिर इव शिरः) दिया होना सम्भव है। ध्यान रहे, नीचे स्थिति देखकर इसे शिर न माननेकी कल्पना न करनी चाहिये। आकृति देखकर ही तन्त्रमें संज्ञाएँ गढ़ी जाती हैं। जैसे, इसी बस्तिके ऊर्ध्वभागको पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्रमें काय (Fundus—फण्डस) तथा अधोभागको ग्रीवा (Cervix—सर्विक्स, या Neck—नेक) कहते हैं। इसी पद्यसे पूर्व पद्यमें बस्तिके निम्न द्वारको मुख कहा है एवं बस्तिके शरीर (ऊर्ध्वभाग), ग्रीवा (निम्नभाग) और मुख (निम्न छिद्र) की कल्पना सम्पूर्ण हो गयी। शिरका अनुसन्धान शेष है, जो उक्त क्रमको देखते हुए प्रौस्टेटग्रन्थि ही होना चाहिये। प्रौस्टेटग्रन्थि जैसी अनायास दीख सकनेवाली वस्तु भारतीयोंकी सूक्ष्म दृष्टिमें न आई हो यह तो माना ही नहीं जा सकता। स्त्रियोंके रोगादिके प्रसङ्गमें—यथा, च० शा० ८।३९ में आये बस्तिशिर शब्दका अर्थ अन्य शब्दों – हृदय और उदरके समान बस्तिके समीपवर्ती प्रदेश लेना होगा।

१—क्लेद आर्द्रत्वं, तस्य विवेकात् पृथक्त्वात् जातम्। —डल्हन

२—Urea. ३—Organic—औरगेनिक।

४—Inorganic—इनऔर्गेनिक। ५—Gravels—ग्रैवल्स।

६—Stones—स्टोन्स। ७—Renal Colic—रीनल कौलिक।

ऐमोनियम कार्बोनेटके[1] कारण होती है। यह एक जीवाणुकी क्रियासे हुआ यूरिआका परिणाम (परिवर्तित द्रव्य) है। कई रोगोंमें मूत्रमें असाधारण द्रव्य पाये जाते हैं—जैसे वृक्कोंके शोथमें[2] ऐल्ब्यूमिन[3]; मधुमेहमें ग्लाइकोजन; कामलामें याकृत पित्त[4]; विशेषतः पूयमेह (सूजाक)में[5] पूय।

वृक्क, त्वचा और हृदयका सम्बन्ध— 5

वृक्क विसर्गसंस्थानका एक अङ्ग हैं, और अन्य अङ्गोंके, विशेषतः त्वचाके, सहकारसे कार्य करते हैं। वृक्करोगोंमें वृक्कका भार हलका करनेके लिये त्वचाको उत्तेजित करना चिकित्साका आवश्यक अङ्ग है। इसके लिये रोगीको स्वेद देने चाहिये, किंवा मरुदेश (उष्ण-शुष्क वातावरण) में प्रवासकी सलाह देनी चाहिये। इससे जिन मलोंके निकालनेका कार्य वृक्कोंको करना पड़ता, वे स्वेदरूपमें निकल जाते हैं। सामान्य दशामें भी मूत्र और स्वेद दोनोंमें मल द्रव्य एक ही होते हैं, केवल उनके प्रमाणमें भिन्नता होती है।

वृक्कका सामर्थ्य हृदयके सामर्थ्य पर आश्रित है। हृदय स्वस्थ और शक्तिमान् होगा तो पर्याप्त मात्रामें वृक्कोंमें रुधिरको पहुँचा सकेगा, जिससे वृक्क भी रक्तसे मलोंको ठीक-ठीक प्रमाणमें निकाल सकेंगे। अतः हृद्रोगोंमें वृक्क भी अपना कार्य उत्तम प्रकारसे नहीं कर सकते। वृक्कोंकी रुग्णतामें हृदयकी परीक्षा अवश्य करनी चाहिये।

वृक्कोंका विशेष कार्य यूरिआका निकालना है। दोनों वृक्क शास्त्रकर्म द्वारा निकाल दिये जायँ तो रक्तमें यूरिआका आधिक्य[6] होनेसे मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है। विषूचिकामें मृत्युका एक कारण रक्तमें यूरिआका मूत्रावरोधजन्य आधिक्य भी होता है।

मूत्रक्षयके[7] लक्षण—

मूत्रक्षये बस्तितोदोऽल्पमूत्रता च ॥ सु० सू० १५।११

मूत्रक्षये मूत्रकृच्छ्रं मूत्रवैवर्ण्यमेव च।
पिपासा बाधते चास्य मुखं च परिशुष्यति ॥ च० सू० १७।७१

मूत्र एक नियत प्रमाणमें वृक्कोंसे निकलना चाहिये। (अर्वाचीन मतसे एक अहोरात्रमें कोई ५० आउन्स—१२५ तोला—मूत्र निकलता है।) इसमें ह्रास (क्षय) होनेसे बस्तिमें तोद—चुभनेकी-सी व्यथा, मूत्रकी न्यूनता, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रके वर्णमें परिवर्तन, अति तृषा तथा मुखकी शुष्कता ये लक्षण होते हैं।

मूत्रक्षयकी चिकित्सा—

तत्रापि (मूत्रक्षये) स्वयोनिवर्धनद्रव्याणि प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।११

मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणी[8] मण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनाम् ॥ च० शा० ६।११

१—Ammonium carbonate.

२—Nephritis—नेफ्राइटिस। लक्षणोंसे यह आयुर्वेदका कफज शोथ प्रतीत होता है।

३—Albumin, यह प्रोटीनका एक मुख्य भेद है।

४—Bile—बाइल। ५—Gonorrhoea—गौनोरिया।

६—Uroemia—यूरीमिआ। ७—Oliguria—ऑलिग्यूरिया।

८—या तालखर्जूररसैः संधिता सा हि वारुणी॥ शा० म० १०।७

मूत्रका क्षय होनेपर मूत्रवृद्धिकर ईखका रस, ताड़ीका मण्ड (ऊपरका पानी) मधुर-अम्ल-लवण तथा द्रवद्रव्य आदिका सेवन प्रशस्त है।

मूत्रवृद्धिके लक्षण—

मूत्रं (अतिवृद्धं) मूत्रवृद्धिं[1] मुहुर्मुहुः प्रवृत्तिं बस्तितोदमाध्मानं च (आपादयति) ॥ सु० सू० १५।१५

शरीरमें मूत्र (मूत्ररूपमें निकलने योग्य मलद्रव्यों) का आधिक्य हो जाय तो मूत्रका प्राचुर्य, मूत्रका पुनः पुनः वेग, बस्तिमें तोद तथा आध्मान—ये लक्षण होते हैं।

मूत्रका वेग रोकनेसे हानि—

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ च० सू० ७।६

मूत्रका वेग धारण करनेसे बस्ति और शिश्नमें शूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूल, शरीरका झुक जाना, जाँघके मूलमें जकड़े जानेकी-सी वेदना—ये चिह्न होते हैं।

मूत्रवहोंकी दुष्टिका लक्षण—

मूत्रवहानां स्रोतसां बस्तिर्मूलं वङ्क्षणौ च। प्रदुष्टानां तु खल्वेषामिदं विशेषविज्ञानं भवति; तद्यथा—अतिसृष्टमतिबद्धं प्रकुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा बहलं सशूलं मूत्रयन्तं दृष्ट्वा मूत्रवहान्यस्य प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ च० वि० ५।८ (५)

मूत्रवह स्रोतों (आन्त्रों तथा अन्य मूत्रावयवों) के रुग्ण होनेपर निम्न लक्षण होते हैं—मूत्रका प्रमाण प्रचुर व अल्प होना; मूत्र बार-बार और थोड़ा-थोड़ा अथवा प्रभूत होना; मूत्रका प्रकोप (मेहरोग) तथा मूत्रोत्सर्जनमें शूल।

मूत्रवहोंकी दुष्टिका कारण—

मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात्।
मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्याभिक्षतस्य च ॥ च० वि० ५।२०

मूत्रका वेग उपस्थित होनेपर जल पीने, मैथुन करने वा वेग रोकनेसे मूत्रवह स्रोत रुग्ण हो जाते हैं, जिससे उल्लिखित मूत्रसम्बन्धी विकार उत्पन्न होते हैं। क्षीण तथा घाव आदिसे दुर्बल हुए पुरुषमें सर्वाङ्गदौर्बल्य होनेसे वृक्कादि मूत्रयन्त्र भी दुर्बल होते हैं, जिससे उनमें उक्त कारणोंके बिना भी विकार पाये जाते हैं।

मूत्रसंधारणशीलस्य मूत्रवृद्धिर्भवति ॥ सु० नि० १२।६

आयुर्वेदमें मूत्रवृद्धि (वृषणकोषमें जल भर जाना)[2] का कारण मूत्रके वेगको रोकना कहा गया है।

अधिवृक्क ग्रन्थियाँ—

प्रत्येक वृक्कके ऊपर एक-एक अधिवृक्क ग्रन्थि होती है। बीसवें अध्यायमें इसके दोनों

१—मूत्रवृद्धिं प्रचुरमूत्रनिर्गमम्। —चक्रपाणि
२—Hydrocele—हाइड्रोसील।

अन्तःस्रावों, उसके प्रवर्तक पोषणिकाके अन्तःस्राव तथा आयुर्वेद-मतसे उनके स्वरूपका निर्देश किया जा चुका है। उसे वहीं देखना चाहिये।

मलभूत पित्तकी रक्तसे उत्पत्ति—

असृजः पित्तं (मलः)॥ च० चि० १५।१८

कफः पित्तं मलः खेषु स्वेदः स्यान्नखरोम च।
नेत्रविट् त्वक्षु च स्नेहो धातूनां क्रमशो मलाः॥ सु० सू० ४६।५२७

पित्त रक्तका मल है। अन्य मलोंके सदृश सम प्रमाणमें रहता हुआ यह अनेक जीवनी क्रियाएँ सिद्ध करता है।

यकृत्—

मलभूत पित्त[१]की उत्पत्ति यकृत्[२]से होती है। यकृत् शरीरकी सबसे बड़ी ग्रन्थि है। यह उदरगुहाके ऊर्ध्व भागमें दक्षिण ओर महाप्राचीराके नीचे स्थित होता है। आमाशय, दोनों अन्त्र, अग्न्याशय तथा प्लीहाका दूषित रक्त वहन करनेवाली प्रतिहारिणी सिरा[३] यकृत्में प्रविष्ट होती है। सर्व शरीरमें संचार करते हुए रुधिरमें जो धातुपाकादिजन्य मल संचित हुए होते हैं, वे इस प्रकार यकृत्में आते हैं। प्रतिहारिणीके परम सूक्ष्म अन्तोंसे यकृत्के कोष इन मलोंका निर्हरणकर, इनके विघटन और संघटनसे पित्तका निर्माण करते हैं। यकृत्से पित्तका स्राव प्रतिक्षण होता रहता है।

पित्तका वहन और संग्रह—

क्षुद्रान्त्रोंमें आहारके परिपाकके प्रकरणमें हम देख चुके हैं कि याकृत पित्तका कार्य अग्न्याशयके रसका उत्पादन तथा स्नेहोंका पाचन है। पचनकालमें याकृती पित्तनलिका[४] द्वारा पित्त ग्रहणीमें प्रविष्ट होता रहता है। अन्य कालमें यह पित्तकोषनलिका[५] द्वारा पित्तकोष[६]में एकत्र होता रहता है। पित्तकोष अमरूदके समान एक छोटा-सा आशय होता है, जो यकृत्के अधोभागमें एक गर्तमें रहता है। प्रयोजन होनेपर इसमें सञ्चित पित्त पित्तप्रसेक (यकृत् और पित्तकोषकी साधारणी पित्तनलिका[७]) द्वारा ग्रहणीमें जाता है। मूत्रके घन द्रव्योंके सदृश पित्तकी भी कभी-कभी अश्मरी बन जाती है। यह पित्ताश्मरी[८] कभी पित्तप्रसेकके मार्गको अवरुद्ध कर दे तो सम्बद्ध अवयव इसे ग्रहणीमें धकेलनेके लिये असाधारण बल प्रयोग करते हैं, जिससे विकट शूल होता है। इस शूलको पित्ताश्मरीशूल[९] कहते हैं।

याकृत पित्तका स्वरूप—

पित्त कुछ पीला, लाल, भूरा या हरा द्रव होता है। इसका गन्ध कस्तूरी-तुल्य, रस तिक्त, मधुर तथा प्रतिक्रिया क्षारीय होती है। इसमें पित्तके रञ्जक[१०] यूरिआ, यूरिक एसिड आदि होते हैं।

१—Bile—बाइल। याकृत पित्त मलभूत पित्त है, इसका विचार आगे पित्ताधिकारमें देखिये।
२—Liver—लिवर। ३—Portal vein—पोर्टल वेन।
४—Hepatic duct—हिपैटिक डक्ट। ५—Cystic duct—सिस्टिक डक्ट।
६—Gall bladder—गॉल ब्लैडर। ७—Common bile duct—कौमन बाइल डक्ट।
८—Gall stone—गॉल स्टोन। ९—Biliary colic—बिलिअरी कौलिक।
१०—Bile pigments—बाइल पिगमेण्ट्स।

इनमें यूरिआ अन्तमें वृक्कों द्वारा मूत्रमार्गसे बाहिर कर दिया जाता है, यह मूत्रोत्पत्तिके वर्णनमें देख चुके हैं।

पित्तके कार्य—

पित्तका प्रधान कार्य अग्न्याशयरसकी सहायता करना है—विशेषतः स्नेहोंके पाकमें। यह कुछ अंश तक अन्त्रोंमें जीवाणुओंका नाश भी करता है। यह पक्व अन्नके सम्यक् आचूषणमें भी सहायक होता है। स्थूलान्त्रोंमें यह अपकर्षणी गतिको बढ़ा देता है। प्रायः विरेचन—रसपुष्प[1], कटुकी आदि—पित्त-निर्माणकी प्रक्रियाको उत्तेजित कर रेच लाते हैं।

पित्तके अवरोधके लक्षण—

कफप्रकोप आदिके कारण पित्तवह स्रोतोंके अवरुद्ध होनेसे पित्त पूर्णतया ग्रहणीमें नहीं आ सकता, लौटकर चूसा जाकर पुनः सर्वाङ्गमें पहुँच जाता है। यह विकार विशेष सीमा तक पहुँच जाय तो आँखें, त्वचा, मूत्र इनमें विलक्षण पीतिमा दृष्टिगोचर होती है। इस विकारका नाम कामला[2] है। पित्तके अभाव वा न्यूनताके कारण भुक्त स्नेहद्रव्योंका पाचन और आचूषण सम्यक् न होनेसे वे अपक्व ही मलद्वारसे निकल जाते हैं, जिससे कामलाके इस भेदसे ग्रस्त पुरुषोंका मल श्वेतवर्ण होता है।

पित्तका शरीरमें प्रमाण समसे अधिक हो जाय तो भी आँख आदिमें पीतता दिखाई देती है। ऐसे पुरुषोंके दाँत तथा स्वेद विशेष पीले होते हैं। मुखकी अशुद्धिकी अपेक्षया शरीरमें पित्तका आधिक्य ही दाँतोंके पीलेपनका प्रधान और ध्यान देने योग्य हेतु है। अतिमात्र पित्त अथवा उसके लवण या वर्ण जब रक्तवाहिनियों द्वारा मुखकी लालाग्रन्थियों तथा कफग्रन्थियोंमें पहुँचते हैं, तो लालारस तथा कफके साथ ये भी स्वभावतः निःसृत होते हैं। प्रकुपित पित्तके लक्षणोंमें मुखके कडुएपन तथा दाँतोंके पीलेपनका निदान यह है। पुरीष और मूत्रके वर्णका कारण पित्तके रञ्जक द्रव्य हैं।

प्रतिदिन कोई दो पाइण्ट (१०० तोला) पित्त यकृत्से निकलना चाहिये।

नियतकालिक जीवनके पश्चात् शरीरके अन्य कोषोंके समान रुधिरके रक्त कण भी मृत्युको प्राप्त होते हैं। यकृत् उनके घटक अयस् (लोहे) को अन्य उपयोगी कार्योंके लिये पृथक् कर लेता है। शेषसे पित्तमें स्थित विविध रञ्जक द्रव्य उत्पन्न करता है। मल और मूत्रके वर्णक इन्ही पैत्तिक वर्णकोंके विकार हैं।

यकृत्के कार्य—

यकृत्के कार्य निम्न हैं।—

१—पित्त उत्पन्न कर यह उसके द्वारा यथोक्त कर्म कराता है।

२—पित्तकी उत्पत्तिके लिये निर्जीव रक्तकणोंका विनाश करता है।

३—निर्जीव कोषोंमें स्थित किंवा आहार द्वारा प्राप्त आवश्यकसे अधिक प्रोटीनका विघटन कर यूरिआकी रचना करता है।

४—धातुपाक—कोषों द्वारा अपने-अपने कार्यमें प्रयोगके लिये स्नेहोंको सरल जातिके स्नेहोंमें परिणत करता है।

१—Calomel-कैलोमल।

२—Jaundice-जौण्डिस। कामलापर अन्य वक्तव्य ग्यारहवें अध्यायमें (पृ० २१९ पर) देखिये।

५—शरीरमें कर्म और तापोत्पत्तिके लिये आवश्यक द्राक्षाशर्करा[1]का उसके पूर्वरूप ग्लाइकोजन[2]के रूपमें इसमें परिवर्तन संग्रह होता है। कई शर्कराओंका द्राक्षाशर्कराके रूपमें परिणमन भी करता है।

६—अनेक विकारी औषधों तथा जीवाणुजन्य विषों[3]को नष्ट करता है।

७—हिपैरिन[4] नामक द्रव्य, जो शरीरगत रक्तको जमनेसे रोकता है तथा फाइब्रिनोजन[5] नामक द्रव्य, जो क्षतज रक्तके जमनेका हेतु है, को उत्पन्न करता है।

८—जैसा कि रञ्जक पित्तके विवरणमें (पृ० ३७६-७८ पर) पढ़ आये हैं, यह रक्तकणोंकी रचनाके लिये लोहित मज्जाको उत्तेजना देता है, एक आवश्यक द्रव्य प्रस्तुत करता है तथा आपत्कालमें स्वयं भी रक्तकणोंको उत्पन्न करता है।

९—घातकपाण्डु[6]में यकृत्के भक्षणसे चमत्कृत लाभ होते हैं।

१०—अनेक क्रियाओंके परिणामरूप पर्याप्त ताप उत्पन्न करता है।

सर्वप्राणिनां सर्वशरीरेषु ये प्रधानतमा भवन्ति यकृत्प्रदेशवर्तिनस्तानाददीत; प्रधानालाभे मध्यमवयस्कं सद्यस्कमक्लिष्टमुपादेयं मांसमिति ॥ सु० सू० ४६।१३७

मांसवर्गीय समस्त प्राणियोंमें शरीरके शेष अवयवोंकी अपेक्षया यकृत् सर्वश्रेष्ठ होता है। बन सके तो उसीका सेवन करना चाहिये। आयुर्वेदके इस मतकी यकृत्के उल्लिखित कर्मोंसे उत्तम व्याख्या होती है[7]।

१—Glucose—ग्लुकोज़। २—Glycogen.
३—Toxins—टौक्सिन्स। ४—Heparin.
५—Fibrinogen. ६—Pernicious anaemia—पर्निशस ऐनीमिआ।
७—इस अध्यायमें यकृत् तथा उसके स्रावभूत पित्तका जो वर्णन किया गया है, वह नवीन क्रियाशारीरके ग्रन्थोंसे लिया है; ऐसा करनेमें प्रयोजन और आशा यह है कि इससे आयुर्वेदोक्त पित्तका आधुनिक मतसे अनुशीलन करना सुगम हो जायगा।

इकतीसवां अध्याय

अथात ओजोद्वयविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

ओज सब धातुओंका सार है, तथा बलका कारण है—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते, स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ॥ सु० सू० १५।१९

परम् उत्कृष्टं, तेज इव तेजः, तेजो घृतं वा, घृतं यथा कृत्स्नक्षीरस्नेहस्तथैवौजोऽपि कृत्स्नधातुस्नेह इत्यर्थः। यत् परं तेज इति युदुत्कृष्टं सारः इत्यन्ये व्याख्यानयन्ति। तत्खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यत इति, इयं चाभेदोक्तिश्चिकित्सैक्यार्था; परमार्थतस्तु बलौजसोर्भेद एव। यथा भेदस्तदुच्यते—सर्वधातुस्नेहभूतस्योपचयलक्षणस्यौजसो रूपरसौ वीर्यादि च विद्यते, बलस्य तु भारहरणादिशक्तिगम्यस्य रसवीर्यवर्णादिगुणा न विद्यन्ते, अतोऽनयोर्भेदोऽस्त्येवेति; तथा च बलौजसोर्भेदो वेदोत्पत्तावध्याये उक्तः, 'प्राणिनां पुनर्मूलमाहारो बलवर्णौजसां च इति' (सु० सू० १।२८) ॥—डह्लन

पुष्यन्ति त्वाहाररसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि० ॥ च० सू० २८।४

यस्माद्रसादोजो भवति स रसः सर्वधातुस्थानगतत्वात् तत्तद्धातुवन्मन्यत इति सर्वधातूनां स्नेह ओजः, क्षीरे घृतमिव ॥ भावप्रकाश

तदेव सर्वान् धातूननुप्रविष्टं तेषां प्रभावातिशयमादधानं तत्तेज उच्यते ॥

अ० हृ० सू० ११।३७ पर —हेमाद्रि

दूधमें जैसे घी समाया होता है, वैसे ही रसादि शुक्र पर्यन्त सात धातुओंमें उनका उत्कृष्ट अंश ओज व्याप्त होता है।

ओजकी पुष्टि रसरुधिरादिके सदृश आहाररससे ही होती है। यह आहाररस सब धातुओंमें व्याप्त होनेसे उस-उस धातुमें स्थिति होता हुआ वह-वह धातु समझा जाता है। इस प्रकार सब धातुओं (वस्तुतः रस धातु) में व्याप्त तथा उनकी कर्मशक्तिका अत्यन्त संवर्धक होनेसे ओजको सर्वधातुओंका स्नेह वा सार (उत्कृष्टांश) कहा जाता है[1]।

ओज ही बल है। वस्तुतः ओज कारण है और बल उसका कार्य; परन्तु बलका सर्वोपरि कारण होनेसे अभेद लक्षणासे ओज ही को बल कहते हैं।

ओजका कार्य —

ते च दोषाः समा अप्योजसा विहीनं देहं संवाहयितुमशक्ताः ॥ अष्टांगसंग्रह सू० १९ में इन्दु

तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातः स्वरवर्णप्रसादो बाह्यानामाभ्यन्तराणाञ्च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति ॥ सु० सू० १५।२०

१—ओज सर्व धातुओंका सार किस प्रकार है, इसका ऊपर निर्दिष्ट विवरण ध्यान देने योग्य है। इससे ओजका आयुर्वेदानुसार यथार्थ स्वरूप अवगत होगा। साथ ही वर्तमान क्रियाशारीरके साथ इसके समन्वयमें मार्गलाभ होगा।

मांसं चेह बहिर्दृश्यमानकार्यतयोक्तं, तेनेतरेषामपि धातूनां स्थिरत्वमुपचितत्वमनेनैवोक्तं ज्ञेयम् ॥
—चक्रपाणि

बाह्यानां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिकावाक्पाणिपादपायूपस्थानाम् , आभ्यन्तराणां मनोबुद्धिप्रभृतीनां, बलकारणभूतमोजः ॥
—डह्लन

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते ।
स चैवौजः स्मृतः काये ॥ च० सू० १७।११७

बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम् ॥ च० चि० ३।११६

येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः ।
यद्दते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥
यत् सारमादौ गर्भस्य यत् तद् गर्भरसाद्रसः ।
संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरा[1] ॥
यस्य नाशात् तु नाशोऽस्ति धारि यद् हृदयाश्रितम् ।
यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः । च० सू० ३०।९-११

यत्सारमादौ गर्भस्येति—शुक्रशोणितसंयोगे जीवाधिष्ठितमात्रे यत् सारभूतं, तत्रापि तिष्ठति । यद् तद् गर्भरसाद्रस इति—गर्भरसाच्छुक्रशोणितसंयोगपरिणामेन कललरूपात्, रस इति सारभूतम् । संवर्तमानं हृदयं समाविशति यत् पुरेति—यदा हृदयं निष्पद्यमानं, तदैव व्यक्तलक्षणं सद् हृदयमधितिष्ठति यदित्यर्थः । एतेन गर्भावस्थात्रयेऽपि तदोजस्तिष्ठतीत्युच्यते ; परं गर्भादौ शुक्रशोणितसाररूपतया, कललावस्थायां तु रससाररूपतया, अवयवनिष्पत्तौ तु स्वलक्षणयुक्तमेव भवत्योज इत्योजसः सर्वावस्थाव्यापकत्वेन महत्त्वमुच्यते । यस्य नाशात् तु नाशोऽस्तीतिधात्वन्तरक्षयेऽपि सत्योजःक्षये मरणमिति । धारीति जीवधारकसंयोगिभ्यः प्रधानत्वात् । शरीररसस्नेह इति शरीरसारसारम् ; रसशब्दः स्नेहशब्दश्च सारवचनः , तेन शरीररसानां धातूनामपि सार इत्यर्थः ॥
—चक्रपाणि

प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम् ॥ च० सू० १७।७५

शुक्रशोणितसंसर्गात् प्रभृति शरीरमधितिष्ठते स्वकर्मणा तदोजः ॥
सु० सू० १५।९ पर चक्रपाणि

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम् ।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम् ॥

१—म० म० गणनाथ सेनजी इस पद्यमें 'पुरा' के स्थानपर 'पुनः' पाठकी कल्पना करके इससे शरीरमें रसरक्तके संवहनकी सिद्धि की है। चक्रपाणि ने 'पुरेति यदा हृदयं निष्पद्यमानं, तदैव व्यक्तलक्षणं तद् हृदयमधितिष्ठति'—हृदय जब पहले अर्थात् भ्रूणोत्पत्तिकालमें बन रहा होता है, तब भी उसमें ओज स्थित होता है—कह कर 'पुरा' की व्याख्या की है। आगे 'यत् सारमादौ' इत्यादिकी व्याख्यामें वही कहते हैं कि ओज गर्भस्थितिके पूर्व शुक्रशोणितमें उनके सारके रूपमें, पश्चात् कलल में कललरसके सारके रूपमें रहा करता है। 'समाविशति' का अर्थ चक्रपाणि ने 'अधितिष्ठति' दिया है। नव्य क्रियाशारीरके साथ यह अर्थ पूर्ण संवाद रखता है। इस प्रकरणमें रसरक्तानुधावनसे भी अधिक गंभीर और आयुर्वेदका उत्कर्ष प्रकट करने वाली वस्तुका प्रतिपादन है, यह हमने आगे दिखाया है।

यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति।
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः॥ अ० हृ० सू० ११।३७।३८

देहः सावयवस्तेन व्याप्तो भवति[1] देहिनाम्।
तदभावाच्च शीर्य्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्॥ सु० सू० १५।२२

रसधातोः परं धाम पच्यमानात् प्रसीदति।
सौम्यस्वभावं रक्ताग्रे यत्तदोजः प्रकीर्तितम्॥—खारणादि[2]

(ओजः) प्राणायतनमुत्तमम्॥ सु० सू० १५।२१

स्थिरं सुखदुःखयोरचञ्चलं करोतीति स्थिरं, णिचि पचाद्यच्॥
सु० सू० १५।२१ पर हाराणचन्द्र

वात, पित्त, कफ स्वस्थ और सम प्रमाणमें हों, तो भी ओजके अभावमें वे अकिञ्चित्कर हैं—देहके धारणमें असमर्थ हैं। ओजके अस्तित्व ही में शरीरका अस्तित्व है; ओजका नाश होने पर शरीरका निश्चयसे नाश होता है। ओज देहियोंके प्रत्येक अवयवको तृप्त करता है। ओजसे मांसप्रभृति सब धातुओंकी स्थिरता और उपचय—उत्तरोत्तर पुष्टि—होती है। कायिक, वाचिक, मानसिक समस्त व्यापार ओज ही के कारण अप्रतिहत रूपसे होते हैं। कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों तथा मन, बुद्धि और अहंकार इन अन्तरिन्द्रियोंके अपने-अपने कर्मका अनुष्ठान ओजसे होता है। सुखदुःखादि द्वन्द्वोंमें स्थिरताका कारण ओज है। ओजसे ही स्वर और वर्ण परिष्कृत (उत्तम) रहते हैं। ओज ही रोग तथा उनके कारणभूत दोषोंका प्रतिबन्धक है। संक्षेपमें ओज प्राणोंका आयतन (आधार) है।

रसधातुके पाकसे रक्तकी उत्पत्तिके भी पूर्व उसके सौम्य अंश ओजकी उत्पत्ति होती है। (जैसा कि आगे जाकर देखेंगे) हृदयद्वारा रस और रक्तके सदृश ओज समस्त शरीरमें पहुँचाया जाता है; अतः सर्वशरीरमें व्याप्त होते हुए भी ओजका स्थान हृदय कहा जाता है।

माताकी कुक्षिमें गर्भके आधानके भी पहले ओज शुक्र और शोणितमें उनके सारके रूपमें रहता है। शुक्रशोणितका संयोग होनेपर कललरसमें भी वह सारतया स्थित होता है। और जब अवयव प्रकट होते हैं, तबसे तो उनमें आमरण रहता ही है। तीनों अवस्थाओंमें रहता हुआ ओज अपना स्वभावसिद्ध कर्म करता है।

भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो यथा संभ्रियते मधु।
तद्वदोजः शरीरेभ्यो गुणैः संभ्रियते नृणाम्॥ च० सू० १७।७६ (१)

शरीरेभ्य इति धातुभ्यः॥ —चक्रपाणि

भ्रमर जिस प्रकार फलों और पुष्पोंसे कण-कण करके मधुका आहरण करते हैं वैसे ही शरीरावयव[3] रसधातुसे ओजका आहरण करते हैं (और भ्रमरोंके समान अपने बल और पुष्टिके कर्ममें उसका व्यवहार करते हैं)।

१—भवति उत्पद्यते॥ —डल्हन

२—यह पद्य हेमाद्रि ने अष्टाङ्गहृदयकी आयुर्वेदरसायन व्याख्यामें उद्धृत किया है।

३—गुद शब्द 'भ्रमरैः' का उपमान होनेसे कर्तृवाचक है। अतः चक्रपाणिका कहा अर्थ 'गुणैः सारभागैः' हमें जँचा नहीं। 'गुणो मौर्व्यामप्रधाने रूपादौ सूद इन्द्रिये।' इस मेदिनीकोषके प्रमाणसे हमने गुणका अर्थ इन्द्रिय-शरीरावयव लिया है। ध्यान रहे, 'धातुभ्यः' शब्दसे रसादि प्रत्येक धातु स्वतन्त्र विवक्षित नहीं है, किन्तु पूर्वलिखित प्रमाणानुसार आहाररस ही अभिप्रेत है।

ओजका स्वरूप—

ओजः सोमात्मकं स्निग्धं शुक्लं शीतं स्थिरं सरम्।
विविक्तं मृदु मृत्स्नं च प्राणायतनमुत्तमम्॥ सु० सू० १५।२१

स्निग्धं स्नेहगुणयुक्तं, शुक्लमिति प्राधान्येन शुक्लं, तेन तन्त्रान्तरोक्त रक्ताद्यनुगमोऽप्यविरुद्धः। सरमिति देहव्यापकतया॥ —चक्रपाणि

विविक्तं पूतं निर्मलमिति यावत् —हाराणचन्द्र

शुक्लमतिश्वेतम्। यत्तु चरके—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम् (सू० १७।७३)' इत्यादि श्लोकेनौजस्त्रिवर्णं पठितं; तत्र हि शुद्धग्रहणेन शुक्लमुक्तम्, अतः शुक्लपीतरक्तवर्णास्त्रय उक्ताः। शीतं शीतवीर्यम्। स्थिरं शरीरावयवस्थैर्यकारि। सरं प्रसरणशीलम्। मृत्स्नं पिच्छिलम्। चकाराद् गुर्वादयो गुणा अनुक्ताः समुच्चीयन्ते॥ —डल्हन

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति॥
प्रथमं जायते ह्योजः शरीरेऽस्मिञ्छरीरिणाम्।
सर्पिर्वर्णं मधुरसं लाजगन्धि प्रजायते॥ च० सू० १७।७३-७५

शुद्धमिति शुक्लं, रक्तमीषदिति किञ्चिद् रक्तं, सपीतकमिति ईषत् पीतकं[1]; तेन शुक्लवर्णमोजः, रक्तपीतौ वर्णावत्रानुगतौ॥ —चक्रपाणि

गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम्।
प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम्॥ च० चि० २४।३१

ओजः पुनर्मधुरस्वभावम्॥ च० नि० ४।३७

(ओजस्तु) स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम्॥ अ० हृ० सू० ११।३८

ओज प्रधानतः घृतके सदृश शुक्लवर्ण, कुछ-कुछ रक्तिमा और पीतिमा लिये हुए, मधुर, लाज (खील) के तुल्य गन्धवाला, गुरु, शीतवीर्य, मृदु, सर (प्रसरणशील, अतएव शरीरमें व्याप्त), स्थिर (आजीवन शरीरमें रहनेवाला अथवा शरीरके अवयवोंको स्थिर करनेवाला), स्निग्ध (स्नेह, मार्दव, बल तथा वर्णका उत्पादक),[2] पिच्छिल, मसृण (चिक्कण), बहल (सान्द्र)[3] और सौम्य स्वभाववाला होता है।

ओजका स्थान-हृदय—

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः॥

१—अल्प अर्थमें कन् प्रत्यय।

२—स्नेहमार्दवकृत् स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा। सु० सू० ४६।५१६

३—पूर्वधृत 'गुरु शीतम्' आदि चरकवचनमें ओजके दश गुण कहकर आगेके पद्योंमें विपरीत-दशगुणयुक्त मद्यसे प्रत्येकशः ओजके गुणोंका नाश कहा है। उन्हें देखनेसे परिशेषानुमानसे बहलका अर्थ सान्द्र विदित होता है।

तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः॥ च० सू० ३०।७-८।१२

एतेन यथोक्तगुणशालित्वेनौजो महत्, एतद्वहनेन फलन्तीवेति महाफला धमन्य उक्ताः। द्वितीयां निरुक्तिमाह—बहुधा वा ताः फलन्तीति, ता हृदयाश्रिता दश धमन्यो बहुधाऽनेकप्रकारं फलन्तीति निष्पद्यन्ते; एतेन मूले हृदये दशरूपाः सत्यो महासंख्याः शरीरे प्रतानभेदात् भवन्तीत्युक्तम्॥ —चक्रपाणि

यत्परं तेजः सारं घृतमधुस्थानीयं प्रत्येकमेव रसादीनां यदुत्कृष्टोंऽशः सारभागः स मिलित्वा हृदयप्रधानस्थानात् तत्रस्थ एव च धमनीभिर्हृदयमूलाभिः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति बलहेतुश्च धातूनां भवति, शुक्रशोणितसंसर्गात् प्रभृति शरीरमधितिष्ठते स्वकर्मणा तदोजः॥ सु० सू० १५।१९ पर चक्रपाणि

सर्वव्यापी भी ओजका विशेष स्थल हृदय है। कारण, हृदयसे निकलनेवाली दश धमनियों[1] और उनके महासंख्य प्रतानों (शाखा-प्रशाखाओं) द्वारा वह सर्वाङ्गमें प्रसृत किया जाता है। उक्त-गुणशाली होनेसे ओजको महत् भी कहते हैं, और धमनियोंको महाफला। ओजके संसर्गसे हृदयका नाम भी महत् है।

ओजकी तीन विकृतियाँ—

तस्य (ओजसः) विस्रंसो व्यापत् क्षय इति (त्रयो दोषाः;) लिङ्गानि भवन्ति। सन्धिविश्लेषो गात्राणां सदनं दोषच्यवनं क्रियासन्निरोधश्च विस्रंसे। स्तब्धगुरुगात्रता वातशोफो वर्णभेदो ग्लानिस्तन्द्रा निद्रा च व्यापन्ने। मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये॥

भवन्ति चात्र—

त्रयो दोषा बलस्योक्ता व्यापद्विस्रंसनक्षयाः।
विश्लेषसादौ गात्राणां दोषविस्रंसनं श्रमः॥
अप्राचुर्यं क्रियाणाञ्च बलविस्रंसलक्षणम्।
गुरुत्वं स्तब्धताऽङ्गेषु ग्लानिर्वर्णस्य भेदनम्॥
तन्द्रा निद्रा वातशोफो बलव्यापदि लक्षणम्।
मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च॥
पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणञ्च बलक्षये॥ सु० सू० १५।२४-२८

व्यापद्दोषदुष्टत्वे गुणहीनत्वम्॥ —चक्रपाणि

ओजकी विकृति तीन प्रकारकी है—व्यापद्, विस्रंस और क्षय। ओजके विस्रंस नाम अपने स्थानसे च्युत होनेके निम्न चिह्न हैं—अस्थि, मांसादिकी संधियोंका ढीलापन, अङ्गोंका थका रहना, वातादि दोषोंका अपने स्थानसे च्युत हो जाना; तथा कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं-का सम्यक् न होना। ओजकी व्यापत्ति नाम दोषोंसे दूषित होकर गुणहीन होनेके लक्षण निम्न

[1]—पहले देख आये हैं कि प्रसिद्ध हृदयसे निकलनेवाली एक ही धमनी—महाधमनी (Aorta—एओर्टा) प्रत्यक्ष है।

हैं—शरीर भारी लगना, जानु आदि संधियाँ जकड़-सी जाना, वातिक शोफ, वर्णका परिवर्तन, ग्लानि (म्लानता), तन्द्रा और निद्रा। ओजके क्षयमें मूर्च्छा, मांसादि धातुओंकी क्षीणता, मोह (ज्ञानेन्द्रियोंका अपने विषयको ठीक ग्रहण न करना), अज्ञान, प्रलाप और मृत्यु ये लक्षण होते हैं।

ओजःक्षयके कारण—

अभिघातात् क्षयात् कोपाच्छोकाद् ध्यानाच्छ्रमात् क्षुधः॥
ओजः संक्षीयते ह्येभ्यो धातुग्रहणनिःसृतम्॥ सु० सू० १५-२२

धातवो गृह्यन्ते यैस्तानि धातुग्रहणानि स्रोतांसि ओजोवाहीनि। किंवा धातुग्रहणस्रोतः-स्थानतया धातुग्रहणं हृदयम्॥ —चक्रपाणि

आघात, धातुक्षय (एक या अनेक दोष, धातु या मलका क्षय), क्रोध, शोक, चिन्ता, श्रम, अनशन—इन हेतुओंसे हृदय अथवा ओजोवहाओंसे निकले ओजका क्षय होता है।

ओजःक्षयके चरकोक्त लक्षण—

बिभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥ च० सू० १७।७३

दुर्मना मनोबलहीनः॥ —चक्रपाणि

चरकने ओजःक्षयके नीचे लिखे लक्षण कहे हैं—ओजःक्षीण पुरुष सर्वदा दूसरोंके आगे दबा रहता है; शरीर और मनके बलसे शून्य होता है; उसकी इन्द्रियाँ सदा व्यथित रहती हैं; वर्ण रूक्ष और शरीर कृश होता है; वह निस्तेज तथा सर्वदा चिन्तामग्न होता है।

इन लक्षणोंमें अन्य आचार्योंके कहे मरणरूप लक्षणकी गणना नहीं है। इसी अध्यायमें आगे ओजःक्षयके लक्षणोंके इस मतभेदकी व्याख्या करेंगे।

ओजके पुष्टिकर—

तन्महत् ता महामूलास्तच्चौजः परिरक्षता।
परिहार्या विशेषेण मनसो दुःखहेतवः॥
हृद्यं यत् स्याद् यदौजस्यं स्रोतसां च प्रसादनम्।
तत्तत् सेव्यं प्रयत्नेन प्रशमो ज्ञानमेव च॥ च० सू० ३०।१३-१४

तत्र विस्रंसे व्यापन्ने च क्रियाविशेषैरविरुद्धैर्बलमाप्याययेत; इतरं तु मूढसंज्ञं वर्जयेत्॥ सु० सू० १५।२८

क्रियाविशेषैरिति ओजोवर्धकैस्तद्विशोधकैश्च॥ —चक्रपाणि
क्रियाविशेषैराप्यायनवाजीकरणादिभिः॥ —डल्हन

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद् बालांस्तथाऽऽशयेत्॥ का० सू० २७।१६
जीवनीयौषधक्षीररसाद्यास्तत्र भेषजम्॥ अ० हृ० सू० ११।४१

मनकी प्रसन्नता ओजोवृद्धिका मुख्य कारण है। अतः सर्वदा मनोऽनुकूल (मनः-प्रिय), सुखप्रद आहार-विहारका प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये। मनकी प्रसन्नता निर्द्वन्द्वता (सुख-दुख,

लाभ-हानि, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंसे क्षुभित न होना) से सिद्ध हो सकती है। निर्द्वन्द्वताकी प्राप्तिका उपाय प्रशम (शान्ति) और तत्त्वज्ञान है। मधुर, स्निग्ध, शीतवीर्य, लघु तथा हितकर आहार ओजोवर्धक हैं। मनकी प्रसन्नता उत्पन्न कर ये परम्परया भी ओजकी अभिवृद्धि करते हैं। क्षीर, मांसरस, जीवनीयगणके औषध, अश्वगन्धा आदि रसायन और वाजीकरण द्रव्योंका उपयोग ओजका परम वृद्धिकारक है। इनके सेवनके साथ पुरीषादि मलों और धातुओंके स्रोतोंकी शुद्धि पर भी ध्यान देना चाहिये। बालकोंको ओजोवर्धक आहार-विहारका विशेषतः सेवन कराना चाहिये।

वात-पित्त-कफ तथा ओज समानगुणधर्मवाले अनेक-अनेक द्रव्य हैं—

कफवर्गं भवेच्छुक्रं पित्तवर्गं च शोणितम् ॥

हरिवंश पर्व १, अ० ४० श्लोक ५२

कफवर्गमें शुक्रकी तथा पित्तवर्गमें रक्तकी परिगणना है। इस वाक्यसे सूचित है कि कफ या पित्त किसी एक द्रव्यका नाम नहीं है, किन्तु ये विभिन्न द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं[1]। इससे सहज ही अनुमान होता है कि वात तथा ओज भी अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंके नाम हैं। ओजके विषयमें तो अन्य प्रमाणोंसे भी यही सिद्ध होता है। वैद्यकग्रन्थोंमें स्पष्ट ही ओजके अनेक अर्थ कहे हैं।

कफादिके वर्गरूप होनेकी सूचना आयुर्वेदकी उपलब्ध पुस्तकोंमें नहीं पायी जाती। हरिवंश का यह वचन आयुर्वेदके एक लुप्त हुए सिद्धान्तका ज्ञान कराता है। इसके आधारपर वात-पित्त-कफ तथा ओजका स्वरूप यथावत् जाना जा सकता है। वर्तमान विज्ञानकी परिभाषामें इन धातुओंका अभिप्राय भी इससे परिलक्षित हो सकता है।

ओजोवर्गके द्रव्योंमें साम्य—

इस अध्यायमें आगे हम ओजके भेदोंका विवेचन करेंगे। पृथक् होते हुए भी समस्त ओजोंमें तन्त्रोक्त लक्षण समान हैं—अर्थात् सभी शरीरमें बल, वर्ण और पुष्टिके हेतुभूत हैं। अथ च, सभीकी अभिवृद्धि एक ही प्रकारके नाम मधुर, स्निग्ध और शीतवीर्य द्रव्योंसे होती है। यह इनका दूसरा साम्य है। पृथक् स्थान और संस्थान (स्वरूप) होते हुए भी इसी साम्यके कारण उनका एक नामसे अभिधान होता है।

स्थान-संस्थानके भिन्न होनेपर भी अमुक साम्यकी प्रधानतासे नाना द्रव्योंका एक वर्गमें संग्रह आयुर्वेदमें नया नहीं है। देखिये—

सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहो दिष्टश्चतुर्विधः ॥ च० सू० १।८६

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ॥

अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते।

शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥ सु० शा० ४।१३

तदेव च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यञ्च ॥

अष्टाङ्गसंग्रह शा० अ० ५

इन वचनोंमें स्नेहत्वके साम्यसे तैल, घृत, मेद, मज्जा, वसा तथा मस्तिष्ककी 'स्नेह' इस एक ही वर्गमें गणना है।

१—यह विषय विस्तारसे सोलहवें अध्यायमें (पृ० ३०१ पर) देखिये।

ओज शब्दके शास्त्रमें विविध अर्थ—

ओज शब्दके विविध अर्थ प्रमाणसहित आगे दिये जाते हैं।

रसश्चौजसंख्यातः ॥ च० नि० ४।७

मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः ॥ च० चि० ६।८

तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे ॥ च० चि० ८।४१

दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः।
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ॥ अ० हृ० शा० ३।१८

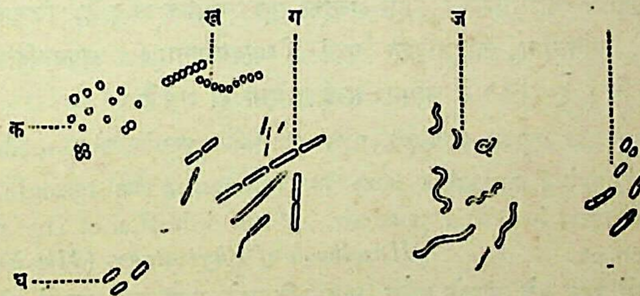
इन वचनोंमें ओजका अर्थ रसधातु कहा है।

तन्त्रान्तरेतु ओजःशब्देन रसोऽप्युच्यते; जीवशोणितमप्योजःशब्देनामनन्ति केचित्, ऊष्माणमप्योजःशब्देनापरे वदन्ति ॥ सु० सू० १५।१९ पर—डह्लन

यहाँ डह्लन कहता है कि ओजका अर्थ प्राकृत रक्त[1] और शरीरोष्मा भी होता है। इनमें रसधातु और रुधिर शरीरके उपकारक किस प्रकार हैं, यह इन धातुओंके प्रकरण, विशेषतः बाईसवाँ अध्याय, देखनेसे विदित होगा। इन प्रकरणोंमें तथा इसी अध्यायमें पहले रस-रक्तको रोगोंका प्रतिबन्धक कहा है। इस वस्तुकी नव्यमतानुसार किञ्चित् व्याख्या कर इस विषयको पूर्ण करेंगे।

क्षमता—शरीरकी रोगप्रतिबन्धक शक्ति—

हमारे चतुर्दिक् राजयक्ष्मा, अन्त्रज्वर, श्वसनकज्वर आदिके निमित्तभूत असंख्य जीवाणु[2] व्याप्त हैं और श्वासादि द्वारा अन्दर प्रविष्ट होते रहते हैं। रस और रुधिरमें इनको तथा इनके विषोंको नष्ट करनेका सामर्थ्य होता है, जिससे शरीर इन जीवाणुओंसे उत्पाद्य रोगोंसे रक्षित रहता है। इस स्वाभाविक शक्तिका नाम क्षमता[3] है।



विविध जीवाणु। चित्र—५१

१—डह्लनके वाक्यमें आये जीवशोणितका अर्थ २२ वें अध्यायमें उद्धृत च० सि० ६।७९, सु० चि० ३४।१४ तथा सु० सू० १४।४४ के अनुसार प्राकृत (शुद्ध) रक्त है। हेमाद्रिने अ० हृ० सू० ११।३८ पर ओजके विविध अर्थोंके एकीकरणका विलक्षण प्रयास किया है। जीवशोणितका वहाँ कहा अर्थ 'आर्तव' उक्त आर्ष प्रमाणोंको देखते, जँचता नहीं।

२—Microorganisms—माइक्रोऑर्गेनिज़्म्स। इनका कुछ विचार पृ० २५७ पर देखिये।

३—Immunity-इम्युनिटी। क्षमता शब्द प्राचीन है; देखिये पृ० २३२।

शरीरमें जीवाणुओंका प्रतिरोध अनेक प्रकारोंसे होता है। इनमें मुख्य प्रकार जीवाणुओंका साक्षात् कवलन[1] (निगल लेना) है। रुधिरमें ल्यूकोसाइट नामके जो क्षुद्र कण हैं, वे जीवाणुओंका ग्रासकर उन्हें नष्ट किया करते हैं। अतएव जीवाणुजन्य कई रोगोंमें रुधिरमें इनकी संख्या भी प्रभूत हो जाती है। ल्यूकोसाइट जीवाणुओंका कवलन किस प्रकार करते हैं, यह सप्तम अध्यायमें (पृ० १५३-५४ पर) बता आये हैं।

परन्तु ल्यूकोसाइट अकारण ही जीवाणुओंके कवलनके लिये उत्सुक नहीं होते। परीक्षणोंसे सिद्ध हुआ है कि रुधिर किसी अज्ञात सूत्रसे इन जीवाणुओंको स्वादु बना देता है, जिससे ल्यूकोसाइट सहज ही इनकी ओर आकृष्ट होते हैं। रुधिरकी यह क्रिया कल्पन[2] कहाती है। जिस पुरुषमें यह कल्पनशक्ति जितनी अधिक होगी, उसके ल्यूकोसाइटोंकी कवलनक्रिया उतनी ही प्रभूत होगी। परिणामतया वह जीवाणुओंके आक्रमणसे उतना ही रक्षित रहेगा। यह शक्ति उत्तम आहार और शुद्ध वायुसे[3] (अथवा अपेक्षित कल्पनके सूची द्वारा प्रवेशसे) उपलब्ध होती है। जीवनीययुक्त आहारोंका सेवन क्षमताकी स्थिरता और वृद्धिके लिये उत्तम[4] है। क्षमताके अन्य कारण कवलनके ही सहायक हैं, अथवा यदि वे स्वतन्त्र हैं तो उनकी क्रिया मर्यादित होती है।

रक्तके द्रवभागमें भी जीवाणुओंके संहार करनेकी शक्ति है। इसमें स्थित जो द्रव जीवाणुओंका संहार करते हैं, उनका नाम 'जीवाणुसूदन'[5] है। इनका स्वरूप व मूल विदित नहीं हुआ है।

जीवाणुओंसे शरीरमें जो विकार होते हैं, उनका बड़ा कारण जीवाणुओंके उत्पन्न किए विष हैं। इन्हें निष्क्रिय करनेके लिये रुधिर प्रतिविष[6] उत्पन्न करता है। सोडा आदि क्षार जिस प्रकार अम्लोंके संसर्गमें आनेपर उन्हें उदासीन कर देते हैं, वैसे ही प्रतिविष भी अपने प्रभावसे जीवाणुजन्य विषोंको अभिभूत कर निर्वीर्य कर देते हैं।

जीवाणुओंके प्रतिरोधका अन्य साधन रुधिरकी समसनी शक्ति[7] है। जीवाणुओंका प्रवेश

१—Phagocytosis—फैगोसाइटोसिस।

२—Opsonin—औप्सोनिन। इस शब्दका मूल एक ग्रीक शब्द है, जिसका अर्थ ज्योनारकी तय्यारी करना है। सातत्यात् स्वाद्वभावाद्वा पथ्यं द्वेष्यत्वमागतम्। कल्पना-विधिभिस्तैस्तैः प्रियत्वं गमयेत्पुनः॥ च० चि० ३०।३३१ में कल्पना शब्दका ऐसा ही अर्थ है।

३—In those to whom the organism is pathogenic, the modern treatment is directed to enhancing nature's cure by increasing the opsonin power of the patient's blood by good food and pure air, or the injection of the preparations of the required opsonins. *Handbook of Physiology*, *(31st Edition)* ***P. 419.***

इसी अध्यायमें पहले कहे ओजके वर्धक आहार-विहारके साथ इस वाक्यमें कहे आहार-विहारकी तुलना कीजिये।

च० सू० २८—७ में अहिताहारके अतिरिक्त क्षमताके ह्रासके तीन हेतु कहे हैं—कालविपर्यय, प्रज्ञापराध तथा असात्म्य (अहित) शब्दादि विषयोंका सेवन। इनकी व्याख्या च० शा० १।८५-१३१ आदि स्वस्थवृत्तके प्रकरणोंमें देखिये।

४—यह विषय विस्तारसे चौदहवें अध्यायमें देखिये।

५—Bacteriolysins—बैक्टीरिओलाइसिन्स।

६—Antitoxins—ऐण्टिटौक्सिन्स।

७—Agglutinating power—ऐग्लुटिनेटिङ्ग पावर।

होनेपर रुधिरमें समसन[1] नामके द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनके समागमसे जीवाणु गतिशून्य होकर एक दूसरेसे जुड़ जाते हैं।

ल्यूकोसाइटोंके अतिरिक्त रुधिरके लिम्फोसाइट नामक श्वेत कण भी जीवाणुओंके प्रतिरोधका कार्य करते हैं। इनकी उत्पत्ति रसग्रन्थियों, टौन्सिलों, पच्यमानाशयके अन्तमें स्थित 'पेयर्स पैचेज' नामक ग्रन्थिसमूह (देखिये पृ० १७४ तथा ३९४) तथा प्लीहासे होती है। अनेक रोगोंमें इनकी संख्या कई गुणा बढ़ जाती है। अणुवीक्षण द्वारा जानी हुई इनकी वृद्धि इन रोगोंके निदानमें सहायक होती है। रसग्रन्थियों तथा उनके कार्य—जीवाणुओंके प्रतिरोध—का वर्णन २१ वें अध्यायमें (पृ० ४७६—८१) किया जा चुका है।

रोगज क्षमता[2]—

प्रत्येक जीवाणुओंके लिये ल्यूकोसाइट तो एक ही होते हैं, परन्तु कल्पन, जीवाणुसूदन, प्रतिविष तथा समसन भिन्न होते हैं। शरीरपर जीवाणुजन्य किसी रोगका आक्रमण हो तो उन जीवाणुओं के प्रतिकारके लिये शरीरमें यथोचित कल्पन-प्रभृति द्रव्यों तथा ल्यूकोसाइटोंकी अधिकाधिक उत्पत्ति होती है। रोगका आक्रमण शरीरके लिये घातक सिद्ध हुआ तो समझना चाहिये कि शरीरकी कल्पन प्रभृति द्रव्योंकी उत्पादक शक्ति—दूसरे शब्दोंमें क्षमता—न्यून रही। इसके विपरीत रोगका नाश होकर शरीर रक्षित रहा तो इसका अर्थ वैज्ञानिक शब्दोंमें यह हुआ कि शरीरकी क्षमताने जीवाणुओंपर विजयलाभ किया। इसके अनन्तर शरीरमें उस विशिष्ट जीवाणुका संहार करनेकी शक्ति पर्याप्त कालतक बनी रहती है। यही कारण है, कि मसूरिका (शीतला), अन्त्रज्वर आदि रोगोंका आक्रमण एक वार होनेपर प्रायः दुबारा नहीं होता।

युक्तिकृत क्षमता[3]—

इस स्वाभाविक क्षमताके अतिरिक्त कृत्रिम उपायसे भी क्षमता उत्पन्न की जा सकती है। विशिष्ट जातिके जीवाणु अथवा उनके विष उत्तरोत्तर बढ़ती मात्रामें सूचीबस्ति[4] द्वारा घोड़ोंके शरीरमें प्रविष्ट किये जाते हैं। परिणाममें घोड़ोंके रुधिर तथा रसमें उस जातिके जीवाणुओंके विषका प्रतिरोधी प्रतिविष उत्पन्न हो जाता है। इन घोड़ोंका रक्त निकालकर उनकी लसीका[5] छोटी-छोटी प्रणालियोंमें संग्रह करके रखी जाती है। अनागत रोगविशेषके प्रतिबन्ध तथा आगतके प्रतिकारके लिये इस लसीकाकी सूचीबस्ति दी जाती है। इस चिकित्सापद्धतिका नाम लसीका-चिकित्सा[6] है। मसूरिकाके प्रतिबन्धके लिये गोमसूरिकासे[7] आक्रान्त बछड़ोंके स्तनोंसे निकले स्रावकी सूचीबस्ति

१—Agglutinins—ऐग्लुटिनिन्स। ऐग्लुटिनेशन शब्द मूलमें व्याकरणका है। इसका अर्थ स्वतन्त्र पदों (शब्दों) का समास करना है। समसनका यही अर्थ है—'समसनं समासः' (सिद्धान्त कौमुदी)।

२—Acquired immunity—एक्वायर्ड इम्युनिटी।

३—Artificial immunity—आर्टिफिशल इम्युनिटी। 'त्रिविधं बलमिति—सहजं, कालजं, युक्तिकृतं' च (च० सू० ११।३६)'—यहाँ इस क्षमताके लिये चरकने 'युक्तिकृत' शब्द दिया है। अतः हमने 'कृत्रिम' आदि नव-निर्मित शब्द नहीं लिये।

४—Injection—इञ्जेक्शन। ५—Serum—सीरम।

६—Serum Therapy—सीरम थैरेपी। ७—Cow-pox—काउपौक्स।

दी जाती है। इस पद्धतिका नाम टीका[1] है। इस युक्तिकृत क्षमताकी अपेक्षया पूर्वोक्त रोगज क्षमता अधिककाल स्थायी होती है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये॥ च० सू० १७।११७
बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्॥ च० चि० ३।११६

इन स्थलोंमें जो ओज अथवा उसके कार्यभूत बलको रोगोंका निग्रह—प्रतिबन्ध—करनेवाला कहा है, वह उक्त व्याख्यानुसार रस धातुपर विशेषतः घटित होता है[2]।

१—Vaccination—वैक्सीनेशन।

२—आयुर्वेद और जीवाणुवाद—ऊपरका प्रकरण बाँचनेसे यह पृच्छा सहज ही होगी कि जिस प्रत्यक्षाश्रित जीवाणुवादका चिकित्साशास्त्रपर आज इतना प्रभुत्व है, उसके विषयमें आयुर्वेदका क्या मत है?

पृ० २५७ पर निर्दिष्ट ग्रन्थ देखनेसे विदित होगा कि इस देशके विद्वानोंको जीवाणुओंका ज्ञान अवश्य था; उनका रोगोंसे सम्बन्ध भी मालूम था। संसर्गसे कतिपय रोग एक पुरुषसे अन्यमें संक्रान्त हो जाते हैं, यह भी उनके अनुभवमें आया था। इस विषयमें निम्न वचन बहुत प्रसिद्ध हैं—

"प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्।
सह शय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच।
औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥ सु० नि० ५।३३-३४

—पुनः पुनः शरीरके स्पर्श, निःश्वास, साथ भोजन, एक शय्यापर शयन, एक आसनपर बैठना; वस्त्रों, मालाओं और लेपोंका सेवन—इनसे कुष्ठ (विविध त्वग्रोग) ज्वर, शोष (राजयक्ष्मा), नेत्राभिष्यन्द (आँख आना) तथा मसूरिका, ज्वर आदि औपसर्गिक (संक्रामक—Infectious—इन्फेक्शस) रोग एक पुरुषसे दूसरे पुरुषमें संक्रान्त होते हैं;"

जनपदोद्ध्वंसकर (जनपदव्यापी, Epidemic—एपीडेमिक) रोगोंकी उत्पत्तिका कारण जल, वायु, देश और कालका दूषित होना कहा है। (देखिये—च० वि० ३; सु० सू० ६) यह भी रोगोंके शरीरसे बाह्य कारणका निर्देश करता है।

यह सब होते हुए भी आयुर्वेद निदान और चिकित्सा दोनों प्रसंगोंमें जीवाणुओंको उतना महत्त्व नहीं देता, जितना आधुनिक निष्णात देते हैं। इसका कारण है। आधुनिक विद्वान् भी यह तो मानते ही हैं कि हमारे शरीर सर्वदा जीवाणुओंसे आक्रान्त रहते हैं। परन्तु, रोगोत्पत्तिमें जीवाणु तभी समर्थ होते हैं जब अहिताहार-विहारसे शरीरका कोई अवयव अशक्त हो जाय। चिकित्सामें भी बहुधा स्वयं शरीरको रोगजन्तुओंके नाशके लिये शक्त बनाना लक्ष्य होता है। उदाहरणतया—सिफिलिसमें 'साल्वर्सन' अथवा उससे निकले द्रव्य देनेका साक्षात् परिणाम रोगाणुओंका नाश नहीं, किन्तु उनके नाशार्थ शरीरके धातुओंमें शक्तिकी उत्पत्ति है। (देखिये—Rose and Carless की सुप्रसिद्ध Manual of Surgery) कैंसर जैसा शस्त्रकर्मसाध्य व्याधि भी कदाचित् अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणुके ही प्रभावसे होता है। उसकी क्रिया केवल तब सफल होती है जब जीवनीयरहित आहार, अन्त्रोंमें कोथ (सडांद) से विषका उत्पन्न होकर शरीरमें प्रसर (आमविष—Auto-intoxication—ऑटो-इन्टॉक्सिकेशन) आदिसे शरीर जीवाणुके प्रतिकारमें अशक्त हो जाय। (देखिये उक्त ग्रन्थमें कैंसरका प्रकरण) गॉनोरिया तथा

ओजके भक्षक राक्षस—

ओजोऽशनानां रजनीचराणाम् ॥ च० शा० २।१०

इस पद्यांशमें चरकने कहा है राक्षसोंका आहार ओज है। हम अभी कह आये हैं कि रसरक्तके जीवाणुसंहारक द्रव्यसमुदायका किंवा उनके आश्रयभूत स्वयं रसरक्तका नाम ओज है। उनके भक्षक राक्षस रोगजनक जीवाणु ही होते हैं। यहां (तथा वैद्यकीय वा अन्य ग्रन्थोंमें अन्यत्र) राक्षसोंको 'रात्रिचर' कहा है। सचमुच ही कई रोगाणु रातको ही विशेषतया विहार करते हैं; जैसे खाज और श्लीपदके रोगाणु।

शरीरमें ओज और राक्षसोंका यह द्वन्द्व निरन्तर चल रहा है। जिस समय अहित आहार-विहारसे ओजकी शक्ति (क्षमता) मन्द हो जाती है, उस समय राक्षस बलवान् होकर शरीरमें विकार उत्पन्न करते हैं। रोगी पीडित होकर वैद्यके पास जाता है और वह अपनी ओषधियोंसे रोगीके शरीरके दोषोंको दूर करता है, जिससे राक्षसों (जीवाणुओं) का स्वयं विनाश होता है[1]। अतः, निम्न ऋचामें वैद्यका एक लक्षण रक्षोहा (राक्षसोंका हनन करनेवाला) दिया है।—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।

विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीवचातनः॥ ऋग्वेद १०।९७—६[2]

ओजका अन्य अर्थ वर्तमानमें जिसे ग्लाइकोजन कहते हैं, वह होता है। देखिये—

ओजः पुनर्मधुरस्वभावं, तद्यदा रौक्ष्याद्वायुः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिवहति तदा मधुमेहं करोति॥ च० नि० ४।३७

मैलेरियामें कितने ही वैद्य-अवैद्य विशिष्टजन्तुघ्न न प्रतीत होनेवाले शास्त्रीययोगों, मुष्टियोगों या जड़ी-बूटियोंसे रोगको अच्छा करते देखे जाते हैं, जिससे एकमात्र जन्तुओंको महत्त्व देना उतना समुचित नहीं प्रतीत होता।

वैद्यकमें शारीर रोग दो प्रकारके माने हैं—१—निज अर्थात् दोषोंकी दुष्टिसे होनेवाले; २—आगन्तु अर्थात् आघात, दंश आदि बाह्य कारणोंसे होनेवाले। (देखिये—च० सू० २०।३) आगन्तु रोगोंमें भी पीछेसे दोषोंका कोप होकर तत्-तत् दोषके लक्षण प्रकट होते हैं। अतः दोनों भेदोंमें चिकित्सा दोषोंको लक्ष्य करके ही की जाती है।

जीवाणुओंको रोगोत्पत्तिमें प्रधान कारण मानें तो आयुर्वेदमतसे निज कहे जानेवाले अधिकांश रोग आगन्तु रोगोंकी श्रेणीमें आ जायंगे। तथापि, जैसा कि ऊपर कहा है, इन रोगोंमें भी पीछेसे दोषोंका वैषम्य हो जानेसे चिकित्सा तो निज रोगोंके अनुसार ही करनी होगी। अतः परिणाममें कोई अन्तर न आयगा। हम समझते हैं, आधुनिक जीवाणुविज्ञानकी चकाचौंधमें आकर वैद्योंको ऊपर कही अपनी विशिष्टताका त्याग न करना चाहिये।

१—निरुक्तमें यास्कने 'ओषधि' शब्दका निर्वचन ही यह दिया है—ओषधिः कस्माद् दोषधिर्भवति—ओषधिको ओषधि क्यों कहते हैं? इसलिये कि वह दोषोंका पान (नाश; 'धेट् पाने' धातु है) करती है।

२—मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—राजपरिषद्‌से जैसे चक्रवर्ती सम्राट् शोभित होता है, ऐसे जो ओषधियोंसे शोभित है, जो राक्षसोंका हन्ता है तथा जो रोगोंका उच्छेद करता है, उस विप्रको वैद्य कहते हैं।

तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति।
यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते॥ च० सू० १७।८०

ओजः प्रसादो धातूनामिति यावत्॥ —चक्रपाणि

इन स्थलोंमें मधुमेहका निदान बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसका रस मधुर होता है, जो सब धातुओंका प्रसादभूत है, वह ओज जिस विकारमें मूत्रमार्गसे बाहर निकलता है, उसे मधुमेह कहते हैं।

आहारप्रकरणमें देख आये हैं कि शरीरको आहारकी आवश्यकता प्रधानतया ताप और कर्मके लिये होती है। ताप और कर्म धातुओंमें स्थित द्राक्षाशर्करा[१] के ओषजनसे मिलकर पाकसे उत्पन्न होते हैं। यह द्राक्षाशर्करा धातुओंको आहाररससे उपलब्ध होती है। द्राक्षाशर्करा स्वस्थ अवस्थामें अपने पूर्वरूप ग्लाइकोजनके[२] रूपमें पेशियों और विशेषतः यकृतमें संचित रहती है, और प्रयोजन होनेपर तत्काल द्राक्षाशर्करामें परिणत हो जाती है।

मधुमेहमें अग्न्याशयके एक अंशविशेषके विकारसे शरीरकी द्राक्षाशर्कराका उपयोग करनेकी शक्ति मन्द हो जाती है। परिणाममें द्राक्षाशर्करा मूत्रमार्गसे बाहर निकलती है। सो यह द्राक्षाशर्करा आयुर्वेदके ओजसंज्ञक द्रव्योंमें एक होनी चाहिये।

ग्लाइकोजन प्रधानतः कार्बोहाइड्रेटोंसे और अंशतः नाइट्रोजनविरहित की गई प्रोटीनोंसे, और कदाचित् स्नेहोंसे उत्पन्न होती है। शरीरके समस्त प्रकारके कर्मोंमें द्राक्षाशर्कराका ओषजनसे मिलकर पाक होता है। आयुर्वेदमें कहा है कि ओजसे ही सब ज्ञान और कर्म होते हैं। इसके बिना धातु—शरीरावयव—अपना-अपना कार्य करनेमें असमर्थ होते हैं, अतः यह जानो सब धातुओंका सार है, इत्यादि। ओजके विषयमें यह मन्तव्य भी द्राक्षाशर्करापर पूर्णतः घटित होता है। अपरंच, मधुमेहमें शरीरमें द्राक्षाशर्कराका क्षय हो जाय किंवा इन्सुलीनकी अतिमात्रावश वह शरीरमें न्यून हो जाय तो दौर्बल्य, मूर्च्छा और मरण-पर्यन्त परिणाम होते हैं जो चिकित्सकोंको सुविदित है। ओजके क्षयके भी ऐसे ही परिणाम आयुर्वेदमें कहे हैं। यह वस्तु भी दोनोंके साम्यकी द्योतक है।

गर्भके पोषणके लिये भी द्राक्षाशर्करा अत्यन्त आवश्यक है। अतः आर्तव-प्रवृत्तिके पूर्व, तथा गर्भके प्रारम्भिक मासोंमें गर्भाशयकी कलामें इसका प्रमाण ठीक-ठीक बढ़ जाता है[३]। आयुर्वेदमें भी ओजका गर्भके साथ सन्निकट सम्बन्ध बताया है[४]। इससे भी ओजका द्राक्षाशर्करा होना सूचित होता है।

डह्लन का प्रमाण देकर पहले कह आये हैं, कि शरीरके ऊष्मा का नाम भी ओज है। अभी हमने देखा है कि द्राक्षाशर्करा नामक ओजका भेद शरीरमें ऊष्माका हेतु है। संभवतः कारण और कार्यमें अभेद कर लक्षणासे कार्यभूत ऊष्माको भी कहीं ओज माना हो। अथवा शरीरके कार्यमात्र एक नियत ऊष्मामें (९८°-९९° फा०) ही होते हैं, इस हेतु भी ऊष्माको ओज कहा है।

वास्तवमें तो ऊष्मा उष्णत्व गुणके कारण पित्तवर्गके अन्तर्गत है। डह्लनने उदाहरण देकर बताया नहीं कि ओजका ऊष्मा अर्थ किस स्थलमें है।

पृ० ४३५-३६ पर संगृहीत प्रमाणोंसे प्रकट है कि ओजको शुक्रका सार, शुक्रका मल, शुक्रका उपधातु, शुक्रका स्नेह या तेज अथवा शुक्रका जनक कहा गया है। वहीं यह कह आये हैं कि पुरुषोंमें

१—Glucose—ग्लुकोज़। २—Glycogen.

३—देखिये Van De Velde कृत Ideal Marriage पुस्तक।

४—देखिये पृष्ठ ६३०।

वृषण-ग्रन्थियोंका तथा स्त्रियोंमें अन्तःफलका अन्तःस्राव ही इन सब नामोंसे सूचित ओज होना संभव है। सु० सू० १५—२१ की व्याख्या में डह्लन ने 'क्षीरस्थघृतमिवाभिन्नमोजः शुक्रेण।' कहकर लक्षणासे ओजका अर्थ शुक्र भी सूचित किया है।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मलमुच्यते ॥
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ च० सू० १७।११७
तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इति ॥ च० शा० ७।१५

इन वचनोंमें प्रकृतिस्थ श्लेष्मा ही ओज है, ऐसा कहा है। पिछले वाक्यमें ओजःसंज्ञक श्लेष्माका शरीरमें प्रमाण अर्धाञ्जलि बताया है।

पर और अपर ओज—

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः ॥ (च० सू० ३०—७) की व्याख्या करते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—

परस्य श्रेष्ठस्य। एतेन द्विविधमोजो दर्शयति परमपरं च; तत्राञ्जलिप्रमाणमपरं, तदुक्तं—'तावदेव प्रमाणं श्लेष्मणश्चौजस' इति। अल्पप्रमाणं तु परं; यदभिप्रेत्योक्तं—'हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम् (सू० अ० १७.)' इति; तन्त्रान्तरेऽप्युक्तं—'प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः' इति; किञ्च सति हि परे चापरे चौजसि 'परस्य' इति विशेषणं सार्थकं भवति, न त्वेकरूपे। अर्धाञ्जलिपरिमितस्यौजसो धमन्य एव हृदयाश्रिताः स्थानम्। तथा प्रमेहेऽर्धाञ्जलिपरिमितमेवौजः क्षीयते नाष्टबिन्दुकम्, अस्य हि किञ्चित्क्षयेऽपि मरणं भवति; प्रमेहे तु ओजःक्षये जीवत्येव तावत्; ओजःक्षयलक्षणमप्यर्धाञ्जल्योजःक्षय एव बोद्धव्यम्। ओजःशब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते यदुक्तं—'रसश्चौजःसंख्यातः (च० नि० ४)' इति; तथाऽपीह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते ॥"

इसका अर्थ यह है कि 'परस्य' इस विशेषणसे ध्वनित है कि ओज दो प्रकारका है, पर और अपर[1]। पर वा प्रधान ओज वह है, जिसका प्रमाण ग्रन्थान्तरमें आठ बिन्दु कहा है। अपर वा अप्रधान ओज वह है, जिसका आचार्यने अर्धाञ्जलि प्रमाण कहा है तथा जो मधुमेहमें मूत्रमार्गसे निकला करता है। ओजका क्षय होनेपर परिणाम जहाँ मृत्यु कहा है, वहाँ, पर (प्रधान) ओजका ग्रहण करना चाहिये, जिसका अल्पमात्र क्षय भी चिन्ताजनक होता है। 'बिभेति दुर्बलः' इत्यादिमें जो ओजके क्षयके लक्षण कहे हैं वहाँ अपर ओज अभिप्रेत है। मधुमेहमें इसका प्रभूत क्षय होनेपर भी पुरुष जीता रहता है। (यह ओज, जैसा कि पहले कह आये हैं, आधुनिकोंका ग्लाइकोजन है।)

कहीं-कहीं ओज शब्दसे उभयविध ओजोंका ग्रहण होता है। देखिये—'येनौजसा वर्तयन्ति' (च० सू० ३०।९) पर चक्रपाणि।—

येनौजसेति सामान्येन द्विविधमप्योजो ग्राह्यम् ॥

ओज शब्दके समग्र अर्थ—

अवतकके विवेचनमें हमने पाया कि शास्त्रमें ओज शब्द निम्न द्रव्योंके लिये आता है

१—इन्हींको 'रसाधात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम्। प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥' च० चि० २४।३५ इस वचनमें क्रमसे प्रधान और अप्रधान विशेषण दिये हैं।

—१ अष्टबिन्दुपरिमित सर्वधातुओंका सार, २ रसधातु, ३ रुधिर, ४ द्राक्षाशर्करा, ५ शरीरोष्मा, ६ शुक्रसार, ७ प्राकृत कफ तथा ८ शुक्र[1]।

ओज सब कफवर्गीय हैं—

मेरा नम्र परन्तु निश्चित मत है कि रुधिरके अतिरिक्त शेष सब द्रव्य श्लेष्मा या कफवर्गके अन्तर्गत हैं[2]। रुधिरमें रसधातुकी अपेक्षया रञ्जक पित्त (अथवा तज्जन्य रक्तकण) विशेष होनेसे उसकी पित्तवर्गमें गणना है। अथवा, रुधिरके रञ्जकपित्तके अतिरिक्त शेष केवल रसतुल्य अंशकी कफवर्गमें गणना की जा सकती है।

पूर्वधृत 'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा वैकृतो मल उच्यते। स चैवोजः स्मृतः काये।' में 'च' और 'एव' पदों द्वारा भार देकर जताया है कि ओज प्रकृतिभूत श्लेष्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि जो श्लेष्मा है, वही ओज है। और श्लेष्मा, जैसा कि हम अध्यायके आरम्भमें देख आये हैं, अनेक द्रव्योंके वर्गका नाम है। तथापि जैसे तैल, घृत, मेद, वसा, मज्जा और मस्तिष्क स्नेहरूपसे एक होते हुए भी स्थान और कर्मके भेदसे भिन्न कहे जाते हैं, वैसे ही कफजातीय द्रव्य बल, वर्ण और उपचय की शरीरमें उत्पादकता तथा स्वयं शीतमधुर द्रव्योंसे उत्पाद्यता इन गुणोंके कारण कफरूपसे एक होते हुए भी स्थान और कर्मके भेदवश पृथक्त्वेन वर्णित हैं।

ओजके मुख्य अर्थ—

इसी प्रकार कफजातीय द्रव्योंके अन्तर्गत एक उपवर्गका नाम ओज है, जिसमें पूर्वोक्त सर्वधातु-स्नेह, रसधातु प्रभृति आठका अन्तर्भाव है। इनमें भी रसधातु, रुधिर, शरीरोष्मा, शुक्र तथा कफके आगे कहे जानेवाले अवलम्बक प्रभृति भेदोंका शास्त्रमें पृथक् निज-निज नामोंसे वर्णन है। अतः पूर्व-कथित साम्य के कारण शास्त्रोंमें इन्हें स्पष्ट ही ओज कहनेपर भी वास्तविक ओज नाम दो ही द्रव्योंका रह जाता है, जिन्हें चक्रपाणि ने पर और अपर, या प्रधान और अप्रधान ओज कहा है। इनमें अपर ओज, जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, वर्तमान क्रिया-शारीरका ग्लाइकोजन किंवा द्राक्षाशर्करा है। चक्रपाणि ने पूर्वधृत वाक्यमें स्पष्ट कहा है कि जो ओज मधुमेहमें मूत्रमार्गसे निकला करता है, वही अपर है, और उसीका अर्धाञ्जलि प्रमाण आचार्यने कहा है। अञ्जलिनिर्देश्यप्रकरण (च० शा० ७—१५) में इस ओजका श्लेष्मा विशेषण देकर भी श्लेष्मासे पृथक् उसका परिमाण बताया है। उसका अभि-प्राय यह है कि अपर ओज श्लेष्माका भेद होते हुए भी शास्त्रमें पृथक् वर्णित है। श्लेष्मा अथवा उसके अन्तर्गत ओजके रस, रुधिर और शुक्र इन अञ्जलि-निर्देश्य भेदोंका प्रमाण भी उक्त प्रकरणमें पृथक् ही बताया है ; अन्यत्र भी इनका पृथक् ही वर्णन पाया है।

यही बात चक्रपाणि के शब्दोंमें देखिये—

ओजःशब्दश्च यद्यपि रसेऽपि वर्तते, यदुक्तं, रसश्चौजःसंख्यातः' इति तथा 'मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किञ्चिदोजसे' इति ; तथापीह सर्वधातुसारमोजोऽभिधीयते ॥

च० सू० ३०—७ पर चक्रपाणि

—यद्यपि ओज शब्दका अर्थ रसधातु भी है किन्तु यहाँ (तथा प्रसंगसे अन्यत्र भी) सर्व-धातुओंके स्नेहरूप ओजका ग्रहण है।

१—वर्गीकरणकी कल्पना सोलहवें तथा चालू अध्यायमें देखिये।

२—२७ वें अध्यायमें शुक्रके कर्म तथा शुक्रक्षयके अनिष्ट परिणाम दिये गये हैं। उनका विचार करनेसे शुक्रकी कफवर्ग या ओजवर्गमें की गई गणनाका अर्थ विशद होगा।

ओजकी पृथक् गणनाका कारण—

ओजके पृथक् परिगणनका कारण भी चक्रपाणि के ही शब्दोंमें—

यद्यप्योजः सप्तधातुसाररूपं, तेन धातुग्रहणेनैव लभ्यते, तथापि प्राणधारणकर्तृत्वेन पृथक् पठितम् ॥ च० सू० २८—४ पर चक्रपाणि

ओज रसादि सात धातुओंमें रहनेवाला उनका उत्कृष्ट अंश होनेसे उनके ग्रहणसे गृहीत ही हो सकता था ; तथापि प्राणधारणरूप विशेष कर्म होनेसे शास्त्रमें उसका पृथक् निर्देश किया जाता है।

वर्तमान क्रियाशारीरमें अपर ओज (ग्लाइकोजन) का प्रमाण सारे शरीरमें एक प्रतिशत कहा जाता है। यह राशि जैसा कि पहले कह आये हैं, मुख्यतः यकृतमें तथा उससे उतर कर मांसपेशियोंमें और यत्किञ्चित् अन्य शरीरावयवोंमें रहा करती है[1]। शरीरमें इसके पहले कहे प्रयोजन तथा मधुमेहमें इसकी क्षीणता से होनेवाले मरणपर्यन्त विकारोंका अनुशीलन करनेसे विदित होगा कि आयुर्वेदमें जो इसकी इतनी महिमा वर्णित है, वह वर्तमान विज्ञानसे पूर्ण संवाद रखती है।

उक्त विवेचनानुसार ओजको कफवर्गके अन्तर्गत एक उपवर्ग स्वीकार किया जाय तभी इस शङ्काका भी समाधान होता है कि शास्त्रकार जिस ओजका स्पष्ट शब्दोंमें गौरवप्रतिपादन करते हुए थकते नहीं, उसे वात, पित्त और कफके साथ चतुर्थ दोष क्यों नहीं गिना ?

ओज उपधातु है—

पर और अपर उभयविध ओजका उपधातुओंमें अन्तर्भाव है, धातुओंमें नहीं। इसका हेतु बताते हुए चक्रपाणि कहते हैं।

एतच्चौज उपधातुरूप केचिदाहुः ; धातुर्हि धारणपोषणयोगाद् भवति, ओजस्तु देहधारकं सदपि न देहपोषकं तेन नाष्टमो धातुरोजः ॥ च० सू० ३०—७ पर चक्रपाणि

धातु शब्द धा (डुधाञ्) धातुसे व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ धारण तथा पोषण करना है। शरीरमें जो द्रव्य धारण और पोषण उभय कर्म करे उसे धातु कहा जाता है। ओज शरीरका धारण तो करता है, पर अल्पमात्र होने के कारण मांस, मेद, अस्थि आदिके समान पोषण (भराव) नहीं करता। अतः धातुओंके साथ धारणरूप किञ्चित साम्य होनेसे इसे उपधातु (उपमितोधातुना उपधातुः) कहते हैं, धातु नहीं।

अपर ओज आधुनिक मतसे क्या होना चाहिये ?—

अर्धाञ्जलिपरिमित अपर ओजका स्वरूपोल्लेख हुआ। अष्टबिन्दुपरिमित पर वा प्रधान ओज क्या है, इसका विवेचन अब प्रसङ्गोपात्त है। प्रत्यक्षशारीर तृतीय भाग (पृष्ठ ८६) में पोषणिका ग्रन्थि[2] के अन्तःस्रावका वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय गणनाथ सेन सरस्वती कहते हैं—

"सम्यग्विदार्य परीक्षितं च तदभ्यन्तरं पिच्छिलवस्तुगर्भान् कोषान् प्रकटीकरोति, तेभ्यश्च कोषेभ्यः स्रवति सूक्ष्मो रसः सुधासदृशः। तस्य सूक्ष्मैः सिराजालकैः शोणितस्रोतसि प्रवेशः सर्वधातुपोषणाय। अत एवास्य 'सुधास्राविसोममण्डलम्' इति योगिनां व्यपदेशः। प्राचाम् 'ओजः' संज्ञः पदार्थश्च स एव प्रतिभाति ॥

१—शरीरमें ६४ प्रतिशत जल, १६ प्रतिशत प्रोटीन, १४ प्रतिशत स्नेह, ५ प्रतिशत खनिज तथा १ प्रतिशत ग्लाइकोजनके रूपमें कार्बोहाइड्रेट होते हैं।

२—Pituitary gland—पिच्युइटरी ग्लैण्ड।

पोषणिका ग्रन्थिसे अमृतसदृश सर्वधातुपोषक अन्तःस्राव हुआ करता है। अतएव इस ग्रन्थिको योगियोंने 'अमृतका स्राव करनेवाला चन्द्रमण्डल' कहा है। आयुर्वेदका ओज यही होना चाहिये।"

परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि पोषणिका ग्रन्थि किसी एक अन्तःस्रावको तो उत्पन्न नहीं करती। उसके अग्रिम तथा पश्चिम खण्डोंके मिलकर कोई चौदह अन्तःस्राव हैं, जिनके कर्म परस्पर सर्वथा भिन्न प्रकारके और कई परस्पर विरोधी भी हैं। अतः उनकी तुलना आयुर्वेदोक्त किसी एक द्रव्यसे करना संभव नहीं। किंच—पोषणिकाके अन्तःस्रावोंका साम्य आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियोंसे अधिक है। अतः तत्-तत् अन्तःस्रावको तत्-तत् धात्वग्नि कहना अधिक संगत है। पोषणिका-ग्रन्थिके प्रकरणमें यथासाध्य मैंने यह साम्य दिखाया भी है। शेष वृषण-ग्रन्थि तथा अन्तःफलके अन्तःस्राव ही आयुर्वेदोक्त पर या प्रधान ओज प्रतीत होते हैं। इस ओजके शुक्र-सार आदि नाम इसका शुक्रोत्पादक अवयवोंसे निश्चित संबन्ध सूचित करनेके लिए पर्याप्त हैं। प्रमाण भी इनका आठ बिन्दु कहा है—उसका अर्थ अल्प मात्रा ले सकते हैं। यह मन्तव्य मैंने पृष्ठ ४३५-३६ तथा ४४६ पर भी दिखाया है। उसे यहाँ पुनः देखना योग्य होगा।

छत्तीसवां अध्याय

अथातस्त्रिदोषसामान्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

शरीर दोष, धातु (-उपधातु) और मल इन तीनोंके समवायसे बना है। इनमें दोषोंका प्राधान्य होनेसे प्रथम अध्यायमें इनका कुछ परिचय कराया जा चुका है। पश्चात् अल्प वक्तव्य होनेसे धातुओं, उपधातुओं और मलोंका विवरण कर आये। अब अवसर है कि दोषोंका सविस्तर निरूपण करें।

प्रथम अध्यायमें हम कह आये हैं कि शरीरकी प्राकृत-वैकृत नाम स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों अवस्थाओंका कारण शारीरमानस दोष हैं। इस दृष्टिसे इनकी दो अवस्थाएँ हैं—प्राकृत किंवा समता और विकृत किंवा क्षय और वृद्धि। इनमें रोगोत्पत्ति प्रायः दोषत्रयकी वृद्धिकी अवस्थासे ही होती है। यह भी कहा जा चुका है कि दोनों अवस्थाओंमें दोषोंकी क्रिया स्रोतोंकी अदुष्टि या दुष्टि (वैगुण्य) के अधीन है। अगले अध्यायोंमें हम क्रमशः दोषोंका प्रथम सामान्य और पश्चात् विशेष ज्ञान करायेंगे।

दोषोंके गुणोंमें परस्पर सदृशता और भिन्नताका परिणाम—

विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्।
दोषाः सहजसाम्यत्वाद् विषं घोरमहीनिव ॥ च० चि० २६।२९३

जैसा कि आगे चलकर देखेंगे, दोषों के गुणोंमें कुछ परस्पर समान होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दोष-प्रकोपक आहार-विहार अपने स्वभावसे शरीर में जिस दोषके अधिक-संख्यक गुणोंको वृद्धि करते हैं उस दोषका प्रकोप विशेषतया होता है और वही रोगोत्पत्ति भी करता है। परन्तु यत्किंचित् समान गुणवाले इतर दोषकी भी न्यूनाधिक वृद्धि होती ही है और उसके प्रकोपके लक्षण भी अनुबन्ध (सहचारी—उपद्रव) रूपमें पाये जाते हैं। परन्तु—

इन समान गुणोंके अतिरिक्त दोषोंके कुछ गुण परस्पर विरुद्ध भी होते हैं। तथापि वे एक दूसरेका उपमर्द (नाश) न करते हुए ही शरीरको धारण करते हैं। सर्पका विष अन्योंके लिये घातक होता हुआ भी जैसे सर्पकी कोई क्षति नहीं करता, वैसे ही वातादि दोषोंकी अविरुद्धता स्वभावसिद्ध है।

वात-पित्त-कफ सर्वशरीरचर हैं—

वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वाणि स्रोतांस्ययनभूतानि ॥ च० वि० ५।५

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ॥ च० वि० २८।५९

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीनां सर्वेषां मूलमिष्यते।
जितेऽत्र जायते तेषां कृत्स्ननाशो यथा रुहाम् ॥

सु० नि० १।८ पर गयदास द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर वचन

वात, पित्त और श्लेष्माका स्थान समग्र शरीर है। सारे ही स्रोत इनके स्रोत हैं। तथापि

इनकी उत्पत्ति और सञ्चय का एक-एक मूलस्थान है। इन स्थानोंपर यदि इन्हें शास्त्रोक्त संशोधन[1] और संशमन उपायों द्वारा जीत लिया जाय तो दोषोंका मूलोच्छेद हो जाता है। वे तब शरीरमें विकार उत्पन्न नहीं कर पाते। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर आयुर्वेदमें प्रत्येक दोषके विशिष्ट स्थान कहे गये हैं। इनका प्रकरणानुसार आगे उल्लेख होगा।

शास्त्रमें दोषोंके सविस्तर निरूपणका कारण—

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वात्, दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्त्यनतिबहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थमनवशेषेण च दोषान् व्याख्यास्यामः॥

च० वि ६-५

यथाचित्रमिति यथाविन्यासं तेन यानेव पूर्वाचार्या विकारानधिकृतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेव व्याख्यास्यामः ; न तु सर्वानशक्यत्वात्॥ —चक्रपाणि

व्याधियाँ असंख्य होती हैं। पर उनके हेतुभूत दोषोंकी गणना की जा सकती है। इसी कारण शास्त्रकार विकृत किंवा अविकृत दोषोंका ही स्वरूप सम्पूर्णतया बताते हैं। शास्त्रोंमें व्याधियोंका जो नामरूपसे वर्णन होता है, वह केवल परस्परानुसार अथवा उदाहरणके रूपमें होता है।

ऋतुस्वभावसे सञ्चित दोषका शोधन दोषका संपूर्ण प्रकोप होनेपर ही करे—

इह तु वर्षाशरद्धेमन्तवसन्तग्रीष्मप्रावृषः षडृतवो भवन्ति दोषोपचयप्रकोपोपशमनिमित्तम्॥ सु० सू० ६।१

माधवप्रथमे मासि नभस्यप्रथमे पुनः।
सहस्यप्रथमे चैव हारयेद् दोषसञ्चयम्॥ च० सू० ७।४६

माधवो वैशाखस्तस्य प्रथमश्चैत्रः, एवं नभस्यस्य प्रथमः श्रावणः, तथा सहस्यस्य पौषस्य प्रथमो मार्गशीर्षः। एते च मासाश्चैत्रश्रावणमार्गशीर्षाः शोधनार्थं वक्ष्यमाणप्रावृडादिऋतुक्रमेण वसन्तप्रावृट्शरदन्तर्गता भवन्ति। वसन्तादीनामन्तमासेषु तु वमनाद्यभिधानं संपूर्णप्रकोपे भूते निर्हरणोपदेशार्थः। प्रथमेषु हि मासेषु फाल्गुनाषाढकार्तिकेषु प्रकोपः प्रकर्षप्राप्तो न भवतीति। अतएव कपिलबलेऽपि पठ्यते—'मधौ सहे नभसि च मासि दोषान् प्रवाहयेत्। वमनैश्च विरेकैश्च निरूहैः सानुवासनैः॥'

—चक्रपाणि

दोषोंका प्रकोप कारण-भेदसे संक्षेपमें दो प्रकारका होता है—प्रज्ञापराध या अहिताहार विहारसे तथा कालापेक्ष। तत्-तत् वय, ऋतु आदि कालोंमें काल-स्वभाववश तत्-तत् दोषका संचय, प्रकोप या प्रशम होता है। इन संचयादिको कालापेक्ष कहते हैं। ऋतुस्वभाववश दोषोंका अपनी ऋतु में संचय हुआ तो ऊपर कहे नियमानुसार उनका संशोधन न करना चाहिये। किन्तु अगली ऋतुमें दोष जब संपूर्णतया कुपित हो जाय तभी परिपक्व नाम प्रवृत्त्युन्मुख (बाहर निकलने योग्य दशामें पहुंचा हुआ) होनेसे उसका यथायोग्य शोधन करना उचित है।

दोषोंके सञ्चयके लक्षण—

संचितानां खलु दोषाणां स्तब्धपूर्णकोष्ठता पीतावभासता मन्दोष्मता चाङ्गानां गौरवमालस्यं चयकारणविद्वेषश्चेति लिङ्गानि भवन्ति॥ सु० सू० २१।१८

१—प्रधानतः वातके लिये बस्ति, पित्तके लिये विरेचन और कफके लिये वमन। इनका कुछ विचार आगे तत्तत् दोषके प्रकरणमें देखेंगे।

अत्र स्तब्धपूर्णकोष्ठता वाते संचिते, पीतावभासता पित्ते संचिते, शेषं कफस्य ; सर्वमेव वा सर्वस्य ॥ —चक्रपाणि

चयो वृद्धिः स्वधाम्न्येव प्रद्वेषो वृद्धिहेतुषु।
विपरीतगुणेच्छा च ॥ अ० हृ० सू० १२।२२

दोषोंके संचित होनेका अन्यतम लक्षण संचयके कारणभूत आहार-विहारके प्रति द्वेष और विपरीतकी इच्छा होना है।[1] शेष लक्षण नीचे लिखे होते हैं—कोष्ठका भारी और जकड़ा हुआ सा होना (वायुके संचयसे) ; त्वचा, नख, नेत्रादिका पीला सा दिखना (पित्तके संचयसे) ; ऊष्माकी मन्दता, अङ्गोंका भारीपन तथा आलस्य (कफके संचयसे)।

संसर्गे यो गरीयान् स्यादुपक्रम्यः स वै भवेत्।
शेषदोषाविरोधेन सन्निपाते तथैव च ॥ सु० सू० २१।३९

संसर्ग वा सन्निपातमें जो दोष विशेष कुपित हो, उसे अन्य दोषोंको सम्भालता हुआ साम्यमें लाए।[2]

दोषोंके प्रकोपके लक्षण—

संचयकी अवस्थामें दोषोंका उपशमन न कर दिया जाय तो अगली प्रकोपकी अवस्था आती है। प्रकोपके संक्षेपमें लक्षण नीचे कहे होते हैं—

तेषां प्रकोपात् कोष्ठतोदसंचरणाम्लीकापिपासापरिदाहान्नद्वेषहृदयोत्क्लेदाश्च जायन्ते। तत्र द्वितीयः क्रियाकालः ॥ सु० सू० २१।२७

उदरमें चुभनेकी सी वेदना तथा वायुका संचार (वायुसे) ; अम्लोद्गार, पिपासा तथा शरीरमें दाह (पित्तसे) ; अन्नद्वेष, अरुचि तथा हृल्लास—जी मिचलाना (कफसे)। यह द्वितीय चिकित्साकाल है।

दोषोंके प्रसरका स्वरूप तथा उसके भेद—

अत ऊर्ध्वं प्रसरं वक्ष्यामः—तेषामेभिरातङ्कविशेषैः प्रकुपितानां किण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्तानां प्रसरो भवति। तेषां वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये। स हि रजोभूयिष्ठः ; रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। यथा महानुदकसंचयोऽतिवृद्धः सेतुमवदार्यापरेणोदकेन व्यामिश्रः सर्वतः प्रधावति एवं दोषाः कदाचिदेकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा अनेकधा प्रसरन्ति। तद्यथा—वात ; पित्तं, श्लेष्मा, शोणितं, वातपित्ते, वातश्लेष्माणौ, पित्तश्लेष्माणौ, वातशोणिते, पित्तशोणिते, श्लेष्मशोणिते, वातपित्तशोणितानि वातश्लेष्मशोणितानि, पित्तश्लेष्मशोणितानि, वातपित्तकफाः, वातपित्तकफशोणितानीति ; एवं पञ्चदशधा प्रसरन्ति ॥ सु० सू० २१।२८

१—अत्यशन या अध्यशन हुआ हो तो लङ्घनकी एवं श्रीखण्ड आदि शीतगुण पदार्थका सेवन किया हो तो शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्य सांधित चाय आदिके सेवन की सबको स्वानुभवसिद्ध इच्छा इसका उत्तम उदाहरण है।

२—इस विषयमें आचार्योंके मतभेद तथा अन्तिम निर्णय घाणेकरी सुश्रुतव्याख्यामें इसी श्लोक पर देखिये।

प्रसरन्ति देशान्तरे चलन्ति। × × ×। अपरेणोदकेन व्यामिश्र इत्यत्र वाशब्दो द्रष्टव्यः ; तेन दोषान्तरसहितस्य प्रसरेऽयं पक्षः, केवलप्रसरे तु सेतुमवदार्यैत्यन्त एव दृष्टान्तः ॥

—चक्रपाणि

ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा।
त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु ॥ च० सू० १७।११२

प्रकोपावस्थामें दोषोंकी चिकित्सा न की जाय तो प्रसर अवस्था उपस्थित होती है। मद्य-संधानमें जैसे किण्व (सुराबीज, खमीर[1]), चावलोंका कल्क और जल इनका मिश्रण रखा रहनेपर उसमें उफान आता है और उनका मिश्रण पात्रके बाहर आ जाता है, वैसे अपने-अपने कारणोंसे प्रकुपित हुए दोषोंका उपाय न किया जाय तो वे भी मूलस्थानसे चलित होकर अन्य स्थानोंमें गमन करते हैं। दोष अचेतन होनेसे स्वयं पंगु हैं, वायुकी प्रेरणासे उनमें गति आती है। कारण, वायु रजोगुणप्रधान है और रजोगुणका कर्म सब वस्तुओंको प्रेरणा देना है।

महान् जलराशि जैसे अधिक प्रवृद्ध होनेपर बाँध तोड़कर सब ओर फैलने लगता है, अथवा यदि कोई अन्य जलाशय समीपमें हो तो उसके जलसे मिलकर फैलता है, वैसे कुपित हुए दोष अपनी सीमा छोड़कर कभी अकेले, कभी दो-दो मिलकर, कभी तीनों तथा कभी रक्तके साथ ऊपर, नीचे किंवा तिर्यक् दिशामें अथवा कोष्ठ, शाखा, मर्म अस्थि और सन्धि इनकी ओर फैलते हैं। दोषोंके पृथक्त्व, संसर्ग या सन्निपातके अनुसार प्रसर पन्द्रह प्रकारका होता है—वात, पित्त, कफ, रक्त, वात-पित्त, वात-कफ, पित्त-कफ, वात-रक्त, पित्त-रक्त, कफ-रक्त, वात-पित्त-रक्त, वात-कफ-रक्त, पित्त-कफ-रक्त, वात-पित्त-कफ, वात-पित्त-कफ-रक्त।

सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥ सु० सू० २१।३८

कुपित हुए दोषोंके विषयमें यह और विशेष है कि एक या अनेक जो भी दोष कुपित हों उनके सभी गुणोंका प्रकोप होता हो यह बात नहीं। किन्तु, प्रकोपक आहार, विहार, औषध, देश या कालमें स्निग्ध, रूक्ष आदि जो गुण अधिक होता है, अति सेवन करनेपर वह आहारादि उसी गुणकी शरीरमें वृद्धि और प्रकोप करता है। निदान-कालमें यह जानना आवश्यक समझा गया है कि कुपित या क्षीण किस दोषका कौन-सा गुण (अंश) कुपित या क्षीण है। इस विचार को अंशांशकल्पना या विकल्प कहते हैं। यह संप्राप्तिका एक भेद है। इस परीक्षाके अनन्तर ऐसे ही आहारौषध द्रव्यादिकी योजना करनी चाहिए, जिनमें प्रकुपित दोषके प्रकुपित गुणका विरोधी गुण विशेष हो।

प्रसृत होते हुए दोषोंसे रोगोत्पत्तिमें दृष्टान्त—

कृत्स्नेऽर्धेऽवयवे वापि यत्राङ्गे कुपितो भृशम्।
दोषो विकारं नभसि मेघवत् तत्र वर्षति ॥ सु० सू० २१।२९

जैसे अन्तरिक्षमें बहिश्चर वायुसे आहत होकर मेघ जहाँ पहुँचते हैं वहीं वृष्टि करते हैं, वैसे कुपित दोष शरीरान्तर्गत वायुसे प्रेरित होकर जहाँ और जितने स्थानमें प्रसृत होते हैं, वहाँ और उतने स्थानमें रोगकी उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार दोषोंके प्रसर की व्यापकताके अनुसार रोग समस्त शरीरमें, शरीरके एक अङ्गमें अथवा उसके भी एक अंशमें उत्पन्न हो सकता है।

१—Yeast—यीस्ट।

असम्पूर्ण कुपित दोष अनुकूल परिस्थिति आनेपर रोग उत्पन्न करता है—

नात्यर्थं कुपितश्चापि लीनो मार्गे प्रतिष्ठति ।
निष्प्रत्यनीकः कालेन हेतुमासाद्य कुप्यति ॥ सु० सू० २१।३०

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दोष अत्यन्त कुपित न होनेसे उसके लक्षण तत्काल प्रकट नहीं होते, अतः उसका उपाय भी नहीं किया जाता। पर इनसे दोष स्वयं शान्त नहीं हो जाता, किन्तु अपने प्रकोपक कारणकी प्रतीक्षामें निभृत (शांत) होकर बैठा रहता है। कारण उपस्थित होनेसे वह प्रकुपित और प्रसृत होकर रोगका प्रादुर्भाव करता है।

चरक ने दोषोंके प्रसरका वर्णन निम्न शब्दोंमें किया है—

व्यायामादूष्मणस्तैक्ष्ण्याद्धितस्यानवचारणात् ।
कोष्ठाच्छाखा मला यान्ति द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥
तत्रस्थाश्च विलम्बन्ते कदाचिन्न समीरिताः ।
नादेशकाले कुप्यन्ति भूयो हेतुप्रतीक्षिणः ॥
वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात् ।
शाखा मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात् ॥
च० सू० २८।३१—३३

शाखा इति रसादिधातून् ॥ —शिवदास सेन

व्यायाम (शक्तिसे अधिक श्रम), बाह्य या आभ्यन्तर ऊष्मा, तीक्ष्ण आहार या औषध, अहित आहार-विहारका सेवन तथा स्वयं वायुका चाँचल्य इन हेतुओंसे दोष (मल), कोष्ठसे शाखाओं अर्थात् रसरक्तादि धातुओंमें प्रसृत होते हैं तथा परिस्थिति अनुकूल होनेपर तत्काल अथवा पश्चात् रसज, रक्तज आदि पूर्वनिर्दिष्ट रोग उत्पन्न करते हैं। उधर, अति वृद्धि, विलयन (द्रवीभाव), परिपक्वता, स्रोतोंके छिद्रोंकी शुद्धि होकर अवरोधक कारणका दूर होना तथा वायुके वेगका निरोध—इन हेतुओंसे मल रसादि धातुओंको छोड़कर कोष्ठमें आते हैं।

प्रसृत होते हुए दोषोंका लक्षण—

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां वायोर्विमार्गगमनाटोपौ, ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य, अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति; तत्र तृतीयः कालः ॥ सु० सू० २१।३२

प्रसृत होते हुए दोषोंके पृथक् लक्षण निम्न होते हैं: प्रसृत वायुके—विरुद्ध मार्गमें गमन (अर्थात् ऊर्ध्व वा तिर्यक् गति) और आटोप (गुड़गुड़ी सहित आध्मान); पित्तके—उष्णता, चूसनेकी-सी वेदना, दाह और धूमके समान उद्गार; कफके—अरुचि, अजीर्ण, अनायास थकान तथा वमन[1]। यह चिकित्साका तृतीय काल है।

१—इस सूत्रको सम्पूर्ण निदानका हृदय कहना चाहिये। एक इसी सूत्रमें कथित लक्षणोंको दृष्टिमें रखकर तीन होते हुए भी असंख्यात्मक दोषों और उनसे उत्पन्न रोगोंकी सम्प्राप्ति यथावत् जानी जा सकती है।

अन्य दोषके स्थानपर गये दोषका उपाय —

तत्र वायोः पित्तस्थानगतस्य पित्तवत् प्रतीकारः ; पित्तस्य च कफस्थानगतस्य कफवत्, कफस्य च वातस्थानगतस्य वातवत् ; एष क्रियाविभागः ॥ सु० सू० ३१।३१

स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः ॥

च० सू० १४—९ पर चक्रपाणिधृत तन्त्रान्तरवचन

वायु यदि प्रवृत होकर पित्तके स्थानपर पहुँच जाय तो उसका पित्तके समान, कफस्थानगत पित्तका कफके समान तथा वातस्थानगत कफका वातके समान उपाय करना चाहिये।

स्थानसंश्रय—

अत ऊर्ध्वं स्थानसंश्रयं वक्ष्यामः। एवं प्रकुपिताः तांस्तान्शरीरप्रदेशानागम्य तांस्तान् व्याधीन् जनयन्ति। ते यदोदरसंनिवेशं कुर्वन्ति तदा गुल्मविद्रध्युदराग्निसङ्गानाह-विसूचिकातिसारप्रभृतीञ्जनयन्ति ; बस्तिगताः प्रमेहाश्मरीमूत्राघातमूत्रदोषप्रभृतीन् ; मेढ्रगता निरुद्धप्रकशोपदंशशूकदोषप्रभृतीन् ; गुदगता भगन्दरार्शःप्रभृतीन् ; वृषणगता वृद्धीः ; ऊर्ध्वजत्रुगतास्तूर्ध्वजान् ; त्वङ्मांसशोणितस्थाः क्षुद्ररोगान् कुष्ठानि विसर्पांश्च ; मेदोगता ग्रन्थ्यपच्यर्बुदगलगण्डालजीप्रभृतीन् ; अस्थिगता विद्रध्यनुशयीप्रभृतीन् ; पादगताः श्लीपद-वातशोणितवातकण्टकप्रभृतीन् ; सर्वाङ्गगता ज्वरसर्वाङ्गरोगप्रभृतीन् ; तेषामेवमभिसन्नि-विष्टानां पूर्वरूपप्रादुर्भावः, तं प्रतिरोगं वक्ष्यामः। तत्र पूर्वरूपगतेषु चतुर्थः क्रियाकालः ॥

सु० सू० २१।३३

स्थानसंश्रयः दोषदूष्यस्य संश्रयः ॥ —चक्रपाणि

प्रभृतिग्रहणात् प्रवाहिकाविलम्बिकाप्रभृतयः। मज्जशुक्रगतानां दोषाणां व्याधयो न निर्दिष्टाः, स्वल्पत्वात् कादाचित्कत्वाच्च। सर्वाङ्गरोगः सर्वाङ्गवातव्याधिः प्रमेहपाण्डुरोगशोषादयो वा ॥

—डह्लन

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः स्ववैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ सु० सू० २४।१०

क्षिप्यमाणस्तु वैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥
दोषाणामपि चैवं स्यादेकदेशप्रकोपणम् ॥ च० चि० १५।३७–३८

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ अ० हृ० नि० १।२३

स एव कुपितो दोषः समुत्थानविशेषतः।
स्थानान्तरगतश्चैव जनयत्यामयान् बहून् ॥ च० सू० १८।४५

प्रसर कालके स्पष्टतर लक्षणोंको देखकर भी दोषोंका प्रतीकार न किया जाय तो स्थानसंश्रय नामक चतुर्थ अवस्था आती है। कुपित दोषोंका शरीरमें प्रसार रसवाहिनियों (रस-रक्तवाहिनियों)

द्वारा होता है। स्थानविशेषकी रसायनियोंके किसी विकारके कारण प्रसृत होते हुए दोषोंका यदि उस स्थानपर अवरोध हो जाय तो वे वहीं रोगोंकी उत्पत्ति आरम्भ करते हैं। उस स्थानके रस, रक्त आदि धातुओं या अवयवोंके साथ दोषोंके समागमका नाम ही स्थानसंश्रय है। इस प्रकार दोषोंका स्थान यदि उदरमें हो तो गुल्म, विद्रधि, उदर, मन्दाग्नि, आध्मान, विसूचिका, प्रवाहिका, विलम्बिका प्रभृति; बस्तिमें हो तो प्रमेह, अश्मरी, मूत्रावरोध, मूत्रदोष प्रभृति; वृषणमें हो तो वृद्धियाँ; शिश्नमें हो तो निरुद्धप्रकाश, उपदंश, शूकदोष प्रभृति; गुदमें होनेपर भगन्दर, अर्श प्रभृति; ग्रीवामूलके ऊर्ध्वभागमें होनेपर ऊर्ध्वजत्रुगत रोग; त्वचा, मांस और रक्तमें होने पर क्षुद्ररोग, कुष्ठ और विसर्प; मेदमें होनेपर ग्रन्थि, कण्ठमाला, अर्बुद, गलगण्ड, अलजी प्रभृति; अस्थिमें होनेपर विद्रधि, अनुशयी प्रभृति; चरणमें होनेपर श्लीपद, वातरक्त, वातकण्टक प्रभृति तथा सर्वाङ्गमें होनेपर सर्वाङ्गीण वातव्याधि, मेहरोग, पाण्डुरोग, शोष प्रभृति सर्वाङ्गगत रोग उत्पन्न होते हैं।

पूर्वरूप—

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम्॥ च० चि० २८।१९

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्।
दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥

दोषोंके यथोक्त स्थानसंश्रयसे भावी रोगकी सूचना देनेवाले लक्षण प्रकट होते हैं, जिनका नाम पूर्वरूप है। प्रत्येक व्याधिका पूर्वरूप पृथक् होता है। पूर्वरूपका प्रादुर्भाव चिकित्साका चतुर्थकाल है।

व्यक्ति—

अत ऊर्ध्वं व्याधेर्दर्शनं वक्ष्यामः—शोफार्बुदग्रन्थिविद्रधिविसर्पप्रभृतीनां प्रव्यक्तलक्षणता ज्वरातीसारप्रभृतीनां च। तत्र पञ्चमः क्रियाकालः॥ सु० सू० २१।३४

व्याधेः प्रव्यक्तं रूपं व्यक्तिः॥ —डल्हन

स्थानसंश्रय या पूर्वरूपके प्रादुर्भावकालमें भी दोषोंका प्रतिविधान न किया जाय तो पञ्चम अवस्था आती है। इसमें ज्वर, अतिसार, उदर आदि तथा शोफ, अर्बुद, ग्रन्थि, विद्रधि, विसर्प प्रभृति व्याधियोंके चिकित्साप्रकरणोक्त लक्षण—यथा ज्वरका संताप (देहोष्मामें वृद्धि), अतिसारमें सरण (अतिमल प्रवृत्ति), उदरमें पूरण (उदरका उत्सेध—उभर आना), कामलामें पीतवर्णता, विसूचिकामें उदरमें तीव्र वेदना आदि—व्यक्त होते हैं। इसीसे इस अवस्थाका नाम व्यक्ति है। यह पञ्चम चिकित्साकाल है।

भेद—

अत ऊर्ध्वमेतेषामवदीर्णानां व्रणभावमापन्नानां षष्ठः क्रियाकालः; ज्वरातीसारप्रभृतीनां च दीर्घकालानुबन्धः तत्राप्रतिक्रियमाणेऽसाध्यतामुपयान्ति॥ सु० सू० २१।३५

पञ्चम व्यक्ति अवस्थामें दोषोंका प्रत्युपाय न करें तो उनके लक्षण और प्रकट होकर भेद नामक अवस्था आती है। इसमें शोथादि तो विदीर्ण होकर व्रणरूप हो जाते हैं; तथा ज्वर, अतिसार प्रभृति दीर्घकालानुबन्धी (जीर्ण[1]) हो जाते हैं। शोथादिके पक्षमें भेद शब्दका अर्थ उनका व्रणभाव (फटना) है। ज्वरादि रोगोंके पक्षमें इसका अर्थ विशेषता है। अन्य अवस्थाओंकी अपेक्षया इस षष्ठ अवस्थामें यह विशेषता (भेद) होती है कि इसमें पहुँचनेपर रोग जीर्ण हो जाते हैं। उस समय भी प्रतिक्रिया न की जाय तो रोग असाध्य कोटिमें पहुँच जाते हैं।

१—Chronic—क्रौनिक।

उत्पन्न होते ही रोगका उपाय करनेकी आवश्यकता—

क्रमेणोपचयं प्राप्तो धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥ सु० सू० २३।१५-१६
अणुर्हि प्रथमं भूत्वा रोगः पश्चाद् विवर्धते।
स जातमूलो मुष्णाति बलमायुश्च दुर्मतेः॥
तस्मात् प्रागेव रोगेभ्यो रोगेषु तरुणेषु वा।
भेषजैः प्रतिकुर्वीत य इच्छेत् सुखमात्मनः॥ च० सू० ११।५८-६३

प्रतिविधान न करनेसे सञ्चित दोष पहले अणु होता हुआ भी क्रमसे धातुओंमें गहरा प्रवेश करता जाता है, स्थिर और अधिक विस्तृत हो जाता है। उस काल दृढमूल वृक्षके सदृश उसका शरीरसे उच्छेद करना दुष्कर होता है। जैसे दुष्ट ग्रहके आगे सब मन्त्रक्रिया विफल होती है, वैसे उस रोगके लिये प्रयुक्त समस्त ओषधियाँ निर्वीर्य होती हैं।

दोषोंका चक्रवत् भ्रमण—

दोषकी वृद्धिसे रोगोत्पत्ति उस दोषके प्रसर और स्थानसंश्रयसे होती हैं; यह कहा जा चुका है। यह भी कह आये हैं कि दोष अति वृद्धि आदि कारणोंसे जिस प्रकार शरीरावयवोंकी ओर फैलते हैं, वैसे शोधन आदि उपायों या किन्ही आकस्मिक कारणोंसे वे कोष्ठमें—कोष्ठगत अपने-अपने संचयस्थानमें—लौट आते हैं[1]।

उक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि वृद्धिको प्राप्त दोषोंका शरीरमें चक्रवत् भ्रमण होता है। इस चक्रमें प्रत्येक दोषका प्रस्थानका स्थल उसका अपना मूल संचयस्थान होता है; सारे शरीरमें अनुधावनकर दोष पुनः अपने इसी स्थानपर लौट आता है। (कई आधुनिक आयुर्वेदके पण्डितोंका मत है कि समावस्थामें भी दोषोंका इसी प्रकार चक्राकार भ्रमण या अनुधावन होता है। जैसे हृदयको केन्द्र मानकर रस-रक्त सारे शरीरमें अनुधावन करते हैं, वैसे दोष भी कोष्ठमें अपने-अपने विशेष स्थलको केन्द्र मानकर सारे शरीरमें चक्रवत् भ्रमण किया करते हैं)।

प्रसर और स्थानसंश्रयके सम्बन्धसे रोगोंके तीन मार्ग या गतियाँ—

त्रिविधा चापरा (दोषाणां गतिः) कोष्ठशाखामर्मास्थिसंधिषु॥ च० सू० १७।११२

त्रयो रोगमार्गा इति-शाखा, मर्मास्थिसंधयः, कोष्ठश्च। तत्र शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च, स बाह्यो रोगमार्गः; मर्माणि पुनर्बस्तिहृदयमूर्धादीनि, अस्थिसंधयोऽस्थिसंयोगास्तत्रोपनिबद्धाश्च स्नायुकण्डराः; स मध्यमो रोगमार्गः; कोष्ठः पुनरुच्यते महास्रोतः शरीरमध्यं महानिम्नमामपक्वाशयश्चेति पर्यायशब्दैस्तन्त्रे, स रोगमार्ग आभ्यन्तरः॥
च० सू० ११।४८

१—चिकित्सामें अवयवोंमें स्थित दोषोंको स्नेहन-स्वेदन द्वारा प्रथम कोष्ठमें लाकर यथायोग्य शोधनसे शरीरके बाहर किया जाता है।

× × त्वक्चेति त्वक्शब्देन तदाश्रयो रसोऽपि गृह्यते। × × एतच्च मार्गभेदकथनं तदाश्रितव्याधीनां सुखसाध्यत्वादिज्ञापनार्थम् ॥ —चक्रपाणि

वृद्धिगत दोष प्रसरावस्थामें शरीरमें भ्रमण करते हुए जिन रोगोंको उत्पन्न करते हैं, उनका आचार्योंने अनेक प्रकार से निर्देश किया है। चरक ने सू० २८।८-२२ तथा सुश्रुतने सू० २४।८-१० में कुपित दोषों द्वारा रसादि धातुओं, इन्द्रियों और मलोंके दूषित होनेसे उत्पन्न रोगोंका परिगणन किया है। प्रत्येक धातुके प्रकरणमें हमने ये प्रकरण यथावश्यक उद्धृत किये हैं।

ऊपर स्थानसंश्रयके प्रकरणमें स्थानसंश्रयजन्य रोगोंका अवयवानुसार सुश्रुतकृत निर्देश दिया है। इन दो निर्देशोंके अतिरिक्त 'मार्ग' नामसे दोषज रोगोंका निर्देश चरकने किया है। इसका उपयोग रोगकी सुखसाध्यता आदिके कथनार्थ होता है। कोष्ठ आदि प्रदेश, प्रसरावस्थामें संचार करते हुए दोषोंके मार्गतुल्य होनेसे इन्हें 'मार्ग' कहा है। इन मार्गोंमें दोषोंके संचारको 'गति' कहा है।

रोगमार्ग तीन हैं—शाखा, मर्मास्थिसंधि तथा कोष्ठ। शाखा शब्दका अर्थ रक्तादि धातु, त्वचा (तथा त्वचाके अन्तर्गत रस धातु) है। यह बाह्य रोगमार्ग है।

बस्ति, हृदय, शिर आदि मर्म प्रसिद्ध हैं[1]। अस्थिसंधि शब्दसे अस्थियोंके संयोग तथा उनपर बद्ध स्नायु तथा कण्डराका ग्रहण है। मर्मास्थिसंधि मध्यम रोगमार्ग है।

आमाशय, अग्न्याशय (पच्यमानाशय या क्षुद्रान्त्र), पक्वाशय (स्थूलान्त्र, उत्तरगुद, अधरगुद), मूत्राशय (संपूर्ण मूत्रयन्त्र), रक्ताशय (रक्तकी उत्पत्ति तथा संचयके स्थान होनेसे यकृत्-प्लीहा), हृदय, उण्डुक तथा फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहाते हैं। यह कोष्ठ आभ्यन्तर रोगमार्ग है[2]।

तीनों मार्गोंके रोग—

तत्र गण्डपिडकालज्यपचीचर्मकीलाधिमांसमषककुष्ठव्यङ्गादयो विकारा बहिर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः शाखानुसारिणो भवति रोगाः; पक्षवधग्रहापतानकार्दित-शोषराजयक्ष्मास्थिसंधिशूलगुदभ्रंशादयः शिरोहृद्बस्तिरोगादयश्च मध्यममार्गानुसारिणो भवन्ति रोगाः; ज्वरातीसारच्छर्द्यलसकविसूचिकाकासश्वासहिक्कानाहोदरप्लीहादयोऽन्तर्मार्गजाश्च विसर्पश्वयथुगुल्मार्शोविद्रध्यादयः कोष्ठानुसारिणो भवन्ति रोगाः॥ च० सू० ११।४९

गण्ड (फोड़ा), पिडका (फुंसी), अलजी, अपची, चर्मकील, अधिमांस, मषक (मस्सा), कुष्ठ, व्यङ्ग (लांछन) आदि विकार तथा बाह्य रोगमार्गपर हुए विसर्प, शोथ, गुल्म (बाहर उभरा हुआ परन्तु अन्दरकी ओर पकनेवाला), बाह्य अर्श, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी रोग हैं।

पक्षाघात, पक्षग्रह, अपतानक, अर्दित, शोष (धातुशोष), राजयक्ष्मा, अस्थिसंधिशूल, गुदभ्रंश आदि तथा शिरोरोग, (विविध शिरोवेदनाएँ), हृद्रोग, बस्तिरोग आदि मध्यममार्गानुसारी रोग हैं।

ज्वर, अतिसार, वमन, अलसक, विसूचिका, कास, श्वास, हिक्का आनाह (कब्ज), उदररोग, प्लीहा आदि तथा आभ्यन्तर मार्गमें होनेवाले विसर्प, शोथ, गुल्म, आभ्यन्तर अर्श, विद्रधि आदि कोष्ठानुसारी रोग हैं।

१—समग्र मर्मोंका विवरण सु० शा० अ० ६ संपूर्ण तथा तीन प्रधान मर्मोंका वर्णन च० सि० ९।३-१० में देखिये।

२—शाखा तथा कोष्ठ शब्दका अर्थ विस्तारसे जाननेके लिए देखिए—पृष्ठ १६-१७।

दोषोंका कालके सम्बन्धसे (कालापेक्ष) प्रकोप—

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च।
विशेषो भिद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते॥ च० चि० ३०।३०८

चय इत्यत्र प्रशब्दो लुप्तनिर्दिष्टः, तेन प्रकृष्टचयः ; एवं प्रकृष्टः कोपः प्रकोपः ; एवं प्रशमोऽपि। एतेन वर्षादिषु पित्तादीनां प्रकृष्टश्चयो भवतीति दर्श्यते, इतर दोषस्यापि च स्तोकमात्रेण चयो यथासंभव सूच्यते ; तेन शरदनुबलत्वेन कफप्रकोपो भवतीत्यादि गृहीतं भवति। × × एतच्च (चयादि) प्राधान्येनैव ज्ञेयं, तेन प्रावृषि श्लेष्मपित्तकोपेनाप्रधानेन न व्यभिचारः। यदुक्तं—"वर्षास्वग्निबले हीने कुप्यन्ति पवनादयः (च० सू० ६—६४)" इति ; अत्र हि पवनादय इति पवनप्रधानाः, एवं वसन्ते वातपित्तप्रकोपे व्याख्येयम्॥ च० सू० १९।११४ पर चक्रपाणि

आयुर्वेदमें काल दो प्रकारका कहा गया है—नित्यग या संवत्सररूप काल ; तथा आवस्थिक अर्थात् पुरुषकी बाल्य, यौवन और वृद्धत्व ये अवस्थाएँ एवं रोगकी साम-निराम, तरुण-जीर्ण आदि अवस्थाएँ[1]। दोनों प्रकारके कालोंमें अमुक-अमुक कालमें अमुक-अमुक दोषका संचय, प्रकोप या प्रशम स्वभावतः होता है। पुरुषकी बाल्य आदि अवस्थाओं, वर्षकी विभिन्न ऋतुओं, दिनके पूर्व-मध्य तथा अपर भागों, रात्रिके तीनों भागों तथा प्रत्येक भोजनके पूर्व, मध्य तथा पश्चात् कालमें अर्थात् क्रमशः खाते समय, पच्यमान दशामें और भोजनके पच चुकने पर एक-एक दोषका प्राधान्य होता है। किस कालमें किस दोषका प्राधान्य (संचय—प्रकोप) होता है, यह प्रत्येक दोषके प्रकरणमें देखेंगे।

परन्तु ध्यान रहे, अमुक-अमुक ऋतुमें जो एक-एक दोषका सञ्चय, प्रकोप या प्रशम कहा है, वह प्रधान दोषको लक्ष्य करके कहा गया है। अन्य दोषोंका भी यत्किंचित् संचय आदि होता है।

प्राय इत्यनेन वर्षासु पित्तचयप्रतिकूलं विधिं प्रयत्नेनाचरतो न भवत्यपि पित्तचयः, शरदि तु प्रकोपो न भवतीति दर्शयति ; एतच्च सामान्यन्यायेन श्लेष्मणो वातस्य च चयप्रकोपयोर्बोद्धव्यम्॥ च० सू० ६।४१ पर चक्रपाणि

इसके अतिरिक्त, विभिन्न ऋतुओंमें जो एक-एक दोषका संचय तथा अगली ऋतुमें प्रकोप कहा गया है, वह नहीं भी होता यदि ऋतुचर्योक्त स्वस्थवृत्तका प्रयत्न सहित पालन किया जाय। अपरञ्च, ऋतुओंके स्वाभाविक लक्षणोंमें विकृति हो तो दोषोंके संचयादिपर भी उसका प्रभाव पड़ता है।

कुपित दोषसे रोगोत्पत्तिका स्वरूप—

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागतमिवोदकम्॥ सु० सू० १५।३६

धातूनिति धातुशब्दोऽत्र समेषु मलेष्वपि वर्तते, देहधारणसामर्थ्यात्। × × × तत्र पित्तं कटुकोष्णत्वाद्धातून् क्षपयति, वायुश्च शोषणहेतुत्वात्, कफोमार्गावरोधकत्वात्॥ —डल्हन

दोष कुपित होकर रस रक्तादि धातुओं तथा मलमूत्रादि मलोंको क्षीण करते हैं। इनमें पित्त अपने कटु और उष्ण गुणोंसे, वायु शोषक स्वभावसे तथा कफ स्रोतोंका अवरोधक होनेसे (अर्थात् उनकी पुष्टिके कारणभूत रस-रक्तके मार्गोंके अवरोध आदिसे) धातुओं और मलोंको क्षीण करता है (तथा विविध रोग उत्पन्न करता है)।

१—देखिये—कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च (च० वि० ८।१२५) ; कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च (च० वि० १।३०)।

एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत् ॥

दोषोंके प्रकोपके सम्बन्धमें यह बात विशेषतः ध्यानमें रखनी चाहिये कि कोई भी एक दोष प्रकुपित हो तो वह शेष दोषोंको भी प्रकुपित कर ही देता है। अतः प्रत्येक रोगमें दोष तो सभी विषम रहते हैं, कोई न्यून कोई अधिक।

दोषज (निज) विकारोंके दो भेद—

तत्र विकाराः सामान्यजा नानात्मजाश्च। तत्र सामान्यजाः पूर्वमष्टोदरीये व्याख्याताः; नानात्मजांस्त्विहाध्यायेऽनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः ॥ च० सू० २०।१०

सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते। नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते ॥ —चक्रपाणि

दोषज रोग दो प्रकारके हैं—सामान्यज तथा नानात्मज। सामान्यज वे हैं जो तीनों दोषोंमें किसी भी दोषसे हो सकते हैं। नानात्मज रोग वे हैं जो अपने उत्पादक दोषसे ही उत्पन्न हो सकते हैं अन्य दोषोंसे नहीं। ज्वर, अतिसार, गुल्म, प्लीहा आदि सामान्यज रोगोंके उदाहरण हैं। इनका किसी भी दोषसे उत्पन्न होना संभव है। नानात्मज रोगोंकी यों तो संख्या नहीं है। तथापि शास्त्रोंमें अतिप्रसिद्ध वात नानात्मज ८०, पित्त नानात्मज ४० तथा कफ नानात्मज २० रोगोंका निर्देश होता है।

आमका लक्षण—

संक्षेपमें यह आम दो प्रकारका है : जठराग्निकी दुर्बलतासे महास्रोतमें अपक्व (आम) रहा अन्नरस तथा धात्वग्नियोंकी दुर्बलतासे धातुओंमें अपक्व रसधातु। दोनोंका लक्षण पृथक् देते हैं।

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥
आमेन तेन संपृक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥
अ० हृ० सू० १३।२५-२७

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपणः ॥
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्। च० चि० १५।४४

अग्निका बल अल्प होनेसे आमाशय तथा ग्रहणीमें[1] स्थित अन्नरसका पाक अपूर्ण रहता है। परिणामतया अपक्व रहे अन्नरसको आम कहते हैं। यह आम रस अपाकवश शुक्त रूप होकर (सिरकेके समान संधानको प्राप्त होकर) विषवत् हो जाता है[2]।

१—आमाशय का अर्थ आमाशय तथा पच्यमानाशय दोनों सम्भव हैं। देखिये—च० सू० २०।८ पर चक्रपाणि।

२—पृ० ३९४-९५ पर कहा है कि अपक्व अन्न द्रव्यों में कोथ होकर विभिन्न अम्ल तथा अन्य विषतुल्य द्रव्य बनते हैं। शुक्तत्व का अर्थ कोथरूपता ही है। दोनों क्रियाओं में विशेष भेद नहीं। एतदर्थ देखिये—पृ० ३०५।

अन्न रस जब तक आमावस्थामें रहता है तब तक उसका शरीरमें ग्रहण सम्भव नहीं। वह विशेषतया उदरमें ही विभिन्न विकृतियाँ—अजीर्णादि—उत्पन्न करता है। परन्तु इसके कोथसे उत्पन्न विष-द्रव्योंका अन्त्रों द्वारा ग्रहण होता है। गृहीत होकर ये विष-द्रव्य शरीरमें पहुँचते हैं तो विभिन्न विकार उत्पन्न करते हैं। परन्तु, इनके अतिरिक्त धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश स्वयं धातुओंमें भी रसधातु आम होकर रहता है। परिणामतया उत्तरोत्तर धातुओंकी पुष्टि नहीं होती एवं अन्य विकृतियाँ होती हैं। देखिये—

कथं रसश्चापकश्चेति विरोधनीय वचनम्? नह्यपको रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्। जाठरेणाग्नि। रसः कट्ठावेन कृत एव, किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते ॥

सु० सू० १५।३२ पर—डह्लन

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः, रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः। न तु 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः' इत्यादिनोक्तः; तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वायोगात् ॥

उक्त स्थल पर—चक्रपाणि

इन वचनोंमें डह्लन और चक्रपाणि दोनोंने धात्वग्नियोंके दौर्बल्यवश अपक्व आदि धातुका आम होना कण्ठरवसे बताया है।

जठराग्नि या धात्वग्नि किसी भी अग्निकी दुर्बलतावश बने आम अन्नरस या आम धातुरससे युक्त वातादि दोष, रस-रक्त-मल-मूत्रादि दूष्य तथा इनसे उत्पन्न रोग साम कहे जाते हैं। शेष दोषादिका नाम निराम या पक्व है।

साम तथा निराम मलोंका लक्षण—

स्रोतोरोधबलभ्रंश गौरवानिलमूढताः ॥
आलस्यापक्तिनिष्ठीव मलसंगारुचिक्लमाः।
लिङ्गं मलानां सामानां, निरामाणां विपर्ययः ॥

अ० हृ० सू० १३।२३-२४

साम मलोंके चिह्न ये हैं—स्वेद, मूत्रादिके स्रोतोंका अवरोध, बलहानि, गौरव (भारीपन), वायुका असम्यक् संचार, आलस्य, अजीर्ण, थूक वा बलगम अधिक आना, पुरीषादि मलोंकी अप्रवृत्ति, अरुचि, क्लम (थकान)। इनके विपरीत स्रोतोंकी शुद्धि आदि लक्षण निराम मलोंके समझने चाहिये।

नव्य मतसे आमकी व्याख्या—

प्रोटीन आदि आहारौपधद्रव्योंका जाठराग्नि तथा धात्वग्नि द्वारा पाक (क्रमशः अन्य द्रव्योंमें रूपान्तर) होकर अन्तको एक-एक मलके रूपमें परिवर्तन होता है। यथा—प्रोटीनोंका जठरमें एमाइनो एसिडोंके रूपमें और धात्वग्नियों द्वारा यूरिआके रूपमें तथा कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंका अन्तको अङ्गाराम्लके रूपमें परिवर्तन होता है। दोनों अग्नियोंकी मन्दतासे यदि अन्तिम द्रव्य न बनकर मध्यवर्ती अर्धपक्व द्रव्य बनें तो उन्हें आम कहेंगे। जैसे प्रोटीनके अपूर्ण पाकसे यूरिक एसिड बनता है, जिसका सन्धिवातमें सन्धियोंमें (स्थान संश्रय संचय) होता है। कार्बोहाइड्रेटों और स्नेहोंके अधूरे पाकसे तक्राम्ल या लेक्टिक एसिड बनता है। मधुमेहादिमें कार्बोहाइड्रेटोंका पाक अपूर्ण रह जानेके कारण स्नेहोंका भी पाक अधूरा रह जाता है, जिससे अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते हैं। इनका विस्तारसे उल्लेख पृ० १९६-९७ तथा २११-१५ पर कर आये हैं। तक्राम्लादिका पूर्ण पाक

कैसे होता है, यह पृ० २१३ पर कहा जा चुका है। तक्राम्लका आमवात (रूमेटिज्म) में पेशियोंमें स्थान संश्रय होता है। इन्सुलीनके हीनयोगसे या यकृत्के विकारवश द्राक्षाशर्कराका ग्लायकोजनमें परिवर्तन न हो तो वह आम ही कही जायगी। याकृत पित्तके रञ्जक द्रव्यके अन्त्रोंमें पाकसे अन्तको वह रञ्जक द्रव्य बनता है, जिसके कारण मलका विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अधूरा रहनेसे विविध अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य बनते हैं, जिनके कारण विशेषतः बच्चोंमें हरे-पीले दस्त होते हैं। हीमोग्लोबीनके अर्धपक्व समास बनें तो रक्तमें जो विकृति होती है उसे मेटहीमोग्लोबीनीमिआ[1] कहते हैं। आमाशयादिमें प्रोटीनादिका अपूर्ण पाक होकर, किंवा आगे कोथ होकर जो द्रव्य बनते हैं (देखिये पृ० ३९४-९५) वे भी आम ही हैं। रसधातुका पाक अधूरा रहनेसे ही वैद्यक मतसे कफ अधिक निकलता है। यह कफ भी आम है। कफमें म्यूसीन[2] नामक प्रोटीन होता है; उसका पाक होकर, शरीरोपयोगी प्रोटीन नहीं बन पाता है, ऐसी कल्पना करनी चाहिये। रोग जन्तुओंके उत्पन्न किये विष या आगन्तु विष क्षमता द्वारा अ-प्रतिकृत होकर पड़े रहें—तोड़-फोड़कर बाहर न निकाल दिये जायँ तब तक आम ही कहे जा सकते हैं।

इस विवरणसे अनुमान हो सकता है कि वात, पित्त, कफ और ओजके सदृश आम भी अनेक द्रव्योंका वर्ग है! इस वर्गके अन्य द्रव्य भी अनुसन्धानसे जानने चाहिये।

१—Methaemoglobinaemia, (पर्याय—Sulphaemoglobinimia).

२—Mucin.

तैंतीसवाँ अध्याय

अथातस्त्रिदोषसामान्यविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्रकृति तथा उसके भेद—

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः समस्तैश्च ॥ सु० शा० ४।६२

(प्रत्येक पुरुषका विशिष्ट शारीरिक स्वरूप तथा मानसिक स्वभाव होता है। इसे उसकी प्रकृति कहते हैं)। पुरुषोंकी इन प्रकृतियोंका कारण वात आदि दोष ही हैं। प्रकृतियाँ सात प्रकारकी होती हैं—पृथक्-पृथक् दोषोंसे तीन (वातल, पित्तल और श्लेष्मल), संसृष्ट दोषोंसे तीन (वातपित्तल, वातश्लेष्मल और पित्तश्लेष्मल) और समस्त दोषोंसे एक (वातपित्तश्लेष्मल)।

प्रकृतियोंका कारण—

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन ॥ सु० शा० ४।६३

शुक्रशोणितप्रकृतिं, कालगर्भाशयप्रकृतिं, मातुराहारविहारप्रकृतिं, महाभूतविहारप्रकृतिं च गर्भशरीरमपेक्षते। एतानि हि येन येन दोषेणाधिकेनैकेन वा समनुबध्यन्ते, तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते, ततः सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता। तस्मात्श्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः केचित् ॥ च० वि० ८।९५

कालादयश्च शुक्रशोणितमेव कुर्वन्तः प्रकृतिजनका भवन्तीति तन्त्रान्तरे शुक्रशोणितगतदोषेणैव प्रकृत्युत्पादो दर्शितः ॥ —चक्रपाणि

प्रकृतिः जन्मप्रभृति वृद्धो वातादिः ॥ च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि

उक्त सात प्रकृतियाँ गर्भसे ही होती हैं। शुक्र और शोणितका संयोग होनेपर जिस दोषका आधिक्य होता है, उसके अनुसार ही मनुष्यकी प्रकृति बनती है। शुक्र और शोणितके संयोगके समय दोषविशेषकी अधिकता निम्नोक्त वस्तुओंपर अवलम्बित है—शुक्र और शोणितकी संयोगकालकी प्रकृति अर्थात् उनमें दोष-विशेषका आधिक्य; उस समय ऋतु, अहोरात्र आदि कालकी प्रकृति अर्थात् वे किस दोषके प्रकोपक हैं; गर्भाशयकी प्रकृति; माताके आहार-विहारकी प्रकृति; उस समय पञ्चभूतोंकी (बाह्य सृष्टिकी) प्रकृति अर्थात् किसी भूतकी स्वाभाविक या वैकारिक न्यूनाधिकता। ये जिस दोषके अनुकूल होंगे वही प्रबल होकर गर्भकी प्रकृति बनायेगा। इनमें भी काल आदि शुक्र और शोणितको प्रभावित करते हुए ही प्रकृतिके जनक होते हैं, अतः प्रायः संयुक्त हुए शुक्र और शोणितको ही प्रकृतिका आरम्भक कहा जाता है[1]।

१—आतुरपरीक्षामें प्रकृतिकी परीक्षा प्रथम करनी चाहिये। देखिये—तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः ॥ च० वि० ८।९४

प्रकृतिके आरम्भक अन्य पदार्थ—

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च, कुलप्रसक्ता च, देशानुपातिनी च, कालानुपातिनी च, वयोऽनुपातिनी च, प्रत्यात्मनियता च। जातिकुलदेशकाल-वयःप्रत्यात्मनियता हि तेषांतेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति॥ च० इं० १।५

तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः॥ अ० सं० शा० ८

जाति (ब्राह्मणादि जन्मानुसारिणी या पिताकी कर्मानुसारिणी जाति), कुल, देश, काल (युग ?), वय, बल तथा अपना आत्मा—इन सातके अधीन प्रकृति होती है। अर्थात्—प्रकृतिका स्वरूप और भेद इनपर अवलम्बित है[1]।

तीनों दोषोंका साम्य स्वस्थ प्रकृतिका लक्षण है—

समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादि मानवाः।
दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥
तेषामनातुराः पूर्वे वातलाद्याः सदातुराः।
दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते॥ च० सू० ७।३९-४०

जिसमें एक या अधिक दोषोंका प्राधान्य हो वह प्रकृति अस्वास्थ्यकी सूचक है। वात-पित्त, कफ, तीनों जिसमें सम हों वही प्रकृति स्वस्थ है।

समधातुका लक्षण—

सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः॥ च० वि० ८।१००

सर्वप्रकृतिषु उक्तप्रशस्तगुणयुक्ताः समधातवः॥ —चक्रपाणि

सर्वप्रकृतियोंके लक्षणोंमें जो-जो श्रेष्ठ लक्षण कहे हैं वे जिसमें हों उसे समधातु कहते हैं।

प्रकृतियोंकी तुलना—

तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा॥ अ० हृ० सू० १।१०

वातप्रकृति हीन (निकृष्ट), पित्तप्रकृति मध्यम, कफप्रकृति उत्तम, समप्रकृति सर्वश्रेष्ठ तथा द्विदोषज निन्द्य होती हैं।

वातल आदि प्रकृतियाँ नहीं विकृतियाँ हैं (चरक)—

तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वा-

---

१—आधुनिक वैज्ञानिक प्रकृति अर्थात् पुरुषकी शारीरिक गठन तथा मानसिक स्वभावके दो कारण बताते है--पुंबीज और स्त्रीबीजके एकीभावसे बने गर्भबीजमें स्थित क्रोमोसोम या तदन्तर्गत जेन (देखिये पृ० १४९ तथा १६१-६४); एवं परिस्थिति (Environment—एन्वायर्नमेण्ट)। प्रायः विद्वानोंका मन्तव्य है कि जेन अपरिवर्तनीय होनेसे पुरुषकी प्रकृतिमें परिवर्तन नहीं हो सकता। अन्य विद्वान परिस्थितिको महत्त्व देते हैं। आयुर्वेद दोनों मतोंको एक साथ स्वीकार करता है, यह ऊपर दिये उद्धरणोंसे विदित हो सकता है।

न्मनुष्याणां ; तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित्पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति। तच्चानुपपन्नं; कस्मात् कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः, यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः, सा चेष्टरूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः, न खलु सन्ति वातप्रकृतयः पित्तप्रकृतयः श्लेष्मप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात् सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां, नच विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः ॥ च० वि० ६।१३

चरक कहता है—वातल आदिको प्रकृति न कहकर दोषप्रकृति या विकृति ही कहना योग्य है। यह सत्य है कि प्रायः मनुष्य विषमाहारविहारशील होनेसे समवात-पित्त-कफ पुरुष दुर्लभ हैं—वातल आदि ही उत्पन्न होते हैं; परन्तु आदर्श तो वात, पित्त, कफका साम्य ही है, सो वही प्रकृति है। चिकित्साका उद्देश्य भी वैद्यमात्रके मतमें प्रवृद्ध दोषको क्षीण तथा क्षीणको प्रवृद्ध कर दोषत्रयको साम्यमें लाना ही है। वातल, पित्तल तथा श्लेष्मलको वात, पित्त या कफ प्रकृतिवाला कहना भूल है। ये तो विकृतियाँ हैं, न कि प्रकृति[1]।

वातल आदिमें वातिक आदि रोगोंका प्राधान्य—

तेषामिदं विशेषविज्ञानम्—वातलस्य वातनिमित्ताः, पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधयः प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति ॥ च० वि० ६।१५

इतना विशेष जानना चाहिये कि वातप्रधान पुरुषोंमें वातिक, पित्तप्रधान पुरुषोंमें पैत्तिक तथा श्लेष्मप्रधान पुरुषोंमें श्लैष्मिक व्याधियाँ प्रायः पायी जाती हैं और बलवान् होती हैं[2]।

मिश्र प्रकृतियाँ—

द्वयोर्वा तिसृणां वापि प्रकृतीनां तु लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥ सु० शा० ४।९९

संसर्गात् संसृष्टलक्षणाः। सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः ॥ च० वि ८।९९।१००

पृथक्-पृथक् प्रकृतियों के लक्षण आगे तत्तत् दोषके अधिकारमें कहें जायँगे। जिन पुरुषोंमें प्रकृतिजनक दोष दो या तीन हों, उनमें तत्तत् दोषके लक्षण एकत्र पाये जायँगे। समधातु पुरुषमें सभी प्रकृतियों के उत्तमोत्तम लक्षण मिलेंगे।

प्रकृतियाँ आजन्म बनी रहती हैं—

प्रकोपो वाऽन्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥
विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत् प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम् ॥ सु० शा० ४।७८।७९

१—तथापि ध्यान रहे आयुर्वेद तथा लोकमें वातल आदिके लिये प्रकृति शब्दका प्रयोग व्यवहारसिद्ध है।

२—त्रिविध प्रकृतियोंका आधुनिक दृष्टिसे विचार ४२ वें अध्यायमें देखिये।

प्रकृतियाँ आजन्म आमरण अपरिवर्तित रहती हैं। उनका न प्रकोप होता है, न क्षय और न प्रकृतिभेद होता है। विषसे उत्पन्न कीटके लिये जैसे विष स्वभावसे मारक नहीं होता है, वैसे ही वातलादि प्रकृतियाँ पुरुषोंको क्षति नहीं पहुंचातीं।

आशय यह है कि, यद्यपि प्रकृतियों और रोगादिके जनक दोष वही होते हैं तथापि दोषोंकी यह विशेषता है कि गर्भमें पुरुषकी जो प्रकृति वे बना देते हैं उसमें परिवर्तन नहीं होता। प्राकृतकर्म तथा रोगादिके जनक दोषोंमें अवश्य क्षय, वृद्धि और साम्य होते हैं[1]।

दोषोंसे ही चार प्रकारके अग्नि—

समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माऽग्निसंस्थितः ॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये।
दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमैर्जनयेद् गदान् ॥

च० चि० १५।२१५।२१६

अग्निषु तु शारीरेषु चतुर्विधो विशेषो बलभेदेन भवति। तद्यथा तीक्ष्णो, मन्दः, समो, विषमश्चेति। तत्र तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः, तद्विपरीतलक्षणस्तु मन्दः, समस्तु खल्वपचारतो विकृतिमापद्यतेऽनपचारस्तु प्रकृताववतिष्ठते, समलक्षणविपरीतलक्षणस्तु विषम इति एते चतुर्विधा भवन्त्यग्नयश्चतुर्विधानामेव पुरुषाणाम्। तत्र समवातपित्तश्लेष्मणां प्रकृतिस्थानां समा भवन्त्यग्नयः, वातलानां तु वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने विषमा भवन्त्यग्नयः, पित्तलानां तु पित्ताऽभिभूतेह्यग्न्यधिष्ठाने तीक्ष्णा भवन्त्यग्नयः, श्लेष्मलानां तु श्लेष्माभिभूतेऽग्न्यधिष्ठाने मन्दा भवन्त्यग्नयः ॥ च० वि० ६।१२

प्रागभिहितोऽग्निरन्नस्य पाचकः। स चतुर्विधो भवति—दोषानभिपन्न एकः; विक्रियामापन्नस्त्रिविधोभवति—विषमो वातेन, तीक्ष्णः पित्तेन, मन्दः श्लेष्मणा, चतुर्थः समः सर्वसाम्यादिति। तत्र यो यथाकालमुपयुक्तमन्नं सम्यक् पचति स समः, समैर्दोषैः; यः कदाचित् सम्यक् पचति, कदाचिदाध्मानशूलोदावर्तातिसारजठरगौरवान्त्रकूजनप्रवाहणानि कृत्वा, स विषमः; यः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशु पचति स तीक्ष्णः, स एवाभिवर्धमानोऽत्यग्निरिति भाष्यते, स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति, पाकान्ते च गलताल्वोष्ठशोषदाहसंतापाञ्जनयति; यस्त्वल्पमप्युपयुक्तमुदरशिरोगौरवकासश्वासप्रसेकच्छर्दिगात्रसदनानि कृत्वा महता कालेन पचति, स मन्दः ॥

विषमो वातजान् रोगांस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥ सु० सू० ३५।२४-२५
विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पाचकः ॥

१—इसका अर्थ यह हुआ कि परिस्थितिका प्रकृति पर प्रभाव मानते हुए भी आयुर्वेदके आचार्य शुक्र-शोणितगत प्रकृतिको अन्तको तो अपरिवर्तनीय ही मानते हैं।

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन्।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा॥ च० वि० १५।५०।५१

बल अर्थात् पाचक शक्तिके भेदसे अग्निके चार भेद हैं—सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। इस भेदका कारण भी दोष ही होते हैं। जिन पुरुषोंके तीनों दोष सम हों उनका अग्नि सम होता है। उसका लक्षण यह है कि मिथ्या आहारविहारसे उसमें विकार आ जाता है, अन्यथा वह स्वरूपमें बना रहता है और यथासमय खाये गये अन्नको यथायोग्य (अम्लपाक आदि विकृतियोंसे रहित) पचाता है, एवं धातुओंको समावस्थामें रखता है, तथा आरोग्य, पुष्टि, आयु और बलकी वृद्धि करता है। इससे विपरीत अग्नि विषम—कभी तीक्ष्ण, कभी —मन्द होता। इसका कारण वातल पुरुषोंमें अग्निके स्थानका वातसे अभिभूत होना है[1]। विषम अग्नि कभी अन्नको सम्यक् प्रकारसे पचाता है और कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदरगौरव, अन्त्रकूजन और प्रवाहण (मलत्सर्गके समय ऐंठा) उत्पन्न करके अन्नको पचाता है। तीक्ष्ण अग्नि सर्वप्रकारके मिथ्या आहर-विहारके सहनमें समर्थ होता है। उसका कारण पैत्तिक पुरुषोंमें अग्निस्थानका पित्तसे अभिभूत होना है[2]। यह प्रभूत मात्रामें भी सेवन किये गये अन्नको शीघ्र पचाता है। पाकके अनन्तर यह गल, तालु और ओष्ठमें शोष, दाह और संताप आदि पैत्तिक रोग उत्पन्न करता है। यही अग्नि उपेक्षावश अधिक बढ़ जाय तो भस्मक या अत्यग्नि कहाता है। यह वारवार तथा अत्यधिक मात्रामें लिये गये अन्नको भी अति शीघ्र पचा देता है और धातुओंको क्षीण करता है। इससे विपरीत अग्नि मन्द या दुर्बल कहाता है, जो श्लैष्मिक पुरुषोंमें अग्निके अधिष्ठानके श्लेष्मासे आवृत होनेसे होता है। यह अल्प मात्रामें भी लिये गये अन्नको चिरकालसे पचाता है, तथा उदर और शिरमें गौरव, कास, श्वास, प्रसेक (लालास्राव), वमन और अङ्गसाद (सुस्ती) आदि कफज रोग उत्पन्न करता है।

दोषोंसे ही तीन प्रकारके कोष्ठ—

तत्र मृदुः, क्रूरो, मध्यम इति त्रिविधः कोष्ठो भवति। तत्र बहुपित्तो मृदुः, स दुग्धेनापि विरिच्यते; बहुवातश्लेष्मा क्रूरः, स दुर्विरेच्यः; समदोषो मध्यमः, स साधारण इति॥ सु० चि० ३३।२१

दुग्धं चात्रोपलक्षणमात्रं, तेनेक्षुरसाम्लतक्रमस्तुगुडकृशरासर्पिर्नवमद्योष्णोदकपीलुद्राक्षारसादिभिरपि विरिच्यते। दुर्विरेच्यस्त्रिफलातिल्वकनीलिनीफलादिभिरपि दुःखेन विरिच्यते॥ —डल्हन

वातोल्वणा स्याद् ग्रहणी क्रूरकोष्ठस्य देहिनः।
पित्तला मृदुकोष्ठस्य योगवाही तयोः कफः॥— —खारणादि[3]

क्रूर, मृदु और मध्य तीन प्रकारके कोष्ठों (पेटों) का कारण भी दोष है। वायुके कारण कोष्ठ क्रूर (कड़ा), पित्तके कारण मृदु तथा कफके कारण मध्य या सम होता है। समकोष्ठ प्रशंसनीय

१—वातिक पुरुषों में क्षोभ्यता (Irritability—इरिटेबिलिटी) विशेष होती है, जिससे मनका अल्पमात्र क्षोभक कारण उपस्थित होनेपर उनके पाचक अवयवोंसे संबद्ध नाड़ी-सूत्र क्षुब्ध होकर अपनी क्रिया त्याग देते हैं। अन्यथा वे अपनी क्रिया यथावत् करते हैं।

२—नव्यमतानुसार यह स्थिति आमाशयके एक पाचक पित्त लवणाम्ल (हायड्रोक्लोरिक एसिड) के प्रकोप—Hyperchlorhydria—हायपरक्लोर हायड्रिया—में होती है। आयुर्वेदोक्त 'अग्निस्थानका पित्तसे अभिभूत होना, इस लक्षण के साथ हायपरक्लोर हायड्रियाकी तुलना कीजिये।

३—अ० हृ० सू० ११९ पर हेमाद्रि ने यह पद्य उद्धृत किया है।

है। मृदु कोष्ठवाला पुरुष सुखविरेच्य होता है। उसे उष्णोदक, दूध, द्राक्षारस, इक्षुरस आदिसे भी मलशुद्धि हो जाती है। इसके विपरीत क्रूरकोष्ठ पुरुषको दन्ती आदिसे भी कठिनाईसें विरेचन होता है।

तीन-तीन रस एक-एक दोषके वर्धक और तीन-तीन शामक हैं—

त एते रसाः स्वयोनिवर्धना, अन्य योनिप्रशमनाश्च ॥ सु० सू० ४२।६

तत्र दोषमेकैकं त्रयस्त्रयो रसा जनयन्ति, त्रयस्त्रयश्चोपशमयन्ति ॥ च० वि० १।६

प्रत्येक दोषके जनक तीन-तीन रस हैं, और तीन-तीन ही प्रत्येकके शामक हैं। इनका उल्लेख प्रतिदोषप्रकरणमें करेंगे। समानयोनि (समान भूतोंसे उत्पन्न तथा इसी कारण समान गुणवाले) रस समान दोषकी वृद्धि करते तथा अन्य योनिका (विपरीत गुणवाले भूतोंसे उत्पन्न दोषका) शमन करते हैं[1]।

दोषों और दूष्योंका आश्रयाश्रयीभाव—

तत्रास्थिनि स्थितो वायुः पित्तं तु स्वेदरक्तयोः।
श्लेष्मा शेषेपु तेनैषामाश्रयाश्रयिणां मिथः॥
यदेकस्य तदन्यस्य वर्धनक्षपणौषधम्।
अस्थिमारुतयोर्नैवं प्रायो वृद्धिर्हि तर्पणात्॥
श्लेष्मणाऽनुगता तस्मात् संक्षयस्तद्विपर्ययात्।
वायुनाऽनुगतः॥ अ० हृ० सू० ११।२६।२८

शेषेपु रसमांसमेदोमज्जशुक्रमूत्रपुरीषप्रभृतिपु॥ —अरुणदत्त

दोषोंका दूष्यों (धातुओं और मलों) से आश्रयाश्रयिभावसम्बन्ध भी है। अस्थि वायुका तथा स्वेद और रक्त पित्तके आश्रय हैं। शेष रस-मांस-मेद-मज्जा-शुक्र-मूत्र-पुरीष आदि श्लेष्माके आश्रय हैं। इस सम्बन्धका ज्ञान चिकित्सामें उपयोगी है। कारण, जो आहार-विहार आदि आश्रय या आश्रयीमेंसे एककी वृद्धि वा क्षय करते हैं; वे ही दूसरेकी वृद्धि वा क्षय करते हैं। केवल अस्थि और वायु इसके अपवाद हैं। क्योंकि धातुओं और मलोंकी वृद्धि तर्पण (बृंहण) से होती है। उस तर्पणसे श्लेष्माकी वृद्धि होती है। इसके विपरीत अपतर्पण (लङ्घन) से धातुओं और मलोंका क्षय होता है, जो वायुका वर्धक है। सो, जो आहारौषध-द्रव्य, विहार, देश या काल अस्थिकी वृद्धि करनेवाले होंगे, वे श्लेष्माकी भी वृद्धि करनेवाले होंगे, इसीसे उनसे वायुकाक्षय होता है, उधर, जिन आहारादि से वायुकी वृद्धि होती है, वे धातुमात्रका क्षय करनेवाले होनेसे अस्थिको भी क्षीण करते हैं।

दोषोंके स्थान—

शास्त्रमें दोषोंका स्थाननिर्देश अनेक प्रकारका होता है। स्थाननिर्देशकी यह भिन्नता दृष्टिभेद से होती है। तथाहि—

(१) सत्य स्थिति यह है कि प्राकृत तथा विकृत (सम-विषम) दोनों दशाओंमें दोष सर्वशरीरगत तथा सर्वस्रोतश्चर होते हैं तथा दोनों दशाओंमें उनकी क्रिया शरीरके सर्व अवयवोंपर होती है[2]।

१—सु० सू० ४२।८ में स्पष्टताके लिये इसके दिये उदाहरण देखिये।

२—प्रमाणोंके लिए देखिये—पृ० २०-२१ तथा ४५९

आशय यह है कि शरीर के सूक्ष्मतम अवयवों शरीरपरमाणुओं या कोषों (देखिये पृ० १४१)

(२) कभी-कभी दोषोंका एक-एक स्थान बताया जाता है। उसका आशय यह होता है कि प्रकोपावस्थाके पूर्व उस-उस स्थानपर दोषका संचय होता है। अपरंच, संशोधन द्वारा इस स्थानसे दोषको निकाल दिया जाय, तो दोष अन्यत्र रोगकी उत्पत्ति नहीं कर पाता, अथवा रोग हो चुका हो चुका तो उसकी शान्ति होती है[1]।

(३) प्रत्येक दोषके पाँच-पाँच भेद कहकर जो प्रत्येक भेदके विशिष्ट स्थान कहे जायँगे, उनका आशय यह है कि सर्वशरीरगत भी दोषोंकी प्राकृत अवस्थामें होनेवाली क्रिया इन स्थलोंपर विशेषतया लक्षित होती है। देखिये—

एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥ सु० सू० २१।७

वाग्भट ने भी कहा है—

इति प्रायेण दोषाणां स्थानान्यविकृतात्मनाम्। व्यापिनामपि जानीयात् ॥

अ० हृ० सू० १२।१८

(४) उक्त स्थानोंसे भिन्न प्रत्येक दोषके जो स्थान कहे जायँगे, उसका आशय यह है कि प्रकोपावस्थामें यद्यपि दोषोंके लक्षण समस्त अवयवोंमें प्रकट होते हैं, यथापि उन-उन स्थानोंपर विशेषतः प्रकट होते हैं। जिस अध्यायमें ये वचन आये हैं उस[2]में, इस स्थान-निर्देशको लक्ष्यमें रखते हुए चक्रपाणि ने च० सू० २०।८ पर कहा है—

की भी प्राकृत-विकृत क्रिया के लिये दोष उनमें विद्यमान होते हैं। एन्जाइम, हार्मोन आदिके रूपमें पित्त उनमें पाक या रासायनिक क्रियाएँ करता है। कफ स्वयं पोषक सामग्री होनेसे उन्हें पुष्ट करता है। वायु इन दोनोंका पित्त और कफका—प्रेरण, यथाकाल उद्दीपन-अवसादन तथा ज्ञान और चेष्टाका संपादन करता है। दोषोंके ये उदाहरणभूत कर्म हैं। अन्य भी प्राकृत कर्म इनके हैं ही।

क्षीण होने पर दोषोंकी ये क्रियाएँ मन्द हो जाती हैं। प्रकुपित होनेपर वातके कारण शारीर-परमाणुओंकी क्षीणता (कृशता), पित्त-प्रकोपसे पाक होकर नाश तथा कफ-प्रकोपसे अतिवृद्धि इत्यादि विकार होते हैं। स्रोतोंके घटक परमाणुओंमें हुई विकृतियोंसे उनका अवरोध होता है। (देखिये पृ० ४८४-८९)।

वातादिकी ऐसी ही प्राकृत-वैकृत क्रियाएँ इन परमाणुओंसे बने अवयवोंमें समुचित रूपसे देखी जाती है।

१—दोषोंके एक-एक स्थान के निर्देशके एवं उस स्थानसे उनके संशोधनके प्रमाण प्रत्येक दोषके प्रकरणमें आगे देखिये। गत अध्यायमें धृत 'स्वे-स्वे स्थाने' इत्यादि वचनपर भी ध्यान दीजिये। निम्न वचन भी स्मरणीय हैं।

वात-पित्तकफा नृणां बस्ति हृन्मूर्धसंश्रयाः।
तस्मात् तत्स्थानसामीप्याद्धर्तव्या वमनादिभिः ॥ च० चि० २६।२९१
ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रया ॥ अ० हृ० सू० १।७

२—यह स्थान-निर्देश भी आगे तत्तत् दोषके प्रकरणमें उद्धृत किया जायगा। इन्ही स्थानोंमें वह भी एक-एक स्थान आ गया है, जिसमें उस-उस दोषका सञ्चय होता है, तथा जहाँसे उसका संशोधन करनेसे उसका मूलोच्छेद हो जाता है।

जिस चरक-सूत्रस्थान अध्याय २८ में यह स्थान-निर्देश हुआ है, उसमें अथसे इति तक रोगोंकी ही बात है। नाम भी महारोगाध्याय है। इसीसे कल्पना की जा सकती है कि, दोषोंका यह स्थान-

यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यति यथा—स्थानं प्राणस्य शीर्षोरः-कण्ठ (र्ण) जिह्वास्यनासिकाः—इत्यादि, तथापीदं वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयं, यतोऽत्र प्रायो वातविकारा भवन्ति, भूताश्च दुर्जयाः; अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति।"

दोषोंके विषयमें पहले तथा इन दो अध्यायोंमें इतना सामान्य विवेचन करके अगले अध्यायोंमें एक-एक दोषका पृथक् विवेचन किया जायगा। पहले पित्तका, फिर कफका और अन्तमें विशेष वक्तव्य होने से तथा शेष दोनों दोषों, धातुओं और मलोंका अध्यक्ष होनेसे वातका प्रत्येक दोषके प्रकरणमें प्रथम उस दोषके प्राकृत गुण-कर्म कहे जायँगे; इसके अनन्तर वैकृत स्वरूपका उल्लेख होगा।

निर्देश उनके द्वारा होनेवाले रोग किन स्थानोंपर अधिकतया होते हैं इस बातकी सूचनाके लिए है और चक्रपाणिने तो अपने ऊपर धृत वचनमें यह बात कण्ठरवसे ही कह दी है।

स्पष्टताके लिए उदाहरणार्थ—इस अध्यायमें वातके स्थान कटि आदि दिये गये हैं। व्यवहारमें भी देखते हैं—रोगी कमर फटना, पैर टूटना, पेट दुखना आदि इन अवयवोंमें ही व्यथा लेकर आते हैं।

चौंतीसवाँ अध्याय

अथातः प्राकृतपित्तोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शरीरमें पित्त अग्निस्थानीय है

तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः ? आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति ? अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति ; क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगात्, अतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगात्, आगमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति॥ सु० सू० २१।९

तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्॥ —भोज

आदिशब्दाद् रञ्जनदर्शनादीनी गृह्यन्ते॥ ×× आगमात् समस्तायुर्वेदशास्त्रतः। ×× अयमग्निः परमार्थतः पित्ताद् भिन्न एव सुश्रुतादिभिरङ्गीकृतः। तदुक्तं 'क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः। पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते॥' (सु० नि० १३—३७)। शरीरोष्मा अग्निः, स चात्र पित्ताद् भिन्न एवोक्तः। तथाऽन्यदपि पित्तादग्न्योर्भेदप्रतिपादकतन्त्रमुच्यते,—'द्रवं स्निग्धमधोगं च पित्तं वह्निरतोऽन्यथा'—इति। अन्यान्यपि पित्ताग्निभेदप्रतिपादकानि वाक्यानि सन्ति, तानीह विस्तरभयान्न दर्शितानि। यत् पुनरिहाग्निपित्तयोरभेदकथनं कृतं, तत् पित्तस्य चिकित्साद्वारेणाग्नेश्चिकित्सा कार्येति दर्शनार्थम्॥ —डल्हन

अग्निकर्मणेति रागादि यदग्निकर्म तेन कृत्वेत्यर्थः॥ सु० सू० १५।४ (२) पर —डल्हन

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। च० सू० १२।११

शरीरमें पित्त अग्नि (वा सूर्य) का प्रतिनिधि है।

१—जैसे बाह्य अग्नि पदार्थोंका दाह और पाक करता है, अर्थात् उनका विघटन—विश्लेषण (दाह) कर उन्हें अन्य रूप दे देता है (उनका पाक करता है) वैसे ही पित्त भुक्त आहारको वह रूप दे देता है, जिससे धातु उसका समुचित उपयोग कर पुष्ट हो सकें।

२—जैसे सूर्य वा अग्निकी रश्मियोंके पदार्थों पर पड़नेसे उनके विविध वर्ण प्रकट होते हैं, वैसे ही पित्त रक्त, त्वचा आदिको रञ्जकवर्ण प्रदान करता है।

३—जैसे बाह्य अग्नि स्वर्णादि द्रव्योंके मल दूर कर उनका विशुद्ध रूप उपस्थित करता है, वैसे पित्त हृदय पर स्थित श्लेष्मा और तमरूप मलको दूरकर[1] उसे विशुद्ध बनाता है।

४—जैसे बाह्य अग्नि किंवा सूर्यकी रश्मियाँ द्रव्योंपर पड़कर वहाँसे प्रतिक्षिप्त हो उन द्रव्योंका दर्शन कराती हैं, वैसे ही पित्त नेत्रोंके मध्य रहकर पदार्थोंका दर्शन कराता है।

५—जैसे बाह्य अग्नि स्नेह द्रव्योंके सौम्य अंशका ग्रहण करता है, वैसे त्वचामें स्थित पित्त अभ्यङ्गादिके स्नेहका ग्रहण करता है[2]।

१—हृदयस्थकफतमोऽपनोदविस्पष्टीकृतमनःप्रागुण्यात्॥ सु० सू० २१-१० पर —डल्हन

२—इन पाँच पैरोंमें वस्तुतः पित्तके शास्त्रोक्त पाँच भेद और उनके कर्म कह दिये हैं। इनका विवरण ठीक आगे देखिये।

पित्त और अग्निके इस साम्य के कारण, दोनोंके स्पष्ट भिन्न होते हुए भी, शास्त्रमें बहुशः उपचार (लक्षणा) से पित्त और अग्निका अभेदसे व्यवहार होता है।

पित्तके भेद और उनके कर्म—

रागपक्तितेजोमेधोष्मकृत् पित्तं पञ्चधा प्रविभक्तमग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥

सु० सू० १५।४ (२)

तेजो दृष्टिः, तदुक्तं—'तेजो दृष्टिरिति ख्यातं तेजः शुक्रं प्रकीर्तितम्॥ —डल्हन

तच्चादृष्टहेतुकेन विशेषेण पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति, विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि; तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा; यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा, स रसस्य रागकृदुक्तः; यत् पित्तं हृदयस्थं तस्मिन् साधकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदुक्तः; यद् दृष्ट्यां पित्तं तस्मिन्नालोचकोऽग्निरिति संज्ञा, स रूपग्रहणाधिकृतः; यत्तु त्वचि पित्तं तस्मिन् भ्राजकोऽग्निरिति संज्ञा, सोऽभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनादीनां क्रियाद्रव्याणां पक्ता छायानां च प्रकाशकः ॥ सु० सू० २१।१०

अत्र केचित् 'अन्नरसमूत्रपुरीषाणि' इति पठन्ति, 'वातमूत्रपुरीषाणि' इत्यपरे। × × सोऽभिप्रार्थितमनोरथसाधनकृदिति धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थस्य साधक इत्यर्थः। कस्मात्? हृदयस्थकफतमोऽपनोदविस्पष्टीकृतमनः प्रागुण्यात्॥ —डल्हन

बुद्धिमेधाभिमानाद्यैरभिप्रेतार्थसाधनात्। साधकं हृद्गतं पित्तं ॥ अ० हृ० सू०१२।१३

अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति, तद्यथा—पक्तिमपक्तिं दर्शनमदर्शनं मात्रामात्रत्वमूष्मणः प्रकृतिविकृतिवर्णौ शौर्यं भयं क्रोधं हर्षं मोहं प्रसादमित्यमेवमादीनि चापराणि द्वंद्वानीति ॥ च० सू० १२।११

पक्तिमपक्तिमित्यविकृतिभेदेन पाचकस्याग्नेः कर्म, दर्शनादर्शने नेत्रगतस्यालोचकस्य, ऊष्मणो मात्रामात्रत्वं वर्णभेदौ त्वग्गतस्य भ्राजकस्य, भयशौर्यादयो हृदयस्थस्य साधकस्य, रञ्जकस्य तु बहिः स्फुटकार्यादर्शनादुदाहरणं न कृतम्॥ — चक्रपाणि

पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
तच्च पित्तं प्रकुपितं विकारान् कुरुते बहून् ॥ च० सू० १७।११६

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम् ॥ च० सू० १८।५०

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम्
संसर्पत् स्याः सिराः पित्तं कुर्याच्चन्यान्गुणानपि ॥ सु० शा० ७।१०

समासेन पक्वामाशयमध्यं पित्तस्य ॥ सु० सू० २१।६

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते। × ×। पित्तस्य यकृत्प्लीहानौ हृदयं दृष्टिस्त्वक् पूर्वोक्तं च। एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम् ॥ सु० सू० २१।७

चकारात् परतन्त्रोक्तं लसीकाद्युक्तं समुच्चीयते॥ —डल्हन

स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि, तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्तस्थानम् ॥ च० सू० २०।८[1]

पित्तस्थानेष्वामाशय इति अमाशयाधोभागः ॥ ——चक्रपाणि

इति भौतिकधात्वन्न पक्तॄणां कर्म भाषितम् ॥ च० चि० १५।३८

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः ।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः ॥ अ० हृ० सू० ११।३४

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥ च० चि० १५।३९

अग्न्याशये भवेत् पित्तं पाचकाख्यम् ॥ शा० पू० ५।२६

स्थान तथा कर्मके भेदसे पित्तके पाँच भेद किये जाते हैं—पाचक पित्त, रञ्जक पित्त, साधक पित्त, आलोचक पित्त और भ्राजक पित्त। इनमें पाचक पित्त पक्वाशय और आमाशयके मध्य ग्रहणीमें रहता है। इसीके अंश धातुओंमें धात्वग्नि और भौतिक अग्निके नामसे रहते हैं, और रसधातुके उत्तरोत्तर परिपाकसे धातुओंको पुष्टि करते हैं[2]। पाचकपित्त अन्नका जरणकर उसके अवयवों को सूक्ष्म कर देता है, जिससे धात्वग्नि उसका सुगमतासे पाक कर सकते हैं[3]। पाचकपित्त उक्त स्थानपर रहता हुआ ही शरीरमें अन्य स्थानोंपर स्थित पित्तोंका अग्निकर्मसे सहायक होता है,[4] तथा शरीरका भी उपकार करता है।

पाचकपित्तके कर्म—

एवम्, पित्तका प्रधान कर्म पाक (पक्ति) है और यह अन्नपाचक अग्नि और उसके अंशभूत भौतिक अग्नियों और धात्वग्नियोंपर आश्रित है। इन्हीं अग्नियों या पित्तोंसे आहार और धातुओंका पाक होनेसे शरीरका स्वाभाविक ताप या ऊष्मा उत्पन्न होता है[5]। धातुपाकवश धातुओंके क्षीण होनेसे उनकी पूर्तिके लिये आहार और जलके ग्रहणकी इच्छा—क्षुधा और पिपासा—होती है। इस प्रकार ऊपर धृत च० सू० १८।५० में कहे 'पक्ति, ऊषा, क्षुत् और तृष्णा' कार्य पाचकपित्तके हुए।

आधुनिक मतसे पाचकपित्त क्या है ?—

पित्तके शेष भेदोंका वर्णन कुछ कालके लिये छोड़कर हम आधुनिक प्रत्यक्षानुसार पाचकपित्तका स्वरूप देखेंगे।

हमारे मत में अग्न्याशय या पैन्क्रियासके बहिःस्राव और अन्तःस्राव प्रधान पाचकपित्त हैं। ऊपर धृत प्रमाणोंसे विदित होगा कि जो पाचकपित्त आमाशय और पक्वाशयके मध्यमें है, उसीके अंश

१—यहाँ पित्तके जो स्थान कहे हैं, वे पित्त-विकारोंके प्रधान स्थान हैं।

२—तीनों अग्नियोंके सम्बन्धमें विशेष ज्ञातव्य तथा प्रमाण निम्न स्थलोंपर देखिये–पृ० २४; १३०-३७; २७७-७८; ३००।

३—देखिये छठे अध्यायमें पृ० १३३ पर उद्धृत चक्रपाणि का वाक्य—उक्तं च 'जाठरेणाग्निना०' इत्यादि।

४—जाठर पाचकपित्तकी क्रिया विस्तारसे सोलहसे अठारह अध्यायों में दिखिये।

५—देखिये पृ० १७८-१८७।

शरीरमें धात्वग्निके नामसे प्रसिद्ध हैं। छठे अध्यायमें (पृ० १३३-३४ पर) लिख आये हैं कि प्रत्येक भूतका पचन करनेवाले पाँच भौतिक अग्नि ही धातुओंमें रहते हुए मिलकर उस-उस धातुके अग्नि कहाते हैं। ये दो बातें ध्यानमें रखनेसे यह समझना सुगम होगा कि, आयुर्वेदोक्त पाचकपित्त आधुनिक क्रियाशारीरकी दृष्टिसे क्या हो सकता है ?

महास्रोतमें अन्नके पचनके प्रकरणमें अन्तः और बहिः साक्ष्य देकर सविस्तर कहा जा चुका है कि अग्न्याशयका बहिःस्राव सम्पूर्ण पाचक रसोंमें मुख्य है, शेष रस उसके सहायक मात्र हैं ; अतः वही आयुर्वेदका पाचकपित्त है। उधर, बीसवें अध्यायमें अग्न्याशयके अन्तःस्राव इन्सुलीनके वर्णनसे ज्ञात होगा कि इन्सुलीनको शरीरमें सर्वत्र भेजकर अग्न्याशय कार्बोहाइड्रेटोंका और उनके द्वारा स्नेहों और प्रोटीनों का परिपाक किया करता है। आयुर्वेदमें जो यह कहा है कि पाचकपित्त आमाशय और पक्वाशयके मध्यमें रहकर धात्वग्नियों तथा रञ्जकादि शेष पित्तोंपर अनुग्रह अर्थात् उनके कार्यमें सहायता किया करता है, तथा सम्पूर्ण शरीरको भी उपकृत करता है, उसका एक अभिप्राय यह हो सकता है। अन्य अभिप्राय, जैसा कि पहले कह आये हैं, यह है कि : जठराग्नि द्वारा अन्नपान के संघातक ! भेद (विश्लेषण) कर दिया जाता है—उसे सूक्ष्म-स्वरूप दे दिया जाता है—तभी शेष अग्नियां उसका उपयोग कर पाती हैं। इस प्रकार भी जाठर पाचक पित्त इतर अग्नियों को उपकृत करता है।

धात्वग्नि—

जिस प्रकार अग्निरस (अग्न्याशयका बहिःस्राव) तथा महास्रोतके अन्य पाचक रसोंमें कार्बोहाइड्रेटों, प्रोटीनों आदिके विघटन और सङ्घटन करनेवाले सूक्ष्म रस[1] होते हैं, वैसे ही शरीरके प्रत्येक कोषमें होते हैं। इन रसोंमें कोई प्रोटीनका सङ्घटन-विघटन करता है, कोई कार्बोहाइड्रेटोंका, कोई खनिजोंका इत्यादि। इस क्रियाका नाम अणुगत धातुपाक[2] है। क्रियाशारीरविदोंने कोषोंके जीवित होनेके जो लक्षण कहे हैं, उनमें धातुपाक भी एक है। शरीरके समस्त कोषाओंका समुच्चित (मिलित) धातुपाक शारीर धातुपाक[3] कहाता। प्रत्येक कोषमें धातुपाकका मूल प्रवर्तक अग्न्याशयका अन्तःस्राव इन्सुलीन है। शेष चुल्लिका, पोषणिका आदि के अन्तःस्राव इसके सहायक हैं।

आयुर्वेदमें पित्तके (वात और कफके भी) विशेष स्थान निर्दिष्ट करते हुए भी उसे सर्व-शरीरचर कहा गया है। उल्लिखित विवरणमें आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी भी व्याख्या हो गयी।

कोषोंमें प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट आदिके धातुपाकके कारणभूत कोषगत सूक्ष्म रस ही आयुर्वेदीय भौतिक अग्नि हैं। वे ही जैसा कि ऊपर कह आये हैं, धात्वग्नि हैं, अन्नपाचक अग्नि (अग्न्याशयका बहिःस्राव) आहारद्रव्योंको सूक्ष्म और ग्रहणयोग्य बना देता है, अतः उसे सब अग्नियोंमें मुख्य कहा जाता है। उसके अभावमें धात्वग्नि अकिञ्चित्कर हैं।

अग्नियोंके सामान्य विवेचनमें कह आये हैं कि भौतिक अग्नि पाञ्चभौतिक द्रव्योंमें स्वभावतः रहते हैं और आहार-रूपमें उनका ग्रहण करनेपर शरीरमें प्रविष्ट होते हैं। तथा धात्वग्नि नाम धारण करते हैं (देखिये पृ० १३३-३४)। कई जीवनीयोंके विषयमें जाना जा चुका है कि स्वरूपतः वे (जीवनीय) एन्ज़ाइम या को-एन्ज़ाइम (सहकारी एन्ज़ाइम) ही हैं। अर्थात् शरीरमें इसी रूपमें जाकर वे कोषोंके एन्ज़ाइम (आयुर्वेदोक्त धात्वग्नि) बनते हैं। इस प्रकार नव्यमतसे भौतिक तथा धात्वग्नियोंके परस्पर संबन्धकी अंशतः व्याख्या होती है।

१—Enzymes—ऐन्ज़ाइम्स।

२—Cell-metabolism—सेल-मेटाबोलिज्म है।

३—Body-metabolism—बाडी-मेटाबोलिज्म।

अन्तरिक्ष तथा पृथ्वीपर स्थित अल्पांश जल जैसे समुद्रके विशाल जलसे स्पष्ट भिन्न है, तथापि अलङ्कार रीतिसे उसे समुद्रके जलका अंश और उससे अभिन्न कहा जाता है, वैसे ही अन्नपाचक अग्नि तथा धात्वग्नि पृथक् होते हुए भी उनका कर्म (प्रोटीन आदिका सङ्घटन-विघटन) समान होनेसे धात्वग्नियोंको मुख्य अग्नि (अन्नके पाचक अग्नि) का ही अंश कहा जाता है।

लालारसका टायेलीन, आमाशयरस, अन्त्ररस तथा याकृत पित्त भी पाचनमें सहायक होनेसे पाचक पित्तके अन्तर्गत हैं। इनमें याकृत पित्तकी भी अपने स्थानपर रहते हुए समस्त शरीरकी उपकारकता ३० वें अध्यायमें देख आये हैं।

आयुर्वेदमें मूत्रनिर्माणका कार्य पाचकपित्तके अधीन बताया गया हैं। वर्तमान मतसे इसका समाधान भी ३० वें अध्याय में कर आये हैं।

रञ्जक पित्त—

जो पित्त यकृत् और प्लीहामें रहता है, उसका कर्म रसको राग—रक्तवर्ण—प्रदान करना है। उसे रञ्जक पित्त कहते हैं। अठारहवें अध्यायमें (पृ० ३७६-७९ पर) रञ्जक पित्तका प्राचीन नवीन मतसे विस्तृत विवरण तथा दोनोंमें अभेदकी मीमांसा कर आये हैं[1]। उसे वहीं देखना चाहिए।

साधक पित्त—

साधक पित्तका स्थान हृदय है। यह हृदयके आवरक कफ और तमको दूर कर मनको विमल और उत्कृष्ट करता है। मनके उत्कृष्ट होनेसे बुद्धि, मेधा, अभिमान (अदीन स्वभाव) आदि विकसित होते हैं। परिणामतया, आत्मा अपने इष्ट धर्मादि पुरुषार्थोंके साधनमें समर्थ होता है। अतः इस पित्तका नाम साधक पित्त है। भय वा शौर्य, क्रोध वा हर्ष, मोह (अज्ञान—ज्ञानेन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें अपटुता) वा प्रसाद (इन्द्रियोंकी निर्मलता और पटुता) आदि द्वन्द्व विकृतिस्थ साधक पित्तके हैं।

यह साधक पित्त आधुनिक क्रियाशारीरकी दृष्टिसे क्या है, यह कहा नहीं जा सकता। अधिवृक्क ग्रन्थिके मध्य स्राव ऐड्रीनलीनका इससे कुछ सम्बन्ध प्रतीत होता है। उसका सामान्य दशामें कुछ कार्य नहीं होता। केवल भय, क्रोध आदि आवेशोंमें पलायन—ताड़न आदि तत्काल आवश्यक कर्मोंकी सिद्धिके लिये इसका विशेष स्राव होता है। (देखिये पृ० ४२०-२३)। यह आग्नेय किंवा मध्यस्वतन्त्र नाड़ी संस्थानको प्रभावित करता है। इसके परिणाम पाचनसम्बन्धी क्रियाओंमें कुछ कालके लिये मन्दता, हृदयकी गतिवृद्धि, त्वचाकी केशिकाओंका संकोच आदि होते हैं। इससे मांसपेशियोंसे होनेवाले कार्य (भाग जाना, मारना आदि) सुगम हो जाते हैं।

चक्रपाणि ने भय वा शौर्य, क्रोध वा हर्ष साधकपित्तके कर्म कहे हैं। उनसे एड्रीनलीनके इन प्रभावोंकी तुलना कीजिये। यह एड्रीनलीन हृदयमें उत्पन्न नहीं होता तथापि हृदयपर इसका प्रभाव देखकर इसे हृदयस्थ कहा जा सकता है।

एड्रीनलीनके स्रावका सामान्यतः शरीरपर प्रभाव नहीं होता। परन्तु, मध्य स्वतन्त्र नाड़ी-संस्थानको उत्तेजित किया जाय तो उसके अन्तमें ऐड्रीनलीनसे मिलता-जुलता स्राव होता है। इसे सिम्पेथिन कहते हैं; कई विद्वान इसे एड्रीनलीनसे अभिन्न ही मानते हैं। जीवनयोनि (स्वतन्त्र) नाड़ीकन्दोंसे निकलनेवाले तथा अन्य कतिपय नाड़ीसूत्रोंको उत्तेजित करें तो एसिटिल कोलीनका स्राव होता है। इसकी क्रिया एड्रीनलीनकी विरोधिनी होती है। सम्भव है, जैसा कि आयुर्वेद कहता

१—वहाँ रञ्जकपित्तका साम्य नव्योंके हीमोपॉयेटिक प्रिंसिपल के साथ बताया है।

है, ऐड्रीनलीन और सिम्पेथिनका स्राव सर्वदा होता हो और हृदयको यत्किंचित् प्रेरणा (उत्तेजना) देता हो। डल्हनने अपनी टीकामें कहा है कि: साधक पित्त हृदयपर स्थित कफके आवरण को दूर कर अपनी क्रिया करता है। यह कफ एसिटिल कोलीन होना सम्भव है। इस दृष्टिसे तथा इसके कर्मोंको देखते हुए इस द्रव्यकी गणना कफ-वर्गमें की जा सकती है[1]।

आलोचक पित्त—

जो पित्त नेत्रमें रहता है, उसका नाम आलोचक पित्त है। इसका कर्म वस्तुओंका दर्शन कराना है। आयुर्वेद-दृष्ट्या इसका अधिक विचार आगे ज्ञानेन्द्रियोंके प्रकरणमें करेंगे। जीवनीय ए के विवरणमें विस्तारसे कह आये हैं कि नव्यमतसे इस पित्तका साम्य रॉडोप्सिन और आयोडॉप्सिन इन दो द्रव्योंसे किया जा सकता है[2]।

भ्राजक पित्त—

इसका विवरण २८ वें अध्यायमें आ चुका है। स्वेद और मेदकी ग्रन्थियां प्राकृतिक स्थितिमें जिस पदार्थसे प्रभावित होकर अपना कर्म करती हैं, उसे भ्राजक पित्त कहना चाहिए। नाड़ीसंस्थानमें यद्यपि इन ग्रन्थियोंको प्रेरित करनेवाले केन्द्र हैं; तथापि उनका नियमन सामान्य दशामें शरीरके ऊष्मासे होता है। अतएव, बाह्य वातावरणका अथवा व्यायामद्वारा शरीरका अन्तर्गत ऊष्मा बढ़नेपर स्वेद अधिक होता है, तथा उसके न्यून होनेपर न्यून[3]। अतः शरीरोष्माको भ्राजक पित्त कहा जा सकता है[4]। 'भ्राजक' शब्द दीप्ति (कान्ति) अर्थकी 'भ्राज् (ज़)' धातुसे बना है।

१—एसिटिल कोलीन तथा सिम्पेथीनका अधिक परिचय पृ० ४४९-५० पर देखिये।

२—देखिये पृ० २५८। ३—देखिये २८ वाँ अध्याय।

४—२८वें अध्यायमें कहे भ्राजकपित्तके आयुर्वेदोक्त तथा स्वेदप्रक्रियाके आधुनिकोक्त कर्म देखनेसे इस स्थापनाकी सत्यता सिद्ध होगी। शरीरोष्माको आयुर्वेदमें पित्त (पित्तवर्गीय) कहा है, यह बात ऊपर धृत 'शरीरोष्मा शिरोगतः' शरीरोष्मा अग्निः' पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्' इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है।

मेलेनिन बनाम भ्राजक पित्त—

इस विषयमें विचारणीय यही है कि दर्शन और आयुर्वेदके मनसे गुण-कर्मका आश्रय होनेसे दोष द्रव्य हैं (शक्ति नहीं)। इस दृष्टिसे द्रव्य-रूप न होनेसे ऊष्माको पित्त (भ्राजक) कहना संगत नहीं।

द्रव्य-विशेषको भ्राजक पित्त कहना हो तो नव्यमतसे कुछ विचार किया जा सकता है। त्वग्गत रञ्जक द्रव्य (मेलेनिन—Melanin) का कुछ संबन्ध शरीरके ऊष्मासे प्रतीत होता है। शीत प्रदेशोंके निवासियोंकी त्वचामें यह द्रव्य नहीं होता—या अल्प होता है। उष्ण देशोंमें इसकी मात्रा अधिक होती है। यथा अफ्रीका निवासियोंकी त्वचामें यह सबसे अधिक होता है। शीत-प्रदेशके अधिवासी भी उष्ण देशोंमें प्रवासार्थ आवें या स्वदेशमें भी सूर्यकी धूपका अधिक सेवन करें, तो इसकी मात्रा त्वचामें अधिक हो जाती है—त्वचा लाल-काली हो जाती है। इससे अनुमान है कि इस द्रव्यका कुछ संवन्ध शरीरके ऊष्मासे है। परन्तु, अभी यह 'शेष प्रश्न' ही है।

आयुर्वेदको दृष्टिसे जिन द्रव्योंको पित्त-वर्गमें रखा जा सकता है उन द्रव्योंका रासायनिक स्वरूप मेलेनिनके सदृश है। यथा, चुल्लिका ग्रन्थिके अन्तःस्राव थायरॉक्सिन, अधिवृक्क-मध्यके अन्तःस्राव एड्रीनलीन तथा हीमोग्लोबीनकी रसायनिक रचना मेलेनिनके पूर्वरूप (Precursor—प्रीकर्सर) टायरोसीन (Tyrosine) के बहुत समान होती है। इस दृष्टिसे भी मेलेनिनको पित्तवर्गमें रखनेकी कल्पनाको प्रोत्साहन मिलता है। और यह द्रव्य पित्तवर्गीय हो तो इसे भ्राजक पित्त कहना ही अधिक संगत हो सकता है।

ध्यान रहे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पित्त (वात और कफ भी) सर्वशरीरचर हैं। पित्तके पाँच भेदोंके जो स्थान कहे हैं, वे उनकी उत्पत्ति किंवा विशिष्ट कार्योंके स्थान हैं। अपने उत्पत्ति स्थानोंसे पित्तके सर्वशरीरचर भेदोंकी रस और रुधिरद्वारा सर्वशरीरमें व्याप्ति होती है। पित्तके पूर्वोक्त भेदों और उनके विवरणमें यह बात स्पष्ट की जा चुकी है।

पित्त शब्दकी व्युत्पत्ति—

तत्र 'वा' गतिगन्धनयोः इति धातुः, 'तप' संतापे, 'श्लिष' आलिङ्गने, एतेषां कृद्विहितैः प्रत्ययैर्वातः पित्तं श्लेष्मेति च रूपाणि भवन्ति ॥ सु० सू० २१।५

तत्र निरुक्त्या वातस्य चपलत्वं, पित्तस्य तापकत्वं, कफस्य उपश्लेषकत्वमुक्तं भवति ॥—चक्रपाणि

संतापार्थस्य तपधातोरचि प्रत्यये अकारस्येत्वे वर्णविपर्यये तस्य च द्वित्वे कृते पित्तमिति रूपम् ॥ —डल्हन

दोषोंके अपने-अपने नामोंसे उनके मुख्य गुण-कर्म सूचित होते हैं। अतः वैद्यकमें प्रत्येक नामकी व्युत्पत्ति बताई जाती है। यथा—उष्णता, संताप, पाक आदि अग्निकर्म स्वयं पित्त शब्दसे सूचित हैं। यह संतापार्थक तप धातुसे बना है। तकार और पकारका विपर्यय (क्रमपरिवर्तन) हो गया है।

पित्तके गुण—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ च० सू० १।६०[1]

सस्नेहमिति ईषत्स्नेहं, तेन पित्ते सर्पिषः स्निग्धस्य भेषजत्वमुपपन्नम् ॥ —चक्रपाणि

कट्विति तिक्तम् ॥ —गङ्गाधर

पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च।
उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥ सु० सू० २१। १

तीक्ष्णं राजिकामरिचादिवत्। पूति विस्रगन्धि। नीलं सामावस्थायाम्। पीतं निरामावस्थायाम्। विदग्धं चाम्लमेवेति विरुद्धपाकोपपन्नं पुनरम्लरसं भवति, विदग्धाजीर्णसंसृष्टमम्लरसं भवति इत्यन्ये, विदग्धं पित्तमम्लं पित्तमिति रोगविशेषं केचिन्मन्यन्ते ॥ —डल्हन

पित्तं हि विदग्धमम्लतामुपैत्याग्नेयत्वात् ॥ सु० सू० ४।११०

पित्त किंचित् स्नेहगुणयुक्त, तीक्ष्ण (पाक और दाह करनेवाला, तथा मन्द-विरोधी—आशु); पक्व (निराम) दशामें तिक्तरस, परन्तु विदग्ध[2] अर्थात् आम हो तो अम्लरस, जैसा कि विदग्धाजीर्ण या अम्लपित्तमें होता है; उष्णवीर्य, द्रव, प्रसरणशील, विस्रगन्धि (कच्चीगन्धवाला) सामदशामें नीलवर्ण तथा निरामावस्थामें पीतवर्ण होता है[3]।

१—चरक ने पित्तके दो रस कहे हैं—अम्ल और कटु (तिक्त)। इसका स्पष्टीकरण सुश्रुत के 'पित्तं तीक्ष्णं' आदि आगे उद्धृत पद्यसे होता है कि पित्त आम (विदग्ध) दशामें अम्ल होता है। तथा निराम (पक्व) दशामें तिक्त। एतदर्थ, निर्णयसागरी सुश्रुतमें इस श्लोकको पादटीकामें गङ्गाधरकी व्याख्या देखिये।

२—पित्तकी अधिकताके कारण अपूर्णतया पाकको प्राप्त हुआ तथा अम्लरसयुक्त अन्न और विरूपता (सड़ाव को प्राप्त हुआ पित्त विदग्ध कहाता है। देखिये—'माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञं विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावं, किंचिद् विपक्वं ॥" सु० सू० ४६।५०२

३—च० चि० ३।२१७ में चक्रपाणि ने पित्तके दो भेद कहे हैं—सद्रव और निद्रव।

पित्तप्रकृति पुरुषके लक्षण—

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहा, उष्णमुखाः, शुष्कसुकुमारावदातगात्राः, प्रभूतपिप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्यदोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः; तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमाः, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः; द्रवत्वाच्छिथिलमृदुसंधिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च; विस्रत्वात् प्रभूतपूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः; कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः; त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तोपकरणवन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९७

दन्दशूकाः पुनःपुनर्भक्षणशीलाः। प्रभूताशनत्वं तु बहुभक्षणत्वेन॥ —चक्रपाणि

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलांगस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुग् उष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्यवक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः॥ सु० शा० ४।६८-७१

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात् पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्णतृष्णाबुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्रहस्ताङ्घ्रिवक्त्रः शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा॥
दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः।
विभवसाहसबुद्धिबलान्वितो भवति भीषु गतिर्द्विषतामपि॥
मेधावी प्रशिथिलसन्धिबन्धमांसो नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकानां भुङ्क्तेऽन्नं मधुरकषायतिक्तशीतम्॥
घर्मद्वेषी स्वेदनः पूतिगन्धिर्भूर्युच्चारक्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत् कर्णिकारान् पलाशान् दिग्दाहोल्काविद्युदर्कानिलांश्च॥
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि॥
मध्यायुषो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जारयक्षानूकाश्च पैत्तिकाः॥
अ० हृ० शा० ३।९०-९५

पित्तके अग्निरूप और उष्णवीर्य होनेसे पित्तप्रकृति (पित्तल) पुरुष उष्ण आहार, औषधद्रव्य, धूप, ताप, देश, काल आदिके सहनमें असमर्थ, उष्णद्वेषी, चन्दनादि लेपद्रव्यों, फूलों, हारों, भूषणों

८५

आदिमें रुचि रखनेवाला और उष्ण अङ्गोंवाला, शुष्क, सुकुमार तथा गौरवर्णवाला; पिप्लु, व्यङ्ग, तिल, पिडका (फुन्सी) नीलिका और तरङ्गों[1] से प्रायः पीड़ित; तीव्र भूख और प्यासवाला; शीघ्र ही वार्धक्यके लक्षणों—झुर्री, केशोंकी धवलता तथा केशपातसे आक्रान्त होनेवाला और प्रायः मृदु, अल्प, क्षुद्र तथा कपिलवर्णके लोम, केश और श्मश्रुवाला होता है। पित्तकी तीक्ष्णताके कारण वह (पित्तल पुरुष) तीक्ष्ण पराक्रमवाला, तेजस्वी, मेधावी, तीक्ष्ण बुद्धिवाला, सभा तथा युद्धमें अपनी प्रतिभा और शूरतासे प्रतिभटको परास्त करनेवाला; निर्भय, किसीसे न दबनेवाला, धृष्ट पुरुषोंके साथ कठोर व्यवहार करनेवाला, परन्तु शरणागत और नम्र शत्रुपर भी प्रीति रखनेवाला, शीघ्र कुपित और प्रसन्न होनेवाला, अभिमानी, साहसी; तीक्ष्णाग्नि, बार-बार तथा प्रभूत अन्नपान ग्रहण करनेवाला तथा क्लेशके सहनमें अक्षम होता है। पित्तके द्रवत्वके कारण वह शिथिल सन्धियों और मांसवाला तथा स्वेद, मूत्र और पुरीषकी बहुलतावाला; पित्तके विस्र (आम कच्ची सड़ांदकी-गन्धवाला) होनेसे दुर्गन्धयुक्त कांख, मुख, शिर तथा शरीरवाला; पित्तके कटु और अम्ल होनेसे अल्पशुक्र, काम, मैथुन और सन्तानवाला तथा स्त्रियोंकी प्रीति न सम्पादित करनेवाला होता है। उसके नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, हथेली तथा तलुए ताम्र (पीतारुण) वर्ण होते हैं। मधुर, कषाय, तिक्त तथा शीत आहार उसे प्रिय होते हैं। स्वप्नोंमें उसे पुष्पित अमलतास, ढाक, दिशाओंमें आग, उल्का, विद्युत्, सूर्य, अग्नि इत्यादि पीत, उष्ण और दाहक वस्तुओंका दर्शन होता है। उसके नेत्र छोटे, पिङ्गलवर्ण, छोटे-छोटे लोमवाले, प्रायः शीत, चपल तथा क्रोध, मदिरा और सूर्यके प्रकाशसे शीघ्र लाल हो जानेवाले होते हैं। पित्तल पुरुषोंके स्वभावकी तुलना सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिडाल, बानर, व्याघ्र, रीछ, नेवला इनसे की जा सकती है। पित्तल पुरुष उक्त कारणोंसे मध्यआयुवाले, मध्यबल, मध्यज्ञान, विज्ञान, धन और उपकरणवाले तथा क्लेशभीरु होते हैं[2]।

भेलसंहितामें वर्णित पञ्चपित्त

भेलसंहिता[3] में पाँचों पित्तोंके नाम[4] तो यही हैं, पर उनके कार्य आदिके विषयमें अन्य तन्त्रोंसे कुछ भेद है। विद्वानोंके विचारार्थ उक्त संहितासे सूत्रमात्र प्रस्तुत करते हैं :—

इह खलु भोजयन्ना (यः) पुरुषो भवति र (स) जन्मानोऽस्य[5] व्याधयो भवन्ति। तद्यथा खल्वयं पुरुषो रसजन्मा रसजीवी रसज्वलनो रससमाधिको रसजीवनश्च भवति। रसानामसम्यगुपयोगान्मिथ्योपयोगात् (च) तद्विकारानृच्छति। न कश्चिन्मिथ्योपयोगात् अजीर्णापथ्यभोजनात् स्वस्थो भवति। अथाऽत्र प्रश्नो भवति कोऽत्र खल्वस्याहारं पचति,

---

१—ये विविध क्षुद्ररोग (त्वग्रोग) हैं।

२—शार्ङ्गधरने पित्तप्रकृति पुरुषके गुण संक्षेपमें निम्न कहे हैं—

अकाले पलितैर्व्याप्तो धीमान् स्वेदी च रोषणः।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः॥ शा० पू० ६।२२

३—चरकसंहिता सूत्रस्थान प्रथम अध्यायमें कहा है कि आत्रेय पुनर्वसुसे विद्या-लाभकर अग्निवेश के समान भेल (ड) आदि शिष्योंने भी अपने-अपने तन्त्र रचे थे। इनमें केवल अग्निवेशकृत चरक-संहिता अबतक उपलब्ध थी। कुछ समय पूर्व भेल (ड) संहिता भी प्राप्त हुई है, यद्यपि असम्पूर्ण तथा खण्डित रूपमें। इसे कलकत्ता विश्वविद्यालयने प्रकाशित किया है।

४—ध्यान रहे, चरकमें पित्तके (वात तथा कफके भी) पाँच भेदोंका नामतः निर्देश नहीं है।

५—इस प्रकरणमें रस शब्दसे मधुरादि षड्रस अभिप्रेत हैं।

वातः पित्तं श्लेष्माऽनुपानं[1] वेति ? नेत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः। यद्येते पाकहेतवः स्युः तर्हि नहि कश्चिद् दुर्बलाग्निः स्यात्; वातादीनां संनिहितत्वात्, सानुपानत्वाच्च। अथास्योष्मा तेजश्च शरीरस्थमाहारं पचतः ते (तर्हि स) कायग्ने (ग्नि) रिति विद्यात्।

तत्र भेल आत्रेयमिदमुवाच—भगवन् पञ्चधा ये शारीरा (:) पठ्यन्ते—आलोचकराजकभ्राजकसाधकवा (पा) चकभेदेन, तेषां कथमिदं पञ्चाभिधायिनां पृथक्त्वं भवतीति।

अत्रोवाच भगवानात्रेयः। तत्रालोचको नाम वर्षाशीतातपप्रवृद्धः। स द्विविधः—चक्षुर्वैशेषिको बुद्धिवैशेषिकश्च[2]। तत्र चक्षुर्वैशेषिको नाम य आत्ममनसस्सन्निकर्ष (ात्) ज्ञानमुदीरयित्वा चित्ते चित्तमभ्याधाय (?) संस्वेदजाण्डजोद्भिज्जजरायुजानां चतुर्णां भूतग्रामाणां लक्षणसंस्थानरूपवर्णस्वरैरुच्चावचानां पुष्पफलपत्राणां रूपनिवृत्त्यर्थमेकैकं (स्य) द्वौ (द्वयो) पात्र (द्वं) या (:) सर्वेषां वा युगपत् प्रणिपतितानां चक्षुषा वैष (शे) म्य (ष्य) मुत्पादयतीति।

बुद्धिवैशेषिको नाम यो भ्रुवोर्मध्ये शृङ्गाटकस्थः सुसूक्ष्मानर्थान- (ध्य) त्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, जातमात्रश्च पुनरनुपदिष्टस्वभावं (:) मातु (:) स्तस्य (न्य) मभिलषति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति।

तत्र भ्राजको नाम यो यस्य शरीरं लक्षणं चोपगमयति, प्राधान्यं दर्शयति, शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरजङ्घाम्य (स्य) नखनयनकेशानां च प्रतिभाविशेषानुत्पादयति[3], भ्राजयतीति भ्राजकः।

प्रभविष्णुत्वे (स्वे) न्द्रियप्राबल्यात्, बुद्ध्यवस्थाहंकारेण वाभिमतमर्थमर्थेभ्य आत्मकृतमाधत्ते, चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनवाक्पाणिपादपायूपस्थेभ्यः सर्वेषां विषयार्थानां स्वभाव-

---

१—भोजन किंवा औषधद्रव्यके 'अनु' नाम साथ अथवा पीछे जिन द्रव अथवा अर्धद्रव पदार्थोंका सेवन (पान) किया जाता है, उन्हें अनुपान कहते हैं। यहाँ भोजनके साथ सेव्य अनुपान—अन्नानुपान—विविध आसव, अरिष्ट, दूध, जल, मांस-रस प्रभृति—गृहीत हैं। इनका विस्तार च० सू० २७।३१९-३३८ तथा सु० सू० ४६।४१९-४५ में देखिए।

२—आलोचकपित्तका यह द्वैविध्य अन्य वैद्यक ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता, न वैद्योंमें ही प्रसिद्ध है। दोनों भेदोंमें चक्षुर्वैशेषिक तो प्रसिद्ध आलोचक पित्त ही है। बुद्धिवैशेषिक भेद नवीन है।

भेलसंहितामें कहे "बुद्धिवैशेषिक" पित्तका स्थान तथा कर्म देखनेसे यह आधुनिकोंका पुरः कपाल (Frontal lobe—फ्रॉण्टल लोब—मस्तिष्कका सम्मुख भाग) प्रतीत होता है। इस प्रसंगमें पृ० ८ की टिप्पणीमें कहे गर्भोपनिषद्में निर्दिष्ट अग्नियोंको भी स्मरण कीजिए।

३—यहाँ प्रतिभाका अर्थ प्रभा (दीप्ति, कान्ति, भ्राजन) है। दोनों शब्दोंमें धातु एक ही है, उपसर्ग भिन्न हैं।

प्रवृत्तानां स्वभावोपरक्तानां परस्परेभ्यो रागमुत्पादयतीति, अन्तर्मध्ये च पित्तस्थानमन्तरं प्रविश्य रागं जनयतीति राजकः[१] ।

साधको नाम या (यः) शब्दस्पर्शगन्धेभ्योऽर्थकामेभ्यश्च देवपितृऋषिभ्यश्च इह चामुत्रकानां च पदार्थानां निश्रेयसमधिकृत्य सर्वपदार्थानां (ना) नो (प्रो) ति स्वयुक्त्या साधयतीति साधकः[२] ।

वा (पा) चको नाम असि (शि) तपीतं (लीढखादितमाहारजातं जातवीर्यं (पा) चयतीति वा (पा) चकः । यः स्वकं काममेवाग्निं प्रपूरयति हर्षयति ।

भवन्ति चात्र—

योऽयं निर्दहति क्षिप्रमाहारं सर्वदेहिनाम् ।
अपानमद्य(ध्य) निद(ध) नः कायाग्निःप(स्स) रिप(स)मीर्यते ॥
प्रभावलक्ष्यसंयुक्तो जीवस्येह सनातनः ।
नाभिमध्ये शरीरस्य विज्ञेयं सोममण्डलम् ॥
सोममण्डलमध्यस्थं विद्यात् तत् सूर्यमण्डलम् ।
प्रदीपवच्चापि नृणां तस्य मध्ये हुताशनः ॥
देहिनां भोजनं भुक्तं नानाव्यञ्जनसंस्कृतम् ।
सूर्यो दिवि यथा तिष्ठन् तेजोयुक्तो गभस्तिभिः ॥
विशोषयति सर्वाणि पल्वानि प (स) यां (रां) सि च ।
तद्वच्छरीरिणां भुक्तं जाठरो नाभिसंस्थितः ॥
मयूखैः क्षिप्रमादत्ते सूर्यकान्तो मणिर्यथा ।
क्षिप्रं सम्यक् प्रदहति गोमयं काष्ठमेव च ॥
स्थूलकायेषु सत्त्वेषु यवमात्रप्रमाणतः ।
ह्रस्वकायेषु सत्त्वेषु त्रुटिमात्रप्रमाणतः ॥
कृमिकीटपतङ्गेषु वायुमात्रोऽवतिष्ठति ॥

भेलसंहिता, शारीरस्थान, पुरुषनिचयशारीर

१—परिशेष तथा नामसाम्यसे यहां कहा राजक पित्त अन्य तन्त्रोंका रञ्जक पित्त होना चाहिये। पर वर्णन देखनेसे यह कुछ विलक्षण (भिन्न) प्रतीत होता है ।

२—राजक तथा साधक पित्तोंका यहाँ कहा लक्षण मुझे कुछ समझ नहीं आया है ।

पैंतीसवां अध्याय

अथातो वैकृतपित्तोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

पैत्तिक विकारोंके सामान्य लक्षण—

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदात्मरूपमपरिणामि[1] कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च ,कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि ; एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः ; तद्यथा—दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा यथास्वं च गन्धरसाभिनिर्वर्तनं पित्तस्य कर्माणि ; तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ च० सू० २०।१५

पित्तस्य दाहरागोष्मपाकिताः ॥
स्वेदः क्लेदः स्रुतिः कोथः सदनं मूर्च्छनं मदः ।
कटुकाम्लौ रसौ वर्णः पाण्डुरारुणवर्जितः ॥ अ० हृ० सू० १२।५१—५२
ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ॥ अ० हृ० चि० १।१६

पित्तसे उत्पन्न होनेवाले विकारोंकी संख्या और नामका निर्देश आगे करेंगे। परन्तु, पित्तजन्य विकार इतने ही नहीं हैं। वे केवल प्रायः देखे जानेवाले और उदाहरणभूत हैं। पित्तके स्वाभाविक स्वरूप तथा कर्मके परिचायक अमुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण, एकाङ्गमें वा सर्वाङ्गमें उपलब्ध हों तो निःसन्देह पैत्तिक विकारका निश्चय करना चाहिये।

पित्तका स्वरूप, जैसा कि गत अध्यायमें भी कहा जा चुका है, यह है—

उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवत्व, किंचित् स्निग्धता ; शुक्ल और अरुणके अतिरिक्त वर्ण, विस्रगन्ध, कटु (तिक्त) और अम्ल रस, सरत्व। अतः शरीरमें पित्तके प्रकोपके कारण आगे कहे उदाहरणभूत अथवा इनसे भिन्न अनुक्त किंवा अन्य दोषके साथ मिलित कोई भी पैत्तिक विकार हों, उनमें पित्तके नीचे कहे कर्म अवश्य पाये जायेंगे। यथा—दाह अर्थात् एकाङ्ग वा सर्वाङ्गमें जलन-सी होना[2], उष्णता नाम शरीरका ऊष्मा अधिक होना, व्रण आदिका पाक अथवा अन्नका अति पाक, क्लेद (मलोंका अति आर्द्र होना), कोथ (सड़ना), कण्डू (खाज), स्राव ; राग नाम शरीरमें पीत, नील आदि वर्णान्तर होना ; मुख आदिमें तिक्त या अम्ल रसका स्वाद तथा आमगन्ध (कच्ची सड़ांदकी गन्ध), शरीरशैथिल्य, मुर्च्छा और मद।

नानात्मज पैत्तिक विकार—

पित्तविकारांश्चत्वारिंशदत ऊर्ध्वमनुव्याख्यास्यामः—ओषश्च, प्लोषश्च, दाहश्च, दवथुश्च, धूमकश्च, अम्लकश्च, विदाहश्च, अन्तर्दाहश्च, अंसदाहश्च, ऊष्माधिक्यं च, अतिस्वेदश्च, (अङ्गस्वेदश्च), अङ्गगन्धश्च, अङ्गावदरणं च,[3] शोणितक्लेदश्च, मांसक्लेदश्च, त्वग्दाहश्च

१—आत्मरूपं स्वरूपम्, अपरिणामीति सहजसिद्धं नान्योपाधिकृतम् ॥ —चक्रपाणि

२—Causalgia—कॉज़ेल्जा। ३—अष्टाङ्गसंग्रहमें 'अवयवसदन' पाठ है।

(मांसदाहश्च), त्वगवदरणं च, चर्मदलनं च, रक्तकोठश्च, रक्तविस्फोटश्च, रक्तपित्तं च, रक्तमण्डलानि च, हरितत्वं च, हारिद्रत्वं च, नीलिका च, कक्षा (क्ष्या) च, कामला च, तिक्तास्यता च, लोहितगन्धास्यता च, पूतिमुखता च, तृष्णाधिक्यं च, अतृप्तिश्च, आस्यविपाकश्च, गलपाकश्च, अक्षिपाकश्च, गुदपाकश्च, मेढ्रपाकश्च, जीवादानं च, तमःप्रवेशश्च हरितहारिद्रनेत्रमूत्रवर्चस्त्वं च—इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ च० सू० २०।१४

जीवादानं जीवनहेतुधातुरूपशोणितनिर्गमः ॥ —शिवदास सेन

नानात्मज पैत्तिक विकार—अर्थात् जिनका होना केवल पित्तके प्रकोपसे सम्भव है ऐसे चालीस विकार—निम्न हैं—ओष (गर्मीके पास बैठे हों ऐसी प्रतीति), प्लोष (एकाङ्गमें जलन) दाह (सर्वाङ्गमें जलन), दवथु[1] (हृदय धड़कना), धूमोद्गार, अम्लोद्गार, विदाह (अन्नका पित्ताधिक्यसे अम्ल हो जाना), अन्तर्दाह, अंसदाह (कन्धोंमें जलन-सी), शरीरके ऊष्मामें वृद्धि, अतिस्वेद, अङ्गमें दुर्गन्ध, अङ्ग फटना, रुधिरमें द्रवांशका आधिक्य (क्लेद) ; मांसमें द्रवांशका आधिक्य—फल रूपमें मांसका शिथिल, मृदु और कार्याक्षम होना[2] ; त्वचा तथा मांसमें दाह, त्वचाका फटना त्वचामें चीरे पड़ना, चर्मदलन (हाथ-पैरके तलुओंमें खाज, वेदना, ओष तथा चोष), त्वचा पर लाल फुन्सियाँ रक्त विस्फोट (फोड़े), रक्तपित्त, शरीरपर लाल-लाल मण्डल (चकत्ते), त्वचाका वर्ण हरा होना अथवा हरिद्रा (हल्दी) के वर्णका होना, नीलिका; कचनारी, कामला, मुखका स्वाद कड़वा होना, मुखमें लोहकी गन्ध आना,[4] मुखमें दौर्गन्ध्य, तृष्णाकी अधिकता,[5] अतृप्ति ; मुखपाक (मुखके अन्दर छाले पड़ना), गलपाक, आँख आना, गुदपाक, मेढ्रपाक ; गुद, नासिका, योनि आदिसे शुद्ध रक्त निकलना, आँखोंके आगे अन्धेरा छाना ; नेत्र, मूत्र तथा पुरीषका हरा वा हरिद्राके वर्णका होना। यह गणना प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पैत्तिक विकारोंकी है ; अन्यथा पैत्तिक विकारोंकी संख्या अशक्य है।[6]

शार्ङ्गधरोक्त पित्तनानात्मज विकार—

धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः।
कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ॥
तिक्तास्यताम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता।
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ॥

१—दवथुः धकधकिकेति लोके ख्याता। यहाँ तथा च० नि० ३।९ पर —चक्रपाणि

२—पित्तके गुणोंमें एक द्रवत्व है, जिसका अर्थ यह है कि यह जहाँ भी होता है, वहाँ आसपाससे जलका आकर्षण कर (इस नियमकी व्याख्याके लिये देखिये—पृ० ४७०-७१) द्रवाधिक्य कर देता है।

३—देखिये—स्युर्येन कण्डूव्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति—सु० नि० ५।१०। गुजरातीमें तजा गरमी। ४—Metallic Taste—मेटलिक टेस्ट।

५—Polydipsia—पॉलीडिप्सिया ; या Excessive Thirst—एक्सेसिव थर्स्ट।

६—ध्यान रहे, चरक ने सुश्रुत के समान रक्तकी दोषके रूपमें पृथक् गणना नहीं की है। अतः पैत्तिक विकारोंमें कुछ रक्तदोष—रक्तमण्डल आदि भी आ गये हैं। पित्त और रक्तके प्रकोपके कारण समान ही हैं—देखिये २२ वाँ अध्याय।

रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा ।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता ।
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ॥
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम् ।
निःसहत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ॥ शा० पू० ७।११६।१२१

शार्ङ्गधरने भी नानात्मज पैत्तिक विकार चालीस ही गिनाये हैं ; पर वे अधिक स्पष्ट और विस्तृत हैं । अतः दिये जाते हैं :—

धूमोद्गार[1], विदाह[2] शरीर उष्ण होना, मतिभ्रम, निष्प्रभता, कण्ठशोष (गला सूखना), मुखशोष, अल्पशुक्रता, मुखका स्वाद कडुआ या अम्ल होना, स्वेदस्राव, अङ्गपाक (अङ्गोंमें शोथ, किंवा व्रणमें पूय उत्पन्न होना), क्लम (परिश्रमके विना ही थकान), हरितता (त्वचा आदिका हरा होना), अतृप्ति, त्वचा आदिका पीला होना ; मुख, योनि, गुद, नासिका आदि मार्गोंसे रक्तस्राव, अङ्गोंमें फटनेका-सा अनुभव, मुखका स्वाद लोहेका-सा होना, शरीरमें दुर्गन्ध, मूत्र पीला होना, अरति (बेचैनी), पुरीषका पीला होना, पदार्थ पीले दीखना, आँखें पीली होना, दांतोंका पीलापन, शीत आहार-विहार आदिकी इच्छा, नख पीले होना, चमकीली वस्तुओंसे द्वेष, निद्रा अल्प होना, चिड़चिड़ापन और क्रोध, अङ्ग ढीले होना, मलका ढीला—द्रवाधिक होना, अन्धता—नेत्रकी ज्योति कम होना, उच्छ्वास गरम होना ; मूत्र तथा मलका उष्ण होना, आँखोंके आगे अन्धेरा छाना, त्वचापर पीले मण्डल—चकत्ते पड़ना, सहनशक्तिका अभाव ।

पित्तविकारोंमें याकृत पित्तकी अधिकता—

पित्तविकारोंमें अधिकांशमें स्पष्ट है कि याकृत पित्त या तो पित्तप्रकोपक शास्त्रोक्त कारणोंसे अधिक बनता है, या अन्त्रोंमें पहुँचानेवाले स्रोतोंके कफ आदिसे अवरुद्ध होनेसे सम्पूर्णतया निकल नहीं सकता । परिणाममें उसके वर्ण तथा लवण और कभी वह स्वरूपमें रक्तप्रवाहमें मिलकर सर्वाङ्गमें प्रसृत हो विविध लक्षण उत्पन्न करता है । उसके अपने वर्णके कारण नख-दन्त-मल-मूत्र-त्वचा-स्वेद-लाला-नेत्र-शुक्र इनका वर्ण पीत हो जाता है ; अथवा याकृत पित्त पाक पूर्ण न होनेसे स्वयं हरित-वर्ण होता है और नखादिको भी उसी वर्णका कर देता है । रुधिरमें ये द्रव्य अधिक होनेसे लालास्रावमें भी सहज ही उनका निर्गमन होता है । उनके कडुआ होनेसे लालाका रस भी कडुआ होता है । इसीसे पित्त प्रकोप—पित्ताधिक्य—में मुखका रस कडुआ होना एक लक्षण है । याकृत पित्त अन्त्रोंमें अपकर्षणीको उत्तेजित करता है, जिससे उनमें स्थित अन्न और मलका प्रवाह वेगवान् हो जाता है । फलस्वरूप,

१—दुर्गन्धयुक्त ऊर्ध्ववातकी प्रवृत्ति ; Offensive eructation—ऑफेन्सिव इरक्टेशन ; या Belching of fou.-smelling gas—बेल्चिङ्ग ऑफ़ फाउल-स्मेलिङ्ग गैस ।

२—छातीमें जलन (अम्लोद्गार) ; Pyrosis—पायरोसिस ; या Heart-burn—हार्ट बर्न ; या Water-brash—वॉटर ब्रैश ।

आँतें उनमें स्थित जलांशको उतना शीघ्र चूस नहीं सकतीं और मल ढीला—द्रवाधिक रहता है, जो पित्ताधिक्यके लक्षणोंमें एक[1] है।

श्रमका कारण धातुओंमें तक्राम्ल[2]का सञ्चय है, यह मांसधातुके प्रकरणमें कह आये हैं। पित्त-विकारोंमें एक क्लम (अनायास थकान) भी है। एवं तक्राम्लकी भी पित्तवर्गमें गणना की जा सकती है।

अम्लोद्गार, धूमोद्गार, अतितृष्णा, अरति, अन्तर्दाह, दवथु (धड़कन) इन लक्षणोंमें आमाशय रसका अम्लांश—लवणाम्ल—भी अधिक निकलता है। आयुर्वेदके शब्दोंमें उसका प्रकोप होता है। इस रोगका अंग्रेजीमें नाम हायपरक्लोरहाइड्रिया[3] है। पहले कह आये हैं कि आमाशय रस भी पित्तवर्गके ही अन्तर्गत है।

उपर्युक्त अम्लोद्गार आदि लक्षण अधिकतः अम्लपाक[4]के कारण होते हैं। आयुर्वेदके मतानुसार यह अम्लपाक पित्तकी अधिकताके कारण अन्नके अथवा पित्तके विदग्ध (अम्लरस) होनेसे होता है। यह स्वयं पित्तसे उत्पन्न होता तथा अपनी अम्लताके कारण पित्तकी वृद्धि भी करता है। पित्तकी अधिकतासे जो अम्लपाक होता है वह प्राचीनोंका तीक्ष्णाग्नि तथा नवीनोंका उपर्युक्त हायपर-क्लोरहायड्रिया है। दूसरा अम्लपाक अन्नपान के विदग्ध—अपक्व और अम्ल होनेसे होता है, जिसमें तक्राम्ल आदि विभिन्न सेन्द्रिय लवण बनते हैं। इस विषय का उल्लेख अनेकशः कर आये हैं।

इन्सुलीनकी अतिमात्राका प्रभाव—

सर्वशरीरचर पाचक पित्त (इन्सुलीन) का प्रकोप—आधिक्य—सामान्यतया नहीं पाया जाता। मधुमेहके रोगियोंमें चिकित्सा करते हुए भूलसे सूचीबस्ति द्वारा अधिक मात्रा जानेपर ही उसके प्रकोपके लक्षण पाये जाते हैं। ये लक्षण निम्न हैं—क्षुधा, स्वेद, मानसिक आवेगोंपर नियन्त्रणका अभाव सर्वाङ्गशैथिल्य और मूर्छा। सम्भव है सूचीबस्तिके विना भी प्रकोपक कारणोंसे इन्सुलीनका स्राव अधिक हो जाता हो, जिससे शरीरमें सञ्चित शक्ति (मेद, मांस आदि) का ताप तथा कार्यके उत्पादनमें व्यय हो जाता हो और मनुष्य शरीरसे कृश हो जाता हो। पित्तप्रकृति मनुष्योंमें पित्तका सर्वदा प्राबल्य होनेसे उनकी स्वाभाविक कृशताका यह कारण हो सकता है। चुल्लिका ग्रन्थिकी अति प्रमाणमें सूचीबस्तिसे इस प्रकारकी कृशता पायी जाती है पूर्वोक्त प्रकारसे शक्त्युत्पादक द्रव्य न्यून होनेसे नाड़ीसंस्थानको विशेष करके क्षति होती है। उचित शक्त्युत्पादक द्रव्य न मिलनेसे वह पद-पद पर क्षुभित होता है। अतएव पित्तप्रकोपमें तथा पित्तल पुरुषोंमें शीघ्र कोप तथा क्षोभ (चिड़चिड़ापन, झुँझलाहट) विशेष रूपमें पाये जाते हैं। क्षोभका कारण रुधिरमें याकृत पित्तकी अधिकता भी हो सकता है। पित्तविकारोंमें अधिकांशमें याकृत पित्तकी अधिकता प्रत्यक्षसिद्ध है। परिशेषानुमानसे आयुर्वेदमतसे उक्त, अनुक्त, नानात्मज वा संसृष्ट अन्य पैत्तिक विकारोंका कारण भी यही होना चाहिये। पित्तसंचयके लक्षण 'पीतावभासता' (देखिये ३२ वाँ अध्याय) से यह बात और भी स्पष्ट प्रकट होती है। एक अहोरात्रमें दो पाइण्ट (१०० तोला) याकृत पित्त पुरीष-मूत्र आदि द्वारा बाहर जाना चाहिये। इतनेसे न्यून जानेसे उक्त विकार उत्पन्न होते हैं। अतएव, आयुर्वेदका

१—उक्त विषयोंका विस्तार ३० वें अध्याय याकृत-पित्त प्रकरणमें देखिये।

२—Lactic acid—लैक्टिक एसिड।

३—Hyperchlorhydria.

४—Acidity—एसिडिटी

मलभूत पित्त विशेषतः याकृत पित्त प्रतीत होता है। शेष पाचक आदि पित्त मुख्यतः प्रसादभूत हैं। वे भी उचित प्रमाणसे अधिक होनेपर पीडाकार होनेसे मल कहाते हैं।

कार्बोहाइड्रेटोंका धातुपाक पूर्ण न होनेसे स्नेहोंका भी पाक अपूर्ण रह जानेसे तत्-तत् अम्ल द्रव्य बनते हैं। इनसे हुए लक्षणोंकी भी पैत्तिक विकारोंसे तुल्यता देखी जा सकती है।

पित्तक्षयके लक्षण तथा उपाय—

पित्तक्षये मन्दोष्माग्निता निष्प्रभता च ॥ सु० सू० १५।७

पित्ते (क्षीणे) मन्दोऽनलः शीतं प्रभाहानिः ॥ अ० हृ० सू० ११।१६

तत्र (पित्तक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

आरोग्यके लिये अन्य धातुओंके समान पित्तका भी साम्य अनिवार्य है। अतः इसके क्षय-वृद्धिके लक्षण जानने चाहिये। पित्तक्षय होनेपर शरीरका ऊष्मा न्यून तथा अग्नि मन्द हो जाता है, ठण्ढका अनुभव होता है, प्रभा लुप्त हो जाती है, एवं उसके प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है। ऐसी अवस्थामें पित्तवर्धक आग्नेय आहारौषधद्रव्योंका सेवन करना चाहिये। आगे 'पित्तप्रकोपके कारण' शीर्षकके नीचे जो द्रव्य और कर्म कहे हैं, वे क्षीण पित्तको बढ़ाकर समावस्थामें लाते हैं।

पित्तवृद्धिके लक्षण—

पित्तवृद्धौ पीतावभासता संतापः शीतकामित्वमल्पनिद्रता मूर्च्छा बलहानिरिन्द्रिय-दौर्बल्यं पीतविण्मूत्रनेत्रत्वञ्च ॥ सु० सू० १५।३१

वृद्धिः पुनरेषां (दोषधातुमलानां) स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनात् भवति। सु० सू० २१।३२

पित्तवर्धक आगे कहे द्रव्यों और कर्मोंके अति सेवनसे पित्त वृद्धिको प्राप्त होता है। इसके लक्षण पूर्वोक्त नानात्मज पैत्तिक विकारोंमें आ ही गये हैं। संक्षेपमें ये हैं।—त्वचाका पीलापन, संताप (दाह), शीत वस्तुओंपर प्रीति, अल्पनिद्रता, मूर्च्छा (भ्रम और तम), इन्द्रियोंकी शक्तिका ह्रास ; मल, मूत्र तथा नेत्रका पीला होना।

पित्तप्रकोपके कारण—

जैसा कि दोषोंके सामान्य विवेचनमें कहा है—पित्तके प्रकोपक कारण दो प्रकार के हैं; प्रज्ञापराध तथा काल-विशेष। इनमें प्रथम प्रकार के कारणोंका उल्लेख करते हैं।

क्रोधशोकभयायासोपवासविदग्धमैथुनोपगमनकट्वम्ललवणतीक्ष्णोष्णलघुविदाहितिल-तैलपिण्याककुलत्थसर्षपातसीहरितकशाकगोधामत्स्याजाविकमांसदधितक्रकूर्चिकामस्तुसौवीरक-सुराविकाराम्लफलकट्वरप्रभृतिभिः पित्तं प्रकोपमापद्यते[1] ॥ सु० सू० २१।२१

क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास[2], दाह, मैथुन, भ्रमण, कटु, अम्ल, लवण, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दाह उत्पन्न करनेवाले पदार्थ, तिलतैल, खली, कुलथी, सरसों, अलसी, हरितक शाक ; गोह-मछली-भेड़-बकरीका मांस ; दही, छाछ, कुर्चिका, मस्तु, सौवीरक, मदिरायें, खट्टे फल, कट्वर, इत्यादिसे पित्त प्रकुपित होता है। पित्तप्रकोपके स्वाभाविक कालका उल्लेख पीछे करेंगे।

पित्तलका पित्त शीघ्र कुपित होता है—

पित्तलस्यापि पित्तप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं पित्तं प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ

१—इस सूत्रकी व्याख्या २२ वें अध्यायमें रक्तदुष्टिप्रकरणमें देखिये।

२—उपवास से पित्तवृद्धिकी नव्यमतानुसार व्याख्या पृ० २१४ पर देखिये।

दोषौ ; तदस्य प्रकोपमापन्नं यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय ॥ च० वि० ६।१७

पित्तप्रकोपजन्य विकार पित्तप्रकृति पुरुषोंको विशेषतः अभिभूत करते हैं। थोड़ेसे भी पित्त-प्रकोपक कारणसे उनमें पित्त शीघ्र प्रकुपित हो जाता है। उनमें अन्य दोषोंका ऐसा प्रकोप नहीं पाया जाता।

पित्तके सञ्चय, प्रकोप और प्रशमके काल—

ता वर्षास्वोषधयस्तरुण्योऽल्पवीर्या आपश्चाप्रशान्ताः क्षितिमल प्रायाः, ता उपभुज्य-माना नभसि मेघावतते जलप्रक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्न देहानां प्राणिनां शीतवातविष्टम्भिताग्नीनां विदह्यन्ते, विदाहात् पित्तसंचयमापादयन्ति ; स संचयः शरदि प्रविरलमेघे वियत्युपशुष्यति पङ्केऽर्ककिरणप्रविलायितः पैत्तिकान् व्याधीञ्जनयति ॥ सु० सू० ६।११

ओषधयो गोधूमचणकशाल्यादयः तरुण्यः अभिनवाः अल्पवीर्या अल्पशक्तयः। ननु वर्षासु गोधूमादयः पुरातना एव भवन्ति, कथमभिनवा इत्युच्यन्ते नैष दोषः, गोधूमचणकशाल्यादयोऽन्तःसूक्ष्म-जलप्रवेशान्म्रदिमानमुपगताः किञ्चित्तिरस्कृतशक्तयः प्ररोहधर्मिण्यः प्रोच्छूनतामुपगता अनवा अपि तरुण्य इत्युच्यन्ते, शाकादयस्तु नूतना एव प्रयुज्यन्ते। ××। विदह्यन्ते अम्लपाकमुपयान्ति विदाहात् अम्लपाकात् ॥ —डह्लन

तदुष्णैरुष्णकाले च घनान्ते च विशेषतः।
मध्याह्ने चार्धरात्रे च जीर्यत्यन्ने च कुप्यति ॥ सु० सू० २१।२२

उष्णकाले ग्रीष्मे। घनान्ते शरदि ॥ —चक्रपाणि
उष्णैरिति उष्णत्वमत्र घर्मादिकृतम् ॥ —डह्लन

तत्र पूर्वाह्ने वसन्तस्य लिङ्गं, मध्याह्ने ग्रीष्मस्य, अपराह्ने प्रावृषः प्रदोषे वार्षिकं, शारदमर्धरात्रे, प्रत्युषसि हैमन्तमुपलक्षयेत् ; एवमहोरात्रमपि वर्षमिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥ सु० सू० ६।१४

वसन्ते श्लेष्मजा रोगाः शरत्काले तु पित्तजाः।
वर्षासु वातिकाश्चैव प्रायः प्रादुर्भवन्ति हि ॥
निशान्ते दिवसान्ते च वर्षान्ते वातजा गदाः।
प्रातः क्षापदौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥
वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वाभावाद् वयसो नृणाम् ॥
जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्यमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम् ॥ च० चि० ३०।३०९।३१२

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥ सु० सू० ३५।३१

चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम्।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥ च० सू० १७।११४

तंत्र पैत्तिकानां व्याधीनामुपशमो हेमन्ते, श्लैष्मिकाणां निदाघे, वातिकानां शरदि स्वभावत एव ॥

सु० सू० ६।१३

तत्र वर्षाहिमन्तग्रीष्मेषु संचितानां दोषाणां शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम् ॥

सु० सू० ६।१२

प्रकुपितानामिति प्रशब्दो बहुदोषाणामेव संशोधनमिति दर्शयति ; मध्यदोषेषु पाचनादि अल्पदोषेषु पुनर्लङ्घनपिपासानिग्रहादि यथर्तु विधिसमाचारश्चेति चकारो दर्शयति। —डल्हन

हरेद् वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग् विकारसमुच्छ्रयात्[1] ॥ सु० सू० ६।३८

दोषोंके सामान्य विवेचनके प्रकरणमें कह आये हैं कि आयु, वर्ष, दिवस, रात्रि तथा भोजनके पूर्व, मध्य और अनन्तर काल—इन सबमें एक-एक दोषका प्राधान्य स्वाभावतः हुआ करता है। इनमें पित्तके संचय, प्रकोप, प्रशम तथा निर्हरणका काल कहते हैं।—

वर्षा ऋतुमें अन्न सील जाता है, जिससे उसकी शक्तिका यत्किञ्चित् ह्रास हो जाता है। जल भी अपक्व और मलिन होता है। दूसरी ओर, आकाशके मेघाच्छादित होने, भूमिके आर्द्र होने तथा वायुके शीत और चपल होनेके कारण जाठराग्नि मन्द हुआ होता है। परिणामतया अन्न तथा अन्य भोज्य कन्दमूल फलादिका विदाह (अम्लपाक) हुआ करता है, जिससे पित्तका संचय होता है। वर्षाका अन्त होनेपर शरत्कालमें जब मेघ विरल हो जाते हैं और कीचड़ सूख जाता है तब सूर्यकी किरणोंसे वर्षाकालमें संचित पित्त द्रवीभूत होकर प्रस्रुत होने लगता है तथा पैत्तिक विकारोंको उत्पन्न करता है।

इस प्रकार शरत्कालमें विशेषकर पित्तका प्रकोप होता है। ग्रीष्म ऋतुमें देशकालकी उष्णताके कारण पित्तका स्वभावतः कोप होता है। अन्य ऋतुओंमें भी अस्वाभाविक उष्णता पड़नेसे, किंवा उष्ण पदार्थोंके अति योगसे पित्तका कोप होता है। मध्याह्नमें ग्रीष्मके समान पित्त कुपित होता है। मध्यरात्रमें भी पित्तका प्राधान्य होता है। अतः इन कालोंमें पित्तज विकार लक्षित होते हैं।

आयुके मध्यभाग (यौवनकाल) में शरीरके कर्मशील होनेसे स्वभाव ही से पित्त बलवान् होता है। अतः इस कालमें भी पैत्तिक व्याधियाँ विशेषतः होती हैं।

भोजनके अनन्तर, पाककी सम्पूर्णताके पूर्व तक अन्नको पचानेके अर्थ पित्त सविशेष कार्य-तत्पर होता है। इस कारण, भोजनकी पच्यमानावस्थामें भी पित्तका प्राबल्य होता है।

हेमन्त ऋतु आनेपर, वर्षामें संचित और शरद्में कुपित पित्त-कफका संचयकाल होनेसे स्वतः शान्त हो जाता है। शरत्कालमें जब कि पित्त उल्वण होता है ; तज्जन्य विकारोंको उत्पन्न होनेसे रोकनेके लिए उपाय करना चाहिये। पित्तका कोप विशेष हो तो संशोधनकी आवश्यकता होती है, मध्य हो तो पाचन इत्यादिकी और अल्प हो तो लङ्घनादिकी।

पित्तके प्रसरके लक्षण—

(एवं प्रकुपितानां प्रसरतां) ओषचोषपरिदाहधूमायनानि पित्तस्य ॥ सु० सू० २१।३२

१—अखण्डितताके लिये दोषोंके स्वाभाविक चय, प्रकोप, प्रशम और निर्हरण सम्बन्धी वचन हमने सम्पूर्ण ही दिये हैं। अर्थ करते हुए केवल पित्तका विषय लिया है। ऋतुस्वभावसे कुपित दोषोंके निर्हरणकाल सम्बन्धी अन्य प्रमाण ३२ वें अध्यायमें देखिये।

प्रकुपित्तहुए पित्तका प्रतीकार न करनेसे उसका प्रसर होता है। उष्णता, चूसने (खेंचेजाने) की-सी वेदना, दाह और धूमोद्गार पित्तके प्रसरके चिह्न हैं। इस अवस्थामें इसे न रोका जाय तो नानात्मज और सामान्यज पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं।

साम तथा निराम पित्तके लक्षण—

दुर्गन्धि हरितं श्यावं पित्तमम्लं घनं गुरु।
अम्लीकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्॥
आताम्रपीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्।
पक्वं विगन्धि विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम्॥

अ० हृ० सू० १३।२७।२८ के मध्य प्रक्षेप

साम पित्त दुर्गन्धयुक्त, हरित वा ईषत् कृष्ण, अम्ल, स्थिर (जलमें न फैलानेवाला); गुरु (गाढ़ा) तथा अम्लोद्गार, कण्ठ और हृदयमें दाह उत्पन्न करनेवाला होता है। निराम या पक्व पित्त किञ्चित् ताम्रवर्ण या पीतवर्ण, अति उष्ण, तीक्ष्ण, तिक्तरस, अस्थिर (जलमें फैलनेवाला), गन्धशून्य तथा रुचि, अग्नि और बलका वर्धक होता है।

प्रकुपित पित्तके जयका उपक्रम—

सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु।
विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति॥ च० सू० १।६०

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते॥ —चक्रपाणि

उष्णतीक्ष्णद्रवसरतिक्तत्वविपरीतैः शैत्यमान्द्यसान्द्रस्थिरकषायमाधुर्यगुणैः पक्वस्य पित्तस्य प्रशमनम्। आमस्याम्लस्य विपरीतेन तिक्तेन प्रशमः॥ —गङ्गाधर

तस्य (प्रकुपितस्य पित्तस्य) अवजयनं—सर्पिष्पानं, सर्पिषा च स्नेहनम्, अधश्च दोषहरणं, मधुरतिक्तकषायशीतानां चौषधाभ्यवहार्याणामुपयोगः, मृदुमधुरसुरभिशीतहृद्यानां गन्धानां चोपसेवा, मुक्तामणिहारावलीनां च परमशिशिरवारिसंस्थितानां धारणमुरसा, क्षणे क्षणेऽग्र्यचन्दनप्रियङ्गुकालीयमृणालशीतवातवारिभिरुत्पलकुमुदकोकनदसौगन्धिकपद्मानुगतैश्च वारिभिरभिप्रोक्षणं, श्रुतिसुखमृदुमधुरमनोऽनुगतानां च गीतवादित्राणां श्रवणं, श्रवणं चाभ्युदयानां, सुहृद्भिः संयोगः, संयोगश्चेष्टाभिः स्त्रीभिः शीतोपहितांशुकस्रग्धारिणीभिः निशाकरांशुशीतलप्रवातहर्म्यवासः, शैलान्तरपुलिनशिशिरसदनवसनव्यजनपवनसेवनं रम्याणां चोपवनानां सुखशिशिरसुरभिमारुतोपहितानामुपसेवनं, सेवनं च पद्मोत्पलनलिनकुमुद-सौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रहस्तानां[1] सौम्यानां च सर्वभावानामिति॥ च० वि० ६।१७

तं (पित्तविकारं) मधुरतिक्तकषायशीतैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्नेहविरेचनप्रदेहपरिषेकाभ्यङ्गादिभिः पित्तहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य; विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः पित्ते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति,

१—हस्तानामिति कलापानाम्॥ —चक्रपाणि

तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गताः पित्तविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथाऽग्नौ व्यपोढे केवलमग्निगृहं शीतं भवति तद्वत् ॥ च० सू० २०।१६

विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठम्) ॥ च० सू० २५।४०

सर्पिः खल्वेवमेव[1] पित्तं जयति, माधुर्याच्छैत्यान्मन्दत्वाच्च ; पित्तं ह्यमधुरमुष्णं तीक्ष्णं च[2] ॥ च० वि० १।१५

विरेचन कुपित पित्तके जयका सर्वोत्तम उपाय है ; वह मधुर और शीत होना चाहिये। विरेचन द्रव्य पित्तके संचयके मूल स्थान आमाशय और ग्रहणी (पच्यमानाशय) में प्रवेश कर उसे निकाल देता है। मूलके नष्ट होनेसे शरीरमें अन्यत्र स्थित पित्तविकार स्वयं शान्त होते हैं ; जैसे अग्नि बुझ जाय तो अग्निगृह[3] स्वयं शीत हो जाता है[4]। घृतका (पान तथा अभ्यङ्गके रूपमें) निरन्तर सेवन भी वैसा ही गुणकारी है। पित्त अमधुर, उष्ण और तीक्ष्ण होता है ; घृत इसके विपरीत मधुर, शीत और मन्द होता है। परिणाम रूपमें निरन्तर सेवनसे घृतके गुणोंकी अधिकता हो जाती है, पित्त पराभूत होता है। जीर्ण पित्तविकारों (जीर्णज्वर आदि) में घृतका विविध रूपोंमें प्रयोग बहुत प्रशस्त है। पित्तसे विपरीत गुणोंवाले मधुर, कषाय और शीत आहार तथा औषध द्रव्योंका पित्तकी शान्तिके लिये सेवन करना चाहिये। आम और निराम पित्तके प्रशमनके उपायमें विशेष यह है कि आम पित्त अम्लरस होता है ; अतः उसके शमनके लिये विपरीत गुणवाले तिक्त रसका उपयोग करना चाहिये। पक्व वा निराम पित्त तिक्तरस होता है, अतः उसकी शान्तिके लिये मधुर रसका व्यवहार करना चाहिये। रसके समान ही जिन द्रव्योंका वीर्य, विपाक वा प्रभाव पित्तका विरोधी होता है वे भी पित्तके शामक हैं। मात्रा और काल देखकर मृदु, मधुर, सुगन्धि और शीतल गन्धोंका आघ्राण (सूँघना) ; अति शीतल जलमें रखे हुए मुक्ता, मणि और हीरोंका धारण ; थोड़ी-थोड़ी देर बाद चन्दन, कर्पूर, खस आदिका लेप ; उत्पल, कुमुद, कोकनद, सौगन्धिक, पद्म[5] इन जलज शीतगुण पुष्पोंसे वासित जलके छींटे देना ; कर्णानन्ददायी मृदु, मधुर और मनोहर नृत्य, गीत और वाद्यों तथा समृद्धिके समाचारोंका सुनना ; इष्ट मित्रों और प्रिय पुत्रसे आलाप ; तथा शीत वस्तुओंसे भावित वस्त्र एवं मालाओंको धारण की हुई मनोऽभिरामा स्त्रियोंकी संगति ; चन्द्रकी किरणों द्वारा शीतल तथा हवादार (प्रवात) सुन्दर भवनमें निवास ; पर्वतीय प्रदेश, पुलिन, धारागृह (फव्वारेवाला घर), पंखेकी हवा इनका सेवन ; सुखद शीत, सुगन्धि वायुसे आन्दोलित रमणीय उपवन तथा बावड़ियोंमें विहरण; पद्म, उत्पल, नलिन, कुमुद, सौगन्धिक, पुण्डरीक तथा शतपत्र इन पुष्पोंके समूहका हृदयपर धारण तथा अन्य प्रकारोंसे उपसेवन ; एवं अन्यान्य सौम्य भावों (द्रव्यों और उपायों) वा अवलम्बन पित्तकी शान्तिके लिये अत्युपयोगी है।

पित्तके कोपक-शामक रस—

कट्वम्ललवणाः पित्तं (कोपयन्ति) ॥ च० सू० १।६७

१—यहाँ 'सततमभ्यस्यमानं' की अनुवृत्ति है।

२—यहाँ 'विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते' की अनुवृत्ति है।

३—जेन्ताक नामक स्वेदकी विधिमें गरम किया गया घर। देखिये—च० सू० १४।४६

४—पित्तके आग्नेय होनेसे इस प्रकरणमें अग्निका उपमान अलंकार दृष्टिसे बड़ा हृदयङ्गम है।

५—कोषोंमें उत्पल, नलिन आदि शब्द पर्यायके रूपमें आते हैं। परन्तु यहाँ तथा इसी पैरेमें आगे एक ही द्वन्द्वमें ये शब्द आये हैं ; इससे सिद्ध है कि ये भिन्न-भिन्न जलज पुष्पोंके नाम हैं। इस विषयका अन्वेषण होना चाहिये।

× × × × कषायस्वादुतिक्तकाः।

जयन्ति पित्तम्॥ च॰ सू॰ १।६६

मधुरतिक्तकषायाः पित्तघ्नाः॥ सु॰ सू॰ ४२।४

कट्वम्ललवणाः पित्तं जनयन्ति; मधुरतिक्तकषायास्त्वेनच्छमयन्ति॥ च॰ वि॰ १।६

कटु, अम्ल और लवण रस पित्तकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाले हैं; मधुर, तिक्त और कषाय इसे शान्त करते हैं।

पित्तके वर्धक-शामक भूत—

भूम्यम्बुवायुजैः पित्तं क्षिप्रमाप्नोति निर्वृतिम्।
आग्नेयमेव यद् द्रव्यं तेन पित्तमुदीर्यते॥ सु॰ सू॰ ४१।७।९

अग्नि महाभूतकी अधिकतावाले[1] द्रव्य पित्तके वर्धक हैं; तथा भूमि, जल और वायुसे उत्पन्न द्रव्य उसके शामक हैं।

जीवनीय सी पित्तशामक है?—

वर्तमान अन्वेषणोंसे जो द्रव्य जीवनीय सी के आश्रयभूत विदित हुए हैं, उनको पित्तशामक कहा जा सकता है[2]। पर इस विषयमें अभी तुलनात्मक गवेषणाकी तथा अन्य भी क्रियाशील द्रव्यों के शोध की आवश्यकता है।

पित्तसंशमन वर्ग[3]—

चन्दनकुचन्दनह्रीवेरोशीरमञ्जिष्ठापयस्याविदारीशतावरीगुन्द्राशैवलकह्लारकुमुदोत्पलकन्द(द)लीदूर्वामूर्वाप्रभृतीनि काकोल्यादिः सारिवादिरञ्जनादिरुत्पलादिर्न्यग्रोधादिस्तृणपञ्चमूलमिति समासेन पित्तसंशमनो वर्गः॥ सु॰ सू॰ ३९।८

१—'अधिकतावाले' इसलिये कि सब द्रव्य पाञ्चभौतिक होते हैं; भूतविशेषकी अधिकताके कारण ही उनकी पार्थिव आदि संज्ञाएँ होती हैं। २—चौदहवें अध्यायमें जीवनीय सी विषय देखिये।

३—संशमन द्रव्यका लक्षण—

'न शोधयति न द्वेष्टि समान् दोषांस्तथोद्धतान्।
समीकरोति विषमाञ्छमनं तद्यथाऽमृता॥ —शा॰ प्र॰ ४

× × यद् द्रव्य न वामयति न विरेचयति किन्तु व्याधिना सह एकीभूय तत्स्थमेव व्याधिमुपशमयति तत् संशमनमिति भावः। × ×। केचित्तु 'न शोधयति यद्दोषान् स मान्नोदीरयत्यपि। समीकरोति च क्रुद्धांस्तद् संशमनमुच्यते॥' इति पठन्ति। अत्रापि स एवाभिप्रायः। —आढमल्ल

जो द्रव्य कुपित दोषोंका वमन-विरेचनादि द्वारा शोधन नहीं करता, किन्तु वे जहाँ स्थित हों वहीं उनके साथ मिल (अम्ल और क्षारकी परस्पर क्रियाके सदृश) उन्हें दवा देता है, तथा सम दोषों पर कोई विशेष क्रिया नहीं करता उसे संशमन कहते हैं—यथा गिलोय।

संशमन द्रव्योंके दो भेद—तदपि (संशमनं) द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं च। तत्र बाह्यमालेपपरिषेकावगाहाभ्यङ्गशिरोबस्तिकवलग्रहगण्डूषादिकम्, आभ्यन्तरं तु पाचनलेखनबृंहणरसायनवाजीकरणविषप्रशमनादिकम्। सु॰ सू॰ १।२७ पर डल्हन। संशमन द्रव्य दो प्रकारके हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्यका उपयोग लेप, धारा, अवगाह (द्रोणी-टब—आदिमें रुग्ण अवयवको रखना), अभ्यङ्ग, शिरोबस्ति, कवल, गण्डूष आदिके रूपमें होता है। पाचन, लेखन, बृंहण, रसायन, वाजीकरण,

× × प्रभृतिग्रहणादनुक्तमपि मधुरतिक्तकषायं द्रव्यं ग्राह्यम्। समासग्रहणेन त्वन्नपानादौ पित्तहरत्वेन यदन्यदप्यभ्युदितं खभूमिजलानिलभूयिष्ठं तदपि पित्तशमनं ग्राह्यम् ॥ —डल्हन

श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, काला बाला, खस, मजीठ, क्षीरकाकोली, विदारी, शतावरी, गुन्द्रा, (तृणविशेष—गुजरातीमें घावाजरी), शैवाल (काई), कह्लार (रक्तकमल), कुमुद (श्वेतकमल), उत्पल (नीलकमल), कन्दली (पाठान्तरमें—केला), दूर्वा, मूर्वा इत्यादि, काकोल्यादिगण[1] (काकोली[2], क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गिलोय, काकड़ासींगी, वंशलोचन, पद्मकाष्ठ, प्रपौण्डरीक—एक नेत्रोपयोगी द्रव्य, ऋद्धि, वृद्धि, द्राक्षा, जीवन्ती, मधुयष्टी—मुलेठी), सारिवादिगण (अनन्तमूल, मुलेठी, श्वेतचन्दन, रक्तचन्दन, कमलका फूल, गंभारीके फूल, महुआके फूल, खस), अञ्जनादिगण (सौवीराञ्जन—काला सुरमा, रसाञ्जन—रसौत, नागकेशर, प्रियंगु—गुजरातीमें गहुँला, नीलकमल—नीलोफर, जटामाँसी या खस, पद्मकेशर, मुलेठी), उत्पलादिगण (नीलकमल, रक्तकमल, श्वेतकमल, सौगन्धिक—सुगन्धि नीलकमलविशेष, कुवलय, पुण्डरीक, मुलेठी), न्यग्रोधादिगण (वड़, गूलर, पीपल, पाकर, मुलेठी, आमड़ा, अर्जुन, आम, कोशाम्र, लाक्षावृक्ष, बड़ी और छोटी जामुन, पियाल—चिरौंजीका वृक्ष, महुआ, कटुकी, बेंत, कदम, वेर, तेंदु, सल्लकी—सालभेद, लोध्र, सावर लोध्र, भिलावा, ढाक, पारसपीपल) तृणपञ्चमूल (कुश, काँस, नरसल, दर्भ, गन्ना—इनके मूल)—ये द्रव्य संक्षेपमें पित्तसंशमन हैं।

लघु तथा वृद्ध वाग्भटमें निम्न द्रव्य अधिक दिये हैं—धमासा, नीम, अडूसा, कवाँच, रत्ती, खैर, शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, मोथा, फालसा, मोचरस, परिपेलव (केवडिया मोथा), काला (नील—अमरकोष), कालीयक (कृष्णवर्ण या पीतवर्ण चन्दन), नारियल, खजूर, बला, नागबला, ओदनपाकी (नीलपुष्प सहचर), केवड़ा, इत्कट (वनजयन्ती), धाय, धव, धामनी, स्यन्दन, कदर (खदिरविशेष), ताल, शाल, सर्ज, अश्वकर्ण, तिनिश, भारंगमूल, कमलके बीज (पवड़ी), उत्पलिका, शालूक, (कमलका कन्द, अथवा कुठेरक—वनतुलसीका भेद—तुख्मे रिहाँ ?), सिंघाड़ा, कसेरु, क्रौञ्चादन (?) आदि शीतवीर्य द्रव्य, पटोलादिगण (पटोल, कटुकी, चन्दन, मधुस्रव—मूर्वा, गिलोय, पाठा) दाहहर महाकषाय (पद्मकाष्ठ, लाज—खील, खस, मुलेठी, कमल, अनन्तमूल, मिसरी, बाला गंभारी का फल, चन्दन)[3]।

मूल सुश्रुतसंहितामें आए 'इत्यादि' शब्दसे अन्य भी अनुक्त मधुर-तिक्त-कषाय द्रव्योंका तथा 'समासेन (संक्षेपमें)' शब्दसे अन्नपानादि प्रकरणमें उपदिष्ट आकाश, भूमि, जल और वायुकी अधिकतावाले द्रव्योंका ग्रहण है (डल्हन)।

इस सूचीमें गुलाबके फूल ईसबगुल आदि बढ़ाये जा सकते हैं। एवं, इसमें मुक्ता, प्रवाल, जहरमोहरा आदि जङ्गम या खनिज द्रव्योंका भी परिगणन करना उचित है।

विषप्रशमन आदि आभ्यन्तर संशमन हैं। सू० ११।५५ में चरकने बाह्य तथा आभ्यन्तरके लिए बहिःपरिमार्जन और अन्तःपरिमार्जन शब्द रखे हैं।

१—काकोल्यादि प्रभृति गण क्रमशः सु० सू० ३८।३५।३६, ३९-४०, ४१-४२, ५२-५३, ४८-४९, ७५-७७ में देखिये। गणोक्त द्रव्योंके निर्देशमें कहीं-कहीं पुनरुक्ति होते हुए भी गणोंको अखण्डित रखनेके विचारसे दुबारा आये द्रव्य छोड़े नहीं गये हैं।

२—यूनानीमें शकाकुल मिसरी। यूनानी वैद्यकके ग्रन्थोंमें लिखा है कि शकाकुल मिसरीको आयुर्वेदमें काकोली कहते हैं। आयुर्वेदमें यह 'अष्टवर्ग' नामके आठ संदिग्ध द्रव्योंमें एक है।

३—देखिये अ० हृ० सू० १५।६ तथा अ० सं० १४।

छत्तीसवाँ अध्याय

अथातः प्राकृतकफविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

वात-पित्त-कफ वायु-सूर्य-चन्द्ररूप हैं—

सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ॥ च० सू० १२।१२

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा ।
धारयन्ति जगद् देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥ सु० सू० २१।८

विसर्गः सर्जनं 'बलस्य' इति शेषः ; आदानं ग्रहणं 'बलस्य' इति शेषः ; विक्षेपः शीतोष्णादीनां विविधप्रकारेण प्रेरणम् ॥ —डल्हन

तत्र वायोरात्मैवात्मा, पित्तमाग्नेयं, श्लेष्मा सौम्य इति ॥ सु० सू० ४२।५

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वीं विवस्वान् शोषयत्यपि ।
तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः ॥ सु० सू० ६।८

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥ च० चि० ३।३८

चन्द्र, सूर्य तथा वायु निज-निज कर्मोंसे अखिल ब्रह्माण्डको धारण किये हैं। चन्द्रका कार्य प्राणियों तथा वनस्पतियोंमें आर्द्रता, पुष्टि और बल उत्पन्न करना है ; सूर्य उनके सौम्य अंशका शोषण कर उनका पाक करता है। चन्द्र और सूर्यकी ये क्रियाएँ क्रमसे विसर्ग और आदान कहाती हैं। वायु दोनोंकी क्रियाओंमें सहायक (योगवाही) होता है। उनके प्रभावसे उत्पन्न शीत-उष्ण आदिको प्राणिजगत्‌में प्रसृत कर देता है[1]।

शरीरमें कफ, पित्त और वात क्रमशः चन्द्र, सूर्य (वा अग्नि) और वायुके प्रतिरूप हैं। इनमें पित्तका कर्म गत अध्यायोंमें देख आये हैं। प्रकृतिभूत और विकृत श्लेष्माका कर्म इन अध्यायोंमें देखेंगे।

विश्वमें चन्द्रका कार्य—

विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रवान्ति ; सोमश्चाव्याहतबलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत, अतो विसर्गः सौम्यः ॥ च० सू० ६।५

विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः ॥ च० सू० ६।४ पर चक्रपाणि

तयोः (अयनयोः) दक्षिणं वर्षाशरद्धेमन्ताः ; तेषु भगवानाप्यायते सोमः, अम्ललवणमधुराश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमभिवर्धते ॥ सु० सू० ६।७

१—विश्वमें चन्द्र सूर्यकी क्रियाएँ विस्तारसे च० सू० ६ और सु० सू० ६ में तथा वायुकी क्रियाएँ च० सू० १२ में देखिये।

विश्वमें चन्द्रका कर्म अपनी शीतल रश्मियों द्वारा प्राणियों तथा वनस्पतियोंमें आप्य (जलीय) अंश तथा बलकी उत्पत्ति और अभिवृद्धि करना है। चन्द्रका यह प्रभाव वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओं अर्थात् दक्षिणायन कालमें सविशेष प्रकट होता है। इस कालमें अम्ल, लवण और मधुर रस पुष्ट होते हैं[1]।

सूर्य और चन्द्रके कर्मोंमें भेदका कारण—

सूर्यमें तीन प्रकारकी किरणें होती हैं : १—जो केवल प्रकाशकी हेतु हैं ; २—जिनसे केवल उष्णता होती है ; तथा ३—जो सृष्टिमें रासायनिक परिवर्तनकी हेतु हैं[2]। सूर्य और चन्द्रकी किरणें क्रमशः उष्ण और शीत देखकर अनुमान किया जा सकता है कि : सूर्यकी सब किरणें चन्द्रपर पड़ती हैं, परन्तु उष्णता-जनक किरणें वहीं गृहीत हो जाती हैं—प्रति क्षिप्त नहीं होने पातीं। प्रकाशकी किरणोंका यत्किंचित् प्रतिक्षेप होता है। केवल तीसरी—अल्ट्रा-वायोलेट किरणें प्रतिक्षिप्त होती हैं, जो सृष्टिमें पुष्टि और बल-वृद्धि करती हैं। उष्ण किरणोंके प्रतिक्षिप्त न होनेसे सृष्टिके स्नेहांशका शोषण नहीं हो पाता। सूर्य और चन्द्रकी क्रियामें इसी कारण भेद होता है।

चन्द्ररूप कफका शरीरमें कार्य—

सोम एवं शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति ; तद्यथा दार्ढ्यं शैथिल्यमुपचयं कार्श्यमुत्साहमालस्यं वृषतां क्लीबतां ज्ञानमज्ञानं बुद्धिं मोहमेवमादीनि चापराणि द्वंद्वानीति ॥. च० सू० १२।१२

श्लेष्मा सौम्य इति सोमादुत्पद्यत इत्यर्थः ॥ सु० सू० ४२।५ पर डल्हन

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम् ।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम् ॥ च० सू० १८।५१

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यंबलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥ सु० शा० ७।११

सन्धिसंश्लेषणस्नेहनरोपणपूरणबलस्थैर्यकृच्छ्लेष्मा पञ्चधा प्रविभक्त उदककर्मणाऽनुग्रहं करोति ॥ सु० सू० १५।४

पूरणबृंहणतर्पणबलस्थैर्यकृत् ॥ —चक्रपाणि-संमतपाठ

१—आधुनिक उद्भिज्जशास्त्र (Botany—बॉटेनी) की सहायतासे मालूम करना चाहिये कि इन ऋतुओंमें धातुपाकमें कोई विशेषता होती है वा नहीं, तथा मधुर रस (शर्कराएँ), लवण तथा अम्लद्रव्यों (acids—एसिड्स) की उत्पत्ति तत्तत् ऋतुमें न्यूनाधिक होती है या नहीं ?

२—इन्हें अंग्रेजीमें क्रमशः लाइट-रेज़ (Light-rays), हीट-रेज़ (Heat-rays) तथा एक्टिनिक रेज़ (Actinic rays) भी कहते हैं। जाम्बव आदि सात किरणें भी प्रकाशकी हेतु हैं। रक्तसे इधर स्थित इन्फ्रा-रेड (Infra-red) किरणें उष्णताजनक हैं। एवं जाम्बव के परे स्थित किरणें (Ultra-violet—अल्ट्रा वायोलेट) रासायनिक परिवर्तनोंकी हेतु हैं। यह विषय विस्तारसे श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० द्वारा प्रकाशित मेरी आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान में विस्तारसे तथा इस ग्रंथमें पृ० २२४ पर संक्षेपमें देखिये।

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये स च पाप्मोपदिश्यते ॥ च० सू० १७।११७

आगे जाकर हम देखेंगे कि अम्ल, लवण और मधुर रस शरीरमें श्लेष्माकी उत्पत्ति और वृद्धि करते हैं। प्रकृतिमें इन रसोंका जनक और पोषक चन्द्र है। एवम्, परम्परया शरीरमें श्लेष्माका मूल कारण चन्द्र ही है। (अलंकार रीतिसे) यों भी कहा जाता है कि चन्द्र ही श्लेष्माके रूपमें शरीरमें रहकर, अकुपित हो तो आगे कहे शुभ अन्यथा अशुभ कर्म करता है।

शरीरका स्नेहन नाम आर्द्रता और स्निग्धता; सन्धियोंका बन्धन तथा मार्दव अङ्गोंको दृढ़ (स्थिर, अशिथिल) रखना, शरीरकी स्वाभाविक गुरुता, भराव (पूरण) और वृद्धि; तर्पण (तरावट), व्रणोंका रोहण, वीर्यवत्ता, बल[1], पुष्टि, उत्साह, क्षमा (सहिष्णुता), मानसिक स्थिरता (धृति), ज्ञान, विवेक, अलोलुपता—ये प्रकृतिस्थ कफके कर्म हैं। इनके कारण कफको स्वयं बल या ओज नाम दिया जाता है। इसकी विकृतिमें शैथिल्य, कृशता, आलस्य, नपुंसकता, अज्ञान, अविवेक आदि अशुभ परिणाम होते हैं। श्लेष्माके इन कर्मोंका समुचित (मिलित) नाम उदककर्म है।

श्लेष्माके गुण—

गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ॥ च० सू० १।६१

श्लेष्मा श्वेतो गुरुः स्निग्धः पिच्छिलः शीत एव च।
मधुरस्त्वविदग्धः स्याद् विदग्धो लवणः स्मृतः ॥ सु० सू० २१।१५

शीत एवेति चकारो मृदुस्थिरादिगुणसमुच्चयार्थः। अविदग्धः अपक्को मधुररसो भवति। विदग्धः पक्को लवण इति। अन्ये त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति—अविदग्धः प्रकृतिस्थोऽप्रदुष्टो मधुररसः श्लेष्मा भवति, विदग्धो विकृतिस्थः प्रदुष्टो लवणरसः; अथवा विदग्धान्नपाकाल्लवण इति ॥ —डल्हन

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः ॥
च० वि० ८।९६

श्लेष्मा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, स्थिर, पिच्छिल, श्वेत, प्रकृतिभूत मधुररस तथा विकृत अवस्था में लवणरस होता है। (अर्थात्—शरीरमें श्लेष्मा इन गुणोंको उत्पन्न करता है—तथा इन दोषोंके विरोधी गुणोंको समावस्थामें रखता हुआ उन्हें सम बनाये रखता है)

कफके भेद तथा उनके कार्य—

पहले कह आये हैं कि सर्वव्यापक तथा सर्वस्रोतश्चर होते हुए भी वात-पित्त-कफके कर्म प्राकृत (सम) अवस्थामें पाँच-पाँच स्थलोंपर विशेषतया लक्षित होते हैं (देखिये तैंतीसवें अध्यायमें 'दोषोंके स्थान' विषय)। वातत्व (मुख्यतः ज्ञान-क्रियासम्पादकत्व), पित्तत्व (मुख्यतः पाक ऊष्मा सम्पादकत्व) तथा कफत्व (मुख्यतः बल श्लेषण सम्पादकत्व) की दृष्टिसे प्रत्येक दोषके एक-एक होते हुए भी इस स्थलभेदके कारण तथा वर्णनके सौकर्य (सुविधा) को ध्यानमें रखकर प्राकृत अवस्थामें दोषोंके पाँच-पाँच भेद, स्थल तथा उस-उस स्थलपर विशेष कर्म बताये जाते हैं[2]। इनमें कफके शास्त्रकारोक्त पाँच भेद तथा उनके कर्म निम्नोक्त हैं।—

१—बल=मानसिक या शारीरिक श्रम करनेकी शक्ति तथा रोगोंका आक्रमण रोकनेकी शक्ति।

२—वात, पित्त और कफ केवल पाँच-पाँच ही नहीं हैं—इस विवरणसे स्पष्ट है कि

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः।
मधुराद्यात्[१] कफो भावात् फेनभूत उदीर्यते॥ च० चि० १५।९

अत ऊर्ध्वं श्लेष्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः। तत्र, आमाशयः पित्ताशयस्योपरिष्टात् तत्प्रत्यनीकत्वादूर्ध्वगतित्वात् तेजसः चन्द्र इवादित्यस्य, चतुर्विधस्याहारस्याधारः; स च तत्रौदकैर्गुणैराहारः प्रक्लिन्नो भिन्नसंघातः सुखजरो भवति॥

माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच्च प्रक्लेदित्वात् तथैव च।
आमाशये संभवति श्लेष्मा मधुरशीतलः॥

स तत्रस्थ एव स्वशक्त्या शेषाणां श्लेष्मस्थानानां शरीरस्य चोदककर्मणाऽनुग्रहं करोति; उरःस्थस्त्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति; जिह्वामूलस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते; शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वादिन्द्रियाणामात्मवीर्येणाऽनुग्रहं करोति; संधिस्थः श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषाद् सर्वसंध्यनुग्रहं करोति॥

सु० सू० २१।१२।१४

माधुर्यादित्यादि। माधुर्यात् पिच्छिलत्वाच प्रक्लेदित्वात्तथैव चेति 'आहारस्य' इति शेषः। चकारद्वयेन द्रवस्नेहादयो गुणा अनुक्ता अपि समुचीयन्ते। सम्भवतीति प्रकुप्यति, न पुनरभूतप्रादुर्भावेन, कफस्यरसधातुत एवोत्पन्नत्वात्। × × × त्रिकं शिरोबाहुहृदयसन्धानस्थानम्। × × हृदयावलम्बनं हृदयस्य स्वकार्यसामर्थ्यम्। × × × स्नेहो मस्तकमज्जा, तस्य सन्तर्पणं, तत्राधिकृतत्वात्। इन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम्। अनुग्रहं करोति स्वकार्यसामर्थ्यं जनयति॥ —डह्लन

(तत्र समासेन) आमाशयः श्लेष्मणः (स्थानम्)॥ सु० सू० २१।६

अतः परं पञ्चधा विभज्यन्ते—। श्लेष्मण उरः शिरः कण्ठो जिह्वामूलं सन्धयः इति, पूर्वोक्तं च; एतानि खलु दोषाणां स्थानान्यव्यापन्नानाम्॥ सु० सू० २१।७

वातादिके केवल पाँच-पाँच ही भेद नहीं हैं। ये पाँच भेद तो उनकी प्राकृत क्रिया अमुक-अमुक स्थलोंपर विशेषतः दीख पड़नेसे किए गए हैं तथा वर्णन को सुकरताके लिए एक-एक स्थलपर विशिष्टकरनेवाले वात, पित्त और कफको एक-एक विशिष्ट नाम दिया गया है। वास्तवमें तो वात-पित्त-कफका स्वरूप स्पष्टतः समझनेके लिए इतनी बातें ध्यानमें रखना परमावश्यक है कि—(१) वात-पित्त, कफ प्राकृत तथा विकृत दशामें समान-समान गुणकर्मवाले तथा समान-समान आहारौषधद्रव्यों विहार, देश तथा कालसे क्षय, शान्ति और प्रकोपको प्राप्त होनेवाले अनेक-अनेक द्रव्योंके वर्गोंका नाम है। तथापि—(२) उपर्युक्त वातत्व, पित्तत्व और कफत्व रूप सामान्य (सादृश) के कारण अनेक--संख्यात्मक भी उन वातों, पित्तों और कफोंका वात, पित्त और कफ इस एक-एक ही संज्ञासे निर्देश होता है। (३) इस प्रकार एक-एक भी वात-पित्त-कफके दृष्टिभेदसे अनेक स्थान और नाम होते हैं। यह स्पष्टीकरण सामने रखा जाय तो जहाँ वात-पित्त-कफके सम्बन्धमें प्राचीनोक्त सिद्धांतोंका समझना सुगम होगा, वहाँ आधुनिक विज्ञानकी संज्ञा-परिभाषामें उनका अनुवाद (Interpretation) भी सरल हो सकेगा।

१—आद्य शब्दसे आगे धृत 'सु० सू० २१-१३' में कहे पिच्छिल, प्रक्लेदी तथा डह्लनोक्त द्रव्य, स्नेह आदिका तथा कफप्रकोपक मधुर, अम्ल, लवण आदिका ग्रहण है।

उरः शिरो ग्रीवा पर्वाण्यामाशयो मेदश्च श्लेष्मस्थानानि, तत्राप्युरो विशेषेण श्लेष्मस्थानम्[1] ॥ च० सू० २०।८

उरःकण्ठशिरःक्लोम पर्वाण्यामाशयो रसः ।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ अ० हृ० सू० १२।३

मेदः शिर उरो ग्रीवा सन्धिर्बाहुः कफाश्रयः ।
हृदयं तु विशेषेण श्लेष्मणः स्थानमुच्यते ॥ का० सू० २७।११

उरःस्थः स त्रिकस्य स्ववीर्यतः ।
हृदयस्यान्नवीर्याच्च तत्स्थ एवाम्बुकर्मणा ॥
कफधाम्नां च शेषाणां यत्करोत्यवलम्बनम् ।
अतोऽवलम्बकः श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः ।
क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनाद्, रसबोधनात् ।
बोधको रसनास्थायी, शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात् ॥
तर्पकः, सन्धिसंश्लेषाच्छ्लेषकः सन्धिषु स्थितः ॥
अ० हृ० सू० १२।१५-१८

केचित्तु बाहुग्रीवास्थित्रयसङ्घातं त्रिकमाहुः । तदसत् । त्रिकशब्दस्य पृष्ठवंशाधर एव रूढत्वात्[2] । रूढिस्तु योगाद् बलीयसी । आसन्नत्वं चाप्रयोजकम्, दवीयसामपि कफधाम्नामवलम्बनोक्तेः ॥ —हेमाद्रि

चतुर्थी श्लेष्मधरा सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते ।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥
सु० शा० ४।१४-१५

तद्धि (वमनम्) आदित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति ॥ च० सू० २०।१९[3]

आमाशयमनुप्रविश्येति वचनेन श्लेष्मस्थानेष्वामाशयस्य प्राधान्यं, पूर्वं तु 'तत्रापि उरो विशेषेण । च० सू० २०।८' इति वचनेनोरः प्रधानम् ; एवमुभयमपि तुल्यं ज्ञेयम् ॥ —चक्रपाणि

यः श्लेष्मजनकोंऽश आहारगतः स स्थानमहिम्ना तदाहारस्य मधुरतामापाद्य श्लेष्माणं विशेषेण जनयति ॥ च० चि० १५—९—११ पर चक्रपाणि

१—जैसा कि २३ वें अध्यायमें 'दोषोंके स्थान' प्रकरणमें कह आये हैं, यह स्थान-निर्देश कफविकारोंके सामान्य स्थलोंका है ।

२—'त्रिकं पृष्ठाधरे त्रये' 'पृष्ठवंशाधरे मेदिनी, विश्वप्रकाश तथा अमर ।

३—इस सूत्रमें वस्तुतः वमनकी सर्वोत्तम श्लेष्महरताका प्रतिपादन है । इसकी व्याख्या अगले अध्यायमें होगी । हमने, आमाशय विकृत श्लेष्माका प्रमुख स्थान है, इस बातके प्रमाणके रूपमें इसे यहाँ उद्धृत किया है ।

क्लेदक कफ—

आमाशयमें जो कफ होता है उसे क्लेदक कफ कहते हैं। यह खाये गये अन्नका क्लेदन (आर्द्रीकरण) करता है, अतः इसका यह नाम है। प्रथम अवस्थापाकके मधुर होनेके कारण, अन्न षड्रस हो तो भी आमाशयमें उसका रस (प्रधानतया) मधुर होता है[१]। इस मधुर पाकके कारण भोजनके प्रारम्भमें—भोजन खानेके १॥, २ घण्टे बाद तक—आमाशयमें समान गुणवाले मधुर और शीतल कफकी वृद्धि होती है (तथा शरीरमें अन्यत्र भी कफवृद्धिके लक्षण दिखायी देते हैं)[२]। आहारमें यदि मधुर, अम्ल, लवण, पिच्छिल, क्लेदयुक्त, द्रव, स्निग्ध आदि द्रव्योंका प्रमाण अधिक हो तो स्वभावतः कफकी वृद्धि विशेष होती है। यह आमाशयमें उत्पन्न होनेवाला कफ शरीरका तथा अन्य कफाशयोंका (कफकी प्राकृत तथा विकृत क्रियाओंके विशिष्ट स्थलों—सन्धि, शिर आदिका) पूर्वोक्त स्नेहन, पोषण आदि उदककर्म द्वारा अनुग्रह (सहायता) करता है।

आमाशय और उरःस्थल श्लेष्माके प्रधान स्थान हैं। परन्तु, इनकी यह प्रधानता इनके विकृत श्लेष्माके मूलाश्रय होनेके कारण विशेषतया है। अतएव जैसा कि अगले अध्यायमें देखेंगे, वमन प्रभृति उपचारोंसे यदि इन स्थलोंपर विजयलाभ कर लिया जाय तो शरीरमें अन्यत्र भी स्थित श्लेष्माका स्वयं विनिपात हो जाता है।

ऊपर धृत सु० सू० २१।१३ में आये 'सम्भवति' का अर्थ डल्हनने 'प्रकुप्यति' दिया है। इससे भी प्रकुपित-विकृत-श्लेष्माका आश्रय होनेसे ही आमाशयका श्लेष्माका प्रधान आश्रय स्थान होना सिद्ध है।

अन्य स्थानोंकी कलाके समान आमाशयकी अन्तःकलासे भी श्लेष्माका स्राव होता है। इस श्लेष्माका नाम 'क्लेदक' है। तद्यपि 'तद् द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम्। च० चि० १५।६' इत्यादि प्रमाणोंसे अन्नपानके द्रवत्व, स्नेहत्व आदि गुणोंसे ही मुख्यतः अन्नका क्लेदन होता है, परन्तु आमाशयस्थ श्लेष्माके भी यत्किञ्चित् क्लेदक होनेके कारण इसे यह विशिष्ट संज्ञा दी गयी है।

प्रथम अध्यायमें (पृ० ६२-६३ पर) कह आये हैं कि मलसंज्ञक कफ, स्वेदादि भी जब समावस्थामें रहकर कला वा त्वचाका उपलेपनमात्र करते हैं, तब वे भी प्रसादसंज्ञक ही होते हैं। इसके विपरीत जब ये प्रकुपित हो प्रभूत मात्रामें निकलते और शरीरकी जीवनी क्रियाओंमें बाधा पहुँचाते हैं, तब इनकी मलसंज्ञा होती है[३]। इसके अनुसार क्लेदक कफ भी सम प्रमाणमें रहता हुआ जब तक आमाशयकी अन्तःकलाका उपलेपन, उपलेपन-द्वारा पित्तकी पाक-क्रिया (शोथ और व्रण भाव) से उसकी रक्षा[४], मार्दव और अन्नका क्लेदनमात्र करता है, तब तक वह प्रसादभूत वा

१—प्राचीन तथा नव्यमतानुसार मधुर अवस्थापाककी यह प्रक्रिया पचन-संबन्धी अध्यायोंमें देखिये।

२—यथा-भोजनके अनन्तर तन्द्रा, निद्रा आदि लक्षण होते हैं; आयुर्वेदमतसे इनका कारण शिरमें कफकी उक्त प्रकारसे हुई वृद्धि है। आधुनिक मतसे इनका कारण पचनकी क्रियाके सम्पादनके लिये रक्तका मस्तिष्क (तथा अन्य अङ्गों) से खिंच कर कोष्ठमें आना है, जिससे अन्य अङ्गोंमें विशेषतः मस्तिष्कमें पर्याप्त मात्रामें रक्त न रहनेसे तन्द्रा आदि लक्षण होते हैं।

३—देखिये वहाँ धृत च० शा० ६।१७ पर चक्रपाणि का वचन—'ये तु स्रोतउपलेपमात्रकारकास्ते गुणकर्तृतया न मलाख्याः।'

४—देखिये पृ० ३५१। क्लेदक कफका अधिक विचार भी इसी पृष्ठ पर देखिये।

प्राकृत है। अधिक होनेपर यही मलभूत होकर शरीरमें गौरव, मन्दाग्नि, हृल्लास, प्रतिश्याय आदि विकारोंको जन्म देता है। उस काल उससे आवृत होनेके कारण आमाशय (मुख, आमाशय तथा पच्यमानाशय) से पाचक रसोंका स्राव मात्रा और गुणकी दृष्टिसे पर्याप्त नहीं होता, अतः अन्नका परिपाक उत्तम न होनेसे उक्त विकार उत्पन्न होते हैं।

आमाशयमें क्लेदक कफ सम प्रमाणमें हो तो पचनकी क्रिया सुसम्पन्न होती है। परिणाममें, सम्यक् पक्व रस यथोक्त क्रमसे शरीरमें पहुँच अन्य श्लेष्माओं तथा शरीरको पुष्टि प्रदान करता है। इस प्रकार उनके पोषण (उदककर्म) में क्लेदक कफ कारणभूत है।

क्लेदक कफका प्रकोप होनेसे अरुचि, मन्दाग्नि आदिके कारण पर्याप्त आहार न लिया जाय और लिये गये आहारका सम्यक् पाक न हो तो धातुओंको पोषक रसधातु पर्याप्त मात्रामें प्राप्त नहीं होता। फलस्वरूप, धात्वग्नियोंकी क्रियासे धातु कृश तो होते रहते हैं, परन्तु उनकी पूर्ति नहीं होती। इस प्रकार समावस्थामें स्थित क्लेदक कफ धातुओंकी पुष्टि कर उनका अग्नि—पित्त—से संरक्षण करता है। इसीको आयुर्वेदमें अलङ्काररीतिसे कहा है—

जिस प्रकार सूर्यके शोषणसे पिण्ड और ब्रह्माण्डके रक्षणके लिये उसके ऊपर चन्द्रको रखा गया है[1], वैसे ही अग्नि (पित्त) के लिये वा उससे संभावित शोषणसे शरीके संरक्षणके लिये आमाशयकी स्थापना की गयी है।

मुखपाक[2], आमाशयपाक[3], आमाशयव्रण[4], अथवा अन्य स्थलोंपर ऐसे ही शोथ वैद्यकमतसे उस स्थलपर पित्तकी अधिकताके कारण किंवा कफकी क्षीणताके कारण हुई पित्तकी अधिक क्रियासे होते हैं।

क्लेदक कफसे शरीर और कफाशयोंके पोषणकी उल्लिखित व्याख्या नव्यमतसे यथाकथंचित् की गयी है। वैसे आयुर्वेदका मत ऐसा प्रतीत होता है कि आमाशय (एवं उरःस्थल) में कफके वृद्धिगत होनेसे या तो साक्षात् कफका आचूषण होनेसे अन्य अवयवोंमें कफकी वृद्धि और पुष्टि होती है, या आमाशय (एवं उरःस्थल) में कफकी वृद्धिका प्रभाव प्रतिसंक्रमित क्रिया द्वारा अन्य अवयवों और कफाशयोंपर पड़ता है। कदाचित् प्राकृत अवस्थामें भी इन स्थलोंको केन्द्र मानकर चक्रवत् भ्रमण करता हुआ कफ अन्य अवयवोंका पोषण करता है।

अवलम्बक कफ—

कफका द्वितीय भेद अवलम्बक कफ है। यह उरस् (छाती) में रहता है। अन्य स्थानोंकी अपेक्षया उरस् कफका विशेष करके स्थान है। यहाँ रहकर अवलम्बक कफ अन्नरस (रसधातु) के साथ मिलकर अपने वीर्यके द्वारा त्रिक (पृष्ठवंशका अधोभाग या ग्रीवा और बाहुओंकी अस्थियोंका समुदाय), हृदय (हृदय और फुप्फुस) तथा अन्य स्थानोंपर स्थित कफका अवलम्बन करता है—उन्हें अपना कर्म करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है, अतः इसका उक्त नाम है।

आधुनिक विज्ञानके शब्दोंमें अवलम्बक कफका अनुवाद करना हो तो तीन चार द्रव्य विचार-कोटिमें आते हैं।—

१—यहां ऊपरका आशय 'ऊर्ध्वस्थान' नहीं है, क्योंकि चन्द्रकी ऊर्ध्वस्थिति प्रत्यक्ष विरुद्ध है। किन्तु, जैसे कोई नियामक अपने अधीनस्थोंको नियममें रखता हुआ उनके ऊपर स्थित (अधि-ष्ठित; अध्यक्ष) कहा जाता है, वैसे ही सूर्यके ऊपर चन्द्र है।

२—Stomatitis—स्टॉमेटाइटिस। ३—Gastritis—गैस्ट्राइटिस।

४—Gastric ulcer—गैस्ट्रिक अल्सर।

(१) फुप्फुसों और हृदयकी आवरणी कलाओं द्वारा स्रुत द्रव। ये द्रव्य सम तथा अविकृत अवस्थामें रहकर हृदय और फुप्फुसों द्वारा शरीरके अनुग्रहके लिये की जानेवाली जीवनी क्रियाओंमें सहायक होते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। इनकी सहायतासे हृदय और फुप्फुस जिस ओषजनको शरीरके प्रत्येक कोषमें पहुंचाते हैं, वह रसके साथ मिलकर उन्हें अपने कार्यका सामर्थ्य प्रदान करता है, यह भी सत्य है।

(२) श्वासमार्ग तथा प्राणवह स्रोतों[1] की कलासे स्रुत कफ। यह समावस्थामें रहे तो शरीरको ओषजन पर्याप्त मात्रामें मिलता है, एवं पूर्वोक्त प्रकारसे रसके साथ मिलकर शरीरका उपकार होता है। वैद्यकमतसे यही कफ प्रायः कुपित होकर कास, श्वास, श्वसनक ज्वर आदि रोग उत्पन्न करता है।

पहले कह आये हैं कि दोषोंके पाँच-पाँच भेद अमुक-अमुक स्थलोंपर दोषोंके प्राकृत कर्म[2] विशेषतया देखे जानेसे किये गये हैं; तथा एक-एक विशेष स्थल उस-उस स्थलपर दोषोंके संचय और मूलोच्छेद्यताको लक्ष्यमें रखकर किया गया है। यह वस्तुस्थिति देखते हुए प्रथमोक्त आवरणी कलाओं से स्रुत कफकी[3] क्रिया प्रधानतया प्राकृत अवस्थामें लक्षित होनेसे वह अवलम्बक कफ प्रतीत होता है। शेष, श्वासमार्ग तथा प्राणवह स्रोतोंसे स्रुत कफका कार्य विकृत[4] अवस्थामें ही विशेषतया लक्षित होनेसे तथा कफके स्थानोंमें 'एक' स्थानके रूपमें उरःस्थलका निर्देश किया होनेसे यह कफ कदाचित् आयुर्वेदका अवलम्बक कफ नहीं है।

(३) चुल्लिका, परिचुल्लिका तथा थायमस ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव। धातुओं द्वारा रसके उपयोगकी क्रियाकी दर चुल्लिका ग्रन्थिके स्राव (उसके वीर्य?) पर अवलम्बित है। एवं चुल्लिका और थायमस ग्रन्थियोंका कार्य शरीरकी वृद्धि और मानसका विकास करना है। परिचुल्लिका ग्रन्थियाँ अस्थिका पोषण करती हैं। इनके स्रावकी अतिमात्राके लक्षण—अवसाद, तन्द्रा आदि—वही हैं जो आयुर्वेदोक्त कफवृद्धिके; एवं न्यूनताके लक्षण—कम्प, वेष्टन आदि—कफके क्षय और वातकी वृद्धिसे साम्य रखते हैं। ये तथ्य इन स्रावोंके अवलम्बक कफ होनेका संकेत करते हैं।

(४) एसिटिल कोलीन। स्वतन्त्र (जीवनयोनि) नाडीसंस्थानके दो भेद हैं—मध्य स्वतन्त्र या आग्नेय तथा परिस्वतन्त्र या सौम्य। इनमें मध्य स्वतन्त्रके नाडीसूत्रोंको उत्तेजित करनेसे एड्रीनलीनका स्राव होता है तथा परिस्वतन्त्रकी उत्तेजनासे एसिटिल कोलीनका। सामान्यतया भी जब दोनों प्रकारके सूत्रोंमें वेगका वहन होता है तो उनके अन्तिम प्रान्तोंमें इन रसोंका स्रवण होता है। इनमें एड्रीनलीनके कर्म हम विस्तारसे देख चुके हैं। यह भी संभावना हम प्रकट कर चुके हैं कि यह एड्रीनलीन ही आयुर्वेदका साधक पित्त हो सकता है। परिस्वतन्त्र नाडीमण्डल एवं उसके स्राव एसिटिलकोलीनकी क्रिया मध्यस्वतन्त्र नाडीमण्डल और एड्रीनलीनकी विरोधिनी होती है। संक्षेपमें—(अ) ये हृदयकी गतिको शान्त करते हैं, जिससे स्वयं हृदयके कोषोंका अपचय न्यून होकर अपचय (पोषण) होता है तथा उसके द्वारा शरीरावयवोंको भी उत्तम प्रकारसे रस-रक्त और ओषजन मिलता है। (आ) पचनसंस्थानके समस्त अवयवों—आमाशय उनके ओष्ठ, अन्त्याशय आदिको उत्तेजित करता है, जिससे पचनकी क्रिया सुस्थित होती है। वैद्यकमें जो कहा है कि यह

१—सु० शा० ९।१२, च० वि० ५।५।६ आदि स्थलोंपर आया 'प्राणवह स्रोत' शब्द इन्हीं वायुकोषोंका वाचक है।

२—Physiological Functions—फिज़िओलाजिकल फंक्शन्स।

३—ध्यान रहे कफका अर्थ सर्वदा Mucus—म्यूकस ही नहीं होता।

४—Pathological—पैथोलाजिकल।

कफ रसधातुके साथ मिलकर हृदय तथा अन्य अवयवोंको अवलम्बन देता है, वह एसिटिल कोलीन पर पूर्णतया घटित है। एड्रीनलीनको साधकपित्त मानें तो उसके विरोधी एसिटिल कोलीनको कफ (अवलम्बक कफ) मानना योग्य ही है। डह्लन ने कहा भी है कि साधक पित्त हृदयस्थ कफका निवारण करता है। वायुके विषयमें कहा गया है कि वह योगवाह है—कफ तथा पित्तसे प्रभावित होता तथा उनके कर्मोंको ग्रहण करता है। यह सिद्धान्त नाडीसंस्थानके एड्रीनलीन तथा एसिटिल कोलीन नामक रसोंसे प्रभावित होनेकी ओर स्पष्ट संकेत करता है। इस कारणसे भी एसिटिल कोलीनको कफ मानना उपयुक्त है।

अवलम्बक कफके चारों ही सूचित अनुवादोंमें 'त्रिकके अवलम्बन' की व्याख्या करना कठिन है। यहां यह ध्यान रहे कि प्राचीन टीकाकारोंमें त्रिकके अर्थके सम्बन्धमें ऐकमत्य नहीं है।

बोधक कफ—

यह जिह्वाके मूलमें रहता है। इसके द्वारा जिह्वा रसोंका ठीक-ठीक ज्ञान (बोध) प्राप्त करती है। रसके बोधमें सहायक होनेसे इसका नाम बोधक है।

लालारस ही बोधक कफ है। यह अधिकांश पदार्थोंको अपने अन्दर घोल लेता है; विलीन (घुली हुई) अवस्थामें ही पदार्थोंका रस ज्ञात होता है[१]। लालग्रन्थियाँ यद्यपि मुखकी दीवारमें विभिन्न स्थानोंपर स्थित होती हैं, तथा उनसे स्रुत लालारस समस्त मुखमें व्याप्त होता है, तथापि उसके कारण रसका बोध जिह्वाके मूलमें स्थित स्वादाङ्कुरोंको ही विशेष होता है; अतः कफका स्थान जो जिह्वाका मूल कहा है, सो संगत ही है। लालारस मुखको आर्द्र रखता है, जिससे वाणीकी क्रियामें भी सौकर्य होता है। लालारसके शेष कर्म आहारके परिपाकके प्रकरणमें कह आये हैं।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि लालारसमें 'टायलीन' नामक जो पित्तविशेष होता है, उससे भिन्न अंश जिसमें जल तथा कफ[२] नामसे प्रसिद्ध पिच्छिल द्रव्य मिश्रित होता है वही आयुर्वेदोक्त बोधक कफ है। कफ मुखकी कलामें स्थित कफ ग्रन्थियों[३] द्वारा बनाया जाता है।

इस प्रसंगमें एक और कफका स्मरण करना चाहिये। 'द्वौ श्लेष्मभुवौ—च० शा० ७।११। —श्लेष्मभुवौ कण्ठस्य पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ—चक्रपाणि।'—यहां गलेके किनारे स्थित दो कठिन अवयव श्लेष्मभू (श्लेष्मोत्पादक) नामके बताये हैं। ये आधुनिकोंके प्राकृतावस्थामें स्थित टॉन्सिल प्रतीत होते हैं। इनका स्राव भी कफवर्गीय द्रव्य है।

तर्पक कफ—

यह शिरमें रहता है। इसका कार्य मस्तिष्कका संतर्पण अर्थात् निरन्तर पोषण द्रव्योंका प्रस्तुत करना है। इस प्रकार यह श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण इन्द्रियोंको पुष्ट कर उन्हें अपना-अपना कर्म यथावत् करनेका सामर्थ्य प्रदान करता है।

तर्पक कफ आधुनिक मतसे क्या हो सकता है—

पाश्चात्य शरीर-क्रिया-विज्ञानमें जिसे सेरिब्रोस्पाइवल फ्लुइड[४] कहा जाता है, वह आयुर्वेदका

१—It dissolves most substances, thus enabling to taste them. Human Physiology; P. 129, इस विषयका विस्तार आगे रसज्ञानप्रकरणमें देखिये।

२—Mucus—म्यूकस। ३—Mucus Glands—म्यूकस ग्लैण्ड्स।

४—Ceribro-spinal fluid· संक्षेप—C. S. F. (सी० एस० एफ)

तर्पक श्लेष्मा है। मस्तिष्क[1] के प्रत्येक गोलार्धके अन्दर एक-एक गुहा होती है। दोनों गोलार्धोंकी मध्य रेखापर एक तीसरी गुहा होती है। गोलार्धोंकी गुहाएँ मध्यवर्गी गुहामें खुलती हैं। एक चौथी गुहा होती है जो मस्तिष्कके अधोभागमें (सुषुम्णा शीर्षक[2] और उष्णीषक[3] के पृष्ठभाग पर) स्थित होती है। पूर्वोक्त तीसरी गुहा इसमें खुलती है[4]। चौथी गुहा सुषुम्णा काण्डके मध्यमें स्थित प्रणाली[5] में खुलती है।

मस्तिष्क तथा सुषुम्णाकाण्ड तीन कलाओं (वृतियों[6]) से आवृत होते हैं, ऊपर कही तृतीय गुहाका सम्बन्ध कुछ छिद्रों द्वारा सबसे अन्दरकी वृतिसे होता है। पूर्वोक्त चारों गुहाएँ, सुषुम्णा काण्डका मध्यविवर तथा अवयवों सहित मस्तिष्क और सुषुम्णा काण्डकी भीतरसे पहली और दूसरी वृतियोंका अन्तराल—इन सब परस्परसम्बद्ध अवकाशोंमें सर्वदा एक द्रव रहता है। यही द्रव उक्त सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड है[7]। इसका मुख्य कार्य हृदय आदिकी कलाओंके समान मस्तिष्कको आघात-प्रतिघातोंसे बचाना है। भौतिक नियमोंके अनुसार यह द्रव आघातोंके वेगको अपने ऊपर ले लेता है। इसका दूसरा कार्य नाडीसंस्थानको पोषक द्रव प्रदान करना—संतर्पण है[8]। इसीसे हमने इसे आयुर्वेदका तर्पक कफ कहा है। यह सर्वदा स्रुत होता तथा चूसा जाता रहता है। इसका प्रमाण कोई १५० घन सैण्टीमीटर होता है।

चरक ने कफके कर्म सामान्यतया बताते हुए जो ज्ञान, विवेक, क्षमा, धृति आदि कर्म कहे हैं वे तर्पक कफके ही हैं। नाडीसंस्थानको प्रतिकाल पोषक द्रव्य मिलते रहनेसे ही मानसिक शान्ति, विवेक आदि कर्म सम्भव हैं, अन्यथा नहीं।

यद्यपि नाडीसंस्थानका पोषण रक्त द्वारा भी होता है, पर सर्वाङ्गके पोषक होनेसे उसका स्वतन्त्र धातुके रूपमें परिगणन शास्त्रमें है हो ; स्थान और कर्मके भेदसे केवल तर्पक कफका ही शिरके तर्पणकर्त्ताके रूपमें उल्लेख हुआ है।

इस प्रसङ्गमें उस कफका भी स्मरण करना चाहिये जो नासिका, नेत्र और कर्ण (मध्यकर्ण) की श्लेष्म कलासे स्रुत होता रहता है तथा उन्हें स्निग्ध और रोगजन्तुओंसे रक्षित रखता है। यह तर्पक कफ नहीं है।

१—Cerebrum—सेरीब्रम।

२—Midulla-oblongata—मेड्युला औबलौंगेटा ; या Bulb—बल्ब।

३—Pons—पौन्ज। ४—गुहाओंको अंग्रेजीमें Ventricle—वैण्ट्रिकल कहते हैं।

५—Central canal of the spinal cord—सेण्ट्रल केनाल आफ दी स्पाइनल कौर्ड।

६—Meninges—मेनिञ्जीज़।

७—गर्दनतोड़ बुखार (Meningitis—मेनिञ्जाइटिस) में मस्तिष्क और सुषुम्णाकी इन्हीं वृतियोंमें शोथ हो जाता है, जिससे सेरिब्रोस्पाइनलफ्लुइडका स्राव अति प्रमाणमें होता है। पृष्ठवंशके अधोभागसे सूचीद्वारा कुछ रस निकाल लेनेसे निःसीम कष्ट तत्काल शान्त होता है। इस कर्मको लंबर पंक्चर (Lumbar puncture) कहते हैं।

८—Ceregrospinal fluid is said to act as a fluid buffer, to prevent jarring of the nervous system consequent on violent movements of the body, to keep a constant volume of the cranial contents, and to act as a nutrient medium for the nervous system,

Human Physiology, P. 231.

कोई विशिष्ट कार्य न होनेसे इसे विशेष नाम नहीं दिया है[1]।

श्लेषक कफ—

अस्थियोंके परस्पर जुड़े हुए (संधियुक्त) सिरे एक कलासे आवृत होते हैं। इसे श्लेष्मधराकला[2] कहते हैं। इस कलासे एक चिकना-सा स्राव होता रहता है, जिसके कारण कर्मावस्थामें अस्थियोंमें रगड़ या रुकावट नहीं होती। यह स्राव श्लेषक कफ[3] कहाता है। पहिये और धुरी में तेल लगानेका जो फल होता है, वही संधियोंमें श्लेषक कफके रहनेका होता है।

इन स्थानोंके अतिरिक्त श्लेष्मा प्रत्येक कलाके पृष्ठपर रहता है तथा उसे आर्द्र और स्वकार्यक्षम रखता है, यह कलाओंके लक्षणसे स्पष्ट है[4]। पृष्ठ १५० पर कहा अणुश्लेष्मा भी एक प्रकारका कफ है।

श्लेष्मा तथा कफ शब्दका निरुक्ति—

यश्चाश्लिष्य वपुः सदा रसयति प्रीणाति सोऽयं कफः ॥ —तोसट

श्लेष्मा शब्द आलिङ्गनार्थक 'श्लिष्' धातुसे सिद्ध होता है[5]। श्लेष्माका कार्य शरीरके अवयवोंका प्रोषण है। वह अक्षीण हो तो उसके विरोधी पित्त तथा वायुकी वृद्धि नहीं हो पाती। एवं वह समावस्थामें हो तो धातुओंकी पोपणक्रिया भी ठीक-ठीक होती है—पित्त द्वारा धातुओंका शोषण—पाक द्वारा क्षय—नहीं होता। परिणामतया, धातुओंके घटक अणुश्लेष्मा कोष द्वारा परस्पर आश्लिष्ट-संयुक्त-रहते हैं। कोषोंके मध्यमें शुषिरता (छिद्रयुक्तता) न होनेसे उनमें वायुका स्थान-संश्रय नहीं हो पाता। इसी प्रकार हृदय, फुफ्फुस, उदरगुहाके अन्तर्गत अङ्ग, मस्तिष्क, अण्डकोष, संधियों आदिमें अपनी-अपनी आवरणी तथा सामान्य कलाका श्लेष्मा यथेष्ट हो तो उनमें भी वायुका स्थानसंश्रय नहीं हो पाता। स्वयं शरीरके कोषोंमें श्लेष्मकृत पुष्टि पर्याप्त हो तो उनमें भी, परिणामतया उनसे बने शरीरावयवोंमें वायुका प्रकोप नहीं हो सकता। उक्त प्रकारसे शरीरावयवोंमें अशुषिरता, दूसरे शब्दोंमें आश्लेष (परस्पर संग—अतएव वायुके स्थान-संश्रय और प्रकोपके लिए स्थान न रह जाना) का हेतु होनेसे श्लेष्माको श्लेष्मा नाम दिया गया है। (शरीरावयवोंमें शुषिरतासे वातप्रकोपका विचार आगे वात-प्रकरणके अध्यायमें होगा।) उक्त व्याख्या आयुर्वेदमतानुसार है। स्वयं कोषोंमें या उनके मध्यमें छिद्रों (शून्यस्थानों) की उपपत्ति नव्यमतसे दुष्कर है।

१—डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि विद्वान् नेत्रगोलकके अन्दर स्थित दो प्रकारके अर्धघन द्रवोंको भी गणना तर्पक कफके अन्दर करते हैं। यह मत ध्यान देने योग्य है—विशेषतया हाल ही में प्रचलित एक शस्त्रकर्मको दृष्टिमें रखते हुए। मेदोजल (Vitrious-विट्रिअस) यदि रक्तस्रावके कारण अपारदर्शक हो जाय तो उसको निकाल कर उसके स्थान पर सेरीब्रो स्पाइनल फ्लुइड डाला जाता है। कारण दोनों द्रव्यों की रासायनिक रचना समान ही है। देखिये—Spinal fluid has much the same chemical make up as vitrious humour, though it is more fluid. vide—भारत-ज्योति—April 27, 1947.

सो यदि सेरीब्रो-स्पाइनल फ्लुइडको कफ-विशेष मानें तो मेदोजलको भी वैसा न माननेका कोई कारण नहीं।

२—Synovial membrane—साइनोविअल मेम्ब्रेन। ३—Synovia—साइनोविया।

४—कलाका लक्षण २८ वें अध्यायके अन्तमें देखिये। कलाओंद्वारा रोगजन्तुओंसे रक्षा विषय जीवनीय ए के प्रकरण में देखें।

५—प्रमाणके लिये देखिये ३४ वाँ अध्याय।

आलिङ्गनका अर्थ मेल, प्रेम, घर्षणका अभाव भी होता है। हृदय, फुप्फुस आदिकी आवरणी कलाओंसे स्रुत कफका परिणाम यह होता है कि संकोच-विकास, आघात-प्रतिघात आदिके समय इन कलाओंमें परस्पर घर्षण नहीं होता।

कफ शब्दका विग्रह यह है—केन जलेन फलति निष्पद्यते इति कफः; क नाम जल महाभूतसे इसकी उत्पत्ति और पुष्टि होती है, अतः इसे कफ कहते हैं।

श्लेष्मप्रकृति पुरुषके लक्षण—

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात् सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्यवहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः[1] शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसिंधबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मज्ञा बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९६

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलबांश्चिरग्राही दृढ़वैरश्च भवति॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलातिनीलकेशो लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान् संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढ़शास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः॥ सु० शा० ७२।७६

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो गूढस्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थिमांसः।
क्षुत्तृड्दुःखक्लेशघर्मैरतप्तो बुद्ध्या युक्तः सात्त्विकः सत्यसंधः॥
प्रियङ्गुदूर्वाशरकाण्डशस्त्रगोरोचनापद्मसुवर्णवर्णः।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा महाललाटो घननीलकेशः॥

---

[1]—सारगतयो न स्खलन्ति, अधिष्ठितगतयः सर्वेण पदेन महीमाक्रामन्ति, अवस्थितगतय इति अवस्थितत्वेन न चपला गतिर्भवति॥ —चक्रपाणि

मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः ।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥
समदद्विरदेन्द्रतुल्ययातो जलदाम्भोधिमृदङ्गसिंहघोषः ।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः ॥
तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि ।
रक्तान्तसुस्निग्धविशालदीर्घसुव्यक्तशुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥
अल्पव्याहारक्रोधपानाशनेर्ष्यः प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।
श्राद्धो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥
ऋजुर्विपश्चित् सुभगः सुलज्जो भक्तो गुरूणां स्थिरसौहृदश्च ।
स्वप्ने सपद्मान् सविहङ्गमालांस्तोयाशयान् पश्यति तोयदांश्च ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंसगजाधिपैः ।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिंहाश्वगोवृषैः ॥

अ० हृ० शा० ३।९६-१०३

श्लेष्मा स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (दृढ), सान्द्र, मन्द, स्तिमित (स्थिर), गुरु, शीत, पिच्छिल, स्वच्छ तथा सौम्य होता है। श्लेष्मप्रकृतिक पुरुष में भी स्वभावतः तादृश लक्षण पाये जाते हैं। उसके अङ्ग, स्निग्ध, श्लक्ष्ण (चिकने), मृदु, नयनानन्ददायो, सुकुमार, शुभ्र तथा सुन्दर होते हैं। प्रत्येक अवयव सुडौल, सम, घन, सारवान् तथा बलसम्पन्न, सन्धियाँ स्थिर, गूढ़ तथा सुबद्ध ; मांस प्रभूत और अस्थियाँ सम्पुष्ट होती हैं। मुखकी छवि, वर्ण तथा स्वर स्निग्ध और प्रसन्न होते हैं। नेत्र धवल, किनारोंपर ललाई लिये, स्निग्ध, विशाल ; भौंह काली और शब्द मेघ, समुद्र, मृदङ्ग या सिंहके स्वरके सदृश गम्भीर होता है। उसका वर्ण, दूर्वा, इन्दीवर, खड्ग, ताजा अरीठा, सरकण्डा, प्रियंगु, गोरोचना वा सुवर्ण इनमें किसीके समान होता है। बाहु विशाल, वक्षस्थल विपुल तथा भरावदार, ललाट विस्तृत तथा केशावली स्थिर (न झड़नेवाली), कुटिल और गहरी काली होती है। उसकी गति मदयुक्त गजराजके समान तथा चरणनिक्षेप (कदम) सम्पूर्ण, अस्खलित, तथा अचल होता है। उसकी क्षुधा तथा तृष्णा मन्द होती है ; मधुर रस उसे प्रिय होता है ; वह तिक्त कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष तथा अल्प भोजन खाता है तथापि बलवान् होता है। उसे धूप ताप तथा स्वेद कम पीड़ित करते हैं। ओज, शुक्र, मैथुन, सन्तान तथा भृत्य उसके प्रभूत होते हैं। उसकी यावत् चेष्टाएँ, आहार, व्यवहार सब मन्द होते हैं। वह सहसा क्रोध, शोक आदि मानसिक विकारोंका ग्रास नहीं होता ; प्रत्युत सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान् और परिश्रमी होता है। बचपनमें भी वह उतना रोनेवाला नहीं होता—न वैसा चपल ही होता है। वह धर्मात्मा होता है। उसके मुखसे कभी निष्ठुर वाक्य नहीं निकलते। वह सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, गम्भीर, सात्त्विक, ईर्ष्यारहित, विनीत, वृद्धोंका मान करनेवाला, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, सौम्य तथा शालीन होता है। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्यको धीरे-धीरे करनेका होता है। वह परिमित परन्तु निश्चित बोलता है। दान बहुत विचार कर करता है, पर जब करता है तो खूब उदारतापूर्वक करता है। वह बातको देरसे समझता है, पर एकबार समझी हुई बात उसकी स्मृतिसे बाहर नहीं होती। वह शास्त्रसम्पन्न, बुद्धिमान् तथा दीर्घदर्शी होता है। उसकी मित्रता भी स्थिर होती है। वह लक्ष्मीसम्पन्न होता है।

उसका धन स्थिर होता है। वह किसीसे वैर ठानता है तो वैर भी चिरकालस्थायी और दृढ़ परन्तु गुप्त रूपसे होता है। उसे निद्रा अधिक आती है। स्वप्नोंमें उसे कमल, हंस और चक्रवाकोंसे परिशोभित जलाशयों तथा जलदावलीका दर्शन होता।

संक्षेपमें श्लेष्मल पुरुष बलवान्, धनवान्, विद्वान्, ओजस्वी, शान्त तथा दीर्घायु होता है। उसकी उपमा ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड, हंस, सिंह, अश्व तथा सांडसे दी जा सकती है[1]।

१—शार्ङ्गधर ने श्लेष्मप्रकृति पुरुषके लक्षण संक्षेपमें ये कहे हैं।

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥ शा० पू० ६।२३

बैंतीसवाँ अध्याय

अथातो वैकृतश्लेष्माभिधानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

श्लेष्मविकारके लक्षण—

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—स्नेहशैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्र्यानि श्लेष्मण आत्मरूपाणि; एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेहसुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत् ॥ च० सू० २०।१८

श्लेष्मणः स्नेहकाठिन्य कण्डूशीतत्वगौरवम्।
बन्धोपलेपस्तैमित्य शोफापक्त्यतिनिद्रताः ॥
वर्णः श्वेतो रसौ स्वादुलवणौ चिरकारिता। अ० हृ० सू० १२।५३-५४

श्लेष्मासे उत्पन्न होनेवाले विकारोंका नामनिर्देश आगे करेंगे। परन्तु उन्हें उदाहरणभूत ही समझना चाहिये। श्लेष्मविकार असंख्य हैं। तथापि श्लेष्माके स्वाभाविक स्वरूप और कर्मके परिचायक असुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण, एकांग या उपलब्ध हों तो निःसन्देह श्लैष्मिक विकारका निर्णय करना चाहिये।

श्लेष्माका स्वरूप, जैसा कि गत अध्यायमें कह आये हैं, निम्न है—स्नेह, शैत्य, शुक्लता, गौरव, माधुर्य, स्थिरता, पिच्छलता, मृदुता। अतः शरीरमें श्लेष्मप्रकोपके कारण आगे कहे उदाहरणभूत अथवा इनसे भिन्न अनुक्त किंवा अन्य दोषके साथ संसृष्ट श्लेष्मविकार हों तो उनमें श्लेष्माके नीचे कहे कर्म अवश्य पाये जायेंगे। यथा—श्वेतता, शैत्य, कण्डू (खाज), स्तैमित्य (इन्द्रियोंकी अपटुता), गौरव, स्नेह (स्निग्धता), निद्रा, क्लेद (आर्द्रता), शोफ, स्रोतोंका अवरोध, माधुर्य, चिरकारिता (सुस्ती), स्थैर्य (अङ्गोंका जकड़ जाना[1]), मन्दाग्नि, मुखका रस मधुर वा लवण होना।

नानात्मज श्लेष्मविकार—

श्लेष्माविकारांश्च विंशतिमतऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः; तद्यथा—तृप्तिश्च, तन्द्रा च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च, गुरुगात्रता च, आलस्यं च, मुखमाधुर्यं च, मुखस्रावश्च, श्लेष्मोद्गिरणं च, मलस्याधिक्यं च, बलासकश्च, अपक्तिश्च, हृदयोपलेपश्च, कण्ठोपलेपश्च, धमनीप्रति (वि)चयश्च, गलगण्डश्च, अतिस्थौल्यं च, शीताग्निता च, उदर्दश्च, श्वेतावभासता च, श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्वं च—इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ॥ च० सू० २०।१७

१—स्थैर्यं गात्राणां स्तम्भः ॥ सु० सू० १५।१३ पर डल्हन।

तृप्तियेन तृप्तमिवात्मानां सर्वदा मन्यते। बलासको बलक्षयः ; किंवा श्लेष्मोद्रेकान्मन्दज्वरित्वं, स्थूलाङ्गता वा बलासकः। धमनीप्रतिचयो धमन्युपलेपः। शीताग्नितां मन्दाग्निता॥ —चक्रपाणि

नानात्मज[1] श्लैष्मिक विकार प्रसिद्ध बीस हैं और निम्न हैं—तृप्ति (खाये विना भी तृप्ति लगना),तन्द्रा (झुमती, नींदकी प्रवृत्ति[2]), निद्राकी अधिकता, इन्द्रियोंकी अपटुता, आलस्यं, शरीरका भारीपन ; मुख का रस मधुर होना, मुखस्राव (लार टपकना), कफ निकलना, मलकी अधिकता, बलासक (बलक्षय, मन्द ज्वर या अङ्गोंका स्थूल होना), अजीर्ण, हृदय और छाती पर भार-सा अनुभव होना, गलेमें श्लेष्माका लेप रहना, धमनियोंकी पुष्टि, गलगण्ड ; अति स्थूलता, मन्दाग्नि, उदर्द (छपाकी-शीतपित्त), त्वचाका वर्ण श्वेत होना, मूत्र और मलका रंग श्वेत होना। इनके अतिरिक्त असंख्यों श्लेष्मविकार हैं, जिनका पूर्वोक्त लक्षणों और विकारोंसे अनुमान कर लेना चाहिये।

शार्ङ्गधरोक्त नानात्मज श्लेष्मविकार—

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्रातिनिद्रता।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता॥
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता॥
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः॥

शा० पू० ७।१२२-१३५

शार्ङ्गधरने भी कफनानात्मज रोग बीस ही गिनाये हैं ; पर वे अधिक स्पष्ट और विस्तृत हैं। अतः दिये जाते हैं—

तन्द्रा, अतिनिद्रा, गौरव, मुखका रस मधुर होना, मुखलेप—मुखका श्लेष्मासे लिप्त रहना, प्रसेक (लालास्राव अधिक होना), श्वेतावलोकन (पदार्थ श्वेत दीखना), मलकी श्वेतवर्णता, मूत्रकी श्वेतवर्णता, शैत्य (शीतप्रतीति), उष्ण पदार्थोंकी इच्छा, तिक्त रसपर रुचि, मल (विशेषतः पुरीष) की अधिकता, शुक्रका प्राचुर्य, बहुमूत्र, आलस्य, बुद्धिकी मन्दता, तृप्ति, वर्णोच्चारणमें घर्घराहट तथा चेतनाका अभाव (?)।

कफज विकार नवीन दृष्टिसे—

कफज विकारोंमें प्रायः कलाके स्राव कफ[3] की अधिकता पायी जाती है। यह मलभूत कफ है। मुखमें कफका आधिक्य होनेसे मुखके रसकी मधुरता तथा मुखलेप ; मुख आमाशय तथा पच्यमानाशयमें कफके लेपके कारण तृप्ति और मन्दाग्नि ; श्वसनसंस्थानमें कफके आधिक्यके कारण छातीपर भार-सा अनुभव ये लक्षण होते हैं। आयुर्वेदोक्त कफवर्द्धक द्रव्योंके अतियोगसे तथा अन्य

१—केवल श्लेष्मासे उत्पन्न होनेवाले विकार।

२—इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥ सु० शा० ४।४९

अंग्रेजीमें—Drowsiness—ड्राउज़ीनेस।

३—Mucus—म्युकस।

कारणोंसे दूषित कफकी वृद्धि हो जाती है। वर्तमान विज्ञानमें हम कफोत्पादक द्रव्योंका ऐसा निर्देश नहीं पाते। वर्तमान मतसे कलाका अभिष्यन्द (शोथ) होनेसे कफका स्राव बढ़ जाता है और उस-उस अङ्गसे सम्बद्धलक्षण उत्पन्न होते हैं। चुल्लिकाग्रन्थिके पित्तवर्गीय स्रावके हीनगुण होनेसे बुद्धिमान्द्य उपस्थित होता है, यह अन्तर्ग्रन्थिप्रकरणमें देख चुके हैं। गलगण्ड स्वयं चुल्लिकाकी वृद्धिका नाम है और ग्रन्थिको योग्य प्रमाणमें आयोडीन न मिलनेसे होता है। पोषणिकाग्रन्थिका एक स्राव शरीरमें जलका प्रमाण नियत रखता है। उसके विकारापन्न होनेसे उदकमेह (बहुमूत्र) हो जाता है। एसिटिल कोलीन (आयुर्वेदीय अवलम्बक कफ ?) का स्राव केवल परिस्वतन्त्र नाडीमण्डलके सूत्रोंको कृत्रिम उपायसे उत्तेजित करनेसे होता है। परन्तु तज्ज्ञोंका अनुमान है कि एड्रीनलीन (आयुर्वेदीय साधक पित्त) के समान इसका भी स्राव सर्वदा होता है तथा उक्त नाडीसूत्रोंमें वेगोंका वहन करता है ; सम्भव है आयुर्वेदोक्त कफवृद्धिकारक द्रव्यगुणकर्मोंसे इस स्रावकी भी वृद्धि होकर आगे वाताधिकारमें कहे जानेवाले उक्त नाडीमण्डलके कार्योंमें वृद्धि होती हो।

विकृत पित्तके प्रकरणमें हमने कहा है कि प्राकृत तथा विकृत पित्त अनेक प्रकारके होते हुए भी आयुर्वेदमें यकृत्के स्रावभूत पित्तको विशेष महत्त्व दिया गया है। वहाँ हमने यह सम्भावना प्रकट की थी कि कदाचित् यकृत्की समावस्थामें अन्य पित्तोंपर किसी प्रकारकी उत्तेजक क्रिया होती हो, तथा याकृत पित्तके कुपित होनेपर किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य पित्तोंकी वृद्धि होती हो। एवं कदाचित् अन्य पित्त वृद्धिगत होकर रक्तमें संचरण करते हुए यकृत् द्वारा याकृत पित्तके रूपमें परिणत कर दिये जाते हों। इस कारण पैत्तिक विकारोंके लक्षणों और चिकित्सामें याकृत पित्त ही पर विशेषतः ध्यान दिया गया है। यह भी संभावना हमने प्रकट की है कि, संभव है—सभी पित्तवर्गीय द्रव्योंकी एक साथ ही क्षयादि अवस्थाएँ होती हों। परन्तु इनमें केवल याकृत पित्त लक्ष्य होनेसे संकेत (सिगनल) के रूपमें उसीके लक्षणोंको प्रधान्य दिया हो। यही अवस्था कफके सम्बन्धमें श्लेष्म-कलाओं—विशेषतः आमाशय और उरःस्थल (श्वाससंस्थान)—के स्रावभूत श्लेष्माकी है। यह स्राव या तो किसी अज्ञात प्रकारसे अन्य कफोंको वृद्धिमें कारणभूत है, अथवा शरीरमें अपनी तथा अन्य कफोंकी वृद्धिका लक्षणभूत है। नव्य मतसे इसका समाधान शक्य हो या न हो वैद्यजन इसी कफको सम्मुख रखकर कफरोगीकी परीक्षा और चिकित्सा करते हैं।

श्लेष्मक्षयके लक्षण—

श्लेष्मक्षये रूक्षताऽन्तर्दाह आमाशयेतराशयशून्यता शिरसश्च संधिशैथिल्यं तृष्णा दौर्बल्यं प्रजागरणं च ॥ सु० सू० १५।७

तत्र (श्लेष्मक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः ॥ सु० सू० १५।८

आरोग्यके लिये श्लेष्माका साम्य आवश्यक है। इसका क्षय होनेपर शरीरमें रूक्षता, अन्त-र्दाह, आमाशयसे भिन्न फुप्फुस, हृदय, सन्धि आदि श्लेष्माशयोंमें विशेषतः शिरमें शून्यता, सन्धियोंमें शिथिलता, तृष्णा, दुर्बलता, निद्रानाश, एवं अपने प्राकृत कर्मों—यथा शरीरावयवोंकी पुष्टि आदि—का अभाव—ये लक्षण पाये जाते हैं। इसका उपाय समानयोनि आप्य (जलभूत प्रधान) पदार्थों का सेवन है। इनका उल्लेख कफ प्रकोपके कारणोंमें स्वयं होगा।

श्लेष्मवृद्धिके लक्षण—

श्लेष्मवृद्धौ शौक्ल्यं शैत्यं स्थैर्यं गौरवमवसादस्तन्द्रा निद्रा संध्यस्थिविश्लेषश्च ॥ सु० सू० १५।१३

वृद्धिः पुनरेषां (दोषधातुमलानां) स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति ॥

सु० सू० १५।१३

श्लेष्मवर्धक द्रव्यादिके अति योगसे श्लेष्माकी वृद्धि होती है। उसके लक्षण पूर्वोक्त नानात्मज विकारोंमें आ ही गये हैं। संक्षेपमें ये हैं—त्वचा-मल-मूत्रादिकी श्वेतता, शैत्य, स्थैर्य (अङ्गोंका जकड़ जाना), गौरव, अवसाद (शरीर और मन ढीला-सा रहना), तन्द्रा, निद्रा, संधियोंका पोचापन, अस्थियोंकी मृदुता।

श्लेष्मप्रकोपके कारण—

दिवास्वप्नाव्यायामालस्यमधुराम्ललवणशीतस्निग्धगुरुपिच्छिलाभिष्यन्दिहायनकयवकनैषेधेत्कटमाषमहामाष गोधूमतिलपिष्टविकृतिदधिदुग्धकृशरापायसेक्षुविकारानूपौदकमांसवसाविसमृणालकसेरुकशृङ्गाटक-मधुरवल्लीफलसमशनाध्यशनप्रभृतिभिः श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते॥

सु० सू० २१।२३

कफ-प्रकोपके कारणभूत आहार-विहार (प्रज्ञापराध) निम्न हैं: दिनमें शयन, अव्यायाम, आलस्य; मधुर, अम्ल, लवण, शीत, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल और अभिष्यन्दी[1] भोज्य पदार्थोंका सेवन, हायनक, जौ, नैषध, इत्कट, उड़द, लोबिया, गेहूँ; तिल और पिष्ट (गूंदा हुआ आटा) के बने द्रव्य; दही, दूध, कृशरा (तिल, चावल और उड़दकी खिचड़ी); खीर, गन्नेके रसके भक्ष्य; जलप्राय देशके (आनूप) तथा जलचर जन्तुओंका मांस; चर्बी, कमलनाल, कसेरु, सिंघाड़ा, ताड़, नारियल आदिके मधुर फल; घीया, कद्दू आदि बेलोंके फल; समशन (हित और अहित मिला हुआ भोजन) अध्यशन (प्रथम भोजन पचे बिना और भोजन खाना) इत्यादिके अतियोगसे कफ प्रकुपित होता है।

श्लेष्मलोंको श्लेष्मविकार अधिक होते हैं —

श्लेष्मस्यापि श्लेष्मप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं श्लेष्मा प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय॥

च० वि० ६।१८

श्लैष्मिक विकार श्लेष्मल पुरुषोंको विशेषतया पीडित करते हैं। उनमें अल्पसे भी कारणसे श्लेष्मा शीघ्र कुपित हो जाता है। अन्य दोष उनमें इतने शीघ्र प्रकोपको नहीं प्राप्त होते।

श्लेष्माके संचय, प्रकोप और प्रशमक काल—

ता एवौषधयः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च प्रशान्ताः स्निग्धा अत्यर्थं गुर्व्यश्च। ता उपभुज्यमाना मन्दकिरणत्वाद् भानोः सतुषारपवनोपस्तम्भितदेहानां देहिनामविदग्धाः स्नेहाच्छैत्याद् गौरवादुपलेपाच्च श्लेष्मसंचयमापादयन्ति। स संचयो वसन्तेऽर्करश्मिप्रविलायित ईषत्स्तब्धदेहानां देहिनां श्लैष्मिकान् व्याधीञ्जनयति॥

सु० सू० ६।११

बलवत्यो देहोपचयहेतवः। अविदग्धा मधुरपाकमुपगताः॥ —डल्हन

1—पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः शिरा।
धत्ते यद् गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि॥ शा० पू० ४।२४
अभिष्यन्दि दोषधातुमलस्रोतसामतिशयक्लेदप्राप्तिजनकम्। —डल्हन

स॰ शीतैः शीतकाले च वसन्ते च विशेषतः।
पूर्वाह्ने च प्रदोषे च भुक्तमात्रे प्रकुप्यति॥ सु॰ सू॰ २१।२४[1]

श्लेष्माके संचय-प्रकोपादिका काल निम्नोक्त हैः हेमन्त ऋतुमें अन्न तथा वनस्पतियाँ समयके योगसे परिपक्व वीर्यवाली और शरीरावयवोंके पोषणमें समर्थ हो जाती हैं। जल भी निर्मल, स्निग्ध और अतिशय गुरु हुआ होता है। सूर्यकी किरणें मन्दशक्ति होती है, वायु भी हिमवान् होता है। इस कारण मनुष्यादि प्राणियोंके देह स्तम्भित (जकड़े हुए-से) रहते हैं। परिणाममें, सेवन किये गये अन्न तथा वनस्पतियोंका पाक मधुररसवाला होता है। उसके कारण तथा स्वयं अन्न तथा वनस्पियोंके कालयोगसे स्निग्ध, शीत, गुरु और उपलेपक (चिकनी) होनेसे उसकाल—हेमन्त ऋतुमें शरीरमें कफका संचय होता है। वसन्तऋतुमें वही कफ सूर्यकी किरणोंसे विलीन (द्रवित) होता है—पिघलता है तथा स्तब्ध (शीतसे जकड़े) शरीरवाले प्राणियोंमें अन्नद्वेष (अरुचि) हृदयोत्क्लेद (हृदयपर भार) प्रसेक (थूक अधिक आना) आदि उक्तानुक्त श्लैष्मिक रोग उत्पन्न करता है।

इस प्रकार वसन्तमें श्लैष्मिक रोगोंका विशेषकर प्रादुर्भाव होता है[2]। पूर्वाह्न (दिवसका आदिभाग)[3] तथा प्रदोष (रात्रिका आदिभाग) में श्लेष्माका स्वाभाविक प्रकोप होता है; आयुके प्रारम्भमें अर्थात् बाल्यकालमें भी श्लेष्मा स्वभाव ही से बलवान होता है। अतः बाल्यकालमें श्लैष्मिक व्याधियाँ प्रायः पायी जाती हैं। (आयुके प्रारम्भमें धातुओंद्वारा प्रोटीनके पाकके कारण शरीरकी पुष्टि वेगसे होती रहती है। परिणाम रूपमें आहार द्वारा शरीके पोषक प्राकृत कफके साथ मलभूत कफकी भी पुष्टि होती है। कफ—कलाका स्राव—में मुख्य अंश एक प्रोटीन होता है, जिसे म्यूसीन[4] कहते है)। भोजन खानेके अनन्तर श्लेष्मा स्वभावतः प्रवृद्ध होता है। शीत पदार्थोंके सेवन से तथा अन्य ऋतुमें भी शीत विशेष पड़नेसे श्लेष्माका प्रकोप होता है।

ग्रीष्म ऋतु आनेपर हेमन्तमें संचित तथा वसन्तमें कुपित हुए श्लेष्माका स्वयं प्रशमन होने लगता है। वसन्त ऋतुमें जब कि श्लेष्मा अपने स्थानसे चलित और प्रवृद्ध होता है, उससे उत्पन्न व्याधियों को रोकनेके लिये उपायोंका अवलम्बन करना चाहिये। श्लेष्माके प्रकोपकी न्यूनाधिकताके अनुसार उपाय भी अल्प मध्य या संशोधनात्मक होना चाहिये।

श्लेष्माके प्रसरके लक्षण—

एषां प्रकुपितानां प्रसरतां······अरोचकाविपाकाङ्गसादाश्छर्दिश्चेति श्लेष्मणो लिङ्गानि भवन्ति॥ सु॰ सू॰ २१।३२

श्लेष्माके प्रसरके लक्षण ये हैं – अरुचि (अन्नद्वेष) अजीर्ण, अङ्गसाद (शरीरमें थकान और भारीपन) तथा वमन।

१—कफके स्वाभाविक चय, प्रकोप और प्रशमके कालसम्बन्धी प्रमाण अन्य दोषोंके साथ विस्तारसे ३५ वें अध्यायमें देखिये।

२—वसन्तमें श्लैष्मिल रोगोंका प्रादुर्भाव आधुनिक चिकित्सामें भी माना है, पर उसकी संप्राप्ति भिन्न मानी जाती है। और वह यह कि, नासिका, नेत्रादिकी श्लेष्मकलामें वसन्त-काल-सुलभ पुष्पोंके रजःकणोंके जानेसे उसका क्षोभ होना है, जिससे उनमें शोथादि होते हैं।

३—रात्रिमें चेष्टाके त्यागके कारण कफका संचय होता है। उधर इसी कारण ऊष्मा भी न्यून होता है। इससे कफकी और भी वृद्धि होती है: At midnight and during the few hours that follow, the temperature falls to its lowest point, which may be a degree and a degree and a half below normal Vide Miracles of Human Life. ४—Mucin.

साम तथा निराम कफका स्वरूप—

आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते।
सामो बलासो दुर्गन्धिः क्षुदुद्गारविघातकृत्॥
फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च।
पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिदः॥

अ० हृ० सू० १३।२७—२८ के मध्य प्रक्षेप

आमयुक्त कफ अस्वच्छ (दुधियाला-सा), तन्तुमान् (जिसके तार बँधें ऐसा), सान्द्र (गाढा), कण्ठको लिप्त करनेवाला, दुर्गन्धवाला तथा क्षुधा और उद्गारको रोकनेवाला होता है। आमरहित अर्थात् पका हुआ कफ कुछ-कुछ फेनवाला, पिण्डरूप (तन्तुमान् नहीं), पाण्डुवर्ण, निःसार अर्थात् हलका (जलपर तैरनेवाला, कास तथा थूत्कारमें सुगमतासे निकल जानेवाला) किंच, मुखको विशुद्ध रखनेवाला होता है। प्रवृद्ध कफ जब साम और निराम (पक्व) होता है, तब उसके उपर्युक्त लक्षण प्रतिश्याय, कास आदिमें सर्वजन्यप्रत्यक्ष ही हैं।

प्रकुपित कफके जयका उपक्रम—

गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥ च० सू० १।६१

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते॥ —चक्रपाणि

तस्य (प्रकुपितस्य श्लेष्मणः) अवजयनं—विधियुक्तानि तीक्ष्णोष्णानि संशोधनानि, रूक्षप्रायाणि चाभ्यवहार्याणि कटुकतिक्तकषायोपहितानि, तथैव धावनलङ्घनप्लवनपरिसरण-जागरणनियुद्धव्यवायव्यायामोन्मर्दनस्नानोत्सादनानि, विशेषतस्तीक्ष्णानां दीर्घकालस्थितानां च मद्यानामुपयोगः सधूमपानः सर्वशश्चोपवासः, तथोष्णं वासः सुखप्रतिषेधश्च सुखार्थमेवेति॥ च० वि० ६।१८

परिसरणं कुण्डलरूपभ्रमणम्। × ×। सर्वशश्चोपवास इति सर्वलङ्घनानि। यदुक्तं—चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ। पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥
(च० सू० २२-१८[1]) —चक्रपाणि

तं (श्लेष्मविकारं) कटुकतीक्ष्णोष्णतिक्तकषायरूक्षैरुपक्रमैरुपक्रमेत स्वेदवमनशिरोविरेचनव्यायामादिभिः श्लेष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्योरोगतं केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमूर्ध्वमुत्क्षिपति। तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्द्यमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति॥ च० सू० २०।१९

वमनं श्लेष्महराणाम् (श्रेष्ठम्)॥ च० सू० २५।४०

१—वर्तमानकालमें बहुमत, बहुगीत उपवासचिकित्सा, सूर्यचिकित्सा तथा वायुचिकित्सा आर्य-वैद्योंको परिचित थी, यह इस पद्यसे स्पष्ट है।

मधु च (सततमभ्यस्यमानं) श्लेष्माणं जयति रौक्ष्यात् तैक्ष्ण्यात् कषायत्वाच्च। श्लेष्मा हि स्निग्धो मन्दो मधुरश्च ॥ च० वि० १।१५

वमन श्लेष्माके जयका सर्वोत्तम उपाय है। वह श्लेष्माके प्रभवस्थान आमाशयमें प्रविष्ट हो, आमाशय और उरःस्थलसे प्रकुपित श्लेष्माको उखाड़ फेंकता है। मूलस्थानपर श्लेष्माका पराजय होनेपर शरीरमें अन्यत्र स्थित श्लेष्मविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं; जैसे क्यारीके बाँध टूट जानेपर-शालि, जौ, साठी प्रभृति धान्य जल न मिलनेसे आपही शुष्क हो जाते हैं[1]। वामक पदार्थ तीक्ष्ण और उष्ण होना चाहिये।

श्लेष्मा गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, स्थिर तथा पिच्छिल होता है। इसके विपरीत गुण-वाले आहारौषध द्रव्यों और कर्मसे श्लेष्मा शान्त होता है—कटु, तिक्त और कषाय रसवाले रूक्षप्राय तथा तीक्ष्ण-उष्ण आहार और औषधद्रव्य श्लेष्माके शामक हैं। इसी प्रकार जिन द्रव्योंके वीर्य, विपाक और प्रभाव श्लेष्माके विरोधी होते हैं, वे भी श्लेष्माको शान्त करते हैं। सर्वप्रकारके, लङ्घन, वृद्ध और कुपित श्लेष्माको शीघ्र सम स्थितिमें ले आते हैं। उपवास, वमन, विरेचन, उष्णवस्त्र-परिधान, विविध स्वेदन, पिपासाके वेगका निग्रह, वायुसेवन, सूर्यातपसेवन, पाचन तथा श्लेष्महर द्रव्योंका उपयोग, जागरण (निद्राके वेगको रोकना), दौड़, लम्बी-कूद, ऊँची-कूद, चक्कर, कुश्ती, दण्ड-बैठक, मालिश, स्नान, उबटन आदि व्यायाम, धूम्रपान[2] इनकी लङ्घनोंमें गणना है। पुराने और तीक्ष्ण मद्योंमें कफके लेखन और निर्हरणका गुण विशेष होता है। मधु कफका उपशमन करनेवाले द्रव्योंमें सर्वोत्कृष्ट है। कफप्रकोपमें इसका निरन्तर चिरकालतक सेवन करना चाहिये।

कफके कोपक-शामक रस—

× × × स्वाद्वम्ललवणाः कफम् (कोपयन्ति)।
× × × (जयन्ति) श्लेष्माणं कषायकटुतिक्तकाः। च० सू० १।६६-६७

कटुतिक्तकषायाः श्लेष्मघ्नाः ॥ च० सू० ४२।४

मधुराम्ललवणाः श्लेष्माणं जनयन्ति, कटुतिक्तकषायास्त्वेनं शमयन्ति ॥ च० वि० १।६

मधुर, अम्ल और लवण रस कफके वर्धक हैं; कटु, तिक्त और कषाय शामक।

कफके शामक-वर्धक भूत—

खतेजोऽनिलजैः श्लेष्मा शममेति शरीरिणाम्।
वसुधाजलजाताभ्यां बलासः परिवर्धते ॥ सु० सू० ४१।८-९

आकाश, अग्नि और वायुकी अधिकतावाले द्रव्योंके सेवनसे श्लेष्मा शान्त होता है। पृथ्वी और जलसे उत्पन्न द्रव्य कफकी वृद्धि करते हैं।

कफ-संशमन वर्ग—

कालेयकागुरुतिलपर्णीकुष्ठहरिद्राशीतशिवशतपुष्पासरलारास्नाप्रकीर्योदकीर्येङ्गुदीसुमना-

---

१—कफके जलप्रधान होनेसे यहाँ संहिताकारने जलकी ही उपमा दी है, जो सर्वथा काव्य-गुणोचित है। इस प्रकरणमें आचार्यने वात-पित्त-कफसम्बन्धी एक ही वस्तु—वमनादि द्वारा मूलोच्छेद—का प्रतिपादन करते हुए भी उपमा प्रत्येक दोषके लिये उक्त दृष्टिसे भिन्न-भिन्न दी हैं।

२—इसका प्रयोग स्वस्थवृत्तके प्रकरणोंमें—च० सू० ६।२०-५५; सु० चि० ४०।३-२० में देखिये।

काकादनीलाङ्गलकीहस्तिकर्णमुञ्जातकलामज्जकप्रभृतीनि वल्लीकण्टकपञ्चमूल्यौ पिप्पल्यादिर्बृहत्यादिर्मुष्ककादिर्वचादिः सुरसादिरारग्वधादिरिति समासेन श्लेष्मसंशमनो वर्गः ॥

सु० सू० ३९।९

कालेयक (कृष्णवर्ण चन्दनविशेष), अगर, तुलतुल, कूठ, हलदी, शीतशिव, (कर्पूर या सैन्धव) शतपुष्पा (सोआ), निसोतर, रास्ना, पूतिकरञ्ज, करञ्ज, हिंगोट, जाती, काकादनी (कंथारी, गृध्रनखी), कलिहारी, हस्तिकर्ण पलाश (ढाकका भेद—जिसके पत्ते बहुत विशाल होते हैं), मुञ्जातक (सालमपञ्जा[1]), लामज्जक (खसभेद) ; वल्लीपञ्चमूल (विदारीकन्द, सारिवा —अनन्तमूल, हलदी, गिलोय, मेषशृङ्गी[2]) ; कण्टकपञ्चमूल (करोंदा, गोखरू, सहचर, शतावरी, कंथारी) ; पिप्पल्यादि गण (पिप्पली, पीपरामूल, चव्य, चित्रक, शुण्ठी, काली मिर्च, गजपिप्पली, हरेणुका, इलायची, अजमोदा —अजमोद या अजवायन – इन्द्रयव, पाठा, जीरा, सरसों, बकायनका फल, हींग, भारंगमूल, मूर्वा, अतीस, वच, विडङ्ग, कटुकी) ; बृहत्यादिगण (बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, इन्द्रयव, पाठा, मुलेठी) ; मुष्ककादिगण (मोखा, ढाक, धावा, चित्रक, मदनफल, कुटज, शीशम, थूहर, हरड़, बहेड़ा, आमला) ; वचादिगण (वच, मोथा, अतीस, देवदार, नागकेशर) ; सुरसादिगण (सुरसा—कृष्णतुलसी, श्वेत सुरसा—श्वेततुलसी, मरुआ, अर्जक—रामतुलसी, भूस्तृण, गूमा, राई, कालमाल, कुठेरक, करोंदा, नाकछोंकनी, खरपुष्प—छोंकनीका भेद, विडङ्ग, कायफल, सुरसी, निर्गुण्डी, कुलाहल—मुण्डी ?, मूसाकानी, भारंगमूल, काकजङ्घा, मकोय, विषमुष्टिक) ; आरग्वधादिगण (अमलतास, मदनफल, ककोड़ी, विकङ्कत, कुटज, पाठा, पाढल, मूर्वा, इन्द्रयव, सप्तपर्ण, निम्ब, पीतसहचर, नीलसहचर, गिलोय, चित्रक, मकोय, पूतिकरञ्ज, करञ्ज, पटोल, चिरायता, करेला)—ये संक्षेपमें कफ-संशमन द्रव्य हैं।

इस वर्गमें भी जङ्गम तथा पार्थिव (खनिज) और अन्य भी उद्भिज्ज द्रव्योंका समावेश करना चाहिये।

जीवनीय ए, डी तथा ई कफ और ओजके पोषक हैं ?—

आधुनिक विज्ञानमें जिन द्रव्योंको जीवनीय ए, डी तथा ई का आश्रय कहा जाता है, वे कफ तथा ओजके पोषक प्रतीत होते हैं। इन जीवनीयोंके कार्यों और आयुर्वेदोक्त कफ तथा ओजके कर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करने तथा दोनोंके आश्रयद्रव्योंका निरीक्षण करनेसे यह बात स्पष्ट होगी। प्रोटीन तथा शर्करायुक्त द्रव्य भी कफवर्धक कहे जा सकते हैं। अनुसन्धानसे अन्य भी क्रियाशील तत्त्व जानने चाहिये।

१—डा० वामन गणेश देसाई मुञ्जातकका अर्थ सालमपञ्जा करते हैं।

२—वल्लीपञ्चमूल आदि गण क्रमशः सु० सू० ३८।७२-७४, २२—२३, ३१-३२, २०-२१, २६-२८, १८-१९, ६-७ में देखिये।

अट्ठाईसवां अध्याय

अथातः प्राकृतवातविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

प्राकृत वायुके कर्म—

वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनां, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः ॥ च० सू० १२।८

तन्त्रं शरीरम्। नियन्ताऽनीप्सिते विषये प्रवर्तमानस्य मनसः, प्रणेता च मनस एवेप्सितेऽर्थे। श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात् ॥ —चक्रपाणि

स्वयंभूरेष भगवान् वायुरित्यभिशब्दितः ॥
स्वातन्त्र्यान्नित्यभावाच्च सर्वगत्वात् तथैव च।
सर्वेषामेव सर्वात्मा सर्वलोकनमस्कृतः ॥
स्थित्युत्पत्तिविनाशेषु भूतानामेष कारणम्।
अव्यक्तो व्यक्तकर्मा च रूक्षः शीतो लघुश्चरः ॥
तिर्यग्गो द्विगुणश्चैव रजोबहुल एव च।
अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट् ॥
आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः।
देहे विचरतस्तस्य लक्षणानि निबोध मे ॥
दोषधात्वग्निसमतां संप्राप्तिं विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः ॥
(इन्द्रियार्थोपसंप्राप्तिं दोषधात्वग्न्यवैकृतम्।
क्रियाणामानुलोम्यं च कुर्याद् वायुरदूषितः ॥) सु० नि० १।५—१०

स्वातन्त्र्यादिति स्वकर्मविषये नान्येन प्रेर्यत इत्यर्थः। सर्वात्मा कारणकार्यात्मकत्वेन सर्वस्वरूपः॥ —डल्हन

तेषां संयोग-विभागे परमाणूनां। कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च ॥ च० शा० ७।१७
क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम्।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥

यदा तु कुपितो वातः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते।
तदास्य विविधा रोगा जायन्ते वातसम्भवाः ॥ सू० शा० ७।८-९

क्रियाणां कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम्। बुद्धिकर्मणामिति पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां, मनसो बुद्धेश्च स्वे स्वे विषये प्रवृत्तौ मोहस्याभावं करोति। अन्यान् गुणान् "तत्र प्रस्पन्दनोद्वहनपूरण० सु० सू० १५—४" इत्यादिकान् ॥ —डह्लन

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः[1] समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माविकारजम् ॥ च० सू० १८।४९

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्।
वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः ॥
अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः।
वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद् वीतरोगः समाः शतम् ॥
च० चि० २८।३-४

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ शा० पू० ५।१५

वायोर्यथार्था स्तुतिरपि भवत्यारोग्याय वलवर्णविवृद्धये वर्चस्वित्वायोपचयाय ज्ञानोपपत्तये परमायुःप्रकर्षाय चेति ॥ च० सू० १२।१०

सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
तेनैव रोगा जायन्ते तेन चैवोपरुध्यते ॥ च० सू० १७।११८

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥
च० सि० ११३८

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः। सु० चि० ३५।२९

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्त्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।
करोति ॥ च० चि० २८।५९—६०

वायु[2] शरीररूप यन्त्रका सञ्चालन करनेवाला है। वही प्राणिमात्रकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशका हेतु है। शरीर—परमाणुओंका संयोग विभाग वायु-सहित कर्म और स्वभावसे ही होता है।

१—धातुगतिरिति रसादीनां पोष्यं धातुं प्रति गमनम् ॥ —चक्रपाणि

२—वायुकी द्रव्यरूपता—

पृ० ४९२ की टिप्पणीमें उद्धृत च० शा० में शरीरमें कफका प्रमाण पुरुषके अपने हाथकी छः अञ्जलि, पित्तका पाँच तथा ओजका आधी अञ्जलि बताया गया है। इस ग्रन्थसे इतना तो निश्चित है कि क्रमसे कफ, पित्त तथा ओज आयुर्वेदमतसे द्रव्य-रूप पदार्थ (मैटर) हैं। वातका प्रमाण इसमें नहीं कहा है ; तथापि पृ० ६४ की टिप्पणीमें उद्धृत अ० सं० शा० ६ में वृद्ध वाग्भट्ट ने पञ्चात्मा (पञ्चरूप)

वह वायु ही गर्भको विविध आकृतियाँ प्रदान करता है। वही स्रोतोमय शरीरमें संख्यातीत स्थूल और सूक्ष्म स्रोतोंके विवरोंका निर्माण करता है। शरीरके प्रत्येक धातुकी स्थूल और सूक्ष्म रचना (व्यूह) का कारण वायु है। प्रत्येक अवयवका अन्य अवयवोंके साथ रचनात्मक तथा कर्म विषयक सन्धान सहकार वायुकी ही प्रेरणासे होता है। शरीरकी यावत् चेष्टायें वायु द्वारा होती हैं। वायुसे ही उच्छ्वास, निःश्वास आदि जीवनयोनि—अनैच्छिक—स्वतन्त्र चेष्टायें होती हैं। वायु मनको उसके इष्ट विषयोंमें नियोजित करता है; वही अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त हुए उसका नियमन करता है। समस्त ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय वायुकी ही प्रेरणासे अपने-अपने कर्ममें संलग्न रहती हैं। वायु ज्ञानेन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंका ज्ञान कराता है। वही वाणीका प्रवर्तक है; स्पर्श और शब्द ज्ञानका वही मूल है। वायु ही जाठराग्नि तथा धात्वग्नियोंका प्रदीपक है। वायु ही शेष दोषों और मलोंको स्वस्थानपर रखता है तथा आवश्यकता होनेपर योग्य स्थानपर पहुँचाता है। वायुके बिना पित्त और श्लेष्मा पङ्गु हैं। वायु ही अधिकृत हो तो दोषों, धातुओं और मलोंको सम प्रमाणमें रखता है तथा उनके कर्मोंके समभावका रक्षण करता है। वायु ही दोषोंका शोषक तथा मलोंको अपने-अपने मार्गसे बाहिर निकालनेवाला है। सर्व अवयवों और चेष्टाओंका निमित्तभूत होनेसे वायु सर्वात्मा (विश्वरूप) है। वायु ही बल है। वायु ही आयु है। वायु ही प्राणियोंका प्राण है। वायु ही हर्ष और उल्लासका हेतु है। वायु अदूषित रहे तो मनुष्य सर्वदा नीरोग, बलवान्, तेजस्वी, वर्चस्वी, परिपुष्ट किंच ज्ञान-सम्पन्न होता है और पूर्ण आयु (शतवर्ष) का लाभ करता है। वायु दोषादिका प्रेरक और नियामक है, पर स्वयं स्वतन्त्र है। उसका प्रभाव अचिन्त्य है। वह सर्व शरीरमें सञ्चरण करता है। आप अव्यक्त है, पर अपने कर्मों द्वारा वह व्यक्तरूप है। वायु आशुकारी है; धाता, प्रभु और सर्वलोकनमस्कृत भगवान् है।

परन्तु वायुके उक्त कर्म उसके प्राकृत अवस्थामें अपनी सिराओंमें सञ्चार करते हुए होते हैं। वही यदि कुपित हो जाय तो सब दोषों और मलोंको कुपित कर देता है। शरीरमें कहीं भी कोई रोग हो उसका आदिमूल वायु ही है और कोई नहीं।

वायुका आहारसे कोष्ठमें उत्पन्न और सशब्द कहा है। यह वायु सुविदित और द्रव्यरूपतया प्रसिद्ध है। इस अधोवायुको ही प्राणादि भेदसे पञ्चविध कहा गया है। संभव है, शरीरमें वायुकी विद्यमानताके अन्य भी हेतु (यथा, श्वसन) हों तथापि उनमें पक्वाशयमें आहारका प्रवेश प्रमुख है, यह इस वचनका निश्चित आशय है।

परन्तु इससे भी अधिक वातकी द्रव्यरूपताका प्रतिपादक प्रमाण पद्म पुराणके भूमिखण्ड नामक २ य खण्डके ६६ वें अध्यायके ६२-६५ श्लोकोंमें मिलता है। पद्य उद्धृत करता हूँ।

> पित्तस्य कुडवं ज्ञेयं कफस्यार्धाढकं तथा। वसायाश्च पलंत्रिंशत् तदर्धं कललस्य वा॥
> वातार्बुदपलं ज्ञेयं पलानि दश मेदसः। पलत्रयं महारक्तं मज्जा रक्ताच्चतुर्गुणा॥
> शुक्रार्धं कुडवं ज्ञेयं तदर्धं देहिनां बलम्। मांसस्य चैकपिण्डेन पलसाहस्रमुच्यते॥
> रक्तं पलशतं ज्ञेयं विण्मूत्रं चाप्रमाणतः॥

इसमें वातका प्रमाण एक पल कहा है। जैसे मांसका प्रमाण बताते हुए कहा है कि: शरीरमें यत्र-तत्र बिखरे मांसको समूहित करके उसका 'एक पिण्ड' बनावें तो उसका प्रमाण एक सहस्र पल होता है, वैसे ही शैलीसे वातका प्रमाण यहाँ बताया है। अर्थात्—संपूर्ण वायुको घनीभूत करके पुञ्जित करें तो उसके इस पुंजका प्रमाण एक पल होता है। पुंजके लिए अर्बुद शब्दका व्यवहार यहाँ किया है। ओजका भी प्रमाण यहाँ बल नामसे बताया है। महारक्त किसे कहा है, प्रतीत नहीं हुआ।

पित्त और कफके संयोगसे वायुमें गुणभेद—

योगवाहः[1] परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥ च० चि० ३।३८

वायुके पूर्वोक्त स्वतन्त्र कर्म हैं। इनके अतिरिक्त उसका परतन्त्र कर्म भी है। वायु योगवाह है। अर्थात्, पित्तके योगसे उसमें दाह, उष्णता प्रभृति पित्तके गुण आ जाते हैं और सोम नाम कफके संयोगसे वह शीतगुण होता है। जिस प्रधानभूत दोषका वह वहन करता है, शरीरावयवोंमें प्रसर और संश्रयसे उसीके लक्षण उत्पन्न करता है। स्वयं वायु शीत है[2]।

बहिश्चर तथा शरीरचर वायु एक ही हैं—

तत्र वायोरात्मैवात्मा॥ सु० सू० ४२।५

वायुतो वातोत्पत्तिरित्यर्थः॥ —डह्लन

वायोर्वायुरेव योनिः॥ सु० सू० १५।८ पर —चक्रपाणि

शरीरान्तःसञ्चारी वायुः प्राणः। स चकोऽप्युपाधिभेदेन प्राणापानादिसंज्ञां लभते॥ तर्कसंग्रह

यानि तु खलु वायोः कुपिताकुपितस्य शरीराशरीरचरस्य शरीरेषु चरतः कर्माणि बहिः शरीरेभ्यो वा भवन्ति, तेषामवयवान् प्रत्यक्षानुमानोपदेशैः साधयित्वा नमस्कृत्य वायवे यथाशक्ति प्रवक्ष्यामः। ××× प्रकृतिभूतस्य खल्वस्य लोके चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—धरणीधारणं, ज्वलनोज्ज्वालनम्, आदित्यचन्द्रनक्षत्रग्रहगणानां सन्तानगतिविधानं सृष्टिश्च मेघानाम्। ×××। प्रकुपितस्य खल्वस्य लोकेषु चरतः कर्माणीमानि भवन्ति; तद्यथा—शिखरिशिखरावमथनम्, उन्मथनमनोकहानाम्, उत्पीडनं सागराणाम्०[3]॥ च० सू० १२।८

तावुभावपि संश्रित्य वायुः पालयति प्रजाः॥ सु० सू० ६।८

जो बहिश्चर वायु प्रशान्त अवस्थामें पृथ्वीका धारण, अग्निका ज्वालन; सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र

१—योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवहः। परमिति अत्यर्थम्॥ —चक्रपाणि

२—वायुके योगवाह होनेका अर्थ—आगे हम देखेंगे कि बहिश्चर—अन्तरिक्षगत—तथा अन्तश्चर या शरीरगत दोनों वायु एक और अभिन्न हैं। ये दोनों ही योगवाह हैं अर्थात् संयुक्त द्रव्यके गुणको ग्रहण कर तदनुरूप क्रिया करते हैं। ३६ वें अध्यायके आरम्भमें धृत 'सु० सू० ६।८' तथा 'च० चि० ३।३८' वचनों एवं उनके अर्थमें हमने देखा है कि अन्तरिक्षगत वायु चन्द्र और सूर्यकी क्रमशः शीत और उष्ण किरणोंको ग्रहण कर जगत्में प्रसृत कर देता है और इस प्रकार उनका सहायक होता है। शरीरचर वायु भी, शरीरमें चन्द्र और सूर्यके प्रतिनिधिभूत कफ और पित्तका संयोग होने पर उनकी क्रिया करता हुआ उनका सहायक-योगवाह होता है। हम देख आये हैं कि कफवर्गीय एसिटिलकोलीन (अवलम्बक कफ) तथा पित्तवर्गीय एड्रीनलीन (साधक पित्त) का संयोग होनेपर वात अथवा उसके कार्यका क्षेत्र रूप नाडीसंस्थान प्रभावित होता है तथा विभिन्न अवयवोंसे तदनुरूप क्रिया कराता है। अन्य कफों और पित्तोंकी भी आयुर्वेदमतसे वायुपर इसी प्रकार क्रिया होती है।

३—बहिश्चर वायुके कर्म केवल दिङ्मात्रनिर्देशार्थ अपूर्ण ही लिये हैं।

और ग्रहोंकी गतिकी निरन्तरता, मेघोंका सर्जन प्रभृति नाना कर्मोंसे विश्वका धारण करता; तथा जो ही कुपित हुआ हुआ पर्वतोंका धूलिसात्करण, वृक्षोंका उन्मूलन, सागरोंका उद्वेलन प्रभृति उत्पातोंका कारण होता है; किंच जो सूर्य और चन्द्रके प्रभावका वहन कर भूतोंको क्षीण और आप्यायित करता है, वही वायु शरीरमें वायुका योनि (मूल कारण) है—उसका उत्पादक है। वही कुपिताकुपित हुआ शरीरमें शुभाशुभ कर्म करता तथा सूर्य और चन्द्रके प्रतिनिधिभूत पित्त और कफका शरीरके प्रत्यवयवमें वहन करता है।

वायुके भेद, भेदोंके स्थान, कर्म तथा रोग—

तत्र, प्रस्पन्दनोद्वहनपूरणविवेकधारणलक्षणो वायुः पञ्चधा प्रविभक्तः शरीरं धारयति ॥ सु० सू० १५।४ (१)

प्रस्पन्दनं शरीरस्य चलनं, इदं व्यानस्य कर्म; उद्वहनमिन्द्रियार्थानां धारणम्, उदानस्य कर्म; पूरणमाहारेण, प्राणस्य कर्म; विवेको रसमूत्रपुरीषाणां पृथक्करणं, सामानस्य कर्म; शुक्रमूत्रादीनां वेगकाले कर्षणमवेगकाले धारणम् अपानस्य। पञ्चधा प्रविभक्त इति प्राणोदानसमानव्यानापानभेदेन। अन्ये तु सामान्यं सर्ववायूनां प्रस्पन्दनादि कर्म आहुः ॥ —डल्हन

तत्र समासेन वातः श्रोणिगुदसंश्रयः ॥ सु० सू० २१।६

विस्तरेण तु स्थानानि नाभिमध्यहृदयकण्ठसर्वाङ्गसंधयोऽपि वातव्याधौ वक्ष्यन्ते ॥ —डल्हन

आशुकारी मुहुश्चारी पक्वाधानगुदालयः ॥ सु० नि० १।९

बस्तिः पुरीषाधानं कटिः सक्थिनी पादावस्थीनि पक्वाशयश्च वातस्थानानि। तत्रापि पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम् ॥ च० सू० २०।८

यद्यपि प्राणादिभेदभिन्नस्य वायोः पृथगेव स्थानानि वक्ष्यति; तथापीदं वैशेषिकं स्थानं ज्ञेयं, यतोऽत्र प्रायो वातविकारा भवन्ति, भूताश्च दुर्जयाः; अत्र च विजिते वाते सर्ववातविकारावजय इति ॥ —चक्रपाणि

तद्धि (वस्तिकर्म) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति[२] ॥ च० सू० २०।१३

प्राणोदानसमानाख्यव्यानापानैः स पञ्चधा।
देहं तन्त्रयते सम्यक् स्थानेष्वव्याहतश्चरन् ॥ च० चि० २८।५

यथाग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येके नामस्थानक्रियामयैः ॥
प्राणोदानो समानश्च व्यानश्चापान एव च।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥
यो वायुर्वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्।

१—प्रकुपित हुए वायुसे मुख्यतया जिन स्थानोंमें वात-रोग लक्षित होते हैं उनका इस वचनमें निर्देश है।

२—यह सूत्र सम्पूर्ण आगे विकृत वातके जयके प्रसंगमें देखिये।

सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चाप्यवलम्बते ॥
प्रायशः कुरुते दुष्टो हिक्काश्वासादिकान् गदान् ॥ सु० नि १।११-१४

वक्त्रसंचारित्वं चास्योपलक्षणं, मूर्धोरःकण्ठनासिका अपि प्राणस्य स्थानम्। प्राणानग्न्यादीन्, अवलम्बते स्वक्रियासु योजयति। श्वासादिकानित्यादिशब्दात् प्रतिश्यायस्वरभेदकासादयः ॥ —डल्हन

स्थानं प्राणस्य मूर्धोरःकण्ठ (कर्ण) जिह्वास्यनासिकाः।
ष्ठीवनक्षवथूद्गार श्वासाहारादि कर्म च ॥ च० चि० २८।६

आदिग्रहणादन्नविधारणादीनि गृह्यन्ते ॥ —चक्रपाणि

उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः।
तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते ॥
ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति च विशेषतः ॥ सु० नि० १।१४-१५

स्थानं पुनरनुक्तमप्यस्य नाभ्युरःकण्ठादि। भाषितगीतादिरित्यत्रादिशब्दादुच्छ्वासादि। ऊर्ध्वजत्रुगतानिति नयनवदनघ्राणश्रवणशिरःसंश्रयान्। चकरादन्यानपि कासादीन् करोति ॥ —डल्हन

मनसोऽपि वातप्रयत्नाद् विनाऽभाविनी प्रवृत्तिः। तदेवं वातप्रयत्नादात्ममनःपुरःसराणीन्द्रियाणि अर्थोपादानायाभिप्रवर्तन्ते ॥ —गयदास

उदानस्य पुनः स्थानं नाभ्युरः कण्ठ एव च।
वाक्प्रवृत्तिः प्रयत्नोर्जोबलवर्णादि कर्म च ॥ च० चि २८।७

प्राणोदानयोर्यद्यपि समानमुरः स्थानं, तथापि कर्मभेदाद् भेद एव ; यथैकगृहस्थितमालाकार-कुम्भकारयोः ॥ —चक्रपाणि

आमपक्वाशयचरः समानो वह्निसंगतः।
सोऽन्नं पचति तज्जांश्च विशेषान् विविनक्ति हि ॥
गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतीन् कुरुते गदान् सु० नि० १।१६-१७

स्वेददोषाम्बुवाहीनि स्रोतांसि समधिष्ठितः।
अन्तरग्नेश्च पार्श्वस्थः समानोऽग्निबलप्रदः ॥ च० चि० २८।८

कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥
स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् ॥ सु० नि० १।१७-१८

रससंवहनोद्यत इत्यत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः ; तेन रसादिसंवहनोद्यत इत्यर्थः। पञ्चधा चेष्टयत्यपीति प्रसारणाकुञ्चनविनमनोन्नमनतिर्यग्गमनानीति पञ्च चेष्टाः। सर्वदेहगान् ज्वरातीसाररक्त-पित्तयक्ष्मप्रभृतीन् ॥ —गयदास

देहं व्याप्नोति सर्वं तु व्यानः शीघ्रगतिर्नृणाम्।
गतिप्रसारणाक्षेपनिमेषादिक्रियः सदा ॥ च० चि० २८।९

पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः।
समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रगर्भार्तवानि च।
क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान् ॥ सु० नि० १।१९-२०

बस्तिगुदाश्रयानिति बस्त्याश्रया अश्मरीप्रमेहमूत्रकृच्छ्रशुक्रदोषादयः, तान्; गुदाश्रया अर्शोभगन्दराहिपूतनबद्धगुदगुदभ्रंशादयः, तान् ॥ —गयदास

वृषणौ बस्तिमेढ्रं च नाभ्यूरू वङ्क्षणौ गुदम्।
अपानस्थानमन्त्रस्थः शुक्रमूत्रशकृन्ति च ॥
सृजत्यार्तवगर्भं च, युक्ताः स्थानस्थिताश्च ते।
स्वकर्म कुर्वते देहो धार्यते यैरनामयः ॥ च० चि० २८।१०-११
शुक्रदोषप्रमेहास्तु व्यानापानप्रकोपजाः ॥ सु० नि० १।२०

सर्व शरीरमें व्याप्त भी वायुका विशेष स्थान पक्वाशय (स्थूलान्त्र) कहा जाता है। कारण, पक्वाशय वातिक रोगोंका प्रभवस्थान है। यहाँ यदि वातको पराभूत कर दिया जाय तो सर्वाङ्गमें कहीं भी स्थित वातविकार स्वयं शान्त हो जाता है। पक्वाशयसे उतर कर वैकारिक वातके अन्य स्थान ये हैं—बस्ति, कटि, जाँघ (सक्थि), पैर, अस्थियाँ, उत्तरगुद (पुरीषाधान)।

पूर्वोक्त वैकारिक स्थानोंके अतिरिक्त सर्वशरीरचर वायुके ही कर्मके भेदसे पाँच भेद किये जाते हैं। जैसे स्थान, (मुख्यतः) प्राकृत और वैकृत कर्म तथा नामके भेदसे पित्त और श्लेष्माके पाँच भेद हैं, वैसे ही वायुके भी प्राण, उदान, समान, व्यान ओर अपान ये पाँच भेद हैं। पाँच स्थानोंपर स्थित, पाँच नामोंसे एक ही वायु सारे शरीरका सञ्चालन करता है।

प्राणवायुके स्थान, कर्म तथा रोग—

इनमें प्राणवायुके स्थान मुख, मूर्धा (सिर), कण्ठ (कर्ण), जिह्वा, नासिका तथा उरस् (छाती और हृदय) हैं। इसके कर्म आहारको आमाशयमें पहुंचाना, थूकना, छींकना, उद्गार, श्वासक्रिया आदि हैं। यह प्राण-संज्ञक अग्नि (पित्त), सोम (कफ), वायु (वायु के अन्य भेद), सत्त्व, रज, तम, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन (जीवात्मा) को अपने-अपने कार्यों में नियोजित करता है[1]। अपने-अपने कर्ममें व्यापृत रहते हैं। इसके विकृत होनेसे श्वास, कास, प्रतिश्याय, स्वरभङ्ग, हिचकी आदि रोग होते हैं।

उदानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग—

उदानवायुके स्थान नाभि, उरस्थल तथा कण्ठ हैं। इसके कार्य बोलना, गाना, प्रयत्न (मनकी प्रेरणा) तथा उत्साह, बल, वर्ण आदिका सम्पादन है। इसके दूषित होनेसे नेत्र, मुख, नासिका, कर्ण और शिरके रोग तथा कासादि उत्पन्न होते हैं।

समानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग—

समानवायु पाचक अग्निके समीप, आमाशय और ग्रहणीमें रहता है। इसका कार्य अन्नको पचाना, अग्निको बल प्रदान करना तथा रस, पुरीष और मूत्रको पृथक् करना है। यह स्वेदवह, दोषवह तथा अम्बुवहों का नियामक है। इसके कुपित होनेसे गुल्म, अग्निमान्द्य, अतिसार आदि रोगोंका प्रादुर्भाव होता है।

व्यानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग—

व्यानवायुका स्थान समस्त शरीर है। यह रस-रक्तादिका संवहन करता है, स्वेद और

१—टीकाकारने प्राण का अर्थ 'अग्नि आदि' दिया है। विस्तार के लिए देखिए पृ० १४।

रुधिरका स्राव करता है[1] तथा प्रसारण, आकुञ्चन आदि पाँच प्रकारकी (मांसधातुसे होनेवाली) चेष्टाओं तथा उनसे होनेवाले गति, निमेष, आक्षेप, आदि कार्योंका हेतु होता है। इसके कुपित होनेसे ज्वर, अतिसार, रक्तपित्त, यक्ष्माप्रभृति सर्वाङ्गगत रोग होते हैं।

अपानवायुके स्थान, कर्म तथा रोग—

अपानवायुका स्थान पक्वाशय, गुद, वृषण, मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय), मूत्राशय, नाभि, जाँघ तथा वङ्क्षण (जाँघका मूल) है। इसका कार्य अवेग कालमें मल, मूत्र, शुक्र, आर्तव तथा गर्भका धारण और वेग एवं काल उपस्थित होनेपर इन्हें बाहर निकालना है। कुपित होनेपर यह अश्मरी (पथरी), प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, शुक्रदोष, आदि मूत्राशय सम्बन्धी ; तथा अर्श, भगन्दर, अहिपूतन (गुदपाक), बद्धगुद, गुदभ्रंश आदि गुदसम्बन्धी घोर रोग उत्पन्न करता है। शुक्रदोष और प्रमेह विशेष करके व्यान और अपानके मिश्रकोपसे उत्पन्न होते हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।

वैदिक ग्रन्थोंमें पाँच अन्य भी वायु कहे हैं। इनके नाम ये हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय। इनके कार्य क्रमसे उद्गार, उन्मेष, क्षुधा और जम्भाई हैं। पाँचवाँ धनञ्जय मृत्युके पश्चात् भी शरीरमें रहता और सर्वव्यापी है। (इन वायुओंका पूर्वोक्त पाँचमें ही अन्तर्भाव है[2]।)

वायुके गुण—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति॥ च० सू० १।५९

रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदाः षडिमे वातगुणा भवन्ति॥ च० सू० १२।४

दारुणत्वं चलत्वं ; यद्वा दारुणत्वं शोषणत्वात् काठिन्यं करोतीति॥ —चक्रपाणि

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः॥ च० वि० ८।९८

शीत इति असंयुक्तस्य वायोर्गुणोऽयं, संयुक्तस्तूष्णोऽपि॥ सु० नि० १—७ पर डल्हन

यह कह आये हैं कि वायु स्वयं अव्यक्त है ; परन्तु उसकी सत्ता और गुण अपने प्राकृत-वैकृत कर्मोंसे व्यक्त होते हैं। वायुके इस प्रकार ज्ञात गुण ये हैं—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद[3] परुष (खर), कठिन तथा शीघ्र (आशुकारी) होता है। इसका अपना गुण शीत है ; परन्तु योगवाह होनेसे पित्तके संयोगसे यह उष्ण भी हो जाता है।

१—रुधिरके स्रावका अर्थ केशिकाओं (या स्रोतों) से रसका स्राव है।

२—आधुनिकोंने जैसे—नर्वस-सिस्टम रचना तथा कर्मकी दृष्टिसे एक ही—अर्थात् समान ही नर्व-सेलों और उनके सूत्रोंसे बना एवं एक ही प्रकारसे इम्पल्सका वाहक होते हुए भी उसके कर्म-भेदसे मस्तिष्क-सौषुम्णिक आदि मुख्य तथा सौरमण्डल इत्यादि स्थानीय भेद किये हैं वैसे ही प्राचीनोंने भी एक ही वायुके स्थानादि भेदसे भेद किये हैं।

३—क्लेद या आर्द्रताको हरने तथा व्रणको सुखानेवाला—

पिच्छिलो जीवनो बल्यः संधानः श्लेष्मलो गुरुः।
विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः॥ सु० सू० ४६।५१७

उनतालीसवां अध्याय

अथातो वातोपकरणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

गत अध्यायमें वायुके प्राकृत कर्मोंका उल्लेख किया गया है। इस अध्यायमें यह बताया जायगा कि यह वायु शरीरमें रहता हुआ किन उपकरणों नाम साधनों द्वारा शरीरमें उल्लिखित प्राकृत कर्म तथा आगामी अध्यायोंमें कहे जानेवाले विकृत कर्म करता है।

वायुका कार्यालय मास्तिष्क—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधिशीर्षतः ॥ अथर्व० १०-२-२६

अथर्वा (ईश्वर) ने पुरुषके शिर तथा हृदयको परस्पर अनुस्यूत—सीया हुआ, गाढ सम्बन्ध-युक्त—किया हुआ है। इसी सम्बन्धके कारण वायु शिरमें स्थित मस्तिष्कमें ऊपर रहता हुआ (प्रत्येक अवयवको निज-निज कर्म करनेकी) प्रेरणा करता है[1]।

वायु मस्तिष्कमें रहकर किस प्रकार शरीरावयवोंको प्रेरणा करता है—यह विषय विस्तारसे आगे देखेंगे।

मन तथा आत्माका स्थान हृदय है—

षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्।
आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्। च० सू० ३०।४
यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत् तत्र संश्रितम्।
तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः।
हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः ॥ च० सू० ३०।६-७

(वायुः) नियन्ता प्रणेता च मनसः ॥ च० सू० १२।८

१—च० सू० ३०।२१ में कहा है कि चारों वेदोंमें आयुर्वेदका मूल वेद है। उसकी ऊपर धृत श्रुतिमें आयुर्वेदके एक ऐसे सिद्धान्तका निर्देश है, जो उपलब्ध संहिताओंमें प्राप्त नहीं होता। दूसरे—इस श्रुतिके अनुसार आयुर्वेदके उन वचनोंका समाधान हो जाता है, जिनमें कहीं हृदयको शरीरकी जीवनी क्रियाओं आदिका मूलस्थान कहा है तथा कहीं शिरको। साथ ही—नवीन चिकित्सा-शास्त्रमें तथा प्राचीन उपनिषद् आदि ग्रन्थोंमें जो मस्तिष्कको ज्ञान-कर्मरूप समस्त क्रियाओंका प्रधान मूल कहा है वह भी आयुर्वेद-संमत है, यह भी इस श्रुतिसे सिद्ध हो सकता है। ऊपर मूलमें ही हमने विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वचनोंका समाधान करनेका प्रयत्न किया है। मंत्रमें आया 'अधि' (ऊपर) शब्द नवीन क्रियाशारीरके अनुसार अत्यन्त सार्थक है। मस्तिष्कमें ऊपर नाडी-कोष (Nerve-cells नर्व सेल्स) रहते हैं। इस भागको 'ग्रे मैटेर' (Grey Matter) कहते हैं। इस भागके नीचे श्वेत भाग होता है, जो नाडी-कोषोंके संदेशहर सूत्रोंसे बना होता है। इसे 'ह्वाइट मैटर' (White Matter) कहते हैं। ऊपर स्थित कोषवाला भाग ही वातका मुख्य आश्रय है। इसमें कोई सन्देह नहीं।

मनश्चेष्टापुरःसरमेव विषयप्रवृत्तेः। मनसोऽपि वाताप्रयत्नाद् विनाऽभाविनी प्रवृत्तिः। × × वातप्रयत्नादात्ममनःपुरःसराणोन्द्रियाणि अर्थोपादानांयाभिप्रवर्तन्ते ॥ सु० नि० १।१५ पर गयदास

अन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयम् ॥ च० वि० ८।४

य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः ॥ तैत्तिरीय उपनिषद्, षष्ठ अनु०

तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्[1] ॥ सु० शा० ४।३१

चेतनासहचरितं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम् ॥ —डल्हन

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ॥ सु० शा० ४।३४

हृदयात् संप्रवर्तन्ते मनःपूर्वाणि देहिनाम्।
इन्द्रियाणि × × ॥ काश्यपसंहिता फक्कचिकित्सा श्लो० ६

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥ हठयोग प्रदीपिका

आत्मा सर्व शरीर और सर्व जगत्‌में व्यापक है। तथापि उसका विशेष स्थान हृदय है। कारण, जिस मनके द्वारा उसकी ज्ञानादिक क्रियाएँ होती हैं वह अणु नाम असर्वगत है तथा उसका स्थान हृदय है। अपनी अणुताके कारण वह जब जिस अवयवको आवश्यकता होवी है तब उस अवयवमें पहुँच जाता है। सो आत्माके प्रधान साधन मनका निवास हृदयमें होनेसे अपने गुणोंसहित आत्माका भी विशेष निवासस्थान हृदय कहा है।

मनके संयोगसे ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयका ग्रहण करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना कर्म करती हैं। मनके अभावमें दोनों अकिञ्चित्कर हैं। (अतः जानो) इन्द्रियोंका स्थान भी हृदयमें ही है।

ज्ञानेन्द्रियोंके शब्दादि पांच विषय भी हृदयमें रहते हैं। (शब्दादिका ब्रह्माण्डमें पृथक् अस्तित्व होते हुए भी उनका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान न हो तो वे विद्यमान होते हुए भी अविद्यमानवत् हैं[2]। और इनकी ज्ञापक ज्ञानेन्द्रियां उक्त प्रकारसे हृदयमें रहती हैं; अतः उपचारसे विषयोंका भी स्थान हृदय ही कह दिया है।)

चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शिरमें हैं, परन्तु मन सूक्ष्म तथा शीघ्रगामी होनेके कारण आवश्यकता होनेपर तत्काल प्रत्येक इन्द्रियके साथ संयुक्त हो जाता है; अतः मनका स्थान हृदयमें होते हुए भी उसको शिरमें स्थित कहा जा सकता है। इस प्रसङ्गमें भेडका निम्न वचन प्रायः उद्धृत किया जाता है; इसमें मनका स्थान शिर और तालुके अन्तर्गत कहा है :—

शिरस्ताल्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः।
तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ॥
… … … समस्तान् हि विजानाति ॥ भेडसंहिता चि० अ० ८

मनकी क्रिया वातके अधीन है। इस वातका प्रधान केन्द्र या कार्यालय मस्तिष्कमें है।

१—ऊपर धृत 'अन्तरात्मन… …' इत्यादि वचनके अनुसार इस वचनमें 'चेतना' का अर्थ आत्मा है। 'खादयश्चेतनाषष्ठाः × × × चेतनाधातुरप्येकः' (च० शा० १।१६) इत्यादिमें चेतना का अर्थ आत्मा प्रसिद्ध भी है।

२—बौद्ध आगममें तो इसीलिये द्रव्यमात्रको ज्ञानमय कहा है। शब्दादिके ज्ञानके अतिरिक्त शब्दादिके आश्रमभूत द्रव्य बौद्धोंको अभिमत नहीं हैं।

वातकी प्रेरणासे मनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध होता है और इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयका ग्रहण अथवा अपना-अपना प्रकृति-नियत कर्म करती हैं।

शिरका महत्त्व—

प्राणाः प्राणभृतां यत्र स्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
तदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते॥ च० सू० १७।१२

प्राणा इति वायवः॥ च० सू० २७।३४२ पर —चक्रपाणि

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः।
मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्॥
सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संश्रिताः।
तेन तस्योत्तमाङ्गस्य रक्षायामादृतो भवेत्॥ अ० हृ० सू० २४।५८-५९
अनामये यथा मूले वृक्षः सम्यक् प्रवर्धते।
अनामये शिरस्येवं देहः सम्यक् प्रवर्धते॥
च० सू० २।३ पर चक्रपाणि-धृत तन्त्रान्तरवचन

शरीर एक विलक्षण अश्वत्थ वृक्ष है। इसका मूल ऊपर है और शाखाएँ नीचेकी ओर सारे शरीरमें प्रसृत हैं। (यह मूल जैसा कि ऊपर कहा गया है, मस्तिष्क है। इसमें ज्ञान ग्रहण करनेवाली नाड़ियाँ प्रविष्ट होती हैं तथा अङ्ग-प्रत्यङ्गको कार्यकी प्रेरणा करनेवाली नाड़ियाँ इससे निकलती हैं। ये ही मस्तिष्क-रूप मूलकी शाखाएँ हैं। इनके अधीन शरीरकी ज्ञान-कर्मरूप समस्त क्रियाएँ हैं। ये क्रियाएँ वायु द्वारा सम्पादित होती हैं।) यह वायु या प्राण शिरमें—मस्तिष्कमें—रहता है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ज्ञानेन्द्रियोंका भी यही आश्रय है। अतः शिरको उत्तमाङ्ग कहा जाता है। इसकी सर्वदा अप्रमत्त होकर रक्षा करनी चाहिये। मूलकी रक्षा और पुष्टिसे जैसे सारे वृक्षकी रक्षा और पुष्टि होती है वैसे शिरकी रक्षा और पुष्टिसे सम्पूर्ण शरीरकी रक्षा और पुष्टि होती है।

हृदय और मस्तिष्कका परस्पर सहकार—

ऊपर कहा गया है कि हृदय और मस्तिष्कका परस्पर गाढ़ सम्बन्ध है। हृदय द्वारा मस्तिष्कको रस-रक्त तथा ओषजनकी प्राप्ति होती है। ज्ञान और कर्मके लिये मस्तिष्कको जो मन और आत्माका सहकार चाहिये, उसमें भी हृदयका सहकार होता है। कारण, हृदय मन और आत्माका आश्रय-स्थान है।

उधर, मन और आत्माके कर्म वायुके सहकारसे होते हैं और इस वायुका केन्द्रस्थान मस्तिष्क है। इस प्रकार शरीरके समस्त कर्म हृदय और मस्तिष्कके परस्पर सहकारसे होते हैं। नीचे लिखे पद्यमें स्पष्ट कहा है कि स्पर्शज्ञान अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेवाला ज्ञान (नाड़ियोंसे—वातसे—सम्पादित होनेपर भी) रक्तके सम्यक् सञ्चार द्वारा ही होता है।

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः शिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि॥ सु० शा० ७।१४[1]

१—हृदय शब्दका विचार—वैद्यकग्रन्थोंमें आनेवाला हृदय शब्द बड़ा विवादास्पद हो गया है। विशेष करके—'तद् (हृदयं) विशेषेण चेतनास्थानम्। अतस्तस्मिंस्तमसावृते सर्वप्राणिनः स्वपन्ति। भवति चात्र—पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम्। जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च

पूर्वोक्त वर्णन तथा आधुनिक अन्वेषणाओंसे सिद्ध है कि शिरके अन्दर स्थित सावयव

निमीलति ॥ सु० शा० ४।३१-३२' इस वचनमें जो हृदयको चेतनाका स्थान कहा है तथा दिनमें इसका विकास (कर्मपरायणता) और रात्रिको सङ्कोच (कर्मशून्यता) कही है, उसके कारण म० म० गणनाथ सेनजी आदि विद्वान् यहाँ आये हृदयका अर्थ मस्तिष्क लेते हैं। परन्तु इसी प्रकरणमें ऊपर हृदयकी जो सीमाएँ बतायी गयी हैं वह निःसन्दिग्ध प्रसिद्ध हृदयकी ओर संकेत करती हैं। तथाहि— 'तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च।' अन्यत्र भी आयुर्वेदमें सर्वत्र हृदय शब्दसे इसी हृदयका अभिधान होता है। इसी प्रकरणमें आये चेतना शब्दका अर्थ जीवनका चिह्नभूत प्रसिद्ध चेतना (Consciousness—कॉन्शसनेस) तथा स्थानका अर्थ मूल कारण समझनेके कारण ही यह भूल हुई है। परन्तु हमने ऊपर कहा है कि चेतनाका अर्थ आत्मा तथा तत्सहचारी मन है। डह्लनने स्पष्ट कहा है—'चेतनासहचरितं मनोऽपि विशेषेण हृदयाधिष्ठानं मतम्।' अथवा चेतनाका अर्थ चैतन्य लें तो भी इस प्रकरणका अर्थ यह होगा कि चैतन्य यों तो समस्त शरीरमें है तथापि हृदयमें वह विशेषतः लक्षित होता है। डह्लन यही कहता है—'तद् हृदयं विशेषेण चेतनास्थानं चैतन्यास्पदं, सामान्येन तु सकलशरीरमेव चेतनास्थानम्। तदुक्तं चरके—"वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्तर्मलद्रवगुणैर्विना ॥ (च० शा० १—१३६)" इति।' तथा—'श्रेष्ठतममायतनमित्यनेनान्योपि शरीरदेशोऽन्तरात्मनः स्थानं, हृदयं तु श्रेष्ठतमं, तत्रैव चेतनाविशेष निबन्धनात्' (च० नि० ८।४ पर चक्रपाणि)। आयुर्वेदमें वातके जो कर्म कहे हैं वे आधुनिक क्रियाशारीरमें नाडीसंस्थान अथवा उसके प्रधान अवयव मस्तिष्कके कर्म कहे गये हैं। आयुर्वेदकी उपलब्ध संहिताओंमें मस्तिष्कके कुछ ऐसे कर्म नहीं कहे गये हैं; साथ ही—हृदयके कर्म जिन शब्दोंमें कहे हैं उनका (चेतना-स्थान इन शब्दोंका) भ्रान्त अर्थ स्वीकार किया गया—इसके परिणामरूप हृदयका अर्थ मस्तिष्क करनेकी प्रवृत्ति हुई है और यह अर्थ लेनेमें सहायक रूपसे अध्यात्मग्रन्थोंसे कुछ ऐसे वचन मिल गये जिनमें 'हृदय' शब्द का अर्थ मस्तिष्क भी होता है। परन्तु आयुर्वेदमें कहीं भी हृदय शब्दसे मस्तिष्क वा शिरका ग्रहण देखनेमें नहीं आता है। अध्यात्मग्रन्थोंमें भी प्रायः सर्वत्र हृदय शब्द प्रसिद्ध हृदयके लिये ही प्रयुक्त हुआ है इन विषयोंके प्रमाणोंका अच्छा संग्रह घाणेकरी सुश्रुत-टीकामें देखिये। वहीं श्री गणनाथ सेनजीके मतका दूषण तथा रात्रिको हृदयके सङ्कोच तथा दिनमें विकासका आधुनिक मतसे प्रतिपादन भी अवश्य द्रष्टव्य है।

संक्षेपमें—इस अध्यायके आरम्भमें धृत आथर्वणी श्रुतिके अभिप्रायको सामने रखा जाय तो जहाँ आयुर्वेद तथा भारतीय दर्शनका मत स्वच्छ हो जाता है वहाँ आधुनिक क्रियाशारीरके साथ भी उसका मेल खा जाता है।

इस विषयके समाधानके लिये योगवाशिष्ठका भी एक सन्दर्भ उपस्थित किया जाता है। इसमें हृदय दो प्रकारके कहे गये हैं, एक प्रसिद्ध हृदय तथा दूसरा सब ज्ञानोंका आश्रय, शरीरके बाहर तथा अन्दर स्थित, केवल ज्ञानरूप, प्रधान, ग्राह्य, सर्वसम्पत्तियोंका निधान तथा जो जड़ और जीर्ण पाषाणतुल्य नहीं है एवं शरीरका एक अंश नहीं है ऐसा। यह दूसरा हृदय मस्तिष्क है, ऐसा कोई मानते हैं। परन्तु ऊपर विशेषण देखनेसे ऐसा प्रतीत नहीं होता। यह हृदय तो आध्यात्मके किसी रहस्यभूत हृदयका वाचक प्रतीत होता है, जिसका विचार हमारे लिये अप्रासङ्गिक है। सुधीजनोंके विचारके लिये उक्त सन्दर्भ यहां देते हैं—

श्रीराम उवाच— ब्रह्मन् जगति भूतानां हृदयं तत् किमुच्यते।
इदं सर्वं महादर्शे यस्मिंस्तत् प्रतिबिम्बति ॥

मस्तिष्क[1] ही ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंका प्रवर्तक है। मस्तिष्कका भी अधिष्ठाता वायु है। इसी मस्तिष्कका योगग्रन्थोंमें सहस्रार, कमल, पद्म आदि नामोंसे अभिधान है, यतः इसका स्वरूप विकसित कमलके तुल्य होता है।

सुषुम्णा-इडा-पिङ्गला—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे
मध्ये नाडी सुषुम्णा ॥
सकलसरसिजान् मेरुमध्यान्तरस्थान् भित्वा देदीप्यते सा ॥ षट्चक्रनिरूपण

सुषुम्णा चव्यवल्लीव मेरुमध्ये परिस्थिता ॥ शारदातिलक

ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता ॥ षट्चक्रनिरूपण टीका

नाड्योऽनन्ताः समुत्पन्नाः सुषुम्णापञ्चपर्वसु ॥ शारदातिलक

मेरु नाम पृष्ठवंशमें तीन नाडियाँ होती हैं। वे ग्रीवासे आरम्भ होकर नीचेकी ओर पृष्ठवंश तक जाती हैं। इनमें मध्यवर्ती नाडी सुषुम्णा[2] कहाती है। यह चव्य-नामक लताके गुच्छोंके समान आकारकी होती है। इससे अनेक उपनाडियाँ निकलती हैं। शेष दो नाडियाँ सुषुम्णाके दोनों पार्श्वोंपर स्थित होती हैं। ये इडा और पिङ्गला (किंवा चन्द्र और सूर्य नाडियाँ) कहाती हैं। सुषुम्णा नाडी सम्पूर्ण कमलोंको भेद कर स्थित होती है।

ऊपर जिन कमलोंका निर्देश है, वे तन्त्रग्रन्थोक्त छः चक्र हैं। इन छः चक्रोंका नाम मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा-चक्र है। इन सब चक्रोंका अधिष्ठातारूप सहस्रार चक्र (आयुर्वेदका मस्तिष्क) है। षट्चक्रोंमें होकर सुषुम्णा नाडीकी शाखायें गुजरती हैं। यही उनका पूर्वलिखित भेदन है।

आयुर्वेदमें सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला तथा षट्चक्रोंका उल्लेख नहीं पाया जाता। तन्त्रग्रन्थोंमें इनका आश्चर्यजनक विस्तार है, जो प्राचीनोंके शारीर-ज्ञानका पुष्ट प्रमाण है। आधुनिकोंके अनुसार सुषुम्णा मस्तिष्कका ही पृष्ठवंशगत अंश और विस्तार है[3]। इडा, पिङ्गला और उनसे सम्बद्ध

श्रीवशिष्ठ उवाच— साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥
इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद् वक्षसोऽन्तरम्।
हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम्।
तदन्तरे च बाह्ये च न बाह्ये नं चान्तरे ॥
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम्।
तदादर्शः परार्थानां तत् कोशः सर्वसम्पदाम् ॥
सर्वेषामेव जन्तूनां संवित् हृदयमुच्यते।
न देहावयवैकांशो जडजीर्णोपलोपमः ॥
यो॰ वा॰ उपशम प्रकरण सर्ग ७८ श्लो॰ ३२।३७

१—Brain—ब्रेन। २—Spinal cord—स्पाइनल कौर्ड।

३—The extension of the brain downwards is the medulla spinalis, more usually known as the spinal cord. Human Physiology, P. 224.

षट्चक्रोंकी स्थिति भी यद्यपि सिरके बाहर ही होती है, तथा उनका कर्म भी मस्तिष्कसे अंशतः स्वतन्त्र होता है, तथापि उनका भी नियामक केन्द्र शिर ही में होता है[1]। इस केन्द्रको आज्ञाकन्द[2] कहते हैं। एवं, आयुर्वेदमें जो शिरको ही समस्त इन्द्रियों, चेतना और ज्ञानका अधिष्ठान कहा है, वह आधुनिक विज्ञानसे सर्वथा संवाद रखता है।

नाडियोंके दो प्रकार—

मनोवहानां पूर्णत्वाद् दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ॥
स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ च॰ इ॰ ५।४१

संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत्।
मोहो मूर्च्छेति तां प्राहुः ॥ सु॰ उ॰४६।६-७

० अभ्युदीर्णा दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम् ॥ च॰ नि॰ ७।४

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च।
पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥
प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा।
मदमूर्च्छायसंन्यासाः—॥ च॰ सू॰ २४।२५—२७

संज्ञावहेषु स्रोतःसु दोषव्याप्तेषु मानवः।
रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥
विक्षिपन् हस्तापादं च विजिह्मभ्रूविलोचनः।
दन्तान् खादन् वमन् फेनं विवृताक्षः पतेत् क्षितौ ॥
अल्पकालान्तरं चापि पुनः संज्ञां लभेत सः।
सोऽपस्मार इति प्रोक्तः ॥ सु॰ उ॰ ६१।८—१०

श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः।
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ सु॰ क॰ ७।४३

तैरल्पसत्त्वस्यमलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः[3] ॥ च॰ चि॰ ९।५

मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि, तथापि 'मनसः केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्।' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते ॥ च॰ इ॰ ५।४१ पर चक्रपाणि

१—From the controlling centre in the thalamus its fibres are distributed to the various viscera, glands, blood-vessels and plain muscles.

Human Physiology, P. 224.

२—Thalamus—थैलेमस।

३—इन पद्योंमें क्रमसे दारुण स्वप्न, मूर्च्छा, उन्माद; मद, मूर्च्छा और संन्यास; अपस्मार,

अतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतञ्च ॥
च० वि० ५।६

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ च० शा० १।१३६

केश, लोम, नखोंका अग्रभाग, अन्न, मल, मूत्र और शब्दादि विषयोंको छोड़कर इन्द्रियों समेत समस्त शरीर चेतनाका अधिष्ठान (आश्रय) है। इसमें दो प्रकारकी नाडियाँ[1] परिव्याप्त हैं। इनका नाम संज्ञावह तथा मनोवह है। (संज्ञावह नाडियोंका[2] कार्य मस्तिष्कको[3] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धकी संज्ञाएँ पहुँचाना है। मनोवह नाडियाँ[4] मस्तिष्कसे प्रत्येक अङ्गको देशकालानुरूप चेष्टाएँ करनेका सन्देश (मनस्) ले जाती हैं।)

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इनकी व्याख्या करनेके पूर्व हम आयुर्वेदमतसे आत्मा, मन और उभयविध इन्द्रियोंका परिचय प्राप्त करेंगे।

सब ज्ञानेन्द्रिय स्पर्शेन्द्रियात्मक हैं—

तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं, चेतःसमवायि, स्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतः ॥ च० सू० ११।३८

एकं स्पर्शनमिति—स्पर्शनमेव नान्यच्चक्षुरादि। × × × यावति प्रदेशे स्पर्शनं तिष्ठति, तावन्तं देशं मनो भ्रमयति प्रत्यक्षेणार्थग्रहणार्थं, तदा तेन प्रदेशेन चक्षुरादिरूपेणार्थं गृह्णातीति न युगपज्ज्ञानोत्पत्तिः ॥ —चक्रपाणि

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ च० शा० १।१३६

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ च० शा० १।१३३

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्श इत्यनेन इन्द्रियाणामर्थेन सम्बन्धं स्पर्शनेन्द्रियकृतं दर्शयति; चक्षुरादीन्यपि स्पृष्टमेवार्थं जानन्ति ॥ —चक्रपाणि

अलर्क विष एवं उन्मादकी संप्राप्ति बताते हुए मनोवह वा संज्ञावह स्रोतोंका दोषोंसे अवरुद्ध होना कहा है। शास्त्रमें पृथक् निर्देश न होनेपर भी इन्हीं प्रमाणोंसे उक्त दो प्रकारके स्रोतोंका होना सिद्ध है। आगे दिये चक्रपाणि के वचनमें भी यही वस्तु प्रतिपादित है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद तथा भारतीय दर्शनमें जो इन्द्रियोंके दो विभाग—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय - किये गये हैं, उससे भी दो प्रकारके स्रोत होनेका संकेत मिलता है। कारण, इन इन्द्रियोंका मन (या मस्तिष्क) के साथ सम्बन्ध किन्ही स्रोतों द्वारा ही होना सम्भव है, अन्यथा नहीं। उभयविध स्रोतोंका ही एक नाम नाडी है। यद्यपि नाडी शब्दका नाना अर्थोंमें शास्त्रमें प्रयोग है, तथापि वर्तमान 'नर्व्स' के अर्थमें इन्हें रूढ कर लेना चाहिये, ऐसा म० म० गणनाथ सेनजी ने प्रत्यक्षशारीरमें आदरणीय प्रकारसे सिद्ध किया है।

१—मूलमें स्रोत शब्द है। पूर्वोक्त कारणसे इसका अर्थ हमने नाडी किया है।

२—Afferent nerves—ऐफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स।

३ - मूलोक्त च० नि० ७।४ के 'हृदयमुपसृत्य' में इन नाडियोंका सम्बन्ध हृदयसे बताया है।

४—Efferent nerves—इफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Motor nerves—मोटर नर्व्स।

श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात् ॥
च० सू० १२।८ पर चक्रपाणि

यद्यपि, जैसा कि सुविदित है, ज्ञानेन्द्रियाँ चक्षु आदि पाँच हैं, तथापि सत्यार्थ यह है कि ज्ञानेन्द्रिय एकही है और वह है स्पर्शेन्द्रिय। यह समस्त इन्द्रियों अथवा समग्र शरीरमें व्यापक है। केवल केश, लोम आदि अपवाद हैं, जिनमें न तो स्पर्शेन्द्रिय होती है, न ही किसी प्रकारकी वेदना (ज्ञान)। मनका स्पर्शेन्द्रियसे समवाय सम्बन्ध है; अर्थात् जहाँ-जहाँ स्पर्शेन्द्रियसे रूपादि किसी भी प्रकारके प्रत्यक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति हो रही होती है, वहाँ-वहाँ मनकी सत्ता अवश्य होती है। संज्ञावह स्रोत (नाडियाँ) केशादिके अतिरिक्त शरीरमें सर्वत्र परिव्याप्त हैं। इनका रूपादि विषयोंसे स्पर्श होता है[1]। वात इन संज्ञावहाओंमें सर्वदा स्थित होता है। उसकी प्रेरणासे मन संज्ञावहों द्वारा आत्माको ज्ञानकी प्राप्ति कराता है।

मनका इन्द्रियोंसे स्वतन्त्र ज्ञान—चिन्तन आदि—भी स्पर्श द्वारा ही होता है। चिन्तनीय विषयोंसे मनका स्पर्श होनेसे ही चिन्तन आदि मनके ज्ञानोंका उद्भव होता है।

ज्ञान और कर्मकी उत्पत्तिका प्रकार—

आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते।
करणानामवैमल्याद्योगाद् वा न वर्तते॥ च० शा० १।५४
करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च॥
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद् वर्तते कर्म तमृते नास्ति किंचन॥ च० शा० १।५६-५७
हस्तौ पादौ गुदोपस्थं वागिन्द्रियमथापि वा।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्च॥ च० शा० १।२५
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा॥ च० शा० १।३३
—चक्रपाणि
एकैकेति प्रत्येकम्॥
पञ्चेन्द्रियबुद्धयः, ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः॥ च० सू० ८।१२
आत्मा मनसा संयुज्यते, मनः इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन॥ —चक्रपाणि
मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तत्र चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनमिति पञ्चेन्द्रियाणि। च० सू० ८।७-८
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः। च० शा० १।३१
बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः॥ सु० शा० १।५

१—ज्ञानोत्पत्तिका यह स्वरूप आधुनिक क्रियाशारीरसे पूर्ण संवाद रखता है। देखिये—
The sense of touch may be regarded as a modification of common sensation; and all parts of the body which are supplied with sensory nerves are to a certain extent organs of touch. Human Physiology. P. 251.

सब ज्ञानेन्द्रियाँ स्पर्शात्मक होनेसे संस्कृतमें विषयोंका एक नाम स्पर्श भी है। यथा—'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा', 'ये हि संस्पर्शजा दोषाः', 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय' (गीता)।

पञ्चेन्द्रियार्थाः—शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥ च० सू० ८।११

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा ॥ च० शा० १।२२

विषयोंका ज्ञान आत्माको होता है। अतः उसे ज्ञाता कहते हैं। परन्तु, वह अकेला ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। न ही वह अकेला कर्म करने किंवा उनका फल भोगनेमें समर्थ है। कतिपय करण नाम साधन हैं, जिनके सहकारसे आत्मा ज्ञान, कर्म आदिके सम्पादनमें समर्थ होता है। ये करण निम्न हैं—मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय।

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा। वस्तुस्थित्या ये सब भी स्पर्शेन्द्रियात्मक ही हैं। प्रत्येक इन्द्रिय एक-एक विषयका ग्रहण करती है। नेत्र रूपका, श्रोत्र शब्दका घ्राण गन्धका, रसना रसका और त्वचा स्पर्शका। एवं इन्द्रियोंके रूपादि पाँच विषय हैं—इन्हीको ज्ञेय, गोचर, अर्थ या गुण भी कहा जाता है। कर्मेन्द्रियां भी पाँच हैं—हाथ, पैर, गुद, उपस्थ और वाक्।

ज्ञानोत्पत्तिका क्रम निम्न प्रकार होता है—इन्द्रियोंका अपने-अपने अर्थसे संयोग होता है। जिस काल जिस विषयका ज्ञान हो रहा होता है, उस काल उस अर्थकी ग्राहक इन्द्रियके साथ मनका सम्बन्ध होता है। मनका आत्मासे सम्बन्ध होता है। इस प्रकार विषयका ग्रहण होता है।

ज्ञानेन्द्रियोंसे एक-एक विषयका ग्रहण—

तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते; तत्र यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात् तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद् विभुत्वाच्च ॥ च० सू० ८।१४

विभुत्वादिति शक्तत्वात् ॥ —चक्रपाणि

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ सु० शा० १।१५

पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि—खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति ॥

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि—अक्षिणी कर्णौ नासिके जिह्वा त्वक् चेति ॥ च० सू० ८।९-१०

इन्द्रिय सभी पाञ्चभौतिक हैं[1]; तथापि प्रत्येक इन्द्रियमें एक-एक भूतका प्राधान्य होता है। अग्नि चक्षुमें, आकाश श्रोत्रमें, पृथ्वी घ्राणमें, जल रसनामें तथा वायु त्वचामें सविशेष होता है। अतः, जिस इन्द्रियमें जिस भूतकी प्रधानता होती है, उस इन्द्रियका स्वभाव तथा शक्ति उसी भूतके ग्रहणकी होती है। जैसे, चक्षु अपने कारणभूत महाभूत अग्निके गुण रूपका ही ग्रहण करता है एवं श्रोत्र आकाशका इत्यादि।

ज्ञानेन्द्रियाँ अनुमानगम्य हैं। प्रत्यक्षसे केवल उनके गोलकों (अधिष्ठानों) का ज्ञान होता है।

कर्तुः संयोगजं कर्म ॥ च० शा० १।५६

१—ध्यान रहे, वस्तुस्थित्या (सांख्य मतसे) इन्द्रियाँ अहंकारसे उत्पन्न होती हैं। (देखिये—सु० शा० १।४) आयुर्वेदमें व्यवहारकी दृष्टिसे अन्य द्रव्योंके समान मनको भी भौतिक माना है।

कर्ता अर्थात् आत्मा ही का मन द्वारा कर्मेन्द्रियोंके साथ संयोग, होनेसे विविध कायिक व्यापार होते हैं। यह संयोग, जैसा कि पहले कह आये हैं, मनोवह नाडियों द्वारा होता है। ये नाडियाँ वातकी प्रेरणासे मनका वहन करती हैं।

पादौ गमनकर्मणि॥
पायूपस्थं विसर्गार्थं हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वागिन्द्रियम्॥ च० शा० १।२५-२६

कर्मेन्द्रियाणां वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि॥ सु० शा० १.५

कर्मेन्द्रियोंसे होनेवाले कर्म ये हैं—पैरोंसे गति, पायु (गुद) से मलत्याग, उपस्थसे मूत्र और शुक्रका त्याग, हाथोंसे ग्रहण और धारण, जिह्वासे वाक् प्रयोग।

अन्तःकरणके भेद —

चतुर्विधं हि विकल्पकारणं सांख्या मन्यन्ते ; तत्र बाह्यमिन्द्रियरूपम् ; आभ्यन्तरं तु मनोऽहंकारो बुद्धिश्चेति त्रितयम्। तत्रेन्द्रियाण्यालोचयन्ति निर्विकल्पेन गृह्णन्तीत्यर्थः ; मनस्तु संकल्पयति हेयोपादेयतया कल्पयतीत्यर्थः, अहंकारोऽभिमन्यते 'ममेदमहमत्राधिकृतः' इति मन्यत इत्यर्थः ; बुद्धिरध्यवस्यति त्यजाम्येनं दोषवन्तमुपाददाम्येनं गुणवन्तमित्यध्यवसायं करोतीत्यर्थः॥

च० शा० १।२१ पर चक्रपाणि

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी॥ —शंकरस्वामी

सांख्यमतसे ज्ञानके करण (साधन) दो प्रकारके हैं—बाह्य तथा आभ्यन्तर। बाह्य साधन पूर्वोक्त पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। आभ्यन्तर साधन अन्तःकरण है, जिसके तीन भेद हैं—मन, बुद्धि और अहंकार। कोई आचार्य चित्त नामक चौथा भेद भी मानते हैं। इनके विषय तथा कार्य क्रमशः नीचे दिये जाते हैं।

मनके विषय —

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्पमेव च।
यत् किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥ च० शा० १।२०

यत्किंचिदित्यनेन सुखाद्यनुक्तविषयावरोधः। मनसो ज्ञेयमिति इन्द्रियनिरपेक्षमनोग्राह्यम्॥

—चक्रपाणि

ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायताके विना केवल मनसे जिनका ज्ञान होता है, वे मनके विषय हैं। अर्थात्—जो कुछ चिन्ता, विचार, तर्क, ध्यान तथा संकल्पके योग्य विषय तथा सुख वा दुःख प्रभृति हैं, वे सब मनके ग्राह्य विषय हैं।

मनके कर्म -

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥
इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽपि वा॥ च० शा० १।२१-२२

इन्द्रियों के अधिष्ठानोंमें जाकर विषयोंका ग्रहण करना, अनिष्ट विषयोंमें प्रवृत्त होनेपर अपना आप निग्रह, तर्क, विचार तथा गुण-दोष विवेचन (संकल्प) ये मनके कर्म हैं।

बुद्धिका कार्य—

× × ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ च० शा० १।२१-२२

अहंकारव्यापारश्चाभिमननमिहानुक्तोऽपि बुद्धिव्यापारेणैव सूचितो ज्ञेयः। बुद्धिर्हि त्यजाम्येन-मुपाददामीति वाऽध्यवसायं कुर्वती अहंकाराभिमत एव विषये भवति। तेन बुद्धि व्यापारेणैवाऽहंकार-व्यापारोऽपि गृह्यते। बुद्धौ हि सर्वव्यापारार्पणं भवति[1]। —चक्रपाणि

मनके व्यापारके अनन्तर बुद्धिकी प्रवृत्ति होती है। मानसज्ञान होनेके पश्चात् यह कार्य मुझे करना है, यह नहीं करना ; यह छोड़ना है, यह ग्रहण करना है ; यह कहना है, यह नहीं कहना इत्यादि रूप जो निश्चय है वह बुद्धिका कार्य है। बुद्धिके कार्यका नाम अध्यवसाय है।

अहंकारका कार्य—

अहंकारका कार्य अभिमान कहाता है। अपने भीतर जो 'मैं और मेरा' का भाव है, वह अहंकारके कारण है। कई आचार्य चित्तको अन्तःकरणका चौथा भेद मानते हैं। उसका कार्य स्मरण है। भेडाचार्य मन, बुद्धि और अहंकारके कर्मोको एक मनके ही कर्म कहते हैं[2]।

मनके आस्तित्वकी सिद्धि—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षेन वर्तते ॥
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात् तच्च वर्तते।
अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ च० शा० १।१८-१९

वैवृत्त्यान्मनस इति इन्द्रियेणसंयोगात्, सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात् ॥ —चक्रपाणि

न चानेकत्वं, नह्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः ॥ च० सू० ८।५

आत्माके विभु होनेसे इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ तथा आत्माका सम्बन्ध नित्य है। तथापि देखते हैं कि रूपप्रत्यक्षादि इन्द्रियजन्य ज्ञान सर्वदा नहीं होता ; कभी होता है, कभी नहीं। इससे अनुमान होता है कि एक अन्य भी द्रव्य है, जिसका एक ओर आत्मासे तथा दूसरी ओर इन्द्रियोंसे सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होनेपर तो ऐन्द्रिय ज्ञान होता है और सन्निकर्ष न होनेपर नहीं। यही द्रव्य मन है।

मनके गुण—

मन एक है। कारण, अनेक मन होते तो एक ही कालमें अनेक इन्द्रियोंसे उनका सम्बन्ध

१—एतद्विषयक सांख्यकारिकाका चक्रपाणि धृत प्रमाण तथा उसकी वाचसपति मिश्र कृत व्याख्या निर्णयसागरी चरकसंहितामें देखिये।

२—देखिये—समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति।
तन्मनः प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥ भेडसंहिता चि० अ० ८

शक्य होनेसे अनेक ज्ञान होते, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। अतः मन एक ही है। मन अणु (असर्वव्यापी) है।

मन और आधुनिक क्रियाशारीर—

आधुनिक क्रियाशारीरविद् मनकी व्याख्या करनेमें असमर्थ हैं ; तथापि वे उसके अस्तित्वका निषेध भी नहीं कर सकते। हैलीवर्टन और मैकडौवल कहते हैं—'नाडीसंस्थानके एक-एक कोषका पूरा ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तो भी भौतिक (शारीरिक) और मानसिक कार्योंके मध्य पड़ी खाई तिल भर भी भरी न जा सकेगी—मानसिक व्यापारोंको समझनेकी हमारी शक्तिमें रत्तीभर भी वृद्धि न होगी। प्रकाशकी किरण जैसे स्वयं अपनेको नहीं देख सकती, वैसे ही हम केवल नाडीसंस्थानके अनुशीलनसे चैतन्यका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते।

'अच्छा यह है कि क्रियाशारीर और मनोविज्ञानको एक दूसरेके क्षेत्रमें न आने दिया जाय। दोनों शास्त्र अपने शब्दोंमें अपने सिद्धान्तोंका विचार करें[१]।'

वही लेखक पुनः कहते हैं—'यह सर्वथा विचारगम्य है कि नाडीसंस्थानके विभिन्न अङ्ग संज्ञा और चेष्टाके वेगोंके मार्गमात्र हैं[२]।'

सात्त्विक, राजस और तामस मन और पुरुष—

तत् (सत्त्वं) त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं, राजसं, तामसमिति ॥ च० शा० ३।११९

यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो बाहुल्यानुशयात् ॥ च० सू० ८।६

अन्य भौतिक या प्राकृतिक द्रव्योंके समान मन भी सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंका बना हुआ है। तथापि प्रत्येक पुरुषके मनका एक-एक गुणसे सम्बन्ध बार-बार (प्रायः) देखनेमें आता है, अर्थात् उसके कर्मोंमें बहुधा एक-एक गुणकी ही अधिकता पायी जाती है। एक-एक गुणके साथ अधिक सम्बन्धके कारण मनको भी सात्त्विक, राजस या तामस कहा जाता है। सात्त्विक आदि मनोंके सम्बन्धसे पुरुषोंको भी सात्त्विक, राजस या तामस कहते हैं।

सात्त्विक आदि पुरुषोंके लक्षण—

सात्त्विकास्तु—अनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं

१—We must recognise that, however completely we may one day have mapped out the functions of the various parts of the brain, we shall nevertheless not have approached a step nearer towards understanding the relation between the data of physiological and psychical activity. If we knew the function of every nerve cell of the body, the gap between the material and the mental would not be a bit less wide. Just as a ray of light can not see itself, so we cannot expect to understand consciousness from a mere study of cerebral function.

It is therefore imperative to avoid confusion between the two aspects involved in this psychophysical parallalism. The psychical is one language, the physical (i. e. the physiological) is another; and the two vocabularies must be the kept distinct from one another. Vide, Handbook of Physiology, (31st edition) P. 713

२—It is quite conceivable that they are merely areas through which the nerve impulses must pass in order that the corresponding sensations may be developed. Vide, Handbook of Physiology (31st edition) P. 716

बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च: राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहंकार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च ; तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥ सु० सू० १।१८

सत्यं भूतहितं तथ्यं वचो वा। धर्मः कायवाङ्मनोभिः सुचरितम्। मेधा ग्रन्थावधारणशक्तिः। फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणमनभिषङ्गः॥ —डल्हन

अक्रूरता, उपभोज्य द्रव्योंको बाँटकर भोग करनेका स्वभाव, क्षमा, सत्य (प्राणियों का हित किंवा सत्यभाषण) ; शरीर, मन और वाणीसे उत्तम कर्म करना, आस्तिकता, आत्मज्ञान, प्रतिभा, मेधा (ग्रन्थस्थ विषयोंके समझनेकी बुद्धि), स्मृति, धैर्य, निःस्पृहता—ये सात्त्विक पुरुषके लक्षण हैं। अति दुःख अनुभव करना, इत्वरता (आवारागिर्दी), अधैर्य, अहंकार, मिथ्याभाषण, निर्दयता, दम्भ, मान, हर्ष, काम और क्रोध—ये राजस पुरुष के लक्षण हैं। विषाद (शोक), नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धिहीनता, अज्ञान, दुष्टबुद्धिता, अकर्मशीलता, निद्रालुता—ये तामस पुरुष के लक्षण हैं[1]।

सत्त्वसार पुरुषके लक्षण—

स्मृतिभक्तिप्रज्ञाशौचशौर्योपेतं कल्याणाभिनिवेशं सत्त्वसारं विद्यात्। × × ×। एषां पूर्वं पूर्वं प्रधानमायुःसौभाग्ययोरिति[2]। सु० सू० ३५।१६

स्मृतिमन्तो भक्तिमन्तः कृतज्ञाः प्राज्ञाः शुचयो महोत्साहा दक्षा धीराः समरविक्रान्तयोधिनस्त्यक्तविषादाः सुव्यवस्थितगतिगम्भीरबुद्धिचेष्टाः कल्याणाभिनिवेशिनश्च सत्त्वसाराः॥ च० वि० ८।११०

पहले कह आये हैं कि रोगपरीक्षामें सारकी परीक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिये। रक्त, मांस आदिकी सारता उस-उस धातुके प्रकरण में जतायी जा चुकी है। सत्त्व नाम मनकी सारताके लक्षण कहते हैं। सत्त्वसार अर्थात् विशुद्ध और उत्कृष्ट मनवाले (मनोबलसम्पन्न) पुरुष स्मृतिमान्, भक्तियुक्त, प्राज्ञ, शुद्ध, कृतज्ञ, उत्साही, शूर, पराक्रमी, विषादरहित, शीघ्रकारी (दक्ष), धीर, सुव्यवस्थित चाल और चेष्टाओंवाले, गम्भीरस्वभावके तथा कल्याणमय कार्योंमें ही प्रवृत्त होनेवाले होते हैं। सम्पूर्णसारोंमें उत्तरोत्तर पहला सार आयु और सौभाग्यकी दृष्टिसे श्रेष्ठ है ; अर्थात् त्वचा (रस) से रक्त, रक्तसे मांस, मांससे मेद, मेदसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा, मज्जासे शुक्र और शुक्रसे सत्त्वसार उत्कृष्ट है।

बलभेदसे मन तथा तदनुसार पुरुषोंके तीन भेद—

सत्त्वतश्च (आतुरं परीक्षेत)। इति सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकमात्मसंयोगात्। तत्त्रिविधं बलभेदेन—प्रवरं, मध्यम्, अवरं चेति ; अतश्च प्रवरमध्यावर-

१—सु० शा० ४।८१–९७ तथा च० शा० ४।३६–५५ में सात्त्विकप्रकृति पुरुषोंके ब्राह्म, माहेन्द्र आदि सात ; राजसोंके आसुर, सार्प आदि छः तथा तामसोंके पाशव आदि तीन भेद कहकर उनके सविस्तर लक्षण दिए गए हैं, और कहा है कि ये भेद तो केवल उदाहरण रूप हैं, यों प्रत्येक भेदके असंख्यों उपभेद होते हैं।

२—डल्हन ने यहाँ सत्त्वका अर्थ सत्त्वगुण लिया है। 'अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेतः' (च० सू० ८—४) के अनुसार सत्त्वका अर्थ मन भी हो सकता है। उसीकी विशुद्धि यहाँ ग्राह्य है। यह सत्य है कि मनकी विशुद्धि सत्त्वगुणके बाहुल्यसे ही होती है।

सत्त्वाः पुरुषाः भवन्ति। तत्र प्रवरसत्त्वाः सत्त्वसारास्ते सारेषूपदिष्टाः। स्वल्पशरीरा ह्यपि ते निजागन्तुनिमित्तासु महतीष्वपि पीडास्वव्यथा ('अव्यग्रा' इति पाठान्तरम्) दृश्यन्ते, सत्त्वगुणवैशेष्यात्। मध्यसत्त्वास्त्वपरानात्मन्युपनिधाय[1] संस्तम्भयन्त्यात्मनाऽऽत्मानं परैर्वा संस्तभ्यन्ते। हीनसत्त्वास्तु नात्मना नापि परैः सत्त्वबलं प्रतिशक्यन्ते उपस्तम्भयितुं, महाशरीरा ह्यपि ते स्वल्पानामपि वेदनानामसह्या दृश्यन्ते, संन्निहितभयशोकलोभमाना रौद्र-भैरवद्विष्टबीभत्सविकृतसंकथास्वपि च पशुपुरुषमांसशोणितानि चावेक्ष्य विषादवैवर्ण्य-मूर्च्छोन्मादभ्रमप्रपतनानामन्यतममाप्नुवन्त्यथवा मरणमिति ॥ च० वि० ८।११९

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम् ॥
सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः ॥ सु० सू० ३५।३७-३८

सत्त्वं मनोबलं गुणविशेषो रजस्तमसोर्विपक्षः। सत्त्वे सति पीडादिसहिष्णुत्वलक्षणं मनोबलं भवति ॥ —डल्हन

सत्त्व आदि गुणोंकी दृष्टिसे मनके तथा तदनुसार पुरुषोंके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं, यह ऊपर कह आये हैं। इनके सिवाय बल अथवा सहन-शक्तिके भेदसे पुनः मन तथा पुरुषोंके तीन भेद होते हैं—प्रवर, मध्य तथा अवर—हीन (उत्कृष्ट, मध्यम तथा कनिष्ठ—निकृष्ट)। इनमें प्रवरसत्त्व पुरुषोंका ही अन्य नाम सत्त्वसार है। इनके लक्षण ऊपर कहे जा चुके हैं। ये प्रवरसत्त्व या सत्त्वसार पुरुष कृश शरीरवाले हों तो भी बड़ेसे बड़े निज किंवा आगन्तु रोगोंमें भी सत्वगुणकी अधिकताके कारण पीड़ाको अन्दर ही अन्दर—प्रकट किये बिना—सहन कर सकते हैं। मध्यसत्त्व पुरुष दूसरोंको कष्ट सहन करते देखकर अथवा दूसरोंके हिम्मत बँधानेपर पीड़ा सहन करते हैं। परन्तु हीनसत्त्व पुरुष न स्वयं धैर्य धारण कर सकते हैं, न दूसरोंके धीरज बँधानेपर। वे विशाल शरीरवाले हों तो भी अल्पमात्र वेदनाको सहन नहीं कर सकते; भय, शोक, लोभ, मोह और मान (गर्व) से ग्रस्त रहते हैं; भयंकर, बीभत्स या अरुचिकर बातचीतमें भी अथवा पशु या पुरुषके मांस या रुधिरको देखकर भी वे विषाद (मनोभङ्ग[2]), विवर्णता (शरीरका फीकापन) मूर्च्छा, उन्माद, भ्रम या प्रपतन (चक्कर खाकर गिर जाना—गश) इनमेंसे किसी विकार या मृत्यु-तकको प्राप्त होते हैं[3]। मध्यसत्त्वता रजोगुणके कारण तथा हीनसत्त्वता तमोगुणके कारण होती है।

आत्माके गुण—

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः संकल्पोविचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥ सु० शा० १।१७

१—सत्त्वगुणवैशेष्यादिति सत्त्वगुणेन संस्तम्भितवेदनाविकारत्वादव्यथा इव दृश्यन्त इत्यर्थः। परानात्मन्युपनिधायेति परं वेदनासहं दृष्ट्वा, 'चेदयं वेदनासहस्तदहमपि वेदनासहो भवामि' इति कृत्वा वेदनां सहत इत्यर्थः ॥ —चक्रपाणि

२—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः। —साहित्यदर्पण

३—आयुर्वेद मतसे रोगपरीक्षामें प्रकृति आदि दस वस्तुओंकी परीक्षा करनी चाहिये। इनमें एक परीक्षा मनकी भी है। मनकी परीक्षा न करें तो महासत्त्व पुरुषोंका महान् भी रोग अल्प माननेकी किंवा हीनसत्त्व पुरुषोंमें अल्प भी रोग बड़ा माननेकी भूल होना सम्भव है।

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत् ॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा ।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः ।
बुद्धिः स्मृतिरहंकारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥
यस्मात् समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः ।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥
शरीरं हि गते तस्मिञ्शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ च० शा० १।७०—७४

प्राणापानावुच्छ्वासनिःश्वासौ ॥ —चक्रपाणि

आत्माका स्वरूप प्रकट करनेवाले उसके गुण निम्न हैं—सुख और दुःख अर्थात् अपने अनुकूल और प्रतिकूल विषयोंका अनुभव, अभिमत विषयोंपर प्रीति (इच्छा) तथा अनभिमत विषयोंपर अप्रीति (द्वेष), प्रयत्न, उच्छ्वास-प्रश्वास, उन्मेष-निमेष, जीवन (शरीरकी वृद्धि), बुद्धि और उससे अध्यवसाय ; मनसे संकल्प, विचार, स्मृति, शिल्प और शास्त्रका ज्ञान ; एक इन्द्रियको छोड़कर दूसरी इन्द्रियमें जाना, शब्दादि विषयोंका ग्रहण, मनका प्रेरण और धारण, स्वप्नमें स्थलान्तरमें जाना, मृत्युका ज्ञान, दक्षिण नेत्रसे देखे विषयका वाम नेत्रको भी बोध होना (इसी प्रकार एक इन्द्रियके ग्रहण किये विषयका दूसरी इन्द्रियसे प्रतिसन्धान), चैतन्य, धैर्य और अहंकार। जीवित पुरुषमें ही ये गुण देखे जाते हैं, अतः उसीमें आत्माका प्रकाश माना जाता है। मृत शरीर केवल पाञ्चभौतिक होनेसे 'पञ्चत्वको प्राप्त' कहा जाता है।

उक्त गुणोंसे आत्माकी सिद्धि भी होती है—अतः इन्हें आत्माके लिङ्ग (साधन या हेतु) भी कहा जाता है[1]। आधुनिक मानसशास्त्री और उनके अनुकरणमें क्रियाशारीरशास्त्री ज्ञाता, स्मर्ता प्रतिसंधाता और कर्ता आत्माको इगो[2] नामसे पुकारते हैं[3]।

मनको कर्ता क्यों नहीं कहते ?—

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्तेविभोः क्रियाः ॥

१—इन लिङ्गोंसे आत्माकी सिद्धिका प्रकार गुरुमुखसे जानना चाहिये। च० शा० १।३९–४५ में आत्माके अस्तित्वका हृदयङ्गम शब्दोंमें प्रतिपादन किया गया है। २—Ego.

३—A conscious state implies also a contract between what is outside of ourselves (the object) and our feelings and strivings in connection with it, which are spoken of as subjective. The existence of this "subject-object relation" implies the activity of an Ego, who experiences conscious state, who is cognisant, feels or strives. Indeed no state of conscious is ever possible, unless experienced by the Ego.

Vide, Handbook of Physiology (31st edition), P. 714.

चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥

च० शा० १।७५-७६

आत्मा चेतन है । उसके संयोगसे मनमें क्रिया होती है । अतः मनको क्रियावान् होते हुए भी कर्ता नहीं कहा जाता है । क्रियाका कारण होनेसे आत्मा ही कर्ता कहाता है ।

आशय यह है कि प्रकृतिसे क्रमशः महदादि तत्त्व उत्पन्न होकर समस्त चेतन और अचेतन द्रव्य बनते हैं । चेतन द्रव्योंमें चैतन्यका मुख्य कारण उनमें मनका होना है । शरीरमें वस्तुतः मन ही इन्द्रियोंके सहकारसे सब क्रियाएँ करता है । आत्मा तो केवल द्रष्टा है । परन्तु मन और इन्द्रियोंकी इस क्रियाका कारण आत्माका सांनिध्य या विद्यमानता है । अचेतन द्रव्योंमें भी उसके कारण सृष्टि-स्थिति-प्रलयात्मक विविध क्रियाएँ देखी जाती हैं । सो, इस शरीरमें ज्ञान और कर्मरूप विविध कर्मोंका कर्ता मन ही है । परन्तु क्योंकि मनके इन कर्मोंका कारण आत्मा है, अतः मनको कर्ता-ज्ञाता न कहकर आत्माको ही कर्ता-ज्ञाता कहनेकी पद्धति है ।

ज्ञानके अयथार्थ होनेका कारण—

पश्यतोऽपि यथादर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम् ।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ च० शा० १।५५

चेतसीत्युपलक्षणं, तेन चक्षुरादावप्युपहत इति ज्ञेयम् ॥ — चक्रपाणि

मन वा इन्द्रियके दूषित होनेसे आत्मा यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है ; जैसे दर्पण या जल मलिन हो तो उसमें प्रतिबिम्ब यथार्थ नहीं होता ।

शरीरमें मनका प्रवेश और निर्गमन ही आत्माका प्रवेश और निर्गमन किंवा जन्म और मरण हैं—

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥

च० शा० २।३१

× × आकाशमिहाक्रियत्वेन देहान्तरगमनकर्मणि नोक्तम् । मनसा जवते गच्छतीति मनोजवः । एतेन चात्मनो व्यापकस्य यद्यपि देहान्तरगतिर्नास्ति तथाप्यस्य मनोगतिरेव भूतसहिता गतिशब्देनोच्यत इति दर्शितं भवति । × × कर्मात्मकत्वादिति कर्माधीनत्वात् × × ॥

—चक्रपाणि

अस्ति च खलु सत्त्वमौपपादुकमिति ॥ च० शा० ३।३

औपपादुकमिति आत्मनः शरीरान्तरसम्बन्धोपपादकम् । एतच्च व्याकृतमेव पूर्वम् ॥

—चक्रपाणि

अस्ति खलु सत्वमौपपादुकं, यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति, यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते ।

च० शा० ३।१९

× × एवं मन्यते—यदि मनोऽत्रात्मनः शरीरसम्बन्धेन स्वीक्रियते तदा व्यापकत्वादात्मनः

सर्वत्रैवोपलब्ध्या भवितव्यम्, न च भवति, तस्माद्यत्रैव स्पर्शवति शरीरे मनः प्रतिबद्धं भवति, तत्रैवायं सुखाद्युपलभते ॥ —चक्रपाणि

आत्मा सर्वव्यापक है, अतः जीवित या मृत दोनों ही शरीरोंमें उसकी उपस्थिति रहती है। सो, जीवन प्रारम्भ करनेवाले गर्भशरीरमें उसका नवीन प्रवेश नहीं होता, एवं मृत शरीरसे उसका निर्गमन भी नहीं होता। तथापि जन्म ग्रहण करते हुए प्राणिशरीरमें आत्माका प्रवेश हुआ और मृत शरीर आत्माने छोड़ दिया ऐसा कहनेका प्रचार है। इसमें वस्तुस्थिति यह है कि शुक्रशोणितका संयोग होनेपर तत्काल उसमें पूर्व शरीर या पूर्व योनि छोड़कर मन भूतों किंवा भूतोंसे उत्पन्न इन्द्रियोंके सहित प्रविष्ट होता है। उसका प्रवेश होनेसे शरीरमें चैतन्यके लक्षण प्रादुर्भूत होते हैं तथा आत्माके गुणोंका अस्तित्व भी प्रकाशित होता है। अतः मनके प्रवेशको ही आत्माका प्रवेश कहा जाता है। दूसरी ओर, मनके निकल जानेपर चैतन्यके लक्षण—अथवा आत्माके पूर्वोक्त गुण—शरीरसे लुप्त हो जाते हैं; अत: इस मनके निर्गमनको आत्माका निर्गमन कहा जाता है। ऊपर कहा है कि शरीरमें क्रिया वस्तुतः मन करता है, पर उसके चैतन्यका मूल कारण आत्मा होनेसे आत्माको ही कर्ता-ज्ञाता कहा जाता है, इसी प्रकार शरीरमें मनके प्रवेश-निर्गममें भी आत्माके कारणभूत होनेसे प्रवेश-निर्गम भी उसीके कहने की पद्धति है[1]।

१—इस अध्यायमें कहा विषय विस्तारसे जाननेके लिए देखिये लेखकका—आयुर्वेदीय-पदार्थविज्ञान (बैद्यनाथ-प्रकाशन)।

चालीसवां अध्याय

अथातो नाडीसंस्थानाभिधानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

पिछले अध्यायमें आयुर्वेदके शब्दोंमें हम देख आये हैं कि शिर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंका अधिष्ठान है। यहीं वाताधिष्ठित मन बाह्य जगत् तथा शरीरके विभिन्न अवयवोंके सम्बन्धमें विविध संज्ञाएँ (ज्ञान) प्राप्त करता है तथा यहींसे मनोवहों द्वारा शरीरावयवोंको विविध क्रियाएँ करनेकी प्रेरणा करता है। आधुनिक गवेषणाएँ प्राचीन सिद्धान्तोंसे सर्वथा संवाद रखती हैं। केवल संक्षेपमें प्राप्त प्राचीन मतकी व्याख्याके उद्देश्यसे इस अध्यायमें आधुनिक परिभाषामें नाडीसंस्थानका विशेष परिचय कराया जायगा।

नाडीसंस्थानके कार्य—

नाडीसंस्थान[1]के दो कार्य हैं—शरीरमें होनेवाली समस्त क्रियाओंका सञ्चालन तथा बाह्य परिस्थितिके अनुरूप उनमें (क्रियाओंमें) विविध परिवर्तन करना। इस उद्देश्यसे नाडीसंस्थानकी रचना दो प्रकारकी नाडियों[2]से होती है। प्रथम प्रकारकी नाडियाँ बाह्य सृष्टि सम्बन्धी ज्ञानको तथा शरीरावयवोंमें होनेवाली शुभ-अशुभ वेदनाओं (अनुभवों) को अपने केन्द्रों तक पहुँचाती हैं। दूसरे प्रकारकी नाडियाँ केन्द्रोंकी ओरसे यथायोग्य चेष्टाओंका आदेश अवयवोंको ले जाती हैं। पहले प्रकारकी नाडियाँ संज्ञावह[3] तथा दूसरे प्रकारकी मनोवह[4] कहाती हैं। उभय नाडियोंमें संज्ञाओं या चेष्टाओंका सन्देश वहन करते हुए जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें वेग[5] कहा जाता है। वेगकी गति सामान्यतः प्रति सेकेण्ड १२० मीटर (१ मीटर=लगभग ४० इञ्च) होती है;

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विभागसे नाडीसंस्थानके दो प्रकारके कार्योंकी सूचना—

भारतीय दर्शन तथा आयुर्वेदमें इन्द्रियोंके दो स्पष्ट विभाग किये गये हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। दोनों इन्द्रियोंका कार्य वातसे प्रेरित मन द्वारा होता है, यह पहले कहा जा चुका है।

१—Nervous system—नर्वस सिस्टम। २—Nerves—नर्व्स।

३—Afferent nerves—ऐफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Sensory nerves—सेन्सरी नर्व्स।

४—Efferent nerves—इफरेण्ट नर्व्स; या प्रायः Motor nerves—मोटर नर्व्स।—इन नाडियोंके लिये म० म० गणनाथ सेनजीने चेष्टावह शब्दका व्यवहार किया है तथा मनोवह नामकी तीसरी नाडियाँ कही हैं, जो केवल योगियोंको प्रत्यक्ष बताई हैं। पिछले अध्यायमें हम देख आये हैं कि आयुर्वेदमें संज्ञावह और मनोवह दो ही नाडियाँ (स्रोत) निर्दिष्ट हैं। संज्ञावह तो स्पष्ट ही ऐफरेण्ट या सेन्सरी नर्व्स हैं, पारिशेष्यात् दूसरी मनोवह हैं। यद्यपि संज्ञा और चेष्टा दोनोंमें ही मनका वहन होता है; तथापि आत्मामें स्थित इच्छाको शरीरावयवों तक पहुँचानेके कार्यमें मनका वहन चेष्टाओंके सम्पादन ही में विशेषतः लक्षित होता है; अतः उन्हीको मनोवह नाम दिया गया है। आत्मासे चेष्टाओं या क्रियाओंका उद्भव दर्शन प्रसिद्ध निम्न श्लोकमें सुप्रतिपादित है—

"आत्मजन्या भवेदिच्छा त्विच्छाजन्या भवेत् कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा चेष्टाजन्या भवेत् क्रिया॥"

५—Impulse—इम्पल्स।

आधुनिक क्रियाशारीर विद् नाडीसंस्थानके दो कार्य—अर्थात् ज्ञान तथा कर्मके वेगोंका वहन—बताते हैं। प्राचीनोंने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके विभाग द्वारा इसी बातको प्रकारान्तरसे कह दिया है। अस्तु।

प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ—

हमारे पैर पर कोई अनजानते छुई चुभोये या गुदगुदी करे तो हम सहसा पैर हटा लेते हैं। आँखके आगे अकस्मात् कोई वस्तु आ जाय तो आँखें हठात् मिच जाती हैं। हम तन्मयतासे भाषण सुन रहे हों और कोई हमसे कुछ बात करने लगे तो हमारा हाथ एकदम निषेध-संकेतके लिये उठ जाता है। कोई स्वादु वस्तु दिखाई दे तो मुखमें पानी आ जाता है। प्रहर्षवश शुक्र अनायास ही च्युत हो जाता है। साइकल एक बार सीखनेके बाद हमारा ध्यान कहीं भी हो, पैर अपने-आप योग्यस्थानपर योग्य प्रकारसे गति करते हैं। सन्ध्या-पूजा आदिके मन्त्र एक बार याद होनेपर स्वतः मुखसे निकलते जाते हैं। ये सब नाडीसंस्थानकी क्रियाके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ये क्रियाएँ हमारे इच्छाधीन प्रयत्नके बिना ही सम्पन्न होती हैं। शरीरमें होनेवाली अधिकांश क्रियाएँ ऐसी ही होती हैं। रक्तसंवहन, श्वासक्रिया और पाचनक्रिया भी इसी प्रकारकी क्रियाओंके उदाहरण हैं। इन क्रियाओंको प्रतिसंक्रमित क्रिया[1] या केवल प्रतिसंक्रम[2] कहते हैं।

अधिकांश क्रियाएँ प्रतिसंक्रमित होती हैं—

अनेक क्रियाएँ जो आरम्भमें इच्छाधीन होती हैं, पीछेसे अभ्यासवश प्रतिसंक्रमित हो जाती हैं। जैसे, साइकल सीखते हुए प्रारम्भमें विशेष इच्छापूर्वक प्रारम्भ करना पड़ता है। परन्तु बादमें अच्छा अभ्यास होने पर अज्ञात दशामें ही पैर चलने लगते हैं। मन्त्र, सूत्र, श्लोक आदिको स्मरण करते हुए आदिमें प्रयत्न-पूर्वक उच्चारण करना पड़ता है। परन्तु अनन्तरकालमें घुट जाने पर मन्त्र आदि अनजानते एक-पर-एक मुखसे निकलते जाते हैं।

नाडीसंस्थानके दो विभाग—

नाडीसंस्थानके दो विभाग हैं। पहलेको मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थान[3] तथा दूसरेको स्वतन्त्र या जीवनयोनि नाडीसंस्थान[4] कहा जाता है। दोनों नाडीसंस्थान परस्पर सहकारसे कार्य करते हैं। दोनोंके संज्ञावह तथा मनोवह नाडीसूत्र पृथक् होते हैं।

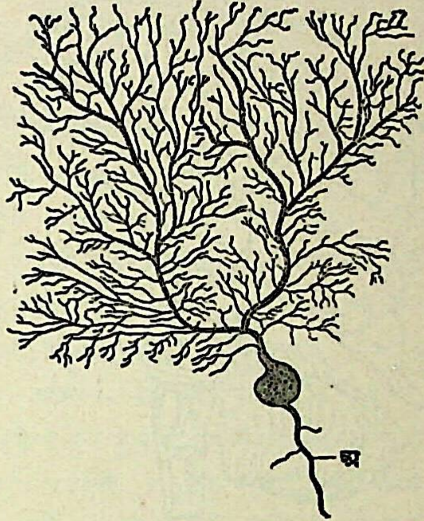
नाडीसंस्थानकी रचना—

नाडीसंस्थानके दोनों भेद जिस धातुके[5] बने हैं, उसे नाडीधातु[6] कहते हैं। इसकी रचना नाडीकोषों[7] और सूत्रों तथा उनसे निकलनेवाले नाडीसूत्रोंसे[8] होती है। नाडीसूत्र मिलकर नाडियाँ बनाते हैं। दोनोंको अपने आश्रयमें रखनेवाली तथा विविध कोषों और सूत्रोंको मिलानेवाली एक वस्तु होती है, जिसे नाडीभूमि[9] कहते हैं।

१—Reflex action—रिफ्लेक्स ऐक्शन। २—Reflex—रिफ्लेक्स।
३—Cerebrospinal nervous system—सेरिब्रोस्पाइनल नर्वस सिस्टम।
४—Autonomic nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम।
५—Tissue—टिश्यू। ६—Nerve tissue—नर्व टिश्यू।
७—Nerve cells—नर्व सेल्स। ८—Nerve fibres—नर्व फाइबर्स।
९—Neuroglia—न्यूरोग्लिआ।

मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थानके विभाग—

मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थानके दो अवयव हैं—एक मस्तुलुङ्गपिण्ड[1] और दूसरा सुषुम्णा[2]। मस्तुलुङ्गपिण्डके निम्न विभाग हैं—मस्तिष्क[3], धम्मिल्लक[4], मस्तुलुङ्गमध्य[5],



नाडी-कोष। चित्र—५२

अ—नाडीकी रचनामें भाग लेनेवाला प्रधान सूत्र। मध्यमें—नाडी-कोष। ऊपर—नाडी-कोषकी गौण शाखाएँ, जो अन्य कोषोंकी ऐसी ही शाखाओंके साथ मिलकर जाल-सा बनाती हैं।

उष्णीषक[6] तथा सुषुम्णाशीर्षक[7]। मस्तुलुङ्गपिण्डका प्रधान भाग मस्तिष्क होता है। भारकी दृष्टिसे यह सम्पूर्ण मस्तुलुङ्गपिण्डका $\frac{9}{10}$ भाग होता है। इसपर अनेक सीताएँ (छोटी-छोटी खाइयाँ) होती हैं। धम्मिल्लक मस्तिष्कके पृष्ठभागके नीचेकी ओर होता है। मस्तुलुङ्गमध्य मस्तिष्क, धम्मिल्लक तथा उष्णीषकको परस्पर जोड़नेवाला अवयव है। इसके नीचे ग्रन्थिके आकारका उष्णीषक होता है। उसके भी नीचे सुषुम्णाशीर्षक होता है। सुषुम्णाशीर्षक नीचेकी ओर सुषुम्णासे संयुक्त होता है। ये सब विभाग करोटि (खोपड़ी) में रहते हैं।

सुषुम्णा—

करोटिके अधोभागमें एक छिद्र होता है। यहांसे सुषुम्णाका प्रारम्भ होता है। सुषुम्णा पृष्ठवंशमें स्थित होती है। इसकी मोटाई कनिष्ठिका जितनी तथा लम्बाई कोई अठारह इञ्च होती है। इसके मध्यमें अतिसूक्ष्म, अणुवीक्षणसे ही देखी जा सकने योग्य प्रणाली होती है।

मस्तिष्क और सुषुम्णाकी वृतियाँ तथा तर्पक कफ—

मस्तुलुङ्गपिण्ड तथा सुषुम्णा दोनों तीन वृतियों (आवरणों) से वेष्टित होते हैं। मस्तुलुङ्ग-

---

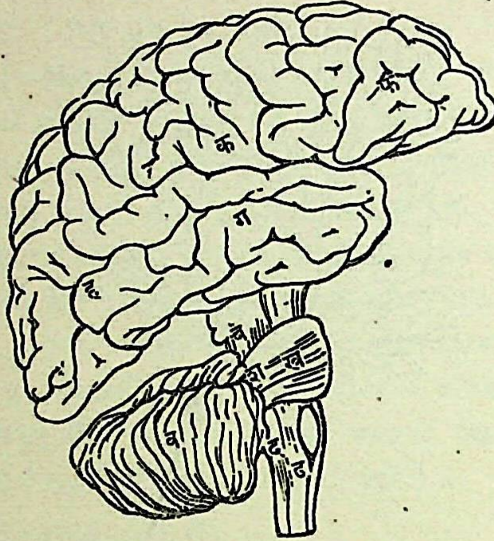
१—Brain—ब्रेन। २—Spinal cord—स्पाइनल कॉर्ड।

३—Cerebrum—सेरिब्रम। ४—Cerebellum—सेरीबेल्लम। धम्मिल्लकका अर्थ जूड़ा होता है। स्वरूप-सादृश्यसे सेरीबेल्लमको यह नाम दिया गया है।

५—Mid brain—मिड ब्रेन। ६—pons—पौन्ज़।

७—Medulla oblongata—मेड्युला औब्लौङ्गेटा।

पिण्डके अन्दर चार गुहाएँ होती हैं। इन गुहाओं, अन्दरकी दोनों वृतियोंके अन्तराल तथा सुषुम्णाकी प्रणालीके मध्यमें तर्पक कफ या सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड नामका द्रव रहा करता है। इसका वर्णन प्राकृत कफके विवरणमें कर आये हैं।



मस्तुलुङ्गपिण्डके विविध भाग। चित्र—५३

क-फ-ह-ग—मस्तिष्क। व—धम्मिल्लक। ब—मस्तुलुङ्गमध्य। श-ख—उष्णीषक। द-ढ—सुषुम्णाशीर्षक।

शुभ्र तथा धूसर वस्तु—

मस्तुलुङ्गपिण्ड और सुषुम्णाको काटकर देखें तो उसमें असहाय आँखोंसे भी दो प्रकारकी रचनाएँ स्पष्ट दिखाई देंगी। एक भाग शुभ्रवर्ण होनेके कारण शुभ्र वस्तु[1] तथा दूसरा धूसरवर्ण होनेके कारण धूसर वस्तु[2] कहाता है। शुभ्र वस्तु नाडीसूत्रोंकी तथा धूसर वस्तु नाडीकोषोंकी बनी होती है। मस्तुलुङ्गपिण्डमें धूसर वस्तु बाहरकी ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दरकी ओर होती है। सुषुम्णामें, इसके विपरीत, शुभ्र वस्तु बाहरकी ओर तथा धूसर वस्तु अन्दरकी ओर होती है। धूसर वस्तु वह भाग है, जिसमें संज्ञाओंके वेग आते हैं तथा जहाँसे चेष्टाओंके वेग अङ्गोंमें जाते हैं।

नाडी-संस्थानके स्वरूपका इतना सामान्य वर्णन कर अब हम उसके प्रत्येक अङ्गका पृथक वर्णन करेंगे।

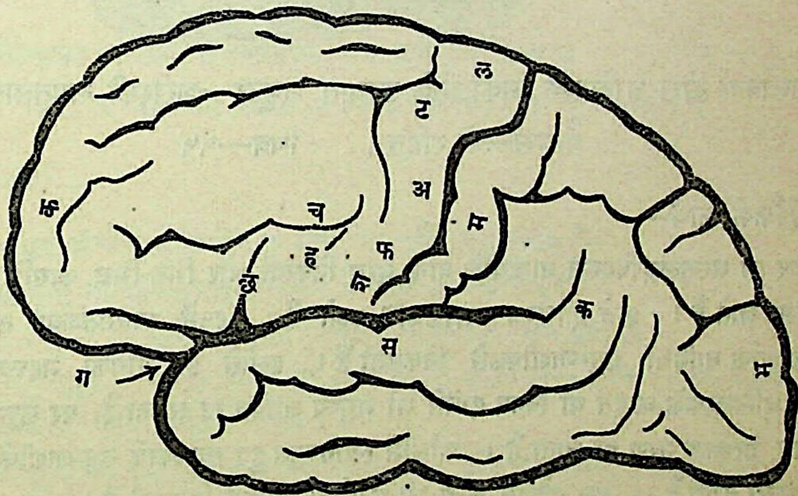
मस्तिष्कके[3] कार्य—

मस्तिष्क रूप, रस, गन्ध आदिके ज्ञान[4], मेधा[5], इच्छा[6], और उससे चेष्टा, स्मृति[7], आवेगों[8] तथा चिन्तनका[9] प्रधान आश्रय है। प्राणिवर्गके मस्तिष्कोंकी परीक्षा करें तो विदित होगा कि प्रत्येक प्राणीके मस्तिष्कके गोलार्धोंका परिमाण तथा उनपर स्थित सोताओंकी गहराई उस प्राणीकी बुद्धिके

१—White matter—ह्वाइट मैटर। २—Grey matter—ग्रे मैटर।
३—Cerebrum—सेरिब्रम। ४—Sensation—सेन्सेशन।
५—Intelligence—इण्टेलिजेन्स। ६—Will—विल।
७—Memory—मेमोरी। ८—Emotion—इमोशन।
९—Thinking—थिङ्किङ्ग।

अनुसार होती है। यथा, चूहेमें मस्तिष्क बहुत छोटा होता है ; साथ ही इसपर सीताएँ नहीं होतीं ; अर्थात् वह मसृण (सपाट और चिकना) होता है। वानरमें वह अपेक्षया बड़ा होता है तथा उसमें सीताएँ होती हैं। मनुष्यका मस्तिष्क उससे भी बड़ा और अधिक सीतायुक्त होता है। पहले कह आये हैं कि मस्तिष्कमें बाहरी ओर का भाग धूसर और नाडी कोषोंका बना होता है ; इसे मस्तिष्कीय वल्क[1] कहते हैं। इसी प्रदेशमें ज्ञानोंके वेग आते हैं और यहींसे इच्छा और चेष्टाओंके वेग अवयवों को जाते हैं। सीताओंके कारण सहज ही वल्क भागका विस्तार बढ़ जाता है। उत्तरोत्तर उच्च योनियोंमें मस्तिष्क बड़ा और सीताएँ अधिक होनेसे उनमें बुद्धिका प्रकर्ष भी विशेष होता है।

मस्तिष्कके गोलार्धोंके वल्कभागमें प्रत्येक ज्ञान तथा कर्मके क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। अर्थात् रसोंका अनुभव अमुक स्थलपर होता है, गन्धका अमुक स्थलपर, शीत, उष्ण आदिका अमुक स्थलपर—इत्यादि। एवं, हाथको कर्मकी प्रेरणा करनेवाला स्थल एक होता है, पैरको दूसरा, जबड़ोंको तीसरा, गर्दनको चौथा, मुखको पाँचवाँ इत्यादि। कर्मके प्रेरक केन्द्र, प्रत्येक गोलार्धमें आगेकी ओर ऊपरसे नीचे, एक पट्टीमें एकत्र स्थित होते हैं। उभयविध समस्त केन्द्रोंका प्रतिसंधायक सूत्रों द्वारा परस्पर सम्बन्ध होता है। परिणामतया कभी कोई भी ज्ञान या कर्म अकेला नहीं पाया जाता। एक ज्ञान अपने नियत केन्द्रमें उत्पन्न हुआ कि प्रतिसंधायक सूत्रों[2] द्वारा उसका अनुभव अन्य केन्द्रों-को होता है, और वे अपनी प्रकृतिके अनुसार अपना-अपना ज्ञान प्राप्त करते हैं, वा अपना-अपना कर्म करते हैं। दूकान पर दूरसे नारङ्गी देखी कि उसके पूर्वानुभूत गन्ध, रस आदि स्वयं स्मृतिमें आते हैं ; पैर दूकानकी ओर उठ जाते हैं, हाथ नारङ्गीको उठा लेता है, मुख भाव-तोल करता है—और इसी तरह आगे-आगे क्रियाएँ होती जाती हैं।



मस्तिष्ककी सीताएँ तथा विविध ज्ञानोंके और विभिन्न अवयवोंको कार्य करनेकी प्रेरणा देनेवाले केन्द्र। चित्र—५४

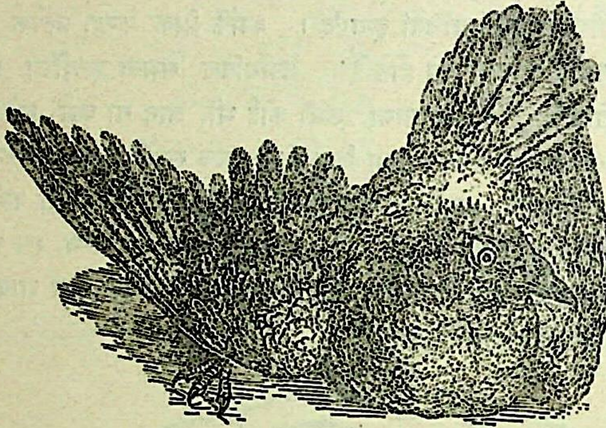
ल से छ-श तक क्रमशः उरु, नितम्ब, मध्यकाय, कन्धा, बाहु, प्रकोष्ठ, हाथ, मुख जिह्वा, वाणी—इनके प्रेरक केन्द्र होते हैं।

१—Cerebral cortex – सेरिब्रल कोर्टेक्स।

२—Association fibres—एसोसिएशन फाइबर्स। आत्मा एक ज्ञान (वा अनुभव) का जो दूसरे ज्ञानसे सम्बन्ध स्थापित करता है, उसे दर्शन तथा वैद्यकमें प्रतिसंधान तथा आत्माको

धम्मिल्लकके[1] कार्य—

धम्मिल्लकका कार्य मांसपेशियोंसे होनेवाली समग्र चेष्टाओंमें[2] संवाद (ऐक्य और सहकार) रखना, शरीरकी अवस्थिति (खड़ा होने या बैठनेकी अवस्था) का नियमन तथा विविध कर्मों (दौड़ना, उड़ना आदि) में शरीरका संतुलन[3] करना है। शरीरके चार अवयवोंसे धम्मिल्लकमें मांसपेशियोंकी अवस्था और स्थितिकी सूचना देनेवाले वेग पहुँचते हैं। ये चार विशिष्ट अवयव निम्न हैं—आँखें, अन्तःकर्ण[4], मांसपेशियाँ और संधियाँ तथा त्वचा। इन स्थानोंसे शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी स्थितिका ज्ञान वेगके रूपमें धम्मिल्लकमें पहुँचता रहता है और वहाँ से अवस्थानुसार कर्म करनेवाली पेशियोंको कर्म करते हुए सहकारकी प्रेरणा मिलती रहती है। यहाँ ध्यान रहे, पेशियोंको कर्म करनेकी प्रेरणा मस्तिष्कसे मिलती है; धम्मिल्लकका कार्य केवल उनमें सहकार लाना है।



शस्त्रकर्म द्वारा धम्मिल्लक निकालनेके पश्चात् कबूतर—शरीरकी समतुला—बैलेन्स—से रहित। चित्र—५५

सुषुम्णाशीर्षकके कार्य—

शिर वा मस्तुलुङ्गपिण्डसे नाडियोंके बारह युग्म निकलते और भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न अङ्गोंको जाते हैं। इन्हें शीर्षण्य नाडियाँ[5] कहते हैं। इनमें श्वासप्रक्रिया तथा हृदयके स्पन्दनकी प्रवर्तक नाडियाँ सुषुम्णाशीर्षकसे निकलती हैं। इसीसे इस भागका महत्त्व स्पष्ट है। मस्तिष्क या धम्मिल्लकके आहत या विनष्ट होनेसे भी मनुष्य जीवित रह सकता है, पर सुषुम्णाशीर्षकके विनष्ट होनेसे तत्काल मरण हो जाता है। फाँसीमें स्थानच्युत हुए कशेरुकाके सुषुम्णाशीर्षक पर दबाव पड़नेसे ही मृत्यु होती है। इस प्रदेशसे अन्य भी शीर्षण्य नाडियाँ निकलती हैं। यह सुषुम्णाकाण्ड के समान प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ भी करता है।

प्रतिसंधाता कहते हैं। इन्ही शब्दोंके अनुकरणमें उक्त सूत्रोंका 'प्रतिसंधायक सूत्र' यह नाम रचा है। म० म० गणनाथ सेनजीने इनके लिए नवनिर्मित सयुज सूत्र शब्द दिया है।

१—Cerebellum—सेरीबेल्लम।

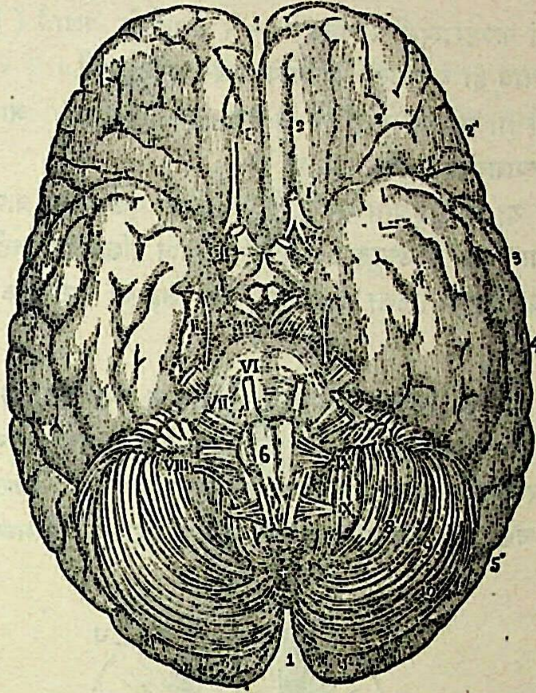
२—Muscular movements—मस्क्युलर मूवमेण्ट्स।

३—Equilibrium—इक्लिब्रिअम।

४—Labyrinth—लेबिरिन्थ। इसका वर्णन अगले अध्यायमें होगा।

५—Cranial nerves—क्रेनियल नर्व्स।

शीर्षण्य नाडियोंका स्थूल प्रभव (उत्पत्तिस्थान) मस्तुलुङ्गपिण्डका अधोभाग है, यद्यपि सूक्ष्मरूपेण ये मस्तिष्कके वल्क भागसे निकलती हैं।



मस्तिष्कका अधोभाग—शीर्षण्य नाडियोंके निर्गमस्थान। चित्र—५६

1, 2, 3 आदि अङ्क क्रमशः नाडियोंके निर्गमस्थानोंको सूचित करते हैं।

शीर्षण्य नाडियाँ—

उक्त बारह शीर्षण्य नाडियोंके युग्मोंके नाम और क्षेत्र निम्न हैं—

प्रथम युग्म या घ्राणनाडियाँ[१]—ये गन्धका ग्रहण कराती हैं।

द्वितीय युग्म या दृष्टिनाडियाँ[२]—इनसे वस्तुओंका दर्शन होता है।

तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ युग्म[३] या नेत्रप्रचेष्टनी नाडियाँ—इनके कारण नेत्रके गोलकों[४], पुतली तथा पलकोंकी विविध गतियाँ होती हैं।

पञ्चम युग्म या त्रिधारा नाडियाँ[५]—प्रत्येक नाड़ीके तीन विभाग हैं। इनका कार्य मुख तथा शिरकी स्पर्शकी संज्ञाओंका वहन करना तथा चबानेकी क्रियामें जबड़ोंको प्रवर्तित करना है।

सप्तम युग्म या वक्त्र नाडियाँ[६]—ये मुखकी पेशियोंके प्रवर्तक हैं—उनमें परिवर्तन लाकर हृद्गत भावोंको चेहरे पर द्योतित करती हैं। जिह्वाके पूर्व भागमें रसका आस्वाद भी उसीसे होता है।

१—Olfactory nerves—ऑल्फेक्टरी नर्व्स। २—Optic nerves—ऑप्टिक नर्व्स।

३—क्रमसे Oculomotor—ऑक्युलोमोटर, Trochlear—ट्रॉक्लिअर, तथा Abducens—एब्ड्युसेन्स। ४—Eye-ball—आई-बॉल।

५—Trigeminal nerves—ट्राइजैमिनल नर्व्स।

६—Facial nerves—फेशियल नर्व्स।

अष्टम युग्म या श्रुतिनाडियाँ[1]—इनके दो विभाग हैं। एक विभाग शब्दका श्रवण कराता है। दूसरा शरीरको विविध हलचलोंसे अन्तःकर्णमें होनेवाले परिवर्तनोंका ज्ञान धम्मिल्लक तक पहुँचाता है।

नवम युग्म या कण्ठरासनी नाडियाँ[2]—ये जिह्वाको पश्चार्ध (पिछले भाग) में रसका आस्वाद कराती हैं। साथ ही ये गलेकी पेशियोंके कर्ममें प्रवर्तिका हैं।

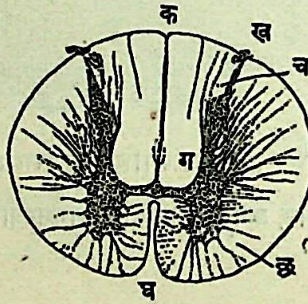
दशम युग्म या प्राणदा नाडियाँ[3]—ये गला, कण्ठ, अन्नवह, आमाशय, फुप्फुस, हृदय, यकृत्, प्लीहा तथा अग्न्याशयकी प्रवर्तक नाडियाँ हैं।

एकादश युग्म या ग्रीवापृष्ठगा नाडियाँ[4]—इनका एक भाग प्राणदा नाडीसे जा मिलता है, दूसरा ग्रीवाकी मन्या[5] तथा पृष्ठच्छदा[6] नामक दो प्रधान पेशियोंका प्रवर्तक है।

द्वादश युग्म या जिह्वातलिका नाडियाँ[7]—ये जिह्वाकी चेष्टाओंकी प्रवर्तिका हैं।

सुषुम्णाकाण्डके कार्य—

पूर्वोक्त शीर्षण्य नाडियाँ प्रधानतः ऊर्ध्वजगत (ग्रीवाके ऊपर स्थित) अवयवों ही का नियमन करतीं अथवा गन्ध आदिका ग्रहण कराती हैं। परन्तु मस्तिष्कका वल्क भाग शरीरके अन्य स्थानों से भी ज्ञानका ग्रहण करता तथा उनके प्रति चेष्टाओंके वेग या सन्देश भेजता है। जिन नाडीसूत्रों द्वारा ज्ञान तथा मन (चेष्टा) के वेग मस्तिष्कवल्क तथा शरीरावयवोंके मध्य यातायात करते हैं, वे



सुषुम्णाका छेदन चौड़ाईकी दिशामें। चित्र—५७

क, घ—आगे और पीछेके चीरे (सीताएँ); मध्यमें 'H' आकारकी धूसर वस्तु; शेष बाहर की ओर शुभ्र वस्तु; 'H' की योजक रेखा पर मध्यमें सुषुम्णा-विवर।

१—Auditary nerves—ऑडिटरी नर्व्स। इनके लिये प्राचीन नाम शब्दवह स्रोत है; देखिये—'यदा शब्दवहं स्रोतो वायुरावृत्य तिष्ठति। शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते॥ सु० नि० १—८३'

२—Glossopharyngeal nerves—ग्लौसोफैरिंजिअल नर्व्स।

३—Vagi—वेगाई. (बहुवचन ; एकवचनमें Vagus—वेगस), या Pneumogastric nerves—न्यूमोगैस्ट्रिक नर्व्स।

४—Spinal accessory nerves—स्पाइनल ऐक्सेसरी नर्व्स।

५—Trapezius—ट्रैपीजिअस।

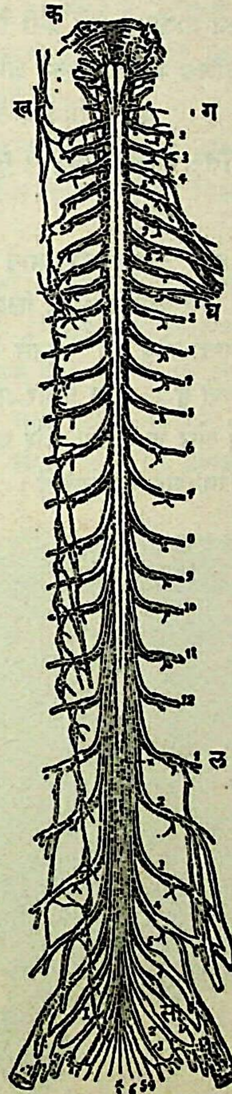
६—Sternomastoid—स्टर्नोमैस्टॉयड।

७—Hypoglossal nerves—हाइपोग्लॉसल नर्व्स।

सुषुम्णाकाण्डमें स्थित होते तथा उसका अंशभूत होते हैं। एवं, सुषुम्णाकाण्डका एक कार्य उक्त प्रकारसे संज्ञाओं तथा चेष्टाओंके वेगोंका वहन करना है। परन्तु सुषुम्णाकाण्डका इस कार्यके अतिरिक्त स्वतन्त्र कार्य भी है। दोनों कार्योंके स्पष्टीकरणके लिये पहले सुषुम्णाकाण्डकी रचना देखेंगे।

सुषुम्णाकी रचना—

पहले कह आये हैं कि मस्तुलुङ्गपिण्डमें धूसर वस्तु बाहरकी ओर तथा शुभ्र वस्तु अन्दरकी ओर होती है। सुषुम्णाकाण्डमें इसके विपरीत शुभ्र वस्तु बाहर की ओर तथा धूसर वस्तु अन्दरकी



सुषुम्णाकाण्ड, उससे निर्गत नाड़ियाँ तथा एक ओरके स्वतन्त्र नाडी संस्थानके नाडी कन्द। चित्र—५८

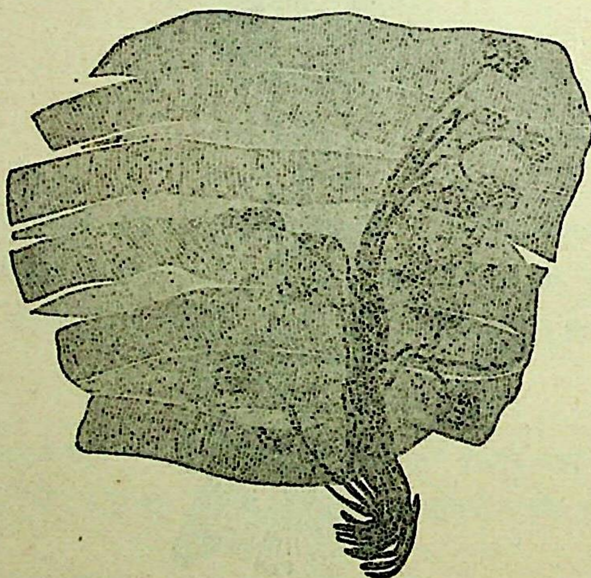
क—उष्णीषक; उष्णीषकके नीचे सुषुम्णाशीर्षक; संख्याओंके अङ्क नाडियोंकी संख्या सूचित करते हैं—ऊपर म से घ तक (१ से ८ तक;)—ग्रीवा भागकी ८ नाडियाँ; ग से ल तक (१ से १२ तक)—पृष्ठभागकी १२ नाडियाँ; ल से नीचे (१ से ५ तक)—कटिकी नाडियाँ; स से नीचे (१ से ६ तक)—त्रिककी ६ नाडियाँ; कुल—३१ नाडियाँ प्रत्येक ओर।

ओर होती है। चौड़ाईके रुख सुषुम्णाको काटें तो इसमें भी दोनों वस्तुएँ स्पष्ट दीख पड़ेंगी। धूसर वस्तुका अवस्थान (आकार) अंग्रेजी अक्षर H के सदृश होता है। मस्तुलुङ्गपिण्डके समान सुषुम्णामें भी धूसर वस्तुओंकी रचना प्रधानतः नाडी-कोषोंसे होती है, और शुभ्र वस्तुको नाडीसूत्रोंसे। धूसर वस्तुके दो सिरे पीछेकी ओर तथा दो आगेकी ओर निकले होते हैं। अगले सिरोंको अग्रिम शृङ्ग[1] तथा पिछलोंको पश्चिम शृङ्ग[2] कहा जाता है। सुषुम्णाकाण्डमें सारी लम्बाईमें आगे और पीछेकी ओर चीरे[3] पड़े होते हैं।

सुषुम्णाकाण्डकी श्वेत वस्तु उन नाडीसूत्रोंसे बनी होती है, जो मस्तिष्क और अवयवोंके मध्य वेगका वहन करते हैं। धूसर वस्तु जिन नाडी-कोषोंसे बनी है, वे स्वयं मस्तिष्कके वल्कभागके सदृश चैतन्यके केन्द्र हैं। अर्थात् शरीरके विभिन्न भागोंसे उनमें ज्ञानके वेग पहुँचते तथा वहाँसे चेष्टाओंके प्रवर्तक वेग अवयवोंको प्राप्त होते हैं। पहले जिन प्रतिसंक्रमित क्रियाओंका निर्देश किया है, वे सुषुम्णाकाण्ड द्वारा होती हैं। यही प्रतिसंक्रमित क्रियाएँ सुषुम्णाका स्वतन्त्र कार्य हैं।

सौषुम्णिक नाडियाँ—

सुषुम्णाकाण्डसे ऊपरसे नीचे तक दायें और बायें सम रूपसे नाड़ियाँ निकलती जाती हैं। इन्हें सौषुम्णिक नाडियाँ[4] कहते हैं। ये कशेरुकाओंके छिद्रोंसे बाहर आती हैं। इन नाड़ियोंका मूल सुषुम्णाके मध्यवर्ती धूसर वस्तुके नाडी-कोष हैं। इनसे निकले नाडीसूत्र मिलकर धूसर वस्तुके अग्रिम और पश्चिम शृङ्गोंसे बाहर निकलते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कशेरुकाके अन्तरालवर्ती शृङ्गोंसे एक-एक मूल प्रादुर्भूत होता है। दोनों ओर के अग्रिम और पश्चिममूल शीघ्र ही मिल जाते और मिलकर एक नाडी बनाते हैं। यही सौषुम्णिक नाडियाँ हैं। ये जैसे-जैसे आगे बढ़ती जाती हैं,



मांससूत्रोंमें नाडीसूत्रोंके अन्तिम प्रतानोंकी व्याप्ति। चित्र—५९

१—Anterior Cornu—एण्टीरिअर कॉर्नू।
२—Posterior Cornu—पोस्टीरिअर कॉर्नू।
३—Fissure—फिशर।
४—Spinal nerves—स्पाइनल नर्व्स।

वैसे-वैसे इनके विभाग और उपविभाग होते जाते हैं, जिनके प्रतान (शाखा-प्रशाखा) त्वचा, पेशी आदिमें व्याप्त होते हैं।

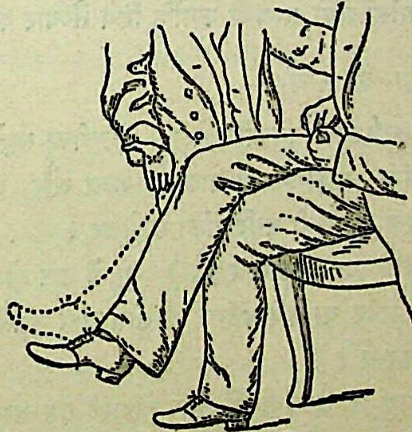
सौषुम्णिक नाड़ियोंमें संज्ञावह तथा मनोवह उभयविध सूत्र होते हैं। परन्तु मूलमें ये दोनों पृथक्-पृथक् होते हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि इनके पश्चिम मूल (पश्चिम शृङ्गसे निकले मूल) तो संज्ञावह होते हैं; तथा अग्रिममूल मनोवह किंवा चेष्टावह। संज्ञावह नाडीसूत्रों द्वारा शरीरावयवोंसे स्पर्श, वेध, शीत, उष्ण आदि संज्ञाओंके वेग सुषुम्णामें पहुंचते तथा मनोवह सूत्रों द्वारा अवयवोचित प्रतिसंक्रमके वेग अवयवोंको पहुंचते हैं। ग्रीवासे वक्षस्‌के अधोभागपर्यन्त उक्त प्रकारसे सौषुम्णिक नाडियोंके इकत्तीस युग्म निकलते हैं। नीचेके भागमें सौषुम्णिक नाड़ियाँ अश्वपुच्छके सदृश समानान्तर गुच्छोंके रूपमें निकलती हैं।

सुषुम्णाकाण्डका जो अंश विकारग्रस्त हो जाता है, उससे निचले भागसे निकलनेवाली नाडियाँ जिन अवयवोंको जाती हैं, उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी विकार उपस्थित हो जाते हैं।

प्रतिसंक्रमोंसे रोगनिर्णय—

नाडीसंस्थानकी प्रकृति-विकृतिकी परीक्षाके लिये तज्ज्ञोंने अनेक प्रतिसंक्रमण नियत किये हैं। उदाहरणरूपमें एक प्रतिसंक्रमण देते हैं। विशेष चिकित्साग्रन्थोंमें देखने चाहिये। परीक्ष्य व्यक्तिको कुर्सीपर इस प्रकार बैठायें कि उसका एक पैर लटकता हो तथा उसके घुटनेपर दूसरे पैरके घुटनेका निचला भाग थोड़ा-सा टिकाया हो। ऐसी दशामें परीक्षक यदि परीक्ष्य व्यक्तिके अज्ञानमें घुटनेपर हलकी-सी टकोर करे तो ऊपर रखा पैर सहसा ऊँचा उठ जायगा। इस प्रतिसंक्रमको जानु-क्षोभ[1] कहते हैं।

शीर्षण्य तथा सौषुम्णिक नाडियोंके अधिकांश सूत्र सुषुम्णा शीर्षकमें होकर गुजरते हुए एक दूसरेको काटते हैं। इस प्रकार प्रायः शरीरके दक्षिण भागका नियमन मस्तिष्कके वाम गोलार्धसे तथा वामका दक्षिणसे होता है। अतः दक्षिण गोलार्धके विकृति होनेसे प्रायः शरीरके वाम भागमें तथा वाम गोलार्धके विकारसे दक्षिण भागमें संज्ञा या चेष्टा सम्बन्धी विकार पाये जाते हैं।



जानु-क्षोभ। चित्र—६०

स्वतन्त्र नाडीसंस्थान[2]—

नाडीसंस्थानका जो भाग उन क्रियाओंका नियामक है, जो हमारी इच्छा और प्रयत्नके विना ही होती रहती हैं, स्वतन्त्र या जीवनयोनि नाडीसंस्थान कहाता है। रक्तानुधावन तथा अन्नका

१—Knee-Jerk—नी-जर्क।

२—Autonomic nervous system—ऑटोनॉमिक नर्वस सिस्टम।

परिपाक ऐसी क्रियाओंके उदाहरण हैं। इस संस्थानके दो विभाग हैं ; दोनोंकी क्रियाएँ एक दूसरेकी विरोधिनी हैं। इन विभागोंके नाम मध्य स्वतन्त्र या आग्नेय संस्थान[1] तथा परिस्वतन्त्र या सौम्य संस्थान[2] हैं। स्वतन्त्र नाडीसंस्थानका नियन्त्रण मस्तिष्कके मूलमें स्थित आज्ञाकन्द[3] नामक दो नाडी-कन्दोंसे होता है।

सुषुम्णाके दोनों पार्श्वोंपर, पृष्ठवंशके दोनों ओर नाडीकन्दों[4] की एक-एक शृङ्खला होती है। यही योगियोंकी इडा-पिङ्गला नाडियां हैं। ये नाडीकन्द तथा इनसे निकलनेवाले नाडीसूत्र मध्य-स्वतन्त्र (आग्नेय) संस्थान कहाते हैं। नाडीसूत्र सौषुम्णिक नाडियोंसे मिल जाते हैं।

परिस्वतन्त्र (सौम्य) नाडीसंस्थानके सूत्र तृतीय, सप्तम, नवम, दशम तथा एकादश शीर्षण्य नाडियोंमें तथा द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अनुत्रिक नाडियों (सुषुम्णाकाण्डके त्रिक अस्थिके अन्तर्वर्ती भागसे निकली नाडियों) में स्थित होते हैं। इस संस्थानके शीर्षण्य नाडियोंमें स्थित विभागको उत्तर परिस्वतन्त्र संस्थान तथा निचलेको अधर परिस्वतन्त्र संस्थान कहते हैं।

स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके इनके अतिरिक्त भी प्रभव (उत्पत्तिस्थान) हैं। अन्त्रों, हृदय, बस्ति तथा अन्य अन्तरावयवोंमें भी नडीकन्द होते हैं। इनसे निकले सूत्र चक्रवत् व्याप्त होते हैं। योग-शास्त्रमें इन्हीके मणिपूर चक्र आदि अभिधान हैं। ये चक्र मध्यस्वतन्त्र नाडीसंस्थान तथा परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थानके पूर्वोक्त केन्द्रोंके अधीन रहकर अपने अङ्गोंका नियमन करते हैं।

मध्यस्वतन्त्र (आग्नेय) नाडीसंस्थानके कार्य—

मध्यस्वतन्त्र संस्थानके कार्य निम्न हैं—पुतलीका विकास, स्वेदका स्राव, रोमाञ्च, त्वचाकी रक्तवहाओंका सङ्कोचन, चुल्लिका ग्रन्थिका स्राव, हृदयका वेगवर्धन, ब्लडप्रेसरकी वृद्धि, क्लोमशाखाओंका विकास (विस्तार)[5], हृदयकी नाडियोंका विकास, महास्रोतके ओष्ठों (कपाटिकाओं) को अवरुद्ध करना तथा पाकक्रियाको शिथिल करना, बस्तिका शिथिलीकरण।

संक्षेपमें, यह आकस्मिक अवसरोंपर, तत्काल अनावश्यक पाकक्रियाको मन्द कर हृदयकी गतिवृद्धि आदि द्वारा शरीरको मांसपेशीसे सम्पाद्य कर्मोंके लिये तैय्यार करता है।

परिस्वतन्त्र (सौम्य) संस्थानके कार्य—

परिस्वतन्त्र संस्थानके कार्य इसके विपरीत ये हैं—पुतलीका सङ्कोच, लालास्रावकी वृद्धि, हृदयका मन्दीकरण, क्लोम शाखाओंका सङ्कोचन, आमाशय, अन्त्र और अग्न्याशयके रसोंका प्रवर्तन, महास्रोतके ओष्ठोंका विशदीकरण, हृदयकी नाडियोंका सङ्कोचन।

प्रत्येक स्वतन्त्र (इच्छाकी अधीनतासे रहित) अङ्गमें उक्त दोनों प्रकारकी नाडियोंके प्रतान होते हैं। परिस्थितिके अनुसार मध्य या परिस्वतन्त्र नाडीसंस्थान उत्तेजित होकर उन-उन अङ्गोंको समयोचित कार्यके लिये प्रेरित करता है।

शरीरमें अङ्गाराम्ल वायु (उच्छ्वासमें निकलनेवाली दुष्ट वायु) के एकत्र होनेका किंवा एड्रीनलीनके सूचीवेधका भी वही प्रभाव होता है, जो मध्य स्वतन्त्र नाडी संस्थानके उत्तेजित होनेका होता है।

१—Sympathetic system—सिम्पेथेटिक सिस्टम।

२—Parasympathetic system—पैरासिम्पेथटिक सिस्टम।

३—Thalamus—थैलेमस। ४—Ganglia—गैंगलिआ। ५—Dialation—डायलेशन।

नाडीसंस्थान और पाँच प्राण—

एवम्, यह आधुनिक मतसे नाडीसंस्थानका विवरण हुआ। आयुर्वेदोक्त पञ्चप्राणोंको उनके कर्म देखकर इसमें सन्निवेशित किया जा सकता है। यथा, प्राणवायुका आश्रय शीर्षण्य नाडियाँ तथा उन्हीमें अनुस्यूत (ओत-प्रोत) उत्तर स्वतन्त्र नाडीसंस्थान है। अपान वायुका आश्रय सुषुम्णा-काण्डका अनुकटिक (कटि प्रदेशमें स्थित)अंश[१] तथा अधिवस्तिक[२] नामक चक्र है। इनका कार्य दोनों शास्त्रोंके अनुसार मूत्र, मल तथा गर्भकी प्रवृत्ति है। व्यानवायुका आश्रय शीर्षण्य नाडियोंको छोड़-कर शेष मस्तिष्कसौषुम्णिक नाडीसंस्थान है। उदान वायुका आश्रय मध्यस्वतन्त्र नाडी-संस्थानके अंशभूत उत्तर अनुग्रीविक नाडीकन्द[३] (साक्षात् रूपसे) सुषुम्णाकाण्डका अनुग्रीविक भाग[४], उसीके अनुपृष्ठिक भागका[५] ऊपरी आधा भाग और इन स्थलोंसे निकली ग्रीवाके ऊपर, कण्ठ तथा छातीमें श्वासपटल (महाप्राचीरा) पेशी पर्यन्त स्थित नाडियाँ हैं। समान वायुका आश्रय सुषुम्णाके अनुपृष्ठिक भागका[६] ऊपरी आधा भाग; अनुपृष्ठिक स्वतन्त्र नाडीकन्द[७], सौरमण्डल[८], उत्तरान्त्रिक[९] तथा अधरान्त्रिक[१०] नामक चक्र, तथा पाचनयन्त्रोंकी नियामक सौषुम्णिक नाडियाँ हैं[११]।

पोषणी नाडियाँ[१२]—

संज्ञा और चेष्टाके वेगोंके वहनके अतिरिक्त नाडियोंका एक अन्य भी कर्म है, और वह यह कि ये जिस अङ्गको जाती हैं, उसकी पुष्टि करती हैं। यदि कोई नाडी कट जाय तो उससे व्याप्त अङ्ग क्षीण हो जाता है।[१३] महाकुष्ठ, फिरङ्गादि जिन रोगोंमें नाड़ी-सूत्रोंकी विकृति हो जाती है, उनमें पोषणी नाडियोंके विकारके कारण व्रणोंका रोपण शीघ्र नहीं होता।

आयुर्वेद तथा अध्यात्ममें शरीरको ऊर्ध्वमूल और अधःशाख वृक्षकी उपमा[१४] दी है। इस तथा पूर्व अध्यायोंमें नाडीसंस्थानका जो स्वरूप हमने देखा, उससे इस उपमाकी अन्वर्थकता सिद्ध है। मस्तिष्क ही शरीररूप वृक्षका मूल है, सुषुम्णा प्रकाण्ड (तना) तथा उनसे निःसृत नाडियाँ शाखाएँ हैं। प्राचीनोंके नाडीसंस्थानके ज्ञानकी परिपूर्णता इस उपमासे सिद्ध है।

१—Lumbar—लम्बर।

२—Hypogastric plexus—हाइपोगैस्ट्रिक प्लेक्सस। यह चक्र पृष्ठवंशके बाहर त्रिकास्थिके समीप एक नाडीकन्दसे निकलता है।

३—Superior cervical ganglia—सुपीरिअर सर्वाइकल गैंग्लिआ।

४—Cervical part—सर्वाइकल पार्ट। ५—Thoracic part—थौरेसिक पार्ट।

६—Thoracic part—थौरेसिक पार्ट।

७—Thoracic sympathetic ganglia—थौरेसिक सिम्पैथेटिक गैंग्लिआ।

८—Solar plexus—सोलर प्लेक्सस। यह उदरगुहामें स्थित एक चक्र है। इसका मूल पृष्ठमें पृष्ठवंशके बाहर स्थित एक नाडीकन्द होता है। इस चक्रको अपने कर्मोंके कारण उदर्य मस्तिष्क (Abdominal brain—ऐब्डॉमिनल ब्रेन) भी कहा जाता है। यही योगियोंका मणिपूर चक्र है।

९—Superior mesenteric plexus—सुपीरिअर मिसेण्टरिक प्लेक्सस।

१०—Inferior mesenteric plexus—इनफीरिअर मिसेण्टरिक प्लेक्सस।

११—यह विषय प्रत्यक्षशारीर से लिया गया है।

१२—Trophic nerves—ट्रॉफिक नर्व्स।

१३—आयुर्वेदमें वातके कुपित होनेसे अङ्गोंका क्षीण हो जाना सुप्रसिद्ध है।

१४—देखिये—३९ वाँ अध्याय।

चैतन्यका प्राचीनोक्त लक्षण-जीवन और आधुनिकोंका स्वतन्त्र नाडीसंस्थान—

भारतीय दर्शनमें चैतन्यका एक लक्षण जीवन कहा है। इसका अर्थ शरीरकी वृद्धि है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये लक्षण मस्तिष्क सौषुम्णिक नाडीसंस्थानके कार्य समझे जा सकते हैं। इच्छा, द्वेष और तज्जन्य प्रयत्नके अतिरिक्त शरीरके वृद्धिरूप लक्षण आधुनिकोंके कहे स्वतन्त्रनाडी संस्थानका कार्य होना चाहिये। यह इच्छा-निरपेक्ष होता है, यह ऊपर कहा ही जा चुका है[1]।

१—इस अध्यायमें हमने प्रायः विद्वानोंके मतका अनुसरण करते हुए योगियोंके चक्रोंको आधुनिकोंका प्लेक्सस कहा है। पर कई विद्वान्, यथा थियोसॉफीके एक प्रवक्ता श्री लेडबेटरका मत इसके विपरीत है। आप समाधिमें चक्रोंके दर्शनका दावा करते हैं। योग-ग्रन्थोंमें कहे चक्रोंके दलोंकी संख्या तथा वर्णमें आपने अपने प्रत्यक्षानुसार संशोधन भी सूचित किया है। चक्रोंको आप प्लेक्ससोंसे भिन्न परन्तु उनसे संबद्ध एवं सूक्ष्मशरीरका अङ्ग मानते हैं—

The radiating spokes of the Chakras supply force to these sympathetic plexuses to assist them in their relay-work. In the present state of our knowledge it seems me rash to identify the Chakras with the plexuses, as some writers appear to have done.

Vide, THE CHAKRAS, By the Rt, Rev, C. W. Leadbeater, P. 22.

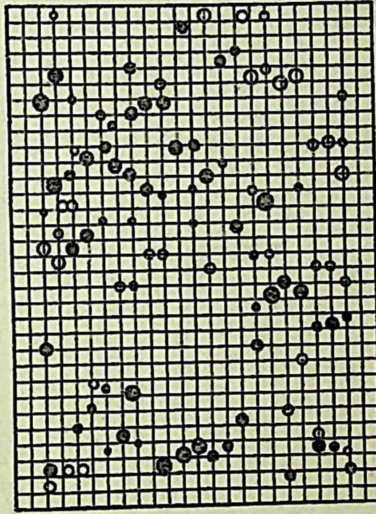
इकतालीसवां अध्याय

अथात इन्द्रियविशेषवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

इस अध्यायमें हम पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे अपने-अपने विषयका ग्रहण किस प्रकार होता है तथा कण्ठसे शब्दकी उत्पत्ति कैसे होती है, इसका विवेचन करेंगे।

स्पर्शज्ञान—

प्रधानतया त्वचासे तथा अल्पतया अन्तर्वर्ती अङ्गोंसे, सर्दी, गर्मी, वेदना, स्पर्श तथा पीडन (दबाव) का ज्ञान होता है। इन ज्ञानोंका वहन करनेवाली नाडियोंके सूत्र अन्तस्त्वक्में व्याप्त



त्वचापर शीत तथा उष्ण स्पर्शोंके क्षेत्र। चित्र—६१

होते हैं। इनके अन्तिम प्रान्त विविध प्रकारके होते हैं ; जैसे हाथ तथा पैरके तलुओं पर इन सूत्रोंके अन्तिम प्रान्तों पर छोटे-छोटे अण्डाकार उभार होते हैं। परीक्षाओंसे विदित हुआ है कि त्वचामें सर्दी, गर्मी, स्पर्श, वेदना तथा पीडनका अनुभव करनेवाले क्षेत्र पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे स्पर्शके क्षेत्र प्रतिवर्ग सेण्टीमीटरमें पन्द्रह होते हैं।

रसज्ञान—

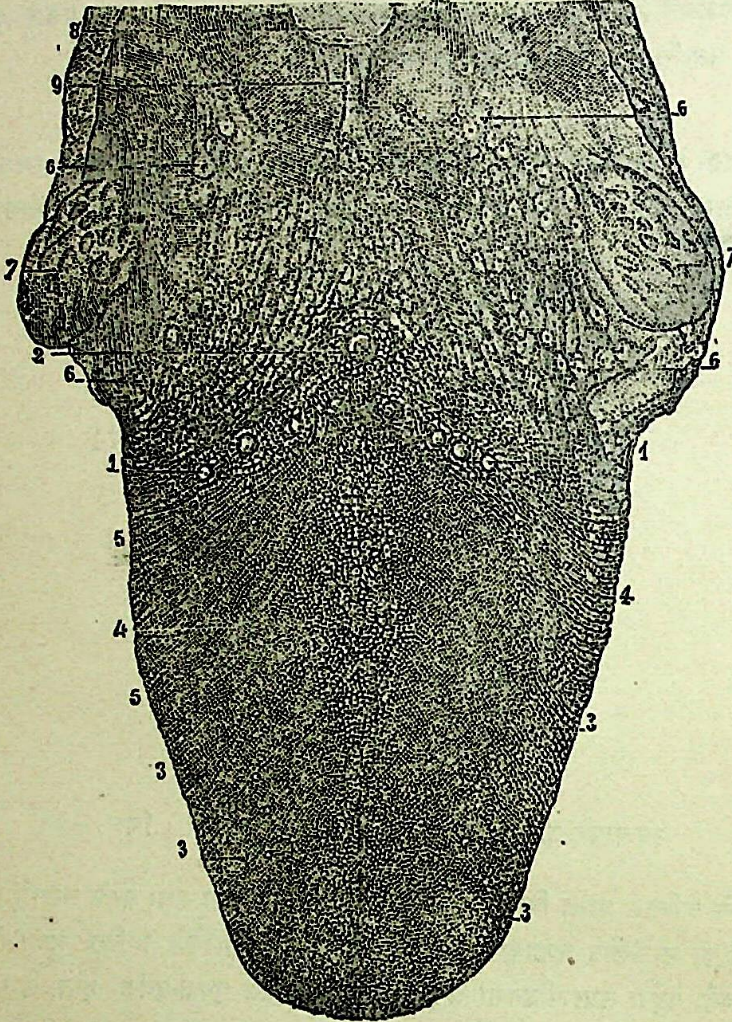
रसोंका ज्ञान मुख्यतया जिह्वासे तथा अंशतः तालु और गलेसे होता है। जिह्वाकी कलामें दानेदार उभार होते हैं। इनके अन्तर्भागमें छोटे-छोटे अण्डाकृति दाने होते हैं। इन दानोंको स्वादाङ्कुर[1] कहते हैं। स्वादांकुरोंमें रसग्राहिका नाडियों (मुख्यतः नवम शीर्षण्य नाडी) के सूत्र व्याप्त होते हैं। जिह्वाके पश्चिम भागमें ये दाने विशेष उभरे हुए तथा अङ्गरेजी अक्षर V के आकारमें व्यूहित होते हैं। रसोंका आस्वाद इस स्थलपर विशेष होता है।

त्वाच (त्वचासे हुए) ज्ञानके समान रसोंका ज्ञान भी जिह्वा तथा तालुके अमुक स्थलोंपर विशेष होता है। मधुर रस जिह्वाके अग्रपर, तिक्त पश्चिम भागपर तथा अम्ल किनारोंपर सविशेष

१—Taste buds—टेस्ट बड्स।

अनुभूत होता है। आधुनिक वैज्ञानिक चार रस मानते हैं—मधुर, तिक्त, अम्ल और लवण। रसज्ञानके लिये पदार्थोंका घुलकर चूसा जाकर स्वादांकुरोंके सन्निकर्षमें आना आवश्यक है। यह क्रिया लालारससे होती है[१]।

रसग्रहणके अतिरिक्त जिह्वा चबाना, निगलना तथा बोलना इन क्रियाओंमें भी भाग लेती है।



जिह्वा। चित्र—६२

1-2-1 विशिष्ट स्वादांकुर, अन्य स्वादांकुर भी स्पष्ट हैं; 7, 7 दोनों ओरके टॉन्सिल; 6 अधिजिह्विका।

गन्ध ज्ञान—

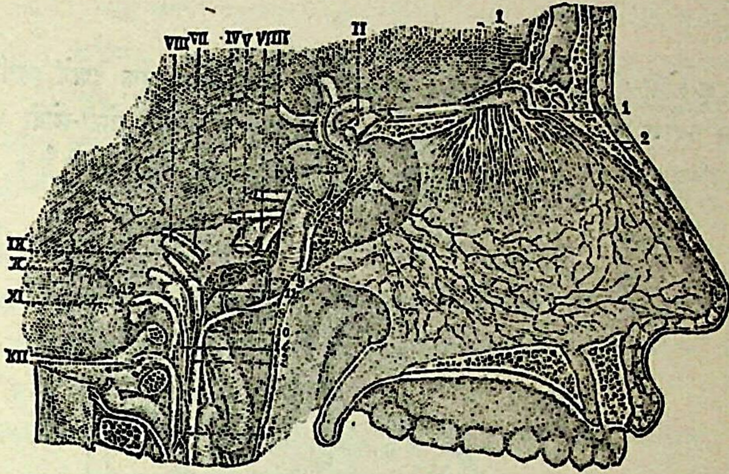
घ्राणेन्द्रियका आश्रय नासिका है। इसके अति अल्प ही स्थानमें गन्धका ग्रहण होता है। यह स्थान ऊर्ध्वशुक्तिकाको[२] आवृत करनेवाली कला तथा उसका समीपवर्ती मध्यप्राचीर[३]

१—इस रसको अतएव आयुर्वेदमें बोधक कफ कहा है।

२—ऊर्ध्वशुक्तिका तथा अन्य शुक्तिकाओंके परिचयके लिए देखिये पृ० ३४३-४४।

३—Septum—सेप्टम; नाकके दोनों छिद्रोंके मध्यवर्ती झिल्ली।

है[1]। इतने ही स्थलमें घ्राणनाडीके[2] प्रतान व्याप्त होते हैं। प्रतिश्यायमें ये प्रतान सूजी हुई कलासे व्याप्त हो जाते हैं; अतएव गन्धका ज्ञान नहीं होता। नासिकाका दूसरा कर्म श्वासक्रियाका साधनभूत होना है।



चित्र—६३

1-2 घ्राणनाडीके प्रतान, चालनी पटलमेंसे निकलकर मध्यप्राचीरमें व्याप्त। रोमन लिपिके अङ्क विविध शीर्षण्य नाडियोंको सूचित करते हैं।

शब्द ज्ञान—

शब्दका ग्रहण कर्णसे होता है। इसके तीन विभाग हैं—बहिःकर्ण, मध्यकर्ण तथा अन्तःकर्ण। बहिःकर्णके[3] दो अवयव हैं—कर्णशष्कुली[4] तथा वाह्य कर्णगुहा[5] बाह्य कर्णगुहा (कानका छिद्र) की लम्बाई कोई १$\frac{3}{4}$ इञ्च होती है।

श्रुतिपटह—

कर्णगुहाकी अन्दर और सामनेकी दीवार एक अति सूक्ष्म झिल्लीसे बनी होती है। इस झिल्लीको श्रुतिपटह[6] (कानका पर्दा) कहते हैं। इसके पीछे मध्यकर्ण होता है। शब्दकी लहरियाँ बाह्यकर्ण गुहामें होकर इस पटहपर टकरांती हैं। कर्णगुहा कुछ टेढ़ी होनेसे पटह दिखाई नहीं देता। कर्णरोगोंमें इसकी परीक्षाके लिये कर्णशष्कुली (जिसे लोकमें कान कहते हैं, वह भाग) को जरा ऊपरसे पकड़कर ऊपर, पीछे तथा बाहरकी ओर खेंचना होता है। कर्णवीक्षण[7] तथा दर्पणकी भी सहायता ली जा

१—सुश्रुतमें मर्म-प्रकरणमें गन्ध-ग्रहणके स्थानका निर्देश फणा नामसे हुआ है। देखिये—घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम। तत्र (विद्धस्य) गन्धाज्ञानम्—सु० शा० ६।२७। नवीन व्याख्याकार यहां आये स्रोतोमार्गका अर्थ कर्णमार्ग लेते हैं। मध्य कर्णका सम्बन्ध नासिकासे होता है, यह इसी अध्यायमें आगे देखिये।

२—Olfactory nerve—ऑल्फैक्टरी नर्व। ३—External ear—एक्सटर्नल ईअर।

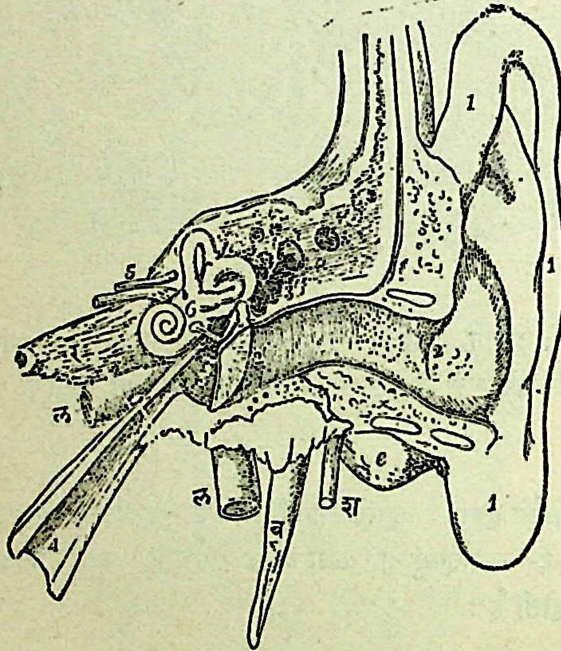
४—Pinna—पिन्ना। ५—External auditary meatus—एक्सटर्नल ऑडिटरी मिएटस।

६—Drum of the ear—ड्रम ऑफ दी ईअर; या Tympanic membrane—टिम्पैनिक मैम्ब्रेन। ७—Ear-speculum—ईअर-स्पेक्यूलम।

सकती है। स्वस्थ दशामें श्रुतिपटह मुक्ताशुक्तिके समान भास्वर होता है। मध्यकर्णके शोथमें[१] यह अरुणवर्ण हो जाता है। उक्त परीक्षासे कभी-कभी पर्देमें छिद्र हो तो वह भी देखा जा सकता है।

मध्य कर्ण—

यह एक छोटी-सी प्रायः अस्थिमय गुहा है, जो शङ्खास्थिके एक देशमें रहती है। इसकी बाहरकी दीवार पूर्वोक्त श्रुतिपटहसे बनी होती है। इस गुहामें तीन-तीन छोटी-छोटी अस्थियाँ होती हैं। पहली अस्थि मुद्गरक[२] है। यह सम्पूर्ण लम्बाईमें श्रुतिपटहसे संलग्न होती है। शेष अस्थियाँ



चित्र—६४

१-१-१ बहिःकर्ण २—श्रुतिपटह ; ३—मध्यकर्ण : ४—पटहपूरणिका ; ६—अन्तःकर्ण।

अंकुशक[3] तथा धरणक[४] हैं। ये क्रमसे एक दूसरेसे संयुक्त रहती हैं। मध्य कर्णकी भीतरी दीवारमें एक छिद्र होता है। इसमें धरणक अस्थि निविष्ट (टिकी) होती है। शब्दकी लहरिकाएँ श्रुतिपटहसे टकराकर क्रमसे इन अस्थियोंको आन्दोलित करती हुई धरणक द्वारा अन्तःकर्णमें प्रविष्ट होती हैं।

असाध्य बधिरतामें प्रायः मध्यकर्णके जीर्ण शोथके कारण तीनों अस्थियाँ एक हो जाती हैं और शब्दकी लहरियोंका वहन करनेमें अक्षम होती हैं।

१—Ottitis media—ओटाइटिस मीडिया।

२—Malleus—मैलिअस ; या Hammer—हैमर।

३—Incus—इन्कस ; या Anvil—ऐन्विल।

४—Stapes—स्टेपीज़ ; या Stirrup—स्टिरप।

पटह पूरणिका—

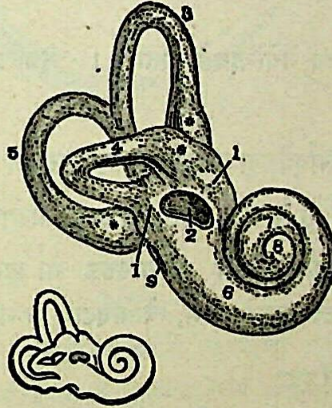
नासिक्य गल[1] से पटहपूरणिका[2] नामक एक सूक्ष्म प्रणाली मध्य कर्णमें आती है। इसकी लम्बाई कोई १$\frac{3}{8}$ इञ्च होती है। (देखिये चित्र सं० ६४)। इस प्रणाली द्वारा बाह्य वायु मध्यकर्णमें प्रविष्ट और सदा विद्यमान रहता है[3]। इस अन्तःप्रविष्ट वायु और बाह्य कर्णगुहाके वायुके दबावसे श्रुतिपटह स्वस्थ दशामें दृढ़-अशिथिल-रहा करता है। कभी-कभी गलेमें शोथ, प्रतिश्याय; टॉन्सिल (तुण्डिकेरी), एडीनॉयड आदिके कारण पटहपूरणिकामें भी शोथ हो जाता है, जिससे कुछ कालके लिये थोड़ी बधिरता उपस्थित होती है।

कानसे पूयस्राव हो तो सर्वदा मध्यकर्णकी शोथकी कल्पना करनी चाहिये।

अन्तःकर्ण या कान्तारक[4]—

यह वास्तविक शब्देन्द्रिय है। श्रुतिनाडी (अष्टम शीर्षण्य नाडी) के प्रतान इसमें व्याप्त होते हैं। शब्दकी लहरियाँ पूर्वोक्त क्रमसे इन प्रतानोंमें होकर मस्तिष्कके वल्कमें स्थित अपने स्थान में पहुंचती और शब्दका ग्रहण कराती हैं।

अन्तःकर्णके दो भाग हैं—एक अस्थिमय तथा दूसरा उसके अन्तर्गत उसीके आकारका कलामय। कलामय अन्तःकर्णके अन्दर और बाहर एक प्रकारका द्रव रहा करता है। अन्तःकर्णके दोनों अवयवोंके तीन उपाङ्ग हैं। प्रथम शम्बूक[5] है। यह घोंघेके समान आवर्त्तमय होता है। शब्दके ग्रहणमें यह अनिवार्य और प्रधान है। श्रुतिनाडीके अति संवेदी (ग्रहणशील) प्रतान इसमें



अन्तःकर्ण। चित्र—६५

६-७-८—शम्बूक; ९—तुम्बिका; ३-४-५—शुण्डिकाएँ। नीचे—अस्थिमय अन्तःकर्णके अन्तर्गत कलामय अन्तःकर्ण दिखाया गया है।

१—Nasal Pharynx—नेज़ल फेरिङ्क्स; नासिकाका पीछेकी ओर मुखसे संलग्न भाग।

२—Eustachin Tube—यूस्टेकिन ट्यूब पृ० ३४३-४४ पर स्थित चित्र भी देखिये।

३—अङ्गुलियोंसे नाकको दाबकर, ओठ भींच कर मुखका वायु निकालनेका प्रयत्न करें तो पर्देपर आघात-सा होता है। यह वायुके कारण है, जो मुख या नासिकासे निर्गमनका द्वार न पाकर उक्त प्रणालीसे निकल जाता है। जुकामके कारण कानमें भारीपन और कुछ बधिरता हो तो इस प्रयोगसे शान्ति मिलती है।

४—Labyrinth—लेबरिन्थ। ५—Cochlea—कॉक्लिआ।

व्याप्त होते हैं[1]। शम्बूकके बाहर स्थित पूर्वोक्त द्रव, शब्दकी क्रमसे आई लहरियोंसे आन्दोलित होकर अन्तःस्थ द्रवको आन्दोलित करता है। यह आन्दोलन श्रुतिनाडीके प्रतानों द्वारा ग्रहण किया जाकर मस्तिष्कमें पहुँचाया जाता है। परिणाममें शब्दका अनुभव होता है।

अन्तःकर्णका दूसरा उपाङ्ग तुम्बिका[2] है। इसके मध्य एक छिद्र होता है, जिसमें धरणकास्थि टिकी होती है।

अन्तःकर्णका तीसरा उपाङ्ग शुण्डिकायें[3] हैं। (देखिये—चित्र ६५) ये तीन अर्धवर्त्तुल प्रणालियाँ हैं। इनका छिद्रों द्वारा तुम्बिकासे सम्बन्ध होता है।

शुण्डिकाओंका कार्य—

इन शुण्डिकाओंका कार्य शरीरकी स्थितिका संतुलन है। विविध शारीरिक चेष्टाओंमें शिर यत्किञ्चित् भी इधर-उधर होता ही है, जिससे इन शुण्डिकाओंके भीतर स्थित पूर्वोक्त द्रव इधर-उधर होता है। द्रवका यह इतस्ततः होना वेगके रूपमें सूक्ष्म नाडियों द्वारा धम्मिल्लकमें पहुंचाया जाता है। धम्मिल्लकको इस प्रकार शरीर सीधा या किसी ओर नत है इस बातका ज्ञान हो जाता है और वह तदनुसार शरीरके अवयवोंको समतुलित करनेके लिए विविध प्रेरणायें करता है। अर्थात् शरीरका कोई अङ्ग किसी विशेष दिशामें झुक जाय और शरीर उस दिशामें गिरनेको हो तो पूर्वोक्त प्रकारसे उसका ज्ञान शुण्डिकाओंमें स्थित द्रव द्वारा धम्मिल्लकको होता है, और वह तत्काल समुचित अङ्गोंको ऐसी चेष्टा करनेके लिये आदेश करता है, जिससे शरीर समतुलित हो जाय।

रूपज्ञान—

रूप, प्रकाश या वर्णका ज्ञान नेत्रेन्द्रियसे होता है। नेत्रेन्द्रियका आश्रय नेत्रगोलक[4] है।

नेत्रगोलकके मण्डल—

पक्ष्मवर्त्मश्वेतकृष्णदृष्टीनां मण्डलानि तु।
अनुपूर्वं तु ते मध्याश्चत्वारोऽन्त्या यथोत्तरम्॥ सु० उ० १।१५

नेत्रगोलकमें बाहरसे अन्दरकी ओर पाँचमण्डल या स्तर होते हैं। प्रथम मण्डल पक्ष्म (नेत्रलोम[5]) कहाता है। शेष मण्डल क्रमसे वर्त्म, श्वेतमण्डल, कृष्णमण्डल तथा दृष्टिमण्डल कहाते हैं।

नेत्रगोलक और कैमरेमें सादृश्य—

आधुनिक मतसे नेत्रगोलक मानो एक कैमरा है। यह अनेक मण्डलों[6] से बना होता है; अन्तिम मण्डल प्लेटके समान होता है। इसमें दृष्टिनाडीके प्रतान व्याप्त होते हैं। ये प्रतान इस मण्डलपर पड़े हुए प्रतिबिम्बको मस्तिष्कके वल्क भागमें स्थित दृष्टिक्षेत्रमें पहुंचाते हैं। इस स्थलमें इनका ग्रहण रूपज्ञानके रूपमें होता है। उक्त मण्डलको वैद्यकमें दृष्टिमण्डल[7] कहा है।

१—'(वायुः) श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम् (च० सू० १२।८)' की व्याख्यामें चक्रपाणि ने कहा है—'श्रवणमूलत्वं वायोः कर्णशष्कुलीरचनाविशेषे व्याप्रियमाणत्वात्, मूलं प्रधानकारणम्।' यह वचन इसी आधुनिकोक्त श्रवणव्यापारकी ओर संकेत करता प्रतीत होता है।

२—Vestibule—वेस्टिब्यूल।

३—Semi circular canal—सेमी सर्क्युलर कॉनाल।

४—Eye ball—आई बौल; प्राचीन संज्ञा नेत्रबुद्बुद् भी है। देखिये सु० उ० १-१०।

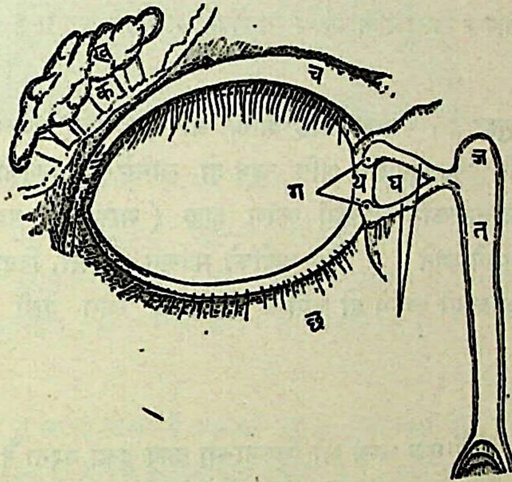
५—Eye lashes—आई-लैशेज़। ६—Coats—कोट्स। ७—Retina—रेटीना।

नेत्रगोलकके दर्शन-क्रियामें भाग लेनेवाले शेष अवयव केवल रश्मियोंके गुजरने और ठीक तरहसे दृष्टिमण्डलपर पहुंचानेके साधन हैं। इन्हें प्राचीनोंने पटल कहा है[१]। प्रकाशकी किरणें प्लेटपर ठीक तरहसे पड़ें, एतदर्थ कैमरेमें प्लेटको आगे-पीछे खिसकानेका प्रबन्ध होता है। नेत्रगोलकमें यह कार्य परिस्थितिके अनुसार इन पटलोंमें होनेवाले परिवर्तनोंसे सम्पन्न होता है। इन परिवर्तनोंका नाम केन्द्रीकरण[२] है। इन्हें संक्षेपमें आगे देखेंगे।

नेत्रगोलक विविध छोटी-छोटी पेशियों द्वारा अपने स्थानपर संबद्ध होता है। पेशियों द्वारा ही इसकी तत्तत् गतियाँ होती हैं।

वर्त्ममण्डल—

वर्त्ममण्डलका प्रसिद्ध नाम पलक[३] है। इनका अन्तर्वर्ती भाग कला[४] से आवृत होता है। यही कला नेत्रगोलकको भी आगेकी ओरसे ढके रहती है। यह कला और नेत्रोंका अन्तर्देश सर्वदा अश्रु (आँसू) नामक लवण द्रवसे आर्द्र, विमल और नीरोग रहा करता है। आँखें दुखना और पानी आना इसी कलाकी शोथका परिणाम है।



चित्र—६६

ख—अश्रुग्रन्थि ; क—अश्रुको आँखोंमें लानेवाली प्रणालियाँ ; ग—अश्रुद्वार
घ—के ऊपर-नीचे अश्रुको नासिकामें ले जानेवाली वाहिनियाँ।

अश्रु—

अश्रु एक ग्रन्थिका स्राव है, जिसे अश्रुग्रन्थि[५] कहते हैं। यह प्रत्येक नेत्रगुहा[६] में एक होती है, तथा गुहाके ऊपर तथा बाहरकी ओर पुरः कपालास्थि[७]के एक गर्तमें स्थित होती है।(देखिये चित्र ६६) आकारमें यह छोटे बादाम जितनी होती है। अश्रु इन ग्रन्थियोंसे सर्वदा झरता और कतिपय

१—अंग्रेजीमें इन अवयवोंको Refracting media—रिफ्रैक्टिङ्ग मीडिया कहते हैं।
२—Accomodation—एकोमोडेशन ३—Eye-lids—आई-लिड्स।
४—इसे अंग्रेजीमें Conjunctiva—कञ्जङ्क्टाइवा कहते हैं। म० म० गणनाथ सेनजीने वर्त्म शब्दका प्रयोग नेत्रोंकी इस श्लेष्मकलाके लिए किया है, पर यह आयुर्वेद-बाह्य है। पलकोंके लिए उन्होंने नेत्रच्छद यह नयी संज्ञा रची है। ५—Lachrymal glands—लैक्रिमल ग्लैंड्स।
६—Orbital cavity—ऑर्बिटल केविटी। ७—Frontal bone—फ्रॉण्टल बोन।

प्रणालियों द्वारा आँखमें आया करता है। कनीनक (आँखोंका नासिकाकी ओरका कोण[१]) में प्रत्येक पलकपर एक छिद्र होता है। ये छिद्र अश्रुद्वार[२] कहाते हैं। ये दो प्रणालियोंके मुख हैं, जिनके द्वारा अश्रु और उसके साथ धूलि आदिके कण वाहित होकर प्रथम अश्रुकुम्भिका[३] में एकत्र होते हैं। यह एक छोटा-सा आशय (कोथली) है और नासागुहाके पार्श्वभागमें ऊपरकी ओर स्थित होता है। अश्रुकुम्भिकासे अश्रु एककुल्या द्वारा नासिकामें जाता है।

कर्णनासिका आदिका परस्पर सम्बन्ध—

कर्णकी रचनाके प्रसंगमें हम देख आये हैं कि मध्यकर्ण और नासिकाका, एक प्रणाली पटहपूरणिका द्वारा, सम्बन्ध होता है। अश्रुकुल्या द्वारा नेत्रका भी नासिकासे सम्बन्ध होता है, यह ऊपर कहा है। एवम्, कर्ण, नासिका, नेत्र, मुख, गल, कण्ठ इन सबका परस्पर सम्बन्ध होता है। परिणामतया, इसमें एकके रुग्ण होनेसे दूसरा भी सहज ही रुग्ण हो जाता है। चिकित्सा में इस सम्बन्धका सदा स्मरण रखना चाहिये।

धूम आदि क्षोभक द्रव्योंके स्पर्शसे किंवा हर्ष-शोकादि भावोंसे अश्रुका स्राव बढ़ जाता है और यथोक्त मार्गसे जानेके अतिरिक्त बिन्दुओंके रूपमें गालोंपर भी पड़ने लगता है।

अश्रुका प्रयोजन—

अश्रु उत्तम जीवाणुहर है। इसकी यह शक्ति जीवनीय ए के सेवनसे स्थिर रहती है[४]। दुर्बलप्रकृति बालकोंमें अश्रुकी जीवाणुनाशक शक्ति न्यून हो जानेसे जीवाणुओंको आक्रमणका योग मिल जाता है। अतः, ऐसे बालकोंमें आँखोंमें अव्रण शुक्र (माड़ा)[५], सव्रण शुक्र (फूला)[६], पोथकी (कुकरे)[७] आदि पाये जाते हैं। ऐसे बच्चोंको मक्खन, मिसरी, विदारी, अश्वगन्धा आदि ओजोवर्धक द्रव्य देनेसे वे शीघ्र ही स्वस्थ हो जाते हैं। डाक्टर लोग ऐसी अवस्थामें कॉड लिवर आयल आदि देते हैं।

नेत्र-स्नेह—

अश्रुके अतिरिक्त आँखोंमें एक अन्य भी चिकना-सा स्राव हुआ करता है। यह प्रत्येक पलकमें पीछेकी ओर स्थित मञ्जरीग्रन्थि[८] नामकी ग्रन्थियोंसे होता है। यह बढ़कर अपाङ्ग या कनीनक पर संचित दिखाई दे तो इसे दूषिका (गीध) कहते हैं।

शुक्लमण्डल[९]—

यह मण्डल सब मण्डलोंसे स्थूल और दृढ़ होता है। आँखका श्वेत भाग यही है। आगेकी ओर $\frac{१}{६}$ भाग छोड़कर (जिसमें आगे कहा स्वच्छमण्डल होता है) नेत्रगोलकका शेष $\frac{५}{६}$

१—सु० उ० १।१६ आदिमें नेत्रके बाह्य कोणको अपाङ्ग तथा अन्दरके कोणको कनीनक कहा है। स्मरण रहे, पुतलीका वाचक कनीनिका शब्द इससे भिन्न है।

२—Puncta lacrimalia—पंक्टा लैक्रिमेलिआ। ३—Lachrymal sac—लैक्रिमल सैक।

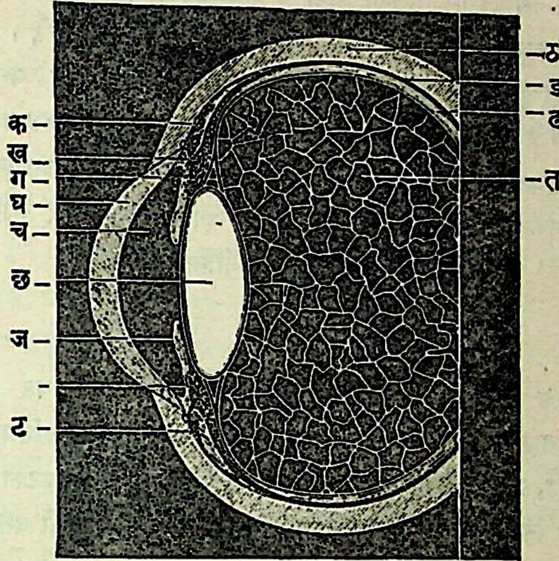
४—देखिये—१४ वाँ अध्याय। ५—Keratitis—केरेटाइटिस।

६—Corneal ulcer—कॉर्नीअल अल्सर। ७—Trachoma—ट्रैकोमा।

८—Meibomian glands—मीबोमिअन ग्लैण्ड्स। मलोंके प्रकरणमें इसे प्राचीनोंने नेत्र-स्नेह ही कहा है। अतः इसे दूषिका नाम देना संगत नहीं, जैसा कि प्रत्यक्ष शारीरमें किया है। दूषिका वृद्ध नेत्र-स्नेहका नाम है।

९—Sclera—स्क्लेरा; या Sclerotic coat—स्क्लेरॉटिक कोट।

भाग इस मण्डलसे अधिष्ठित होता है। इसके पश्चात् भागमें स्थित छिद्रोंसे दृष्टिनाडी तथा रक्तवहाएँ प्रविष्ट होती हैं।



आँखका ऊँचाईकी दिशामें छेदन। चित्र—६७

घ—स्वच्छमण्डल ; च—तेजोजल ; ज—तारामण्डल ; छ—मणि ; क, ख के मध्यमें तेजोजलका वहन करनेवाली रसायनीका मुख ; ख—संधान—मण्डल ; ग—मणिका बन्धन स्नायु ; ठ—शुक्लमण्डल : ड—कृष्णमण्डल ; ढ—दृष्टिमण्डल ; त—मेदोजल।

स्वच्छमण्डल[1]—

नेत्रगोलकका अग्रिम $\frac{1}{6}$ भाग गोलाईमें आगेको उभरा हुआ तथा शेष वर्तुल होता है। यह उभरा हुआ भाग स्वतन्त्र अवयव है और स्वच्छमण्डल कहाता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) होता है। इसका अपना वर्ण नहीं होता। पीछे कृष्ण या पिङ्गलवर्णके तारामण्डलके कारण इसका भी वर्ण उनके जैसा दीखता है। चारों ओर यह पूर्ववर्णित शुक्लमण्डलसे संयुक्त होता है। इसमें रक्त-वाहिनियाँ नहीं होतीं, जिससे इस भागमें शोथ या व्रण हो जाय तो शरीरके अन्य भागोंमें हुए शोथ या व्रणके सदृश रक्त न होकर श्वेतवर्ण होता है। आयुर्वेदमें इसी वर्णके कारण इन रोगोंको शुक्र नाम दिया गया है। स्वच्छमण्डलका पोषण रसायनियोंसे होता है।

कृष्णमण्डल[2]—

यह शुक्लमण्डलके भीतरकी ओर होता है। रक्तवाहिनियोंके निविड जाल तथा कृष्ण रञ्जक द्रव्यके[3] कारण इसका वर्ण कृष्ण होता है।

तारामण्डल तथा कनीनिका—

कृष्णमण्डलका ही अग्रवर्ती विस्तार तारामण्डल[4] होता है[5]। इसीके कारण स्वच्छमण्डलका

१—Cornea—कॉर्निआ। २—Choroid Coat—कोरॉयड कोट।
३—Pigment—पिगमेण्ट। ४—Iris—आयरिस।
५—कृष्णमण्डलका ही अवयव होनेसे आयुर्वेदमें इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं है ; यद्यपि इसके कनीनिका (पुतली) नामक मध्यवर्ती छिद्रका उल्लेख है।

वर्ण कृष्ण या पिङ्गल होता है। यह मध्यमें छिद्रित होता है। छिद्र कनीनिका या पुतली[१] कहाता है। तारामण्डल दो प्रकारके स्वतन्त्र मांससूत्रोंसे वेष्टित होता है। एक प्रकारके सूत्र गोलाईमें स्थित होते हैं। इनके सिकुड़नेसे पुतली छोटी (संकुचित) होती है। द्वितीय प्रकारके सूत्र किरणवत् (चारों ओर प्रसारी) होते हैं। इनके संकोचसे पुतली फैलती है। अति प्रकाशमें, या निकटस्थ वस्तुओंको देखते हुए पुतली संकुचित होती है। अन्धकारमें, दूर वस्तुओंको देखते हुए या भावावेशमें पुतली फैलती है। अनेक रोगोंके निर्णयमें पुतलीका सङ्कोच, विकास या वर्तुलताका देखना आवश्यक होता है। पुतलीका सङ्कोच-विकास स्वतन्त्र नाडीसंस्थानके अधीन है। मध्य स्वतन्त्र (आग्नेय) नाडीसंस्थानकी क्रियासे कनीनिका फैलती है तथा परिस्वतन्त्र (सौम्य) नाडीसंस्थानकी क्रियासे संकुचित होती है। दोनों संस्थानोंके नाडीसूत्र कनीनिकामें आते हैं।

मणि[२]—

कैमरेमें जैसे लेन्स होता है, वैसे ही नेत्रगोलकमें मणि होती है। यह उभय-उन्नतोदर तथा पारदर्शक होता है, और तारामण्डलसे लगभग संलग्न होता है। इसमें होकर दृष्टिमण्डलपर दृश्य पदार्थोंकी वैसे ही प्रतिमाएँ पड़ती हैं, जैसे कैमरेमें लेन्समें होकर प्लेटपर। दूर या निकटकी वस्तुओंके संव्यूहनके लिये—फोकसपर लानेके लिये—नेत्रमें ऐसा प्रबन्ध होता है, जिससे मणिकी वर्तुलता न्यून वा अधिक हो जाती है। परिणाममें, वस्तुओंकी प्रतिमा स्वस्थ अवस्थामें सर्वदा दृष्टिमण्डलपर ही पड़ती है[३]।

मणि प्याजके समान अनेक आवरणोंसे बनी होती है। मणिको शुष्क करके हाथसे ये आवरण उतारे भी जा सकते हैं। वार्धक्यमें मणि प्रायः उत्तरोत्तर पक्व और अपारदर्शक होने लगती है, जिससे दीखना बन्द हो जाता है। इस रोगको लोकमें मोतियाबिन्द[४] तथा शास्त्रमें काच (तिमिर), लिङ्गनाश या नीलिकाकाच[५] कहते हैं। इसका आधुनिक उपाय शस्त्रकर्म द्वारा मणिको निकाल देना, तथा उसके स्थानपर उपयुक्त काचवाला उपनेत्र (ऐनक) धारण कराना है।

१—Pupil—प्युपिल। २—Lens—लेन्स।

'मणि' सुश्रुतोक्त द्वितीय पटल है ?—आयुर्वेदमें नेत्रबुद्बुद या नेत्रगोलकमें चार पटल कहे गये हैं—देखिये, सु० उ० १।१७—१९। इनमें तिमिर नामक रोग होता है। इन चारों पटलोंमें अन्दरकी ओरसे तृतीय तथा बाहरकी ओरसे द्वितीय पटल आधुनिकोंका लेन्स (मणि) प्रतीत होता है। इस पटलको मांसके आश्रित कहा गया है और वास्तवमें, जैसा कि आगे हमने बताया है, मणि सन्धानमण्डल नामक मांससूत्रोंसे संलग्न होती है, जिनकी क्रियासे विविध अवस्थाओंमें मणिकी वर्तुलतामें भिन्नता आती है।

इसके अतिरिक्त सु० उ० ७।११।१५ में इस पटलमें होनेवाले तिमिरके जो लक्षण कहे हैं वे मणिमें होनेवाले मोतियाबिन्द रोगसे मिलते हैं। इस कारण भी उक्त पटल मणि होना चाहिये। 'मणि' शब्द म० म० गणनाथ सेनजी द्वारा प्रयुक्त किया गया है।

सुविधाके लिये फिर कह दूँ कि, आधुनिकोंने नेत्र-गोलकके जो 'कोट' कहे हैं वे प्राचीनोंके मण्डल हैं ; तथा जिन्हें नवीनोंने प्रकाशको वहनकर आगे ले जानेवाले माध्यम (रिफ्रेक्टिङ्ग मीडिया) कहा है वे प्राचीनोंके पटल है।

३—यह विषय आगे देखिये। ४—Cataract—कैटेरैक्ट।

५—देखिये—स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिकाकाचसंज्ञितः ॥ सु० उ० ७।१८

प्राचीनकालमें मणिको अन्दरकी ओर एक पार्श्वमें धकेल दिया जाता था[1]। यह विधि अब भी कहीं-कहीं देखी जाती है।

सन्धानमण्डल—

स्वच्छमण्डल तथा कृष्णके मध्य कुछ मांससूत्र होते हैं। इन्हें सन्धानमण्डल[2] कहते हैं। मणि एक बन्धनी द्वारा अपने स्थानपर टिकी होती है। यह बन्धनी सन्धानमण्डलसे जुड़ी होती है। सन्धानमण्डलके संकुचित होनेसे मणिकी बन्धनी शिथिल हो जाती है। फलस्वरूप, मणि (जो कि स्थितिस्थापक होती है) स्थूल तथा अधिक उन्नतोदर हो जाती है। यह अवस्था निकट वस्तुओंको देखनेके समय होती है। इसे केन्द्रीकरण[3] कहते हैं। (नेत्ररोगोंके निसर्गोपचारवादी केन्द्रीकरणके लिए मणिके इस प्रकार संकोच-विकासके सिद्धान्तको नहीं मानते। वे कहते हैं—समूचे नेत्र-गोलकका आवश्यकतानुसार संकोच-विकास होता है, जिससे वह लम्बा या छोटा हो जाता है।)

दृष्टिमण्डल[4]—

यह कृष्णमण्डलके अन्दरकी ओर स्थित अत्यन्त पतली तथा संवेदी (अनुभवशील) कला है। इसी मण्डलमें प्रकाशकी किरणोंका ग्रहण होता है। यह मुख्यतः दृष्टिनाडीके प्रतानों (शाखा-विस्तार) से बना होता है।

सूक्ष्म परीक्षासे दृष्टिमण्डल नाडी-कोषोंसे बने दस स्तरोंमें विभक्त पाया जाता है। इनमें अन्दरसे बाहरकी ओर नवम स्तर प्रधान होता है। इसमें दो प्रकारके नाडी-कोष पाये जाते हैं। अपनी विशिष्ट आकृतिके कारण इन्हें शलाका[5] और शङ्कु[6] कहते हैं। शलाकाओंमें रॉडोप्सिन या विझुअल पर्पल[7] नामक रञ्जक होता है। वस्तुओंको देखते समय प्रकाशकी किरणें[8] गृहीत होकर रॉडोप्सिन पर पड़ती हैं। परिणाममें वह पीतवर्ण हो जाता है। यही पीतवर्ण हुआ रञ्जक किसी अज्ञात प्रकारसे दृष्टिनाडीके प्रतानोंको प्रभावित करता है और वे प्रकाशकी संज्ञाको वल्क (मस्तिष्कके उपरिभाग) में पहुंचाते हैं। वहाँ इसका रूप-ग्रहणके रूपमें अनुवाद होता है।

शङ्कुओंमें आयोडॉप्सिन[9] या विझुअल वायोलेट[10] नामका अन्य एक रञ्जक द्रव्य होता है। प्रकाशसे उसमें भी परिवर्तन होकर रूप प्रत्यक्ष होता है।

१—देखिये—सु० उ० १७।६७—६८। इसे काउचिंग—Conching—कहते हैं।

२—Ciliary body—सिलिअरी बॉडी। ३—Accomodation—एकॉमोडेशन।

४—Retina—रेटीना। ५—Rods—रौड्स।

६—Cones—कोन्स। म० म० गणनाथसेन जीने इन कोषोंको क्रमशः शूल और वेमा (अर्थ तकुआ) नाम दिये हैं। शलाका और शंकु नाम डॉ० म्हस्करके मराठी ग्रन्थमें आये हैं।

७—Rhodopsin या Visual purple.

८—सूर्य आदि प्रकाशमान पिण्डोंकी किरणें वस्तुओंपर पड़ती हैं और वहाँसे प्रतिफलित होकर नेत्रगोलकमें प्रविष्ट होती हैं। इस प्रकार हमें वस्तुओंका दर्शन होता है। यही बात आयुर्वेदमें भी मानी गयी है। देखिये—चक्षुस्तैजसं तेजः सहकृतं च पश्यति, × × तदुक्तं शालाक्ये—यत्तेजो ज्योतिषां दीप्तं शरीरं प्राणिनां च यत्। संयुक्तं तेजसा तेजस्तद्धि रूपाणि पश्यति॥

च० सू० ९।७ पर चक्रपाणि

९—Iodopsin. १०—Visual Violet.

दोनों कोषोंमें कर्म-भेद यह है कि शङ्कु दिवसके प्रकाशमें तथा शलाकाएँ क्षीण प्रकाश या अन्धकारमें रूप-ग्रहण नाम वस्तुओंका प्रत्यक्ष कराती हैं[1]।

आलोचक पित्त—

आयुर्वेदका आलोचक पित्त[2] ये रॉडॉप्सिन तथा आयोडॉप्सिन प्रतीत होते हैं।

दर्शनकेन्द्र—

पुतलीके ठीक सामने, दृष्टिमण्डलके मध्यमें, एक पीला-सा बिन्दु होता है। इसे पीतबिम्ब[3] कहते हैं। इसका विस्तार कोई १ मिलीमीटर (पिनकी घुण्डी जितना) होता है। इसके मध्यमें एक गढ़ा होता है। इस गढ़ेमें दृष्टि सब स्थानोंकी अपेक्षया तीक्ष्ण होती है। हम प्रतिपल नेत्रोंको हिलाते रहते हैं, उसका हेतु यही होता है कि दृश्य वस्तुकी प्रतिमा दृष्टिमण्डलके इस स्थल पर पड़े[4]। इस गढ़ेको दर्शनकेन्द्र[5] कहते हैं।

सुश्रुतमें दर्शनकेन्द्रका विवरण—

इसी दर्शनकेन्द्रको लक्ष्य करके आयुर्वेदमें कहा गया है—

मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्।
खद्योतविस्फुलिङ्गाभामिद्धां तेजोभिरव्ययैः॥
आवृतां पटलेनाक्ष्णोर्बाह्येन विवराकृतिम्।
शीतसात्म्यां नृणां दृष्टिमाहुर्नयनचिन्तकाः॥ सु० उ० ७।३-४

इद्धां तेजोभिरव्ययैरिति; एतेन तेजोमयो दृष्टिरित्युक्तम्॥ —डल्हन

दृष्टि मसूरकी दालके तुल्य प्रमाणकी तथा पाँच भूतोंके सारसे निर्मित होती है। उसकी आभा जुगनू या चिनगारीके समान (कुछ-कुछ पीली) होती है। यह तेजोमय (तेज=पित्त=आलोचक पित्त) होती है। यह नेत्रगोलकके बाह्य पटलोंसे आवृत होती है। इसकी आकृति विवर (गढ़े) के समान होती है। इसके स्वास्थ्यके लिये शीतगुण औषध तथा आहार-विहार उपयुक्त हैं[6]।

अन्धबिन्दु—

पीतबिम्बसे कोई तीन मिलीमीटर अन्दरकी ओर दृष्टिनाड़ी का निर्गमस्थान है। इसे सितबिम्बव[7] कहते हैं। दृष्टिनाडीके मध्यमें होकर धमनियाँ और शिराएँ आती-जाती हैं। सितबिम्बमें दृष्टिशक्ति सर्वथा नहीं होती। अतः, इसे अन्धबिन्दु[8] भी कहते हैं।

१—यह विषय विस्तारसे पृ० २५८ पर देखिये। २—देखिये—३४ वाँ अध्याय।

३—Macula lutea—मैक्युला ल्युटिआ; या Yellow spot—येलो स्पॉट।

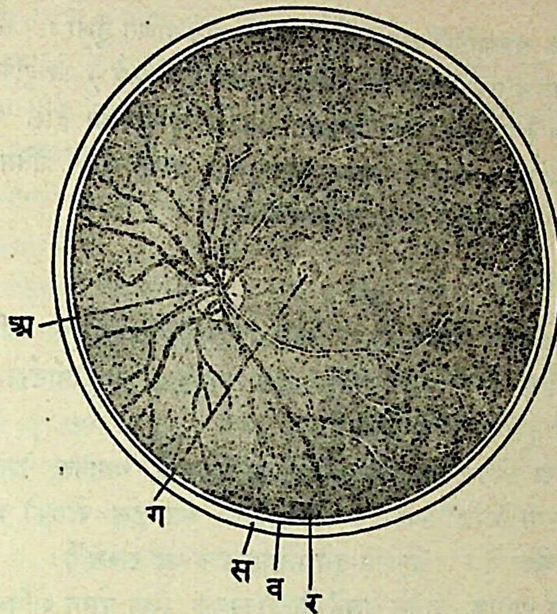
४—देखिये—In the centre is a depression called the *Fovea Centralis*. It is the spot of most distinct vision. For this reason we are constantly moving our eyes so as to bring the image on this spot. *Human Physiology, P. 266*

५—Fovea centralis—फोविआ सेण्ट्रलिस।

६—दृष्टिमण्डलका यह वर्णन पूर्ववर्णित आधुनिक प्रत्यक्षसे अक्षर-अक्षर मिलता है। इसका तथा आलोचक पित्तका वर्तमान मतसे यह साम्य आयुर्वेदके गाम्भीर्यका बलवान् उदाहरण है। दृष्टिके बाह्य पटलोंसे आवृत होनेका अर्थ आगे स्पष्ट किया है।

७—Optic disc—ऑप्टिक डिस्क। ८—Blind spot—ब्लाइण्ड स्पॉट।

नेत्ररोगमें दृष्टिमण्डलकी परीक्षाके लिये एक दर्पण प्रयुक्त होता है। इसे नेत्रवीक्षण[1] कहते हैं।



वामनेत्र, नेत्रवीक्षणसे देखनेपर। चित्र—६८

ग—पीतबिन्दु ; अ—अन्धबिन्दु तथा रक्तवाहिनियाँ।

नेत्र-जल[2]—

नेत्रगोलकके आभ्यन्तर भागमें दो प्रकारके द्रव पाये जाते हैं। प्रथम द्रव आगेकी ओर स्वच्छमण्डल और तारामण्डलके मध्य तथा पीछेकी ओर तारामण्डल और मणिके मध्य रहता है। यह जलप्राय तथा कुछ-कुछ लवणरस होता है।

दूसरा द्रव नेत्रगोलकके मणिके पीछे ⅘ भागमें दृष्टिमण्डलके आश्रयमें भरा होता है। यह स्वच्छ (पारदर्शक) और अर्ध-घन होता है। इसके दबावसे नेत्रगोलक दृढ़ बना रहता है। अन्यथा, दृष्टिमण्डल अपने स्थानसे उखड़ आये।

इन दोनों तरलोंको नेत्रजल कहते हैं। पहिलेको तेजोजल[3] तथा दूसरेको मेदोजल[4] कहते हैं। तेजोजल सर्वदा स्वच्छ और शुक्लमण्डलकी सन्धिपर स्थित एक द्वारमें होकर मेदोजलमें मिलता रहता है। वहाँ दोनों जलोंका रसायनियों द्वारा ग्रहण होता रहता है। उक्त द्वार किसी कारण रुद्ध हो जाय तो तेजोजलका अपने स्थानमें सञ्चय हो जाता है। इस सञ्चित जलके दबावके कारण नेत्रगोलक तथा शिरमें अति असह्य पीडा होती है। इस रोगको अधिमन्थ[5] कहते हैं[6]।

१—Ophthalmoscope—ऑफ्थैल्मोस्कोप।

२—Humours—ह्यूमर्स। इस शब्दका मूल अर्थ क्लेद या आर्द्रता है।

३—Aqueous humour—ऐक्वियस ह्यूमर। ४—Vitreous humour—विट्रियस ह्यूमर।

५—Glaucoma. ६—पूर्वोक्त चार पटलोंमें बाहरकी ओरसे प्रथमका आयुर्वेदमें तेजोजल नामसे तथा तृतीयका मेदोजल नामसे स्पष्ट निर्देश है। ये नाम इन जलोंके स्वरूपको देखकर रखे गये हैं। प्राचीन नाम उपलब्ध होनेसे हमने प्रत्यक्षशारीरकी तनुजल तथा सान्द्रजल संज्ञाएँ नहीं ली हैं। ये दो पटल, उपर्युक्त द्वितीयपटल (मणि) तथा एक अन्य पटल (?) ऊपर वर्णित दर्शनकेन्द्र के सामने होते हैं। ऊपर धृत दृष्टिके वर्णनमें उसे 'बाह्य पटलोंसे आवृत' कहा है, उसका यह अर्थ है।

दर्शनक्रिया—

एवम्, यह नेत्रके अवयवोंकी रचना और उनका कार्य वर्णित हुआ। संक्षेपमें, स्वच्छमण्डल, तेजोजल, मणि तथा मेदोजल प्रकाशकी रश्मियोंको संन्यूहित (फोकस) कर दृष्टिमण्डलके पीत बिम्ब पर पहुंचानेका काम करते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रतिमा ही दृष्टिनाडी द्वारा मस्तिष्कमें पहुँच कर रूपदर्शन कराती है। भौतिक शास्त्रमें कथित काचों और दर्पणों द्वारा प्रतिमाएँ पड़नेके सिद्धान्त जाननेसे यह विषय समझनेमें अच्छी सहायता मिल सकती है।

दर्शनक्रियाके कुछ विकार—

नेत्रगोलकके साधारणसे अधिक लम्बा होनेसे प्रतिमाएँ दृष्टिमण्डलपर केन्द्रित नहीं हो पातीं। फलस्वरूप, दूरकी वस्तुएँ अस्पष्ट दिखाई देती हैं। इस रोगको अंग्रेजीमें शॉर्टसाइट या मायोपिया[1] कहते हैं। हिन्दीमें इसे दूरान्ध्य कह सकते हैं।

नेत्रगोलकके छोटा होनेसे निकटकी वस्तुओंकी प्रतिमाएँ यथावत् केन्द्रित नहीं हो पातीं। मनुष्य दूरकी वस्तुओंको ही केवल स्पष्ट देख सकता है। अतः इस रोगको अंग्रेजीमें लॉंग-साइट या हाइपरमेट्रोपिया[2] कहते हैं। हिन्दीमें इसे निकटान्ध्य कह सकते हैं।

वार्धक्यमें मणिके परिपक्व होनेसे उसमें केन्द्रीकरणके लिये योग्य शैथिल्य नहीं रह पाता। परिणाममें, प्रतिमाएँ स्पष्ट न पड़नेसे वस्तुओंका दर्शन नहीं होता। इसे प्रेसबियोपिया[3] कहते हैं।

उक्त तीनों दोषोंका निराकरण उपयुक्त जातिके काचोंवाले उपनेत्र धारण करनेसे हो सकता है।

दृष्टिमण्डलपर प्रत्येक प्रतिमा $\frac{1}{7}$ सेकेण्ड रहती है। अतः वर्षाकी बूँद, तेजीसे घूमते हुए पहिये, वेगसे चारों ओर घुमाया जाता हुआ जलता कोयला (वा अन्य कोई पदार्थ) सब अविच्छिन्न एक रेखकार प्रतीत होते हैं। एक स्थानपर देखी वस्तुकी प्रतिमाका प्रभाव लुप्त हो, उसके पूर्व ही अन्य स्थानोंकी प्रतिमा पड़ती है। सिनेमामें चित्रपरम्पराके अविचल दीखनेका कारण भी यही है।

वाणी (शब्दोत्पत्ति)—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः॥
वर्णाञ्जनयते॥ पाणिनीय शिक्षा

श्वासक्रियामें फुप्फुससे निकलते हुए वायुमें कोई विशेष नहीं होता; परन्तु जब मनुष्यको विवक्षा याने बोलनेकी इच्छा होती है तो यही वायु वक्षःस्थलमें संचार करता हुआ मन्दस्वर उत्पन्न

१—Short sight या Mayopia,

२—Long-sight; या Hypermetropia. नेत्रोंकी दर्शनकी अशक्तिके लिये वैद्यकमें आन्ध्य तथा रोगीके लिये अन्ध शब्द प्रसिद्ध हैं; यथा दिवान्ध, नक्तान्ध, नक्तान्ध्य; नकुलान्ध्य इत्यादि। रघुवंश १४।२ में अश्रुओंके कारण हुई दर्शनाशक्तिके लिये अस्रान्धता शब्द आया है। इनके अनुकरण पर शॉर्ट-साइटके लिये दूरान्ध्य तथा, लॉङ्गसाइटके लिये निकटान्ध्य शब्द रखे हैं।

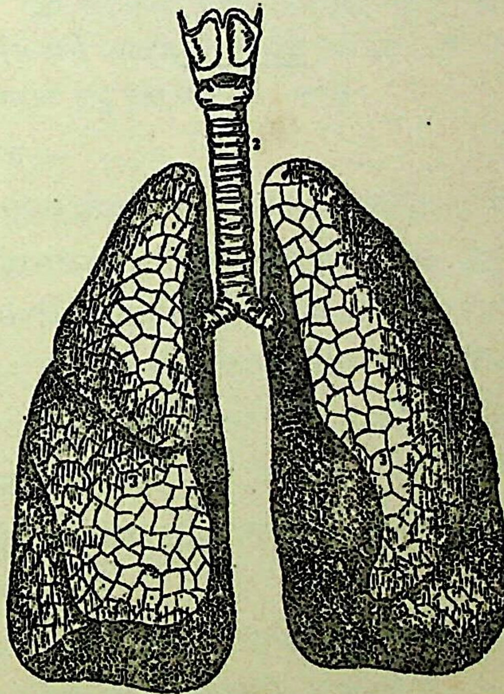
३—Presbyopia.—हिन्दीमें इसे जरसान्ध्य कह सकते हैं।

करता है। और जब बाहर निकलने लगता है, तो मुखके गला, नासा, जिह्वा आदि अवयवोंके तात्कालिक परिवर्तनोंके कारण वर्णोंके रूपमें परिणत होता है।

किस वर्णके उच्चारमें किस अवयवका कैसा और कितना उपयोग होता है, यह व्याकरण-ग्रन्थों में विस्तारसे बताया जाता है। हम यहाँ केवल नव्य प्रत्यक्षानुसार शब्दोत्पत्तिका स्वरूप देखेंगे, जो पूर्वोक्त पुरातन मतकी व्याख्यामात्र है।

क्लोम वा श्वासपथ[1] का ऊर्ध्वभाग वर्णोच्चारक हेतु है। एतदर्थ, निम्न भागकी अपेक्षया इसमें कुछ विशेष (भेद) होता है। इस भागको कण्ठ वा स्वरयन्त्र[2] कहते हैं। यह बाहरसे तरुणास्थि-मय होता है। तरुणास्थियाँ तीन होती हैं। सबसे ऊपरकी तरुणास्थिका उभार ग्रीवापर बाहर की ओर दिखाई भी देता है, और टेंटुआ कहा जाता है।

कण्ठ सर्वथा हारमोनियमके सदृश है। हारमोनियममें वायुका प्रवाह विशेष द्वारोंमें होकर जाता है, और द्वारोंकी सूक्ष्मताके कारण निकलता हुआ धातुमयी पत्तियोंको कम्पित करता है। यह कम्पन ही शब्दोत्पत्तिका मूल है। कण्ठमें भी इन पत्तियोंके सदृश स्थितिस्थापक तन्तुओंकी बनी दो पट्टियाँ होती हैं। इन्हें स्वरतन्त्री[3] कहते हैं। ये मध्यवर्ती तरुणास्थिसे सम्बद्ध होती हैं। पुरुषमें इसकी लम्बाई १५ और स्त्रीमें ११ मिलीमीटर होती है। श्वासक्रियामें ये तन्त्रियाँ कण्ठकी



कण्ठ, क्लोम तथा फुफ्फुस। चित्र—६९

१—Trechea—ट्रेकिआ।

२—Larynx—लैरिङ्क्स। 'नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कामलान्तरम्। कण्ठाद् बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ शा० पू० ५।४४॥' आदिके अनुसार हमने कण्ठ शब्द लैरिङ्क्सके लिये उचित समझा है। गल शब्द पृ० १०४ पर दिये कारणोंसे केवल फैरिङ्क्सके लिये उपयुक्त है।

३—Vocal cords—वोकल कॉर्डस्।

दीवारसे सटी होती हैं और वायुको निर्बाध निकलने देती हैं। बोलने या गानेकी इच्छाके समय ये तन जाती हैं, जिससे ये एक दूसरेके समानान्तर हो जाती हैं। वायुको निकलनेके लिये तब अत्यल्प अवकाश रह जाता है। रुद्ध वायु हारमोनियमकी पत्तियोंके समान इन तन्त्रियोंको कम्पित करता है। इससे शब्दका उद्भव होता है। जिह्वा आदिके अमुकामुक प्रयासोंसे इन शब्दसे वर्णोत्पत्ति होती है। तन्त्रियोंको शिथिल या दृढ़ करनेका कार्य उनसे सम्बद्ध विशेष पेशियोंका है।

कण्ठके उपरिभागमें एक पर्दा-सा होता है। इसे अधिजिह्विका[1] कहते हैं। भोजन निगलनेके समय यह कण्ठको ढाँप देता है, जिससे भोजनका अंश श्वासपथमें नहीं जा पाता।

कण्ठकी परीक्षाके लिये एक यन्त्र होता है। इसे कण्ठवीक्षण[2] कहते हैं।

क्लोम पिपासाका स्थान है—

क्लोम हृदयस्थ पिपासास्थानम् ॥ च० वि० ५।८ पर चक्रपाणि

आयुर्वेदमें क्लोम किंवा श्वासपथकी अन्य भी प्रसिद्धि है। इसे पिपासाका स्थान कहा गया है[3]।

१—Epiglottis—एपिग्लॉटिस।

२—Laryngoscope—लैरिंझोस्कोप।

३—कोई-कोई क्लोमका अर्थ पित्ताशय (गॉल ब्लॉडर) करते हैं, जो युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। चक्रपाणि के उक्त वाक्योंमें क्लोमकी स्थिति स्पष्ट ही हृदयमें बताई है। यहां हृदयका अर्थ छाती है। इस विषयके अन्य प्रमाण प्रत्यक्षशारीर के उपोद्घातमें देखिये।

बयालीसवां अध्याय

अथातः प्राकृतवातविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

वात धातुके आश्रयभूत नाडीसंस्थानका वर्णन हुआ। अब हम पुनः आयुर्वेदमतसे प्राकृत वातसम्बन्धी ज्ञातव्य विषयोंका निर्देश करेंगे।

वातशब्दका निर्वचन—

वात या वायु शब्द 'वा गतिगन्धनयोः' धातु से बनता है[1]। पीछे देख आये हैं कि वायु शरीरमें होनेवाली यावत् गतियों अर्थात् ज्ञान, गमन वा चेष्टा और प्राप्ति[2] का हेतु है। अतः इसे 'वा' धातुसे सिद्ध वायु और वात नाम दिये गये हैं। परन्तु ध्यान रहे, जैसा कि ३८ वें अध्यायमें कहा है, आयुर्वेदमें बाह्य और शरीरचर दोनों वायुओंको स्पष्ट शब्दोंमें एक और अभिन्न कहा है। ४५ वें अध्यायमें हम आधुनिकमतसे जतायँगे कि प्राकृत या वैकृत दोनों वात किस प्रकार बहिश्चर या अन्तरिक्षगत वायु ही हैं। यहाँ यही कहना है कि, पूर्व दिया निर्वचन केवल शारीरिक वायुका नहीं है। बहिश्चर और शारीरिक दोनों समानकर्मा वायुओंके लिये वह निर्वचन समान है। बाह्य वायुका अंश होनेसे ही शारीरिक वायुको वायु कहा गया है। अस्तु।

वातप्रकृति पुरुषोंके लक्षण—

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद् वातला रूक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामासन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च भवन्ति, लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः, चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठजिह्वाशिरःस्कन्धपाणिपादाः, बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः, शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, शैत्याच्छीतासहिष्णवः प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः, पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः, वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः सततसंधिशब्दगामिनश्च भवन्ति, त एवं गुणयोगाद्वातलाः प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९८

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी दन्तखादी[3] च भवति॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः॥
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टिर्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः॥

१—देखिये ३४ वां अध्याय। २—गतिके ये तीन अर्थ वैयाकरण सम्मत हैं।

३—दन्तखादी सुप्तः सन् दन्तान् किटकिटायते॥ —डलह्न

वातिकाश्चाजगोमायु शशाखूष्ट्रशूनां तथा ।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥ सु० शा० ४।६४-६७

विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद्दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥
प्रायोऽतएव पवनाध्युषिता मनुष्या दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः ।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धिचेष्टा सौहार्ददृष्टिगतयोऽतिबहुप्रलापाः ॥
अल्पवित्तबलजीवितनिद्राः सन्नसक्तचलजर्जरवाचः[१] ।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा गीतहास्यमृगयाकलिलोलाः ॥
मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकाङ्क्षाः कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ॥
नेत्राणि चैषां खरधूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते शैलद्रुमांस्ते गगनं च यान्ति ॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखु काकानूकाश्च वातिकाः ॥ अ० हृ० शा० ३।८४—८९

वायु विभु है—शरीरमें स्वतः व्याप्त है ; आशुकारी है—उसकी क्रिया शीघ्र होती है ; बली है ; स्वयं कुपित होकर पित्त और श्लेष्माको प्रकुपित करता है ; स्वतन्त्र है तथा तदुत्थ रोगोंकी संख्या अधिक होती है । इन कारणोंसे तीनों दोषोंमें वायु बलवान है । वायु रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष और विशद (आर्द्रताहर) है । अतएव वातप्रकृति पुरुषोंमें स्वभावतः उक्त गुण पाये जाते हैं[२] ।

वातप्रकृति पुरुष रूक्ष, कृश, अपचित (मेदरहित) और दीर्घ (लम्बे शरीरवाले) होते हैं । उनके जांघ आदि अवयव निर्मांस और निर्मेद होनेसे बटे हुए-से होते हैं । उनके केश, श्मश्रु, रोम, नख तथा दन्त अल्प (छोटे), परुष (खुरदरे) तथा धूसरवर्ण (मटमैले) होते हैं । मुख, हाथ, पैर आदि अङ्ग भी रूक्ष, परुष तथा फटे हुए होते हैं । उनके नेत्र रूखे, धूसर, गोल, असुन्दर तथा मृतवत् होते हैं । वातप्रकृति पुरुषोंमें किसीका स्वर बैठा हुआ, किसीका चल, किसीका जर्जर (फटा हुआ),

---

१—केषांचित् सन्ना अवसादं नीता, केषांचित् सक्ता भाषणे विलम्ब्य विलम्ब्य प्रवृत्ता, केषांचिच्चला, केषांचिज्जर्जरा भिन्नकांस्यस्वनसदृशी वागित्यर्थः ॥ —अरुणदत्त

२—वस्तु स्थिति मेरे ख्यालसे यह है कि, जैसे शुण्ठी आदि बाह्य द्रव्योंकी शरीरपर क्रिया देखकर उनके उष्णादि गुण निश्चित किये गये हैं, वैसे ही दोषोंके भी शरीर पर कर्म देखकर उनके तत्तत् गुण मान लिये गये हैं । जैसे-वायु प्राकृत हो तो उसके कारण व्यक्तियोंकी बुद्धि (निश्चय) की अस्थिरता ; पैर, मुख, नेत्र आदिकी चपलचेष्टाओंके कारण अस्थिरता ; अग्निकी अस्थिरता (विषमता) आदि देखे जाते हैं ; वातजन्य कोई रोग हो तो तदुत्थ लक्षणोंमें अस्थिरता देखी जाती है, यथा वातिक ज्वरमें ऊष्मा आदिका कोई क्रम न होना । इन कारणोंसे उसे चल-गुण विशिष्ट मान लिया गया । तथापि, आचार्योंकी शैली वस्तुको क्रम-परिवर्तन करके लिखने-कहनेकी है कि : इन-इन गुणोंके कारण इस-इस दोषके ये-ये लक्षण होते हैं ।

किसीका गद्गद (रुक-रुक कर निकलनेवाला—लरजनेवाला) और रूक्ष तथा क्षीण होता है। उनकी रक्तवाहिनियाँ फूली हुई तथा कण्डराएँ उभरी होती हैं और त्वचापरसे दिखाई देती हैं। वायुके चाञ्चल्यके कारण वातिक पुरुषोंकी सन्धि, नेत्र, भौंह, हनु (गण्ड-प्रदेश), ओष्ठ, जिह्वा, शिर, कन्धा, हाथ, पैर—सब अस्थिर होते हैं—सदा चलते रहते हैं। उनकी बुद्धि (निश्चय) अस्थिर होती है; मैत्री भी स्थायी नहीं होती। उनकी गति, चेष्टा, आहार तथा वाचामें हलकापन (छिछोरपना) और चापल्य (तेजी) होता है। चलते हुए उनके पैरकी सन्धियोंमें फूटनेके शब्द होते हैं। (हलन-चलनसे अन्य सन्धियोंमें भी फूटने-का शब्द होता है।) वे बड़े वाचाल तथा असम्बद्धभाषी होते हैं। वे अदृढ़ (मानसिक तथा शारीरिक दृढ़तासे रहित, अजितेन्द्रिय, अनार्य, नास्तिक, चोर, मत्सरी, क्रोधी तथा कृतघ्न होते हैं। वे गन्धर्व-स्वभावके होते हैं—अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य, हास्य, मृगया, विलास तथा कलह उन्हें प्रिय होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण तथा उष्ण आहार उनको रुचिकर होता है। वे खाऊ होते हैं। वायुके शीघ्र स्वभावके कारण वायुप्रकृतिके पुरुषोंमें भय, प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ, काम आदि विकार तथा कार्यका निश्चय (समारम्भ) शीघ्र उत्पन्न होते हैं—उनका स्वभाव जल्दबाज होता है। कही हुई बात वे शीघ्र समझ लेते हैं; परन्तु उनकी स्मृति अल्प होती है। वायुके शीत होनेसे उनमें शीतकाल या शीत द्रव्योंकी सहिष्णुता न्यून होती है, तथा अल्पसे कारणसे उनमें स्तम्भ (अङ्ग जकड़ जाना), कम्पन तथा शीतक (ठण्ढ लगना)—ये विकार पाये जाते हैं। वे अल्पवीर्य तथा अल्पबल होते हैं। स्त्रियोंकी प्रीति सम्पादन करनेकी शक्ति उनमें न्यून होती है। उनके सन्तान, आयु, साधन, धन और मित्र अल्प होते हैं। उन्हें निद्रा कम होती है। सोते समय उनकी आँखें अधखुली रहती हैं, दाँत किटकिटाते हैं, तथा उन्हें आकाशमें उड़ने एवं पर्वतों और वृक्षोंके लांघनेके स्वप्न आते हैं।

वातप्रकृति पुरुषोंकी तुलना बकरी, गीदड़, शशक, चूहा, उष्ट्र, कुत्ता, गिद्ध, गधा और कौआ इन प्राणियोंसे की जा सकती है[1]।

आधुनिक विज्ञानके मतसे प्रकृतियाँ—

एवम्, यह आयुर्वेद मतसे वातप्रकृतिवाले पुरुषोंके लक्षणोंका निरूपण हुआ। पैत्तिक और श्लैष्मिक प्रकृतिके लक्षण पहले कहे ही जा चुके हैं। अब अवसर है कि मानव प्रकृतिके सम्बन्धमें आधुनिक विज्ञानका विचार भी संक्षेपमें देख लें। इस विषयमें पैवलौव[2] का मत यह है—

"दो प्रकारकी वस्तुओंका नाडीसंस्थान पर सर्वदा प्रभाव हुआ करता है। एक प्रकारकी वस्तु वे हैं, जो इसकी क्रियाको मन्द या अवसन्न करती हैं। इन्हें अवसादक वस्तु[3] कहते हैं। दूसरे प्रकारकी वस्तु वे हैं, जो नाडीसंस्थानको क्षुभित या उत्तेजित किया करती हैं। इन्हें क्षोभक या उत्तेजक वस्तु[4] कहते हैं। उदाहरणरूपेण, भोजनकाल उपस्थित होनेपर पाचक रसोंका स्राव नाडी-संस्थान सम्बन्धी एक प्रसिद्ध क्रिया है। परन्तु, इस काल यदि असह्य कोलाहल हो तो रसोंका स्राव नहीं होता। एवम्, इस दशामें कोलाहल अवसादक वस्तु है।

१—शार्ङ्गधरने वातप्रकृति पुरुषके लक्षण संक्षेपमें निम्न कहे हैं—

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः॥ शा० पू० ६।२१

२—नाडीसंस्थानके आधुनिक विद्वानों और संशोधकोंमें धुरन्धर; रूसनिवासी।

३—Inhibitory stimulus—इनहिबिटरी स्टिम्युलस।

४—Excitatory stimulus—इक्साइटेटरी स्टिम्युलस।

"परीक्षा करनेसे नाडीसंस्थान तीन प्रकारका पाया गया है। नाडीसंस्थानका एक प्रकार वह है, जिसपर उत्तेजक वस्तुओंका शीघ्र प्रभाव होता है, अतः जो जरा-जरा बातमें क्षुभित हो जाया करता है। इसके विपरीत नाडीसंस्थानका अन्य प्रकार है, जो अवसादक वस्तुओंके शीघ्र वशीभूत हो जाता है, फलस्वरूप जिसकी क्रियायें समय-समय पर मन्द हो जाया करती हैं।

"इन दोनों प्रकारोंका मध्यवर्ती तृतीय प्रकार है, जो कि उभयविधि वस्तुओंकी उपस्थितिमें भी शान्तिपूर्वक समतुलित होकर कर्म किया करता है। इस तीसरे प्रकारके प्राणियोंके दो उप-प्रकार हैं। कुछ प्राणी ऐसे होते हैं, जो सर्वदा सुस्त, मन्द तथा शान्त रहते हैं। दूसरे प्राणी ऐसे होते हैं, जो सामान्यतया स्फूर्त्त होते हैं, परन्तु एक ही स्थितिमें रहनेसे आश्चर्यजनक शीघ्रतासे अवसन्न (सुस्त, जड़) हो जाते हैं।

"नाडीसंस्थानका यह विभाग, प्राचीनोंके किये प्रकृत-विभागसे अतिसाम्य रखता है। क्षोभ्य नाडीसंस्थानवाले पुरुषोंको पित्तप्रकृति[1]वाला, अवसाद्य नाडीसंस्थानवालेको वातप्रकृतिवाला (?)[2]; मध्यवर्ती शान्त नाडीसंस्थानवालोंको श्लैष्मिक[3] तथा मध्यवर्ती स्फूर्ति नाडीसंस्थानवालोंको सम-प्रकृति (?)[4] कहा जा सकता है[5]।"

प्रकृतियोंका बहुसंमत कारण—

मानव प्रकृतिके सम्बन्धमें बहुसंमत विचार यह है कि मनुष्यका स्वभाव विभिन्न अन्तर्ग्रन्थियों के स्रावोंपर अवलम्बित है। न केवल शरीरके अवयवोंका विविध विकास, रोग तथा आरोग्य परन्तु मानस प्रकृतिका विकास भी इन्ही अन्तर्ग्रन्थियोंसे निर्मित होता है।

मनुष्योंमें पाया जानेवाला शरीरका दैर्घ्य (लम्बाई) या वामनत्व, कृशता वा स्थूलता, दौर्बल्य वा सबलता; वर्णोंका वैचित्र्य; केश, श्मश्रु और लोमोंका वैचित्र्य; विविध प्रकारके स्वर; कामुकता या विरक्ति; प्रतिभा या मन्दबुद्धिता; स्मृति या मन्द स्मरणशक्ति, दया या निर्दयता, पौरुष या स्त्रैणता (शारीरिक या मानसिक); क्लेशसहिष्णुता या क्लेशभीरुता, इन तथा अन्यान्य शरीर या मनके स्वरूपभेदोंका कारण विविध अन्तर्गन्थियां ही हैं[6]।

प्रकृतियोंके प्राचीनोक्त तथा आधुनिकोक्त कारणमें साम्य—

तीनों धातुओंके सामान्य विवेचनमें तथा पित्त और कफके विशेष विवरणमें हम कह आये हैं कि अन्तर्ग्रन्थियोंके रस आयुर्वेदोक्त पित्त तथा कफके भेद ही हैं, तथा इनका वातपर तत्-तत् प्रभाव हुआ करता है। अपने मतकी पुष्टिमें हमने वहाँ-वहाँ युक्तियाँ दी हैं। अन्तर्ग्रन्थियोंके रसोंके पित्त तथा कफका ही एक प्रकार होनेमें यह एक अन्य युक्ति है कि आयुर्वेदमें मानवप्रकृतिका हेतु वात, पित्त, कफको कहा है और आधुनिक गवेषकोंके मतसे विविध अन्तर्ग्रन्थियोंके स्राव ही मानस्वभाव के हेतु हैं।

१—Choleric temperament—कॉलेरिक टेम्परामेण्ट।

२—Melancholic temperament—मेलनकॉलिक टेम्परामेण्ट।

३—Phlegmatic—फ्लैगमेटिक। ४—Sanguine—सैंग्वाइन।

५—देखिये। Handbook of Physiology, (31st edition), P. 683—684

६—Antiseptic के Vol. 34. No. 1, P. 50 पर एक लेख उद्धृत है, जिसमें सीजर, नेपोलियन आदि ऐतिहासिक पुरुषोंके स्वभाव, उत्थान और पतनका कारण उनमें अमुकामुक अन्तर्ग्रन्थिका विकास और ह्रास निरूपित है। लेख बड़ा रोचक है।

पाँच प्रकारकी प्रकृतियाँ—

प्रकृतिमिह नराणां भौतकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः॥ सु० शा० ४।७९

कई अचार्योंके मतसे पुरुषमें जिस महाभूतकी अधिकता होती है, उसीके अनुसार उसकी प्रकृति होती है। एवं, पांच महाभूतोंके भेदसे प्रकृतियाँ भी पाँच प्रकारकी होती हैं। पूर्व वर्णित वात-पित्त-कफ प्रकृतियाँ क्रमशः वायु, अग्नि और जलभूतकी अधिकतावाले पुरुषोंमें होती हैं। क्योंकि जैसा कि पहले देख आये हैं, ये-ये दोष इन-इन भूतोंकी अधिकतावाले होते हैं। शेष पार्थिव (पार्थिव प्रकृति)पुरुष दृढ और विशाल शरीरवाला तथा सहिष्णु होता है। आकाश-प्रकृति पुरुष शुद्ध आचार-विचारवाला, चिरायु तथा बड़े मुख आदि छिद्रोंवाला होता है।

तेतालीसवां अध्याय

अथातो वैकृतवातोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

वातविकारके लक्षण —

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः; तद्यथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि; एवंविधत्वाच्च वायोः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः; तद्यथा— स्रंसभ्रंशव्याससङ्गभेदसादहर्षतर्षवर्तमर्दकम्प चालतोदव्यथाचेष्टादीनि; तथा खरपरुषविशद-सुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचनस्तम्भखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि। तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१२

रसवर्णौ वायुना रसवर्णरहितेनापि प्रभावात् क्रियेते[1]॥ —चक्रपाणि

स्रंसव्यासव्यधस्वाप सादरुक्तोदभेदनम्॥
सङ्गाङ्गभङ्गसङ्कोच वर्तहर्षणतर्षणम्।
कम्पपारुष्यसौषिर्य शोषस्पन्दनवेष्टनम्।
स्तम्भः कषायरसता वर्णः श्यावोऽरुणोऽपि वा॥
कर्माणि वायोः॥ अ० हृ० सू० १२।४९-५१

वात नानात्मज (केवल वातसे उत्पन्न) ८० विकारोंकी गणना आगे करेंगे। परन्तु स्मरण रहे, वातिक विकार उतने ही नहीं हैं। वास्तवमें तो वातरोगोंकी संख्या नहीं है। दिये जानेवाले विकार प्रसिद्ध होनेसे केवल दिग्दर्शनार्थ होंगे। वातके संसर्ग या सन्निपातसे उत्पन्न रोग हैं, वे भी इन उक्त वा अनुक्त नानात्मज रोगोंसे भिन्न ही हैं।

वातके स्वाभाविक स्वरूप तथा कर्मके परिचायक अमुक निश्चित लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून या अधिक, सम्पूर्ण किंवा असम्पूर्ण, एकाङ्ग वा सर्वाङ्गमें उपलब्ध हों तो निःसंशय वातिक विकारका निर्णय करना चाहिये। वातका स्वरूप, जैसा कि पहले भी कह आये हैं, निम्न है—रूक्षता, शीतता, लघुता, विशदता, अदृश्यता और अस्थिरता। इस कारण शरीरमें कहीं भी वातका प्रकोप हो तो ये विकार अवश्य पाये जाँयगे।

स्रंस (सन्धि-शैथिल्य[2]), भ्रंश (सन्धिकी च्युति), व्यास (हाथ-पैर आदि

१—वायुमें रस या वर्ण नहीं है। तथापि उसके कोपसे शरीरमें जो रस या वर्ण होते हैं, उनको ही लक्ष्यमें रखकर वायुके अमुक रस-वर्ण माने गये हैं, यह यहाँ स्पष्ट कहा है। इससे भी यह सिद्ध है कि, दोषोंके गुण शरीरमें उनके कर्मोंको देखकर ही निश्चित किये गये हैं।

२—अस्थि, पेशी, स्नायु इत्यादि की संधियोंमें शिथिलता आकर अल्पमात्र कारणसे उनकी किंचित् च्युति, अथवा एक दूसरेपर चढ़ जाना।

पटकना[1]), सङ्ग (मूत्र, पुरीषादि मलोंका न निकलना, वा वाणी आदिका बन्द होना[2]), भेद (अङ्गमें फाड़े जानेकी-सी वेदना), साद (अङ्गोंका अपने-अपने कर्ममें अशक्त होना[3]), हर्ष (रोमाञ्च), व्यास, कम्पन, वर्त (मल आदिका शुष्क हो गुलिका रूप हो जाना[4]), स्पन्द (किञ्चित् कम्पन फड़कना), तोद (चुभनेकी-सी व्यथा), वेष्टन (अङ्गोंके मरोड़े जानेका-सा अनुभव) अङ्गोंमें खरता, परुषता, विशदता, सच्छिद्रता, त्वचा, नख आदिका वर्ण श्याव (कुछ काला) वा अरुण होना ; मुखका स्वाद कसैला या फीका होना ; शोष (अङ्ग सूख जाना), शूल (भाला भोंकनेकी-सी व्यथा), सुप्ति (किसी अङ्गका सो जाना ; उसमें संज्ञाका नष्ट होना, उसका सुन्न होना[5]), सङ्कोच (कोई अङ्ग सिकुड़ जाना), स्तम्भ (हाथ-पैर आदिकी संधियोंकी संकोचादि क्रिया नष्ट होना उनका जकड़ा जाना[6]), पङ्गुता-लङ्गड़ाना—इत्यादि। इन लक्षणोंको देख शास्त्रमें अनुक्त विकारोंको भी वातिक निश्चित कर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिये।

शरीरके यावत् रोगोंका कारण वायु है—

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसङ्घातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ॥

च० सि० १०।३८-४०

पित्तादीन्यत्रादिशब्देन कफस्य ग्रहणं, मलशब्देन चेतरधातुमलानां खमलादीनाञ्च ग्रहणम्। आशयशब्देन मलव्यतिरिक्त प्रसादाख्यानामाशयानां धातूनाञ्च ग्रहणम्। विक्षेपसङ्घातकरो वियोगमेलककरः। एतेन, यस्माद् वायुरेव दोषमलधातूनां संयोगविभागौ करोति, तेन दोषदूष्यविषमलमेलकरूपव्याधिकरणे वायुरेव प्रधानं भवतीति भावः ॥ —चक्रपाणि

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नतः ॥
वायोर्विषहते वेगं नान्या बस्तेरृते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ॥
शरीरोपचयं वर्णं बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिञ्च बस्तिः सम्यगुपासितः ॥ सु० चि० ३५।२९-३१

१—व्यसनं व्यासो विक्षेपणमङ्गप्रत्यङ्गादेर्यथाऽऽक्षेपकादिषु—अरुणदत्त। व्यासो विस्तरम्—चक्रपाणि। व्यासः असङ्कोचत्वम्—हेमाद्रि।

२—सङ्गो मूत्रपुरीषादेः स्वाशयेभ्योऽनिःसारो, वाक्सङ्गाश्चदि ॥ —अरुणदत्त

३—सदनं सादः, अङ्गानां क्रियास्वसामर्थ्यम् ॥ —अरुणदत्त

४—वर्तनं वर्तः, पुरीषादीनां पिण्डीकरणम् ॥ —अरुणदत्त

५—स्वापः स्पर्शाज्ञानम् ॥ —अरुणदत्त

६—स्तम्भो बाहूरुजङ्घादीनां संकुचनाद्यभावः ॥ —अरुणदत्त

विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात् ।
स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद् दोषाणां प्रबलोऽनिलः ॥ अ० हृ० शा० ३।८४
वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः ॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र-तत्र क्षिपन् गदान् ।
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोषयेत् ॥ च० चि० २८।५९।६०
पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ शा० पू० ५।२५[1]

सत्य तो यह है कि शरीरमें जितने भी रोग हैं उन सबकी उत्पत्तिका निमित्त वायु ही है। रोग शाखा, कोष्ठ वा मर्म किसी भी मार्गमें उत्पन्न हुआ हो, सर्वाङ्ग या एकाङ्गमें हो ; ऊर्ध्व, अधः वा तिर्यक् कहीं भी हो, पित्त वा कफके कारण हो अथवा पुरीषादि मल या विषम किंवा दूषित हुए रसादिधातुओंमेंसे किसीके कारण हो—सबका चरम मूल तो वायु ही है। कारण, वायुका एक प्रमुख कर्म है—समो मोक्षो गतिमताम्—च० सू० १८।४९—अर्थात् जितने भी मल द्रव्य हैं उनको अपने-अपने बहिर्मुख छिद्रसे बाहर निकालते रहकर उनका साम्य बनाये रखना। वायु कुपित होता है तो उनका यह संशोधन सम्यक् न होनेसे शरीरमें उनकी वृद्धि और प्रकोप होकर तज्जन्य रोग होते हैं[2]। इस प्रकार आपाततः जो रोग अन्य मलों (दोषों) के प्रकोपसे हुए प्रतीत होते हैं, उनका भी मूलकारण वायु ही है। अपरंच, वायु ही कुपित हो तो दोषोंको दूष्योंसे संयुक्त करता तथा प्रकृतिस्थ (सम) हो तो उन्हें वियुक्त करता है। दोषोंके दूष्योंके साथ इस संयोग ही का तो नाम व्याधि है। इस संयोगका हेतु वात है। एवं वायु ही सर्व रोगोंका कारण है[3]।

१—इस विषयके अन्य प्रमाण ३८ वें अध्यायके आरम्भमें देखिये।

२—उदाहरणतया, वायु कुपित हो और उसका रूक्ष गुण अधिक वृद्धिको प्राप्त हो तो पित्त-प्रसेक में याकृत पित्त शुष्कताको प्राप्त होता है, जिससे तीव्र शूल होता है। इसे अंग्रेजीमें पित्ताश्मीरी शूल (Biliary colic—बिलिअरी कॉलिक कहते हैं)। पुरीषकी शुष्कतासे इसी प्रकार विबन्ध होता है। प्राणवह स्रोतमें कफ शुष्क हो जाय तो कास-श्वास होते हैं।

रूक्षगुण स्रोतोंमें कुपित हो तो उनकी स्निग्धता नष्ट होनेसे स्थितिस्थापकता न्यून होकर वे भंगुर हो जाती हैं और यत्किञ्चित् पीडन (दबाव) को भी सहन न कर सकनेके कारण टूट जाती हैं और तत्तत् रोग होते हैं, जिनका वायुके प्रकोपसे कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता ; परन्तु आयुर्वेदमें उन्हें वात-प्रकोपजन्य रोग कहा गया है। तद् यथा—पृ० ३६२ पर निर्दिष्ट वसामेहकी नव्यमतानुसार संप्राप्ति श्लीपद-जीवाणुओंके अण्डों-बच्चों के भर जानेसे मूत्राशयकी रसायनियोंका टूट जाना यह बतायी है। परन्तु उसका भी मूल कारण इन रसायनियोंकी वात-प्रकोपजनित भङ्गुरता ही है। इसी प्रकार आधुनिकोंने पक्षाघातका प्रमुख कारण मस्तिष्ककी अमुक केशिकाओंका रक्तवेगाधिक्यसे टूटना बताया है। पर टूटनेमें भी मूल कारण उनकी वातप्रकोपजनित भङ्गुरता ही है। इसीसे आयुर्वेदमें पक्षाघातको वातिक रोग कहा है। नवीनोंने पक्षाघातका एक कारण इन केशिकाओंमें रक्तका जम जाना बताया है। उसमें भी वात-प्रकोप निमित्त है, जो रक्तको जमाकर उक्तरोग उत्पन्न करते हैं। अन्य रोगोंका भी विचार इसी दृष्टिसे किया जा सकता है।

३—चरक और सुश्रुतके वचनोंके शेषांशका आशय यह है कि इस वायुके जयका सर्वोत्तम उपाय

नानात्मज वातविकार—

संख्यामप्यतिवृत्तानां तज्जानां हि प्रधानताः।
अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः॥ च० चि० २८।१३

तत्रादौ वातविकारानुनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा—नखभेदश्च, विपादिका च, पादशूलं च, पादभ्रंशश्च, पादसुप्तता च, गुल्फग्रहश्च, पिण्डिकोद्वेष्टनं च, गृध्रसी च, जानुभेदश्च, जानुविश्लेषश्च[1], ऊरुस्तम्भश्च, ऊरुसादश्च, पाङ्गुल्यञ्च, गुदभ्रंशश्च, गुदार्तिश्च, वृषणाक्षेपश्च (वृषणोत्क्षेपश्चेति पाठान्तरम्), शेफस्तम्भश्च, वङ्क्षणानाहश्च, श्रोणिभेदश्च, विड्भेदश्च, उदावर्त्तश्च, खञ्जत्वञ्च, कुब्जत्वं च, वामनत्वञ्च, त्रिकग्रहश्च, पृष्ठग्रहश्च, पार्श्वावमर्दश्च, उदरावेष्टश्च, हृन्मोहश्च (उन्मादश्चेति पाठान्तरम्), हृद्द्रवश्च, वक्षउद्धर्षश्च, वक्षउपरोधश्च, वक्षस्तोदश्च, बाहुशोषश्च, ग्रीवास्तम्भश्च, मन्यास्तम्भश्च, कण्ठोद्ध्वंसश्च, हनुभेदश्च (हनुस्तम्भश्च इति अष्टाङ्गसंग्रहे), ओष्ठभेदश्च, अक्षिभेदश्च, (तालुभेद इति अष्टाङ्गसंग्रहे), दन्तभेदश्च, दन्तशैथिल्यञ्च, मूकत्वञ्च, वाक्सङ्गश्च, कषायास्यता च, मुखशोषश्च, अरसज्ञता च, घ्राणनाशश्च, कर्णशूलञ्च, अशब्दश्रवणं च, उच्चैःश्रुतिश्च, बाधिर्यञ्च, वर्त्मस्तम्भश्च, वर्त्मसङ्कोचश्च, तिमिरञ्च, अक्षिशूलञ्च, अक्षिव्युदासश्च, भ्रूव्युदासश्च, शङ्खभेदश्च, ललाटभेदश्च, शिरोरुक् च, केशभूमिस्फुटनञ्च, अर्दितञ्च, एकाङ्गरोगश्च, सर्वाङ्गरोगश्च; (पक्षवधश्च) आक्षेपकश्च, दण्डकश्च, तमश्च (श्रम इति पाठान्तरम्), भ्रमश्च, वेपथुश्च, जृम्भा च, हिक्का च (ग्लानिः इति अष्टाङ्गसंग्रहे), विषादश्च, अतिप्रलापश्च, रौक्ष्यञ्च, पारुष्यञ्च, श्यावारुणावभासता च, अस्वप्नश्च, अनवस्थितचित्तत्वञ्च—इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः॥ च० सू० २०।११

तत्र येऽभिहितास्ते प्रधानभूताः प्रायोभावित्वेन, अनुक्तास्तु वातविकाराणामपरिसंख्येयत्वेन ग्राह्याः॥
—चक्रपाणि

असंख्यात नानात्मज वातविकारोंमें सुप्रसिद्ध अस्सीविकार उदाहरणत्वेन देते हैं—नखोंका फटना, बिवाई, पैरमें शूल, पादभ्रंश (पैर इष्ट स्थानपर न पड़ना[2]), पैरकी सुप्ति (संज्ञानाश किंवा निष्क्रियता[3]), वातखुड्डता[4], गुल्फग्रह (गिट्टेकी संधिका स्थिर तथा सशूल होना); जाँघमें मरोड़कीसी वेदना, गृध्रसीशूल, जानुभेद (घुटनेमें फटनेकी-सी व्यथा), घुटनेकी सन्धिका शैथिल्य और उसके कारण प्रसारण आदि क्रियाएँ न हो सकना, ऊरुस्तम्भ[5], ऊरुसाद (जांघका क्रिया तथा संज्ञासे रहित

बस्ति है। अतः आचार्योंके मतसे बस्ति ही सम्पूर्ण, कमसे कम आधी चिकित्सा है। यह विषय आगे देखेंगे।

१—विश्लेषः संधीनां प्रसारणादावप्रवृत्तिः—सु० क० २।२९-३० पर डल्हन।

२—पादभ्रंशः पादस्यारोपविषयदेशादन्यत्र पतनम्॥ —चक्रपाणि

३—सुप्तिः पादयोर्निष्क्रियत्वं स्पर्शाज्ञता वा॥ —चक्रपाणि

४—खुडवातता गुल्फवातता, किंवा संधिगतवातता॥ च० चि० २८।७३ पर —चक्रपाणि

५—उरुस्तम्भेन च ऊरुस्तम्भनमात्र वातजन्यत्वेन गृह्यते॥ —चक्रपाणि
शास्त्रमें अन्यत्र वर्णित ऊरुस्तम्भसे यह रोग भिन्न है। वह मेद और आमकी वृद्धिसे होता है।

और क्षीण होना), पंगुता (दोनों पैर लँगड़े होना), गुदभ्रंश (काँच), गुदमें वेदना, वृषणोत्क्षेप (अण्डोंका ऊपर चढ़ जाना ?), शिश्नका स्तम्भ (जकड़ जाना), वंक्षणानाह (जाँघके मूलमें जकड़े जानेका-सा अनुभव), श्रोणिभेद (कमरमें टूटनेकी-सी वेदना), विड्भेद (मलका फटना—छुटा-छुटा होना), उदावर्त (मलोंकी विपरीत दिशामें गति), एक पैरका लँगड़ापन, कुबड़ापन, ठिगनापन, कमरका जकड़ जाना, पीठका जकड़ जाना, पार्श्वोंमें वेदना, पेटमें ऐंठा, हृन्मोह (मूर्च्छा व मूढ़ता ?), हृद्द्रव (हृत्कम्प[1]), छातीमें रगड़ने जानेका-सा अनुभव, छातीमें तोद (चुभनेकी-सी व्यथा), बाहुशोष, ग्रीवास्तम्भ, मन्यास्तम्भ (गर्दनका पीछेका भाग अकड़ जाना), कण्ठोद्ध्वंस (शुष्क कास), हनुभेद (हनुमें विदारणकी-सी वेदना), ओष्ठभेद, अस्थिभेद, दन्तभेद, दाँतोंका ढीला होना मूकता, वाणीकी अप्रवृत्ति (सङ्ग), मुखका रस कषाय होना, मुख सूखना, अरसज्ञता (स्वाद न अनुभव होना), घ्राणनाश (गन्धका ज्ञान न होना), कर्णशूल, कर्णनाद, ऊँचा सुनना, बहिरापन, पलकोंका स्तम्भ[2], पलकोंका सङ्कोच[3], तिमिर, नेत्रशूल, अक्षिव्युदास (आँखका स्थानच्युत होना), भ्रूव्युदास (भौंह लटक जाना), शङ्खभेद (कनपटी फटना), ललाटभेद, शिरोवेदना, केशोंकी भूमिका फटना, अर्दित (मुखका टेढ़ा होना), किसी एक अंगका वध (मारा जाना[4]), सर्वाङ्गवध (पक्षाघात)[5], आक्षेपक (अङ्ग बार-बार पटकना), दण्डक (शरीरका दण्डवत् स्तब्ध होना), तम (आँखके आगे अन्धेरा आना), श्रम, भ्रम (चक्कर), कम्प, जँभाई, हिचकी, विषाद (मानसिक दैन्य), अति प्रलाप, रूक्षता, परुषता, त्वचा, नख आदिका श्याव या अरुणवर्ण होना, निद्रानाश, चित्तकी अस्थिरता। इनके अतिरिक्त शेष विकारोंमें भी पहले कहे वातके लक्षण देखकर उनके वातिक होनेका निश्चय कर लेना चाहिये।

शार्ङ्गधरोक्त वात-नानात्मज विकार—

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भमथार्दितम्॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पङ्गुता।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता॥
पादहर्षो गृध्रसी च विश्वाची चापबाहुकः।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः॥

१—हृद्द्रव इति हृदयस्य द्रुतिः स्फुरणम्॥ —गङ्गाधर

२-३—वर्त्म-स्तम्भमें पलकें बन्द नहीं होतीं—आँख सदा खुली रहती है। सु० उ० ३।२३ में इसे 'वातहत वर्त्म' कहा है। अंग्रेजीमें इसे Lagophthalmus—लेगॉफ्थेल्मस कहते हैं। वर्त्म-संकोचमें पलकें मिंची हीं रहती हैं। इसे अंग्रेजीमें Ptosis—टोसिस कहते हैं। माधवनिदान में उद्धृत ऊपरके पद्यकी मधुकोष टीकामें 'निमील्यते' पाठान्तर देकर अर्थ किया है कि—इस रोगमें आँख सर्वदा मिंची रहती हैं। यह चरकका 'वर्त्म-संकोच' रोग है। प्रथम स्थिति बहुधा अर्दितकी अङ्गभूत होती है।

४—Monoplegia—मौनोप्लीजिआ। ५—Diaplegia – डाएप्लीजिआ।

अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च विक्लता ।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ।
अङ्गपीडाऽङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षताः ।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं शिराणां पूरणं तथा ॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥
अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः ।
अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ॥
(कषायवक्त्रताध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता ।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता ॥)
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः ॥ शा० पू० ७।१०५-११५

शार्ङ्गधरने भी वातनानात्मक रोग ८० ही गिनाये हैं; परन्तु वे अधिक स्पष्ट, प्रसिद्ध और उदाहरणीय हैं, अतः दिये जाते हैं[1]—

आक्षेपक[2], हनुस्तम्भ (मुखका खुला व बन्द रह जाना), ऊरुस्तम्भ, (जाँघोंका जकड़जाना), शिरोग्रह[3], बाह्यायाम (समस्त शरीरका बाहरकी ओर अकड़ और मुड़ जाना), अन्तरायाम (शरीरका अन्दरकी ओर अकड़ जाना[4]), पार्श्वशूल, कटिग्रह (कटिमें शूल तथा स्तम्भ), दण्डापतानक (दण्डक), खल्ली (पैर, जङ्घा, जाँघ तथा मूलमें मर्दनवत् पीडा), जिह्वास्तम्भ, अर्दित, पक्षाघात, क्रोष्टुशीर्ष (घुटनेमें बलवान् शोथ और शूल), मन्यास्तम्भ, लँगड़ापन, कलायखञ्जता (चलते हुए लड़खड़ाना[5]), तूनी (पक्वाशय तथा मूत्राशयसे नीचेकी ओर जानेवाली तीव्र वेदना[6]), प्रतितूनी

१—सु० नि० अ० १ में ये रोग लक्षण-क्रमसे दिये गये हैं। कुछेक चरक चि० अ० २८ में मिलते हैं।

२—Convulsions—कन्वल्शन्स ।

३ रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः शिराः ।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः ।

४—इन्हींको धनुस्तम्भ भी कहते हैं। बाह्यायामको अंग्रेजीमें Opisthotonos—ऑपिस्थोटोनस (ऑपिस्थो=पीछे) कहते हैं; अन्तरायामको Emprothotonos—एम्प्रोथॉटोनोस (एम्प्रोस्थेन=आगेकी ओर); दण्डापतानकको ऑर्थोटोनोस —Orthotonos (ऑर्थो=सीधे); तथा दायें या बायें स्तम्भ हो जानेको प्लुरोथॉटोनोस—Pleurothotonos (प्लुरोथेन=एकपार्श्वमें) कहते हैं। चौथेके लिए पार्श्वापतानक नाम दिया जा सकता है।

५—जैसा कि नामसे सूचित है यह कलाय (लतरी, खेसारी; गुजराती—वटाणा, अंग्रेजी Chick-pea—चिक-पी ; लेटिन—Lathyrus Cicero—लेथायरस सिसरो) के सेवनसे होता है। अंग्रेजीमें भी इस द्रव्यके लेटिन नामके अनुसार इस रोगको लेथायरिज्म (Lathyrism) कहा जाता है।

६—पथरीके अटकनेसे उत्पन्न शूल ; Renal colic—रीनल कॉलिक ।

(गुद और शिश्नसे पक्वाशय तथा मूत्राशयकी ओर जानेवाली तीव्र वेदना)[1], खञ्जता (एक पैरका लँगड़ाना), पादहर्ष (पैर सो जाना), गृध्रसी[2], विश्वाची[3] (एक या दोनों बाहुओंके पृष्ठभागमें ऊपरसे नीचेकी ओर गृध्रसीके समान तीव्र शूल तथा चेष्टाशून्यता), अवबाहुक (बाहुशोष), अपतानक (गर्भिणीका आक्षेपक रोग[4]), व्रणायाम (अभिघातज आक्षेप[5]), वातकण्टक (गुल्फमें तीव्र वेदना[6]), अपतन्त्रक (हिस्टीरिया[7]), अङ्गभेद (किसी अङ्गमें फटनेकी-सी वेदना), अङ्गशोष, मिन्मनत्व (अनुनासिक उच्चारण), विक्लुता (बोलते हुए लड़खड़ाना), प्रत्यष्ठीला (वेदनायुक्त तथा वात, मल और मूत्रका अवरोध करनेवाली ग्रन्थि[8]), अष्ठीला (वातष्ठीला ?; शूलरहित प्रत्यष्ठीला[9]), वामनत्व, कुब्जत्व, अङ्गविशेषमें पीड़ा, अङ्गविशेषमें शूल, अङ्गविशेषका संकोच, अङ्गस्तम्भ, अङ्गरूक्षता, अङ्गभङ्ग (अङ्गविशेषमें टूटनेकी-सी पीड़ा), अङ्गभ्रंश (अङ्गविशेषका शिथिल होना), विड्ग्रह (मल रुद्ध होना, कब्ज), मल शुष्क और कठिन होना, मूकता, अतिजँभाई, अति उद्गार (ऊर्ध्ववात), अन्त्रकूजन (पेटमें गुड़गुड़ी[10]), वातप्रवृत्ति (अधोवायु बहुत निकलना), स्फुरण (अङ्ग फड़कना), शिराओंका स्थूल होना, कम्प, कृशता, शरीरका वर्ण श्याव (किञ्चित् कृष्ण), होना, प्रलाप, क्षिप्रमूत्रता (बार-बार मूत्र आना), निद्रानाश, स्वेदनाश, दुर्बलता, बलक्षय (ओजका ह्रास ?), शुक्र तथा आर्तवकी अति प्रवृत्ति[11], शुक्रकी कृशता (पतला होना), शुक्रनाश, चित्तकी अस्थिरता, अङ्ग या अङ्गोंका कठिन होना, मुखका स्वाद विरस (फीका) होना या कषाय होना, आध्मान (पक्वाशयमें दूषित वायुके कारण पेट फूलना तथा तदुत्थ अन्य लक्षण), प्रत्याध्मान (आमाशयमें दूषित वायुके संचयसे पेट फूलना तथा तदुत्थ अन्य लक्षण[12]), शीतवात[13], रोमाञ्च, वातजन्य हृदयदौर्बल्यके कारण भीरुता, तोद (एकाङ्ग या सर्वाङ्गमें सुई चुभनेकी-सी व्यथा), कण्डू

१—मलाशयमें वायु या मलके अवरोध आदिके कारण उत्पन्न शूल —Colic—कॉलिक।

२—शास्त्रमें वातरोगोंमें वर्णित गृध्रसी यह नहीं है। यह शुद्ध (केवल) वातजनित है तथा वह कफ-पित्तानुबद्ध। अंग्रेजीमें -Sciatice

३—यह Median nerve—मीडियन नर्वमें विकृति होनेसे होता है।

४—Eclampsia—एक्लैम्प्सिआ।

५—Traumatic tetanus—ट्रॉमेटिक टिटेनस ; व्रणके जीवाणु-विशेषसे संक्रान्त होनेसे हुआ आयामरोग - धनुर्वात।

६—Talalgia—टॅलेल्जा।

७—देखिये—सु० नि० १।६४-६६। इस रोगका विचार इस ग्रन्थमें पृ० ३६ पर देखिये।

८-९—म० म० गणनाथ सेनजीने इन्हें बस्तिशिर ग्रन्थिकी वृद्धियाँ (Enlargement of Prostate—एन्लार्जमेण्ट ऑफ प्रोस्टेट मानते हैं) परन्तु इस ग्रन्थिकी वृद्धिके चिह्न मूत्रग्रन्थिरोगसे अधिक मिलते हैं। विशेष देखिये—पृ० ४३३।

१०—Gurgling—गर्गलिङ्ग ; Borborygmi—बॉर्बोरिग्मी।

११—वातके प्रकुपित होनेसे गर्भाशयकी वाहिनियोंके शिथिल होनेके कारण योनिसे रक्तस्राव प्रभूत होता है। अतः हमने मूलोक्त शुक्रशब्दके शुक्र और आर्तव दोनों अर्थ किये हैं।

१२—आध्मान-प्रत्याध्मानको अंग्रेजीमें Meteorism—मीटिओरिज्म ; या Tympanites—टिम्पेनाइटीज़ ; या Abdominal distension—एब्डॉमिनल डिस्टेन्शन कहते हैं।

१३—शीतवातके लक्षण देखिये—

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च।
शिरोऽक्षिवेदनालस्यं शीतवातस्य लक्षणम्॥ —रसरत्नसमुच्चय

(खाज), रसाज्ञता (स्वादका अनुभव न होना), शब्दाज्ञता (शब्द ठीक न सुन पड़ना), प्रसुप्ति (त्वचामें स्पर्शका अज्ञान), गन्धाज्ञता, दृष्टिका ह्रास।

वायुओंके कोप और प्रसरसे रोगोत्पत्ति—

विमार्गस्था ह्ययुक्ता वा रोगैः स्वस्थानकर्मजैः।
शरीरं पीडयन्त्येते प्राणानाशु हरन्ति च॥ च० चि० २८।१२
युगपत् कुपिताश्चापि देहं भिन्द्यु रसंशयम्॥
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि नानास्थानान्तराश्रितः॥
बहुशः कुपितो वायुर्विकारान् कुरुते हि यान्॥ सु० नि० १।२१

प्राणादि वायु जब अपने स्थानसे च्युत होकर स्थानान्तरको प्राप्त होते हैं—प्रसृत होते हैं, तब, किंवा, अपने ही स्थानपर भी विषमताको प्राप्त हुए होते हैं, तो शरीरको विविध रोगोंसे पीडित करते हैं और यदि वे समस्त ही एक साथ प्रकुपित हो जायँ तो प्राणहानि करते हैं।

वातप्रकोपजन्य नानात्मक विकारोंका नामोल्लेख किया गया ; तथापि यह बताना आवश्यक है कि प्रसरावस्थामें किस स्थानपर पहुँचकर वायु किस विकारको उत्पन्न करता है। इस प्रकार विकारों का स्थान विदित हो तो चिकित्सा विधि भी स्थान-विशेषहीको लक्ष्य करके होती है, और चिकित्सक यशस्वी होता है[1]।

आमाशयस्थ वायुके लक्षण—

वायुरामाशये[2] क्रुद्धश्छर्द्यादीन् कुरुते गदान्।
मोहं मूर्च्छां पिपासाञ्च हृद्ग्रहं पार्श्ववेदनाम्॥ सु० नि० १।२२-२३

छर्द्यादीनीति आदिशब्दाद् रुजः पार्श्वोदरहृत्स्तम्भतोदादिका ग्राह्याः; अथवा ऊर्ध्वगरक्तपित्तादिकाः॥
—डल्हन

हृन्नाभिपार्श्वोदररुक् तृष्णोद्गारविसूचिकाः।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते॥ च० चि० २८।२१

आमाशयमें वायुका प्रकोप हो तो हृदय, नाभि, पार्श्व किंवा उदरमें वेदना ; वमन, पिपासा उद्गार, कास ; कण्ठ तथा मुखका शोष, श्वास, मोह (चक्कर), मूर्च्छा, विसूचिका, हृद्ग्रह (हृदय-देशपर विकट पीडा[3]); उक्त स्थानोंपर तोद, स्तम्भ, ऊर्ध्वगत रक्तपित्त आदि विकार होते हैं[4]।

पक्वाशयस्थ वायुके लक्षण—

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलं नाभौ करोति च।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम्॥ सु० नि० १।२

१—देखिए इदानीं प्रतिस्थानरोगान्निर्दिश्य प्रसरेण स्थानान्तराश्रितानां तेषामेव स्थानचिकित्सार्थं रोगान्निर्दिशन्नाह॥ ऊपर धृत सु० नि० १।२१ पर गयदास।

२—इस प्रकरणमें ऐसी कई वातनानात्मज व्याधियोंका नाम निर्देश है, जिनकी चरक या शार्ङ्गधरकी पूर्वोक्त सूचीमें गणना नहीं है। ३—Psuedo angina—सूडो ऐंझाइना।

४—इनमें श्वास और हृदयविकारोंकी व्याख्या २३-२४ अध्यायमें देखिये।

चकाराद्वातविण्मूत्रसंगं जङ्घोरुत्रिकपार्श्वपृष्ठादीन् प्रतिशूलञ्च कुरुते ॥ —डल्हन

शूलाटोपौ करोति च ॥ च० चि २८।२८ में पाठान्तर

पक्वाशयमें कुपित वायु अन्त्रकूजन, नाभिमें शूल ; मूत्र और पुरीषकी कठिनतासे प्रवृत्ति, आटौप (पेटका वायुसे फूलना), अनाह (कब्ज) ; पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक (कमर), जाँघ, पिण्डली आदिमें शूल ; मल-मूत्र तथा वातका संग (अप्रवृत्ति) इत्यादि विकारोंको उत्पन्न करता है ।

ज्ञानेन्द्रियोंमें क्रुद्ध वायुके लक्षण—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्यात् क्रुद्धः समीरणः

सु० नि० १।१४ तथा च० चि० २८।२९

ज्ञानेन्द्रियोंके अधिष्ठानोंमें प्रकुपित वायुका संश्रय हो तो उनकी अपने-अपने विषयोंके ग्रहणकी शक्ति नष्ट हो जाती है ।

कोष्ठगत वायुके लक्षण—

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शःपार्श्वशूलं च मारुते ॥ च० चि० २८।२४

कोष्ठ (उदरगुहा तथा उरोगुहा) में दूषित वायु मल-मूत्रका अवरोध ; ब्रध्न (अन्त्र-वृद्धि), हृद्रोग, गुल्म, अर्श और पार्श्वशूल ये रोग उत्पन्न करता है ।

गुदास्थित वायुके लक्षण—

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपादपृष्ठरोगशोषौ गुदेस्थिते ॥ च० चि० २८।२६

गुदमें वातका प्रकोप होनेसे वात, मूत्र तथा पुरीषका अवरोध ; शूल, आध्मान, पथरी, मूत्र-शर्करा ; तथा पृष्ठ, जाँघ, पिंडली और पैर इनमें वेदना तथा शुष्कता ये रोग होते हैं ।

सर्वाङ्गमें कुपित वायुके लक्षण—

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जने ।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य संधयः ॥ च० चि० २८।२५
स्तम्भनाक्षेपणस्वाप शोफशूलानि सर्वगः ॥ सु० नि० १।३१

सर्वाङ्गमें कुपित वायु अङ्गोंमें स्फुरण, भञ्जन (फटनेकी-सी व्यथा), वेदना, सन्धियोंका टूटना ; स्तम्भ (संधि आदि जकड़ जाना तथा तज्जन्य चेष्टा नाश), आक्षेप, सुप्ति (त्वचा आदि सुन्न हो जाना), शोफ और शूल इन रोगोंको उत्पन्न करता है ।

त्वचामें स्थित वातके लक्षण—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वक्स्थितेऽनिले ॥ च० चि० २८।३०
वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्तिं चुमचुमायनम् ।
त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम् ॥ सु० नि० १।२५

त्वचा (रस-डह्लन) में वातका प्रकोप होनेसे त्वचाकी रूक्षता, विवर्णता, सुप्ति, चुमचुमायन (चिऊंटी फिरनेका-सा अनुभव), स्फुटन (फटना), कृष्णता, अरुणता, कृशता, परिपोटन (त्वचासे छिलके उतरना) तथा स्फुरण ये लक्षण प्रकट होते हैं।

रक्तगत कुपित वातके लक्षण—

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥ च० चि० २८।३१
व्रणांश्च रक्तगः (कुर्यात्)॥ सु० नि० १।२६

रक्तमें प्रकुपित वायुके संश्रयसे सन्तापयुक्त तीव्र वेदनाएँ, विवर्णता, कृशता, अरुचि, फोड़े-फुन्सियाँ तथा भोजनानन्तर शरीरका स्तम्भ ये विकार होते हैं।

मांस तथा मेदमें स्थित कुपित वातके लक्षण—

ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः।
तथा मेदःस्थितः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान्॥ सु० नि० १।२६
गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं तथा।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले॥ च० चि० २८।३२

मांसस्थित कुपित वायु शूलयुक्त ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है, तथा मेदमें स्थित वायु मन्द वेदनावाली, व्रणरहित ग्रन्थियाँ उत्पन्न करता है। शरीरका भारीपन जानो डण्डे या मुक्कोंसे खूब मारा गया हो ऐसी व्यथा; वेदना, श्रम—ये मांस तथा मेदमें प्रकुपित वायुके समान लक्षण हैं।

अस्थि तथा मज्जामें कुपित वातके लक्षण—

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः।
अस्वप्नः सन्तता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले। च० चि० २८।३३
अस्थिशोषं प्रभेदं च कुर्याच्छूलं च तच्छ्रितः।
तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति॥ सु० नि० १।२८

अस्थिगत कुपित वायु अस्थियोंमें शोष, प्रभेद (टूटनेकी-सी वेदना) तथा शूल उत्पन्न करता है। मज्जगत वातसे मज्जाका शोष तथा मज्जामें निरन्तर शूल ये रोग होते हैं। अस्थियोंके पोरोंका भेद (टूटना), सन्धिशूल, मांस तथा बलका क्षय, निद्रानाश, निरन्तर वेदना—ये मज्जा तथा अस्थिमें स्थित वायुके समान लक्षण हैं।

शुक्रगत वातके लक्षण—

अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृता शुक्रगेऽनिले॥ सु० नि० १।२९
क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः॥ च० चि० २८।२४

शुक्रमें कुपित वातके स्थित होनेपर, शुक्रकी अप्रवृत्ति (न निकलना), किंवा अति शीघ्र[1],

१—यह विकृति शीघ्रपतन (Early discharge—अर्ली डिस्चार्ज) नामसे विदित है।

अति शनैः, ग्रथित, विवर्ण या अन्य प्रकारसे विकृत शुक्रकी प्रवृत्ति ; गर्भका स्राव या पात[1] या देर तक अन्दर रहना किंवा गर्भके आकारमें नाना विकृतियाँ—ये विकार होते हैं।

स्नायुगत वातके लक्षण—

बाह्याभ्यन्तरमायामं खल्लिं कुब्जत्वमेव च।
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः ॥ च० चि० २८।३५
स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥ सु० नि० १।२७

स्नायुओं (कण्डराओं) में कुपित वायु बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता, सर्वाङ्गवध, एकाङ्गवध, स्तम्भ, कम्प, शूल, आक्षेप इन रोगोंको करता है।[2]

सिरागत वातके लक्षण—

शरीरं मन्दरुक्शोफं शुष्यति स्पन्दते तथा।
सुप्तास्तन्व्यो महत्यो वा सिरा वाते सिरागते ॥
कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ॥ सु० नि १।२७

सिराकुञ्चनं कुटिला सिरेति लोके वदन्ति ॥ —डह्लन

सिराओंमें वातके प्रकुपित होनेसे सिराओंमें शूल, कुटिलता[3] ; सिराओंका फूलना अथवा पतला होना, उनकी सुप्ति तथा शरीरमें अल्प वेदना और शोफ, शुष्कता तथा स्पन्दन ये विकार होते हैं।

सन्धिगत वातके लक्षण—

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले।
प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ॥ च० चि० २८।३७
हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलशोफौ करोति च ॥ सु० नि० १।२७

हन्तीत्यादि—एतेन प्रसारणाकुञ्चनयोरभाव उक्तः ॥ —डह्लन

सन्धियोंमें वातप्रकोपसे सन्धियोंमें शूल—विशेषतया अङ्गोंको फैलाते या सिकोड़ते हुए ; स्पर्श करनेसे (स्पर्श-परीक्षामें) वायुसे पूर्ण धौंकनीके सदृश अनुभव होनेवाली सूजन—ये लक्षण पाये जाते हैं।

१—Miscarriage—मिस्केरेज ; Abortion—अबोर्शन।

२—आयुर्वेदमतसे चेष्टाओंमें होनेवाले प्रसारण-आकुञ्चन, तथा आयाम, स्तम्भ आदि वातरोगोंका आश्रय कण्डराएँ हैं। आधुनिक मतसे ये कर्म तथा विकार पेशियोंके हैं। देखिये—२५ वाँ अध्याय।

३—Vericosis—वेरीकोसिस ; Vericosed veins—वेरीकोज़्ड वेन्स।

चवालीसवाँ अध्याय

अथात आवृतवातोपवर्णनीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

वायुके प्रकोपके संक्षेपमे कारण : धातु-क्षय तथा आवरण—

सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत्।
वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा॥ च० चि० २८।५९

तानुच्यमानान् पर्यायैः सहेतूपक्रमान् शृणु।
केवलं वायुमुदिश्य स्थानभेदात् तथाऽऽवृतम्॥ च० चि० २८।१४

केवलो दोषयुक्तो वा धातुभिर्वाऽऽवृतोऽनिलः।
विज्ञेयो लक्षणोहाभ्यां चिकित्स्यश्चाविरोधतः॥ सु० चि० ५।२८

वायुका कोप, धातुओं (कफ और पित्त, रसादि सात तथा पुरीषादि—इनमेंसे किसी) के क्षयसे किंवा इनमेंसे किसीके द्वारा उसके मार्गके आवृत होनेसे होता है। पञ्चविध वायु भी एक दूसरेको आवृत करके वायुका प्रकोप करते हैं।

आशय यह है कि वायुका प्रकोप संक्षेपमें दो कारणोंसे होता है। प्रथम कारण दोषों, धातुओं और मलोंमेंसे किसी एक या अनेकका क्षीण होना (धातुक्षय) है। तथा दूसरा कारण सर्वाङ्गीण वायुका किंवा स्थानीय वायुका उक्त दोषादिमेंसे किसीसे अथवा किसी स्थानीय वायुका अन्य वायुसे आवृत हो जाना है।

देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रितान्॥ च० चि० २८।१८

धातुक्षयसे वायुके प्रकोपका स्वरूप यह है कि निज-निज कारणसे जब कोई दोष, धातु या मल क्षीण अर्थात् उचित प्रमाणसे अल्प होता है तो उसके रिक्त (स्निग्धता आदि गुणोंसे रहित) स्रोतों और आशयोंमें वायुकी क्रिया बढ़ जाती है, तथा तज्जन्य विविध रोग होते हैं। वात प्रकोपके कारणोंका निर्देश करते हुए जो रूक्ष-शीत आहार, अतिश्रम आदि कारण उपस्थित किये जाते हैं, वे धातुओंको क्षीण करके ही वायुका प्रकोप करते हैं[1]।

आवरणसे वायुके प्रकोपका अर्थ संक्षेपमें यह है कि, कोई भी दोष, धातु, मल, अन्न आदि जब वृद्धिको प्राप्त होकर वायुकी स्वाभाविक क्रियाओंमें बाधा पहुँचाता है—वायुकी शक्तिको मन्द कर देता है तो इसे उस दोष आदिके द्वारा वायुका आवरण कहा जाता है[2]। इस अवस्थामें वृद्धिगत दोषादिके कार्य प्रायः अधिक हो जाते हैं। 'प्रायः' इसलिए कि कभी-कभी आवृत हुआ वायु भी आवरण के

१—स्पष्टीकरणके लिये अगले अध्यायमें दिया च० सू० १२।७ वचन तथा उसकी व्याख्या देखिये।

२—सु० चि० ५।२९ पर वायुओंके परस्पर आवरणकी व्याख्या करते हुए डल्हनने यही कहा है—तत्रोर्ध्वं गच्छन्नुदानः प्राणो वाऽपानस्याधोगामिनो गतिनिरोधं कुर्वन्नावरक इत्युच्यते ; अथवा द्वयोर्मारुतयोरभिमुखमभिसर्पतोर्बलवता दुर्बलोऽभिभूतः प्रत्यावृत्तः सन् 'आवृतः' इत्युच्यते।

कारण उस स्थान पर संचित और वृद्धिको प्राप्त होकर प्रकुपित हो जाता है, जिससे उसके कार्य अधिक हो जाते हैं[१]। आवरण करनेवाले दोष आदिको आवरक तथा उससे बाधित हुए दूसरे वायुको आवृत कहते हैं।

धातुक्षयसे वायुके प्रकोपके सम्बन्धमें वक्तव्य बहुत होनेसे उसका निर्देश अगले अध्यायमें किया जायगा। प्रस्तुत अध्यायमें वायुके आवरणोंका उल्लेख होगा[२]।

पितावृत्त वायुके लक्षण—

दाहसंतापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते। सु० नि० १।३२

लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः।

कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता॥ च० चि० २८।६१

वायु मात्रके पित्तसे आवृत होनेपर दाह (जलन), संताप (गर्मी), मूर्च्छा, पिपासा, शूल भ्रम (चक्कर), तम (आँखोंके आगे अन्धेरा छाना); कटु, अम्ल, लवण और उष्ण पदार्थोंसे विदाह; शीत-पदार्थोंपर रुचि—ये लक्षण होते हैं।

कफावृत वायुके लक्षण—

शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम्।

लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते॥ च० चि० २८।६२

शैत्यशोफ गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफावृते॥ सु० नि० १।३३

वायुके कफसे आवृत होनेपर शैत्य (ठण्ढ लगना या शरीरका ऊष्मा न्यून होना); कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण आदि पदार्थोंके सेवनसे स्वस्थता अनुभव होना; शोफ, गुरुता (शरीर भारी लगना); लङ्घन, श्रम, रूक्ष तथा उष्ण पदार्थ—इनकी रुचि होना—ये लक्षण होते हैं।

रक्तावृत वायुके लक्षण—

सूचीभिरिव निस्तोदः स्पर्शद्वेषः प्रसुप्तता।

शेषाः पित्तविकाराः स्युर्मारुते शोणितान्विते॥ सु० नि० १।३३

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम्।

भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च॥ च० चि० २८।६३

वायुके रक्तसे आवृत होनेपर छइयां चुभनेकी-सी व्यथा; स्पर्शद्वेष; प्रसुप्ति (स्पर्शका अज्ञान); त्वचा तथा माँसके मध्यमें दाह, वेदना तथा रक्तिमासे युक्त शोथ और मण्डल तथा विविध पित्तविकार होते हैं[३]।

१—देखिये इसी अध्यायमें आगे धृतवचन च० २८।२१६ तथा उसकी टीका।

२—प्रसंगसे यह कहना उचित है कि आधुनिक वैद्य-संप्रदायमें वायु-रोगोंके निदान-चिकित्सामें आवरणोंका विचार छूट-सा गया है। इनपर ध्यान देना आवश्यक है। यों आवरण-सम्बन्धी कई लक्षण अन्य नामोंसे शास्त्र और व्यवहारमें प्रचलित हैं। उदाहरण आगे देखिये।

३—सु० नि० १।४० तथा १।५० पर गयदास ने लिखा है कि वातरक्तका अर्थ है रक्तावृत वात। इस मतसे वातरक्तके सम्बन्धमें जो मत-भिन्नता है, उसका समाधान होनेमें कदाचित् कुछ सहायता मिल सकती है।

मांसावृत वातके लक्षण—

कठिनाश्च विवर्णाश्च पिडकाः श्वयथुस्तथा।
हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव मांसगे॥ च० चि० २८।६४

वायुमात्रके मांससे आवृत होनेपर कठिन तथा निर्वर्ण पिडकाएँ—फुँसियाँ—तथा शोथ; और त्वचापर जानो चिऊँटियाँ चलती हों ऐसा अनुभव—ये लक्षण होते हैं।

मेदसे आवृत वातके लक्षण—

चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफोऽङ्गेष्वरुचिस्तथा।
आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृतः॥ च० चि० २८।६५

वायुके मेदसे आवृत होनेसे आढ्यवात नामक रोग उत्पन्न होता है। इसमें अङ्गोंमें चल (कभी कहीं और कभी कहीं होनेवाला), स्निग्ध, मृदु और शीत शोफ (सूजन) तथा अरुचि ये लक्षण होते हैं। यह रोग प्रायः अमीरों अर्थात् आरामपसन्द लोगोंको होता है; अतः इसे आढ्यवात (आढ्य=धनाढ्यका वात रोग) कहते हैं। अंग्रेजीमें इसका नाम रूमेटिज्म है। यह बड़ा कष्टसाध्य है।

आढ्यरोगं खुडं वातबलासं वातशोणितम्।
तदाहुर्नामभिः॥ अष्टाङ्गसंग्रह

आढ्यरोगको ही खुड, वातबलास या वातरक्त भी कहा जाता है। सु० नि० १०।४१।४५ में वातरक्तके निदान, पूर्वरूप और रूपका वर्णन द्रष्टव्य है।

अस्थ्यावृत वातके लक्षण—

स्पर्शमस्थ्नावृते तूष्णं पीडनं चाभिनन्दति।
संभज्यते सीदति च सूचीभिरिव तुद्यते॥ च० चि० २८।६६

वायुके अस्थिसे आवृत होनेपर उष्ण स्पर्श (सेक आदिके रूपमें) तथा अङ्ग दबवानेकी इच्छा होती है, अङ्ग टूटता है। स्पर्शशून्य होता है, उसमें सुइयाँ चुभनेकी-सी व्यथा होती है।

मज्जावृत वातके लक्षण—

मज्जावृते विनामः स्याज्जृम्भणं परिवेष्टनम्।
शूलं तु पीड्यमाने च पाणिभ्यां लभते सुखम्॥ च० चि० २८।६७

वायुके मज्जावृत होनेसे अङ्गोंका झुक जाना, जानो रस्सियोंसे बाँधा जाना, जँभाई, अङ्गोंमें शूल, दबानेसे शूलको आराम—ये चिह्न होते हैं।

शुक्रावृत वातके लक्षण—

शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्वं च शुक्रगे। च० चि० २८।६८

वायुके शुक्रावृत होनेपर शुक्रका अपतन किंवा वेगसे पतन अथवा गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता—ये चिह्न होते हैं।

अन्नावृत वातके लक्षण—

भुक्ते कुक्षौ च रुग् जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले॥ च० चि० २८।६९

वायुके अन्नसे आवृत होनेपर भोजन करनेपर कुक्षिमें वेदना और पचजानेपर शान्ति—ये चिह्न होते हैं।

मूत्रावृत वातके लक्षण—

मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृतेऽनिले ॥ च० चि० २८।६९

वायुके मूत्रसे आवृत होनेपर मूत्रकी अप्रवृत्ति तथा बस्तिमें आध्मान (फुलावा) ये लक्षण होते हैं।

मलावृत वायुके लक्षण—

वर्चसोऽति विबन्धोऽधः स्वे स्थाने परिकृन्तति।
व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ॥
चिरात् पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं शकृत् सृजेत्।
श्रोणीवङ्क्षणपृष्ठेषु रुग् विलोमश्च मारुतः ॥
अस्वस्थं हृदयं चैव वर्चसा त्वावृतेऽनिले ॥
च० चि० २८।७०-७२

वायुके मलसे आवृत होनेपर मलकी अत्यधिक गाँठें बँध जाना, पक्वाशयमें चीरे जानेकी-सी व्यथा (परिकर्तिका), स्नेहद्रव्यका शीघ्र पच जाना, खानेपर आध्मान; मलका भोजन खानेके पश्चात् आना और वह मल बड़ी कठिनाईसे देरसे तथा सूखा हुआ होना; कटि, जाँघके मूल तथा पीठमें वेदना, अधोवायुकी विपरीत गति, घबड़ाहट; छाती तथा हृदयपर भार—ये विकार होते हैं।

वायुके मलावृत होनेका अर्थ—

मलका वेग रोकनेसे अथवा अन्य कारणोंसे आनाह (कब्ज) होनेसे जो लक्षण होते हैं (देखिए पृ० ३३१), उनमें और मलावृत वायुके लक्षणोंमें कोई भेद नहीं है, यह दोनोंकी तुलनासे विदित होगा। अतः कह सकते हैं कि वेगावरोध आदि कारणोंसे वृद्धिको प्राप्त और द्रवांशके शोषित होनेसे शुष्क हुए मलके कारण मलाशय आदि अवयवोंके प्रवर्तक वायु (नाडीसंस्थानका अंशविशेष) की क्रियामें बाधा होना आदि जो लक्षण होते हैं उन्हीका 'यहाँ वायुका मलसे आवृत होना' इस नामसे निर्देश किया गया है। वायुके मूत्रसे आवृत होनेकी भी इसी प्रकार व्याख्या की जा सकती है। एवं, वायुके अन्नसे आवृत होनेका आशय भी अत्यशन, अध्यशन आदिके कारण अत्यधिक आहारके कारण आमाशय, हृदय आदि अवयवोंके कार्यों अथवा उनके प्रवर्तक वायुओंके कार्योंमें बाधा उत्पन्न होना ही है।

वायुओंके सामान्य रूपसे आवरणके लक्षण कह कर, उनमें प्रत्येकके कफ वा पित्तसे आवृत होनेके लक्षण पृथक् कहते हैं।

पित्त और कफसे आवृत प्राण वायुके लक्षण—

प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैवर्ण्यं च कफावृते ॥ सु० नि० १।३४
मूर्छा दाहो भ्रमः शूलं विदाहः शीतकामिता।
छर्दनं च विदग्धस्य प्राणे पित्तसमावृते।
ष्ठीवनं क्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
प्राणे कफावृते रूपाण्यरुचिश्छर्दिरेव च ॥
च० चि० २८।२२२-२२३

प्राणवायुके पित्तसे आवृत होनेपर मूर्च्छा, दाह, भ्रम, शूल, विदाह (अम्लपाक) शीत आहारादिकी इच्छा, विदग्ध (अम्लरस, अपक्व) अन्नकी उल्टी—ये विकार होते हैं[1]। उसीके कफावृत होनेपर दुर्बलता, साद (सर्व व्यापारोंकी मन्दता), तन्द्रा, विवर्ण, बलगम अधिक आना, अरुचि, वमन; छींक, उद्गार, निःश्वास और उच्छ्वासका अवरोध—ये विकार होते हैं[2]।

पित्त तथा कफसे आवृत उदानके लक्षण—

उदाने पित्तसंयुक्ते मूर्च्छादाहभ्रमक्लमाः।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतस्तम्भौ कफावृते॥ सु० नि० १।३५

मूर्च्छाद्यानि च रूपाणि दाहो नाभ्युरसः क्लमः।
ओजोभ्रंशश्च सादश्चाप्युदाने पित्तसंवृते॥
आवृते श्लेष्मणोदाने वैवर्ण्यं वाक्स्वरग्रहः।
दौर्बल्यं गुरुगात्रत्वमरुचिश्चोपजायते॥
च० चि० २८।२२४-२२५

उदान वायुके पित्तावृत होनेपर मूर्च्छा, नाभि तथा छातीमें दाह; क्लम (बिना परिश्रमके थकान), भ्रम, ओजका ह्रास तथा साद—ये लक्षण होते हैं। उसीके कफावृत होनेपर स्वेद तथा रोमाञ्चका अभाव, अग्निमान्द्य, शीतप्रतीति, अङ्गोंमें स्तम्भ, विवर्णता, वाणी तथा स्वरकी अप्रवृत्ति, दुर्बलता, गात्रमें गौरव, अरुचि—ये चिह्न होते हैं।

पित्त तथा कफसे आवृत समानके लक्षण—

समाने पित्तसंयुक्ते स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छनम्।
कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते॥ सु० नि १।३६

अतिस्वेदस्तृषा दाहो मूर्च्छा चारुचिरेव च।
पित्तावृते सामने स्यादुपघातस्तथोष्मणः॥
अस्वेदो वह्निमान्द्यं च लोमहर्षस्तथैव च।
कफावृते सामने स्याद् गात्राणां चातिशीतता।
च० चि० २८।२२७-२२८

अत्र पित्तेनाप्यावृते समाने अग्न्युत्तेजनाभावादूष्मण उपघातो ज्ञेयः॥ —चक्रपाणि

समान वायुके पित्तावृत्त होनेपर अतिस्वेद, दाह, उष्णता (गर्मी), मूर्च्छा, तृषा, अरुचि तथा अग्निमांद्य—ये लक्षण होते हैं। उसीके कफसे आवृत होनेपर मल और मूत्रमें श्लेष्माका आधिक्य, रोमाञ्च, अस्वेद, अग्निकी मन्दता तथा अङ्गोंका अतिठण्ढा रहना—ये लक्षण होते हैं।

पित्त तथा कफसे आवृत अपानके लक्षण—

अपाने पित्तसंयुक्ते दाहौष्ण्ये स्यादसृग्दरः।
अधःकायगुरुत्वं च तस्मिन्नेव कफावृते॥ सु० नि० १।३७

१—यह पैत्तिक वमन नामसे प्रसिद्ध है।
२—यह श्लैष्मिक वमन नामसे प्रसिद्ध है।

हारिद्रमूत्रवर्चस्त्वं तापश्च गुदमेढ्रयोः ।
लिङ्गं पित्तावृतेऽपाने रजसश्चातिवर्तनम् ॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्ट गुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
श्लेष्मणा संवृतेऽपाने कफमेहस्य चागमः ॥
च० चि० २८।२३०-२३१

अपाने तु मले हारिद्रवर्णता ।
रजोऽतिवृत्तिस्तापश्च योनिमेहनपायुषु ॥ अ० हृ० नि० १६।४५

अपान वायुके पित्तावृत होनेपर रक्तप्रदर ; योनि, गुद और मूत्रमार्गमें दाह और उष्णता, मल तथा मूत्रका हरिद्रावर्ण (अति पीला) होना—ये चिह्न होते हैं। उसीके श्लेष्मासे आवृत होनेपर फटा हुआ, आम तथा कफसे मिश्रित और गुरु (पानीमें डूब जाय ऐसा) मल आना, कफप्रमेह तथा शरीरके अधोभागमें भारीपन—ये चिह्न होते हैं।

पित्त तथा कफसे आवृत व्यानके लक्षण—

व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ॥
गुरूणि सर्वगात्राणि स्तम्भनं चास्थिपर्वणाम् ।
लिङ्गं कफावृतेऽपाने चेष्टास्तम्भस्तथैव च ॥
सु० नि० १।३८।३९

व्याने पित्तावृते तु स्याद् दाहः सर्वाङ्गगः क्लमः ॥
गात्रविक्षेपसंगश्च ससंतापः सवेदनः ।
गुरुता सर्वगात्राणां सर्वसंध्यस्थिजा रुजः ॥
व्याने कफावृते लिङ्गं गतिसंगस्तथाधिकः ॥
च० चि० २८।२२८-२३०

व्यान वायुके पित्तसे आवृत होनेपर सर्व शरीरमें दाह, क्लम (अनायास थकान), अङ्गोंका विक्षेप (पटकना), वेदना और संग (मलोंका अवरोध)—ये लक्षण होते हैं। उसीके कफावृत होनेपर चेष्टाओंका स्तम्भ (न होना), सर्वाङ्गमें गौरव, सर्वसन्धियों और अस्थियोंमें वेदना, चलने-फिरनेकी शक्तिका विशेषतः नाश—ये चिह्न होते हैं।

वायुओंके आवरणका अभिप्राय—

भिन्न-भिन्न अवयवोंका नियमन करनेवाली नाडियों वा उनके प्रतानोंके कुपित (वृद्धिको प्राप्त) कफ या पित्तसे व्याप्त होनेसे अथवा शरीरमें वृद्धिको प्राप्त अस्थि, मेद आदि धातुओंके घटक द्रव्योंके नाडियोंपर प्रभावसे उनकी क्रियामें बाधा होना सम्भव है। ऊपर दिये पद्योंमें सु० नि० १०-३२-३३-३४-३५-३७ में आवृत शब्दके पर्यायके रूपमें अन्वित या संयुक्त शब्द आये हैं। उनसे ऊपर दी गयी व्याख्याकी पुष्टि होती है।

अन्न, मल और मूत्रसे वायुओंके आवृत होनेका अभिप्राय प्रवृद्ध उनका वातनाडियोंपर दबाव डालना है, यह ऊपर कह आये हैं। रक्त ; अस्थि आदि भी प्रवृद्ध होकर नाडियोंको इस प्रकार पीडित कर सकते हैं।

निम्न पद्यमें स्वयं पीडन शब्दका व्यवहार हुआ है—

विशेषाज्जीवितं प्राणे उदाने संश्रितं बलम्।
स्यात् तयोः पीडनाद्धानिरायुषश्च बलस्य च॥ च० चि० २८।२३५

प्राणवायुमें प्राण तथा उदानमें बल विशेषतया स्थित होता है। उनके पीडनसे आयु तथा बलकी हानि होती है।

आवरणोंकी मिश्रता—

लक्षणानां तु मिश्रत्वं पित्तस्य च कफस्य च।
उपलक्ष्य भिषग् विद्वान् मिश्रमावरणं वदेत्॥ च० चि० २८।२३२

कभी-कभी एक ही वायु, कफ और पित्त दोनोंसे आवृत हो जाता है। इस आवरणको मिश्र आवरण कहते हैं।

वायुओंके परस्पर आवरण—

मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणे शृणु।
विंशतिर्वरणान्येतान्युल्वणानां परस्परम्।
मारुतानां हि पञ्चानां तानि सम्यक् प्रतर्कयेत्॥
च० चि० २८।२००-२०२

प्राणादि पाँच वायु भी प्रकुपित होकर एक दूसरेको आवृत करते हैं। इन वीस परस्परावरणों के लक्षण नीचे दिये जाते हैं—

प्राणावृत व्यानके लक्षण—

सर्वेन्द्रियाणां शून्यत्वं ज्ञात्वा स्मृतिबलक्षयम्।
व्याने प्राणावृते लिङ्गम्॥ च० चि० २८।२०३

व्यानके प्राणसे आवृत होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शून्यता (अपने विषयके ग्रहणमें असलता), स्मृति और बलका ह्रास—ये चिह्न होते हैं।

व्यानावृत प्राणके लक्षण—

स्वेदोऽत्यर्थं लोमहर्षस्त्वग्दोषः सुप्तगात्रता।
प्राणे व्यानावृते॥ च० चि० २८।२०४

प्राणके व्यानसे आवृत होनेपर अत्यन्त स्वेद, रोमाञ्च, त्वग्दोष, अङ्गोंकी सुप्ति (स्पर्शका अनुभव न होना)—ये लिङ्ग होते हैं।

प्राणावृत समानके लक्षण—

प्राणावृते समाने स्युर्जडगद्गदमूकताः॥ च० चि० २८।२०५

समान वायुके प्राणसे आवृत होनेपर जडता (अङ्गोंमें संज्ञा तथा चेष्टाका ह्रास), गद्गद-वाक्यता तथा मूकता—ये चिह्न होते हैं।

समानावृत अपानके लक्षण—

समानेनावृतेऽपाने ग्रहणीपार्श्वहृद्गदाः।
शूलं चामाशये॥ च० चि० २८।२०६

अपान वायुके समानसे आवृत होनेपर ग्रहणी, पार्श्वशूल, हृच्छूल तथा आमाशयशूल—ये लक्षण होते हैं।

प्राणवृत उदानके लक्षण—

शिरोग्रहः प्रतिश्यायो निःश्वासोच्छ्वाससंग्रहः।
हृद्रोगो मुखशोषश्चाप्युदाने प्राणसंवृते॥ च० चि० २८।२०७

उदान वायुके प्राणसे आवृत होनेपर शिरोग्रह (शिरमें तीव्र शूल और गौरव) प्रतिश्याय; निःश्वास और उच्छ्वासमें बाधा, हृदयशूल तथा मुखका सूखना—ये चिह्न होते हैं।

उदानवृत प्राणके लक्षण—

कर्मौजोबलवर्णानां नाशो मृत्युरथापि वा।
उदानेनावृते प्राणे॥ च० चि० २८।२०९

प्राणवायुके उदानसे आवृत होनेपर कर्म, ओज, बल और वर्णका नाश अथवा मृत्यु—ये लक्षण होते हैं।

उदानावृत अपानके लक्षण—

उर्ध्वगेनावृतेऽपाने[1] छर्दिश्वासादयो गदाः।
स्युर्वाते॥ च० चि० २८।२१०

अपान वायुके उदानसे आवृत होनेपर वमन, श्वास आदि लक्षण होते हैं।

अपानावृत उदानके लक्षण—

मोहोऽल्पोऽग्निरतीसार ऊर्ध्वगेऽपानसंवृते।
वाते स्यात्॥ च० चि० २८।२११

उदान वायुके अपानसे आवृत होनेपर मोह (चक्कर) मन्दाग्नि और अतीसार—ये चिह्न होते हैं।

व्यानावृत अपानके लक्षण—

वाम्याध्मानमुदावर्तगुल्मार्तिपरिकर्तिकाः।
लिङ्गं व्यानावृतेऽपाने॥ च० चि० २८।२१२

अपान वायुके व्यानसे आवृत होनेपर वमन, आध्मान, उदावर्त (मलोंका विपरीत दिशामें गमन), गुल्म, शूल और परिकर्तिका (उदरमें चीरनेकी-सी वेदना)—ये चिह्न होते हैं।

अपानावृत व्यानके लक्षण—

अपानेनावृते व्याने भवेद् विण्मूत्ररेतसाम्।
अतिप्रवृत्तिः॥ च० चि० २८।२१३

व्यान वायुके अपानसे आवृत होनेपर मल, मूत्र और शुक्रका अत्यन्त स्राव होता है।

समानावृत व्यानके लक्षण—

मूर्च्छातन्द्राप्रलापोऽङ्गसादोऽग्न्योजोबलक्षयः
समानेनावृते व्याने॥ च० चि० २८।२१४

1—ऊर्ध्वगेनेति उदानेन। —चक्रपाणि

समान वायुसे व्यानके आवृत होनेपर मूर्च्छा, तन्द्रा, प्रलाप, अंगोंका अति शैथिल्य तथा अग्नि, ओज और बलका क्षय—ये चिह्न होते हैं।

उदानावृत व्यानके लक्षण—

स्तब्धताऽल्पाग्निताऽस्वेदश्चेष्टाहानिर्निमीलनम्।
उदानेनावृते व्याने ॥ च० चि० २८।२१५

उदान वायुसे व्यानके आवृत होनेपर स्तब्धता (संधियोंमें गतिशून्यता), मन्दाग्नि, स्वेदका अभाव, चेष्टानाश और आँखें सर्वदा मिची रखना—ये लक्षण होते हैं।

अनुक्त आवरणोंके ज्ञानका उपाय—

पञ्चान्योन्यावृतानेवं वातान् बुध्येत लक्षणैः।
एषां स्वकर्मणां हानिर्वृद्धिर्वाऽऽवरणे मता ॥ च० चि० २८।२१६

अनुक्तज्ञानार्थमावरणस्वरूपमाह—एषां स्वकर्मणामित्यादि। अत्र आवार्याणां बलीयसाऽऽवरणात् स्वकर्महानिर्भवति, आवरकस्य तूत्सर्गतः स्वकर्मवृद्धिर्भवति; तथा आवरणेन च आवार्यः प्रकुपितो भवति तथा स्वकर्मणां वृद्धिर्भवतीति व्यवस्था ॥ —चक्रपाणि

अन्य वायुओंके परस्पर आवरणोंके लक्षण भी इन्हींके अनुसार स्वयं जान लेने चाहिये। संक्षेपमें—आवरक दोषके बली होनेसे उसके कार्योंकी वृद्धि होती है, तथा आवृत दोषके दुर्बल होनेसे उसके कर्मोंकी मन्दता होती है। कभी-कभी आवरणके कारण आवृत दोष प्रकुपित होनेपर उसके कर्मोंकी भी वृद्धि होती है।

वायुओंके परस्पर आवरणका अर्थ—

चालीसवें अध्यायमें कह आये हैं कि नाडीमण्डलके विभिन्न अवयव प्राण आदि वायुओंके आश्रय हैं। इन अवयवोंमें कोई रुग्ण होनेके कारण दुर्बल हो जाय तो स्वभावतः अन्य-अन्य अवयवों वा वायुकी क्रियाएँ विशेषतया प्रकट होती हैं। यही वायुओंके परस्पर आवरणका स्वरूप है। उदाहरणतया सुषुम्णाके अनुकटिक भाग तथा उससे निःसृत नाडियाँ अपान वायुका आश्रय हैं। इनका कार्य मल-मूत्र-शुक्र और गर्भकी अनैच्छिक प्रवृत्ति है। व्यान वायु या मस्तिष्क सौषुम्णिक तन्त्र ऐच्छिक प्रवृत्तियोंका जनक है, अतः अपान वायुका नियामक है। इसी कारण इच्छा हो तो मल-मूत्र और शुक्रकी प्रवृत्तियोंको रोका जा सकता है और रोका भी जाता है। परन्तु यह स्वस्थ अवस्थामें होता है। व्यान वायु—मस्तिष्क, सुषुम्णाकाण्ड वा उनके नाडीसूत्र—यदि आघात, तीव्र ज्वर, संन्यास आदि कारणोंसे रुग्ण हों तो मल, मूत्र और शुक्र जैसे-जैसे बनते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी अज्ञानमें प्रवृत्ति होती रहती है—अपने-अपने आशयोंमें संचय नहीं हो पाता। यह अवस्था सुप्रत्यक्ष है। इसी अवस्थाको शास्त्रकर्ताने अपानसे व्यानका आवरण कहा है।

अन्य आवरणोंकी भी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिये।

आवरणोंकी उपेक्षासे हानि—

सर्वेऽप्येतेऽपरिज्ञाताः परिसंवत्सरास्तथा
उपेक्षणादसाध्याः स्युरथवा दुरुपक्रमाः ॥

हृद्रोगो विद्रधिः प्लीहा गुल्मोऽतीसार एव च ।
भवन्त्युपद्रवास्तेषामावृतानामुपेक्षणात् ॥
तस्मादावरणं वैद्यः पवनस्योपलक्षयेत् ॥ च० चि० २८।२३८।२३९

वायुओंके उक्त कफ-पित्तादि धातुओंसे हुए अथवा परस्पर आवरणोंका परिज्ञान न हो सके, किंवा परिज्ञान होनेपर चिकित्सामें उपेक्षा हो तो एक वर्षके अनन्तर हृद्रोग, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म और अतिसार इन उपद्रवोंके कारण वे असाध्य या कृच्छ्रसाध्य हो जाते हैं ।

विशेष कष्टदायी आवरण—

आवरणेषु वातानां प्राणोदानयोरेव गुरुतरमावरणं द्रष्टव्यं, धात्वावरणेषु मेदोवृतवातस्य ॥
सु० चि० ५।२९ पर—डह्लन

वायुओंके पृथक्-पृथक् आवरणोंमें प्राण तथा उदानका आवरण और धातुकृत आवरणोंमें मेदसे आवरण विशेष कष्टदायी हैं ।

पैंतालीसवां अध्याय

अथातो वातप्रकोपविज्ञानीयमाध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

शरीरयन्त्रके निरुपद्रव संचालनके लिये वातका सम प्रमाणमें होना आवश्यक है। नीचे वातके विषम अर्थात् क्षीण किंवा वृद्ध होनेके लक्षण दिये जाते हैं। वायुके साम्यको परीक्षाके लिये इन्हें यथावत् जान लेना चाहिये।

वातक्षयके लक्षण—

तत्र वातक्षये मन्दचेष्टताऽल्पवाक्त्वमप्रहर्षो मूढसंज्ञता च॥ सु० सू० १५।७

चकारात् प्राकृतकर्महानिस्तद्विरोधिनश्च श्लेष्मणः प्राकृतकर्मवृद्धिरिति चकारः संमुच्चिनोति॥ —डल्हन

मन्दचेष्टता सकलप्राकृतवातक्रियाणामल्पता, मूढसंज्ञता असम्यग् ज्ञानम्, एतच्च प्राकृतवायोरिन्द्रियार्थसंप्रापिकस्य वैगुण्यादुपपन्नम्॥ —चक्रपाणि

लिङ्गं क्षीणेऽनिलेऽङ्गस्य सादोऽल्पं भाषितेहितम्।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृद्ध्युक्तामयसंभवः॥ अ० हृ० सू० ११।१५

तत्र (वातक्षये) स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः॥ सु० सू० १५।८

वातक्षये कटुकतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानाम्॥ च० शा० ६।११

वायुका क्षय होनेपर निम्न विकार होते हैं—शारीरिक व्यापारों (चेष्टाओं) की मन्दता, कर्मका असामर्थ्य, वातके प्राकृत कार्योंकी न्यूनता, वाणीकी अल्पता, हर्षका अभाव (म्लानता), ज्ञानेन्द्रियों तथा मनकी विषय ग्रहणमें मन्दता और श्लैष्मिक व्याधियों—अग्निमान्द्य, हृल्लास आदि—का प्रादुर्भाव।

वातका क्षय होनेपर उसके वर्धक द्रव्य-गुण-कर्मोंका सेवन करना चाहिये। कटु, तिक्त, कषाय, रूक्ष, लघु और शीतद्रव्य वातवृद्धिकर हैं। अन्य वातवर्धक द्रव्य आदिका निर्देश वातप्रकोपके कारणोंके प्रसंगसे आगे होगा।

वातवृद्धिके लक्षण—

वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति। तत्र, वातवृद्धौ वाक्पारुष्यं ('त्वक्पारुष्यम्' इति पाठान्तरम्) कार्श्यं कार्ष्ण्यं गात्रस्फुरणमुष्णकामिता निद्रानाशोऽल्पबलत्वं च॥ सु० सू० १५।१३

अल्पबलत्वम् उत्साहहानिः॥ —डल्हन

तत्र वायुना मनोभ्रमणान्निद्रा न भवति, पित्तस्याप्युष्णतया मनोविक्षेपान्निद्रा स्वल्पा भवति॥ —चक्रपाणि

वृद्धस्तु कुरुतेऽनिलः॥
कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामित्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्।
बलनिद्रेन्द्रियभ्रंश प्रलापभ्रमदीनताः॥ अ० हृ० सू० ११।५-६

वायुकी वृद्धिके चिह्न निम्न हैं—वाणीकी कर्कशता, त्वचाकी रूक्षता, कृशता, शरीरके वर्णकी कृष्णता, अङ्गोंमें स्फुरण (फड़कन) वा कम्प, उष्ण आहार-विहारपर प्रीति, मनके अनवस्थित होनेसे अनिद्रा, बलकी न्यूनता और उसके कारण कर्मोंमें अनुत्साह, मलका गाढ़ा होना, आनाह (कब्ज), प्रलाप, भ्रम (चक्कर), म्लानता (शरीर मुर्झाया-सा लगना)। वातकी वृद्धि अपने वर्धक द्रव्य-गुण-कर्मों (तथा देश-काल) के अतियोगसे होती है ।

कुपित वातके कुछ लक्षण—

कुपित वातके संक्षिप्त लक्षण पहले आ गये हैं। पुनः वचनान्तर देते हैं—

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भेदोऽस्थ्नां पर्वणामपि ॥
लोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ।
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ॥
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ।
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ॥
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मोहश्चायास एव च ।
एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ॥
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद् रोगविशेषकृत् ॥ च० चि० २८।२०—२४

हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशः । हेतुविशेषः पित्तावरणादिः ॥ —चक्रपाणि

कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय भवति, मनो व्याहर्षयति ('व्यावर्तयति' इति पाठान्तरम्), सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान् विकृतिमापादयत्यतिकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि ॥ —च० सू० १२।८

अंगोंका संकोच, सिर, नासिका, आँख, ग्रीवा, कन्धे आदिका अन्दर धँस जाना[1]; अस्थि संधियोंकी निश्चेष्टता; अस्थियों और संधियोंका भेद (टूटनेकी-सी व्यथा), रोमांच, प्रलाप; हाथ-पैर और शिरका ग्रह (स्तम्भ, शूल और चेष्टाका ह्रास); खञ्जता (एक पैरका लूला होना), पंगुता (दोनों पैर लूले होना), कुब्जता, अंगोंका शोष, अनिद्रता, ज्ञानेन्द्रियोंकी मन्दता, कर्मेन्द्रियोंका नैर्बल्य, शुक्रनाश, नष्टार्तव, बन्ध्यता, मृतगर्भता, मूढगर्भता; गर्भके अवयवोंमें विकृति; कम्प, स्पर्शका ज्ञान न होना; अंगोंमें भेद, तोद, शूल, आक्षेप (अंग पटकना), श्रम, मोह, (चेतनाका ह्रास), मनोभ्रम; भय, शोक, मोह, दैन्य, अति प्रलाप; प्राणोंका उपरोध। इनके अतिरिक्त आवरणादि कारण विशेषोंसे तथा कोष्ठादि स्थानभेदोंके कारण कुपित वायु अन्य भी विकार उत्पन्न करता है।

वात-प्रकोपके कारण—

वात-प्रकोपके कारण संक्षेपमें तीन प्रकार के हैं; प्रज्ञापराध, काल तथा आवरण। इनमें आवरणोंका निर्देश कर आये हैं। शेष वातप्रकोपके प्रज्ञापराध और कालका निर्देश करते हैं।

तत्र बलवद्विग्रहातिव्यायामव्यवायाध्ययनप्रपतनप्रधावनप्रपीडनाभिघातप्लवनलङ्घनप्रतरणरात्रिजागरणभारहरणगजतुरगरथपदातिचर्याकटुकषायतिक्तरूक्षलघुशीतवीर्यशुष्कशाक -

१—यह अवस्था मांसपेशी आदिकी क्षीणता (Atrophy—एट्रोफी) के कारण होती है।

बल्लूरवरकोद्दालककोरदूषश्यामाकनीवारमुद्ग मसूराढकीहरेणुकलायनिष्पावानशनविषमाशनाध्यशनवातमूत्रपुरीषशुक्रच्छर्दिक्षवथूद्गारबाष्पवेगविघातादिभिर्वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ सु० सू० २१।१९

अतिशब्दो व्यायामादिभिस्त्रिभिः संबध्यते। अनशनमल्पभोजनमुपवासश्च। आदिशब्दात् क्षुदादिवेगविघातादयो गृह्यन्ते —डह्लन

वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणाम् ॥ च० सू० १२।७

दारुणविपरीतो मृदुः, शुषिरविपरीतो घनः॥ —चक्रपाणि

रूक्षशीताल्पलघ्वन्न व्यवायातिप्रजागरैः।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रावणादति ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्व व्यायामातिविचेष्टितैः।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ता शोकरोगातिकर्षणात् ॥
दुःखशय्यासनात् क्रोधाद् दिवास्वप्नात् भयादपि।
वेगसंधारणादामादभिघादभोजनात् ॥
मर्माघाताद् गजोष्ट्राश्व शीघ्रयानापतंसनात्।
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ॥
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥

च० चि० २८।१५-१९

दोषासृगिति दोषशब्देन पुरीषमपि गृह्यते। अपतंसनं गजादिभ्यः पतनं, किंवा अवतंसनं धातूनां कर्षणम्। रिक्तानि तुच्छानि, स्नेहादिगुणशून्यानि ॥ —चक्रपाणि

रूक्षलघुशीतवमनविरेचनास्थापनशिरोविरेचनातियोगव्यायामवेगसंधारणानशनाभिघातव्यपायोद्वेगशोकशोणितातिषेकजागरणविषमशरीरन्यासेभ्योऽतिसेवितेभ्यो वायुः प्रकोपमापद्यते ॥ च० नि० १।१९

बलवान्के साथ लड़ाई या कुश्ती (नियुद्ध), अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, अति दौड़ना ; कोई अङ्ग दब जाना, चोट, ऊँची कूद, लम्बी कूद, तैरना, रातको जागना, दिनमें सोना, बोझ उठाना ; हाथी, घोड़ा, रथ आदि पर या पैदल अति फिरना, अति श्रम, मर्म पर प्रहार, हाथी आदि यानों या उच्च स्थानसे गिर जाना ; बिछौने, कुर्सी आदिका उपयुक्त न होना; हाथ-पैर आदिका उलटा-सीधा पड़ना (परिणाममें मोच आना), कटु, कषाय, तिक्त, रूक्ष, लघु, शीतवीर्य, दारुण (कठिन), खर, विशद और छिद्रकर (शरीरकी घनता कम करनेवाले) द्रव्योंका अति सेवन ; सूखे शाक, सूखा मांस, वरक, उद्दालक, (जंगली कोदों[1]), कोदों, सामां, नीवार, मूँग, मसूर, अरहर, हरेणु, मटर, लोभिया इनका उपयोग ; अनशन (उपवास), परिमित भोजन, विषम भोजन और अध्यशन, आम, वमन, विरेचन, आस्थापन बस्ति[2], शिरोविरेचन, रक्तमोक्षण आदि क्रियाओंका अति योग या मिथ्या (विधिहीन) योग ; रसादि शुक्रपर्यन्त धातुओंमें एक वा अनेकका क्षय ; अधोवायु, मूत्र, पुरीष, शुक्र,

१—देखिये सु० चि० ११।६ पर डह्लन। २—इसी अध्यायमें आगे देखिये।

वमन, छींक, डकार, अश्रु, क्षुधा, पिपासा आदिके वेग रोकना ; भय, चिन्ता, शोक, उद्वेग (सन्ताप) और क्रोध—इन कारणोंसे शरीरमें वायुका प्रकोप होता है। इनके द्वारा शरीरके स्रोतोंमें स्नेह, मार्दव आदि गुणोंका ह्रास हो जाता है ; और दूषित और प्रवृद्ध वायु इन्हें परिपूर्ण कर देता है। परिणाममें एकांग या सर्वाङ्गमें वातव्याधियोंका उद्भव होता है।

वातल पुरुषोंमें वातप्रकोप शीघ्र होता है—

तत्र वातलस्य वातप्रकोपणान्यासेवमानस्य क्षिप्रं वातः प्रकोपमापद्यते, न तथेतरौ दोषौ। स तस्य प्रकोपमापन्नो यथोक्तैर्विकारैः शरीरमुपतपति बलवर्णसुखायुषा मुपघाताय ॥
च० वि० ६।१६

पूर्वोक्त वातप्रकोपक कारणोंका प्रभाव वातल पुरुषोंपर सविशेष होता है। उनमें अल्पसे कारणसे वात कुपित होकर पहले कहे वातिक विकारोंको उत्पन्न कर उनके बल, वर्ण, सुख और आयुष्यका ह्रास करता है। वातल पुरुषोंको श्लैष्मिक और पैत्तिक विकार उतना पीडित नहीं करते, जितने वातिक।

वायुके सञ्चय, प्रकोप और प्रशमके काल—

ता एवौषधयो निदाघे निःसारा रूक्षा अतिमात्रं लघ्व्यो भवन्त्यापश्च। ता उपयुज्यमानाः सूर्यप्रतापोपशोषितदेहानां देहिनां रौक्ष्याल्लघुत्वाद् वैशद्याच्च वायोः सञ्चयमापादयन्ति ; स सञ्चयः प्रावृषि चात्यर्थं जलोपक्लिन्नायां भूमौ क्लिन्नदेहानां देहिनां शीतवातवर्षेरितो वातिकान् व्याधीञ्जनयति ॥ सु० सू० ६।११

निःसारा इति अपगतसौम्यांशाः ॥ —चक्रपाणि

यद्यपि शीतस्य वायोरुष्णे ग्रीष्मे सञ्चयो न युज्यते, तथापि वातगुणेषु सर्वेषु रौक्ष्यं प्रधानं, तेनौषधीनामत्यर्थरौक्ष्येण रूक्षस्य वायोर्ग्रीष्मे सञ्चयः स्यादित्यदोषः ॥ —डल्हन

स शीताभ्रप्रवातेषु घर्मान्ते च विशेषतः।
प्रत्यूषस्यपराह्णे च जीर्णेऽन्ने च प्रकुप्यति। सु० सू० २१।२०

शीते शीतकाले। अभ्रे मेघोपलक्षितकाले। प्रवाते प्रकृष्टवाते काले। घर्मान्ते वर्षाकाले ॥
—डल्हन

उत्तरं (अयनं) शिशिरवसन्तग्रीष्माः, तेषु भगवानाप्यायतेऽर्कः ; तिक्तकषायकटुकाश्च रसा बलवन्तो भवन्ति, उत्तरोत्तरं च सर्वप्राणिनां बलमपहीयते[1] ॥ सु० सू० ६।७[2]

ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यकी प्रखरताके कारण अन्नद्रव्य तथा वनस्पतियां सौम्य अंशसे रहित, रूक्ष और अत्यधिक लघु हुई होती हैं। जलकी भी यही अवस्था होती है। उधर मनुष्योंके शरीर भी सूर्यके उत्तापके कारण शुष्क हो जाते हैं। परिणाममें उस काल—ग्रीष्ममें—सेवन किये गये अन्न, वनस्पतियां और जल अपनी रूक्षता, लघुता और विशदता (क्लेद तथा स्नेह का अभाव) के कारण

१—च० सू० ६–६ भी देखिये।

२—वायुके स्वाभाविक सञ्चय, प्रकोप और प्रशमके कालसम्बन्धी सम्पूर्ण प्रमाण ३५ वें अध्यायमें देखिये। संहिता वचनोंकी अखण्डिताकी दृष्टिसे वे वहीं दिये गये हैं।

शरीरमें वायु का सञ्चय करते हैं। प्रावृट् कालमें[1] भूमि जलसे आर्द्र होती है, शरीरमें भी आर्द्रताकी अभिवृद्धि हो जाती है। ऐसे समय, शीत, वायु और वृष्टिके वश, ग्रीष्ममें संचित वायु प्रकुपित होता है और विविध वातिक व्याधियोंको उत्पन्न करता है।

वायुके शीत होनेसे उष्णगुण ग्रीष्ममें उसका संचय आपाततः अयोग्य प्रतीत होता है; परन्तु, वायुके गुणोंमें रूक्ष गुण प्रधान है और वह ग्रीष्मकाल तथा तात्कालिक अन्नादिसे सहज ही वृद्धि को प्राप्त होता है, जिससे ग्रीष्ममें वायुका संचय होता है।

एवम्, वर्षाकालमें वातिक रोगोंका विशेषतः प्रादुर्भाव होता है। अन्य ऋतुओंमें भी शीतकालमें, मेघोदय होनेपर किंवा प्रवात (हवा बहुत चलना) में समान गुण होनेसे स्वभावतः वायुका प्रकोप होता है।

आयुके चरम भाग (वार्धक्य) में शरीर वृद्धताके कारण परिपक्व[2] हो जाता है जिससे रसादि धातुओंकी पुष्टि यथोचित नहीं होती। अतः उस काल (बुढ़ापेमें) वातिक व्याधियाँ विशेषतः दृष्टिगोचर होती हैं।

उषःकाल (रात्रिका अन्तिम भाग) तथा अपराह्न (दिवसका अन्तिम भाग) में भी वायुका स्वाभाविक प्रकोप होता है। अन्नके पच जानेपर (खानेके तीन-चार घण्टे पश्चात्) भी वायुका प्राबल्य होता है। इस समय अन्नका परिपाक होनेके पश्चात् रस भाग तो रसायनियों और रक्तवाहिनियों द्वारा शरीरमें पहुंचा दिया जाता है; तथा मल भाग पक्वाशयमें प्रवेश करता है। वहाँ इसके कोथ (सड़ने) से वायु उत्पन्न होता है, जो पक्वाशयकी कलासे आचूषित होकर किंवा पक्वाशयके विवर ही में रहता हुआ वातिक विकारोंको प्रकट करता है। यह विषय सविस्तर कटु अवस्थापाकके प्रकरणमें दिया जा चुका है। कुछ इसी अध्यायमें आगे देंगे।

निदाघ (ग्रीष्म) में संचित तथा प्रावृट्में कुपित हुआ वायु, शरत्काल आनेपर स्वतः यत्किञ्चित् शान्त होने लगता है। उस समय ऋतु-स्वभावसे उसके विरोधी पित्तका प्रकोप होता है। वर्षामें जब कि, निदाघ कालमें संचित वायु अपने स्थानसे चलित हो शरीरमें फैल रहा होता हो, उसका उचित उपाय करना चाहिये। दोषके मन्द, मध्यम वा तीव्र होनेके अनुसार उपाय भी वैसा ही होना चाहिये।

वायुके प्रसरके लक्षण—

एवं प्रकुपितानां प्रसरतां च (दोषाणां) वायोर्विमार्गगमनाटोपौ × × × लक्षणानि भवन्ति ॥ सु० सू० २१।३२

प्रकुपित हुए वातका प्रतीकार न करनेसे उसकी प्रसरावस्था उपस्थित होती है। अपना स्वाभाविक मार्ग—निम्न दिशा—छोड़कर वायुका विमार्गसे अर्थात् तिर्यक् या ऊर्ध्व दिशामें जाना; तथा आटोप (उदरमें वायु तथा गुड़गुड़)—ये वायुकी प्रसरावस्थाके लक्षण हैं। इस अवस्थामें भी इसका उपाय न किया जाय तो नानात्मज और सामान्यज वातिक विकारोंका उद्भव होता है।

१—प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः कालः। तस्यानुबन्धो वर्षाः च० वि० ८। चौमासेके प्रचुरवृष्टियुक्त आदि भागको प्रावृट् कहते हैं।

२—देखिये—स एवाऽन्नरसो वृद्धानां जरापरिपक्वशरीरत्वादप्रीणनो भवति ॥ सु० सू० १४—१९ ॥ अप्रीणन इति ईषत् प्रीणनः चक्रपाणि—इस सूत्रकी व्याख्या ४८४ पृ० पर तथा आगे देखिये।

नाडीसंस्थान वायु नहीं है—

प्रसङ्गवश वायुके स्वरूपके विषयमें एक बात कहना आवश्यक प्रतीत होता है। कई विज्ञ वर्तमान क्रियाशारीरके नाडीसंस्थान (नर्वस सिस्टम) को ही आयुर्वेदका वातधातु मानते हैं। परन्तु, यह विचारसह नहीं है। कारण, आयुर्वेदमें वातके समय-समय पर (दिन और रातमें भी) तथा विभिन्न कारणोंसे वृद्धि (सञ्चय तथा प्रकोप) और क्षय जताये गये हैं। नाडीसंस्थानके प्रमाणमें निश्चय ही इस प्रकारकी वृद्धि या क्षय नहीं होते। अतः सिद्ध है कि नाडीसंस्थान वातधातु नहीं है। इसी युक्तिसे यह भी सिद्ध है कि न तो रक्तानुधावन संस्थान (सर्क्युलेटरी सिस्टम) आयुर्वेदीय पित्त है, न ही रस-संस्थान (लिम्फैटिक सिस्टम) कफधातु है। पित्त तथा कफ क्या है, यह उनके अपने-अपने प्रकरणमें दिखा चुके हैं। वातका स्वरूप इसी अध्यायमें आगे दिखावेंगे।

साम तथा निराम वायुके लक्षण—

वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः।
वेदनाशोफनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयन्॥
विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्।
स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि॥
निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः।
विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः॥

अ० हृ० सू० १३।२७-२८ के मध्य प्रक्षेप

विबन्ध (पक्वाशय आदि मल-स्रोतोंका अवरोध), अग्निमान्द्य, तन्द्रा, अन्त्रकूजन (पेटमें गुड़-गुड़); कटि, पार्श्व आदिमें पीड़ा, शोथ (जैसा आढ्यवात—आमवात, गठिया—में संधियोंमें होता है), तोद (सूचीवेध सदृश व्यथा)—ये साम वायुके लक्षण हैं। वृद्धिको प्राप्त होनेपर यह शरीरमें एक स्थानसे दूसरे स्थान पर सञ्चार करता है, तथा जहाँ पहुंचता है, वहाँ आत्मोचित लक्षण उत्पन्न करता है; किंवा एक ही कालमें सर्वाङ्गको व्याप्त कर तत्तत् विकार उत्पन्न करता है। इसकी यह विलक्षणता है कि आमके श्लेष्मतुल्य स्वभाववाला होनेसे साम वायु स्नेहमर्दन, स्नेहपान आदि स्निग्ध उपक्रमोंसे वृद्धिको प्राप्त होता है। उषःकाल, मेघोदय तथा रात्रिमें भी इसका कोप होता है।

निराम वायु विशद (अतएव, मुख आदिको सूखा करनेवाला), रूक्ष (अतएव, त्वचा आदिको रूक्ष करनेवाला), विबन्धरहित तथा अल्प वेदनावाला होता है। (साम वायु इसके विपरीत मुखादिको लिप्त करनेवाला, स्रोतोंका रोधक तथा तीव्र वेदनायुक्त होता है)। विशदादि गुणवाला होनेसे निराम वायु विपरीत गुणवाले स्निग्ध उपचारोंसे शान्त होता है।

प्रकुपित वायुकी चिकित्सा—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति॥ च० सू० १।५९

गुणशब्देन चेह धर्मवाचिना रसवीर्यविपाकप्रभावाः सर्व एव गृह्यन्ते॥ —चक्रपाणि

तस्यावजयनं—स्नेहस्वेदौ विधियुक्तौ, मृदूनि च संशोधनानि स्नेहोष्णमधुराम्ललवणयुक्तानि, तद्वदभ्यवहार्याणि, अभ्यङ्गोपनाहनोद्वेष्टनोन्मर्दनपरिषेकावगाहनसंवाहनावपीडन

वित्रासनविस्मापनविस्मारणानि, सुरासवविधानं, स्नेहाश्चानेकयोनयो दीपनीयपाचनीय-वातहरविरेचनोपहिताः, तथा शतपाकाः सहस्रपाकाः सर्वशश्च प्रयोगार्थाः, बस्तयः बस्तिनियमः, सुखशीलता चेति ॥ च० वि० ६।१६

वित्रासनादयो यद्यपि वातकारकास्तथापि वातजनितोन्माद-विनाशकत्वेन चोक्ता इति ज्ञेयम्। उन्मादे हि वित्रासनादि भेषजमभिधायोक्तम्—'तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः। च० चि० ९।९१'—सर्वशः प्रयोगार्था इति पानाभ्यङ्गबस्त्यादिभिः प्रयोजनीया इत्यर्थः। बस्तिनियम इति बस्तौ यथोक्तनियमसेवा ॥ —चक्रपाणि

तिलप्रियालाक्षोडादयोऽनेका योनयो येषां तेऽनेकयोनयः स्नेहाः ॥

अ० हृ० सू० १३।३ पर अरुणदत्त

स्नेहाः तैलादयः। तिलतैलातसीतैलगोघृतमहिषीघृतादिभेदात् ॥ वहीं हेमाद्रि

तं मधुराम्ललवणस्निग्धोष्णैरुपक्रमैरुपक्रमेत, स्नेहस्वेदास्थापनानुवासाननस्तः कर्म-भोजनाभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकादिभिर्वातहरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य। तत्रास्थापनानुवासनं खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः; तद्ध्यादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति; तत्रावजितेऽपि वाते शरीरान्तर्गता वातविकाराः प्रशान्तिमुपयान्ति, यथा वनस्पतेर्मूले छिन्ने स्कन्धशाखाप्ररोहकुसुमफलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत् ॥ च० वि० २०।१३

आदित एवेति शीघ्रमेव। केवलं वैकारिकमिति सकलविकारकम् ॥ —चक्रपाणि

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः ॥ च० चि० १५।११

बस्तिर्वातहराणाम् (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

वायोर्विपहते वेगं नान्या बस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः[1] ॥ ॥ सु० चि० ३५।३०

तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किंचित्[1] ॥ च० सि० १।४०

तैलं स्नेहौष्ण्यगौरवोपपन्न त्वाद् वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् वातो हि रौक्ष्यशैत्य-लाघवोपपन्नो विरुद्धगुणो भवति; विरुद्धगुणसंनिपाते हि भूयसाऽल्पमवजीयते, तस्मात् तैलं वातं जयति सततमभ्यस्यमानम् ॥ च० वि० १।१४

बस्ति वायुके जयका सर्वोत्तम उपाय है। इसके दो भेद हैं—आस्थापन तथा अनुवासन[2]। आस्थापन बस्तिको निरूह भी कहते हैं।

१—बस्तिप्रशंसापरक सम्पूर्ण श्लोक ४३ वें अध्यायमें देखिये।

२—दो प्रकारकी बस्ति—तत्रास्थापनं दोषदूष्याद्यनुसारेण नानाद्रव्यसंयोगादभिनिर्वृत्तम्। अनुवासनं यथार्हौषधसिद्धः स्नेहः स्नेहनार्थः अ० सं० सू० अ० २८

'बस्तिर्द्विधाऽनुवासाख्यो निरूहश्च ततः परम्।
यः स्नेहैर्दीयते स स्यादनुवासननामकः ॥

बस्ति सत्वर वायुके संचयके मूल स्थान पक्काशयमें प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण विकारी द्रव्योंको निकाल कर वायुका आमूल उच्छेद कर देता है। इस स्थलपर यदि बस्ति द्वारा वायुपर विजय लाभ कर लिया जाय तो शरीरमें अन्यत्र स्थित वातविकार स्वयं शान्त हो जाते हैं; जैसे—वनस्पतिका मूल कट जाय तो उसके तना, शाखा, अंकुर, फूल, फल, पत्ते आदिका प्रयत्नके विना ही निश्चित नाश होता है।

आकर ग्रन्थोंमें बस्तिविधानके प्रयत्नका अतिविस्तृत वर्णन पाया जाता है। आजकल तो इरिगेटर[1] द्वारा साधारण या साबुन, टरपैण्टाइन आदि मिश्रित जलको गुदद्वारसे प्रविष्ट करने मात्रमें बस्तिकी इतिकर्तव्यता रह गई है। यह मूल संहिताओंके अनध्ययनका परिणाम है।

बस्तिकी प्रशंसामें कहा गया है[2]—शरीरके समस्त रोग वायुके कारण होते हैं, और वायु बस्तिके आगे ऐसे परास्त हो जाता है, जैसे समुद्रकी विक्षुब्ध तरङ्गोंके आगे किनारा। विधि-विहित बस्ति शरीरको पुष्ट करता है। कोई-कोई आचार्य अतएव बस्तिको संपूर्ण चिकित्साशास्त्रका आधा भाग कहते हैं और कोई-कोई तो इसे संपूर्ण ही चिकित्सा कहते हैं।

वायुका शमन करनेवाले द्रव्योंमें तैल सर्वोत्तम है। यह तिल, अखरोट, चिरौंजी, अलसी आदि योनि-भेदोंसे अनेक प्रकारका होता है। तैलोंको विविध दीपन, पाचन, वातहर और विरेचन द्रव्योंसे सिद्ध भी किया जाता है। इनका पान, अभ्यङ्ग, बस्ति आदिके रूपमें प्रयोग करना चाहिये। गो आदिके घृत तथा अन्य स्नेह द्रव्योंका भी इन्ही विधियोंसे व्यवहार वायुको शान्त करता है।

राजाओंके लिये शतपाक और सहस्रपाक[3] तैलोंका विधान है। साधारण पुरुषोंके लिये अनुवासन बस्ति आदिके लिये विविध स्नेह तथा निरूह बस्तिके लिए विविध क्काथ शास्त्रमें देखने चाहिये।

वायु रूक्ष, शीत और लघु होता है। इसके विपरीत तैल स्निग्ध, उष्ण और गुरु होता है। निरन्तर सेवनसे यह वायुको पराजित कर देता है। तैलके समान ही जिन द्रव्योंके गुण वायुके विरुद्ध हों, उनका निरन्तर व्यवहार करनेसे वायुकी शान्ति होती है। वातविरोधी वीर्य, विपाक और प्रभाववाले द्रव्योंका प्रयोग भी वायुका शामक है।

पूर्वोक्त स्नैहिक उपचारोंके अतिरिक्त विधिपूर्वक स्वेद[4]; स्निग्ध, उष्ण, मधुर-अम्ल-लवण-रस युक्त मृदु विरेचन; इन्ही गुणोंवाला भोजन, उपनाह (पुल्टिस), उद्वेष्टन (रुग्ण अङ्गको धोती आदिसे दृढ बाँधना), मर्दन, विविध वातहर औषध द्रव्योंके क्काथसे सेक, अवगाहन (वातहर द्रव्योंसे सिद्ध तैल-क्काथ आदिमें बैठाना), संवाहन (चम्पी), अवपीडन (दबाना); भय-प्रदर्शन, चौंकाना, विस्मरण कराना[5] नस्य, वातहर द्रव्योंका उबटन; वातहर द्रव्योंसे सिद्ध मदिराएँ तथा आसव आदि

कषायक्षीरतैलैर्यो निरूहः स निगद्यते।
निरूहस्यापरं नाम प्रोक्तमास्थापनं बुधैः॥ शा० तृ० अ० ५।६

दोषानुसार विविध औषध द्रव्योंसे सिद्ध किये तैलादि स्नेहद्रव्योंसे जो बस्ति दिया जाता है, वह अनुवासन कहाता है। तथा, दोषदूष्यादिके अनुसार विविध औषधद्रव्योंके क्काथ, दूध, तैल, स्नेह, मधु, लवण, मूत्र आदि द्रव पदार्थोंसे जो बस्ति दिया जाता है, उसे निरूह या आस्थापन बस्ति कहते हैं।

१—Irrigator—ऐनीमाका पात्र। २—प्रमाणके लिए देखिये ४३ वाँ अध्याय।

३—इनकी निर्माणविधि सु० चि० ४—२९ में देखिये।

४—स्वेदके नाना भेद, उनकी विधि आदि विषय च० सू० १४ तथा सु० चि० ३२ में देखिये। ५—ये तीन उपाय उन्मादमें करने पड़ते हैं।

वातका प्रशमन करते हैं। सुखशीलता (मानसिक और शारीरिक आरामका जीवन विताना) प्रकुपित वातके उपायोंमें सर्वदा स्मरणीय है। सब उपायोंका दोष, प्रकृति, बल और काल देखकर अवलम्बन करना चाहिये। कारण, जैसा कि वातके प्रकोपके कारणोंमें देख आये हैं, वातके सर्वोत्तम उपायभूत बस्तिका भी अतियोग वातको प्रकुपित करता है।

वायुकी उपेक्षाका विपरिणाम—

हस्तपादशिरोधातूंस्तथा संचरति क्रमात्।
व्याप्नुयाद् वाऽखिलं देहं वायुः सर्वगतो नृणाम्॥ सु० नि० १।३०

एकाङ्गगत एकधातुगतो वाप्युपेक्षितः सर्वाङ्गगतः सर्वधातुगतो वा भवतीति दर्शयन्नाह—हस्तेत्यादि॥
—डह्लन

एकाङ्गमें या एक धातुमें कुपित वायुकी उपेक्षा की जाय तो वह क्रमसे सर्वाङ्ग या सर्वधातुओंमें व्याप्त हो जाता है।

प्रकुपित या दुष्ट वात क्या है—

प्रकुपित वातके जयके उपायोंमें तथा अन्यत्र भी कहा है कि वायुके कोपका मूल स्थान पक्वाशय है। पूर्वोद्धृत 'पक्वाशयं तु प्राप्तस्य॥ च० चि० १५-११॥' से स्पष्ट है कि अन्नका मल भाग जब पक्वाशयमें पहुंचता है तो वायुकी उत्पत्ति होती है। निश्चय ही यह वायु दूषित (वैकृत) वायु है। कारण, उल्लिखित चरक वाक्य—च० सू० २०।१३ में आचार्यने कहा है कि सम्पूर्ण दूषित वायु का मूल पक्वाशयमें होता है[1]। वायुके संचयके लक्षण 'स्तब्धपूर्णकोष्ठता' तथा प्रसरावस्थाके लक्षण 'वायोर्विमार्गगमनाटोपौ (देखिये ३२ वाँ अध्याय) भी इतनी ही स्पष्टताके साथ पक्वाशयस्थ वायुका ही प्रकुपित वायुके रूपमें निर्देश करते हैं[2]।

१—वहाँ ये शब्द आये हैं—'तद्धि (बस्तिदानं) आदित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति।' 'केवलम्' का अर्थ चक्रपाणि ने 'सकल' दिया है।

२—व्यवहारोपयोगी वात-पित्त-कफ—आयुर्वेदके आचार्य आयुर्वेदको एक व्यवहारोपयोगी शास्त्र (Applied Science—एप्लाइड सायन्स) का रूप देना चाहते थे। आजकलके शरीररचनाके ग्रन्थोंमें सुविस्तृत, कर्मकालमें आवश्यक-अनावश्यक दोनों प्रकारका सम्पूर्ण ज्ञान देनेके पश्चात् 'व्यवहारोपयोगी शारीर' (Appiled Anatomy—एप्लाइड एनेटॉमी) नामसे प्रत्येक प्रकरणके अन्तमें शल्यतन्त्रमें विशेषतः उपयोगी अंशका पृथक् निर्देश किया जाता है। ठीक यही दृष्टि आयुर्वेदके सम्बन्धमें प्राचीन मुनियोंकी थी।

इस विषयके दो-एक उदाहरण देखिये—

योगविद्याके प्राचीन ग्रन्थोंमें शरीरकी रचना तथा क्रियासम्बन्धी अत्यन्त सूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध होता है। आज भी पाये जानेवाले योगियोंकी अलौकिक शक्ति देखने से इस ज्ञानकी सत्यता भी सिद्ध हो सकती है। स्वयं आयुर्वेदके ग्रन्थोंमें भी अधिपतिमर्म, शृङ्गाटकमर्म, अन्तःकर्णका आवर्त-तुल्य रूप, सात प्रकारकी त्वचा, इन्सुलीन आदिका सुविशद निर्देश प्राप्त होता है। परन्तु उस काल उपलब्ध, शरीरकी रचना सम्बन्धी सूक्ष्म और सामान्य चिकित्सकके लिये अनुपयोगी जटिलताओंको छोड़कर मुनियोंने वैद्य और शल्यचिकित्सकके लिये उन्हीं वस्तुओंका परिचय कराना आवश्यक समझा जो व्यवहारमें उपयोगी हैं। हमारा आशय मर्मोंसे है, जिन्हें शस्त्रकर्म करते हुए शस्त्रके स्पर्शसे बचाना होता है।

आधुनिक परिभाषामें उक्त विषयका अनुवाद करना हो तो कह सकते हैं कि स्थूलान्त्रों (पक्वाशय) में जीवाणुओंकी क्रियासे मलके कोथसे साधारण अवस्था में भी यत्किञ्चित् वायु (विविध प्रकारकी गैसें) उत्पन्न होता ही है। आयुर्वेदमें जिन आहार, विहार, काल आदिका वात प्रकोपके कारणोंके रूपमें निरूपण हुआ है, उनकी उपस्थितिमें पक्वाशयमें गैस बननेकी यह प्रक्रिया त्वरित (शीघ्र) और बड़ी मात्रामें होने लगती है। यही आयुर्वेद मतसे वायुकी सञ्चय और प्रकोपकी अवस्था है; ये गैसें कला द्वारा गृहीत होकर सर्वाङ्गीण रुधिर-प्रवाहमें जा मिलती हैं। आयुर्वेदके शब्दोंमें यह वायुकी प्रसरावस्था है। यही गैसें जब किसी कारणसे विकृत अङ्गमें रुक जाती हैं तो उस अङ्गमें अपने बलके अनुसार विभिन्न वातिक विकार उत्पन्न करती हैं। यही वायुका स्थानसंश्रय है। नाडीसूत्रोंके इस प्रकार दूषित वातसे अभिभूत होनेसे उनके प्राकृत कर्मों में अनिष्ट परिवर्तन आ जाते हैं, और विविध वातिक कहे जानेवाले रोगोंका प्रादुर्भाव होता है।

पक्वाशयमें उत्पन्न होनेवाली गैसोंमें प्रधान अङ्गाराम्ल (कार्बन डाईऑक्साइड) है। यह सेल्युलोज़ तथा अन्य पिष्टसारोंके कोथसे उत्पन्न होता है। आहारमें सेल्युलोज़की अधिकतासे यह अधिक उत्पन्न होता है। प्रोटीनोंके कोथसे एक दुर्गन्धयुक्त वायु उत्पन्न होता है। इसमें गन्धक होता है। इसका अंग्रेजी नाम हाइड्रोजन सल्फाइड[1] या सल्फ्युरेटेड हाइड्रोजन[2] है। अधोवायुमें दुर्गन्धका कारण यही वायु है।

आधुनिक विज्ञानमें पक्वाशयगत वायुका वातिक रोगोंके मूलके रूपमें प्रतिपादन नहीं है। तथापि, 'वर्तमान विद्वानोंके मतसे आनाह (कब्ज) अनेक व्याधियोंका तथा कइयोंके अनुसार अधिकांश व्याधियोंका प्रधान मूल है[3]।' यह मत वात-विकारोंके आयुर्वेदोक्त कारणकी पर्याप्त पुष्टि

सांख्य मतसे सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण प्रकृतिको मानते हुए भी उपयोगकी दृष्टिसे आचार्योंने शरीरको पाञ्चभौतिक ही माना है। एवं, आत्मा या 'पुरुष' को शुद्ध स्वरूपमें स्वीकार करते हुए भी आयुर्वेदमें उपयोगके विचारसे पञ्चभूतों और आत्माके समुदायको ही 'पुरुष' कहा है। इन मन्तव्योंमें अन्तर्हित कारण पूर्वोक्त ही है। मस्तिष्कको चैतन्यका अधिष्ठान तथा वातका मुख्य केन्द्र मानते हुए भी हृदयको चेतना स्थान कहा गया है, उसमें भी यही दृष्टि है।

वात, पित्त और कफके सम्बन्धमें मुनियोंने यही दृष्टि रखी थी। हम पहले कह आये हैं कि वात-पित्त-कफसे प्रत्येकके प्राकृत-वैकृत अनेकानेक भेद हैं। तथापि शास्त्रमें प्रत्येक दोषके समस्त भेदोंमें केवल एक-एक चिकित्सोपयोगी भेदका ही शास्त्रमें विशेष और सविस्तर वर्णन किया गया है। कारण, वैद्यक मतसे उसीके सञ्चय, प्रकोप और प्रसरसे विविध रोग उत्पन्न होते हैं। पित्तके प्रकरणमें हमने यह सम्भावना प्रकट की है कि मलभूत पित्त मुख्यतः याकृत पित्त प्रतीत होता है। कफके प्रकरणमें कहा गया है कि कफजन्य अधिकांश रोग प्रसिद्ध स्थूल कफके कारण होते हैं। प्रस्तुत प्रकरणमें हम देखेंगे कि शरीरगत वायुकी प्राप्तिका एक स्रोत नासिका (श्वास द्वारा) होते हुए भी मुख्यतः रोगजनक होनेसे पक्वाशयमें उत्पन्न होनेवाले वायुका ही शास्त्रमें वात प्रकरण में विस्तार पूर्वक उल्लेख है। यह भी सम्भावना हम प्रकट कर आये हैं कि कदाचित् प्राकृत दशामें भी इन तीनों वात-पित्त-कफोंका वात-पित्त-कफके अन्य भेदोंपर प्रभाव पड़ता हो।

यह तत्त्व सामने रखा जाय तो वात-पित्त-कफका स्वरूप समझनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी।

१—Hydrogen sulphide. २—Sulphurretted hydrogen.

३—Constipation is the ultimate cause of many, according to some of the majority of human ailments. *Handbook of Physiology, (31st edition) P. 511*

करता है। पूर्वंधृत चरक और सुश्रुतके वचनोंमें जो यह कहा है कि 'शरीरके समस्त रोगोंका मूल वायु है और वायुका सर्वोत्तम उपाय होनेसे बस्ति आधी किंवा सम्पूर्ण चिकित्सा है।' उसमें और आधुनिकोंके आनाह-विषयक उक्त मतमें अपूर्व साम्य है। आनाहके कारण दूषित वायुओंके अतिरिक्त अनेक विष[1] तथा जीवाणु भी उत्पन्न होते हैं। ये शरीरमें प्रसृत हो नाना रोगोंकी उत्पत्ति करते हैं। इस प्रक्रियाको निज विषप्रसर[2] (आयुर्वेदका आम-विष[3]) कहते हैं।

वातरोगोंका आधुनिकोक्त कारण—

वर्तमान विज्ञानके अनुसार वातिक रोगोंका कारण नाडियोंके विकार हैं। ये विकार कई प्रकारके हैं; यथा—नाडोदौर्बल्य[4], नाडीशोथ[5], सुषुम्णाशोथ[6] आदि। कई रोगियोंमें फिरङ्ग रोग[7] या चिरकाल सेवित सोमलके विषके कारण नाडीशोथ हो जाता है। आक्षेपक आदिमें इन दोनों कारणोंकी अवश्य मीमांसा करनी चाहिये। वृद्धोंमें सुधा (कैल्शियम) के सञ्चयके कारण शुद्ध रक्तवहाएँ खर हो जाती हैं, जिससे उनकी स्थितिस्थापकता न्यून हो जाती है। ऐसी दशामें यदि उनपर ब्लड-प्रेशर, मानसिक या शारीरिक श्रम आदिके कारण रक्तका अति भार आ पड़े तो मस्तिष्ककी सूक्ष्म वाहिनियाँ कभी-कभी फट जाती हैं। इनसे क्षरित रक्तका जिन अवयवोंके केन्द्रपर दबाव पड़ता है, उनमें संज्ञा तथा चेष्टा सम्बन्धी पक्षाघात आदि विकार पाये जाते हैं। ठण्ढ लगने आदिसे केशिकाओंके संकुचित होनेसे नाडीसूत्रोंमें रक्त अल्प जाता है, इस कारण तथा ठाढ आदिके नाडीसूत्रोंपर साक्षात् प्रभावसे भी नाडियोंमें शोथ होकर उनके रोग—शूल आदि—होते हैं। उदरशूल आध्मान, श्वास आदि कई विकार तो स्पष्ट ही अन्त्रगत दूषित वायुके अन्त्र, फुप्फुस आदि अवयवोंपर साक्षात् दबावके कारण अथवा प्रतिसंक्रमणके कारण होते हैं। बहुधा, इस सञ्चित वायुका उदर-गुहामें या उसके बाहिर होकर गुजरनेवाले नाडीसूत्रोंपर दबाव पड़ता है। इससे उन सूत्रोंसे अधिष्ठित जाँघ आदि अवयवोंमें पीड़ा होती है। कई बार पृष्ठवंशकी कोई कशेरुका स्थान-भ्रष्ट या शोथयुक्त हो किंवा उन्हें जोड़नेवाली तरुणास्थिमय गद्दीमें ये विकार हों तो उनका दबाव समीपसे निकलनेवाली नाडियोंपर पड़ता है। इससे उनमें शूलादि होते हैं। अमुक जीवनीयोंके अयोग या हीनयोगसे भी नाडियोंमें शोथ होता है। उदर-कृमियोंके कारण आक्षेप आदि अनेक वात-रोग होते हैं। वात विकारोंके हेतुओंका अर्वाचीन मतसे विस्तार चिकित्साग्रन्थोंमें देखना योग्य है। वात रोगोंके मूलभूत नाडीदौर्बल्य आदिका आयुर्वेद सम्मत कारण दूषित वायुका स्थूलान्त्रोंमें सञ्चित तथा वहाँसे शरीरावयवोंमें प्रसृत होना है।

स्मरण रहे, पक्वाशयगत वायु उक्त रीतिसे वातिक आद्य (प्रथम) कारण नहीं होता। वात प्रकोपक द्रव्य, सेवन किये जानेपर, शरीरावयवोंके स्वरूपमें विशिष्ट प्रकारके परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। दूषित वायु, पीछेसे, इन अवयवोंको वातिक रोगोंसे आक्रान्त करते हैं। इन परिवर्तनोंका निरूपण इसी अध्यायमें आगे होगा।

इस दूषित वायुके अतिरिक्त, वायुके आवरणसे भी आयुर्वेदमें वातिक रोगोंकी उत्पत्ति मानी गयी है। यह आवरण कफ या पित्तसे किंवा रक्त, मांस आदि धातुओंमें किसीसे अथवा एक वायुसे ही अन्य वायुका हो सकता है। आवरणोंका उल्लेख पिछले अध्यायमें किया जा चुका है।

१—Toxins—टौक्सिन्स। २—Auto-intoxication—ऑटो-इण्टौक्सिकेशन।
३—स्मरण कीजिये पूर्व-धृत—'अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत्—च० चि० १५।४३'
४—Neurasthenia—न्यूरैस्थीनिया। ५—Neuritis—न्यूराइटिस।
६—Myelitis—मायलाइटिस। ७—Syphilis—सिफिलिस।

बहिश्चर और शरीरचर वायु एक और अभिन्न कैसे हैं ?—

३८ वें अध्यायमें कह आये हैं कि आयुर्वेद मतसे बहिश्चर तथा शरीरचर दोनों वायु एक और अभिन्न हैं और बहिश्चर वायु ही शरीरचर वायुका कारण है। (उसी प्रकार जैसे समुद्र-जल तथा पृथिवीस्थ जल एक और अभिन्न हैं, तथा सामुद्र जलका ही एक अङ्ग पृथिवीस्थ जल है।) विविध वात विकारोंका कारणभूत, शरीरचर प्रकुपित वायु निश्चित ही बहिश्चर वायु है, यह अभी किये विवेचनसे स्पष्ट होगा। पक्वाशयमें जो दूषित वायु उत्पन्न होते हैं, वे बाहिर वातावरणमें भी सर्वदा रहते हैं। प्रयोगशालाओंमें भी इनका बनाना सुकर है। अस्तु, अब प्रसङ्ग है कि हम विचार करें कि शरीरचर प्रकृतिभूत वायु भी दूषित वायुके समान बहिश्चर वायु ही है।

हैलीबटन और मैकडौवल अपने तन्त्रमें कहते हैं—'यह सत्य है कि ज्ञान और चेष्टासे वेगोंका वहन नाडियों द्वारा होता है, तथापि इस बातके प्रमाण हैं कि नाडियोंकी क्रिया भी उनके अन्दर होनेवाली रसायनिक क्रियाओंपर अवलम्बित है ; और ज्यों ही इन्हें ओषजनसे वञ्चित कर दिया जाता है, त्योंही उनमें वेगोंके वहनकी क्रिया नष्ट हो जाती है[१]।'

अन्यत्र वही पण्डित लिखते हैं—'ओषजनकी शरीरको, विशेषतः नाडीमण्डलको, अनवरत आवश्यकता है। इसका प्रयोजन कार्बोहाइड्रेटोंका ज्वलन है[२]।'

'चैतन्यके कारणोंमें प्रथमावश्यक ओषजन है। बाहुपाश, रज्जुपाश[३] आदिमें मस्तिष्कको ओषजन दुर्लभ हो जाता है। यह प्रक्रिया यदि अल्पकाल रहे तो मूर्च्छा होती है, चिरकाल रहे तो मृत्यु[४]।'

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि शरीरमें होनेवाली ज्ञान-कर्मात्मक क्रियाओंका मूल यद्यपि नाडी-संस्थान है, तथापि उसका भी मूल ओषजन है।

ओषजनके अतिरिक्त कार्बनिकाम्ल वायु भी शरीरकी जीवनी क्रियाओंका प्रवर्तक है। २३ वें अध्यायमें हम देख आये हैं कि मस्तिष्कमें अन्य केन्द्रोंके समान श्वास-संस्थान, हृदयगति तथा रक्तवाहिनियोंके सङ्कोच-विकास[५] के केन्द्र होते हैं। ये केन्द्र अपनी नाडियों द्वारा अपने-अपने अवयवोंको प्रेरणा देते रहते हैं। परन्तु इन केन्द्रोंको भी अङ्गराम्ल (कार्बन डाइऑक्साइड) वायु प्रेरणा या उत्तेजना देता है।

इन महत्वपूर्ण क्रियाओंका निमित्त होनेसे शरीरमें ओषजनकी अपेक्षया अङ्गाराम्ल प्रमाण भी अधिक रहता है। एवं, ओषजन और अङ्गाराम्ल नाडीसंस्थानकी क्रियाओंके मूल कारण हैं। इम

१—At the same time it should be said that there is evidence, which suggests that the conduction may be a physical process superimposed on a vital structure, the nerve, which, however, ceases to conduct as soon as the chemical processes on which, its vitality depends are interfered with, e. g. if it is deprived of oxygen. *Handbook of Physiology, (31st edition) P, 133*

२—Oxygen is a constant requirement of the body, specially of the nerve tisses and such oxygen is required to burn carbohydrates. *Handbook of Physiology, (31st edition), P. 517*

३—बाहु या फन्देसे दम घोटना—प्राचीन नाम हैं।

४—*Handbook of Physiology, 31st edition P. 722.*

५—ध्यान रहे, रक्तवाहिनियोंके संकोचविकासके कारण ही रुधिर शरीरमें फैलता है।

जानते हैं कि ये वायु सर्वदा बाह्य वायुमण्डलमें रहते हैं, और श्वास द्वारा शरीरके धातुओंको—विशेषतः नाडीसंस्थानको—प्राप्त होते हैं।

किं बहुना, बाह्य वायुका जो आत्मा वा स्वरूप है, वही शरीरान्तर्गत वायुका भी है[1]। यह आयुर्वेदका सिद्धान्त है। ऊपर प्रदर्शित किये आधुनिक मतकी तथा आयुर्वेदके इस सिद्धान्तकी तुलना करनेसे आयुर्वेदके सिद्धान्तकी यथार्थता परिस्फुट होगी।

दत्तादत्त अनेक प्रमाणोंसे सिद्ध है कि आयुर्वेदोक्त मलभूत वायु पक्वाशयगत वायु है, जो वात रोगोंका प्रधान कारण है। परन्तु प्रसादभूत वायु (ओषजन) भी यदि शरीरमें योग्य प्रमाणसे न्यून वा अधिक हो जाय, तो मलसंज्ञक होता है। अन्य प्रसादभूत धातुओंके विषयमें भी यही नियम है[2]। ओषजनकी न्यूनतासे उत्पन्न लक्षण श्वास प्रक्रियाके प्रकरणमें जता आये हैं। अधिकता के लक्षण, उच्छ्वास और निःश्वासमें वायुओंका प्रमाण आदि विषय गुरुमुखसे जानने चाहिये।

अन्यत्र आयुर्वेदमें स्पष्ट कहा है कि 'वायु एक ही है। केवल स्थान, कर्म, रोग और नामोंके भेदसे उसके पाँच भेद किये जाते हैं[3]।' यह एक वायु विविध वायुओंका मिश्रणभूत बाह्य वायु ही है। वायुमण्डल (अन्तरिक्ष) में यद्यपि अनेक वायु हैं, तथापि शास्त्र और लोकमें उनका एक संख्यासे व्यवहार प्रसिद्ध है। नाडीसंस्थानके विविध अवयवोंके पृथक्-पृथक कर्म परीक्षाओंसे सुविदित हैं। इन अवयवोंके कर्म-भेदके कारण उनमें उपस्थित, उनकी क्रियाओंका प्रवर्तक वायु भी एक होता हुआ भी प्राण आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है[4]।

इस विषयमें इतना स्मरण रखना चाहिये कि नर्वस-सिस्टम या नर्व-इम्पल्सको वायु नहीं कहा जा सकता। इनके प्रवर्तक द्रव्यविशेषको भी किसी हदतक हो वायु कहा जा सकता है। कारण, प्राणि-शरीरका प्रत्येक कोष स्वयं उसी प्रकार चैतन्यके लक्षणोंसे युक्त होता है, जैसे नर्वस-सिस्टमके अधीन समस्त शरीरपर उसकी (पृथक् कोषकी) क्रिया नर्वस-सिस्टमके अधीन नहीं होती—स्वयमुद्भूत होती है। अथच, एक कोषीय अथवा कई अनेक कोषीय प्राणियों तथा सभी स्थावरोंमें नर्वस-सिस्टम नहीं होता, तथापि उनमें चैतन्यके लक्षण वैसे ही पाये जाते हैं—जैसे नर्वस-सिस्टमसे ऊन्वित प्राणियोंमें। अतः वायुकी नव्यमतानुसार व्याख्या नर्वस-सिस्टमको अलग रखते हुए ही करनेका प्रयास होना चाहिए।

वातके कोपक-शामक रस—

कटुतिक्तकषाया वातं जनयन्ति, मधुराम्ललवणास्त्वेनं शमयन्ति ॥ च० वि० १।६

१—स्मरण कीजिये—तत्र वायोरात्मैवात्मा ॥ सु० सू० ४२—५ इत्यादि प्रमाण।

२—देखिये पृ० ६२—६३।

३—देखिये—३८वें अध्यायमें उद्धृत 'यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः। भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः॥' सु० नि० १।११

४—बाह्य वायुके शरीरयन्त्रपर अपूर्व प्रभावके ज्ञानके लिये स्वरोदयशास्त्रका भी अनुशीलन करना चाहिये। उसमें एक या दूसरे नासिकारन्ध्रसे होनेवाले श्वाससञ्चारसे ही भावी जय-पराजय, लाभ-अलाभ, सिद्धि-असिद्धि आदिका निरूपण होता है। इसके अतिरिक्त स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्यकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और भिन्न-भिन्न कालोंमें यह स्वर बदलता भी रहता है। अर्वाचीन वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा स्वरोदयके सिद्धान्तकी सत्यता सिद्ध की जा सके तो इस महान् शास्त्रका उपकार होगा ही, साथ ही आयुर्वेदमें वायुका जो स्वरूप और कर्म प्रतिपादित किया गया है, उसकी यथार्थता भी और अधिक प्रमाणित होगी, इसमें सन्देह नहीं। अधिकारी पुरुषोंको इस विषयमें अनुसंधान करना चाहिये।

स्वाद्वम्ललवणा वायुं (जयन्ति)………।
कटुतिक्तकषायाश्च कोपयन्ति समीरणम् ॥ च० सू० १।६६-६७
मधुराम्ललवणा वातघ्नाः ॥ सु० सू० ४२।४

कटु, तिक्त और कषाय ये तीन रस वायुको कुपित करते हैं। मधुर, अम्ल और लवण रस उसे शान्त करते हैं।

वातका प्रकोप और प्रशमन करनेवाले द्रव्यों और उनकी क्रियाका स्वरूप—

वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुषिरकराणि शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते; वातप्रशमनानिपुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्ण-मृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणां, तथाविधेषु शरीरेषु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते॥ च० सू० १२।७

एतेनैतदुक्तं भवति—यद्यपि वायुना वातकारणानां वातशमनानां वा तथा सम्बन्धो नास्ति, तथाऽपि शरीरसम्बद्धैस्तैर्वातस्य शरीरचारिणः सम्बन्धो भवति ॥ —चक्रपाणि

जो द्रव्य वायुके प्रकोपक होते हैं, वे शरीरमें वायुकी साक्षात् अभिवृद्धि नहीं करते। वे जानो वायुके प्रकोप और संश्रयके लिये उचित भूमिका तय्यार करते हैं। अर्थात्, उनके सेवनसे शरीरमें प्रथम रूक्षता, लघुता, शीतता, कठिनता, खरता, विशदता और शुषिरता[१] उत्पन्न होती है। वायु शरीरमें विचरण करता हुआ जब इस अवस्थाको प्राप्त अङ्गोंमें पहुँचता है, तो स्वभावतः उसका प्रकोप (विकारोत्पादनका सामर्थ्य) होता है।

वातकी उपशान्ति करनेवाले द्रव्य भी इसी प्रकार परम्परया[२] वायुको शान्त करते हैं, साक्षात् नहीं। अर्थात्, वे शरीरमें पहुंचकर अङ्गोंमें स्निग्धता, उष्णता, श्लक्ष्णता, मृदुता, पिच्छिलता और घनता (अशुषिरता) लाते हैं। ऐसे अङ्ग वायुके आश्रय और प्रकोपके अनुकुल नहीं होते। परिणाम-स्वरूप, इनमें संचरण करता हुआ वायु स्वयं शान्त (विकारोत्पत्तिमें असमर्थ) हो जाता है।

वायुके प्रकोप और प्रशमनका यह स्वरूपनिर्देश पक्वाशयकी कला द्वारा दूषित वायुके चूसे जाकर अङ्ग-प्रत्यङ्गमें संचार, वृद्धि और वातविकारोंकी उत्पादकताकी उत्तम व्याख्या करता है। वाचक ध्यान दें।

वायुके जनक-शामक भूत—

भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः।
वियत्पवनजाताभ्यां वृद्धिमभ्येति मारुतः॥ सु० सू ४१।७-८

महाभूतोंकी दृष्टिसे कहना हो तो जो द्रव्य पृथिवी, अग्नि और जलकी अधिकतावाले होते हैं, वे वायुशामक हैं तथा जिनकी उत्पत्ति आकाश और वायुसे होती है, वे वायुकी वृद्धि करते हैं।

वातशामक द्रव्य और जीवनीय बी—

आधुनिक विज्ञानमें जिन द्रव्योंको जीवनीय बी का आश्रयभूत कहा जाता है, वे वायुके शामक

१—छिद्रयुक्तता ; अर्वाचीन भौतिकशास्त्रकी परिभाषामें घनत्व (Density—डेन्सिटी) की न्यूनता, जिसके कारण पदार्थका आयतन विपुल होते हुए भी वह हलका होता है।

२—Indirectly—इनडाइरेक्टली।

कहे जा सकते हैं। ये द्रव्य नाडियोंको शक्ति प्रदानकर समस्त शरीरको पुष्ट, बलवान् और कार्यक्षम बनाते हैं। १४ वें अध्यायमें कहे जीवनीय बी के कार्यों तथा आश्रय द्रव्यका निरीक्षण करनेसे यह बात स्पष्ट होगी। परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य भी द्रव्य वात-शामक हैं ही।

वात-संशमन वर्ग—

भद्रदारुकुष्ठहरिद्रावरुणमेषशृङ्गीबलातिबलार्त्तगलकच्छुराशल्लकीकुबेराक्षीवीरतरुसहचराग्निमन्थवत्सादन्येरण्डाश्मभेदकालर्कार्कशतावरीपुनर्नवावसुकवशिरकाञ्चनकभार्गीकार्पासीवृश्चिकाली[1]पत्तूरबदरयवकोलकुलत्थप्रभृतीनि विदारिगन्धादिश्च द्वे चाद्ये पञ्चमूल्यौ समासेन वात संशमनो वर्गः॥
सु० सू०३९।७

देवदारु, कूठ, हल्दी, वरुण, मेढासिंगी, बला, अतिबला, आर्त्तगल (अर्जुन या नील पियावासा), कवाँच, सल्लकी, पाटला, वीरतरु, पियावासा, बड़ी अरणी, गिलोय, एरण्ड, पाषाणभेद, श्वेत आक, आक, शतावर, पुनर्नवा, श्वेत पुनर्नवा, सूर्यमुखी, धतूरा, भारंगमूल, वनकपास, बिछुआ, कुचन्दन, बेर, जौ, झड़बेर, कुलथी आदि, विदारिगन्धादि गण (विदारिगन्धा, शालपर्णी, विदारी, नागबला, महाबला, गोखरू, पृश्निपर्णी, शतावरी, सारिवा, कृष्णसारिवा, जीवक, ऋषभक, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, दोनों बड़ी कटेरी—बड़े तथा चने जितने फलवाली, पुनर्नवा, एरण्ड, हंसपादी, बिछुआ, कवाँच), लघुपञ्चमूल (गोखरू, कटेरी, बड़ी कटेरी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी), बृहत् पञ्चमूल (बिल्व, अरणी, श्योनाक, पाटला, गंभारी)—ये संक्षेपमें वात-संशमन द्रव्य हैं।

इस वर्गमें कुचला, वत्सनाभ आदि उद्भिदों, सोमल आदि खनिज द्रव्यों तथा मृगशृङ्ग आदि जाङ्गम द्रव्योंका भी समावेश करना चाहिये।

१—वृश्चिकाली का अर्थ युग्मफला (गुजराती—चमार दुधेली) भी किया जाता है।

छियालीसवां अध्याय

वात-पित्त-कफका सामान्य परिचय

पिछले अध्यायोंमें वात-पित्त-कफ-सम्बन्धी शास्त्रोक्त सम्पूर्ण सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया है। स्थान-स्थानपर उनका स्पष्टीकरण तथा आधुनिक विज्ञानकी संज्ञाओंमें व्याख्याका प्रयत्न भी किया गया है। अब अवसर है कि उन सबको दृष्टिमें रखते हुए थोड़ेमें वात-पित्त-कफका परिचय दिया जाय, जिससे पिछले अध्यायोंमें यत्र-तत्र बिखरे मन्तव्योंका सार-संग्रह भी हो जाय, साथ ही विद्यार्थियोंको वात-पित्त-कफके सम्बन्धमें सामान्य झाँकी भो हो जाय, जिससे वह शास्त्रोक्त वचनोंको सरलतासे समझ सके। अगली पंक्तियोंमें वात-पित्त-कफका स्वभाषामें सामान्य परिचय दिया जाता है।

हम संसारका कोई भी कार्य देखें, उसकी उत्पत्ति तथा स्थितिमें तीन पदार्थ अवश्य पाये जायेंगे—(१) उसके उत्पादन और स्थितिमें भाग लेनेवाली सामग्री, (२) उस सामग्रीको यथायोग्य उपयोगके अनुकूल बनानेवाला, (३) उस कार्यका सञ्चालन तथा नियन्त्रण करनेवाला। यह संभव है कि कभी-कभी दो कार्य करनेवाला एक ही हो, परन्तु यह निश्चित है कि प्रत्येक कार्य-द्रव्यकी उत्पत्ति स्थिति इन्ही तीनपर अवलम्बित है। अपने चारों ओरके पदार्थोंमें—यथा किसी भवनका निर्माण, वस्त्र या घड़ेकी रचना आदिमें—हम इस सचाईको स्पष्ट देख सकते हैं।

हमारे शरीरकी उत्पत्ति और स्थिति (स्थिति=कार्य और जीवन) में भी यही त्रिविध पदार्थ आवश्यक हैं। शरीरको प्रथम आवश्यकता ऐसे पदार्थकी है जो इसकी उत्पत्ति, पुष्टि और सर्वदा होनेवाली क्षतिकी पूर्तिका कार्य करे। शरीरके लिये दूसरी आवश्यकता ऐसे पदार्थ की है, जो उक्त सामग्रीको शरीरके अनुरूप बनानेके लिये उसमें यथायोग्य परिवर्तन करे। शरीरको तीसरी आवश्यकता ऐसे पदार्थकी है, जो उक्त दोनों प्रकारके पदार्थोंके प्रमाण तथा उनके कार्यका नियन्त्रण और सञ्चालन करे।

इस शरीर-यन्त्रमें उक्त तीनों प्रकारके कार्य जिन पदार्थोंसे होते हैं, उन्हें वैद्यकीय परिभाषामें क्रमशः कफ-पित्त तथा वात कहा जाता है।

हम जानते हैं कि शरीर जिन असंख्यात सूक्ष्म परमाणुओं (कोषों[1]) का बना हुआ है उन्हें अपना-अपना प्रकृति द्वारा नियत किया गया कार्य करनेके लिये निरन्तर पोषक तथा क्षति-पूरक द्रव्योंकी आवश्यकता हुआ करती है। यद्यपि स्थूल दृष्टिसे ये कार्य रस-धातु[2] द्वारा सम्पन्न होते हैं, तथापि रसका भी जो सूक्ष्मांश शरीरपरमाणुओंके पोषण तथा पूरणका कार्य करता है, वह कफ कहाता है। इसके अतिरिक्त जो स्थूल या सूक्ष्म पदार्थ इनकी इस क्रियामें सहायक होते हैं, उन्हें भी कफ कहा जाता है। यह कफ शरीरपरमाणुओंका पोषण तथा पूरण करनेके अतिरिक्त उनमें स्नेहन तथा बल-प्रदान (श्रम एवं रोग-हरणकी शक्ति) भी करता है। साथ ही यदि यह योग्य प्रमाणमें हो तो आगे कहे जानेवाले पित्त द्वारा शरीरपरमाणुओंका अत्यधिक क्षय (विनाश-ह्रास) होनेसे एवं इसी स्नेहके कारण वातिक विकृतियोंसे भी बचाव होता है।

पोषण और क्षति-पूरणके लिये शरीरपरमाणुओंको जो कफ नामक सामग्री प्राप्त होती है, उसमें

1—Cells—सेल्स। 2—Lymph & Plasma—लिम्फ एण्ड प्लाज्मा।

शरीरपरमाणुओंके योग्य परिवर्तन करनेका कार्य जिस पदार्थसे होता है, उसे पित्त कहते हैं। पित्तका यह कार्य पाचन कहाता है। पित्तकी इस क्रियाके साथ स्वभावतः ताप या उष्णताकी भी उत्पत्ति होती है।

शरीरमें तृतीय कार्य अर्थात् कफ और पित्तको यथास्थल पहुंचाने और उनके नियन्त्रणका कार्य जिस पदार्थसे होता है, वह पदार्थ वायु कहाता है।

शरीरपरमाणुओंमें जिस प्रकार कफ-पित्त-वातके उक्त कार्य देखे जाते हैं, उसी प्रकार उनसे बने यकृत्—फुप्फुस आदि प्रत्येक अङ्गों अथवा शिर-शाखा-मध्य-काय इन छः अङ्गोंमें भी देखे जाते हैं।

नव्य परिभाषामें कहना हो तो नाडीसंस्थान[1] जिन विविध वायुओं (अथवा तत्सदृश अन्य द्रव्यों) की विद्यमानताके कारण अपना कार्य समुचित रूपसे कर सकता है, वे सब वायु इस एक श्रेणीके अन्तर्गत हैं।

मुख, जठर तथा शरीरपरमाणुओंमें जो एन्जाइम आदि पाचक द्रव्य आहारको रसके रूपमें एवं रसको रक्त आदि धातुओंके रूपमें परिवर्तित कर शरीरके उपयोगके योग्य बनाते हैं वे सब पित्त इस एक नामसे कथित हैं।

जो द्रव्य शरीरपरमाणुओंमें स्नेहन, पोषण और बल-प्रदानका कार्य करते हैं—वे सब अणु-श्लेष्मा[2], प्रोटीन, लिपॉयड[3] नामक स्नेह, संधिगत-श्लेषक कफ[4], तर्पक कफ[5] आदि कफ वर्गके अन्तर्गत हैं[6]।

इस विवरणसे स्पष्ट है कि वात, पित्त और कफ अनेकानेक द्रव्योंके वर्ग या श्रेणी हैं। ये तीनों केवल एक-एक पदार्थके नाम नहीं है। ऊपर इनकी प्राकृतिक कार्योंमें समानताका उल्लेख किया गया है। वास्तवमें तो ये शरीरमें रहकर सम तथा विषम दोनों ही अवस्थाओंमें परस्पर समान कार्य करनेवाले एवं समान ही आहार-विहार, औषध द्रव्य एवं समान ही ऋतु आदि कालवश प्रकोप या शान्तिको प्राप्त होनेवाले अनेकानेक द्रव्य हैं। यह बात आयुर्वेदके उपलब्ध ग्रन्थोंमें नहीं प्राप्त होती। परन्तु हरिवंश पुराणके एक वचनसे विदित होती है। वह वचन यह है :—

कफवर्गे भवेत् शुक्रं पित्तवर्गे च शोणितम् ॥

इसमें कफ तथा पित्तको वर्ग रूप कहा गया है। इनके समान वातको भी वर्ग ही मानना चाहिये।

कफ-वात-पित्त अनेक-अनेक होते हुए भी प्रत्येक वर्गके शमन और प्रकोपके कारण तथा उनकी चिकित्सा एक ही होनेसे कार्यमें सुविधाको दृष्टिमें रख कर (क्रियात्मक दृष्टिसे) विभिन्न पदार्थोंको एक-एक वर्गके अन्तर्गत रख दिया गया है। यह क्रियात्मक दृष्टि आयुर्वेदके आचार्योंकी सर्वत्र थी—इसका एक अन्य उदाहरण मर्म-प्रकरणमें प्राप्त होता है। योग विद्याके तथा स्वयं आयुर्वेदके भी ग्रन्थोंसे विदित होता है कि प्राचीन भारतीयोंको शरीरका अच्छा सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त था तथा यौगिक सिद्धियोंके रूपमें उसका सर्वोच्च उपयोग भी उन्होंने किया था। परन्तु एक शल्य चिकित्सकके लिये मर्मोंका ज्ञान ही पर्याप्त होनेसे उन्हींका वर्णन वैद्यकमें किया गया है।

१—Nervous System—नर्वस सिस्टम। २—Intercellular material

३—Lipoid. ४—Synovial fluid—सायनोवियल फ्लुइड।

५—Cerebrospinal fluid—सेरिब्रोस्पाइनल फ्लुइड।

६—प्राचीन आचार्योंने कफ-पित्त-वातकी इन क्रियाओंका विसर्ग, आदान और विक्षेप नामसे वर्णन किया है।

इसी प्रकार, योग तथा वेदमें वायुका स्थान (कार्यालय) स्पष्टतः मस्तिष्कका ऊर्ध्व भाग[१] कहा है, तथापि वैद्यकमें उपयोगकी दृष्टिको ही सामने रख कर उसके पक्वाशय आदि स्थान बताये गये हैं। मस्तिष्कको चैतन्यका स्थान कह कर भी हृदयको ही चेतनाका स्थान कहनेमें भी भारतीयोंकी यही दृष्टि थी। अस्तु।

पूर्वोक्त कार्योंके संपादनके लिये शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-स्थूल अवयवमें[२] वात-पित्त-कफकी स्थिति अनिवार्य है, यह उक्त वर्णनसे स्पष्ट है। आयुर्वेदमें भी यह बात स्वीकार की गयी है—सर्वशरीरचरास्तु वात-पित्त-श्लेष्माणः। सभी स्रोत इनके स्रोत कहे गये हैं।

तथापि इन दोषोंके कुछ-कुछ मर्यादित स्थान कहे गये हैं। दोषोंके पाँच-पाँच भेदोंका वर्णन करते हुए जो स्थान कहे गये हैं—उसका अर्थ यह है कि वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय नाना पदार्थोंकी प्राकृत क्रिया[३] इन स्थानों पर विशेष होती है—यद्यपि ये सबके सब द्रव्य सारे शरीर और स्रोतोंमें व्याप्त हैं। वर्णनकी सुविधाके लिये आचार्योंने इन स्थानोंके दोषोंको अलग-जैसा मान कर उनके अलग नाम भी रचे हैं।

इसके अतिरिक्त दोषोंके पाँच-सात स्थान बताये जाते हैं। उसका आशय यह है कि वातादि दोष जब कुपित होते हैं तो वास्तवमें तो शरीरके किसी भी भागमें रोगोत्पत्ति कर सकते हैं, पर इन निर्दिष्ट स्थानोंमें ही उनसे उत्पन्न रोग अधिकतया पाये जाते हैं। जैसे—यह सुविदित है कि वातका एक लक्षण शूल है। परन्तु यह लक्षण कटि और जङ्घामें विशेष करके पाया जाता है। 'कमर दुखना, पैर टूटना' ये शिकायतें चिकित्सकवर्गके सामने प्रायः आती हैं। इसी प्रकार अन्य दोषोंके विषयमें भी जान सकते हैं।

इसके अलावा—प्रत्येक दोषका केवल एक-एक स्थान बताया गया है। उसका अर्थ यह कहा गया है कि दोष जब संचित होते हैं तो इन्हीं स्थानोंपर। इसके पश्चात् उनकी अधिक वृद्धि होनेपर यहींसे उनका प्रसर (संचार-फैलावा) होकर विभिन्न भागोंमें रोगोत्पत्ति होती है। एवं वृद्धिकी किसी भी दशामें दोषोंको नष्ट करना हो तो वमन आदि संशोधन द्वारा इसी एक-एक स्थानसे उनका उच्छेद कर देना चाहिये।

प्रत्यक्ष देखनेसे यह विदित होता है कि वमन द्वारा आमाशय और फुप्फुससे जो द्रव्य निकलता है वह प्रसिद्ध कफ या बलगम[४] है। विरेचन द्वारा गुदामार्गसे जो निकलता है वह प्रसिद्ध पित्त[५] है। तथा बस्ति द्वारा गुदासे जो वायु निकलता है, वह कार्बनिकाम्ल, सल्फ्यूरेटेड हाइड्रोजन[६] आदि गैसें हैं। शरीरके विभिन्न अवयवोंमें वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय जो विभिन्न द्रव्य पाये जाते हैं वे पक्वाशय आदिमें संचित होते हों तथा उनका बस्ति आदि द्वारा उच्छेद होता हो यह बात प्रत्यक्षमें देखनेमें नहीं आती। तथापि हम देखते हैं कि इन उपायोंसे अन्यत्र स्थित वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक रोग नष्ट होते हैं। तथा—वैद्य लोग भी उक्त बलगम, खट्टे-तीखे-कड़ुवे पित्त तथा अधोवायुको देखकर ही रोगका निर्णय करते तथा तदनुसार चिकित्सा करते हुए इन्हीको शान्त—न्यून—भी करते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि सम्भव है कि इन वात-पित्त और कफकी वृद्धि और रक्तानुधावन द्वारा अन्यत्र पहुँचनेसे अन्य स्थानोंके वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय द्रव्योंमें वृद्धि होती है। दूसरा अनुमान यह होता है लि अन्य स्थानोंमें स्थित

१—Cortex—कोर्टेक्स। २—Cells & Organs—सेल्स एण्ड ऑर्गन्स।
३—Physiological function—फिज़ियोलॉजिकल फंक्शन। ४—Mucus—म्युकस।
५—Bile—बाइल। ६—Carbon dioxide, Sulphuretted Hydrogen.

वातवर्गीय, पित्तवर्गीय तथा कफवर्गीय द्रव्य जब वृद्धिको प्राप्त होते हैं तो रक्त द्वारा सञ्चरित होते हुए महास्रोतसमें स्थित अपने-अपने स्थानोंपर आकर रासायनिक क्रियासे क्रमशः विभिन्न गैसों, खट्टे कड़ुए प्रसिद्ध पित्त तथा बलगमके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। यह भी संभव है कि, अन्य वात, पित्त, कफ तो अप्रत्यक्ष होनेसे दृष्टिगोचर नहीं होते, पर अपने वर्ग के इन प्रत्यक्ष भाई-बन्दोंके रूपमें ही समता, वृद्धि और क्षय तीनों दशाओंमें जाने जाते हों। अर्थात् ये द्रव्य अपने वर्गके सिगनलका कार्य करते हों। अतः, व्यवहारमें इन तीन द्रव्योंको ही लक्ष्यमें रखकर शास्त्रमें विचार किया गया हो। जो भी हो, यह निश्चित है कि दोषोंके सञ्चय-प्रकोपमें इन गैसों, खट्टे-कड़ुए पित्त तथा बलगमका विशिष्ट स्थान है।

आहारके अवस्था पाकोंमें क्रमशः जो कफ-पित्त-वात उत्पन्न होते हैं वे बहुधा उक्त बलगम, खट्टा, तीखा पित्त तथा गैस ही होते हैं। सम्भव है—इनकी वृद्धिका भी शरीरमें अन्यत्र स्थित कफ-पित्त-वात पर इसी प्रकार प्रभाव पड़ता हो। अपने-अपने प्रकोपके कारणोंसे शरीरके सभी अंगोंमें स्थित सभी वातवर्गीय पित्तवर्गीय, तथा कफवर्गीय द्रव्योंका एक साथ प्रकोप होता है तथा शामक आहारौषध द्रव्यों तथा विहारसे एक साथ सभी द्रव्योंका समान रूपसे शमन होता है।

नवीन विज्ञान इन विषयोंमें—अर्थात् बलगम, खट्टे-कड़ुए प्रसिद्ध पित्त तथा गैसोंके उक्त कार्योंके विषयमें—हमारा साथ नहीं देता। तथापि एक खट्टे-कड़ुए पित्तके सम्बन्धमें नवीन अन्वेषण हमारी कुछ सहायता करते हैं। आजकल इस पित्तके अधिष्ठान यकृत्के जो कार्य विदित हुए हैं, तथा चिकित्सामें यकृत्के उपयोगका प्रचार जैसा बढ़ता जा रहा है, उसे देखनेसे सिद्ध होता है कि आयुर्वेदमें इस पित्तका जो स्थान कहा है, वह मिथ्या नहीं है। वास्तवमें तो वात-पित्त-कफके सञ्चय-प्रकोपके विषयमें आयुर्वेदोक्त मतकी सत्यता इसी बातसे सिद्ध है कि वैद्य लोग इन्हींको दृष्टिमें रखकर निदान-चिकित्सा करते हैं।

प्रसङ्गसे एक बातकी ओर ध्यान आकृष्ट करना योग्य है। उक्त तीनों रोगजनक वात-पित्त-कफका अधिष्ठान महास्रोतमें ही है। यहींसे उसका उच्छेद भी करना चाहिये, यह वैद्यक मत है। आधुनिक प्राकृतिक चिकित्सकोंने भी इसी मतपर बहुत जोर दिया है। आशय यह है कि आयुर्वेदकी चिकित्सा पद्धति, सच पूछा जाय तो, पूर्णतया प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति है।

प्रकृति—

मनुष्योंका मानसिक तथा शारीरिक स्वभाव, गुण-अवगुण वैद्यकीय संज्ञामें कहना हो तो प्रकृति इन्हीं वात-पित्त-कफपर आश्रित है। गर्भाधानके समयसे ही सन्तानके शरीरमें माता-पिताकी ओरसे वारसेके रूपमें पित्तवर्गीय, कफवर्गीय या वातवर्गीय द्रव्योंकी स्वभावतः अधिकता अथवा उनके उत्पादक अवयवोंकी अधिक क्रियाशीलता देखी जाती है। इसके कारण मनुष्योंकी शारीरिक और मानसिक प्रकृतिमें भी भिन्नता होती है। प्रत्येक पुरुषमें अमुक-अमुक दोषकी स्वाभाविक अधिकताके कारण उसमें उस-उस दोषसे उत्पन्न होनेवाले रोग भी अधिक पाये जाते हैं।

ओज—

आयुर्वेदका सुप्रसिद्ध ओज वस्तुतः कफवर्गीय द्रव्य है। परन्तु इसके विशेष कार्य होनेसे इसका पृथक् परिगणन किया गया है। यह ओज भी दो प्रकारका है—प्रधान तथा अप्रधान। प्रधान आधुनिकोंका वृषण तथा अन्तःफल ग्रन्थियोंका अन्तःस्राव प्रतीत होता है तथा अप्रधान आधुनिकोंकी द्राक्षा-शर्करा या ग्लाइकोजन है। इस विषयका विस्तार ग्रन्थमें ही आ चुका है।

दोषोंके प्रकोपके लक्षण तथा कारण

सुखस्मरणार्थ पद्यमाला

यद्यपि चरक-सुश्रुत मतसे तीनों दोषोंके प्रकोपके लक्षण तथा उनके कारण पिछले अध्यायोंमें दिये जा चुके हैं, तथापि इन वस्तुओंके सुखस्मरणके लिये वैद्य-सम्प्रदायमें कुछ पद्य प्रचलित हैं। इस दृष्टिसे उपयोगी होनेसे ये पद्य नीचे दिये जाते हैं—

दोष प्रकोपके कारण—

व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद् भङ्गात् क्षयाज्जागराद्
वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः।
रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्
वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्नेऽपि च॥
कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातप-
स्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः।
भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां
मध्याह्ने च तथार्धरात्रसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥
गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः।
तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते॥

—तीसटाचार्य[1]

अति शारीरिक या मानसिक श्रम, अपतर्पण (सर्व प्रकारके लङ्घन), गिरना, अस्थि आदिका भङ्ग या च्युति; किसी दोष, धातु या मलकी क्षीणता, क्षुधा-पिपासा-मल आदिके वेगोंका निरोध, अति शोक, ठण्ढ, अति भय, चिन्ता, रूक्ष, कषाय, तिक्त, कटु आहारौषध द्रव्योंका सेवन—इन कारणोंसे तथा वर्षा ऋतु, अपराह्न (दिनका पिछला प्रहर), (पिछली रात) तथा भोजन पचनेके पश्चात्—इन कालोंमें वायु का प्रकोप होता है।

कटु, अम्ल, लवण, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण द्रव्यों, यथा—तिल, अलसी, दही, सुरा, सिरका, कांजी, अचार आदिका सेवन; क्रोध, उपवास, धूप, मैथुन—इन कारणोंसे तथा शरद और ग्रीष्म ऋतु, भोजनकी पच्यमान दशा, मध्याह्न और मध्यरात्रि—इन कालोंमें पित्त का प्रकोप होता है।

गुरु, मधुररस, अति स्निग्ध तथा द्रव द्रव्यों—यथा दूध और ईखके रसके बने खाद्य पदार्थ, दही, घीमें बने मालपूए आदि पक्वान्न, दिनमें शयन इन कारणोंसे; वसन्तऋतु, हेमन्त (या जब भी ओस पड़े), दिवस (तथा रात्रि) का आदि भाग और भोजनके पश्चात् कुछ काल—इन कालोंमें कफ का प्रकोप होता है।

दोष-प्रकोपके लक्षण—

आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः
कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः।१।

१—तीसटाचार्य लघु वाग्भटके पुत्रके रूपमें आयुर्वेदके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। उक्त पद्य आपकी चिकित्सा कलिकामें आये हैं।

पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा
विस्पन्दोद्वट्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥ 2॥
नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षौ
विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च ॥ 3॥
वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसंगा ।
विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च ॥4॥
विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपनं स्वेदस्त्रिमूर्च्छनं
दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ ॥ 5॥
ऊष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा
वर्णः पाण्डुविवर्जितः कथितता कर्माणि पित्तस्य वै ॥
तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम् ।
स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च ॥
चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू ।
वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥
द्विदोषलिङ्गः संसर्गः संनिपातस्त्रिलिङ्गजः ॥ —सुदान्तसेन

आध्मान (अफारा), स्तम्भ (अङ्ग स्थिर हो जाना), रूक्षता, त्वचा आदिका फटना, विमथन (शरीरके मथे जानेका-सा अनुभव), क्षोभ (मनकी अस्थिरता) कम्पन, तोद (सुई चुभनेकी-सी व्यथा), कण्ठोद्ध्वंस (स्वर-विकार), अवसाद (शरीरमें शिथिलता, मान्द्य), श्रम, प्रलाप, स्रंस (सन्धि-शैथिल्य), शूल, भेद (फटनेकी-सी प्रतीति), परुषता (त्वचा आदिकी खरता), कर्णनाद, विषमाग्नि, भ्रंश (सन्धि-विच्युति), तम (आँखके आगे अन्धेरा छाना), स्पन्दन (अङ्गोंका किंचित् कम्पन), उद्घटन (अङ्गोंमें कूटने-पीटनेका-सा अनुभव), ग्लानि (हर्षका अभाव), अनिद्रा, ताड़न, पीडन (अङ्गके मारे जाने या दबाये जानेकी-सी प्रतिति), नाम, उन्नाम (अङ्ग या सारे शरीरके झुकाये जाने या उठाये जानेकी प्रतीति अथवा नाम=शरीर आगे नत हो जाना), विषाद (हतोत्साहता), भ्रम, पात (चक्कर खाकर गिर पड़ना), जृम्भा, रोमाञ्च, विक्षेप, आक्षेप (अङ्ग या शरीर का इधर-उधर या ऊपर-नीचे पटकना), शोष (अङ्ग या शरीर सूखना), ग्रहण (कोई अङ्ग या शरीर जकड़ जाना), छिद्र होना, छेदन (काटे जानेकी प्रतीति), वेष्टन (मोड़े जानेकी प्रतीति अथवा वस्तुतः अवयव मुड़ जाना) ; त्वचा, मल, मूत्र आदिका वर्ण श्याव (सलेटी रङ्गका) या अरुण होना ; अति तृषा, सुप्ति (अङ्ग सो जाना), विश्लेष (अङ्ग जानो अलग पड़ गया हो ऐसी प्रतीति, अतः चेष्टानाश), संग (मल-मूत्रादिका अवरोध) ; मुख, मल, मूत्रादिका रस कषाय होना—ये कुपित हुए वायु के लक्षण हैं ।

विस्फोट (फोड़ा-फुन्सी), अम्लोद्गार, धूमोद्गार, प्रलाप, अति स्वेद, मूर्च्छा ; स्वेद, मुख, मल, मूत्र आदिमें दुर्गन्ध ; दरण (अवयव फट जाना), मद (नशा), विसरण (मल-मूत्र, पूय आदिका द्रव रूपमें तथा अतिस्राव), पाक (अन्नका शीघ्र पच जाना—तीक्ष्णाग्नि, तथा व्रणमें शीघ्र पूय बनना), अरति (बेचैनी), प्यास, भ्रम (चक्कर), ऊष्मा (शरीरमें गरमी प्रतीत होना या

शरीरकी उष्णता अधिक होना); अतृप्ति, तम (आँखके सामने अंधेरा छाना), दाह ; मुख, मल, मूत्र आदिमें कटु, अम्ल या तिक्त रस ; त्वचा-मल-मूत्रादिमें पीतवर्ण, क्वथितता (शरीरको स्वेदन कराया जा रहा हो ऐसी प्रतीति)—ये कुपित हुए पित्त के लक्षण हैं।

तृप्ति (खाये बिना भी तृप्तिका अनुभव), तन्द्रा, गौरव (शरीरमें भारीपनकी प्रतीति, किंवा भार—वजन—का आधिक्य), स्तैमित्य (आर्द्रता), कठिनता, मल-मूत्रादिकी अधिकता ; त्वचा आदिमें स्निग्धता, मन्दाग्नि, अजीर्ण, उपलेप (त्वचा-श्लेष्मकला आदिमें मलका आधिक्य), शीत (ठण्ढ लगना, या शरीरका ऊष्मा कुछ न्यून होना), कण्डू, प्रसेक (लालास्राव), चिरकारिता (कार्य धीरे-धीरे करनेकी प्रवृत्ति), शोथ (मुख, हाथ-पैर, आदिपर सूजन), अति निद्रा ; मुख, मल, मूत्रादिमें मधुर या लवण रस ; मुख, त्वचा, मल, मूत्रादिका वर्ण श्वेत होना, आलस्य—ये प्रकुपित हुए कफ के लक्षण हैं।

दो दोषोंके कोपके सम्मिलित लक्षणोंको उन दोषों का संसर्ग तथा तीन दोषोंके सम्मिलित प्रकोपको सन्निपात कहा जाता है।

परिशिष्ट

परिवर्धनीय

पृ० २, टिप्पणी, पंक्ति १ के अन्त में—

अ० हृ० उ० १।३ में भी यह उद्धृत है। वहाँ तथा आर्य संस्कारों में जातकर्म-संस्कार में कुमार के कान में इस मन्त्र के उच्चार का विधान है।

—:०:—

पृ० ४, टिप्पणी, पंक्ति ५ के पश्चात्—

मलाख्या अपि स्वेदमूत्रादयः स्वमानावस्थिता देहधारणाद् धातवो भवन्तीत्युक्तं धातवो मलाख्या इति ॥

च० सू० २८।४ पर—चक्रपाणि

दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति धातवः ॥

सु० शा० ४।५ पर—डल्हन

—:०:—

पृ० ६, टिप्पणी के अन्त में—

कानून का यह प्रसिद्ध सूत्र अत्यन्त सादृश्यके कारण इस प्रसंग में स्मरणीय है : Ignorance is no excuse—अर्थात् कायदे-कानून का ज्ञान न होने से किसी को अपराध-मुक्त नहीं माना जा सकता।

—:०:—

पृ० ७, पंक्ति १७ के पश्चात्, नया पैरा—

क्रिया शारीर के सिद्धान्तों को यथावत् समझने के लिये रसायन-शास्त्र (Chemistry—केमिस्ट्री), तथा भौतिक शास्त्र (Physics—फ़िज़िक्स), का पर्याप्त ज्ञान आवश्यक है। अब तो इन दोनों विज्ञानों की जीवच्छरीर से सम्बन्ध रखनेवाली दो शाखायें—बायो केमिस्ट्री (Biochemistry) तथा बायोफ़िज़िक्स (Biophysics) क्रिया शरीर का एक नियत अङ्ग बन गयी हैं। इनके अतिरिक्त, उत्क्रान्ति (Evolution—इवोल्यूशन) की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को समझते हुए मानव में उसकी संपूर्णता का ख्याल उत्तम रीति से आ जाय इस हेतु जीवविद्या का भी ज्ञान उपयोगी है।

—:०:—

पृ० १०, टिप्पणी, पंक्ति ३ में प्रमाण के आगे—

एवमयं लोकसंमतः पुरुषः—च० शा० ४।१३;

पुरुषोऽयं लोकसंमित इति—च० शा० ५।३;

रसजं पुरुषं विद्यात्—सु० सू० १४।१२।

टिप्पणी के अन्त में—

प्रसिद्ध अध्यात्म शब्द का यथार्थ अर्थ आयुर्वेदेतर तथा आयुर्वेदीय वाङ्मय में शरीर ही है। उदाहरणार्थ—सु० सू० २४।५ में आध्यात्मिक रोग नाम से शारीर रोगों का ही निरूपण किया गया है।

—:०:—

पृ० २१, पंक्ति ४, के पश्चात्—
वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः ।। च० वि० २८।५६

—:०:—

पृ० २४, पंक्ति २१ के पश्चात्—
रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते ।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्ज्ञः शुक्रं तु जायते ।। सु० सू० १४।१०

—:०:—

पृ० ७६, पंक्ति १०-१२ के स्थान पर—
आहारमग्निः पचति दोषानाहारवर्जितः ।
धातून् क्षीणेषु दोषेषु जीवितं धातुसंक्षये ।। अ० हृ० चि० १०।६१

—:०:—

पृ० ८६, पंक्ति १५ के पश्चात् नया पैरा—
आयुर्वेदीय गुणों का विशिष्ट अर्थ समझने के लिये एक और लौकिक प्रयोग ले सकते हैं । लोक में ऊनी या रेशमी वस्त्रों को गर्म तथा सूती वस्त्रों को ठंढा कहा जाता है । वहाँ गुण-निर्देश उनके स्पर्श को दृष्टि में रखकर नहीं होता, शरीर पर उनकी क्रिया के कारण होता है । यही स्थिति आयुर्वेद-निर्दिष्ट गुणों की है ।

—:०:—

पृ० ११५, टिप्पणी में, पंक्ति १८ के अन्त में—
अमरकोष में आनाह को विबन्ध का पर्याय कहा भी है ।

—:०:—

पृ० २०६, टिप्पणी में १२ वीं पंक्ति में, 'सुगमता'; के पश्चात्—
प्लीहा के कोषों द्वारा अमुक ही रक्तकणों का निगिरण (कवलन, भक्षण) और विच्छेदन;

—:०:—

पृ० २११, टिप्पणी, पंक्ति ५ में एसिटोएसिटिक एसिड; के पश्चात्—
या Diacetic acid—डायएसिटिक एसिड ।

—:०:—

पृ० २१३, टिप्पणी के अन्त में—
स्मरण रहे, अङ्गाराम्ल को अम्ल कहने में रूढ़ि ही कारण नहीं—उसमें उदजन है ही नहीं । जल में विलीन होकर उसमें उदजन के संमिलन से जो $H_2 Co_3$ नामक द्रव्य बनता है, वही एसिड या अम्ल होता है ।

—:०:—

पृ० २१४, टिप्पणी १ के अन्त में—
प्रमेहों के प्रकरण में आचार्यों ने एक उपद्रव मूर्च्छा भी कहा है और उसे पित्त-कृत बताया है । इससे पित्त के नव्यमतानुसार समझने में साहाय्य हो सकता है ।

—:०:—

पृ० २१६, टिप्पणी १ के अन्त में—

शाखाश्रित कामला का साम्य नवीनों के इन्फेक्टिव हिपेटाइटिस (Infective Hepatitis) से तथा कोष्ठशाखाश्रित का साम्य हीमोलाइटिक जॉण्डिस (Haemolytic Jaundice) से देखा जा सकता है। रुद्धपथ कामला (Obstructive Jaundice) का कथंचित् समावेश शाखाश्रित कामला में किया जा सकता है।

—:o:—

पृ० २२७, टिप्पणी, पंक्ति ९ में बुद्बुद के पश्चात्—

आदि।

—:o:—

पृ० २५३, टिप्पणी के अन्त में—

पिष्टमेह लाइप्यूरिआ (Lipuria) हो सकता है। उसमें कार्बोहाइड्रेटों का पचन न होने से स्नेहों का भी पचन नहीं होता। अतः उसमें वसामेह के सदृश अल्प स्नेह निकलता ही है, जिससे उसका स्वरूप पिष्टवत् होता है।

—:o:—

पृ० २५६, पंक्ति १७ में "श्वासपथ" के पश्चात्—नेत्र तथा पंक्ति १८ में 'यक्ष्मा' के पश्चात्—अभिष्यन्द।

—:o:—

पृ० २५८, पंक्ति ९ में—

शूलों के स्थान पर शंकुओं।

—:o:—

पृ० २७२, पंक्ति ७–२० के स्थान पर—

Heating or drying of fresh fruits and vegetables usually leads to the destruction of most or all vitamin C originally present. *Amala* (Phyllanthum emblica) is an exception, because of its very high initial vitamin content, and because it contains substances which partly protect the vitamin during heating and drying. It is strongly acid, and acidity has a protecting action on vitamin C vide, A treatise on Hygiene & Public Health, (12th edition, 1948), By Birendra Nath Ghosh, P. 160.

पृ० ४३३, टिप्पणी ८, पंक्ति ११ में 'टीका' के पश्चात्—

च० सि० ९।४१–४२

—:o:—

पृ० ४५६, पंक्ति ३, 'ज्वरादि के कारण' के पश्चात्—

रसधातु के क्षीण होने से।

—:o:—

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर की

वर्णानुक्रमणी

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ

घ

च

ध

विषय	पृष्ठ

प

फ

`११०

विषय	पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

—:०:—

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड
के
विकास का इतिहास

स्थापन काल

हमारे देवस्थानों में सिद्धपीठ नाम से सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान श्री वैद्यनाथधाम (देवघर) में श्री बैद्यानाथ आयुर्वेद भवन की स्थापना, आज से ३३ वर्ष पूर्व हुई थी। आधिव्याधि नाशक श्री बाबा वैद्यनाथ के सम्मुख की गयी मानव कल्याण की कामना कभी विफल नहीं होती। आयुर्वेद के इष्ट भगवान शङ्कर का शुभाशीर्वाद, अथक परिश्रम, श्रेष्ठ अध्यवसाय तथा विशुद्ध लगन के कारण श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का काम वड़ी तेजी से बढ़ा।

संघर्ष काल

राज्य की उपेक्षा और हमारे शिक्षित समाज में विदेशी आचार-विचार का प्रभाव एवं हमारी प्राचीन संस्कृति के उदासीनता के साथ जबर्दस्त सङ्घर्ष श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के इतिहास की विशेषता है। करीब-करीब यही वक्त था, जब कि हमारे देशमें राष्ट्रीय चेतना और आजादी की लहर का उठना शुरू हुआ। हमारे समाज के प्रत्येक अङ्ग पर, जो एक अन्धकार का आवरण था, विदेशी आचार-विचार और सत्ता का प्रभुत्व था, उसके एक सुरसुराहट-सी शुरू हुई थी। महात्मा गांधीजी के नेतृत्व में धीरे-धीरे हमारे समाज के सोये हुए, अलसाये हुए क्लान्त शरीर में प्राणवायु का संचार होना शुरू हुआ। हमारा राष्ट्रीय कारवाँ किन-किन बाधाओं, कठिनाइयों, तूफानों का सामना करते हुए अपने लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता रहा, यह हमारे देश के इतिहास का सबसे गौरवपूर्ण पृष्ठ होगा।

राष्ट्रीय ह्रास या समृद्धि, केवल राजनैतिक नहीं होती; बल्कि, व्यक्तिगत और समष्टि-गत रूप में वह समाज की संस्कृति, साहित्य, कला, उद्योग, व्यापार, कृषि आदि सभी अङ्गों के सार्वभौमिक ह्रास या विकास पर निर्भर करती है। चूंकि आयुर्वेद—हमारा राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान—हमारी संस्कृति, साहित्य और कला का सर्वोच्च ज्ञान भाण्डार है; अतएव राष्ट्र के जीवन के साथ इस का अविच्छिन्न सम्बन्ध कोई नयी और आश्चर्यजनक बात नहीं है।

इसलिए; जब हम बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के पिछले ३३ साल के सङ्घर्षमय जीवन और उसके फलस्वरूप प्राप्त उत्तरोत्तर उन्नति की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें गर्व और प्रसन्नता होती है। गर्व इसलिए कि एक कर्तव्यपरायण सिपाही की हैसियत से राष्ट्रीय पुनरुद्धार का एक जबर्दस्त मोर्चा—राष्ट्रीय चिकित्सा—आयुर्वेद के लिये अपने फर्ज को हमने हरेक कठिनाई और बाधा में भी, खूबी के साथ निभाया है; और प्रसन्नता इसलिए कि हमारे राष्ट्रीय संग्राम के नेताओं और सेनानियों ने हमारे काम की सराहना की है, सहयोगियों ने उसकी प्रशंसा की है और सम्मान दिया है। वर्तमान नवराष्ट्र-निर्माण की शुरुआत में, जब कि प्रकाश की दो-एक किरणें अन्तरिक्ष पर दिखाई पड़ने लगी हैं; हमारे उत्साह और खुशी का सर्वोच्च कारण, एकमात्र यही अनुभूति है कि राष्ट्रीय सङ्घर्ष के हर आघात और उसकी आग के प्रत्येक शोले का हमारा हिस्सा हमें प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है।

उत्कर्ष काल

अपनी तीन विशेषताओं के कारण श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० सङ्घर्ष में विजयी हुआ। (१) शुद्ध औषधियों का निर्माण, (२) आयुर्वेदोन्नति के लिये ठोस कार्य और (३) वैज्ञानिक ढङ्ग से प्रचार।

आज श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का जो स्वरूप है, उसे विस्तृत रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है। भारतवर्ष भर में औषध-निर्माण के चार बड़े-बड़े कारखाने; बड़े-बड़े शहरों में बैद्यनाथ दवाओं के ५० विक्री-केन्द्र (डिपो) तथा १५ हजार से ऊपर एजेन्सियाँ (एजेन्ट) आदि इसकी विशालता को प्रकट करते हैं। आज नगर-नगर और गांव-गांव में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का साइनबोर्ड आप देखते हैं, तथा घर-घर में बैद्यनाथ औषधियाँ देखी जाती हैं, उनके मूल में जो तथ्य है, वह नीचे लिखे विवरण से सर्वथा अच्छी तरह सत्य साबित हो जाता है।

—:०:—

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के भिन्न-भिन्न विभाग

१—ऋषिअर्चन (रिसर्च) विभाग

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने अपने स्थापनकाल से ही कार्य की ओर ध्यान दिया है। काशी विश्व-विद्यालय आदि संस्थाओं को सहायता देकर वह शोध (रिसर्च) का काम करता रहा है। किन्तु; अब वह इस स्थिति में है कि इस महत्त्वपूर्ण काम को वह स्वयं अपने निरीक्षण में भी सम्पादित करे। इसलिए; गत वर्ष से इस कार्य के लिये ५००००) पचास हजार रुपये प्रति वर्ष खर्च करने का उसने निश्चय किया है। चालू वर्ष के ५००००) रुपये मिला के करीब १०००००) एक लाख की लागत से इस वर्ष आयुर्वेद-विज्ञानशाला तैयार हो जायगी। इसमें प्रयोगशाला (Research Laboratory) और रुग्णालय (Indoor Hospital) होंगे। इस वर्ष मकान तैयार हो जायँगे और आवश्यक उपकरण संग्रहीत कर लिये जायँगे तथा आगामी वर्ष से उनमें नीचे लिखे अनुसार कार्य प्रारम्भ हो जायगा।

(क) वनस्पति—वनस्पतियों के शोध का कार्य गत वर्ष से ही विशद रूप में चल रहा है और वह भविष्य में भी चालू रहेगा। इस विभाग में आयुर्वैदिक ओषधियों में काम आने वाली वनस्पतियों का स्वरूपनिर्णय, नई चमत्कारिक ओषधियों को प्राप्त करने और उसके द्वारा समग्र भारतीय वैद्यों को लाभ पहुँचाने के कार्य होते हैं।

(ख) विश्लेषण—औषधियों के काम में आनेवाले मूलद्रव्यों की असलियत को मालूम करना तथा तैयार ओषधि को यथार्थगुणकारिता की विश्लेषण (Analysis) द्वारा जाँच करना इस विभाग का कार्य है।

(ग) गुणधर्मनिर्णय—आयुर्वेद वर्णित वनस्पतियों एवं सिद्ध-औषधियों के गुण धर्म के निर्णय करने के लिये यह होगा। इसके लिये रुग्णालय (Indoor Hospital) स्थापित किया जायगा, जिसमें २० शय्या (Beds) रहेंगी। इस रुग्णालय द्वारा रोगियों पर शतशः अनुभूत की गई वनस्पतियों तथा योगों का गुणधर्म निश्चय होगा। आयुर्वेद में मानव शरीर पर होनेवाले सफल ओषधि परीक्षण को ही यथार्थ असंदिग्ध गुण-धर्म माना गया है। वह कार्य चार्ट एवं रिपोर्ट के आधार पर इस रुग्णालय द्वारा सम्पादित होगा।

(घ) शास्त्रनिर्माण विभाग—उल्लिखित विभागों का शास्त्रीय निरूपण आयुर्वेदीय सिद्धान्त से किया जायगा। पंचमहाभूत, रस, विपाक, वीर्य, प्रभाव पर ही इन ग्रन्थों का निर्माण होगा। वर्तमान विज्ञान (Modern Science) को भी इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर आत्मसात् करके समन्वयात्मक रूप में प्रकाशित किया जायगा।

इन विभागों के कार्य का विवरण, समय-समय पर, हमारे मासिक पत्र 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित होता रहता है। स्वतन्त्र रिपोर्ट अगले साल प्रकाशित हो जायगी—ऐसी आशा है।

(ङ) रिसर्च कार्य की प्रगति—आयुर्वेदीय सिद्धान्त के अनुसार आयुर्वेद का संशोधन और परिवर्द्धन, कोई सामान्य कार्य नहीं है। प्रायः समस्त भारत में स्वयं भ्रमण करके हमने देखा कि इस कार्य को कहीं भी क्रियात्मक रूप नहीं दिया जा रहा है। अभी अपनी राष्ट्रीय सरकार की योजनाएँ भी बन ही रही हैं। इस पर कोई रचनात्मक उद्योग वहाँ भी नहीं हुआ। क्रियात्मक रूप के अभाव से एवं द्रव्य और समय के अपव्यय की शंका से हमने आयुर्वेदीय शोध कार्य की समस्या को अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्र-चर्चा के समक्ष उपस्थित किया। अखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद शास्त्रचर्चा का अधिवेशन गतवर्ष श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के व्यय से पटनास्थित वैद्यनाथ निर्माणशाला में लगातार दस दिनों तक होता रहा। इस परिषद में देश भर के प्रधान वैद्यों ने भाग लिया था और आयुर्वेद-हितैषी डॉक्टर और वैज्ञानिक भी इसमें सम्मिलित थे। परिषद् में भाग लेनेवाले कतिपय प्रमुख वैद्यों और डॉक्टरों के नाम ये हैं।

१—आयुर्वेद वाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य, भू० पू० सभापति अखिल भारतीय आयुर्वेद महामण्डल, बम्बई।
२—आचार्य श्री मणिरामजी, भू० पू० सभापति, अ० भा० आ० विद्यापीठ।
३—आयुर्वेद पंचानन श्री जगन्नाथ प्रसादजी शुक्ल, इलाहाबाद।
४—भिषक् केशरी श्री गोवर्धन शर्म्मा छांगाणी, नागपुर।
५—आचार्य श्री रामरक्ष पाठक, बेगूसराय (बिहार)
६—डॉ० डी० एन० मुखर्जी, एफ० आर० सी०, कलकत्ता।
७—स्व० डॉ० नृसिंहहरि परांजपे।

उपर्युक्त विद्वानों के बीच भी इस आयुर्वेदीय रिसर्च की रूपरेखा पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सकी। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के व्यय पर ही इसी वर्ष ग्रीष्मकाल में परिषद् की दूसरी बैठक भी होगी। आशा है, इस अधिवेशन में इसकी रूपरेखा निश्चित हो जायगी और हम क्रियात्मक कार्य की ओर अग्रसर होंगे।

२—औषध-निर्माण विभाग

आयुर्वेदीय औषध-निर्माण पर ही उसकी चिकित्सा-पद्धति की उत्तमता और लोक-प्रियता निर्भर करती है। आयुर्वेदीय ओषधियों का निर्माण कठिन, अनुभवगम्य और प्रभूत उपकरण साध्य है। प्राचीन समय से चिकित्सक ही इस कार्य को करते आये हैं। अब भी हजारों वैद्यबन्धु ऐसा ही कर रहे हैं। पर वर्तमान युग में इससे सर्वाङ्ग पूर्ण ओषधि तैयार नहीं हो पाती। ओषधियों के मूलद्रव्यों को उत्पत्ति स्थानों से प्राप्त करना, पंसारियों पर निर्भर न रहना, जो लोग निरन्तर ओषधियों का निर्माण करते हैं, उन्हीं अनुभवी आयुर्वेद के आचार्यों द्वारा स्वयं अपनी देख-रेख में अत्यन्त कुशलता और स्वच्छता पूर्वक ओषधि-निर्माण करना अत्यन्त कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण काम है। केवल श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

ही औषध-निर्माता होने के कारण इस कार्य को पूर्ण उत्तरदायित्व के साथ कर रहा है। इसी आधार पर बैद्यनाथ ओषधियों को प्रसिद्धि और लोकप्रियता प्राप्त हुई है। बैद्यनाथ ओषधियों की उत्कृष्टता के तीन कारण हैं :—(१) मूलद्रव्यों का उत्कृष्ट होना और जाँचकर उनका प्रयोग करना, (२) कुशल और अनुभवी आयुर्वेदाचार्यों द्वारा शास्त्रीय रीति से ओषधि तैयार करना, और (३) वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डाइरेक्टरों का सतत निरीक्षण करना और ओषधि-निर्माण शास्त्र के ज्ञाता और अनुभवी होना। निर्माण की विशुद्धता और उत्कृष्टता के कारण बैद्यनाथ-दवाओं की इतनी व्यापक माँग बढ़ी कि क्रमशः झांसी, पटना और नागपुर में भी ओषधि निर्माण-केन्द्र खोलने पड़े। आज इन चारों निर्माण केन्द्रों द्वारा निरन्तर ओषधियां तैयार होती रहती हैं; फिर भी जनता की बढ़ती हुई माँग की पूर्ति करने में कठिनाई होती है। बैद्यनाथ औषध-विक्रेताओं के नम्बरवार और क्रमशः दवाएँ भेजी जाती हैं तथा हर साल कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ानी पड़ती है। कार्यकर्ताओं को प्रतिमास करीब २० हज़ार रु० मासिक वेतन देना होता है।

३—बिक्रय-विभाग

४ निर्माण-केन्द्र, ५० विक्री-केन्द्र और १५ हजार से ऊपर एजेन्सियों (एजेंटों) द्वारा बैद्यनाथ-दवाओं की बिक्री होती है। भारतवर्ष में सर्वत्र एक ही मूल्य पर विक्री होती है। वैद्यनाथ-दवाओं के अधिकार प्राप्त ओषधि-विक्रेताओं को उचित कमीशन दिया जाता है। जनता के लाभ के लिये हिन्दुस्तान के प्रमुख शहरों में एजेण्टों के अतिरिक्त ५० से ऊपर स्वतन्त्र विक्री-केन्द्र भी हैं, जहाँ केवल बैद्यनाथ दवाएँ ही बिकती हैं। जैसे देहली, आगरा, कानपुर, इलाहाबाद, काशी, गोरखपुर, भागलपुर, गया, रायपुर, जब्बलपुर, अकोला, अमरावती, इन्दौर, उज्जैन, आदि। प्रत्येक निर्माण-केन्द्र में एजेंसी विभाग के मैनेजर अलग हैं, जिनके पास एजेंट बनने की इच्छावाले लोगों के पत्र और वे स्वयं भी बराबर आते रहते हैं। एजेंसी के लिये स्वयं कार्यालय में आनेवाले महाशय पहले पत्र-व्यवहार करके दर्याफ्त कर लेंगे, तो उत्तम होगा। दवाओं के साथ-साथ वनस्पति की भी थोक बिक्री होती है। खुदरा वनस्पति की बिक्री नहीं होती।

४—आयुर्वेद सेवा-विभाग

इस विभाग में आयुर्वेद की सम्मुन्नति के कार्य सेवा भाव से होते हैं।

(क) आयुर्वेद विद्यालय—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का ५ वर्ष से एक स्वतन्त्र आयुर्वेद विद्यालय, पूरी सफलता के साथ चल रहा है, जिसमें निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वेदाचार्य और राजस्थान की आयुर्वेद शास्त्री तक की शिक्षा दी जाती है। इसके अतिरिक्त भारत के अन्य विभिन्न आयुर्वेद विद्यालयों को भी आर्थिक सहायता दी जाती है।

(ख) छात्रवृत्तियाँ—जो छात्र आर्थिक कमी के कारण आयुर्वेद पढ़ने में कठिनाई का अनुभव करते हैं, उन्हें छात्र वृत्ति दी जाती है। प्रति वर्ष १५ योग्य छात्रों को छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

(ग) धर्मार्थ औषधालय—हमारे सभी धर्मार्थ औषधालय में सुयोग्य आयुर्वेदाचार्य पास वैद्यों द्वारा मुफ्त निदान होता है और रोगी को अच्छी-अच्छी औषधियाँ दी जाती हैं। और भी बहुत से अन्य आयुर्वेदीय धर्मार्थ औषधालयों को औषध मुफ्त दी जाती है तथा बहुतों को रियायती मूल्य पर दी जाती है।

(घ) स्वास्थ्य प्रचार—भारतीय जनता को आयुर्वेदीय शिक्षा द्वारा स्वस्थ और सबल बनाना हमारा प्रधान लक्ष्य रहा है। इसके लिये छोटे-छोटे ट्रेक्ट, पुस्तिका हैण्डविल आदि प्रकाशित कर समय-समय पर प्रचारित किये जाते हैं।

(ङ) धन्वन्तरि जयन्ती—यह जयन्ती वैद्यों में भ्रातृभाव की वृद्धि के लिये हमारे निर्माण-केन्द्रों तथा एजेन्सियों में प्रति वर्ष मनाई जाती है। इसमें लगभग १० हजार रुपया प्रति वर्ष खर्च होता है।

५—प्रकाशन-विभाग

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० का आरम्भ से ही यह सत्प्रयत्न रहा है और रहेगा कि आयुर्वेद के मूल सिद्धान्तों के आधार पर सुयोग्य विद्वानों द्वारा निर्मित तथा अनुवादित प्रामाणिक ग्रन्थ सरल भाषा में और सुलभ मूल्य में जनता को प्राप्त हों, जिससे आयुर्वेद का प्रचार और प्रसार बढ़े। हमारे यहाँ से दर्जनों ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं, जो आज आयुर्वेद-ग्रन्थ भाण्डार के अमूल्य रत्न समझे जाते हैं। इस पुस्तक में उनके विज्ञापन को पढ़कर आप उनके महत्त्व को जान सकेंगे। **'सचित्र-आयुर्वेद'** नामक एक मासिक पत्र भी गत चार वर्षों से प्रकाशित हो रहा है।

६—दातव्य-विभाग

आयुर्वेदीय सेवा के अतिरिक्त श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड और बहुत से जन-हितकारी कार्य करता रहता है। हमारी मातृभूमि भारत बड़ा विशाल और शोषित देश है। इसमें कई तरह की सेवा, सहायता करने का अनुभव निरन्तर होता रहता है। इसके लिये पाठशाला (स्कूल) खोल कर निःशुल्क शिक्षा का प्रवन्ध करना, आश्रमों को सहायता देकर धार्मिक, और नैतिक और चारित्रिक भावना तथा साहित्य का प्रचार करना, देवालय, कूप आदि बनवाना, सार्वजनिक पुस्तकालय, चक्षुदान यज्ञ आदि जनहित कार्यों को सम्पादित करना आदि बहुत से लोकोपकारी कार्य केवल हमारे ही खर्चे से चल रहे हैं तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों में मुक्तहस्त से निरन्तर सहायाता की जाती है।

—:०:—

बैद्यनाथ की विशेषता

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० स्थापन-काल से ही अपनी विशेषता रखता है। इसकी स्थापना जनता-जनार्दन की सेवा से निर्मित हुई थी। संस्था की वृद्धि के लिये साथ-साथ इसके सेवा-कार्य बढ़ते गये और भविष्य में भी बढ़ते रहेंगे—इसमें संदेह नहीं है। इस संस्था का प्रधान उद्देश्य—असली दवा तैयार करके सुलभ मूल्य में जनता को देकर देशी दवाओं का महत्त्व प्रकट करना रहा है। इस व्यापार से जो लाभ हो, वह व्यक्तिगत भोग-विलास के कार्य में खर्च न हो कर सर्वसाधारण भाइयों के लाभ के लिये खर्च हो, इससे आयुर्वेद की उन्नति हो, देश सुखी, सम्पन्न और आरोग्ययुक्त हो—हमारा वह स्थापनकालीय पवित्र उद्देश्य आज भी बना हुआ है। देश स्वतन्त्र हो गया है। अब हमलोगों को अपने व्यवहार से यह सिद्ध करना होगा कि हम वास्तव में स्वतन्त्रता के योग्य हैं। विदेशी लोगों ने व्यापारिक ईमानदारी द्वारा जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, वह हम भारतवासियों को भी अवश्य प्राप्त करनी होगी। नहीं तो फिर गुलामी में पड़ना ही होगा। ईमानदारी के बिना हम स्वतन्त्र नहीं रह सकते। हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है।

जनतन्त्र में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। हम राज्य को 'कर' देते हैं, तो कोई कारण नहीं कि राज्य हमारी इच्छा (आयुर्वेदीय चिकित्सा की मांग) को पूर्ण न करे। हम लोगों को बहुत शीघ्रता से दृढ़तापूर्वक आयुर्वेद को बढ़ाना है। प्राचीन विज्ञान-राशि को वर्त्तमान विज्ञान द्वारा अधिक उपयोगी बनाना है। हम भारतीयों की स्वास्थ्य-रक्षा तो आयुर्वेद द्वारा ही हुई है और होगी। हम को सिद्ध करना है कि बिना आयुर्वेद के कहीं भी नीरोग रहना कठिन है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के प्रयत्न आयुर्वेद को समुन्नत करके, भारतीयों को आरोग्य करना है। आज तक भारतीय जनता ने हमारे प्रयत्नों को प्रोत्साहन दिया है। जब तक हमारा पवित्र उद्देश्य बना रहेगा, तब तक आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि सभी भारतवासी हमें प्रोत्साहन देते रहेंगे ; परम पिता से प्रर्थना है कि वह आयुर्वेद द्वारा जनता की सेवा करने का और अधिक अवसर दे।

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

—:००:—

बैद्यनाथ-प्रकाशन

हमारा कारखाना केवल औषध निर्माता ही नहीं है। यह शुद्ध अर्थ में आयुर्वेदीय संस्था है। इसका प्रथम उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा पद्धति आयुर्वेद को प्रतिसंस्कार कर उसके स्वाभाविक मानव कल्याणकारी गुणों, उसकी विशेषताओं और चिकित्सकों की जानकारी जनता को करादेना। औषध और ग्रन्थ दोनों इसके साधन हैं। इसलिए; एक ओर जहाँ हम उत्तमोत्तम औषध निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं, वहाँ दूसरी ओर इसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थों के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करते हैं। जिन ग्रन्थों का प्रकाशन कर हम आयुर्वेद का भाण्डार भर रहे हैं, उनकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से समस्त देश की , विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षा-संस्थाओं तथा विश्वविद्यालयों ने हमारे आयुर्वेदीय-प्रकाशन को पाठ्यक्रम-पुस्तकों में श्रेष्ठ स्थान दिया है। साथ-ही-साथ कम-से-कम—यानी लागतमात्र—मूल्य पर ऊँचे दर्जे के आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार करना ही बैद्यनाथ-आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है। यही कारण है कि बैद्यनाथ-प्रकाशन से निकल हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तकों का आज घर-घर में प्रचार है। हमारे "आरोग्यप्रकाश" को तो जनता ने इतना पसन्द किया है कि उसके आठ संस्करण में ६८००० प्रतियाँ छप कर हाथों-हाथ बिक चुकी हैं। नौवा संस्करण पन्द्रह हजार का जो छपा था , वह भी प्रायः समाप्त हो चुक है और दसवाँ संस्करण शीघ्र ही छपनेवाला है। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों के भी कई-कई संस्करण छप चुके हैं।

आरोग्य प्रकाश

आरोग्य, स्वच्छता और चिकित्सा पर सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ। भारत-प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पं० रामनारायण वैद्य शास्त्री ने ५-६ वर्ष में बड़ी मेहनत से स्वयं इस ग्रन्थ को लिखा है। ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, सदाचार, उत्तम विचार आदि पूर्वार्द्ध विषयों को पढ़कर और तदनुसार चलकर सदा बीमार रहने वाला रोगी बिना दवा के नीरोग (तन्दुरुस्त) हो जाता है। ग्रन्थ के

…ग्रन्थ में शरीर में पैदा होने वाले सभी रोगों की उत्पत्ति, कारण, निदान, रोग के लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि बड़ी ही सरल भाषा में लिखे हैं; जिसको पढ़कर विद्वान् से लेकर साधारण पढ़े-लिखे दोनों समानरूप से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे गये हैं, वे बहुत बार के परीक्षित, कभी भी फेल न होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात—सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है; क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके आठ संस्करणों में ६८००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और यह नौवाँ संस्करण १५ हजार का अब समाप्त हो रहा है। इससे इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता स्पष्ट मालूम होती है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४०० पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य सिर्फ १।।।), डाक खर्च ।।=), हमारी चार निर्माणशालाओं, ५५ बिक्री-केन्द्र तथा १५००० एजेन्सियों से प्रत्यक्ष खरीदने पर या एक साथ तीन प्रति लेने से डाक खर्च नहीं लगेगा।

आयुर्वेद-सार-संग्रह (द्वितीय संस्करण)

हिन्दी में ऐसी आयुर्वेदीय पुस्तकों की बहुत कमी थी, जिनमें एकत्र रोग-विचार के साथ, चिकित्सा, औषध-निर्माण, अनुपान और पथ्यापथ्य आदि का विवरण समझा कर सरल भाषा में दिया गया हो। इससे सर्वसाधारण पाठकों के सामने बहुत दिक्कतें आती रहती थीं। प्रस्तुत पुस्तक में आयुर्वेदीय साहित्य की इसी कमी को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। श्री वैद्यनाथ आ० भ० लि० द्वारा बनायी जानेवाली सभी दवाओं की निर्माण-विधि तथा उनके गुण-धर्म और प्रयोग-विधि के साथ सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन सरल हिन्दी भाषा में किया गया है।

रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के लिए यन्त्रों के चित्र भी दिये गये हैं, जिनके देखने से औषध-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। डिमाई साइज के ११०० पेज का मूल्य ७)रु० मात्र है।

सिद्धयोग-संग्रह (तृतीय संस्करण)

आयुर्वेदोद्धारक श्री यादव जी त्रिकमजी आचार्य के कर-कमलों से लिखा हुआ यह ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ-रत्न के पढ़ने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमें रत्ती भर भी संदेह नहीं है। डिमाई ८ पेजी २०० पेज के ग्रन्थ का मूल्य २।।।) मात्र है।

मानस-रोग-विज्ञान

इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक स्वर्गीय डा० बालकृष्णअमर जी पाठक ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कॉलेज के अध्यक्ष एवं प्रधानाध्यापक के रूप में काफी कीर्ति प्राप्त की थी और एक उच्च कोटि के विचारक और उद्भट मनीषी के रूप में आप संपूर्ण भारत में प्रसिद्ध हो गये थे।

इस ग्रन्थ की रूप-रेखा पूज्यपाद यादवजी ने तैयार की थी और इस विषय पर आयुर्वेदीय साहित्य में खटकनेवाली जबर्दस्त कमी को पूरा करने के लिए डा० पाठक जैसे अनुभवी विद्वान् वैद्य को यह ग्रन्थ लिखने के लिए उत्साहित किया था।

आज के युग में, जब कि काम, क्रोध, मिरगी (अपस्मार), उन्माद, न्यूरेस्थीनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि मानसिक रोग मनुष्य जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे हैं, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देती है। अनुभवी लेखक की मँजी हुई लेखनी

और तीक्ष्ण तर्कों ने प्रस्तुत पुस्तक के विषयों पर उपयुक्त सामग्री का सुन्दर और अधिकार त रूप से संपादन किया है। अंग्रेजी-भाषा के ज्ञाताओं का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अंग्रेजी में है वैसा कहीं नहीं है। किन्तु, भारतीय मानस-शास्त्र के सामने वह बालक-तुल्य मालूम होता है, यह इस पुस्तक के पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। हमारा विश्वास है कि वैद्य-समाज, आयुर्वेद के शिक्षक और विद्यार्थी तथा साथ ही साथ सर्वसाधारण जनता के लिए भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी होगा। मूल्य ५।।) मात्र।

पदार्थ-विज्ञान

(देश भर की आयुर्वेदीय संस्थाओं एवं परीक्षा-बोर्डों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत)

लेखक—पं० रामरक्ष पाठक, प्रिन्सिपल, अ० शि० आयुर्वेदिक कॉलेज, बेगूसराय।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन किया गया है और द्वितीय अध्याय में स्वास्थ्य-रक्षण तथा रोग के प्रतीकारार्थ उपयोग में आनेवाले पदार्थों का विवेचन किया गया है। तृतीय अध्याय में आयुर्वेद के मूल-भूत त्रिदोष सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वों की छान-बीन की गयी है। चतुर्थ अध्याय में आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया है और यह दर्शाया गया है कि पूर्व जन्मकृत पापों का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों में प्रवेश कर अपने कर्मों का भोग करती है। मूल्य ३।।)

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श

लेखक—वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य।

इस ग्रन्थ में आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव शरीर के अनेकानेक द्रव्यों में वात-पित्त-कफ प्रधान है। इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, जिससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गयी है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पंच महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओं के लिए उपादेय पुस्तक है। मूल्य २।।=)

यूनानी-सिद्धयोग-संग्रह

यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खों की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। एक अनुभवी चिकित्सक द्वारा आयुर्वेदीय ढंग से संस्कृत के विद्वान् वैद्यों के लिए हिन्दी में यह ग्रन्थ लिखाया गया है। चिकित्सकों तथा सर्वसाधारण दोनों के लिए यह बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २।।)

आयुर्वेदीय-क्रिया-शारीर और आयुर्वदीय-पदार्थ-विज्ञान के सुविदित लेखक

की

शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली अभिनव कृति

छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा

अथवा

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन के लिए अवश्यकरणीय कार्यों में एक पाठ्य-ग्रन्थों का निर्माण भी है। पाठ्य-ग्रन्थों के अभाव में विद्यार्थियों को जिस कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है, वह किसे विदित नहीं। **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०** के सहकार से आयुर्वेद जगत् के सुपरिचित वैद्य श्री रणजितराय, आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य, उपाचार्य श्री ओच्छवलाल हीरालाल, नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय, पाठ्य-ग्रन्थ के अभाव को पूर्ण करने का स्तुत्य और सफल प्रयास कर रहे हैं। **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** और **आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान** के प्रकाशन के पश्चात् आपने आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा पर अपनी आयुर्वेद-रहस्योद्भेदिनी समन्वय-प्रधान लेखनी उठायी है। अभी तो यह ग्रन्थ **सचित्र आयुर्वेद** में क्रमिक लेखों के रूप में आ रहा है। अल्प काल में ही इसे ग्रन्थ बद्ध कर अपने प्रिय वाचकों के कर-कमलों में उपस्थित करने का विचार लेखक और प्रकाशक दोनों कर रहे हैं। प्रतीक्षा कीजये।

आयुर्वेदीय हितोपदेश

आयुर्वेद के रहस्यावबोधन के लिए संस्कृत का ज्ञान होना आवश्यक है, यह सर्ववादि सम्मत है। प्रायः आयुर्वेदीय पाठ्यक्रमों में प्रारम्भिक वर्ष में एक पाठ्य और परीक्ष्य विषय के रूप में संस्कृत का समावेश है भी। परन्तु बहुधा उस का अध्ययन हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि आयुर्वेद-बाह्यग्रन्थों की सहायता से होता है। कई प्रविदित कारणों से यह रीति विद्यार्थियों और अध्यापकों दोनों के लिए अरुचिकर सिद्ध हुई है। अच्छा यह मालूम होता है कि, आयुर्वेद की संहिता ग्रथों से ही आयुर्वेद के वचनों का संग्रह कर उन्हें ग्रन्थबद्ध किया जाय और ऐसे ग्रन्थों को संस्कृत विषय का पाठ्य पुस्तक नियत किया जाय। इसका एक लाभ यह भी होगा कि आयुर्वेद के वचनों और सिद्धान्तों में विद्यार्थी का आयाग प्रवेश हो जायगा। विद्या-वयोवृद्ध महानुभावों का आशीर्वाद तथा मित्रों का प्रोत्साहन प्राप्त कर वैद्य रणजीतराय जी **'आयुर्वेदीय हितोपदेश'** नाम से इसी पद्धति का एक ग्रन्थ रच रहे हैं। ग्रन्थ, स्पष्ट ही, अभी तो कललावस्था में है, आयुर्वेदीय-क्रिया-शारीर के कार्य से निवृत्त होकर आप शीघ्र ही इस ग्रन्थ में हाथ लगायेंगे। **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०** के प्रकाशन-विभाग ने इस ग्रंथ का प्रकाशन भी स्वीकार कर लिया है।

